प्रथम आवृत्ति
५५० प्रति

राज संस्करण ३० रू०
राजाधिराज ,, ४० रू०

वीर संवत २४९६
विक्रम संवत २०२६

※ प्राप्तिस्थान ※

१. भारतीय प्राच्यतत्त्व प्रकाशन समिति
C/o रमणलाल लालचन्द
१३५/१३७ झवेरी बजार, बम्बई २.

•

२. भारतीय प्राच्यतत्त्व प्रकाशन समिति
C/o शा. समरथमल रायचन्दजी
पिण्डवाड़ा, स्टे० सिरोहीरोड (राज०)

•

३. शा. रमणलाल वजेचन्द
C/o दिलीपकुमार रमणलाल
मस्कती मार्केट
अमदावाद २,

•

मुद्रक—
ज्ञानोदय प्रिंटिंग प्रेस,
पिन्डवाड़ा (राजस्थान)
स्टेशन-सिरोहीरोड

—: पदार्थसंग्रहकारा :—

कर्मशास्त्रधुरीण-गच्छाधिपा-ऽऽचार्यदेव-श्रीमद् विजयप्रेमसूरीश्वर-विनीतविनेय-प्रभावक-प्रवचनकार-पंन्यासप्रवर-श्रीभानुविजयगणिवर्य-विनेयमुनिवर्यश्री-धर्मघोषविजयान्तिषदो विद्वद्वर्य-गीतार्थमुनिश्री जयघोषविजयाः, पंन्यासप्रवरश्री-भानुविजय गणिवर्य-विनेया मुनिश्री-धर्मानन्दविजयाः, गच्छाधिपतिविनीतविनेय-गीतार्थमूर्धन्य-पंन्यासप्रवर-श्रीहेमन्तविजयगणिवर्य विनेयमुनिराजश्री-ललितशेखरविजय-शिष्यरत्न-मुनिवर्यश्री राजशेखरविजय-शिष्याणवो मुनिश्रीवीरशेखरविजयाश्च ।



—: मूलगाथाकाराः :—

प्राकृतविशारदा मुनिश्रीवीरशेखरविजयाः ।



—: टीकाकारः सम्पादकश्च :—

पंन्यासप्रवरश्री भानुविजयगणिवर्य-विनेयरत्न-स्वर्गत-पंन्यासप्रवरश्री-पद्मविजयगणिवर-विनेय-मुनि जगच्चन्द्रविजयः ।



—: संशोधकाः :—

कर्मशास्त्रविशारद-गच्छाधिपति-श्रीमद्-विजयप्रेमसूरीश्वरपट्टप्रभावका आगमप्रज्ञा-ऽऽचार्यदेव-श्रीमद्-विजयजम्बूसूरीश्वराः पदार्थसंग्रहकारमुनिप्रवराश्च ।

First Edition Copies 550 | Deluxe Edition Rs. 30
Super Deluxe ,, Rs. 40 | A. D. 1970

AVAILABLE FROM :

1. BHARATIYA PRACHYATATTVA PRAKASHANA SAMITI
C/o Shah Ramanlal Lalchand
135/37 Zaveri Bazzar
Bombay-2.



2. BHARATIYA PRACHYATATTVA PRAKASHAN SAMITI
C/o Shah Samarathmal Rayachandji
PINDWARA, [St. Sirohi Road]
(Rajasthan)

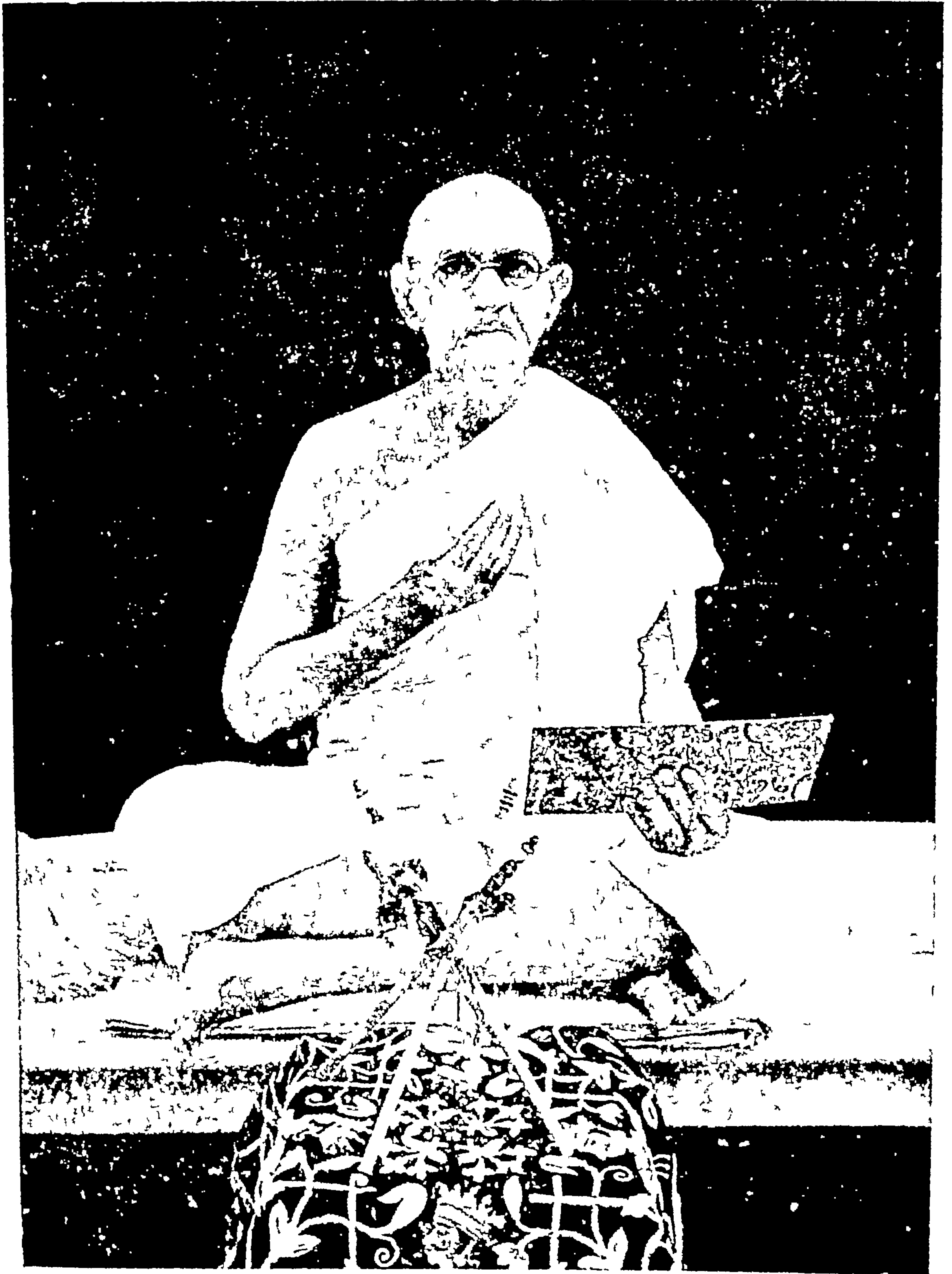


3. Shah Ramanlal Vajechand
C/o Dilipkumar Ramanlal
Maskati Market
Ahmedabad-2.



Printed by :
Gyanodaya Printing Press
PINDWARA (Raj)
(St -Sirohi Road)

सकलागमरहस्यवेदी सूरिपुरन्दर बहुश्रुतगीतार्थ परमज्योतिर्विद् परमगुरुदेव



परमपूज्य आचार्यदेवेश श्रीमद्विजयदानसूरीश्वरजी महाराजा

Acharyadeva-Shrimad-Vijaya-Premasurishwara-Karma-Sahitya-Granthamala

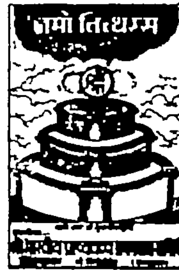
GRANTH No. 6

BANDHA VIHANAM
UTTARA PAYADI
THIEE-BANDHO

PART-I

[Along with "**PREMA PRABHA**" commentary]
By
A GROUP OF DISCIPLES

Inspired and Guided by
His Holiness Acharya Shrimad Vijaya
PREMASURISWARJI MAHARAJA
the leading authority of the day
on Karma philosophy.



Bharatiya Prachya Tattva Prakashana Samiti, Pindwara.

❀ आदि वचनम् ❀

सामान्यतः गमे तेवो प्रबळ साधक पण उत्तरसाधकना अभावमां आरब्ध साधनामां निष्फल नीवडे त्यां दुर्बळ साधक माटे आशा ज केवी, आम छता य ज्यारे दुर्बळ साधक पण साधनाना पारने पामे छे त्यारे एम चोक्कस मानवु पडे छे के एना उत्तरसाधको सबळ अने कुशळ होवा जोईए जेम घूघवता सरित्प्रवाहमा नानकडी असमर्थ नावना शीघ्र अने निर्विघ्न परपारगमनमां अनुकूलपवनप्रेरणा अने एना अधिष्ठाता सुकानीनी कुशळता.

मूळप्रकृतिस्थितिबन्धप्रेमप्रभावृत्ति ग्रन्थना सर्जन अने संपादननी जेम पूज्योनी इच्छा-आज्ञा अनुसार आ उत्तरप्रकृतिस्थितिबन्धप्रेमप्रभावृत्ति ग्रन्थना लेखनरूप सुवर्णगिरिना आरोहणनो प्रारंभ करे वर्षो वही गयां; आजे एनी लेखनसमाप्तिना ज नहि सम्पादनसमाप्तिना य गुरुशिखरने आंबी जवायु छे ए निर्विवाद हकीकत छे.

ज्ञानदुर्बळता अने स्फूर्तिदारिद्र्य एम उभयपक्षे असमर्थ एवो पण हु आवी ज्ञानस्फूर्ति-साध्य सिद्धिमां सफळ निवड्यो ते मारा उत्तरसाधकोने आभारी छे.

प्रस्तुतग्रन्थना पदार्थसंग्राहकोमाना प० पू० जयघोषविजय म० तथा प० पू० धर्मानंदविजय म. सा० ना पीठबळ उपर ज्ञानादिथी दुर्बळ एवा मारी पण आलेखन संपादन उभय यात्रा शरु थई, पण एटला मात्रथी एना समाप्ति शिखरे केम पहोंचाय ? कारण ? कारण एज के पदार्थ विषमतानी वक्रातिवक्र केडीओ, गतिअवरोधक अनेकविधप्रवृत्तिवादळोनु अविरत गमनागमनादि.

आम छतां उभयसमाप्तिरूप गुरुशिखरनु आरोहण शक्य बन्यु तेमा परमपूज्य परमाराध्यपाद परमतारक सिद्धान्तमहोदधि कर्मशास्त्रनिष्णात सुविशालगच्छाधिपति वात्सल्यवारिधि स्वर्गस्थ आचार्य भगवत श्रीमद् विजय प्रेमसूरीश्वरमहाराजा, भवोदधित्राता परोपकारप्रवण। सत्तर्कनिपुण प्रभावकप्रवचनकार प्रगुरुदेव प पू पन्यासप्रवर श्री भानुविजय गणि महाराजा तथा ग्रहणआसेवनशिक्षादाता सौम्यमूर्ति स्वर्गत प पू गुरुदेव पन्यास श्री पद्मविजय गणि महाराजा आदि गुरुवर्गप्रदत्त अखूट कृपापाथेय, प. पू. स्व० तारक आचार्य भगवत योजित स्फूर्तिप्रद प्रेरणासमीर आदि असाधारण कारण बन्या.

वृत्तिग्रन्थना आलेखन साथे साथे ज पूज्य तारक स्व० आचार्यदेवेशनु संशोधन पण चालु हतु. आलेखन संशोधननो ए समकालीनयोग मारे माटे विशेष उपकारी बन्यो, कमके ते निमित्ते पू० श्रीना खभातना अंतिमचातुर्मासकाळे तथा आगळपाछळना शेषकाळमा पूज्य श्रीनु निरतर अने निकट सनिधान प्राप्त थयु जेना परिणामे स्व० पू० श्रीनी विशिष्टसेवानो महान लाभ तथा स्व. पू० श्रीना अनेक अद्भुत प्रेरक गुणोनो परिचय थयो, एम सकळ सघनी जेम मारा उपर व्यक्तिगत पण स्व. पू. श्रीना अगणित उपकारो छे जे सदाय अप्रतिकार्य छे.

आ वृत्तिग्रन्थना बीजा संशोधक उपकारी प पू आगमप्रज्ञ आ० दे०विजय जम्बूसूरीश्वर महाराजा छे के जेओश्रीए स्व पू. आ. भगवतनी इच्छाने अनुसरीने पूर्वे मूलप्रकृतिस्थितिबन्धवृत्तिग्रन्थनु पण सूक्ष्मदृष्टिथी निरिक्षण करी मने उपकृत करेल.

पदार्थसंग्रहकारो शास्त्रज्ञ प. पू. जयघोष वि. म. व्यवहारकुशळ प पू० धर्मानन्द वि म तथा प्राकृतविद् मुनिश्री वीरशेखरविजयजी के जेओए प्रथम वृत्तिअवलोकननी जेम ग्रन्थमुद्रणकाळे पण पुनः अवलोकन करवा द्वारा एकश नहि पण अनेकशः वृत्तिग्रन्थनु संशोधन करी जरूर देखाता छेल्ले पण गाथाओ अने वृत्तिमा परिवर्तन करी करावी प्रवचनविरुद्ध प्रतिपादनना परिहार द्वारा स्वात्मरक्षा साथे मने पण

अनाभोगादिजन्य प्रवचनविरोधी प्रतिपादनथी बचावी महान अनुग्रह कर्यो छे, ते ज रीते प्रूफरीडींगमां असावधता आदिना कारणे रही जवा पामेल क्षतिओ दूर करवामां उत्तरप्र०रसबन्धपूर्वाशवृत्तिना लेखक तपस्वी पू० जितेन्द्रविजय म. साहेबे गणनीय सहाय आपी उपकृत कर्यो छे.

महेसाणा जैनश्रेयस्करमंडळ पाठशालाना पण्डितवर्य कर्मप्रकृत्यादिग्रन्थोना प्राध्यापक सुश्रावक पुखराजजी भाई, तथा तेमना उत्तरसाधक प० सुश्रावक रतिभाईए ग्रन्थनु वांचन करी करावी यथाशक्ति क्षतिओनु संमार्जन करी तथा पं. सुश्रावक शान्तिभाइए शुद्धिपत्रक करी श्रुतभक्तिनो अनुमोदनीय लाभ उठाव्यो छे ते पण अविस्मरणीय छे.

आम छतां छद्मस्थतादि दोषवश रही जवा पामेल क्षतिओ दृष्टिगोचर थतां तेने सुधारीने वांचवा साथे ते क्षतिओ मने पण जणाववा अभ्यासीवर्गने मारी नम्र अरज छे.

मूळप्रकृतिस्थितिबन्धग्रन्थनी जेम उत्तरप्रकृतिस्थितिबन्धग्रन्थ पण ६ अधिकार अने प्रत्येक-अधिकारना पेटाभेदरूप अनेक अनुयोगद्वारोमां गूथायेलो छे. मूलप्र०स्थितिबन्धग्रन्थमा मात्र मूळ कर्मना स्थितिबन्धने अनुसरीने विचारणा कराई हती ज्यारे अहीं उत्तरप्र०स्थितिबन्धग्रन्थमा मूळ ८ कर्मनी १२० प्रकृतिओने अनुसरीने विचारणा कराई छे. अने तेथी आ ग्रन्थनी मूळ गाथाओ तथा टीकाग्रन्थ पण घणो विस्तृत बन्यो छे.

द्वितीयाधिकारना छट्ठा सनिकर्षद्वारमां मू० स्थि० ग्रन्थमा मूळगाथा २७ अने टीकासहित २३ पृष्ठ जेटलो जो ग्रन्थ हतो ज्यारे प्रस्तुत ग्रन्थमा ते द्वारमां २३४ पृष्ठ एटले के लगभग २८ फार्म (आशरे ८००० श्लोक प्रमाण) मेटर छे. ते उपरांत पदार्थेनी पण घणी क्लिष्टता छे अने तेथी ते द्वारनी शरुआतमां—

"ध्यात्वा जैनेश्वरीं वाच नत्वा च गुरुदैवतम् । धृत्वा हृदि परोत्साह सनिकर्षोऽथ तन्यते ॥१॥"

एम पुनः मङ्गलाचरण तथा पदार्थोना विशदीकरण माटे यथाशक्ति प्रयत्न कर्यो छे एम छतां ए ग्रन्थने स्थिरचित्तथी वाचवा भलामण छे.

उपर कह्युं तेम उत्तरप्रकृतिस्थितिबन्धवृत्तिनो विस्तार अनिवार्य बनवाथी बीजा अधिकारना छट्ठा सनिकर्षद्वार सुधीमा ज एनो पूर्वांश पूर्ण करी प्रस्तुत पुस्तकमां मुद्रित करायो छे.

मूळस्थितिबन्धना वृत्तिग्रन्थमां आद्यन्त प्रत्येकद्वारगत पदार्थोना संक्षेपसग्रहरूप कोष्टको (यन्त्रो) ते ते द्वारने अन्ते संकलित करेला छे ते रीते आ वृत्तिग्रन्थमा कोष्टको सकलित नहि कर्या होवा छतां सर्वत्र अति उपयोगी स्वामित्वद्वारना पदार्थोना अन्वेषण माटे टूकमां छतां अभ्यासीवर्गने अत्यन्त अनुकूल पडे तेवां मात्र (१८० थी १८५) छ पृष्ठमां चार कोष्टको सकलित कर्यां छे. कोई पण मार्गणामां कोई पण उत्तर प्रकृतिमा जघन्य के उत्कृष्ट कोई पण स्थितिबन्धना स्वामित्वना शीघ्र अन्वेषण माटे अभ्यासीवर्गने ए जरुर उपयोगी थशे.

टाइप योजना अभ्यासीओने पदार्थना ग्रहण-धारणमा अनुकूळ पडे तेवी मू०प्र० स्थितिबन्धग्रन्थ जेवी छे. मात्र सनिकर्षद्वारनी गाथाओनु प्रमाण अतिघणु होवाथी ते मूळगाथाओ १२ पॉ० घेरा टाइपमां रखावी छे.

अन्ते प्रस्तुतग्रन्थना आलेखनसपादनमा साक्षात् के परपराए जाण्ये के अजाण्ये कोई पण प्रकारे जे कोई सहायक बन्या छे ते सर्व प्रत्ये कृतज्ञता भाव दर्शावी विरमुं छु.

जैन धर्मशाला, पिंडवाडा
स्टे. सिरोहीरोड (राजस्थान)
वि० स० २०२६ चैत्रसुद १३
श्री महावीर जन्म कल्याणक

—गुरुजनकृपाकांक्षी
मु० जगच्चन्द्रविजय

समर्पणम्—

गुरुकृपा अने शास्त्रोना सतत परिशीलनथी आत्मसात करेली
श्री जिनेश्वरदेवोना शासन प्रत्येनी कृतज्ञतामांथी

जेओश्रीए

पोताना अन्तःकरणमां अविरत वहेता भावकरुणाना श्रोतमांथी उत्पन्नथयेली
सुमधुर प्रशान्त वात्सल्यरससरिताना मुखद्वारा
सेंकडो भव्यजीवोनी जेम

मने पण

संसारलवणोदधिमांथी
निःश्रेयस्–सुवर्णगिरिना

संयम-महापथे चढावी

स्वना त्रिकरणशुद्ध चारित्रपालनना बळ उपर
समर्थ उपदेशकोने य आंजी नाखे तेवी

जीवन् मूर्त प्रेरणानां पान करावी
गतिमान बनाव्यो

अने

जेओश्रीना अवर्णनीय प्रभावे ज
आ द्वितीय ग्रन्थरत्नना आलेखननुं सौभाग्य मने प्राप्त थयुं
ते

परमतारक संयमदाता विश्ववन्द्य सकलसंघकौशल्याधार विपुलमुनिगणनेता सिद्धान्तमहोदधि
कर्मशास्त्रनिष्णात प्रगुरुमह स्वर्गस्थ प० पू० आचार्यभगवंत

श्रीमद् विजय प्रेमसूरीश्वर महाराजाना
पुनित करकमलमां

—गुरुजनकृपालिप्सु
मुनि जगच्चन्द्रविजय

आ ग्रन्थसर्जनना प्रेरक, मार्गदर्शक अने संशोधक



सिद्धान्तमहोदधि, कर्मशास्त्रनिष्णात, सुविशालगच्छाधिपति, सकलसंघकौशल्याधार,

स्व. परमपूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजयप्रेमसूरीश्वरजी महाराजा.

प्रकाशकों की ओर से

'**खवगसेढी**' तथा '**मूलपयडिठिइबंधो**' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रथम प्रकाशन समारोह अहमदाबाद में भव्य जुलूस के साथ चतुर्विध संघ की उपस्थिति में इस समिति द्वारा चिरस्मरणीय आयोजन था। फलस्वरूप जैन जगत में प्राचीन साहित्य प्रकाशन में विशेष रुचि पैदा हुई तथा शीघ्र ही हम कर्मसाहित्य का तीसरा ग्रन्थ '**मूलपयडिरसबन्धो**' तथा चौथा ग्रन्थ '**मूलपयडिपएसबन्धो**' से विद्वद्जनों को लाभान्वित कर सके हैं। अब हमें अपने प्रकाशन का पांचवा ग्रन्थ '**उत्तरपयडिरसबन्धो** (पूर्वांश)' तथा छठा ग्रन्थ '**उत्तरपयडिठिइबंधो** (पूर्वांश)' आपकी सेवा में समर्पित करने का सौभाग्य प्राप्त हो रहा है।

अत्यन्त हर्ष की बात है कि पिंडवाड़ा निवासी स्वर्गस्थ सुश्रावक श्री हंसाजी के पोतों **श्री जवानमल भायचन्दजी, श्री छोगालाल भायचन्दजी, श्री समरथमल रायचन्दजी, श्री कुन्दनमल रायचन्दजी** तथा **श्री सागरमल रायचन्दजी** ने अपने २ पिताजी सुश्रावक श्री भायचन्दजी एवं श्री रायचन्दजी की पुण्य स्मृति में रु० १००००) छठे ग्रन्थ के प्रकाशनार्थ देकर अनुमोदनीय श्रुतभक्ति का उदाहरण सबके सामने रखा है।

भौतिक विकास की ओर अग्रसर होते हुए भी यह सौभाग्य की बात है कि हमारा आध्यात्मिक प्रेम अक्षुण्ण है। संसार वर्धक विविध आकर्षणों के बीच रहते हुए भी हमारी आध्यात्मिक लगन आज भी सजीव है। यही कारण है कि कर्म साहित्य जैसे द्रव्यानुयोग के साहित्य सृजन में तपस्वी मुनिगण सतत प्रयत्नशील हैं तथा दानवीर मुक्त हस्तसे इस साहित्य के प्रकाशन में सहायता दे रहे हैं।

कहते हैं कहीं सरस्वती लक्ष्मी का मुंह ताकती है तो कहीं लक्ष्मी सरस्वती के पीछे लट्ठ लिए फिरती है, पर कहां तो उदार हृदय वाले दानवीरों से द्रव्य प्राप्ति तथा निस्पृह शिरोमणि कर्म-साहित्यनिष्णात सिद्धान्तमहोदधि परमपूज्य स्व० आचार्यदेव श्रीमद् **विजय प्रेमसूरीश्वरजी महाराज** साहब के आज्ञाकारी शिष्य प्रशिष्यों द्वारा सृजित महान् साहित्य उपलब्ध होने से सोने में सुहाग हो गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थों में गुम्फित पदार्थों (तत्त्वों) के संग्रहकार उदारचरित पूज्य गीतार्थ मुनिराज **श्री जयघोषविजयजी** महाराज, कुशाग्रधि पू० गीतार्थ मुनिराज श्री **धर्मानन्दविजयजी** महाराज तथा मूल ग्रन्थ की प्राकृत गाथाओं के रचयिता प्राकृतविशारद पू० मुनिराज श्री **वीरशेखरविजयजी** महाराज और इस ग्रन्थ की सुबोध एवं विस्तृत टीका के लेखक पू० मुनिराज श्री **जगच्चन्द्रविजयजी** महाराज साहब के आभार से हम कभी उऋण नहीं हो सकते। आपके अथक परिश्रम एवं त्याग के फलस्वरूप ही हम इन ग्रन्थों को पाठकों की सेवा में समर्पित कर सके हैं।

मुद्रण कार्य में लगन एवं सावधानी के विषय में जब सोचते हैं तो इस संस्था के ज्ञानोदय प्रि० प्रेस, पिंडवाडा के व्यवस्थापक श्रीयुत् फतहलालजी जैन (हालावाले) एवं उनके अधीनस्थ अन्य कर्मचारी गण भी स्मृति पटल पर आये बिना नहीं रहते जिनकी निष्ठा एवं तत्परता सदा सराहनीय रहेगी।

ज्ञानोदधि की गहनता एवं विशदता का पार पाना कठिन है फिर भी जैसे समुद्र में छोटी बड़ी सभी प्रकार की नदियाँ अपने जल दान करती हैं उसी प्रकार आशा हैं सभी समर्थ सज्जन हमारे साहित्यप्रकाशन में प्रशंसनीय आर्थिक सहयोग देकर अपनी आय का सदुपयोग कर लाभ उठाएंगे।

(I) पिण्डवाडा
स्टे० सिरोहीरोड (राजस्थान)
(II) १३५।३७ जौहरी बाजार
बम्बई–२

भवदीय
शा० समरथमल रायचन्दजी (मंत्री)
शा० शान्तिलाल सोमचंद (भाणाभाई) चोकसी (मन्त्री)
शा० लालचन्द छगनलालजी (मन्त्री)
भारतीय प्राच्यतत्त्व प्रकाशन समिति

— प्रास्ताविकम् —

श्री वर्धमानस्वामिने नम

अनादिअनंतकालथी जीवने संसारमां भटकावनार कर्म छे. अने ओ पूर्वसंचित कर्मना उदयथी नूतनकर्मनो बंध थाय छे. अने ए नवा बंधथी आवेल कर्मनो यथाकाले उदय थाय छे, अने तेथी फरीथी बंध थाय छे. आम बंध अने उदय प्रवाहथी अनादिकालीन छे अने तेना लीधे जीव अनादिकालथी संसारमां भ्रमण करे छे.

कर्मबंधमां मुख्य एवा स्थितिबंध अने रसबंध कषायथी थाय छे. जेम कषायनी मात्रा तीव्र तेम अशुभकर्मनी स्थिति अने रस पण तीव्र बंधाय छे. अेटले कर्मबंधमां मुख्यकारण कषाय बने छे. ए रीते संसारनुं मूल कषाय छे.

कषायनुं उन्मूलन शुभयोगथी थाय छे. शुभयोग पण प्रबल त्यारे बने छे के ज्यारे ते जिनाज्ञाथी ओतप्रोत होय छे. जेम महेताजी शेठनी चेकबुकमां चेको लखी दे छे. पण ते चेको बँको त्यारे स्वीकारे छे के जो एमां मालिकनी सही होय, अर्थात् शुभयोगो पण कार्यक्षम त्यारेज बने छे के तेमां जिनाज्ञानी छाप होय के जिनाज्ञाने वफादार एवा गुरुजननी आज्ञानी छाप होय. शास्त्रोमां पण कह्युं छे के–

> तब्बंधठिई जाया कसायओ सा अवेइ सुहजोगा।
> सो पुण एत्थं गुरुओ आणासहगारिअत्तेण ॥

भावार्थः–कषायथी उत्पन्न थयेली कर्मनी स्थिति ते शुभयोगथी दूर थाय छे के जे शुभ योग जिनाज्ञाना सहकारथी समृद्ध थयेलो होय छे.

जिनाज्ञाना हार्दने पामेला अने तेने जीवनमां सारी रीते पाळनारा अेवा परमोपकारी भवोदधित्राता संघकौशल्याधार स्वर्गस्थ पूज्यपाद आचार्यदेव श्री प्रेमसूरीश्वरजी महाराजा के जेओश्री जीवनना छेल्ला दिवसो सुधी जिनाज्ञाना अंगभूत स्वाध्यायमां मग्न रहेता. अेटलुंज नहीं पण पोताना आश्रितो पण स्वाध्यायमां नित्य लीन रहे अने वैयावृत्यादि योगोमां अप्रमत्त रहे ते माटे तेओने ग्रहण अने आसेवन शिक्षा आपी, शास्त्राध्ययन कराव्यां, ऊंचा प्रकारनुं आलंबन आप्युं तथा पुनः पुनः प्रेरणानां दान कर्यां, वात्सल्यना प्रवाहथी आश्रितोनां जीवन शुद्ध कराव्यां अने सारा संयमी बनाव्या. अहो ! केटलो उपकार ए गुरुदेवनो !! ए उपकारने मारा जेवो शुं कही शके !!!

आवा परमोपकारी पूज्य गुरुदेवनी इच्छा के कर्मसाहित्य मोजुद छे ते संकलित करी विशद करवुं अने लांबा काळ सुधी टके माटे अेने प्राकृत अने संस्कृत भाषामां उतारवुं. आ माटे पूज्यश्रीए प्रशिष्यो अने प्रशिष्यशिष्योना वर्गने तैयार कर्यो के जे अन्तेवासीवर्गे ते भगीरथ

कार्यने उपाडी स्व० पू० श्रीनी इच्छाने साकार बनावी छे. जेना फळस्वरूपे पांच पांच महाकायग्रंथ प्रकाशित थई गया छे अने हवे आ छट्ठा ग्रंथनो अवसर प्राप्त थयो छे.

पूर्व प्रकाशित ग्रन्थोनी जेम आ छट्ठा ग्रन्थना य पदार्थसंग्राहकोमां हुं (**जयघोष वि.**) मु. श्री **धर्मानन्द वि. म.** तथा मु० श्री **वीरशेखर वि. म.** छे. तथा मूलगाथाकार विद्वद्वर्य मुनिश्री वीरशेखरविजय महाराज के जेओ संपूर्ण बंधविधान ग्रंथना मूलगाथाकार छे. अने आनी विस्तृत वृत्तिना कर्ता जे मूलप्रकृतिस्थितिबंधना वृत्तिकार हता तेज विद्वद्वर्य मुनिश्री **जगच्चंद्रविजय** महाराज छे. तेओए आ वृत्तिग्रंथमां पण पूर्वनी जेम युक्तिप्रयुक्तिओ आपी ग्रंथ विशद कर्यो छे, 'एतदुक्तं भवति' 'अयं भावः' इत्यादि द्वारा पुनः पुनः विवेचन करी ग्रंथ सुग्राह्य बनाव्यो छे, तदुपरांत अनेक स्थले नियमोने व्याप्तिओ द्वारा पदार्थोनी घटना करीने ग्रंथने युक्तिग्राह्य पण बनाव्यो छे. वर्षोनी जहेमतथी आ वृत्तिग्रंथ लखायो अने मुद्रित करायो छे.

आ उत्तरप्रकृतिस्थितिबंधग्रंथ वृत्ति साथे अतिविशाळ होवाथी बीजा अधिकारना संनिकर्षद्वार सुधीनो पूर्वांश ज आ पुस्तकमां लेवायो छे अने बाकीनो उत्तरांश ग्रंथ आनाज बीजा भागमां लेवामां आवशे.

अन्ते लेखन पूर्वे सारी रीते विचारायेलो तथा लेखनकाळे तेमज लेखन बाद पण अनेकवार सूक्ष्मदृष्टिथी अवलोकन करी एना ज्ञाताओ द्वारा पुनः पुनः संशोधन करायेलो होवा छतां छद्मस्थता अने मतिमंदता तथा प्रेसदोषादि कारणे जे कोई भूलो रही जवा पामी होय तेनुं प्रमार्जन करवा सर्व सुज्ञोने विनंती छे अने जे कोई क्षतिओ नजरे चढे ते अमोने पण जणाववा भलामण छे.

संस्कृतप्राकृतना जाणकार अने कर्मशास्त्रना अभ्यासी आ ग्रंथोने वांचे वंचावे अने सम्यक् श्रुतनो प्रचार करी श्रुतभक्तिनो लाभ ले तथा एना फलस्वरूपे सर्व भव्यजीवोना रोमे रोममां जिनाज्ञा वसे अने तेना प्रभावे तेओ कर्मनुं निकंदन काढी आत्मरमणता पूर्वक शाश्वत सुखना भोक्ता बने एज मंगलकामना।

श्री प्रेमसूरीश्वर ज्ञानमंदिर
पिंडवाडा (राजस्थान)
स्टे. सिरोहीरोड
चै. शुद-१ वि. स. २०२६

—परमपूज्य सिद्धान्तमहोदधि गच्छाधिपति आचार्यवर्य
प्रेमसूरीश्वरजी म० ना शिष्यरत्न परमपूज्य विद्वद्वर्य
प्रगुरुदेव तपोमूर्ति पन्यासप्रवर भानुविजयजी
गणिवरना शिष्यरत्न पूज्य गुरुदेवश्री
धर्मघोषविजय चरणचञ्चरिक
मु० जयघोषविजय



कुन्दनमलजी   समरथमलजी   सागरमलजी

गा. रायचंदजी हंसाजी के श्रेयो निमित्त
इस ग्रन्थके मुद्रणमें द्रव्यसहायक उनके सुपुत्र.



जवानमलजी छोगालालजी

शा. भायचंदजी हंसाजीके श्रेयो निमित्त
इस ग्रन्थके मुद्रणमें द्रव्यसहायक उनके सुपुत्र.

बंधविहाणे

उत्तरपयडि–ठिइबंधो (पूर्वांशः)

['प्रेमप्रभा' टीका-विभूषितः]

विषय-दर्शनम्

विषय: — पृष्ठ:

टीकाकृन्मङ्गलवचनानि ५-६

स्थितिबन्धमूलग्रन्थमधिकृत्य मध्यमङ्गलम् ... ७

षडधिकाराणां नामनिर्देशो लेशतस्तत्स्वरूपं तत्तदधिकारगतद्वारसंख्यानिर्देशश्च ८

* प्रथमोऽधिकारः *

(पृष्ठ १ तः ३४)

स्थितिबन्धस्थानादिद्वारनामनिर्देशस्तत्स्वरूपञ्च .. १

* प्रथमं स्थितिबन्धस्थानद्वारम् *

१४ जीवस्थानेषु स्थितिबन्धस्थानाल्पबहुत्वम्-१ त १४

" " स्थितिबन्धाध्यवसायाल्पबहु० १४-१५

सविशेष " जघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धाल्पबहु० १५-२६

* द्वितीयं निषेकद्वारम् *

१४ जीवस्थानेष्वनन्तरोपनिधया दलनिषेकप्ररूपणम् -२७

" " परम्परोपनिधया " " २७-२९

निषेकद्विगुणहानिस्थान-तदीयैकान्तरप्रमाणाऽल्पबहुत्वे २९

* तृतीयमबाधाकण्डकद्वारम् *

अबाधाकण्डकनिरूपणम् ३०

* चतुर्थमल्पबहुत्वद्वारम् *

संज्ञिपर्याप्तजीवभेदे पञ्चज्ञानावरण-चतुर्दर्शनावरण-सातवेदनीय-सञ्ज्वलनक्रोधमानमायालोभ-पुंवेद-यशःकीर्तिनामोच्चैर्गोत्राऽन्तरायपञ्चकलक्षणद्वाविंशतिप्रकृतीरधिकृत्य स्थितिबन्धस्थान-जघन्योत्कृष्टाबाधाऽबाधास्थान-सर्वाबाधाकण्डक--निषेकद्विगुणहानिस्थान-द्विगुणहानिस्थानैकान्तरै-काबाधास्थानप्रमाण-जघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धलक्षणाना दशपदानां परस्परमल्पबहुत्वम् ... ३१-३२

सञ्ज्ञिपर्याप्तजीवभेदेऽनन्तरभणितशेषप्रकृतीनां तथा शेषत्रयोदशजीवभेदेषु बन्धप्रायोग्यसर्वप्रकृतीनां स्थितिबन्धस्थानादिप्रोक्तपदाल्पबहुत्वप्रतिपादने मूलप्रकृत्यतिदेश. .. . ३३-३४

भणिताल्पबहुत्वे मतान्तरप्रतिपादनम् . ३४

* द्वितीयोऽधिकारः *

(द्वार १ तः ६, पृष्ठ ३५-६१६)

स्थितिबन्धप्रमाणादिपञ्चदशद्वारनामनिर्देश -३५

* प्रथमं स्थितिबन्धप्रमाणद्वारम् *

अबाधा-कर्मदलनिषेकनियमप्रदर्शनम् . ३६

ओघत. सर्वोत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धमानम्- ३७-४२

वर्णचतुष्क-जातिचतुष्काद्युत्कृष्टस्थितिबन्धप्रमाणोपपत्तौ युक्तयः ३९-४२

मार्गणास्वायुर्वर्जोत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धमानम् . ४२-६०

अधिकृत (१००) मार्गणासु बन्धप्रायोग्यप्रकृतयो नामत .. ४२-४७

मार्गणास्वायु प्रकृतीनामुत्कृष्टाबाधामानम्- ६०-६२

मार्गणास्वायु प्रकृतीनामुत्कृष्टमनुभवयोग्यस्थितेर्बन्धमानम् . .. ६२-६७

ओघत सर्वोत्तरप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धमानम्- ६७-७१

मार्गणास्वायुर्वर्जप्रकृतीनां , " ७१-८८

मार्गणास्वायु प्रकृतीनां जघन्याबाधामानम् . ८८

" " " जघन्यमनुभवयोग्यस्थितिबन्धमानम् .. . ८८-९३

* द्वितीयं स्वामित्वद्वारम् *

उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वप्रतिपादनलाघवहेतुकः

विषयः	पृष्ठः
प्रकृतिसंग्रहः	९४-९५
सर्वोत्तरप्रकृत्यौघिकोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वे सामान्यवक्तव्यता	९५
ओघत सर्वोत्तरप्रकृत्युत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्व विशेषत:	९५-१०२
आदेशत आयुर्वर्जप्रकृत्युत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वे सामान्यवक्तव्यता	१०२
मार्गणास्वायुर्वर्जप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्व विशेषतः	१०३-१३८
मार्गणास्वायु प्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वे सामान्यवक्तव्यता	१३८-१४०
मार्गणासु बन्धप्रायोग्यायु प्रकृतयो नामत	१३८-१३६
मार्गणास्वायु प्रकृत्युत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्व विशेषतः	१४०-१४५
जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वप्रतिपादनलाघवहेतुकः प्रकृतिसंग्रहः	१४६
ओघतस्सर्वप्रकृतिजघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वे सामान्यवक्तव्यता	१४७ १४८
" " " " स्वामित्व विशेषत	१४८-१५२
मार्गणास्वायुर्वर्जप्रकृतिजघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वे सामान्यवक्तव्यता	१५२-१५३
मार्गणास्वायुर्वर्जप्रकृतिजघन्यस्थितिबन्धस्वामित्व विशेषत	१५३ १७६
मार्गणास्वायुर्जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वे सामान्यवक्तव्यता	१७६
" " " " स्वामित्वं विशेष०	१७७-१७९
● ओघादेशत आयुर्वर्जप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वप्रदर्शक यन्त्रम्	१८०-१८१
● ओघादेशत आयुर्वर्जप्रकृतीना जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वप्रदर्शक यन्त्रम्	१८२-१८३
● ओघादेशत आयु प्रकृत्युत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वप्रदर्शि यन्त्रम्	१८४
● ओघादेशत आयुःप्रकृतिजघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वप्रदर्शि यन्त्रम्	१८५

※ तृतीयं साद्यादिद्वारम् ※

विषयः	पृष्ठः
ओघत आदेशतश्च सर्वोत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टाऽनुत्कृष्टजघन्याऽजघन्यस्थितिबन्धभेदेन साद्यनादिसान्ताऽनन्तभङ्गप्रदर्शनम्	१८६-१८८

※ चतुर्थं कालद्वारम् ※

(एकजीवमाश्रित्य)

विषयः	पृष्ठः
एकजीवाश्रयकालप्ररूपणलाघवहेतु प्रकृतिसंग्रहः	१८९
ओघत आदेशतश्चाऽऽयुःप्रकृत्युत्कृष्टाऽनुत्कृष्टस्थित्योर्जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नो बन्धकाल	१९०-१९१
ओघत आयुर्वर्जप्रकृत्युत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्टस्थित्योर्जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नो बन्धकाल	१९१-१९६
मार्गणास्वायुर्वर्जानामुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यो बन्धकाल.	१९७-२००
मार्गणास्वायुर्वर्जानामनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टबन्धकाल	२००-२०१
मार्गणास्वायुर्वर्जानामनुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यबन्धकाल.	२०१-२११
मार्गणास्वायुर्वर्जानामनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टबन्धकाल.	२११-२४१
ओघतो मार्गणासु चायु प्रकृतीना जघन्याऽजघन्यस्थित्योर्जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नो बन्धकालः	२४१ २४३
ओघत आयुर्वर्जप्रकृतिजघन्यस्थितेर्जघन्योत्कृष्टबन्धकालः	२४३
ओघत आयुर्वर्जप्रकृतीनामजघन्यस्थितेर्जघन्योत्कृष्टबन्धकाल.	२४४-२४५
मार्गणास्वायुर्वर्जजघन्यस्थितेर्जघन्यो बन्धकालः	२४६-२५०
" " " रुत्कृष्टो "	२५०-२५२
मार्गणास्वायुर्वर्जाऽजघन्यस्थितेर्जघन्यो "	२५२-२६६
" " " रुत्कृष्टो "	२६६-२६७

※ पञ्चममन्तरद्वारम् ※

(एकजीवमाश्रित्य)

विषयः	पृष्ठः
एकजीवाश्रयाऽन्तरप्ररूपणलाघवहेतु प्रकृतिसंग्रहः	२६८
ओघत सर्वप्रकृत्युत्कृष्टस्थितेर्जघन्योत्कृष्टबन्धान्तरम्	२६९-२७१
ओघतस्सर्वप्रकृत्यनुत्कृष्टस्थिते " " "	२७१-२७५
मार्गणास्वायुर्वर्जानामुत्कृष्टस्थितेर्जघन्य बन्धान्तरम्	२७६-२७९

विषयः	पृष्ठः
मार्गणास्वायुर्वर्जोत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्ट बन्धान्तरम्-	२७१-२८७
,, ,, वर्जोऽनुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यं ,,	२८७-२९८
,, ,, ,, ,, रुत्कृष्ट ,,	२९८-३२४
मार्गणास्वायुषामुत्कृष्टस्थितेर्जघन्य ,,	३२४ ३२९
,, ,, ,, ,, रुत्कृष्टं ,,	३२९-३३१
,, ,, मनुत्कृष्टस्थितेर्जघन्य बन्धान्तरम्-	३३१-३३२
,, ,, ,, ,, ,, रुत्कृष्ट ,,	३३२-३४०
ओघत· सर्वोत्तरप्रकृतीनां जघन्याऽजघन्यस्थित्यो-र्जघन्यमुत्कृष्ट च बन्धान्तरम्-	३४१-३४४
मार्गणासु यत्र कुत्रचिदायुर्वर्जप्रकृतीना जघन्यस्थिति-बन्धान्तरस्याऽसम्भवस्तत्र तत्प्रतिषेध -	३४४
मार्गणास्वायुर्वर्जजघन्यस्थिते जघन्य बन्धान्तरम्-	३४५-३४९
,, ,, ,, उत्कृष्ट ,,	३४९-३५५
मार्गणास्वायुर्वर्जोऽजघन्यस्थितेर्जघन्य ,,	३५५-३६८
,, ,, ,, रुत्कृष्ट ,,	३६८-३७५
मार्गणास्वायुर्जघन्याजघन्यस्थित्योर्द्विविधम्-	३७५-८१

* षष्ठं संनिकर्षद्वारम् *

विषयः	पृष्ठः
उत्कृष्टस्थितिबन्धसनिकर्षवृत्त्युपयुक्तानियमा·-	३८२
स्वस्थानोत्कृष्टस्थितिबन्धसनिकर्षः-(३८४-४६५)	
,, ओघादेशतो मोहनीय-नामवर्जानाम्-	३८४-३८७
,, ओघतो मोहनीयोत्तरप्रकृतीनाम् -	३८७-३९४
● उत्कृष्टस्थितिबन्धसनिकर्षोपपादनप्रकार-प्रपञ्चस्तन्निर्गलिता नियमाश्च-	३८८-३९२
,, ओघतो नामोत्तरप्रकृतीनाम्	३९४-४१०
,, मार्गणासु मोहनीयोत्तरप्रकृतीनाम्-	४१०-४२०
● सर्वापर्याप्तमार्गणादौ स्वस्थानोत्कृष्टस्थितिबन्ध-सनिकर्षोपपत्तौ प्रकृतिबन्धविच्छेदक्रमा-ऽन्वेषणप्रपञ्चः-	४१२-४१४
● प्रकृतिबन्धविच्छेदक्रमान्वेषणप्रपञ्चस्य दार्ढ्या-याऽपर्याप्तभेदादौ बन्धप्रायोग्यसर्वप्रकृतीरधि-कृत्य तत्साधन साधितक्रमश्च	४१४ ४१७
,, मार्गणासु नामोत्तरप्रकृतीनाम्	४२०-४६५
स्वस्थानजघन्यस्थितिबन्धसंनिकर्षः- (४६५-५२२)	
,, ओघत आदेशतश्च ज्ञानावरण-वेदनीया-ऽऽयु-र्गोत्रा-ऽन्तरायोत्तरप्रकृतीनाम् ...	४६५-४६७
,, ओघतो दर्शनावरणीयोत्तरप्रकृतीनाम्-	४६७-४६८
,, ,, मोहनीयोत्तरप्रकृतीनाम् ..	४६८-४७२
,, ,, नामोत्तरप्रकृतीनाम ...	४७२-४८१
,, मार्गणासु दर्शनावरणोत्तरप्रकृतीनाम -	४८१-४८४
,, ,, मोहनीयोत्तरप्रकृतीनाम् .	४८४-४९४
,, ,, नामोत्तरप्रकृतीनाम् .	४९४-५२२
● मिथ्यात्वगुणस्थाने यथोत्तरविशुद्धिस्थाना-तिक्रमणे लभ्यमानः प्रकृतिविच्छेदक्रम· -	४९६
परस्थानोत्कृष्टस्थितिबन्धसनिकर्षः- (५२३-५६८)	
,, ,, ओघतः-	५२३-५३३
,, ,, गतिमार्गणाभेदादौ-	५३४-५४७
,, ,, इन्द्रिय-कायमार्गणाभेदादौ-	५४८-५४४
,, ,, योगमार्गणाभेदादौ-	५४९-५५३
,, ,, वेदमार्गणाभेदादौ-	५५३-५५५
,, ,, ज्ञान-सयम-दर्शन,,-	५५६-५५८
,, ,, लेश्यामार्गणाभेदादौ-	५५८-५६२
,, ,, सम्यक्त्वमार्गणाभेदादौ-	५६२-५६५
,, ,, सज्ञिमार्गणाभेदादौ-	५६५-५६८
परस्थानजघन्यस्थितिबन्धसनिकर्ष - (५६८-६१५)	
,, ,, ओघत -	५६८-५७८
,, ,, गतिमार्गणाभेदादौ-	५७८-५९२
,, ,, इन्द्रिय कायमार्गणाभेदादौ-	५९२-५९६
,, ,, योगमार्गणाभेदादौ-	५९६-६०४
,, ,, वेद-कषाय-ज्ञानभेदादौ-	६०४-६०९
,, ,, सयम-लेश्यामार्गणाभेदादौ-	६०९-६१२
,, ,, सम्यक्त्वमार्गणाभेदादौ-	६१३-६१६
प्रस्तुतटीकाग्रन्थप्रशस्त्यतिदेश., ग्रन्थसमाप्तिसमय-तत्स्थल-तत्सशोधकादयश्च	६१७
ग्रन्थमुद्रणे द्रव्यसहायप्रशस्ति - . .	६१८
ग्रन्थगतजिनवचनविरुद्धस्खलितान्यधिकृत्य मिथ्या-दुष्कृतप्रदानम्, आशिर्वचनादि, ग्रन्थाम च-	६१९
अशुद्धिसम्मार्जनम्- —	१-४

॥ ॐ ह्रीँ अर्हं नमः ॥

॥ श्रीशङ्खेश्वरपार्श्वनाथाय नमः ॥

॥ सकलागमरहस्यवेदिपरमज्योतिर्विच्छ्रीमद्विजयदानसूरीश्वरसद्गुरुभ्यो नमः ॥

प्रवचनकौशल्याधार-सुविहिताग्रणी गच्छाधिपति-परमशासनप्रभावक-सिद्धान्तमहोदधि-कर्मशास्त्रनिष्णाता ऽऽचार्यदेवश्रीमद्विजयप्रेमसूरीश्वरपादानां पुण्यतमनिश्रायां तदन्तेवासिवृन्दविनिर्मितं मुनिश्रीजयघोषविजय-धर्मानन्दविजय-धीरशेखरविजयसंगृहीतपदार्थकं मुनिश्रीवीरशेखरविजय-विरचितमूलगाथाकं प्रेमप्रभाटीकाविभूषितम्

बंधविहाणं

तत्र

उत्तरपयडि-

ठिइबंधो

(उत्तरप्रकृति-स्थितिबन्धः)

तत्राऽयं

मुनिश्रीजगच्चन्द्रविजयविरचितप्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृतः
द्वितीयाधिकारसंनिकर्षद्वारान्तः

पूर्वांशः



(प्रेमप्रभाटीका-) स्याद्वादसिद्धं जगतस्स्वरूपं येनोपदिष्टं जगते हिताय ।
तं वीरनाथं जगदेकपूज्यं विघ्नौघघाताय नमामि भक्त्या ॥ १ ॥ (इन्द्रवज्रा)

ध्येया मोक्षार्थिभिर्ये सकलगुणधरा यान्नतो भव्यवर्गो,
यैः सृष्टं तीर्थमुच्चैर्नम उदयकृते येभ्य आप्ताश्च नान्ये ।
येषां पादौ प्रणेमुः सुरनरपतयो येषु भक्तिः सतां ते,
पान्तूत्तीर्णा जिनेन्द्राः परमकरुणया पद्मपादाश्रितं माम् ॥२॥ (स्रग्धरा)

[1]भव्येभ्यः सुखदां जिनेन्द्रमुखजां वाचं निशम्योन्नतां,
प्रव्रज्यां प्रतिपद्य वीरविभवे यैरर्पितं जीवनम् ।
यन्नामाऽपि निहन्ति पापतिमिरं मार्तण्डरश्म्योघवद्,
वन्देऽहं शिवकाङ्क्षया गणभृतां वृन्दं हि तेषां मुदा ॥३॥

[2]शतक-कषायप्राभृत-कर्मप्रकृतीः प्रणिन्युराप्ता ये । तासां चूर्णि वृत्तिं प्रवितेनुश्चूर्णिटीप्पनकम् ॥४॥
[2]कर्मग्रन्थाँश्चान्यान् कर्मविपाकादिभेदतो भिन्नान् । कृतवन्तो ये कर्मस्वरूपवेद्युडुविसरचन्द्राः ॥५॥
[3]विजयन्तां भुवि ते शिवशर्माचार्या-ऽऽर्यमङ्गुगुर्वाद्याः ।
श्रीनागहस्तिपादा नन्दावभिनन्दिताश्च यतिवृषभाः ॥६॥
[7]श्रीमन्मुनिचन्द्राश्च श्रीदेवेन्द्रविजयाश्च सूरिवराः । मलयगिरिजसमशमरसभाजो मलयगिरिसूरीन्द्राः ॥७॥
[3]मलधारीया हेमाचार्या न्याये विशारदा नव्ये । वुववर्यंयशोविजया यावच्छ्रीप्रेमसूरयो गुरवः ॥८॥
(पञ्चभि. कुलकम्)

*दोषद्रुमौघदाहाय, येन दावानलायितम् । गुणगुल्मप्ररोहाय, मेघधारायितं तथा ॥९॥
*ज्ञातागमरहस्याय, ज्योतिर्विद्गच्छपायिने । सूरये दानपूर्वाय, तस्मायस्तु नमो नमः ॥१०॥ (युग्मम्)
[4]यस्य प्रसादवशतो व्रतमध्यगच्छम्, यस्यान्तिके च समता स्थिरताऽप्यवाप्ता ।
यस्य ध्रुवं समयशिक्षणतो विबुद्धः, स प्रेमसूरिगुरुराड् जयतात्सदैव ॥११॥
[5]कृत्वा तीव्रं तपोऽपि नुवत उपसृतान् मुक्तिमार्गं जनान् ये,
शास्त्राण्यध्यापयन्ति प्रणतमुनिगणं सारयन्ति प्रयासैः ।
पूज्यास्ते मे गुरूणां गुरव उपगता देशनायां पटुत्वम्,
पंन्यासा भानुसंज्ञा ददतु वरमतिं तर्कशास्त्रे नदीष्णाः ॥१२॥
[6]दुस्सह्यमामं सुसमाधिना ये, सोढ्वा विनाश्याऽशुभकर्मचक्रम् ।
स्वर्गं गतास्तान् हितदान् हितार्थं, पंन्यासपद्मार्ह्यगुरून् नमामि ॥१३॥
[7]भवति खलु जडोऽपि प्राज्ञसेव्यः कवीन्द्रः, कलकवनविधायी संततं यत्प्रसादात् ।
सरससरलटीकां कर्तुकामस्य मे सा, झगीति भवतु देवी भारती भव्यस्फूर्त्यै ॥१४॥
*ग्रन्थेऽस्मिन्नतिगूढार्थे, साहाय्यकं व्रतिव्रजम् । नत्वा स्वपरभद्राय, स्थितिग्रन्थः प्रतन्यते ॥१५॥

इह तावदपारे संसारपारावारेऽवाप्य कथमपि कर्मविवरं लब्ध्वा मानुषं जनुः पुण्योदयवृद्धेर्विविधां धर्मसामग्रीं च निस्तरितुमना यतितव्यं सम्यग्दर्शनादित्रयव्यवस्थिते सर्वज्ञप्रथितेऽपवर्गाध्वनि श्रीज्ञमितवर्धापेणेति व्यासेन विस्तरेण चोपदिष्टं तत्र तत्र पूर्वमहर्षिभिरस्माभिरपि लेशतो मूलस्थितिबन्धवृत्तिप्रारम्भे 'इह खलु' इत्यादिग्रन्थेन । विवेचितं च तत्रैतदपि यदुत्पत्त्याद्येकान्तवादि-

---

[1]शार्दूलविक्रीडितम् । [2]आर्या । [3]गीतिः । * अनुष्टुप् । [4]वसततिलका । [5]स्रग्धरा । [6]इन्द्रवज्रा । [7]मालिनी ।

दुर्नयप्रथितार्थविघटनादितस्स्याद्वादनिष्टङ्कितसन्नयप्रथितार्थघटनादिप्रवणस्य द्रव्यानुयोगस्य सम्यग्दर्शनादिमोक्षमार्गं प्रति परमोपकारित्वं तन्मूलकं पूर्वाचार्याणां चरणकरणाद्यनुयोगप्रधाननानाप्रकरणप्रकरविरचनवद् द्रव्यानुयोगमहोदधिदृष्टिवादैकदेशतः शतक-कर्मप्रकृतिसंग्रहणी-कर्मप्रकृतिप्राभृत-कषायप्राभृतप्रभृतितच्चूर्णिवृत्त्यादिप्रमुखग्रन्थसङ्कलनं तत्र च शतकादौ साक्षादर्थापत्त्या वोपनिबद्धानां कर्मबन्धविषयकपदार्थसार्थानां सङ्कलनात्मको यो बन्धविधानाभिधग्रन्थस्तत्र सुखप्रवेशार्थं तस्य प्रकृति-स्थिति-रस-प्रदेशबन्धभेदभिन्नखण्डग्रन्थचतुष्टयप्रकल्पनम्, तन्मध्ये यत्र स्थितिबन्धभेदभिन्नस्य बन्धविधिर्विवर्ण्यतेऽनेकैरधिकारद्वारादिभिः सोऽयं स्थितिबन्धाभिधो द्वितीयः खण्डः प्रारभ्यत इति च। तदनु तस्य मङ्गलादिगाथां विवेचयद्भिरस्माभिः प्राक् 'भणिमु सपरसेयत्थं बंधविहाणं जहासुत्तं' इत्यनेन बन्धविधानस्य प्रतिज्ञातत्वेन तदेकदेशरूपस्य स्थितिबन्धस्यापि प्रतिज्ञाततया 'अह···भासिमु ठिइबंधं' इति स्थितिबन्धाभिधानप्रतिज्ञाविषयकपुनरोक्ताऽऽशङ्कायाः प्रदर्शनपूर्वकम् 'अथवा वक्ष्यमाण-स्थितिबन्धग्रन्थो बन्धविधानैकदेशरूपः सन्नपि स्वस्थाने एव नानाधिकारादीन् सगृह्णन्नतिबृहत्कायतया ग्रन्थान्तररूप एव' इति वृत्तिग्रन्थेन स्थितिबन्धग्रन्थस्य ग्रन्थान्तररूपताप्रदर्शनद्वारेण प्रकारान्तरेण परिहारं कृत्वा तेनैव हेतुना 'अत एवात्र 'जीराउलणाहं'' इत्यादिनाऽऽदिममध्यमादीनि मङ्गलान्याचरिष्यति ग्रन्थकार' इति वृत्तिग्रन्थेन स्थितिबन्धग्रन्थगतमङ्गलत्रयस्य सुमङ्गलत्वं प्रसाधितम्। तत्र 'अह जीराउलणाहं' इत्याद्यादिममङ्गलपूर्वको मूलप्रकृतिभेदभिन्नः स्थितिबन्धः षट्सप्तत्यधिकाष्टशतगाथाभिर्भणितोऽतः साम्प्रतमुत्तरप्रकृतिभेदभिन्नं तं प्रतिपिपादयिषुर्मध्यमङ्गलपूर्वकं प्रारभते—

अह पणमिय सिरिभीलडिपुरपासपहुं अचिंतमाहप्पं।
साहिमु गुरुआणाए उत्तरपयडीसु ठिइबंधं ॥१॥

(प्रे०) "अह" इत्यादि, अथाऽचिन्त्यमाहात्म्यं श्रीभीलडिपुरपार्श्वप्रभुं प्रणम्य गुर्वादेशादुत्तरप्रकृतिषु स्थितिबन्धं कथयामीति योगः। अक्षरार्थः सुगम आद्यमङ्गलगाथाप्रपञ्चेन गतार्थश्च केवलं भीलडिपुरं नामाऽणहिलपुरपट्टनादुत्तरपश्चिमस्यां दिशि समासन्नद्वादशक्रोशान्तरेण वर्तमानस्तन्मण्डनपार्श्वप्रभोः प्रथितमहिम्ना सर्वतः ख्यातकीर्तिर्ग्रामविशेषः, यत्संनिधौ साम्प्रतकाले एव सार्धत्रयलक्षद्रविणव्ययविहिताऽऽमूलजीर्णोद्धारोऽत एवाभिनवनिर्मापिताभश्श्यामवर्णदीप्तकान्ति-श्रीपार्श्वनाथप्रभुकृतमूलनायकत्वो नानागवाक्षद्वारतोरणमण्डपादिभूषितगगनोल्लेखिभव्यप्रासादो यात्रिकगणावस्थानानुकूल्यहेतुविशालधर्मशालोपाश्रयादिपरिमण्डितो वरिवर्तते। अचिन्त्यं माहात्म्यं पुनः प्रभोरचिन्तितफलप्रदायकत्वेन चिन्तितप्रदायककामधेनुकल्पतरुचिन्तारत्नादितोऽतिशायिमाहात्म्येनेति। उत्तरप्रकृतयस्तु ज्ञानावरणादिमूलाष्टकर्मोत्तरभेदाः, ताश्च बन्धतो विंशत्युत्तरशतमुत्तरवृत्तिग्रन्थे नामतो वक्ष्यमाणा मतिज्ञानावरणाद्याः। तत्र स्थितिबन्धो नाम तत्तन्मतिज्ञानावरणादिप्रकृतितया बध्यमानकर्मदलिकेषु तत्कालिनकषायोदयपरिणामेन तेषां कर्मपुद्गलानां तेन रूपेणा-

ऽवस्थाने हेतुभूताया इयत्ताया निर्माणम् । विस्तरस्तु **मूलस्थितिबन्धाद्यगाथाप्रेमप्रभाभाषित-** नीत्या कार्यः । एवमेवाऽनुबन्धचतुष्टयमपि तद्वदेव व्याख्येयम् , यद्वा नात्र तत्प्रसङ्ग इति ॥१॥

अथ 'उत्तरपयडीसु ठिइबंधं' इति यदुक्तं तदर्थमेवादौ तावदुत्तरप्रकृतिस्थितिबन्धगतानधिकारान् तद्गतद्वाराणि चाऽऽह--

तत्थऽत्थि छ अहिगारा जहकमसो पढम-बीअ-भूगारा ।
पयणिक्खेवो वड्ढी अज्झवसाणसमुदाहारो ॥ २ ॥
तेसुं पढमाईसुं अहिगारेसु चउरो य पंचदस ।
तेरस तिण्णि य तेरस तिण्णि कमा हुन्ति दाराणि ॥ ३ ॥

(प्रे०) "**तत्थ**" इत्यादि, तत्रोत्तरप्रकृतिस्थितिबन्धे "**जहकमसो**" त्ति वक्ष्यमाणक्रमेण षडधिकाराः सन्ति । क्रमशोऽधिकारानेव नामत आह--"**पढम**" इत्यादि, तत्र "**पढम**" त्ति द्वितीयाद्यधिकारेष्ववक्ष्यमाणानां स्थितिबन्धस्थानाल्पबहुत्वादीनां नानाऽर्थानां प्रतिपादनपरः स्थितिबन्धस्थानाद्यधिकारः प्रथमाधिकारतया विज्ञेय इत्यर्थः । "**बीअ**" त्ति द्वितीयोऽधिकारः, अयमप्युत्कृष्टादिस्थितिबन्धप्रमाण-तत्स्वामित्व-तत्साद्यादि-तत्काला-ऽन्तरादिद्वाराण्यधिकृत्य नानाविषयोऽपि स्थितिबन्धसामान्यप्रतिपादनादपरिच्युतो द्वितीयाधिकारतया बोध्यः। "**भूगार**" त्ति भूयस्कारः पूर्वसमयादनन्तरसमयेऽधिकस्थितिबन्धलक्षणस्तत्प्रतिपादनपरोऽधिकारो भूयस्काराधिकारः । अत्र हि अल्पतरादिलक्षणाः स्थितिबन्धविशेषा अपि निरूपणीया भवन्ति, एवमप्यधिकारनामप्रस्तावे भूयस्कार इत्येव भण्यते । "**पयणिक्खेवो**" त्ति उत्कृष्टजघन्यलक्षणपदविशेषगतभूयस्कारादिस्थितिबन्धप्रतिपादनप्रवणोऽधिकारः पदनिक्षेपाधिकारः । "**वड्ढी**" त्ति संख्येया-ऽसंख्येय-गुणभागवृद्धिहानीलक्षणनानाभेदभिन्नभूयस्कारादिस्थितिबन्धविशेषवर्णनं यत्राऽसौ वृद्धिनामाऽधिकारः । "**अज्झवसाणसमुदाहारो**" त्ति यत्र स्थितिबन्धकारणीभूतानामध्यवसायानां समुदाहरणम्=प्ररूपणं क्रियते मुख्यवृत्त्याऽसावध्यवसानसमुदाहारोऽध्यवसायसमुदाहारोऽवा षष्ठाधिकारतया ज्ञेय इति । एतेषां हि विशेषतो व्याख्यानमिच्छता मूलप्रकृतिस्थितिबन्धग्रन्थे 'मूलपयडिठिइबंधे छहिगारा पढम-बीअ भूगारा । पयणिक्खेवो वड्ढी अज्झवसाणसमुदाहारो ॥ २ ॥' इत्यस्या द्वितीयगाथायाः **प्रेमप्रभाऽव**लोकनीया, तत्राऽस्माभिः प्रपञ्चितत्वान्नात्र पुनः प्रपञ्च्यत इति ।

अथ तत्र तत्राऽधिकारे कियन्ति व्याख्योपयोग्यनुयोगद्वाराणीति दर्शयन्नाह--"**तेसुं**" इत्यादि, एतद्गाथोत्तरार्धस्थात् '**कमा**' इति वचनात्प्रथमादिषूक्तषडधिकारेषु क्रमात् चत्वारि, पञ्चदश, त्रयोदश, त्रीणि, त्रयोदश, त्रीणि द्वाराणि सन्ति । तानि नामतस्तु तत्तदधिकारप्रारम्भे 'तह आइमअहिगारे चउरो दाराणि हुन्ति जहकमसो । ठिइठाणाणि णिसेगो अबाहकंडं य अप्पबहू ॥ ४ ॥' इत्यादिना भणिष्यन्त इति द्वारनामव्याख्यानमपि तत्रैव करिष्याम इति ॥ २-३ ॥

॥ प्रथमोऽधिकारः ॥

अथ "यथोद्देशं निर्देशः" इति न्यायेन प्रथमाधिकारं प्रतिपिपादयिषुः प्रथमाधिकारद्वाराणि नामग्राहमाह—

तह आइमअहिगारे चउरो दाराणि हुन्ति जहकमसो ।
ठिइठाणाणि णिसेगो अबाहकंडं च अप्पबहू ॥४॥

(प्रे०) "**तह आइमअहिगारे**" इत्यादि, 'तत्र'—अनन्तरोद्दिष्टाधिकारषट्कमध्ये 'आदिमे'—प्रथमेऽधिकारे चत्वारि द्वाराणि भवन्ति, तान्येव नामतः क्रमतश्चाह–'**जहकमसो**' इत्यादि, प्रथमं स्थितिबन्धस्थानद्वारम्, तदनु द्वितीयं निषेकद्वारम्, तत्पश्चात्तृतीयमबाधाकण्डकद्वारम्, ततश्चरममल्पबहुत्वद्वारम्, चकारः समुच्चये। तत्र स्थितिबन्धस्थानानि नाम बन्धतः प्राप्यमाणाः स्थितिबन्धविशेषाः। निषेको नाम बध्यमानस्थितिषु यथोत्तरं विशेषहीन-विशेषहीनक्रमेण कर्मदलस्य रचना। न बाधन्ते=बाधां नोत्पादयन्ति यथानिषिक्तकर्मदलिकानि आत्मानं यस्यां साऽबाधा, अबाधासम्बन्धिकण्डकान्यबाधाकण्डकानि, एकैकसमयाबाधायां बन्धप्रायोग्यस्थितिबन्धस्थानसमूह इति भावः। अल्पबहुत्वशब्दार्थस्तु प्रतीतः, केवलमिह स्थितिबन्धस्थानादिद्वारत्रये प्रोक्तस्थितिबन्धस्थानादिनानापदार्थविषयाणि तान्यल्पबहुत्वानि प्रदर्श्यन्त इति गाथासंक्षेपार्थः। विस्तरार्थो हि अस्याः पूर्वं **मूलस्थितिबन्धविधानप्रथमाधिकारद्वारगाथावृत्तौ** दर्शितोऽस्माभिः, जिज्ञासुना तत एवाऽवलोकनीय इति ॥४॥

प्रथमं स्थितिबन्धस्थानद्वारम्

अथ प्रथमे स्थितिबन्धस्थानद्वारे स्थितिबन्धस्थानान्यधिकृत्य प्ररूपणा कर्तव्या, तस्यां च चतुर्दशजीवभेदेषु मतिज्ञानावरणादितत्तदुत्तरप्रकृतिसत्कस्थितिबन्धस्थानानां तदीयकारणीभूतकषायोदयजन्याध्यवसायस्थानानां चेत्येवं द्विधाऽल्पबहुत्वं, तदुपपत्तौ तृतीयं सविशेषचतुर्दशजीवभेदेषु जघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धाल्पबहुत्वं च प्रदर्श्यन्ते, तत्राऽऽदौ तत्तत्प्रकृतीनां स्थितिबन्धस्थानानामल्पबहुत्व प्रदिदर्शयिषुरायुःप्रकृतीरधिकृत्याह—

ठिइबंधट्ठाणाइं णिरय-सुराऊण हुन्ति थोवाइं ।
पज्जाऽसण्णिस्स तओ असंखियगुणाणि पज्जसण्णिस्स ॥५॥

(प्रे०) "**ठिइबंधट्ठाणाइं**" इत्यादि, पर्याप्तसंज्ञ्यसंज्ञिजीवभेदद्वय एव बन्धप्रायोग्ययोर्निरय-सुरायुषोः स्थितिबन्धस्थानानि "**हुन्ति थोवाइं पज्जासण्णिस्स**"त्ति पर्याप्तासंज्ञिनः, यद्वा 'क्वचिद्द्वितीयादेः' इति वचनात् सप्तम्यर्थे षष्ठीविभक्तिः, ततश्च पर्याप्ताऽसंज्ञिजीवभेदे स्तोकानि सन्ति,

'तओ' त्ति तेभ्यः स्थितिबन्धस्थानेभ्यः**"असंखियगुणाणि पज्जसण्णिस्स"** त्ति पर्याप्तसंज्ञि-जीवभेदे स्थितिबन्धस्थानानि असंख्येयगुणानि भवन्तीत्यर्थः। इह खलु तत्तज्जीवभेदे स्थिति-बन्धस्थाननानात्वं तत्र तत्र जीवभेदे बन्धप्रायोग्यजघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरालाधीनम्, यतो जघ-न्यस्थितिबन्धविकल्पप्रभृतेः समयसमयवृद्धया उत्कृष्टस्थितिबन्धविकल्पं यावद्यावन्तः स्थितिविशेषाः प्राप्यन्ते तावन्ति स्थितिबन्धस्थानानि भवन्ति। निरयसुरायुषोर्जघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरं तु पर्याप्ताऽसंज्ञिजीवभेदे ह्रस्वम्, तत्र तयोः प्रत्येकं जघन्यस्थितिबन्धस्य दशवर्षसहस्रमात्रत्वादुत्कृष्ट-स्थितिबन्धस्य पल्योपमासंख्येयभागमात्रत्वाच्च, पर्याप्तसंज्ञिजीवभेदे पुनस्तत् ततोऽसंख्येयगुणं, यतः पर्याप्तसंज्ञिजीवभेदे तयोर्द्वयोरायुषोः प्रत्येकं जघन्यस्थितिबन्धो दशवर्षसहस्रमानः सन्नपि तयोरु-त्कृष्टस्थितिबन्धस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणो जायते। इत्थमेवोत्तरत्रापि तत्तज्जीवभेदे मतिज्ञाना-वरणादितत्तत्प्रकृतेर्बन्धप्रायोग्यजघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरस्य दीर्घह्रस्वत्वानुसारेण प्रस्तुतं स्थिति-बन्धस्थानाल्पबहुत्वं प्रसाधनीयमिति ॥५॥ अथ तिरिय-नरायुष्यधिकृत्य प्रस्तुतमाह—

बारहविहजीवाणं तिरिय-णराऊण हुन्ति थोवाइं।
ताउ असंखगुणाइं पज्जासण्णिइयराण कमा ॥६॥

(प्रे०) **"बारहविहजीवाण"**मित्यादि, तिर्यग्-मनुष्यायुषोः प्रत्येकं स्थितिबन्धस्थानानि **"बारहविहजीवाण"** ति **'पज्जासण्णिइयराण'** इत्यनेन वक्ष्यमाणजीवभेदद्वयं विहाय द्वादश-विधजीवेषु सूक्ष्म-बादर-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तैकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिया-ऽपर्याप्तासंज्ञ्य-ऽपर्याप्त संज्ञिपञ्चेन्द्रियजीवभेदलक्षणेषु तानि स्तोकानि भवन्ति, परस्परं तु तानि तुल्यान्यवसातव्यानि, कुतः? युगपदभिधानात्, एवमुत्तरत्रापि युगपदभिधाने तुल्यानीति द्रष्टव्यम्। ततः**"असंखगुणाइं पज्जासण्णिइयराण कमा"** त्ति पर्याप्ताऽसंज्ञिजीवभेदे, इतरपदात्पर्याप्तसंज्ञिजीवभेदे च 'क्रमात्'-यथोत्तरमसंख्येयगुणानि सन्ति। तत्र द्वादशजीवभेदेषु परस्परं तुल्यानि शेषजीवभेदद्वयापेक्षया स्तो-कानि च तेषु प्रत्येकं प्रस्तुतप्रकृतिद्वयस्य बन्धप्रायोग्यजघन्यस्थितेः क्षुल्लकभवसत्कतयाऽन्तर्मुहूर्त-मात्रत्वेन तदीयोत्कृष्टस्थितेः पूर्वकोटीप्रमाणत्वेन च जघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरस्य परस्परं तुल्य-त्वाद् ह्रस्वत्वाच्च, ततः पर्याप्तासंज्ञिजीवभेदे ततश्च पर्याप्तसंज्ञिजीवभेदे यथोत्तरमसंख्येयगुणानि पुनस्तयोर्द्वयोर्जीवभेदयोः प्रस्तुतप्रकृतिद्वयजघन्यस्थितेरन्तर्मुहूर्तमात्रत्वेऽपि तयोरुत्कृष्टस्थितेः क्रमेण पल्योपमासंख्यभाग-पल्योपमत्रयप्रमाणतया जघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरस्य यथोत्तरमसंख्येयगुण-त्वादिति ॥६॥ अथेहैव मतान्तर निबध्नन्नाह—

तेरहविहजीवाणं तिरिय-णराऊण हुन्ति थोवाइं।
ताउ असंखगुणाइं पज्जासण्णिइयराण कमा ॥७॥

(प्रे०) "**तेरहविहे**"त्यादि, अक्षरार्थस्तु सुगमः, केवलं "**परे**" त्ति महाबन्धकाराः। **भावार्थस्त्वयम्**–महाबन्धकाराः पर्याप्तासंज्ञिजीवभेदेऽपि पर्याप्ताऽपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियादिद्वादशजीवभेदवत् तिर्यग्मनुष्यायुषोरुत्कृष्टं स्थितिबन्धं पूर्वकोटीप्रमाणमेव स्वीकुर्वन्ति, तथा च तन्मते पर्याप्तसंज्ञिजीवभेदवर्जेषु त्रयोदशजीवभेदेषु तिर्यग्-मनुष्यायुषोः स्थितिबन्धस्थानानि स्तोकानि तुल्यानि च लभ्यन्ते, तेभ्यश्च पर्याप्तसञ्ज्ञिजीवभेदे तयोरुत्कृष्टस्थितिबन्धमानं पूर्वगतपल्योपमत्रयमेवेति कृत्वा स्थितिबन्धस्थानान्यपि त्रयोदशजीवभेदोक्तस्थितिबन्धस्थानेभ्योऽसंख्येयगुणानि जायन्त इति ॥७॥

अथ निरयगति-निरयानुपूर्वीप्रकृत्योः प्रस्तुतं स्थितिबन्धस्थानाल्पबहुत्वमाह––

णिरयदुगस्स हवन्ते पज्जत्तासण्णिणो उ थोवाइं ।
तत्तो संखगुणाइं हवन्ति पज्जत्तसण्णिस्स ॥८॥

(प्रे०) "**णिरयदुगस्स हवन्ते**" इत्यादि, 'निरयद्विकं' निरयगति-निरयानुपूर्वीप्रकृतिद्वयं पर्याप्तसंज्ञ्यसंज्ञिजीवभेदद्वय एव बध्यते, तत्र पर्याप्तासंज्ञिनो निरयद्विकसत्कस्थितिबन्धस्थानानि स्तोकानि सन्ति, असंज्ञिपञ्चेन्द्रियबन्धप्रायोग्यस्थितिबन्धस्थानानां पल्योपमसंख्येयभागमात्रत्वात्। एतदपि कुतः ? तदीयजघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरस्य तथात्वादिति। "**तत्तो संखगुणाइं हवन्ति**" त्ति तेभ्यः संख्येयगुणानि भवन्ति, "**पज्जत्तसण्णिस्स**" त्ति सुगमम्, पर्याप्तसञ्ज्ञिनः प्रस्तुतप्रकृतिद्वयसत्कजघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरालस्य संख्येयसागरोपमप्रमाणत्वेनाऽनन्तरोक्तपल्योपमसंख्येयभागापेक्षया संख्येयगुणत्वादिति ॥८॥

अथ देवगति-देवानुपूर्वीप्रकृतिद्वयलक्षणं देवद्विकं वैक्रियशरीरवैक्रियाङ्गोपाङ्गप्रकृतिद्वयलक्षणं वैक्रियद्विकं चाधिकृत्य प्रस्तुताल्पबहुत्वमाह––

देवविउव्वदुगाणं पज्जत्ताऽसण्णिणोऽत्थि थोवाइं ।
तो संखगुणाणि कमा अपज्ज-पज्जत्तसण्णीणं ॥९॥

(प्रे०) "**देवविउव्वदुगाण**"मित्यादि, द्विकशब्दस्य प्रत्येकं योजनाद् देवद्विकवैक्रियद्विकरूपप्रकृतिचतुष्टयस्य स्थितिबन्धस्थानानि "**पज्जत्तासण्णिणोऽत्थि थोवाइं**" ति वक्ष्यमाणपर्याप्तापर्याप्तसञ्ज्ञिजीवभेदद्वयापेक्षया पर्याप्तासंज्ञिजीवभेदे स्तोकानि सन्ति, पल्योपमसंख्येयभागमात्रत्वात्तेषाम्। "**तो संखगुणाणि कमा**" त्ति तेभ्यः संख्येयगुणानि क्रमात् "**अपज्ज-पज्जत्तसण्णीणं**" ति द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणेत्यादिन्यायेन संज्ञिशब्दस्याऽपर्याप्तपर्याप्तयोः प्रत्येकं योजनाद् अपर्याप्तसंज्ञिनः पर्याप्तसंज्ञिनश्चेत्यर्थः। **इदमुक्तं भवति**–अपर्याप्तसंज्ञिजीवभेदे प्रस्तुतदेवगत्यादिप्रकृतिसत्कजघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धौ यद्यप्यन्तःकोटीकोटीसागरोपमप्रमाणौ जायेते, तथापि जघन्यस्थितिबन्धापेक्षयोत्कृष्टस्थितिबन्धस्य संख्येयगुणत्वेन तयोरन्तरालस्य पूर्वापेक्षया संख्येयगुणत्वात्

स्थितिबन्धस्थानान्यपि पूर्वापेक्षया संख्येयगुणानि भवन्ति, इह एतावन्ति स्थितिबन्धस्थानानि करणाऽपर्याप्तजीवबन्धप्रायोग्यतयैव लभ्यन्ते, न पुनर्लब्ध्यपर्याप्तकजीवापेक्षया, अपर्याप्तावस्थायां सम्यग्दृशामेव प्रस्तुतदेवद्विकादिप्रकृतिचतुष्कस्य बन्धभावात्, तेषां नियमतः करणाऽपर्याप्तत्वा-दिति। पर्याप्तसंज्ञिजीवभेदे तु जघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरालमतिमहत्, तच्च संख्येयकोटीकोटी-सागरोपमप्रमाणम्, ततश्च तदधीनानि स्थितिबन्धस्थानान्यप्यपर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियजीवभेदापेक्षया संख्येयगुणान्येवेति ॥९॥

अथाऽऽहारकशरीरा-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्गप्रकृतिद्वयमेकस्मिन् जीवभेदे एव बध्यते, तथा च सति तदीयस्थितिबन्धस्थानानां नानाजीवभेदसव्यपेक्षं प्रस्तुताल्पबहुत्वं नैव युज्यते, यद्यप्येवं तथापि स्थानाऽशून्यार्थं स्वस्थाने एव जीवविशेषापेक्षया तदाह—

थोवाइं णेयाइं आहारदुगस्सऽपुव्वकरणस्स ।
तत्तो संखगुणाइं हवन्ति अपमत्तसंयमिणो ॥१०॥

(प्रे०) "थोवाइं णेयाइं" इत्यादि, आहारकशरीराऽऽहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणस्याऽऽहारकद्विकस्य प्रकृतत्वात्स्थितिबन्धस्थानानि स्तोकानि ज्ञातव्यानि, कस्येत्याह—"अपुव्वकरणस्स" त्ति गुण-गुणिनोरभेदोपचारादपूर्वकरणगुणिनः, यद्वा बहुव्रीह्याश्रयणादपूर्वकरणस्य महात्मनः, अपूर्वकरणाख्या-ऽष्टमगुणस्थानकगतानां जीवानामित्यर्थः। "तत्तो" त्ति तेभ्यः "संखगुणाइं हवन्ति" इत्यादि, अप्रमत्तसंयतानामाहारकद्विकसत्कस्थितिबन्धस्थानानि संख्येयगुणानि भवन्ति, हेतुस्तु प्रागिव तत्तज्जीवविशेषाणां बन्धप्रायोग्यजघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरस्य तथात्वादिति ज्ञेयः ॥१०॥

अथ तीर्थकरनामकर्मसंज्ञिपर्याप्तापर्याप्तजीवभेदद्वये बध्यते, ततस्तत्र तज्जीवभेदद्वयापेक्षया सम्भवति प्रस्तुतमल्पबहुत्वम्, यद्यप्येवं तथापि किञ्चिद्विशेषतो दिदर्शयिषुरपूर्वकरणादिजीवभेद-विशेषानधिकृत्याऽऽह—

तित्थयरस्सऽप्पाइं अपुव्वकरणस्स हुन्ति ताउ कमा ।
संखगुणाइं संयमि-देसजइ-अपज्ज-पज्जसम्माणं ॥११॥ (गीतिः)

(प्रे०) "तित्थयरस्से"त्यादि, पदैकदेशेनापि पदस्य गम्यमानत्वात् तीर्थकरनामकर्मणः "ऽप्पाइं" ति 'अल्पानि' अनन्तरवक्ष्यमाणस्थानचतुष्कात् स्तोकानि, भवन्तीति परेणान्वयः, स्थितिबन्धस्थानानीति तु गम्यते, कस्य जन्तोरित्याह—"अपुव्वकरणस्स" ति अष्टमाऽपूर्व-करणगुणस्थानकगतस्य मुनेरित्यर्थः। "ताउ कमा" त्ति तेभ्यः क्रमात् "संखगुणाइं" ति तीर्थ-करनामकर्मणः स्थितिबन्धस्थानानि संख्येयगुणानि, भवन्तीत्यत्रापि सम्बध्यते, केषां क्रमा-त्संख्येयगुणानीत्याह—"संयमि-देसजइ" इत्यादि, अपूर्वकरणसंयतानामनन्तरं गृहीतत्वात् तैर्व-

र्जिताः प्रमत्ताऽप्रमत्तरूपसंयता अत्र संयमिपदेन गृह्यन्तेऽतस्तेषां प्रमत्ताप्रमत्तसंयतानां, देशसंयतानाम् ,अपर्याप्तसम्यग्दृशां,पर्याप्तसम्यग्दृशामित्येवं चतुर्विधानां यथोत्तरं जघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धयोरन्तरालस्य संख्येयगुणत्वात् तदधीनानि प्रकृतस्थितिबन्धस्थानान्यपि यथोत्तरं संख्येयगुणानि सम्पद्यन्ते । एतेषां जघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धयोरन्तरालं तु तेषां जघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धाल्पबहुत्वतो गम्यते, तच्चेवम्– प्रमत्तसंयतस्य जघन्यस्थितिबन्धापेक्षया तस्यैवोत्कृष्टः स्थितिबन्धः संख्येयगुणः, ततो देशसंयतस्य जघन्यः संख्येयगुणः, ततस्तस्यैवोत्कृष्टः संख्येयगुणः, ततः पर्याप्तसम्यग्दृष्टेर्जघन्यः संख्येयगुणः, ततोऽपर्याप्तसम्यग्दृष्टेर्जघन्यः संख्येयगुणः, ततस्तस्यैवोत्कृष्टः संख्येयगुणः, ततः पर्याप्तसम्यग्दृष्टेरुत्कृष्टः स्थितिबन्धः संख्येयगुण इति । वक्ष्यते चात्रैव ग्रन्थे– 'तित्थस्स लहू थोवो अपुव्वकरणस्स ताउ होइ कमा । सखगुणो तस्स गुरू तो सयमिणो भवे इस्सो ॥' इत्यादिनेति ॥११॥

अथ चतुर्दशस्वपि जीवभेदेषु बन्धप्रायोग्याणां मतिज्ञानावरणादीनां शेषाणां सप्तोत्तरशतप्रकृतीनां प्रत्येकं स्थितिबन्धस्थानाल्पबहुत्वं तु सर्वथा मूलप्रकृतिस्थितिबन्धस्थानाल्पबहुत्वतुल्यमिति तत्तथैव दर्शयन्नाहाऽऽर्याद्वयम् —

सेसाणं थोवाइं अपज्जसुहुमस्स ताउ हुन्ति कमा ।
संखगुणाणि अपज्जगबायरपज्जसुहुमियराणं ॥१२॥
असमत्तियराण कमा बि-ति-चउइंदियअसण्णिसण्णीणं ।
णवरि असंखगुणाइं अपज्जबेइंदियस्सऽत्थि ॥१३॥

(प्रे०) "**सेसाणं थोवाइं**" इत्यादि, अनन्तरोक्ता देवायुःप्रभृतितीर्थकरनामान्तास्त्रयोदशप्रकृतीर्विवर्ज्य 'शेषाणां' मतिज्ञानावरणादीनां सप्तोत्तरशतप्रकृतीनां प्रत्येकं "**स्तोकानि**" सर्वाल्पानि, स्थितिबन्धस्थानानीति प्रक्रमाद्गम्यते । कस्य जीवभेदस्येत्याह–"**अपज्जसुहुमस्स**" त्ति अपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियजीवभेदस्य । "**ताउ**" ति तेभ्यः '**हुन्ति कमा**" त्ति क्रमाद् भवन्ति संख्येयगुणानीत्युत्तरार्धे योगः, केषामित्याह–"**अपज्जगबायरे**"त्यादि, गतार्थम् । इत्थं सामान्येन त्रयोदशजीवभेदेषूक्तक्रमेण यथोत्तरं संख्येयगुणानि स्थितिबन्धस्थानानीत्यभिहिते सति याऽतिप्रसक्तिस्तामुद्दिधीर्षुरघटमानं पदमेकमपवदति–"**णवरि**" इत्यादिना, नवरमपर्याप्तद्वीन्द्रियस्याऽसंख्येयगुणानि सन्ति, न पुनर्यथोत्सर्गं संख्येयगुणानि । **तद्यथा**–अपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियस्य प्रकृतसप्तोत्तरशतान्यतमप्रकृतिसत्कस्थितिबन्धस्थानेभ्योऽपर्याप्तबादरैकेन्द्रियस्य स्थितिबन्धस्थानानि संख्येयगुणानि । तेभ्यः पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियस्य तानि संख्येयगुणानि । तेभ्यः पर्याप्तबादरैकेन्द्रियस्य सख्येयगुणानि । तेभ्योऽपर्याप्तद्वीन्द्रियस्याऽसंख्येयगुणानि । तेभ्यः पर्याप्तद्वीन्द्रियस्य संख्येयगुणानि ।

तेभ्योऽपर्याप्तत्रीन्द्रियस्य संख्येयगुणानि । तेभ्यः पर्याप्तत्रीन्द्रियस्य संख्येयगुणानि । तेभ्योऽपर्याप्तचतुरिन्द्रियस्य संख्येयगुणानि । तेभ्यः पर्याप्तचतुरिन्द्रियस्य संख्येयगुणानि । तेभ्योऽपर्याप्ताऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य संख्येयगुणानि । तेभ्यः पर्याप्ताऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य संख्येयगुणानि । तेभ्योऽपर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य संख्येयगुणानि । तेभ्यः पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य स्थितिबन्धस्थानानि संख्येयगुणानीति । अत्र भावना तु प्राग्–'ठिइबंधट्ठाणाइं सुहुमियराणे'त्यादि–(५-६)गाथाद्वयवृत्तौ **मूलप्रकृतिस्थितिबन्धस्थानाल्पबहुत्वं** भावयद्भिरस्माभिः विस्तरेण दर्शितभावनानुसारेण कर्तव्या, तद्वत्प्रकृताल्पबहुत्वस्य तद्धेतूनां च साम्यादिति ॥१२-१३॥

तदेवमभिहितं जीवभेदेषु विंशत्युत्तरशतप्रकृतीनां स्थितिस्थानानामल्पबहुत्वम् । साम्प्रतं क्रमप्राप्तं स्थितिबन्धकारणीभूतानां संक्लेशविशुद्धिस्थानानामल्पबहुत्वं व्याजिहीर्षुरेकामार्यामाह—

पुव्वुत्तट्ठाणकमा असंखियगुणाणि सव्वपयडीणं ।
संकेसविसुद्धीणं ठाणाणि जहुत्तरं हुन्ति ॥१४॥

(प्रे०) "**पुव्वुत्तट्ठाणकमा**" इत्यादि, अनन्तरपूर्वमुक्तात् "**ट्ठाणकमा**" त्ति स्थितिबन्धस्थानाल्पबहुत्वसत्कात् जीवस्थानक्रमादेव सर्वासामुत्तरप्रकृतीनां "**संकेस विसुद्धीणं ठाणाणि**" त्ति **मूलप्रकृतिस्थितिबन्धप्रथमाधिकारे** उक्तनिरुक्तानि स्थितिबन्धकारिणीभूतानि कषायोदयजन्याध्यवसायविशेषलक्षणानि संक्लेशविशुद्धीनां स्थानानि "**असंखियगुणाणि**" त्ति यथोत्तरमसंख्येयगुणानि भवन्ति । **तद्यथा**—निरयदेवायुषोः स्थितिबन्धकारणीभूतानि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानि पर्याप्ताऽसंज्ञिनः स्तोकानि । तेभ्यः पर्याप्तसंज्ञिनस्तान्यसंख्येयगुणानि । मनुष्यतिर्यगायुषोस्तानि पर्याप्तसंज्ञ्यसंज्ञिजीवभेदद्वयवर्जानां शेषाणां द्वादशजीवभेदानां प्रत्येकं स्तोकानि, परस्परं तु तानि तुल्यानि । तेभ्यः पर्याप्तासंज्ञिनोऽसंख्येयगुणानि । तेभ्यः पर्याप्तसंज्ञिनोऽसंख्येयगुणानि । निरयगति निरयानुपूर्वीप्रकृत्योः प्रत्येकं स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानि पर्याप्ताऽसंज्ञिनः सर्वस्तोकानि, ततः पर्याप्तसंज्ञिनस्तानि असंख्येयगुणानि । देवगति देवानुपूर्वीवैक्रियशरीर वैक्रियाङ्गोपाङ्गलक्षणानां चतसृणां प्रकृतीनामेकैकस्याः स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानि पर्याप्ताऽसंज्ञिजीवभेदे सर्वस्तोकानि, तेभ्योऽपर्याप्तसंज्ञिजीवभेदे तान्यसंख्येयगुणानि । तेभ्यः पर्याप्तसंज्ञिजीवभेदे तान्यसंख्येयगुणानि । आहारकशरीरा-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्गप्रकृत्योरेकैकस्याः स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानि अपूर्वकरणगुणस्थमहात्मनां स्तोकानि, तेभ्योऽप्रमत्तसंयतानां तान्यसंख्येयगुणानि । तीर्थकरनामकर्मणः प्रस्तुतस्थानानि अपूर्वकरणमहात्मनः स्तोकानि, ततोऽपूर्वकरणवर्जशेषप्रमत्ताप्रमत्तसंयत-देशसंयता-ऽपर्याप्तसम्यग्दृष्टि-पर्याप्तसम्यग्दृष्टिगुणस्थानां चतुर्विधजीवानां यथोत्तरमसंख्यगुणानीति । अनन्तरोक्तदेवायुःप्रभृति तीर्थकरनामान्तत्रयोदशप्रकृतीर्विहाय शेषाणां मतिज्ञानावरणादीनां सप्तोत्तरशतप्रकृतीनां प्रत्येकं स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानि त्वपर्याप्तसूक्ष्म-

जीवभेदे स्तोकानि, तेभ्योऽपर्याप्तबादरैकेन्द्रियजीवभेदे तान्यसंख्येयगुणानि, तथैव पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिय-पर्याप्तबादरैकेन्द्रिया-ऽपर्याप्तद्वीन्द्रिय-पर्याप्तद्वीन्द्रिया-ऽपर्याप्तत्रीन्द्रिय-पर्याप्तत्रीन्द्रिया-ऽपर्याप्तचतुरिन्द्रिय पर्याप्तचतुरिन्द्रिया-ऽपर्याप्ताऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रिय पर्याप्ताऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रिय-पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियलक्षणेषु जीवभेदेषु यथोत्तरमसंख्येयगुणानीति । कस्मात्सर्वत्र यथोत्तरमसंख्येयगुणान्येव स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानि प्राप्यन्ते ? इति चेद्, अपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियबन्धप्रायोग्येषु शेषजीवभेदापेक्षयाऽसंख्येभागमात्रेषु स्तोकस्थितिबन्धस्थानेष्वपि पल्योपमाऽसंख्येयभागमन्तराऽन्तरा निष्पद्यमानानामध्यवसायद्विगुणवृद्धिस्थानानामसंख्येयानां प्राप्यमाणत्वेन यथोत्तरजीवभेदेषु तेषां संक्लेशविशुद्धिस्थानानां सुतरामसंख्येयगुणानां लाभात् । एतच्च सर्वं **मूलप्रकृतिस्थितिबन्धाध्यवसायाल्पबहुत्ववृत्तौ** विस्तरेण प्रपञ्चितमस्तीति विस्तरतो जिज्ञासुना ततोऽवसातव्यमिति ॥१४॥

गतं संक्लेशविशुद्धिस्थानाल्पबहुत्वम् । अथ क्रमप्राप्तं जघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धाल्पबहुत्वं प्रतिपिपादयिषुरादौ मतिज्ञानावरणादीनां द्वाविंशतिप्रकृतीनां तदाह गाथाषट्केन—

आवरणग-सायाणं संजलण-पुरिस-जसु-च्च-विग्घाणं ।
सव्वप्पो ठिइबंधो जहण्णगो होइ संयमिणो ॥१५॥
तो पज्जबायरस्स असंखगुणोऽणूअओ कमाऽब्भहिओ ।
पज्जसुहमस्स तत्तो असमत्तगबायरस्स भवे ॥१६॥
तत्तो अपज्जसुहुमस्स तो अपज्जसुहमेयराण भवे ।
जेट्ठो णेयो तत्तो कमसो पज्जसुहमियराणं ॥१७॥
तो पज्जत्तास्स लहू तओ अपज्जस्स ताउ तस्स गुरू ।
तो पज्जत्तास्स कमा बितिचउइंदियअसण्णीणं ॥१८॥
णवरि लहू संखगुणो समत्तबिंदियअसण्णीणं ।
एतो संखेज्जगुणो कमा गुरू संयतस्स भवे ॥१९॥
तत्तोऽत्थि देसजइणो लहू तओ तस्स होइ उक्कोसो ।
तो सम्मस्स चउविहो पुव्वव्व तओऽत्थि मिच्छस्स ॥२०॥

(प्रे०) "**आवरणगसायाणं**" इत्यादि, आवरणकपदस्य सामान्येनाऽभिहितत्वात्सर्वा आवरणप्रकृतयो गृह्यन्ते, ताश्च पञ्चज्ञानावरण-चतुर्दर्शनावरणलक्षणा नव, तासां नवप्रकृतीनां, तथा "**साय**" त्ति सातवेदनीयस्य, तथा पूर्ववत्सामान्यतोऽभिहितत्वेन "**संजलण**" त्ति क्रोधादिभेद-

भिन्नानां चतसृणामपि संज्वलनप्रकृतीनाम् , तथा पुरुषवेद-यशःकीर्त्युच्चैर्गोत्राणां, "विग्घाणं" ति 'विघ्नानां'-दानान्तरायादिभेदभिन्नानां पञ्चानामन्तरायप्रकृतीनामित्येवं द्वाविंशतिप्रकृतीनामेकैकस्या इत्यर्थः । इत्येवमार्यार्धेन प्रकृतिनामान्यभिधाय साम्प्रतं तासां जघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धाल्पबहुत्वमाह–'सव्वप्पो' इत्यादिना, एतच्च सविशेषचतुर्दशजीवभेदेषु समुपलभ्यमानं मतिज्ञानावरणाद्येकैकोत्तरप्रकृतेर्जघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धाल्पबहुत्वमस्यैव ग्रन्थस्य पूर्वांशलक्षणे **मूलस्थितिबंधविधाने** प्रथमाधिकारे प्रथमद्वारेऽभिहितेन मूलप्रकृतिसत्कप्रस्तुताल्पबहुत्वेन सर्वथा तुल्यमेव, न पुनः कश्चिद्विशेषः । **तथाहि**–मतिज्ञानावरणस्य (१) सर्वाल्पः संयमिनो जघन्यः स्थितिबन्धः । (२) ततः पर्याप्तबादरैकेन्द्रियस्य जघन्यः स्थितिबन्धोऽसंख्येयगुणः । (३) ततः पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियस्य जघन्यस्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (४) ततोऽपर्याप्तबादरैकेन्द्रियस्य जघन्यः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (५) ततोऽपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियस्य जघन्यः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (६) ततोऽपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (७) ततोऽपर्याप्तबादरैकेन्द्रियस्योत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (८) ततः पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (९) ततः पर्याप्तबादरैकेन्द्रियस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (१०) ततः पर्याप्तद्वीन्द्रियस्य जघन्यः स्थितिबन्धः संख्येयगुणः । (११) ततोऽपर्याप्तद्वीन्द्रियस्य जघन्यः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः ।(१२) ततोऽपर्याप्तद्वीन्द्रियस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (१३) ततः पर्याप्तद्वीन्द्रियस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (१४) ततः पर्याप्तत्रीन्द्रियस्य जघन्यः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (१५) ततोऽपर्याप्तत्रीन्द्रिययस्य जघन्यः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (१६) ततोऽपर्याप्तत्रीन्द्रियस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (१७) ततः पर्याप्तत्रीन्द्रियस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (१९) ततः पर्याप्तचतुरिन्द्रियस्य जघन्यः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (१९) ततोऽपर्याप्तचतुरिन्द्रियस्य जघन्यः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (२०) ततोऽपर्याप्तचतुरिन्द्रियस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (२१) ततः पर्याप्तचतुरिन्द्रियस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (२२) ततः पर्याप्ताऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य जघन्यः स्थितिबन्धः संख्येयगुणः । (२३) ततोऽपर्याप्ताऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य जघन्यः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (२४) ततोऽपर्याप्ताऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (२५) ततः पर्याप्ताऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (२६) ततः संयतस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धः संख्येयगुणः । (२७) ततो देशसंयतस्य जघन्यः स्थितिबन्धः संख्येयगुणः । (२८) ततो देशसंयतस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धः संख्येयगुणः । (२९) ततः पर्याप्तस्याऽविरतसम्यग्दृष्टेर्जघन्यः स्थितिबन्धः संख्येयगुणः । (३०) ततोऽपर्याप्तस्याऽविरतसम्यग्दृष्टेर्जघन्यः स्थितिबन्धः संख्येयगुणः । (३१) ततोऽपर्याप्तस्याऽविरतसम्यग्दृष्टेरुत्कृष्टः स्थितिबन्धः संख्येयगुणः । (३२) ततः पर्याप्तस्याऽविरतसम्यग्-

दृष्टेरुत्कृष्टः स्थितिबन्धः संख्येयगुणः । (३३) ततः पर्याप्तस्य संज्ञिमिथ्यादृष्टेर्जघन्यः स्थितिबन्धः संख्येयगुणः । (३४) ततोऽपर्याप्तस्य संज्ञिमिथ्यादृष्टेर्जघन्यः स्थितिबन्धः संख्येयगुणः । (३५) ततोऽपर्याप्तस्य संज्ञिमिथ्यादृष्टेरुत्कृष्टः स्थितिबन्धः संख्येयगुणः । (३६) ततः पर्याप्तस्य संज्ञिमिथ्यादृष्टेरुत्कृष्टः स्थितिबन्धः संख्येयगुण इति । इत्थमेव श्रुतज्ञानावरणाद्येकैकप्रकृतेर्द्रष्टव्यम् ।

"सव्वप्पो टिइबंधो" इत्यादेरक्षरगमनिका पुनरेवम्—**"जहण्णगो होइ संयमिणो"** त्ति 'संयमिनः'-जघन्यः स्थितिबन्धः 'सर्वाल्पः'—सर्वस्तोको भवति । **'तो"** त्ति तस्मात् पर्याप्तबादरस्य, एकेन्द्रियस्येति गम्यते, एकेन्द्रियाणामेव सूक्ष्मबादरभेदेन व्यवहृतत्वात् । **"असंखगुणोऽणू"** त्ति असंख्यगुणः 'अणुः'-जघन्यः स्थितिबन्धः, भवतीत्यनुवर्तते । **"अओ"** त्ति अतः स्थानात्, अनन्तरोक्तस्थानादुत्तरवर्त्तिस्थानेष्वित्यर्थः । तत्र किमित्याह—**"कमाऽब्भहिओ"** त्ति-क्रमाद् 'अभ्यधिकः' विशेषाधिकः, स्थितिबन्धो भवतीति पूर्ववद्योज्यते । उत्तरवर्त्तिस्थानान्येव क्रमत आह—**"पज्जसुहुमस्से"**त्यादिना, पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियस्य, 'अणुः' जघन्यः, स्थितिबन्ध इत्यनुवर्तते, एवमुत्तरत्रापि तस्यानुवृत्तिर्बोध्या, तस्मादसमाप्तस्या-ऽपर्याप्तस्य बादरस्यैकेन्द्रियस्याणुः स्थितिबन्धो भवेत् । **"तत्तो"** त्ति तस्मादपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियस्याणुः स्थितिबन्धः । **"तो"** त्ति तस्मात् **"अपज्जसुहुमियराण"** त्ति अपर्याप्तशब्दस्य प्रत्येकं योजनात्सूक्ष्मशब्दस्यावर्तनाच्चा-ऽपर्याप्तसूक्ष्मस्याऽपर्याप्तस्य सूक्ष्मेतरस्य च, अपर्याप्तबादरैकेन्द्रियस्य चेत्यर्थः । **"भवे"**त्ति भवेत्, कीदृश इत्याह—**"जेट्ठो"** त्ति 'ज्येष्ठः' उत्कृष्टः स्थितिबन्धः । **"णेयो तत्तो कमसो पज्जसुहुमियराणं"** ति**"जेट्ठो"**इत्यस्य 'घण्टालाला'न्यायेनात्रापि योजनात् **"पज्जसुहुमियराण"**मित्यत्र पर्याप्तशब्दस्य प्राग्वत्प्रत्येकं योजनात्सूक्ष्मशब्दावृत्तेश्च क्रमशः पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियस्य ज्येष्ठः स्थितिबन्धः, पर्याप्तबादरैकेन्द्रियस्य ज्येष्ठः स्थितिबन्ध चेत्यर्थः । **"तो पज्जत्तस्से"**त्यादि, ततः पर्याप्तस्य 'लघुः' जघन्यः स्थितिबन्धः । **"तओ"** त्ति ततोऽपर्याप्तस्य, लघुरित्यनुवर्तते । **"ताउ तस्स"** त्ति तस्मात् तस्याऽपर्याप्तस्य **"गुरु"** त्ति उत्कृष्टस्थितिबन्धः । **"तो पज्जत्तस्स"** त्ति तस्मात्पर्याप्तस्य, गुरुरित्यनुवर्तते । अत्रानन्तरदर्शितस्थानचतुष्के सामान्यत एव पर्याप्तादेरित्युक्तम्, तत्किमेते पर्याप्तादयो द्वीन्द्रियास्त्रीन्द्रियादयो वा, द्वीन्द्रियादयश्चेत्केन क्रमेणेत्येतद्दर्शयन्नाह—**"कमा बितिचउइंदिय"** इत्यादि, एते पर्याप्तादयः क्रमाद् द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिया-ऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां भेदा बोद्धव्याः । एतदुक्तं भवति—आदौ द्वीन्द्रियोक्तचत्वारि स्थानानि, ततस्तानि त्रीन्द्रियसत्कानि, ततस्तु चतुरिन्द्रियसत्कानि, ततः पुनरसंज्ञिपञ्चेन्द्रियसत्कानीति । एतेषु सर्वस्थानेषु **"अओ कमाऽब्भहिओ"** इति प्रागुक्तवचनात् स्थितिबन्धो यथोत्तरं विशेषाधिकः प्राप्तः, एतच्च विशेषाधिकत्वं न सर्वत्र सङ्गच्छते, एकेन्द्रियापेक्षया द्वीन्द्रियाणां पञ्चविंशतिगुणाधिकस्थितिबन्धभावाद्, एवं चतुरिन्द्रियापेक्षयाऽसंज्ञीपञ्चेन्द्रि-

याणां दशगुणाधिकस्थितिबन्धभावाच्च, अतस्तत्रापवदन्नाह—"**णवरि**" इत्यादि, सुगमम् । तदुत्तरं "**एत्तो संखगुणो कमा**" इत्यादिकमपि प्राग्वद् द्रष्टव्यं, केवलं "**तो सम्मस्स चउविहो पुव्वव्व**" त्ति पर्याप्तापर्याप्ताविरतसम्यग्दृष्टेर्जघन्योत्कृष्टभेदाच्चतुर्विधः स्थितिबन्धः 'पूर्ववत्'—द्वीन्द्रियादेश्चतुर्विधस्थितिबन्धो येन क्रमेणाभिहितस्तेन क्रमेणादौ पर्याप्तस्य जघन्यः, ततोऽपर्याप्तस्य जघन्यः, ततोऽपर्याप्तस्योत्कृष्टः, ततः पर्याप्तस्योत्कृष्ट इत्यर्थः । "**तओऽत्थि मिच्छस्स**" त्ति "चउविहो पुव्वव्व" इत्यस्य देहलीदीपकन्यायेनात्रापि योजनाद् अविरतसम्यग्दृष्टेश्चतुर्विधस्थितिबन्धादूर्ध्वं तेनैव क्रमेण चतुर्विधो "**मिच्छस्स**" त्ति संज्ञिपञ्चेन्द्रियमिथ्यादृष्टेः स्थितिबन्धो बोद्धव्य इति । अत्र भावना तु सर्वैव **मूलप्रकृतिस्थितिबन्धविधान**प्रथमाधिकारोक्तजघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धाऽल्पबहुत्व**प्रेमप्रभा**वृत्त्यनुसारेण द्रष्टव्या, उभयत्राऽविशेषादिति ॥१५-२०॥

अथ स्त्यानर्द्धित्रिकादीनां सप्तत्रिंशत्प्रकृतीनां प्रकृताल्पबहुत्वं तुल्यमिति कृत्वा युगपदाह—

थीणद्धितिगा-ऽणि-त्थी-मज्झिमसंघयणआगिई णीअं ।
दुहगतिगं अपसत्थखगई य तिरियदुग-मुज्जोओ ॥२१॥
णपुमं मिच्छं हुंडं छेवट्ठं थावराऽऽवयवे-गिंदी ।
विगलाणि य सुहमतिगं ति सत्ततीसाण पयडीणं ॥२२॥
पज्जत्तबायरस्स जहण्णो थोवो अओ कमाऽब्भहियो ।
पज्जसुहमस्स तत्तो असमत्तगबायरस्स भवे ॥२३॥
ताओ अपज्जसुहमस्स तो अपज्जसुहमेयराण भवे ।
परमो तत्तो णेयो कमसो पज्जसुहमियराणं ॥२४॥
तत्तो पज्जस्स लहू तओ अपज्जस्स ताउ तस्स गुरू ।
तो पज्जत्तस्स कमा बितिचउइंदियअसण्णीणं ॥२५॥
णवरि लहू संखगुणो समत्तबिंदिय-असण्णीणं ।
ताउ कमा संखगुणो पुव्वव्व सण्णिणो चउहा ॥२६॥ (उद्गीतिः)

(प्रे०) "**थीणद्धितिगाणित्थी**"त्यादि, तत्र "**थीणद्धितिग**" त्ति स्त्यानर्द्धित्रिकं निद्रानिद्रा-प्रचलाप्रचला-स्त्यानर्द्धिनिद्राप्रकृतित्रयलक्षणम्, "अण" त्ति अनन्तानुबन्धिचतुष्कम् अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभाख्यम्, "इत्थि" त्ति स्त्रीवेदः, मध्यमशब्दस्य संहननाकृत्योः प्रत्येकं योजनात् मध्यमान्याद्यन्तवर्जानि'संहननानि'-विशिष्टास्थिनिचयात्मकानि मध्यमसंहननानि, ऋषभनाराचसंहनन-नाराचसंहनना-ऽर्धनाराचसंहनन-कीलिकासंहनननानीत्यर्थः । तथा मध्यमाः आद्यन्तवर्जाः

'आकृतयः' संस्थानानि मध्यमाकृतयः, न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान-सादिसंस्थान-कुब्जसंस्थान-वामन-संस्थानानीत्यर्थः। "**णीअं**" ति नीचैर्गोत्रम्, "**दुहगतिगं**"ति दुर्भगत्रिकं दुर्भग-दुःस्वरा-ऽनादेय-नामलक्षणम्, "**अपसत्थखगई**" त्ति अप्रशस्ता उष्ट्रादिगत्यनुकारिणी 'खगतिः'-विहायोगतिः अप्रशस्तखगतिः, चः समुच्चये, 'तिर्यग्द्विकम्'–तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्वीरूपम्, "**उज्जोओ**" त्ति उद्योतनाम, तथा "**णपुम**" ति नपुंसकवेदः, "**मिच्छं**" ति मिथ्यात्वमोहनीयम्, "**हुंडं**" ति हुण्डसंस्थानम्, "**छेवट्ठ**" ति सेवार्तम्, चरमसंहननप्रकृतिरिति यावत्, तथा '**थावरे**' त्यादि, स्थावरा-ऽऽतपैकेन्द्रियनामानि, "**विगलाणि**" त्ति 'विकलानि'-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियजातिनामलक्षणास्तिस्रः प्रकृतयः, चः प्राग्वत्, "**सुहुमतिगं**" ति सूक्ष्मत्रिकं सूक्ष्मा-ऽपर्याप्त-साधारणनामलक्षणमित्येतासामुपचितानां सप्तत्रिंशत्प्रकृतीनामेकैकस्याः प्रकृतेरित्यर्थः।

इत्येवं गाथाद्वयेन तुल्यवक्तव्योपेतप्रकृतीः संगृह्य गाथाचतुष्टयेन तासां प्रस्तुताल्पबहुत्वमाह– "**पज्जत्तबायरस्स जहण्णो थोवो**" इत्यादि, गाथाचतुष्टयाक्षरार्थः प्राग्वत्, तथा च स्त्यानर्द्धिनिद्रादिसप्तत्रिंशदन्यतमप्रकृतेः–(१) पर्याप्तबादरैकेन्द्रियस्य जघन्यस्थितिबन्धः स्तोकः। (२) ततस्तस्या एव प्रकृतेः पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियस्य जघन्यः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः। (३) ततोऽपर्याप्तबादरैकेन्द्रियस्य जघन्यस्थितिबन्धो विशेषाधिकः। (४) ततोऽपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियस्य जघन्यः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः। (५) ततोऽपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः। (६) ततोऽपर्याप्तबादरैकेन्द्रियस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः। (७) ततः पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः। (८) ततः पर्याप्तबादरैकेन्द्रियस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः। (९) ततः पर्याप्तद्वीन्द्रियस्य जघन्यः स्थितिबन्धः संख्येयगुणः। (१०) ततोऽपर्याप्तद्वीन्द्रियस्य जघन्यः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः। (११) ततोऽपर्याप्तस्य द्वीन्द्रियस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः। (१२) ततः पर्याप्तस्य द्वीन्द्रियस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः। (१३) ततः पर्याप्तस्य त्रीन्द्रियस्य जघन्यः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः। (१४) ततोऽपर्याप्तस्य त्रीन्द्रियस्य जघन्यः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः। (१५) ततोऽपर्याप्तस्य त्रीन्द्रियस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः। (१६) ततः पर्याप्तस्य त्रीन्द्रियस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः। (१७) ततः पर्याप्तस्य चतुरिन्द्रियस्य जघन्यः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः। (१८) ततोऽपर्याप्तस्य चतुरिन्द्रियस्य जघन्यः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः। (१९) ततोऽपर्याप्तस्य चतुरिन्द्रियस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः (२०) ततः पर्याप्तस्य चतुरिन्द्रियस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः। (२१) ततः पर्याप्तस्याऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य जघन्यः स्थितिबन्धः संख्येयगुणः। (२२) ततोऽपर्याप्तस्याऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य जघन्यः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः। (२३) ततोऽपर्याप्तस्याऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः। (२४) ततः पर्याप्त-

स्याऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (२५) ततः पर्याप्तस्य संज्ञिनो जघन्यः स्थितिबन्धः संख्यातगुणः । (२६) ततोऽपर्याप्तस्य संज्ञिनो जघन्यः स्थितिबन्धः संख्यातगुणः । (२७) ततोऽपर्याप्तस्य संज्ञिन उत्कृष्टः स्थितिबन्धः संख्यातगुणः । (२८) ततः पर्याप्तस्य संज्ञिन उत्कृष्टः स्थितिबन्धः संख्यातगुणः । इति ।

इदमप्यल्पबहुत्वं मूलप्रकृतिस्थितिबन्धविधानोक्तमूलप्रकृतिजघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धाल्पबहुत्व-**प्रेमप्रभा**वद्विभावनीयम् , केवलं तत्र संयतादीनामपि मूलप्रकृतेर्बन्धभावात् संयतजघन्यस्थिति-बन्धादीनि षट्त्रिंशत्पदान्यभिहितानि, इह पुनः स्त्यानर्द्धिनिद्रादिसप्तत्रिंशत्प्रकृतीनां चतुर्थगुण-स्थानादर्वागेव बन्धविच्छेदभावात् संयतसत्के द्वे पदे देशविरतसत्के द्वे पदेऽविरतसम्यग्दृष्टिसत्कानि चत्वारि पदानि च विवर्ज्य शेषाण्यष्टाविंशतिपदानि दर्शितानीति ।

ननु मूलप्रकृतिबन्धविधानग्रन्थे तत्र तत्राऽसंज्ञिभ्यश्च्युत्वा वक्रगत्या संज्ञितयोत्पद्यमानानां जन्तूनां विग्रहगतौ जायमानः स्थितिबन्धोऽसंज्ञिप्रायोग्यो व्याख्यातः, अत्र तु प्रकृताल्पबहुत्वे पर्याप्ताऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्योत्कृष्टस्थितिबन्धापेक्षया पर्याप्तसंज्ञिनो जघन्यस्थितिबन्धः संख्येयगुण उक्तस्तत्कथं न विरोधः ? इति चेत् , न, संज्ञिभवप्रथमसमयद्वये केषाञ्चिज्जन्तूनां तस्याऽसंज्ञिप्रायो-ग्यस्थितिबन्धस्य मार्गणास्थानेष्वधिकृतत्वेऽपीह जीवस्थानेष्वनधिकृतत्वेनाऽविरोधात् । यदि च जीवस्थानेष्वप्यमात्रसंज्ञिबन्धप्रायोग्यः सामयिको द्विसामायिको वा स्थितिबन्धोऽधिक्रियेत तदाऽल्पबहुत्वमपि तदनुसारेण लभ्येत, तच्च सुगमत्वात् स्वयमेवाभ्यूह्यमिति ॥२१-२६॥

अथाऽप्रत्याख्यानावरणक्रोधादिनवप्रकृतीनां प्रकृतजघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धाल्पबहुत्वमाह—

दुइअकसाय-णरउरलदुग-वइराणं जहण्णगो थोवो ।
पज्जत्तबायरस्स उ एत्तो कमसो भवेऽब्भहियो ॥२७॥
पज्जसुहुमस्स तत्तो अपज्जबायरियराण होइ कमा ।
तत्तो वच्चासेणं तेसिं जेट्ठो मुणेयव्वो ॥२८॥
तत्तो पज्जस्स लहू तओ अपज्जस्स ताउ तस्स गुरू ।
तो पज्जत्तस्स कमा बि-ति-चउइंदिय-असण्णीणं ॥२९॥
णवरि लहू संखगुणो समत्तबिंदिय-असण्णीणं ।
एमेव कमा चउहा संखगुणो सम्म-मिच्छाणं ॥३०॥ (उद्गीतिः)

(प्रे०) "दुइअकसाये"त्यादि, द्वितीयकषाया अप्रत्याख्यानावरणक्रोधमानमायालोभ-लक्षणास्तेषां, "णरउरलदुग" त्ति द्विकशब्दस्य प्रत्येकं योजनात् नरद्विकं मनुष्यगति-मनुष्यानु-

पूर्वोलक्षणम् , औदारिकद्विकम् औदारिकशरीरौ-दारिकाङ्गोपाङ्गप्रकृतिद्वयलक्षणम् , **"वइराणं"** ति **'भीमो भीमसेन'** इति न्यायेन वज्रर्षभनाराचसंहननमित्येतासां नवप्रकृतीनां प्रत्येकं **"जहण्णगो थोवो पज्जत्तबायरस्स"** इत्यादि पूर्ववत् ,केवलमेकेन्द्रियादिवद् अविरतसम्यग्दृष्टीनामपि प्रकृत-नवप्रकृतिबन्धस्वामित्वेन पूर्वोक्ताष्टाविंशतिपदेषु पर्याप्ताऽपर्याप्तसम्यग्दृष्टिसत्कजघन्योत्कृष्टस्थिति-बन्धलक्षणानि चत्वारि पदानि प्रक्षिप्याल्पबहुत्वमभिहितम् ।

तद्यथा–(१) अप्रत्याख्यानावरणादिनवान्यतमप्रकृतेः पर्याप्तबादरैकेन्द्रियस्य जघन्यः स्थिति-बन्धः सर्वस्तोकः । (२) ततः पर्याप्तस्य सूक्ष्मैकेन्द्रियस्य जघन्यः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (३) ततोऽपर्याप्तस्य बादरैकेन्द्रियस्य जघन्यः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (४) ततोऽपर्याप्तस्य सूक्ष्मैकेन्द्रियस्य जघन्यः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (५) ततोऽपर्याप्तस्य सूक्ष्मैकेन्द्रियस्यौत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः (६) ततोऽपर्याप्तस्य बादरैकेन्द्रियस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः (७) ततः पर्याप्तस्य सूक्ष्मैकेन्द्रियस्यौत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (८) ततः पर्याप्तस्य बाद-रैकेन्द्रियस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (९) ततः पर्याप्तस्य द्वीन्द्रियस्य जघन्यः स्थितिबन्धः संख्येयगुणः(१०)ततोऽपर्याप्तस्य द्वीन्द्रियस्य जघन्यः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः(११) ततोऽपर्याप्तस्य द्वीन्द्रियस्य उत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (१२) ततः पर्याप्तस्य द्वीन्द्रियस्य उत्कृष्टः स्थिति-बन्धो विशेषाधिकः । (१३)ततः पर्याप्तस्य त्रीन्द्रियस्य जघन्यः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (१४) ततोऽपर्याप्तस्य त्रीन्द्रियस्य जघन्यः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (१५) ततोऽपर्याप्तस्य त्रीन्द्रिय-स्योत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (१६) ततः पर्याप्तस्य त्रीन्द्रियस्य उत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (१७) ततः पर्याप्तस्य चतुरिन्द्रियस्य जघन्यः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (१८) ततोऽपर्याप्तस्य चतुरिन्द्रियस्य जघन्यः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (१९) ततोऽपर्याप्तस्य चतुरि-न्द्रियस्य उत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (२०) ततः पर्याप्तस्य चतुरिन्द्रियस्य उत्कृष्टः स्थिति-बन्धो विशेषाधिकः । (२१) ततः पर्याप्तस्याऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य जघन्यः स्थितिबन्धः संख्येयगुणः । (२२) ततोऽपर्याप्तस्य असंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य जघन्यः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (२३) ततोऽ-पर्याप्तस्य असंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य उत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (२४) ततः पर्याप्तस्याऽसंज्ञि-पञ्चेन्द्रियस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (२५) ततः पर्याप्तस्याविरतसम्यग्दृष्टेर्जघन्यः स्थितिबन्धः संख्येयगुणः । (२६) ततोऽपर्याप्तस्याविरतसम्यग्दृष्टेर्जघन्यः स्थितिबन्धः संख्येयगुणः । (२७)ततोऽपर्याप्तस्याविरतसम्यग्दृष्टेरुत्कृष्टः स्थितिबन्धः संख्येयगुणः । (२८)ततः पर्याप्तस्याऽविरत-सम्यग्दृष्टेरुत्कृष्टः स्थितिबन्धः संख्येयगुणः । (२९) ततः पर्याप्तस्य मिथ्यादृष्टिसंज्ञिनो जघन्यः स्थितिबन्धः संख्येयगुणः । (३०) ततोऽपर्याप्तस्य मिथ्यादृष्टिसंज्ञिनो जघन्यः स्थितिबन्धः संख्येय-गुणः । (३१) ततोऽपर्याप्तस्य मिथ्यादृष्टिसंज्ञिन उत्कृष्टः स्थितिबन्धः संख्येयगुणः (३२) ततः पर्याप्तस्य मिथ्यादृष्टिसंज्ञिन उत्कृटः स्थितिबन्धः संख्येयगुणः । इति ।

इदमप्यल्पबहुत्वं मूलप्रकृतिस्थितिबन्धविधानप्रथमाधिकारप्रथमद्वारोक्तजघन्योत्कृष्टस्थिति-बन्धाल्पबहुत्वप्रेमप्रभावृत्त्यनुसारेणैवोह्यमिति ॥२७-३०॥

अथ प्रत्याख्यानावरणक्रोधादिचतुःप्रकृतयस्त्वनन्तरोक्तजीवेभ्योऽधिकतो देशविरतैरपि बध्य-न्ते, तथा च सत्यनन्तरोक्ताल्पबहुत्वापेक्षया प्रत्याख्यानावरणप्रकृतिचतुष्कसंबन्धिनि जघन्योत्कृष्ट-स्थितिबन्धाल्पबहुत्वे पर्याप्तसंज्ञिन उत्कृष्टस्थितिबन्धादूर्ध्वं यथोत्तरं संख्येयगुणे देशसंयतस्य जघन्यस्थितिबन्धोत्कृष्टस्थितिबन्धलक्षणे द्वे पदे, ततश्च पूर्ववत्सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टिसत्कानि चत्वारि चत्वारि पदानि प्राप्यन्त इत्येवं चतुस्त्रिंशत्पदानामल्पबहुत्वं भवतीत्यतस्तत्तथैव दर्शय-न्नार्यापञ्चकमाह—

तइअकसायाण लहू थोवो पज्जत्तबायरस्स भवे ।
एत्तो कमसोऽब्भहियो णेयो पज्जत्तसुहुमस्स ॥३१॥
ताहिन्तो णायव्वो कमा अपज्जत्तबायरियराणं ।
ताउ कमा बचासा तेसिं जेट्ठो मुणेयव्वो ॥३२॥
तो पज्जत्तस्स लहू तओ अपज्जस्स ताउ तस्स गुरू ।
तो पज्जत्तस्स कमा चउहा बेइंदियस्स भवे ॥३३॥
तेइंदिय-चउरिंदिय-अमणाण कमा तहेव णायव्वो ।
णवरि लहू संखगुणो समत्तबिंदियअमणणीणं ॥३४॥
एत्तो संखेज्जगुणो कमसो देसजइणो लहू तत्तो ।
तस्स गुरू तो चउहा सम्मस्स तहेव मिच्छस्स ॥३५॥

(प्रे०) "तइअकसायाण" इत्यादि, तृतीयकषायाः प्रत्याख्यानावरणक्रोधमानमाया-लोभलक्षणास्तेषां चतुर्णां प्रत्येकं "लहू थोवो पज्जत्तबायरस्स भवे" इत्यादि गाथापञ्चकाक्षरार्थादि सर्वं पूर्ववत्, यः पुनर्विशेषः स तु पातनायामेव दर्शित इति ॥३१-३५॥

अथ निरयसुरायुःप्रकृतिद्वयमधिकृत्य प्रस्तुतमाह—

णिरयसुराऊण लहू थोवो पज्जत्तअमणसण्णीणं ।
ताहिन्तो उक्कोसो कमसो णेयो असंखगुणो ॥३६॥

(प्रे०) "णिरयसुराऊणे" त्यादि, बहुवचनं प्राकृतत्वात्ततो निरयसुरायुषोः प्रत्येकं "लहू थोवो" त्ति "लघुः" जघन्यः स्थितिबन्धः स्तोकः, कस्य कस्येत्याह—"पज्जत्तअमणसण्णीणं" ति पर्याप्त-शब्दस्य प्रत्येकं योजनात्पर्याप्तासंज्ञिनः पर्याप्तसंज्ञिनश्च प्रत्येकं, परस्परं तु तयोर्जघन्यस्थितिबन्धस्तुल्य

इत्यनुक्तमपि गम्यते,युगपदभिधानात् । "**ताहिन्तो**"त्ति तस्मात् "**उक्कोसो कमसो णेयो असंखगुणो**"त्ति क्रमश एतयोरेवोत्कृष्टः स्थितिबन्धोऽसंख्येयगुणो ज्ञेयः,पर्याप्तसंज्ञ्यसंज्ञ्यन्यतमजघन्यस्थितिबन्धात् पर्याप्तस्यासंज्ञिन उत्कृष्टस्थितिबन्धोऽसंख्यगुणः, तस्मात्पुनः पर्याप्तसंज्ञिन उत्कृष्टस्थितिबन्धोऽसंख्येयगुणः । सुगमं चेदम्; येन पर्याप्तसंज्ञ्यसंज्ञिद्विविधजीवैरपि निरयायुर्देवायुर्वा जघन्यस्थितिकं दशवर्षसहस्रप्रमाणं बध्यते, उत्कृष्टस्थितिकं तु तत् पर्याप्तासंज्ञिभिः पल्योपमाऽसंख्यभागस्थितिकं बध्यते पर्याप्तसंज्ञिभिस्तु त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिकम् , तथा च सति यथोक्तमेवाल्पबहुत्वं प्राप्यत इति ॥३६॥

अथ तिर्यग्-मनुष्याऽऽयुष्यधिकृत्याधिकृताल्पबहुत्वमाह—

तिरियणराऊण लहू जीवसमासाण चोद्दसण्हऽप्पो ।
तो बारसण्ह जेट्ठो संखेज्जगुणो मुणेयव्वो ॥३७॥
पज्जअमणसण्णीणं कमा असंखियगुणो भणन्तेऽण्णे ।
तेरण्हं संखगुणो समत्तसण्णिस्स तो असंखगुणो ॥३८॥ (गीतिः)

(प्रे०) "**तिरियणराऊणे**"त्यादि, प्रागवत् तिर्यग् नरायुषोः प्रत्येकं "**जीवसमासाण चोद्दसण्ह**" त्ति चतुर्दशानां '**जीवसमासानां**' जीवभेदानामेकैकस्मिन् '**लघुः**' जघन्यः स्थितिबन्ध '**अल्पः**; सर्वस्तोकः,क्षुल्लकभवप्रमाणस्य जघन्यस्थितिकस्य तिर्यगायुषो मनुष्यायुषश्च सर्वजीवभेदप्रायोग्यत्वात् । तस्मात् "**बारसण्ह**" त्ति पर्याप्तसंज्ञ्यसंज्ञिजीवभेदद्वयवर्जानां शेषाणां द्वादशजीवभेदानां प्रत्येकं '**ज्येष्ठः**'उत्कृष्टस्थितिबन्धः संख्येयगुणो ज्ञातव्यः, कुतः ? पूर्वकोटीवर्षप्रमाणत्वात् । "**पज्जअमणे**"त्यादि, पर्याप्तशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् ततः पर्याप्ताऽमनस्क पर्याप्तसंज्ञिनोः क्रमादसंख्यगुणः, ज्येष्ठस्थितिबन्ध इत्यनुवर्तते । सुगमम् , यतः पर्याप्ताऽसंज्ञिना प्रकृतायुर्द्वयस्योत्कृष्टा स्थितिः पल्योपमाऽसंख्यभागमात्रा बध्यते, पर्याप्तसंज्ञिना तु सा पल्योपमत्रयमानेति ।

अथ प्रकृतमेवाल्पबहुत्वमन्याभिप्रायेण दर्शयति–'**भणन्तेऽण्णे**' इत्यादिना, अयम्भावः-- अन्ये-महाबन्धकारास्तु चतुर्दशजीवभेदानां जघन्यस्थितिबन्धः स्तोकः, ततस्त्रयोदशजीवभेदानां प्रत्येकं ज्येष्ठस्थितिबन्धः संख्येयगुणस्ततश्च पर्याप्तसंज्ञिनो ज्येष्ठस्थितिबन्धोऽसंख्येयगुण इत्येवं भणन्ति । तदभिप्रायस्तु पूर्वं स्थितिबन्धस्थानाल्पबहुत्वविवेचनावसरे दर्शित एवेति ॥३७-३८॥

अथ निरयद्विकमधिकृत्य प्रकृतमाह–

णिरयदुगस्सऽप्पोऽणू पज्जासण्णिस्स तो गुरू अहियो ।
ताउ कमा संखगुणो समत्तसण्णिस्स हस्सियरो ॥३९॥

(प्रे०) **णिरयदुगस्से**'त्यादि, निरयगति-निरयानुपूर्वीलक्षणस्य निरयद्विकस्य पर्याप्ताऽसंज्ञिजीवभेदे 'अणु:' जघन्यः स्थितिबन्धः 'अल्पः'-सर्वस्तोकः । "**तो गुरू अहियो**" त्ति ततस्तस्यैव पर्याप्ताऽसंज्ञिनो 'गुरुः' उत्कृष्टः स्थितिबन्धः 'अधिकः' विशेषाधिकः । ततः '**कमात्**' क्रमशः पर्याप्तसंज्ञिनः '**हस्सियरो**' त्ति ह्रस्व इतरः, जघन्यस्थितिबन्ध उत्कृष्टस्थितिबन्धश्चेत्यर्थः । कियानित्याह–"**संखगुणो**" त्ति संख्येयगुणः । सुगमम् ; जघन्यस्थितिबन्धस्याऽपि मिथ्यादृष्टिस्वामिकतयाऽन्तःकोटीकोटीसागरोपमप्रमाणत्वात् , उत्कृष्टस्य तु विंशतिसागरोपमकोटिकोटिमितत्वाच्चेति ॥३९॥

अथ देववैक्रियद्विकलक्षणप्रकृतिचतुष्कमाश्रित्य प्रकृताल्पबहुत्वमाह–

सुरविउवदुगाण लहू पज्जत्ताऽसण्णिणोऽत्थि सव्वऽप्पो ।
ताओ तस्सुक्कोसो विसेसअहियो मुणेयव्वो ॥४०॥
एत्तो संखेज्जगुणो कमसो जइणो तओ परमो ।
तत्तो देसविरइणो भवे लहू ताउ तस्स गुरू ॥४१॥ (उपगीतिः)
तो सम्मत्तिस्स भवे चउहा तत्तो उ पज्जमिच्छस्स ।
हस्सो जाणेयव्वो तत्तो तस्स परमो णेयो ॥४२॥

(प्रे०) "**सुरविउवदुगाणे**"त्यादि, द्विकशब्दस्य प्रत्येकं योजनात् सुरद्विकं देवगति-देवानुपूर्वीप्रकृतिद्वयरूपम् , वैक्रियद्विकं वैक्रियशरीर वैक्रियाङ्गोपाङ्गप्रकृतिद्वयलक्षणम् , तयोः पर्याप्ताऽसंज्ञिनः 'लघुः'-जघन्यः स्थितिबन्धः सर्वाऽल्पोऽस्ति,तस्मात् "**तस्सुक्कोसो**"त्ति तस्यैव पर्याप्ताऽसंज्ञिन उत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिको ज्ञातव्यः । "**एत्तो संखेज्जगुणो कमसो**"त्ति इतस्तु वक्ष्यमाणसंयतजघन्यस्थितिबन्धादिस्थानेषु 'कमसो' यथोत्तरं संख्येयगुणो बोद्धव्य इत्यर्थः । संयतजघन्यस्थितिबन्धादिपदान्येव क्रमश आह–"**जइणो**" इत्यादिना, तथा च पर्याप्ताऽसंज्ञ्युत्कृष्टस्थितिबन्धापेक्षया 'यतिनः'-संयतस्य जघन्यस्थितिबन्धः संख्येयगुणः । ततस्तस्य यतेः 'परमः'-उत्कृष्टः स्थितिबन्धः संख्येयगुणः । तस्माद् देशविरतस्य लघुः स्थितिबन्धः संख्येयगुणो भवेत् । तस्मात् तस्यैव देशविरतस्य 'गुरुः' उत्कृष्टः स्थितिबन्धः संख्येयगुणः । "**तो सम्मत्तिस्स भवे चउहा**" त्ति तस्मात् 'सम्यक्त्विनः' अविरतसम्यग्दृष्टेः पर्याप्ता-ऽपर्याप्तजघन्योत्कृष्टभेदात् 'चतुर्धा' चतुर्विधो बन्धः पूर्वोक्तक्रमेण भवेत् ,**तथाहि**–देशविरतस्योत्कृष्टस्थितिबन्धापेक्षया पर्याप्तसम्यग्दृशो जघन्यस्थितिबन्धः संख्येयगुणः, ततोऽपर्याप्तसम्यग्दृष्टेर्जघन्यस्थितिबन्धः संख्येयगुणः, ततस्तस्यैवाऽपर्याप्तसम्यग्दृष्टेरुत्कृष्टस्थितिबन्धः संख्येयगुणः, ततः पर्याप्तस्य सम्यग्दृष्टेरुत्कृष्टस्थितिबन्धः संख्येयगुणः, "**तत्तो उ पज्जमिच्छस्से**"त्यादि, ततः पुनः पर्याप्तमिथ्यादृष्टेः "**ह्रस्वो**" जघन्यः स्थितिबन्धो ज्ञातव्यः, संख्येयगुण इत्युक्तमेव, तस्मात् तस्यैव पर्याप्तमिथ्यादृष्टेः '**परमः**'

उत्कृष्टस्थितिबन्धः संख्येयगुणो ज्ञेय इत्यर्थः । न चाऽपर्याप्तमिथ्यादृष्टिजघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धलक्षणं पदद्वयं कथं नोक्तमिति वाच्यम्, मिथ्यादृशामपर्याप्तावस्थायां प्रस्तुतदेवगत्यादिप्रकृतिचतुष्टयस्यैव बन्धाभावादिति । अत्रापि सर्वं प्राग्वद्भावनीयम् । यत्तु सर्वत्र हेतुभूतं स्थितिबन्धप्रमाणं तत्तु ग्रन्थकारः स्वयमेवाग्रे वक्ष्यतीति नात्र विशेषतः प्रदर्श्यते,ग्रन्थविस्तरभयादिति ॥४०-४२॥

अथाऽऽहारकद्विकं प्रतीत्य प्रस्तुतं जघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धाल्पबहुत्वमाह—

आहारदुगस्सऽप्पो अपुव्वकरणस्सऽणू इओ कमसो ।
संखगुणो तस्स गुरू तो अपमत्तस्स हस्सियरो ॥४३॥

(प्रे०)"आहारदुगस्स"इत्यादि, आहारकद्विकस्या-ऽऽहारकशरीरा-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्गप्रकृतिद्वयलक्षणस्यापूर्वकरणसंयतस्य 'अणुः' जघन्यः स्थितिबन्धः "प्पो" त्ति लुप्ताकारस्य दर्शनाद् 'अल्पः'-सर्वस्तोक इत्यर्थः । "इओ कमसो संखगुणो"त्ति इतः क्रमशः संख्येयगुणः स्थितिबन्धः कीदृश इत्याह–"तस्स गुरू"इत्यादि, तस्यानन्तरोक्तस्यापूर्वकरणसंयतस्य 'गुरुः' उत्कृष्टः स्थितिबन्धः, ततोऽप्रमत्तस्य ह्रस्वः, 'इतरः'-दीर्घश्च, जघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धावित्यर्थः । इदमपि गतार्थमेवेति ॥४३॥ अथ तीर्थकरनामकर्मणः प्रक्रान्तं जघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धाल्पबहुत्वमाह—

तित्थस्स लहू थोवो अपुव्वकरणस्स ताउ होइ कमा ।
संखगुणो तस्स गुरू तो संयमिणो भवे हस्सो ॥४४॥
तत्तो तस्सुक्कोसो ताओ देसजइणो लहू तत्तो ।
तस्स गुरू ताहिन्तो चउहा सम्मत्तिणो णेयो ॥४५॥

(प्रे०) "तित्थस्से"त्यादि, पदैकदेशे पदस्योपचरितत्वेन "तित्थस्स" त्ति तीर्थकरनामकर्मणः "लहू थोवो" इत्यादेरक्षरार्थः प्राग्वत्, तथा चा-ऽपूर्वकरणसंयतस्य जघन्यः स्थितिबन्धः स्तोकः । ततस्तस्यैव गुरुः स्थितिबन्धः संख्येयगुणः । ततोऽपूर्वकरणगुणस्थानाधस्तन्यसंयतस्य ह्रस्वः स्थितिबन्धः संख्येयगुणः । ततस्तस्यैव संयतस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धः संख्येयगुणः । ततो देशसंयतस्य जघन्यः स्थितिबन्धः संख्येयगुणः । ततस्तस्यैवोत्कृष्टः स्थितिबन्धः संख्येयगुणः । ततस्तु पर्याप्तस्याऽविरतसम्यग्दृष्टेर्जघन्यः स्थितिबन्धः; ततोऽपर्याप्तस्याऽविरतसम्यग्दृष्टेर्जघन्यस्थितिबन्धः, ततस्तस्यैवोत्कृष्टस्थितिबन्धस्ततस्तु पर्याप्तस्याऽविरतसम्यग्दृष्टेरुत्कृष्टस्थितिबन्ध इत्येते चत्वारः स्थितिबन्धविशेषाः पूर्ववदुक्तक्रमेण यथोत्तरं संख्येयगुणा भवन्तीति समुदायार्थः । भावार्थोऽपीह प्राग्वदेव, केवलं तत्तत्प्रकृतिसम्बन्ध्यल्पबहुत्वपदानां न्यूनाधिकत्वं तत्तत्प्रकृतीनां बन्धस्वामित्वभेदाद्बोद्धव्यमिति ॥४४-४५॥

अथोक्तशेषप्रकृतीरधिकृत्य प्रकृतजघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धाऽल्पबहुत्वमाह—

तिर्यग्गत्यादिप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिं बध्नतः सनत्कुमारादिसहस्रारान्तदेवस्य नारकस्य वा पञ्चेन्द्रियजात्यादीनां त्रसप्रायोग्यप्रकृतीनां बन्धः, तथाविधस्येशानान्तदेवस्य तु एकेन्द्रियजात्यादीनां स्थावरप्रायोग्याणां बन्ध इति भावः । एवमेव सूक्ष्मत्रिकस्य तिर्यग्मनुष्याणां बादरत्रिकस्य तु देवनारकाणां बन्धमात्रात् पराघातोच्छ्वासनाम्नोः स्याद्बन्ध भणित इति ॥८१०-८११॥

तदेवं कथितस्तिर्यग्द्विकौदारिकदेह-हुंडसंस्थान-दुःस्वरवर्जाऽस्थिरपञ्चक-ध्रुवबन्धिनवकलक्षणाष्टादशप्रकृति प्राधान्येन प्रस्तुतसंनिकर्षः, एतर्हि मनुष्यगति मनुष्यानुपूर्वीप्रधान्येन तमाह—

एगस्स णरदुगा गुरुबंधी णियमेयरस्स दुविहठिइं । पंचिंदियु-रल-तसदुग-धुव-पत्तेअग पणाथिराईणं ॥
णियमा संखसूण सिआ तिसघयण-आगिईण तहा । परघा-ऊसासाण कुखगइसर-पज्ज इयराणं ॥
॥गाथा ८१२-८१३॥ (आर्या गीति)

(प्रे०) "एगस्स णरदुगा" त्ति तत्र तत्र स्याद्बन्धः संहनन संस्थानप्रकृतीनां पर्याप्ततदितरप्रकृत्योश्च प्रतिपक्षसहितत्वेन परावृत्य बन्धप्रायोग्यत्वात् , शेषाणां पराघातादीनां चतसृणां तु पर्याप्तप्रायोग्यं बध्नतो बन्धाद् , अन्यथा त्वबन्धात् । शेष तु सुगमम् , केवलं 'उरलतसदुग' इत्यत्र दुगशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धादौदारिकत्रसद्विकयोस्तथा 'कुखगइसर' इत्यत्र कुशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात्कुखगतिदुःस्वरनाम्नो ग्रहणं बोध्यमिति ॥८१२-८१३॥

अथ देवद्विकादिकतिपयप्रकृतीनामतिदेशेन प्राह—

देव-विउव्वदुग-सुहुमतिगाण णेयो उरालमीसव्व । ओघव्व होइ आयव-संघयणाऽऽगिइचउक्काण ॥
॥८१४॥

(प्रे०) "देवविउव्वदुग" इत्यादि, देवद्विक वैक्रियद्विक सूक्ष्मत्रिकलक्षणसप्तप्रकृतिप्रधानः प्रस्तुतसंनिकर्षः प्रस्तुतकार्मणाऽनाहारकमार्गणयोरौदारिकमिश्रमार्गणावद्विज्ञेयः, तद्यथा—देवद्विकवैक्रियद्विकलक्षणप्रकृतिचतुष्टयमध्यादन्यतमस्या उत्कृष्टां स्थिति बध्नन् शेषत्रिप्रकृतीनां नियमत उत्कृष्टामनुत्कृष्टां वा स्थिति बध्नाति । स एव जिननाम्नः स्याद्बन्धको भवति स्थितेस्तु तेषामुत्कृष्टाया अनुत्कृष्टाया वा बन्धको भवति। स्थिर-शुभ-यशःकीर्तिवर्जानां देवप्रायोग्यप्रधानीकृतवर्जपञ्चेन्द्रियजात्यादिप्रकृतीनां नियमतः संख्येयगुणन्यूनोत्कृष्टस्थितेर्बन्धको भवति, स्थिर-शुभ-यशःकीर्तिनामानि तु न बध्नात्येव । सूक्ष्मत्रिकमध्यादन्यतमप्रकृतेरुत्कृष्टां स्थितिं बध्नन् तु शेषयोः द्वयोस्तथा तिर्यग्द्विकैकेन्द्रियौदारिकशरीर हुंडसंस्थान ध्रुवबन्धिनीनवक-स्थावर-दुर्भगा-ऽनादेया-ऽस्थिरा-ऽशुभाऽयशःकीर्तिनाम्नां सर्वसंख्यया द्वाविंशतेः प्रकृतीनां नियमादुत्कृष्टादिद्विविधस्थितेर्बन्धको भवति । मध्यमसंहननचतुष्टय मध्यमसंस्थानचतुष्टया-तपनामलक्षणनवप्रकृतिप्रधानसंनिकर्षस्तु सर्वथौघवदेव विज्ञेयः । एतामामौघिकोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षप्रतिपादिका गाथास्त्विमाः—

सखेज्जभागहीण सघयणस्स दुइअस्स गुरुबंधी । बंधइ तिरिणरदुग-चउआगिइ-उज्जोअगाण सिआ ।
पचिंदिय-धुवु-रलदुग-परघा-ऊसास-तसचउक्काण । अथिरछग-कुखगईण णियमा सखेज्जभागूणं ॥

जेट्ठमजेट्ठं व सिआ बंधइ दुइआगिईअ एमेव । णिण्हं तइआईण सघयणाणं मुणेयव्वो ।।
णवरि कमा गुरुमगुरु वा तइआईण णेव दुइआई । तुरियजुगलबंधी तिरिदुगस्स णियमा णरदुग णो ।।
मज्झिमसंठाणाण समठिइसंघयणणामत्र ।।६६२-६६५।।" इति च ।

ओघवदतिदेशः पुनरासां संक्लेशवृद्धिस्थानक्रमेण समस्थानविच्छिद्यमानानां द्विविधस्थिति-बन्धस्य तथा शेषाणां संख्येयभागन्यूनोत्कृष्टस्थितिबन्धस्यैव भावात् । सख्येयभागोनोत्कृष्टस्थिति-बन्धस्त्विहोत्कृष्टाया अपि स्थितेरन्तःकोटीकोटीसागरोपमत्वेनाऽनन्तरोक्तनीत्या, तत्र पुनरन्यथा= प्राग्दर्शितनीत्येति विभावनीयं स्वधियेति ।।८१४।।

अथैकेन्द्रिय-स्थावरनाम्नी अधिकृत्य प्राह प्रस्तुतम्—

एगस्स जेट्ठबधी एगिंदिय-थावराउ इयरस्स । तह तिरिदुगु-रालिय धुव-हु डग-पचअथिराईण ।।८१५।।
णियमा बधेइ ठिइ जेट्ठमजेट्ठं व बधइ सिआ उ । परघाऊसासा-ऽऽयवजुगल-सुहुमबायरतिगाणं ।।८१६।।

(प्रे०) "**एगस्से**"त्यादि, सुगमे, केवलं "**सुहुमबायरतिगाणं**" इत्यत्र त्रिकशब्दः प्रत्येकं सम्बध्यत इति ।।८१५ ८१६।।

अथ द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियजातिप्रधानसंनिकर्षमाह—

विगलतिगजेट्ठबधी चउवीसाए अपज्जजोग्गाण । णामपयडीण बंधइ णियमा सखेज्जभागूण ।।८१७।।

(प्रे०) '**विगल**'इत्यादि, अत्रापर्याप्तकरणवशादपर्याप्तविकलेन्द्रियप्रायोग्यप्रकृतीनामेव बन्धः, ततः '**चउवीसाए**' इत्यादि, '**णियमा**' इति च निर्देशः । द्वीन्द्रियजाति बध्नताऽपर्याप्तकरणवशेन त्रसनामादीनामादीनामुत्कृष्टादिद्विविधस्थितिबन्धस्य कथनाऽर्हत्वेऽपि प्रस्तुते देवनारकाणामेव तासां त्रसादीनां ज्येष्ठस्थितिबन्धकत्वात् द्वीन्द्रियजातेर्ज्येष्ठस्थितिबन्धकेन तु तासां त्रसनामादीनां स्थितिः संख्येयभागोनैव बध्यत इति । शेषं तु सुगमम् ।।८१७।।

अथ पञ्चेन्द्रियजाति सेवार्तसंहननौ-दारिकाङ्गोपाङ्ग-दुःस्वर-कुखगति-त्रसनामलक्षणप्रकृतिषट्क-प्रधानं प्रस्तुतसनिकर्षं प्राह—

एगस्स जेट्ठबधी पणिंदि-छेवट्ठ उरलुवंगाओ । दुस्सरखगइ-तसाओ बधइ णियमेयराण तहा ।।८१८।।
तिरिदुगु-रल-धुव-हु डग-परघा-ऊसास-बायरतिगाण। पणअथिराईण गुरुं अगुरु वुज्जोअगस्स सिआ ।।
।।८१९।।

(प्रे०) "**एगस्स**" इत्यादि, इमेऽपि कण्ठ्ये, केवलं '**दुस्सरखगइ**' इत्यत्र दुःशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धाद् दुःस्वरवदप्रशस्तविहायोगतेर्ग्रहणं बोद्धव्यमिति ।।८१८-८१९।।

अथाद्यसंहननप्राधान्येनाऽऽह प्रस्तुतं संनिकर्षम्—

पंचिदिय-धुवु-रलदुग-परघा-ऊसास-तसचउक्काण । वइरगुरुट्ठिइबंधी णियमा सखेज्जभागूणं ।।८२०।।
तिरियणरदुगाण तहा कुखगइ-उज्जोअ-अथिरछक्काणं । पणसठाणाण सिआ बंधइ सखेज्जभागूणं ।।
जेट्ठमजेट्ठं व ठिइ सुहागिइ-सुखगइ-थिरछगाण सिआ । ।।८२१।।

(प्रे०) "पंचिंदिये" त्यादि, सुगमा सार्धगाथाद्वयी, यत्पुनः "संखेज्जभागूणं" उभयत्राऽपि, न पुनर्द्विभागाद्यूनं तत्तु प्रस्तुतकार्मणमार्गणाऽनाहारकमार्गणयोरुत्कृष्टस्याऽपि स्थितिबन्धमानस्याऽन्तःकोटीकोटीसागरोपमप्रमाणत्वेनाऽपर्याप्तमार्गणावदिति ॥८२०-८२१॥ अथाऽऽर्याधेंन प्रथमसंस्थान-प्रशस्तविहायोगति-सुभगत्रिकलक्षणप्रकृतिपञ्चकप्रधानं संनिकर्षमतिदेशेन प्राह—

एसेवऽत्थि सुहागिइ-पसत्थखगइ-सुहगतिगाण ॥८२२॥

(प्रे०) "एसेवे" त्यादि, अनन्तरोक्तप्रथमसंहननप्रधानसंनिकर्षवदेवेत्यर्थः । शेषं सुगमम्, केवलं संहननस्थाने संस्थानादि संस्थानादिस्थाने संहननानीति व्यत्ययो वाच्यः प्रागिवेति ॥८२२॥

अथ पराघातो-च्छ्वास-बादरत्रिकलक्षणप्रकृतिपञ्चकप्रधानं साक्षादुद्योतनामप्रधानं चातिदेशेनाऽऽह प्रस्तुतसंनिकर्षम्—

एगस्स जेट्ठबंधी परघा-ऊसास-बायरतिगाओ । णियमाऽण्णस्स तिरियदुग-धुवु-रल-हुंडग-पणाथिराईण ।
गुरुमगुरु व सिआ तस-दुजाइ-छेवट्ठ कुखगइसराण । थावरु-रलुवगाऽऽयवदुगाण उज्जोअगस्सेवं ॥
॥८२३-८२४॥ (आद्या गीतिः)

(प्रे०) "एगस्स" इत्यादि, तत्र 'उज्जोअगस्सेवं' इति द्वितीयगाथान्तस्थेनोद्योतनामप्रधानसंनिकर्षोऽतिदेशेन, तद्वर्जशेषगाथाद्वयेन तु पराघातादिप्रधानः । अक्षरार्थः सुगमः, एवं भावार्थोऽपि, केवलमतिदेशभावनायामुद्योतस्थानीयत्वे पराघातादिप्रकृतीनां तासामुद्योतवत्स्याद्बन्धो न वक्तव्यः किन्तु नियतबन्ध एव वाच्यः, उद्योतस्य बादरपर्याप्तप्रत्येकजीवप्रायोग्यत्वेन पराघातो-च्छ्वासनामबन्धस्य पर्याप्तनामबन्धनियतत्वेन चोद्योतं बध्नतस्तद्बन्धनियमादिति । शेषं तु गतार्थमिति ॥८२३-८२४॥ अथ तीर्थकरनामप्रधानमाह—

जेट्ठमजेट्ठं व सिआ सुरविउवदुगाण तित्थगुरुबंधी । बंधइ सखगुणूण सिआ णरु-रलदुग-वइराणं ॥
थिर-सुह-जसवज्जाणं सुरपाउग्गाण सेसपयडीणं । चउवीसाए णियमा बंधइ सखेज्जगुणहीणं ॥
॥८२५-८२६॥

(प्रे०) "जेट्ठमजेट्ठं व" इत्यादि, तत्र देवगत्यादीनां मनुष्यगत्यादीनां च प्रकृतीनां स्याद्बन्धस्तासामौपपातिक-तदितरलक्षणस्वामीभेदात् । स्थिरनामादिवर्जदेवप्रायोग्याणां नियमबन्धस्त्वौपपातिकदेवादि-तदितरमनुष्यादीनां द्विविधानामपि सम्यग्दृशामवश्यं तद्बन्धभावात् । तत्र स्थिरादीनां वर्जनं त्वस्थिरादितत्प्रतिपक्षभूतप्रकृतीनामपि बन्धप्रायोग्यतयोत्कृष्टसंक्लेशवतां तीर्थकरनामबन्धकानां तासामेव बन्धभावेन स्थिरादिबन्धस्याऽवरुद्धत्वात् । "जेट्ठमजेट्ठं व" इति तु देवगत्यादिप्रकृतिचतुष्टयस्य प्रस्तुतमार्गणाद्वये सम्यग्दृष्टिस्वामिकत्वेन तासामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्याऽपि सम्यग्दृष्टिस्वामिकत्वात्, शेषाणां मनुष्यद्विकादीनां सम्यग्दृष्टिवत् मिथ्यादृष्टीनामपि बन्धप्रायोग्यतया तासामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य मिथ्यादृष्टिस्वामिकत्वात् । अत एव तासां मनुष्य-

द्विकादीनां संख्येयगुणोनोत्कृष्टस्थितिबन्धोऽभिहितो बोद्धव्यः, मिथ्यादृष्टिस्वामिकोत्कृष्टस्थितिबन्धापेक्षया सम्यग्दृष्टिस्वामिकस्य तस्य संख्येयगुणहीनत्वात् , तीर्थकरनामोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनः सम्यग्दृष्टित्वाच्चेति ॥८२५-८२६॥

अथ स्थिरनाम प्रधानीकृत्याऽऽह प्रस्तुतं संनिकर्षम्—

थिरगुरुबंधी धुवु-रल-परघा-ऊसास-पज्जणामाणं । णियमाहिन्तो बधइ संखेज्जविभागहीणठिइं ॥
तिरिणरजाइदुगाण-उरलोवग-पणआगिईण तहा । पणसघयणा-ऽऽयवदुग-कुखगइ-साहारणाण तहा ॥
तस-थावर-सुहुम-असुहपंचग-पत्तेअ-बायराण सिआ । वइर-सुहागिइ-सुखगइ-सुहपणगाण गुरुमगुरु वा ॥
॥ गाथा ८२७-८२९ ॥

(प्रे०) "थिरगुरुबंधी" इत्यादि, सुगमा गाथात्रयी, परं प्रथमगाथास्थं 'संखेज्जदिभागहीणठिइ' इति पदं तृतीयगाथास्थं 'सिआ' इति पदं च देहलीदीपकन्यायेनोभयत्र सम्बध्यत इति ॥॥८२७ ८२९॥

अथ प्रस्तुतकार्मणा-ऽनाहारकमार्गणयोरुक्तशेषप्रकृतिद्वयप्रधानसंनिकर्षमतिदेशादिनाऽभिदधत् प्रस्तुतमार्गणाविषयनामप्रकृतिस्वस्थानोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षवक्तव्यतां समापयत्येकयाऽऽर्यया—

एवं सुहस्स णेयो एमेव जसस्स अवि परं णियमा । बायर-पत्तेआणं बधइ णो सुहुम-साहारा ॥८३०॥

(प्रे०) "एवं सुहस्से" त्यादि, शुभनामप्रधानसंनिकर्षोऽनन्तरगाथात्रयोक्तस्थिरनामप्रधानसंनिकर्षवज्ज्ञेयः, तत्र स्थिरशुभनाम्नोः परस्परं व्यत्ययस्तु वाच्य एव, सर्वत्रातिदेशे तत्प्रवृत्तेः । एवमेव यशःकीर्तिनामप्रधानसंनिकर्षोऽपि स्थिरनामप्रधानसंनिकर्षवदेव वाच्यः, केवलम्—सूक्ष्मसाधारणप्रायोग्यं बध्नतो यशःकीर्तिनामबन्धप्रतिषेधाद् यशःकीर्तिनामोत्कृष्टस्थितिं बध्नतोऽपि न भवति सूक्ष्मसाधारणनाम्नोर्बन्धः, तद्बन्धाभावे च तत्प्रतिपक्षभूतयोर्बादरप्रत्येकनाम्नोर्नियमतो बन्धो जायत इत्यतोऽपोदितं यत् 'परं णियमा बायरपत्तेआण बंधइ णो सुहुमसाहारा' इति । शेषं तु सर्वं प्रागवदेवाभ्यूह्यमिति ॥८३०॥

तदेवं भणितो गाथैकविंशत्या कार्मणाऽनाहारकमार्गणयोर्बन्धप्रायोग्यसर्वनामप्रकृतीनां स्वस्थानोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षः । साम्प्रतं वेदमार्गणास्थानाऽन्तर्गतायां स्त्रीवेदमार्गणायां गाथात्रयोदशकेन तमभिधित्सुः प्रथमतस्तावद् नरकगतिनामाद्यष्टप्रकृतिप्राधान्येन प्राह—

थीए णिरयविउव्वदुग-पणिंदि-तस-कुसरखगइगुरुबधी । बंधइ णियमा जेट्ठमजेट्ठं वा णिरयजोग्गाणं ॥
॥८३१॥

(प्रे०) "थीए" इत्यादि, स्त्रीवेदमार्गणायां नरकद्विक-वैक्रियद्विक-पञ्चेन्द्रिय-त्रस-दुःस्वर-कुखगतिनाम्नामन्यतमस्या उत्कृष्टां स्थितिं बध्नन् जीवो नरकप्रायोग्याणां प्रधानतया विवक्षितनरकगत्यादिप्रकृतिवर्जानां सर्वासां शेषनरकगतिप्रायोग्याणां सप्तविंशतेरपि प्रकृतीनां नियमत उत्कृष्टानुत्कृष्टलक्षणद्विविधस्थितेश्च बन्धको भवति । सुगमं चैतत् , यतो नरकप्रायोग्याऽष्टाविंशति-

प्रकृतिमध्यान्नास्ति काचिन्मिथः परावर्तमानता नाऽपि उद्योतादिवत् स्वतोऽध्रुवबन्धिता वा, तथाच नरकप्रायोग्योत्कृष्टः संक्लेशो भवतु अनुत्कृष्टो वाऽसौ भवतु तथाऽपि सर्वा नरकप्रायोग्यप्रकृतयो नरकगत्यादीर्बध्नतो बध्यन्त एव उत्कृष्टसंक्लेशे तद्बन्धभावे च द्विविधस्थितिबन्धस्तासां जायते, सर्वा अपि ता वर्गोत्कृष्टा विवक्षितप्रधानीकृतनरकगत्यादिप्रकृतिवत्, तथा पूर्वोक्तषष्ठनियमप्रसरात्तासां स्थितिरुत्कृष्टादिद्विविधा बध्यत इति । नरकप्रायोग्या अष्टाविंशतिनामप्रकृतयस्त्विमाः-नामध्रुवबन्धिनवक नरकद्विक- पञ्चेन्द्रियजाति वैक्रियद्विक-हुंडसंस्थान कुखगति पराघातो-च्छ्वासत्रसचतुष्का ऽस्थिरषट्कानीति ॥८३१॥

अथ प्रस्तुतस्त्रीवेदमार्गणायामेव तिर्यग्द्विकौ-दारिकशरीरै-केन्द्रिय स्थावरनामलक्षणा याः पञ्च प्रकृतयस्तत्प्रधान प्रस्तुतसंनिकर्षं प्रदर्शयन्नातपोद्योतनामप्रधान तमतिदिशंश्चाह—

एगस्स तिरिदुग-उरल-एगिंदिय-थावराउ गुरुबंधी । णियमाऽण्णाण तहा धुव हुंडग-बायरतिगाण तहा ॥
परघा-ऊसासाणं पणाथिराईण जेट्ठमियर वा । बंधेइ सिआ आयवदुगस्स आयवदुगस्सेव ॥८३२-८३३॥

(प्रे०) "एगस्से" त्यादि, तत्र द्वितीयगाथाप्रान्तस्थेन "आयवदुगस्सेवं" इत्यनेना-ऽऽतपोद्योतनामप्रधानः संनिकर्षोऽतिदेशेन भणितः, शेषगाथाद्वयेन तु तिर्यग्गत्यादिप्रकृतिपञ्चकप्रधानोऽसौ प्रतिपादितः, स च प्रागिव देवीनामेव तिर्यग्द्विकाद्युत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वापेक्षया-ऽभ्यूह्य इति ॥८३२-८३३॥ अथ मनुष्यद्विकप्रधानमाह–

एगस्स णरदुगा गुरुबंधी णियमेयरस्स गुरुमगुरु । सखसूणम-पज्ज-तिसंघयण-दुआगिईण सिआ ॥
पंचिंदि-युरल तसदुग-धुव-पत्तेअग-पणाथिराईण । चउभागूण णियमा सखसूणं उरालुवंगस्स ॥
बंधेइ सिआ हुंडग-परघा-ऊसास-असुहखगईणं । पज्जत्त-दुस्सराण अगुरुं चउभागहीणठिइ ॥
॥८३४-८३६॥ (मध्यमा गीति) ॥

(प्रे०) "एगस्स णरदुगा" इत्यादि, अक्षरार्थः सुगमः, केवलं 'तिसंघयण' इत्यनेन चरमसंहननत्रिकं ग्राह्यम्, 'दुआगिई'–इत्यनेन तु चतुर्थ-पञ्चमसंस्थानप्रकृती, उपपत्तिस्तु पूर्वोक्तनियमप्रपञ्चानुसारेण कार्या । तद्यथा–प्रधानीकृता प्रकृतिर्मनुष्यगतिर्मनुष्यानुपूर्वी वा, सा चेहोत्कृष्टतः पञ्चदशसागरोपमकोटीकोटीस्थितिका, तथाच ततो न्यूनोत्कृष्टस्थितिकानां विवक्षितमनुष्यगत्यादिप्रकृत्यविरुद्धानामपि प्रथमसंहननादीनां प्रस्तुतमार्गणायां बन्धप्रायोग्याणामपि न भवति बन्धः, अत एव 'तिसंघयण' इत्यादिना चरमसंहननत्रिकादि व्याख्यातम् । नरकद्विकादीनां विवक्षितमनुष्यगत्याद्युत्कृष्टस्थितितोऽधिकस्थितिकानामपि प्रकृतिबन्धविरोधादेव न बन्धः, या तु मनुष्यगत्यादिप्रधानीकृतप्रकृत्या तुल्यस्थितिका यथा मनुष्यगत्या मनुष्यानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्व्या तु मनुष्यगतिस्तस्या यथोक्तसप्तमनियमद्वितीयांशानुसारेण उत्कृष्टादिद्विविधः स्थितिबन्धो दर्शितः 'णियमेयरस्स गुरुमगुरु' इत्यनेन । पञ्चेन्द्रियजात्यादीनां हुंडादिसंस्थानानां च चतुर्भागो-

नोत्कृष्टस्थितिबन्धस्तु सप्तमनियमप्रथमांशानुसारेण वेदितव्यः, यतोऽसौ वर्गोत्कृष्टस्थितितो विवक्षित-प्रकृत्युत्कृष्टस्थितिर्वर्गत्रिभागरूपेण यावता त्रिभागादिना न्यूनस्तावता त्रिभागादिना न्यूनःवर्गोत्कृष्ट-स्थितिकशेषप्रकृत्युत्कृष्टस्थितिबन्धः स्यादित्येवं लक्षणः, पञ्चेन्द्रियजात्यादयः प्रकृतयस्तु प्रस्तुतमार्ग-णायामप्योघवद्वर्गोत्कृष्टस्थितिकाःवर्गोत्कृष्टस्थितिश्चेह विंशतिःसागरोपमकोटीकोट्यः,तदपेक्षया प्रधानी कृतमनुष्यगत्यादिप्रकृत्युत्कृष्टस्थितिश्चतुर्भागेन न्यूना, यतो मनुष्यगत्यादिप्रकृतिद्वयोत्कृष्टस्थितिः पञ्चदशसागरोपमकोटीकोट्यः । तदेवं प्रस्तुतमार्गणायां मनुष्यगत्याद्युत्कृष्टस्थितिं बध्नतः पञ्चेन्द्रि-यजात्यादीनां चतुर्भागोनोत्कृष्टस्थितिबन्धो जायते । एवमेवाऽपर्याप्तनामादीनामष्टादशसागरोपमादि-स्थितिकतया तासां संख्येयभागोनोत्कृष्टस्थितिः साधनीया, तत्र सप्तमनियमतृतीयांशस्यैव प्रसरा-दिति । यस्तु अपर्याप्तनामादीनां हुंडकनामादीनां च स्याद्बन्धस्स तु मनुष्यद्विकोत्कृष्टस्थितिं बध्नतोऽपि तासां स्वप्रतिपक्षसहितबन्धप्रायोग्यत्वादिना चतुर्थनियमद्वितीयांशप्रसरादभ्यूह्योऽनन्त-रोक्तरीत्या, न च पराघातो-च्छ्वासा-ऽप्रशस्तविहायोगतिनामलक्षणास्तिस्रः प्रकृतयो न भवन्ति स्व-प्रतिपक्षप्रकृतिसहितबन्धप्रायोग्या इति वाच्यम्, एवमपि पराघातोच्छ्वासनाम्नोः खगतेश्च पर्याप्तना-मबन्धनियतबन्धत्वेनाऽपर्याप्तप्रायोग्यं बध्नतस्तद्बन्धाभावात्स्याद्बन्ध एव लभ्यते, अत एव विरुद्धा इति भणितम्, पराघातो-च्छ्वास खगतिनाम्नामपर्याप्तनामप्रतिपक्षत्वाभावेऽपि विरोधित्वान्न बध्य-न्त इति, एवमेव सर्वत्र विवेचनीयं सुधियेति ॥८३४-८३६॥

अथ ध्रुवबन्धिनीनवक-हुंडसंस्थान-बादरत्रिक-पराघातो-च्छ्वासा-ऽस्थिरपञ्चकलक्षणविंशति-प्रकृतिप्रधानसंनिकर्षं प्रचिकटयिषुराह—

धुव-हु डग बायरतिग-परघू-सासग-पणाथिराईओ । एगस्स जेट्ठबधी णियमाऽण्णाण गुरुमगुरु वा ॥
णिरयतिरिजाइदुगु-रल-विउवा-ऽऽयवजुगल-कुखगइसराणं । थावर-तसाण बधइ सिआ गुरु व अगुरु व ठिइ॥
॥८३७-८३८॥

(प्रे०) 'धुवे' त्यादि, '**पणाथिराइ**' त्ति दुःस्वरवर्जा अस्थिरादिपञ्चप्रकृतयस्तथा '**णिरय**' इत्यादिना नरकद्विक-तिर्यग्द्विकैकेन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियजात्यौदारिकशरीर-वैक्रियद्विका-ऽऽतपोद्योता-ऽप्रशस्तविहायोगति-त्रस-स्थावर-दुःस्वरलक्षणास्त्रयोपञ्चदश प्रकृतयः संगृहीता बोद्धव्याः । शेषाक्षरार्थः सुगमः । उपपत्तिस्तुनरकप्रायोग्यं बध्नन्तं तिर्यक्प्रायोग्यं बध्नन्तं च सर्वसंक्लिष्टपर्याप्तसंज्ञि-पञ्चेन्द्रियजीवद्वयमपेक्ष्य यथासम्भवं कार्येति ॥८३७-८३८॥

अथौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम प्रधानीकृत्य साक्षात् सेवार्तनाम चाधिकृत्यातिदेशेन प्राह—

सखसूण णियमा बधइ ठिइमुरलुवगगुरुबधी । तिरिदुगु-रल-धुव-तसदुग-पत्तेअ-पणाथिराईण ॥
बधइ पणिंदि-हु डग-परघा-ऊसास कुखगइसराण । पज्जत्तुज्जोआण सिआ ठिइ सखभागूण ॥
तिविगल छिवट्ठ-पचमसघयणागिइ-अपज्जणामाण । जेट्ठमजेट्ठ व ठिइ सिआ छिवट्ठस्स एमेव ॥
॥८३९-८४१॥

सेसाणं सव्वऽप्पो णेयो पज्जत्तबायरस्स लहू ।
एत्तो कमसोऽब्भहियो हवेज्ज पज्जत्तसुहुमस्स ॥ ४६ ॥
ताहिन्तो णायव्वो कमा अपज्जत्तबायरियराणं ।
ताहिन्तो वच्चासा तेसिं जेट्ठो मुणेयव्वो ॥४७॥
तो पज्जत्तस्स लहू तओ अपज्जस्स ताउ तस्स गुरू ।
ताओ पज्जस्स तओ बितिचउइंदियअमणणीणं ॥४८॥
णवरि लहू संखगुणो समत्तविंदियअसण्णीणं ।
एत्तो संखेज्जगुणो कमसो जइणो जहण्णियरो ॥४९॥ (उपगीतिः)
तत्तो देसविरइणो हस्सियरो ताउ चउविहो णेयो ।
सम्मादिट्ठिस्स तओ चउहा मिच्छत्तिणो णेयो ॥ ५० ॥

(प्रे०) "सेसाणं सव्वऽप्पो"इत्यादि,अक्षरार्थस्तु प्रागिव योज्यः,**भावार्थः पुनरयम्**—निद्रा-प्रचले, असातवेदनीयं, हास्यषट्कं, पञ्चेन्द्रियजातिनाम, तैजस-कार्मणशरीरे, समचतुरस्र-संस्थानं, वर्णादिचतुष्कं, प्रशस्तविहायोगतिः, पराघातो च्छ्वासा-ऽगुरुलघु-निर्माणो-पघातनामानि, त्रसनवकम्, अस्थिरा-ऽशुभा-ऽयशःकीर्तिनामानि चैता उक्तशेषाः पञ्चत्रिंशत् प्रकृतयोऽनिवृत्ति-बादरगुणस्थानात्प्रागेव बन्धविच्छेदं यान्ति, न पुनर्मतिज्ञानावरणादिप्रकृतीनामिव सूक्ष्मसम्परायगुण-स्थानप्रान्ते संज्वलनक्रोधादीनामिवानिवृत्तिगुणस्थानप्रथमखण्डाद्यवसाने वा, किञ्च संयतानामसंज्ञि-बन्धप्रायोग्यस्थितिबन्धापेक्षयाऽपि यः स्तोकः स्तोकतरः स्तोकतमो वा स्थितिबन्धो जायते सोऽनिवृत्तिकरणादावेव, न पुनरधोऽपूर्वकरणादौ, अनिवृत्तिकरणात्प्रागेव जायमानः संयतानां जघन्योऽपि स्थितिबन्धस्त्वन्तःकोटिकोटीसागरोपमप्रमाण एव, स चाऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियोत्कृष्ट-स्थितिबन्धापेक्षयाऽपि संख्येयगुणः, अत एवासामनिवृत्तिकरणगुणस्थानात्प्रागेव व्यवच्छिद्यमान-बन्धानां निद्रादिपञ्चत्रिंशत्प्रकृतीनां सर्वस्तोकस्थितिबन्धतया 'सव्वप्पो णेयो पज्जत्तबायरस्स लहू' इत्यनेन पर्याप्तबादरैकेन्द्रियस्य जघन्यस्थितिबन्ध उक्तः, तदनु चाऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्योत्कृष्ट-स्थितिबन्धस्थानं यावन्मतिज्ञानावरणादिप्रकृतीनां प्रागुक्तजघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धाल्पबहुत्ववद् यथा-सम्भवं विशेषाधिक-संख्येयगुणत्वादिर्दर्शितः; एवं चतुर्विंशतितमे स्थाने प्राप्ते पर्याप्ताऽसंज्ञिपञ्चे-न्द्रियस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धः स्वपूर्ववर्तिस्थानापेक्षया विशेषाधिक इति कथयित्वा तदनु संयतस्य जघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धौ यथोत्तरं संख्येयगुणावभिहितौ; ततस्तु देशविरतादिसत्कजघन्योत्कृष्टस्थिति-बन्धनिष्पन्नानि दशस्थानानि तेनैव क्रमेण दर्शितानि चेति ॥४६-५०॥

प्रकृतिपञ्चकमध्यादन्यतमस्या एकस्या उत्कृष्टस्थितेर्बन्धकः स्थिर शुभ-यशःकीर्ति-जिननामवर्जितानां शेषमनुष्यप्रायोग्यप्रकृतीनां नियमाद् बन्धको भवति, स्थितिं तु तासामुत्कृष्टादिद्विविधाऽन्यतरां बध्नाति। अयम्भावः—प्रत्येकं मार्गणासु सम्यग्दृष्टयो जीवा एव प्रविष्टाः, तेषु मनुष्यगत्यादिविवक्षितप्रकृतेर्बन्धका देवनारका एव स्युः, ते च नियमतो मनुष्यप्रायोग्याः प्रकृतीर्बध्नन्ति, तेषां च सम्यग्दृष्टितया मनुष्यद्विक-पञ्चेन्द्रियजात्यौदारिकद्विक-प्रथमसहनन-प्रथमसंस्थान-प्रशस्तविहायोगति-पराघातो-च्छ्वास-जिननाम-ध्रुवबन्धिनीनवक-त्रसदशका-ऽस्थिरा-ऽशुभा-ऽयशःकीर्तिलक्षणास्त्रयस्त्रिंशत्प्रकृतय एव बन्धप्रायोग्यास्तासु स्थिर-शुभ-यशःकीर्तिनामलक्षणास्तिस्रोऽस्थिरा-ऽशुभा ऽयशःकीर्तिनामलक्षणप्रतिपक्षप्रकृतित्रयसहितबन्धप्रायोग्याः, शेषास्त्वतथा, स्वप्रायोग्योत्कृष्टसंक्लेशे च वर्तमाने स्थिरादिप्रकृतिमध्यादस्थिरादित्रयमेव बध्यते, न स्थिरादित्रयम्, एवमुत्कृष्टस्थितिं बध्नतां मिथ्यात्वाभिमुखतया न भवति जिननाम्नोऽपि बन्धः; कुतः ? देवनारकभवेषु जिननामबन्धकानां मिथ्यात्वे गमनाभावादिति तद्वर्जिताः शेषमनुष्यगतिप्रायोग्या इत्युक्ताः। तासां द्विविधः स्थितिबन्धस्तु सुगमः, सर्वासां मनुष्यगत्यादिवदुत्कृष्टसंक्लेशेऽपि बध्यमानत्वेन मनुष्यगत्युत्कृष्टस्थित्या तुल्यस्थितिकत्वात्, तुल्यस्थितिकत्वेन चौघिकमतिज्ञानावरणाद्युत्कृष्टस्थितिबन्धसनिकर्षन्यायेन द्विविधः स्थितिबन्धो भवति, तत्रोत्कृष्टः सम्यग्दृग्बन्धप्रायोग्योत्कृष्टपदगतोऽन्तःकोटीकोटीसागरोपममानः; अनुत्कृष्टस्तु ततः समयादिना यावत्पल्योपमासङ्ख्येयभागेन हीनस्थितिबन्धलक्षणः नानाविकल्पगतः। एतच्च सर्वं प्राक् प्रसाधितमेवेति पूर्वत्यो ग्रन्थः संस्मरणीय इति ॥८५२-८५३॥

अथ प्रस्तुतमतिज्ञानादिमार्गणास्वेव देवद्विक-वैक्रियद्विक-जिननामा ऽऽहारकद्विकलक्षणसप्तप्रकृतिप्रधानं प्रस्तुतसंनिकर्षमाह गाथाद्वयेन--

एगस्स जेट्ठबंधी सुरविउवदुगाउ देवजोग्गाण । सेसाणाहारगदुगथिरसुहजसतित्थवज्जाणं ॥
णियमा गुरुमगुरु वा बंधेइ ठिइ जिणस्स सिआ । एव तित्थस्स भवे आहारदुगस्स ओघव्व ॥
॥८५४-८५५॥ (द्वितीयोपगीतिः)

(प्रे०) "एगस्से" त्यादि, देवद्विक वैक्रियद्विक-लक्षणप्रकृतिचतुष्टयमध्यादेकस्या देवगत्यादेरुत्कृष्टां स्थितिं बध्नन् जीवोऽन्यासामाहारकद्विकतीर्थकरनाम-स्थिर-शुभ-यशःकीर्तिनामवर्जानां देवगतिप्रायोग्याणां प्रकृतीनां नियमत उत्कृष्टाया अनुत्कृष्टाया वा स्थितेर्बन्धको भवति तत्र देवगतिप्रायोग्या नामप्रकृतय इमाः-देवद्विक-वैक्रियद्विका-ऽऽहारकद्विक-पञ्चेन्द्रियजाति-समचतुरस्रसंस्थान-सुखगति-पराघातो-च्छ्वास-जिन-ध्रुवबन्धिनीनवक-त्रसदशका-ऽस्थिरादिप्रकृतित्रयलक्षणाः पञ्चत्रिंशत्। इह स्थिरादित्रयवर्जनमनन्तरोक्तमनुष्यगत्यादिप्रधानसंनिकर्षवज्ज्ञेयम्। जिननामवर्जनं तु न तथा, तत्र मिथ्यात्वाभिमुखानां मनुष्यद्विकाद्युत्कृष्टस्थितिं बध्नतां जिननाम्नः सर्वथा बन्धाभावेऽपि इह देवद्विकाद्युत्कृष्टस्थितिं बध्नतां मनुष्यतया मिथ्यात्वाभिमुखनरकाभिमुखावस्थायां जिननाम्नो बन्ध-

'णिरय .... । तिरि-उरलदुग-पणिंदिय-छेवट्ठ हु च धुवणामाओ ॥८००॥
परघा-ऊसासाओ कुखगइ-तसचउग-अथिरछक्काओ । णामस्स जेट्ठबंधी णियमाऽणाण गुरुमगुरु वा ॥
उज्जोअस्स सिआ से एव' इति । 'सेसाणं' इत्यनेन संगृहीता उक्तशेषप्रकृतय-
स्त्रिमास्त्रिचत्वारिंशत्-नरकद्विक मनुष्यद्विक--देवद्विक--विकलत्रिक -वैक्रियद्विकाऽऽहारकद्विक--चर-
मवर्जसंहननपञ्चक--चरमवर्जसंस्थानपञ्चक--सुखगति-जिन-स्थिरषट्क-सूक्ष्मत्रिकाणीति । अपवाद-
स्तु प्रागिवाभ्यूह्यः, तद्यथा--ओघे देवानामपि प्रवेशेनैकेन्द्रिय स्थावरा-ऽऽतपनाम्नामुत्कृष्टस्थिति-
बन्धमानं विंशतिसागरोपमकोटीकोटयो भणितम् , इह तु नास्ति देवानां प्रवेशः, मनुष्यतिरश्चां
तु पारभविकं सर्वनिकृष्टमुत्पत्तिस्थानं नरकगतिलक्षणम् , तथा च ते सर्वसंक्लिष्टाः सन्तो नरक-
प्रायोग्यं बध्नन्त एकेन्द्रियादिप्रकृतीर्न बध्नन्ति, किन्तु यदा ततो मन्दसंक्लिष्टास्तदा वा निवर्त-
यन्ति, मन्दसंक्लिष्टत्वाच्च तासामेकेन्द्रियजात्यादीनामुत्कृष्टोऽपि स्थितिबन्धः प्रस्तुतमार्गणायामष्टा-
दशसागरोपमकोटीकोटय एव जायते, स्थिर-शुभ-यशःकीर्तिनाम्नां तु इहापि ओघवद् दशसागरो-
पमकोटीकोटय एव, तथा च नेह स्थिराद्युत्कृष्टस्थितिं बध्नत आतपादीनां स्थितिबन्ध ओघवद्
द्विभागोनोत्कृष्टः, किन्तु ततोऽपि न्यून इत्यत अपोद्य संख्येयभागन्यूनः कथितः । एवमेव सूक्ष्म-
त्रिकै-केन्द्रिय-स्थावरनाम्नामुत्कृष्टस्थितिबन्धमानमिह तुल्यमेव, न पुनरोघवद्विषमम् , तथा च
सूक्ष्मत्रिकोत्कृष्टस्थितिं बध्नत एकेन्द्रियादेः स्थितिबन्धो नोघवत् संख्येयभागोनोत्कृष्टः, अपि
तूत्कृष्टादिद्विविध एव इति । विशेषतस्तु पूर्वोक्तनियमप्रपञ्चानुसारेण भावनीय इति ॥८५०-८५१॥

तदेवं दर्शितो नपुंसकवेदमार्गणायामधिकृतनामोत्तरप्रकृतिस्वस्थानोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षः ।
अथाऽपगतवेदमार्गणायामेकस्या एव यशःकीर्तिलक्षणनामप्रकृतेर्बन्धप्रायोग्यत्वेन न भवति नाना-
नामप्रकृतिबन्धाधीनः स्वस्थानसंनिकर्ष इति तत्र प्रस्तुतसंनिकर्षं प्रतिषेद्धुकामस्तुल्यवक्तव्यात्
सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायामपि सममेव प्रतिषेधयन्नाह—

बधा एगस्स भवे अवेअ-सुहुमेसु सण्णियासो णो । .. ॥

(प्रे०) 'बंधा' इत्यादि, गतार्थमार्याऽर्धम् ॥

अथ कषायमार्गणास्थानेषु प्राक् पञ्चेन्द्रियौघादिमार्गणाभिः समम् 'ओघव्व सण्णियासो सप्पाउग्गाण होइ णामाण' इत्यादिना प्रस्तुतसंनिकर्षस्यौघवद्दर्शितत्वेन क्रमप्राप्तज्ञानमार्गणास्थानेषु तं प्रतिपिपादयिषुस्तुल्यवक्तव्योपेताऽवधिदर्शनादिमार्गणा अपि समुच्चिन्वन् सार्धाष्टगाथाभिराह—

... . । एगस्स तिणाणा-ऽवहि-सम्मत्तग-वेअगेसु तु ॥
नरु-रलदुग-वइराओ गुरुबंधी सेसमणुय-जोग्गाण । णियमा थिर सुह-जस-जिण-वज्जाण गुरु अहव अगुरु ॥
॥ ८५२-८५३ ॥

(प्रे०) 'एगस्स तिणाणे' त्यादि, मतिज्ञान-श्रुतज्ञाना-ऽवधिज्ञाना-ऽवधिदर्शन-सम्यक्त्वौघ-
क्षायोपशमिकसम्यक्त्वलक्षणासु षण्मार्गणासु मनुष्यद्विकौ-दारिकद्विक-वज्रऋषभनाराचसंहननलक्षण-

नोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षः । एतर्हि तमेवाऽऽर्याष्टकेन नपुंसकवेदमार्गणायां बिभणिषुरार्यात्रयेणै-केन्द्रिय-स्थावरनामप्रधानं प्राह—

जेट्ठठिइं बंधतो एगिंदिय थावराउ एगस्स । णपुमे णियमा बंधइ जेट्ठमजेट्ठं व अण्णस्स ।।
तिरिदुग-धुवबंधीणं उराल-हुंडग-पणाथिराईणं । णियमाहिन्तो बधइ सखसूणं ठिइ अगुरुं ।।
सखंसूणं बंधइ परघा-ऊसास-बायरतिगाण । उज्जोअस्स सिआ-ऽऽयव-सुहुमतिगाण गुरुमगुरुं वा ।।
।। ८४४–८४६ ।।

(प्रे०) 'जेट्ठठिइं' इत्यादि, नपुंसकवेदमार्गणायामेकेन्द्रिय-स्थावरनाम्नोरुत्कृष्टस्थिते-र्बन्धकस्तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टस्तिर्यङ् मनुष्यो वा भवतीत्येतत्संस्मृत्य पूर्वोक्तनियमप्रपञ्चानुसारेणाऽभ्यू-ह्योऽयं संनिकर्षः ।।८४४–८४६।।

अथ पञ्चेन्द्रिय-ध्रुवबन्धिनीनवकहुण्डक-कुखगति-पराघातो-च्छ्वास-त्रसचतुष्का-ऽस्थिरषट्क-लक्षणचतुर्विंशतिप्रकृतीः संगृह्य तत्प्रधान सनिकर्षमार्याद्वयेन कथयति—

पंचिंदिय-धुव-हुंडग-कुखगइ-तसचउग-अथिरछक्काओ । परघा-ऊसासाओ गुरुठिइमेगस्स बधंतो ।।
णियमा अण्णाण ठिइ जेट्ठमजेट्ठं व बधए उ सिआ । णिरयतिरिविउवुरलदुग-छिवट्ठ-उज्जोअणामाण ।।
।। ८४७-८४८ ।।

(प्रे०) 'पंचिंदिये'त्यादि, सुगमे, स्वामिनस्तु पञ्चेन्द्रियनात्यादिचतुर्विंशत्युत्कृष्टस्थिते-रिह सर्वसंक्लिष्टास्तिर्यग्मनुष्या नारकाश्चेति तानाश्रित्य पूर्वोक्तनियमकदम्बकानुसारेणोपपत्तिः कार्या ।।८४७–८४८।। अथाऽऽतपनामाधिकृत्य प्राह—

आयवगुरुबधी गुरुमगुरु वेगिंदि-थावराण ठिइ । णियमा संखंसूणं तेवीसाअ तिथिराइवज्जाण ।।
।। ८४९ ।। (गीति.)

(प्रे०) 'आयवे' त्यादि, सुगमा, केवलं 'तेवीसाअ तिथिराइवज्जाणं' त्ति आतपना-मोत्कृष्टस्थितिं बध्नतः संक्लिष्टतयाऽस्थिरादित्रयस्यैव बन्धभावेन स्थिरादित्रयबन्धः स्थगितो भवति, तथा च तिर्यग्द्विकौदारिकदेह-हुण्डसंस्थान-पराघातो-च्छ्वास-ध्रुवबन्धिनीनवक-बादरत्रिक-दुः-स्वरवर्जाऽस्थिरपञ्चकलक्षणास्त्रयोविंशतिरवसेया इति ।।८४९।।

अथ गाथाद्वयेन प्रस्तुतनपुंसकवेदमार्गणाबन्धप्रायोग्यशेषनामप्रकृतिस्वस्थानोत्कृष्टस्थिति-बन्धसंनिकर्षविषयां वक्तव्यता समापयति—

तिरि-उरलदुग-छिवट्ठग-उज्जोआण णिरयव्व सेसाण । ओघव्व णवरि बधइ थिर-सुह-जसजेट्ठठिइबधी ।।
संखसूणं आयव-एगिंदिय-थावराण दुविहठिइ । सुहुमतिगजेट्ठबंधी एगिंदिय-थावराणं सु ।।
।। ८५०–८५१ ।।

(प्रे०) 'तिरिउरलदुगे' त्यादि, सुगमे, परं नरकगतौ तिर्यग्द्विकादिषट्प्रकृतीनां प्रस्तुत-संनिकर्षप्रतिपादिका गाथा एवम्—

(प्रे०) 'संखंसूणं' इत्यादि, तत्र 'छिवट्ठस्स एमेव' इति तृतीयगाथाप्रान्तस्थेन सेवार्तनामप्रधानः संनिकर्षोऽतिदेशेन, शेषगाथात्रयेण तु औदारिकाङ्गोपाङ्गनामप्रधानः साक्षात्प्रतिपादितः । शेषं तु सुगममिति ॥८३९–३४१॥

अथ गाथाद्वयेन प्रस्तुतस्त्रीवेदमार्गणाविषयकशेषवक्तव्यतां समापयति —

सेसाणोघव्व णवरि वामणविगलतिग-ऽपज्जगुरुवंधी। छेवट्ठ-उवंगाण दुविहमुवगस्स कीलिकावंधी॥ (गीतिः)
छेवट्ठ-उवगाण सुआगिइ-खगइ थिरछक्कगुरुवधी । सखसूणं बधइ उरलोवगस्स वइरगुरुवंधी ॥ (गीतिः)
॥ ८४२ ८४३ ॥

(प्रे०) 'सेसाणे'त्यादि, उक्तशेषाणां देवगत्यादीनामष्टाविंशतेः प्रस्तुतमार्गणाबन्धप्रायोग्याणां नामप्रकृतीनामेकैकप्रकृतिप्रधानः प्रस्तुतः स्वस्थानोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षः 'ओघव्व' त्ति ओघवद्भवति विहाय वक्ष्यमाणापवादपदानि । उक्तशेषा अष्टाविंशतिनामप्रकृतयस्त्विमाः–देवद्विक-विकलत्रिका -ऽऽहारकद्विक-चरमवर्जसंहननपञ्चक चरमवर्जसंस्थानपञ्चक-प्रशस्तविहायोगति-तीर्थकरनाम-स्थिरषट्क-सूक्ष्मत्रिकाणीति । अपवादपदान्याह–'णवरि' इत्यादिना, 'नवरं' केवलं वामनसंस्थान-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिया-ऽपर्याप्तनामप्रकृतिप्रधानेषु संनिकर्षेषु 'छेवट्ठ-उवंगाणं' ति व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेः सेवार्तसहननौ-दारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नोरुत्कृष्टादिर्द्विविधः स्थितिबन्धो द्रष्टव्यः, न पुनरोघवत्संख्येयभागोनोत्कृष्टः; ओघतः पुंनपुंसकवेदि देवनारकबन्धकापेक्षया सेवार्तौ-दारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नोरुत्कृष्टस्थितेर्विंशतिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणत्वेऽपि प्रस्तुतमार्गणायां तेषां पुंनपुंसकवेदिनामप्रवेशेनोत्कृष्टोऽपि स्थितिबन्धस्तयोरष्टादशकोटीकोटीसागरोपमाण्येव लभ्यते, स च वामनसंस्थानाद्युत्कृष्टस्थित्या तुल्यः, तथाच वामनाद्युत्कृष्टस्थितिं बध्नतः सेवार्तौ-दारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नोरुत्कृष्टादि द्विविधः स्थितिबन्धः पूर्वोक्तन्यायात् समुपलभ्यते । स्याद्बन्धो नियतबन्धो वेत्येतत्त्वोघवज्ज्ञेयम् । अथोक्तन्यायेनैव कीलिकासंहननोत्कृष्टस्थितिं बध्नत औदारिकाङ्गोपाङ्गस्य स्थितिबन्धो द्विविधो द्रष्टव्यः। समचतुरस्रसंस्थान-प्रशस्तविहायोगति-स्थिरषट्कलक्षणाऽष्टप्रकृत्यन्यतमोत्कृष्टस्थितिं बध्नतः सेवार्तसंहननौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नोः संख्येयभागन्यूनोत्कृष्टस्थितिबन्धो द्रष्टव्यः, न पुनरोघवद् द्विभागोनोत्कृष्टः। कथम् ? इति चेत् , तत एव, सेवार्तौ-दारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नोरुत्कृष्टस्थितिबन्धमानस्य प्रस्तुतमार्गणायामष्टादशसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणत्वादेवेत्यर्थः । तथा च संख्येयांश इत्यनेन चत्वारो नवमांशा बोध्याः । एवमेवान्यत्राऽपि संख्येयांशो यथासम्भवं बोद्धव्यः, न तु सर्वत्र तुल्य एवेति । अनेनैव न्यायेन प्रथमसंहननोत्कृष्टस्थितिं बध्नत औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्न उत्कृष्टस्थितिबन्धः संख्येयांशोनोत्कृष्टो द्रष्टव्यो भावनीयश्च, न पुनरोघवद् द्विभागोनोत्कृष्ट इति ॥८४२–८४३॥

तदेवं प्रतिपादितस्त्रयोदशगाथाभिः स्त्रीवेदमार्गणायां प्रस्तुतो नामोत्तरप्रकृतीनां स्वस्था-

[1]मणणाण-संजमेसुं समइअ-छेअ-परिहार-देसेसुं । सुरविउवदुग-पणिदिय धुव-पढमागिइ-सुखगईओ ॥
[2]परघा-ऊसास-सुहगतिग तसचउगा-ऽजसा ऽथिरदुगाओ । एगस्स जेट्ठबंधी णियमाऽण्णाण गुरुमगुरु वा ॥
[3]परिहारे मणणाणे सिआ जिणस्स दुविह तु तस्सेव । सेसासु चउसु तित्थं बधइ ण जिणस्सुवसमव्व ॥
[4]आहारदुगस्स पणसु ओघव्व दुहा तु सुहजसाण सिआ । थिरगुरुबंधी संखियगुणहीणं तित्थ-असुह-अजसाण ॥
[5]बधइ णियमाऽण्णेसिं पडिवक्खा-ऽऽहारजुगलवज्जाणं । पणवीसाए संखियगुणहीणं सुहजसाणेव ॥
॥ ८६०-८६४ (चतुर्थी गीतिः) ॥

(प्रे०) **'मणणाणे'** त्यादि, तत्राऽऽद्यगाथापूर्वार्धेन मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिकसंयम-देशसंयमलक्षणमार्गणाषट्कसंग्रहः, प्रथमगाथोत्तरार्धप्रभृतेस्सार्धगाथाद्वयेन **'जिणस्स'** इत्यन्तेन देवद्विक-वैक्रियद्विक-पञ्चेन्द्रियजाति-ध्रुवबन्धिनीनवक-समचतुरस्रसंस्थान-सुखगति-पराघातो-च्छ्वास-सुभगत्रिक-त्रसचतुष्का -ऽस्थिरा- ऽशुभा-ऽयशःकीर्तिनामलक्षणाष्टाविंशतिप्रकृतिप्रधानसंनिकर्षः, स तु गाथाद्वयेन भणितः सुगमश्च । जिननामप्रधानोऽसौ मनःपर्यवज्ञानपरिहारविशुद्धिकमार्गणयोः **'तस्सेवं'** इत्यनेनाऽतिदिष्टः, शेषमार्गणाचतुष्टयेऽप्यसावतिदिष्ट एव, केवलम् **'जिणस्सुवसमव्व'** इत्यनेन वक्ष्यमाणौपशमिकमार्गणावत्, तथाच तासु चतसृषु 'जिणबंधी सव्वाण संखगुणहीण'(गाथा-८८६) इत्यनेन वक्ष्यमाणस्वरूपो बोध्यः, यत्पुनरतिदेशद्वयमध्ये 'सेसासु चउसु तित्थं बधइ ण' इत्यनेन जिननामबन्धप्रतिषेधः स तु 'परिहारे मणणाणे सिआ जिणस्स दुविहं तु'इत्यभिहिते शेषमार्गणाचतुष्टये तर्हि किमित्युत्थिताऽऽशङ्काया निराकरणार्थम् ,अन्यथा त्वन्यत्रेवात्राप्यनुक्त्यैव तद्बन्धप्रतिषेधो गम्येत एव । तथा च मनःपर्यवज्ञान-परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणयोरेव **'सुरविउवदुगे'** त्यादिना भणितदेवद्विकाद्यष्टाविंशत्यन्यतमप्रकृतेरुत्कृष्टस्थितिं बध्नतो जिननाम्नः स्याद्बन्ध उत्कृष्टादिद्विविधस्थितेर्बन्धश्च द्रष्टव्यः, शेषमार्गणाचतुष्टये त्वसौ प्रतिषेध्य एव, जिननामोत्कृष्टस्थितिं बध्नतस्तु मनःपर्यवज्ञान परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणयोः 'सुरविउवदुगे' त्यादिसार्धगाथयाऽभिहितरूपः, शेषमार्गणाचतुष्टये तु जिननामप्रधानसंनिकर्षो वक्ष्यमाणौपशमिकसम्यक्त्वमार्गणावच्च वक्तव्यः, न पुनः **'सुरविउवदुगे'** त्यादिनाऽभिहितस्वरूपः। कथम् ? मार्गणाचतुष्टये उपशमसम्यक्त्वमार्गणावद्देवद्विकादीनां जिननाम्नश्च भिन्नभिन्न संक्लेशवतां तदुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वात् , मार्गणाद्वये तु समसंक्लेशवतां तत्स्वामित्वाच्चेति । विशेषतस्तु प्रागिव योज्य इति । चतुर्थगाथापूर्वार्धे **'आहारदुगस्स पणसु ओघव्व'** इत्यनेनाऽऽहारकद्विकप्रधानः संनिकर्षो भणितस्तत्र 'पणसु' इत्युक्ते देशसंयमवर्जाः पञ्चमार्गणा एव बोद्धव्याः, देशसंयमे मूलत एवाऽऽहारकद्विकबन्धाभावात् । चरमगाथास्थं **'सुहजसाणेवं'** ति इत्येतावद्विहाय **'दुहा तु सुहजसाण सिआ'** इत्यादिना किञ्चिदधिकसार्धगाथया स्थिरनामप्रधानो भणितः, स च षट्स्वपि मार्गणासु बोध्यः । **'सुहजसाणेवं'** इत्यनेन त्वसावतिदेशेन शुभयशःकीर्तिनामप्रधानो दर्शितः । उपपत्तिस्तु सुगमा प्रागिव कार्या दर्शितशेषेति ॥८६०–८६४॥

सम्भवात्। तर्हि कथं वर्जनम्? सर्वेषां सम्यग्दृशां तद्बन्धाऽनियमतो नानाजीवापेक्षया स्याद्बन्ध-प्राप्तेरनुपदं वक्ष्यमाणत्वात्। एतदेवाह–"जिणस्स सिआ" इति जिननाम्नोऽसौ स्याद्बन्धको भवति, स्थितिं तु तस्य शेषदेवगतिप्रायोग्यप्रकृतिवद् द्विविधामेव बध्नाति। अथ जिन-नामप्राधान्येनाऽऽह–"एवं तित्थस्स भवे" त्ति तीर्थकरनामप्रधानसंनिकर्षः 'एवं' ति देव-गत्यादिप्रकृतिप्रधानसंनिकर्षवद्वाच्यः प्रागिव सविशेषं देवगत्यादिप्रकृति जिननामप्रकृतिस्थानव्य-त्ययेन। विशेषस्तु एतावानेव–अनन्तरं जिननाम्नः स्याद्बन्धो भणितः, इह तु तत्स्थानप्राप्ता-नामपि देवगत्यादिप्रकृतीनां स्याद्बन्धो न वक्तव्यः, किन्तु नियतबन्ध एव वक्तव्य इति। आहार-कद्विकस्य वर्जनं तु तत्र बन्धाभावात् तत्प्रधानप्रस्तुतसंनिकर्षस्य सर्वथौघतुल्यत्वात्तथैव तमतिदिश-ति–आहारदुगस्से'त्यादि, सुगममिति ॥८५४–८५५॥

अथ प्रस्तुतमतिज्ञानादिमार्गणास्वेव पञ्चेन्द्रियजाति-समचतुरस्रसंस्थान-पराघातो-च्छ्वास-त्रसचतुष्क-ध्रुवबन्धिनीनवक-सुखगति-सुभगत्रिका ऽस्थिरा-ऽशुभा-ऽयशःकीर्तिलक्षणचतुर्विंशतिप्रकृति-प्रधानं संनिकर्षमाहाऽऽर्याद्वयेन–

पंचिंदिय-पढमागिइ-परघा-ऊसास-तसचउक्काओ। धुव-सुहखगइ-सुहगतिग अथिरा-ऽसुह-अजसणामाओ॥
एगस्स जेट्ठबंधी णियमाऽण्णेसिं गुरुं व अगुरुं वा। बंधेइ णरुरलविउवसुरदुग तित्थ-वइराण सिआ॥
॥ ८५६-८५७ ॥

(प्रे०) 'पंचिंदिये' त्यादि, सुगममिति ॥८५६–८५७॥ अथ प्रस्तुतमार्गणायामुक्तशेष-प्रकृतित्रयविषयं प्रस्तुतसंनिकर्षमाह गाथाद्वयेन—

थिरगुरुबंधी णियमा पंचिंदिय-धुव-सुहागिईण तहा। परघा-ऊसास-सुहखगइ-तस चउग-सुहगतिगाण॥
संखगुणूण णरसुरविउवुरलदुग-जिण-वइर असुहाण। अजसस्स सिआ जेट्ठमजेट्ठं वा सुह-जसाण एवं सिं॥
॥ ८५८-८५९ (द्वितीया गीतिः) ॥

(प्रे०) "थिरे"त्यादि, तत्रोत्तरगाथाप्रान्तस्थेन 'एवं सिं' इत्यनेन शुभ-यशःकीर्तिनामप्रधान-संनिकर्षोऽतिदेशेन भणितः, प्रथमगाथया तथा द्वितीयगाथाशेषेण च स्थिरनामप्रधानः साक्षाद्भणितः। इहापि संख्यगुणन्यूनताऽनन्तरोक्तनीत्या पञ्चेन्द्रियनामादीनां मनुष्यद्विकादीनां चोत्कृष्टस्थिति-बन्धस्य मिथ्यात्वाभिमुखस्वामिकत्वात् स्थिरनामोत्कृष्टस्थितिबन्धस्य स्वस्थानतत्प्रायोग्योत्कृष्टसं-क्लिष्टस्वामिकत्वाच्चेति। शेषं तु सुगममिति ॥८५८–८५९॥

तदेवं भणितः सार्द्धगाथासप्तकेन मतिज्ञानादिमार्गणासु बन्धप्रायोग्यनामप्रकृतीनां प्रस्तुतः स्वस्थानोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षः। अज्ञानमार्गणात्रये तु प्राग् "ओघव्व" इत्यादि (८०५) गाथासु पञ्चेन्द्रियौघादिमार्गणाभिः सममोघवद् दर्शितः। एतर्हि क्रमप्राप्तमनःपर्यवज्ञानमार्गणायां तं विभणिषुस्तत्तुल्यवक्तव्योपेतसंयमादिमार्गणा अपि सममेव संगृह्य प्राह गाथापञ्चकेन–

अन्तःकोटीकोटीसागरोपमतोऽधिकस्थितिबन्धस्याऽजायमानत्वात् । ततः किम् ? ततो नरकगत्याद्युत्कृष्टस्थितिं बध्नतः याः शेषाः पञ्चेन्द्रियजात्यादयः प्रकृतयस्तास्तिर्यक्प्रायोग्यं बध्नद्भिर्नारकैरपि निर्वर्त्यन्ते, तासां च तैरोघोत्कृष्टस्थितिबन्धोऽपि क्रियते, न पुनस्तावानोघोत्कृष्टनरकगत्याद्युत्कृष्टस्थितिं बध्नद्भिस्तिर्यग्भिः, किन्तूक्तनीत्या तैस्तासामप्यन्तःसागरोपमकोटीकोटीप्रमाण एवासौ क्रियते, स च प्रस्तुतमार्गणासम्भविनीपञ्चेन्द्रियजात्याद्युत्कृष्टस्थितिविंशतिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणतः संख्येयगुणहीन एवेति नरकगत्यादिप्रकृतिचतुष्टयं विहाय शेषनरकप्रायोग्याणां पञ्चेन्द्रियजात्यादीनां चतुर्विंशतेः संख्येयगुणहीनोत्कृष्टोऽसौ भणितः । नरकगत्यादीनां चतसृणां द्विविध इति तु सुगमः । इत्थमेवोत्तरत्राऽपि प्रस्तुतमार्गणाद्वये नारकदेवानामबन्धप्रायोग्यप्रकृतेः प्रधानत्वे नारकदेवबन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां संख्येयगुणोनोत्कृष्टस्थितिबन्धोऽभ्यूह्य इति ॥८६६॥

अथ देवगति-देवानुपूर्वीलक्षणप्रकृतिद्वयप्राधान्येन प्रस्तुतसंनिकर्षमाह—

.... । एगस्स सुरदुगा गुरुबधी इयरस्स णियमाओ ॥
गुरुमगुरु व थिराइतिजुगलाण सिआ य सखगुणहीणं । बधइ णियमाऽण्णेसिं तेवीसाअ सुरजोग्गाणं ॥
॥ ८६७–८६८ ॥

(प्रे०) "एगस्से" त्यादि, अनन्तरगाथाद्वय्या गतार्था, केवलं तत्र केवलानामस्थिराऽशुभाऽयशःकीर्तिनामप्रतिपक्षाणामेव बन्धप्रायोग्यतया तासामपि ध्रुवबन्ध्यादिवन्नियतबन्धो भणितः, इह तु देवप्रायोग्यतया अस्थिरादीनामिव स्थिरादीनामपि बन्धप्रायोग्यतया तासां षण्णामपि स्याद्बन्धः कथितः, तथा "संखगुणहीणं" इति देहलीदीपकन्यायेनोभयत्र सम्बन्धनीयमिति ॥८६७-८६८॥

अथ द्वीन्द्रियजातिनामाधिकृत्याह प्रस्तुतसंनिकर्षम्—

बिंदियगुरुवधी तिरिउरालदुग-धुव-छिवट्ठ-हुडाणं । तस-बायर-पत्तेअग-दुहगा-ऽणादेयणामाणं ॥
णियमा संखगुणूण परघा-ऊसास कुखगइ-सराणं । पज्जत्तु-ज्जोआणं थिराइजुगलाण तिण्ह सिआ ॥
जेट्ठमजेट्ठ व ठिइ बधेइ सिआ अपज्जणामस्स । .... ॥ ८६९ ८७० ॥

(प्रे०) 'बिंदिये" त्यादि, इयमपि सार्धगाथाद्वयी अनन्तरोक्तनीत्यैवाऽभ्यूह्या, केवलं द्वीन्द्रियनाम्नः प्रधानत्वेन तद् बध्नतो द्वीन्द्रियप्रायोग्यप्रकृतीनामेव बन्धः, तत्र चाऽपर्याप्तनामवर्जानां सर्वासां तिर्यग्द्विकादीनां पराघातनामादीनां च नारकदेवानामपि यथासम्भवं बन्धप्रायोग्यतया तदीयस्थितेः संख्येयगुणोनता भणिता, अपर्याप्तनाम्नस्तु अतथात्वेन द्वीन्द्रियजात्या तुल्योत्कृष्टस्थितिकतया द्विविधः स्थितिबन्धो दर्शितः, अत एव "संखगुणूण" इत्येतत्पदं काकाक्षिगोलकन्यायेन योज्यम् । नियमबन्धादिकं तु सुगमम्, द्वीन्द्रियपर्याप्तप्रायोग्यमपर्याप्तप्रायोग्यं वा बध्नतस्तिर्यग्द्विकादीनां विंशतेरवश्यं बन्धभावात्, स्थिरादियुगलत्रयस्य परावर्तमानबन्धवत्त्वेन स्याद्बन्धः पराघातादीनां शेषाणां तु पर्याप्तद्वीन्द्रियप्रायोग्यं बध्नत एव बन्धभावेना-ऽपर्याप्तद्वीन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतस्तु तद्बन्धाभावेन च स्याद्बन्धादीति । इत्थमेवोत्तरत्राऽप्युपपादनीयः संनिकर्षोऽयं यथासम्भवमिति ॥८६९-८७०॥

तदेवं प्रतिपादितो मनःपर्यवज्ञानमार्गणायां तत्तुल्यवक्तव्यत्वात्संयमौघादिमार्गणासु च प्रस्तुतः संनिकर्षः । साम्प्रतं संयममार्गणानामवसरः, परं तत्र संयमौघादिषु पञ्चमार्गणास्वनुपदमभिहितः, सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायां तु एकस्या एव यशःकीर्तिनामलक्षणाया बन्धभावेनाऽसम्भवादपगतवेदमार्गणया समं प्रतिषिद्धः, असंयममार्गणायां तु पञ्चेन्द्रियौघादिमार्गणाभिः समं "ओघव्व' इत्यादिना प्ररूपितः । तथा च गता संयममार्गणाविषयकवक्तव्यता । तदनु दर्शनमार्गणावसरः, नवरं चक्षुरचक्षुर्दर्शनमार्गणयोः पूर्वं पञ्चेन्द्रियौघादिमार्गणाभिः सममेव "ओघव्व" इत्यादिनाऽभिहितत्वाद् अवधिदर्शनमार्गणायामप्यनुपदं मतिज्ञानादिमार्गणाभिः समं प्रतिपादितत्वाच्च क्रमप्राप्तलेश्यामार्गणासु प्रतिपिपादयिषुः कृष्णलेश्यामार्गणायामाह—

ओघव्व सण्णियासो सप्पाउग्गाण होइ किण्हाए । सव्वेसिं णामाणं बिंति परे होइ णपुमव्व ।। ८६५ ।।

(प्रे०) 'ओघव्वे' त्यादि, अक्षरार्थः सुगमः, **भावार्थस्त्वयम्**—ओघवत्कृष्णलेश्यामार्गणायामपि तत्तत्प्रकृत्युत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनामवैशिष्ट्यमेव, तथा च संनिकर्षोऽप्यविशिष्ट एव । यत्तु मतान्तरेण नपुंसकवेदमार्गणावत्कथितः स तु 'मिच्छो अइसकिट्ठो थिरलेसो नील काउसु' इत्यादौ मूलस्थितिबन्धोत्कृष्टस्थितिबन्धप्रस्तावे 'थिरलेसो' इत्यनेन संगृहीतमतविशेषेणाऽवगन्तव्यः । कथं नपुंसकवेदवद् ? इति चेत् , तन्मतेऽपर्याप्तावस्थानामेव देवानामऽशुभलेश्याया अभिमतत्वेनाऽपर्याप्तावस्थदेवानां प्रस्तुतमार्गणासम्भव्युत्कृष्टस्थितिबन्धाभावेन च नपुंसकवेदमार्गणावद्देववर्जत्रिगतिकानामेव बन्धप्रायोग्यसर्वनामप्रकृत्युत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वलाभात् , स्वामिनां तुल्यत्वे तु प्रायः सर्वविधप्ररूपणायास्तुल्यत्वम् , किम्पुनः संनिकर्षप्ररूपणाया इति । एवमेवोत्तरत्रापि वैकल्पिकाऽभिधाने तदनन्तरोक्तनीत्या मतविशेषेणाऽभ्यूह्यमिति ।।८६५।।

अथ नील-कापोतलेश्यामार्गणाद्वयेऽष्टादशगाथाभिः प्रस्तुतसंनिकर्षं प्रतिपिपादयिषुः प्रथमतस्तावन्नरकद्विक वैक्रियद्विकलक्षणप्रकृतिचतुष्टयप्रधानं तं प्रतिपादयन्नाह सार्धाऽऽर्याम्—

गुरुबंधी णिरय-विउवदुगाउ एगस्स णील-काऊसु । णियमाऽण्णेसिं तिण्ह जेट्ठमजेट्ठं व बंधेइ ।। ८६६ ।।
सेसणिरयजोग्गाण णियमा बंधेइ सखगुणहीणं । .... ।।

(प्रे०) 'गुरुबंधी' इत्यादि, अक्षरार्थः सुगमः । **भावार्थःपुनरयम्**—नरकद्विक-वैक्रियद्विकयोरुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनः प्रस्तुतमार्गणाद्वये मनुष्यतिर्यञ्च एव, तेषां च कृष्णवर्जान्यलेश्यासत्त्वेऽन्त.कोटीकोटीसागरोपमस्थितितोऽधिकस्थितिबन्धप्रायोग्याध्यवसाया नैव सन्ति । कुतः ? तेषां परावर्तमानलेश्याकत्वेनाऽन्तःकोटीकोटीसागरोपमतोऽधिकसंक्लेशसद्भावे नीलादिलेश्यानां क्रमेण कृष्णलेश्यातया परिणतेः। देवनारकाणां तु स्थिरलेश्यत्वेनाऽन्तःकोटीकोटीसागरोपमस्थिततस्त्रिंशत्कोटीकोट्यादिसागरोपमप्रमितोत्कृष्टस्थितिं यावत्तत् स्थितिप्रायोग्यस्याऽध्यवसायस्य सद्भावेऽपि या स्वीया स्वीया कृष्णनीलादिलेश्या सैव तिष्ठति, विहाय शुक्ललेश्याम् , शुक्ललेश्यासत्त्वे देवानामपि

तदेवमभिहितं निद्रादिशेषप्रकृतीनामपि सविशेषचतुर्दशजीवभेदेषु प्रस्तुतं जघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धाल्पबहुत्वम्, तस्मिंश्चाभिहिते समाप्तं सविशेषचतुर्दशजीवभेदेषु सर्वोत्तरप्रकृतिजघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धाल्पबहुत्वम्। तत्समाप्तौ च समाप्तं'ठिइट्ठाणाणि'इत्यनेनोद्दिष्टं प्रथमं द्वारमिति ।४६–५०।

॥ इति प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते बन्धविधाने
उत्तरप्रकृतिस्थितिबन्धे प्रथमेऽधिकारे
प्रथमं स्थितिबन्धस्थानद्वारम् ॥

●

अथ द्वितीयं निषेकद्वारम्

अथ क्रमप्राप्ते निषेकद्वारे कर्मदलनिषेकप्ररूपणा कर्तव्या, सा चानन्तरोपनिधा-परम्परोपनिधाभ्यां द्विधा क्रियते, तत्रादावनन्तरोपनिधयाऽऽह—

चउदसविहजीवेसुं सगबाहं मोत्तु माइमे समये।
सव्वपयडीण बहुगं दलं कमित्तो विसेसूणं ॥ ५१ ॥

(प्रे०) "**चउदसविहजीवेसु**" इत्यादि, पर्याप्ता-ऽपर्याप्त-सूक्ष्मबादरैकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिया-ऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रिय-संज्ञिपञ्चेन्द्रियलक्षणेषु चतुर्दशविधेषु '**जीवेषु**' जीवस्थानेषु '**सव्वपयडीण**'त्ति मतिज्ञानावरणादीनां तत्तज्जीवभेदे बन्धप्रायोग्याणां सर्वासामुत्तरप्रकृतीनां "**सगबाहं**" त्ति अत्रैव द्वितीयाऽधिकारे स्थितिबन्धप्रमाणद्वारप्रारम्भे "आउगवज्जाणुदही कोडाकोडीउ जत्तिआऽबाहा। तावइआ व सयसमा" इत्यादिगाथाद्वयवक्ष्यमाणनियमलभ्यां स्वकीयां स्वकीयामबाधां स्वतो दलवेदनायोग्यकालरूपां'**मुक्त्वा**'त्यक्त्वा'**आदिमे**' अबाधाकालानन्तरवर्तिनि प्रथमे समये"**बहुगं दलं**' त्ति निषिक्तं '**दलं**'-दलिकाग्रं, कर्मपुद्गलद्रव्यनिचय इति यावत्। 'बहुकम्'-अधिकं, द्वितीयादिसमयेषु प्रत्येकं निषिक्तदलिकाग्रापेक्षया इति गम्यते, भवतीति शेषः। द्वितीयादिसमयेषु निषिक्तं दलिकाग्रं तर्हि प्रथमादिसमयापेक्षया कियद्भवतीत्याह—"**कमित्तो विसेसूणं**"'त्ति क्रमाद् 'इतः' प्रथमसमयादूर्ध्वं द्वितीयादिसमयेषु प्रत्येकं यथोत्तरं 'विशेषोनं' विशेषहीनं दलिकाग्रं भवतीत्यर्थ, एवं हि तावद् द्रष्टव्यं यावत्तत्तत्प्रकृतीनां वक्ष्यमाणा उत्कृष्टा स्थितिः। अत्र विस्तरभावना तु **मूलप्रकृतिस्थितिबन्धविधानप्रथमाधिकारनिषेकद्वारप्रेमप्रभा**दर्शितविवरणानुसारेणैव द्रष्टव्या, ज्ञानावरणादितत्तन्मूलप्रकृतेर्निषेकरचनाया अपि कस्याश्चित्तत्तन्मूलप्रकृतिव्याप्योत्कृष्टतमस्थितिकोत्तरप्रकृतेरधीनत्वेन उभयत्र निषेकरचनायास्तुल्यत्वादिति ॥५१॥

अथ परम्परोपनिधया प्रस्तुतां निषेकप्ररूपणां चिकीर्षुराह—

अथ त्रीन्द्रियजातिनाम-चतुरिन्द्रियजातिनामलक्षणप्रकृतिद्वयप्रधानं संनिकर्षमतिदिशति—

तेइंदिय-चउइंदियणामाणेमेव विण्णेयो ॥ ८७१॥

(प्रे०) "तेइंदिये" त्यादि, गतार्थमार्याधम्, केवलम् 'एमेव' त्ति द्वीन्द्रियजातिप्रधानसंनिकर्षवदेवेत्यर्थ इति ॥८७१॥

अथ सूक्ष्मसाधारणनामप्राधान्येनाह प्रस्तुतस्वस्थानोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षम्—

सुहुमस्स जेट्ठबंधी तिरिदुग-धुव-उरल हुंड-अजसाणं। दुहगा-ऽणादेयाणं णियमा संखेज्जगुणहीणं ॥
परघा-ऊसासाणं तह पज्जत्त-दुथिराइजुगलाणं। तह पत्तेअस्स सिआ बंधइ संखेज्जगुणहीणं ॥
णियमा सखगुणूण एगिंदिय-थावराण उ दुहाऽण्णे । साहार-अपज्जाण सिआऽत्थि साहारणस्सेवं ॥
॥ ८७२-८७४ ॥

(प्रे०) "सुहुमस्स" इत्यादि, इयमपि गाथात्रयी नील-कापोतलेश्याकतिर्यग्मनुष्याणामुत्कृष्टतोऽप्यन्तःकोटीकोटीसागरोपमस्थितेरेव बन्धभावान्नारकदेवानां तथाविधानामोघोत्कृष्टस्थितेरपि बन्धस्य भावादित्याद्युक्तनीत्या उपपाद्या, केवलं "दुहाऽण्णे" इत्यनेन तु यथोक्तमूलस्थितिबन्धोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वप्रस्तावे 'थिरलेसो' (मू०ठि०गा०१०१)इत्यनेन संगृहीतमतविशेषेणैकेन्द्रियस्थावरनाम्नोर्दर्शितो द्विविधः स्थितिबन्धस्तन्मते तिर्यग्मनुष्याणामेव प्रस्तुतमार्गणाद्वये एकेन्द्रियस्थावरनामोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वेन सूक्ष्मनामोत्कृष्टस्थित्या तुल्यस्थितेर्बन्धभावादुत्कृष्टोऽनुत्कृष्टश्चेति विज्ञेयम्। साधारणाऽपर्याप्तनाम्नोर्द्विविधस्थितिबन्धो भवति। अक्षरार्थस्तु सुगमः। 'अत्थि साहारणस्सेवं' इति तृतीयगाथाप्रान्तेन साधारणनामप्रधानसंनिकर्षोऽतिदेशेनेत्यादिकं स्वयमेव द्रष्टव्यमिति ॥८७२-८७४॥

अथाऽपर्याप्तनामप्राधान्येनाह प्रस्तुतसंनिकर्षम्—

बंधइ अपज्जगुरुठिइबंधी तिरिणरदुग-रलुवगाणं। छेवट्ठ-पणिंदिय-तस-बायर-पत्तेअगाण सिआ ॥
सखगुणूण णियमा धुव-रल-हुंडग पणाथिराईण। बंधइ विगलतिग-सुहुम-साहाराणं सिआ दुविह ॥
सखेज्जदिगुणहीण बंधइ एगक्ख-थावराण सिआ। अण्ण उ भणन्ति ठिइ जेट्ठमजेट्ठ व बंधेइ ॥
॥ ८७५-८७७ ॥

(प्रे०) "बंधइ अपज्जे" त्यादि, इयमपि गाथात्रयी अनन्तरोक्तनीत्यैव भावनीया, "अण्णे उ भणन्ति ठिइ जेट्ठमजेट्ठं व बंधेइ" इत्यनेन भणितमेकेन्द्रिय स्थावरनाम्नोर्द्विविधस्थितिबन्धविषयकं मतान्तरमपि तत्र दर्शितरीत्यैवाभ्यूह्यमविशेषेण। अक्षरार्थस्तु सुगमः, केवलं "संखगुणूणं" इत्येवं द्वितीयगाथाद्यपदं देहलीदीपकन्यायेनोभयत्र योज्यमिति ॥८७५-८७७॥

अथ जिननामप्राधान्येन प्राह—

तित्थस्स जेट्ठबंधी णीलाअ थिराइतिजुगलाण सिआ। संखगुणूण बंधइ णियमा सेससुरजोग्गाणं ॥ ८७८ ॥

(प्रे०) "तित्थस्से" त्यादि, प्रस्तुतनीलकापोतलेश्ययोर्मध्ये नीललेश्यामार्गणायां जिननाम्न उत्कृष्टस्थितेर्बन्धको नीललेश्यायां सम्भवद्बन्धानां देवगतिप्रायोग्याणां देवगत्यादीनामेकत्रिंशत्प्र-

कृतीनां मध्यात् स्थिरा-ऽस्थिर-शुभा-ऽशुभ-यशःकीर्त्य-ऽयशःकीर्तिनामलक्षणानां स्थिरादीनां त्रयाणां युगलानां स्यात् संख्येयगुणोनां च स्थितिं बध्नाति, शेषाणां देवगत्यादीनां देवगतिप्रायोग्याणां तु नियमतः संख्येयगुणोनोत्कृष्टां स्थितिं बध्नाति। उपपत्तिस्तु सुगमा, तीर्थंकरनामवर्जानां सर्वासामिह बन्धप्रायोग्याणामुत्कृष्टस्थितेर्मिथ्यादृष्टिस्वामिकत्वात्, मिथ्यादृष्टिस्वामिकोत्कृष्टस्थित्यपेक्षया सम्यग्दृष्टिस्वामिकायास्तस्याः संख्येयगुणहीनत्वाच्च। जिननाम्नो बन्धकस्य देवगत्यादीनां देवगतिप्रायोग्याणामेव ग्रहणं तु मनुष्याणामेवेह जिननामोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वेन देवप्रायोग्यप्रकृतीनामेव बन्धभावात्, शेषाणां त्वबन्धादिति। ननु कापोतलेश्यायामपि जिननामप्रधानः प्रस्तुतसंनिकर्षः कथं नीललेश्यावन्न भणितः? इति चेत्, स्वामित्वस्य विलक्षणत्वात्। एतदुक्तं भवति–कापोतलेश्यायां जिननाम्न उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनो नीललेश्यामार्गणावन्न मनुष्याः, किन्तु नारकाः। कुतः? नीललेश्याकनारकाणां जिननाम्नो बन्धाभावेऽपि कापोतलेश्याकनारकाणां तद्बन्धसंभवात्, तेषां चावस्थितलेश्यत्वेन कापोतलेश्याकजिननामबन्धकमनुष्यापेक्षयाऽधिकतरसंक्लेशस्य सम्भवात्, तत्सम्भवे तेषामेव जिननाम्न उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वाच्च। स्वस्थानोत्कृष्टसंक्लेशस्य यथोक्तनारकमनुष्ययोस्तुल्यत्वेऽपि नारकस्यावस्थितलेश्यत्वेन कापोतलेश्याया एवाऽवस्थानात् मनुष्यस्य तु परावर्तमानलेश्यत्वेन कृष्णलेश्याया एव प्रवर्तनादिति भावः। अत एव शुभलेश्यात्रयेऽपि जिननामोत्कृष्टस्थितिबन्धकतया मनुष्यं विहाय तत्तल्लेश्याकदेवजीवापेक्षया प्रस्तुतसंनिकर्ष उपपादनीयः। न च ततः प्रस्तुते किमायातम्? इति वाच्यम्, ततः कापोतलेश्यायां जिननामप्रधानसंनिकर्षस्य नीललेश्यापेक्षया विलक्षणत्वेनाऽनुपदमुक्तशेषप्रकृतिवद् वक्ष्यमाणत्वान्नेह भणित इति ॥८७८॥

अथ प्रस्तुतमार्गणाद्वये उक्तशेषप्रकृतिप्रधानसंनिकर्षं समतान्तरं दिदर्शयिषुरार्यापञ्चकमाह–

दोसु वि सेसाण भवे सुरव्व णिरयव्व बिंति केइ पर। एगस्स जेट्ठबधी एगिंदिय-थावराहितो ॥
णियमा इयरस्स गुरु अगुरु व सुहुमतिगा-यवाण सिआ। तिरिदुग-धुवु-रल-हु डग-दुहगा-ऽणादेयणामाणं ॥
णियमा सखगुणूण परघा ऊसास-बायरतिगाण। तह उज्जोअ-थिराइतिजुगलाण ठिइ सिआ कुणए ॥
आयवगुरुठिइबधी परघा-ऊसास-बायरतिगाणं। तिरिदुग-धुवु-रल-हु डग-दुहगा-ऽणादेयणामाणं ॥
णियमा सखगुणूणं बधेइ थिराइतिजुगलाण सिआ। णियमा गुरुमगुरु वा एगिंदिय-थावराण ठिइं ॥
॥ ८७९-८८३ ॥

(प्रे०)"**दोसु वि सेसाणे**"त्यादि, सुगमम्। **भावार्थस्त्वयम्**-इह मार्गणाद्वये विहाय वैक्रियषट्क-विकलत्रिक-सूक्ष्मत्रिका-ऽऽहारकद्विकानि नीललेश्यायामधिकतो जिननाम च शेषाः प्रकृतयो बन्धप्रायोग्याः स्थिरलेश्याकानाम्, ताश्च तिर्यग्गत्याद्या एकत्र नीललेश्यायां द्विपञ्चाशत्, अन्यत्र तु ता जिननामसहिता इति त्रिपञ्चाशत्। "**सुरव्व**" इति तु मार्गणाद्वयेऽपि पारभविकसर्वनिकृष्टोत्पत्तिस्थानस्यैकेन्द्रियत्वपञ्चेन्द्रियत्वलक्षणद्विविधत्वेनैकेन्द्रियपञ्चेन्द्रिय त्रस-स्थावरा–ऽऽतपनामप्रधान-

संनिकर्षस्य देवगत्योघतुल्यत्वेन शेषसर्वप्रकृतिप्रधानसंनिकर्षस्य देवौघतुल्यत्वात् । ये पुनरपर्याप्तावस्थदेवानामेवाऽशुभलेश्यामङ्गीकुर्वन्तः पञ्चेन्द्रियत्वमेव पारभविकसर्वनिकृष्टस्थानतया प्रतिपद्यन्ते तेषां तु शेषप्रकृतिप्रधानसंनिकर्षो नरकौघवद् वक्तुं युज्यते विहायैकेन्द्रियादिप्रकृतित्रयप्रधानसंनिकर्षम्, तथाच पूर्वमते "सुरव्व" इत्यभिधायापि मतान्तरेण "णिरयव्व त्ति केइ परं" इत्यादिना सापवादं नरकगत्योघवदतिदिष्टः शेषप्रकृतिप्रधानसंनिकर्षः, तत्र "एगस्स जेट्ठबंधी" इत्येतत्प्रभृतेस्तृतीयगाथाप्रान्तं यावता एकेन्द्रियस्थावरनामप्रधानः शेषगाथाद्वयेन तु आतपनामप्रधानश्चासौ प्रतिपादितः, तत्र च मतान्तराभिमतं मनुष्यतिरश्चां तत्प्रकृतित्रयस्वामित्वमाश्रित्य विभावनीयं प्रागिवेति । **ननु** भवतु परमते नारकवत्, परं स्वमते देवौघवदिति तु कथं स्यात्; प्रस्तुतमार्गणाद्वये जिननामौदारिकाङ्गोपाङ्गादिकतिपयप्रकृतीनामप्युत्कृष्टस्थितेः नारकस्वामिकत्वात् ? **इति चेत्, सत्यम्**, तदुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनां विशेषेऽपि संनिकर्षवक्तव्यतया अविशेषादिति ॥८७९-८८३॥

अथ क्रमप्राप्तशुभलेश्यामार्गणात्रये प्रस्तुतनामोत्तरप्रकृत्युत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षमभिदधदाह गाथाद्वयम्—

एगस्स जेट्ठबंधी सुरविउवदुगाउ तिसुहलेसासुं । गुरुमगुरु वा णियमा अण्णाण थिराइतिजुगलाण सिआ ॥
संखगुणूणं णियमाऽण्णदेवजोग्गाण होइ ओघव्व । आहारदुगस्स भवेऽज्ज तइअ-आणयसुरव्व सेसाण ॥
(गीतिद्वयम्) ॥ ८८४-८८५ ॥

(प्रे०) "**एगस्स**" इत्यादि, अक्षरार्थः सुगमः, केवलम्–"**संखगुणूणं**" इत्येतद्देहलीदीपकन्यायेन संबन्धनीयम्, तेन देवप्रायोग्यान्यप्रकृतीनां संख्येयगुणहीनोत्कृष्टस्थितेर्नियमाद्बन्धको भवति, तथा '**अज्ज-तइअ**' इत्यादीना क्रमेणान्वयस्तथा च '**सेसाणं**' इत्यनेन संगृहीतमनुष्यगत्यादिप्रकृतिप्रधानः संनिकर्षस्तेजोलेश्यायां प्राग्वत्सौधर्मकल्पमार्गणावत् पद्मलेश्यायां तृतीयसनत्कुमारकल्पमार्गणावत्तथा शुक्ललेश्यायामानतकल्पमार्गणावज्ज्ञेयः । **शेषप्रकृतयः पुनः**–तेजोलेश्यायां ध्रुवबन्धिनीनवक-तिर्यग्द्विक-मनुष्यद्विकौदारिकद्विकै-केन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियजाति संहननषट्क-संस्थानषट्क खगतिद्विक जिन-पराघातो-च्छ्वासा-ऽऽतपो-द्योत त्रसदशक-स्थावरा-ऽस्थिरषट्कलक्षणास्त्रिपञ्चाशत् । पद्मलेश्यायां तु एतास्त्रिपञ्चाशदेकेन्द्रिय-स्थावरा-ऽऽतपनामवर्जा इति पञ्चाशत्, शुक्ललेश्यायां तु ताः पञ्चाशत् तिर्यग्द्विकोद्योतवर्जा इति सप्तचत्वारिंशत् । उपपत्तिस्तु सुगमा, मार्गणात्रयेऽपि शेषप्रत्येकप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितेस्तत्तत्सौधर्मसनत्कुमारादिदेवस्वामिकत्वादिति ॥८८४-८८५॥

तदेवं गतो लेश्यामार्गणासु प्रस्तुतसंनिकर्षः, तदनु भव्याभव्यमार्गणयोरसौ वक्तव्यः, परं तयोर्लाघवात्प्राग् "ओघव्व" इत्यादिना पर्याप्तपञ्चेन्द्रियादिमार्गणाभिः समं सर्वथौघवत्कथितत्वात् क्रमप्राप्तसम्यक्त्वमार्गणास्थानान्तर्गतायामौपशमिकसम्यक्त्वमार्गणाया गाथाद्वयेन प्राह—

णरुरलआहारगदुग-वइराणोहिव्व उवसमे णेयो । सेसाण वि णवरि जिणवधी सव्वाण सखगुणहीणं ॥
थिर सुह-जसबधो उण बंधइ तित्थस्स सखभागूण । सेसाण जेट्ठठिइं बंधतो बधइ ण तित्थ ॥
(प्रथमा गीतिः). ८८६ ८८७ ॥

(प्रे०) 'णरुरल'' इत्यादि, तत्र ''णरुरले''त्याद्यगाथापूर्वार्धं सुगमम् । ''सेसाण वि'' इत्यादिसार्धगाथायास्त्वयं भावः–आद्यगाथापूर्वार्धोक्तमनुष्यद्विकादिसप्तप्रकृतीर्विहाय जिन स्थिर-शुभ यशःकीर्तिप्रकृतिचतुष्टयं च विहायोपशमसम्यक्त्वमार्गणायां बन्धप्रायोग्यशेषदेवगत्याद्यष्टा-विंशतिप्रकृतिप्रधानसंनिकर्षोऽपि ''एगस्स तिणाणा ऽवहि-सम्मत्तग-वेअगेसु तु॥८५२॥'' इत्यादिगाथा-भिरभिहितमतिज्ञानादिमार्गणावदेव ज्ञेयः, केवलमिह देवगत्याद्यष्टाविंशत्यन्यतमोत्कृष्टस्थितिं बध्नतो जिननामबन्धः प्रतिषेध्यः । कुतः ? प्रस्तुतमार्गणागतजिननामसत्ताकद्वितीयोपशमसम्य-क्त्वभाजामेव जिननामबन्धकत्वात् तेषां च मिथ्यात्वाभिमुखत्वाभावेन तत्तुल्योत्कृष्टस्थितिबन्धा-भावादिति । ॥८८६-८८७॥

अथ क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां विभणिषुः सार्धगाथासप्तकमाह—

[1]णरुरलदुग-वइराओ खइए एगस्स जेट्ठठिइबधी । बधइ गुरुमगुरु वा ठिइ सिआ तित्थणामस्स ॥
[2]णियमा गुरुमगुरुं वा थिरसुहजसवज्जमणुयजोग्गाण । सेसाण गुरुबधी सुर-विउवदुगाउ एगस्स ॥
[3]तित्थस्स सिआ बधइ गुरुमगुरुं व णियमाउ सेसाणं । थिर-सुह-जस-आहारगदुगवज्जाण सुरजोग्गाणं ॥
[4]एगस्स पणिदिय-धुव परघा-ऊसास-तसचउक्काओ। सुहआगिइ-खगइ-सुहगतिगा-ऽथिरदुगा-ऽजसाउ गुरुबधी
[5]णियमा अण्णाण ठिइं जेट्ठमजेट्ठ व बधए उ सिआ । णरसुरउरलविउवदुग-जिण वइराणं जिणस्सेव ॥
[6]थिरगुरुबधी णियमा पणिदिय धुव-पढमागिईण तहा । परघा-ऊसास-सुहगतिग-तसचउग-सुहखगईणं ॥
[7]सखसूण णरसुरविउवुरलदुग-जिण-वइर-असुहाण । अजसस्स सिआ बधइ गुरुमगुरु वा सुह जसाणं ॥
[8]एमेव सुह-जसाण आहारदुगस्स होइ ओघव्व । .. ..॥ ८८८-८९४ ॥ (चतुर्थी गीतिः)

(प्रे०) ''णरुरलदुगे'' त्यादि, तत्र द्वितीयगाथोत्तरार्धस्थं 'सेसाण' मित्येतदन्तेन मनुष्य-द्विको दारिकद्विक-वज्रर्षभनाराचसंहननलक्षणप्रकृतिपञ्चकप्रधानः संनिकर्षो भणितः, तदनु 'गुरुबंधी सुरविउवदुगाउ' इत्यादेरारभ्य तृतीयगाथाप्रान्तं यावता देवद्विकवैक्रियद्विकलक्षणप्रकृति-चतुष्टयप्रधानोऽसौ दर्शितः, चतुर्थपञ्चमगाथाद्वयेन पञ्चेन्द्रियजातिनामादिपञ्चविंशतिप्रकृती-नामसौ कथितस्तत्रापि जिननाम्नस्तु ''जिणस्सेव'' इत्यनेन पञ्चमगाथाऽन्तस्थेनाऽतिदिष्ट एव । षष्ठ-सप्तमगाथाद्वयेन तु स्थिरनामप्रधानं तमभिधायाऽष्टमगाथास्थेन ''एमेव सुहजसाणं'' इत्य-नेन शुभनाम-यशःकीर्तिनामप्रधानोऽसावतिदिष्ट एव; ततश्चाऽष्टमायाः पूर्वार्धशेषेणाऽऽहारकद्विक-प्रधानोऽसौ ओघवदतिदिष्ट इति । अक्षरार्थस्तु सुगमः; भावार्थोऽपि तथा, केवलं द्वितीयगाथायां ''थिरजससुहवज्ज'' इत्यादौ स्थिरादीनां वर्जनं प्रागिव प्रस्तुतमार्गणायामस्थिरादीनामपि बन्ध-प्रायोग्यत्वेन मनुष्यद्विकाद्युत्कृष्टस्थितिं बध्नतः स्वप्रायोग्यसर्वसंक्लिष्टतया तासामेव बन्धभावे स्थि-रादिबन्धस्य स्थगितत्वात् । एवमेव देवद्विकप्रधानसंनिकर्षे 'थिरसुहजसआहारगदुगे'त्यादौ

स्थिरादीनां वर्जनं बोध्यम् । आहारकद्विकवर्जनं तु सुगमम् , देवद्विकाद्युत्कृष्टस्थितिबन्धस्याऽविरत-सम्यग्दृष्टिस्वामिकत्वादिति ॥८८८-८९४॥ अथ सम्यग्मिथ्यात्वमार्गणायां प्रस्तुतसंनिकर्षस्य मति-ज्ञानादिमार्गणातुल्यत्वेनाऽतिदिशति--

...... । मीसे ओहिव्व भवे सप्पाउग्गाण सव्वेसिं ॥ ८९५ ॥

(प्रे०) "मीसे" इत्यादि, सुगमम् , केवलम्-"मइणाणव्व" इत्यनभिधाय "ओहिव्व" इत्यभिधानं छन्दोनुलोम्यादिति ध्येयम् ।।८९५।। अथ सासादनमार्गणायां प्रस्तुतं स्वस्थानोत्कृष्ट-स्थितिबन्धसंनिकर्षं पञ्चदशश्लोकैर्निजिगदिषुरादौ तावत्तिर्यग्गत्याद्येकोनत्रिंशत्प्रकृतिप्राधान्येनाह—

एगस्स सासणे गुरुबंधी तिरिदुग-पणिंदिय-धुवाओ । पचमसंघयणागिइ परघा ऊसासु-रालियदुगाओ ॥
कुखगइ-तसचउग-अथिरछक्काओऽण्णाण बंधए णियमा । जेट्ठमजेट्ठं व ठिइं उज्जोअस्सेवमेव य से ॥
(प्रथमा गीतिः) ॥ ८९६-८९७ ॥

(प्रे०) "एगस्स सासणे" इत्यादि, सासादनमार्गणायां तिर्यग्द्विक पञ्चेन्द्रियजाति-ध्रुव-बन्धिनीनवक-पञ्चमसंहनन-पञ्चमसंस्थानपराघातो-च्छ्वासौ-दारिकद्विक कुखगति त्रसचतुष्का-ऽस्थिर-षट्कलक्षणानामेकोनत्रिंशतः प्रकृतीनां मध्यादेकस्या उत्कृष्टस्थितेर्बन्धकः शेषाणामष्टाविंशतेर्नियमतो बन्धको भवति, स्थितिं तु तासामष्टाविंशतेरुत्कृष्टामनुत्कृष्टां वोत्कृष्टापेक्षया पल्योपमासंख्येयभागे-नोनां बध्नाति, उद्योतनाम्नस्त्वसौ स्याद्बन्धको भवति न पुनर्नियमतः, स्थितिं तु 'जेट्ठमजट्ठं व' इत्यस्येहापि सम्बन्धादनन्तरोक्तवद् द्विविधामुत्कृष्टादिकां बध्नाति, उक्तेतरा मनुष्यगत्यादीः प्रकृतीः प्रस्तुतमार्गणायां बन्धप्रायोग्या अपि नैव बध्नाति । "एवमेव य से" त्ति प्रत्यासत्त्या 'से' इत्यनेनोद्योतनाम गम्यते, तथा चोद्योतनामप्रधानः संनिकर्षः 'एवमेव' त्ति अनन्तराभिहित-तिर्यग्गत्याद्यन्यतमप्रकृतिप्रधानसंनिकर्षवज्ज्ञेयः, उद्योतनाम्न उत्कृष्टस्थितिं बध्नन् तिर्यग्द्विकादीना-मेकोनत्रिंशतो नियमत उत्कृष्टादिद्विविधस्थितेश्च बन्धको भवतीत्येवं वक्तव्यमिति भावः । उपपत्ति-स्तु सुगमा, पूर्ववृत्त्या गतार्था एवेति ॥८९६-८९७॥

अथ सासादने एव मनुष्यद्विक-लक्षणप्रकृतिद्वयप्रधानं प्रस्तुतसंनिकर्षमाह—

एगस्स णरदुगा गुरुबंधी इयरस्स जेट्ठमियर वा । णियमा संखसूणं दुसंघयणआगिईण ठिआ ॥
णियमा संखसूण पणिंदि-धुव उरलदुग कुखगईण । परघा-ऊसासाण तह तसचउगाऽथिरछगाण ॥
॥ ८९८-८९९ ॥

(प्रे०) "एगस्स णरदुगा" इत्यादि, सुगमे, परम् 'दुसंघयणआगिईण' इत्यनेन चतुर्थ-पञ्चमसंहननसंस्थानलक्षणाश्चतस्रः प्रकृतयः संगृहीता बोद्धव्याः, कथं ज्ञायते इति चेद् , पूर्वोक्तनी-त्यैव । तथाहि–षण्णां संहननानां संस्थानानां च मध्ये चरमसंहननसंस्थाने इह सासादनमार्ग-णायां बन्धप्रायोग्ये एव न स्तः, शेषपञ्चकद्वयमध्यात् प्रथमादीनि त्रीणि त्रीणि प्रधानीकृतमनुष्य-द्विकोद्योतोत्कृष्टस्थितितो नास्त्यधिकस्थितिकान्योघतः, मनुष्यगत्योद्योतोत्कृष्टस्थितेः पञ्चदशसागरोपम-

कोटीकोटीप्रमाणत्वात् प्रथमादीनां त्रयाणां संहननानां संस्थानानां च दश-द्वादश-चतुर्दशकोटीकोटि-सागरोपमप्रमाणत्वाच्च; तथाच तानि मनुष्यद्विकोत्कृष्टस्थितिं बध्नद्भिर्नैव बध्यन्ते, एवमवशिष्टानि चतुर्थ-पञ्चमसंहननसंस्थानानि, तानि बन्धप्रायोग्याणि मनुष्यद्विकोत्कृष्टस्थितितोऽन्यूनोत्कृष्टस्थितिकानि चेति तेन तास्वतस्रः प्रकृतयो गृहीता इति ॥८९८-८९९॥

अथ देवद्विक वैक्रियद्विकलक्षणप्रकृतिचतुष्टयप्राधान्येन प्राह प्रस्तुतसंनिकर्षम्—

एगस्स जेट्ठबंधी सुरविउव्वदुगाउ जेट्ठमियर वा । णियमाऽणंतिगस्स तह सुआगिइ खगइ-सुहगतिगाणं ॥
थिर-सुहजसाण दुविह ठिइ सिआ अथिर-असुह-अजसाण । सखसूण णियमा सेसाणं देवजोग्गाणं ॥
॥ ९००-९०१ ॥

(प्रे०) "एगस्स" इत्यादि, सुगमे, केवलं 'संखंसूणं' इति प्रागिवोभयत्र संबध्यते । उपपत्तिस्तु प्रागिव कार्येति ॥९००-९०१॥

अथ प्रस्तुतमार्गणायामेव प्रथमसंहननप्रधानं संनिकर्षमाह—

[1]पंचिंदिदु-रलदुग धुव परघा-ऊसास-तसचउक्काण । वइरगुरुट्ठिइबंधी णियमा सखेज्जभागूण ॥
[2]तिरिणरदुगा ऽऽगिइचउग-कुखगइ उज्जोअ अथिरछक्काण । बंधेइ सिआ दुविह सुखगइ-आगिइ-थिरछगाणं
॥ ९०२-९०३ ॥

(प्रे०) पंचिंदिये" त्यादि, 'सखेज्जभागूण' इति 'सिआ' इति च पदे देहलीदीपकन्यायेन योज्ये; शेषं तु प्राग्वदिति ॥९०२-९०३॥

अथ द्वितीय तृतीय-चतुर्थसंहननसंस्थानरूपषट्प्रकृतिप्राधान्येनाह प्रस्तुतसंनिकर्षमार्याचतुष्टयेन—

सखेज्जभागहीणं संघयणस्स दुइअस्स गुरुबंधी । बंधेइ तिरिणरदुग-तिआगिइ उज्जोअगाण सिआ ॥
णियमा सखसूण पणिंदि धुव-उरलदुग कुखगईण । परघा-ऊसासाण तह तसचउगा-ऽथिरछगाण ॥
दुइआगिईअ जेट्ठमजेट्ठं व सिआ तहेव से एव । संघयणआगिईणं णेयो दोण्ह तइआईणं ॥
णवरि कमा गुरुमगुरु वा तइआईण णेव दुइआई । तिरियदुगस्स तुरिअगुरुबंधी णियमा णरदुगं णो ॥
॥ ९०४-९०७ ॥

(प्रे०) "संखेज्जभागहीणं" इत्यादि, तत्र प्रथमगाथाप्रभृतेस्तृतीयगाथापूर्वार्धस्थं 'सिआ' इत्येतदन्तेन द्वितीयसंहननप्रधानसंनिकर्षो भणितः, तदुत्तरवर्तिना "तहेव से" इत्यनेन द्वितीयसंस्थानप्रधानोऽसावतिदेशेन तथा तदुत्तरेण "एवं" इत्यादिना तृतीयादिसंहननद्वयस्य तृतीयादिसंस्थानद्वयस्य च सापवादातिदेशेन दर्शितः । अक्षरार्थस्तु सुगमः, केवलमपवादगाथायां "कमा गुरुमगुरुं वा तइआईण णेघ दुइआई" त्ति तृतीयसंहननोत्कृष्टस्थितिं बध्नन् तथा चतुर्थसंहननोत्कृष्टस्थितिं बध्नन् क्रमात् तृतीयसंस्थानस्य चतुर्थसंस्थानस्योत्कृष्टामनुत्कृष्टां वा स्थितिं बध्नाति न पुनर्यथाऽतिदेशं संख्येयभागोनाम् , तथा क्रमेण द्वितीयसंहननसंस्थाने तृतीयसंहननसंस्थाने च न बध्नाति । कुतः ? तयोः प्रधानीकृततृतीयादिसंहननसंस्थानापेक्षया न्यूनस्थितिकत्वादोघतः,

एतच्च प्रागौघिकभावनायां भावितं तथा विस्तरतः स्वयमेव भाव्यम् । किमेतावानेव विशेष उतास्ति कश्चिदन्योऽपि ? इत्याह–'तिरियदुगस्से' त्यादि, चतुर्थस्य संहननस्य संस्थानस्य वा उत्कृष्टां स्थितिं बध्नन् 'णरदुगं णो' त्ति मनुष्यद्विकं न बध्नाति, कुतः ? अनन्तरोक्तहेतोरेव । ओघतश्चतुर्थ-संहननसंस्थानोत्कृष्टस्थित्यपेक्षया मनुष्यद्विकोत्कृष्टस्थितेर्ह्रस्वत्वादिति भावः । अत एवाऽसौ तिर्य-ग्द्विकं नियमाद् बध्नातीति । मनुष्यद्विकस्याऽबन्धेन तिर्यग्द्विकस्य प्रतिपक्षप्रकृतिविरहिततया यथोक्त-चतुर्थनियमतृतीयांशप्रसरादिति भाव इति ॥९०४-९०७॥

अथ प्रथमसंस्थानप्रधानं संनिकर्षं साक्षादभिदधत् सुखगतिस्थिरषट्कप्रधानं तमतिदिशंश्च प्रस्तुतसासादनमार्गणायामुत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षविषयां प्रस्तुतवक्तव्यतां समापयत्याऽऽर्यात्रयेण–

पढमागिइगुरुबंधी बंधइ सखेज्जभागहीणं ठिइं । णियमा पणिंदि-धुव-परघा-ऊसास-तसचउगाणं । तिरियणरुरलदुगाणं कुखगइ-उज्जोअ-अथिरछक्काणं । मज्झिमसंघयणाण सिआ ठिइ संखभागूणं सुरविउवदुग-वइर-थिरछक्क-सुखगईण जेट्ठमियर वा । णियमा बंधइ एवं णेयो सुखगइ-थिरछगाणं ॥९०८-९१०॥

(प्रे०) "पढमागिइ" इत्यादि, गाथात्रयी सुगमा गतार्था च, केवलम्–"एवं णेयो" इत्यादिना तृतीयगाथोत्तरार्धगतेन सुखगति-स्थिरषट्कप्रधानः संनिकर्षोऽतिदेशेन तथा शेषसाधिक-गाथाद्वयेन प्रथमसंस्थानप्रधानोऽसौ साक्षाद्भणित इति ॥९०८-९१०॥

अथ सम्यक्त्वौघ-क्षायोपशमिकसम्यक्त्वयोः 'एगस्स तिणाणा-ऽवहि-सम्मत्तग-वेअगेसु उ' ॥८५२॥ इत्यादिना मतिज्ञानादिमार्गणाभिः समम्, मिथ्यात्वमार्गणायाम् 'ओघव्व सण्णियासो सण्णाउग्गाण होइ णामाण' (८०५)इत्यादिना पर्याप्तपञ्चेन्द्रियादिमार्गणाभिः समं भणितः प्रागेव प्रस्तुतसंनिकर्षः, तदेवं गतः सम्यक्त्वमार्गणासु प्रस्तुतः संनिकर्षः । साम्प्रतं संज्ञिमार्गणाभेदद्वयेऽसौ वक्तव्यः, तत्र संज्ञिमार्गणायां 'ओघव्व' इत्यादिना मिथ्यात्वमार्गणावत्पर्याप्तपञ्चेन्द्रियादिमार्गणाभिः समं भणित-त्वादवशिष्टायामसंज्ञिमार्गणायां व्याजिहीर्षुरेकादशाऽऽर्याभिराह—

[1]एगस्स जेट्ठबंधी अमणे अडवीसणिरयजोग्गाओ । बंधइ णियमाऽण्णेसिं सगवीसाअ गुरुमगुरु वा ॥
[2]तिरियदुगे-णिंदियु-रल-थावरचउगाउ जेट्ठठिइबंधी । एगस्स कुणइ णियमा गुरुमगुरुं वाऽण्णसत्तण्ह ॥
[3]णियमा सखसूण धुव-हु ड-पणाथिराइगाण ठिइं । एगस्स णरदुगा गुरुबंधी इयरस्स बंधेइ ॥
[4]गुरुमगुरु वा णियमा सखंसूण पणिंदिय-धुवाण । ओराल-तसदुगाणं पत्तेअ-पणाथिराईणं ॥
[5]संखसूण बंधइ सिआ तिसंघयणआगिईण तहा । परघा-ऊसासाणं असुहखगइ-सर-अपज्जाणं ॥
[6]एगस्स सुरदुगा गुरुबंधी बंधेइ जेट्ठमियर वा । णियमा अण्णस्स तह सुआगिइखगइ-सुहगतिगाणं ॥
[7] विउवदुग-पणिंदिय-धुव-परघा-ऊसास-तसचउक्काणं । णियमा संखसूणं सिआ थिराइगतिजुगलाणं ॥
[8]धुव-विउवदुग-पणिदिय-परघा-ऊसास-तसचउक्काणं । बंधइ णियमाऽऽज्जागिइगुरुबंधी सखभागूणं ॥
[9]बंधइ सखसूणं तिरिणरुरलविउवदुग-थिरछगाणं । संघयणपणग-कुखगइ-उज्जोआ-ऽथिरछगाण सिआ ॥
[10]सुरदुग वइर-सुहखगइ-सुहगतिगाण दुविहं सिआ एवं । सुखगइ-सुहगतिगाणं अपज्जमणुयव्व सेसाणं ॥

''णवर थिरसुहवधो परघा-ऊसास-पज्जाणं । संखसूणं मु ससस्स बिदिय छिवट्ठ-वगगुरुबंधो ।।
।।९११ ९२१।। (चरमा उद्गीति)

(प्रे०) ''एगस्से'' त्यादि, तत्राऽऽद्यगाथया नरकगतिप्रायोग्याऽष्टाविंशतिप्रकृतिप्रधानः संनिकर्षः, स च सुगम एव । ''तिरियदुगे'' इत्यादिद्वितीयादिसार्धगाथया तिर्यग्द्विकै-केन्द्रियजात्यौदारिकशरीर-स्थावरचतुष्कलक्षणाऽष्टप्रकृतिप्रधानः संनिकर्षः । तत्र ध्रुवबन्धिन्यादीनां चतुर्दशप्रकृतीनां सङ्ख्येयभागोनोत्कृष्टस्थितिबन्धस्तासां नरकप्रायोग्यत्वेऽपि नरकप्रायोग्यं बध्नत एव उत्कृष्टस्थितिबन्धभावादिति । शेषं तु सुगमम् । ''एगस्स णरदुगा'' इत्यादितृतीयगाथोत्तरार्धादारभ्य सार्धगाथाद्वयेन मनुष्यद्विकप्रधानः संनिकर्षः । इहापि ध्रुवबन्धिनीपञ्चेन्द्रियजात्यादीनां संख्येयभागोनोत्कृष्टस्थितिबन्धोऽनन्तरोक्तनीत्या तासां मनुष्यद्विकोत्कृष्टस्थितिबन्धप्रायोग्याध्यवसायापेक्षयाऽधिकेनाऽधिकतरेण च तिर्यग्नरकगत्याद्युत्कृष्टस्थितिबन्धप्रायोग्यसंक्लेशेनाऽपि बन्धसद्भावेन तदानीमेवोत्कृष्टस्थितिबन्धभावेनेह न्यूनसंक्लेशतया संख्येयभागोनस्यैवोत्कृष्टस्थितिबन्धस्य भावादिति । इत्थमेवोत्तरत्राऽपि बोध्यम् । ''एगस्स सुरदुगा'' इत्यादिषष्ठसप्तमगाथाद्वयेन देवद्विकलक्षणप्रकृतिद्वयप्रधानः संनिकर्षः प्रतिपादितः । तदपि गतार्थम् ; केवलं सप्तमगाथास्थं 'संखंसूणं' ति पदं पूर्वोक्तन्यायेनोभयत्र सम्बध्यते इति । तदनु ''धुवविउवे''त्याद्यष्टमगाथाप्रभृत्यादशमगाथापूर्वार्धस्थं 'सिआ' इत्येतदन्तेन किञ्चिदूनसार्धगाथाद्वयेन समचतुरस्रसंस्थानप्रधानः संनिकर्षः । ''एवं'' इत्यादिदशमगाथांशेन प्रशस्तविहायोगतिसुभगत्रिकलक्षणप्रकृतिचतुष्टयप्रधानोऽसौ निरपवादं प्रथमसंस्थानवदतिदिष्टः शेषविकलेन्द्रियजात्याद्येकोनविंशतिप्रकृतिप्रधानः सापवादतिदेशेनाऽपर्याप्तमनुष्यमार्गणावत्कथितश्च। **तत्र शेषप्रकृतय इमाः**—विकलत्रिकौ दारिकाङ्गोपाङ्ग संहननषट्क-मध्यमसंस्थानचतुष्टया- ऽऽतपो-द्योत-स्थिर--शुभ--यशःकीर्तिनामलक्षणा एकोनविंशतिरिति ।।९११-९२१।।

तदेवं प्रतिपादितः स्वस्थानोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्ष आदेशतोऽपि । साम्प्रतं क्रमप्राप्तस्वस्थानजघन्यस्थितिबन्धसन्निकर्षो निरूपणीयः, तदनु उत्कृष्टजघन्यस्थितिबन्धभेदेन परस्थानसन्निकर्षो दर्शनीयः, तत्र स्वस्थानजघन्यस्थितिबन्धसंनिकर्षेऽल्पवक्तव्यत्वादादौ ज्ञानावरण-वेदनीया-ऽऽयुष्क-गोत्रा ऽन्तरायप्रकृतीरधिकृत्यौघत आदेशतश्चाह गाथाषट्केन—

एगस्स जहण्णठिइं णाणावरणपणगाउ बंधंतो । णियमाऽण्णचउण्ह ठिइं जहण्णमेमेव विग्घाणं ।।९२२।।

(प्रे०) 'एगस्स'' इत्यादि, ज्ञानावरणपञ्चकादेकस्य मतिज्ञानावरणादेर्जघन्यां स्थितिं बध्नन् तदन्येषां चतुर्णां श्रुतज्ञानावरणादीनां नियमाज्जघन्यामेव स्थितिं बध्नाति, न पुनः श्रुतज्ञानावरणादीनि न बध्नातीति नियमभणनम्, न वा तेषामजघन्यां जघन्यापेक्षया समयादिनाऽधिकां वा स्थितिं बध्नातीत्यतः 'जहण्ण' मित्यत्राऽनुक्तस्यापि अवधारणस्य व्याख्यानम् ।

ननु यथा मतिज्ञानावरणाद्येकप्रकृत्युत्कृष्टस्थितिं बध्नतः शेषाणां श्रुतज्ञानावरणादीनां यथा उत्कृष्टायाः समयादिना यावत्पल्योपमासंख्येयभागेन न्यूनोत्कृष्टाया वा स्थितेर्बन्धो भणितस्तथा इहापि भवितव्यम् , अत एव मूलेऽवधारणं न प्रयुक्तं स्याद् ? इति चेद् , न श्रेण्यादेरन्यत्रभाविजघन्यस्थितिबन्धसंनिकर्षे तथा सम्भवेऽपि श्रेण्यादिविशिष्टावस्थाभाविजघन्यस्थितिबन्धसंनिकर्षे तथाऽसम्भवात् , मतिज्ञानावरणादीनामौघिकजघन्यस्थितिबन्धो हि क्षपकश्रेणिभावी, तत्र च सूक्ष्मसम्परायचरमस्थितिबन्धे तत्तदेकविधस्थितिबन्धप्रायोग्या नियता एवाध्यवसायाः, तथा च स्थितिबन्धोऽपि एकविध एव जायते न पुनर्द्विविधान्यतमो यथोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षे प्रदर्शितः, अत एव मार्गणास्थानेष्वपि यत्र तत्तत्प्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धोऽनिवृत्तिबादरादिगुणस्थानभावी तत्र मनुष्यगत्योघादौ मतिज्ञानावरणादिप्रधानसंनिकर्षे तदन्यप्रकृतीनामसौ "पढमचरमाण ओघव्व अत्थि तिणर" इत्यादिनौघवदेवाभिधास्यते, यत्र पुनर्नरकगत्योघादौ नासौ श्रेणिभावी तत्र तु "एगस्स जहण्णठिइं णाणावरणपणगाउ बंधतो । अण्णह णियमाऽण्णेसिं लहुमियर चेवमेव विग्घाणं ॥९२५॥"इत्यादिना मतिज्ञानावरणादिप्रधानीकृतेतरप्रकृतीनां जघन्याऽजघन्यद्विविधाऽन्यतरविधः प्रतिपादयिष्यते, 'जहि खलु लहुमलहुं वा बंधइ दुविहं ठिइं तहिं लहुओ । अलहुं समयेणऽहियं जा पल्लाऽसंखभागेण ॥९२६॥" इत्यनेनाऽजघन्यः समयाधिकजघन्यस्थितिप्रभृतेः समयसमयवृद्ध्या पल्योपमासंख्यभागप्रमाणस्थितिविकल्पविषयः प्रदर्शयिष्यते च यथोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षे 'जहिं खलु गुरुमगुरु वा' इत्यादिना भणित इत्यतः "जहण्ण" मित्यत्राऽवधारणमवश्यं द्रष्टव्यमिति । अथ तुल्यवक्तव्यत्वादन्तरायोत्तरप्रकृतिप्रधानं स्वस्थानसंनिकर्षमतिदिशति-"एमेव विग्घाण" मिति, एकस्य दानान्तरायादेर्जघन्यां स्थितिं बध्नन् जीवः शेषाणां चतुर्णां लाभान्तरायादीनामवश्यं बन्धको भवति, स्थितिं च तेषां लाभान्तरायादीना जघन्यामेव बध्नाति । एवमेव श्रुतज्ञानावरणाद्येकैकां प्रकृतिं प्रधानीकृत्य स्वयमेव भणितव्यो यथोक्तविकल्पस्वस्थानोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षो भणित इति ॥९२२॥

अथ ज्ञानावरणा-ऽन्तरायप्रकृतीरधिकृत्य आहाऽऽदेशतो गाथात्रयेण——

पढम-चरमाण ओघव्व अत्थि तिणर-दुपणिंदियतसेसुं । पणमणवय-काय-उरलतिवेअ-गयवेअ-चउकसायेसुं ॥
चउणाण-सजम-सुहुम-सामाइअ-छेअ-दसणतिगेसुं । सुक्क-भविय-सम्म खइअ-उवसम-सण्णीसु आहारे ॥
एगस्स जहण्णठिइ णाणावरणपणगाउ बंधतो । अण्णह णियमाऽण्णेसिं लहुमियर चेवमेव विग्घाणं ॥
॥९२३–९२५॥ (प्रथमा तृतीया च गीतिः)

(प्रे०) "पढम चरमाणे" त्यादि, प्रथमस्य ज्ञानावरणस्य चरमस्याऽन्तरायस्य प्रत्येकं स्वीयस्वीयोत्तरप्रकृतीना प्रस्तुतः स्वस्थानजघन्यस्थितिबन्धसंनिकर्ष ओघवद्भवत्यविशेषेण, कुत्र ? इत्याह -"तिणरे" त्यादि, गतार्थम् , त्रिनरेत्यादिना संगृहीता मार्गणास्तु यत्र चारित्रमोहोपशमकक्षपकाणां प्रवेशस्ताः पञ्चचत्वारिंशत् । तथा 'तिणर' इत्यादिनाऽपर्याप्तवर्जा मनुष्यौघ-तत्पर्याप्त-मानुषीभेदभिन्नास्तिस्रो मनुष्यमार्गणा इत्यादि व्याख्येयं स्वयमेव । अथ यत्र न प्रविष्टाः क्षपका वा उप-

शामका वा तासु शेषमार्गणास्वाह-"एगस्से" त्यादिना, इयमपि गतार्था, केवलं "अण्णह"इत्यनेन नरकगत्योघाद्याः शेषमार्गणाः संगृहीताः,ताश्च पञ्चविंशत्युत्तरशतम् । तद्यथा-ओघोत्तरभेदभिन्ना अष्टौ नरकमार्गणाः, तथैव पञ्च तिर्यग्मार्गणाः, अपर्याप्तमनुष्यः, ओघोत्तरभेदभिन्नास्त्रिंशद्देवमार्गणाः, सर्वा एक-द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रियमार्गणास्ताश्च षोडश, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियः, सर्वाः पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिमार्गणास्ताश्चैकोनचत्वारिंशत् , अपर्याप्तत्रसः, औदारिकमिश्र-वैक्रिय तन्मिश्रा-ऽऽहारक-तन्मिश्र-कार्मण-काययोगमार्गणाः, अज्ञानत्रयम्, परिहारविशुद्धिकसंयम देशसंयमा ऽसंयमाः, शुक्लवर्जलेश्यापञ्चकम् , अभव्यः, क्षायोपशमिकसम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्व-सासादन मिथ्यात्वानि, असंज्ञी,अनाहारकश्चेति ॥ ९२३-९२५॥

अथाऽनन्तरं यत् नरकगत्योघादिमार्गणासु मतिज्ञानावरणाद्येकप्रकृतिजघन्यस्थितिं बध्नन् शेषश्रुतज्ञानावरणादीनां जघन्यामजघन्यां वा स्थितिं बध्नाति इति भणितम् , एवमेवोत्तरत्राऽपि वक्ष्यते च, तत्र जघन्या स्थितिरेकविधा स्थितिबन्धप्रमाणद्वारे प्रतिपादिता इति स्फुटं गम्यते, न पुनरजघन्या, तस्या नानाविकल्पगतत्वादित्यतोऽजघन्यस्थितिविषयकविकल्पान् स्फुटीकुर्वन्नाह—

जहि खलु लहुमलहु वा बधइ दुविहं ठिइ तहि लहूओ । अलहुं समयेणऽहियं जा पल्लाऽसंखभागेण ॥९२६॥

(प्रे०) "जहि" इत्यादि, गतार्था, केवल "जहि" त्ति यत्र-ओघे मार्गणास्थानेषु चेत्यर्थः ।।९२६।।

वेदनीया-ऽऽयु-र्गोत्रप्रकृतीनां स्वस्थानप्रकृतिसंनिकर्षस्यैवाऽसम्भवाद्यथा न भवति तत्रोत्कृष्ट-स्थितिबन्धसंनिकर्षस्तथा न भवति जघन्यस्थितिबन्धसंनिकर्षोऽपीत्यतस्तथा प्रदर्शयन्नाह—

तइअस्स बंधमाणो एगं बधइ ण चेव पडिवक्ख । एव गोआऊण तिण्ह एमेव सव्वासु ॥९२७॥

(प्रे०) "तइअस्स" इत्यादि, साधितक्रमप्रामाण्यात्तृतीयस्येति वेदनीयस्य, शेषं तु गतार्थम् , केवलं "एमेव सव्वासु" ति नरकौघप्रभृतिष्वनाहारकपर्यन्तासु यासु कषायप्रत्ययस्थितिबन्धः संभवति तासु सप्तत्युत्तरशतमार्गणासु यथासम्भवं प्रत्येकं वेदनीय गोत्रा-ऽऽयुषामुत्तरप्रकृतीरधिकृत्यौघवदेव विज्ञातव्यमिति ॥ ९२७ ॥

तदेवं प्रतिपादितो ज्ञानावरण वेदनीया-ऽऽयुष्क-गोत्रा ऽन्तरायप्रकृतीरधिकृत्य स्वस्थान-जघन्यस्थितिबन्धसनिकर्ष ओघत आदेशतश्च । साम्प्रतमुक्तशेषदर्शनावरणीयादिमध्यात्क्रमप्राप्तदर्शना-वरणप्रकृतीरधिकृत्योघतः प्रस्तुतसनिकर्ष प्राह—

एगस्स हस्सबंधी बीआवरणचउगाऽण्णतिण्ह ठिइ । णियमा बधेइ लहुं ण चेव बंधेइ पणणिद्दा ॥
एगस्स हस्सबधी पणणिद्दाउ इयराण लहुमहवा । अलहु णियमाऽण्णेसिं चउण्ह उ असखगुणअहियं ॥
॥ ९२८-९२९ ॥

(प्रे०) "एगस्स" इत्यादि, अक्षरार्थः सुगमः, केवलं "बीआवरणचउग"त्ति चक्षु-रचक्षु-रवधि-केवलदर्शनावरणचतुष्कमध्यादित्यर्थः, भावार्थोऽपि सुगमः, चक्षुर्दर्शनावरणादीनां चतसृणां

सूक्ष्मसम्परायक्षपकचरमस्थितिबन्धे सममेव जघन्यस्थितिबन्धभावात् , पञ्चानां निद्राप्रकृतीनां तु पूर्वं द्वितीयादिगुणान्त एव बन्धविच्छेदभावाच्चेति । द्वितीयगाथायामन्यतमनिद्राजघन्यस्थितिं बध्नतश्चतसॄणां चक्षुर्दर्शनावरणादीनामसंख्यगुणाधिकजघन्यस्थितिबन्धः, ओघतो निद्रापञ्चकजघन्यस्थितिबन्धस्यैकेन्द्रियस्वामिकत्वेऽपि ततः क्षपकस्वामिकदर्शनावरणचतुष्कजघन्यस्थितिबन्धस्याऽसंख्येयगुणहीनत्वादिति ॥९२८-९२९॥

तदेवं भणितो दर्शनावरणप्रकृतिनवकप्रधानः स्वस्थानजघन्यस्थितिबन्धसंनिकर्ष ओघतः, साम्प्रतं मोहनीयप्रकृतिप्राधान्येन तं प्रदिदर्शयिषुरुपक्रमते—

एगस्स हस्स-रइ-भय-दुगुंछा-वा सकसाय-मिच्छाओ । लहुबंधी अण्णेसिं लहुमलहुं व णियमा कुणए ॥९३०॥
पुम-संजलणाण ठिइं बंधइ णियमा असंखगुणअहियं ।

(प्रे०) "एगस्स हस्से" त्यादि, एतेन हास्य-रति-भय-जुगुप्सा-संज्वलनवर्जकषायद्वादशक-मिथ्यात्वलक्षणसप्तदशप्रकृतिप्रधानः प्रस्तुतस्वस्थानजघन्यस्थितिबन्धसंनिकर्ष ओघतो भणितः । अक्षरार्थस्तु सुगमः, भावार्थ पुनरेवम्–मोहनीयोत्तरप्रकृतयो बन्धतः षड्विंशतिः, तत्र संज्वलन-क्रोधादिचतुष्टय-पुंवेदयोर्जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनः क्षपकाः, शेषाणामेकविंशतेस्तु एकेन्द्रिया इति प्राक् जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वप्रतिपादनावसरे भणितमेव । संज्वलनादीनां पञ्चानां यद्यपि क्षपकान् विहाय शेषजीवेषु एकेन्द्रिया एव ह्रस्वीं स्थितिं निर्वर्तयन्ति परं ततोऽपि ह्रस्वीं क्षपका निर्वर्तयन्ति तत्र क्षपकह्रस्वस्थितित एकेन्द्रियस्वामिका सा ह्रस्वस्थितिरसंख्येयगुणाभ्यधिका, तथा च यद्यपि हास्यादीनां सप्तदशानामन्यतमस्या जघन्यस्थितिं बध्नतः शेषाणां रत्यादीनां षोडशानामकेन्द्रियस्वामिकजघन्यस्थितिबन्धाना पूर्वोक्तनीत्या जघन्यो जघन्यात्समयादिना यावत्पल्योपमासंख्येयभागेन वाऽभ्यधिकोऽजघन्यस्थितिबन्धो जायते तथाऽपि संज्वलनचतुष्कं पुंवेद इति पञ्चानां त्वसावसंख्येयगुणाऽभ्यधिक एव जायते स्वीयस्वीयक्षपकस्वामिकजघन्यस्थितिबन्धतः, इति तथा भणितः । यस्तु भयजुगुप्सादिना ध्रुवबन्ध्यादिना समं हास्यरत्योरेवं पुंवेदस्य च नियतबन्धः प्रतिपादितः स तूत्कृष्टस्थितिबन्धस्य संक्लेशाऽधिक्यप्रत्ययत्वेन बन्धप्रायोग्यसप्रतिपक्षहास्यादि-शोकादीनां मध्ये स्वप्रतिपक्षापेक्षया कनिष्ठतरस्य कनिष्ठतमस्य वा शोकादेर्यथा ध्रुवबन्ध्यादिवदध्रुवो बन्धस्तथा जघन्यस्थितिबन्धस्य विशुद्ध्याधिक्यप्रत्ययत्वेन संक्लेशमान्द्यप्रत्ययत्वेन वा बन्ध-प्रायोग्यमप्रतिपक्षहास्यादि-शोकादीनां मध्ये स्वप्रतिपक्षापेक्षया प्रशस्ततराणां प्रशस्ततमानां वा हास्यादीनामेव नियतो बन्धो जायत इति ॥९३०॥

अथ संज्वलनलोभमधिकृत्य प्रतिषेधमाह—

. ... एगं वि णेव बंधइ अंतिमलोहस्स लहुबंधी ॥९३१॥

(प्रे०) "एगं वि" इत्यादि, सुगमम् , प्रतिषेधोऽयं स्वस्थानसंनिकर्षाधिकारादिति ॥९३१॥

अथाऽनन्तरोक्तसंज्वलनलोभं विहाय शेषसंज्वलनक्रोधादिप्रकृतित्रय-पुंवेदप्राधान्येन प्राह—

पुरिस चरमकोहाइगलहुबधी कुणइ संखगुणअहियं। णियमा कमसो चउ-ति-दु-इगसजलणाण ण उ सेसा॥ ॥९३२॥

(प्रे०) "पुरिस" इत्यादि, "चरमकोहाइग" इत्यत्र "चरम" त्ति संज्वलनभेदगताः, "कोहाइग," इत्यत्राऽऽदिपदेन मान-मायाप्रकृत्योर्ग्रहणम्, ककारः स्वार्थिकश्च, पुरुषवेद-संज्वलन-क्रोध-संज्वलनमानादिक्रमेणोपन्यासः सहेतुकः, हेतुश्च 'कमसो' इति वचनेन 'चउ-ति दु' इत्यादीनां क्रोधादिसंज्वलनप्रकृतीनां क्रमेणान्वयलक्षणः। तथाच पुरुषवेदप्रधानसंनिकर्षे क्रोधादीनां चतसृणां संज्वलनप्रकृतीनां नियमतः संख्येयगुणाधिकजघन्यस्थितेश्च बन्धो द्रष्टव्यः, शेषाणां मिथ्यात्वादीनां पुंवेदसंज्वलनचतुष्टयवर्जानामेकविंशतेः प्रतिषेध्यः। संज्वलनक्रोधप्रधानप्रस्तुतसंनिकर्षे मानादीनां तिसृणां संज्वलनप्रकृतीनां नियमतः संख्येयगुणाधिकजघन्यस्थितेश्च बन्धो द्रष्टव्यः, शेषाणां मिथ्यात्वादीनां द्वाविंशतेस्तु स प्रतिषेध्यः। एवमेव संज्वलनमायादिप्राधान्येन वाच्यः। उपपत्तिः पुनरेवम्-आसां पुरुषवेदादीनां पञ्चानां जघन्यस्थितिबन्धः क्षपकश्रेणौ जायते तत्र चैतत्पञ्चप्रकृति-मध्यात् प्रथमतः पुंवेदबन्धो विच्छिद्यते, तत उत्तरोत्तरजायमानाः संज्वलनक्रोधादीनां स्थितिबन्धाः पूर्वपूर्वस्थितिमानात् संख्येयभागहीनासंख्येयभागहीनक्रमेण प्रवर्तन्ते, एवंविधेषु संख्येयेषु स्थिति-बन्धेषु अतिक्रान्तेषु सत्सु संज्वलनक्रोधबंधो विच्छेदं याति, ततः पुनः संख्येयेषु स्थितिबन्धेष्वति-गतेषु संज्वलनमानबन्धो विच्छिद्यते, अनेनैव क्रमेण संख्येयेषु संख्येयेषु स्थितिबन्धेष्वतिक्रान्तेषु मायालोभयोर्यथाक्रमं विच्छेदोऽवाप्यते, तत्र पुंवेदचरमस्थितिबन्धावसरे क्रोधादीनां चतसृणां संज्वलनप्रकृतीना षोडशवर्षाणि स्थितिबन्धो जायते, क्रोधचरमस्थितिबन्धावसरे जायमानस्तासां स्थितिबन्धस्तु मासद्वयमानो लभ्यते, मानचरमस्थितिबन्धावसरे लभ्यमानो मानादीनां तिसृणा-ममावेकमासमात्रोऽवाप्यते, मायाचरमस्थितिबन्धे पुनर्बध्यमानयोर्मायालोभयोरसावर्धमासप्रमाण उपलभ्यते, लोभचरमस्थितिबन्धे तु केवलो लोभ एव बध्यते स्थितिबन्धस्तु तस्याऽन्तर्मुहूर्तमात्रः सम्पद्यते चेत्येतत् सर्वं स्थितिबन्धप्रमाणद्वारेण गतार्थमेव, तथा पुंवेदादिजघन्यस्थितिं बध्नतः शेषाणां क्रोधादीनां षोडशवर्षादिमानो जायमानस्थितिबन्धो मासद्वयादिमानात् स्वीयस्वीयजघन्य-स्थितिबन्धात्संख्येयगुणाऽभ्यधिक इति तथा भणितः। इह विशेषतस्त्वसौ पुंवेदजघन्यस्थितिं बध्नतः क्रोधस्य स्वीयस्वीयजघन्यस्थितिबन्धात् षण्णवतिगुणः, मानस्य स्वीयजघन्यस्थितिबन्धाद् द्विनवत्य-भ्यधिकशतगुणः, मायायाः स्वीयजघन्यस्थितिबन्धाच्चतुरशीत्यभ्यधिकत्रिशतगुणो द्रष्टव्यः। क्रोधजघन्यस्थितिं बध्नतस्तु मानस्य द्विगुणो मायायाश्चतुर्गुणश्च द्रष्टव्यः, एवमेव मानादिप्राधान्येना-ऽपि वाच्यः स्वयमेवेति॥९३२॥

अथ स्त्रीवेदनपुंसकवेदप्राधान्येनाह प्रस्तुताधिकस्वस्थानजघन्यस्थितिबन्धसंनिकर्षम्—

सप्पाउग्गाणं खलु पज्जत्ताऽसण्णिसण्णिभेएसुं ।
सव्वाणं सेसेसुं भेएसुं आउवज्जाणं ॥५२॥
पल्लाऽसंखियभागं गच्चा गच्चा हवेज्ज अद्धद्धं ।
एवं उक्कोसठिइं णेयं अप्पप्पणो जाव ॥५३॥

(प्रे०) "**सप्पाउग्गाणं**" इत्यादि, पर्याप्ताऽसंज्ञि-संज्ञिलक्षणयोर्द्वयोर्जीवभेदयोः स्वस्मिन् स्वस्मिन् बन्धप्रायोग्याणां सर्वासां प्रकृतीनां तथा शेषेसु द्वादशजीवभेदेषु तत्र बन्धप्रायोग्याऽऽयुः-प्रकृतिद्वयवर्जानां शेषसर्वप्रकृतीनां यथोक्ताऽबाधाऽनन्तरवर्तिप्रथमदलिकनिषेकादारभ्य "**पल्लासंखियभागं**" ति पल्योपमस्याऽसंख्येयतमे भागे यावन्तः समयास्तावत्प्रमाणानि समयसमयोत्तराणि स्थितिस्थानानि "**गच्चा गच्चा**" त्ति 'गत्वा गत्वा' अतिक्रम्याऽतिक्रम्य यदनन्तरं अनन्तरं स्थितिस्थानं तत्र अनन्तरोपनिधया दर्शितमनन्तरोत्तरोत्तरसमये विशेषहीन-विशेषहीनक्रमेण रच्यमानं दलिकाग्रम् "**हवेज्ज अद्धद्धं**" ति अर्धाऽर्धं भवेत्, एवं तावज्ज्ञेयं यावत्तत्तत्प्रकृतीनामात्मन आत्मन उत्कृष्टा स्थितिरित्यक्षरार्थः ।

भावार्थः पुनरयम्—परम्परोपनिधया प्ररूपणायां पारम्पर्येण पल्योपमासंख्येयभागप्रमाणनिरन्तरस्थितिबन्धस्थानानां समूहलक्षणं स्थितिस्थानखण्डमन्तरीकृत्य वर्तमानेषु स्थितिस्थानेषु निक्षिप्यमाणदलिकनिषेकमानं चिन्त्यते, तच्चानन्तरोपनिधायां दर्शितनीत्याऽनन्तरोत्तरोत्तरस्थितिस्थानेषु विशेषहीनक्रमेणाऽऽरच्यमानं विवक्षितनियतपल्योपमासंख्यभागप्रमाणानि स्थितिबन्धस्थानान्यतिक्रम्य यत्स्थितिस्थानं तत्र प्रथमस्थितौ निक्षिप्तदलिकनिचयाद् 'अर्धं' द्विगुणहीनं भवति; ततः स्थानादारभ्य पुनस्तावन्ति पल्योपमासंख्येयभागप्रमाणानि स्थितिस्थानान्यतिक्रम्य यत्स्थानं तत्र पुनरप्यर्धं भवति, ततः स्थानात् पुनः समयसमयोत्तराणि तावन्त्येव पल्योपमासंख्येयभागप्रमाणानि स्थितिस्थानान्यतिक्रम्य यत्स्थितिस्थानं तत्राऽऽरच्यमानं दलिकाग्रं पुनरप्यर्धं भवति, अर्थादिह प्रथमस्थितौ निषिक्तदलिकाग्रापेक्षयाऽऽष्टमभागमात्रं भवति, यतः प्रथमस्थितौ निषिक्तदलिकाऽपेक्षया प्रथमद्विगुणहानौ अर्धं दलिकाग्रमुक्तम्, ततो द्वितीयद्विगुणहानौ पुनरप्यर्धमिति प्रथमस्थितौ निषिक्तदलिकराश्यपेक्षया चतुर्थभागमात्रमासीत्, तदपेक्षयाऽप्यर्धमिहेति प्रथमनिषेकापेक्षयाऽष्टभागमात्रं जातम् । एवमेवोत्तरत्रापि पल्योपमासंख्यभागप्रमाणानि स्थितिबन्धस्थानान्यतिक्रम्यातिक्रम्याऽऽरच्यमानदलिकसत्का द्विगुणहानयस्तावद् भवन्ति यावत्तत्तत्प्रकृतीनां स्वकीया स्वकीया उत्कृष्टस्थितिः ।

इह तन्त्रान्तराऽविकृताऽसत्कल्पनया स्थापनादिना विस्तरतो निषेकरचनां जिज्ञासता **मूलस्थितिबन्धविधानप्रथमाधिकारनिषेकद्वारप्रेमप्रभाविवृतिरवलोकनीया**, तत्र विस्तरेण प्रपञ्चितत्वादस्माभिरिति ॥५२–५३॥

यावद्विशुद्ध्या मिथ्यादृष्टेर्नपुंसकवेदबन्धसम्भवः, न पुनस्ततोऽप्यधिकविशुद्ध्या; तावद्विशुद्ध्या स्त्रीवेदबन्धस्तु सम्भवत्येव। स्त्रीवेदादनु (३) शोका रत्योर्विच्छेदः, तदनु (४) मिथ्यात्वादिध्रुवबन्धिपुंवेदहास्यादीनाम्, सर्वविशुद्धमिथ्यादृष्टेर्हास्यादीनां मिथ्यात्वादिध्रुवबन्धिनीनां च बन्धप्रायोग्यत्वे तद्बन्धस्याऽवश्य भावात्, अत्र यद्यपि ध्रुवबन्धिन्याद्याः सर्वविशुद्धिमद्भिः बध्यन्त एव, न तु तासां बन्धविच्छेदस्तथापि ताः सामान्यतश्चरमस्थानगता इति तथोक्ता इत्येवं सर्वः प्रपञ्च उत्कृष्टपदप्रदर्शितनीत्या कार्यः शेमुपीशालिभिः सूक्ष्मशेमुष्या यथासम्भवमिति। इत्येवं प्रस्तुते शोकाऽरत्योः स्त्रीवेदेनाऽतुल्यस्थानगतत्वान्न भवति जघन्यः स्थितिबन्धः, किन्त्वजघन्यो जघन्यादसंख्यैकभागेनाऽधिक एव जायते यथोक्तनीत्येति। इत्थमेवोत्तरत्रापि प्रसाधनीयः। "**असंखगुणहियं**" इत्येतत्तु सञ्ज्वलनौघिकजघन्यस्थितेः क्षपकस्वामिकत्वात्, तदपेक्षयैकेन्द्रियस्वामिकजघन्यस्थितेरसंख्यगुणत्वाच्चेति। अथ नपुंसकवेदप्रधानं प्रस्तुतसंनिकर्षमतिदिशति–"**एवमेव णपुंसस्स**" इति सुगमम्, दर्शितविच्छेदक्रमे स्त्रीवेदादपि पूर्वं नपुंसकवेदबन्धविच्छेदात् स्त्रीवेदजघन्यस्थितिबन्धप्रायोग्यविशुद्धितोऽधिकविशुद्धौ सत्यां नपुंसकवेदबन्धासम्भवादिति भावः। विस्तरतस्त्वनन्तरोक्तनीत्या स्त्रीवेदस्थाने नपुंसकवेदमादाय विभावनीयमिति ॥९३३॥

अथाऽरति शोकप्रकृतिद्वयप्राधान्येन प्रस्तुतौघिकस्वस्थानजघन्यस्थितिबन्धसंनिकर्षमाह—

लहुबंधी एगस्स अरइसोगाउ णियमेयरस्स दुहा॥
णियमाऽसंखंसहियं बारकसाय-भय-कुच्छ-मिच्छाण। पुम-सजलणाण ठिइ असंखियगुणाहियं णियमा॥
॥९३४-९३५॥ (प्रथमागीतिः)

(प्रे०) "**लहुबंधी**" इत्यादि, सुगमम्, केवलं "**अरइसोगाउ**" त्ति अरतिशोकाभ्याम्, "**णियमाऽसंखंसहियं**" इत्यत्राऽकारो लुप्तो द्रष्टव्यस्तथाचाऽरति-शोकाभ्यामेकस्याः प्रकृतेर्जघन्यस्थितिं बध्नन् जीवस्तदन्यस्याः शोकादिप्रकृतेः मिथ्यात्वस्य संज्वलनवर्जानां द्वादशकषायाणां भयजुगुप्सयोश्चेत्येव षोडशानां नियमतो बन्धको भवति, तन्मध्ये शोकादेः स्थितिं तु 'दुहा' त्ति जघन्यामजघन्यां वा बध्नाति शेषाणां मिथ्यात्वादीनां तु जघन्याऽपेक्षयाऽसंख्यभागाधिकामजघन्यामेव बध्नाति, स हि पुंवेद-संज्वलनचतुष्टयलक्षणप्रकृतिपञ्चकस्य नियमाद् बन्धको भवति, स्थितिं पुनस्तस्य प्रकृतिपञ्चकस्य स्वीयसर्वौघिकजघन्यस्थितिबन्धादसंख्यगुणाधिकां बध्नातीति सप्तमम्। उपपत्तिस्त्वनन्तरोक्तनीत्या कार्या, पुंवेदादीनामौघिकजघन्यस्थितेः क्षपकस्वामिकत्वात्, शेषाणां त्वेकेन्द्रियस्वामिकत्वेऽपि शोकादेरेकस्या उक्तनीत्या तुल्यस्थानपतितत्वात्, मिथ्यात्वादीनां स्थानान्तरे उत्तरत्र विच्छिद्यमानत्वाच्च। यद्यपि पुंवेदादयोऽपि दर्शितक्रमे चरमेऽरत्यादिप्रधानीकृतप्रकृतिविच्छेदस्थानेतरवर्तिनि स्थाने पतितास्तथाऽपि ओघे क्षपकादीनामपि प्रवेशेन तासां पुंवेदादीनां जघन्यस्थितिर्भिन्नत्वात् मिथ्यात्वादिप्रकृतिभ्यः पृथग्ग्रहणं, न त्वन्यथा; क्षपकादीनामप्रवेशे

थीलहुबंधी णियमा बारकसाय-भय कुच्छ मिच्छाण । बधेइ असखियमागऽहिय जुगलाण दोण्ह सिआ ॥
णियमाऽसंखगुणहियं सजलणाणेवमेव णपुमस्स । ॥९३३॥

(प्रे०) "थीलहुबधी" इत्यादि, सुगमा सार्धगाथा, केवलं गाथोत्तरार्धस्थं "असंखिय-भागाऽहिय" मिति पदमुभयत्र सम्बध्यते, तथाच संज्वलनवर्जद्वादशकषायादीनां पञ्चदशानां ध्रुवबन्धिनीनां हास्य-रति-शोका-ऽरति लक्षणयोर्द्वयोर्युगलयोश्च प्रत्येकं स्वीयस्वीयजघन्यस्थितिबन्ध-मानादसंख्येयभागाधिकः स्थितिबन्धो जायते न पुनस्ततोऽप्यधिकः स्त्रीवेदवदेतासामपि जघन्य-स्थितेरेकेन्द्रियस्वामिकत्वात्, एकेन्द्रियस्वामिकस्थितिष्वसंख्येयभागतोऽधिकतारतम्यस्याऽसम्भ-वाच्च । ननु भवत्वेवं ध्रुवबन्धिनीनां हास्यरत्योश्च जघन्यस्थितेः सर्वविशुद्धैकेन्द्रियस्वामिकत्वेन तत्प्रायोग्यविशुद्धया स्त्रीवेदजघन्यस्थितिं बध्नत एकेन्द्रियजीवस्य तासां ध्रुवबन्धिन्यादीनामसंख्येय-भागाधिकजघन्यस्थितिबन्धः, परं शोका-ऽरत्योस्तु अभावजघन्यवज्जघन्योऽपि स्यात्, स्त्रीवेदजघन्य-स्थितिबन्धवत्तयोः शोकाऽरत्योर्जघन्यस्थितिबन्धस्याऽपि तत्प्रायोग्यविशुद्धिजन्यत्वात्, तथा च तयोः शोकाऽरत्योः जघन्यो वाऽजघन्यो वेति द्विविधान्यतरविकल्पगतो वक्तव्यः ? इति चेद् न, शोकाऽरत्योः स्त्रीवेदेन सममेवाऽविच्छिद्यमानतया भणितयुक्तया तयोः जघन्यस्थितिबन्ध स्याऽसम्भवात् । अयम्भावः–प्राग् ह्युत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षप्रतिपादनावसरे जघन्यसंक्लेशस्थाना-त्क्रमवृद्धया सर्वोत्कृष्टसंक्लेशस्थानं यावद्गमने पूर्वोत्तरक्रमेण विच्छिद्यमानाना युगपद्विच्छिद्यमानानां च प्रकृतीनां मध्ये विवक्षितप्रधानीकृतप्रकृत्या सममेव विच्छिद्यमानानां तदितरासा प्रकृतीनामुत्कृष्टा-नुत्कृष्टद्विविधान्यतमः स्थितिबन्धः प्रतिपादितः समाधितश्च एवं तस्या विवक्षितप्रधानीकृतप्रकृत्याः पूर्वविच्छिद्यमानानामसौ सर्वथा प्रतिषिद्धः, उत्तरविच्छिद्यमानानां मध्यात्तु कासाञ्चिद्विरुद्धानां प्रति-षिद्धः कासाञ्चिदविरुद्धानामपि प्रतिपक्षसहितबन्धप्रायोग्याणामनियतभावेन भणितः शेषाणां तु निय-तभावेन प्रतिपादितश्च तथेहापि तथाविधपूर्वो-त्तर-समविच्छिद्यमानप्रकारमनुसृत्य विवक्षितप्रधानी-कृतेतरप्रकृतीनां जघन्याऽजघन्यादीनामेकविधोऽन्यथा वा स्थितिबन्ध इत्याद्यभ्युपेयम् । केवल-मिह जघन्यस्थितिबन्धसंनिकर्षस्य प्रस्तुतत्वाद्, विहायाऽऽयुस्त्रय स्त्रीवेदादिसवप्रकृतीनां जघन्यस्थिते-र्विशुद्धिप्रत्ययत्वाच्च सर्वोत्कृष्टसंक्लेशाद्धीन हीनतरादिक्रमेण वर्तमानेषु अध्यवसायस्थानेषु विच्छिद्य-मानप्रकृतिक्रमसुपादायेति विशेषः । अन्यच्चेहापि-प्रकृतिविच्छेदक्रमोऽय मिथ्यादृग्जीवेषु सम्भवदध्यव-सायेषु ये सम्यक्त्वाभिमुखावस्थाभाविनोऽध्यवसायास्तान् विहाय तत्तत्प्रधानीकृतप्रकृतिजघन्यस्थिति-बन्धस्वामिनः सम्भवत्स्वध्यवसायस्थानेषु यदुत्कृष्टविशुद्धिलक्षणमध्यवसायस्थान तदभिमुखीकृत्य संचारिसूत्कृष्टसंक्लेशप्रभृतिषु उत्तरोत्तरविशुद्ध-विशुद्धतरादिक्रमेण स्थितेषु विशुद्धिस्थानेषु लभ्यमानः समाश्रियते, प्रकृते च प्रधानीकृतस्त्रीवेदजघन्यस्थितिबन्धस्वामिन एकेन्द्रियत्वेन मिथ्यादृष्टित्वादसौ तादृशो ग्राह्यः । स चैवम्–प्रथमतस्तावत् (१) नपुंसकवेदविच्छेदः, तदनु (२) स्त्रीवेदविच्छेदः, यतो

वायुकायिकानां पारभविकसर्वोत्कृष्टस्थानरूपत्वात् तत्प्रायोग्यप्रकृतिष्वपि सुखगत्यादीनामेव प्रशस्तत्वाच्च । नियत-स्याद्बन्धस्तु तत्तत्प्रकृतीनां सुगम इति । "उज्जोअस्सेवमेव भवे"त्ति उद्योतनामप्रधानसंनिकर्षातिदेशः; स च सुगमः, तेजस्कायवायुकायिकानामेव तिर्यग्द्विकवदुद्योत-नाम्नोऽपि जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वादिति ॥९३७–९३९॥

अथ मनुष्यद्विकप्राधान्येन प्राह—

एगस्स णरदुगा लहुबधी उ जसस्सऽसखगुणअहिय । णियमा लहुमलहुं वा धुवऽण्णजिणवज्जसुणरजोग्गाणं ॥९४०॥ (गीति)

(प्रे०) "एगस्से"त्यादि, अक्षरार्थः सुगमः,केवलं 'धुव ऽण्णजिणवज्जसुणरजोग्गाणं'ति ध्रुवाः-ध्रुवबन्धिन्यः, तथा 'अण्ण'त्ति ध्रुवबन्धिनिष्वप्रविष्टत्वादन्याः, अस्य हि "जिणवज्जसुणरज्जोग्गाणं" इत्यनेनाऽन्वयः, तत्र नरस्य योग्याः नरयोग्या इत्यर्थः, तासु च द्वितीयसंहनन-नाद्या अशुभा अपि प्रविष्टाः, न च ता मनुष्यद्विकौधिकजघन्यस्थितिं बध्नता पृथिवीकायिकादिना बध्यन्ते, तदानीं तस्य स्वप्रायोग्यसर्वविशुद्धौ वर्तमानत्वेन बन्धप्रायोग्यशुभेतरप्रकृतिषु शुभानामेव बन्धप्रवर्तनात् , अतस्तासां द्वितीयसंहननादीनां वर्जनार्थं 'सु' त्ति शुभाः प्रशस्ता द्वितीय-संहननादिवर्जा नरयोग्या इति सुनरयोग्याः, एवमपि जिननाम वर्जितं न भवति, वर्जनीयं च तद् विशुद्धानामपि एकेन्द्रियाणां तद्बन्धाऽसम्भवात् ,अतः 'जिणवज्ज'त्ति जिनेन-जिननाम्ना वर्जाः-रहितास्ताश्च ताः सुनरयोग्या इति जिनवर्जसुनरयोग्याः, 'अण्ण' त्ति या उक्तध्रुवबन्धिन्योऽधि-कृता मनुष्यगत्याद्यैका प्रकृतिर्यशःकीर्तिनाम च भणितास्ताभ्यो अन्या इत्यर्थः, अन्याश्च ता जिन-वर्जसुनरयोग्या इति अन्यजिनवर्जसुनरयोग्याः, एवमग्रेऽपि ध्रुवाश्च ता इत्यादिः समासः, तथाच तेन नामध्रुवबन्धिनीनवकम् , अधिकृतमनुष्यगत्या इतरा एका मनुष्यानुपूर्व्याद्या,पञ्चेन्द्रियजातिरौ-दारिकद्विकः, प्रथमसंहनन संस्थाने,सुखगतिः, पराघातो-च्छ्वासनाम्नी, यशःकीर्तिवर्जत्रसनवकञ्चे-त्येवं सर्वसंख्यया सप्तविंशतिः प्रकृतयः संगृहीताः । उपपत्तिस्तु सर्वथाऽनन्तरोक्तनीत्या पृथिवी-कायिकादीनामधिकृतमनुष्यद्विकजघन्यस्थितिबन्धस्वामिनामेतद्ध्रुवबन्ध्यादिसप्तविंशतिप्रकृतिजघन्य-स्थितिबन्धसत्त्वादित्यादिना कार्येति ॥९४०॥

अथ देवद्विक-वैक्रियद्विकेऽधिकृत्याह प्रस्तुतसंनिकर्षम्—

एगस्स जहण्णठिइं बधंतो सुरविउव्वियदुगाओ । णियमाऽण्णेसिं तिण्ह बधेइ लहुं अहव अलहुं ॥
कुणइ असखगुणऽहिय जसस्स णियमाउ संखगुणअहियं। धुव-तित्था-ऽऽहारगदुगवज्जिअसेससुरजोग्गाण॥ ॥९४१–९४२॥

(प्रे०) "एगस्से"त्यादि, अक्षरार्थः सुगमः, 'धुव' इत्यादि द्वितीयगाथोत्तरार्धस्थः समा-सस्त्वनन्तरोक्तनीत्यैव विग्रहीतव्यः,तथाच तेन नामध्रुवबन्धिनीनवकं पञ्चेन्द्रियजाति समचतुरस्र-

ता अपि मिथ्यात्वादिना सममेव गृहीताः स्युरिति भावः । इत्थमेवाऽन्यत्राऽपि विभावनीयं यथा-यथमिति ॥९३४ ९३५॥

तदेवं प्रतिपादित ओघतो मोहनीयप्रकृतीरप्यधिकृत्य स्वस्थानजघन्यस्थितिबन्धसंनिकर्षः, एतर्हि ओघत एवोक्तशेषनामप्रकृतीरधिकृत्य तं वक्तुमुपक्रमते—

एगस्स हस्सबंधी णिरयदुगाऽण्णस्स हस्समियरं वा । णियमा बंधेइ विउवदुगस्स संखेज्जभागहियं ॥
सेसणिरयजोग्गाण णियमा बंधेइ संखगुणअहियं । ॥९३६-॥

(प्रे०) "एगस्से"त्यादि, निरयद्विकलक्षणप्रकृतिद्वयप्रधानसंनिकर्षो भणितः, अक्षरार्थः सुगमः, भावार्थोऽपि तथा, केवलं 'संखेज्जभागहिय' मिति नरकद्विकवद् वैक्रियद्विकस्याऽपि औघिकजघन्यस्थितेरसञ्ज्ञिस्वामिकत्वाद्, असंज्ञिषु जघन्योत्कृष्टस्थित्योरन्तरस्यापि पल्योपमसंख्येयभागमात्रत्वाच्च । नन्वेवमपि नरकगत्यादिवद् द्विविधा कथं न स्यादिति चेद्, देवप्रायोग्यं बध्नतोऽसंज्ञिनो वैक्रियद्विकजघन्यस्थितेर्भावेन नरकप्रायोग्यं बध्नतस्तस्य वैक्रियद्विकजघन्यस्थितिबन्धस्याऽभावात्, संख्येयभागाधिकत्वमेव न पुनरसंख्येयभागाधिकत्वमिति तु प्रागुत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षप्रस्तावे द्वीन्द्रियादिमार्गणादावनुत्कृष्टस्थितेदर्शितमसंख्येयभागोनत्वनीत्येति । 'संखगुणअहियं' इत्येतत्तु शेषनरकप्रायोग्यपञ्चेन्द्रियजात्यादिप्रकृतीनामौघिकजघन्यस्थितेरेकेन्द्रियस्वामिकत्वात् तदपेक्षया तासामसंज्ञिस्वामिकस्थितिबन्धस्य सहस्रगुणत्वेनाभिधानाच्चेति ॥९३६॥

अथ तिर्यग्द्विकप्राधान्येन प्रस्तुतसंनिकर्षं प्रदिदर्शयिषुस्तुल्यवक्तव्यत्वादुद्योतनामप्रधानमपि तं सममेव प्रदर्शयन्नाह—

एगस्स तिरिदुगा लहुबंधी णियमेयरस्स तहा ॥
पंचिंदि-युरलदुग-धुव सुखगइसंघयणआगिईण तहा । परघा ऊसासाण तसणवगस्स लहुमलहुं वा ॥
उज्जोअस्स सिआ खलु लहुमलहुं वा असंखगुणअहियं । णियमा जसस्स बंधइ उज्जोअस्सेवमेव भवे ॥
॥-९३७-९३९॥

(प्रे०) "एगस्स" इत्यादि, अक्षरार्थः सुगमः, केवलम्—"सुखगइसंघयणआगिईण" इत्यत्र सुशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धात् प्रशस्तविहायोगति-प्रथमसंहनन-प्रथमसंस्थानलक्षणास्तिस्रः प्रकृतयो विज्ञेयाः, तथा 'त्रसनवकस्य' इत्यत्र त्रसनवकं यशःकीर्तिनामवर्जं ज्ञेयम् । भावार्थस्त्वयम्—ये तिर्यग्द्विकौघिकजघन्यस्थितिबन्धस्वामिनस्ते एव विहाय यशःकीर्तिनाम शेषाणां सर्वासां यथोक्तानां पञ्चेन्द्रियजात्यादीनामप्यौघिकजघन्यस्थितिबन्धस्वामिनः सम्भवन्ति, तथा चोक्तनीत्या ते तासां जघन्यामजघन्यां वा स्थितिं बध्नन्ति, यशःकीर्तिनाम्नस्तु जघन्यस्थितिः क्षपकस्वामिका इति तस्याऽसंख्यगुणाधिकस्थितिबन्धकथनम् । पञ्चेन्द्रियजात्यादिप्रकृतीनामेव परिगणनं न पुनश्चतुरिन्द्रियजात्यादीनामिति तु तिर्यक्पञ्चेन्द्रियत्वादेस्तिर्यग्द्विकजघन्यस्थितिबन्धस्वामिनां तेजस्काय-

देश्च बन्धाभावेन तासां बादरत्रिकादीनां स्याद्बन्धेनैव भवितव्यम् ? इति चेत्, न, एकेन्द्रियनाम्नः प्रकृतिसंनिकर्षे तथा सम्भवेऽपि तदीयजघन्यस्थितिबन्धसंनिकर्षे तथाऽसम्भवात् । तथाहि-एकेन्द्रियजातिजघन्यस्थितिं बध्नन् हि न सर्वसंक्लिष्टः, किन्तु तथाविधविशुद्ध एव, तथाचासौ एकेन्द्रियप्रायोग्यसप्रतिपक्षप्रकृतिमध्यात् प्रशस्ततरा एव बध्नाति नेतराः, इत्येवं सूक्ष्मत्रिकं विहाय बादरत्रिकस्यैव बन्धकः पर्याप्तसहभाविबन्धयोः पराघातो-च्छ्वासनाम्नोश्च, अत एव सूक्ष्मत्रिकं न गृहीतम् , बादरत्रिकादीनां सूक्ष्मत्रिकबन्धाभावेन नियमबन्ध एव स्यादिति तु सुज्ञेयम् । न चैवमस्थिराद्या विहाय स्थिरादीनामपि ध्रुवो बन्धो वाच्यः, स्थिरादिवदस्थिरादीनां त्वितोऽपि विशुद्धौ पर्याप्तपञ्चेन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतामपि बन्धभावेन नेह तद्बन्धाभाव एव, किन्त्वजघन्यस्थितिको बन्धोऽपीत्यलं विस्तरेणेति ॥९४३-९४५॥

अथ द्वीन्द्रियजातिनामप्रधानं प्रस्तुतोऽधिकजघन्यस्थितिबन्धसंनिकर्षं भणन् त्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियप्रधानं च तमतिदिशन् प्राह—

बेइंदियलहुबंधी तिरिउरलदुग-तसचउग हुंडाण । धुव-परघा ऊसास-कुखगइ-छिवट्ठ-दुहगतिगाणं ॥
णियमाऽसखंसहिय वुज्जोअ-अजस-थिराऽथिरदुगाणं । कुणइ असखगुणहिय जसस्स वा तिचउरिंदियाणेव॥
॥ ९४६-९४७ ॥ (द्वितीया गीतिः)

(प्रे०) "बेइंदिये" त्यादि, अक्षरार्थः सुगमः, केवलम् "तिरिउरलदुगं" इत्यत्र दुगशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते, एवं "थिराऽथिरदुगाणं" इत्यत्राऽपि, तथा "असंखंसहिय" इत्युभयत्रानुसज्यते चेति । भावार्थस्त्वयम्—तत्र नियतस्याद्बन्धस्तु प्रकृतिबन्धसंनिकर्षवदेव, केवलमपर्याप्तनाम्नोऽबन्धो जघन्यस्थितिं बध्नतस्तथाविधविशुद्धेः पर्याप्तप्रायोग्यस्यैव बन्धभावात् , अतः पर्याप्तनाम्नः पराघातोच्छ्वासनाम्नोश्च नियमबन्धो भणितो वेदितव्यः, शेषं तिर्यग्द्विकादीनां पञ्चविंशतेरुद्योतादीनां षण्णां चाऽजघन्यो जघन्यादसंख्यभागेनाभ्यधिकः स्थितिबन्धः, यशःकीर्तिनाम्नोऽसंख्यगुणाधिकश्चेत्येतत् सर्वं प्रागिवाभ्यूह्यमिति ॥९४६-९४७॥

अथ क्रमप्राप्तपञ्चेन्द्रियजातिनामप्रधानं प्रस्तुतसंनिकर्षं बिभणिषुस्तुल्यवक्तव्यत्वाद् ध्रुवबन्धिनीनवकौदारिकद्विकप्रथमसंहननादिषड्विंशतिप्रकृतिप्रधानमपि सममेवाह—

एगस्स हस्सबंधी उरालदुग-धुव पणिंदि-वइराओ । पढमागिइ सुखगइ परघा-ऊसास-तसणवगाओ ॥
णियमाऽण्णाण लहुमहव अलहुं उज्जोअ-तिरि-णरदुगाण । बंधइ सिआ जसस्स उ असखियगुणाहियं
णियमा ॥ ९४८-९४९ ॥

(प्रे०) "एगस्स" इत्यादि, तत्राद्यगाथया यत्प्रधानसंनिकर्षस्ता औदारिकद्विक-पञ्चेन्द्रियजाति नामध्रुवबन्धिनीनवक प्रथमसंहनन-प्रथमसंस्थान-सुखगति--पराघातो च्छ्वास--यशःकीर्तिवर्जत्रसनवकलक्षणाः षड्विंशतिः प्रकृतयः संगृहीताः, उत्तरगाथायां 'लहुमहव अलहुं' इत्येतदुभयत्र सम्बध्यते काकाक्षिगोलकन्यायात् , शेषाक्षरार्थः सुगमः, भावार्थस्तु मनुष्यद्विक तिर्यग्द्विकप्रधान-

संस्थान-सुखगति-पराघातो-च्छ्वास-त्रसनवकानि चेति त्रयोविंशतिः प्रकृतयः संगृहीता बोद्धव्याः। भावार्थस्तु प्राग्वदेव देवद्विकादिजघन्यस्थितिबन्धस्वामिनामसंज्ञिपञ्चेन्द्रियतर्यंत्र जिननामाऽऽहारकद्विकबन्धाभावात्, तेषां स्वप्रायोग्यसर्वविशुद्धौ वर्तमानत्वेन देवप्रायोग्यशुभा-ऽशुभप्रकृतिमध्याच्छुभानामेव बन्धभावेऽपि तासां शुभानां शेषध्रुवबन्धिनीनां च जघन्यस्थितेरेकेन्द्रियस्वामिकत्वेन देवद्विकजघन्यस्थितिं बध्नतां शेषप्रकृतीनामिव जघन्यात् संख्येयगुणाभ्यधिकोऽजघन्यः स्थितिबन्ध एव भवतीत्यादिः स्वयं योज्य इति ॥९४१-९४२॥

तदेवं गतं गतिप्रकृतिचतुष्टयं तत्साम्यादानुपूर्वीप्रकृतिचतुष्टयं वैक्रियद्विकमुद्योतनाम चेति एकादशप्रकृतिप्रधानः प्रस्तुतौघिकस्वस्थानजघन्यस्थितिबन्धसंनिकर्षः। अथ क्रमप्राप्तैकेन्द्रियादिजातिप्रकृतिपञ्चकमध्यादेकेन्द्रियजातिनामाधिकृत्य प्रस्तुतं ग्रिभणिषुस्तुल्यवक्तव्यत्वात्स्थावरनामाधिकृत्य सममाऽऽतपनामाधिकृत्याऽतिदेशेन चाह—

एगस्स हस्सबंधी एगिंदिय थावराउ इयरस्स । णियमा लहुमलहु वा बंधइ ठिइमायवस्स सिआ ॥
तिरिदुग-धुव-रल-हु डग-परघा-ऊसास-बायरतिगाण । दुहगा-ऽणादेयाण असंखभागा-ऽहिय णियमा ॥
उज्जोअ-थिराऽथिरदुग-अजसाण सिआ असंखभागहियं । बंधेइ जसस्स सिआ असंखगुणअहियमायवस्सेवं ॥९४३–९४५॥ (चरमा गीति.)

(प्रे०) "एगस्से"त्यादि, प्रथमगाथोत्तरार्धस्थ "लहुमलहुं वा" इति काकाक्षिगोलकन्यायेनोभयत्र सम्बध्यते, तृतीयगाथापूर्वार्धे "थिराऽथिरदुग" इत्यत्र दुगशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते च, तथाच तेन स्थिरद्विक स्थिर-शुभ-प्रकृतिद्वयलक्षणमस्थिरद्विकमुक्तविपरीतं चेति प्रकृतिचतुष्टयस्य सग्रहः शेषाक्षरार्थस्तु सुगमः। भावार्थः पुनरयम्—एकेन्द्रियस्थावरनाम्नोर्जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनो हि एकेन्द्रिया एव, नवरं न ते स्वप्रायोग्यसर्वविशुद्धौ वर्तमानाः, सर्वविशुद्धया तेषां मनुष्यगत्यादिपञ्चेन्द्रियप्रायोग्यबन्धकरणात्, अत एव तिर्यग्द्विकादीनां यशःकीर्तिवर्जानामसंख्यभागाधिको जघन्यस्थितिबन्धो भणितः, सर्वविशुद्धतेजोवायुकायिकानां तिर्यग्द्विकोद्योतनाम्नोस्तथाविधपृथिवीकायिकादीनामन्यतमस्य ध्रुवबन्ध्यौदारिकशरीरादीनां जघन्यस्थितिबन्धभावात्। आतपनाम त्वेकेन्द्रियप्रायोग्य बध्नता एव बध्यते इति तदीयस्थितिर्जघन्यादिद्विविधैव सम्भवति, एकेन्द्रियप्रायोग्यजघन्यस्थितिं बध्नतस्तत्प्रायोग्यसर्वविशुद्धस्याऽप्यातपनामबन्धसम्भवात्। शेषं स्यान्नियतबन्धादिकं तु प्रागिव योज्यम्, तथाहि—आतपनाम्नो हि स्वभावत एव स्याद्बन्धः सर्वत्र भणितः, एवमुद्योतस्याऽपि, स्थिराद्याः षट् तु प्रतिपक्षसहिता इति तासामपि स्याद्बन्धः, शेषास्तु प्रतिपक्षरहिता इति नियतबन्ध इत्यादि, विस्तरतस्तु स्वयमेव विभावनीयमिति। ननु एकेन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतस्तिर्यग्गत्यादीतरप्रकृतीनां बन्धप्रायोग्यत्वाभावेन भवतु तिर्यग्गत्यादीनां बादरत्रिकवर्जानां नियतबन्धः, परं बादरत्रिकवत्सूक्ष्मत्रिकस्याऽपि, एवमपर्याप्तसूक्ष्म-बादरप्रायोग्यं बध्नतः पराघाता-

णवर कमाऽऽगिईए तइआईए लहुमलहुं व सिआ । कुणइ असंखंसहियं दुइआईणं पणागिईणेवं ॥
॥९५२-९५५॥ (प्रथमा चतुर्थी च गीतिः)

(प्रे०) "**रिसहस्स**"इत्यादि, तत्र '**रिसहस्से**' त्येतत्प्रभृतेस्तृतीयगाथास्थं '**लहुमलहुं व**' इत्येतदन्तेन द्वितीयसंहननप्रधानः संनिकर्षः भणितस्तत्र '**ऋषभस्य**'इति भीमो भीमसेन इति न्यायादृपभनाराचाख्यस्य द्वितीयस्य संहनननाम्नः '**हस्सबंधी**'त्ति जघन्यस्थितेर्बन्धक इत्येतावदुद्देश्यम् । अथ विधेयमाह–"**बधेइ**" इत्यादि, '**तिरिणरदुग**' इत्यादिना भणितानां तिर्यग्द्विकादीनामेकादशप्रकृतीनां स्याद्बन्धको भवति, स्थितिं तु तासाम् '**असंखभागऽहिय**'त्ति स्वीयस्वीयजघन्यस्थितिबन्धादसंख्यभागेनाधिकां बध्नाति, सुगमः, केवल प्रथमाकृतेरपि स्याद्बन्धस्तत्प्रतिपक्षभूतस्य द्वितीयसंस्थाननाम्नोऽपि बन्धप्रायोग्यत्वाद् । अत एवाऽग्रे तृतीयगाथापूर्वार्धे '**दुइआगिईअ सिआ**' इत्यनेन द्वितीयाकृतेरपि स्याद्बन्धो भणिष्यति, केवलं तथाविधप्रकृतिबन्धविच्छेदक्रमे द्वितीयसंहननेन सममेव द्वितीयसंस्थानस्य विच्छिद्यमानत्वात्तस्य प्रागुक्तन्यायेन जघन्य इवाऽजघन्योऽपि बन्धो भवितुमर्हति,प्रथमसंस्थानस्य तु द्वितीयसंहननजघन्यस्थितिबन्धप्रायोग्यविशुद्धितोऽप्यधिकविशुद्धौ बन्धसम्भवेनोत्तरत्र विच्छिद्यमानतयोत्तरत्रैव जघन्यस्थितिबन्धः, इह द्वितीयसंहननजघन्यस्थितिं बध्नतस्तु तस्याऽजघन्यो जघन्यादसंख्येयभागाधिक एव जायत इत्यतस्तत्प्रस्तावादिह संगृहीतम् , द्वितीयसंस्थानं तूत्तरत्र ग्रहीष्यत इति । "**पंचिंदिय**" इत्यादि, तत्र सुभगत्रिकसुखगतिवर्जानां नियतबन्धः प्रकृतिबन्धसंनिकर्षादेव गतार्थः, यतो द्वितीयसंहननं बध्नन् जीवः पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्यं पर्याप्तमनुष्यप्रायोग्यं वैव बध्नाति, तद् बध्नतश्च पञ्चेन्द्रियजात्याद्या नियमतो बध्यन्ते, सुभगत्रिक सुखगत्योस्तु प्रकृतिबन्धसंनिकर्षे स्याद्बन्धोऽपि इह जघन्यस्थितिबन्धप्रस्तावे द्वितीयसंहननजघन्यस्थितिं बध्नतस्तथाविधविशुद्धतया बन्धप्रायोग्यशुभाशुभसप्रतिपक्षप्रकृतिमध्यात्प्रागुक्तनीत्या शुभा एव प्रकृतयो बध्यन्ते, तथाच दुर्भग-दुःस्वराऽनादेय कुखगतिनाम्नां बन्धाभावेन सुभगाद्या नियमतो बध्यन्ते । **नन्वेवं** तर्हि यशःकीर्त्ययशःकीर्तिनाम्नोर्मध्ये यशःकीर्तिनामबन्धेनैव भवितव्यम् , न त्वयशःकीर्तिनामबन्धेनाऽपि, तथाच पूर्वं यस्तिर्यग्द्विकादिना सममयशःकीर्तिनाम्नः स्याद्बन्धो भणितः, उत्तरत्र '**सिआ जसस्स**' इत्यनेन यशःकीर्तिनाम्नोऽपि यः स्याद्बन्धो भणिष्यते च तेन कथं नाऽसङ्गतिः ? **इति चेत्** , स्थिरद्विकादिस्याद्बन्धन्यायेन तदभावात् । **अयम्भावः**–प्रधानीकृतद्वितीयसंहनननाम्नो बन्धविच्छेदस्थानात्पूर्वमेव दुर्भग-दुःस्वराऽनादेयनाम्नां बन्धविच्छेदभावेन सुभगनामादीनां तिसृणां प्रकृतीनां नियमबन्धभावेऽपि स्थिरत्रिकं तु सप्रतिपक्षं द्वितीयसंहनननामबन्धविच्छेदस्थानादुत्तरमेव बन्धविच्छेदविषयम् । कुतः ? अस्थिरादीनां दुर्भगनामाद्यपेक्षया द्वितीयादिसंहननाद्यपेक्षया चाऽल्पाऽशुभत्वात् , अत एवाऽस्थिरादीनां षष्ठगुणं यावद्बन्धो भणितः, तथाच तस्य सप्रतिपक्षस्य बन्धप्रायोग्यतया स्याद्बन्ध एव

संनिकर्षवत्प्रसाध्यः, केवलमिहौदारिकद्विकादिजघन्यस्थितिं बध्नतां तेजस्काय-वायुकायिकानां तिर्यग्द्विकबन्धभावेऽपि मनुष्यद्विकबन्धाभावात्, तामेव बध्नतां पृथिवीकायिकादीनां पुनः स्वप्रायोग्यसर्वोत्कृष्टपारभविकोत्पत्तिस्थानस्य मनुष्यरूपतया मनुष्यद्विकस्यैव बन्धभावेन तिर्यग्द्विकबन्धाभावात्, अर्थात् तेजस्कायवायुकायैस्तदितरैरेकेन्द्रियजीवैश्च तिर्यग्द्विक-मनुष्यद्विकयोः परस्परपरिहारेण बध्यमानत्वात् तासां तिर्यग्द्विकादिचतुःप्रकृतीनां स्याद्बन्धो भणित इति॥९४८-९४९॥

तदेवं भणितः पञ्चेन्द्रियनामप्रधानस्तत्साम्यादौदारिकद्विकादिप्रकृतिप्रधानश्च प्रस्तुतः स्वस्थानौघिकजघन्यस्थितिबन्धसंनिकर्षः, तदनु क्रमप्राप्तशरीराङ्गोपाङ्गप्रकृतिभेदप्रधानोऽसौ वक्तव्यस्तत्र तावदौदारिकद्विकप्रधानोऽनुपदं पञ्चेन्द्रियजात्या समम्, एवं तैजसकार्मणशरीरनामकर्मप्रधानोऽपि तया समं भणितः, वैक्रियद्विकप्रधानस्त्वसौ देवद्विकेन समम्, प्रागभिहितश्चेत्यतः शेषाऽऽहारकद्विकप्रधानं व्याचिकीर्षुस्तत्साम्याज्जिननामप्रधानमपि तमाह--

एगस्सा-ऽऽहारदुगा लहुबंधी उ णियमेयरस्स लहू। अलहुं व जिणस्स सिआ जसस्स णियमा असखगुणअहियं॥
णियमा धुवबंधीणं तह सेससुहाण देवजोग्गाण। सगवीसाए बंधइ संखगुणहियं जिणस्सेव॥
॥ ९५०-९५१ ॥(प्रथमा गीतिः)

(प्रे०) "एगस्स" इत्यादि, सुगमे, केवलं ध्रुवबन्ध्यादीनां सप्तविंशतेः स्वजघन्यस्थितिबन्धापेक्षया संख्येयगुणाधिकः स्थितिबन्धस्तु तासामौघिकजघन्यस्थितेर्यथासम्भवमेकेन्द्रिया-ऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्वामिकत्वात्, प्रस्तुतप्रधानीकृताऽऽहारकद्विकजघन्यस्थितिबन्धस्वामिनां तु निवृत्तिबादरस्वचरमस्थितिबन्धकक्षपकत्वाच्च। अयम्भावः-अष्टमगुणस्थाने स्वचरमस्थितिबन्धे जायमानो बध्यमानप्रकृतीनां क्षपकस्वामिकोऽपि ह्रस्वस्थितिबन्धोऽन्तःकोटीकोटीसागरोपममानः, स यैकेन्द्रियादिस्वामिकतत्तत्प्रकृत्यौघिकजघन्यस्थितिबन्धापेक्षया संख्येयगुणाभ्यधिक एव, यतः ध्रुवबन्ध्यादीनामौघिकजघन्यस्थितिबन्धः पल्योपमासंख्यभागन्यूनसागरोपमत्रिसप्तभागादिमानः, वैक्रियद्विकादीनान्त्वसौ पल्योपमसंख्येयभागोनसागरोपमसहस्रद्वयसप्तभागमानश्चेति ॥९५० ९५१॥

तदेवं गतः शरीराङ्गोपाङ्गनामप्रकृतिप्रधानोऽपि प्रस्तुतसंनिकर्षः, साम्प्रतं क्रमप्राप्तसंहननप्रकृतिप्रधानं त विभणिषुः प्रथमसंहननप्रधानस्य तस्य पञ्चेन्द्रियजात्यादिप्रधानसंनिकर्षेण समं भणितत्वात् क्रमप्राप्तद्वितीयसंहननप्रधानं साक्षात् तत्तुल्यप्रायोवक्तव्यत्वात्सापवादातिदेशेन तृतीय-चतुर्थ-पञ्चम-षष्ठसंहनननामप्रकृतिप्रधानं, द्वितीयसंहननादिप्रधानप्रस्तुतसंनिकर्षेण तुल्यत्वाद् द्वितीयादिसंस्थानपञ्चकप्रधानं चेत्येवं सर्वसंख्यया दशप्रकृतिप्रधानं प्रस्तुतसंनिकर्षमाह, गाथाचतुष्टयेन—

रिसहस्स हस्सबंधी बंधेइ सिआ असखभागहियं। तिरिणरदुग-पढमागिइ-उज्जोअ-अजस-थिरा-ऽथिरदुगाणं॥
पंचिंदि-उरलदुग-धुव-परघा-ऊसास-तस-चउक्काणं। सुहगतिग सुखगईण असखभागाहियं णियमा॥
कुणइ असंखगुणऽहिय सिआ जसस्स दुइआगिईअ सिआ। लहुमलहु वेव चउसंघयणाण तइआईणं॥

अथ प्राक् पराभिप्रायेण पर्याप्तासंज्ञिजीवैर्मनुष्यायुस्तिर्यगायुश्चोत्कृष्टतः पूर्वकोटीस्थितिकमेव बध्यते इति दर्शितम्, तथा च सति तन्मते जघन्यतः पल्योपमासंख्येयभागस्थितिबन्धाधीना यथोक्ता निषेकद्विगुणहानयः पर्याप्तासंज्ञिजीवभेदे तयोः द्वयोरायुःप्रकृत्योर्न घटन्ते, अतस्तन्मते यो विशेषस्तमपि प्रकरणात् सहेतुकं दर्शयन्नाह—

पज्जत्तासण्णिम्मि उ बिंति परे तिरिणराउवज्जाणं ।
जं तम्मयम्मि ताणं आऊणं पुव्वकोडिठिइबंधो ॥५४॥ (गीतिः)

(प्रे०) "**पज्जत्तासण्णिम्मि**" इत्यादि, कण्ठया, नवरं "**ताणं आऊणं**" ति तयोस्तिर्यग्नरायुषोरित्यर्थः । यत्पुनर्बहुवचनान्तो निर्देशः स तु प्राकृतवशादेव बोद्धव्यः, यदाहुः श्री**हेमचन्द्रसूरिपूज्याः** स्वप्रणीतप्राकृतलक्षणे–'द्विवचनस्य बहुवचनम्' इति ॥५४॥

नन्वनन्तरं यदुक्तं "एवं उक्कोसठिइं णेयं अप्पप्पणो जाव" इति तत्र तत्तत्प्रकृतीनामात्मन आत्मन उत्कृष्टां स्थितिं यावत् प्रतिपल्योपमासंख्येयभागमतिक्रम्यातिक्रम्य निष्पद्यमानान्यर्धार्धदलिकाग्रनिषेकलक्षणानि निषेकस्य द्विगुणहानिस्थानानि प्रत्येकं कियन्ति स्युः ? किमेतानि द्विगुणहान्योरेकान्तरालगतनिषेकस्थानराश्यपेक्षया स्तोकान्युताधिकानीत्याशङ्कायां तयोः परिमाणमल्पबहुत्वं च दर्शयन्नाह—

णाणंतरठाणाइं असंखियतमोऽत्थि पल्लमूलंसो ।
तत्तो असंखियगुणं इगंतरमसंखमूलाणि ॥५५॥

(प्रे०) "**णाणंतरठाणाइ**"मित्यादि, इह नाना इति शब्दोऽनेकवाची, तथा च नाना-अनेकानि यानि पल्योपमाऽसंख्येयभागगतसमयप्रमाणानि स्थितिस्थानानि तान्यन्तरीकृत्य निष्पन्नानि स्थानानि नानाऽन्तरस्थानानि, अनन्तरं परम्परोपनिधाप्ररूपणायां दर्शितानि निषेकद्विगुणहानिस्थानानीति भावः, तानि नानान्तरस्थानानि परिमाणमधिकृत्य "**असंखियतमोऽत्थि पल्लमूलंसो**" त्ति पल्योपमस्य प्रथमवर्गमूलस्याऽसंख्येयतमः 'अंशः'-भागः सन्ति, पल्योपमप्रथमवर्गमूलस्याऽसंख्येयतमभागगतसमयतुल्यानि भवतीन्ति भावः । "**तत्तो**" त्ति तेभ्यो नानान्तरस्थानेभ्यः "**असंखियगुणं इगंतरं**" ति द्विगुणहानिस्थानयोरेकमन्तरमसंख्येयगुणं भवति, तच्चैकं द्विगुणहान्यन्तरं, द्विगुणहान्योरन्तरालवर्तिस्थानानीति भावः । "**मसंखमूलाणि**" त्ति अन्तरोक्तात् "**पल्लमूलंसो**" इत्यस्मात् पल्यशब्दमाकृष्यात्रापि योजनात् पल्योपमस्यासंख्येयानि 'मूलानि' प्रथमवर्गमूलानित्यर्थः । सुगमम् । इति । विस्तरार्थिना त्विहापि **मूलस्थितिबन्धविधानप्रथमाधिकारतृतीयद्वारवृत्तिर्विलोकनीयेति** ॥५५॥

तदेवं दर्शितं निषेकद्विगुणहानि-तदेकान्तरयोरल्पबहुत्वं सप्रमाणम्, तस्मिंश्च दर्शितेऽवसितं द्वितीयं निषेकद्वारम् ॥

॥ इति प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते बन्धविधान उत्तरप्रकृतिस्थितिबन्धे प्रथमाधिकारे द्वितीयं निषेकद्वारम् ॥

स्यादिति न काचिदसंगतिः, यत्पुनः तिर्यग्द्विकादिना समं स्थिरादिसप्रतिपक्षाणां भणनेऽपि तत्राऽयशःकीर्तिनाम्न एव ग्रहणम्, यशःकीर्तिनाम्नस्तूत्तरत्र पृथग्ग्रहणं तत्तु यशःकीर्तिनामजघन्यस्थितेरष्टमुहूर्तमात्रत्वेन तदपेक्षयैकेन्द्रियस्वामिकस्य तस्याऽसंख्येयगुणत्वात्, अयशःकीर्तिनाम्नस्तु जघन्यस्थितिबन्धस्याप्येकेन्द्रियस्वामिकत्वेन जघन्यापेक्षया प्रस्तुतस्याऽसंख्येयभागमात्राधिकत्वाच्चेत्येवं सर्वं प्रागुक्तनीत्या स्वयं विभावनीयमिहोत्तरत्र च । न च तिर्यग्द्विकादिना समं स्थिरादेरपि सप्रतिपक्षस्य युगपत्पठनात् स्वस्वजघन्यस्थितिबन्धादसंख्येयभागेनाधिकः स्थितिबन्धः किं परस्परं तुल्यो भवतीत्याशङ्क्यम्, तस्य तुल्यत्वस्याऽतुल्यत्वस्य वा बन्धविच्छेदक्रमाधीनत्वाद् वर्गोत्कृष्टस्थित्यधीनत्वाच्च । बन्धविच्छेदक्रमे तुल्यस्थानगतानां प्रकृतीनां वर्गोत्कृष्टस्थितेस्तुल्यत्वे स्यात्तुल्योऽपि वर्गोत्कृष्टस्थितेरतुल्यत्वेऽतुल्यस्थानगतानां चातुल्य एवाऽसौ भवतीति सम्यगभ्यूह्योत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षोपपत्त्यनुसारेणेहापीति भावः। शेषं तु गतार्थम् । अथ **'एवं चउसंघयणाण'** इत्यादिना तृतीयादिसंहननचतुष्टयप्रधानमाहातिदेशादिना, तत्राऽतिदेशः सुगमः, **"णवर"** मित्यादिना भणितोऽपवादस्तु प्रथमादिक्रमेण व्यवस्थितानां संहननसंस्थानप्रकृतीनां मध्ये प्रधानीकृतसंहननेन समं द्वितीयादिना व्यवस्थितक्रमेणैव तुल्यानां तुल्यस्थानव्यवच्छिद्यमानतया जघन्याऽजघन्यान्यतरविधः स्थितिबन्धो भवेद्यथोधिकोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षे भणितः, अन्येषां पूर्ववर्तिनां प्रथमादीनां त्वजघन्य एकेन्द्रियादितत्तत्स्वाम्यनुसारेणाऽसंख्येयभागादिनाऽभ्यधिकोऽजघन्य एव स्यात्, उत्तरवर्तिनां तु व्यवच्छेदक्रमे पूर्ववर्तित्वाद् बन्ध एव न भवेत्, तथाच प्रकृते तृतीयसंहननप्रधानतायां प्रथमद्वितीयसंस्थानयोः स्यादसंख्यभागाभ्यधिकजघन्यस्थितिबन्धो भवेत्, तृतीयसंस्थानस्य तु स्याज्जघन्यो वाऽजघन्यो वाऽसौ भवेत्, अन्यसंस्थानानां तु नैव । चतुर्थसंहननप्रधानतायां सतृतीययोः प्रथमद्वितीययोस्तयोः स्यादसंख्यभागाभ्यधिकजघन्यो भवेत्, चतुर्थस्य जघन्याऽजघन्यान्यतरविधः, शेषयोः पञ्चम-षष्ठयोस्तु नैव भवेदित्येवमग्रेऽपि द्रष्टव्यम्। एतदेव दर्शितं **'णवर'** मित्यादिना **'असंखंसहियं'** इत्यन्तेनेति ।

तदेवं द्वितीयादिसंहननपञ्चकप्रधानं प्रस्तुतसंनिकर्षमभिधाय तत्तद्द्वितीयादिसंहननेन समं तुल्यस्थानविच्छिद्यमानतया तुल्यमिति कृत्वा द्वितीयादिपञ्चसंस्थानप्रकृतिप्रधानं प्रस्तुतसंनिकर्षमतिदिशति चतुर्थगाथाचतुर्थपादेन **"दुइआईणं पणागिईणेवं"** इति सुगमम्, तत्तत्प्रथमादिसंस्थानस्थाने तत्तत्प्रथमादिसंहननमुखेन सर्वमनन्तरोक्तनीत्या द्रष्टव्यमविशेषेणेति ॥९५२-९५५॥

अथ प्रथमसंस्थानप्रधानः संनिकर्षस्तु प्राक् पञ्चेन्द्रियजातिप्रधानेन तेन समं भणित एव, तथाच गतः संहननप्रकृतिप्रधानवत्संस्थानप्रकृतिप्रधानोऽपि संनिकर्षः, एवं तदनु क्रमलभ्यमानवर्णचतुष्कप्रधानस्य संनिकर्षस्य ध्रुवबन्धिन्यन्तर्गतत्वेन पञ्चेन्द्रियजात्यादिना सम, आनुपूर्वीचतुष्टयप्रधानस्य तु तस्य तत्तद्गत्यादिप्रधानसंनिकर्षेण समं च भणितत्वात्क्रमप्राप्तविहायोगतिनाममध्ये

प्रशस्तविहायोगतिनाम्नः पञ्चेन्द्रियजात्यादिनाम्ना सममेव भणित्वादवशिष्टाऽप्रशस्तविहायोगतिनामप्रधानं तं विभणिषुस्तथाविधप्रकृतिविच्छेदक्रमे तुल्यस्थानगतत्वेन तुल्यवक्तव्यत्वाद्दुर्भगत्रिकमपि सममेव संगृह्य प्राह—

एगस्स जहण्णठिइं बंधंतो दुहगतिग-कुखगईओ। अण्णेसिं तिण्ह सिआ बंधेइ लहुं अहव अलहुं ॥
तप्पडिवक्खाण तह छागिइसघयण-तिरिणरदुगाणं। थिरअथिरदुग-अजस-उज्जोआण सिआ असंखभागऽहियं ॥
पंचिंदिय-धुव-रलदुग-परघा ऊसास-तसचउक्काण। णियमाऽसंखसहियं असंखियगुणाहियं जसस्स सिआ ॥ ९५६-९५८ ॥ (द्वितीया तृतीया च गीतिः)

(प्रे०) "एगस्स" इत्यादि, अक्षरार्थः सुगमः, केवलं "तप्पडिवक्खाणं" ति दुर्भगत्रिक-दुःखगतिलक्षणप्रकृतिचतुष्टयमध्यात्प्रधानीकृतैकप्रकृतिं विहाय शेषप्रकृतित्रयप्रतिपक्षभूतप्रकृतीनां तथा "छागिइसंघयण" इत्यत्र षट्शब्द आकृतिसंहननयोः प्रत्येकं सम्बध्यते, तथैव "तिरिणरदुगाण" मित्यत्र "थिरअथिरदुग" इत्यत्र च द्विकशब्दविषयेऽपि ज्ञेयम्। भावार्थस्तु पूर्ववद्गुन्नेयः, दुर्भगनामादीनां तुल्यस्थानविच्छिद्यमानत्वात्, तत्प्रतिपक्षभूतानां सुभगनामादीनां षड्विधसंहननसंस्थानादीनां च दुर्भगत्रिकादित उत्तरविच्छिद्यमानत्वाच्च; एवं प्रधानीकृतेतरासां च तेषां सुभगनामादीनां संहननादीनां द्वाविंशतेर्यशःकीर्तिनाम्नश्च प्रतिपक्षसहितत्वात्, पञ्चेन्द्रियजात्यादीनां तु प्रतिपक्षरहितत्वाच्च क्रमेण स्यान्नियमबन्धश्चेत्यादिः ॥९५३-९५८॥

तदेवं गतः पिण्डप्रकृतिप्रधानः प्रस्तुत ओघिकस्वस्थानजघन्यस्थितिबन्धसंनिकर्षः। अष्टविधप्रत्येकप्रकृतिप्रधानोऽप्यसौ तिर्यग्द्विकादिकया तया तया प्रकृत्या सममुद्योतादेस्तस्यास्तस्याः प्रकृतेः प्राधान्येन तत्र तत्र "उज्जोअस्सेवमेव भवे" इत्यादिना भणित एव। तदनु त्रसस्थावरदशकद्वयमधिकृत्यावसरः, तत्र त्रसदशकमध्याद् यशःकीर्तिनाम्नो जघन्यस्थितिं बध्नतस्तदन्यस्या नामप्रकृतेर्बन्धाभावेन शेषप्रकृत्यपेक्षया विलक्षणतया सर्वपश्चाद्वक्ष्यमाणत्वाद्, यशःकीर्तिवर्जशेषत्रसनवकप्रधानस्य प्रस्तुतसंनिकर्षस्य तु 'एगस्स हस्सबंधी उरलदुगे' त्यादिना पञ्चेन्द्रियजात्यौदारिकद्विकादिप्रधानसंनिकर्षेण समं भणितत्वात्, स्थावरदशकप्रविष्टस्थावरनामप्रधानस्यैकेन्द्रियजातिप्रधानेन संनिकर्षेण सहाभिहितत्वाच्चाऽवशेषप्रकृतिमध्ये सूक्ष्मनामप्रधानमभिधित्सुस्तत्तुल्यप्रायवक्तव्यत्वात्साधारणनामप्रधानं तमतिदिदिक्षुश्चाहैकामार्याम्—

थिरअथिरदुगाण सिआ सुहुमऽणुबंधी असंखभागऽहिय। णियमाऽण्णपज्जपत्तेआण साहारणस्सेवं ॥ ॥ ९५९ ॥

(प्रे०) "थिरअथिर०" इत्यादि, अक्षरार्थः सुगमः, केवलम् "असंखभागऽहिय" इत्यस्यान्वये देहलीदीपकन्यायोऽनुसर्तव्यः, "ऽण्णपज्जपत्तेआणं" इत्यनेन उक्तस्थिराऽस्थिरयुगलद्वयं प्रधानीकृतं सूक्ष्मनाम चेत्येताभ्यः पञ्चप्रकृतिभ्योऽन्या याः सूक्ष्मपर्याप्तप्रत्येकप्रायोग्या नामप्रकृतयस्ता

बोध्याः, तद्यथा-तिर्यग्द्विकै-केन्द्रियजात्यौ-दारिकशरीर-हुंडसंस्थान-ध्रुवबन्धिनीनवक-पराघातो-च्छ्वास-स्थावर-पर्याप्त-प्रत्येक-दुर्भग-ऽनादेया-ऽयशःकीर्तिनामानीति । इह सूक्ष्मप्रायोग्या अन्याऽपर्याप्त-साधारणनामलक्षणा प्रकृतिद्वयी विद्यते एव, परं सूक्ष्मजघन्यस्थितिं बध्नतस्तथाविधविशुद्धियुतत्वेन न तद्बन्धः, अत एव पर्याप्तप्रत्येकनाम्नोरपि तिर्यग्द्विकादिवदध्रुवो बन्धो भणितः,शेषं तु गतार्थम् ।

अथ साधारणनाम प्रतीत्यातिदेशेन प्रस्तुतसंनिकर्षमाह–"**साहारणस्सेवं**" इति सुगमम् , केवलं साधारणनाम्नः प्रधानीकृतत्वेन सूक्ष्मनामस्थाने साधारणनाम वक्तव्यम् , साधारणप्रतिपक्षतया प्रत्येकनाम्नः प्रतिषेधः कार्यः, तत्स्थाने सूक्ष्मनामाऽनुक्त्वा बादरनाम्नो ग्रहः कर्तव्यश्च । तथा-चेह–"अण्णपज्जपत्तेआणं" इत्यस्य स्थाने 'अण्णपज्जबायराणं' इत्येवं स्यात् , तेन च तिर्यग्द्विकै-केन्द्रियजात्यौ-दारिकशरीर-हुंडसंस्थान-ध्रुवबन्धिनीनवक-पराघातो-च्छ्वास-स्थावर बादर-पर्याप्त दुर्भगा-ऽनादेया ऽयशःकीर्तिनामलक्षणा द्वाविंशतिः प्रकृतयो गृहीताः स्युरिति । भावार्थस्तु गतार्थ एवेति ॥ ९५९॥

अथाऽपर्याप्तनामाधिकृत्य प्रस्तुतसंनिकर्षं प्राह—

तिरियणरदुगाण सिआऽसखसहियं अपज्जलहुबधी । णियमा बावीसाए अण्णाण पणिदिजोग्गाणं ॥
॥९६०॥

(प्रे०) "**तिरियणरदुगाण**"इत्यादि, अक्षरार्थः सुगमः, केवलं प्रागिव "**असंखसहियं**" इत्येतत् पूर्वमुत्तरं च सम्बध्यते, भावार्थस्त्वेयम्–प्रधानीकृताऽपर्याप्तनामौघिकजघन्यस्थितिबन्धस्वाम्येकेन्द्रियः,बध्नाति चासौ अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्यं तादृग्मनुष्यप्रायोग्य वा, विशेषतस्तु प्रागिव भावनीयं स्वयमेव । "**बावीसाए**" इत्यनेन संगृहीता द्वाविंशतिप्रकृतयस्त्विमाः–पञ्चेन्द्रि-यौदारिकद्विक-सेवार्तसंहनन-हुंडसंस्थान-ध्रुवबन्धिनी नवक-त्रसादित्रयो-ऽस्थिरपञ्चकानीति॥९६०॥

अथाऽस्थिराद्युक्तशेषप्रकृतिप्रधानप्रस्तुतौघिकस्वस्थानजघन्यस्थितिबन्धसंनिकर्षप्रतिपादनेन स्वस्थानौघिकजघन्यस्थितिबन्धसंनिकर्षं समापयन्नाह—

अथिरस्स हस्सबंधी, असखियगुणाहिय जसस्स सिआ । बधइ तिरिणरदुग-सुह-उज्जोआणं असंख-भागऽहियं ॥
णियमा पणिदि-धुव-रल-दुग वइर-सुखगइ-आगिईण तहा । परघा-ऊसास-सुहगतिग तसचउगाण बधेइ ॥
हस्समहस्सं च सिआ बंधेइ ठिइ तु असुह-अजसाण । एवमसुहअजसाण जसलहुबंधी ण चिअ सेसा ॥
॥ ९६१-९६३ ॥(प्रथमा गीति)

(प्रे०) "**अथिरस्स**" इत्यादि, तत्र सार्धगाथाद्वयेनाऽस्थिरनामप्रधानः प्रस्तुतसंनिकर्षः साक्षात् ,"**एवमसुहअजसाण**"इत्यनेन तृतीयगाथोत्तरार्धस्थेनाऽशुभनामा-ऽयशःकीर्तिनामलक्षण-प्रकृतिद्वयप्रधानोऽसावतिदेशेन, "**जसलहुबंधी**" इत्यादिना गाथाशेषेण तु यशःकीर्तिनामप्रधान-श्चासौ भणितः । अक्षरार्थस्तु सुगमः, केवलं प्रागिवेहापि प्रथमगाथाप्रान्तस्थस्य "**असंखभाग-**

ऽहियं" इत्यस्य पूर्वमुत्तरत्र च सम्बन्धो द्रष्टव्यः । भावार्थस्तु प्रागिव योज्यः, तद्यथा "तिरिणरदुग" इत्यादिना संगृहीताः षट् प्रकृतयो यशःकीर्तिनामा-ऽशुभा-ऽयशःकीर्तिनाम्नी चेत्येवं नवप्रकृति-मध्याद् विहायोद्योतनाम शेषाऽष्टौ परस्परं प्रतिपक्षभूता इति तासां स्याद्बन्धः, उद्योतनाम्नस्तु तथास्वाभाव्यादेव तथा पञ्चेन्द्रियादीनां तु प्रतिपक्षरहितत्वादिना नियतो बन्धः, शेषं यशःकीर्तिनामा-दीनां स्वीयस्वीयजघन्यस्थितिबन्धादसंख्यगुणादिस्थितिबन्ध इत्यादि तु सुगममेव, केवलमशुभा-ऽयशःकीर्तिनाम्नोर्जघन्योऽजघन्यो वा स्थितिबन्धस्तयोः विशुद्ध्यभिमुखचार्यध्यवसायस्थानगत-प्रकृतिबन्धविच्छेदक्रमे प्रधानीकृतास्थिरनामप्रकृत्या तुल्यस्थानपतितत्वाद्, अत एवाऽशुभा-ऽयशः-कीर्तिनामप्रधानः प्रस्तुतसंनिकर्षः "एवमसुहअजसाणं" इत्यनेन निरपवादमस्थिरनामप्रधान-प्रस्तुतसंनिकर्षवदतिदेशेन प्रतिपादितः, स च प्रागिव तत्तदस्थिरादिप्रकृतिस्थाने तत्तदशुभादिप्रकृ-तिमादाय स्वयमेव वाच्यः । यशःकीर्तिनामप्रधानस्तु सुगम एव, दशमगुणस्थानचरमस्थितिबन्धे वर्तमानस्य क्षपकस्य तदीयजघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वात् तदानीं मतिज्ञानावरणादीनां प्रकृतीनां बन्ध-भावेऽपि यशःकीर्तीतरनामप्रकृतेर्बन्धाभावात् स्वस्थानसंनिकर्षस्य प्रस्तुतत्वाच्चेति ॥९६१-९६३॥

तदेवं प्रतिपादितः सर्वासा बन्धप्रायोग्यविंशत्युत्तरशतप्रकृतीनामपि स्वस्थानजघन्यस्थिति-बन्धसनिकर्ष ओघतः, साम्प्रतं तमेवाऽऽदेशतो नरकगत्योघादिमार्गणास्थानेषु निजिगदिषुर्मति-ज्ञानावरणादिज्ञानावरणप्रकृतिपञ्चकप्रधानस्य प्रागेव भणितत्वात्त विहाय क्रमप्राप्तदर्शनावरणोत्तरप्रकृ-तिभेदानधिकृत्य विभणिषुरादौ तावद् यासु मार्गणासु स्वस्वबन्धप्रायोग्यप्रकृतीनामोघवद्भवति तासु मनुष्यगत्योघादिषट्त्रिंशन्मार्गणासु तमतिदेशेनैवाह—

ओघव्व लहुठिईए सप्पाउग्गवुहआवरणगाण । तिणर-दुपणिवितसवय-कायुरल-तिवेअ-चउकसायेसु ॥
गयवेए णाणचउग-सजम-सामइअ-छेअ-सुहुमेसु । दसण-भवि-सम्म-खइअ-उवसम-सण्णीसु ग्राहारे ॥
॥९६४-९६५॥ (प्रथमा गीति)

(प्रे०) "ओघव्वे" इत्यादि, अक्षरार्थः सुगमः, केवलं "सप्पाउग्ग" इत्येतद्ग्रहणं गतवेदादिमार्गणाविशेषे निद्रापञ्चकस्य स्त्यानर्द्धित्रिकस्य वा बन्धाभावात्, "दुपणिवितसवय" इत्यत्र द्विशब्दः पञ्चेन्द्रिय-त्रस-वचोभिः प्रत्येकमन्वेति, तथाच तेनाऽपर्याप्तभेदवर्जे ओघ पर्याप्त-भेदभिन्ने द्वे पञ्चेन्द्रियमार्गणे द्वे त्रसमार्गणे तथा वचनयोगौघ-व्यवहारवचनमार्गणे च सगृहीते बोद्धव्ये; एवं "दंसण" इत्यनेन चक्षु-रचक्षु-रवधिदर्शनलक्षणदर्शनमार्गणात्रयसंग्रहो बोध्य इति । भावार्थस्त्वयम्—ओघवदतिदेशात् निद्रापञ्चकमध्यादन्यतमस्याः प्रकृतेर्जघन्यस्थितिं बध्नतस्तच्छेष-निद्राप्रकृतिचतुष्टयस्य नियमाद् जघन्याया अजघन्याया वा स्थितेर्बन्धो भवति, शेषचक्षुर्दर्शनावरणा-दिदर्शनावरणचतुष्टयस्याऽपि नियमत एव बन्धो भवति केवल स्थितिस्तु तस्य स्वीयजघन्यस्थिते-रसंख्येयगुणाऽभ्यधिका बध्यते । चक्षुर्दर्शनावरणाद्यावरणचतुष्टयमध्यादेकस्य जघन्यस्थितिं बध्न-

तस्तु शेषाऽचक्षुर्दर्शनावरणाद्यावरणप्रकृतित्रयस्य नियमतो जघन्याया एव स्थितेर्बन्धो जायते, निद्रापञ्चकं तु नैव बध्यत इत्यर्थः सम्पन्नः, स च ओघतो निद्रापञ्चकजघन्यस्थितिबन्धस्वामिनामेकेन्द्रियादिलक्षणैकरूपत्वात् दर्शनावरणचतुष्टयजघन्यस्थितिबन्धस्वामिनां यथोक्तनिद्रापञ्चकजघन्यस्थितिबन्धस्वाम्यपेक्षया विलक्षणत्वेऽपि सूक्ष्मसम्परायचरमस्थितिबन्धकलक्षणैकरूपत्वात् कुत्रचित्स्त्रीवेदादिषु श्रेणौ मार्गणाचरमस्थितिबन्धरूपत्वाद् वा दर्शनावरणचतुष्कजघन्यस्थित्यपेक्षया निद्रापञ्चकजघन्यस्थितेरसंख्येयगुणत्वाच्च तथा भणितः, भवति हि नानाप्रकृतीनां जघन्यस्थितेरेकरूपस्वामिकत्वे एकस्या जघन्यस्थितिबन्धेऽन्यासां जघन्योऽजघन्यो वा स्थितिबन्धः, भिन्नस्वामिकत्वे स्थितिबन्धतारतम्यगुणकानुसारेणाऽसख्येयभागाद्यधिकस्थितिबन्धोऽबन्धो वा,ध्रुवबन्धित्वे तु नियतबन्धश्च । एवमेव प्रकृतमार्गणास्वपि, तद्यथा–प्रत्येकं क्षपकाणां प्रवेशात्त एव केनचिदेकरूपेण तत्तन्मार्गणानुरूपेण दर्शनावरणाद्यावरणचतुष्टयजघन्यस्थितिबन्धस्वामिनः, तत्तन्मार्गणाप्रविष्टा यथासम्भवं पश्चात्कृताऽसंज्ञित्वभावा असञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रिया द्वीन्द्रियाद्याश्च मार्गणानुकूलेनैकरूपेण निद्रापञ्चकजघन्यस्थितिबन्धस्वामिनः, अमी च दर्शनावरणादिचतुष्टयजघन्यस्थितिबन्धस्वाम्यपेक्षया विलक्षणा एव, क्षपकस्वामिकजघन्यस्थितिबन्धापेक्षया ये निद्रापञ्चकजघन्यस्थितिबन्धस्वामिनस्तत्तत्पश्चात्कृताऽसंज्ञित्वाद्यास्तत्स्वामिको दर्शनावरणचतुष्टयस्थितिबन्धोऽसंख्येयगुण एव, प्रत्येकं मार्गणासु ध्रुवबन्धिन्यश्च नवाऽपि;इत्येवं मनुष्यगत्योघपर्याप्तमनुष्यादिषु गाथाद्वयसंगृहीतासु षट्त्रिंशन्मार्गणासु प्रत्येकं दर्शनावरणोत्तरप्रकृतिप्रधानः प्रस्तुतो जघन्यस्थितिबन्धसंनिकर्ष ओघवदेव लभ्यते, केवलं कुत्रचिद्गतवेदे सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायां च निद्रापञ्चकस्यैव बन्धाभावेन ज्ञानचतुष्टया-ऽवधिदर्शन संयमौघ-सामायिकसंयम-छेदोपस्थापनसंयम-सम्यक्त्वौघ--क्षायिकसम्यक्त्वौ–पशमिकसम्यक्त्वमार्गणासु चक्षुर्दर्शनावरणादिवन्निद्राद्विकस्य बन्धप्रायोग्यत्वेऽपि स्त्यानर्द्धित्रिकस्य बन्धाभावेन तत्र भवति किञ्चिद्विशेषवक्तव्यत्वम् , तच्च "सप्पाउग्ग" इत्यनेनैव ज्ञापितं विशेयम् , वाच्यं तु स्वयमेव । तद्यथा–गतवेद सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणाद्वयेऽन्यतमस्याश्चक्षुर्दर्शनावरणाद्यावरणप्रकृतेर्जघन्यस्थितिं बध्नन् तच्छेषबन्धप्रायोग्याऽचक्षुर्दर्शनावरणाद्यावरणप्रकृतित्रयस्य नियमाज्जघन्याया एव स्थितेर्बन्धको भवति । मतिज्ञानादिमार्गणैकादशके चक्षुर्दर्शनावरणाद्यावरणचतुष्टयं प्रधानीकृत्याऽनन्तरभणितस्तथैव वाच्यः, केवलमधिकतो निद्राद्विकबन्धप्रतिषेधोऽपि वक्तव्यः, अत्रैकादशमार्गणासु निद्राद्विकस्य बन्धप्रायोग्यत्वेऽपि सूक्ष्मसम्परायचरमस्थितिबन्धे तस्य बन्धाभावात् । निद्राद्विकादन्यतमस्या जघन्या स्थितिं बध्नन् तु तदन्यस्याः प्रधानीकृतशेषाया नियमतो जघन्याया अजघन्याया वा स्थितेर्बन्धको भवति, दर्शनावरणाद्यावरणचतुष्टयस्य त्वसौ नियमतोऽसंख्येयगुणाधिकस्थितेश्च बन्धको भवतीति । इत्थमेवोत्तरत्राऽपि दर्शनावरणप्रकृतीरधिकृत्य विभावनीयः प्रस्तुतसंनिकर्ष इति ॥९६४-९६५॥

तदेवं प्रतिपादितो यासु मार्गणासु ओघवत्तासु बन्धप्रायोग्यप्रकृतीनामसौ तथा। एतर्हि नरकगत्योघादिक्रमेण त्रिभणिषुर्नरकगत्योघे "सेसासु" इत्यादिना शेषमार्गणाऽन्तर्गततया वक्ष्यमाणत्वात्क्रमप्राप्तद्वितीयनरकादिमार्गणास्थानेषु तत्साम्यादननुत्तरासु ज्योतिष्कादिदेवमार्गणासु वैक्रियद्विके तेजःपद्मलेश्यामार्गणयोश्चेत्येवं सर्वसंख्यया द्वात्रिंशन्मार्गणासु युगपदाह—

दुइआइछणिरयेसु गेविज्जतेसु जोइसाईसु । विउव्वदुगे तेऊए पम्हाए थीणगिद्धितिगा ॥
एगस्स ह्रस्सबंधी लहुमलहुं व णियमाऽण्णदोण्ह ठिइं । बंधइ णियमा छण्ह सेसाण संखगुणअहियं ॥
एगस्स ह्रस्सबंधी सेसछगाउ णियमाऽण्णपंचण्हं । लहुमलहुं वा बंधइ ण चेव खलु थीणगिद्धितिगं ॥
॥ ९६६-९६८ ॥

(प्रे०) "**दुइआइछ**" इत्यादि, तत्र '**दुइआइ**' इत्यादिना '**पम्हाए**' इत्यन्तेन द्वितीयनरकपृथिवीभेदाद्या द्वात्रिंशन्मार्गणाः संगृहीताः, '**थीणगिद्धितिगा**' इत्येतत्प्रभृतेः '**सेसाण संखगुणअहियं**' इत्येतदन्तेन स्त्यानर्द्धित्रिकप्रधानः सन्निकर्षः, तृतीयगाथया तु शेषषट्प्रकृतिप्रधानश्च प्रस्तुतसन्निकर्षः प्रतिपादितः,तत्र स्त्यानर्द्धित्रिकजघन्यस्थिति बध्नतस्तच्छेषाणां स्वीयस्वीयजघन्यस्थितिबन्धात् संख्येयगुणाभ्यधिको यः स्थितिबन्धो भणितः स तु प्रस्तुतमार्गणास्वसंज्ञिनामसंज्ञित्वपश्चात्कृतकार्मणकाययोगिनां वाऽप्रवेशेन निद्राद्विकादीनां मिथ्यादृष्टिस्वामिकजघन्यस्थितिबन्धस्याऽन्तःकोटीकोटीसागरोपमप्रमाणत्वेऽपि प्रस्तुतमार्गणाप्रविष्टाऽविरतसम्यग्दृष्ट्यादिस्वामिकस्य तस्य संख्येयगुणहीनत्वात् , एवं "**सेसछगाउ णियमाऽण्णपञ्चण्हं लहुमलहुं वा**"इत्यत्र शेषपञ्चानां जघन्योऽजघन्यो वा स्थितिबन्ध इत्येतत्तु प्रस्तुतमार्गणासु षण्णामपि शेषाणां तुल्यैकरूपजघन्यस्थितिबन्धस्वामिकत्वात् , शेषं तु सुगममिति ॥९६६-९६८॥

अथ पञ्चमनोयोगमार्गणासूक्तशेषासु तिसृषु वचोयोगमार्गणासु शुक्ललेश्यायां च प्रस्तुतमाह—

थीणद्धितिगाउ लहु एगस्स पणमण-तिवय-सुक्कासु । बंधतो अण्णेसिं लहुमलहु व णियमा दोण्ह ॥
चउवीआवरणाण णियमा बंधइ असंखगुणअहियं । णिद्दादुगस्स णियमा बंधइ संखेज्जगुणअहियं ॥
एगस्स ह्रस्सबंधी णिद्दादुगाऽण्णस्स ह्रस्समियरं वा । णियमाऽसंखगुणहियं चउण्ह ओघव्व सेसाण ॥
॥ ९६९-९७१ ॥

(प्रे०) "**थीणद्धितिगाउ**" इत्यादि, तत्र स्त्यानर्द्धित्रिकजघन्यस्थितिं बध्नतां "**चउवीआवरणाणं**" इत्यादिना चक्षुर्दर्शनावरणादीनां योऽसंख्येयगुणाधिकस्थितिबन्धो भणितः स प्रस्तुतमार्गणासु तासामौघिकजघन्यस्थितिबन्धस्वामिनां प्रवेशादोघोक्तनीत्या तासां संयमाभिमुखस्वामिकजघन्यस्थितिबन्धस्याऽसंख्येयगुणत्वात् , संयमाभिमुखानामेवेह मार्गणानवके स्त्यानर्द्धित्रिकजघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वाच्च, इत्थमेव निद्राद्विकजघन्यस्थितेः '**संखेज्जगुणअहिय**' इत्यनेन संख्येयगुणाधिकत्वं दर्शितं स्वीयजघन्यस्थितिबन्धात् , यतो निद्राद्विकजघन्यस्थितिबन्ध इहाऽपूर्वकरणक्षपकस्वामिकस्तदपेक्षया संयमाभिमुखस्वामिकस्तदीयजघन्यस्थितिबन्धः संख्येय-

विज्ञातव्यः, अत एवाऽनन्तरं शोकाऽरतिप्रधानसंनिकर्षे हास्यरतिप्रधानसंनिकर्षवत्पुंवेदस्य नियमबन्धो भणिष्यते;युगलद्वयात्पूर्वमेव व्यवच्छिद्यमानत्वात् स्त्रीनपुंसकवेदयोरिति भावः । अथ शोकाऽरतिप्राधान्येन प्राह–"लहुठिइबंधी सोगअरईउ" इत्यादि,सुगमं गतार्थं चेति ॥९७४-९७७॥

अथ क्रमप्राप्तद्वितीयपृथिवीप्रभृतिनरकमार्गणासु प्रस्तुतं विभणिषुस्तुल्यवक्तव्यत्वाज्ज्योतिष्कादिनवमग्रैवेयकान्तदेवगतिमार्गणासु वैक्रियतन्मिश्रयोगमार्गणयोश्चेत्येवं सर्वसंख्यया त्रिंशन्मार्गणासु युगपदाह—

[१]बुइआइछणिरयेसुं [२२]गेविज्जसेसु जोइसाईसुं । [२]विउव्वयुगे लहुबंधी चउअण-मिच्छाउ एगस्स ॥
लहुमलहुं वाऽण्णेसिं चउण्ह णियमाउ संखगुणअहियं । बारसकसाय-पुम-मय-कुच्छा-रइ-हस्समोहाणं ॥
एगस्स हस्सबधी बारकसाय-पुम हस्सचउगाओ । बधइ णियमाऽण्णेसिं ठिइ जहण्णमजहण्ण वा ॥
थीलहुबधी णियमा धुव-गुणवीसाअ सखगुणअहियं । जुगलाणं दोण्ह सिआ एमेव भये णपुंसस्स ॥
लहुठिइबधी सोगारईउ एगस्स हस्समियरं वा । इयरस्स उ णियमा पुम-चउद्दसधुवाण सखभागहियं ॥
॥ ९७८–९८२ ॥ (चरमा गीतिः)

(प्रे०) "बुइआइछणिरयेसु" इत्यादि, प्रस्तुतमार्गणासु प्रत्येकं मिथ्यात्वा-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्टय-स्त्री-नपुंसकवेदानां जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनो मिथ्यादृष्टय एव, तत्राऽपि स्त्री-नपुंसकवेदवर्जानां ते सम्यक्त्वाभिमुखाः, स्त्री-नपुंसकवेदयोस्तु स्वस्थानविशुद्धमिथ्यादृष्टयः, यतः सम्यक्त्वाभिमुखानां पुंवेदस्यैव बन्धः प्रवर्तते, स्त्री-नपुंसकवेदजघन्यस्थितिबन्धस्वामिमध्येऽपि स्त्रीवेदजघन्यस्थितिबन्धस्वामिनो विशुद्धतराः, यत उत्कृष्टतो यावत्या विशुद्ध्या नपुंसकवेदो बध्यते, ततोऽपि संख्येयभागोनस्थितिबन्धप्रायोग्याध्यवसायैः स्त्रीवेदो निर्वर्तयितुं शक्यते, कुतः ? तयोर्मध्ये स्त्रीवेदस्येतरापेक्षया प्रशस्तत्वात् ,अत एव ततोऽपि विशुद्धतरेण पुंवेद एव बध्यते;शेषकषायद्वादशकादीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनस्तु स्वस्थानसर्वविशुद्धसम्यग्दृष्टय एव, तत्राऽपि स्त्रीनपुंसकवेदवत् परावर्तमानबन्धतया हास्यरति-शोकारतिलक्षणयुगलद्वयमध्यादुत्कृष्टतो यावत्या विशुद्ध्या शोकारत्योर्जघन्यस्थितिबन्धस्ततोऽपि संख्येयभागोनस्थितिबन्धप्रायोग्यैरध्यवसायैः,अर्थात् प्रस्तुतमार्गणासम्भविसर्वाधिकविशुद्ध्याऽपि हास्य-रतियुगलं बन्धार्हं भवतीति सुज्ञेयमेव;किञ्च सम्यग्दृष्टिस्वामिकोत्कृष्टस्थितिबन्धापेक्षयाऽपि विहाय काञ्चन पश्चात्कृतासञ्ज्ञित्वभावान् जीवान् पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियमिथ्यादृष्टिस्वामिको जघन्यस्थितिबन्धः संख्येयगुणः प्राक्प्रतिपादित एव, न च प्रविष्टाः प्रस्तुतान्यतममार्गणायामपि पश्चात्कृतासंज्ञित्वभावा जीवाः, तथाच मूलोक्तसंनिकर्ष उपपद्येत ।

तद्यथा–अनन्तानुबन्धिचतुष्कमिथ्यात्वरूपाः पञ्च तुल्यैकरूपास्वामिकजघन्यस्थितिबन्धाः प्रकृतयस्तथाचैकस्या जघन्यस्थितिबन्धे तदन्यासां चतसृणां जघन्यो वाऽजघन्यो वा स्थितिबन्धो भवेत्पूर्वोक्तनीत्या, तदानीं स्त्रीवेद-नपुंसकवेदयोस्तु बन्धो नैव प्रवर्तते, किन्तु पुंवेदस्यैवासौ प्रवर्तते, पुंवे-

दन्यायेन परावर्तमानयुगलद्वयमध्यात् हास्यरतिलक्षणयुगलस्यैव बन्धः प्रवर्तते, तासां तिसृणां द्वादशकषायादिशेषचतुर्दशध्रुवबन्धिनीनां च जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनः सम्यग्दृष्टयो भणितास्तथाच तासां स्वीयस्वीयजघन्यस्थितिबन्धात्संख्येयगुणाधिकोऽजघन्यस्थितिबन्ध एवेह भवति । तासां नियतबन्धस्तु ध्रुवबन्धिनीनां ध्रुवबन्धित्वात् शेषाणां तिसृणां तु सम्यक्त्वाद्यभिमुखावस्थाविशेषे बन्धप्रायोग्यसप्रतिपक्षप्रकृतिमध्यादपि प्रशस्तानामेव बन्धस्य प्रवर्तनाच्चेत्येवमग्रेऽपि भावनीयं स्वयमेवेति । अक्षरार्थस्तु सुगमः, केवलम्–द्वितीयगाथापूर्वार्धे '**णियमाउ**' इत्यस्य विषये चतुर्थगाथायां '**संखगुणअहियं**' इत्येतद्विषये पञ्चमगाथायां '**णियमा**' इत्येतद्विषये च देहलीदीपकन्यायोऽनुसर्तव्यः, तृतीयगाथापूर्वार्धे '**हस्सचउगाओ**' इत्यनेन हास्य-रति-भय जुगुप्सालक्षणाश्चतस्रः प्रकृतयः संगृहीता बोद्धव्याः, पञ्चमगाथोत्तरार्धे '**चउदसधुवाण**' इत्यनेन द्वादशकषाया भय-जुगुप्से चेति ॥९७८ ९८२॥

अथ तिर्यग्गत्योघे प्रस्तुतं व्याजिहीर्षुस्तुल्यवक्तव्यत्वात् सर्वैकेन्द्रिय-सर्वपृथ्व्यादिपञ्चकायौदारिकमिश्र-कार्मणकाययोग-मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंयमा-ऽशुभलेश्यात्रया-ऽभव्य-मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञ्य-ऽनाहारकलक्षणास्वष्टपञ्चाशन्मार्गणास्वपि सममेवाह—

तिरिये सव्वेगिंदिय-पणकायो-रालमीस-कम्मेसुं । दुअणाणा-ऽजय-तिअसुहलेसासुं अभविमिच्छेसु ॥
अमणा-ऽणाहारेसुं एगस्स धुव-रइ-हस्स-पुरिसाओ । लहुठिइबंधी बंधइ णियमाऽण्णाण लहुमलहुं वा ॥
थीलहुबंधी णियमा धुवगुणवीसाअ-ऽसखभागहियं । जुगलाण दोण्ह सिआ एमेव भवे णपुंसस्स ॥
लहुठिइबंधी सोगा-ऽरईउ एगस्स हस्समियरं वा । इयरस्स कुणइ णियमा-ऽसखसहियं धुव-पुमाण ॥
॥९८३-९८६॥

(प्रे०) "**तिरिये**"त्यादि, सुगमा गाथाचतुष्टयी, उपपत्तिस्तु निरयगत्योघादिमार्गणावदेव, केवलं तत्र सर्वमोहनीयप्रकृतिजघन्यस्थितिबन्धः पश्चात्कृताऽसंज्ञित्वादिजीवस्वामिक इति कृत्वा स्त्रीवेद शोकादि-प्रधानसंनिकर्षे "थीलहुबंधी णियमा धुवगुणवीसाअ सखभागहियं" गाथा–(७७६) इत्यादिना ध्रुवबन्ध्यादीनां स्वीयस्वीयजघन्यस्थितिबन्धात् संख्येयभागाधिक एव स्थितिबन्धः कथितः, इह तु सर्वासां मोहनीयप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्ध एकेन्द्रियस्वामिकः, तथाच स्त्रीवेदादिजघन्यस्थितिं बध्नतो ध्रुवबन्ध्यादीनां स्वीयस्वीयजघन्यस्थितिबन्धादसंख्येयभागाभ्यधिक एव स्थितिबन्धो जायत इति विशेषः, स च सुगमः, एकेन्द्रियस्वामिकस्थितिबन्धेषु तदधिकतारतम्यस्यैवाऽसम्भवात् । अत एवेह तृतीयगाथापूर्वार्धे '**संखभागहियं**'मित्यस्य पूर्वमकारो व्यक्तो द्रष्टव्यः, एवमेव चतुर्थगाथोत्तरार्धे '**णियमासंखसहियं**' इत्यत्र '**संखसहिय**' मित्यस्य पूर्वमपि अकारः स्पष्टयितव्य इति ॥९८३-९८६॥ अथ मनुष्यगत्योघादौ प्रस्तुतमभिधित्सुस्तुल्यवक्तव्योपेतपञ्चेन्द्रियौघाद्यन्यमार्गणा अपि सममेव संगृह्याह—

ओघव्व हवेज्ज तिणर-वुपणिवितसवय-चक्खु-सण्णीसुं । णायव्वो सखसो परं असंखसठाणम्मि॥९८७॥

गुणाधिक एवेति । एवमेव निद्राद्विकजघन्यस्थितिं बध्नतोऽपूर्वकरणक्षपकत्वेन जघन्यतोऽप्यन्तः-कोटीकोटीसागरोपमप्रमाणस्थितिबन्धभावेन भवति चक्षुर्दर्शनावरणादीनां स्वीयजघन्यस्थितिबन्धाद-संख्येयगुणाधिकस्थितिबन्धः, अत एव तृतीयगाथोत्तरार्धे '**णियमाऽसंखगुणहिय**'मित्यत्रा-ऽकारः स्पष्टो द्रष्टव्यः, चतुर्णां शेषदर्शनावरणानां सन्निकर्ष ओघवद्विज्ञेय इति ॥९६९-९७१॥

अथ भणितशेषनरकगत्योघादिमार्गणासु प्रस्तुतसंनिकर्षमाह—

सेसासुं एगस्स उ सप्पाउग्गाउ हस्सठिइबंधी । णियमाऽण्णेसिं बंधइ ठिइ जहण्णमजहण्णं वा ॥९७२॥

(प्रे०) "**सेसासु**" इत्यादि, अक्षरार्थः सुगमः, '**सेसासु**' इत्यनेन संगृहीता मार्गणाः पुनरिमास्त्रिनवतिः- नरकगत्योघ प्रथमनरकमार्गणे, [5]सर्वे तिर्यग्गतिभेदाः, [1]अपर्याप्तमनुष्यः, [5]देवौघ-भवनपति-व्यन्तरा ऽनुत्तरपञ्चकानि, [11]सर्वे एकेन्द्रियविकलेन्द्रियभेदाः, [1]अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियः [36]सर्वे पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिभेदाः, [1]अपर्याप्तत्रसकायः, [4]औदारिकमिश्रा-ऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्र-कार्मण-काययोगाः, [3]अज्ञानत्रयम् , [3]परिहारविशुद्धिक-देशसंयमा-ऽसंयमाः, [6]अप्रशस्तलेश्यात्रयम् , [1]अभव्यः, क्षायोपशमिकसम्यक्त्व सम्यग्मिथ्यात्व सासादन-मिथ्यात्वानि, [1]असंज्ञिमार्गणा ऽना-हारकमार्गणा चेति । '**सप्पाउग्गाउ**'इत्येतद्ग्रहणमनुत्तरदेवादिमार्गणादौ स्त्यानर्द्धित्रिकस्य बन्धा-ऽप्रायोग्यत्वेन तद्व्यवच्छेदार्थम् । "**णियमाऽण्णेसिं बंधइ ठिइं जहण्णमजहण्णं वा**" इति तु प्रत्येकं मार्गणासु बन्धप्रायोग्यसर्वदर्शनावरणप्रकृतिजघन्यस्थितिबन्धस्वामिना तथाविधैक-रूपत्वात् । तद्यथा—नरकगत्योघ-प्रथमनरक-सर्वपञ्चेन्द्रियतिर्यगपर्याप्तमनुष्या-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-मार्गणास्वसंज्ञित्वपश्चात्कृतानामसंज्ञिना वा बन्धप्रायोग्यनवविधदर्शनावरणजघन्यस्थितिबन्धस्वामि-त्वम् , परिहारविशुद्धिका-ऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्र-देशसंयम-क्षायोपशमिकसम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्वेषु तु तत्तत्संयतादीना बन्धप्रायोग्यस्त्यानर्द्धित्रिकवर्जषड्विधदर्शनावरणीयजघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वम्, शेषासु तिर्यग्गत्योघादिषु पुनर्यथासम्भवमेकेन्द्रिय-द्वीन्द्रियादीनामेकरूपाणां नवविधदर्शनावरण-जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वमिति । अनिवृत्त्यादिगुणस्थानानि विहायाऽन्यत्रवर्तिषु एकरूपाणामेव जीवानां नवविधादिबन्धप्रायोग्यसर्वप्रकृतिजघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वे सत्येकस्या जघन्यस्थितिं बध्नतस्तच्छेषाणां जघन्योऽजघन्यो वा स्थितिबन्धो भवतीति तु भणितमेव । नियतबन्धस्तु गतार्थ एवेति ॥९७२॥

तदेवं प्रतिपादितः सर्वेषु मार्गणास्थानेष्वपि दर्शनावरणोत्तरप्रकृतिप्रधानः स्वस्थानजघन्य-स्थितिबन्धसंनिकर्षः, एतर्हि मोहनीयोत्तरप्रकृतीरधिकृत्य तं विभणिषुर्यासु मार्गणासु सर्वथौघवत्ता-स्वतिदिशन्नेकामार्यामाह—

हवइ जहण्णठिईए मोहाणोघव्व सण्णियासोउ । काय-उरल-लोहेसुं अचक्खु-भवियेसु आहारे ॥९७३॥

(प्रे०) "हवइ" इत्यादि, काययोगौघौ-दारिककाययोग-लोभमार्गणासु अचक्षुर्दर्शन-भव्यमार्गणयोराहारिमार्गणायां च प्रत्येकं "मोहाण" त्ति मिथ्यात्वमोहनीयादिमोहनीयोत्तरप्रकृतिप्रधानः प्रस्तुतः स्वस्थानजघन्यस्थितिबन्धसन्निकर्षः "ओघव्व" त्ति ओघवत् 'एगस्स हस्स-रइ-भय-कुच्छा-बारसकसाय-मिच्छाणो । लहुबन्धी अण्णेसि लहुमलहु व णियमा कुणए ।।६३०।।' इत्यादिगाथाषट्केन भणितस्वरूपो भवति, सूक्ष्मसम्परायक्षपकप्रभृतेरेकेन्द्रियपर्यन्तानां तत्तन्मोहनीयोत्तरप्रकृत्यौघिकजघन्यस्थितिबन्धस्वामिनामेतासु प्रत्येकं प्रवेशादिति, न च मार्गणान्तरेष्वेवमित्येतासां षण्मार्गणानामेव ग्रहणमिति ।।९७३।।

तदेवं यासु सर्वथैवौघवत्तासु अतिदिश्य साम्प्रतं नरकगत्योघादिक्रमेण प्रस्तुतं निर्जिगदिषुर्नरकगत्योघेन समं तुल्यवक्तव्योपेता अक्रमगता मार्गणा अपि सममेव संगृह्याह—

णिरय-पढमणिरय-सयलपणिंदितिरियेसु तह अपज्जणरे । सुर भवणदुग-अपज्जगपणिंदितस-सव्वविगलेसुं ।
एगस्स हस्सबंधी धुवबंधि-पुम-रइ-हस्समोहाउ । णियमाऽण्णेसिं बंधइ ठिइ जहण्णमजहण्णं वा ।।
थीलहुबंधी णियमा धुवगुणवीसाअ संखभागऽहियं । जुगलाण दोण्ह सिआ एमेव भवे णपुंसस्स ।।
लहुठिइबंधी सोग-अरईउ एगस्स हस्समियर वा । इयरस्स कुणइ णियमा सखसहियं धुव-पुमाण ।।
।। ९७४-९७७ ।।

(प्रे०) "णिरये" त्यादि, नरकौघ-प्रथमपृथिवीनरकभेद पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघ-तत्पर्याप्ताऽपर्याप्त-तिरश्चीमार्गणास्तथाऽपर्याप्तमनुष्य-देवौघ--भवनपति-व्यन्तरा ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिया--ऽपर्याप्तत्रसमार्गणा ओघ पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्नास्तिस्रस्तिस्रो द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियमार्गणाश्चेत्येव सचिताासु एकविंशतिमार्गणासु प्रत्येकं 'धुव' त्ति मोहनीयोत्तरप्रकृतीनामधिकृतत्वात् मिथ्यात्वमोहनीय-कषायषोडशक-भय-जुगुप्सालक्षणा एकोनविंशतिर्मोहनीयध्रुवबन्धिन्यस्तथा रति-हास्य-पुंवेदलक्षणास्तिस्रोऽध्रुवबन्धिन्य इत्येवं द्वाविंशतिप्रकृतिमध्यादेकस्या मिथ्यात्वादेर्जघन्यस्थितिं बध्नन् जीवस्तदन्यासां कषायादीनामेकविंशतेर्नियमतो जघन्याया अजघन्याया वा स्थितेश्च बन्धको भवति । तत्र द्विविधान्यतरस्थितिबन्धस्तत्तन्मार्गणासु मिथ्यात्वादीनां द्वाविंशतेरपि पश्चात्कृताऽसंज्ञित्वादिलक्षणतुल्यैकस्वामिकत्वात् ,नियमस्तु ध्रुवबन्धिनीनां ध्रुवबन्धित्वात् ,शेषाणां तु स्वप्रतिपक्षप्रकृत्यपेक्षया प्रशस्तत्वादिति । विशेषतस्तु प्रागिव भावनीयं स्वयमेवेति । अथावशिष्टप्रकृतिचतुष्टयमध्यात् स्त्रीवेदं प्रधानीकृत्य प्राह–"थीलहुबंधी" इत्यादि, सुगमम् , केवलं "जुगलाणं दोण्ह सिआ" त्ति विशुद्ध-विशुद्धतरादिक्रमव्यवस्थितेषु अध्यवसायस्थानेषु स्त्रीवेदविच्छेदस्थानादूर्ध्वमपि युगलद्वयस्य हास्यरति शोकाऽरतिलक्षणस्य बन्धभावात् , अत एव तस्य द्वयस्याऽपि जघन्याऽजघन्यान्यतरविधस्थितिबन्धमनुक्त्वा 'संखभागऽहिय' इत्यस्याऽनुवृत्त्या ध्रुवबन्ध्यादिवत्सङ्ख्येयभागाऽभ्यधिकः स्वीयस्वीयजघन्यस्थितिबन्धाद्भणित इति । नपुंसकवेदप्राधान्येनाऽतिदेशतः प्राह–"एमेव भवे णपुंसस्स" इति, सुगमम् , इहापि युगलद्वयस्य स्याद्बन्धोऽनन्तरोक्तनीत्यैव

(प्रे०) "ओघव्व" इत्यादि, तत्र 'ओघव्व हवेज्ज' इति अतिदेशपदे, "णायव्वो" इत्यादिना तत्राऽपवादप्रदर्शनम् , "तिणर" इत्यादिना मार्गणास्थानसङ्ग्रहश्च । तत्र 'तिणर' इत्यनेनाऽपर्याप्तवर्जानामोघ-पर्याप्त-मानुषीभेदभिन्नानां तिसृणां मनुष्यगतिमार्गणानां संग्रहः । एवमेव 'दुपणिंदि' इत्यत्राऽपि अपर्याप्तभेदो वर्जितो द्विशब्दश्च 'तस-वय' इत्यनेनाऽपि सम्बध्यते, तथा चाऽपर्याप्तवर्जे ओघ-पर्याप्तभेदभिन्ने द्वे पञ्चेन्द्रियमार्गणे द्वे त्रसमार्गणे वचनयोगसामान्य-व्यवहार-वचनयोगमार्गणे च संगृहीते वेदितव्ये । शेषं सुगमम् । भावार्थस्त्वयम्-एतासु प्रत्येकमेकेन्द्रिय-जीवानामप्रवेशः, किञ्च विशुद्ध-विशुद्धतरादिक्रमव्यवस्थिताध्यवसायस्थानगतः प्रकृतिविच्छेदक्रमस्त्वौघिक एव, तथा च स्यान्नियतबन्धादिकरूपः संनिकर्ष ओघवदेव लभ्येत । यस्तु ओघतः संज्वलन-चतुष्टय-पुंवेदवर्जा एकेन्द्रियस्वामिकजघन्यस्थितिबन्धा मिथ्यात्वमोहनीयाद्या एकविंशतिः प्रकृतय-स्तन्मध्यादपि याः स्त्री नपुंसकवेद शोका-ऽरतिलक्षणाश्चतस्रो विशुद्धतरैरेकेन्द्रियैर्न बध्यन्ते तत्प्रधान-संनिकर्षे यथासम्भव ध्रुवबन्ध्यादीनां स्थितिबन्धोऽसंख्येयभागाभ्यधिको भणितः, एकेन्द्रियेषु तदधि-कतारतम्यस्याऽसम्भवात् ,तत्स्थाने प्रस्तुतमार्गणासु पश्चात्कृताऽसंज्ञित्वादीनां द्वीन्द्रियान्तानां यथा-सम्भवं जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वेन संख्येयभागाधिकत्वलक्षणस्य तारतम्यस्य सम्भवेनाऽसौ संख्येय-भागाभ्यधिको वाच्य एव । सम्भवेऽपि संख्येयभागाभ्यधिकत्वलक्षणे तारतम्ये कथं नाऽसंख्यभागाभ्य-धिक इहापीति तु नाऽऽशङ्क्यम् ,उत्कृष्टसंनिकर्षव्याख्यानदर्शितनीत्या बन्धप्रायोग्यस्थितिबन्धस्थान-संख्येयभागस्य तारतम्यविषयत्वेन तत्रौघेऽसंख्येयभागाभ्यधिकत्वेऽपीह तु संख्येयभागाभ्यधि-कत्वस्यैव सम्भवादित्यलं पल्लवितेन, सर्वविधोपपत्तेरुत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षव्याख्यानतो गतार्थ-प्रायत्वादिति ॥९८७॥

अथानुत्तरदेवमार्गणाभेदपञ्चके प्रस्तुतं निजिगदिषुस्तुल्यवक्तव्यत्वादाहारक-तन्मिश्रकाय-योगद्वयेऽपि सममेव प्राह—

एगस्स अणुत्तरेसु [२]आहारदुगे य हस्सठिइबंधो । सोगाऽरइबज्जाओ णियमाऽण्णाण लहुमलहु वा ॥
लहुठिइबंधी सोग-अरईउ एगस्स हस्समियर वा । इयरस्स कुणइ णियमा सखसहियं धुव-पुमाए ॥
॥९८८-९८९॥

(प्रे०) "एगस्स" इत्यादि, सुगमे गतार्थे च, केवल 'संखसहियं' इत्येतत् प्रत्येकं ध्रुव-बन्ध्यादीनां सर्वासां जघन्यस्थितिबन्धस्यैकस्मिन्नेव चतुर्थादिगुणस्थानेऽभिमुखावस्थाया अन्यत्र स्वस्थानविशुद्धावेव जायमानत्वात् । अत एवेह देशसंयमादिमार्गणा न संगृहीतास्तासु विवक्षितैक-गुणस्थानगतानां जीवानां प्रवेशेऽपि शोकादिवर्जानां ध्रुवबन्ध्यादीनां जघन्यस्थितिबन्धस्य संय-माद्यभिमुखस्वामिकत्वात् । संयमाद्यभिमुखस्वामिकत्वे च तासां स्वस्थानविशुद्धजघन्यस्थितिबन्ध-स्वामिकप्रधानसंनिकर्षे संख्येयगुणाधिकस्थितिबन्धस्य जायमानत्वादिति ॥९८८-९८९॥

अथ पञ्चमनोयोगाः प्रोक्तशेषाः सत्या-ऽसत्य-मिश्रवचनभेदभिन्नास्त्रयो वचोयोगाः शुक्ल-लेश्येत्येवं सर्वसंख्यया नवमार्गणासु प्रस्तुतमाविश्चिकीर्षुराह—

[1]चउअण मिच्छाउ लहु एगस्स पणमण-तिवय-सुक्कासु । बधेमाणो बधइ लहुमलहु व णियमाऽण्णेसिं ॥
[2]पुम-चउसंजलणाण असंखियगुणाहिय ठिइ णियमा । बधइ संखगुणहियं मज्झऽट्ठकसाय-हस्सचउगाणं ॥
[3]एगस्स हस्सबंधी बुइअकसायाउ तिण्ह सेसाण । लहुमलहु वा णियमा मिच्छ-ऽणवज्जाण मिच्छव्व ॥
[4]एगस्स हस्सबधी तइअकसायाउ तिण्ह सेसाण । लहुमलहु वा णियमा अणव्व मिच्छऽडकसायवज्जाणं॥
[5]एगस्स हस्सबधी हस्सचउक्काउ तिण्ह सेसाण । लहुमलहु वा णियमा पुम सजलणाणऽसंखगुणअहियं ॥
[6]थीलहुठिइबधी चउसजलणाण असखगुणअहिय । णियमा सेसधुवाण सखगुणहियं सिआ दुजुगलाण ॥
[7]णपुमस्स सण्णियासो एमेव हवेज्ज अरइ-सोगाओ । एगस्स हस्सबधी णियमाऽण्णस्स लहुमलहु वा ॥
[8]णि.मा सखगुणहिय भय-कुच्छाण असंखगुणअहिय । पुम-चउसंजलणाण णियमा ओघव्व सेसाण ॥

॥९९०-९९७॥ (द्वितीया चतुर्थ्यास्तिस्रश्च गीतय)

(प्रे०) "चउअण" इत्यादि, तत्र 'चउअणे'त्यादिप्रथमगाथाद्वयेनाऽनन्तानुबन्धिचतुष्टय-मिथ्यात्वरूपपञ्चप्रकृतिप्रधानः प्रस्तुतस्वस्थानजघन्यस्थितिबन्धसंनिकर्षः प्रतिपादितः,स च सुगमः, केवलं "संखगुणऽहिय" मित्येतत् प्रस्तुतमार्गणासु संज्वलनचतुष्टय-पुंवेदमोहनीयप्रकृतीनां जघन्यस्थितेरधिकत्वेऽपि मध्यमकपायाष्टक-हास्य-रति-भय-जुगुप्साप्रकृतीनां जघन्यस्थितेर्यथासम्भवं चतुर्थाद्यष्टमगुणान्तभावित्वात् , तदपेक्षया संयमाभिमुखमिथ्यादृष्टिस्वामिकजघन्यस्थितिबन्धस्य सख्येयगुणत्वाच्चेति । तृतीयगाथयाऽप्रत्याख्यानावरणचतुष्कप्रधानप्रस्तुतसंनिकर्षो दर्शितः, तत्र 'मिच्छऽणवज्जाण मिच्छव्व' त्ति बन्धाभावेन प्रकृतिबन्धसंनिकर्ष एव प्रतिषिद्धत्वान्मिथ्यात्वा-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्कलक्षण प्रकृतिपञ्चकं विहाय, प्रकृतिपञ्चकबन्धं प्रतिषिध्येत्यर्थः । न केवलं तावत् , अप्रत्याख्यानावरणानां प्रधानीकृतैकैकप्रकृतिवर्जानां "तिण्ह सेसाणं लहुमलहुं वा णियमा" इत्यनेन भणितत्वेनैकस्या अप्रत्याख्यानावरणप्रकृतेः प्रधानीकृतत्वेन चाऽप्रत्याख्यानावरणचतुष्टयमपि विहाय शेषाणां बन्धो वाऽबन्धो वा नियतबन्धो वेत्यादि सर्वं 'मिच्छव्व' त्ति मिथ्यात्वप्रकृति-प्रधानसनिकर्षवद्भवति । तथाचायमर्थः सम्पन्नः—एकस्या अप्रत्याख्यानावरणप्रकृतेर्जघन्यस्थितिं बध्नन् जीवः शेषाप्रत्याख्यानावरणत्रयस्य नियमतो जघन्यायास्तदितरस्या वा स्थितेर्बन्धको भवति, पुंवेद सज्वलनचतुष्टययोर्नियमतोऽसंख्येयगुणाभ्यधिकास्थितेश्च बन्धको भवति स्वीयस्वीयजघन्य-स्थितितः, प्रत्याख्यानावरणचतुष्टय हास्य-रति-भय-जुगुप्साप्रकृतीनामपि नियमतः सख्येयगुणा-धिकजघन्यस्थितेश्च बन्धको भवति, मिथ्यात्वा ऽनन्तानुबन्धिचतुष्टय-शोका ऽरति-स्त्रीवेद-नपुंसक-वेदप्रकृतीनां तु बन्धक एव न भवतीति । एवमेवाऽग्रेऽपि योजनीयम् । उपपत्तिस्तु गतप्राया: ।

चतुर्थगाथया प्रत्याख्यानावरणचतुष्टयप्रधानः सनिकर्षः प्रतिपादितः,स चाक्षरतोऽर्थतश्च गतार्थः, केवलम् 'अणव्व' त्ति अनन्तानुबन्धिचतुष्टयप्रधानसंनिकर्षवत् , 'मिच्छऽडकसायवज्जाण' इत्यत्राऽधिकृतोऽप्रत्याख्यानावरणानामपि वर्जनं प्रधानीकृतप्रकृतिजघन्यस्थिते र्देशविरतस्वामिकत्वात्

अथ तृतीयमबाधाकण्डकद्वारम्

अथ क्रमसम्प्राप्तेऽबाधाकण्डकद्वारेऽबाधाकण्डकप्ररूपणां चिकीर्षुरेकामार्यामाह—

खणमेत्ताबाहखये पल्लासंखंसमिच्च गुरुठिइओ ।
आउगवज्जाण हवइ अबाहकंडं लहुठिइं जा ॥५६॥

(प्रे०) "**खणमेत्ताबाहखये**" इत्यादि, क्षणशब्देनेह समयः परिगृह्यते, ततः समयमात्राऽबाधायाः 'क्षये' हानौ "**गुरुठिइओ**" त्ति 'गुरुस्थितितः' उत्कृष्टायाः स्थितेः प्रारभ्य "**पल्लासंखंसमिच्च**" त्ति पल्योपमासंख्यांशम् 'इत्वा'-गत्वा, पल्योपमासंख्येयभागेन न्यूनोत्कृष्टस्थितिर्यदा बध्यत तदेत्यर्थः, अस्य च "**हवइ अबाहकंड**" मिति परेणान्वयस्तदर्थस्त्वयम्—उत्कृष्टस्थितितः पल्योपमासंख्येयभागप्रमाणस्थितीनां हानौ सत्यामेवैकसमयाबाधाहानिर्भवति, न पुनः समयोनपल्योपमासंख्येयभागस्थितिहानौ, तावत्स्थितावुत्कृष्टाया एकविधाया एवाबाधाया भावात्, इत्थं हि तावत्स्थितिष्वेकविधाया एवाबाधाया भावात्, तावतामुत्कृष्टस्थितिप्रभृतीनां पल्योपमासंख्येयभागप्रमाणानां स्थितिस्थानानां समूह एकमबाधाकण्डकमुच्यते, एवम्भूतान्यबाधाकण्डकानि कासु प्रकृतिषु भवतीत्यादि दर्शयन्नाह—"**आउगवज्जाण**" इत्यादि, यथोक्तस्वरूपाण्यबाधाकण्डकानि आयुर्वर्जप्रकृतिषु स्वीय-स्वीयजघन्यस्थितिं यावद्भवन्ति, अत्रायुःप्रकृतीनां वर्जनमायुषोऽबाधाया वेद्यमानस्वभिन्नप्रकृत्यधीनत्वात्; असावपि प्ररूपणा **मूलस्थितिबन्धविधानग्रन्थे प्रथमाधिकारे तृतीयद्वारवृत्तौ** विस्तरेण कृताऽस्माभिः, जिज्ञासुना ततो विलोकनीयेति ॥५६॥

तदेवं कृताऽबाधाकण्डकप्ररूपणा, तथा च गतं तृतीयमबाधाकण्डकद्वारम् ॥

॥ इति प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते बन्धविधाने
उत्तरप्रकृतिस्थितिबन्धे प्रथमाधिकारे
तृतीयमबाधाकण्डकद्वारम् ।

卐

(प्रे०) "पुम-चउ" इत्यादि, इहापि सामान्यतोऽनन्तरोक्तनपुंसकवेदमार्गणावदेव विभावनीयम् , क्षपकश्रेणौ नपुंसकवेदोदयविच्छेदादूर्ध्वं पुंवेदोदयविच्छेदस्य भावेऽपि तदुदयविच्छेदात्प्रागव्यवहितभाविचरमस्थितिबन्धे संज्वलनचतुष्टय-पुंवेदयोरवश्यं बन्धप्रवर्तनेन तासां तत्र युगपज्जघन्यस्थितिबन्धस्य लाभात् । य इहैकेन्द्रियाणामप्रवेशस्ततश्च जघन्योऽपि मिथ्यात्वादिस्थितिबन्धोऽसंज्ञिजीवस्वामिकः,तत्प्रयुक्तश्च यो विशेषस्तत्प्रतिपादनार्थं 'मणुयव्व' इति भणितम् , तत्तु मनुष्यौघमार्गणायामपि मिथ्यात्वादिशेषैकविंशतिप्रकृतिजघन्यस्थितेः पश्चात्कृतासंज्ञित्वस्वामिकत्वेन प्रकृते तेन तुल्यत्वात् । तथाच स्त्रीवेदादिप्रकृतिचतुष्टयप्रधानसंनिकर्षेऽनन्तरं नपुंसकवेदमार्गणायामेकेन्द्रियाणां प्रवेशाद् ध्रुवबन्ध्यादीनां स्वीयस्वीयजघन्यस्थितिबन्धाद्योऽसंख्येयभागोऽधिकतया प्राप्तः स इह संख्येयभागतयाभ्यधिको भवति, शेषं तु सुगमम् , एवमेव स्त्रीवेदमार्गणायामपि यथासम्भवं योज्यमिति ॥९९९॥

अथ क्रोधमार्गणायामपगतवेदमार्गणायां च प्रस्तुतमाह--

संजलणचउक्काओ कोहे एगस्स हस्सठिइबधी । तिण्ह लहुं णियमाऽण्णाणोघव्व चउण्ह गयवेए ॥ ॥१०००॥

(प्रे०) "संजलण"इत्यादि, सुगमम् ,तत्र क्रोधे नपुंसकवेदमार्गणानुसारेण भावनीयम्, केवलं तत्र पुंवेदस्य जघन्यस्थितिबन्धाऽवसरे संज्वलनचतुष्टयस्य नियमतो जघन्यस्थितिबन्धभावेन पुंवेदसंज्वलनचतुष्टययोर्ग्रहणं कृतम् , इह तु पुंवेदबन्धविच्छेदादुत्तरं मार्गणाचरमस्थितिबन्धस्तत्र च संज्वलनचतुष्टयस्यैव बन्धः,न पुंवेदस्य, तस्यौघवत्पूर्वमेव विच्छेदभावात् ; अतः संज्वलनचतुष्टयप्रधानसंनिकर्षं पृथगभिधाय शेषप्रकृतीनामिव पुंवेदप्रधानसंनिकर्षोऽप्योघवद्भणितः । अपगतवेदमार्गणायां तु चतसृणां संज्वलनप्रकृतीनामेव बन्धो लभ्यते, स चौघिकतज्जघन्यस्थितिबन्धस्वामिक एवेति । **'चउण्ह गयवेए'** इत्यत्र 'चउण्ह' इत्यनेन संज्वलनप्रकृतिचतुष्टयप्रधानसंनिकर्षः, स च **'ओघव्व'** इत्यस्येहापि सम्बन्धादोघवदतिदिष्टः, उपपादनीयस्तु सर्वथौघवदेवेति ॥१०००॥

अथ मान-मायामार्गणाद्वये प्रस्तुतं स्तौति--

एगस्स हस्सबधी तिदुसंजलणाउ माणमायासुं । दोण्हेगस्स जहण्ण णियमा ओघव्व सेसाणं ॥१००१॥

(प्र०) "एगस्स" इत्यादि, अक्षरार्थः सुगमः , केवलं **'तिदु'** इत्यादेः **'माण-मायासु'** इत्यनेन यथासङ्ख्यमन्वयः, तथाच मानमार्गणायां मान-माया-लोभलक्षणानां तिसृणां संज्वलनप्रकृतीनां मध्यादेकैकां प्रधानीकृत्य शेषयोर्द्वयोस्तथा मायामार्गणायां तु माया-लोभलक्षणप्रकृतिद्वयमध्यादेकैका प्रधानीकृत्य शेषाया एकस्या नियमतो जघन्यस्थितेश्च बन्धो भवतीत्यर्थः सम्पन्नः । तत्रौघापेक्षया योऽयं विशेषः स तु मानमार्गणायां मान-माया-लोभानां त्रयाणां तथा मायामार्गणायां मायालोभयोर्मानादितत्तन्मार्गणाचरमस्थितिबन्धे युगपद्बन्धविच्छेदादिति । शेषाणां त्वोघवदिति सुगमम् ॥१००१॥

देशविरतानामप्रत्याख्यानावरणस्याबन्धाच्चेति ।

पञ्चमगाथया हास्य-रति-भय-जुगुप्सालक्षणप्रकृतिचतुष्टयप्रधानः प्रस्तुतसंनिकर्ष आविष्कृतः, तत्रोत्तरार्धे "**सखगुणअहियं**" इत्यस्यादावकारो लुप्तः प्राकृतवशात् , तथाच पुंवेद-संज्वलन-चतुष्टययोः स्त्रीपजघन्यस्थितिबन्धादसंख्येयगुणाभ्यधिकः स्थितिबन्धः कथितः, स च सुगमः, हास्यादिजघन्यस्थितेर्बन्धकानां निवृत्तिबादरगुणगतत्वात् ,तत्र चाऽनिवृत्त्यादिगुणभाविपुंवेदाद्यौघिक-स्थित्यपेक्षयाऽसंख्यगुणस्थितेर्बध्यमानत्वात् । शेषं सुगमम् । षष्ठगाथया तु स्त्रीवेदप्रधानः संनि-कर्षः साक्षाद्भणितस्तथा "**णपुमस्स सण्णियासो एमेव हवेज्ज**" इत्येतावता सप्तमगाथांशेन नपुंसकवेदप्रधानोऽसावतिदिष्टः, "**अरइ–सोगाओ**" इत्यादिना सप्तमगाथाशेषेण "**ओघव्व सेसाणं**"इत्येतावद्वर्जितयाऽष्टमगाथया चाऽरति शोकप्रकृतिद्वयप्रधानः संनिकर्षो भणितः '**ओघव्व सेसाणं**' इत्येतावताऽष्टमाथाऽन्तस्थेनोक्तशेषपुंवेद-संज्वलनचतुष्टयप्रधानोऽतिदिष्टश्च । तत्रौघ-वदित्यनेन—"एगं वि णेव बधइ अंतिमलोहस्स लहुबंधी ।९३१।। पुरिस-चरमकोहाइगलहुबंधी कुणइ सखगुणमहियं। णियमा कमसो चउ-ति-दु-इगसंजलणाण ण उ सेसा।।" ।। ९३२ ।। इतिगाथोक्तस्वरूपो-ज्ञेयः, स च सर्वथौघवदेवाभ्यूह्य इति ।।९९०-९९७।।

अथ नपुंसकवेदमार्गणायामाह प्रस्तुतम्—

पुम-चउसंजलणाओ णपुमे एगस्स हस्सठिइबंधी । णियमाऽण्णाण चउण्हं जहण्णमोघव्व सेसाणं ।। ।। ९९८ ।।

(प्रे०) "पुमे"त्यादि, अक्षरार्थः सुगमः, भावार्थस्त्वयम्–सामान्यतः क्षपकश्रेणौ नपुंसक-वेदोदयवतां यत्र वेदोदयविच्छेदस्तदूर्ध्वमेव ओघे पुंवेदस्य सज्वलनचतुष्टयस्य च बन्धविच्छेदो जायते, तथाच नपुंसकवेदमार्गणायां पुंवेदादिप्रकृतिपञ्चकस्यौघिको जघन्यस्थितिबन्धो न लभ्यते, न केवलं तावदपि तु नपुंसकवेदमार्गणायाश्चरमस्थितिबन्धे वर्तमानस्य क्षपकस्यैव तस्य प्रकृतिपञ्च-कस्य जघन्यस्थितिबन्धो जायते, तदानीं चाऽनिवृत्तिबादरगुणस्थानकमेव, तथाच तत्तत्स्थितिबन्धे नियता एकरूपा अध्यवसाया एव; तदेवं तत्रैकस्या जघन्यस्थितिबन्धे प्रवर्तमानेऽन्यासां चतसृ-णामपि जघन्यः स्थितिबन्ध एव प्रवर्तते, स च पञ्चानामपि संख्येयवार्षिक एव ; न च तदानीं पुंवेदादिप्रकृतिपञ्चकं विहायान्यासां मोहनीयप्रकृतीनां बन्धः, तदेवं पुंवेदादिपञ्चप्रकृतिष्वन्य-तमस्या जघन्यस्थितिं बध्नतः शेषचतुःप्रकृतीनां जघन्य एव स्थितिबन्धो जायते। एतत्पञ्चप्रकृतीर्विहाय शेषप्रकृतीनां त्वोघवदेव लभ्यते, शेषप्रकृत्यौघिकजघन्यस्थितिबन्धस्वामिनामिह प्रवेशात् पुंवेदा-दिप्रकृतिपञ्चकजघन्यस्थितिबन्धस्य प्रस्तुतमार्गणायां संख्येयवर्षमात्रत्वाच्चेति ।।९९८।।

अथ पुंवेद-स्त्रीवेदमार्गणयोः प्रस्तुतमाह—

पुम चउसंजलणाणं पुरिसि-त्थीसु हवेज्ज णपुमव्व । मणुयव्व मुणेयव्वो सेसाणं एगवीसाए ।।९९९।।

च तथाविधविच्छेदक्रमे चरमस्थानवर्तित्वात् , तथाच शेषद्वाविंशत्यन्यतमजघन्यस्थितिं बध्नतः शेषैकविंशतेर्जघन्यः पल्योपमासंख्येयभागेनाधिको जघन्यो वा स्थितिबन्धो नियमाज्जायत इति।१००३-४।

अथ परिहारविशुद्धिक-देशसंयमलक्षणशेषसंयममार्गणाद्वये प्रस्तुतं विभणिषुस्तुल्यवक्तव्यत्वात्सम्यग्मिथ्यात्वमार्गणायामपि सममेवाह—

एगस्स हस्सबंधी बंधइ परिहार-देस-मीसेसु । सोगारइवज्जाओ णियमाऽण्णाण लहुमलहुं वा ॥
लहुठिइबंधी सोग-अरईउ एगस्स हस्समियरं वा । इयरस्स कुणइ णियमा संखगुणहियं धुवपुमाणं ॥
॥१००५-६॥

(प्रे०) "एगस्स" इत्यादि, इहापि परिहारविशुद्धिकमार्गणायां संज्वलनचतुष्टयं पुवेदो भय-जुगुप्से हास्य-रति-शोका-ऽरतिलक्षणयुगलद्वयं चेति मोहनीयस्यैकादशप्रकृतयो बन्धप्रायोग्याः, देशसंयममार्गणायां ता एव प्रत्याख्यानावरणचतुष्टयेन सहिता इति पञ्चदश, सम्यग्मिथ्यात्वमार्गणायां पुनस्ताः पञ्चदशाऽप्रत्याख्यानावरणचतुष्टयसहिताः सत्यः नवदश बन्धप्रायोग्या इति प्राक्प्रदर्शितमेव, किञ्च प्रस्तुतमार्गणासु प्रत्येकं बन्धप्रायोग्यध्रुवबन्धि-पुवेद-हास्य-रतिजघन्यस्थितिबन्धस्वामिनोऽविशिष्टैकरूपा एव, तद्यथा—परिहारे स्वस्थानसर्वविशुद्धाप्रमत्तमुनिः, देशे संयमाभिमुखसर्वविशुद्धदेशसंयतः, सम्यग्मिथ्यात्वे सम्यक्त्वाभिमुखसर्वविशुद्धो मिश्रदृष्टिर्जीव इति, तथाच तासामन्यतमजघन्यस्थितिं बध्नतः प्रागुक्तन्यायेन शेषाणामष्टादिप्रकृतीनां द्विविधान्यतम एव स्थितिबन्धः प्रवर्तते शोकाऽरती तु न बध्यते एव; एतदेव प्रथमगाथया प्रदर्शितम् । शोकाऽरत्योर्बन्धस्तु तयोः प्रमत्तगुणस्थानादौ तत्राऽपि स्वस्थाने तत्प्रायोग्यविशुद्धावेव बन्धप्रवर्तनात् , अप्रमत्तगुणस्थाने संयमाद्यभिमुखावस्थायां वा तद्बन्धो न प्रवर्तत इति भावः । अत एव शोकाऽरतिप्रधानप्रस्तुतसंनिकर्षे पुंवेद-ध्रुवबन्धिनीनां स्वीयस्वीयजघन्यस्थितिबन्धात्संख्येयगुणाधिकः स्थितिबन्धो भणितः । शेषं तु सुगमं गतार्थञ्चेति ॥१००५-६॥

अथ तेजःपद्मलेश्यामार्गणाद्वये प्रस्तुतमाह—

[1]एगस्स हस्सबंधी चउअणमिच्छाउ तेउ-पम्हासुं । बंधइ णियमाऽण्णस्स उ ठिइं जहण्णमजहण्णं वा ॥
[2]णियमा संखगुणहियं बारकसाय-पुम हस्सचउगाण । एगस्स जहण्णठिइं दुइअकसायाउ बंधंतो ॥
[3]हस्समहस्सं व ठिइं तिण्ह सेसाण बंधए णियमा । संखगुणब्भहियं अडकसाय-पुम-हस्सचउगाणं ॥
[4]एगस्स हस्सबंधी तइअकसायाउ तिण्ह दुविहं वा । णियमा हस्सचउग पुम-चउसंजलणाण संखगुणअहियं
[5]एगस्स हस्सबंधी चउसंजलण-पुम-हस्सचउगाओ । बंधइ णियमाऽण्णेसिं ठिइं जहण्णमजहण्णं वा ॥
[6]थीलहुबंधी णियमा धुवगुणवीसाअ संखगुणब्भहियं । जुगलाण दोण्ह सिआ एमेव भवे णपुंसस्स ॥
[7]सोगा ऽरईउ लहुठिइबंधी एगस्स दुविहमण्णस्स । णियमा संजलणचउग-पुम-भय-कुच्छाण संखगुणअहियं ॥
॥१००७-१०१३॥ (चतुर्थी सप्तमी च गीति)

(प्रे०) "एगस्स" इत्यादि, तत्र प्रथमतः सार्धगाथयानन्तानुबन्धिचतुष्टयमिथ्यात्वलक्षणपञ्चप्रकृतिप्रधानः प्रस्तुतसंनिकर्षः प्रतिपादितः । तत्र द्वितीयगाथापूर्वार्धे 'हस्सचउगाण' मित्यनेन

अथ मत्यादिज्ञानचतुष्टय-संयमौघ-सामायिक छेदोपस्थापनीया-ऽवधिदर्शन-सम्यक्त्वौघ-क्षायिकसम्यक्त्वो-पशमसम्यक्त्वलक्षणास्वेकादशमार्गणास्वतिदेशेनाह—

चउणाण संजमेसुं समइअ-छेओहि-सम्म-खइएसुं । तहुवसमे विण्णेयो सप्पाउग्गाण उ मणव्व ॥१००२॥

(प्रे०) "चउणाण" इत्यादि, सुगमा, केवलं 'सप्पाउग्गाण' इत्येतद्ग्रहणं मनोयोगमार्गणायां मिथ्यात्वादेर्बन्धप्रायोग्यत्वेऽपि प्रस्तुतमतिज्ञानाद्येकादशमार्गणासु स्त्रीनंपुसकवेदयोस्तथा मिथ्यात्वादीनां कतिपयानां ध्रुवबन्धिनीनां बन्धाऽप्रायोग्यत्वेन तत्प्रकृतिप्रधानसंनिकर्षप्रतिषेधार्थम् । मनोयोगमार्गणाविषयप्रस्तुतसंनिकर्षप्रतिपादिका गाथास्तु "चउअण-मिच्छाउ लहुं एगस्स पणमणे" त्यादिना ॥९९०॥ भणिताः, उपपत्तिरपि मनोयोगादिमार्गणावदेव कार्या ॥१००२॥

अथ विभङ्गज्ञानमार्गणायामाह—

संखगुणहिय थीलहुबंधी णियमा धुवाण विभंगे । हस्सरईण व दोण्ह व संखंसहियं णपुंसगस्सेवं ॥
लहुठिइबंधी सोगा ऽरईउ एगस्स दुविहमियरस्स । णियमा संखगुणहियं धुव-पुरिसाण णिरयव्व सेसाणं ॥१००३-४॥ (गीतिद्वयम्)

(प्रे०) "संखगुणहिय"मित्यादि, तत्र स्त्रीनपुंसकवेदयोः प्रधानत्वे ध्रुवबन्धि-हास्य रतिप्रकृतीनां स्थितिबन्धस्य सङ्ख्येयगुणाधिकजघन्यत्वं तासां ध्रुवबन्ध्यादीनां जघन्यस्थितेः संयमाभिमुखावस्थाभावित्वात् स्त्रीनपुंसकवेदजघन्यस्थितेस्तु स्वस्थानविशुद्धमिथ्यादृक्स्वामिकत्वाच्च । भवति हि संयमाभिमुखापेक्षया स्वस्थानविशुद्धानामपि संख्येयगुणाधिकस्थितिबन्धः, अभिमुखावस्थागतजीवापेक्षया तस्य स्वस्थानविशुद्धस्यापि संक्लेशाधिक्यात् । "दोण्ह" त्ति शोकाऽरत्योः संख्येयभागाधिकजघन्य एव पुनस्तदीयजघन्यस्थितेरुक्तप्रधानीकृतवेदद्वयजघन्यस्थितेरिव स्वस्थानविशुद्धस्वामिकत्वेऽपि तथाविधविच्छेदक्रमे वेदद्वयापेक्षयोत्तरस्थानवर्तित्वात्प्रागिव । "हस्सरईण व" इति हास्यरत्योर्वैकल्पिको बन्धः, एवं "दोण्ह व" इत्यत्राऽपि वाकारप्रतिपादितः शोकारत्योरपि वैकल्पिको बन्धश्च सुगमः । अथ शोकारतिप्राधान्येन प्राह—"लहुठिइबंधी" इत्यादि, तत्र "एगस्स" त्ति प्रधानीकृतेतरस्य शोकस्यारतिमोहनीयस्य वा 'द्विविधाम्' जघन्यामजघन्यां वा स्थितिं बध्नाति, तयोस्तुल्यैकस्थाने विच्छिद्यमानत्वात्, नियमबन्धस्तु तस्य प्रागवदेव । ध्रुवबन्धिपुरुषवेदप्रकृतीनां संख्येयगुणाभ्यधिकजघन्यस्थितिबन्धस्तु अनन्तरदर्शितस्त्रीवेदादिप्रधानसंनिकर्षवदेव, नियमा बन्धोऽपि ध्रुवबन्धिनीनां तद्वदेव, पुंवेदस्य तु तत्प्रतिपक्षप्रकृत्योः प्रधानीकृतशोकादिप्रकृतिविच्छेदतः प्रागेव विच्छेदभावेन पूर्वोक्तन्यायात् । अथ भणितशेषप्रकृतिप्राधान्येन प्रस्तुत विभणिपुर्लाघवादतिदेशेनैवाह—'णिरयव्व सेसाण' इति 'णिरयपढमणिरये' त्यादिगाथा-(९९४)चतुष्टये भणितरूप इत्यर्थः । तथाऽतिदेशबीजं तु शेषप्रकृतिजघन्यस्थितिबन्धस्य नरकगत्योघवदत्राऽपि मिथ्यादृष्टिस्वामिकत्वेनैकोनविंशतिध्रुवबन्धिनीनां हास्यरत्योः पुंवेदस्य

(प्रे०) "**णामाण**" इत्यादि, सुगमा गाथाद्वयी नामप्रकृत्योघिकस्वस्थानजघन्यस्थितिबन्धसंनिकर्षप्रपञ्चनेन गतार्था च,केवलं नपुंसकवेदमार्गणायामपवादभणनं तत्र जिननाम्नो जघन्यस्थितिबन्धस्वामिन उपशमकाः न पुनरोघवत्क्षपकाः, यतो जिननाम्नो जघन्यस्थितिबन्धकाः क्षपकास्तद्भवभावितीर्थंकराः स्युः, न च तीर्थंकरजीवाश्चरमभवे नपुंसकवेदिनो भवन्ति, पुंतीर्थंकरवत् स्त्रीतीर्थंकरस्य क्वचित्कदाचिदभिमतत्वेऽपि नपुंसकतीर्थंकरस्याऽनभिमतत्वात् , तदुक्तं **ललितविस्तरायाम्**—'न नपुंसकलिङ्ग इति। 'नपुंसकलिङ्गे तीर्थंकरसिद्धा न भवन्ति' किञ्चाहारकद्विकजघन्यस्थितिकबन्धस्वामिनः क्षपका एव प्रोक्ताः, तथाचाहारकद्विकजघन्यस्थितिं बध्नतां प्रस्तुतनपुंसकवेदमार्गणागतानां जिननाम्नो बन्धाभाव एव लभ्यते, जिननामजघन्यस्थितिं बध्नतां तु आहारकद्विकबन्धस्य न विरोधः, केचिदाहारकद्विकं बध्नन्ति, केचित्तु नेति भावः, तथाच "**आहारदुगस्स सिआ**" इत्यनेन तस्य स्याद्बन्धो भणितः, "**संखगुणअहियं**" इत्येतत्तु सुगमं गतार्थश्च; जिननामा -ऽऽहारकद्विकयोर्यथासंख्यमुपशमक- -क्षपकलक्षणजघन्यस्थितिबन्धस्वामिभेदात् , क्षपकापेक्षयोपशमकस्य तुल्यस्थानगतस्यापि संक्लिष्टत्वाच्चेति ॥१०१५-१०१६॥

तदेवं काययोगौघौ-दारिककाययोग-नपुंसकवेद- क्रोधादिकषायचतुष्का- ऽचक्षुर्दर्शन-भव्या-ऽऽहारकलक्षणासु दशमार्गणासु नामोत्तरप्रकृतिस्वस्थानजघन्यस्थितिबन्धसंनिकर्षः प्रतिपादितः। अथ नरकगत्योघादिक्रमेण तं विभणिषुर्नरकगत्योघ-प्रथमपृथिवीनरकभेदयोराह गाथापञ्चदशकेन—

[1]णिरय पढमणिरयेसु लहुबधी तिरिदुगाउ एगस्स। णियमाऽण्णस्स लहुमहव अलहुं उज्जोअगस्स सिआ॥
[2]पंचिंदियुरलदुग--धुव--परघा--ऊसास--तसचउक्काण । णियमा बंधेइ ठिइ संखेज्जइमागअब्भहियं॥
[3]बधइ सिआ दुखगइ-छसंघयणाऽऽगिइ-थिराइजुगलाणं। संखेज्जभागअहिय उज्जोअस्सेवमेव भवे ॥
॥१०१७-१०१९॥

(प्रे०) "**णिरय-पढमणिरयेसु**" इत्यादि, तत्र "**लहुबंधो तिरिदुगाउ**" इत्यादिना देशोनगाथात्रयेण तिर्यग्द्विकप्रधानं प्रस्तुतसंनिकर्षं प्रतिपाद्य तृतीयगाथासत्केन "**उज्जोअस्सेवमेव भवे**" इति चरमांशेनोद्योतनामप्रधानोऽमावतिदिष्टः। अक्षरार्थः सुगमः, केवलमाद्यगाथायां "**लहुमहव अलहुं**"इत्येतद् देहलीदीपकन्यायेनोभयत्रान्वेति तृतीयगाथापूर्वार्धे "**छसंघयणागिइ**" इत्यादौ षट्शब्दः संहननादिना प्रत्येकं सम्बध्यते च, तथाच तेन संहननषट्कस्य संस्थानषट्कस्य स्थिर शुभ-सुभग-सुस्वरा-ऽऽदेय-यशःकीर्तितत्प्रतिपक्षप्रकृतिलक्षणयुगलषट्कस्य चेत्येवं चतुर्विंशतेः प्रकृतीनां संग्रहो बोद्धव्यः इति। भावार्थस्तु प्रागिव विशुद्धविशुद्धतरादिक्रमव्यवस्थिताध्यवसायक्रमगतप्रकृतिविच्छेदक्रमाद्यनुसारेणाभ्यूह्यः। **तद्यथा**—तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्व्युद्योतनाम्नां तादृशाध्यवसायक्रमे एकत्र स्थाने युगपद्बन्धविच्छेदः, तथाच तास्वेकस्या जघन्यस्थितिबन्धे प्रवर्तमाने शेषयोर्द्वयोर्जघन्यो वा जघन्यापेक्षया समयादिना यावत्पल्योपमासंख्येयभागेनाभ्यधिकोऽजघन्यो वा जायते, स्याद्बन्धो नियतबन्धो वेति तु तासां प्रकृतिबन्धसंनिकर्षानुसार्येव। विहाय यथोक्तप्रकृति-

हास्य-रति-भय-जुगुप्सालक्षणं प्रकृतिचतुष्कं बोध्यं पूर्ववत्, एवमेवोत्तरत्रापि तेन तथाऽवगन्तव्यम्। एवमेव 'एगस्स जहण्णठिइं' इत्यादिभिः सार्धैकैकादिगाथांशैर्द्वितीयकषायादितत्तत्प्रकृतिप्रधानः संनिकर्षोऽवगन्तव्यः। वस्तुतो मनोयोगौघादिवदेवेह संनिकर्षः, केवलं मनोयोगादिमार्गणासु नवमगुणस्थानादिवर्तिनो जीवा अपि प्रविष्टाः, इह तु नास्ति तेषां प्रवेशः, तत्प्रवेशाभावे च पुंवेदसंज्वलनचतुष्टययोर्जघन्यस्थितिबन्धमानमिहाऽन्तःकोटीकोटीसागरोपमाणि, तथाच तत्र मनोयोगादिमार्गणासु मिथ्यात्वादिप्रधानसंनिकर्षे पुवेदादीनां पञ्चानां जघन्यस्थितिबन्धप्रमाणं स्वजघन्यस्थितिबन्धाद् यदसंख्येयगुणाधिकं भणितं तदिह संख्येयगुणाधिकं लभ्यत इति तथा दर्शितम्, एवं मार्गणाप्रायोग्यसर्वविशुद्धौ पुंवेद-संज्वलनचतुष्टय-भय जुगुप्सा-हास्य-रतीनां बन्धलाभेन तत्र युगपदेव तासां जघन्यस्थितिबन्धस्य समयादिना यावत् पल्योपमासंख्येयभागेनाऽभ्यधिकजघन्यस्थितिबन्धस्य वा भावात्तासामेकैकप्रधानसंनिकर्षे शेषाऽष्टप्रकृतीनां द्विविधान्यतमस्थितिबन्धो नियमतो भवति, तदेतत् पञ्चमगाथया भणितं, शेषं च तेन तेन गाथांशेनेति सम्यगभ्यूह्यं स्वधिया सुधियेति ॥१००७-१०१३॥

अथाऽवशिष्टयोः क्षयोपशमसम्यक्त्व-सासादनमार्गणयोः प्रस्तुतसंनिकर्षमाह--

पम्हव्व सण्णियासो सप्पाउग्गाण वेअगे होइ। णिरयव्व सासणे खलु सप्पाउग्गाण विण्णेयो ॥१०१४॥

(प्रे०) "पम्हव्व" इत्यादि, सुगमाऽक्षरतोऽर्थतश्च, केवलं 'सप्पाउग्गाण' इति ग्रहणं प्रस्तुते मिथ्यात्वादीनां यथासम्भवं बन्धाप्रायोग्यत्वेन तत्प्रयुक्तसंनिकर्षस्य प्रतिषेधार्थम्। यद्यपि नरकौघे पश्चात्कृताऽसंज्ञित्वानां जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वम्, न चैवं सासादनमार्गणायाम्, तथाऽपि नरकौघवदतिदेशः सासादनमार्गणायां स्वस्थानविशुद्धानां जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वाधिकारात्, स्वस्थानविशुद्धैकगुणस्थानगताना जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वे हि भवति नरकौघवत् सासादनमार्गणायामपि अतुल्यस्थानगतानां प्रकृतीनां संख्येयभागाभ्यधिकः स्थितिबन्ध इति ॥१०१४॥

तदेवं भणितः सूक्ष्मसम्परायसंयमवर्जासु सर्वासु एकोनसप्तत्युत्तरशतमार्गणासु मोहनीयप्रकृतीरधिकृत्य प्रस्तुतः स्वस्थानजघन्यस्थितिबन्धसंनिकर्षः। सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायां तु एकस्या अपि मोहनीयप्रकृतेर्बन्धाभावान्न तदवकाशः। तथाच समाप्तो मोहनीयप्रकृतिस्वस्थानजघन्यस्थितिबन्धसंनिकर्षोऽप्यादेशतः।

तदेवं प्रतिपादित आदेशतः सर्वमार्गणास्थानेष्वपि मोहनीयोत्तरप्रकृतीनां स्वस्थानजघन्यस्थितिबन्धसंनिकर्षः, साम्प्रतं क्रमप्राप्तनामोत्तरप्रकृतीनां तमादेशतः प्रतिपिपादयिषुः प्रथमतस्तावद्यासु मार्गणास्वोघेन तुल्या वक्तव्यता तत्तुल्यप्राया वा तासु तामतिदेशादिनाऽऽह—

णामाण सण्णियासो हवेज्ज ओघव्व काय-उरलेसु। णपुम-चउकसायेसु अचक्खु-भवियेसु आहारे॥
परमा-ऽऽहारगदुगलहुबंधो णपुमे जिण ण बंधेइ। आहारदुगस्स सिआ जिणलहुबंधो तु संखगुणअहियं॥
॥१०१५-१०१६॥ (द्वितीयागीति.)

द्रष्टव्यः, न पुनस्तासां बन्धविच्छेदः । ततोऽनन्तरपूर्वस्थानेऽस्थिरादीनां यथा सामान्यक्रमो दर्शितस्तथा। एवमन्योऽपि विशेषो यथासम्भवमभ्यूह्यः,दर्शयिष्यामो वयं तु यथाऽवसरमिति॥१०१७-१९॥

अथ प्रस्तुतमार्गणाद्वय एव मनुष्यद्विक पञ्चेन्द्रियजात्यौदारिकद्विक प्रथमसंहनन-प्रथमसंस्थान सुखगति-पराघातो च्छ्वास-त्रसदशक-ध्रुवबन्धिनवकलक्षणा या एकोनत्रिंशत्प्रकृतयस्तत्प्रधानं प्रस्तुतसंनिकर्षमाह —

एगस्स हस्सबधी धुवजिणवज्जसुहमणुयजोग्गाओ । बंधइ णियमाऽण्णेसिं अडवीसाअ लहुमलहुं वा ॥
॥१०२०॥

(प्रे०) "एगस्स" इत्यादि, अक्षरार्थः सुगमः, प्रस्तुतमार्गणाबन्धप्रायोग्यध्रुवनामसहितशुभनरयोग्यास्तीर्थंकरनामवर्जा नामप्रकृतयस्त्वनुपदमस्या एव गाथायाः पातनिकायां दर्शिता एकोनत्रिंशत् , प्रस्तुतमार्गणायां देवगतिप्रायोग्यबन्धाभावेनैता एव चरमस्थाने प्राप्यन्ते,यतोऽनन्तरं चरमे स्थाने देवगतिप्रायोग्या अष्टात्रिंशतिर्दर्शिताः, तन्मध्यादिह देवद्विकवैक्रियद्विके वर्ज्येते, तथा चावशिष्टा श्चतुर्विंशतिः, तत्र मिलिता मनुष्यद्विकाद्याः पञ्चेति जाता एकोनत्रिंशत् । एतन्मध्ये च न सन्ति काश्चित्सप्रतिपक्षिण्यो न वा वर्तन्ते उद्योताद्याः स्वभावाध्रुवा इत्येवं सर्वासां नियमबन्धो भणितः । तासां जघन्यादिद्विविधबन्धः शेषतिर्यग्द्विकादीनामबन्धश्चेत्येतत्तु सुगमम् , प्रस्तुतप्रधानीकृतप्रकृतीनां चरमैकस्थानगतत्वादिति ॥१०२०॥

अथ प्रस्तुत एव क्रमप्राप्तऋषभनाराचप्रकृतिप्रधानं प्रस्तुतसंनिकर्षं प्रदर्शयन्नाह सार्धार्याद्वयम्—

रिसहस्स हस्सबंधी सुहसंठाण तिथिराइजुगलाणं । बधइ सिआ ठिइ खलु सखेज्जदिमागअब्भहियं ॥
णियमा संखसहिय मणुयदुग-पणिदि-धुव-रलदुगाण । परघा-ऊसास-सुहगतिग-तसचउग-सुहखगईणं ॥
बंधइ ठिइ जहण्णं अजहण्णं व दुइआगिईअ सिआ । · ·········· ॥१०२१-२२॥

(प्रे०)"रिसहस्स" इत्यादि, तत्र प्रधानीकृता ऋषभनाराचसंहननप्रकृतिर्यथोक्तनीत्या त्रिचरमस्थानगता, तथाच ततोऽपि पूर्वपूर्वतरादिस्थानगतानां बन्धप्रायोग्याणां तृतीयसंस्थानादीनामबन्ध एव भणितस्तथा तुल्यस्थानगतायास्तु तृतीयगाथार्धेन जघन्यो वाऽजघन्यो वा स्थितिबन्धो दर्शितः शेषा अवशिष्टा द्विचरमस्थानगता अस्थिरा-ऽशुभा-ऽयशःकीर्तिनामलक्षणास्तिस्रश्चरमस्थानगता मनुष्यद्विकाद्या एकोनत्रिंशच्च , तन्मध्यात्प्रथमसंहननं प्रस्तुतप्रधानीकृतप्रकृतिप्रतिपक्षभूततया वर्जनीयं भवतीत्येवमवशिष्टा एकत्रिंशत् , तन्मध्ये समचतुरस्रसंस्थानं, स्थिर-शुभ-यशःकीर्तितत्प्रतिपक्षलक्षणाः षट् सप्रतिपक्षाः, एवमुक्तद्वितीयसंस्थानमपि, तथाच तासां स्याद्बन्धो भणितः । शेषाणां मनुष्यद्विकादीनां तु "णियमा"इत्यादिना द्वितीयगाथया नियतो बन्धो दर्शितः । द्वितीय संस्थानं विहाय प्रथमसंस्थानादीनां मनुष्यद्विकादीनां च स्वस्वजघन्यस्थितिबन्धमानात्संख्येयभागाभ्यधिकोऽजघन्यस्थितिबन्ध एव दर्शितस्स तु तिर्यग्द्विकप्रधानसंनिकर्षे भणितनीत्या एतासां प्रथमसंहननादीनामेकत्रिंशतोऽपि प्रधानीकृतप्रकृतिबन्धविच्छेदस्थानत उत्तरवर्तिस्थानद्वये बन्धविच्छेदभावादित्यादिरूपेण प्रागिव साध्यः । इत्थमेवोत्तरत्रापि साधनिका कार्येति ॥१०२१-२२॥

त्रयं शेषाः पञ्चेन्द्रियजात्याद्याः सर्वा बन्धप्रायोग्यप्रकृतयस्तु अधिकाऽधिकतरविशुद्धावुत्तरत्र एव विच्छिद्यन्त इति तासां न जघन्यः स्थितिबन्धः, अपि त्वजघन्य एव । स पुनर्जघन्यस्थितिबन्धात्संख्येयभागेनैवाभ्यधिको न पुनस्ततोऽप्यधिक इति तु मार्गणाद्वये विहाय जिननाम शेषसर्वनामप्रकृतीनां पश्चात्कृताऽसंज्ञित्वजीवस्वामिकत्वाद्दर्शितमोहनीयप्रकृतिजघन्यस्थितिबन्धसंनिकर्षवत्, अत एव नाऽसंख्येयैकभागेनाधिकः संख्येयगुणाद्यधिको वा, असंख्येयभागाधिकत्वस्यैकेन्द्रियस्वामिकजघन्यस्थितिबन्धासु प्रकृतिषु परस्परं सम्भवात्, संख्येयगुणाद्यधिकतायास्तु तत्स्वामिनां भिन्नभिन्नगुणस्थानादिगतत्वे सम्भवादितः प्राग्दर्शित तत्र तत्र । 'पंचिंदिये'त्यादिना पञ्चेन्द्रियजात्यादेर्ग्रहणेऽपि मनुष्यगत्यादेरग्रहणं तु प्रधानीकृततिर्यग्गत्यादिबन्धेन मनुष्यगत्यादिबन्धस्य विरोधात्, शेष पञ्चेन्द्रियजाति-खगतिद्विकादीकां नियत स्याद्बन्धादिकं तु प्रागिव प्रतिपक्षप्रकृतिरहितत्वतत्सहितत्वादिना स्वयमेवाऽभ्यूह्यमिति । इत्थमेव गतवृत्तिग्रन्थानुसारेणोत्तरग्रन्थोऽपि यथासम्भवमभ्यूह्यः, प्रायेण प्रसङ्गानुप्रसङ्गेन उत्कृष्टपदगतप्रकृतिबन्धविच्छेदक्रमादिप्रपञ्चनेन सुविवेचितत्वादिति ।

ननु एवं पूर्वं सुप्रपञ्चितत्वेन मा दर्श्यतां सप्रपञ्च जघन्यपदगतप्रकृतिबन्धविच्छेदक्रमः, निष्प्रपञ्चं तु तत्प्रदर्श्यताम् ? **इति चेद्**, दृश्यतां तर्हि, सर्वसंक्लेशाद्विशुद्ध-विशुद्धतरादिक्रमेण स्वस्वप्रायोग्यपरमविशुद्ध्यन्तेषु स्थितिबन्धाध्यवसायेषु संस्थापितेषु यथोत्तरविशुद्ध्यभिमुखगमने बहुसंख्येयभागप्रमाणाध्यवसायातिक्रमणे प्रथमतस्तावत् नामप्रकृतिषु (१) नरकद्विकम्, ततो (२) अपर्याप्तनाम, ततः (३) सूक्ष्मनाम, ततः (४) साधारणनाम, ततः (५) एकेन्द्रिय-स्थावरा ऽऽतपनामानि युगपत्, ततः (६) द्वीन्द्रियजातिनाम, ततः (७) त्रीन्द्रिजातिनाम, तदुत्तरं (८) चतुरिन्द्रियजातिनाम, तत्पश्चात् (९) तिर्यग्द्विकोद्योतनामलक्षणप्रकृतित्रयं युगपत्, तदनु (१०) कुखगति दुर्भग-दुःस्वरा ऽनादेयनामलक्षणाश्चतस्रो युगपत्, तदनु (११) चरमसंहननसंस्थाने युगपत्, ततः (१२) पञ्चमसंहननसंस्थाने युगपत्, तदनु (१३) चतुर्थसंहननसंस्थाने युगपत्, तत (१४) स्तृतीयेसंहननसंस्थाने युगपद्, तत (१५) स्ते द्वितीये युगपत्, तदनु (१६) मनुष्यद्विकौदारिकद्विकप्रथमसंहननलक्षणाः पञ्च युगपद्, तदनु (१७) अस्थिरा-ऽशुभा-ऽयशःकीर्तिनामलक्षणास्तिस्रो युगपत्, तदनु (१८) शेषा देवगतिप्रायोग्या आहारकद्विक जिननामवर्जा अष्टाविंशतिर्युगपदिति ।

एष हि मिथ्यात्वगुणस्थानवर्तिजीवापेक्षया; तत्राऽपि सम्यक्त्वाभिमुखावस्थां विहाय । उपरितनगुणस्थानेषु सम्यक्त्वाभिमुखाद्यवस्थाविशेषे तु क्रमविशेषोऽपि भवति, स च मोहनीयोत्तरप्रकृतिस्वस्थानसंनिकर्षप्रपञ्चनावसरे यथोपरितनगुणस्थाने बन्धप्रायोग्यत्वेऽपि शोकादेः सम्यक्त्वाभिमुखाद्यवस्थायां नियमतोऽबन्धं दर्शयित्वा तत्र बन्धप्रायोग्य मध्यात् पुंवेदादीनामेव बन्धो भवतीति लक्षणो दर्शितस्तथा दर्शितक्रमेऽपि देवगतिप्रायोग्याणां बन्धप्रायोग्यत्वे देवद्विकादिकं केवलदेवप्रायोग्यं विहाय शेषाणां बन्धप्रायोग्यप्रशस्ततममनुष्यद्विकादीनां पञ्चेन्द्रियजात्यादिना समं चरमे स्थाने बन्धो

अथ चतुर्थमल्पबहुत्वद्वारम्

साम्प्रतं क्रमप्राप्ते चतुर्थेऽल्पबहुत्वद्वारे गतद्वारत्रये स्वस्थानेऽभिहिताल्पबहुत्वादीनां मतिज्ञानावरणादेः स्थितिबन्धस्थान-जघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धादिपदार्थानां परस्थाने स्तोकाधिकत्वलक्षणमल्पबहुत्वं प्रतिपिपादयिषुरादौ तावत् पर्याप्तसंज्ञिजीवभेदमधिकृत्याह—

पज्जत्तसण्णिभेए आवरणाइगदुवीसपयडीणं ।
हस्साऽबाहा थोवा तो संखगुणोऽणुठिइबंधो ॥५७॥
तत्तो संखगुणाइं हुन्ति अबाहाअ ठाण-कंडाणि ।
दोण्णि वि तुल्लाणि तओ जेट्ठाऽबाहा भवेऽब्भहिया ॥५८॥
ताउ असंखगुणाइं हवन्ति दुगुणहाणीणं ।
ताउ असंखगुणाइं ठाणाइं अंतरे एगे ॥५९॥
तो कंडगमत्थेणमसंखगुणं तो असंखियगुणाइं ।
ठिइबंधट्ठाणाइं तोऽब्भहियो परमठिइबंधो ॥६०॥

(प्रे०) "**पज्जत्तसण्णिभेए**" इत्यादि, पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियजीवभेदे "**आवरणाइगदुवीसपयडीणं**" ति अत्रैव **प्रथमाधिकारे प्रथमद्वारे** संयतादीनां जघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धाल्पबहुत्वे "आवरणगसायाण संजलणपुरिसजसुच्चविग्घाणं ।" इत्यादिनाऽभिहितानां मतिज्ञानावरणादीनां पञ्चानां ज्ञानावरणप्रकृतीनां, चतसृणां चक्षुर्दर्शनावरणादीनां दर्शनावरणप्रकृतीनां, सातवेदनीयस्य, संज्वलनक्रोधमानमायालोभानां, पुरुषवेदस्य, यशःकीर्त्तिनाम्नः, उच्चैर्गोत्रस्य, पञ्चानामन्तरायप्रकृतीनामित्येवं द्वाविंशतिप्रकृतीनां प्रत्येकं "**हस्साऽबाहा थोवा**" त्ति 'हस्वा'-जघन्याऽबाधा स्तोका, जघन्यस्थितिबन्धस्य यथासम्भवमन्तर्मुहूर्ताद्यष्टवर्षान्तमात्रत्वेन जघन्याबाधाया अतिह्रस्वान्तर्मुहूर्तमात्रत्वादिति । ततः संख्येयगुणः '**ऽणुठिइबंधो**' त्ति लुप्ताऽकारस्य दर्शनाद् 'अणुः' जघन्यः स्थितिबन्धः; जघन्याबाधापेक्षया संख्येयगुणदीर्घान्तर्मुहूर्तादिप्रमाणत्वात् । ततः संख्येयगुणानि भवन्त्यबाधायाः स्थानानि अबाधायाः कण्डकानि च प्रत्येकम्, यत इमान्यन्तर्मुहूर्तोनसहस्रवर्षादिसमयमानानि । एतानि अबाधास्थानाऽबाधाकण्डकानि द्विविधान्यपि परस्पर तु प्रागिव तुल्यानि, कथम्? समयसमयाबाधाहानौ सत्यां प्रत्यबाधाकण्डकनिष्पत्तेरिति । ततो 'ज्येष्ठा'-उत्कृष्टाबाधा'**ऽभ्यधिका**' विशेषाधिका भवति, अन्तर्मुहूर्तमात्रजघन्याबाधाया अत्र प्रवेशात् । ततोऽसंख्यगुणानि निषेकस्य द्विगुणहानिस्थानानि भवन्ति, उत्कृष्टाबाधायाः संख्येयवर्षसहस्रसमयमितत्वात्; द्विगुणहानिस्थानानां तु पल्योपमप्रथमवर्गमूलाऽसंख्येयभागगतसमयप्रमाणतयाऽसंख्येय-

तदेवं भणितो द्वितीयसंहननप्रधानः प्रस्तुतसंनिकर्षः । सम्प्रति तत्तुल्यप्रायवक्तव्यत्वात् सापवादं तृतीयादिशेषसंहननप्रधानं द्वितीयादिपञ्चसंस्थानप्रधानं च प्रकृतसंनिकर्षं प्राह सार्धाऽऽर्यया—

एवं संघयणाणं तइआईणं चउण्ह भवे ॥
णवर कमागिईए तइआईअ लहुमलहुग व सिआ । बंधइ संखंसहियं दुइआईणागिईण एव सिं॥
॥१०२३-१०२४॥ (द्वितीया गीतिः)

(प्रे०) "**एव**"मित्यादि, **अयमत्र भावार्थः**-अनन्तरदर्शितनीत्या यथोक्तप्रकृतिविच्छेदक्रमे यस्मिन् स्थाने द्वितीयसंहननं विच्छेदं याति ततोऽनन्तरपूर्ववर्तिस्थाने तृतीयसंहननं विच्छेदं प्राप्नोति; एवमेकैकस्थानहान्या चतुर्थादिसंहननानि यथासंख्यं विच्छेदं बिभ्रति । तथाच यासां मनुष्यद्विकादिप्रकृतीनां द्वितीयसंहननप्रधानसंनिकर्षे द्वितीयसंहननविच्छेदस्थानादुत्तरवर्तित्वेन संख्येयभागाधिकस्थितिबन्धो भणितस्तासामिहाप्यसौ तथैव प्राप्यत इति तु सुगमम् । या पुनस्तृतीयादिसंहननानां पूर्वपूर्वस्थानवर्तित्वेनैकैका द्वितीयादिसंस्थानलक्षणाः प्रकृतयो या द्वितीयादिसंहननैः समं विच्छिद्यमानास्ता अपि तृतीयादिसंहननप्रधानसंनिकर्षेषूत्तरस्थानवर्तिन्य एव; तथाच तासां द्वितीयादिसंस्थानानामपि मनुष्यद्विकादिवत्संख्येयभागाभ्यधिकः स्थितिबन्धो लभ्यते । याश्च तृतीयादिसंहननैस्तुल्यस्थानगतास्तृतीयादिसंस्थानाद्या एकैकास्तासां तुल्यस्थानगतत्वेनैव जघन्यो वाऽजघन्यो वा स्थितिबन्धो जायते यथा द्वितीयसंहननप्रधानसंनिकर्षे द्वितीयसंस्थानस्येति । द्वितीयादिशेषसंस्थानप्रकृतीनामपि द्वितीयादितत्तत्संहननप्रकृतिभिः समं तुल्यस्थानवर्तित्वात् तत्तद्द्वितीयादिसंहननप्रधानसंनिकर्षेण तुल्य एव तत्तद्द्वितीयादिसंस्थानप्रधानसंनिकर्षोऽपि प्राप्यते, केवलं संहननप्रधानसंनिकर्षे यः शेषसंहननानामबन्धः संस्थानानां तु स्याद्बन्धश्च दर्शितः स संस्थानप्रकृतिप्रधानसंनिकर्षे वैपरीत्येन शेषसंस्थानानामबन्धः सहननानां तु स्याद्बन्ध इत्येवं भणितव्य इति ।

अक्षरार्थस्त्वेवम्-'**एवं**'इति द्वितीयसंहननप्रधानसंनिकर्षवद् , अस्य च '**भवेद्**'इति परेणान्वयः,क इत्याह-'**संघयणाणं**" इत्यादि,तृतीयादिषष्ठपर्यन्तचतुःसंहननप्रधानसंनिकर्ष इत्यर्थः । एवमतिदिश्य यो विशेषस्तमाह-"**णवरं**" इत्यादि, नवर क्रमात् तृतीयाद्या आकृतेः-संस्थानस्य लघुमलघु वा स्थितिं बध्नाति, तृतीयादितत्तत्प्रधानीकृतप्रकृतिजघन्यस्थितिं बध्नन्निति गम्यते, प्रकृतिं पुनस्तां द्वितीयाद्याकृतिलक्षणां "**सिआ**" त्ति स्याद् बध्नाति । विशेषान्तरमाह-"**बंधइ**" इत्यादि,"**सिआ**"इतीहाप्यनुसज्यते, तथाच"**दुइआईणागिईण**"त्ति स तृतीयादिसंहननजघन्यस्थितिं बध्नन् क्रमाद् द्वितीयादीनां एक-द्वि-त्रि चतुःसंख्याकानामाकृतीनां संस्थानप्रकृतीनां स्यात्संख्येयभागाभ्यधिकस्थितेश्च बन्धको भवति । द्वितीयादिपञ्चसंस्थानप्रधानसंनिकर्षमतिदिशति '**एवं सिं**' ति एवं=द्वितीयादिसंहननप्रधानसंनिकर्षवत् '**सिं**"ति तासाम् ,इह तत्पदेन प्रत्यासत्त्या द्वितीयाद्याः पञ्चाऽऽकृतिप्रकृतयः परामृश्यन्ते, द्वितीयादिसंस्थानप्रकृतिप्रधानसंनिकर्ष इत्यर्थः । अत्र यो विशेषः स तु भावार्थद्रितार्थ एवेति ॥१०२३-२४॥

भणितः प्रस्तुतनरकगत्योघ-प्रथमनरकलक्षणमार्गणाद्वये शेषतृतीयादिचतुःसंहननप्रकृतिप्रधानः शेषद्वितीयादिपञ्चसंस्थानप्रकृतिप्रधानश्च प्रस्तुतसंनिकर्षः। अथ भणितशेषप्रकृतिमध्यात्क्रमप्राप्तकुखगतिनामप्रधानं तं प्राह—

कुखगइलहुठिइबंधी सिआ ठिइं कुणइ संखभागहियं। संघयणाऽऽगिइथिरछग-अथिर-असुह-अजसणामाणं पंचिदिय-धुवु-रलदुग परघा-ऊसास-तसचउक्काण। तह णरदुगस्स णियमा बधइ सखेज्जभागहियं॥ दुहगतिगस्स सिआ खलु बधेइ ठिइं जहण्णमियरं वा।…… … … ……… ॥१०२५-२६-॥

(प्रे०) "कुखगइ" इत्यादि, अक्षरार्थः सुगमः, केवलं "संघयणागिइथिरछग" इत्यत्र पट्कशब्दः संहननादीनां प्रत्येकं सम्बध्यते, तथा च तेनाऽष्टादशप्रकृतयः संगृहीता इति। भावार्थस्त्वयम् दर्शितनीत्या तथाविधप्रकृतिविच्छेदक्रमे चरमसंहननसंस्थानविच्छेदादव्यवहितपूर्ववर्तिनि स्थाने कुखगतिर्दुर्भगत्रिकेण समं विच्छेदं याति, इत्येवं दुर्भगत्रिकस्य जघन्याया अजघन्याया वा स्थितेर्बन्धो दर्शितः "ठिइ जहण्णमियरं वा" इत्यनेन। शेपं तु प्राग्वदेवाऽभ्यूह्यम्, केवलं यथा संस्थानादेः प्रधानत्वे प्रधानीकृतचरमसंस्थानाद्येकप्रकृतिं विहाय शेषसंस्थानादीनां प्रधानीकृतप्रकृतिप्रतिपक्षतया बन्धः प्रतिषिद्धः, अविरुद्धतया संहननादीनां तु न प्रतिषिद्धश्च तथेहापि सुखगतेर्बन्धप्रतिषेधो बोध्यः, संहनन-संस्थानादीनां तु सर्वेषां सत्प्रतिपक्षाणां स्याद्बन्धोऽसत्प्रतिपक्षाणां पञ्चेन्द्रियजात्यादीनां नियतबन्धश्च बोध्य इति ॥१०२५-२६-॥

अथाऽनन्तरोक्तेन तुल्यवक्तव्यत्वाद्दुर्भग-दुःस्वराऽनादेयलक्षणप्रकृतित्रयप्रधानं संनिकर्षमतिदिशन्नाह—

… … … … … … ……. । एमेव सण्णियासो दुहगतिगस्स वि मुणेयव्वो॥१०२७॥

(प्रे०) "एमेव" इत्यादि, सुगमा, केवलम् "एमेव" त्ति प्रत्यासत्त्या कुखगतिप्रधानसंनिकर्षवदित्यर्थः। इह दुर्भगनामादितत्तत्प्रकृतेः प्रधानत्वे तत्प्रतिपक्षभूतप्रकृतेरबन्धः कुखगत्यादीनां तु सप्रतिपक्षत्वेन स्याद्बन्धश्च प्रागिव स्वयमेव वाच्यः, उपपत्तिस्तु सुगमा, दुर्भगत्रिकस्य कुखगतिनाम्ना तुल्यस्थानगतत्वाद्, अत एव कुखगतिनामप्रधानसंनिकर्षे दुर्भगत्रिकस्यैव जघन्यो वाऽजघन्यो वा स्थितिबन्धो भणित इति ॥१०२७॥ अथ जिननामप्रधानं प्रस्तुतसंनिकर्षमाह—

तित्थस्स हस्सबंधी णियमा बंधेइ सखगुणअहियं। धुवसुहणरजोग्गाणं सेसाणेगूणतीसाए॥१०२८॥

(प्रे०) "तित्थस्स" इत्यादि, अक्षरार्थः सुगमः, भावार्थस्त्वयम्—जिननाम्नो हि बन्धकः प्रस्तुतमार्गणाद्वये न शेषप्रकृतिजघन्यस्थितिबन्धकवदसंज्ञित आगतो जीवः, किन्तु पर्याप्तसंज्ञिमनुष्येभ्यश्च्युत्वा नारकतयोत्पन्नः पर्याप्तावस्थायां वर्तमानो ज्ञेयः। यद्यपि स सम्यग्दृष्टिस्तथाऽपि तस्याऽसंज्ञित आगत्य भवप्रथमसमयनारकतया वर्तमानजीवापेक्षया संख्येयगुण एव स्थितिबन्धो जायत इत्यतः 'संखगुणअहियं' इति भणितम्। शुभनरयोग्यानामेव बन्ध इति तु मनुष्यद्विकादिप्रकृतिवद्यद्या

जिननामजघन्यस्थितिं बध्नतस्तस्य स्वप्रायोग्यसर्वविशुद्धौ वर्तमानत्वेन ध्रुवबन्धिनीर्विहाय न मनुष्यप्रायोग्याऽशुभाऽध्रुवबन्धिनीनां बन्धः, विशुद्धतया तेन तद्बन्धस्यातिक्रान्तत्वादिति । ताः शुभनरप्रायोग्या एकोनत्रिंशत् प्रकृतयो नामतस्त्विमाः—मनुष्यद्विकौ-दारिकद्विक-पञ्चेन्द्रियजाति-प्रथमसंहनन-प्रथमसंस्थानन सुखगति-ध्रुवबन्धिनीनवक पराघातो-च्छ्वास त्रसदशकानीति ॥१०२८॥

अथ प्रस्तुतनरकगत्योघ-प्रथमपृथिवीनरकमार्गणयोरेवोक्तशेषाऽस्थिरा-ऽशुभा-ऽयशःकीर्तिनामलक्षणप्रकृतित्रयप्रधानं प्रस्तुतस्वस्थानसंनिकर्षमाह—

अथिरस्स जहण्णठिइ बंधेमाणो उ असुह-अजसाणं । बंधइ सिआ ठिइं खलु जहण्णगं अहव अजहण्ण ॥
णरदुग-पणिंदिय-उरलदुग-धुव वइर-पढमागिईण तहा । परघा-ऊसास-सुहगतिग-तसचउग सुहखगईण ॥
णियमा बंधेइ ठिइ संखियभागाहियं सुह-जसाण । बंधेइ सिआ एवं विण्णेयो असुहअजसाण ॥
॥१०२९-३१॥

(प्रे०) "**अथिरस्स**" इत्यादि, सुगमार्थाः, केवलं तृतीयगाथापूर्वार्धस्थं '**ठिइं संखियभागाहियं**' इत्येतत् काकाक्षिगोलकन्यायेनोभयत्र संबध्यते, तदुत्तरार्धस्थम् '**एवं विण्णेयो असुह-अजसाणं**' इत्येतदशुभा-ऽयशःकीर्तिनामप्रकृतिद्वयप्रधानसंनिकर्षप्रतिपादनार्थातिदेशवाक्यमिति ।

भावार्थस्तु प्रागिव योज्यः, तद्यथा—तथाविधप्रकृतिविच्छेदक्रमे चरमस्थाने शुभमनुष्यप्रायोग्या मनुष्यद्विकाद्या एकोनत्रिंशत्प्रकृतयो दर्शिताः, द्विचरमस्थाने त्वेता अस्थिरा-ऽशुभाद्यास्तिस्रो वर्तन्त इत्येतदपि अर्थाद्दर्शितमेव, तत्राऽस्थिरप्रतिपक्षभूतस्थिरनाम नियमाद्वर्जनीयमित्यवशिष्टास्त्रिंशत्, तन्मध्यात् शुभ-यशःकीर्त्य ऽशुभ-ऽयशःकीर्तिलक्षणाश्चतस्रः सप्रतिपक्षा इति ता विवर्ज्य शेषाणां मनुष्यद्विकादीनां षड्विंशतेर्नियमतो बन्धः कथितः, शुभादीनां चतसृणां तु स्याद्बन्धो भणितः पूर्वोक्तन्यायेन, मनुष्यद्विकादीनां षड्विंशतेः शुभ-यशःकीर्तिनाम्नोश्च संख्येयभागन्यूनः स्थितिबन्धः स्वीयस्वीयजघन्यस्थितिबन्धादित्येतत्तु तासां प्रधानीकृतप्रकृतिविच्छेदस्थानादुत्तरवर्तिस्थाने विच्छिद्यमानत्वादित्यादि प्राग्वदेव, एवमेवाऽशुभाऽयशःकीर्तिनाम्नोर्जघन्यादिद्विविधान्यतरस्थितिबन्ध इत्येतत्तासां प्रधानीकृतप्रकृत्या तुल्यस्थाने विच्छिद्यमानत्वादिति प्रागिवैव । अत एवाऽशुभाऽयशःकीर्तिनामप्रधानसंनिकर्षोऽतिदिष्टः; तत्र हि अतिदेशे प्रधानीकृताऽशुभनामादिप्रतिपक्षभूतायाः शुभनामादेरबन्धः स्थिरनामादेस्तु स्याद्बन्ध इत्यादिविशेषः प्राग्दर्शितनीत्या स्वयमेवाभ्यूह्यः, प्रागनेकश उन्नीतत्वेन पिष्टपेषणप्रायत्वान्नास्माभिर्विविच्यत इति । एवमेव वक्ष्यमाणसंनिकर्षोऽपि प्रस्तुतमार्गणाद्वयभावितनीत्या विभावनीयः स्वधिया, यत्र तु विशेषः स्यात्तत्र प्रपञ्चयामो यथासम्भवमिति ॥१०२९-३१॥

तदेवं गाथापञ्चदशकेन भणितो नरकगत्योघ-प्रथमभूमिनरकमार्गणयोः प्रस्तुतो नामोत्तरप्रकृतिस्वस्थानजघन्यस्थितिबन्धसंनिकर्षः । साम्प्रतं क्रमगतद्वितीयनरकभूम्यादिनरकमार्गणा-

पञ्चके प्रस्तुतमभिधित्सुस्तुल्यप्रायोवक्तव्यत्वात्तृतीयकल्पादिदेवमार्गणाषट्केऽपि तं सममेवाह गाथात्रयोदशकेन—

[१]दुइआइणिरयपणगे तइआइगअट्ठमंतदेवेसु । एगस्स जहण्णठिइं बंधंतो तिरिदुगाऽण्णस्स ॥
[२]णियमा लहुमलहुं वा बंधइ उज्जोअगस्स सिआ । पंचिंदिय-धुवु-रलदुग-परघा-ऊसास तसचउक्काण ॥
[३]णियमा संखगुणहियं पणसंघयणागिईण असुहाण । कुखगइ-दुहगतिगाणं सिआ ठिइं संखभागहियं ॥
[४]सुखगइ-संघयणागिइथिरछग-अथिर-असुहा-ऽजसाण सिआ । संखेज्जगुणब्भहियं उज्जोअस्सेवमेव भवे ॥
[५]एगस्स हस्सबंधी धुव-जिणवज्जसुहमणुयजोग्गाओ । णियमाऽण्णाण लहुं वा अलहुं व सिआ जिणस्स एवं से
[६]रिसहस्स हस्सबंधी लहुमलहुं व दुइआगिईअ सिआ । पढमागिइ तिथिराइगजुगलाणं संखगुणअहियं ॥
[७]बंधइ संखगुणऽहियं सुहणरजोग्गाण तित्थवज्जाण । णियमाऽण्णाणेव चउसंघयणाण तइआईण ॥
[८]णवर कमाऽऽगिईए तइआईअ लहुमलहुगं व सिआ । बंधइ संखंसहियं दुइआईणागिईण एव सिं ॥
[९]कुखगइलहुठिइबंधी दुहगतिगस्स लहुमलहुग व सिआ । संखेज्जभागअहियं पणसंघयणागिईण सिआ ॥
[१०]पंचिंदिय-धुवु-रलदुग-परघा-ऊसास-तसचउक्काणं । तह णरदुगस्स णियमा बंधइ संखेज्जगुणअहियं ॥
[११]बंधइ वइर-सुहागिइ-थिरछग अथिर-असुहा-ऽजसाण सिआ । संखगुणऽहियं एव दुहगतिगस्स उ मुणेयव्वो
[१२]अथिरस्स हस्सबंधी लहुमलहुं व असुहा ऽजसाण सिआ । संखेज्जभागअहिय बंधइ जिण-सुह-जसाण सिआ
[१३]णियमा छत्तीसाए धुव सेससुहणरजोग्गअधुवाणं । संखेज्जभागअहियं एवं असुहा-ऽजसाण भवे ॥
॥१०३२-१०४४॥ (द्वितीया उद्गीतिः, पञ्चम्यष्टमी च गीतिः)

(प्रे०) "दुइआइणिरयपणगे" इत्यादि, गाथात्रयोदशी अक्षरतो बहुधाऽनन्तरनरकगत्योघादिमार्गणाभणितप्रस्तुतसंनिकर्षप्रतिपादकगाथापञ्चदशकवदेव, यः कश्चिद्विशेषः सोऽपि सुगमः, यथा पञ्चमगाथाप्रान्ते 'एवं से' इत्यत्र प्रत्यासत्त्या जिननामप्रधानप्रस्तुतसंनिकर्षातिदेश इति । भावार्थोऽपि बाहुल्येन नरकगत्योघादिमार्गणातुल्य एव । यतस्तत्र नरकगत्योघादाविह द्वितीयपृथ्वीनरकमार्गणास्थानेषु च समा एव प्रकृतयो बन्धप्रायोग्या विहाय चतुर्थ-पञ्चम-षष्ठनरकमार्गणात्रये जिननाम्नोबन्धाप्रयोग्यत्वम् ; ततः प्रकृतिविच्छेदक्रमेऽप्यविशेषो । यद्यप्येवं तथापि आसु मार्गणासु पृथक्संनिकर्षप्रतिपादनमिह असञ्ज्ञितश्च्युत्वा नारकतयोत्पन्नानां जीवानामप्रवेशेन सम्यग्दृष्टिस्वामिकप्रकृतीनां मनुष्यद्विकौदारिकद्विकपञ्चेन्द्रियजाति प्रथमसंहनन-प्रथमसंस्थान-सुखगति-ध्रुवबन्धिनवकपराघातोच्छ्वास-जिन-त्रसदशक-ऽस्थिरा-ऽशुभा-ऽयशःकीर्तिनामलक्षणानां जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनः सम्यग्दृष्टयः शेषाणां तिर्यग्द्विकादीनां सप्तदशानां तु मिथ्यादृष्टयश्च, किञ्च प्रस्तुतमार्गणासु सम्यग्दृष्ट्युत्कृष्टस्थितिबन्धान्मिथ्यादृष्टिजघन्यस्थितिबन्धोऽपि संख्येयगुणो भवति तत्तु प्रागिहैव ग्रन्थे प्रथमाधिकारे दर्शितजघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धाल्पाबहुत्वात्सुस्पष्टमेव, तथाच प्रस्तुतमार्गणासु मिथ्यादृष्टिस्वामिकजघन्यस्थितिबन्धानां तिर्यग्द्विकादीनां प्रधानत्वे नियमतः स्याद्वा बध्यमानानां सम्यग्दृष्टिस्वामिकजघन्यस्थितिबन्धानां पञ्चेन्द्रियजात्यादीनां स्थितिबन्धः स्वीयस्वीयजघन्यस्थितिबन्धात्संख्येयगुणाधिको लभ्यते, पूर्वोक्तमार्गणाद्वये तु विहाय जिननाम सर्वासां जघन्यस्थितिबन्धस्य पश्चात्कृतासंज्ञित्वजीवस्वामिकत्वेन तिर्यग्द्विकादीनां प्रधानत्वेऽप्यसौ पञ्चेन्द्रिय-

जात्यादीनां स्थितिबन्धः संख्येयभागेनैवाधिक इत्येवं प्रस्तुतमार्गणानां पूर्वोक्तमार्गणाभ्यो विभागेन संग्रह इति ॥१०३२-१०४४॥

अथ क्रमप्राप्तसप्तमभूमिनरकमार्गणायां प्रस्तुतसंनिकर्षस्य द्वितीयभूमिनरकमार्गणादिना बहुसाम्यादतिदेशादिना तमाह—

एगस्स तमतमाए लहुबंधी तिरिदुगाउ इयरस्स। णियमा लहुमलहुं वा बंधइ उज्जोअगस्स सिआ॥
णियमा संखगुणऽहियं धुव-सेससुहतिरिजोग्गअधुवाणं। एव उज्जोअस्स उ सेसाणं दुइअणिरयव्व॥
णवरि कुखगइ-दुहगतिग-पणसंघयणागिईण लहुबंधी। णरदुगथले तिरिदुगं वा उज्जोअस्स संखगुणअहियं॥
॥१०४५-४७॥ (तृतीया गीति)

(प्रे०) "**एगस्स**" इत्यादि, अक्षरार्थः सुगमः, केवलम् '**एवं उज्जोअस्स**' इति तिर्यग्द्विक-प्रधानसंनिकर्षवदुद्योतनामप्रधानसंनिकर्ष इत्यर्थस्तथा '**सेसाणं दुइअणिरयव्व**'त्ति तिर्यग्द्विकोद्योतनाम्नी विहाय सप्तमनरके बन्धप्रायोग्यमनुष्यद्विकादिशेषषट्चत्वारिंशत्प्रकृतिप्रधानः प्रस्तुत-जघन्यस्थितिबन्धसंनिकर्षो द्वितीयनरकमार्गणादर्शितमनुष्यद्विकादितत्तत्प्रकृतिप्रधानसंनिकर्षवद्भव-तीत्यर्थः, '**णवरि**' इत्यादिना तृतीयगाथया तु तत्रातिदेशेऽपवादो भणित इति।

भावार्थस्त्वयम्—शेषनरकमार्गणावत्सप्तमनरके मिथ्यादृष्टयो जीवा मनुष्यद्विकप्रकृति-बन्धस्वामिनो न भवन्ति, तथाच शेषनरकमार्गणासु सम्यक्त्वाभिमुखावस्थागतानां मनुष्यद्विकस्यैव बन्धभावेऽपि प्रस्तुतमार्गणायां तु सम्यक्त्वाभिमुखानामपि तिर्यग्द्विकस्यैव बन्धः प्रवर्तते, तद्वदुद्योतनाम्नोऽपि बन्धः सम्यक्त्वाभिमुखावस्थायां सम्भवति, किञ्च सम्यक्त्वाभिमुखाद्यवस्थायां तत्र तत्र मिथ्यात्वादिगुणस्थाने बन्धप्रायोग्यपरावर्तमानाध्रुवबन्धिप्रकृतिमध्याद्या याः शुभास्ता बध्यन्ते, अशुभास्तु न बध्यन्ते, इत्येवमिह तिर्यग्द्विकोद्योतनामजघन्यस्थितिं बध्नतो जीवस्य ध्रुवबन्ध्यादिवत्परावर्तमानाध्रुवबन्धिनीमध्यादपि शुभानां प्रथमसंहननादीनामेव बन्धभावाद् ध्रुव-बन्ध्यादिवत् तासां प्रथमसंहननादीनामपि '**सेससुह**' इत्यादिना नियमाद्बन्धो भणितः। तत्रा-ऽपि उद्योतस्य स्याद्बन्धस्तु ताथास्वाभाव्येन सर्वत्र तस्य तथात्वादिति प्रागुक्तनीत्यैव। किञ्च प्रोक्तनीत्या प्रस्तुतमार्गणायां सम्यक्त्वाभिमुखानामपि तिर्यग्द्विकस्यैव बन्धभावेन सम्यक्त्वाभि-मुखानामेव तिर्यग्द्विकजघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वेऽपि द्वितीयसंहननाद्याः याः शुभेतरपरावर्तमाना श्चतुर्दश प्रकृतयस्तासां जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनस्तु द्वितीयभूमिनरकमार्गणादिवत् स्वस्थानवि-शुद्धा मिथ्यादृष्टय एव, तथाच तासां चतुर्दशप्रकृतीनां जघन्यस्थितिं बध्नता तिर्यग्द्विकस्य संख्येयगुणाधिकजघन्यस्थितिर्विरच्यते, एवमेवोद्योतनाम्नोऽप्यजघन्या जघन्यतः संख्येयगुणा-धिकैव सा निर्वर्त्यत इति सुगमम्, केवलमुद्योतनाम यथोक्तनीत्या स्याद्बध्यते तिर्यग्द्विकं तु मिथ्या-त्वगुणस्थाने प्रस्तुतमार्गणायां मनुष्यद्विकस्य बन्धाप्रायोग्यत्वेन नियमतो बध्यते इत्येतदेव द्वितीय-

नरकमार्गणादितो विशेष इति कृत्वा **'सेसाणं दुइअणिरयव्व'**इत्यतिदिश्यापि **'णवरि'**इत्यादिनाऽपोदितम् । शेषं तु गतार्थमिति ॥१०४५-१०४७॥

अथ क्रमप्राप्ततिर्यग्गत्योघमार्गणायामौघिकवक्तव्यतया बहुतुल्यत्वात्मापवादमतिदिदिक्षुस्तुल्यप्रायवक्तव्योपेतसर्वैकेन्द्रियमार्गणा- मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंयमा-ऽशुभलेश्यात्रय-मिथ्यात्वाऽभव्या-ऽसंज्ञिमार्गणा अपि सममेव संगृह्याह प्रस्तुतनामप्रकृतिस्वस्थानजघन्यस्थितिबन्धसंनिकर्षम्-

तिरिये सव्वेगिदिय-दुअणाणा-ऽजय तिअसुहलेसासु । अभवे मिच्छे अमणे सप्पाउग्गाण ओघव्व ॥
णवर जसस्स सव्वह थिरव्व अजयाइतीसु जिणबंधी । णाहारदुगं बंधइ काऊअ जिणस्स णिरयव्व ॥
॥१०४८-४९॥

(प्रे०) **"तिरिये"** इत्यादि, अक्षरार्थादिकं सुगमम्, केवलं द्वितीयगाथायाम् **"जसस्स सव्वह थिरव्व"** त्ति **'सर्वत्र'** प्रस्तुततिर्यग्गत्योघादिमसप्तदशमार्गणास्वपि स्वप्रधानसंनिकर्षेऽन्यप्रधानसंनिकर्षे वौघतो यादृशी स्थिरनामवक्तव्यता भवति, **यथा**-स्वप्रधानसंनिकर्षे स्थिरनामजघन्यस्थितिं बध्नतः पञ्चेन्द्रियजात्यौदारिकद्विक-ध्रुवबन्धिनीनवक प्रथमसंहनन-प्रथमसंस्थान-सुखगति-परघातो-च्छ्वासनाम्नां त्रसादीनां च स्थिरनामवर्जानां जघन्याया अजघन्याया वा स्थितेर्नियमतो बन्धो भवति, तिर्यग्द्विक-मनुष्यद्विको-द्योतनाम्नां जघन्याया अजघन्याया वा स्थितेः स्याद्बन्धो भवति, परप्रधानसंनिकर्षे च तिर्यग्द्विकादिजघन्यस्थितिं बध्नतः स्थिरनाम्नो जघन्यादिस्थितिबन्धो जायते, तादृशी वक्तव्यता स्वप्रधानसंनिकर्षे परप्रधानसंनिकर्षे च यशःकीर्तिनाम्नोऽपि कार्या । **तद्यथा**-यशःकीर्तिनामजघन्यस्थितिं बध्नन्नौदारिकद्विक-ध्रुवबन्ध्यादिप्रकृतीनां जघन्याया अजघन्याया वा स्थितेर्नियमतो बन्धको भवति, तिर्यग्द्विक मनुष्यद्विको-द्योतनाम्नामपि तथा भवति, केवल स्याद्बन्धको भवति; यशःकीर्तिनाम तु इह प्रधानीभूतमिति न तत्र किञ्चिद्वक्तव्यम्, केवलं पूर्वं त्रसादिषु स्थिरनामवर्जितमासीत्तदिह न वर्जनीयमिति स्वप्रधानसंनिकर्षः । परप्रधानसंनिकर्षे तु तिर्यग्द्विकादिजघन्यस्थितिं बध्नतः स्थिरनामवद्यशःकीर्तिनाम्नोऽपि जघन्यादिस्थितिबन्धो द्रष्टव्य इति । एतादृगपवादकरणं तु ओघे यशःकीर्तिनामजघन्यस्थितिबन्धः सूक्ष्मसम्परायक्षपकस्वामिकः सन्नष्टमुहूर्तमानः, इह त्वभावेकेन्द्रियस्वामिकः सन् पल्याऽसंख्येयभागोनसागरोपमद्विसप्तभागमानः, स च प्रस्तुते स्थिरनामौघिकजघन्यस्थितिबन्धेन तुल्यस्तथा च तदाश्रिता वक्तव्यता अपि स्थिरनामवक्तव्यतया तुल्यैव जायत इत्यपोह्य तथाऽतिदेशो विहित इति । **"अजयाइतीसु"** इत्यादिकं तु नातिदुर्गमम्, यतोऽयतेऽशुभलेश्याद्वये च जिननाम्नो बन्धप्रायोग्यत्वेऽपि आहारकद्विकं बन्धप्रायोग्यमेव न भवति, कापोतलेश्यायां च जिननाम्नो जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनो नारकाः न पुनरोघवत् क्षपकश्रेणिप्रविष्टा मनुष्याः, तथाच भवति विशेष इति । अनपवादविषया वक्तव्यता ओघवदिति तु नरकद्विकादिप्रकृतिजघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वादीनामविशेषादिति । विस्तरतस्तु स्वयमेव भाव्यमिति ॥१०४८-४९॥

अथ क्रमप्राप्तापर्याप्तभेदवर्जपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणाभेदत्रये प्रस्तुतसंनिकर्षमाह गाथाचतुर्दशकेन—

[1]तिपणिंदियतिरियेसुं णिरयदुगेगस्स हस्सठिइबंधी । बंधइ णियमाऽण्णस्स उ ठिइं जहण्णमजहण्णं वा ॥
[2]सखंसहियं णियमाऽण्णणिरयजोग्गाण होइ णिरयव्व । पणसंघयणागिइ-दुहगतिगु ज्जोअ-तिरिदुग-कुखगईण ॥ (गीतिः)

[3]एगस्स हस्सबंधी खरउरलदुग-वइराउ बंधेइ । णियमाऽण्णाण चउण्ह ठिइं जहण्णमजहण्णं वा ॥
[4]बंधेइ सिआ तिण्ह थिराइजुगलाण सखभागहियं । णियमाऽण्णेमिं बंधइ धुव-सुहअधुवणरजोग्गाण ॥
[5]एगस्स धुव-सुहअधुवसुरपाउग्गाउ अट्ठवीसाओ । लहुठिइबंधी बंधइ णियमाऽण्णाण लहुमलहुं वा ॥
[6]एगस्स हस्सबंधी एगिंदिय-थावराउ इयरस्स । णियमा लहुमलहुं वा बंधइ ठिइमायवस्स सिआ ॥
[7]तिरिदुग-धुव-रल-हुंडग-परघा-ऊसास-बायरतिगाण । दुहगा-ऽणादेयाण सखियभागाहियं णियमा ॥
[8]संखेज्जभागअहियं उज्जोअ-थिराइ-तिजुगलाण सिआ । बंधेइ ठिइं एवं आयवणामस्स विण्णेयो ॥
[9]बेइंदियलहुबंधी धुवुरलतिरिदुग-छिवट्ठ-हुंडाण । परघा-ऊसास-दुहगतिग-कुखगइ-तसचउक्काण ॥
[10]णियमा संखसहियं उज्जोअ-थिराइतिजुगलाण सिआ । तेइंदिय-चउइंदियणामाणेमेव विण्णेयो ॥
[11]थिर अथिरदुगाण सिआ संखसहियं तु सुहुमलहुबंधी । णियमाऽण्णपज्जपत्तेआणं साहारणस्सेव ॥
[12]तिरिमणुयदुगाण सिआ सखंसहियं अपज्जलहुबंधी । णियमाउ दुवीसाए पणिंदिजोग्गाण अण्णेसिं ॥
[13]अथिरस्स हस्सबंधी लहुमलहुं य असुहा-ऽजसाण सिआ । बंधेइ सुह-जसाणं संखेज्जदिभागअब्भहियं ॥
[14]संखेज्जभागअहियं णियमा सेसाण देवजोग्गाण । पणवीसाए बंधइ एवं असुहाऽजसाण भवे ॥
॥१०५०-१०६३॥

(प्रे०) "**तिपणिंदितिरिये**" त्यादि, इहाद्यगाथापूर्वार्धे "**णिरयदुगे**"ति, द्वितीयगाथापूर्वार्धे '**होइ णिरयव्व**' इति, तृतीयगाथापूर्वार्धे '**एगस्स**' इति, पञ्चमगाथापूर्वार्धेऽपि '**एगस्स**' इति, एवमेव षष्ठगाथायामपि; अष्टमगाथोत्तरार्धे '**एवं**' इति, नवमगाथापूर्वार्धे '**बेइंदिय०**'इति, दशमगाथोत्तरार्धे **तेइंदिय-चउइंदियणामाणे**'ति, एकादशगाथापूर्वार्धे'**थिर**'इति, तदुत्तरार्धे '**साहारणस्से**'ति, द्वादशगाथापूर्वार्धे '**तिरियमणुयदुगाण**' इति, त्रयोदशगाथापूर्वार्धे '**अथिरस्स**'इति, चतुर्दशगाथोत्तरार्धे '**एवं**' इति च निरयद्विकादितत्तत्प्रकृतिप्रधानप्रस्तुतसंनिकर्षप्रतिपादने आद्यपदानि।

अक्षरार्थस्तु सुगमः, केवलं द्वितीयगाथापूर्वार्धे "**णिरयव्व**" त्ति नरकगत्योघमार्गणावत् , न पुनर्नरकगतिनामप्रकृतिवत् । तदुत्तरार्धे "**पणसंघयणागिइ**"इत्यत्र पञ्चशब्दः प्रत्येकं सम्बध्यते, प्रकृतयश्च तेन प्रथमसंहनन-प्रथमसंस्थानवर्ज्या बोध्याः । एकादशगाथोत्तरार्धे "**साहारणस्सेवं**" इत्यतिदेशे व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेर्बादरनाम्नो नियतबन्धो द्रष्टव्य इति । द्वादशगाथोत्तरार्धे "**दुवीसाए**" इत्यादौ "**पणिंदिजोग्गाण**" इत्यनेनाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तमनुष्यप्रायोग्याः प्रकृतय एव बोध्याः, न पुनर्देव-नरकगतिप्रायोग्याः पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्पर्याप्तमनुष्यप्रायोग्या वा देवद्विक नरकद्विक पराघातो-च्छ्वासाद्या अपि, अपर्याप्तनामप्रधानसंनिकर्षस्य प्रस्तुतत्वेन तद्बन्धस्य प्रकृतिबन्धसंनिकर्षेणैव प्रतिषेधप्राप्तेरिति ।

भावार्थस्त्वयम्–प्रस्तुतमार्गणासु जिननामा-ऽऽहारकद्विकं विहाय शेषसर्वनामप्रकृतयो बन्ध-प्रायोग्याः, तथाच यः **'णिरय-पढमणिरयेसु'** इत्यादि(१०१७-१९) गाथावृत्तौ सामान्यतः प्रकृतिविच्छेदक्रमो दर्शितः स एवाऽविशेषेण प्रस्तुतमार्गणात्रये सम्बध्यते, किञ्च तासां सर्वासां प्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामिन इहाऽसंज्ञिन एव, तथाच तत्तत्प्रकृतिप्रधानसंनिकर्षे बन्धविच्छेदक्रमा-पेक्षया तुल्यस्थानगतानां जघन्योऽजघन्यो वा स्थितिबन्धो जायते, अन्यासामुत्तरत्रविच्छिद्यमानानां बध्यमानत्वे संख्येयभागाधिक एवासौ भवति स्वीयस्वीयजघन्यस्थितिबन्धात् , पूर्वविच्छिद्यमानानां तथोत्तरविच्छिद्यमानास्वपि कासाञ्चित्प्रधानीकृतप्रकृत्या समं विरोधित्वादिना न भवत्येव बन्ध इत्यादि सर्वं प्रागिवाभ्यूह्यम् । **तद्यथा**–नरकद्विकं सर्वप्रथमस्थानगतम् , तथाच तद्वर्जाः सर्वा प्रकृतय उत्तरस्थानगताः, एवमपि नरकद्विकबन्धेन विरोधान्नरकप्रायोग्याः प्रकृतीर्विहाय शेषाः देवद्विकाद्या न बध्यन्त एव नरकगतिनामजघन्यस्थितिं बध्नता । नरकानुपूर्वी तुल्यस्थानगता इति तस्या जघन्यो वाऽजघन्यो वा स्थितिबन्धो जायते , शेषाणां पञ्चेन्द्रियजात्यादीनां नरक-प्रायोग्याणां तूत्तरस्थानगतत्वेन तासां संख्येयभागाधिकस्थितिबन्धो जायते, स च सर्वासामसंज्ञि-लक्षणतुल्यस्वामिकजघन्यस्थितिकत्वात् तथा ज्ञेयः । नियमबन्धोऽपि सर्वासां प्रतिपक्षप्रकृतिरहितत्वा-देरिति । एवमेवोत्तरत्राऽपि भावनीयः स्वयमेवेति ॥१०५० १०६३॥

अथ क्रमप्राप्तायामवशिष्टतिर्यग्भेदलक्षणायामपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणायां प्रस्तुतसंनिकर्षं प्रतिपिपादयिषुस्तुल्यवक्तव्यत्वादपर्याप्तमनुष्यसर्वविकलेन्द्रिया-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तत्रसमार्गणा-स्वपि तं सममेवाह—

असमत्तपणिंदितिरिय-मणुय-पणिंदि तस सव्वविगलेसु । आयव इंदिय-थावरचउगाण पणिंदितिरियव्व ॥
णिरयव्वऽण्णाण सवे ·· ·· ·· ··· ··· । ·· ··· ·· ··· ·· · · ·· ॥१०६३॥

(प्रे०) "**असमत्ते**"त्यादि, अक्षरार्थः सुगमः, केवलम् **'असमत्त'** इत्यादौ असमत्त-शब्दस्त्वमान्नेषु प्रत्येक सम्बध्यते, तथाच पातनिकायां दर्शितमार्गणासंग्रहः, तथा "**इंदियथा-वरचउगाण**" इत्यत्र चतुष्कशब्दः प्रत्येक सम्बध्यत इति कृत्वेन्द्रियचतुष्कमेकद्वि-त्रि-चतुरिन्द्रय-जातिनामलक्षणप्रकृतिचतुष्टयात्मकं स्थावरचतुष्क स्थावर-सूक्ष्मा ऽपर्याप्त-साधारणलक्षणचतुष्प्रकृति-रूप चेति आतपसहितनवप्रकृतिप्रधानसंनिकर्षः पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघमार्गणावदित्यर्थः सम्पन्न इति ।

भावार्थः पुनरयम्–प्रस्तुतमार्गणासु या नरकगत्योघे बन्धप्रायोग्यास्तिर्यग्द्विकाद्या जिनवर्जा एकोनपञ्चाशत्प्रकृतयस्ता एव बन्धप्रायोग्याः, केवलमधिकत आतप-जातिचतुष्क-स्थावर-चतुष्कलक्षणा नव ; किञ्च नरकगत्योघवज्जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनोऽपि तासां सर्वासामेकेन्द्रिये-तराः सम्यक्त्वाद्यनभिमुखा मिथ्यात्वलक्षणैकगुणस्थानगता असंज्ञित्व-पश्चात्कृतासंज्ञित्व-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रियत्वादिलक्षणतुल्यैकरूपाः, एवं चाऽऽतपादिप्रकृतिनवकं विहाय शेषप्रकृतिविच्छेदक्रमस्य

तदीयजघन्यस्थितिबन्धस्वामिनां निरुक्तरूपेण तुल्यत्वात्तत्प्रकृतिनवकं विहाय शेषप्रकृतिप्रधानसंनिकर्षो नरकगत्योघवत्कथितः। शेषाऽऽतपादिनवप्रकृतिजघन्यस्थितिबन्धस्वामिनस्तु यथा प्रस्तुतमार्गणासु प्रथमगुणस्थानगताः सम्यक्त्वाद्यनभिमुखास्तथा पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघमार्गणायामपीति तथाऽतिदेशः कृतः।

ननु पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघमार्गणायां न केवलमातपादिनवप्रकृतिजघन्यस्थितिबन्धस्वामिन एव प्रस्तुतमार्गणातुल्या अपि तु प्रस्तुतमार्गणाबन्धप्रायोग्यसर्वनामप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनः प्रस्तुतमार्गणासु पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघमार्गणायां च समाना एव, तथाच सर्वप्रकृतिप्रधानप्रस्तुतसंनिकर्षः पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघमार्गणावत्कथं न भणितः? इति चेद्, सत्यम्, एवमपि पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघमार्गणायां देवगतिप्रायोग्यस्यापि बन्धप्रायोग्यतया प्रकृतिविच्छेदक्रमवैलक्षण्यात्तथा नोक्तः तद्यथा-पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघमार्गणायां चरमस्थाने देवद्विक-वैक्रियद्विक-ध्रुवबन्ध्यादीनां बन्धविच्छेदः; द्विचरमस्थानेऽस्थिरादीनां तिसृणाम्, त्रिचरमस्थाने मनुष्यद्विकौदारिकद्विकादीनां पञ्चानाम्, प्रस्तुतमार्गणासु तु चरमपदे मनुष्यद्विकौ-दारिकद्विक-ध्रुवबन्धिनी-प्रथमसंहनन-प्रथमसंस्थानादीनाम्, द्विचरमस्थानेऽस्थिरादीनां तिसृणामित्यादिरूपः, भवति हि स्वामित्वतौल्येऽपि बन्धविच्छेदक्रमविशेषे संनिकर्षविशेषः,इत्येवं न भवति प्रस्तुतमार्गणासु सर्वथा प्रस्तुतसंनिकर्षस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियौघमार्गणावत्; नरकौघमार्गणायां तूक्तनीत्या विहायाऽऽतपादिप्रकृतिनवकं शेषप्रकृतिस्वामित्वस्य तद्विच्छेदक्रमस्य च प्रस्तुतमार्गणाभिस्तौल्यमिति तथाऽतिदेशः कृतः। ननु एवमपि प्रस्तुतमार्गणासु तादृशविच्छेदक्रमगतप्रथमादिस्थानेषु अपर्याप्तनामादीनां बन्धविच्छेदो लभ्यते, नरकगत्योघमार्गणायां तत्र तत्र स्थाने पर्याप्तनामादीनामित्येवं परस्परं विलक्षणो बन्धविच्छेदक्रमोऽस्त्येव? इति चेत्, सत्यम्, परं पूर्वपूर्वस्थानगतविच्छेदक्रमवैलक्षण्यमुत्तरोत्तरतस्थानवर्तिविच्छेदक्रमतौल्येऽबाधकम्, नहि पूर्वपूर्ववर्तिप्रस्तुताऽऽतपादिनवप्रकृतिविच्छेदस्थानानि विहाय तदुत्तरोत्तरवर्तिविच्छेदस्थानक्रमे नरकगत्योघ-प्रस्तुतमार्गणासु कश्चिद्विशेषोऽस्ति, तथाच संनिकर्षोऽपि प्रस्तुतमार्गणासु आतपादिवर्जप्रधानो नरकगत्योघवदुपपद्यत एव। ननु भवत्वेवम्, परं तिर्यक्पञ्चेन्द्रियौघवदिति योऽतिदेशः कृतस्तत्र तूत्तरवर्तिस्थानापेक्षयाऽपि प्रस्तुतमार्गणासम्भविविच्छेदक्रमेणातौल्यमेव, यतस्तत्र तिर्यक्पञ्चेन्द्रियौघे चरमस्थानादिषु देवद्विकादीनां यथोक्तस्वरूपो विच्छेदक्रमः, प्रस्तुतमार्गणासु तु चरमद्विचरमस्थानादिषु मनुष्यद्विकादीनां स इति भवदुक्तनीत्याऽयमतिदेशोऽसङ्गत एव स्याद्? इति चेत्, सत्यम्, परमातपनामादिप्रधानीकृतप्रकृत्या जघन्यस्थितिं बध्नतस्तु ता देवद्विकाद्या न बध्यन्ते प्रकृतिबन्धसंनिकर्षादेव, यास्तु बध्यन्ते स्थिराद्यास्तास्तूभयत्र प्रधानीकृताऽऽतपनामादित उत्तरस्मिन् विच्छिद्यमानाः परस्परं पूर्वोत्तरभावेन तुल्यक्रमगताश्चेत्येवं न काचिदसङ्गतिरिति। इत्थमेवोत्तरत्राऽपि तत्र तत्राऽतिदेशे स्थिरचित्तेन विभावनीयमिति ॥१०६३॥

अथाऽपर्याप्तमनुष्यमार्गणायामनुपदमपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिमार्गणाभिः साकमभिहितः प्रस्तुतसंनिकर्ष इति क्रमप्राप्तशेषमनुष्यमार्गणात्रये प्रस्तुतसंनिकर्षमभिधित्सुस्तत्साम्यात्संज्ञिमार्गणायामपि सममेवाह—

…… तिमणुयसण्णीसु णारगदुगस्स । ओघव्व णवरि विक्कियदुगस्स संखेज्जगुणअहियं ॥
एगस्स हस्सबंधी सुरविउवदुगाउ तिण्ह अण्णेसिं। णियमा लहुमलहुं वा तित्थाहारगदुगाण सिआ॥
बंधइ जसस्स णिअमा असंखियगुणाऽहियं ठिइं णियमा । संखगुणहियं बंधइ ध्रुव-सुहसेससुरजोग्गाणं॥
तित्थाऽऽहारदुगाणं एवमपज्जगपणिंदितिरियव्व । सेसाण णवरि सव्वह जसस्स ओघव्व विण्णेयो ॥
॥१०६४-६७॥

(प्रे०) "तिमणुय" इत्यादि, तत्र नरकद्विकप्रधानसंनिकर्षम् "णारगदुगस्स ओघव्व" इत्यनेनोघवद्भणित्वाऽपि तत्र "णवरि" इत्यादिनाऽपवादभणनमोघतो नारकद्विकवैक्रियद्विकजघन्यस्थितेरसंज्ञिस्वामिकत्वेऽपि प्रस्तुते संज्ञिनामेव तत्स्वामित्वात्, तत्राऽपि नरकद्विकजघन्यस्थितेस्तत्प्रायोग्यविशुद्धमिथ्यादृष्टिस्वामिकत्वाद् वैक्रियद्विकजघन्यस्थितेस्तु क्षपकस्वामिकत्वाच्चेति । वैक्रियद्विकवत् सुरद्विकजघन्यस्थितिबन्धस्वामिन इह क्षपका एव, न पुनः पश्चात्कृतासंज्ञित्वजीवाः, इत्यतो वैक्रियद्विक देवद्विकप्रधानसंनिकर्षोऽपि ओघवन्नातिदिष्टः, स चौघिकाहारकशरीरादिप्रकृतिप्रधानसंनिकर्षवद्भावनीयः, केवलं तत्र ध्रुवबन्ध्यादीनां जघन्यस्थितेरेकेन्द्रियस्वामिकत्वादिह त्वेकेन्द्रियाणामसञ्ज्ञिनां वाऽप्रवेशेऽपि तस्याः पश्चात्कृतासंज्ञित्वजीवस्वामिकत्वाच्च तासामसौ संख्येयगुणाधिको लभ्यते । इत्थमेव जिननामादिप्रधानसंनिकर्षेऽपीहौघापेक्षया एतावान् विशेषोऽवगन्तव्यः, शेषं तु सुगमम्, केवलम् "सव्वह जसस्स ओघव्व" त्ति स्वप्रधाने परप्रधाने वा संनिकर्षे यशःकीर्तिनामवक्तव्यता ओघवद्भवति । सा च विस्तरतः प्रागिव स्वयमेव कार्येति ॥१०६४-६७॥

तदेवं गता मनुष्यगतिमार्गणास्थानेष्वपि प्रस्तुतवक्तव्यता। एतर्हि देवगतिमार्गणास्थानेषु तां चिकीर्षुर्देवौघे भवनपति-व्यन्तरदेवमार्गणयोश्च प्राह—

सुर-भवण-वंतरेसुं एगिंदिय-थावरा-ऽऽयवाण तु । विण्णेयो पंचिंदियतिरिव्व णिरयव्व सेसाणं ॥
॥१०६८॥ (गीतिः)

(प्रे०) "सुर-भवण-वंतरेसु" इत्यादि, तत्र "पंचिंदियतिरियव्व"त्ति 'तिपणिंदियतिरियेसु' इत्यादिगाथागतेन– 'एगस्स हस्सबंधी एगिंदिय-थावराउ इयरस्स । णियमा लहुमलहुं वा बंधइ ठिइमायवस्स सिआ ॥ तिरिदुग-धुवु-रल हुंडग-परघा-ऊसास-बायरतिगाणं । दुहगा-ऽणादेयाण सखियभागाहिय णियमा ॥ संखेज्जभागअहिय उज्जोअ थिराइतिजुगलाण सिआ । बंधेइ ठिइं एवं आयवणामस्स विण्णेयो ॥ इत्येतद्गाथात्रयेण(१०५५५७)भणितस्वरूपः । "णिरयव्व"इत्यनेन तु णिरयपढमणिरयेसुं लहुबंधी तिरिदुगाउ एगस्स ।'(१०१७)इत्यादिपश्चदशगाथोक्तस्वरूपश्च विज्ञेयः । उपपत्ति-रपि तत्तन्मार्गणावृत्तौ दर्शितनीत्या कार्या, तथा तथाऽतिदेशकरणं तु अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिमार्गणासु भणितनीत्या विभावनीयमिति ॥१०६८॥

अथ क्रमप्राप्तज्योतिष्कदेवमार्गणायां प्रस्तुतं निजिगदिपुस्तुल्यवक्तव्यत्वात्सौधर्मादिकल्पद्वयेऽपि सममेवाह—

जोइस कप्पदुगेसुं एगिंदिय-थावरा-ऽऽयवाण भवे। पंचिंदियतिरियव्व उ णवरं संखेज्जगुणअहियं ॥
धुववधि-उरालाणं परघा ऊसास-बायरतिगाणं। तिथिराइगजुगलाणं सेसाण बीअणिरयव्व ॥
॥१०६९-७०॥

(प्रे०) "जोइस-कप्पदुगेसु" इत्यादि, इयमपि गाथाद्वयी अनन्तरोक्तनीत्या भावनीया, केवलमिहैकेन्द्रियादिप्रकृतित्रयप्रधानसंनिकर्षे "णवरं" इत्यादिनाऽपवादभणनमिहाऽसंज्ञित्वपश्चात्कृतानामप्रवेशेन स्वप्रायोग्याणां मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टानां वा विशुद्धसम्यग्दृष्टीनां यथासम्भवं ध्रुवबन्ध्यादिजघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वाद् एकेन्द्रियादिप्रकृतित्रयजघन्यस्थितिं बध्नतां तु स्वस्थानविशुद्धमिथ्यादृष्टित्वाच्च। अत एव शेषप्रकृतिप्रधानसंनिकर्षोऽपीह द्वितीयनरकमार्गणावद्भणित इत्यपि बोद्धव्यमिति॥१०६९-७०॥

अथ क्रमप्राप्ततृतीयकल्पाद्यष्टमकल्पान्तदेवमार्गणासु प्राग्द्वितीयनरकादिमार्गणाभिः समं भणितः प्रस्तुतसंनिकर्ष इत्यानतादि नवमग्रैवेयकान्तत्रयोदशमार्गणासु प्रस्तुतसंनिकर्षमतिदेशेनाह—

'विण्णेयो देवेसुं गेविज्जंतेसु आणयाईसुं। सप्पाउग्गाणं खलु सव्वेसिं बीअणिरयव्व ॥१०७१॥

(प्रे०) "विण्णेयो देवेसु" इत्यादि, सुगमा; ननु यदि सर्वथा प्रस्तुनमार्गणासु द्वितीयनरकमार्गणावदेव संनिकर्षो भवति चेद् द्वितीयनरकादिना सममेव कथमासा संग्रहो न कृतः? इति चेद्, संनिकर्षस्य समत्वेऽपि बन्धप्रायोग्यप्रकृतिवैलक्षण्यात्, तथाहि–न भवति प्रस्तुतमार्गणासु तिर्यग्द्विकाद्याः प्रकृतयो बन्धप्रायोग्याः, तथा च तत्प्रधानसंनिकर्ष इह न वक्तव्यः, स च "सप्पाउग्गाणं" इत्यनेनाऽर्थान्निषिद्ध एवेति ॥१०७१॥

अथ भणितशेषासु अनुत्तरपञ्चकलक्षणदेवमार्गणासु प्रस्तुतं प्रतिपिपादयिपुस्तुल्यवक्तव्यत्वादाहारक-तन्मिश्रयोगमार्गणयोरपि सममेवाह—

जिण-अथिरदुगा-ऽजसवज्जा-ऽऽहारदुगे अणुत्तरेसुं च। एगस्स हस्सबंधी णियमाऽणणुए लहुमलहुं वा ॥
हस्समहस्स व सिआ जिणस्स से एवमेव लहुबंधी। अथिरस्स बधइ लहुमलहु व असुहाऽजसाण सिआ ॥
सुह-जस तित्थाण सिआ सखसहियं तु बंधए णियमा। सेसाण छवीसाए एव असुहा-ऽजसाण भवे ॥१०७२-७४॥

(प्रे०) 'जिणे" त्यादि, सुगमाः, उपपत्तिस्तु प्रस्तुतमार्गणामसकदर्शितमोहनीयप्रकृतिप्रधानसंनिकर्षवत्कार्या, केवलं तत्र हास्यरत्यपेक्षया अशुभयोः शोकारत्योर्मध्यादेकस्याः बन्धेऽन्यस्या बन्ध नियमेन प्रवर्तते, एवं हास्यरत्योर्मध्यादप्येकस्या बन्धेऽन्यस्या बन्धोऽवश्यं जायते, तथाच हास्यबन्धे प्रवर्तमाने शोका ऽरत्योर्बन्धो नैव जायते, एवं रतिबन्धे प्रवर्तमानेऽपि, एवं शोकादिबन्धेऽपि वाच्यम्, अर्थात् हास्याद्येकैकं युगलं नियमतो युगपद्भाविबन्धम्, न चैवमिहापि स्थिरादित्रिकयोर्मध्ये एकैकं त्रिकं युगपद्भाविबन्धम्, तथाचाऽस्थिरत्रिकमध्यादेकस्या अस्थिरादेर्बन्धे शुभयशःकीर्तिनाम्नोरशुभाऽयशःकीर्तिनाम्नोश्च स्याद्बन्धो भणितः। न चैवं सति स्थिरत्रिकमध्यादे-

कस्या जघन्यस्थितिबन्धे कथमशुभा-ऽयशःकीर्तिनाम्नोर्बन्धं प्रतिषिध्य शुभ-यशःकीर्तिनाम्नोर्नियतबन्धः प्रतिपादित इति वाच्यम्, प्रकृतिविच्छेदक्रमे स्थिरादीनामुत्तरवर्तित्वेन तज्जघन्यस्थितिबन्धे पूर्वविच्छिद्यमानानामस्थिरादीनां बन्धाऽप्रवर्तनादित्येवं पूर्वोक्तनीत्या विभावनीयमिति।।१०७२-७४।।

तदेवं गताः सप्तचत्वारिंशदपि गतिमार्गणाः, तदनु सोत्तरभेदासु जातिमार्गणासु प्रसङ्गः, तत्रापि सप्तसु एकेन्द्रियमार्गणास्थानेषु तिर्यग्गत्योघेन समम्, नवसु विकलेन्द्रियमार्गणासु अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणायां चापर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणादिना साकं प्रस्तुतसंनिकर्षस्य प्रतिपादितत्वात्क्रमप्राप्तपञ्चेन्द्रियौघ-तत्पर्याप्तमार्गणयोः प्रस्तुतं चिकथयिषुस्तुल्यवक्तव्यत्वात्स्त्रीपुंवेदमार्गणयोरपि सममेवाह—

ओघव्व जसा-ऽऽहारगदुग तित्थाण दुपणिंदिवेएसु । सेसाण पणिंदितिरिव्व णवरि सव्वह जसस्स ओघव्व ।।१०७५।। (गीतिः)

(प्रे०) "ओघव्व" इत्यादि, अक्षरार्थः सुगमः, केवलं "दुपणिंदिवेएसु" इत्यत्र द्विशब्दः पञ्चेन्दिय-वेदयोः प्रत्येकं सम्बध्यते, व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेश्च तेन पातनिकालिखिता पञ्चेन्द्रियौघाद्याश्चतस्रो मार्गणा बोद्धव्याः, तथा "सव्वह" इत्यनेन यशःकीर्तिनाम्नो वक्तव्यता परप्रधानसंनिकर्षे 'सर्वथा' ओघवत्कार्या, तथाच यशःकीर्तिनामादिप्रकृतिचतुष्कप्रधानसंनिकर्षः 'जसलहुबधो ण चिअ सेसा'(गाथा-९६३)इत्येतावता तथा "एगस्सा-ऽऽहारदुगा"इत्यादि(९५०-५१) गाथाद्वयेन भणितस्वरूपः। शेषनरकद्विकादिप्रकृतिप्रधानसंनिकर्षस्तु "तिपणिंदियतिरियेसु णिरयदुगेगस्स हस्सठिइबधो । बधइ णियमाऽण्णस्स उ ठिइं जहण्णमजहण्णं वा ।।१०५०।।" इत्यादिगाथाचतुर्दशकोक्तस्वरूपो बोध्यः, केवलं तत्र मनुष्यद्विकादिप्रधानसंनिकर्षे चतुर्थगाथादौ 'बधेइ सिआ तिण्ह थिराइजुगलाण सखभागहिय।' इत्यादिना स्थिरादियुगलप्रविष्टस्य यशःकीर्तिनाम्नः स्थितिबन्धमानं स्वीयजघन्यस्थितिबन्धमानात्संख्येयभागेनाऽभ्यधिकं भणितं तदिहौघवदसंख्यगुणाधिकं वक्तव्यम्, शेषनामप्रकृतिजघन्यस्थितिबन्धस्वामिनां प्रस्तुतमार्गणासु पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघमार्गणातुल्यत्वेऽपि यशःकीर्तिनामजघन्यस्थितिबन्धस्वामिनामिह सूक्ष्मसम्परायक्षपकत्वात्। विशेषतस्तु प्रागिव स्वयं विभावनीयमिति ।।१०७५।।

तदेवं गता इन्द्रियमार्गणाभेदाः, तदनु कायमार्गणाभेदेषु प्रस्तुतसंनिकर्षभणनावसरः, तत्र पृथिव्यव्वनस्पतिसम्बन्धिषु पञ्चत्रिंशतिमार्गणाभेदेषु सापवादमतिदिशति—

सव्वदगभूवणेसु णामाण भवे अपज्जमणुयव्व । णवरि असखसऽहियं बंधइ संखसऽहियठाणे ।।१०७६।।

(प्रे०) "सव्वदगभूवणेसु" मित्यादि, सुगमा, केवलमपवादकरणमिह संख्येयांशहीनताया असम्भवात्। विस्तरतस्तु प्रागिव स्वयमेव विभावनीयमिति ।।१०७६।। अथ चतुर्दशसंख्याकासु सर्वास्वग्निकायवायुकायमार्गणास्वाह प्रस्तुतम्—

जघन्यः स्थितिबन्धः संख्येयगुणः । ततोऽबाधास्थानानि संख्येयगुणानि । तत उत्कृष्टाऽबाधा विशेषाधिका । ततः स्थितिबन्धस्थानानि संख्येयगुणानि । तत उत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिक इति । अमीषां सर्वाल्पबहुत्वानां भावना मूलप्रकृतिस्थितिबन्धस्थानाद्यल्पबहुत्वविवरणानुसारेण स्वयमेव द्रष्टव्या, सुगमत्वादिति ॥६१॥

अथानन्तरगाथायां "**मूलपयडिव्व**" इत्यनेनातिदेशे कृते पर्याप्ताऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियजीवभेदे निरयदेवायुषोरिव तिर्यग्-मनुष्यायुषोरपि प्रकृताल्पबहुत्वं मूलायुःप्रकृतिसत्कस्थितिबन्धस्थानाद्यल्पबहुत्ववत्प्राप्तम्, तच्च ये आचार्याः पर्याप्तासंज्ञिनां तिर्यग्-मनुष्यायुष्कयोरुत्कृष्टस्थितिबन्धं पूर्वकोटिवर्षप्रमाणमेव स्वीकुर्वन्ति, तन्मते नैव सङ्गच्छते, अतस्तन्मतेऽन्यथाऽऽह—

पज्जासण्णिम्मि परे विंति तहा तिरिणराउगाण जहा ।
बारहविहभेएसु हि तम्मये पुव्वकोडिवंधो सिं ॥६२॥ (गीतिः)

(प्रे०) "**पज्जासण्णिम्मि**"त्यादि.कण्ठ्या, केवलम् "**परे**" इति यन्मते पूर्वमत्रैवाधिकारे प्रथमद्वारे 'तेरहविहजीवाण' इत्यादिना पर्याप्तसंज्ञिजीवभेदवर्जत्रयोदशजीवभेदेषु तिर्यग्-नरायुषोः स्थितिबन्धस्थानानि स्तोकान्यभिधाय ततः पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियजीवभेदे तान्यसंख्यगुणानि कथितानि ते **महाबन्धकारा** इति । भावना त्विह एकेन्द्रियादिजीवभेदोक्तायुष्कस्थितिबन्धस्थानाद्यल्पबहुत्ववद्विधेयेति ॥६२॥

तदेवं दर्शितमतिदेशादिना चतुर्दशजीवभेदेषु स्थितिबन्धस्थानादिपदार्थानां परस्थानाल्पबहुत्वम्, तस्मिंश्च दर्शितेऽवसितं चतुर्थमल्पबहुत्वद्वारं तदवसाने चावसितः प्रथमोऽधिकारः ॥

इत्थमधिकारमाद्यं, विवृत्य मदवाप्तसुकृतगुरुदण्डैः ।
निहताः कुकर्मचौरा, न विशन्तु कदाऽपि भव्यजीवगृहे ॥ (गीतिः)

॥ इति प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते बन्धविधाने उत्तर प्र० स्थितिबन्धे प्रथमेऽधिकारे चतुर्थमल्पबहुत्वद्वारम् ॥

॥ इति प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते बन्धविधाने
उत्तर-प्र० स्थितिबन्धे प्रथमोऽधिकार
समाप्त ॥

[8]बंधइ जसस्स णियमा असंखियगुणाहियं ठिइं तु सिआ । तित्थाहारदुगाणं लहुमलहुं वा [3]सिमेमेव ॥
[9]एगस्स हस्सबंधी [2]एगिंदिय-थावराउ इयरस्स । णियमा लहुमलहुं वा बंधइ ठिइमायवस्स सिआ ॥
[10]णियमा तिरिदुग-रल-धुव-परघा-ऊसास-बायरतिगाणं । संखियगुणाहिय उज्जोअ-थिरा-ऽथिर-दुगा-ऽजसाण सिआ ॥
[11]णियमा संखंसहियं दुहगा-ऽणादेय-हुंडणामाणं । कुणइ असंखगुणऽहियं सिआ जसस्सा-[1]ऽऽयवस्सेवं ॥
[12]बेइंदियलहुबंधी[1] णियमा बंधेइ संखगुणअहियं । तिरियउरलदुग-धुव-परघा-ऊसास-तसचउगाणं ॥
[13]संखंसहियं हुंडग-छिवट्ठ-दुहगतिग-असुहखगईणं । णियमा बधेइ ठिइमसंखगुणहियं जसस्स सिआ ॥
[14]संखियगुणाहियं उज्जोअ-थिराऽथिरदुगा-ऽजसाण सिआ । बंधइ एमेव भवे[2]तिदिय-चउइंदियाणं तु ॥
[15]रिसहस्स हस्सबधी सिआ य बधेइ संखगुणअहियं । तिरिणरथिराथिरदुग-सुआगिइ-उज्जोअ-अजसाणं ॥
[16]पणिंदिय-धुव-रलदुग-परघा-ऊसास-तसचउक्काणं । सुहगतिग-सुखगईण णियमा संखेज्जगुणअहियं ॥
[17]कुणइ असंखगुणहिय सिआ जसस्स दुइआगिईअ सिआ । लहुमलहुं वेवं[4]चउसंघयणाण तइआईणं ॥
[18]णवरं कमाऽऽगिईए तइआईअ लहुमलहुग व सिआ । बंधेइ संखसहियं [4]दुइआईणं पणाऽऽगिईणेवं ॥
[19]कुखगइलहुठिइबंधी[1] णियमा बधेइ संखगुणअहियं । पंचिंदि युरलदुग-धुव-परघा ऊसास तसचउक्काणं ॥
[20]बंधइ सखगुणहियं सिआ तिरियमणुयजुगलवइराणं।पढमागिइ-उज्जोअ-अथिरदुग-अजस-थिरपणगाणं॥
[21]संघयणआगिइपणगणामाणं संखभागअब्भहियं । बंधइ सिआ खलु ठिइं लहुमलहु व दुहगतिगस्स ॥
[22]बधेइ ठिइ अलहुं असंखियगुणाहियं जसस्स सिआ । एमेव भवे[3]दुस्सर-दुहगा-ऽणादेयणामाणं ॥
[23]सुहुमस्स[1] हस्सबंधी णियमा बंधेइ संखभागहियं । हुडे गिंदिय-थावर-दुहगा-ऽणादेयणामाणं ॥
[24]थिरअथिरदुगाण सिआ संखगुणहियमियराण णियमाओ । पडिवक्खसुहुमतिगवज्जाणं [1]साहारणस्सेवं ॥
[25]सखेज्जभागअहिय णियमा बंधइ [1]अपज्जलहुबंधी । हुंडग-छेवट्ठाणं दुहगा-ऽणादेयणामाण ॥
[26]तिरिमणुयदुगाण सिआ संखगुणहियं पणिंदिय-धुवाणं । तसु-रलदुग-पत्तेअ अथिर-दुग-अजसाण णियमाओ
[27]अथिरस्स हस्सबंधी असंखियगुणाहियं जसस्स सिआ । असुहा-ऽजसाण दुविहं संखगुणहियं सिआ जिण-सुहाणं ॥
[28]णियमा संखगुणहियं सुरजोग्गाण पणवीससेसाणं ।[2]एवमसुह-अजसाणं [1]जसलहुबंधी ण चिअ सेसा ॥
॥१०८१-११०८॥(१०-१८-१६-२७ गीतिचतुष्कम्)

(प्रे०) "**पणमणतिवयणेसु**" इत्यादि, तत्र नरकद्विकप्रधानसंनिकर्षः—"**णिरयदुगेगस्स**" इत्यादिः सुगमः केवलं '**सेसाणं णिरयजोग्गाणं**' इत्यनेन संगृहीतानां पञ्चेन्द्रियजात्यादीनामेकविंशतेर्जघन्यस्थितेः संख्येयगुणाभ्यधिकता प्रस्तुतेऽसंज्ञिनामसंज्ञित्वपश्चात्कृतानां चाप्रवेशेन सम्यग्दृशामेव पञ्चेन्द्रियजात्यादिजघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वात् ; प्रधानीकृतनरकद्विकजघन्यस्थितेस्तु मिथ्यादृक्स्वामिकत्वाच्च । सम्यग्दृगुत्कृष्टस्थितिबन्धापेक्षया पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियमिथ्यादृष्टि जघन्यस्थितिबन्धोऽपि संख्येयगुणो भवतीति तु गतार्थमेव । इत्थमेवोत्तरत्राऽपि भावनीयम् । अथ तिर्यग्द्विकप्राधान्येनाह-"**एगस्स जहण्णठिइं**" इत्यादिना तृतीयचतुर्थगाथाद्वयेन, इहापि ध्रुवनामादीनां जघन्यस्थितेः संख्येयगुणाभ्यधिकताऽनन्तरोक्तनीत्या "**वियरसुपणिंदियतिरियजोग्गाण**" इत्यनेन तु तिर्यग्द्विकोद्योत यशःकीर्ति-ध्रुवनाम्नामनन्तरं भणितत्वात्तच्छेषतिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायो-

सव्वागणिवाऊसु तिरिय-उरलदुग-पणिंदि-वइराओ । धुव-सुखगइआगिइ-परघा-ऊसास-तसवसगाओ ॥
एगस्स हस्सबंधी णियमाऽण्णाण लहुमलहुगं व सिआ । उज्जोअस्सेवं से अपज्जमणुयव्व सेसाणं ॥ ॥
णवरि असंखसऽहियं बंधइ संखेज्जभागऽहियठाणे । णरदुगठाणे णियमा तिरिदुगमुज्जोअगस्स सिआ ॥
॥१०७७-७९॥

(प्रे०) "सव्वागणिवाऊसु" इत्यादि, इयमपि गाथात्रयी सुगमा, सर्वथाऽपर्याप्तमनुष्य-मार्गणावदनभिधाय तिर्यग्द्विकादिप्रकृतिप्रधानसंनिकर्षस्य "तिरियउरलदुग" इत्यादिना विशेषतोऽभिधानं प्रस्तुतमार्गणासु मनुष्यप्रायोग्यबन्धाभावेन प्रकृष्टविशुद्धावपि तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यस्यैव बध्यमानत्वेन तिर्यग्द्विकोद्योतनाम्नोर्यथोक्तविच्छेदक्रमे ध्रुवबन्ध्यादिना तुल्यस्थानगतत्वाद् , अत एव, णवरि' इत्यादिना भणितापवादे 'णरदुगठाणे' इत्यादिकं भणितं बोद्धव्यम् । 'असंखंसहियं' इति त्वनन्तरमोघोक्तनीत्येति । विशेषतस्तु पूर्ववत्स्वयं भावनीयमिति ॥ ॥१०७७-७९॥

अथ क्रमप्राप्तेऽपर्याप्तत्रसकायभेदे पूर्वमपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिमार्गणाभिः साकं प्रस्तुत-संनिकर्षस्य भणितत्वात् तदनुक्रमप्राप्तशेषत्रसमार्गणाद्वये प्रस्तुतं विभणिषुस्तुल्यवक्तव्यत्वाद् वचनौघ-व्यवहारवचनमार्गणयोश्चक्षुर्दर्शनमार्गणायां च सममेवाह–

दुतसवयण-चक्खूसु तित्थाहारदुगविउवछक्काणं । ओघव्व सण्णियासो हवेज्ज मणुयव्व सेसाणं ॥
॥१०८०॥

(प्रे०) "दुतसवयणे" त्यादि, सुगमाऽक्षरतोऽर्थतश्च, यद्यपि मनुष्यगत्योघे पश्चात्कृता-संज्ञित्वजीवास्तिर्यग्द्विकादीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनः प्रस्तुतमार्गणासु तु द्वीन्द्रियाद्यास्तथाऽपि पश्चात्कृतासंज्ञित्वजीवानां द्वीन्द्रियाद्यसंज्ञिजीवानां च जघन्याऽजघन्यस्थितिबन्धयोर्मध्ये संख्येयभागन्यूनाधिकत्वलक्षणस्य तारतम्यस्यैव सम्भवाद् बन्धविच्छेदक्रमस्याऽपि तुल्यत्वाच्च नातिदेशविरोध इति ॥१०८०॥

अथ क्रमप्राप्तमनोयोगमार्गणापञ्चकेऽनन्तरभणितवचनयोगमार्गणाद्वयं विहाय शेषे सत्याऽसत्य-मिश्रवचनयोगलक्षणे वचनयोगमार्गणात्रये च प्रस्तुतस्वस्थानजघन्यस्थितिबन्धसंनिकर्षमाहाऽष्टाविंशतिगाथाकदम्बकेन–

[1]पंचमण-तिवयणेसुं [2]णिरयदुगेगस्स हस्सठिइबंधी । बंधइ णियमाऽण्णेसिं ठिइं जहण्णमजहण्णं वा ॥
[2]हुंड-असुहखगइ-दूहगतिगाण बंधेइ संखभागहियं । णियमा संखगुणहियं सेसाणं णिरयजोग्गाणं ॥
[3]एगस्स जहण्णठिइं बंधंतो [2]तिरिदुगाउ अण्णस्स । णियमा लहुमलहुं वा बंधइ उज्जोअगस्स सिआ ॥
[4]कुणइ असंखगुणहियं जसस्स णियमा उ संखगुणअहियं । धुवियरसुपणिंदितिरियजोग्गाणुज्जोअगस्सेवं ॥
[5]एगस्स हस्सबंधी [5]णरउरलदुग-वइराउ अण्णेसिं । लहुमलहुं वा णियमा जसस्स य असंखगुणअहियं ॥
[6]तित्थस्स सिआ बंधइ सखेज्जगुणाहियं ठिइं णियमा । उवघायस्स तहा सुहणरपाउग्गाण सेसाणं ॥
[7]धुव-तित्थाहारगदुगजसवज्जसुहसुरजोग्गअधुवाओ[27]। एगस्स हस्सबंधी णियमाऽण्णाण लहुमलहुं वा

संख्येयगुणाभ्यधिकताऽनन्तरोक्तनीत्या सम्यक्त्वाभिमुखस्वस्थानविशुद्धमिथ्यादृष्ट्यादिलक्षणजघन्यस्थितिबन्धस्वामिभेदादिति । अथ कुखगति दुर्भग-दुस्वरा-ऽनादेयनामप्राधान्येनाह–"**कुखगइलहुठिइबंधो**" इत्यादि, इयमपि गाथाचतुष्टयी प्रागिव योज्या दर्शितप्रकृतिविच्छेदक्रमाद्यनुसारेण गतार्थप्रायत्वादिति ।

अथ त्रयोविंशतितमादिगाथाद्वयेन सूक्ष्म-साधारणनामलक्षणप्रकृतिद्वयप्रधानं प्रस्तुतसंनिकर्षं प्राह–"**सुहमस्स हस्सबंधो**" इत्यादि, अत्राऽपि साधारणनामप्रधानसंनिकर्षः "**साहारणस्सेवं**" इत्येवं लक्षणेनोत्तरगाथाचरमांशेनाऽतिदिष्टः । अक्षरार्थः सुगमः, केवलमुत्तरगाथायां '**संखगुणहियमियराण णियमाओ पडिवक्खसुहुमतिगवज्जाणं**" इत्यनेन सूक्ष्मनामप्रधानसंनिकर्षे तिर्यग्द्विकौ-दारिकशरीर-ध्रुवबन्धिनीनवक-परघातो-च्छ्वास-पर्याप्त-प्रत्येका-ऽयशःकीर्तिनामानीति सप्तदश, साधारणनामप्रधानसंनिकर्षे तु ता एव सप्तदश, केवलं प्रत्येकनामवर्जिता बादरनामसहिता इति विज्ञातव्या, तथात्वं चौघोक्तनीत्या भावनीयम् , शेषं त्वनन्तरदर्शितनीत्येति ।

अथ पञ्चविंशतितमादिगाथाद्वयेनाऽपर्याप्तनामप्रधानं प्रस्तुतसंनिकर्षमाह–"**संखेज्जभागअहिय**" मित्यादि, सुगमार्थे इति । अथ सप्तविंशतितमादिगाथाद्वयेऽस्थिरनामप्रधानं साक्षाद् अशुभा-ऽयशःकीर्तिनामलक्षणप्रकृतिद्वयप्रधानं चातिदेशेनाह–"**अथिरस्स हस्सबंधो**" इत्यादि; इयमपि गाथाद्वयी प्राग्दर्शिततत्तन्नीत्या गतार्थप्रायेति। अथाऽष्टाविंशतितमगाथाचरमावयवेन "**जसलहुबंधो ण चिअ सेसा**" इत्येवंलक्षणेन भणितशेषयशःकीर्तिनामप्रधानसंनिकर्षो भणितः, स च गतार्थ एवेति ।।१०८१-११०८।।

अथौदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां प्रस्तुतसंनिकर्षं प्राह—

एगस्स उरलमीसे सुरविउवदुगाउ हस्सठिइबंधो । णियमाऽण्णेसिं तिण्हं लहुमलहु वा जिणस्स सिआ ।।
णियमा संखगुणहिय धुव-सेससुहसुरजोग्गअधुवाण । बंधइ एमेव भवे जिणस्स तिरियव्व सेसाणं ।।
।।११०९–१०।।

(प्रे०) "**एगस्स**" इत्यादि, सुगमशब्दार्थे, केवल "**लहुमलहुं वा**"इत्येतद् देहलीदीपकन्यायेनोभयत्र सम्बध्यते । भावार्थोऽपि सुगमः,केवलं ध्रुवबन्ध्यादीनां स्थितेः संख्येयगुणाभ्यधिकताऽधिकृतसुरद्विकादिजघन्यस्थितेः सम्यग्दृष्टिस्वामिकत्वेऽपि ध्रुवबन्ध्यादीनां जघन्यस्थितेरेकेन्द्रियस्वामिकत्वात् । '**तिरियव्व सेसाणं**"इत्यत्र शेषप्रकृतय इमाः–मनुष्य-तिर्यग्द्विके, जातिपञ्चकम् , औदारिकद्विकम् , नामध्रुवबन्धिनवकम् , संहननषट्कम् , संस्थानषट्कम् , खगतिद्वयम् , पराघातोच्छ्वासा-ऽऽतपो-द्योत त्रसदशक-स्थावरदशकानीति अष्टपञ्चाशत् एतत्प्रधानसंनिकर्षः "**तिरियव्व**" त्ति "तिरिये······सप्पाउग्गाण ओघव्व ।। णवर जसस्स सव्वह थिरव्व" इत्यादिगाथाद्वये (१०४८-

ग्यप्रकृतिषु याः सप्रतिपक्षाः संहननषट्क संस्थानषट्काद्याः शुभाऽशुभप्रकृतयस्तासु याः शुभाः प्रथमसंहनन-प्रथमसंस्थान सुखगति-स्थिर शुभ-सुभगसुस्वरा-ऽऽदेयनामलक्षणास्ताः याश्च पञ्चेन्द्रियजात्याद्या अप्रतिपक्षास्ता ध्रुवेतरशुभशेषपञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्याः सप्तदश बोद्धव्याः, **'सुभे'** इति पदस्य तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यप्रकृतिषु स्वप्रतिपक्षभूताऽशुभप्रकृतिवर्जनाऽभिप्रायेण भणितत्वादिति । इत्थमेवोत्तरत्राऽपि समाधिर्विधेयो यथासम्भवमिति । **"उज्जोअगस्सेवं"** इत्यनेनोद्योतप्रधानसंनिकर्षो विज्ञेयः । पञ्चमषष्ठगाथाभ्यां मनुष्यपञ्चकप्रधानसंनिकर्षः कथितः ।

अथ देवद्विक-वैक्रियद्विक पञ्चेन्द्रियजाति प्रथमसंस्थान-सुखगति-नामध्रुवबन्धिनवक पराघातोच्छ्वास यशःकीर्तिवर्जत्रसनवकलक्षणमष्टविंशतिप्रकृतिप्रधान्येनाह-**"धुवे"**त्यादि, गतार्था देशोनगाथाद्वयी, तथा **"सिमेमेव"**त्ति **'सि'** प्रत्यासत्त्या तीर्थकरनामाहारकद्विकयोरेवमेव, ध्रुवबन्ध्यादिवदेव, जिना ऽऽहारकद्विकप्रधानसंनिकर्षो ध्रुवबन्ध्यादिप्रधानसंनिकर्षवद्भणितव्य इत्यर्थः । अथैकेन्द्रियस्थावरा ऽऽतपनामप्राधान्येनाह नवमाद्याऽऽर्यात्रयकेन **"एगस्से"**त्यादिना,सुगमम् ,केवलम् **'आयवस्सेव"**मित्यातपनामप्रधानसंनिकर्ष एकादशगाथाचरमांशेनाऽतिदिष्टः;एकेन्द्रिय-स्थावरनाम्नोस्तु साक्षादुक्त इति । **"थिराथिरजुग"**इत्यनेन स्थिरशुभास्थिराशुभरूपश्चतुष्प्रकृतयो ज्ञेयाः।अथ द्वीन्द्रियत्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियजातिनामप्रधानं द्वादशादिगाथात्रयेण प्राह–**'बेइंदियलहुबंधो"** इत्यादि, सुगमम् , इहापि त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियनामप्रधानसंनिकर्षश्चतुर्दशगाथोत्तरार्धेऽतिदेशेन भणितः, इहापि तिर्यग्द्विकादिजघन्यस्थितेः संख्येयगुणाभ्यधिकताऽनन्तरभणितनीत्यैव । **ननु** भवत्वेवं प्रधानीकृतैकेन्द्रियादिप्रकृतिजघन्यस्थितेर्मिथ्यादृष्टिस्वामिकत्वेनौदारिकद्विकादिसप्तदशप्रकृतिजघन्यस्थितेः सम्यग्दृष्टिस्वामिकत्वेन चोक्तनीत्या संख्येयगुणाभ्यधिकता, पर तिर्यग्द्विकजघन्यस्थितेस्तु सा न स्यात् , एकेन्द्रियादिप्रधानीकृतप्रकृतिवत्तिर्यग्द्विकजघन्यस्थितेरपि मिथ्यादृष्टिस्वामिकत्वाद् ? **इति चेद् ,न,** एकेन्द्रियादेस्तिर्यग्द्विकस्य चेत्येव द्विविधस्यापि जघन्यस्थितेर्मिथ्यादृष्टिस्वामिकत्वेऽपि एकेन्द्रियादेस्तस्याः स्वस्थानविशुद्धमिथ्यादृष्टिस्वामिकत्वेन तिर्यग्द्विकस्य तु सम्यक्त्वाभिमुखमिथ्यादृष्टिसप्तमभूमिनारकस्वामिकत्वेन च संख्येयगुणाभ्यधिकताया एव भावात् ;भवति हि तथाविधस्वस्थानविशुद्धावस्थाभाविनस्तथाविधाभिमुखावस्थाभाविनश्च स्थितिबन्धयोर्मध्ये संख्येयगुणतारतम्यमिति । इत्थमेवान्यत्राऽपि विभावनीयम् । शेष तु सुगमम् । अथ पञ्चदशादिगाथाचतुष्टयेन द्वितीयादिपञ्चसंहननपञ्चसंस्थानप्राधान्येन प्राह-**"रिसहस्स हस्सबंधो"** इत्यादि, तत्र पञ्चदशादिमार्धार्याद्वयेन द्वितीयसंहननप्रधानः साक्षाद्भणितः, सप्तदशगाथोत्तरार्धस्थेन-**'एवं चउसंघयणाणे'**-त्यादिना तृतीयादिसंहननचतुष्टयप्रधानप्रस्तुतसंनिकर्षः सापवादातिदेशेनोदितः, अष्टादशगाथाशेषेण **"दुइआईणं पणागिईणेव"** इत्येवंलक्षणेन द्वितीयसंस्थानादिप्रकृतिपञ्चकप्रधानश्चातिदिष्टः । अक्षरार्थस्तु गतार्थः; उपपत्तिरपि ओघवदेव, केवलं तिर्यग्द्विकादिस्थितेः स्वीयस्वीयजघन्यस्थितितः

अथ कार्मणकाययोगमार्गणायां प्रस्तुतस्वस्थानजघन्यस्थितिबन्धसंनिकर्षं व्याचिकीर्षुस्तुल्यवक्तव्यत्वादनाहारकमार्गणायामपि सममेवाह—

कम्मा ऽणाहारेसु जिणलहुबंधी जहण्णमियर वा । सुरविउवदुगाण सिश्रा णरुरलजुगल-वइराण सिआ ॥ संखगुणऽहियं णियमा धुवसेससुहसुरजोग्ग-श्रधुवाण।चउवीसाए बंधइ उरालमीसव्व सेसाण॥१११४-१५॥

(प्रे०) "**कम्मा-ऽणाहारेसु**" इत्यादि, प्रस्तुतमार्गणाद्वयेऽपि सामान्यतः सर्वथौदारिकमिश्रमार्गणावदेव, यत उभयत्र तुल्यानां प्रकृतीनामेव बन्धः, जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनोऽपि बहुधा तुल्याश्च, विहाय जिननामजघन्यस्थितिबन्धस्वामिनः, इह ते तिर्यग्वर्जत्रिगतिका, औदारिकमिश्रे तु केवला मनुष्या एवेति । यदुक्तं प्राक्–'तित्थस्स उरलमीसे भवे णरो दोसु तिगइट्ठो॥३०२॥' अत एव जिननामप्रधानसंनिकर्षं विहाय शेषप्रकृतिप्रधानसंनिकर्षः "**उरालमीसव्व सेसाणं**" इत्यनेनौदारिकमिश्रमार्गणावद्भणितः । जिननामप्रधानसंनिकर्षेऽपि ध्रुवबन्ध्यादीनां नियमतः संख्येयगुणस्थितिबन्धस्तद्वदेव, एवं देवद्विकादीनां जघन्यो ऽजघन्यो वा मनुष्यद्विकादीनां संख्येयगुणाधिकश्च तद्वदेव, केवलं तासां देवगत्यादीनां मनुष्यगत्यादीनां चेह यः स्याद्बन्धो भणितः स इह त्रिगतिकानां जिननामजघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वेनाऽन्यान्यगतिकस्वामिनोऽपेक्ष्य तासां देवगत्यादीनां बन्धवद् बन्धाभावस्याऽपि लाभात्प्रागिव विज्ञेयः, तद्यथा–यदाऽधिकृतजिननामजघन्यस्थितिबन्धस्वामितया देवा नारका वा गृह्यन्ते तदा देवद्विकादीनामबन्धः मनुष्यद्विकादीनां तु बन्धः, यदा तु मनुष्यास्तत्त्वेन गृह्यन्ते तदा देवद्विकादीना बन्धः मनुष्यद्विकादीनां त्वबन्ध इत्येवं प्राग् ६३४ तमादिगाथावृत्तौ भणितनीत्या नानाविजातीयस्वामिनोऽपेक्ष्य स्याद्बन्धः सिद्ध्यतीति तथैव भणित इति।१११४-१५।

तदेवं गतो योगमार्गणास्थानेषु प्रस्तुतनामप्रकृतिस्वस्थानजघन्यस्थितिबन्धसंनिकर्षः, तदनुवर्तिवेदकषायमार्गणामध्यान्नपुंसकवेदे कषायचतुष्टये च प्राग् 'णामाण सण्णियासो' (गाथा-१०१५-१६) इत्यादौ काययोगौघादिमार्गणाभिः साकं सर्वथौघवद्भणितः, स्त्रीपुंवेदमार्गणयोः पञ्चेन्द्रियौघादिना (गाथा-१०७५) समं च निरूपितश्चाऽतोऽवशिष्टायामपगतवेदमार्गणायां तत्साम्यात्सूक्ष्मसंपरायसंयमे तथा क्रोधादिकषायमार्गणाचतुष्टयेऽपि प्रस्तुतसंनिकर्षस्य प्राग् 'णामाण सण्णियासो हवेज्ज ओघव्व' इत्यादिना (गाथा१०१५) ऽतिदिष्टत्वात्क्रमप्राप्तज्ञानमार्गणाभेदमध्यादल्पवक्तव्यत्वेनादौ मनःपर्यवज्ञानमार्गणायां तत्तुल्यवक्तव्यत्वात्संयमौघ-सामायिकसंयम छेदोपस्थापनसंयममार्गणासु च सममेवाहैकयाऽऽर्यया प्रस्तुतसंनिकर्षम्—

णत्थि अवेए सुहुमे सप्पाउग्गाण णामपयडीणं । मणणाण संजमेसु समइअ-छेएसु ओहिव्व ॥१११६॥

(प्रे०) "**णत्थि अवेए**" इत्यादि, एकस्या यशःकीर्तिनामलक्षणप्रकृतेरेव बन्धभावादितिभावः । अथ मनःपर्यवज्ञानादिमार्गणाचतुष्टयेऽतिदिशति-"**सप्पाउग्गाणे**"त्यादि, सुगमम् , परं "**ओहिव्व**" त्ति अनन्तरं 'एगस्स हस्सबधी तिणाण' इत्यादिना वक्ष्यमाणाऽवधिज्ञानमार्गणा-

४९) भणिततिर्यग्गत्योघमार्गणावदवसातव्यः । तथात्वं च तिर्यगोघवदिहापि जघन्यस्थितेरे केन्द्रियस्वामिकत्वादिति ॥११०९, १०॥

अथ वैक्रियकाययोगे वैक्रियमिश्रकाययोगे च प्रस्तुतसंनिकर्षमाह—

तिरिदुग उज्जोआणं सत्तमणिरयव्व होइ विउवदुगे। सोहम्मव्वऽण्णेसिं भवे परं णरदुगस्स सिआ ॥
पंचकुसंघयणाऽऽगिइ-कुखगइ-दुहगतिगहस्सठिइबंधी । तिरिदुग-उज्जोआणं संखसहियं विउवमीसे ॥
विउवे सखगुणहियं विउवे एगक्ख थावरगबंधी। तिरिदुग-उज्जोआणं आयवबंधी तिरिदुगस्स ॥
॥१११११–१११३॥

(प्रे०) "तिरिदुग उज्जोआणं" इत्यादि, तत्राद्यगाथापूर्वार्धे सुगमम् , मार्गणाद्वयेऽपि सप्तमभूमिनारकाणामेव तिर्यग्द्विको द्योत जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वात् । "सोहम्मव्वऽण्णेसिं" इत्यपि सुगमम् , केवलं तत्र "परं णरदुगस्स सिआ" इत्याद्यपवादपदानि शेषप्रकृत्यन्तर्गत-प्रथमवर्जसंहननपञ्चकादिजघन्यस्थितिं बध्नतां वैक्रियकाययोगादौ तिर्यग्गत्यादिप्रकृतीनां सम्यक्त्वा-भिमुखादिसप्तमनारकस्वामिकजघन्यस्थितिबन्धत्वेन बन्धसम्भवात् सौधर्मकल्पमार्गणायां तु तासां तिर्यग्गत्यादीनां सहननादिप्रकृतितः पूर्वमेव बन्धविच्छेदभावेन प्रागुक्तनीत्या तिर्यग्गत्यादीनामबन्धात् । तद्यथा–सौधर्मकल्पे हि यासां जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनो मिथ्यादृष्टयस्तन्मध्यात् प्रथमवर्जसंहननपञ्चक-संस्थानपञ्चक-कुखगति-दुर्भगत्रिकलक्षणानां चतुर्दशप्रकृतीनां प्रधानत्वे तिर्यग्द्वि-कोद्योतनाम्नोर्बन्ध एव न प्रवर्तते, प्रस्तुते तु सप्तमभूमिनारकलक्षणस्वाम्यपेक्षया भवति तयोर्बन्धः, स च वैक्रियकाययोगे तिर्यग्द्विकादिजघन्यस्थितेः सम्यक्त्वाभिमुखस्वामिकतया सप्तमनरकवत्संख्येयगुणाभ्यधिकजघन्यस्थितेः; वैक्रियमिश्रकाययोगे तत्स्वामिनामतथात्वात् , स्वस्थानविशुद्धसप्तमभूमिनारकरूपत्वादिति भावः,सामान्यनियमानुसारेण संख्येयभागाभ्यधिकजघन्यस्थितेरेव। मनुष्यद्विकस्य तु सौधर्मकल्पवत्संख्येयगुणाभ्यधिकजघन्यस्थितेर्भवत्यसौ, मार्गणाद्वयेऽपि सम्यग्दृशां तज्जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वात् । इत्येवं मनुष्यद्विकादीनां पञ्चानामपि स्याद्बन्धः प्राप्तः, स्थितेस्तु यथोक्ताया एव । अन्यच्च सौधर्मकल्पमार्गणायामेकेन्द्रिय-स्थावरा-ऽऽतपनाम्नां प्रधानत्वेऽपि तिर्यग्द्विकादेः संख्येयभागाभ्यधिकजघन्यस्थितेरेव बन्धो लभ्यते, तत्रैकेन्द्रियनामादिवत्तिर्यग्गत्यादीनामपि जघन्यस्थितेः स्वस्थानविशुद्धमिथ्यादृष्टिस्वामिकत्वात् ,प्रस्तुते वैक्रिययोगे सम्यक्त्वाभिमुखानां तज्जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वेन संख्येयगुणाऽभ्यधिक एव प्राप्यते, न तु संख्येयभागाभ्यधिक इत्येतदेव "परं णरदुगस्स सिआ" इत्यादिनाऽपोद्य भणितम् । अक्षरार्थः सुगमः, केवलम् "णरदुगस्स सिआ" इत्यादि, "विउवमीसे" इत्यनेनेव तृतीयगाथायां 'विउवे' इत्यनेनाऽपि सम्बध्यते, मार्गणाद्वयेऽपीति भावः। तथा तृतीयगाथास्थं "संखगुणहियं" इत्येतत्पदं देहलीदीपकन्यायेन पूर्वमुत्तरत्र "एगक्ख" इत्यादिना तथा "आयवबंधी तिरिदुगस्स" इत्यनेनाऽपि चान्वेति । "एगक्ख" त्ति एकाक्षम् , एकेन्द्रियजातिनामेति यावदिति ॥१११११-१११३॥

षेऽपि अष्टमगुणस्थानस्वामिकापेक्षया तादृग्द्विविधस्वामिका संख्येयगुणा एव भवति जिननामादीमामिति । शेषं तु सुगमम् । षष्ठगाथोत्तरार्धे 'एवमसुहअजसाणं' इत्येतावताऽशुभा-ऽयशःकीर्तिनामप्रधानः प्रस्तुतसंनिकर्षोऽतिदिष्टः, तत्र 'एवं' ति अस्थिरनामवत् । "जसलहुबंधी" इत्यादिना षष्ठगाथाशेषेण यशःकीर्तिनामप्रधानोऽसौ प्रत्यपादीत्येतत्सर्वं सुगममिति ॥११७-२२॥

अथ क्रमप्राप्तविभङ्गमार्गणायां प्रस्तुतसंनिकर्षं प्राह—

[1]विब्भगे लहुबंधी तिरिदुगिगस्स णियमेयरस्स तहा । वइरुरलदुगाण लहुमलहुं व उज्जोअगस्स सिआ ॥
[2]णियमा सखगुणहिय धुव-सेसमसुहतिरिजोग्गअधुवाणं । चउवीसाए वधइ उज्जोअस्सेवमेव भवे ॥
[3]एगस्स णरदुगाओ लहुबधी उ णियमेयरस्स तहा । वइरुरलदुगाण ठिइं हस्समहस्सं व बधेइ ॥
[4]णियमा सखगुणहिय धुव-सेससुहणरजोग्गअधुवाणं । एगस्स जहण्णठिइं वइरुरलदुगाउ वंधंतो ॥
[5]णियमा दोण्ह लहुमुअ अलहुमुज्जोअ तिरिणरदुगाण सिआ । णियमा संखगुणहियं धुव-सेससुहतिरिजोग्ग अधुवाण ॥
[6]एगस्स धुव-सुहअधुवसुरपाउग्गाउ अट्ठवीसाओ । लहुठिइबधी वंधइ णियमाऽण्णाण लहुमलहुं वा ॥
[7]अथिरस्स हस्सबधी सखगुणहिय सिआ सुह जसाण । तिरिणरसुरउरलविउवदुग-वइरू-ज्जोअ णामाण ॥
[8]असुहा ऽजसाण उ सिआ लहुमुअ अलहुं व सखगुणअहिय । णियमा सुरजोग्गाण धुव-ऽण्णसुहअधुवबधीणं ॥
[9]एवमसुहा-ऽजसाण मणव्व सेसाण णवरि उ जसस्स ।
सखगुणहिय संखियभागहियं तिअथिराईण ॥ (पञ्चमी गीतिः) ॥१२२३-३३॥

(प्रे०) "विब्भंगे" इत्यादि, तत्राद्यगाथाद्वयेन तिर्यग्द्विकोद्योतनामप्रधानसंनिकर्षः कथितः, तत्र तिर्यग्द्विकवदौदारिकद्विकप्रथमसंहननोद्योतनाम्नां जघन्यस्थितेः सम्यक्त्वाभिमुखसप्तमनरकजीवस्यापि स्वामिकत्वेऽपि ध्रुवबन्ध्यादीनां चतुर्विंशतेस्तस्याः संयमाभिमुखस्वामिकत्वेन तासां ध्रुवबन्ध्यादीना स्थितेः 'संखगुणहियं धुव" इत्यादिना स्वीयस्वीयजघन्यस्थितितः संख्येयगुणाभ्यधिकता भणिता । शेष तु सुगमम् । "एगस्स णरदुगाओ"इत्यादिना तृतीयादिसार्धगाथया मनुष्यद्विकप्रधानः संनिकर्षो निरूपितः, तत्राऽपि ध्रुवबन्ध्यादीनां स्थितेः सख्यगुणाभ्यधिकताऽनन्तरोक्तनीत्या, केवलमिह मनुष्यद्विकादेर्जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनामपि सम्यक्त्वाभिमुखत्वम्, तत्तु देवनारकाणां तज्जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वादिति । शेषं प्राग्वत् । "एगस्स जहण्णठिइं"इत्यादिचतुर्थगाथोत्तरार्धप्रभृते सार्धगाथया प्रथमसंहननौदारिकद्विकलक्षणप्रकृतित्रयप्रधानः प्रस्तुतसंनिकर्षः परिपठितः । स हि तिर्यग्द्विकादिप्रधानसंनिकर्षानुसारेणाभ्यूह्यः, केवलं तत्र तिर्यग्गत्याद्येकैकगतिप्रायोग्यप्रकृतेः प्राधान्यात् तिर्यग्गत्यादिबन्धो नियमतः प्रदर्शितः,इह तु प्रधानीकृतप्रथमसंहननादीनां जघन्यस्थितेर्गतिद्वयप्रायोग्यतया तिर्यग्द्विक-नरद्विकयोः स्याद्बन्धः प्ररूपित इति विशेष इति । अथ षष्ठगाथया ध्रुवबन्धिनीर्देवप्रायोग्यशुभाध्रुवबन्धिनीश्च प्रधानीकृत्याह–"एगस्स"इत्यादि, सुगमम् । विशेषतस्तु मतिज्ञानादिमार्गणावदभ्यूह्यः, केवलं तत्र यशःकीर्तिनाम्नो जघन्यस्थितिबन्धो-ऽष्टमौहूर्तिक इति तदन्यप्रकृतिप्रधानसंनिकर्षे तदीयस्थितेरसख्यगुणाभ्यधिकता दर्शिता, इह त्वसौ ध्रुवबन्ध्यादिवत्संयमाभिमुख-

वदित्यर्थः । **ननु** यदि प्रस्तुतमार्गणासु निरपवादं प्रस्तुतसंनिकर्षोऽवधिज्ञानमार्गणावद्भवति तत्कथं प्रस्तुतमार्गणा वक्ष्यमाणमतिज्ञानादिमार्गणाभिः सममेव न गृहीताः ? **इति चेत्, सत्यम्,** परं तत्र मतिज्ञानादिमार्गणासु मनुष्यगत्यादीनां पञ्चानां बन्धप्रायोग्यत्वेऽपीह तासां बन्धप्रायोग्यत्वाभावेन "णरुरलदुगवइराओ" इत्यादिना गाथाद्वयेन वक्ष्यमाणस्य मनुष्यद्विकादिप्रधानसंनिकर्षस्याऽपीहाऽसम्भवेन 'णरुरलदुगे' त्यादिवक्तव्यतायाः परिहारार्थमेता मनःपर्यवज्ञानादिमार्गणा इह पृथगेव संगृहीताः, अत एवेह '**सप्पाउग्गाण**' इत्यस्य ग्रहणं बोद्धव्यमिति ॥१११६॥

अथ मतिज्ञानादित्रिमार्गणासु प्रस्तुतं त्रिभणिपुस्तत्तुल्यवक्तव्यत्वादवधिदर्शन-सम्यक्त्वौघ-क्षायिकौपशमिकसम्यक्त्वमार्गणास्वपि युगपदेवाह गाथाषट्केन—

[1]एगस्स हस्सबंधी तिणाण-ऽवहि-सम्म-खइऽ-उवसमेसुं । णरुरलदुग-वइराओ णियमाऽण्णाण लहुमलहुं वा
[2]तित्थरस सिआ संखगुणऽहियं णियमाऽण्णमणुयजोग्गाणं । विण उ जसतिअथिराई जसस्स णियमा असंखगुणअहियं ॥
[3]धुव-तित्था-ऽऽहारगदुग-जस-वज्जसुहसुरजोग्गअधुवाओ । एगस्स हस्सबधी णियमाऽण्णाण लहुमलहुं वा
[4]णियमाऽसखगुणऽहिय जसस्स बंधेइ हस्समियरं वा । तित्था-ऽऽहारदुगाण सिआ तहेवऽत्थि सिं तिण्हं ॥
[5]अथिरस्स हस्सबधी असखियगुणाहियं जसस्स सिआ । असुह-अजसाण दुविहं संखगुणहियं सिआ जिणसुहाणं ॥
[6]णियमा संखगुणऽहियं चउवीसाअ सुरजोग्गसेसाण । एवमसुह अजसाणं जसलहुबंधी ण चिअ सेसा ॥
॥१११७–२२॥ (द्वितीया पञ्चमी च गीतिः)

(प्रे०) "**एगस्स**" इत्यादि, तत्राद्यगाथाद्वयेन मनुष्यद्विकौ-दारिकद्विक-प्रथमसंहननप्रधान-संनिकर्षः प्रतिपादितः, तत्र "**ऽण्णमणुयजोग्गाणं विण उ जसतिअथिराई**" इत्यनेन संगृहीतानां पञ्चेन्द्रियजाति-प्रथमसंस्थान-नामध्रुवबन्धिनीनवक--सुखगति-पराघातो च्छ्वास-त्रसनवकलक्षणानां त्रयोविंशतेर्जिननाम्नश्च स्वजघन्यस्थितेः संख्येयगुणाभ्यधिकता तासां मनुष्यप्रायोग्यत्ववद् देवप्रायोग्यत्वादपि । **अयम्भावः**—देवप्रायोग्याणां हि तासां जघन्यस्थितेर्बन्धका अष्टमगुणस्थानगता मनुष्याः, प्रधानीकृतमनुष्यद्विकादीनां तु जघन्यस्थितिः विशुद्धतमसम्यग्दृष्टिदेवनारकैर्निर्वर्त्यते, तदा च तेऽष्टमगुणस्थाने बन्धप्रायोग्यस्थितितः सख्येयगुणाधिकां स्थितिं बध्नन्ति । शेषं तु सुगमम् । "**धुव**" इत्यादि, तृतीयचतुर्थगाथाभ्यामनन्तरोक्तास्त्रयोविंशतिः प्रकृतयस्तथा देवद्विक वैक्रियद्विके जिननामाऽऽहारकद्विके चेत्येवं सर्वसंख्यया त्रिंशत्प्रकृतीनां प्राधान्येन प्रस्तुतसंनिकर्षो निगदितः; तत्राऽपि जिननामाऽऽहारकद्विकप्रधानस्त्वसौ "**तहेवऽत्थि सिं तिण्हं**" इत्येवंलक्षणेन चतुर्थगाथाचरमांशेनाऽतिदिष्टः, स च सुगमः । "**अथिरस्स**" इत्यादिपञ्चमगाथया षष्ठगाथापूर्वार्धेन चास्थिरनामप्रधानः संनिकर्षः प्रतिपादितः । इहाऽपि जिननामादीनां स्थितेः संख्येयगुणाभ्यधिकता मनुष्यगत्यादिप्रधानसंनिकर्षवद्विज्ञेया, केवलं तत्र मनुष्यद्विकादिजघन्यस्थितिश्चतुर्थगुणस्थानगतदेवस्वामिका, इह तु अस्थिरनामजघन्यस्थितिः षष्ठगुणस्थानगतसंयतस्वामिका इति विशे-

॥ अथ द्वितीयोऽधिकारः ॥

अथ "यथोद्देशं निर्देश" इति न्यायमनुसृत्य पञ्चदशद्वारात्मकं द्वितीयाधिकारं निरूपयिषुरादौ तावद् द्वाराभिधानान्यभिधत्ते—

दुइए अहिगारे अह पंचदस दुआरगाणि ठिइमाणं ।
सामित्त-साइआई कालं-तर-सण्णियासा य ॥६३॥
भंगविचयो उ भागो परिमाणं खेत्त-फोसणा कालो ।
अंतर-भावा-ऽप्पबहू इइ णेयाइं जहाकमसो ॥६४॥

(प्रे०) "दुइए" इत्यादि, 'अथ'–प्रथमाधिकारनिरूपणानन्तरं द्वितीयाधिकारनिरूपणप्रस्तावे 'स्थितिमानं' [1]स्थितिबन्धप्रमाणं, [2]स्वामित्वं, [3]साद्यादि, [4]कालः, [5]अन्तरं, [6]सन्निकर्षः, [7]भङ्गविचयः, [8]भागः, [9]परिमाणं, [10]क्षेत्रं, [11]स्पर्शना, [12]कालः, [13]अन्तरं, [14]भावः, [15]अल्पबहुत्वमित्येतानि पञ्चदश 'दुआरगाणि' त्ति द्वाराण्येव द्वारकाणि यथाक्रमशो ज्ञेयानि। इह काला ऽन्तरद्वारयोर्द्विरभिधानान्न पुनरुक्तमाशङ्क्यम् , सन्निकर्षद्वारान्तानां द्वाराणामेकजीवमाश्रित्य प्ररूपणीयत्वेन भङ्गविचयादीनां तु नानाजीवानाश्रित्य निरूपणीयत्वेन च कालादिनामधेयतौल्येऽपि प्ररूपणीयविषयभेदादिति गाथाद्वयसंक्षेपार्थः । विस्तरतस्त्वियं गाथाद्वयी **मूलप्रकृतिस्थितिबन्धविधान-द्वितीयाधिकारे** व्याख्यातैवेति जिज्ञासुना तत्रत्य**प्रेमप्रभा**ऽवलोकनीया, केवलं तत्र मूलप्रकृतिस्थितिबन्धस्याधिकृतत्वेन इह तूत्तरप्रकृतिस्थितिबन्धस्य प्रस्तुतत्वेन च तदपेक्षया यावान् विशेषः स द्रष्टव्य इति ॥६३-६४॥

प्रथमं स्थितिबन्धप्रमाणद्वारम्

अथ "यथोद्देश" मित्यादिन्यायेन प्रथमतः स्थितिबन्धप्रमाणद्वारे उत्कृष्टादिभेदभिन्नं स्थितिबन्धप्रमाणमभिधातव्यम् , तच्च मूलस्थितिबन्ध**प्रेमप्रभा**दर्शितस्वरूपयोः कर्मरूपतावस्थानलक्षणाऽनुभवयोग्यतालक्षणस्थित्योर्भेदाद् द्विविधम् , किञ्च स्वामित्वादिद्वारेषूत्कृष्टस्थितिबन्धादिभेदभिन्नं स्वामित्वादिकं कर्मरूपतावस्थानलक्षणस्थितिबन्धप्रमाणमधिकृत्य प्रतिपादनीयम् ; तथा च स्थितिबन्धप्रमाणमपि मुख्यवृत्त्या कर्मरूपतावस्थानलक्षणस्थितिबन्धापेक्षया निरूपणीयम् , कर्मरूपताव-स्थानलक्षणस्थितिबन्धापेक्षं तु तद् अबाधा-निषेकोभयस्थितिप्रमाणात्मकमिति तदुभयापेक्षया दिदर्शयिषुरादौ तावदबाधाकर्मदलनिषेकप्रमाणविषयं नियममभिदधाति—

स्वामिक एवेति तदीयस्थितेरपि प्रधानीकृतेतरध्रुवबन्ध्यादिवज्जघन्यो वाऽजघन्यो वा भणित इति। **"अथिरस्स हस्सबंधी"** इत्यादिसप्तमाष्टमार्याद्वयेनाऽस्थिरनामप्रधानसंनिकर्षः कथितः, तत्राऽस्थिरनामजघन्यस्थितिबन्धवद् अशुभा-ऽयशःकीर्तिनामजघन्यस्थितेः स्वस्थानविशुद्धमिथ्यादृष्टिस्वामिकत्वेन जघन्यादिस्थितिबन्धभावेऽपि शेषाः **"सुहजसाणं"** इत्यादिना भणिताः **सुरजोगाणं'** इत्यादिना भणिताश्च सर्वाः सम्यक्त्वाद्यभिमुखस्वामिकजघन्यस्थितिका इति तासां शुभनामादीनां संख्येयगुणाभ्यधिकः स्थितिबन्धो जायत इति। अथ चरमगाथया भणितशेषाशुभनामादिप्रकृतिप्रधानसंनिकर्षमतिदेशादिना प्राह-**"एव"**'मित्यादि,तत्राऽशुभा-ऽयशःकीर्तिनामप्रधानः**'एवं'** इत्यनेनाऽस्थिरनामप्रधानसंनिकर्षवद्भणितः, स च सर्वथा तद्वदभ्यूह्यः, प्रकृति विच्छेदस्थानाविशेषात्। **"सेसाण"**इत्यनेन संगृहीतनरकद्विकजातिचतुष्का-ऽऽद्यवर्जसंहननपञ्चका-ऽऽद्यवर्जसंस्थानपञ्चक- कुखगतिनामा ऽऽतप -स्थावरचतुष्क दुर्भग--दुःस्वरा- ऽनादेयलक्षणपञ्चविंशतिप्रकृतिप्रधानसंनिकर्षस्तु **"मणव"** त्ति मनोयोगौघमार्गणावद्विज्ञेयः; केवलं तत्तदेकेन्द्रियादिजघन्यस्थितिं बध्नतो यशःकीर्तिनाम्नोऽनन्तरभणितनीत्या संख्येयगुणाभ्यधिकजघन्यस्थितिबन्धो ज्ञेयः, न तु मनोयोगौघवदसंख्येयगुणाभ्यधिकस्तथाऽस्थिरा ऽशुभा-ऽयशःकीर्तिनाम्नां संख्येयभागाभ्यधिकजघन्यस्थितिबन्धो ज्ञेयः, न तु मनोयोगवत् संख्येयगुणाभ्यधिकः, प्रस्तुतेऽस्थिरनामादिजघन्यस्थितेः शेषजातिचतुष्कादिजघन्यस्थितिवत् स्वस्थानविशुद्धमिथ्यादृष्टिस्वामिकत्वादिति,तदेव **"णवरि उ जसस्स"** इत्यादिना भणितमिति ॥११२३-३१॥

तदेवं गाथानवकेन भणितो विभङ्गज्ञानमार्गणायां प्रस्तुतः संनिकर्षः, मत्यज्ञान श्रुताज्ञानमार्गणाद्वये तु प्राक् 'तिरिये सव्वेगिंदिय दुअणाण' (गाथा-१०४८-४९) इत्यादिना तिर्यग्गत्योघादिमार्गणाभिः समं प्रतिपादितः,तदनु संयममार्गणास्थानेषु प्रतिपादनीयः, तत्राऽपि 'णत्थि अवेए सुहुमे' (गाथा-१११६) इत्यनेन सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायामपगतवेदमार्गणया सह प्रतिषिद्धः, 'सप्पाउग्गाण णाम पयडीण। मणणाण-सजमेसु समइअ-छेएसु ओहिव्व ॥१११६॥' इत्यनेन प्राग् संयमौघादौ मनःपर्यवज्ञानादिमार्गणया साकमतिदिष्टश्चेत्यतः क्रमप्राप्तपरिहारविशुद्धिकसंयममार्गणायां तमाविष्कुर्वन्नाह—

बंधइ परिहारे जिण-अथिरा-ऽऽहारदुग-अजसवज्जाओ। एगस्स हस्सबंधी णियमाऽण्णाण लहुमलहुं वा॥
तित्थाहारदुगाणं सिआ तहेवऽत्थि तिण्ह लहुबंधी। अथिरस्स बंधइ लहुमलहुं व असुहा ऽजसाण सिआ
सुह-जस-तित्थाण सिआ सखगुणहिय कुणेइ सेसाणं। पणवीसाए णियमा एवं असुहा ऽजसाण भवे॥
॥११३२ ३४-॥

(प्रे०) **"बंधइ परिहारे"** इत्यादि, तत्राद्यगाथया **"तित्थाहारदुगाणं सिआ"** इत्येतावता द्वितीयगाथांशेन च प्रस्तुतमार्गणाबन्धप्रायोग्या याश्चतुस्त्रिंशत्प्रकृतयस्ताभ्यो जिननामा-ऽऽहा-

रकद्विका-ऽस्थिरा-ऽशुभा-ऽयशःकीर्तिनामानि विहाय या देवप्रायोग्याः देवद्विकाद्या अष्टाविंशतिप्रकृतयस्तत्प्रधानः संनिकर्षो निरूपितः । **ननु अशुभनामाऽपि कथं वर्ज्यते ? इति चेद्, "अथिरा-ऽऽहारदुग"** इत्यत्र 'द्वन्द्वान्ते' इत्यादिन्यायेन व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेश्च द्विकशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धादाहारकद्विकवदस्थिरद्विकस्यापि वर्जनमभिमतम्, अतस्तदपि वर्ज्यत इति । शेषं सर्वं सुगमम्, मनःपर्यवज्ञानादिमार्गणावदेवाभ्यूह्यं च, केवलं तत्रानिवृत्तिकरणादिगुणस्थानगतानामपि प्रवेशाद्यशः, कीर्तीतरप्रकृतिप्रधानसंनिकर्षे यशःकीर्तिनाम्नः स्थितिरसंख्येयगुणाभ्यधिका दर्शिता, इह तु श्रेणिस्थानामप्रवेशेन सप्तमगुणस्थाने यशःकीर्तिनाम्नो जघन्यस्थितेरप्यन्तःकोटीकोटीसागरप्रमाणत्वाद् अस्थिराऽशुभनामप्रधानसंनिकर्षेऽपि यशःकीर्तिस्थितेः संख्यगुणाधिकतैव भणितेति॥११३२-३४॥

अथ क्रमप्राप्तदेशसंयममार्गणायां प्रस्तुतसंनिकर्षं प्राह—

एगस्स हस्सबंधी तित्थ-अथिर-असुह अजसवज्जाओ । देसे णियमाऽण्णेसिं सगवीसाअ लहुमलहुं वा ॥
हस्समहस्सं व सिआ जिणस्स से एवमेव लहुबंधी । अथिरस्स बंधइ लहुमलहुं व असुहा-ऽजसाण सिआ॥
सुह-जस तित्थाण सिआ संखगुणऽहियं कुणेइ सेसाणं । थिरवज्जाणं णियमा एव असुहा-ऽजसाण भवे ॥
॥११३५-३७॥

(प्रे०) "एगस्स" इत्यादि, अत्राऽपि सर्वमनन्तरोक्तनीत्या विभावनीयम्, केवलमिहाऽऽहारकद्विकं मूलत एव बन्धप्रायोग्यं नास्ति, अस्थिराऽशुभा-ऽयशःकीर्तिनाम्नां जघन्यस्थितेस्तदन्यजघन्यस्थितेश्च देशविरतिलक्षणैकगुणवत्स्वामिकत्वेऽपि अस्थिरादेस्तस्याः स्वस्थानविशुद्धस्वामिकत्वात् शेषजघन्यस्थितेस्तु संयमाभिमुखस्वामिकत्वाच्चाऽस्थिरादिप्रधानसंनिकर्षे शेषाणां स्थितेः संख्यगुणाभ्यधिकता भणितेति ॥११३५-३७॥

अथाऽसंयममार्गणायां तिर्यग्गत्योघादिमार्गणाभिः समं भणितः प्रस्तुतसंनिकर्षः, ततः क्रमगतदर्शनमार्गणाभेदमध्यादचक्षुर्दर्शनमार्गणायां सर्वप्रथमं काययोगौघादिना समं 'णाणाणसण्णिआमो हवेज्ज ओघव्व काय उरलेसु' इत्यादौ गाथा-(१०१५-१६)सर्वथौघवत्, चक्षुर्दर्शनमार्गणायां 'दुतस-वयणचक्खूसु' इत्यादिना(गाथा-१०८०) त्रसकायौघादिमार्गणाभिः साकम्, तथाऽवधिदर्शनमार्गणायां 'एगस्सहस्स बंधी तिणाण-ऽवहिं' इत्यादौ (१११८-२२) मतिज्ञानादिमार्गणाभिः सह तत्र तत्राऽभिहितः प्रस्तुतसंनिकर्षः एवमेव तदनु क्रमप्राप्तलेश्यामार्गणानिकरमध्यादशुभलेश्यात्रयेऽपि तिरियेधव्वेगिंदिय" इत्यादौ (गाथा १०४८ ४९) तिर्यग्गत्यौघवदतिदिष्ट एवेत्यवशिष्टशुभलेश्यामध्यात्तेजः-पद्मलेश्यामार्गणयोस्तं विभणिपुराह—

एगस्स जहण्णठिइं णरउरलदुग-वइराउ बंधंतो । तेउ-पउमासु बंधइ णियमाऽण्णाण लहुमलहुं वा ॥
तित्थस्स सिआ बंधइ संखगुणऽहियं धुवाण सेसाणं । अधुवाण पसत्थाण य णरपाउग्गाण णियमाओ ॥
परिहारव्व हवेज्जा चउतीसाअ खलु देवजोग्गाणं । सोहम्मसुरव्व भवे सप्पाउग्गाण सेसाणं ॥
॥११३८-४०॥

(प्रे०) "एगस्स" इत्यादि, अक्षरार्थः सुगमः, केवलं द्वितीयगाथापूर्वार्धे "संखगुणहियं" इति पदं काकाक्षिगोलकन्यायेनोभयत्र सम्बध्यते, "परिहारव्व" इत्यनेन देवप्रायोग्यचतुस्त्रिंशत्प्रकृतिप्रधानसंनिकर्षः 'बधइ परिहारे जिण' इत्यादि (११३२-३४) गाथात्रयोक्तस्वरूपो ज्ञेयः, "सोहम्मसुरव्व" इत्यनेन शेषा याः पद्मलेश्यायां तिर्यग्द्विक-प्रथमवर्जसंहननपञ्चक-प्रथमवर्जसंस्थानपञ्चक कुखगत्यु-द्योत-दुर्भग-दुःस्वरा-ऽनादेयलक्षणाः सप्तदश, तेजोलेश्यायां तु ता एव सप्तदशैकेन्द्रिय-स्थावरा-ऽऽतपनामसहिता इति विंशतिरित्येतच्छेपप्रकृतिप्रधानः संनिकर्षस्तु 'जोइस कप्पदुगेसु एगिंदिय' इत्यादि (१०६९-७०) गाथाद्वये भणितस्वरूपो विज्ञेयः, स च तत्तन्मार्गणावदेव भावनीयः, मनुष्यद्विकादिप्रकृतिपञ्चकप्रधानस्तु सौधर्मकल्पादिदेवमार्गणावदथवा द्वितीयादिनरकमार्गणावद्विभावनीयः, केवलं जिननामादीनां स्थितेःसंख्यातगुणाभ्यधिकत्वं तु तासां जघन्यस्थितिबन्धस्यसप्तमगुणस्थानस्वामिकत्वात् इति ॥११३८-४०॥ अथक्रमप्राप्तशुक्लेश्यामार्गणायामाहप्रस्तुतम्—

सुक्काअ जसस्स भवे ओघव्वऽण्णाण होइ पम्हव्व । णवरं जसस्स सव्वह बंधेइ असंखगुणअहियं ॥
॥११४१॥

(प्रे०) "सुक्काअ जसस्स" इत्यादि, सुगमा, स्वेतरदेवगत्यादिप्रधानसंनिकर्षे यत्र यशःकीर्तिनाम्नो नियमतो बन्धः,स्वेतरतिर्यग्गत्यादिप्रधानसंनिकर्षे यत्र तस्य स्याद्बन्धो वा तत्र सर्वत्र तस्य यशःकीर्तिनाम्नः स्थितिरसंख्येयगुणाभ्यधिका द्रष्टव्या, प्रस्तुतमार्गणायां तदीयजघन्यस्थितेरन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वेन प्रागिव तथाभावादिति ॥११४१॥

अथ भव्यमार्गणायां 'णाभाण सण्णिगासो' इत्यादौ (१०१५-१६) प्रस्तुतविभागवक्तव्यताप्रथमगाथाद्वय एवकाययोगौघादिमार्गणाभिः समम् , तथाऽभव्यमार्गणायां 'तिरिये सव्वेगिंदिये'-त्यादौ (१०४८-४९) तिर्यग्गत्यादिमार्गणाभिः साकं भणितप्रस्तुतः संनिकर्षः, तदनु सम्यक्त्वौघादिमार्गणामध्यात् सम्यक्त्वौघे क्षायिकसम्यक्त्वे औपशमिकसम्यक्त्वे च 'एगस्स हस्सबधी तिणाण-ऽवहि-सम्म-खइ-उवसमेसु ' इत्यादिना (१११७-२२)मतिज्ञानादिमार्गणाभिः साकं प्रस्तुतसंनिकर्षस्य भणितत्वात् , क्षायोपशमिकसम्यक्त्वसासादनमार्गणायोस्तमाह—

[1]पम्हव्व सण्णिणयासो सप्पाउग्गाण वेअगे णेयो । एगस्स सासणे लहुठिइबंधी तिरिदुगाहिन्तो ॥
[2]उज्जोअस्स सिआ लहुमलहुं वाऽण्णेग-धुव-सुअधुवाणं । तिरिजोग्गाणं बंधइ णियमा उज्जोअगस्सेवं ॥
[3]एगस्स णरदुगा लहुबधी णियमाऽण्णमणुयजोग्गाण । धुव-सुहअधुवाण ठिइं हस्समहस्स व बंधेइ ॥
[4]एगस्स हस्सबंधी सुरविउवदुगाउ बधए णियमा । लहुमलहु वा धुव-सुहसेसअमरजोग्गअधुवाणं ॥
[5]एगस्स जहण्णठिइ बंधेमाणो पणिदिय धुवाओ । पढमागिइ-सुखगइ-परघा-ऊसास तस-दसगाओ ॥
[6]बधइ णियमाऽण्णेसिं लहुमलहुं वा ठिइं सिआ कुणए । तिरिणरसुरउरलविउवदुग-वइरुज्जोअणामाणं
[7]एगस्स हस्सबधी वइरुरलदुगाउ तिरिणरदुगाण । तह उज्जोअस्स सिआ बधइ हस्सं अहस्सं वा
[8]धुव-सेससुहअधुवणरजोग्गाणऽण्णाण खलु विभगव्व । णवरं संखसहियं बंधइ संखगुणहियठाणे ॥
॥११४२-४९॥

(प्रे०) "पम्हव्व" इत्यादि, तत्र "पम्हव्व" इत्याद्यार्याऽर्धेन क्षायोपशमिकसम्यक्त्व-मार्गणायां बन्धप्रायोग्यसर्वनामप्रकृतिप्रधानसंनिकर्षोऽविशेषेण पद्मलेश्यामार्गणावद्भणितः। तत्राऽसंगृह्येह पृथग्भणनं तु प्रस्तुते तिर्यग्गत्यादीनां मूलत एव बन्धाप्रायोग्यत्वेन पद्मलेश्यापेक्षया बन्धप्रायोग्यनामप्रकृतीनां न्यूनत्वात्, अत एव "सप्पाउग्गाण" इति भणितमिति, शेषं तु सुगमम्। "एगस्स सासणे" इत्यादिना सार्धेन गाथासप्तकेन सासादनमार्गणायां प्रस्तुतसंनिकर्षः प्रदर्शितःसोऽक्षरतः सुगमः, केवलं द्वितीयगाथास्थं "लहुमलहुं वा" इति पदं देहलीदीपकन्यायेनोभयत्रान्वेति, एवमेव षष्ठगाथापूर्वार्धे सप्तमगाथोत्तरार्धे च ज्ञेयम्। द्वितीयगाथापूर्वार्धे वा ऽण्णेग' इत्यत्र वाकारादकारो विश्लिश्यते, तथा च अन्या च या एका इति अन्येका, प्रकृतिरिति गम्यते, तत्राऽन्यत्वं प्रथमगाथोत्तरार्धे "तिरिदुगाहिन्तो" इत्यनेन संगृहीतयोस्तिर्यग्गतितिर्यगानुपूर्व्योर्मध्ये प्रधानीकृताया एकैकस्या अपेक्षया ज्ञेयमिति।

भावार्थः पुनरयम्–इह स्वस्थानविशुद्धानां जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वमतमेवानुसृतम्, तथाच पश्चात्कृतसंयतत्वादिस्वामित्ववर्जनभावेन गुणान्तरस्याप्रवेशेन च नास्ति कस्या अपि प्रधानत्वे संख्येयगुणत्वादिस्थितिबन्धावकाशः, किञ्च स्वस्थाने समानज्येष्ठविशुद्धावपीह गुणस्थाने नरकवर्जाऽन्यतमप्रायोग्या भिन्नभिन्नस्थानगतजीवापेक्षया प्रकृतयो बन्धयोग्याः, केवलं विवक्षितैकगतिप्रायोग्यमध्यादपि या शुभा, यथा-प्रथमसंहनन-संस्थान-सुखगति स्थिराद्यपेक्षया द्वितीयादिसंहनन संस्थान कुखगत्यस्थिराद्यास्ताः स्वस्थानसर्वविशुद्धौ नैव बध्यन्ते, किन्तु ततो मन्दविशुद्धौ सत्यां यथासम्भवं प्रागुक्तप्रकृतिविच्छेदक्रमप्रामाण्येन बन्धप्रायोग्यास्तथाच तिर्यग्द्विकादेर्मनुष्यद्विकादेर्वा प्रधानत्वे ध्रुवबन्धिन्य पञ्चेन्द्रियजात्याद्याः शुभाऽध्रुवबन्धिन्यश्च तथाविधप्रागदर्शितविच्छेदक्रमे चरमस्थानगताः, चरमस्थानगतप्रकृतेः प्रधानत्वे तु या या नियमतो बध्यन्ते नानाविधस्वामिनोऽपेक्ष्य स्याद्बध्यन्ते वा तासां सर्वासां जघन्योऽजघन्यो वा स्थितिबन्धो जायते, न पुनः कासाञ्चिदजघन्य एव, द्विचरमादिस्थानगतानां प्राधान्य एव तत्सम्भवात्। एतच्च सर्वं प्राक्प्रपञ्चितमेवेत्येवं तिर्यग्द्विक-मनुष्यद्विक देवद्विक पञ्चेन्द्रियजात्यौ-दारिकद्विक-वैक्रियद्विक ध्रुवबन्धिनीनवक-प्रथमसंहनन–प्रथमसंस्थान-सुखगति पराघातो-च्छ्वासो-द्योत त्रसदशकप्राधान्ये सति बध्यमानानां सर्वासां जघन्यो वाऽजघन्यो वेत्येवं द्विविधान्यतमः स्थितिबन्धो भणितः। अष्टमगाथास्थेन "अण्णाण" इत्यनेन संग्रहीता हि प्रस्तुतमार्गणाबन्धप्रायोग्याः मध्यमसंहननचतुष्क-मध्यमसंस्थानचतुष्क कुखगतिनामा-ऽस्थिरषट्कलक्षणाःपञ्चदशशेषप्रकृतयस्ताः संगृह्य तत्प्रधानसंनिकर्षोऽभिहितः, एतासां हि यथासम्भवं पूर्ववद्द्विचरमादिस्थानगतत्वेन तुल्यस्थानगतप्रधानत्वे तुल्यस्थानगतानां जघन्योऽजघन्यो वा स्थितिबन्धो जायेत प्रागुक्तनीत्या यथा द्वितीयसंहननप्रधानत्वे द्वितीयसंस्थानप्रकृतेः। पूर्वस्थानगतप्रधानत्वे तूत्तरस्थानगतानां संख्येयभागाभ्यधिक एव स्यादसौ, यथा द्वितीयसंहननादिप्रधानत्वे मनुष्यद्विक-

तिर्यग्द्विक-पञ्चेन्द्रियजात्यादीनाम्, प्रधानीकृतद्वितीयसंहननादिस्थानात्पूर्वस्थानगतानां तु बन्ध एव न स्यादित्येवं सर्वं विभङ्गमार्गणावदुपपद्यते शेषमध्यमसंहननादिप्रकृतिप्रधानसंनिकर्षे, केवलं तत्र सम्यक्त्वाद्यभिमुखानां प्रवेशेन यथासम्भवं तत्स्वामिक एव जघन्यस्थितिबन्धस्तिर्यग्मनुष्यद्विकादीनां पञ्चेन्द्रियजात्यादिनाञ्चेतिकृत्वा तासां संख्येयगुणोऽसौ भणितो योऽत्र संख्येयभागाभ्यधिक एव लभ्येत इत्यत्र "विभगव्व" इत्येवमतिदिश्यापि 'णवरं' इत्यादिनाऽपोदितः, शेषं स्याद्नियतबन्धादिकं प्रागिव स्वयमाभ्यूह्यमिति ॥११४२-४९॥

अथ सम्यग्मिथ्यात्वमार्गणायां प्रस्तुतस्वस्थानजघन्यस्थितिबन्धसंनिकर्षमाह--

[1]लहुबंधी मीसे एगस्स सुरविउवदुगाउ अण्णेसिं। णियमा लहुमलहुं वा धुव सुरजोग्गसुहअधुवाणं ॥
[2]एगस्स हस्सबंधी णरउरलदुग-वइराउ अण्णेसिं। णियमा लहुमलहुं वा धुव-णरजोग्गसुहअधुवाणं ॥
[3]एगस्स हस्सबंधी सेसाओ तिअथिराइवज्जाओ। णियमा तेवीसाए सेसाण जहण्णमियर वा।
[4]णरसुरउरलविउवदुग-वइराण सिआ उ तिअथिराईओ। एगस्स हस्सबंधी सिआऽण्णदोण्ह लहुमलहुं वा
[5]तप्पडिवक्ख-मणुयसुरविउवुरलदुग-वइराण कुणइ सिआ। संखगुणहियं बंधइ णियमा सेसचउवीसाए ॥११५०-५४॥

(प्रे०) "लहुबंधी मीसे" इत्यादि, अक्षरतः सुगमाः, अर्थतश्च गतार्थप्रायाः, केवलं तृतीयगाथायां "सेसाओ तिअथिराइवज्जाओ" इत्यनेन पञ्चेन्द्रियजाति-समचतुरस्रसंस्थान-ध्रुवबन्धिनीनवक-सुखगति-पराघातो--च्छ्वास-त्रसदशकलक्षणाश्चतुर्विंशतिर्बोध्याः, एवमेव चरमगाथाचरमपदेन "सेसचउवीसाए" इत्यनेनाऽपि, चरमगाथायां "संखगुणहिय" इत्येतत्तु प्रधानीकृताऽस्थिरा-ऽशुभा--ऽयशःकीर्तिवर्जानां प्रस्तुतमार्गणाबन्धप्रायोग्याणां सर्वासां नामप्रकृतीनां जघन्यस्थितेः सम्यक्त्वाभिमुखस्वामिकत्वात्, अस्थिरादीनां तु तस्याः स्वस्थानविशुद्धस्वामिकत्वाच्च। भवति हि विवक्षितैकगुणस्थाने स्वस्थानविशुद्धस्वामिकजघन्यस्थितिबन्धानां प्रधानत्वेऽभिमुखस्वामिकजघन्यस्थितिबन्धानां स्थितिबन्धविषये एतादृशं तारतम्यमिति विशेषतः पूर्वग्रन्थानुसारेण विभावनीयमिति ॥११५०-५४॥

तदेवं भणितः सम्यग्मिथ्यात्वमार्गणायां प्रस्तुतो नामोत्तरप्रकृतिस्वस्थानजघन्यस्थितिबन्धसंनिकर्षः, अवशिष्टायां मिथ्यात्वमार्गणायां प्राक् तिर्यग्गत्योघादिना साकम्, संज्ञिमार्गणायां 'तिमणुयसण्णीसु' इत्यादिना(१०६४-६७)मनुष्यौघादिमार्गणाभिः सह,असंज्ञिमार्गणायां तिर्यग्गत्योघादिना समम्, आहारकमार्गणायां काययोगौघादिना सार्धं सर्वथौघवत्, तथाऽनाहारकमार्गणायां कार्मणकाययोगेनाऽमा प्रस्तुतसंनिकर्षस्य प्रतिपादितत्वान्निष्ठिता नामप्रकृतिस्वस्थानजघन्यस्थितिबन्धसंनिकर्षप्ररूपणाऽऽदेशतोऽपि, निष्ठितायां च तस्यामादेशतोऽपि गतः स्वस्थान जघन्यस्थितिबन्धसंनिकर्षः, गते च तस्मिन् प्रागुद्दिष्टात् स्वस्थान-परस्थानसंनिकर्षमध्यात् स्वस्थानस्थितिबन्धसंनिकर्षः समाप्तः ॥

॥ इति स्वस्थानसंनिकर्षः ॥

॥ अथ परस्थानसंनिकर्षः ॥

तत्र प्रथमतस्तावत् परस्थानोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षं प्रतिपिपादयिषुः पूर्वनीत्याऽऽदौ तावदोघत उपक्रमते ।

एगस्स धुव-असाया तह सोगा-ऽरइ-णपुंसहुंडाओ । पणअथिराइग-बायरतिग-परघूसास-णीआओ ॥
गुरुबंधी अण्णेसिं णियमा बंधेइ जेट्ठमियर वा । णिरयतिरिदुगे-गिंदिय-पणिंदि-उरलविउवदुगाणं ॥
छेवट्ठा-ऽऽयवदुग-तस-थावर-असुहसर-कुखगईण सिआ । णिरयाउस्स गुरुं चिअ भजणीआ सव्वह-पबाहा ॥११५५-५७॥

(प्रे०) "**एगस्स**" इत्यादि, इह तावत् परस्थानोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षे ओघतो यत्र वौधिकस्थितिबन्धमानमेव प्राप्यते मार्गणास्थानेषु तत्रत्य संनिकर्षसिद्धये पूर्वोक्तोपपत्तिप्रपञ्चस्त-दुत्थानियमकदम्बकश्च स्मर्तव्यः । **तत्र नियमकदम्बकस्त्वेवम्**—

(१) प्रधानीकृतप्रकृत्या समं या बन्धतो विरोधवत्यः, बन्धे प्रधानीकृतप्रकृतप्रकृतिप्रतिपक्ष-भूता इत्यर्थः । तासां तदविनाभाविबन्धानां च प्रकृतीनां बन्ध एव न भवति ।

(२) बन्धप्रायोग्याणां ध्रुवबन्धिनीनां नियमतो बन्धो जायते ।

(३) प्रधानतया विवक्षिता प्रकृतिर्यदि वर्गोत्कृष्टस्थितिका तदा—

(i) अवर्गोत्कृष्टस्थितिकानां बन्ध एव न भवति,

(ii) वर्गोत्कृष्टस्थितिकासु या बन्धतः परस्परं प्रतिपक्षभूताः, यासां च प्रधानीकृत-प्रकृत्युत्कृष्टस्थितेर्नानास्वामिनोऽपेक्ष्याऽन्यथा वा बन्ध-बन्धाभावोभयं लभ्यते तासां स्याद्बन्धो भवति;

(iii) तच्छेषाणां तु नियमतो बन्धो भवति ।

(४) प्रधानीकृतप्रकृतिर्यदि न वर्गोत्कृष्टस्थितिका किन्तु वर्गविभागेन वर्गद्वित्र्यादिभाग-लक्षणेन न्यूनवर्गोत्कृष्टस्थितिका तदा—

(i) यास्तेन रूपेण प्रधानीकृतप्रकृत्यपेक्षया न्यूनस्थितिकास्तासां बन्ध एव न भवति,

(ii) याः पुनस्तेनैव रूपेण प्रधानीकृतप्रकृत्या तुल्यस्थितिकास्तदधिकस्थितिकाश्च तासु याः बन्धतः परस्परं प्रतिपक्षभूतास्तासां स्याद्बन्धो भवति,

(iii) तदन्यासां तु नियमतो बन्धो भवति ।

(५) आतपो-द्योतनाम्नोस्तु सर्वत्र स्याद्बन्धो भवति ।

इति तत्तत्प्रकृतिबन्ध-बन्धाभावाद्युपपादकनियमाः ।

(६) प्रधानतया विवक्षिता प्रकृतिर्यदि वर्गोत्कृष्टस्थितिका तदाऽनन्तरोक्तनियमाद् बन्धप्रा-प्तानां प्रत्येकमुत्कृष्टो वा प्रागुक्तलक्षणोऽनुत्कृष्टो वा स्थितिबन्धो जायते ।

(७) प्रधानीकृतप्रकृतिर्यदि न वर्गोत्कृष्टस्थितिका किन्तु द्विभागाद्यूनवर्गोत्कृष्टस्थितिका तदा-

(i) वर्गोत्कृष्टस्थितिकानां प्रधानीकृतप्रकृतिवद् वर्गोत्कृष्टस्थित्यपेक्षया द्विभागादिना न्यूनोत्कृष्टः स्थितिबन्धो भवति,

(ii) प्रधानीकृतप्रकृतिवद् या द्विभागाद्यूनवर्गोत्कृष्टस्थितिकास्तासामुत्कृष्टोऽनुत्कृष्टो वा स्थितिबन्धः प्राग्वद्भवति,

(iii) शेषाणां बन्धप्राप्तप्रकृतीनां तु स्वस्वोत्कृष्टस्थितितः प्रधानीकृतप्रकृत्युत्कृष्टस्थिति-वर्गविभागरूपेण यावता त्रिभागादिना न्यूना तावता त्रिभागादिलक्षणेन संख्येयभागेन न्यून उत्कृष्टः स्थितिबन्धो भवति । इति ॥"

प्रस्तुते '**एगस्स धुवे**"त्यादिगाथत्रये संगृहीता मतिज्ञानावरणादिसप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिन्योऽसातवेदनीयाद्याश्चेति त्रिषष्टिः प्रकृतयोऽपि वर्गोत्कृष्टस्थितिकाः,तासां च ध्रुवबन्धिनीनां कासाश्चिदसातवेदनीयादीनामध्रुवबन्धिनीनां च निरय-तिर्यग्गतिद्वयप्रायोग्यं बध्नतामुत्कृष्टसंक्लेशवताम-वश्यं बन्धः, तथाच तासां नियमबन्धो भणितः । स च ध्रुवबन्धिनीनां द्वितीयनियमात्तथाशेषाणामसातवेदनीयादीनामध्रुवबन्धिनीनां तु तृतीयनियमतृतीयांशप्रसराद्विज्ञेयः, ध्रुवबन्धिन्यसातवेदनीया-द्यन्यतमोत्कृष्टस्थितिं बध्नतो यः "**णिरय तिरिदुगे**" त्यादिना नरकगत्यादिप्रकृतीनां स्याद्-बन्धो भणितः तासां मध्ये कासाञ्चिन्नरकगत्यादीनां नरकगतिप्रायोग्यं बध्नतो बन्धात् , तिर्यग्ग-तिप्रायोग्यं बध्नतस्त्वबन्धात् , एवं कासाञ्चित्तिर्यग्गत्यादीनां तिर्यग्गतिप्रायोग्यं बध्नतो बन्धात् नरकगतिप्रायोग्यं बध्नतस्त्वबन्धाच्च तृतीयनियमद्वितीयांशानुसारी विज्ञेयः ।

तद्यथा–नरकगतिप्रायोग्यं बध्नतो सर्वसंक्लेशभाजां नरकद्विक-पञ्चेन्द्रियजाति वैक्रियद्विक-त्रसा-ऽशुभस्वर-कुखगतिनाम्नां बन्धभावेऽपि न जायते तिर्यग्द्विकादीनां बन्धः, एकेन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतां तथाविधानां सर्वसंक्लेशवतामीशानान्तदेवानां तु तिर्यग्द्विकैकेन्द्रियजात्या-तपद्विकौ-दारिक-शरीर-स्थावरनाम्नां बन्धभावेऽपि न जायते यथोक्तानां नरकद्विकादीनां बन्धः, इत्येवमन्यान्यस्वा-म्यपेक्षया तासां नरकद्विकादीनां स्याद्बन्धः प्राप्तः, एवमेव यथोक्तानामेकेन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतामौदा-रिकाङ्गोपाङ्ग-सेवार्तसंहनननाम्नो बन्धो न जायते, यथोक्तनारकादीनां त्वसौ जायत इति तयोरपि स्याद्बन्धो भवति । यस्तु नरकायुषोऽपि स्याद्बन्धो भणितः स तु नरकगत्यादिप्रकृतिवदेवाऽन्यथा वाऽऽयुर्बन्धस्य कादाचित्कत्वाज्ज्ञेयः । न च नरकप्रायोग्यं बध्नतां तेषां ध्रुवबन्ध्याद्युत्कृष्टस्थितिं बध्नतामुत्कृष्टसंक्लेशगतत्वेन '**अत्यन्तसंक्लिष्टानामायुर्बन्धाभावाद्**' इति वचनतः प्रतिषिद्ध-आयुःप्रकृतिबन्धः, एकेन्द्रियप्रायोग्य बध्नतां तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्य बध्नता वा देवानां प्रकृतिबन्ध-विरोधादेव न नरकायुर्बन्ध इति नरकायुषः स्याद्बन्ध इति दुर्वच इति **वाच्यम्** , यत एकस्मिन्

स्थितिबन्धस्थानेऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशपरिमिता अध्यवसायास्तन्निर्वर्तकत्वेन व्यवस्थिताः, **तदुक्तम्**–'पइठिइबंधमसखा लोगा अट्टण्ह अज्झवसणाण' मिति। तन्मध्ये उत्कृष्टस्थितिबन्धप्रायोग्याऽध्यवसायेषु एक एवाध्यवसायः सर्वसंक्लिष्टः, न शेषाः, यतो भणितमोहनीयाद्योघिकोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वं भणता **शतककृता**–'उक्कोससंकिलेसेण ईसिमहमज्झिमेणावि' इति। ततश्च यदा ध्रुवबन्धाद्युत्कृष्टस्थितिबन्धस्य स्वामी तद्बन्धप्रायोग्याऽसंख्येयलोकपरिमिताध्यवसायानां चरमेऽध्यवसाये वर्तते तदा सर्वसंक्लिष्टः सन्न बध्नाति नरकायुः, परं यदा तेष्वेवाध्यवसायेषु ये मन्द मन्दतरा मन्दतमा अध्यवसायास्तत्र वर्तमानः सन् बध्नात्यपीति न किञ्चिद् दुर्वचः। **न चैवं** तर्हि ध्रुवबन्ध्याद्युत्कृष्टस्थितेर्बन्धकस्तिर्यग्गतिप्रायोग्यं बध्नन् तिर्यगायुरपि बन्धीयात्, को दोषः इति **वाच्यम्**, नरकेतराऽऽयुःप्रकृतीनां नरकायुरपेक्षया विलक्षणत्वेन न भवति तद्बन्धः, का विलक्षणता? इति चेत्, स्थितिमपेक्ष्य तासां प्रशस्तत्वमिति; तथाच मतिज्ञानावरणीयादेर्यस्याः कस्या अप्यन्तःकोटीकोटीसागरोपमतोऽधिकस्थितिबन्धप्रायोग्याध्यवसायेषु सत्सु तासां नरकेतराऽऽयुःप्रकृतीनां बन्ध एव न भवति तदा मतिज्ञानावरणीयाद्युत्कृष्टस्थितिबन्धप्रायोग्याध्यवसायेषु सत्सु तु का वार्तेति। इत्थेवमन्यत्राऽपि नरकायुषः स्याद्बन्धे इतरायुषामबन्धे च परिभावनीयम्।

ध्रुवबन्ध्याद्युत्कृष्टस्थितिं बध्नतस्तदानीमवश्यंभाविबन्धानां शेषध्रुवबन्धिनीनां नरकगत्यादीनां स्याद्बन्धिनीनां च सर्वासां यथोक्तानामायुर्वर्जानामुत्कृष्टाया अनुत्कृष्टाया वा स्थितेर्बन्धस्तु सुगमः; षष्ठनियमानुसारेण प्रागिव प्रसाधनीयः, नरकायुष एकविधाया उत्कृष्टस्थितेरेव बन्धस्तु तदीयसमयोनाद्युत्कृष्टस्थितेरध्यवसायानामपि प्राक् शेषप्रकृत्यन्तःकोटीकोटीसागरोपमस्थितिबन्धप्रायोग्याध्यवसायैः सममेव निवृत्तत्वात्, एवं नरकायुष एव स्याद्बन्धः, न त्वितरायुषामित्यत्राऽपि शेषायुष्काध्यवसायानां तदन्यप्रकृत्यन्तःकोटीकोटीसागरोपमस्थितिबन्धप्रायोग्याध्यवसायैःसहैव विनिवृत्तत्वादिति हेतुर्बोध्यः। **न च** ध्रुवबन्ध्याद्युत्कृष्टस्थितिबन्धप्रायोग्याध्यवसायान् यावद् यदि नरकायुष्काध्यवसायसम्भवश्चेत् तदा 'आयुर्बन्धो घोलनपरिणामेन जायते, नान्यथा' इति नियमो व्याहन्येतेति **वाच्यम्**, ध्रुवबन्ध्याद्युत्कृष्टस्थितिबन्धप्रायोग्याध्यवसायानामसंख्येयलोकराशिप्रमाणत्वेन तेषु कांश्चित् चरम-द्विचरमादिलक्षणानध्यवसायान् विहाय ये मन्द-मन्दतरा ईषन्मध्यमसंक्लेशास्तत्सद्भावे आयुर्बन्धप्रवृत्तर्नास्ति यथोक्तनियमव्याघातापत्तिरिति सुधिया विवेचनीयमिति। अबाधा तु भजनीया इति सुगमः तस्या वेद्यमानायुरवशेषाधीनत्वेन संक्लेश-विशुद्धिलक्षणाऽध्यवसायानधीनत्वादिति। ध्रुवबन्ध्यादित्रिषष्ट्यन्यतमोत्कृष्टस्थितिं बध्नतस्तच्छेषध्रुवबन्ध्यादीन्नरकद्विकाद्याअष्टादश च विहाय शेषाणां सातवेदनीयादीनामनुक्तत्वादबन्धस्तु प्रथमनियमतृतीयनियमप्रथमांशादिना यथासम्भवमभ्यूह्यः स्वयमेव। **तद्यथा**–ध्रुवबन्ध्यादयः प्रधानतयाऽधिकृताःप्रत्येकं प्रकृ-

तयः वर्गोत्कृष्टाः, तथा च तृतीयनियमप्रथमांशान्न भवति सातवेदनीयादीनामवर्गोत्कृष्टस्थितिकानां बन्ध इत्येवमन्यत्राप्यभ्यूह्योऽनुक्तत्वेन प्रतिपिद्धबन्धानां बन्धप्रतिषेधः, तत्तन्नियममवलम्ब्य पूर्वोक्तनीत्येतिनेह पुनः प्रपञ्चयिष्यते ग्रन्थविस्तरभयात्पूर्वं सुप्रपञ्चितत्वाच्चेति ॥११५५ ५७॥

तदेवं भणितो ध्रुवबन्धिन्य-ऽसावेदनीया-ऽरति-शोक-नपुंसकमोहनीय हुंडसंस्थान परघातोच्छ्वास-बादरत्रिक-दुःस्वरवर्जाऽस्थिरपञ्चक- नीचैर्गोत्रलक्षणत्रिषष्टिप्रकृतिप्राधान्येन परस्थानोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्ष ओघतः। सम्प्रति क्रमप्राप्तसातवेदनीयप्रधानं तं साक्षाद्दर्शयन् हास्य-रतिमोहनीयप्रधानमतिदिशंश्चाहाऽऽर्यात्रयम्—

अथ सातवेदनीयादि प्राधान्येनौघतः प्रस्तुतसन्निकर्षमाह —

सायस्स जेट्ठबंधी गुरुमगुरु व रइ-हस्स-पुरिसाणं। सुरदुग-वइर-सुहागिइ-खगइ थिरछगु-च्चगाण सिआ॥
संघयणागिइचउग-विगल-सुहुमतिगाए संखभागूणं। बंधइ सिआ ठिइं थी-मणुयदुगाणं तिभागूण॥
णियमा धुवबंधीणं दुभागहीण सिआऽण्णतीसाए। विण दस उ असायाई एवं होइ रइ-हस्साणं॥
॥११५८-६०॥

(प्रे०) "**सायस्से**" त्यादि, अक्षरार्थः सुगमः, केवलं-"**ऽण्णतीसाए विण दस उ असायाई**" त्ति असातवेदनीयम्, आयुष्कचतुष्टयम्, नरकद्विकम्, आहारकद्विकम् जिननाम चेत्येवं लक्षणा दश प्रकृतिर्वर्जयित्वाऽन्यासां "रइ-हस्स-पुरिसाण" इत्यादिनोक्तोद्धरितानां तिर्यग्गत्यादीनां त्रिंशतः प्रकृतीनाम्। **भावार्थस्त्वयम्**—प्रधानतयाऽधिकृता सातवेदनीयप्रकृतिर्द्विभागोनवर्गोत्कृष्टस्थितिका, तथा चाऽनन्तरोक्ता असातवेदनीयादिदशप्रकृतीर्विहाय शेषसर्वा बन्धप्रायोग्याः, असातवेदनीयादीनामबन्धस्तु यथासम्भवं विरोधित्वादन्तःकोटीकोटीसागरोपमतोऽधिकस्थितिबन्धप्रायोग्येष्वध्यवसायेषु सत्स्वबन्धाच्च, तत्राऽसातवेदनीय-नरकत्रिकयोर्विरोधित्वाच्छेषाणां त्वन्यथेति। तत्र प्रथमादिनियमप्रसरो विज्ञेयः। विहाय प्रकृतिदशकं शेषासु ध्रुवबन्धिनीनामेव नियमबन्धो भवति, न शेषाणाम्, कुतः? शेषसर्वासां स्वप्रतिपक्षप्रकृतिसहितत्वादिना यथासम्भवं चतुर्थनियमद्वितीयांशस्य पञ्चमनियमस्य च प्रसरादिति। "**रइहस्से**"त्यादिना '**थिरछगुच्चगाण**'इत्यन्तेन संगृहीतानां पञ्चदशप्रकृतीनामुत्कृष्टादिद्विविधाऽन्यतरस्थितेर्बन्धस्तु तासां सातवेदनीयेन तुल्यस्थितिकतया सप्तमनियमद्वितीयांशस्पर्शात्। एवमेव "**संघयणे**" त्यादिना संगृहीतानां चतुर्दशानां "**थीमणुयदुगाण**" मित्यनेन संगृहीतानां स्त्रिवेदादीनां तिसृणां च यथाक्रमं संख्येयभागेन त्रिभागेन च न्यून उत्कृष्टस्थितिबन्धस्तु सप्तमनियमतृतीयांशविषयात्तथा ध्रुवबन्धिनीनां '**ऽण्णतीसाए**' इत्यनेन समुच्चितानां तिर्यग्गत्यादीनां च द्विभागोनोत्कृष्टस्थितिबन्धस्तासां वर्गोत्कृष्टतया सप्तमनियमप्रथमांशसंस्पर्शाद्विज्ञातव्यः, अत्र ध्रुवबन्धिनीनां नियमतो बन्धः, त्रिंशत्प्रकृतीनां तु स्याद्बन्धो विज्ञेयः। इह सर्वत्र विस्तरभावना तु स्वयमेव कार्येति। "**एवं होइ रइहस्साण**" मित्यनेन कृताऽतिदेशव्याख्यानेऽपि सर्वं सातवेदनीयप्रधानसंनिकर्षवदेव वाच्यम्, केवलं सातवेदनीयस्थाने रत्यादे

रत्यादेः स्थाने सातवेदनीयस्य च ग्रहण कार्यमिति विशेषतस्तु रति हास्ययोः प्राधान्ये तद्युग्मस्य नियतबन्धः, तत्प्रतिपक्षभूतयोः शोकारत्योरबन्धश्च वाच्यः प्रागिवेति ॥११५८-६०॥

अथ स्त्रीवेदप्राधान्येन प्रस्तुतपरस्थानोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षमाहौघतः—

थीगुरुबधी बंधइ गुरुमगुरुं वा सिआ णरदुगस्स । संखंसूणं पचम-चउत्थ संघयणआगिईण सिआ ॥ धुवबंधि-असाय-अरइ-सोग पणिंदिय उरालियदुगाणं । परघू-सास-तसचउग-कुखगइ-अथिरछग-णीआणं सडसट्ठीए णियमा चउभागूण ठिइ तु बंधेइ । पंचण्ह सिआ तिरिदुग-छिवट्ठ उज्जोअ-हुंडाणं ॥
(प्रथमागीतिः) ॥११६१-६३॥

(प्रे०) "**थीगुरुबंधी**" इत्यादि, कण्ठ्याः, केवलं तृतीयगाथास्थं '**चउभागूणं ठिइं तु बंधेइ**" इत्येतावद् देहलीदीपकन्यायेन पूर्वमिवोत्तरमपि सम्बध्यते, "**धुवबंधि**" इत्यनेन सप्तचत्वारिंशत्प्रकृतयश्च ग्राह्याः, परस्थानतः प्रस्तुतत्वात् । उपपत्तिरप्यनन्तरोक्तनीत्या स्वयमेव प्रधानीकृतस्त्रीवेदप्रकृत्युत्कृष्टस्थितिबन्धमानाद्यनुसृत्य कार्येति ॥११६२-६३॥

अथ पुंवेदमधिकृत्य साक्षादुच्चैर्गोत्रमधिकृत्यातिदेशेन चाह प्रस्तुतपरस्थानोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षमोघतः—

गुरुमगुरु व सिआ पुमगुरुबधो य रइ-हस्स-सायाण । सुरदुग-वइर-सुहागिइ सुखगइ थिरछक्क-उच्चाणं णियमा धुव पचिंदिय-परघा-ऊसास तसचउक्काण । बंधइ दुभागहीण सिआ असायाइवीसाए ॥ संघयणआगिईणं संखसूण सिआ तिभागूणं । मणुयदुगस्सेमेवुच्चस्स परं णेव तिरिदुगुज्जोआ ॥
(तृतीया गीति) ॥११६४ ६६॥

(प्रे०) "**गुरुमगुरुं वे**" त्यादि, तत्र "**असायाइवीसाए**" इत्यनेन असातवेदनीय-शोका-ऽरतिमोहनीय-तिर्यग्द्विकौदारिकद्विक वैक्रियद्विक-चरमसंहनन-संस्थान-कुखगत्यु द्योता ऽस्थिर-षट्क-नीचैर्गोत्रलक्षणा असातवेदनीयादयो विंशतिः प्रकृतयो बोध्याः, तथा "**संघयणआगिईणं**" इत्यनेन मध्यमसंहननचतुष्टय-मध्यमसंस्थानचतुष्टयलक्षणा अष्टौ प्रकृतयोऽवसातव्याः, शेषं तु सुगमम् । **ननु** कुतो ज्ञायतेऽशातवेदनीयाद्यास्ता एव विंशतिः, एवं मध्यमसंहननाद्या एवैताः ? **इति चेत्**, ओघतः पुरुषवेदस्याऽधिकृतत्वेन तदधिकस्थितिक तदविरुद्धोक्तशेषप्रकृतितया-तासामेव लाभात् । **अयम्भाव.**—पुंवेदप्रकृतिर्हि द्विभागोनवर्गोत्कृष्टस्थितिका, तस्या उत्कृष्टस्थितिं बध्नता पूर्वोक्तनियमानुवृत्या वर्गोत्कृष्टस्थितिकानामेव द्विभागोनोत्कृष्टस्थितिबन्धः क्रियते, "**बधइ दुभागहीणं सिआ असायाइवीसाए**"इत्यनेनाऽसातवेदनीयाद्या याः प्रकृतयोऽधिकृतास्तासां द्विभागोनोत्कृष्टस्थितिबन्धेन भवितव्यम्, तथाच 'असातवेदनीयादि' इत्यत्राऽऽदिपदेन ग्राह्याः प्रकृतयोऽसातवेदनीयवद्वर्गोत्कृष्टा एव स्युः, तत्र च "**धुव पणिंदिये**"त्यादिना ध्रुवबन्ध्याद्या वर्गोत्कृष्टा गृहीताः, नपुंसकवेदाद्या वर्गोत्कृष्टा अगृहीता अपि ताः पुंवेदबन्धेन विरुद्धा इत्यग्राह्यास्तथा-चाऽवशिष्टा यथोक्ता अशातवेदनीय-शोका-ऽरत्याद्या इति ज्ञायन्तेऽशातवेदनीयाद्या एता एव विंशतिः।

एवं पुंवेदस्य द्विभागोनवर्गोत्कृष्टतया तदविरुद्धाः सम्यक्त्वादिप्रत्ययजिनाहारकद्विकवर्जाः शेषसर्वाः प्रकृतयस्तदीयोत्कृष्टस्थितिं बध्नतः प्रायोग्यास्तत्र "वइर सुहागिइ" इत्यनेन प्रथमसंहनन-संस्थानयोरसातवेदनीयादिविंशत्यन्तर्गततया चरमसंहनन संस्थानयोश्च प्रागुक्तत्वात् शेषमध्यमसंहनन-संस्थानप्रकृतीनामवशिष्टत्वात्पुरुषवेदबन्धेनाऽविरुद्धत्वाच्च "संघयणआगिईण" मित्येतावन्मात्रे भणितेऽपि तेन मध्यमसंहनन-संस्थानलक्षणा अष्ट प्रकृतयो ज्ञायन्ते । वस्तुतस्तु–विवृततथाविध-नियमानां मूलकृता प्राक् कुत्राऽप्यभणितत्वेन "असायाइवोसाए" इत्यत्राऽऽदिपदग्राह्याणां शोका-ऽरत्यादीनामसातवेदनीयगणतया कुत्राऽपि प्रस्तुतशास्त्रेऽप्रसिद्धत्वेन, एवमेव "संघयणआगिईणं" इत्यनेन मध्यमसंहनन-संस्थानानां कुत्रचिदपरिभाषितत्वेन च दर्शितसर्वप्रतिपत्तेर्व्याख्यान-विषयता एव बोध्येति । इत्थमेवान्यत्रापि मुकुलिताभिधाने व्याख्याविषयता विज्ञेया, सा चोक्त-नीत्या निर्वाह्या इति । तृतीयगाथाप्रान्ते "एमेवुच्चस्स परं" इत्यादिनोच्चैर्गोत्रप्रधानसंनिकर्ष-प्रतिपादनं विज्ञेयम्, तत्र "परं णेव तिरिदुगुज्जोआ" इत्यनेनाऽपवादकथनं प्रकृतिसंनिकर्षेणैव गतार्थमिति ।।११६४-६६।।

अथ नरकायुःप्रकृतिप्राधान्येन प्रस्तुतं संनिकर्षमाह—

णिरयाउजेट्ठबंधो णियमा गुरुमुअ असंखभागूणं । संखंसूण संखियगुणहीण वाऽण्णणिरयजोग्गाण ।।
(गीति) ।।११६७।।

(प्रे०) "णिरयाउ" इत्यादि, नरकायुष उत्कृष्टस्थितिं बध्नन् जीवः शेषाणां नरकप्रायोग्याणां सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिन्यशातवेदनीय-शोका ऽरति नपुंसकवेदमोहनीय-नरकद्विक-पञ्चेन्द्रियजाति-वैक्रियद्विक-हुंडसंस्थान-कुखगति-पराघातो-च्छ्वास त्रसचतुष्का-ऽस्थिरषट्क-नीचैर्गोत्रलक्षणानामेकमप्ततेः प्रकृतीनां नियमाद्बन्धको भवति, स्थितिं तु तासामेकमप्ततेरुत्कृष्टां वाऽनुत्कृष्टां वा बध्नाति, तत्रानुत्कृष्टामुत्कृष्टापेक्षयाऽसंख्यभागोनां संख्येयभागोनां संख्येयगुणोनां वेत्येवं त्रिविधान्यतमविकल्पगतां बध्नाति; तत्र त्रिविकल्पगतत्वं तु समयोनोत्कृष्टस्थितिकनरकायुष्कं बध्नतो बध्यमानतदन्यप्रकृतीनामन्तःकोटीकोटीसागरोपमस्थितिबन्धभावेन ततोऽधिकस्थितिं बध्नतामुत्कृष्टस्थितिकनरकायुषः एव बन्धसम्भवात्, अन्तःकोटीकोटीसागरोपमतोऽधिकस्थितीनां त्रिविकल्पगतत्वाच्चेति ।।११६७।।

अथ तिर्यगायुःप्रकृतिप्राधान्येन प्राह प्रस्तुतं संनिकर्षम्—

सायियर-दुवेअजुगल-उज्जोअ-थिराइतिजुगलाण सिआ । तिरियाउजेट्ठबंधी बंधेइ संखेज्जगुणहीण ।।
धुव तिरिदुग-णीआणं सेससुहपणिंदितिरियजोग्गाणं । पचदसण्ह य णियमा बंधइ संखेज्जगुणहीण ।।
।।११६८-६९।।

(प्रे०) "सायियरे" त्यादि, तत्र "सायियर" इत्यनेन सात-ऽसातवेदनीये गृहीते, तथा "दुवेअजुगल" इत्यत्र दुशब्दस्य वेदयुगलयोः प्रत्येकमभिसम्बन्धाद्व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेश्च युगलधर्मिप्रायोग्यं स्त्री-पुंवेदद्वयलक्षणं प्रकृतिद्वयम्, हास्य-रति शोका-ऽरती इत्येवं युगल-

द्वयं चेति षट् मोहनीयप्रकृतयो गृहीता बोद्धव्याः; शेषं तु सुगमम् , केवलं **"सेससुहपणिंदि-तिरियजोग्गाणं"** इत्यनेन संगृहीताः **"साथि"** इत्यादिप्रोक्तशेषाः शुभाः पञ्चेन्द्रियतिर्यक्-प्रायोग्याः पञ्चदश प्रकृतय इमाः—पञ्चेन्द्रियजात्यौदारिकद्विक-प्रथमसंहनन-प्रथमसंस्थान सुखगति-पराघातो-च्छ्वास-त्रसचतुष्क-सुभग-सुस्वरा-ऽऽदेयनामलक्षणा ज्ञेयाः । उपपत्तिस्तु सुगमा, तिर्यगायुष उत्कृष्टस्थितेः शुभत्वेन तां बध्नतः शेषबध्यमानसर्वप्रकृतीनां स्थितेरन्तःकोटीकोटीसागरोपममानत्वात् तावत्प्रमाणायास्तस्यास्तत्तत्प्रकृत्योघोत्कृष्टस्थित्यपेक्षया संख्येयगुणहीनत्वाच्च, नियमस्याद्बन्धादिकं तु बाहुल्यतः प्रकृतिबन्धसंनिकर्षेणैव गतार्थम् , कासाञ्चित्तु प्रस्तुतेन स्थितिबन्धसंनिकर्षेण, यथा—तिर्यगायुरुत्कृष्टस्थितिं बध्नतो केवलयुगलधर्मिप्रायोग्यस्यैव बन्धभावेन नपुंसकवेदादेरनिर्देश इति । **इदंत्ववधेयम्**—अत्र द्वितीयगाथागत 'धुव' इत्यनेन सप्तचत्वारिंशदपि ध्रुवबन्धिनीप्रकृतयो गृहीता-स्तथाच मिथ्यात्वस्य नियतबन्धः प्राप्तः,किञ्च सास्वादनास्तिर्यगायुष्कस्योत्कृष्टस्थितिं बध्नन्ति तेन मिथ्यात्वस्य स्याद्बन्धो भवितुमर्हति, एवमपि यथा सास्वादना ओघतस्तिर्यग्गत्यादिमार्गणासु च तस्यैवोत्कृष्टस्थितिबन्धकतया स्वामित्वद्वारे न विवक्षितास्तथैवात्रापि तत्त्वेनानधिकृता विज्ञेयाः। इत्थ-मेव मार्गणास्वपि यथासम्भवं विज्ञेयम्, तथा च नरकगत्यादिमार्गणासु तिर्यगायुष्कप्रधानोत्कृष्ट-स्थितिबन्धसंनिकर्षे मिथ्यात्वस्य स्याद्बन्धः कथं नोक्त इति शङ्काऽनवकाश इति ।।११६८-६९।।

अथ मनुष्यायुष्कप्रकृतिप्राधान्येन प्राह—

मणुयाउजेट्ठबंधी थी-पुरिस-दुजुगल-वेअणीआण । तिथिराइगजुगलाणं सिआ ठिइं संखगुणहीणं ।।
धुवबंधीण तह जिणवज्जाणऽण्णसुहमणुयजोग्गाण । अट्ठारसण्ह णियमा बंधइ सखेज्जगुणहीण ।।
।।११७०-७१।।

(प्रे०) **"मणुयाउ"** इत्यादि, तत्र **"दुजुगल वेअणीआणं"** इत्यत्र द्विशब्दः प्रत्येकम-भिसम्बध्यते, तेन हास्यादियुगलद्वयं साता-सातवेदनीये चेति प्रकृतिषट्कं संगृहीतं विज्ञेयम् , शेषं तु सुगमम् , उपपत्तिस्त्वनन्तराभिहिततिर्यगायुष्कप्रकृतिप्रधानसंनिकर्षवत्कार्या, केवलमिह **"जिण-वज्जाणऽण्णसुहमणुयजोग्गाणं अट्ठारसण्ह"** इत्यनेनाऽष्टादशप्रकृतीनां संग्रहो मनु-ष्यद्विकोच्चैर्गोत्रलक्षणप्रकृतित्रयस्याऽधिकतः शेषशुभप्रकृतित्वेन लाभादिति ।।११७०-७१।।

साम्प्रतं देवायुष्कप्रकृतिप्राधान्येन प्राह प्रस्तुतपरस्थानोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षम्—

व सुराउजेट्ठबंधी जिणस्स सखगुणहीणग णियमा । पुम-रइ हस्सि-गतीसधुवा-ऽहारदुगूणसुसुरजोग्गाणं
।।११७२।। (गीतिः)

(प्रे०) **"व सुराउ"** इत्यादि, देवायुष्कोत्कृष्टस्थितिं बध्नन् जीवो जिननाम्नः **"व"** त्ति 'वा' स्याद्बन्धको भवति, सुगमम् । स्थितिं पुनस्तस्य नियमतः संख्येयगुणहीनोत्कृष्टां बध्नाति, एतदपि सुगमम् , प्रस्तुतबन्धकस्य संयतत्वात् , जिननाम्न ओघोत्कृष्टस्थितेस्तु मिथ्यात्वाभिमुखाऽविरत-सम्यग्दृष्टिस्वामिकतया संयतबन्धप्रायोग्यस्थित्यपेक्षया संख्येयगुणत्वाच्चेति । **"पुमे"** त्यादि सुग-

वर्षसमयमितत्वाच्चेति । ततो द्विगुणहान्योरेकस्मिन्नन्तरे यानि निषेकस्य स्थानानि तान्यसंख्य-गुणानि, भवन्तीत्यनुवर्तते, कुतः ? पल्योपमासंख्येयप्रथमवर्गमूलप्रमाणत्वात् । "तो कण्ड-**गमत्थेण**"मिति ततोऽर्थेन कण्डकम् , एकस्याऽबाधाकण्डकस्य परिमाणम् , विवक्षितैकाबाधायां बन्धप्रायोग्यस्थितिबन्धस्थानसमूह इति यावत् । उक्तं च **कर्मप्रकृतिचूर्णा**वपि-'अत्थेणकंडं" ति एगं अबाहाकंडगपरिमाण" इति । तच्च "**असंखगुणं**' ति असंख्येयगुणं भवति । तस्मादसंख्येय-गुणानि स्थितिबन्धस्थानानि, सुगमम् ,अर्थेन कण्डकस्य पल्योपमासंख्येयभागमात्रत्वात् , अमीषां स्थितिबन्धस्थानानां त्वन्तर्मुहूर्तोनत्रिंशत्कोटीकोट्यादिसागरोपमप्रमाणत्वादिति । तेभ्यः "**ऽब्भ-हियो परमठिइबंधो**" त्ति 'परमः' उत्कृष्टः स्थितिबन्धः 'अभ्यधिकः' विशेषाधिको भवति । कुतः ? अन्तर्मुहूर्तप्रमाणजघन्यस्थितिबन्धस्याप्यत्र प्रवेशेनास्य परिपूर्णत्रिंशत्सागरोपमकोटीको-ट्यादिप्रमाणत्वादिति ॥५७-६० ।

अथ **पर्याप्तसंज्ञिजीवभेदे** शेषप्रकृतीनां तथा शेषत्रयोदशजीवभेदेषु सर्वप्रकृतीनां प्रस्तुतं स्थितिबन्धस्थानादिपदानामल्पबहुत्वं मूलप्रकृतिसत्कस्थितिबन्धस्थानादिपरस्थानाल्पबहुत्वेन तुल्य-मिति कृत्वा लाघवार्थमतिदिशति—

पज्जत्तसण्णिभेए सेसाणं सेसजीवभेएसुं ।
सव्वाणं पयडीणं णायव्वं मूलपयडिव्व ॥ ६१ ॥

(प्रे०) "**पज्जत्तसण्णिभेए**" इत्यादि, अधिकृते पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाख्ये जीवभेदे "**सेसाणं**" ति अनन्तरोक्ता द्वाविंशतिप्रकृतीर्विवर्ज्य शेषाणां निद्राद्यष्टनवतिप्रकृतीनां प्रत्येकं, तथा '**सेसजीवभेएसु**'" ति शेषेषु त्रयोदशजीवभेदेषु '**सव्वाणं पयडीणं**' ति तत्तज्जीवभेदे बन्ध-प्रायोग्याणां सर्वासां मतिज्ञानावरणादिप्रकृतीनां "**णायव्वं मूलपयडिव्व**" ति प्रकृतं स्थिति-बन्धस्थानादिपदानां परस्थानाल्पबहुत्वं '**मूलप्रकृतिवत्**'—**मूलप्रकृतिस्थितिबन्धविधान-**प्रथमाधिकारे चतुर्थेऽल्पबहुत्वद्वारे "पज्जेयरसण्णीसुं सत्तण्हऽथा जहण्णाऽबाहा' इत्यादिना गाथा-षोडशकेनाऽभिहितमूलप्रकृतिसत्कस्थितिबन्धस्थानादिविषयकाल्पबहुत्ववज्ज्ञातव्यमित्यर्थः ।

तद्यथा—पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियजीवभेदे सर्वा अपि प्रकृतयो बन्धप्रायोग्याः सन्ति, तत्र मतिज्ञानावरणादिद्वाविंशतिप्रकृतिस्थितिबन्धस्थानादिविषयकमल्पबहुत्वमनन्तरमेव दर्शितम् , अतस्ता द्वाविंशतिप्रकृतीरायुश्चतुष्कं च विवर्ज्य निद्रादीनां चतुर्नवतिप्रकृतीनां प्रत्येकम् , तथाऽपर्याप्तसंज्ञिजीव-भेदेऽपि बन्धप्रायोग्याभ्यो निरयगति-निरयानुपूर्व्याहारकशरीरा-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्ग-निरयायुर्देवायू-रहिताभ्यश्चतुर्दशोत्तरशतप्रकृतिभ्यस्तिर्यङ्मनुष्यायुषी विवर्ज्य मतिज्ञानावरणादिद्वादशाभ्यधिकशत-प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्याबाधा सर्वस्तोका, ततोऽबाधास्थानान्यबाधाकण्डकानि च प्रत्येकं संख्येय-गुणानि, परस्परन्तु तानि तुल्यानि, तदन्यतरेभ्य उत्कृष्टाबाधा विशेषाधिकाः, ततो निषेकस्य

रत्यादीः प्रकृतीस्तु न बध्नात्येव, केवलमिह श्रुतज्ञानावरणादिचतुष्टयवन्मतिज्ञानावरणमपि नियमादुत्कृष्टादिद्विविधस्थितिकं बन्धविषयत्वेन ग्राह्यम्, तत्र मतिज्ञानावरणस्य प्रधानीकृतत्वेन तद्ग्रहेऽपीह नरकगत्यादिप्रकृतेः प्रधानतया तद्ग्रहणसम्पत्तेः, अत एव मूले '**मइणाणावरणव्व**' इत्यनभिधाय "**णाणावरणव्व**" इति भणितम्, तथाच चालनीन्यायेन मतिज्ञानावरणप्रधानविवक्षायां श्रुतज्ञानावरणादीनामिव श्रुतज्ञानावरणप्रधानविवक्षायां मतिज्ञानावरणस्यापरिहार एव, यद्वा व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेः प्रागिव सर्वविधज्ञानावरणप्रकृतेरप्रतिषेधो बोध्यो बन्धविषयतयेति । निरपवादातिदेशद्वयेनैव प्रस्तुतप्रकृतीनामन्यूनसंनिकर्षोपपत्तिस्तु नामप्रकृतीनां सुगमा, एकविधनामप्रकृतेरन्यविधनामप्रकृतीरपेक्ष्य स्वस्थानत्वानतिक्रमात् ।

ननु भवत्वेवं नामप्रकृतीरपेक्ष्य स्वस्थान-परस्थानसंनिकर्षयोरविशेषतया "**णामाण सठाणव्व**" इति निरपवादातिदेशः, न पुनर्मतिज्ञानावरणादीनां नरकगत्यादिप्रकृतीनां च तथा साम्यम्, मतिज्ञानावरणाद्युत्कृष्टस्थितिं बध्नतो नरकगतिवत्तिर्यग्गतिप्रायोग्यस्याऽपि बन्धभावाद् ? **इति चेद्, सत्यम्**, परमेवमपि न कश्चिद्दोषः,कुतः ? तत्तद्गतिजात्यादिप्रायोग्यत्वेन नामप्रकृतीनां भिन्नत्वेऽपि नामेतरप्रकृतीनां समानत्वात्, न चोच्चैर्गोत्राद्यधिकृत्यास्ति भेद इति वाच्यम्, तथात्वेऽपि तिर्यग्गतिनरकगत्यादिप्रायोग्याणां त्वविशेष एव,अतिदेशोऽपि मतिज्ञानावरणादिप्रधानसंनिकर्षेण समं नामेतरप्रकृतीनामेव कृत इति सर्वं सुस्थमिति । उपपत्तिस्तु यथा नामप्रकृतिप्रधानस्वस्थानसंनिकर्षे मतिज्ञानावरणादिप्रधानपरस्थानसंनिकर्षे च प्राक्कृता तथा स्वयमेव कार्याऽविशेषेणेति ॥११७३॥

अथ तिर्यग्द्विकप्रधानस्योत्तरत्र 'सेसाणं णामाण' इत्यादिना (गाथा-११८२) वक्ष्यमाणत्वात्तद्विहाय मनुष्यद्विकप्राधान्येन प्राह प्रस्तुतं परस्थानोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षम्–

सट्ठाणव्व मणुयदुगवधी णामाण थिव्व अण्णेसिं । थीए गुरुमगुरुं वा सिआ णपुंसचउभागूण ॥११७४॥

(प्रे०) "**सट्ठाणव्व**" इत्यादि, अक्षरार्थः सुगमः, तत्र नाम्नां स्वस्थानवदतिदेशोऽनन्तरोक्तनीत्या, प्रधानीकृतमनुष्यद्विकस्य नामप्रकृतिभेदत्वात् । एवमेवोत्तरत्रापि नामभेदप्रधानत्वे नाम्नां स्वस्थानवदभ्यूह्यः । नामवर्जानां पुनः स्त्रीवेदप्रधानपरस्थानोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षवत्तु स्त्रीवेदवन्मनुष्यद्विकौघोत्कृष्टस्थितेश्चतुर्भागोनवर्गोत्कृष्टत्वात् । **ननु** एवमपि स्त्रीवेदस्य नपुंसकवेदेन समं प्रकृतिबन्धविरोधान्मा भवतु स्त्रीवेदप्रधानसंनिकर्षे नपुंसकवेदबन्धः, मनुष्यद्विकेन तु तदविरोधान्न प्रतिषेध्यो मनुष्यद्विकप्रधानसंनिकर्षे नपुंसकवेदबन्धः; तथाच तदीयस्थितिबन्धोऽपि वाच्य एव ? **इति चेद्**, अत एव "**थीए**" इत्यादिनोक्तं गाथोत्तरार्धमपवादतया, तच्च सुगममिति ॥११७४॥

अथ देवद्विकप्राधान्येन प्रस्तुतमधिकपरस्थानोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षमाह––

मम्, केवलं "**सव्वगुणहीणगं णियमा**" इत्येतत्पूर्वोक्तन्यायादिहाऽपि सम्बध्यते। एकत्रिंशद्ध्रुवबन्धिन्य आहारकवर्जदेवगतिप्रायोग्यप्रशस्तप्रकृतयश्चेमाः-ज्ञानावरणपञ्चक दर्शनावरणचतुष्क-निद्राद्विक-भयजुगुप्सा-संज्वलनचतुष्टय-नामध्रुवबन्धिनवका-ऽन्तरायपञ्चकानीत्येकत्रिंशद्ध्रुवबन्धिन्यः, सातवेदनीय देवद्विक-पञ्चेन्द्रियजाति वैक्रियद्विक-समचतुरस्रसंस्थान-सुखगति-पराघातो-च्छ्वास-त्रसदश-कोच्चैर्गोत्राणीत्येकविंशतिराहारकवर्जदेवगतिप्रायोग्यप्रशस्तप्रकृतयः। यद्यपि जिननामप्रकृतिराहारकद्विकवर्जदेवप्रायोग्यप्रशस्तप्रकृत्यन्तःप्रविष्टैव तद्वर्जनं चाऽऽहारकद्विकवन्नोक्तम्, तथाच तेन समन्विता द्वाविंशतिर्भवति, तथाऽपि तस्याः पूर्वं "**जिणस्स**" इत्यनेन भणितत्वात्तामपि विहायैकविंशतिर्भणिता इति ज्ञेयम्। **ननु** कथमाहारकद्विकवर्जनम्? **इति चेद्**, उत्कृष्टाबाधाऽधीनस्य देवायुष्कोत्कृष्टस्थितिबन्धस्य प्रमत्तसंयतस्वामिकत्वात् प्रमत्तसंयतानामाहारकद्विकबन्धाऽस्वामित्वाच्चेति ॥११७२॥

तदेवं भणित आयुःसर्वोत्तरप्रकृतिप्रधानः प्रस्तुतसंनिकर्षोऽपि, अथ क्रमप्राप्तनामोत्तरप्रकृतिप्रधानं तमभिधित्सुर्नरकगतिप्रधानेन तेन तुल्यवक्तव्यत्वान्नरकानुपूर्व्यादिप्रकृतिप्रधानमपि तं युगपदाह—

बंधइ णिरयविउव्वदुग-पणिंदि तस-कुसरखगइगुरुबंधी। णामाण सठाणव्व उ णाणावरणव्व अण्णेसिं ॥
॥११७३॥

(प्रे०) "**बंधइ**" इत्यादि, तत्र "**णिरये**" त्यादिना नरकद्विक वैक्रियद्विक-पञ्चेन्द्रियजाति-त्रस-कुखगति दुःस्वरलक्षणाष्टप्रकृतिप्रधानः संनिकर्षः, तत्रैकस्या विवक्षितनरकगत्यादिप्रकृतेरुत्कृष्टस्थितिं बध्नतः "**णामाण सठाणव्व**" त्ति तदितरनामप्रकृतीनां बन्धो वाऽबन्धो वा स्याद्बन्धो वा, अथ बन्धः स्याद्बन्धो वा चेदुत्कृष्टस्थितेरनुत्कृष्टस्थितेर्वा, अथानुत्कृष्टस्थितेश्चेत् द्विभागोनोत्कृष्टायास्त्रिभागाद्यूनोत्कृष्टाया वेत्यादिसंनिकर्षस्तस्या नरकगत्यादेः प्रकृतेः प्राधान्येन स्वस्थानसंनिकर्षप्रस्तावे शेषनामप्रकृतीनां भणितो यथा—नरकगत्युत्कृष्टस्थितिं बध्नन् नरकप्रायोग्याणां शेषाणां सप्तविंशतेर्नामप्रकृतीनां प्रत्येकं नियमाद्बन्धको भवति, स्थितिं तु तासां सप्तविंशतेरुत्कृष्टामनुत्कृष्टां वोत्कृष्टापेक्षया समयादिना यावत्पल्योपमासंख्येयभागेन न्यूनां बध्नाति, उक्तेतरनामप्रकृतीस्तु न बध्नात्येवेत्येवमादिरूपोऽवगन्तव्यः। "**णाणावरणव्व अण्णेसिं**" ति असौ नरकगत्यादिविवक्षितप्रकृत्युत्कृष्टस्थितिं बध्नन् जीवो 'अन्यासाम्'नामप्रकृतीतरासां सम्भवद्बन्धानां मतिज्ञानावरणादिप्रकृतीनां तु तत्तन्मतिज्ञानावरणादिज्ञानावरणप्रकृतिप्रधानपरस्थानसंनिकर्षवद् बन्धकोऽबन्धकः स्याद्बन्धको वोत्कृष्टस्थितेरनुत्कृष्टस्थितेर्वा भवति यथा-मतिज्ञानावरणस्योत्कृष्टस्थितिं बध्नन् शेषश्रुतज्ञानावरणादिचतुष्टय-दर्शनावरणनवका ऽसातवेदनीय-मिथ्यात्व-कषायषोडशक--भय-जुगुप्सा--शोका-ऽरति-नपुंसकवेदमोहनीय--नीचैर्गोत्रा- ऽन्तरायपञ्चकलक्षणद्विचत्वारिंशत्प्रकृतीनां नियमाद्बन्धको भवति, स्थितिं च तासामुत्कृष्टामनुत्कृष्टां वा बध्नाति, तथा स एव नरकायुष्कं स्याद्बध्नाति, स्थितिं च तस्याऽनुभवयोग्यतालक्षणामुत्कृष्टामेव बध्नाति भाज्याऽबाधायाम्, उक्तशेषसातवेदनीय-हास्य-

स्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् विकलत्रिक-सूक्ष्मत्रिकलक्षणानां षण्णां प्रकृतीनामेकैकस्या उत्कृष्टां स्थितिं बध्नन् जीवस्तदन्यासां नामप्रकृतीनां बन्धाऽबन्धादिलक्षणं संनिकर्षं तत्तच्चतुर्थसंहननादिप्रधानस्व-स्थानौघिकोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षवत्करोति । सुगमं गतार्थं च । "णियमा" त्ति नामध्रुव-बन्धिनीनवकवर्जानां शेषमतिज्ञानावरणाद्यष्टात्रिंशद्ध्रुवबन्धिनीनामसातवेदनीय-शोका-ऽरति-नपुंसक-वेद-नीचैर्गोत्रप्रकृतीनां च नियमतः संख्येयभागोनोत्कृष्टस्थितेश्च बन्धको भवति, उक्तेतरसात-वेदनीयादिप्रकृतीस्तु न बध्नात्येव, सुगमं चैतत् , प्रधानीकृतचतुर्थसंहननाद्येकैकप्रकृत्युत्कृष्टस्थित्य-पेक्षया ध्रुवबन्ध्यादीनां त्रिचत्वारिंशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितेरोघतः संख्येयभागाधिकत्वात् सातवेदनीयादीनां शेषाणां तु तस्या न्यूनस्थितिकत्वाच्च । विशेषेणोपपत्तिस्तु पूर्वोक्तनियमकदम्ब-कानुसारेण प्रागिव स्वयमेव कार्येति ।।११७७।।

अथाऽनुक्तस्य द्वितीयादेः संहननद्वयस्य संस्थानद्वयस्य च प्राधान्येन प्राह प्रस्तुतम्—

दोण्हं दुइआइगाण गुरुबंधी । संघयणआगिईणं ठिइ सठाणव्व णामाण ।।
णियमा धुवबंधीण तह सोगा-ऽरइ-असाय-णीआणं । संखेज्जभागहीणं बंधेइ सिआ णपुम-थीणं ।।
।।११७८-७९।।

(प्रे०) "दोण्हं" इत्यादि, अक्षरार्थः सुगमः, उपपत्तिस्त्वनन्तरदर्शितनीत्याऽविशेषेण कार्या, केवलमिह नपुंसकवेदवत् स्त्रीवेदस्याऽपि ग्रहणं प्रधानीकृतद्वितीयसंहननाद्यौघिकोत्कृष्टस्थित्यपेक्षया स्त्रीवेदौघिकोत्कृष्टस्थितेरधिकत्वाद् ध्रुवबन्ध्यादिवत् , नपुंसकवेद-स्त्रीवेदयोर्द्वयोस्तथात्वे द्वयोरपीह स्याद्बन्धश्चेति ।।११७८-७९।। अथाऽऽहारकद्विकप्राधान्येन प्राह प्रस्तुतसंनिकर्षम्—

आहारदुगस्स गुरुं बंधतो बंधए सठाणव्व । णामाणं अण्णेसिं देवाउव्व खलु बंधेइ ।। ११८०।।

(प्रे०) "आहारदुगस्से" त्यादि, सुगमा ।।११८०।।

अथ जिननामप्राधान्येन निगदति प्रस्तुतसंनिकर्षम्—

सट्ठाणव्व उ जिणगुरुबंधी णामाण संखगुणहीणं । णियमा तीसधुव-अरइ-सोग-असाय-पुरिसु-च्चाण ।।
।।११८१।।

(प्रे०) "सट्ठाणव्वे" त्यादि, इयमपि सुगमा ।।११८१।।

अथोक्तशेषतिर्यग्गत्यादिप्रकृतिनवकप्रधानपरस्थानोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षाभिधानेन भण्य-मानौघिकोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षं समापयति—

सेसाण णामाण गुरुबंधी बंधए सठाणव्व । णिरयाउगवज्जाण णाणावरणव्व अण्णेसिं ।।११८२।।

(प्रे०) "सेसाणं" इत्यादि, इयमपि सुगमा, केवलं शेषनामप्रकृतयो नामत इमा नव–तिर्यग्द्विकौ-दारिकद्विक-सेवार्तसंहननै-केन्द्रिय-स्थावरा-ऽऽतपो-द्योतनामानि, ज्ञानावरणवदतिदेशकरणं तद्वत्तिर्यग्गत्यादीनामप्योघोत्कृष्टस्थितिकत्वात् , नरकायुषो वर्जनं तु नरकप्रायोग्यं बध्नत एव

सुरदुगगुरुठिइबंधी णामाण सठाणगव्व सेसाणं । णीअणपुमवज्जाणं सायव्व पुमव्व वेअणीआणं ॥११७५॥
(गीति)

(प्रे०) "सुरदुगगुरुठिइबंधी" इत्यादि, तत्र 'णामाण सठाणगव्व" इति गतार्थम् । "सेसाणं णीअणपुमवज्जाणं सायव्व" त्ति तत्र 'सेसाणं' ति नीचैर्गोत्रनपुंसकवेदयोर्वर्जनीयतयोक्तत्वाद् नामप्रकृतीनामनुपदं भणितत्वाद् वेदनीयप्रकृत्योस्त्वनुपदं वक्ष्यमाणत्वाच्च तद्वर्जाः प्रकृतयः-पञ्चज्ञानावरणानि,नवदर्शनावरणानि,देवगतिप्रायोग्यं बध्नतां नपुंसकवेदस्य बन्धाभावेन तद्वर्जा पञ्चविंशतिः मोहनीयप्रकृतयः,उच्चैर्गोत्रमन्तरायपञ्चकं चेत्येवं सर्वसंख्यया पञ्चचत्वारिंशत् तासां त्वसौ देवद्विकोत्कृष्टस्थितेर्बन्धकः 'सायस्स जेट्ठबंधी गुरुमगुरुं व रइहस्सपुरिसाण' इत्यादिना (गा० ११५८-६०) भणितसातवेदनीयप्रधानसंनिकर्षवद्भवेत् । अथ सातवेदनीयप्रधानसंनिकर्षे सातवेदनीयस्य प्रधानीकृतत्वाद् असातवेदनीयस्य तु प्रधानीकृतप्रतिपक्षभूतत्वाच्च "सायव्व"इति कृतेऽप्यतिदेशे साताऽसातवेदनीयसत्कस्याद्बन्धादिवक्तव्यताऽवशिष्टैवेति तामन्यातिदेशेनाह-"पुमव्व" इत्यादि, तथाच सातवेदनीयस्य स्यादुत्कृष्टामनुत्कृष्टां वा स्थितिं बध्नाति, असातवेदनीयस्य द्विभागोनोत्कृष्टां स्थितिमेव स्याद्बध्नाति चेति । उपपत्तिस्तु तत्तदतिदेशानुसारेण तत्तद्वृत्तिमवलोक्य कार्या स्वयमेव सुसाध्यत्वादिति ॥११७५॥

अथ क्रमावाप्तप्रथमसंहननप्राधान्येनाऽभिधित्सुः प्रथमसंस्थान-सुखगति-स्थिरषट्कप्रकृतिप्रधानमपि तत्तुल्यवक्तव्यत्वात् सममेवाह—

णामाण बधइ-सुहागिइखगइ थिरछग-वइरगुरुबंधी । सट्ठाणव्वऽण्णेसिं सायव्व पुमव्व वेअणीआण ॥
॥११७६॥(गीति)

(प्रे०) "णामाण"इत्यादि, अक्षरार्थस्तथा नामप्रकृतीनां स्वस्थानवदिति सुगमम् , नामप्रकृतिवर्जानां 'सायव्व' इत्यनेन सातवेदनीयपरस्थानोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षवदभिधाय साताऽसातलक्षणवेदनीयप्रकृतिद्वयस्य 'पुमव्व' इत्यनेन पुनरपवादकथनं तु सातवेदनीयप्रधानसंनिकर्षेऽसातवेदनीयबन्धाभावेऽपि प्रस्तुतसमचतुरस्रादिप्रधानसंनिकर्षे पुंवेदप्रधानसंनिकर्षवत् तद्बन्धसम्भवादिति ॥११७६॥

अथ चतुर्थादेः संहननद्वयस्य संस्थानद्वयस्य विकलत्रिक-सूक्ष्मत्रिकयोश्च प्राधान्येन प्राह प्रस्तुतसंनिकर्षम्—

णामसठाणव्व दुसंघयणागिइ विगल-सुहमतिगबंधी । णियमा धुव-सोगा-ऽरइ-णपु सग-असाय-णीआणं ॥
सखसूणं बधइ... ....॥११७७-॥

(प्रे०) "णामसठाणव्व" त्ति व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेः "दुसंघयणा-ऽऽगिइ" त्ति चतुर्थपञ्चमयोः संहननयोस्तथाविधयोः संस्थानयोश्च तथा "विगलसुहमतिग" त्ति त्रिकशब्द-

बध्नतो हास्यस्य च सातवेदनीयादिवत् स्याद्बन्धो लभ्यते परं व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेस्त-योरसौ नियमतो द्रष्टव्यो यथा प्राग् मूल एवाऽनेकशो दर्शितो भावितश्च वृत्तौ । "सिआऽऽउजिण-वज्जसेसाणं" इत्यनेन असातवेदनीय-शोका-ऽरति-नपुंसकवेदमोहनीय-तिर्यग्द्विक कुखगति-सेवार्त-संहनन-हुंडसंस्थानो-द्योता-ऽस्थिरषट्क-नीचैर्गोत्रलक्षणाः सप्तदश वर्गोत्कृष्टस्थितिकप्रकृतयो बोध्याः ।

"थीए" इत्यादिगाथया तु स्त्रीवेदप्रधान उक्तशेषनामप्रकृतिप्रधानश्च संनिकर्षोऽतिदेशेन प्रतिपादितस्तत्र "सेसणामाणं" इत्यादिना भणितशेषा नामप्रकृतयश्चतुर्थ-पञ्चम-षष्ठनरकमार्गणासु मनुष्यद्विक मध्यमसंहननचतुष्टय-मध्यमसंस्थानचतुष्टयलक्षणा दश, शेषमार्गणादशके तु ता दश जिननामसहिता इत्येकादशेति ।

"तिरियाउजेट्ठबंधो" इत्यादि सार्धगाथया तिर्यगायुष्कप्रकृतिप्रधानसंनिकर्षो भणितः, अक्षरार्थः सुगमः । **भावार्थः पुनरयम्**–उत्कृष्टस्थितिकं तिर्यगायुर्हि पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रा-योग्यम् ,तदपि न ओघवद्युगलधर्मिप्रायोग्यमपि तु पूर्वकोटीस्थितिकतिर्यक्प्रायोग्यम् । तद् बध्नतश्च सर्वा अपि पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्याः प्रकृतयो बन्धप्रायोग्याः, तथाच नेह नपुंसकवेदाद्या अशुभप्रकृतयो वर्जिताः । शेष पुनर्यद्ध्रुवबन्ध्यादीनामेकोनषष्टेर्नियमतो बन्धस्तच्छेषाणां पञ्चेन्द्रिय-तिर्यक्प्रायोग्याणां षट्त्रिंशतः प्रकृतीना स्याद्बन्ध इत्यादि सुगमं गतार्थञ्चेति ।

"मणुयाउजेट्ठबंधो" इत्यादिशेषसार्धगाथया मनुष्याऽऽयुष्कप्रधानसंनिकर्षः प्रदर्शितः, अक्षरार्थः सुगमः, केवलम् "ऽणणछायाल" इत्यादिना संगृहीताः प्रकृतय इमाः–वेदनीयद्विक-मिथ्यात्व-स्त्यानर्द्धित्रिका ऽनन्तानुबन्धिचतुष्क-हास्य रति-शोका-ऽरति-वेदत्रयी-संहननषट्क-संस्थान-षट्क-खगतिद्विक जिन स्थिरषट्का-ऽस्थिरषट्क-गोत्रद्विकानीति । अयमप्यनन्तरोक्तनीत्या विभावनी-यः, केवलं मनुष्यायुषः प्रधानीकृतत्वेन मनुष्यप्रायोग्याः प्रकृतयो भणिताः, यत् पुनस्तिर्यगायुष्को-त्कृष्टस्थितिंबध्नतः सप्तचत्वारिंशतोऽपि ध्रुवबन्धिनीनां नियमबन्धो भणितः, मनुष्यायुष उत्कृष्टस्थि-तिं बध्नतस्तु ताभ्यो मिथ्यात्वा-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्क-स्त्यानर्द्धित्रिकलक्षणा अष्टौ वर्जितास्तत्तु मिथ्या-दृशामेव तिर्यगायुष्कस्योत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वात् , मनुष्यायुष्कस्य तु मिथ्यादृशामिव सम्यग्दृ-शामपि तत्त्वादिति ।।११८३-११९२।।

तदेवं भणितो नरकगत्योघे तत्साम्यात् प्रथमादिषष्ठान्तनरकभेदेषु सनत्कुमारादिसहस्रा-रान्तदेवमार्गणासु च प्रस्तुतः परस्थानोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षः, एतर्हि क्रमप्राप्तावशिष्टसप्तम-निरयभेदे तं विभणिषुरार्यात्रयमाह––

एगस्स तमतमाए मणुयदुगुच्चाउ जेट्ठठिइबंधी । गुरुमगुरुं वाऽण्णेसिं णियमा सखेज्जगुणहीणं ।।
गुणचत्तधुव-पुम-अरइ-सोग असाय-अजसा-ऽथिरदुगाण । तह सुहगरजोग्गाण थिर-सुह जस-सायवज्जाणं ।।
णिरयव्वऽण्णाण णवरि तिरिदुग-णीआण कुणइ जत्थ सिआ । तहि सिं णियमा बंधइ ण चेव ताण [खलु पडिवक्खा ।।११९३-९५।।

नरकायुर्बन्धभावात्, तिर्यग्द्विकादीनां नवानामपि नरकाऽप्रायोग्यत्वाच्च । न च तथाऽपि नरकायुष्कस्थाने तिर्यगायुषो ग्रहणं कथं न कृतमिति शङ्क्यम्; पुरा निराकृतत्वादिति ॥११८२॥

तदेवं भणित ओघतस्सर्वोत्तरप्रकृतिपरस्थानोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षः, सम्प्रति तमेवादेशतः प्रतिपिपादयिषुर्निरयगत्योघादिमार्गणाक्रमेणोपक्रमते —

[१]णिरय-पढमाइछणिरय-तइआइगअट्ठमंतदेवेसुं । एगस्स धुवाउ तह असाय-अरइ-सोग-णपुमाओ ॥
[२]तिरिउरलदुग-पणिंदिय-परघा ऊसास-तसचउक्काओ । छेवट्ठ-हुंडगाओ कुखगइ-अथिरछग-णीआओ ॥
[३]जेट्ठठिइं बंधंतो बधइ णियमाऽण्णएगसयरीए । जेट्ठमजेट्ठं व सिआ उज्जोअस्सेवमेव य से ॥
[४]साय-रइ हस्स-पुम-सुखगइआगिइ वइर-थिरछगु-च्चाओ । एगस्स जेट्ठवधी गुरुमगुरुं वा सिआऽण्णेसिं॥
[५]इत्थी मणुयदुगाणं तिभागहीणं ठिइं सिआ कुणए । मज्झिमसंघयणाऽऽगिइचउगाणं सखभागूणं॥
[६]धुव-पंचिंदि-युरलदुग-परघा-ऊसास-तसचउक्काण । णियमा दुभागहीण सिआऽऽउजिणवज्जसेसाणं ॥
[७]थीए ओघव्व भवे गुरुठिइबंधी उ सेसणामाणं । णामाण सठाणव्व उ वधइ ओघव्व अण्णेसिं ॥
[८]तिरयाउजेट्ठवधी णियमा धुव-तिरिउरालियदुगाणं । परघा-ऊसासाण पणिंदि-तसचउग-णीआणं ॥
[९]वधइ सखगुणूण सिआऽण्णछत्तीसतिरियजोग्गाणं । मणुआउजेट्ठबंधी धुवबंधीण गुणचत्ताए ॥
[१०]णरउरलदुग-पणिदिय-परघा-ऊसास-तसचउक्काणं।णियमा संखगुणूण सिआऽण्णछायालमणुयजोग्गाणं ॥११८३-९२॥ (चरमा गीतिः)

(प्रे०) "णिरये"त्यादि, नरकगत्योः; सप्तमवर्जप्रथमादिषण्नरकोत्तरभेदाः, तृतीयसानत्कुमारकल्पप्रभृत्यष्टमसहस्रारकल्पान्ताःषड्देवगतिभेदा इत्येवं सर्वसंख्यया त्रयोदश मार्गणासु प्रत्येकं "एगस्से" त्यादिसार्धाऽऽर्यानवकोक्तसंनिकर्षो ज्ञेयः । तत्र "एगस्स धुवाउ" इत्येतत्प्रभृतिसार्धाऽऽर्याद्वयेन सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिन्य -ऽसातवेदनीया-ऽरति--शोक नपुंसकवेदमोहनीय--तिर्यग्द्विकौ--दारिकद्विक-पञ्चेन्द्रियजाति-पराघातोच्छ्वास-त्रसचतुष्क- सेवार्त-हुंड -कुखगत्य--ऽस्थिरषट्क--नीचैर्गोत्रोद्योतलक्षणस्त्रिसप्ततिप्रकृतिप्रधानः संनिकर्षो भणितः, स च सुगमः, यतः प्रस्तुतमार्गणाप्रायोग्यं सर्वनिकृष्टं पारभविकोत्पत्तिस्थानं पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्त्वलक्षणम्, प्रकृतीनां चासामुत्कृष्टस्थितिबन्धो मार्गणाप्रायोग्यसर्वोत्कृष्टसंक्लेशेन जायते, किञ्च पारभविकसर्वनिकृष्टस्थानं स्वप्रायोग्यसर्वसंक्लेशनिर्वर्त्यम्, तथाच ध्रुवबन्ध्याद्यन्यतमोत्कृष्टस्थितिं बध्नतैता एव प्रकृतयो बध्यन्ते, तत्रोद्योतनाम्नः स्याद्बन्धस्तु सुगमः, सर्वत्र तस्य तथात्वात् । उत्कृष्टादिद्विविधान्यतमस्थितिबन्धोऽप्येतासां प्राग् 'जत्थ गुरू अगुरू वा दुहा ठिई बज्झए" (गाथा ६३२) इत्यादि, प्रस्तुतसंनिकर्षद्वारद्वितीयगाथावृत्तौ भणितनीत्या इहापि, एवमेवोत्तरत्राऽपि ज्ञेयम् ।

"साय-रइ-हस्से"त्यादिना चतुर्थादिगाथात्रयेण सातवेदनीय-हास्य-रति-पुंवेदमोहनीय-सुखगति -समचतुरस्रसंस्थान- वज्रर्षभनाराचसंहनन--स्थिरषट्को--च्चैर्गोत्रलक्षणद्विभागोनवर्गोत्कृष्टस्थितिकचतुर्दशप्रकृतिप्रधानः संनिकर्षः भणितः,तच्च गाथात्रयमक्षरतोऽर्थतश्च सुगमं पूर्वोक्तनियमकदम्बकानुसारेण भावनीयश्च, केवलम्—यथाश्रुतं हास्योत्कृष्टस्थितिं बध्नतो रते रतेरुत्कृष्टस्थिति-

सायस्स जेट्ठबंधी गुरुमगुरुं व रइ-हस्स-पुरिसाणं। सुरदुग-वइर-सुहागिइ-खगइ-थिरछग्ग उच्चगाण सिआ॥
बंधइ संखगुणं ठिइ सिआ तिरिउरालियदुगाणं। संघयणपणगआगिइ-थावरजाइचउगा-ऽऽयवदुगाण॥
धुवबंधीणं णियमा दुभागहीणं तु सोग-अरईण। णपुम-पणिंदि-विउवदुग परघा-ऊसास-हुंडाण॥
कुखगइ-तस चउग-अथिरछग-णीआणं सिआ तिभागूणं। इत्थीमणुयदुगाणं एवं होइ रइ-हस्साणं॥
॥११९८-१२०१॥ (द्वितीया गीतिः)

(प्रे०) "सायस्से"त्यादि, सुगमाः, केवलं मार्गणाचतुष्टये बन्धप्रायोग्यसप्तदशोत्तरशत-प्रकृतिमध्यादायुश्चतुष्टय-नरकद्विकप्रकृतीनामनिर्देशः सातवेदनीयोत्कृष्टस्थितिं बध्नतोऽपि संक्लिष्टत्वेन शुभोत्कृष्टस्थितिकानां नरकवर्जाऽऽयुषामबन्धात् सातवेदनीयस्य नरकगतिबन्धेन सह बन्धाऽप्रायोग्यत्वेन नरकत्रिकप्रकृतिबन्धविरोधाच्चेति। "एवं होइ रइहस्साणं" इत्यनेन कृतोऽतिदेशस्तु प्रागिव सातवेदनीय-रत्यादेः परस्परव्यत्ययेन योजनीयः, केवलं रत्युत्कृष्टस्थितिं बध्नतो हास्यस्य हास्योत्कृष्टस्थितिं बध्नन्तो रतेश्च नियमतो बन्धो वाच्यः, न पुनः सातोत्कृष्टस्थितिं बध्नतो यथा रतिहास्ययोः स्याद्बन्धस्तथा, एवं रत्याद्युत्कृष्टस्थितिं बध्नतः सातवेदनीयस्य स्याद्बन्ध एव द्रष्टव्यो यथा सातवेदनीयं बध्नतो रत्यादेर्दर्शितः; इत्थमेवाऽन्यत्राऽप्यभ्यूह्यं प्रागुक्तनियमानुसार्यविरोधेनेति। अक्षरार्थोऽपि सुगमः, केवलं द्वितीयगाथोत्तरार्धे "चउग" इतिपदं "आगिइ" इत्यादिना प्रत्येकमभिसम्बध्यते, तथाच मध्यमसंस्थानचतुष्क-स्थावरचतुष्क जातिचतुष्काणां संग्रहः। तृतीयगाथापूर्वार्धस्थं "दुभागहीणं" इति पदं चतुर्थगाथोत्तरार्धे "णीआणं" इत्येतद्यावत्सम्बध्यते, "तिभागूणं" इत्येतत्तु "थीमणुये"त्यादिना चेति ॥११९८-१२०१॥

अथ प्रस्तुतमार्गणास्वेव स्त्रीवेद-पुरुषवेदो-च्चैर्गोत्रप्राधान्येन प्राह प्रस्तुतसंनिकर्षम्—

ओघव्व भवे थीपुमउच्चाणं णवरि संखभागूणं। बंधइ तिरियउरलदुगछिवट्ठउज्जोअणामाणं॥१२०२॥

(प्रे०) "ओघव्व" इत्यादि, सुगमा, केवलम् "ओघव्व" त्ति "थीगुरुबंधी बंधइ" इत्यादिगाथाषट्कभणितपरस्थानौघिकोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षवज्ज्ञेयः, "णवरि" इत्यादिनाऽपवादपदकथनं तु ओघे देवानामपि प्रवेशेनौघोत्कृष्टस्थितिकसंक्लेशे तेषां देवानां यथासम्भवमेकेन्द्रियप्रायोग्याणां पञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्याणां च प्रकृतीनां बन्धभावेनौदारिकद्विकादिप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितेरोघतो वर्गोत्कृष्टत्वेऽपीह तिर्यग्गत्योघादिमार्गणायां तु तदप्रवेशेनौदारिकद्विकाद्युत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टतोऽप्यष्टादशकोटीकोटीसागरोपमप्रमाणत्वादिति। शेषं तु पूर्वोक्तनियमानुसारेणाऽभ्यूह्यमिति ॥१२०२॥

अथाऽऽयुश्चतुष्टयप्रधानं प्रस्तुतसंनिकर्षं व्याकरोति—

आउचउगस्स णेयो ओघव्व परं सुराउगुरुबंधी। नियमा संखगुणूणं तइअकसायाण बंधेइ॥
संखगुणूणं बारससेसधुवाण सिआ तिरिच्छीए। णिरयाउजेट्ठबंधी सव्वेसिं संखगुणहीणं ॥१२०३-४॥

(प्रे०) "आउचउगस्स" इत्यादि, सुगमे, परम् "ओघव्व" त्ति 'णिरयाउजेट्ठबंधी' इत्या-

(प्रे०) "एगस्से" त्यादि, सुगमा गाथात्रयी, केवलं प्रथमगाथोत्तरार्धस्थं **"णियमा"** इति पदं देहलीदीपकन्यायेनोभयत्र संबध्यते, **'गुणचत्तधुव'** इत्यत्रैकोनचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिन्यो मिथ्यात्वा-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्टय--स्त्यानर्द्धित्रिकवर्जा ज्ञेयाः, सप्तमनरकमार्गणायां मिश्रदृशां सम्यग्दृशामेव वा मनुष्यद्विको-च्चैर्गोत्रप्रकृतिबन्धस्वामिकत्वात् । **"सुहणरजोग्गाण"** इत्यनेन प्रधानीकृतमनुष्यद्विको-च्चैर्गोत्रवर्जाः सातवेदनीय--पञ्चेन्द्रियौ दारिकद्विक--वज्रर्षभनाराचसंहनन--समचतुरस्रसंस्थानसुखगति-पराघातो-च्छ्वास-त्रस-दशकलक्षणा एकोनविंशतिः प्रकृतयो ज्ञेयाः, तास्वपि **'थिरसुहजस सायवज्जाण'** मित्यनेन सातवेदनीयादीनां चतसृणां वर्जनं चतुर्थगुणस्थाने एतत्प्रतिपक्षप्रकृतीनामपि बन्धप्रायोग्यतया मनुष्यद्विकाद्युत्कृष्टस्थितिं बध्नतस्तासामसातवेदनीयादीनां बन्धभावेन सातवेदनीयादिप्रकृतिचतुष्टयबन्धनिरुद्धत्वात् । मनुष्यद्विकादिप्रकृतित्रयवर्जशेषध्रुवबन्ध्यादिसर्वप्रकृतिप्रधानसंनिकर्षो नरकौघवत्तूभयत्र शेषप्रकृत्युत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनामविशेषात्, केवलं सप्तमनरके मिथ्यात्वगुणस्थाने तिर्यग्द्विक-नीचैर्गोत्रप्रतिपक्षभूता मनुष्यद्विकाद्या बन्धप्रायोग्या एव न सन्ति यथा शेषनरकभेदेषु बन्धप्रायोग्या भवन्ति, तथा च नरकगत्योघे सातवेदनीयादियद्यत्प्रकृतीर्बध्नतो मनुष्यद्विको-च्चैर्गोत्राणा स्याद्बन्धो भणितस्तत्तत्प्रकृतीर्बध्नतस्तासामसौ प्रतिषेध्यः प्रस्तुतमार्गणायाम्, तत एव सातवेदनीयाद्युत्कृष्टस्थितिं बध्नतस्तत्र यस्तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोः स्याद्बन्धः कथितः स त्विह नियमतो द्रष्टव्य इत्यतो "णिरयव्व ऽण्णाण" इत्यतिदिश्याऽपि "णवरि" इत्यादिनाऽपवादपदाभिधानं कृतमिति ॥११९३-९५॥

अथ क्रमप्राप्ततिर्यग्गतिमार्गणास्थानेषु प्रस्तुतं विभणिषुस्तिर्यग्गत्योघ-पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक् तिरश्चीलक्षणमार्गणाचतुष्टये द्वादशगाथाभिराह—

बंधतो जेट्ठठिइं एगस्स तिरि तिपणिंदितिरियेसुं । णारगपाउग्गाओ आउगवज्जाउ अण्णेसिं ॥ ॥
सयरीए णियमा गुरुमगुरुं व। णारगाउगस्स सिआ । जेट्ठं चिअ परमाऊं तिरिजोणिमईअ बधइ णो ॥
॥११९६-९७॥

(प्रे०) "बंधंतो" इत्यादि, अक्षरार्थः सुगमः, भावार्थोऽपि तथा, केवलं नारकप्रायोग्याः प्रकृतयस्तु-सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिन्यः,-असातवेदनीयम्, शोका ऽरती नपुंसकवेदः, नरकायुष्कम्, नरकद्विक पञ्चेन्द्रियजाति वैक्रियद्विक हुंडसंस्थान-कुखगति-पराघातो च्छ्वास-त्रसचतुष्का ऽस्थिरषट्कानि-नीचैर्गोत्रञ्चेति द्विसप्ततिः, तिरश्चीमार्गणायां नरकायुर्बन्धप्रतिषेधस्तु ध्रुवबन्ध्याद्युत्कृष्टस्थितिं बध्नत स्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिकस्य नरकायुष एव बन्धप्रायोग्यत्वात्, तिरश्च्यास्तु सप्तमनरकेऽनुत्पादेन तद्बन्धाभावाच्चेति ॥११९६-९७॥

तदेवं नरकायुर्वर्जनरकप्रायोग्यध्रुवबन्ध्याद्येकसप्ततिप्रकृतिप्रधानः प्रस्तुतसंनिकर्षो भणितस्तिर्यग्गत्योघादिमार्गणाचतुष्टये । अथ तत्रैव सातवेदनीय-हास्य-रतिप्रकृतित्रयप्रधानं तमाह—

द्विगुणहानिस्थानान्यसंख्येयगुणानि, ततो द्विगुणहान्योरेकान्तरालगतानि निषेकस्थानान्यसंख्येयगुणानि,तत एकमबाधाकण्डकमसंख्येयगुणम् , ततो जघन्यस्थितिबन्धोऽसंख्येयगुणः, ततः स्थितिबन्धस्थानानि संख्येयगुणानि; तत उत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिको भवतीति । अत्र चतुर्दशोत्तरशतप्रकृतिषु देवद्विकस्य तीर्थकरनाम्नश्च ग्रहणं प्रकृताऽपर्याप्तसंज्ञिजीवभेदे लब्ध्यपर्याप्तानामिव करणापर्याप्तजीवानामपि प्रवेशात् , तेषां च करणाऽपर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियमनुष्य-तिरश्चां सम्यग्दर्शनस्य सम्भवेन यथासम्भवं देवद्विकतीर्थकरनाम्नोरपि बन्धसम्भवात् तदपेक्षया बोद्धव्यम् ,न पुनर्लब्ध्यपर्याप्तजीवापेक्षया, तेषां तयोरबन्धादिति ।

पर्याप्ताऽपर्याप्तद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियाऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियलक्षणेष्वष्टजीवभेदेषु तु प्रत्येकं बन्धप्रायोग्याऽऽयुर्वर्जप्रकृतीनां प्रत्येकम्– अबाधास्थानान्यबाधाकण्डकानि च प्रत्येकं स्तोकानि, परस्परं तु प्राग्वत्तुल्यानि, ततो जघन्याबाधा संख्येयगुणा, तत उत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका, ततो निषेकस्य द्विगुणहानिस्थानान्यसंख्येयगुणानि, ततो द्विगुणहान्योरेकस्याऽन्तरस्य स्थानान्यसंख्येयगुणानि, तत एकमबाधाकण्डकमसंख्येयगुणम् , ततः स्थितिबन्धस्थानान्यसंख्येयगुणानि, ततो जघन्यस्थितिबन्धः संख्येयगुणः, तत उत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिक इति । इह बन्धप्रायोग्याः प्रकृतयस्तु पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियजीवभेदे आहारकद्विकतीर्थकरनामवर्जाः सप्तदशोत्तरशतम् , शेषसप्तभेदेषु तु वैक्रियषट्कमाहारकद्विकं जिननाम निरयदेवाऽऽयुषी चेत्येता एकादश प्रकृतीर्विवर्ज्य नवोत्तरशतं सन्तीति अवधेयम् ।

अथ सूक्ष्मबादरपर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्नेष्वेकेन्द्रियसत्केषु चतुर्षु शेषजीवभेदेष्वनन्तरोक्ता वैक्रियषट्काद्येकादशप्रकृतिवर्जा नवोत्तरशतप्रकृतय एव बन्धप्रायोग्याः सन्ति, तास्य आयुर्द्वयवर्जानां शेषाणां सप्तान्वितशतप्रकृतीनां प्रत्येकं तु सर्वस्तोकान्यबाधास्थानान्यबाधाकण्डकानि च, परस्परं तु पूर्ववत् तुल्यान्येव। ततो जघन्याबाधाऽसंख्येयगुणा। तत उत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका । ततो निषेकस्य द्विगुणहानिस्थानान्यसंख्येयगुणानि । ततो द्विगुणहान्योरेकस्मिन्नन्तरे वर्तमानानि निषेकस्थानान्यसंख्येयगुणानि । तत एकमबाधाकण्डकमसंख्येयगुणम् । ततः स्थितिबन्धस्थानान्यसंख्येयगुणानि, ततो जघन्यस्थितिबन्धोऽसंख्येयगुणः । तत उत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिक इति ।

अथ पर्याप्तसंज्ञ्यसंज्ञिजीवभेदद्वये बन्धप्रायोग्याणां निरय-तिर्यग्-मनुष्य-देवायूरूपाणां चतसृणां प्रकृतीनां तु प्रत्येकं जघन्याबाधा सर्वस्तोका । ततो जघन्यः स्थितिबन्धः संख्येयगुणः । ततोऽबाधास्थानानि संख्येयगुणानि । तत उत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका । ततो निषेकस्य द्विगुणहानिस्थानान्यसंख्येयगुणानि । ततो द्विगुणहान्योरेकान्तराले निषेकस्थानान्यसंख्येयगुणानि । तेभ्यः स्थितिबन्धस्थानान्यसंख्येयगुणानि । तत उत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिक इति । अथोक्तशेषद्वादशजीवभेदेषु तु तत्प्रायोग्यतिर्यग्मनुष्यायुःप्रकृतिद्वयस्य प्रत्येकम्–जघन्याबाधा सर्वस्तोका । ततो

दिगाथापट्केनाभिहितपरस्थानौघिकोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षवत् । "**परं सुराउगुरुबंधो**" इत्यादिनाऽपवादभणनं तु देवायुष्कौघिकोत्कृष्टस्थितेः केवलसंयतस्वामिकत्वेन तेषां सयतानां संज्वलनवर्जद्वादशकषाय-स्त्यानर्द्धित्रिक-मिथ्यात्वानां बन्धाभावेन च तासां षोडशानामोघतो बन्धे प्रतिषिद्धेऽपि प्रस्तुतमार्गणासु बन्धप्रायोग्यदेवायुष्कोत्कृष्टस्थितेः सम्यग्दृष्ट्यादिस्वामिकत्ववत् मिथ्यादृष्टिस्वामिकत्वेन तासां बन्धभावात् , तत्र तृतीयकषायप्रकृतीनां नियमबन्धो देशविरतस्यापि तत्स्वामित्वात् , शेषाणां तु मिथ्यादृष्ट्यादिस्वामिकत्वेऽपि देशविरतानां तदस्वामित्वात् , उत्कृष्टस्थितिकदेवायुष्कबन्धकानां देशविरतानां तद्बन्धाभावस्तथाविधानां मिथ्यादृशां तु तद्बन्ध इति भावः । स्थितेःसंख्येयगुणहीनत्वं तु शेषप्रकृतिवदेवेति ।**इदं तु बोध्यम्**—ओघतः सुरायुरुत्कृष्टस्थितिं बध्नतो भणितो जिननाम्नः स्याद्बन्धो यद्यपीह प्रतिषेध्य एव तथाऽपि अपवादपदे तदप्रतिषेधः प्रस्तुतमार्गणासु तस्य जिननाम्नो मूलत एव बन्धाभावेन सुगमत्वादिति । तिरश्चीमार्गणायामपवादविशेषस्तु तत्र शेषनरकप्रायोग्योत्कृष्टस्थितिं बध्नतो नरकायुर्बन्धप्रतिषेधादेव गतार्थ इति ॥१२०३-४॥

अथ तिर्यग्द्विकौदारिकद्विकैकेन्द्रियजाति सेवार्तसंहनन-स्थावरा-ऽऽतपो-द्योतनामलक्षणनवप्रकृतिप्रधानं प्रस्तुतसंनिकर्षं प्राह—

तिरिउरलदुगे-गिंदिय-छेवट्ठग-थावरा ऽऽयवदुगाणं । गुरुबंधी णामाण ठिइं सठाणव्व बंधेइ ॥
संखेज्जभागहीण णियमा बंधइ तिचत्तसेसाण । धुवबंधि-असायाण णपुमा-ऽरइ-सोग-णीआणं ॥
॥१२०५-६॥

(प्रे०) "**तिरिउरलदुगे**"त्यादि, सुगमे, केवलं "**तिचत्तसेसाणं**" ति नामप्रकृतीनां "**णामाणं ठिइं सठाणव्व बंधेइ**" इत्यनेनाऽतिदिष्टत्वात् "**धुवबंधीअसायाणं**" इत्यत्र ध्रुवबन्धिन्यो नामध्रुवबन्धिनीनवकवर्जा अष्टात्रिंशत् , ताश्चाऽसातवेदनीय नपुंसकवेदा-ऽरति-शोक नीचैर्गोत्रसहिता इत्यभवन् त्रिचत्वारिंशच्छेषाः, तासा संख्येयभागोनोत्कृष्टस्थितिबन्धस्तु तासामुत्कृष्टस्थितेर्नरकप्रायोग्योत्कृष्टस्थिति बध्नतो भावेन तिर्यग्गत्याद्येकेन्द्रियप्रायोग्यं बध्नत एकेन दशांशेनोनोत्कृष्टस्थितिबन्धभावात् , तस्य च स्वीयस्वीयोत्कृष्टस्थितिबन्धमानापेक्षया संख्येयभागहीनत्वादित्यादि प्रागुक्तनियमानुसारेण द्रष्टव्यं विस्तरतः स्वयमेवेति ॥१२०५-६॥

अथ प्रस्तुततिर्यग्गत्योघादिमार्गणाचतुष्टय उक्तशेषसप्तविंशतिप्रकृतिप्रधानसंनिकर्षमतिदेशेनैव दर्शयति—

सेसाण णामाणं सप्पाउग्गाण जेट्ठठिइबंधी । णामाण सठाणव्व उ बंधइ ओघव्व अण्णेसिं ॥१२०७॥

(प्रे०) "**सेसाणं**" इत्यादि, सुगमा, केवलं शेषनामप्रकृतय इमाः—मनुष्यद्विक देवद्विकविकलत्रिक—सेवार्तवर्जसंहननपञ्चक -हुंडवर्जसंस्थानपञ्चक-प्रशस्तविहायोगति-स्थिरषट्क—सूक्ष्मत्रिकाणीति । नाम्नां स्वस्थानसंनिकर्षवदिति प्राक्साधितनीत्या सर्वत्र तुल्यम् , ओघवच्छेषाणामित्यपि

सुगमम् , ओघतः प्रस्तुतमार्गणाप्रविष्टसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां मनुष्यद्विकायुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वादिति विस्तरार्थिना तु प्राक्प्रदर्शितनियमनिचयोऽनुसर्तव्य इति ॥१२०७॥

तदेवं प्रतिपादितो गाथाद्वादशकेन तिर्यग्गत्योघ-पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघ-तत्पर्याप्त-तिरश्चीलक्षण-मार्गणाचतुष्टये बन्धप्रायोग्यसप्तदशोत्तरशतप्रकृतीनां परस्थानोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षः । साम्प्रतम-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्लक्षणे तिर्यग्गतिमार्गणाशेषभेदे तं निजिगदिषुस्तुल्यवक्तव्योपेताऽपर्याप्तमनुष्य-सर्वविकलेन्द्रियमार्गणा-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणा-ऽपर्याप्तत्रसमार्गणास्वित्येवं सर्वसंख्यया त्रयोदशमा-र्गणासु युगपदाहाऽऽर्या ऽष्टादशकेन--

एगस्स जेट्ठबंधी असमत्तपणिदितिरिय-मणुयेसुं । सव्वविगलिंदियेसुं असमत्तपणिदिय-तसेसुं ॥
सायाऽऽउहस्सरइवज्जअपज्जसुहुमणिगोअजोग्गाओ । बधइ णियमाऽण्णेसिं पणसट्ठीअ गुरुमगुरुं वा ॥
॥१२०८-९॥

(प्रे०) "एगस्से"त्यादि, इह तावदादौ पूर्वं प्रसाधितः स्वस्थानसंनिकर्षप्रस्तावे प्रस्तुत-मार्गणास्वनुवर्तितश्च मन्दसंक्लेशादुत्कृष्टसंक्लेशाभिमुखगमने लभ्यमानः प्रकृतिबन्धविच्छेदक्रमोऽनु-स्मरणीय एव, स चैवम्–(१) प्रथमतो मनुष्यायुः, तदनु (२) तिर्यगायुः,तदनु (३) उच्चैर्गोत्रम् , ततः (४) पुंवेद--प्रथमसंहनन -प्रथमसंस्थान--सुखगति--सुभग--सुस्वरा-ऽऽदेयनामानि युगपत् , तदनु (५) द्वितीयसंहननसंस्थाने युगपत् , तदनु (६) तृतीयसंहननसंस्थाने युगपत् , तत्पश्चात् (७) स्त्रीवेदः, तदनु (८) चतुर्थसंहननसंस्थाने युगपत् , ततः (९) पञ्चमसंहननसंस्थाने युगपत् , तदुत्तरम् (१०) कुखगति–दुःस्वरनाम्नी युगपत् , तत्पश्चात् (११) यशःकीर्तिनामा-ऽऽतपो-द्योत-नाम्नी युगपत् , ततः (१२) स्थिर-शुभनाम्नी पराघातो-च्छ्वास पर्याप्तनामानि च, तदनु (१३) मनुष्यगति मनुष्याऽऽनुपूर्वीनाम्नी युगपत् , ततः (१४) पञ्चेन्द्रियजातिनाम, तत्पश्चात् (१५) चतुरिन्द्रियजातिनाम, ततः (१६) त्रीन्द्रियजातिनाम, तदुत्तरं (१७) द्वीन्द्रियजात्यौ-दारिकाङ्गो-पाङ्ग सेवार्तसंहनन-त्रसनामानि, तदनु (१८) बादरनाम, ततः (१९) प्रत्येकनाम, ततः (२०)सात-वेदनीय-हास्य रतिमोहनीयलक्षणास्तिस्रो युगपद्विच्छेदं यान्ति;(२१)शेषाः सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्ध्य-ऽसातवेदनीय-शोका-ऽरति-नपुंसकवेदमोहनीय-तिर्यग्द्विकै--केन्द्रियजात्यौ-दारिकशरीर-हुण्डसंस्थान-दुःस्वरवर्जस्थावरनवक- नीचैर्गोत्रलक्षणाः पट्षष्टिस्तूत्कृष्टसंक्लेशेऽपि बन्धप्रायोग्या इत्यविच्छेदेन निघ्नन्तीत्यन्तिमस्थानगता इति । एतत्क्रमगतासु या या उत्तरस्थानवर्तिन्यस्तासामुत्कृष्टस्थितिं बध्नतो न जायते तत्पूर्वं पूर्वतर-पूर्वतमस्थानवर्तिनीनां बन्धस्तन उत्तरोत्तरादिस्थानवर्तिनीनां विव-क्षितप्रधानीकृतप्रकृत्यविरोधित्वाद्यदि भवति बन्धस्तदा स्वीयस्वीयोत्कृष्टस्थितितः संख्येयभागोनो भव-त्यसौ प्रस्तुतमार्गणास्वित्यादि सर्वं प्राक्प्रसाधितमेव, प्रस्तुते च "**सायाऽऽउहस्सरइवज्ज**" इत्यादि-द्वितीयगाथापूर्वार्धेन याः सातवेदनीय-तिर्यगायु-हास्य-रतिप्रकृतिचतुष्टयवर्जा अपर्याप्तसूक्ष्मसाधारण-

वनस्पतिकायप्रायोग्याः प्रकृतयः संगृहीतास्ता अनन्तरोक्तैकविंशतिस्थानमध्येऽन्तिमस्थानगताः षट्षष्टिरेव, तथाच तन्मध्यादेकस्या उत्कृष्टस्थितिं बध्नता शेषाः पञ्चषष्टिर्नियमतो बध्यन्ते उत्कृष्टोऽनुत्कृष्टो वा तासां स्थितिबन्धश्च जायत इति सर्वं सूपपन्नमिति ॥१२०८-९॥

अथ सातवेदनीय-हास्य-रतिमोहनीयलक्षणप्रकृतिप्रधानं प्रस्तुतसंनिकर्षमाह—

एगस्स बंधमाणो जेट्ठ साय-रइ हस्सजुगलाओ । जेट्ठमजेट्ठं व ठिइं सिआ उ बंधेइ अण्णस्स ॥
तप्पडिवक्खस्स सिआ बंधेइ ठिइं तु संखभागूण । णियमाऽण्णतिसट्ठीए सुहुमाऽपज्जगणिगोअजोग्गाणं
॥१२१०-११॥ (द्वितीयागीति)

(प्रे०) "एगस्स" इत्यादि, अक्षरार्थः सुगमः, **भावार्थस्त्वयम्**—प्रधानतया विवक्षिताः प्रकृतय इमाः—सातवेदनीयाद्यास्तिस्रो दर्शितबन्धविच्छेदक्रमे विंशतितमस्थाने युगपद्विच्छिद्यमानाः, तथाच तत्पूर्ववर्तिसमस्तस्थानगताः प्रकृतयो न बध्यन्ते, सातवेदनीयहास्यरतिप्रकृतिष्वन्यतमोत्कृष्टस्थितिं बध्नता, तुल्यस्थानगताश्चैताः, तुल्यस्थानगतत्वाच्चैकस्या उत्कृष्टस्थितिं बध्नतस्तदन्ययोर्द्वयोरुत्कृष्टादि-द्विविधान्यतरस्थितिबन्धो जायते । इत्थमेवोत्तरत्राऽपि विवक्षितप्रकृतितुल्यस्थानगतत्वात्तदन्यप्रकृतीनां द्विविधान्यतमस्थितिबन्धो भावनीयः । स्याद्बन्धस्तु तासां तुल्यस्थानगतानां स्वप्रतिपक्षप्रकृतीनामुत्तरस्थानवर्तित्वादिना, इहादिपदमाऽऽतपादेः स्वभावतः स्याद्बन्धभावेन तद्ग्रहणार्थम् । उत्तरस्थानवर्तिन्यस्तु बन्धप्रायोग्या एव, केवलं प्रधानतया विवक्षितप्रकृत्या समं तत्तुल्यस्थानवर्तिनियतबन्धवत्प्रकृतिभिश्च समं या विरोधिन्यस्ता नैव बध्यन्ते; तत्तुल्यस्थानवर्त्यनियतबन्धवत्प्रकृतिभिः समं विरोधिन्यस्तु अनियतं बध्यन्ते, स्याद् बध्यन्त इति भावः, न केवलं तावदुत्तरवर्तिस्थानगतासु प्रकृतिष्वपि याः परस्परं विरोधवत्यस्तासामपि न नियतो बन्धः, अविरोधिन्यस्तु नियमतो बध्यन्त इत्यादिपूर्वोक्तनियमप्रपञ्चानुसारेणाऽभ्यूह्यम्, तथाच प्रस्तुते उत्तरवर्तिस्थानगताः प्रकृतयो यत्प्रधानसंनिकर्षोऽनन्तरं भणितस्ताः सातवेदनीयादिवर्जा अपर्याप्तसूक्ष्मनिगोदप्रायोग्याः षट्षष्टिरेव, तन्मध्ये चाऽसातवेदनीयाद्यास्तिस्रः प्रधानीकृतसातवेदनीयादिप्रतिपक्षभूता इत्यवशिष्टास्त्रिषष्टिः, तासां नियतबन्धो भवति, शेषप्रकृतिमध्याद् विवक्षितसातवेदनीयादिप्रतिपक्षप्रकृतेर्बन्ध एव न भवति, शेषाणां तु स्याद्बन्धो भवति, तत्राऽपि स्थितिबन्धस्तासामसातवेदनीयादीनां चरमस्थानगतत्वात् त्रिषष्टिप्रकृतिवत्संख्येयभागोनोत्कृष्टः, इत्येतत्सर्वं सुगमम्, प्रस्तुतमार्गणादर्शितस्वस्थानोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षविवरणादिना गतार्थं च । इत्थमेवाऽनन्तरं प्रधानीकृतप्रकृतीनां विच्छेदक्रमगततत्तत्स्थानवर्तित्वादिना संनिकर्षोऽभ्यूह्यः स्वयमेवेति ॥१२१०-११॥

अथ प्रस्तुताऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिमार्गणास्वेव स्त्रीवेदप्राधान्येन प्रस्तुतमाह—

थीगुरुबंधो णियमा धुव-रालियदुग-पणिंदि-णीआण । परघा-ऊसास-दुहगतिग-तसचउगा-ऽसुखगईणं ॥
बंधइ संखगूण सिआ उण दुवेअणीअजुगलाणं । तिरिणरदुग-उज्जोअ-तिसघयणागिइ-थिराइजुगलाण
॥१२१२-१३॥ (द्वितीया गीति)

(प्रे०) '**थीगुरुबंधी**'' इत्यादि, सुगमे, केवलम् ''**दुवेअणीअजुगलाणं**''इत्यत्र दुशब्दो जुगलशब्देनाऽपि सम्बध्यते, व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेर्युगलद्वयशब्देन हास्य-रति-शोका ऽरति-लक्षणयुगलद्वय गम्यते च, एवं ''**तिरिणरदुग**'' इत्यत्र द्विकशब्दः, ''**तिसंघयणागिइ**'' इत्यत्र त्रिशब्दश्च प्रत्येकं सम्बध्यते,व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेस्तूर्यादीनि त्रीणि त्रीणि च तानि गृह्यन्ते, ''**थिराइ जुगलाण**'' इत्यत्रादिपदेन शुभ-यशःकीर्तिनाम्नी गृह्येते, युगलशब्दः प्रत्येकं सम्बध्यते चेत्येवं यथासम्भवं योजना कार्योत्तरत्राऽपि । उपपत्तिस्तु प्रधानीकृतस्य स्त्रीवेदस्य यथोक्तविच्छेद-क्रमे सप्तमस्थानगतत्वात्तदनुसारेण कार्याऽनन्तरदर्शितरीत्येति ।।१२१२-१३।।

अथ पुरुषवेद प्रथमसंहनन प्रथमसंस्थान-प्रशस्तविहायोगति-सुभगत्रिकलक्षणसप्तप्रकृतिप्राधान्येन प्रस्तुतसंनिकर्षमाह–

गुरुबंधी पुरिस-वइर-पढमागिइ-सुहगतिग-सुखगईओ । एगस्स बंधइ ठिइं गुरुमगुरुं वा सिआऽण्णेसिं ।।
तप्पडिवक्खाण तहा सायि-यर दुजुगलतिरिणरदुगाणं । उज्जोअ-थिराइजुगलतिगाण वा संखभागूणं ।।
धुव-पंचिंदियु रलदुग-परघा-ऊसास तसचउक्काणं । णीअस्स य संखेज्जइभागूणं बंधए णियमा ।।
।।१२१४-१६।।

(प्रे०) ''**गुरुबंधी**''त्यादि, गाथात्रयाक्षरार्थः सुगमः, केवलम्–''**तप्पडिवक्खाण**''इत्यत्र तत्पदेन प्रधानीकृतपुरुषवेदाद्येकप्रकृतिवर्जाः प्रथमसंहननाद्याः प्रकृतयः परामृश्यन्ते, तथाच पुरुष-वेदप्रधानतायां प्रथमसंहनानादिषट्प्रकृतिप्रतिपक्षभूताश्चतुर्दश प्रकृतयः प्रथमसहननप्रधानतायां तु नपुंसकवेदाद्या एकादश प्रकृतय इत्येवं तेन यथासम्भवं संगृहीता वेदितव्याः । तथा ''**सायियर**'' इत्यादिना साता सातवेदनीये, हास्यरति-शोकाऽरतिलक्षणं युगलद्वयम् , तिर्यग्मनुष्यद्विके चेति दश-प्रकृतयः संगृहीता ज्ञेयाः, एवमेव ''**थिराइजुगलतिगाण**''इत्यनेन स्थिरा-ऽस्थिर-शुभा ऽशुभ-यशः-कीर्त्य-ऽयशःकीर्तिप्रकृतयोऽवसातव्याः । उपपत्तिस्तु पुरुषवेदादीनां प्रधानतया विवक्षितानां सप्त-प्रकृतीनां यथोक्तविच्छेदक्रमे चतुर्थस्थानगतत्वात्तदनुसारेण कार्या ।।१२१४-१६।।

अथ तिर्यगायुष्कप्राधान्येन प्राह प्रस्तुतसंनिकर्षम्-

तिरियाउजेट्ठबंधी णियमा धुव-तिरि-उरालियदुगाणं । परघा-ऊसासाणं पणिंदि-तसचउग-णीआणं ।।
संखेज्जभागहीणं दुवेअणीय-सगणोकसायाणं । संघयणागिइ-दुखगइ-उज्जोअ-थिराइछजुगलाण सिआ ।।
।।१२१७-१८।। (द्वितीया गीतिः)

(प्रे०) ''**तिरियाउ**''इत्यादि, गतार्थे, केवलम्–''**सगणोकसायाणं**''ति भयजुगुप्सयोर्ध्रुव-बन्धिनीषु गतत्वात्तद्द्वयवर्जानां हास्य-रति-शोका-ऽरति-वेदत्रयलक्षणानां सप्तानां नोकषायप्रकृतीनाम्। ''**संघयणागिइ**'' इत्यनेन तु द्वादशाऽपि संहनन-संस्थानप्रकृतयः, ''**दुखगइ**''इत्यनेन खगति-द्विकम् , ''**थिराइछजुगलाण**''इत्यनेन स्थिरषट्कमस्थिरषट्कञ्चेति द्वादश प्रकृतयो बोद्धव्या इति ।।१२१७-१८।।

अथ मनुष्यायुष्कप्राधान्येनाऽभिदधाति—

मणुयाउजेट्ठबंधी णियमा धुव-णरउरालियदुगाणं । परघा-ऊसासाणं पणिंदियस्स तसचउगस्स ॥
संखेज्जभागहीणं दुवेअणीय-सगणोकसायाणं । गोअखगइदुग-छागिइसघयण-थिराइछजुगलाण सिआ ॥
॥१२१९-२०॥ (द्वितीया गीतिः)

(प्रे०) "मणुयाउ" इत्यादि, गतार्थे ॥१२१९-२०॥

तदेवमनन्तरगाथाचतुष्टयेन भणितस्तिर्यग्मनुष्यायुष्कप्रधानसंनिकर्षोऽपर्याप्तत्रसादिप्रस्तुत-त्रयोदशमार्गणास्वपि प्राप्तः, परं स नाऽपर्याप्तत्रसादिषु सर्वासु त्रयोदशमार्गणास्वपि उपपत्तिक्षमः, तथाचापवादिकं किञ्चिदाह–

णवर दुआउबंधी ठिइप्पमाणं तु सयमुज्झं । असमत्तपणिंदितिरियमणुयपणिंदियतसेसु तु ॥१२२१॥
(उपगीतिः)

(प्रे०) "णवरं" इत्यादि, अक्षरार्थः सुगमः, केवलं "दुआउ" इत्यनेनाऽनन्तरगाथाचतुष्टये प्रधानीकृता तिर्यग्मनुष्यायुष्कप्रकृतिद्वयी बोद्धव्या 'असमत्त' इत्येतच्च 'पणिंदितिरिये' त्या-दिना प्रत्येकं सम्बध्यते, तथाच तेनाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग-ऽपर्याप्तमनुष्या-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तत्रसकायलक्षणमार्गणाचतुष्टयसंग्रह इति ।

भावार्थः पुनरयम्–शुभायुष्कोत्कृष्टस्थितिबन्धस्य विशुद्धिप्रत्ययत्वेनाऽऽयुर्वर्जोत्कृष्टस्थिति-बन्धस्य तु स्वामित्वद्वारदर्शितनीत्या संक्लेशप्रत्ययत्वेन च यत्र मार्गणासु आयुष्कवर्जप्रकृतिजघन्यो-त्कृष्टस्थितिबन्धयोस्तारतम्य संख्येयगुणहीनाधिकलक्षणं न वर्तते तत्र शुभायुष्कोत्कृष्टस्थितिं बध्नतो बध्यमानशेषप्रकृतीनां संख्येयभागहीनोत्कृष्टः स्थितिबन्ध एव जायते, न पुनः संख्येयगुणहीनोत्कृष्ट इति व्याप्त्या प्रस्तुते विकलेन्द्रियमार्गणानवके मनुष्य-तिर्यगायुष्कोत्कृष्टस्थितिं बध्नतः शेषबध्यमान-प्रकृतीनां संख्येयगुणहीनोत्कृष्टस्थितिबन्धस्याऽसम्भवेऽप्यपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिमार्गणाचतुष्टये तत्सम्भव एव, एवमपि तथाऽनभिधाय "ठिइप्पमाणं तु सयमुज्झं" इत्येवं मुकुलिताभिधानं ग्रन्थान्तरदृष्टपाठविरोधपरिहारार्थम् । किञ्चाऽऽयुष्क-तदितरप्रकृतिस्थितिबन्धाऽध्यवसायानां न तथा-विधं मिथः साहचर्यमुपलभ्यते यदवलम्ब्य यत्र केवला लब्ध्यपर्याप्तजीवाः प्रविष्टास्तत्र तथाविधसंनि-कर्षोऽनुमीयेत, तथाच तथाविधव्याप्त्यतिक्रान्तं किञ्चित्केवलिदृष्टं शेषबध्यमानप्रकृतेः संख्येयगुण-हीनोत्कृष्टत्वमेव संख्येयभागोनोत्कृष्टत्वमेव तदुभयविधमेव वा स्यात्तदाऽपदार्थप्रतिपादनं मा भवत्विति, यद्वा पदार्थसंग्राहकादीनां प्रस्तुतपदार्थविषयकव्यक्तावबोधाभावप्रदर्शकं तदिति अवधार्यम् । इत्थमेवा-ऽन्यत्राऽपि 'सयमुज्झं' इत्यादौ ज्ञेयमिति ॥१२२१॥

अथोक्तशेषमनुष्यद्विकाद्येकोनत्रिंशत्प्रकृतिप्रधानं प्रस्तुतसंनिकर्षं सापवादमतिदिशति—

सेसाणं णामाण गुरुबंधी बंधए सठाणव्व । णामाणं अण्णेसिं थिव्व परं संखभागूणं ॥
दुइअतइअसंघयणा-ऽऽगिइगुरुबंधी णपुंस-थीण सिआ । णियमाऽण्णणामगुरुठिइबंधी बंधइ णपुंसस्स ॥
॥१२२२-२३॥

(प्रे०) "सेसाणं" इत्यादि, अक्षरार्थः सुगमः, उक्तशेषा नामप्रकृतयस्त्विमा एकोनत्रिंशत्-मनुष्यद्विक-विकलत्रिक-पञ्चेन्द्रियजात्यौ-दारिकाङ्गोपाङ्ग -प्रथमवर्जसंहननपञ्चक -मध्यमसंस्थानचतुष्टय-कुखगति पराघातो-च्छ्वासाऽऽतपो-द्योत-त्रसचतुष्क-स्थिरादित्रय-दुःस्वरनामानीति । स्वस्थानवदित्यदेशो गतार्थः । "थिव्व" इत्यनेन तु 'थीगुरुबंधी णियमा धुवुरालियदुग-पणिंदि-णीआण' इत्यादिना (१२१२-१३) गाथाद्वयेन प्रस्तुतमार्गणाप्रतिपादितस्त्रीवेदप्रधानसंनिकर्षवद्भवति, स्त्रीवेदवत्प्रस्तुतशेषप्रकृतिविच्छेदुत्तरमेव नामेतरासां मतिज्ञानावरणादीनां यथोक्तक्रमे विच्छेदलाभात् , केवलं स्त्रीवेदस्य प्राधान्यात् नपुंसकवेदस्य बन्धः प्रतिषिद्धः, इह तु मनुष्यद्विकादेः प्राधान्यात् नपुंसकवेदस्याऽसौ वाच्यः, न केवलं तावत् मनुष्यद्विकाद्यन्तर्गतं द्वितीय-तृतीयसंहननसंस्थानलक्षणं प्रकृतिचतुष्टयं स्त्रीवेदविच्छेदस्थानादपि पूर्वस्थानवर्ति, तथाच तत्प्रधानसनिकर्षे नपुंसकवेदबन्धवत् स्त्रीवेदस्याऽपि बन्धो वाच्यः, स च प्रकृतिचतुष्टयप्रधानसंनिकर्षे स्वविच्छेदस्थानादुत्तरवर्तित्वाद्वेदद्वयस्य बन्धस्स्याद्भवति, प्रकृतिचतुष्टयवर्जमनुष्यद्विकादिप्रकृतिप्रधानसंनिकर्षे तु केवलस्य नपुंसकवेदस्यैवोत्तरवर्तित्वात्तस्य नपुंसकवेदस्याऽसौ ध्रुवं भवतीत्यतः "परं संखभागूणं" इत्यनेन विशेषः प्रतिपादितः, तत्र संख्येयभागोनता प्रागुक्तनीत्या स्त्रीवेदादेः प्रधानीकृतप्रकृत्याऽसमस्थानवर्तित्वात् । शेषं तु गतार्थमिति ॥१२२२-२३॥

अथ प्रस्तुताऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादित्रयोदशमार्गणास्वेवोक्तशेषोच्चैर्गोत्रप्रधानं प्रस्तुतसंनिकर्षमाह—

णरउरलदुग-पणिंदिय-परघा-ऊसास-तसचउक्काणं । धुवबंधीण य णियमा संखियभागूणमुच्चगुरुबंधी ॥
बंधइ सखरूण दुवेअणीअ-सगणोकसायाण । दुखगइ-संघयणा-ऽऽगिइछग-छथिराइजुगलाण सिआ ॥
॥१२२४-२५॥ (प्रथमा गीति)

(प्रे०) "णरउरलदुगे" त्यादि, सुगमे, उपपत्तिस्तु पुंवेदादिप्रकृतिवत्कार्या, केवलं प्रस्तुतस्योच्चैर्गोत्रस्य यथोक्तबन्धविच्छेदक्रमे तृतीयस्थानगतत्वेन पुंवेदादीनां सप्तानामिह संख्येयभागोनोत्कृष्टस्थितिबन्धो द्रष्टव्यः,सप्तानां स्याद्बन्धश्च, तिर्यग्द्विकादीनां निषेधस्तूच्चैर्गोत्रविरोधित्वेन नीचैर्गोत्रस्य तदविनाभाविबन्धानां तिर्यग्द्विकादीनां च बन्धाभावाद्, अत एव मनुष्यद्विकादीनां नियतबन्धोऽपि विज्ञेय इति ॥१२२४-२५॥

तदेवं प्रतिपादितः क्रमप्राप्ताऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणायां तत्तुल्यवक्तव्यत्वादपर्याप्तमनुष्य-सर्वविकलभेदा-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिया ऽपर्याप्तत्रसमार्गणासु च प्रस्तुतः परस्थानोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षो गाथाऽष्टादशकेन । सम्प्रति क्रमप्राप्तमनुष्यौघ-मनुष्यपर्याप्त मानुषीमार्गणात्रये तं विभणिषुस्तत्तुल्यवक्तव्यत्वादौदारिककाययोगमार्गणामपि सममेव संगृह्य कथयति—

तित्था-ऽऽहारदुगाणं तह देवाउस्स तिणर-उरलेसुं । ओघव्व सण्णियासो तिरियव्व हवेज्ज सेसाणं ॥
॥१२२६॥

(प्रे०) "तित्थे"त्यादि, अक्षरार्थः सुगमः, भावार्थोऽपि तथा, यतस्तीर्थंकरनामकर्मादि प्रकृतिचतुष्टयोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वस्यौघ--प्रस्तुतमार्गणास्वविशेषत्वमस्ति प्रकृतिचतुष्टयवर्जशेष-प्रकृत्युत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वादेस्तिर्यगोघ-प्रस्तुतमार्गणास्वविशेषत्वं च विद्यते, तथाच संनिकर्षो-ऽपि तद्वदेव प्राप्यत इति ॥१२२६॥

एतर्हि क्रमप्राप्तदेवगतिमार्गणासु प्रस्तुतं निजिगदिषुरार्याष्टकेन देवगत्योघे प्राह--

[1]देवे एगस्स धुव-असाय-अरइ-सोग-णपुम-णीआओ। तिरिदुगु-रल-बायरतिग-परघा-ऊसास-हुंडाओ ॥
[2]पणअथिराईओ गुरुबंधी अण्णाण बधए णियमा। जेट्ठमजेट्ठं व ठिइ पणिंदि-एगिंदियाण तहा ॥
[3]उरलोवगस्स तहा छिवट्ठ-थावर-तसा-ऽऽयवदुगाण। दुस्सरखगईण सिआ उज्जोअस्सेवमेव भवे ॥
[4]सायस्स जेट्ठबंधी गुरुमगुरुं व रइ-हस्स-पुरिसाणं। वइर-सुहागिइ-सुखगइ-थिरछक्कु-च्चाण कुणइ सिआ॥
[5]णियमा धुववधि-उरल-परघा-ऊसास-बायरतिगाणं। बधइ दुभागहीण सिआ णपुम-सोग-अरईण ॥
[6]तिरिजाइदुगाण तहा छिवट्ठ-हुंडग-उरालुवगाण। आयवदुग-कुखगइ-तस-थावर-अथिरछग-णीआणं ॥
[7]थी-मणुयदुगाण सिआ तिभागहीणं तु संखभागूण। संघयणागिइचउगाणेवं रइ-हस्स-थिर-सुह-जसाणं ॥
[8]एगिंदि-थावरा-ऽऽयवगुरुबधी बधए सठाणव्व। णामाण अण्णाण णपुमव्व णिरयव्व सेसाणं ॥
॥१२२७-३४॥ (सप्तमी गीतिः)

(प्रे०) "देवे" इत्यादि, अक्षरार्थः सुगमः, केवलं षष्ठगाथापूर्वार्धे "तिरिजाइदुगाण" इत्यनेन तिर्यग्द्विकै-केन्द्रियजाति पञ्चेन्द्रियजातिनामलक्षणाश्चतस्रः प्रकृतयो बोद्धव्याः, एवमेव सप्तमगाथोत्तरार्धस्थेन "संघयणा-ऽऽगिइचउगाणे" त्यनेन मध्यमसंहननचतुष्टयी मध्यमसंस्थान-चतुष्टयी च वेदितव्ये। उपपत्तिस्तु प्रागिव कार्या, तद्यथा--आद्यगाथात्रयेण ध्रुवबन्ध्यादिषट्षष्टिप्रकृतिप्रधानसंनिकर्षः पठितस्तत्र ध्रुवबन्ध्याद्याः षट्षष्टिस्तथा "पणिंदिएगिंदियाण तहा" इत्यादिना भणिताः पञ्चेन्द्रियाद्या दश प्रकृतयो वर्गोत्कृष्टस्थितिकाः, किञ्च प्रस्तुतमार्गणायां सर्वनिकृष्टं पारभविकोत्पत्तिस्थानं पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्लक्षणं पर्याप्तप्रत्येकबादरैकेन्द्रियलक्षणं च, ध्रुवबन्ध्याद्याः षट्षष्टिप्रकृतयस्तदुभयप्रायोग्या इति तासां नियमबन्धो भणितः, आतपद्विकवर्जपञ्चेन्द्रियाद्या अष्ट तु केवलपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्या एव यद्वैकेन्द्रियप्रायोग्या एव, न तूभयप्रायोग्यास्तेनान्यान्यजीवा-नपेक्ष्य तद्बन्धबन्धाभावलाभात् तासां स्याद्बन्धो भणितः। आतपद्विकस्य तु सर्वत्र स्याद् इति भणि-तमेव। द्विविधस्थितिबन्धस्तु तासां सर्वासां प्रधानीकृतमतिज्ञानावरणादिवद्वर्गोत्कृष्टत्वादित्येवं भावनीयं यथासम्भवं पूर्वोक्तनियमानुसारेण। "सायस्से"त्यादिचतुर्थप्रभृतिगाथाचतुष्टयेन सातवेदनीय-प्रधानः साक्षात्तथा रति-हास्य-स्थिर-शुभ-यशःकीर्तिनामप्रधानस्त्वतिदेशेन भणितः, तत्राऽपि तुल्य-स्थितिकानां रतिहास्यादीनां प्रतिपक्षसहितबन्धप्रायोग्यत्वात् स्याद् द्विविधस्थितेर्बन्धः, ध्रुवबन्ध्यादीनां वर्गोत्कृष्टत्वेन द्विभागोनवर्गोत्कृष्टस्थितेर्नियमतो बन्धश्चेत्यादि प्रागिवाभ्यूह्यम्। "एवमेव एगिंदिये"त्यादिचरमगाथार्थोऽपि भावनीयः, केवलं "णिरयव्व सेसाण"मित्यत्र शेषप्रकृतय इमा

अष्टाविंशतिः-स्त्रीवेद-पुंवेदमोहनीय-तिर्यगायुष्क-मनुष्यत्रिक-पञ्चेन्द्रियौदारिकाङ्गोपाङ्ग-संहननषट्क-हुंडवर्जसंस्थानपञ्चक-खगतिद्विक-जिन-त्रस-सुभगत्रिक-दुःस्वरो-च्चैर्गोत्राणीति । आसां नरकगत्योघमार्गणावत्संनिकर्षस्तु तिर्यगायुर्विहाय सर्वासामेकेन्द्रियाऽप्रायोग्यत्वात्तिर्यगायुषोऽप्युत्कृष्टस्थितिकस्य केवलपञ्चेन्द्रियप्रायोग्यत्वाच्चेति ॥१२२७-३४॥

तदेवं भणितो देवौघे बन्धप्रायोग्यसर्वोत्तरप्रकृतिपरस्थानोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षः, सम्प्रति तमेव पञ्चसु क्रमप्राप्तेशानान्तदेवगत्युत्तरमार्गणासु प्राहाऽऽर्यापञ्चकेन—

[1]ईसाणंतेसु गुरुबंधी एगस्स धुव-असायाओ । णीअ-अरइ-सोग-णपुम-परघा-ऊसास-हुंडाओ ॥
[2]तिरिदुगि-गिंदिय-बायरति-गुरल-थावर-पणाथिराईओ । णियमाऽण्णाण गुरुमुअ अगुरुं सिआ-ऽऽयव-दुगस्स एवं से ॥
[3]आऊण सुरव्व तह रइ-हस्स-सायु-च्च-थी-पुमाण परं । संखंसूणं कुखगइ-सरु-वंग-पणिंदि-तस-छिवट्ठाणं ॥
[4]सट्ठाणव्व पणिंदि-कुसरखगइ-छिवट्ठ-वंग-तसबंधी । णामाणं सोगा-ऽरइ-णपुम-धुव-असाय-णीआणं ॥
[5]णियमा संखतूण ठिइं कुणइ सेसणामगुरुबंधी । णामाण सठाणव्व उ बंधइ णिरयव्व सेसाणं ॥
॥१२३५-३९॥ (द्वितीया तृतीया च गीतिः)

(प्रे०) "**ईसाणंतेसु**" इत्यादि, अक्षरार्थः सुगमः, केवलं द्वितीयगाथापूर्वार्धस्थेन "**उरल**" इत्यनेनौदारिकदेहनाम बोध्यम् , तृतीयगाथोत्तरार्धे "**कुखगइसर**" इत्यत्र कुशब्दः खगतिस्वरयोः प्रत्येकं सम्बध्यते, "**उवंग**" इत्यनेनौदारिकाङ्गाङ्गोपाङ्गनाम च बोध्यम् , एवमेव चतुर्थगाथापूर्वार्धेऽपि "**कुसरखगई**" इत्यनेन दुस्वरा-ऽप्रशस्तविहायोगतिनाम्नी "**उवंग**" इत्यनेनौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम च । पञ्चमगाथायां "**सेसनामगुरुबंधी**" इत्यत्र भणितशेषप्रकृतय इमा विंशतिः—मनुष्यद्विक-सेवार्तवर्जसंहननपञ्चक-हुंडकवर्जसंस्थानपञ्चक-प्रशस्तविहायोगति-जिन-स्थिरषट्कानीति । मूले-तत्तत्प्रकृतिप्रधानसंनिकर्षविभागस्त्वेवम्—आद्यगाथाद्वयेन ध्रुवबन्धिन्यसातवेदनीयादिसप्ततिप्रकृतिप्रधानः संनिकर्षः, तत्राऽपि आतपोद्योतनाम्नोस्तु '**एवं से**' इत्यतिदेशेन, अतिदेशस्तु प्राग्वद् योज्योऽसौ । तृतीयगाथायां '**आऊण सुरव्व**' इत्यनेन बन्धप्रायोग्यतिर्यग्मनुष्यायुर्द्वयप्रधानः संनिकर्षः सर्वथा देवगत्योघवत् सातवेदनीयादीनां षण्णां प्रकृतीनां तु '**हस्स-रइ**' इत्यादिना गाथाशेषेण सापवादं देवगत्योघवच्च दर्शितः, चतुर्थगाथाप्रारम्भादारभ्य पञ्चमगाथास्थं '**ठिइं कुणइ**' इत्यन्तेन पञ्चेन्द्रियौदारिकाङ्गोपाङ्ग-सेवार्तसंहनन-कुखगति-त्रस-दुःस्वरलक्षणषट्प्रकृतिप्रधानः संनिकर्षः, पञ्चमगाथाशेषेणोक्तशेषमनुष्यद्विकादिविंशतिप्रकृतिप्रधानोऽसौ प्रतिपादितश्च । उपपत्तिस्तु प्रागिव सर्वनिकृष्टपारम्भिकस्थानप्रायोग्यत्वादिकं दृष्ट्वा कार्या पूर्वोक्तनियमानुसारेण तत्तत्प्रकृतीनामिति ॥१२३५-३९॥

तदेवं प्रतिपादित ईशानान्तदेवमार्गणासु प्रस्तुतसंनिकर्षः, सनत्कुमारादिसहस्रारान्तदेवमार्गणासु तु प्राग् 'णिरय-पढमाइछणिरय-तइआइगमट्ठमंतदेवेसु' (गाथा-११८३...) इत्यादिना नरकगत्योघादिमार्गणाभिः समं प्ररूपितः, अतः क्रमप्राप्ता-ऽऽनतदेवादिमार्गणासु तं प्रतिपिपादयिषुस्तुल्यवक्तव्यत्वादानतकल्पादिनवमग्रैवेयकान्तत्रयोदशमार्गणाः संगृह्य प्राह—

[1]एगस्स जेट्ठबंधी गेविज्जंतेसु आणयाईसुं । णीअ-अरइ-सोग णपुम-ऽसाय धुव-छिवट्ठ-हुंडाओ ॥
[2]णरउरलदुग-पणिंदिय-परघा-ऊसास-तसचउक्काओ। अथिरछग-कुखगईओ णियमाऽण्णाण गुरुमगुरुं वा॥
[3]साय-रइ-हस्स-पुम-सुखगइआगिइ-वइर-थिरछगु-च्चाओ। एगस्स जेट्ठबंधी गुरुमगुरुं वा सिआऽण्णेसिं ॥
[4]तप्पडिवक्खाण सिआ सखसूरणं तु बंधए णियमा । तित्थाउगवज्जाणं सेसाणं अट्ठवण्णाए ॥
[5]थीगुरुबंधी तिण्ह अंतिमसंघयणआगिईण सिआ । संखेज्जभागहीणं बंधइ णियमा असायस्स ॥
[6]तह धुव-सोगा-ऽरइ-णरउरलदुग-पणिंदि-तसचउक्काणं। परघा-ऊसासाणं कुखगइ-अथिरछग-णीआणं॥
[7]णिरयव्वा-ऽऽउ-जिणाणं संघयणाऽऽगिइचउक्कगुरुबंधी। णामाण सठाणव्व उ बंधइ ओघव्व अण्णेसिं॥
॥१२४०-४६॥

(प्रे०) "**एगस्स**" इत्यादि, तत्राऽऽद्यगाथाद्वये स्वप्रायोग्योत्कृष्टसंक्लिष्टस्वामिकोत्कृष्टस्थितिक-ध्रुवबन्ध्यादिद्विसप्ततिप्रकृतिप्रधानः संनिकर्षः, एतासु परस्परप्रतिपक्षप्रकृतीनामप्रवेशात् मनुष्यगति-प्रायोग्यं बध्नतां ध्रुवबन्ध्यादिवदसातवेदनीयाद्येकैकप्रकृतिबन्धस्याऽऽवश्यकत्वाच्च सर्वासां नियतो बन्धः । **ननु** तथाऽपि कुतो न सातवेदनीयादीनामपि बन्धः ? **इति चेत्**, प्रस्तुतमार्गणाबन्धप्रायो-ग्यासु प्रतिपक्षसहितासु प्रकृतिषु असातवेदनीयादीनामेव स्वप्रतिपक्षप्रकृत्यपेक्षयाऽत्राप्रशस्तत्वेनोत्कृष्ट-संक्लेशे तद्बन्धस्यैव भावादिति । तुल्यसंक्लेशे उत्कृष्टस्थितिबन्धप्रायोग्यप्रकृतिमध्ये एकस्या उत्कृष्ट-स्थितिं बध्नतस्तच्छेषाणामुत्कृष्टोऽनुत्कृष्टो वा स्थितिबन्धो जायत इत्यादि तु सुगमम् । "**साय-रइ**" इत्यादितृतीय-चतुर्थगाथाद्वयेन तु सप्रतिपक्षबन्धप्रायोग्यप्रकृतिषु या ओघतो ह्रस्वतमस्थिति-कास्तासां सातवेदनीयादिचतुर्दशप्रकृतीनां प्राधान्येन संनिकर्षः परिपठितः, तत्र हि "**तप्पडि-वक्खाण**" इत्यनेन प्रधानीकृतसातवेदनीयाद्येकैकां प्रकृतिं विहाय शेषप्रतिपक्षभूतानां द्वाविंशति-प्रकृतीनां संग्रहो बोध्यः प्रागिव, केवलं हास्यरत्योः परस्परमविनाभाविबन्धत्वात्तयोरेकस्या उत्कृष्ट-स्थितिबन्धेऽन्यस्या ध्रुवो बन्धो द्रष्टव्यः, तथा तद्द्वयस्य प्रधानत्वे शेषप्रतिपक्षप्रकृतितया एकविंशति-प्रकृतीनां संग्रहो बोध्यः। जिनाऽऽयुर्वर्जा अष्टपञ्चाशत्प्रकृतयस्त्विमाः-सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिन्यस्तथा मनुष्यद्विक-पञ्चेन्द्रियजात्यौदारिकद्विक-पराघातो-च्छ्वास-त्रसचतुष्काणीति; आसां नियमबन्धः संख्येयभागोनस्थितेश्च बन्धः सुगमः,यतः प्रधानीकृतप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्तत्प्रायोग्यसंक्लेशेनासां तु स्वप्रतिपक्षप्रकृतिबन्धप्रायोग्यत्वाभावादुत्कृष्टसंक्लेशेनेति । एवमेव याः सातवेदनीयाद्यास्तत्प्रतिपक्ष-प्रकृतीनां संख्येयभागोनोत्कृष्टस्थितिबन्धप्रमाणत्वे विभावनीयम् , स्याद्बन्धस्तु तासां प्रतिपक्षसहित-बन्धप्रायोग्यत्वादिहेतुना विभावनीयश्चेति । एवमेव "**थीगुरुबंधी**" इत्यादिना पञ्चम पष्ठगाथाद्वयेन स्त्रीवेदप्रधानसंनिकर्षो भणितः, सप्तमगाथायां "**णिरयव्व आउजिणाणं**" इत्यनेन मनुष्यायुष्क-जिननामप्रधानो दर्शितः । तदनु "**संघयणाऽऽगिइ**" इत्यादिना भणितो मध्यमसंहनन-मध्यम-संस्थानलक्षणाष्टप्रकृतिप्रधानसंनिकर्षोऽपि पूर्वोक्तनियमप्रपञ्चानुसारेण विभावनीयः, नानाप्रतिपक्ष-प्रकृतीनां बन्धप्रायोग्यत्वे तन्मध्याद्या ओघतोऽधिका-ऽधिकतरस्थितिका तत्प्रधानत्वे न्यूनन्यूनतर-स्थितिकानां बन्धाप्रवर्तनात् , न्यून-न्यूनतरस्थितिकानां प्रधानत्वे त्वविरुद्धानां तुल्यस्थितिकानामु-

त्कृष्टादिस्थितिबन्धस्य प्रवर्तनाद् , अधिकाऽधिकतरस्थितिकानां तु यथासंभवं संख्येयभागन्यूनोत्कृष्टस्थितिबन्धस्य प्रवर्तनाच्चेति । उक्ताष्टप्रकृतिषु प्रधानीकृतप्रकृत्या सह बध्यमानशेषनामप्रकृतीनां संनिकर्षः स्वस्थानसंनिकर्षवत् तथा नामवर्जशेषबध्यमानप्रकृतीनां संनिकर्ष ओघवदिति तु सुगमम् ॥१२४०-४६॥

अथ क्रमप्राप्ताऽनुत्तरपञ्चकलक्षणदेवगतिशेषमार्गणासु प्रस्तुतं निगदति—

[1]एगस्सऽणुत्तरेसु सायाई वज्जिआऽट्ठगुरुबंधी । णियमा अण्गाण गुरुं अगुरुं व सिआ जिणस्स एवं से॥(गीति.)
[2]एगस्स गुरुठिइं रइ-हस्सजुगल-साय-थिर-सुह-जसाओ । बंधंतो अण्णासिं बंधइ जेट्ठमियर व सिआ ॥
[3]तप्पडिवक्ख-जिणाणं सिआ उ बंधेइ संखभागूणं । णियमाहिन्तो बंधइ सेसाणं अट्ठवण्णाए ॥
[4]मणुयाउजेट्ठबंधी जिणस्स सायाइबारसण्ह सिआ । संखगुणूण णियमा सेसाणं अट्ठवण्णाए ॥१२४७-५०॥

(प्रे०) "एगस्से" त्यादि, अक्षरार्थः सुगमः, भावार्थः पुनरयम्—अनुत्तरदेवभेदपञ्चके सम्यग्दृष्टय एव जीवाः प्रविष्टाः, तेषां च साता-ऽसातवेदनीय-हास्य-रति शोका ऽरति-स्थिरत्रिका-ऽस्थिरत्रिकलक्षणा द्वादश प्रकृतयः सप्रतिपक्षा इति कृत्वा परावृत्य परावृत्य बध्यन्ते, तथाच तासु द्वादशसु षड् युगलरूपासु याः स्वप्रतिपक्षप्रकृत्यपेक्षयाऽप्रशस्ताः, ओघतो दीर्घस्थितिका इति भावस्ता असातवेदनीयाद्याः षडेवोत्कृष्टसंक्लेशे बध्यन्ते, अन्याः षट् तु तत्प्रायोग्यसंक्लेशे बध्यन्ते, न तूत्कृष्टसंक्लेशे, तथा जिननाम सर्वेषां जीवानां बन्धप्रायोग्यं न भवत्येव, भावितीर्थकृज्जीवानामेव तद्बन्धसम्भवाद् , आयुश्च कादाचित्कं बन्धतः । तथाच विहाय सातवेदनीयादिषट्कं जिननाम मनुष्यायुश्च शेषाणामुत्कृष्टसंक्लेशेऽपि बन्धप्रायोग्याणां मतिज्ञानावरणादीनां चतुःषष्टिप्रकृतीनामन्यतमस्या उत्कृष्टस्थितिं बध्नतस्तच्छेषाणां त्रिषष्टेर्नियमतो द्विविधस्थितेश्च बन्धो भणितः । जिननाम्नस्तु स्याद्बन्धो भणितः, उत्कृष्टसंक्लेशे तद्बन्धाविरोधेन केषाञ्चित्तद्बन्धस्य प्रवर्तनात् केषाञ्चिच्चप्रवर्तनाच्च। आयुषस्तु मानुषस्य शुभोत्कृष्टस्थितिकतयोत्कृष्टसंक्लेशे न भवत्येव बन्ध इति प्राग्दर्शितमेव । जिननामप्रकृतेरुत्कृष्टस्थितेः स्वप्रायोग्योत्कृष्टसंक्लेशजन्यत्वात्तां बध्नतो ध्रुवबन्धिन्यादीनां चतुःषष्टेर्नियमतो द्विविधस्थितेश्च बन्ध इति तु गतार्थम् , ध्रुवबन्धिन्यादीनामुत्कृष्टसंक्लेशे ध्रुवं बध्यमानत्वात् । सातवेदनीयाद्येकैकप्रकृतिप्रधानत्वे तत्प्रतिपक्षभूतैका प्रतिषिध्यते, सातवेदनीयादेरेकस्या बन्धस्याऽऽवश्यकत्वात् , शेषदशप्रकृतीनां तु स्याद्बन्धो भवति, केवलं हास्यरत्योः परस्परमविनाभाविबन्धत्वात् तयोरेकस्या उत्कृष्टस्थितिबन्धेऽन्यस्या ध्रुवो बन्धो द्रष्टव्यः, तथाच तद्द्वयप्रधानत्वेऽष्टानामेव स्याद्बन्धो द्रष्टव्यो जिननाम्नश्चाऽनन्तरोक्तनीत्या, शेषाणामष्टपञ्चशतो बन्धप्रायोग्याणामप्रतिपक्षत्वेन मार्गणाप्रायोग्यध्रुवत्वान्नियतबन्ध एवेति । सातवेदनीयादिप्रधानीकृतप्रकृत्या तुल्यस्थितिकानां द्विविधस्थितेरितरासां तु संख्येयभागोनोत्कृष्टस्थितेरित्यादि सर्वं प्रागिव भावनीयम् । आयुरुत्कृष्टस्थितिं बध्नतस्तु सर्वासां संख्येयगुणोनो भवतीति तु ओघवद्गतार्थमेव, तत्र सातादीनां स्याद्बन्धः शेषाणां तु नियमत इत्येतत् सातवेदनीयादिप्रधानसंनिकर्षवद्भिावनीयमिति ॥१२४७-५०॥

तदेवं भणितः सर्वेषु गतिमार्गणास्थानेषु प्रस्तुतः परस्थानोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षः, तुल्यवक्तव्यत्वादपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिना समं सर्वविकलेन्द्रियादिमार्गणास्वपि । साम्प्रतं क्रमप्राप्तेन्द्रियमार्गणास्थानेष्वसौ वक्तव्यस्तत्र विकलेन्द्रियमार्गणाभिस्तुल्यप्रायवक्तव्यत्वादेकेन्द्रियादिमार्गणास्वतिदिदिक्षुः पृथिव्यादिकायमार्गणा अपि सममेव संगृह्याह—

सव्वाण सव्विगिंदिय-पणकायेसु विगलिंदियव्व भवे । णवरि असखंसहियं बंधइ संखंसहियठाणे ॥
सव्वागणिवाऊसुं णरतिग-उच्चाण णत्थि बंधो तु । तिरिदुग-णीआण सिआ बंधो जत्थऽत्थि तत्थ णियमा सिं ॥१२५१-५२॥ (द्वितीया गीति)

(प्रे०) "सव्वाण" इत्यादि, अक्षरार्थः सुगमः, भावना तु प्रस्तुतमार्गणादर्शितनामस्वस्थानसंनिकर्षभावनावत्कार्या स्वयमेव, तयैव गतार्थप्रायत्वादिति ॥१२५१-५२॥

तदेवं भणित एकेन्द्रियमार्गणासप्तके तत्साम्यात् त्रसकायवर्जपृथिव्याद्येकोनचत्वारिंशत्मार्गणासु प्रस्तुतपरस्थानोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षः, विकलेन्द्रियमार्गणानवके तु प्रागपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिमार्गणाभिः सममसौ प्रतिपादित इत्यतः क्रमप्राप्तपञ्चेन्द्रियौघादिमार्गणाद्वये तं प्रतिपिपादयिषुस्तुल्यवक्तव्योपेतास्त्रसौघादिमार्गणा अपि सममेव संगृह्य प्राह—

ओघव्व सण्णियासो सप्पाउग्गाण होइ सव्वेसिं । दुपणिंदितसेसु तहा पणमणवयकायजोगेसुं ॥
पुरिस-चउकसायेसु तिअणाणा ऽजय-अचक्खु-चक्खूसुं । भविया-ऽभवियेसु तहा मिच्छे सण्णिम्मि आहारे॥
णवरं सुराउबंधी तिअणाण-अजय अभविअ-मिच्छेसुं । ण जिण संखगुणूणं णियमा मिच्छाइसोलसधुवाणं ॥१२५३-५५॥ (तृतीया गीतिः)

(प्रे०) "ओघव्व" इत्यादि, गाथात्रयाक्षरार्थः सुगमः, भावार्थोऽपि तथा, केवलं तृतीयाऽपवादगाथा, तत्र च "मिच्छाइ" इत्यादिना मिथ्यात्वस्त्यानर्द्धित्रिकसंज्वलनवर्जकषायद्वादशकलक्षणषोडशप्रकृतीनां संग्रहः, "णवरं" इत्यादिना अपवादकरणं तु नासीदोघतः प्रमत्तसंयतानां देवायुरुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वेन संज्वलनवर्जकषायाणां मिथ्यात्वस्य स्त्यानर्द्धित्रिकस्य वा बन्धः, मत्यज्ञानादिप्रस्तुतमार्गणाषट्के तु मिथ्यादृष्टय एव देवायुरुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनः, तेषां चान्यध्रुवबन्धिनीवत्कषायद्वादशकस्त्यानर्द्धित्रिक-मिथ्यात्वमोहनीयानामपि ध्रुवो बन्धः, जिननाम्नस्त्वबन्ध एव च, तथाच देवायुरुत्कृष्टस्थितिं बध्नताऽपि एताः षोडशप्रकृतयोऽवश्यं बध्यन्तेऽसंयममार्गणाया बन्धप्रायोग्यमपि जिननाम न बध्यते चेति 'ण जिण' मित्यनेन जिननामबन्धः प्रतिषिद्धः "मिच्छाइ" इत्यादिना मिथ्यात्वादिषोडशप्रकृतिबन्धो विहितश्चेति । स्थितिबन्धः पुनस्तासां संख्येयगुणोनोत्कृष्ट इति तु सुगमः, शुभायुर्बध्नतामायुर्वर्जान्यतमप्रकृतेरुत्कृष्टतोऽपि अन्तःकोटीकोटीसागरोपमस्थितिबन्धस्यैव भावादिति ॥१२५३-५५॥

अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियादिमार्गणाद्वये तु प्रागपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिमार्गणाभिः समं प्रतिपादितः प्रस्तुतः संनिकर्ष इति गत इन्द्रिय-कायमार्गणास्थानेषु अपि प्रस्तुतः संनिकर्षः, तदनु

क्रमप्राप्तयोगमार्गणाभेदेषु प्रतिपादनीयोऽसौ, तत्र मनोयोगपञ्चक-वचोयोगपञ्चक-काययोगसामान्य-लक्षणैकादशमार्गणास्वनुपदमेव पञ्चेन्द्रियौघादिमार्गणादिना साकमोघवत्प्रतिपादितोऽसौ; औदारिक-काययोगे तु प्राक् 'तित्थाहारदुगाण तह देवाउस्स तिणर-उरलेसु । ओघव्व सण्णियासो विरियव्व हवेज्ज सेसाणं ॥१२२६॥' इत्यत्र मनुष्यौघादिभिः समं भणित इत्यतः क्रमप्राप्तौदारिकमिश्रयोगे तमाह—

णामाए उरलमीसे देवविउव्वदुग-तित्थ-गुरुबधी । सट्ठाणव्व उ बधइ णियमा संखेज्जगुणहीण ॥
तीसधुववधिणीणं असाय-पुम-अरइ-सोग-उच्चाणं । सेसाण विण्णेयो असमत्तपणिदितिरियव्व ॥
॥१२५६-५७॥

(प्रे०) "णामाए" इत्यादि, अक्षरार्थः सुगमः, भावार्थस्त्वयम्—"देवविउव्वदुगतित्थ" इत्यादिना देवद्विकादिपञ्चप्रकृतिप्रधानसंनिकर्षः कथितः, "सेसाणं विण्णेयो" इत्यादिना तु प्रकृतिपञ्चकवर्जशेषप्रस्तुतमार्गणाबन्धप्रायोग्यमतिज्ञानावरणादिनवोत्तरशतप्रकृतिप्रधानोऽसावतिदिष्टः, तत्र प्रकृतिपञ्चकं प्रस्तुतमार्गणायां सम्यग्दृष्टिस्वामिकमेवेति तत्प्रधानसंनिकर्षे नामप्रकृतीनां स्वस्थान-वत्स्याद्बन्धादिकं सुगमम् , नामेतरप्रकृतिषु त्रिंशतो ध्रुवबन्धिनीनामसात-पुंवेदा-ऽरति-शोको-च्चैर्गोत्राणामेव बन्धो भवति; नान्यासाम् । मिथ्यात्वमोहनीयादीनां ध्रुवबन्धिनीनां तथा सातवेदनीयादी-नामध्रुवबन्धिनीनामित्थं बन्धाभावः—सम्यग्दृशां मिथ्यात्वमोहनीयादीनां बन्धाभावः, असातवेद-नीय-शोका-ऽरतिप्रतिपक्षभूतानां सातवेदनीयादीनां बन्धप्रायोग्यत्वेऽपि स्वप्रतिपक्षप्रकृत्यपेक्षया तासां प्रशस्तत्वाद् देवद्विकादिप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धे तद्बन्धाभावः। पुंवेदस्य तु प्रतिपक्षप्रकृत्योर्बन्ध-प्रायोग्यत्वाभावाद् भवति बन्धः । तासां ध्रुवबन्धिन्यादीनां संख्येयभागोनोत्कृष्टस्थितिबन्धस्तु सुगमः, तासामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य मिथ्यादृक्स्वामिकत्वात् , सम्यग्दृशां तु ततः संख्येयगुणहीनस्थितिबन्ध-भावाच्च । प्रकृतिपञ्चकं वर्जयित्वा शेषप्रकृतिप्रधानसंनिकर्षोऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणावदिति तु सुगमम् , तद्वत्प्रस्तुतमार्गणायामपि शेषप्रकृत्युत्कृष्टस्थितिं बध्नतां तिर्यग्मनुष्यत्वे सति अपर्याप्त-सूक्ष्मसाधारणत्वस्यैव निकृष्टस्थानरूपत्वात् तिर्यग्मनुष्यप्रायोग्यप्रकृतीनामेव बन्धप्रायोग्यत्वाच्चेति ॥१२५६-५७॥ अथ वैक्रिय तन्मिश्रयोगमार्गणयोः प्रस्तुतसंनिकर्षं प्राह——

देवव्व विउव्वदुगे णवरि गुरुमुअ अगुरुं विउवमीसे । जाए ण जिणं विणुत्ता सिं बधइ संखभागूणं॥१२५८॥

(प्रे०) "देवव्व" इत्यादि, कण्ठ्या, परं जिनं विहाय यस्याः कस्या अपि प्रकृतेः प्रधान-भावे यासां यासां प्रकृतीनामुत्कृष्टानुत्कृष्टादिलक्षणद्विविधस्थितिबन्धो न भणितः किन्तु द्विभागा-द्यूनोत्कृष्टो भणितः, यथा—'सायस्से'त्यादिना सातवेदनीयप्राधान्ये ध्रुवबन्धिन्यादीनां द्विभागो-नोत्कृष्टः, स्त्रीवेदादीनां तु त्रिभागोनोत्कृष्ट इति । तासां वैक्रियमिश्रमार्गणायामसौ द्विभागोनादिर्न वक्तव्यः किन्तु संख्येयभागोन एव वक्तव्य इत्यपवादकथनमपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिमार्गणाव-द्वैक्रियमिश्रयोगेऽप्यपर्याप्तावस्थजीवानां प्रवेशादिति । जिनस्य वर्जनं तु तस्य सम्यग्दृक्स्वामिक-त्वात् , तदीयोत्कृष्टस्थितिं बध्नतो बध्यमानानां सर्वासामुत्कृष्टस्थितेर्मिथ्यादृष्टिस्वामिकत्वाच्चेति ।

आउगवज्जाणुदही कोडाकोडीउ जत्तिआऽबाहा ।
तावइआ च्च सयसमा तदूणियो कम्मणणिसेगो ॥६५॥
ताण खलु अवाहाओ ठिइबंधा अंतकोडिकोडीए ।
सगलहुठिइबंधं जा सव्वह हवए मुहुत्तंतो ॥६६॥
आऊण जाणियव्वो ठिइबंधो चेव कम्मणणिसेगो ।
जेट्ठावाहा पुव्वा कोडितिभागो लहू मुहुत्तंतो ॥६७॥ (गीतिः)

(प्रे०) "**आउगवज्जाण**" इत्यादि, आयुष्कप्रकृतिचतुष्टयवर्जानां शेषोत्तरप्रकृतीनां "**कोडाकोडीउ जत्तिआ**" त्ति यावत्यः सागरोपमकोटिकोटयः, स्थितिबन्धप्रमाणं वक्ष्यत इति शेषः, "**ऽबाहा तावइआ च्च सयसमा**" त्ति तावत्यः '**शतसमाः**' वर्षशतानि अबाधा प्राग् निरुक्तस्वरूपाऽवमातव्या । "**तदूणियो कम्मणणिसेगो**' त्ति तया अबाधया "**ऊनः**" न्यूनः-न्यूनस्थितिप्रमाणः कर्मदलनिषेकश्च ज्ञातव्यः । सागरोपमकोटीकोटीतो हीनस्थितिबन्धे आह—"**ताण खलु**" इत्यादि,तासामायुर्वर्जशेषोत्तरप्रकृतीनामेव सागरोपमाणामन्तःकोटिकोटीत आरभ्याधः '**सगलहुठिइबंधं जा**' त्ति अन्तर्मुहूर्त्तादिमानं स्वीयस्वीयजघन्यस्थितिबन्धं यावत् "**सव्वह हवए मुहुत्तंतो**" त्ति अस्य च '**अबाहाओ**' इति पूर्वेणान्वयस्ततः सर्वत्राऽन्तर्मुहूर्तमबाधा भवतीत्यर्थः ।

अथाऽऽयुषः स्थितिबन्धे तर्हि कोऽबाधा-निषेकनियमः ? इत्याह--"**आऊणे**"त्यादि, आयुषां नरक तिर्यग्-मनुष्य-देवायुःप्रकृतिलक्षणानां "**जाणियव्वो ठिइबंधो चेव कम्मणणिसेगो**" त्ति यावत् स्थितिबन्धप्रमाणं वक्ष्यते तावानेव कर्मपुद्गलनिषेको ज्ञातव्यः । कथम् ? इति चेद् , आयुषामबाधाया दलनिषेकाऽनधीनत्वेन तदीयानुभवयोग्यतालक्षणस्थितिबन्धप्रमाणस्यैव वक्ष्यमाणत्वात् , अबाधायाः पृथग् दर्शयिष्यमाणत्वाच्च, केवलं तत्रौघोत्कृष्टस्थितिबन्धे सत्युत्कृष्टाबाधा पूर्वकोटित्रिभागमाना ओघजघन्यस्थितिबन्धे सति जघन्याबाधाऽन्तर्मुहूर्तमाना भवति, एतदेवाह-"**जेट्ठावाहा**" इत्यादि गतार्थम् । इह ह्यायुषामबाधा-निषेकनियमाभावस्तु तदीयाबाधाया वेद्यमानायुरवशेषाधीनत्वात् , निषेकस्य तु बध्यमानपारभविकायुःसम्बन्धित्वाच्चेत्यादि **मूलप्रकृतिस्थितिबन्धविधानद्वितीयाधिकाराद्वारे** प्रस्तुतनियमप्रतिपादकगाथा-(३४-३५-३६)-वृत्तौ विवृतमस्माभिः सविस्तरमिति तत एव विज्ञातव्यं जिज्ञासुनेति गाथात्रयार्थः ॥६५-६७॥

तदेवमुक्तो लाघवार्थं पृथगेवोत्तरप्रकृतीनामबाधा-निषेकप्रमाणनियमः । एतर्हि तासामुत्कृष्ट-जघन्यभेदभिन्नं स्थितिबन्धप्रमाणं द्रष्टव्यम् । तदपि पूर्ववदोघतो मूलोत्तरभेदभिन्नेषु निरयगत्योघादिसप्तत्युत्तरशतमार्गणास्थानेषु च, तत्रादौ तावदुत्कृष्टस्थितिबन्धप्रमाणमोघतोऽभिधित्सुराह—

धुव-उरलाणं णियमा संखंसूणं सिआऽण्णपयडीणं। सुरविउवदुग-विगल-जिण-ऽसायूणाण रइहस्सगाणेवं ॥१२६५ ६६॥ (द्वितीया गीति.)

(प्रे०) "**सायस्स जेट्ठबंधो**" इत्यादि, तत्र रत्यादीनामुत्कृष्टोऽनुत्कृष्टो वा स्थितिबन्धस्तासां प्रधानीकृतसातवेदनीयवद्द्विभागोनवर्गोत्कृष्टस्थितिकत्वात् , ध्रुवबन्धिन्यादीनां संख्येयभागोनोत्कृष्टस्थितिबन्धस्तासां द्विभागतोऽधिकत्रिभागाद्यूनवर्गोत्कृष्टस्थितिकत्वात् , स्याद्बन्धस्तु कासाञ्चिद्रत्यादीनां प्रतिपक्षसहितबन्धप्रायोग्यत्वादित्यादि विभावनीयम् । अक्षरार्थः सुगमः, केवलं द्वितीयगाथापूर्वार्धे'ऽण्णपयडीण'मित्यनेनाऽन्याः प्रकृतयो मार्गणाप्रायोग्या बोध्याः,तासु"**सुरविउवदुग**" इत्यादिना असातवेदनीयस्य वर्जनं तस्य प्रधानीकृतसातवेदनीयप्रतिपक्षभूतत्वात् प्राग्वत् , देवगत्यादिप्रकृतिचतुष्टयस्य जिननाम्नश्च वर्जनं तु प्रधानीकृतप्रकृत्युत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनां मिथ्यादृष्टित्वेन प्रस्तुतमार्गणासु सम्यग्दृष्टिस्वामिकानां तासां देवगत्यादीनां बन्धाभावात् ,विकलत्रिकस्य वर्जनं तु प्रस्तुतमार्गणाद्वये सातवेदनीयोत्कृष्टस्थितिं बध्नतामेकेन्द्रियप्रायोग्यस्य तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यस्यैव वा बन्धभावाद् विकलत्रिकस्य तु तद्द्वयाऽप्रायोग्यत्वाच्चेत्यादि विस्तरेण प्रागिव विभावनीयमिति । "**रइहस्सगाणेवं**" इति रतिहास्यप्रकृतिद्वयप्रधानसंनिकर्षातिदेशः । इह हि रतिहास्यप्रकृत्योर्यद् युगलं तत्प्रधानः संनिकर्षो वाच्यः, तथाच शोका-ऽरत्योः युगपद् वर्जनं सम्पद्येत, यद्वा रत्यादेरेकैकस्याः प्रधानत्वेऽपि व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेस्तत्तदन्यप्रकृतिमध्ये पुरुषवेदादीनां स्याद्बन्धेऽपि रतियुगलावयवलक्षणस्य हास्यादेर्नियतबन्धो द्रष्टव्यः, न पुनः पुंवेदादिवत् स्याद्बन्धः, एवं शोका ऽरतियुगलस्यैव प्रतिषेधो बोद्धव्यः, न पुनः प्रधानीकृतरतिहास्याऽन्यतरस्या एकस्याः प्रतिप्रपक्षभूताया अरत्यादेरेवेति; कुतः ? रति-हास्ययोः परस्परमविनाभाविबन्धत्वाद् एवं शोका-ऽरत्योरपि तथात्वादिति ॥१२६५-६६॥

अथ प्रस्तुतकार्मणा-ऽनाहारकमार्गणयोरेव स्त्रीवेदप्रधानं प्रकृतसंनिकर्षमाह—

थीगुरुबंधी णियमा असाय-धुव-सोग-अरइ-णीआणं । पंचिंदियु-रलदुग-परघा-ऊसास तसचउगाणं ॥
अथिरछग-कुखगईणं संखंसूणं सिआ तिरिदुगस्स । संघयणागिइतिग-उज्जोआए दुहा सिआ णरदुगस्स ॥
॥१२६७ ६८॥ (द्वितीया गीति.)

(प्रे०) "**थीगुरुबंधी**" इत्यादि, सुगमम् , केवलं स्त्रीवेदं बध्नतामेकेन्द्रियप्रायोग्यस्य बन्धाभावेन पञ्चेन्द्रियजात्यादीनां नियतबन्धप्रवृत्तेरप्यसातवेदनीयादीनां तन्नियतत्वे तिर्यग्द्विकादीनां स्याद्भावे चाऽसातवेदनीयादिप्रतिपक्षप्रकृतीनां प्रधानीकृतस्त्रीवेदोत्कृष्टस्थितितो न्यूनतया बन्धभावेन प्रतिपक्षप्रकृतिविरहितत्वात् , तिर्यग्द्विकादिप्रतिपक्षप्रकृतीनां मनुष्यद्विकादीनां प्रधानीकृतप्रकृत्या तुल्याऽधिकस्थितिकत्वादिना बन्धप्रायोग्यतया तिर्यग्द्विकादीनां प्रतिपक्षप्रकृतिसहितत्वादिति हेतुर्बोध्यः । उद्योतस्य तु स्वत एवेत्येवं विस्तरतो पूर्वोक्तनियमाद्यनुसारेण विभाव्यमिति ॥१२६७-६८॥

अथ पुरुषवेदं प्रधानीकृत्य साक्षादुच्चैर्गोत्रं प्रधानीकृत्यातिदेशेन च प्रकृतमाह—

जिनोत्कृष्टस्थितिं बध्नतस्तु शेषबध्यमानानां देवगत्योघवदिहापि संख्येयगुणोनोत्कृष्टस्थितिबन्धस्यैव भावेनाऽपवादपठनमनावश्यकमेवेति भावः ।।१२५८।।

अथाऽऽहारक-तन्मिश्रयोगमार्गणाद्वये प्रस्तुतसंनिकर्षं कथयति—

एगस्सा-ऽऽहारदुगे सायाई वज्जिआ-ऽट्ठगुरुबंधी । णियमा अण्णाण गुरु अगुरुं व सिआ जिणस्स एव से ।।
एगस्स साय-रइ-हस्सजुगल-थिर-सुह जसाउ जेट्ठठिइं । बंधंतो अण्णेसिं बंधइ जेट्ठमियरं व सिआ ।।
तप्पडिवक्ख-जिणाण सिआ उ बंधेइ सखभागूणं । णियमा ऽऽउगवज्जाणं ओघव्व सुराउगस्स भवे ।।
।।१२५९-६१।। (प्रथमा गीतिः)

(प्रे०) "एगस्से" त्यादि, कण्ठ्याः, उपपत्तिस्तु अनुत्तरदेवमार्गणावत्कार्या, इहापि तद्वदेकगतिकसम्यग्दृशामेव प्रवेशादिति ।।१२५९-६१।।

अथ कार्मणकाययोगमार्गणायां सप्तदशगाथाभिः प्रस्तुतपरस्थानोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षं विभणिषुरनाहारकमार्गणायामपि सममेवाह—

कम्मा-ऽणाहारेसुं धुवबंधि-असाय-सोग अरईओ । णपुम तिरिदुगु-रलाओ हुंडग पंचाऽथिराईओ ।।
तह णीआ बंधतो गुरुठिइमेगस्स अण्णसट्ठीए । णियमा बंधइ जेट्ठमजेट्ठ व सिआ तु बंधेइ ।।
एगिंदिय-पंचिंदिय-छिवट्ठु-रलुवंग-कुखगइसराणं ।। परघा-ऊसासा-ऽऽयवदुग-तस-थावरचउक्काणं ।।
।।१२६२-६४।।

(प्रे०) "कम्माणाहारेसु" इत्यादि, अक्षरार्थः सुगमः, भावार्थस्त्वयम्—प्रस्तुतमार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टसंक्लेशगतानां जीवानां पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्याणां बन्धो भवति, पर्याप्तबादर-प्रत्येकैकेन्द्रियप्रायोग्याणामपर्याप्तसूक्ष्मसाधारणप्रायोग्याणां वा बन्धो भवति, तत्र पञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्याणां बन्धो नारकैः सानत्कुमारादिसहस्रारान्तदेवैर्वा क्रियते, पर्याप्तबादरप्रत्येकैकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धस्तु ईसानान्तदेवैर्निर्वर्त्यते, अपर्याप्तसूक्ष्मसाधारणप्रायोग्यबन्धः पुनस्तिर्यग्मनुष्यैरेव निर्वर्त्यते, कुतः? तेषां तेषां जीवानामेव तत्तत्पञ्चेन्द्रियतिर्यक्त्वादेः स्वप्रायोग्यपरमत्रिकसर्वनिकृष्टोत्पत्तिस्थानरूपत्वात्, इत्थं चोत्कृष्टसंक्लेशवर्तां यथोक्तानां नारकादीनां सर्वेषां पञ्चेन्द्रियतिर्यक्त्वादिप्रायोग्यं बध्नता "धुवबंधि" इत्यादिना भणिता एकषष्टिर्नियमेन बध्यन्त इति तासां नियमबन्धः प्राप्यते, पञ्चेन्द्रियाद्येकैकगतिप्रायोग्यास्तु ता न सर्वैर्बध्यन्ते, किन्तु पञ्चेन्द्रियजात्याद्याः परस्परं परिहारेण बध्यन्ते इति । शेषं सुगमम्, केवलं "जेट्ठमजेट्ठं व" इति देहलीदीपकन्यायेन सम्बध्यते, "कुखगइसराणं" इत्यत्र कुशब्दः खगतिस्वरयोः प्रत्येकं सम्बध्यते च । इत्थमेवोत्तरत्रापि भावनीयमिति ।।१२६२-६४।।

तदेवं भणितो ध्रुवबन्ध्याद्येकषष्टिप्रकृतिप्रधानः संनिकर्षः, एतर्हि प्रस्तुतमार्गणाद्वय एव सातवेदनीय-हास्य-रतिमोहनीयप्रधानं तमाह—

सायस्स जेट्ठबंधी गुरुमगुरुं व रइ-हस्स-पुरिसाणं । वइर-सुहागिइ सुखगइ-थिरछक्कु-च्चाण कुणइ सिआ ।

नियमेन संख्यातभागोनस्थितेर्बन्धकः, उत्तरत्र व्यवच्छिद्यमानत्वात् प्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धाभावाच्चेति ॥१२७५॥

अथ प्रस्तुतकार्मणकाययोगाऽनाहारकमार्गणयोर्बन्धप्रायोग्यभणितशेषपञ्चत्रिंशत्प्रकृतिप्रधानप्रस्तुतसंनिकर्षं गाथात्रयेण प्रकटयति—

एगिंदिय-पंचिंदिय-छिवट्ठ-रलुवंग कुखगइसराणं । परघा-ऊसासा-ऽऽयवदुग-तसथावरचउक्काणं ॥
जेट्ठठिइं बधंतो णामाण सठाणगव्व अण्णेसिं । णाणावरणव्वोघव्वा-ऽऽगिइसघयणचउगाण ॥
सट्ठाणव्व वइर-सुहआगिइ-खगइ-थिरछक्कगुरुबंधी । णामाणं अण्णेसिं सायव्व पुमव्व वेअणीआणं ॥१२७६-७८॥ (तृतीया गीति)

(प्रे०) "एगिंदिय" इत्यादि, तत्र "एगिंदिय" इत्येतत्प्रभृतेर्द्वितीयगाथोत्तरार्धस्थं "णाणावरणव्व" इत्यन्तेनैकेन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियजाति-सेवार्तसंहननौदारिकाङ्गोपाङ्ग-कुखगति दुःस्वर-पराघातो-च्छ्वासा-ऽऽतपो द्योत-त्रसचतुष्क-स्थावरचतुष्कलक्षणाऽष्टादशप्रकृतिप्रधानः प्रकृतसंनिकर्षः कथितः, तदुत्तरं द्वितीयगाथाशेषेण "ओघव्व" इत्यादिना मध्यमसंहननमध्यमसंस्थानचतुष्टयलक्षणाऽष्टप्रकृतिप्रधानः सर्वथैवौघवदतिदिष्टः । "सट्ठाणव्व" इत्यादिचरमगाथया त्ववशिष्टप्रथमसंहननप्रथमसंस्थान सुखगति-स्थिरषट्करूपनवप्रकृतिप्रधानोऽसौ भणितः; शेषं सुगमम् , केवलं चरमगाथायां प्रथमसंहननादिप्रधानसंनिकर्षे "सट्ठाणव्व" इतिगाथाऽऽद्यपदस्योत्तरार्धे "णामाण" इत्यनेनाऽन्वयः, तदुत्तरं "अण्णेसिं सायव्व" इति नामेतरप्रकृतीनां नियतबन्धादिकं सातवेदनीयप्रधानसंनिकर्षवद्भणित्वाऽपि "पुमव्व वेअणीआणं" इत्यभिधानं सातवेदनीयप्रधानसंनिकर्षे सातवेदनीयस्य प्रधानत्वेन, तत एवाऽसातवेदनीयस्य नियमतो बन्धप्रतिषेधेन च तत्प्रकृतिद्वयस्य स्याद्बन्धादिविषयकवक्तव्यताया अवशिष्टत्वात् ; तथाच प्रथमसंहननाद्युत्कृष्टस्थितिं बध्नन् 'गुरुमगुरुं व रइहस्सपुरिसाणं" इत्यादिलक्षणं शेषरत्यादिप्रकृतीनां बन्ध करोति, सातवेदनीयाऽसातवेदनीययोस्त्वसौ यथासंख्यं द्विविधस्थितेः संख्येयभागोनोत्कृष्टस्थितेश्च स्याद्बन्धं करोति प्रस्तुतमार्गणादर्शितपुरुषवेदप्रधानसंनिकर्षवदिति । उपपत्तिस्तु पूर्ववत् स्वयं कार्या सुगमत्वाद् गतप्रायत्वाच्चेति ॥१२७६-७८॥

तदेवं भणितः कार्मणकाययोगे तत्तुल्यवक्तव्यत्वादनाहारकमार्गणायां च प्रस्तुतः परस्थानोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षः, तथाच समाप्तो योगमार्गणास्थानेष्वसौ । साम्प्रतं क्रमप्राप्तवेदमार्गणास्वसौ वक्तव्यस्तत्र पुंवेदमार्गणायां प्राक् "ओघव्व सण्णियासो सव्वाउगाण होइ सव्वेसिं" इत्यादिना पञ्चेन्द्रियौघादिमार्गणाभिः समं सर्वथाऽसौ ओघवद्दर्शितोऽतः स्त्रीवेदमार्गणायां विभणिषुराहाऽऽर्यापट्कम्—

[1]थीए ओघव्व धुव-असाय-अरइ सोग-णपुम हुंडाणं । परघू-सासग बायरतिग पणअथिराइ-णीआणं ॥
[2]णवर ण चेव बधइ णिरयाउ-छिवट्ठ रालुवंगाणि । ओघव्व सण्णियासो तिण्ह आऊण विण्णेयो ॥

पुरिसस्स जेट्ठबंधी गुरुमगुरुं व रइ-हस्स-सायाणं । वइर-सुहागइ-सुखगइ-थिरछक्कु-च्चाए कुणइ सिआ ।
धुव-पंचिंदि-युरलदुग-परघा-ऊसास-तस-चउक्काण । णियमा संखसूणम-साय-अरइ-सोग-णीआणं ॥
तिरियमणुयदुग-पणसंघयणा-ऽऽगिइ-अथिरछग-कुखगईणं । उज्जोअस्स सिऽऽएवं उच्चस्स परं ण
तिरिदुगुज्जोआ ॥१२६९–७१॥ (तृतीया गीतिः)

(प्रे०) "पुरिसस्स"इत्यादि, सामान्यतः सातवेदनीयप्रधानसंनिकर्षवत् , केवलं सातवेदनीयमपर्याप्तैकेन्द्रियपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिसर्वप्रायोग्यमासीत् , पुरुषवेदस्तु पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्यप्रायोग्य एव नत्वेकेन्द्रियप्रायोग्यः, तथाच केवलस्थावरप्रायोग्याणामिहाऽवन्धः, तत्प्रतिपक्षभूतानां नियतबन्धश्च भणित इति । शेषं पूर्ववत् । "एवं उच्चस्स परं ण तिरिदुगुज्जोआ" इति उच्चैर्गोत्रप्रधानसंनिकर्षातिदेशे तिर्यग्द्विकोद्योतनाम्नोर्बन्धप्रतिषेधः सुगमः, केवलं तत्प्रतिषेधेनाऽर्थतो मनुष्यद्विकस्य नियतबन्धो द्रष्टव्य इत्येतदपवादपदं प्रकृतिसंनिकर्षादेव गतार्थमिति ॥१२६९-७१॥

अथ प्रस्तुतमार्गणाद्वये एव मनुष्यद्विकप्रधानं प्रस्तुतसंनिकर्षमाह—

णरदुगगुरुठिइबंधी णामाणं बंधए सठाणव्व । जेट्ठमजेट्ठं व ठिइं सिआ उ बंधेइ इत्थीए ॥
णियमा धुवबंधीणं असाय-सोगा-ऽरईण णीअस्स । संखेज्जभागहीणं ठिइं सिआ णपुमवेअस्स ॥
॥१२७२-७३॥

(प्रे०) "णरदुगगुरुठिइबंधी" इत्यादि, "संखेज्जभागहीणं ठिइं" ति देहलीदीपकन्यायेनोभयत्र सम्बध्यते, शेषं सुगममिति ॥१२७२-७३॥

अथ प्रस्तुतमार्गणाद्वये याः सम्यग्दृष्टिस्वामिका देवद्विक वैक्रियद्विक-जिननामलक्षणाः पञ्च प्रकृतयस्तत्प्रधानं प्रस्तुतसंनिकर्षमाह—

देवविउव्वदुग-जिणगुरुबंधी सट्ठाणगव्व णामाणं । णियमा संखगुणूणमसाय-धुवु-च्च-पुम सोग-अरईणं
॥१२७४॥ (गीतिः)

(प्रे०) "देवविउव्वदुग" इत्यादि, सुगमा, केवलमुत्तरार्धे "धुव" इत्यनेन नामवर्जाः सम्यग्दृष्टिस्वामिका ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणचतुष्क-निद्राद्विका-ऽनन्तानुबन्धिवर्जकषायद्वादशक-भय-जुगुप्सा-ऽन्तरायपञ्चकलक्षणास्त्रिंशत् प्रकृतयो बोध्या इति ॥१२७४॥

अथ प्रस्तुतमार्गणाद्वये विकलत्रिकप्रधानं प्रस्तुतसंनिकर्षमाह—

विगलतिगजेट्ठबंधी सिआ खलु दुवेअणीअजुगलाणं । सखंसूणं णियमा चउसट्ठिअपज्जजोग्गसेसाणं ॥
॥१२७५॥ (गीतिः)

(प्रे०) "विगले"त्यादि, द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रियजातिमध्यादेकस्या ज्येष्ठस्थितेर्बन्धकः साता-ऽसातयोर्हास्यादियुगलद्वयस्य च स्याद्बन्धकः, स्थितिं तु तासां संख्यातभागन्यूनामेव बध्नाति। कुतः ? अपर्याप्तजीवयोग्यबन्धविच्छेदक्रमस्य युज्यमानत्वेन प्रधानीकृतप्रकृतित आसामुत्तरत्र व्यवच्छिद्यमानत्वात् प्रतिपक्षाणां बन्धार्हत्वाच्च । शेषाणामपर्याप्तविकलाक्षप्रायोग्याणां चतुःषष्टिज्ञानावरणादीनां तु

[1]णपुमम्मि धुव असाय-अरइ-सोग-णपुम-पणिंदि-हुंडाओ । परघा-ऊसास-अथिरछक्क-कुखगइ-तसचउग-णीआओ ।। (गीतिः)
[2]एगस्स जेट्ठबंधी णियमा अण्णाण जेट्ठमियरं वा । णिरयतिरिविउवुरलदुग-छेवट्ठु-ज्जोअगाण सिआ ।।
[3]णिरयाउस्स गुरुं चिअ ठिइं सिआ बंधए मुणेयव्वो। ओघव्व सण्णियासो थी-पुम-चउआउ-उच्चाणं ।।
[4]णेयो रइ-हस्सजुगल-सायाणोघव्व णवरि बंधेइ । एगिंदि-थावरा-ऽऽयवणामाणं संखभागूणं ।।
[5]एगिंदि-थावरा-ऽऽयवगुरुबंधी बंधए सठाणव्व । णामाण धुव-असाय-अरइ-सोग-णपुंस-णीआणं ।।
[6]णियमा सखंसूण बंधइ खलु सेसणामगुरुबंधी। णामाण सठाणव्व उ बंधइ ओघव्व अण्णेसिं।।१२८५-९०।।

(प्रे०) "णपुमम्मि" इत्यादि, तत्र "णपुमम्मि" इत्यारभ्य तृतीयगाथापूर्वार्धस्थेन "ठिइं सिआ बंधए" इत्यन्तेन किञ्चिदूनसार्धगाथाद्वयेन ध्रुवबन्ध्यादिसप्तषष्टिप्रकृतिप्रधान-संनिकर्षः प्रतिपादितः, "मुणेयव्वो" इत्यादिना तृतीयगाथाशेषेण तु स्त्रीवेदादिप्रकृतिसप्तक-प्रधानः, "णेयो रइ-हस्से" त्यादिचतुर्थगाथया सातवेदनीयादिप्रकृतित्रयप्रधानश्चासौ परस्था-नौघिकोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षातिदेशादिना प्ररूपितः, "णियमा सखंसूणं" इति षष्ठगाथा-ऽऽद्यांशसहितया "एगिंदिथावरे" त्यादिपञ्चमगाथया एकेन्द्रिय-स्थावरा-ऽऽतपप्रकृतित्रयप्र-धानः, "बंधइ खलु" इत्यादिषष्ठगाथाशेषेण भणितशेषनरकद्विकादिचत्वारिंशत्प्रकृतिप्रधानश्च संनि-कर्षः प्रदर्शितः । अक्षरार्थस्तु सुगमः केवलं द्वितीयगाथोत्तरार्धे "णिरयतिरिविउवुरलदुग" इत्यत्र दुगशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यत इति तेन द्विकचतुष्टयसमुच्चयः । "सेसणामगुरुबंधी" इत्यत्र भणितशेषनरकद्विकाद्याश्चत्वारिंशत्प्रकृतयोऽनन्तरं स्त्रीवेदमार्गणायां 'सेसणामगुरुबंधी' इत्यनेन संगृ-हीतास्तद्वृत्तौ नामतो दर्शिता नरकद्विकाद्याः पञ्चचत्वारिंशद् एकेन्द्रिय-पञ्चेन्द्रिय-कुखगत्या-ऽऽतप-त्रस स्थावर-दुःस्वरवर्जाः सेवार्तौ-दारिकाङ्गोपाङ्गसहिता अवसातव्याः । उपपत्तिस्त्विहापि यथा-सम्भवमोघवत्स्वस्थानसंनिकर्षवच्च कार्या, केवलं यो विशेषः स प्रस्तुतमार्गणायां देवानामप्रवेशेनै-केन्द्रियत्वस्य निकृष्टतमपारभविकोत्पत्तिस्थानतयाऽलाभेनैकेन्द्रिय-स्थावरा-ऽऽतपनामोत्कृष्टस्थितिं बध्नतामोघोत्कृष्टसंक्लेशाभाव इति तदनुसारेणाऽभ्यूह्य इति ।।१२८५-९०।।

अथ वेदमार्गणाभेदकल्पायामपगतवेदमार्गणायां प्रस्तुतं निजिगदिषुस्तुल्यवक्तव्योपेतायां सूक्ष्म-सम्परायसंयममार्गणायामपि सममेव प्राह—

सप्पाउग्गाओ खलु अवेअ-सुहुमेसु जेट्ठठिइबंधी । एगस्स गुरुं च ठिइ णियमा बंधेइ अण्णेसिं ।।१२९१।।

(प्रे०) "सप्पाउग्गाओ" इत्यादि, सुगमा, स्वप्रायोग्याः प्रकृतयस्तु गतवेदमार्गणायां ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणचतुष्क-सातवेदनीय सञ्ज्वलनचतुष्क--यशःकीर्तिनामो-च्चैर्गोत्रा-ऽन्तरायप-ञ्चकानीत्येकविंशतिः । सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायां तु ता एवैकविंशतिः संज्वलनचतुष्टयेन रहिताः सप्तदश इति । उपपत्तिस्तु सुगमा, उपशान्ताद्धाक्षयेण प्रतिपततः प्रस्तुतमार्गणाभाविचरम-स्थितिबन्धे वर्तमानस्य मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टसंक्लेशवतो बन्धप्रायोग्याणामेतासां सर्वासां नियमतो ज्येष्ठस्थितेश्च बन्धभावादिति ।।१२९१।।

[३]साय-रइ हस्स-पुम-थी-उच्चाणोघव्व णवरि बधेइ । सखेज्जभागहीणं सिआ छिवट्ठुरलुवंगाणं ॥
[४]णिरयाउजेट्ठबंधी णियमा बधेइ सखगुणहीण । णारगपाउग्गाण सेसाणं एगसयरीए ॥
[५]णामाण सठ णव्व उ ठिइ छिवट्ठुरलुदगगुरबधी । धुवबधि-असायाणं णपुमा-रइ सोग णीआणं ॥
[६]णियमा सखसूणं बधइ खलु सेसणामगुरुबधी । णामाण सठाणव्व उ सेसाणोघव्व णवरि ण चिआऽऽउं
॥१२७९-८४॥ (चरमा गीति)

(प्रे०) "थीए ओघव्वे" त्यादि, तत्र ' थीए" इत्यादिमार्धगाथया ध्रुवबन्ध्यादित्रिषष्टिप्रकृति-प्रधानः संनिकर्षः सापवादमोघवदतिदिष्टः, द्वितीयगाथोत्तरार्धेन तु नरकायुर्वर्जायुष्कत्रयप्रधानोऽसौ सर्वथौघवद्भणितः, तृतीयगाथया तु सातादिषट्कस्य पूर्ववत्सापवादमोघवत्कथितः, चतुर्थगाथया तु नरकायुःप्रधान उक्तः, पञ्चमगाथया षष्ठगाथायाः 'णियमा संखंसूणं बंधइ खलु' इत्यंशेन च सेवार्तौदारिकाङ्गोपाङ्गप्रकृतिद्वयप्रधानः, षष्ठगाथाशेषेण प्रोक्तशेषपञ्चचत्वारिंशत्प्रकृतिप्रधानश्च प्रतिपादितः । अक्षरार्थस्तु सुगमः, केवलं चतुर्थगाथायां **'णारगपाउग्गाणं सेसाणं एगसयरीए'** इत्यत्रैकसप्ततिः प्रकृतय इमाः—सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्ध्य-सात-शोका-ऽरति-नपुंसकवेद-नरकद्विक-पञ्चेन्द्रियजाति-वैक्रियद्विक-हुण्डकसंस्थान-कुखगति-परघातो-च्छ्वास त्रसचतुष्का-ऽस्थिरषट्क-नीचैर्गोत्राणीति । एवं षष्ठगाथायाम् **'सेसणामगुरुबंधी'** इत्यत्र शेषनामप्रकृतयः इमाः पञ्चचत्वारिंशत्—तिर्यग्द्विकम्, मनुष्यद्विकम्, वैक्रियषट्कम्, जातिपञ्चकम्, औदारिकशरीरम्, आहारकद्विकम्, सेवार्तवर्जसंहननपञ्चकम्, हुंडवर्जसंस्थानपञ्चकम्, खगतिद्विकम्, आतपो-द्योत-जिन-त्रस-स्थिरषट्क-स्थावरचतुष्क-दुःस्वरनामानि चेति । उपपत्तिस्तु यथासम्भवमोघवत्स्वस्थानसंनिकर्षवच्च कार्या, यः पुनस्ततोऽपि विशेषः स तु प्रस्तुतमार्गणासु नारकाणा सानत्कुमारादिदेवानां चाऽप्रवेशेन पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्त्वस्य पारभविकोत्पत्तिप्रायोग्यसर्वनिकृष्टस्थानतयाऽलाभेन सेवार्तसंहननौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नोरोघोत्कृष्टसंक्लेशगतैः कैश्चिदप्यनिर्वर्तनात् नरकायुष उत्कृष्टस्थितेरपि षष्ठनरकप्रायोग्यतयौघोत्कृष्टसंक्लेशेनाऽबध्यमानत्वाच्च । यत्पुनः **"सेसाणोघव्व णवरि ण चिआऽऽउं"** इत्यत्र 'णवरि ण चिआउं' इत्यनेनाऽपवादपठनं तदपि शेषप्रकृत्यन्तर्गतनरकद्विक-वैक्रियद्विक-पञ्चेन्द्रियजाति-कुखगति-त्रस-दुःस्वरनाम्नामुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकतयौघतः पुंवेदिनामपि लाभेन पुंवेदिनां तेषां मनुष्यमत्स्यानामुत्कृष्टस्थितिकनारकतयोत्पत्तेरभिमतत्वेऽपि प्रस्तुतमार्गणाप्रविष्टकेवलस्त्रीवेदिनां तदनभिमतत्वेनेहोत्कृष्टस्थितिकनरकायुष्कस्याऽपि बन्धाऽप्रायोग्यत्वात्, नरकद्विकाद्युत्कृष्टस्थितिं बध्नता भाज्याबाधायामपि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिकस्यैव नरकायुषो बन्धप्रायोग्यत्वाच्चोघतो विहितस्याऽऽयुर्बन्धस्येह प्रतिषेधार्थम् । विस्तरतस्तु स्वयमेव विभावनीयं पूर्वदर्शितनियमावलीमनुसृत्येति ॥१२७९-८४॥

अथ नपुंसकवेदमार्गणायां प्रस्तुतं प्राह—

वा नारकाणां वा मिथ्यात्वाभिमुखावस्थावर्तिनामवश्यं बध्यमाना इति तासामन्यतमस्या उत्कृष्ट-स्थितिं बध्नतस्तच्छेषाणामष्टपञ्चाशतो नियमतो बन्धः प्रतिपादितः । सर्वासामुत्कृष्टादिद्विविधान्य-तरस्थितिबन्धस्तु पूर्वोक्तनियमानुसारेण प्रत्येकमुत्कृष्टस्थितेस्तुल्येन स्वप्रायोग्योत्कृष्टसंक्लेशेन जन्यत्वात् । क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायामप्येवमेव केवलं तत्र मिथ्यात्वाभिमुखावस्थाया एवाऽसत्त्वेन स्वस्थानसर्वसंक्लिष्टा यथोक्तध्रुवबन्ध्याद्युत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनः; अत एव सातवेदनीयाद्युत्कृष्ट-स्थितिं बध्नतस्तासां ध्रुवबन्ध्यादीनां स्वीयस्वीयोत्कृष्टस्थितिबन्धतः संख्येयभागोनस्थितेर्बन्धः "णवरं स्वइए"इत्यादिना षष्ठगाथायामपोद्य भणितः । सातवेदनीयादिप्रकृतिषट्कप्रधानसंनिकर्षो हि एवं भाव्यते–सातवेदनीयादीनां षण्णामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनो न मिथ्यात्वाभिमुखाः, अपि तु स्वस्थानसंक्लिष्टाः, अभिमुखावस्थापेक्षया स्वस्थानसंक्लिष्टानां विशुद्धतरत्वेनाभिमुखाव-स्थायां यावान् स्थितिबन्धो जायते ततः संख्येयगुणहीनस्थितिबन्धः प्रवर्तते, तथाच सातवेदनी-याद्यन्यतमोत्कृष्टस्थितिं बध्नतोऽनन्तरं गाथात्रये भणितानां ध्रुवबन्ध्याद्येकोनषष्टेर्देवद्विकादीनां दशानां च संख्येयगुणोनोत्कृष्टस्थितिबन्धो भणितः, केवल न ता एकोनषष्टिर्दश च ध्रुवं बध्यन्ते, किन्तु सातवेदनीयादिप्रधानीकृतप्रतिपक्षभूताऽसातवेदनीयाद्या एका नैव बध्यते, शेषाष्टषष्टि-प्रकृतिमध्यादपि अनन्तरोक्तनीत्यैव देवद्विकादीनां दशानां तथा प्रधानीकृतैकप्रकृतिं विहाय शेष-स्थिरनामादिपञ्चप्रकृतिप्रतिपक्षभूतानामस्थिरनामादीनां पञ्चानां स्याद्बन्ध एव भवति; तथाच ध्रुवबन्ध्यादीनां शेषत्रिपञ्चाशत एव नियमबन्धो भवति, शेषाणां पञ्चदशानां तु स्याद्बन्धः । तत्रा-ऽपि हास्यस्य रतेर्वा प्रधानत्वे तु द्वयोरप्यवश्यं बन्धभावेन शोका-ऽरत्योर्बन्धाभावाच्चतुर्दशानां स्याद्-बन्धो वाच्यः प्राग्वर्णितनीत्या । सातवेद्यादीनां प्रत्येकं परस्परमुत्कृष्टादिद्विविधान्यतरस्थितिबन्धः स्याद्बन्धश्च सुगमः, षण्णामप्युत्कृष्टस्थितेस्तुल्यसंक्लेशजन्यत्वात्प्रतिपक्षसहितबन्धप्रायोग्यत्वाच्चेति । आयुषोऽबन्धस्तु सुगमः, शेषगाथाद्वयार्थोऽपि तथा प्रागुक्तनीत्या स्वयं विभावनीयश्चेति ॥१२९२-९९॥

अथ क्रमप्राप्तमनःपर्यवज्ञानमार्गणायां प्रस्तुतपरस्थानोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षं प्रतिपिपाद-यिषुः प्रागिव तुल्यप्रायवक्तव्योपेताः संयमौघ-सामायिक छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धिक देश-संयममार्गणा अपि सममेव संगृह्य प्राह—

मणणाण-संजमेसुं समइअ-छेअ-परिहार-देसेसुं । साय-रइ-हस्स-थिर-सुह जसाउ एगस्स गुरुबंधी ॥
गुरुमगुरुं वाऽण्णेसिं सिआ कुणेइ पडिवक्ख-तित्थाण । सखगुणूणं णियमा आहारदुगा-ऽऽउवज्जसेसाणं ॥
ओघव्व खलु सुराउग-आहारदुगाण णवरि देसम्मि । णियमा सुराउबंधी तइअकसायाण सखगुणहीणं ॥
सेसाणा-ऽऽहारदुगव्व णवरि णाणपरिहारवज्जासु । ण जिणं बधइ जिणगुरुबंधी पयडीण संखगुणहीणं ॥
॥१३००-१३०३॥ (द्वितीया तृतीया चतुर्थी च गीतिः)

तदेवं गतो वेदमार्गणास्थानेषु प्रस्तुतपरस्थानोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षः, कषायमार्गणासु तु पूर्वं "ओघव्व सण्णियासो" (गाथा १२५३-५५) इत्यादिना पञ्चेन्द्रियौघादिमार्गणाभिः सममुक्तोऽसौ, साम्प्रतं क्रमाप्तज्ञानमार्गणासु वाच्यस्तत्र मतिज्ञान-श्रुतज्ञाना ऽवधिज्ञानमार्गणात्रये त्रिभणिष्यस्तुल्यवक्त-व्यत्वादवधिदर्शने सम्यक्त्वौघ-क्षायिकसम्यक्त्व-क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणासु च सममेवाह—

[1]एगस्स तिणाणा-ऽवहि-सम्म-खइअ-वेअगेसु गुरुबंधी । धुवबंधि-असायाओ तहा पुरिस-सोग-अरईओ ॥
[2]पंचिदिय-पढमागिइ-परघा ऊसास-तसचउक्काओ । सुखगइ सुहगतिगाओ अथिर असुह-अजस-उच्चाओ ॥
[3]बंधइ णियमाऽण्णेसिं ठिइमडवण्णाअ जेट्ठमियरं वा । बंधइ सिआ सुरविउवणउरलदुग-वइर-तित्थाण ॥
[4]साय-थिर-सुह-जसाओ तह रइ-हस्सजुगलाउ एगस्स । गुरुबंधी अण्णेसिं बंधइ जेट्ठमियरं व सिआ ॥
[5]तप्पडिवक्खाण वइर-णर-सुरउरलविउव्वदुग-जिणाण सिआ । सखगुणूण णियमा सेसाणं आउवज्जाण ॥
[6]णवरं खइए संखियभागूण सखगुणिअहीणथले । साय-रइ-हस्स-थिर सुह-जसणामुक्कोस ठइबंधी ॥
[7]मणुयाउजेट्ठबंधी जिणस्स सायाइबारसण्ह सिआ । संखगुणूणं णियमा णरजोग्गऽण्णअडवण्णाए ॥
[8]आहारदुग-सुराऊणोघव्व उ सेसणामगुरुबंधी । णामाण सठाणव्व उ णाणावरणव्व अण्णेसिं ॥१२९२-९९

(प्रे०) "एगस्से"त्यादि तत्र "एगस्से" त्याद्याद्यगाथात्रयेण ध्रुवबन्ध्याद्येकोनषष्टिप्रकृति प्रधानसंनिकर्षः प्रतिपादितः । तत्र ध्रुवबन्धिन्यः प्रस्तुतमार्गणाबन्धाप्रायोग्यमिथ्यात्वाद्यष्टप्रकृतिवर्जा एकोनचत्वारिंशद्बोध्याः, चतुर्थपञ्चमषष्ठगाथात्रयेण तु सातवेदनीय रति-हास्यमोहनीय-स्थिर-शुभ-यशः-कीर्तिनामलक्षणषट्प्रकृतिप्रधानः, सप्तमगाथया मनुष्यायुष्कप्रधानश्चासौ भणितः, "**आहारदुग-सुराऊणोघव्वे**" त्येतावताऽष्टमगाथादिमांशेनाऽऽहारकशरीरा ऽऽहारकाङ्गोपाङ्ग-देवायुष्कलक्षणप्रकृतित्रयप्रधानोऽतिदेशेन सर्वथैवौघवद्दर्शितः, अष्टमगाथाशेषेण तु भणितशेषप्रस्तुतमार्गणाबन्धप्रायोग्यदशप्रकृतिप्रधानश्चासौ यथासम्भवं स्वस्थानसंनिकर्षादिवत्प्ररूपितः, नाम्नां स्वस्थानसंनिकर्षवच्छेषाणां तु प्रस्तुतमार्गणादर्शितमतिज्ञानादिप्रकृतिवदिति भावः । तत्र शेषप्रकृतय इमाः—मनुष्यद्विक-देवद्विक-वैक्रियद्विकौ दारिकद्विक-वज्रर्षभनाराचसंहनन जिननामानीति दश । उपपत्तिस्तु प्राक्प्रस्तुतमार्गणादर्शितस्वस्थानसंनिकर्षादिवद्यथासम्भव कार्या । तद्यथा—क्षायिकसम्यक्त्ववर्जषड्मार्गणासु युगपद्भणिते ध्रुवबन्ध्याद्येकोनषष्टिप्रकृतिप्रधानसंनिकर्षे एकोनषष्टिरपि प्रकृतयो मिथ्यात्वाभिमुखैरुत्कृष्टस्थितिका निर्वर्त्यन्ते, न केवल तावद् देवद्विक वैक्रियद्विक मनुष्यद्विकौ-दारिकद्विक-वज्रर्षभनाराचसंहनन-जिननामलक्षणा अन्या अपि दश मिथ्यात्वाभिमुखैरुत्कृष्टसंक्लेशगतैरेवोत्कृष्टस्थितिका निर्वर्त्यन्ते, केवलमिमा दश नाऽवश्यं सर्वैर्बध्यन्ते, देवद्विक वैक्रियद्विकयोर्देवनारकैरबध्यमानत्वाद्, मनुष्यद्विकौ-दारिकद्विक वज्रर्षभनाराचनाम्नां तिर्यग्मनुष्यैरबध्यमानत्वात्, जिननाम्नस्तु केषाञ्चिद् देवनैरयिकमनुष्याणामेव बन्धभावाच; तथाचैता दशाऽन्यान्यजीवैः परस्परपरिहारेण बध्यमाना इति तासां स्याद्बन्धो भणितः, ध्रुवबन्ध्याद्या एकोनषष्टिस्तु चतुर्थगुणस्थानवर्तिनां देवानां वा मनुष्यतिरश्चां

आवरण-पंचणिद्दा असाय-विग्घाण सागरा तीसा ।
कोडाकोडी जेट्ठो तद्धो साय-णरदुग-थीणं ॥६८॥

(प्रे०) "**आवरणे**" त्यादि, आवरणानि नव पञ्चज्ञानावरण-चतुर्दर्शनावरणप्रकृतिभेदात् , पञ्चनिद्राः-निद्रा-निद्रानिद्रा-प्रचला-प्रचलाप्रचला-स्त्यानर्द्धिप्रकृतिरूपाः,असातवेदनीयम् , विघ्नानि पञ्च दान लाभ-भोगो-पभोग-वीर्यान्तरायाख्यानि, एतेषां द्वन्द्वे आवरणपञ्चनिद्राऽसातविघ्नानि, तेषां प्रत्येकं "**सागरा, तीसा कोडाकोडी जेट्ठो**" त्ति "भीमो भीमसेन" इति न्यायेन पदैकदेशे पदोपचारात् सागरोपमाणि त्रिंशत् कोटीकोट्यो "**ज्येष्ठः**" उत्कृष्टः स्थितिबन्धः, उत्कृष्टस्थितिबन्धप्रमाणमिति भावः । अत्र "आउगवज्जाणुदही कोडाकोडीउ जत्तिआऽबाहा । तावइआ ब सयसमा तदूणियो कम्मणणिसेगो ॥६४॥" इत्यनन्तरोक्तनियमानुसारेण त्रीणि वर्षसहस्राण्यबाधा, अबाधोनकर्मस्थितिप्रमाणः कर्मनिषेकश्च लभ्यतेऽतस्तथैव द्रष्टव्यः । तद्यथा–अनन्तरोक्तानां मतिज्ञानावरणादीनां विंशतिप्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टस्थितिबन्धस्त्रिंशत्सागरोपमकोटिकोटयः, त्रीणि वर्षसहस्राण्यबाधा, अबाधान्यूनकर्मस्थितिः कर्मदलनिषेकः । उक्तं च **कर्मप्रकृतिचूर्णौ**–"पंचण्ह णाणावरणीयाण, णवण्हं दसणावरणीयाणं, पचण्ह अतराइयाण असातवेयणिज्जस्स उक्किसगो उ ठितिबधो तीसं सागरोवमकोडाकोडीओ तिन्निवाससहस्साणि अबाहा, अबाहूणिया कम्मट्ठिती कम्मणिसेगो" इति । एवमेवोत्तरत्रापि प्रोक्तनियमानुसारेणाबाधा कर्मदलनिषेकश्च पृथक् पृथक् स्वयमेव वाच्यः ।

अथ सातवेदनीयादिप्रकृतीनामाह–"**तद्धो**" त्ति अनन्तरोक्तस्थितिबन्धप्रमाणाद् "अर्धः"-अर्धं पञ्चदशसागरोपमकोटीकोट्य उत्कृष्टस्थितिबन्धप्रमाणं "**सायणरदुगथीणं**" ति सातवेदनीयस्य, नरगति-नरानुपूर्वीलक्षणस्य नरद्विकस्य "**थीणं**" ति स्त्रीवेदस्य चेत्यर्थः । एतासां चतसृणां प्रकृतीनां प्रत्येकं भवतीत्यर्थः । उक्तं च **कर्मप्रकृतौ**–'उदही तीसमसाते तद्धं थीमणुयदुगसाए' इति ॥६८॥

मिच्छस्स गुरू सत्तरि चत्तालीसं भवे कसायाणं ।
दस पुरिस-हस्ससुरदुग-सुखगइ-थिरछक्क-उच्चाणं ॥६९॥

(प्रे०) "**मिच्छस्से**"त्यादि, मिथ्यात्वमोहनीयस्य 'गुरुः' उत्कृष्ट औघिकः स्थितिबन्धः "**सत्तरि**" त्ति सप्ततिः, कोटीकोटयः सागरोपमाणीत्यनन्तरगाथातोऽनुवर्तते, एवमुत्तरत्रापि तदनुवृत्तिर्द्रष्टव्या । "**चत्तालीसं भवे कसायाणं**" ति अनन्तानुबन्धिचतुष्का-ऽप्रत्याख्यानावरण-चतुष्क प्रत्याख्यानावरणचतुष्क-संज्वलनचतुष्कलक्षणानां षोडशानां 'कषायाणां' कषायप्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टस्थितिबन्धप्रमाणं चत्वारिंशत्सागरोपमकोटीकोटयो भवेत् । उक्तं च **नव्यशतके**–"मिच्छे सत्तरि" इति 'चालीस कसायेसु" इति च । "**दश**" त्ति दशकोटीकोटीसागरोप-

(प्रे०) "**मणणाण**" इत्यादि, तत्र यः "**साय-रइ**" इत्यादिना सातवेदनीयादिप्रकृतिषट्कप्रधानसंनिकर्ष उक्तस्तत्र "**गुरुमगुरु वाऽण्णेसिं**" ति सुगमम्, प्रत्येकमुत्कृष्टस्थितेस्तुल्यसंक्लेशलभ्यत्वात्। "**सिआ**" इत्युभयत्र सम्बध्यते, "**पडिवक्खतित्थाणं संखगुणूणं**" इति तु प्रधानीकृतसातवेदनीयाद्युत्कृष्टस्थितेः स्वस्थानतत्प्रायोग्यसंक्लिष्टस्वामिकत्वात्, तत्प्रतिपक्षभूतानामसातवेदनीयादीनां तथा जिननाम्नस्तु तस्या असंयमाद्यभिमुखस्वामिकत्वाच्च; अत एव "**आहारदुगाऽऽउवज्जसेसाण**" मित्यनेनाऽऽहारकद्विकदेवायुर्वर्जानामपि संख्येयगुणोनोत्कृष्टस्थितिबन्धो भणितः। नियतस्याद्बन्धौ तु प्रागिव भावनीयौ, केवलं "**पडिवक्ख**" इत्यनेन प्रतिपक्षप्रकृतितया सातवेदनीयादिप्रधानीकृतेतररतियुगलादिप्रतिपक्षभूताः शोकयुगलादिपञ्चप्रकृतयस्तथा हास्यरत्योरन्यतरप्रधानसन्निकर्षे सातादिप्रकृतिचतुष्टयप्रतिपक्षभूता असातादयश्चतस्रः प्रकृतयो बोध्याः प्रागिव। तदनु "**ओघव्व**" इत्यादौ "**णवरि देसम्मि**" इत्याद्यपवादकथनमोघतः सर्वसंयतानां देवायुरुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वेऽपीह देशविरतानां तत्स्वामित्वात् तेषां सर्वसंयतापेक्षयाऽधिकतः प्रत्याख्यानावरणानामपि कषायाणां नियमेन बन्धप्रवर्तनाच्च, तत्र "**संखगुणहीणं**" इति पुनरनन्तरोक्तनीत्या तेषामुत्कृष्टस्थितेर्मिथ्यात्वाभिमुखस्वामिकत्वात्। एवमेव '**सेसाण**" इत्यादौ "**णवरि णाण**" इत्यादिनाऽपवादभणनं मन.पर्यवज्ञानमार्गणायामविरतसम्यग्दृष्टिगुणाभिमुखानाम्, एव परिहारविशुद्धौ छेदोपस्थापनसंयमाभिमुखानां मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टसंक्लेशभावेन तदानीं जिननाम्नो बन्धसम्भवेऽपि संयमौघादिशेषमार्गणाचतुष्टये मिथ्यात्वाभिमुखानामेव मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टसंक्लेशसम्भवेन तदानीं जिननाम्नो बन्धाभावात्, अत एव मार्गणाचतुष्टये जिननामोत्कृष्टस्थितिं बध्नतो बध्यमानाना '**संखगुणहीण**" इति भणित ज्ञेयम्। "**सेसाण आहारदुगव्व**" इत्यत्र शेषप्रकृतयस्तु देशसंयमे पञ्चिस्तथा शेषमार्गणासु षट्पञ्चाशद्विज्ञेया इति ।.१३००-१३०३॥

अथ ज्ञानप्रतिपक्षभूताज्ञानमार्गणात्रये प्राक् 'ओघव्व सण्णियासो सप्पाउग्गाण होइ सव्वेसिं" इत्यादिना पञ्चेन्द्रियौघादिमार्गणाभिः समं परिपठितः प्रस्तुतसंनिकर्षः, एवमसंयममार्गणायामपि, संयममार्गणामध्यात्संयमौघादिषु पञ्चसु मार्गणास्वनुपदं मनःपर्यवज्ञानमार्गणया समं तथा सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायामपगतवेदमार्गणया समं निवेदितश्च, दर्शनमार्गणाभेदत्रयमध्याच्चक्षुरचक्षुर्दर्शनमार्गणयोः पञ्चेन्द्रियौघादिमार्गणाभिः साकमवधिदर्शनमार्गणायां मतिज्ञानादिमार्गणाभिः समं च निगदितः प्रस्तुतसंनिकर्षः, तथा च गता ज्ञान-संयम-दर्शनमार्गणाः।

साम्प्रतं क्रमप्राप्तलेश्यामार्गणास्वाभिधित्सुः कृष्णलेश्यामार्गणायां तं प्राह—

किण्हाअ सुराउगगुरुबंधी णियमाउ सखगुणहीण। धुव पुम-रइ-हस्साण जिणवज्जाऽण्णसुहदेवजोग्गाण॥
अहवा बधेइ सिआ थीणद्धितिगा-ऽणचउग-मिच्छाण। सेसाणोघव्व भवे भणन्ति अण्णे णपु सव्व॥
॥१०३४-५॥ (प्रथमा गीति)

(प्रे०) "किण्हाअ" इत्यादि, अत्र देवायुष्कप्रधानसंनिकर्षे ध्रुवबन्ध्यादीनां संख्येयगुणोनोत्कृष्टस्थितिबन्धः 'जिणवज्जऽण्णसुहदेवजोग्गाण'मित्यत्र देवप्रायोग्यशुभप्रकृतीनामेव ग्रहणं च देवायुष्कोत्कृष्टस्थितिं बध्नतो विशुद्धत्वात्, जिननाम्नो वर्जनं तु कृष्णलेश्यामार्गणाबन्धप्रायोग्यदेवायुष्कोत्कृष्टस्थितेरपि बन्धकस्य मिथ्यादृष्टित्वात्।

"अथवा" इत्यादिना विकल्पान्तरेण स्त्यानर्द्धित्रिकाद्यष्टप्रकृतीनां स्याद्बन्धप्रदर्शनं तु सिद्धान्ताभिप्रायेणाऽशुभलेश्यापरिणतसम्यग्दृशां देवायुर्बन्धे प्रतिषिद्धेऽपि कार्मग्रन्थिकाऽभिप्रायेण बन्धस्वामित्वे कृष्णलेश्यायां चतुर्थगुणस्थाने देवायुर्बन्धप्रतिपादनात्। यद्वैतेन महाबन्धकारमतद्वयं संगृहीतं वेदितव्यम्। अत्र जिननाम्नो बन्धस्तु यथागमयं भावनीय इति। "सेसाणोघव्व" इति तु सुगमम्, शेषप्रकृत्युत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनामोघतः प्रस्तुतमार्गणायां चाऽविशेषात्, यद्यप्योघतः सानत्कुमारादिदेवा अपि ध्रुवबन्धिनीनामिव तिर्यग्गतिपञ्चेन्द्रियजात्यादीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनो भवन्ति, न च त इह प्रविष्टास्तथाऽपि कृष्णलेश्यापरिणतनारकाणामपि सानत्कुमारादिदेवानामिव पारभविकोत्पत्तिप्रायोग्यसर्वनिकृष्टस्थानस्य पर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रियरूपत्वेन प्रस्तुतसंनिकर्षोपपत्तौ समकक्षत्वान्न बाधेति। "भणन्ति"इत्यादिना तु अपर्याप्तावस्थां यावदेव देवानामशुभलेश्यामभ्युपगच्छतां प्राग्दर्शितमतान्तरस्य संग्रहो विज्ञेयः; तन्मते नपुंसकवेदवदतिदेशः पुनर्नपुंसकवेदवद्देवानामेव शेषप्रकृत्युत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वात्प्रस्तुतमार्गणायामिति। विस्तरतस्तु प्रागिव स्वयमेवाऽभ्यूह्यमिति। ॥१२०४-५॥ अथ नीलकापोतलेश्ययोराह प्रस्तुतपरस्थानोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षम्—

[1]णिरयाउजेट्ठबंधी णियमा बंधेइ णील-काऊसु। णिरयविउव्वदुगाण गुरुमगुरुं वा दुठाणगयं॥
[2]सेसणिरयजोग्गाणं णियमा बंधेइ संखगुणहीणं। किण्हव्व सुराऊस्स उ तिरिमणुयाऊण ओघव्व॥
[3]गुरुबंधी णिरयविउवदुगाउ एगस्स जेट्ठमियरं वा। णियमाऽण्णेसिं बंधइ गुरुं च्च णिरयाउगस्स सिआ॥
[4]सेसणिरयजोग्गाणं णियमा बंधेइ संखगुणहीणं। एगस्स जेट्ठबंधी वेवदुगाऽण्णस्स बंधेइ॥
[5]गुरुमगुरुं वा णियमा बारससायाइ-थी-पुमाण सिआ। संखगुणूण णियमा जिणाउवज्जऽण्णदेवजोग्गाणं॥
[6]णामाणं विगलसुहुमतिगगुरुबंधी ठिइ सठाणव्व। णियमा धुवबंधि-णपुम णीआण संखगुणहीण॥
[7]साथि यर-दुजुगलाण सिआ उ णीलाअ तित्थगुरुबंधी। बारससायाईणं सिआ ठिइं संखगुणहीणं॥
[8]बंधइ सुरजोग्गाण णियमा सेसाण सत्तवण्णाए। दोसु वि सेसाण भवे सुरव्व णिरयव्व बिति परे॥
[9]णवरि ठिइ बंधतो एगिंदिय-थावरा ऽऽयवाण गुरुं। णामाण सठाणव्व उ बंधइ विगलव्व अण्णेसिं॥
॥१२०६-१४॥ (पञ्चमी गीतिः)

(प्रे०) "णिरयाउ" इत्यादि, तत्राऽऽद्यया सार्धयाऽऽर्यया नरकायुष्कप्रधानः संनिकर्षः, तत्र नरकप्रायोग्यप्रकृतिमध्ये नरकवैक्रियद्विकयोस्तिर्यग्मनुष्यस्वामिकत्वेऽपि शेषप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितेर्नारकदेवस्वामिकत्वेनौघोत्कृष्टत्वात्, अनयोर्मार्गणयोर्वर्तमानाः मनुष्यतिर्यञ्चस्तु उत्कृष्टसंक्लेशगता अपि तासां शेषप्रकृतीनामुत्कृष्टामपि स्थितिमन्तःकोटीकोटीसागरोपमप्रमाणामेव निर्वर्तयन्ति, किम्पुनर्नरकायुरुत्कृष्टस्थितिं बध्नन्तः, इत्यतो नरकवैक्रियद्विकयोरुत्कृष्टादिद्विविधस्थितिमभिधायाऽपि शेषनरकप्रायोग्याणां सा संख्येयगुणहीना भणिता। नरकद्विक-वैक्रियद्विकयोर्या "गुरुमगुरुं

वा" इत्यनेनोत्कृष्टाऽनुत्कृष्टा च स्थितिर्भणिता तत्राऽनुत्कृष्टा "**दुठाणगयं**"ति द्विस्थानपतिताऽसंख्येयभागोनोत्कृष्टा संख्येयभागोनोत्कृष्टा च ज्ञेया। शेषं तु सुगमम्। "**किण्हव्व**" इत्यादिद्वितीयगाथोत्तरार्धेन शेषायुष्कत्रयप्रधानसंनिकर्षः प्रतिपादितः स च सुगमः। "**गुरुबंधो णिरयविउव्वदुगाउ**" इत्यादितृतीयगाथाप्रभृतिसार्धगाथया नरकद्विकवैक्रियद्विकलक्षणप्रकृतिचतुष्टयप्रधानसंनिकर्षः प्ररूपितः, अयमपि सुगमः, केवलं "**गुरु च्च णिरयाउगस्स सिआ**" इत्यत्र यो नरकायुष उत्कृष्टस्थितेरेव बन्धो भणितः स प्रस्तुतप्रकृत्योघिकोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षवद्विज्ञेयः; यः पुनः "**सेसणिरय**" इत्यादिना नरकद्विकादिवर्जशेषध्रुवबन्ध्यादिप्रकृतीनां संख्येयगुणोनोत्कृष्टस्थितिबन्धः परिपठितः स तु नरकायुष्कप्रधानसंनिकर्षदर्शितनीत्याऽवस्थितलेश्याकानां नारकदेवानां तदीयोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वेन तासां ध्रुवबन्ध्यादीनां वर्गोत्कृष्टस्थितिकत्वेऽपि प्रधानीकृतनरकद्विकाद्युत्कृष्टस्थितिं बध्नतां तिर्यग्मनुष्याणामनवस्थितलेश्यत्वेन कृष्णेतरलेश्यायां सत्यामन्तःकोटीकोटीसागरोपमप्रमितस्थितेरेव बन्धभावात्। "**एगस्स**" इत्यादिचतुर्थगाथोत्तरार्धप्रभृतेरारभ्य पञ्चमगाथाप्रान्तं यावद् देवद्विकप्रधानः संनिकर्षो भणितः, तत्र सातााद्या द्वादश प्रकृतयो या देवप्रायोग्यं बध्नतां सप्रतिपक्षबन्धप्रायोग्याः सातवेदनीय-हास्य-रतिमोहनीय-स्थिर-शुभ-यशःकीर्तिनामरूपास्तत्प्रतिपक्षभूता असातवेदनीयाद्याश्च ता बोध्याः, यद्यपि स्त्रीपुंवेदौ सप्रतिपक्षौ देवप्रायोग्यं बध्नतां बन्धप्रायोग्यौ परं तौ "**थीपुम**" इत्यनेन पृथक्संगृहीतौ इति तौ विहाय सातवेदनीयाद्या एव द्वादशोक्ताः। तासां द्वादशानां स्त्रीपुंवेदयोश्च संख्येयगुणोनोत्कृष्टस्थितिबन्धस्तु नरकायुष्क-नरकद्विकादिप्रधानसंनिकर्षेऽनन्तरं दर्शितनीत्यैव ज्ञेयः। एवमेव "**जिणाउवज्जऽण्णदेवजोग्गाणं**" इत्यनेन संगृहीतानां सातवेदनीयादिचतुर्दशजिनदेवायुर्वर्जानां ध्रुवबन्धिनीवैक्रियद्विकादीनामप्यसौ संख्येयगुणोन उत्कृष्टो विज्ञेयः। तत्र जिननाम्नो वर्जनं प्रधानीकृतदेवद्विकोत्कृष्टस्थितेर्मिथ्यादृष्टिस्वामिकत्वात्, देवायुष्कस्य वर्जनं तस्य प्रकृतिबन्धस्य शेषप्रकृत्युत्कृष्टस्थितितः प्रागेव विच्छेदात्। "**णामाणं**" इत्यादिषष्ठगाथया "**सायियरदुजुगलाणं सिआउ**" इत्येतावता सप्तमगाथांशेन च विकलत्रिक-सूक्ष्मत्रिकलक्षणप्रकृतिषट्कप्रधानः संनिकर्षः प्ररूपितः, सोऽपि सुगमः, '**सठाणव्व**' इत्यस्य गतार्थत्वाच्छेषस्य ध्रुवबन्ध्यादीनां संख्येयगुणहीनस्थित्यादेरर्थतोऽनन्तरं प्रसाधितत्वाच्च। अथ "**णीलाअ तित्थगुरुबंधो**" इत्यादिसमधिकगाथया नीललेश्याया जिननामप्रधानः संनिकर्षो भणितः, तत्र सातवेदनीयादीनां सात-हास्य-रति-स्थिर-शुभ-यशःकीर्ति तत्प्रतिपक्षभूतानां द्वादशानां स्याद्बन्धभणनं नीललेश्यायां स्वस्थानतत्प्रायोग्यसंक्लिष्टमनुष्याणां जिननामोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वात्, शेषं तु सुगमम्।

"**दोसु वि सेसाण भवे**" इत्यादिशेषसार्धगाथया मार्गणाद्वयेऽपि भणितशेषप्रकृतिप्रधानः प्रस्तुतसंनिकर्षः परिपठितो मतद्वयेन यथासम्भवम्। तत्र शेषप्रकृतयो नीललेश्यायामायुश्चतुष्टयं देव-

नरकवैक्रियद्विकानि विकलसूक्ष्मत्रिके जिननाम चेति सप्तदशवर्जा एकोत्तरशतम् , कापोतलेश्यायां तु ता एवैकोत्तरशतं तीर्थकरनामसहिता इति द्व्युत्तरशतमिति ।

अत्र "**सुरव्व**" इत्यतिदेशः सुगमः, एतन्मते भवनपत्यादिदेवानां यावज्जीवमशुभलेश्याया अप्यभिमतत्वेन तेषां शेषैकेन्द्रियादिप्रकृत्युत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वात्प्रस्तुतमार्गणाद्वये प्रविष्टत्वाच्च । "**णिरयव्व**" इत्यतिदेशस्तु देवानां पर्याप्तावस्थागतानामशुभलेश्यामनङ्गीकुर्वतां प्राग्दर्शितमतविशेषेण; यतस्तन्मते न देवा एकेन्द्रिय-स्थावरा ऽऽतपनामोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनः किन्तु मनुष्यास्तिर्यञ्चो वा, अत एवैतत्प्रकृतित्रयप्रधानसंनिकर्षे "**णामाण सठाणव्व उ**" इत्याद्यतिदेशद्वयं कृतवान् । तत्र "**सठाणव्व**" इति सर्वत्र सुगमं गतार्थश्च ।"**विगलव्व**" इति तु प्रस्तुतमार्गणाद्वये विकलत्रिकोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनामपि मनुष्यतिर्यक्त्वेन प्रस्तुतमते प्रधानीकृतैकेन्द्रियादिप्रकृतित्रयोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिभिस्तुल्यत्वात् ,विकलत्रिकप्रधानस्त्वसौ प्राक्प्रसाधितस्तद्वदत्रापि प्रसाधनीय इति । **ननु** भवत्वेतत्सर्वं यथा भवता भणितम् , परं नीललेश्यायां जिननामप्रधानसंनिकर्षे यथा सातवेदनीयादीनां द्वादशानां स्याद्बन्धो भणितस्तथा कापोतलेश्यामार्गणायामसौ कथं तथा न भणितः, नच कापोतलेश्यायां नारकास्तत्स्वामिन इति वाच्यम् , एवमपि ते मनुष्याणामिव स्वस्थानसंक्लिष्टाः सन्त एव जिननामोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनो भवन्ति, न पुनर्मिथ्यात्वाभिमुखाः सन्तः, स्वस्थानसंक्लेशे हि नीललेश्यावत्कापोतलेश्यायामपि असातवेदनीयादीनामिव सातवेदनीयादीनामपि बन्धप्रायोग्यत्वे द्वादशानामपि स्याद्बन्धेन भवितव्यम् ? **इति चेद्** , **न**, मनुष्याणामस्थिरलेश्याकतया नीललेश्यायां मन्दसंक्लेशसत्त्वेन जिननामोत्कृष्टस्थितिबन्धेन समं सातवेदनीयबन्धसम्भवेऽपि नारकाणां स्थिरलेश्याकतयाऽविरतसम्यग्दृष्टिस्वामिकसातवेदनीयोत्कृष्टस्थितिबन्धप्रायोग्यसंक्लेशेऽतिक्रान्तेऽपि जिननाम्नो बन्धसम्भवेन जिननामोत्कृष्टस्थितिं बध्नतां सातवेदनीयादिबन्धासम्भवेन केवलस्याऽसातवेदनीयस्य बन्धप्रायोग्यत्वे तस्य नियमबन्ध एव भवति । एवमेव शेषरत्यादिप्रकृत्यपेक्षयाऽपि ज्ञेयमिति ॥१३०६-१४॥

अथ शुभलेश्यामार्गणात्रये प्रस्तुतसंनिकर्षं प्रतिपादयति--

थीणद्धियतिग-बारसकसाय-मिच्छाणि तेउपउमासु । देवाउजेट्ठबंधी ण सिआ वा ताण संखगुणहीणं ॥
तित्थस्स सिआ पुम-रइ-हस्स-ऽण्णधुव-सुहदेवजोग्गाण । णियमा संखगुणूण सुक्काअ सुराउगस्स ओघव्व ॥
तीसु वि देवविउवदुगगुरुबंधी बधए सठाणव्व । णामाण णीललेसादेवगइव्व उण अण्णेसिं॥
णवरि पउमसुक्कासु पुमस्स णियमा कुणेइ ओघव्व । आहारदुगस्स कमाऽज्ज-तइअ-आणयसुरव्व सेसाण
॥१३१५-१८॥ (प्रथमा द्वितीया चतुर्थी च गीतिः)

(प्रे०) "**थीणद्धियतिग**" इत्यादि, तत्राद्यगाथाद्वये देवायुष्कप्रधानसंनिकर्षः, तत्राऽपि द्वितीयगाथोत्तरार्धस्थेन "**सुक्काअ सुराउगस्स**" इत्येतावता शुक्ललेश्यायां देवायुष्कप्रधानः संनिकर्षः सर्वथैवौघवदतिदिष्टः, स च गतार्थः । "**थीणद्धियतिग**" इत्यादिना पादोनगाथाद्वयेन तु तेजोपद्मलेश्यामार्गणयोरसौ दर्शितः, तत्र "**ण**" इत्यनेन प्रमत्तसंयतस्यैव देवायुष्कोत्कृष्टस्थितिबन्ध-

स्वामित्वं समिच्छतां मतेन स्त्यानर्द्धित्रिकादीनां षोडशप्रकृतीनां प्रतिषिद्धोऽपि बन्धः प्रमत्तस्येव मिथ्यादृष्ट्यादेरपि तदभ्युपगच्छतामभिप्रायेण "**सिआ वा ताण संखगुणहीणं**" इत्यनेन विकल्पतो विधाय तासां षोडशानां संख्येयगुणोनोत्कृष्टस्थितिबन्धो दर्शितः, एवं च कुर्वता ग्रन्थकृता स्वामित्वद्वारेऽनुक्तमतविशेषः संगृहीतो विज्ञेयः । शेषं तु सुगमम्, केवलं द्वितीयगाथास्थेन ध्रुवबन्धिविशेषणतया गृहीतेन "**अण्ण**" इति पदेनाऽनन्तरोक्ताः स्त्यानर्द्धित्रिकाद्याः षोडश ध्रुवबन्धिन्यो वर्जिता विज्ञेयाः । "**तीसु वि**" इत्यादिशेषगाथद्वयार्थस्तु सुगमः केवलं तत्र "**णील लेसादेवगइव्व ऊण अण्णेसिं**" ति अन्यासां नामेतरप्रकृतीनामसौ देवगत्यादिप्रकृतिचतुष्टयोत्कृष्टस्थितेर्बन्धको नीललेश्योक्तदेवगतिप्रधानसंनिकर्षे नामेतरप्रकृतीनामिव नियमबन्धस्याद्बन्धादिकं कुर्यादित्यर्थः । अत्र "**णीललेसव्व**" इत्येतावन्मात्रमनभिधाय "**णीललेसादेवगइव्व**" इत्यभिधानं देवद्विकप्रधानसंनिकर्षे "**णीललेसव्व**"इत्येतावन्मात्रस्य संगतत्वेपि वैक्रियद्विकप्रधानसनिकर्षे नीललेश्यायां नरकगतिप्रायोग्यं बध्नतो वैक्रियद्विकोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वेऽपि प्रस्तुतमार्गणासु देवगतिप्रायोग्यं बध्नतस्तत्स्वामित्वात्, तस्य च नीललेश्योक्तदेवद्विकोत्कृष्टस्थितिबन्धकेन समकक्षत्वात्, न पुनर्नीललेश्योक्तवैक्रियद्विकोत्कृष्टस्थितिबन्धकेनेति । इत्थं हि प्रस्तुतमार्गणासु देवद्विकोत्कृष्टस्थितिं बध्नन्निव वैक्रियद्विकोत्कृष्टस्थितिं बध्नन्नपि नामेतरप्रकृतिमध्यात् साताऽसातवेदनीय-हास्य रति-शोका-ऽरति स्त्री-पुंवेदप्रकृतीः स्याद्बध्नाति, सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्ध्याद्या उच्चैर्गोत्रं चेति आयुष्कवर्जशेषदेवप्रायोग्यप्रकृतीस्तु नियमतो बध्नाति, स्थितिं पुनस्तासां नियतस्याद्बन्धानां सर्वासां संख्येयगुणोनोत्कृष्टामेव बध्नाति चेत्यर्थः सम्पन्न इति । "**णवरि**" इत्यादिनाऽपवादकथनं तु नीललेश्यायां देवद्विकाद्युत्कृष्टस्थितिं बध्नतां वेदद्वयस्य बन्धप्रायोग्यत्वेन पुंवेदस्य स्याद्बन्धभावेऽपि, एवमेव तेजोलेश्यायामपि तथाभावेऽपि पद्मशुक्ललेश्ययोर्देवीनामप्रवेशेन केवलस्य पुवेदस्यैव बन्धप्रायोग्यतया तस्य पुंवेदस्य नियमाद् बन्धो भवति देवद्विकाद्युत्कृष्टस्थितिबन्धकस्येति । "**कमाऽज्ज-तइअ**" इत्यादि तु सौधर्मकल्पादितत्तद्देवादिमार्गणासम्बन्धिसंनिकर्षवदभ्यूह्यम्, तत्तत्प्रभृतिदेवानामेव तेजआदितत्तल्लेश्यासु प्रविष्टत्वात्, तेषामेव तत्र शेषप्रकृत्युत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वाच्च । शेषप्रकृतयस्तु तेजोलेश्यादिषु यथासंख्यमुक्तदेवद्विकवैक्रियद्विकाहारकद्विकदेवायुष्कवर्जाश्चतुरुत्तरशतमेकोत्तरशतं सप्तनवतिश्च विज्ञेया इति ॥१३१५-१८॥

तदेवं निगदितो लेश्यामार्गणासु प्रस्तुतपरस्थानोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षः, भव्या-ऽभव्यमार्गणयोस्तु प्राक्पञ्चेन्द्रियौघादिमार्गणाभिः सममतिदिष्टो यथाक्रमभवमोघवत्, तदनु सम्यक्त्वमार्गणास्वाभिधातव्यः, परं तत्राऽपि सम्यक्त्वौघ-क्षायिकसम्यक्त्व-क्षायोपशमिकसम्यक्त्वेषु प्राक् "एगस्स तिणाणाऽवहिसम्म" (गाथा-१२९२) इत्यादिना मतिज्ञानादिना सममुक्त इत्यौपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायामाह—

ओहिव्व खलु उवसमे सामा-ऽऽहारदुग-थिर-सुह-जसाण। रइ-हस्साण य णेयो ओघव्व हवेज्ज तित्थस्स ॥
सेसाणोहिव्व भवे णवरं बंधेइ णेव जिणणामं । ॥१३१९॥

(प्रे०) "ओहिव्व" इत्यादि, तत्र सातवेदनीयाद्यष्टप्रकृतिप्रधानोऽवधिज्ञानमार्गणावदिति सुगमम्, अवधिज्ञानमार्गणावदिहापि तासामुत्कृष्टस्थितेः स्वस्थानसंक्लिष्टस्वामिकत्वात्, जिननाम-प्रधान ओघवदिति, तत्रोघे जिननामोत्कृष्टस्थितिं बध्नतां मिथ्यात्वाभिमुखत्वेऽपि तदानीं बध्यमानानां ध्रुवबन्ध्यादीनामोघोत्कृष्टस्थितिकत्वेन यथा संख्येयगुणहीनोत्कृष्टस्थितिबन्धस्तथेहापि जिननामो-त्कृष्टस्थितिं बध्नतां स्वस्थानसंक्लिष्टत्वेन मिथ्यात्वाभिमुखोत्कृष्टस्थितिकस्वामिकानां तासां ध्रुव-बन्ध्यादीनां संख्येयगुणहीनोत्कृष्टस्थितिबन्धो जायत इति । एवमोघवन्मनुष्याणामेवेहापि जिननामो-त्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वे देवद्विकवैक्रियद्विकयोरेव बन्धः, न पुनर्मनुष्यपञ्चकस्यापीति । अत एव "सेसाणोहिव्व" इत्यादौ जिननामबन्धप्रतिषेधः । शेषाणामुत्कृष्टस्थितेर्मिथ्यात्वाभिमुखस्वामिक-त्वात्, जिननाम्न उत्कृष्टस्थितेस्तु स्वस्थानसंक्लिष्टस्वामिकत्वेन तदानीं बन्धाभावादिति भावः ।

अथ क्रमप्राप्तसम्यग्मिथ्यात्वमार्गणाया आह प्रस्तुतम्—

ओहिव्व होइ मीसे सप्पाउग्गाण सव्वेसिं ॥१३२०॥

(प्रे०) "ओहिव्व" इत्यादि, सुगमम्, केवलम् "सप्पाउग्गाण" इति जिननामाऽऽ-हारकद्विकयोरायुर्द्विकस्य च मिश्रमार्गणायां बन्धाभावेन तद्विषयकसंनिकर्षवर्जनार्थम्, तथाचाऽव-धिज्ञानमार्गणायां यत्र जिननामादिप्रकृतिचतुष्कस्य स्याद्बन्धो नियमबन्धस्तत्प्रधानसंनिकर्षो वा भणितः स इह सम्यग्मिथ्यात्वमार्गणायां न वक्तव्य इति ॥...१३२०॥

अथ सासादनमार्गणायामाह प्रस्तुतसंनिकर्षमार्यदर्शकेन—

[1]एगस्स सासणे धुव असाय-थी-अरइ-सोग-णीआओ । तिरिदुरलदुग-पणिंदिय-परघा ऊसास-असुहखगईओ॥
[2]पचमसघयणागिइ-तसचउग-अथिरछगाउ गुरुबंधी । णियमाऽण्णेसिं दुविह वा उज्जोअस्स एव से ॥
[3]सायस्स जेट्ठबंधी गुरुमगुरु व रइ-हस्स पुरिसाणं । सुरविउव्वदुग-सुहागिइखगइ-वइर-थिरछगु-च्चगाण सिओ
[4]णियमा धुव-पंचिंदिय-परघा-ऊसास तसचउक्काणं । बंधइ सेसाणं मिस्सा-ऽऽउवज्जाण सेसाण ॥
[5]एमेव हस्स-रई-पुम-सुहागिइ-सुखगइ-थिरछगुच्चाणं । परमुच्चजेट्ठबंधी बंधइ णो तिरिदुगुज्जोआ ॥
[6]देवाउगस्स णेयो अभवव्व दुआउगाण ओघव्व । णरदुग-सघयणागिइतिगगुरुबंधी सठाणव्व ॥
[7]णामाण बंधइ धुव-असाय थी अरइ सोग-णीआण । सखसूण णियमा देवविउव्विदुगगुरुबंधी ॥
[8]णामाणं सठाणव्व उ बंधइ सखसहीणमण्णेसिं । धुवबंधीणं णियमा गुरुमगुरु उच्चगोअस्स ॥
[9]बंधइ साय-पुरिस-रई-हस्साण गुरुमगुरु ठिई व सिओ । बंधइ सखसूण असाय-थी सोग-अरईण ॥
[10]वइरस्स जेट्ठबंधी णामाण बंधए सठाणव्व । सायव्व ठिइ बंधइ अण्णेसि अट्ठचत्ताए ॥

(प्रे०) "एगस्स सासणे" इत्यादि, तत्राद्यगाथाद्वये "एगस्स" इत्यादिना ध्रुव-बन्ध्याद्येकसप्ततिप्रकृतिप्रधानः 'एवं से' इत्यनेनोद्योतनामप्रधानश्च संनिकर्षः प्रतिपादितः, स च ॥१३२१, १३३०॥ (प्रथमा तृतीया च गीतिः)

सुगमः, एतासां ध्रुवबन्ध्यादीनां प्रत्येकं प्रस्तुतमार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टसंक्लेशवर्तिजीवानामवश्यं बन्धभावाद् विहायोद्योतनाम, तस्य स्वभावतः परावर्तमानबन्धत्वादिति भावः। द्विविधस्थितिबन्धस्तु प्रत्येकमुत्कृष्टसंक्लेशे बन्धभावात् प्रागिवाभ्यूह्यः। "सायस्स" इत्यादितृतीयचतुर्थगाथाद्वयेन सातवेदनीयप्रधानसंनिकर्षः प्रतिपादितः, तत्राऽपि रत्यादीनां द्विविधस्तथा ध्रुवबन्ध्यादीनां शेषाणां च संख्येयभागोनोत्कृष्टश्च स्थितिबन्धः सातवेदनीय-रत्यादीनामुत्कृष्टस्थितेस्तुल्यसंक्लेशजन्यत्वाद्ध्रुवबन्ध्यादीनां तु ततोऽधिकसंक्लेशजन्यत्वाच्चेत्येवं प्रागिव यथासंभवमुपपाद्यः, स्याद्बन्धादिकमपि प्रागिव ध्रुवबन्धित्वेन प्रतिपक्षरहितत्वेन तत्सहितत्वेन वा यथासम्भवमभ्यूह्यम्; केवलमायुष्कवर्जनं बन्धप्रायोग्याणां तिसृणामप्यायुःप्रकृतीनां शुभत्वेनोघवदेव। "सेसाणं" इत्यत्र शेषप्रकृतय इमाः—शोकाऽरति स्त्रीवेद-तिर्यग्द्विक मनुष्यद्विकौ--दारिकद्विक मध्यमसंहननसंस्थानचतुष्टय-कुखगत्यु-द्योता--ऽस्थिरषट्क-नीचैर्गोत्राणीति षड्विंशतिः। पञ्चमगाथयाऽतिदेशेन द्वादशानां हास्यादीनां सातवेदनीयवद्भणितः, तत्रोत्तरार्धेन योऽपवादः पठितः स तु सुगमः, बन्धत उच्चैर्गोत्रस्य तिर्यग्द्विकोद्योतविरुद्धत्वात्। शेषं तु प्रागिव तत्तत्प्रकृतिव्यत्ययेन वाच्यम्। "देवाउ" इत्यादिषष्ठगाथापूर्वार्धेन बन्धप्रायोग्याऽऽयुष्कत्रयप्रधानोऽतिदिष्टः, सोऽपि सुगमः, केवल देवायुष्कप्रधाने संनिकर्षे ध्रुवबन्धिन्यो मिथ्यात्ववर्जाः पट्चत्वारिंशद्बोध्याः, अभव्यमार्गणायां मिथ्यात्वस्य बन्धप्रायोग्यत्वेऽपीह तस्य बन्धाप्रायोग्यत्वात्। षष्ठगाथोत्तरार्धस्थ-"णरदुगे"त्येतत्प्रभृतेः सप्तमगाथोत्तरार्धस्थं "संखसूणं णियमा" इत्यन्तेन मनुष्यद्विकाद्यष्टप्रकृतिप्रधानसंनिकर्षो भणितः, तत्र "संघयणागिइतिग" इत्येतावता द्वितीय-तृतीय-चतुर्थसंहननानि तादृशानि द्वितीयादीनि त्रीणि संस्थानानि च संगृहीतानि वेदितव्यानि, तदन्यसंहननसंस्थानप्रधानसंनिकर्षस्य पूर्वोत्तरमुक्तवक्ष्यमाणत्वात्। तत्र "सट्ठाणव्व णामाणं" इति गतार्थम्। "बंधइ धुव-असाये"त्यादि तु ध्रुवबन्ध्याद्योघोत्कृष्टस्थितेः प्रधानीकृतमनुष्यद्विकाद्योघोत्कृष्टस्थितितोऽधिकत्वात् तत्प्रतिपक्षप्रकृतीनां तु ततो न्यूनस्थितिकत्वाच्च। **एतदुक्तं भवति**—संनिकर्षोऽयमोघवदेव भावनीयः, केवलं सासादनमार्गणायाः प्रस्तुतत्वेन ओघतो यत्र चतुर्भागाधूनोत्कृष्टस्थितिबन्धो भणितस्तत्राऽसौ संख्येयभागोनोत्कृष्टो लभ्यते, तथाच असात स्त्रीवेद शोका ऽरति नीचैर्गोत्रप्रतिपक्षभूता बन्धप्रायोग्या याः सातवेदनीय-पुंवेद-हास्यादयः प्रकृतयस्ताः प्रधानीकृतमनुष्यद्विकाद्युत्कृष्टस्थितितो न्यूनोत्कृष्टस्थितिका इति कृत्वा यथा मनुष्यद्विकोत्कृष्टस्थितिं बध्नता न बध्यते तथेहापि न बध्यते, नपुंसकवेदस्तु प्रस्तुतमार्गणायां बन्धप्रायोग्य एव नास्ति, इत्येवं ध्रुवबन्ध्यादिवदसातवेदनीयादीनां नियमतो बन्धो जायते; संख्येयभागोनोत्कृष्टस्थितेर्बन्ध इति तु सुगमम्, अनेकशो भावितत्वादिति। इत्थमेवोत्तरत्रापि भावनीयम्। सप्तमगाथोत्तरार्धस्थ "देवविउव्वदुगगुरुबंधो" इत्येतत्सहितेनाऽष्टमनवमगाथाद्वयेन देवद्विक वैक्रियद्विकलक्षणप्रकृतिचतुष्टयप्रधानः संनिकर्षः पठितः, सोऽप्यनन्तरोक्तनीत्या भाव्यः। अक्षरार्थस्तु सुगमः,

केवलं "अण्णेसिं धुवबंधीणं" इत्यत्र नामसर्वप्रकृतीनां स्वस्थानवदतिदिष्टत्वात् नामध्रुवबन्धि-नवकमबन्धप्रायोग्यमिथ्यात्वं च विहाय शेषाः सप्तत्रिंशद् ध्रुवबन्धिप्रकृतयः संगृहीताः, "णियमा" इत्येतदुभयत्र संबध्यते च । एवमेव नवमगाथास्थं "सिआ"इति पदमप्युभयत्राभिसंबध्यत इति । "वइरस्स" इत्यादिचरमगाथा तु अक्षरतोऽर्थतश्च सुगमेति ॥१३२१ १३३०॥

तदेवं भणितः सासादनमार्गणायां प्रस्तुतसंनिकर्षः, मिथ्यात्वमार्गणाया तु पूर्वं पञ्चे-न्द्रियौघादिमार्गणाभिः समं प्रतिपादितः, तथाच गताः सम्यक्त्वमार्गणाः । तदनु संज्ञि तत्प्रतिपक्ष-भूताऽसंज्ञिमार्गणाद्वयभेदावसरः, तत्र संज्ञिमार्गणायामपि मिथ्यात्वमार्गणावत्पञ्चे न्द्रियौघादिमार्ग-णाभिः समं प्ररूपित इति क्रमप्राप्ताऽसंज्ञिमार्गणायां गाथाचतुर्दशकेन प्रतिपिपादयिषुरुपक्रमते—

अमणम्मि विणा-ऽऽउं गुरुबंधी एगस्स णिरयजोग्गाओ । गुरुमगुरु वाऽण्णेसिं णियमा गुरुसाउगस्स सिआ ॥१३३१॥

(प्रे०) "अमणम्मि" इत्यादि, कण्ठ्या, नरकप्रायोग्याः प्रकृतयस्तु सायुष्काः प्राग्भणिता द्विसप्ततिरिति ॥१३३१॥ तदेवं भणितो नरकायुर्वर्जनरकप्रायोग्यैकसप्ततिप्रकृतिप्रधानः संनिकर्षः । सम्प्रति पुरुषवेदप्रधानं तमाह—

बंधइ सिआ ठिइ गुरुमगुरु वा पुरिसजेट्ठठिइबंधी । सुरदुग-वइर-सुहागिइ-सुखगइ-सुहगतिग-उच्चाणं ॥
णियमा धुव-पंचिंदिय-परघा-ऊसास-तसचउक्काण । बंधइ सखसूण सिआ खलु दुवेअणीअ-जुगलाण ॥
तिरिअरुरालविउव्वियदुग-पणसंघयणआगिईण तहा । कुखगइ-उज्जोआण थिर-सुह जस-अथिरछक्क-णीआण ॥ १३३२-३४॥ (द्वितीया तृतीया च गीति)

(प्रे०) "बंधइ सिआ" इत्यादि, सुगमाः, परं द्वितीयगाथोत्तरार्धस्थं "सखंसूण" इति पदं देहलीदीपकन्यायेनोभयत्र सम्बन्धनीयम् , संख्यांशोनत्वं च ध्रुवबन्ध्याद्युत्कृष्टस्थिते-र्विकलमार्गणावत् प्रस्तुतमार्गणायामपि ध्रुवबन्ध्यादेरुत्कृष्टस्थितितो जघन्यस्थितेरपि संख्येयभाग-न्यूनत्वादिति । ननु एवमपि सातवेदनीय-हास्य रति-स्थिरत्रिकाणीति षण्णां प्रकृतीनामोघिकोत्कृ-ष्टस्थितेः पुंवेदौघिकोत्कृष्टस्थितेश्च तुल्यत्वेन पूर्वोक्तसप्तमनियमानुसारेण कथं न सातवेदनीया-दीनामुत्कृष्टोऽनुत्कृष्टो वा स्थितिबन्धः ? इति चेत् , न, ओघतस्तथा सम्भवेऽपीह तु एकेन्द्रिय-प्रायोग्यं बध्नतां सातवेदनीयाद्युत्कृष्टस्थितिबन्धो जायते, पुंवेदोत्कृष्टस्थितिबन्धस्तु नरकेतर-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतां भवति, किञ्चोत्कृष्टतो यावता संक्लेशे नरकेतरपर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-प्रायोग्यबन्धस्ततस्तीव्रसंक्लेशेनापि एकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धो भवति, तथाचैकेन्द्रियप्रायोग्यं बध्नन्त उत्कृष्टतः सातवदेनीयादीनां यावतीं स्थितिं निर्वर्तयन्ति ततः संख्येयभागन्यूनामेव पञ्चेन्द्रिय-प्रायोग्यं बध्नन्तो निर्वर्तयन्तीति सुष्ठूक्तं सातवेदनीयादीनामपि संख्येयभागोनोत्कृष्टस्थितिबन्धं कुर्वन्तीति । एवमेवोत्तरत्राऽपि संख्येयभागहीनत्वं विभावनीयमिति ॥१३३२-१३३४॥

अथोच्चैर्गोत्र-सातवेदनीय-रति-हास्य-स्त्रीवेदमोहनीयप्रधानमतिदेशेनाह—

एमेवुच्चस्स णवरि ण चेव बंधेइ तिरिदुगुज्जोआ । साय-रइ-हस्स-थीण असमत्तपणिंदितिरियव्व ॥१३३५॥

(प्रे०) "एमेव" इत्यादि, अत्र पूर्वार्धेन सापवादमुच्चैर्गोत्रप्रधानसंनिकर्षोऽतिदिष्टः, तत्राऽपवादभणनं तूच्चैर्गोत्रप्रधानस्य प्रकृतिबन्धसंनिकर्षस्य तथात्वात्, उच्चैर्गोत्रं बध्नतस्तिर्यग्द्विकोद्योतप्रकृतीनां बन्धप्रतिषेधादिति भावः । सातवेदनीयादीनां चतसृणामपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्वदिति कथनं तु अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणावत् प्रस्तुतमार्गणायामप्योघोत्कृष्टस्थितिबन्धाभावात् तद्वदेव सातवेदनीयादीनां नरकगत्यादिप्रायोग्यत्वाच्चेति; तथा च सः "एगस्स बंधमाणो जेट्ठ साय-रइ-हस्स-जुगलाओ । जेट्ठमजेट्ठ व ठिइ सिआ उ बंधेइ अण्णस्स ॥१२१०-१३॥" इत्यादिगाथाचतुष्टयोक्तस्वरूपोऽवमातव्य इति ॥१३३५॥ अथ नरकायुष्कप्राधान्येन प्राह प्रस्तुतम्—

णिरयाउजेट्ठबंधी गुरुमुअ अगुरु असंखभागूणं । संखगुणं व ठिइ बंधइ णियमाऽण्णणिरयजोग्गाणं ॥१३३६॥ (गीतिः)

(प्रे०) "णिरयाउ" इत्यादि, गतार्था ॥ १३३६॥

अथ तिर्यगायुःप्राधान्येनाऽऽह प्रस्तुतसंनिकर्षम्—

सायियरं दुवेअजुगलं-उज्जोअ-थिराइतिजुगलाण सिआ । तिरियाउजेट्ठबंधी बंधइ संखेज्जभागूणं ॥

धुव-तिरिदुग-णीआण सेससुहपणिंदितिरियजोग्गाण । पंचदसण्ह य णियमा बंधइ संखेज्जभागूणं ॥ ॥१३३७-३८॥

(प्रे०) "सायियरे"त्यादि, तत्र "दुवेअजुगल" इत्यत्र 'दु'शब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते, तथा च तेन वेदद्वयी हास्यरतिशोकाऽरतिलक्षणयुगलद्वयी च वेदितव्या, वेदितव्या च व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेर्वेदद्वय्यां स्त्रीवेदपुंवेदौ, प्रस्तुतमार्गणायां बन्धप्रायोग्योत्कृष्टस्थितिकतिर्यगायुषो युग्मिप्रायोग्यत्वेन युग्मिनां स्त्रीवेदपुंवेदयोरेव सम्भवेन च नपुंसकवेदस्य वर्जनीयत्वात् । "थिराइतिजुगलाण" इत्यनेन स्थिर-शुभ-यशःकीर्तितत्प्रतिपक्षलक्षणप्रकृतियुगलत्रयी वेदितव्या । "सेससुहपणिंदितिरियजोग्गाणं" इत्यनेन संगृहीताः पञ्चदश प्रकृतयस्त्विमाः—पञ्चेन्द्रियजात्यौदारिकद्विक-प्रथमसंहनन-प्रथमसंस्थान-सुखगति-पराघातो-च्छ्वास-त्रसचतुष्क-सुभग-सुस्वरा-ऽऽदेयनामानीति । उपपत्तिस्तु सुगमा, तिर्यगायुष्कोत्कृष्टस्थितेः शुभत्वेन तद्बध्नतो विशुद्धतया तदन्यप्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितेरेव बन्धभावात्, अनुत्कृष्टा च सेह प्रोक्तनीत्या संख्येयभागोनोत्कृष्टा सम्भवति । जघन्या किन्न स्यात् ? इति चेद्, विशुद्धस्याऽपि तस्य सर्वविशुद्धत्वाभावात्, तच्च पुनः सर्वविशुद्धावायुर्बन्धप्रतिषेधात्, तथा च जघन्या न भवति । अत एव सातवेदनीयादीनां स्याद्बन्धो भणितो वेदितव्यः, अन्यथा सर्वविशुद्धौ सत्यां तासु प्रशस्तानां नियतबन्धस्याऽप्रशस्तानां त्वबन्धस्यैव प्रवर्तनादिति ॥१३३७-३८॥

अथ मनुष्यायुष्कमधिकृत्य प्राह—

मणुयाउजेट्ठबंधी थी पुरिस-दुजुगल वेअणीआण । तिथिराइग-जुगलाण सिआ ठिइं संखभागूणं ॥१३३९॥

धुवबंधीण तह णरजोग्गाण पसत्थसेसपयडीणं । अट्ठारसण्ह णियमा बंधइ संखेज्जभागूणं ॥ १३४०॥

(प्रे०) "मणुयाउ" इत्यादि, इयमपि गाथाद्वयी सर्वथाऽनन्तरोक्तनीत्यैव विभावनीया, तद्वदिहापि उत्कृष्टस्थितिकमनुस्यायुष्कस्य युगिमप्रायोग्यत्वात्, केवलं "अट्ठारमण्ह" इत्यनेन मनुष्यप्रायोग्यप्रशस्तशेषप्रकृतितयाऽष्टादशानां कथनं तत्र तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोरप्रशस्तत्वेन "धुवतिरिदुगणीआण" इत्यनेन ध्रुवबन्धिप्रकृतिभिः समं पठितत्वेऽपीह "धुवबंधीणं" इत्यनेन केवलानां ध्रुवबन्धिनीनामेव गृहीततया शेषाणां मनुष्यद्विको च्चैर्गोत्रलक्षणानां शेषप्रकृत्यन्तर्गतत्वादिति ॥१३३९-४०॥

अथ देवायुष्कप्रधानं प्रस्तुतपरस्थानोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षमाह—

देवाउजेट्ठबंधी णियमा बंधेइ संखभागूण । धुव पुम रइ-हस्साणं तह सुहसेससुरजोग्गाणं ॥१३४१॥

(प्रे०) "देवाउ" इत्यादि, सुगमा, ननु मनुष्यायुर्वद् देवायुरप्युत्कृष्टस्थिति कं तत्प्रायोग्यविशुद्धया एव बध्यते, तथाच तद्बध्नतः साता ऽसातवेदनीयादिलक्षणानां सप्रतिपक्षबन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां मनुष्यायुष्कप्रधानसंनिकर्षवत् स्याद्बन्ध एव भणितव्यः ? इति चेद्, न, देवायुःप्रकृतिबन्धे नाऽसातवेदनीयाद्यशुभप्रकृतिबन्धस्य विरोधात्, अत एव देवायुष्कजघन्यस्थितिं बध्नतस्तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टस्यापि सातवेदनीयादीनां नियमतो बन्धो भणिष्यते, केवलं पुरुषवेदस्य नियतबन्ध उत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षादेव विज्ञेयः, न पुनः प्रकृतिबन्धसंनिकर्षाद्, देवायुःप्रकृतिबन्धसंनिकर्षतस्तु स्त्रीवेदबन्धस्याऽपि अविरुद्धतया द्वयोर्बन्धप्रायोग्यत्वे स्त्रीवेद-पुंवेदयोर्द्वयोरपि स्याद्बन्धप्रतिपादनादिति ॥१३४१॥ अथ तिर्यग्द्विकौदारिकशरीरै-केन्द्रियजाति-स्थावरचतुष्कलक्षणाऽष्टप्रकृतिप्राधान्येन प्रस्तुतं संनिकर्षं प्राह—

णामाण तिरिदुग-रले-गिंदिय-थावरचउक्कगुरुबधी।सट्ठाणव्व खलु धुव असाय अरइ सोग-णपुम-णीआणं॥
णियमा संखसूण .... ॥१३४२॥ (आद्या गीतिः)

(प्रे०) "णामाणे"त्यादि, तत्र ध्रुवबन्ध्यादीनां संख्येयभागोनोत्कृष्टस्थितिबन्धस्तासामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य नरकप्रायोग्यं बध्नतां मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टसंक्लिष्टानामेव भावात्, प्रस्तुतप्रधानीकृततिर्यग्द्विकैकेन्द्रियजात्याद्युत्कृष्टस्थितिं बध्नतां तु ततो मन्दसंक्लिष्टत्वाच्च । शेषं तु गतार्थमिति ।॥ अथ देवद्विकप्रधानं प्रस्तुतसंनिकर्षं प्ररूपयति—

... ... णामाण सुरदुगजेट्ठठिइबंधी । सट्ठाणव्व सिआ खलु दुवेअणीअ-जुगलि-त्थीणं ॥१३४३॥
बंधइ संखंसूणं धुवबंधीण णियमा पुमस्स सिआ । जेट्ठमजेट्ठं व ठिइं बंधइ उच्चस्स णियमाओ ॥१३४४॥

(प्रे०) "णामाण" इत्यादि, सुगमा, परं "दुवेअणीअजुगल" इत्यत्र 'दु' शब्दो वेदनीय-युगलयोः प्रत्येकं संबध्यते, तथाच तेन साता ऽसातवेदनीय हास्य-रति-शोका-ऽरतिलक्षणप्रकृतिषट्कस्य संग्रहो बोध्यः, तथा "सखंसूणं" इति तथा "जेट्ठमजेट्ठं व" इत्येतत्पदान्वयविषये देहलीदीपकन्यायोऽनुसर्तव्यः प्रागिवेति ॥१३४३-१३४४॥

अथ प्रस्तुताऽसंज्ञिमार्गणायां प्रोक्तशेषमनुष्यद्विकादिषड्विंशतिप्रकृतिप्रधानं संनिकर्षमतिदिशति—

सेसाणं णामाणं गुरुबंधी बघए सठाणव्व । णामाणं अण्णेसिं विगलिंदियमग्गणव्व खलु ॥१३४५॥

(प्रे०) "सेसाण" इत्यादि, सुगमा, केवलं प्रोक्तशेषा नामप्रकृतयो नामत इमाः षड्विंशतिः—मनुष्यद्विक-विकलत्रिको-दारिकाङ्गोपाङ्ग-संहननषट्क-हुंडवर्जसंस्थानपञ्चक-सुखगत्या-ऽऽतपो द्योत-स्थिरषट्कानीति । तत्र नाम्ना स्वस्थानवदिति गमार्थम्, अन्यासां नामेतरध्रुवबन्धिवेदनीयादीनां विकलेन्द्रियमार्गणावदिति तु तासां नामेतरप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितेर्विकलेन्द्रियमार्गणावदिहापि तत्प्रायोग्यसंक्लेशजन्यत्वात् तद्वदिहापि तासां जघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धतारतम्यस्य संख्येयभागहीनाधिकमात्रत्वाच्च । विस्तरतस्तु तत्तदतिदेशानुसारेण भाव्यं स्वयमेवेति ॥१३४५॥

तदेवं गतश्चरमायामवशिष्टायामसंज्ञिमार्गणायामपि सर्वोत्तरप्रकृतिपरस्थानोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षः, तथाच समाप्त आदेशतोऽपि परस्थानोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षः, समाप्ते च तस्मिन् समाप्तः सर्वथा परस्थानोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्ष इति ॥

गतः परस्थानोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षः । सम्प्रति अवशिष्टः परस्थानजघन्यस्थितिबन्धसंनिकर्षः प्रतिपादनीयः, तत्रादौ तावदोघतो विभणिषुरुपक्रमते—

एगस्स जहण्णठिइ साया-ऽऽवरण-जस-उच्च-विग्घाणो । बधंतो अण्णेसिं णियमा बधइ जहण्णठिइं ॥१३४६॥

(प्रे०) "एगस्स" इत्यादि, सुगमा, केवलं "सायावरण" इत्यादिना सातवेदनीयज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणचतुष्क-यशःकीर्त्यु-च्चैर्गोत्रा-ऽन्तरायपञ्चकलक्षणसप्तदशप्रकृतीनां संग्रहः, उपपत्तिस्तु मतिज्ञानावरणादिज्ञानावरणपञ्चकस्वस्थानजघन्यस्थितिबन्धसंनिकर्षवद्बोध्येति ॥१३४६॥

तदेव भणितो मतिज्ञानावरणादिप्रधानसंनिकर्षेण तुल्यवक्तव्यत्वात् सूक्ष्मसम्परायचरमसमये यासां सप्तदशप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्तत्प्रधानः प्रस्तुतसंनिकर्षः । साम्प्रत क्रमप्राप्तनिद्रापञ्चकप्रधानं त विभणिषुस्तुल्यवक्तव्यत्वादेकेन्द्रियस्वामिकजघन्यस्थितिबन्धा याः शेषध्रुवबन्धिन्यो याश्च तत्सहभाविजघन्यस्थितिबन्धा अप्रतिपक्षा अध्रुवबन्धिन्यस्ताः प्रधानीकृत्याह—

धुवगुणतीसाओ रइ-हस्स-उरलदुग-पणिंदि-वइराओ । पढमागिइ-सुखगइ परघा-ऊसास तसणवगाओ ॥
एगस्स हस्सबंधी णियमा अण्णाण सत्तवत्ताए । लहुमलहु व सिआ तिरिणरदुग-उज्जोअ णीआणं ॥
उच्चस्स सिआ बधइ असंखियगुणा-ऽहिय ठिइ णियमा । सायणावरणाणं जस-पुम संजलण-विग्घाणं ॥
॥१३४७-४९॥

(प्रे०) "धुवगुणतीसाओ" इत्यादि, निद्रापञ्चक मिथ्यात्व संज्वलनवर्जकषायद्वादशक-भय-जुगुप्सा नामध्रुवबन्धिनीनवकलक्षणा एकोनत्रिंशद्ध्रुवबन्धिन्यः प्रकृतयः 'धुवगुणतीसाओ' इत्येतावता संगृहीताः । 'रइ-हस्स' इत्यादि सुगमम्, तेन हि 'तसणवगाओ' इत्यन्तेनैकोनत्रिंशतेऽध्रुवबन्धिनीनां ग्रहणम्, इत्येवमाद्यगाथयाऽष्टचत्वारिंशत्प्रकृतयः प्रधानीकृताः । 'एगस्स' इत्यादिना तु तत्र प्रस्तुतसंनिकर्षः पठितः, तत्राऽयं भावः—एतासामष्टचत्वारिंशतः प्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनः सुविशुद्धबादरैकेन्द्रियाः सन्तोऽपि ते द्विविधा भवन्ति, कुतः? भण्यते,

पारभविकस्वप्रायोग्यसर्वोत्कृष्टोत्पत्तिस्थानापेक्षया। **तद्यथा**—पञ्चविधैकेन्द्रियमध्यात् तेजस्काय-वायुकायिका उत्कृष्टतोऽपि पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्त्वे एवोत्पद्यन्ते, शेषाः पृथिवीकायिकाद्यास्तूत्कृष्टतः पर्याप्तमनुष्यतयोत्पद्यन्ते, ततः किम् ? ततो यदा सर्वविशुद्धाः सन्तः पृथिवीकायिकाद्याः पर्याप्तमनुष्यप्रायोग्यं बध्नन्ति तदा तावद्विशुद्धाः सन्तस्तेजस्कायवायुकायिकास्तु पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्यमेव बध्नन्ति; एतेषां पञ्चविधैकेन्द्रियाणामुत्कृष्टविशुद्धौ सत्यामनन्तरभणिता अष्टचत्वारिंशत्प्रकृतयो नियमतो बध्यन्ते, तदानीं च तेषामेतत्प्रकृतिमध्यात् कासाञ्चिदजघन्यः कासाञ्चिच्चजघन्यः प्राग्दर्शितनीत्या जघन्यात्समयादिना यावत्पल्योपमासंख्येयभागेनाऽधिको वा स्थितिबन्धो जायत इत्यतः '**एगस्स......लहुमलहुं वा**' इति भणितम्। यथोक्तनीत्या द्विविधविभिन्नस्वाम्यपेक्षया तिर्यग्मनुष्यद्विकयोः '**सिआ तिरि**' इत्यादिना स्याद्बन्धो भणितः, '**लहुमलहुं व**' इत्येतदिहापि सम्बध्यते, तथाच तिर्यग्द्विकादेरुद्योतनामनीचैर्गोत्रयोश्च जघन्योऽजघन्यो वा स्थितिबन्धो भणितः, तत्र स्याद्बन्धः पुनरुद्योतनाम्नः स्वभावाद्, नीचैर्गोत्रस्य तु तेजस्कायिकादेस्तद्बन्धेऽपि पृथिवीकायिकादीनां तद्बन्धाभावात्। **ननु** एवं तर्हि पृथिवीकायिकादीनां सुविशुद्धानामुच्चैर्गोत्रबन्धस्यावश्यंभावेऽपि तेजस्कायिकादेस्तद्बन्धाभावेन नीचैर्गोत्रवदुच्चैर्गोत्रस्याऽपीह स्याद्बन्धप्रस्तावे संग्रहः किन्न कृतः? **इति चेत्, सत्यम्**, भवति तस्याऽपि भवदुक्तनीत्या स्याद्बन्धः, परं तदीयजघन्यस्थितिबन्धः क्षपकस्वामिकोऽष्टमुहूर्तमान इहौघिकप्ररूपणायाः प्रस्तुतत्वात्, स चैकेन्द्रियाणां ततोऽसंख्येयगुणो लभ्यते, पल्योपमासंख्यभागन्यूनसागरोपमद्विसप्तभागप्रमाणत्वादित्यतः '**उच्चस्स सिआ**' इत्यादिनाऽनन्तरगाथायां स्यादसंख्यगुणाभ्यधिको भणितः। एवमेव मतिज्ञानावरणादीनामनन्तरगाथायां "**सायावरण**' इत्यादिना प्रधानीकृतानामुच्चैर्गोत्रवर्जषोडशप्रकृतीनां सञ्ज्वलनचतुष्टयस्य पुंवेदस्य चाऽपीहाऽसंख्येयगुणाभ्यधिक एव स्थितिबन्धो जायते, केवलं तासु एकविंशतौ मतिज्ञानावरणादीनां ध्रुवबन्धिनीनां ध्रुवबन्धित्वात् पुंवेद-यशःकीर्तिनाम्नोर्हास्य-रत्यादिप्रकृतिन्यायेन प्रागुक्तरीत्या च नियमत एव बन्धो जायते, न पुनरुच्चैर्गोत्रादिन्यायेन तिर्यग्द्विकादिन्यायेन वा स्याद्बन्ध इत्यतः '**णियमा साये**'त्यादिना नियमबन्धः प्रतिपादितः। असंख्यगुणाभ्यधिकता तु तत्स्थितेः '**बधइ असंखियगुणाहियं**' इत्यादेर्घण्टालालान्यायेनेहापि सम्बन्धाज्ज्ञेयेति ॥१३४७-४९॥

अथाऽसातवेदनीयप्राधान्येन साक्षात् कथयन् तत्तुल्यवक्तव्यत्वादरति-शोका-ऽस्थिरत्रिकलक्षणप्रकृतिपञ्चकप्राधान्येन त्वतिदिशंश्चाहार्यात्रयम्—

विग्घा-ऽऽवरणणवग-पुम-संजलणाणं असायलहुबंधी। णियमा असखियगुणब्भहियं तु सिआ जसु-च्चाणं॥
इस रइ-तिरिअणरदुग-उज्जोअ-थिर-सुह-णीअगोआणं। बधइ सिआ ठिइ खलु अजहण्णमसंखभागहियं॥
णियमाऽण्णधुवाण तहा णिणअण्णसुहणरजोगअधुवाण। लहुमलहुं व सिआ-ऽरइ-सोग-तिअथिराइगाण
एव सि ॥१३५०-५२॥ (तृतीया गीति)

माण्युत्कृष्टस्थितिबन्धमानं भवति, कासां प्रकृतीनामित्याह–"पुरिसे"त्यादि, पुरुषवेदस्य, तथा "**हस्ससुरदुग**" त्ति द्विकशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् हास्यद्विकस्य हास्य-रतिप्रकृतिद्वयलक्षणस्य, सुरद्विकस्य सुरगति-सुरानुपूर्वीलक्षणस्य, "**सुखगइ**" त्ति सुष्ठुः=प्रशस्ता खगतिः=विहायोगतिः सुखगतिस्तस्याः, स्थिरषट्कस्य स्थिर-शुभ-सुभग-सुस्वरा-ऽऽदेय-यशःकीर्त्तिप्रकृतिलक्षणस्योच्चैर्गोत्रस्य चेत्येतासां त्रयोदशप्रकृतीनां प्रत्येकमित्यर्थः । उक्तं चैतदपि तत्र "दस सुहविहगइ-उच्चे, सुरदुग-थिरछक्क-पुरिस-रइ-हासे" इति ॥६९॥

णिरयामराउगाणं तेत्तीसा सागरोवमा णेयो ।
तिरियमणुसाउगाणं हवए पलिओवमा तिण्णि ॥७०॥

(प्रे०) "**णिरयामराउगाण**" मित्यादि, निरया-ऽमरायुषोः प्रत्येकं "**तेत्तीसा साग-रोवमा**" त्ति त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा ज्ञेयः, उत्कृष्टस्थितिबन्ध इति गम्यते । "**तिरिये**"त्यादि, तिर्यङ्मनुष्यायुष्कयोस्तु त्रीणि पल्योपमान्युत्कृष्टस्थितिबन्धो भवति, उक्तं च **कर्मप्रकृतौ**–"तेत्तीसु-दही सुरनारयाउ सेसाउ पल्लतिग" इति । अत्रायुश्चतुष्के तु 'आऊण जाणियव्वो' इत्याद्यनन्तरोक्तनिय-मात् सम्पूर्णकर्मस्थितिः कर्मदलनिषेको वक्तव्यः, अबाधा च वेद्यमानायुषोऽवशेषरूपोत्कृष्टतः पूर्व-कोटीत्रिभागप्रमाणा द्रष्टव्या । यत उक्तं **शतकचूर्णौ**–"देवणिरयाउगाण उक्कस्सगो ठिइबंधो तेत्तीसं सागरोवमाणि पुव्वकोडितिभागसहियाणि, पुव्वकोडितिभागो अबाहा, अबाहाए विणा कम्मट्ठिई कम्मणि-सेगो" इति ॥७०॥

सागरकोडाकोडी णेयो संघयण-आगिईणं तु ।
पढमाणं दस तत्तो दुइआईण हवइ दुवड्ढी ॥७१॥

(प्रे०) "**सागरकोडाकोडी णेयो**" इत्यादि, प्रकृतोत्कृष्टस्थितिबन्धः सागरोपमकोटी-कोट्यो ज्ञेयः, कस्याः कियत्य इत्याह–"**संघयणे**"त्यादि, प्रथमस्य वज्रर्षभनाराचाभिधेयस्य संहननस्य, प्रथमायाः समचतुरस्राख्यायाः 'आकृतेः' संस्थानस्येत्यनयोर्द्वयोः प्रकृत्योर्दश-सागरोपमकोटीकोट्यः । ततस्तु "**दुइआईण**" त्ति द्वितीयादीनां ऋषभनाराचादीनां पञ्चानां संहननानां न्यग्रोधपरिमण्डलादीनां पञ्चानां संस्थानानां च "**हवइ दुवड्ढी**" त्ति यथोत्तरमुत्कृष्ट-स्थितिबन्धप्रमाणे द्वयोः सागरोपमकोटीकोट्योर्वृद्धिर्भवति । **तद्यथा**–ऋषभनाराचसंहनन-न्य-ग्रोधपरिमण्डलसंस्थानयोर्द्वादश सागरोपमकोटीकोट्य उत्कृष्टस्थितिबन्धो भवति, नाराचसंहनन-सादिसंस्थानयोश्चतुर्दशसागरोपमकोटीकोट्य उत्कृष्टस्थितिबन्धो भवति, अर्धनाराचसंहनन-कुब्जसंस्थानयोः षोडश सागरोपमकोटीकोट्य उत्कृष्टस्थितिबन्धः, कीलिकासंहनन-वामन-संस्थानयोरष्टादशसागरोपमकोटीकोट्य उत्कृष्टस्थितिबन्धः, सेवार्तसंहनन-हुण्डसंस्थानयोर्विंशतिः सागरोपमकोटीकोट्य उत्कृष्टः स्थितिबन्धो भवति । **उक्तं च**–'पढमागिइसंघयणे दस दसुवरिमेसु दुगवुड्ढी॥' इति ॥७१॥

पारभविकस्वप्रायोग्यसर्वोत्कृष्टोत्पत्तिस्थानापेक्षया। तद्यथा–पञ्चविधैकेन्द्रियमध्यात् तेजस्काय-वायुकायिका उत्कृष्टतोऽपि पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्त्वे एवोत्पद्यन्ते, शेषाः पृथिवीकायिकाद्यास्तूत्कृष्टतः पर्याप्तमनुष्यतयोत्पद्यन्ते, ततः किम् ? ततो यदा सर्वविशुद्धाः सन्तः पृथिवीकायिकाद्याः पर्याप्तमनुष्यप्रायोग्यं बध्नन्ति तदा तावद्विशुद्धाः सन्तस्तेजस्कायवायुकायिकास्तु पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्यमेव बध्नन्ति; एतेषां पञ्चविधैकेन्द्रियाणामुत्कृष्टविशुद्धौ सत्यामनन्तरभणिता अष्टचत्वारिंशत्प्रकृतयो नियमतो बध्यन्ते, तदानीं च तेषामेतत्प्रकृतिमध्यात् कासाञ्चिदजघन्यः कासाञ्चिच्च जघन्यः प्राग्दर्शितनीत्या जघन्यात्समयादिना यावत्पल्योपमासंख्येयभागेनाऽधिको वा स्थितिबन्धो जायत इत्यतः 'एगस्स······लहुमलहुं वा' इति भणितम्। यथोक्तनीत्या द्विविधविभिन्नस्वाम्यपेक्षया तिर्यग्मनुष्यद्विकयोः 'सिआ तिरि' इत्यादिना स्याद्बन्धो भणितः, 'लहुमलहुं व' इत्येतदिहापि सम्बध्यते, तथाच तिर्यग्द्विकादेरुद्योतनामनीचैर्गोत्रयोश्च जघन्योऽजघन्यो वा स्थितिबन्धो भणितः, तत्र स्याद्बन्धः पुनरुद्योतनाम्नः स्वभावाद्, नीचैर्गोत्रस्य तु तेजस्कायिकादेस्तद्बन्धेऽपि पृथिवीकायिकादीनां तद्बन्धाभावात्। ननु एवं तर्हि पृथिवीकायिकादीनां सुविशुद्धानामुच्चैर्गोत्रबन्धस्यावश्यंभावेऽपि तेजस्कायिकादेस्तद्बन्धाभावेन नीचैर्गोत्रवदुच्चैर्गोत्रस्याऽपीह स्याद्बन्धप्रस्तावे संग्रहः किन्न कृतः? इति चेत्, सत्यम्, भवति तस्याऽपि भवदुक्तनीत्या स्याद्बन्धः, परं तदीयजघन्यस्थितिबन्धः क्षपकस्वामिकोऽष्टमुहूर्तमान इहौघिकप्ररूपणायाः प्रस्तुतत्वात्, स चैकेन्द्रियाणां ततोऽसंख्येयगुणो लभ्यते, पल्योपमासंख्यभागन्यूनसागरोपमद्विसप्तभागप्रमाणत्वादित्यतः 'उच्चस्स सिआ' इत्यादिनाऽनन्तरगाथायां स्यादसंख्यगुणाभ्यधिको भणितः। एवमेव मतिज्ञानावरणादीनामनन्तरगाथायां "सायावरण' इत्यादिना प्रधानीकृतानामुच्चैर्गोत्रवर्जषोडशप्रकृतीनां सञ्ज्वलनचतुष्टयस्य पुंवेदस्य चाऽपीहाऽसंख्येयगुणाभ्यधिक एव स्थितिबन्धो जायते, केवलं तासु एकविंशतौ मतिज्ञानावरणादीनां ध्रुवबन्धिनीनां ध्रुवबन्धित्वात् पुंवेद-यशःकीर्तिनाम्नोर्हास्य-रत्यादिप्रकृतिन्यायेन प्रागुक्तरीत्या च नियमत एव बन्धो जायते, न पुनरुच्चैर्गोत्रादिन्यायेन तिर्यग्द्विकादिन्यायेन वा स्याद्बन्ध इत्यतः 'णियमा साये'त्यादिना नियमबन्धः प्रतिपादितः। असंख्यगुणाभ्यधिकता तु तत्स्थितेः 'बधइ असंखियगुणाहियं' इत्यादेर्घण्टालालान्यायेनेहापि सम्बन्धाज्ज्ञेयेति ॥१३४७-४९॥

अथाऽसातवेदनीयप्राधान्येन साक्षात् कथयन् तत्तुल्यवक्तव्यत्वादरति-शोका-ऽस्थिरत्रिकलक्षणप्रकृतिपञ्चकप्राधान्येन त्वतिदिशंश्चाहार्यात्रयम्—

विग्घा-ऽऽवरणणवग-पुम-संजलणाण असायलहुबंधी। णियमा असंखियगुणब्भहियं तु सिआ जसु-च्चाणं॥
हस्स रइ-तिरिणरदुग-उज्जोअ-थिर-सुह-णीअगोआणं। बधइ सिआ ठिइं खलु अजहण्णमसंखभागहियं॥
णियमाऽण्णधुवाण तहा जिणबण्णसुहणरजोगअधुवाण। लहुमलहुं व सिआ-ऽरइ-सोग-तिअथिराइगाण एव सिं ॥१३५०-५२॥ (तृतीया गीति)

सेसाणं णामाणं गुरुबंधी बधए सठाणव्व । णामाणं अण्णेसिं विगलिंदियमग्गणव्व खलु ॥१३४५॥

(प्रे०) "**सेसाणं**" इत्यादि, सुगमा, केवलं प्रोक्तशेषा नामप्रकृतयो नामत इमाः षड्विंशतिः—मनुष्यद्विक-विकलत्रिकौ—दारिकाङ्गोपाङ्ग-संहननषट्क-हुंडवर्जसंस्थानपञ्चक-सुखगत्या-ऽऽतपोद्योत-स्थिरषट्कानीति । तत्र नाम्ना स्वस्थानवदिति गतार्थम्, अन्यासां नामेतरध्रुवबन्धिवेदनीयादीनां विकलेन्द्रियमार्गणावदिति तु तासां नामेतरप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितेर्विकलेन्द्रियमार्गणावदिहापि तत्प्रायोग्यसंक्लेशजन्यत्वात् तद्वदिहापि तासां जघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धतारतम्यस्य संख्येयभागहीनाधिकमात्रत्वाच्च । विस्तरतस्तु तत्तदतिदेशानुसारेण भाव्यं स्वयमेवेति ॥१३४५॥

तदेवं गतश्चरमायामवशिष्टायामसंज्ञिमार्गणायामपि सर्वोत्तरप्रकृतिपरस्थानोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षः, तथाच समाप्त आदेशतोऽपि परस्थानोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षः, समाप्ते च तस्मिन् समाप्तः सर्वथा परस्थानोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्ष इति ॥

गतः परस्थानोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षः । सम्प्रति अवशिष्टः परस्थानजघन्यस्थितिबन्धसंनिकर्षः प्रतिपादनीयः, तत्रादौ तावदोघतो विभणिषुरुपक्रमते—

एगस्स जहण्णठिइ साया-ऽऽवरण-जस-उच्च-विग्घाओ । बंधतो अण्णेसिं णियमा बधइ जहण्णठिइं ॥१३४६॥

(प्रे०) "**एगस्स**" इत्यादि, सुगमा, केवलं "**सायावरण**" इत्यादिना सातवेदनीयज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणचतुष्क-यशःकीर्त्युच्चैर्गोत्रा-ऽन्तरायपञ्चकलक्षणसप्तदशप्रकृतीनां सग्रहः, उपपत्तिस्तु मतिज्ञानावरणादिज्ञानावरणपञ्चकस्वस्थानजघन्यस्थितिबन्धसंनिकर्षवद्बोध्येति ॥१३४६॥

तदेव भणितो मतिज्ञानावरणादिप्रधानसंनिकर्षेण तुल्यवक्तव्यत्वात् सूक्ष्मसम्परायचरमसमये यासां सप्तदशप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्तत्प्रधानः प्रस्तुतसंनिकर्षः । साम्प्रत क्रमप्राप्तनिद्रापञ्चकप्रधानं त विभणिषुस्तुल्यवक्तव्यत्वादेकेन्द्रियस्वामिकजघन्यस्थितिबन्धा याः शेषध्रुवबन्धिन्यो याश्च तत्सहभाविजघन्यस्थितिबन्धा अप्रतिपक्षा अध्रुवबन्धिन्यस्ताः प्रधानीकृत्याह—

धुवगुणतीसाओ रइ-हस्स-उरलदुग पणिंदि-वइराओ । पढमागिइ-सुखगइ परघा-ऊसास तसणवगाओ ॥
एगस्स हस्सबधी णियमा अण्णाण सत्तचत्ताए । लहुमलहु व सिआ तिरिणरदुग-उज्जोअ णीआणं ॥
उच्चस्स सिआ बंधइ असखियगुणा-ऽहिय ठिइ णियमा । सायणाणावरणाण जस-पुम संजलण-विग्घाण ॥
॥१३४७-४९॥

(प्रे०) "**धुवगुणतीसाओ**" इत्यादि, निद्रापञ्चक मिथ्यात्व-संज्वलनवर्जकषायद्वादशक-भय-जुगुप्सा नामध्रुवबन्धिनीनवकलक्षणा एकोनत्रिंशद्ध्रुवबन्धिन्यः प्रकृतयः '**धुवगुणतीसाओ**' इत्येतावता संगृहीताः । '**रइ-हस्स**' इत्यादि सुगमम्, तेन हि '**तसणवगाओ**' इत्यन्तेनैकोनत्रिंशतेरध्रुवबन्धिनीनां ग्रहणम्, इत्येवमाद्यगाथयाऽष्टचत्वारिंशत्प्रकृतयः प्रधानीकृताः । '**एगस्स**' इत्यादिना तु तत्र प्रस्तुतसंनिकर्षः पठितः, तत्राऽयं भावः—एतासामष्टचत्वारिंशतः प्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनः सुविशुद्धबादरैकेन्द्रियाः सन्तोऽपि ते द्विविधा भवन्ति, कुतः ? भण्यते,

त्वनियतः, अरतिशोकवर्जशेषचतुष्टयमध्यादेकस्याः प्रधानत्वे तु तद्वर्जानां तिसृणामरत्यादेश्च स्याद्बन्धो भवति, कुतः ? द्विचरमस्थानगतबन्धप्रायोग्यप्रकृतिमध्ये शेषत्रितयादिप्रतिपक्षप्रकृतीनां प्रविष्टत्वात् । चरमस्थानगतप्रकृतिमध्यात्तु अनन्तरं यासामनियतो बन्धः प्रतिपादितस्तत्प्रतिपक्षभूतानामनियतो बन्धो भवति । यासां तु नियतो बन्धो भणितस्तत्प्रतिपक्षभूतानां तु बन्ध एव न भवति, यथाऽरतेः प्रधानत्वे रतिहास्ययोर्नियतोऽबन्धः । शेषाध्रुवबन्ध्यादिप्रकृतिमध्यादपि मनुष्यतिर्यग्द्विकयोः परस्परं प्रतिपक्षभूतत्वात्स्याद्बन्धः, शेषाध्रुवबन्धिनीपञ्चेन्द्रियजात्यादीनां तु नियमत इति एतद्धि सर्वं पूर्ववृत्तिग्रन्थेन गतार्थमेव, तथाऽपि न पिष्टपेषणं मन्तव्यम्, तथाविधमन्दबुद्ध्यनुग्रहकारित्वात् । स्थितिस्तु द्विचरमस्थानगतानां प्रधानीकृतेतरासां जघन्याऽजघन्या वा स्यात्, तत्राऽजघन्या प्राग्दर्शितोत्कृष्टादिद्विविधगतानुत्कृष्टस्थितिबन्धन्यायेन समयादिना यावत्पल्यासंख्यभागेनाऽधिका भवति, चरमस्थानगतमध्याद्यासां जघन्यस्थितिबन्ध एकेन्द्रियस्वामिकस्तासां नियमादजघन्यो जघन्यापेक्षयाऽसंख्येयभागेनाऽधिकः स्थितिबन्धो जायते, यथा निद्रापञ्चकादीनां ध्रुवबन्धिनीनां हास्य-रति-पञ्चेन्द्रियजात्यादीनामध्रुवबन्धिनीनां च, यासां पुनर्मतिज्ञानावरणादिध्रुवबन्धिनीनां सातवेदनीयाद्यध्रुवबन्धिनीनां च जघन्यः स्थितिबन्धोऽनिवृत्त्यादिक्षपकस्वामिकस्तासामप्यजघन्य एव जायते, केवलं जघन्यापेक्षयाऽसंख्येयगुणाभ्यधिकस्थितिक इति । तदेवं गतार्थप्रायोऽप्ययमर्थः प्रपञ्चितः स्थूलबुद्धिव्युत्पादनाय, एवमेवोत्तरत्राऽपि प्रपञ्चयितव्यः स्वधियेति ॥१३५०-५२॥

अथ पुरुषवेदप्रकृतिं प्रधानीकृत्याऽऽह प्रस्तुतमौघिकपरस्थानजघन्यस्थितिबन्धसंनिकर्षम्—

पुरिसस्स हस्सबंधी णियमा बंधेइ सखगुणअहियं । साया-ऽऽवरणणवग-चउसजलण-जसु-च्च-विग्घाण ॥१३५३॥

(प्रे०) "पुरिसस्स" इत्यादि, अक्षरार्थः सुगमः, भावार्थस्त्वयम्–प्राक् पुंवेदमार्गणायाम् "विग्घावरणाण पुमे समा सहस्सा सया य सखेज्जा । सखियसहस्सवासा साय-जसु-च्चाण विण्णेयो १२८॥ णेयो सोलस वासा संजलणाणं चउण्ह" इत्यनेन सातवेदनीयादिप्रकृतीनां संख्येयवर्षसहस्रादिमानो यो जघन्यस्थितिबन्धो भणितः स एवौघतः पुंवेदजघन्यस्थितिं बध्नतो जायते, स च सातवेदनीयाद्यौघिकजघन्यस्थितिबन्धो यो द्वादशमुहूर्तमानादिस्तदपेक्षया संख्येयगुणो भवतीति "**सखगुणअहियं**" इति भणितम् । शेषं तु सुगममिति ॥१३५३॥

अथानन्तरोक्तेन तुल्यप्रायवक्तव्यत्वात्संज्वलनचतुष्टयं प्रधानीकृत्य सापवादमतिदिशति—

एवं संजलणाण णवरं माणाइहस्सठिइबंधी । कमसो खलु एग-दु-तिगसंजलणा बंधए णेव ॥१३५४॥

(प्रे०) "**एवं संजलणाणं**" इत्यादि, सुगमा, उपपत्तिस्त्वनन्तरदर्शितनीत्या कार्या, "**णवर**" मित्यादिनाऽपवादभणनं तु क्षपकश्रेणिं समारोहतां संज्वलनक्रोधादिक्रमेण बन्धविच्छेदभावाच्च भवति तत्र मानादिजघन्यस्थितिबन्धावसरे संज्वलनक्रोधादीनां बन्ध इति कृत्वेति ॥१३५४॥

अथ स्त्रीवेदमधिकृत्य प्राह प्रस्तुतौघिकजघन्यपदगतपरस्थानसंनिकर्षम्—

(प्रे०) "विग्घावरणे"त्यादि, अक्षरार्थः सुगमः, केवलं "ऽऽवरणणवगे"त्यनेन पञ्च ज्ञानावरणानि चक्षु-रचक्षु-रवधि केवलदर्शनावरणानि चेत्येवं नव प्रकृतयः संगृहीता ज्ञेयाः । एवमन्यत्राऽपि ज्ञेयम् । "असंखियगुणब्भहियं" इतिपदं प्रागुक्तन्यायादुभयत्र सम्बध्यते, एवं द्वितीयगाथायां "अजहण्ण" मित्येतत्पदमपि, तत्र "असखभागहियं" इत्येतत्तु 'अजहण्ण' मित्यस्य व्याख्यारूपम् , पदे च ते पूर्वमिवोत्तरत्र तृतीयगाथायामपि सम्बध्येते । तृतीयगाथोत्तरार्धे"एवं सिं" इत्यत्र 'सिं' इत्यनेनाऽरति-शोका-ऽस्थिरत्रिकलक्षणं प्रकृतिपञ्चकं परामृश्यत इति ।

उपपत्तिस्तु प्रधानीकृतप्रकृतिजघन्यस्वामित्वं तदनुसारितथाविधविच्छेदक्रमञ्चानुसृत्य पूर्वोक्तनियमाद्यनुसारेण कार्या। तद्यथा-असातजघन्यस्थितिबन्धस्वामिन एकेन्द्रियाः सन्तोऽपि तेऽनन्तरगाथावृत्तौ दर्शितनीत्या द्विविधास्तेजस्कायवायुकाय-तदितरलक्षणाः; विच्छेदक्रमस्तु प्राग्दर्शितोऽपि स्वामिभेदात् सविशेषः । तद्यथा–पृथिवीकायादिलक्षणस्वाम्यपेक्षया प्रथमं तावत्(१) तिर्यगायुः, ततो यथोत्तरम् (२) मनुष्यायुः, (३) अपर्याप्तनाम, (४) सूक्ष्मनाम, (५) साधारणनाम, (६) एकेन्द्रिय-स्थावरा-ऽऽतपनामानि युगपत् , (७) द्वीन्द्रियनाम, (८) त्रीन्द्रियनाम, (९) चतुरिन्द्रियनाम, (१०) तिर्यगद्विकोद्योतनामलक्षणप्रकृतित्रयं युगपत् , (११) नीचैर्गोत्रम् , (१२) कुखगतिदुर्भग दुःस्वरा-ऽनादेयनामानि युगपत् , (१३) अन्त्यसंहननसंस्थाने युगपत् ,(१४) नपुंसकवेदः, (१५) पञ्चमसंहननसंस्थाने युगपत् , (१६)चतुर्थे सहननसंस्थाने युगपत् , (१७) स्त्रीवेदः,(१८) तृतीये संहनन-संस्थाने, (१९) द्वितीये संहनन-संस्थाने, (२०) असातवेदनीय-शोका-ऽरतिमोहनीया ऽस्थिरा शुभा-ऽयशःकीर्तिनामलक्षणाः षट्प्रकृतयो युगपत् ; तदनु(२१)शेषा मनुष्यप्रायोग्याः सप्तचत्वारिंशतो ध्रुवबन्धिन्यः सातवेदनीय-पुंवेद हास्य-रतिमोहनीय-मनुष्यद्विक-पञ्चेन्द्रियजात्यौदारिकद्विक प्रथमसंहनन प्रथमसंस्थान सुखगति पराघातो च्छ्वास-त्रसदशको-च्चैर्गोत्रलक्षणाः पञ्चविंशतिरध्रुवबन्धिन्यश्चेति समस्ता द्वासप्ततिरिति ।

तेजस्कायवायुकायलक्षणस्वाम्यपेक्षयाऽप्येवमेव क्रमः, केवलं चरमस्थाने या मनुष्यप्रायोग्याः प्रकृतयो भणितास्तत्र तिर्यक्प्रायोग्या भणितव्याः, तथाच दशमैकादशस्थानगतास्तिर्यग्द्विकाद्याश्चतस्रः प्रकृतयश्चरमे स्थाने लभ्येरन् ,तथैव मनुष्यायुषो बन्धाऽप्रायोग्यत्वाद् द्वितीयं स्थानमपसरेच्च, एवं हि अष्टादश स्थानानि स्युः, चरमस्थाने भणिता ध्रुवबन्धिनीसातवेदनीयाद्या मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्राभ्यां रहितास्तिर्यग्द्विकादिप्रकृतिचतुष्टयेण सहिताः सत्यस्त्रिसप्ततिर्भवेयुश्चेति ।

अत्र हि द्विविधक्रमेऽपि प्रधानीकृता असातवेदनीयाद्याः प्रकृतयो द्विचरमस्थानगतास्तथाच पूर्वोक्तनीत्या तासां जघन्यस्थितिं बध्नतस्ततोऽपि पूर्वतरं त्रिचरमादिस्थानेषु गतानां द्वितीयसंहननादिप्रकृतीनां बन्ध एव न जायते, तुल्यस्थानगतानामसातादिप्रधानीकृतैकैकप्रकृतीतरपञ्चप्रकृतीनां तु बन्धः सम्भवत्येव; केवलमरतिशोकयोरेकस्याः प्रधानत्वे इतरस्या अरत्यादेर्नियमतः, शेषचतुष्टयस्य

भवन्ति तदाऽयुर्बध्नन्ति, किञ्चासंज्ञिनां स्वीयजघन्यस्थितिबन्धादुत्कृष्टस्थितिबन्धोऽपि संख्येयभागेनाभ्यधिक एवेति **"संखंसहियं"** इति भणितम्। संख्येयगुणाभ्यधिकस्थितिबन्धस्तु तस्य निरयद्विकादेः संज्ञिजीवमधिकृत्य, यतोऽसंज्ञिवत् संज्ञिनोऽपि नरकायुष्कजघन्यस्थितिबन्धस्वामिनो भवन्ति। शेषनिरययोग्यप्रकृतीनां संख्येयगुणाभ्यधिकस्थितिबन्धस्तु तासां जघन्यस्थितिबन्धस्य प्रस्तुतोधिकप्ररूपणायामेकेन्द्रियस्वामिकत्वात्तदपेक्षयाऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्वामिकस्य संज्ञिस्वामिकस्य वा तस्य संख्येयगुणाभ्यधिकत्वादिति ॥१३५९-६०॥

अथ तिर्यगायुष्कं प्रधानीकृत्य निगदति प्रस्तुतसंनिकर्षम्—

तिरियाउहस्सबंधी सजलणा-ऽऽवरणणवग-विग्घाण। णियमा असंखियगुणब्भहियं सायस्स कुणइ सिआ॥
बंधइ सिआ ठिइं खलु असाय-जुगलदुग-जाइपणगाणं। उरलोवंगस्स तहा छिवट्ठ-तितसाइजुगलाण॥
अलहुं दुठाणपतितमसंखसहियमुअ संखगुणब्भहियं। णियमा इगचत्ताए सेसअपज्जतिरिजोग्गाण॥१३६३॥

(प्रे०) **"तिरियाउहस्सबंधी"** इत्यादि, गाथात्रयाक्षरार्थः प्राग्वत्, केवलं द्वितीयगाथापूर्वार्धे **"जुगलदुग"** त्ति हास्यरतिशोकारतिलक्षणप्रकृतिचतुष्टयसंग्रहः, एवं तदुत्तरार्धे **"तितसाइजुगलाणं"** ति त्रसस्थावरबादरसूक्ष्मप्रत्येकसाधारणलक्षणप्रकृतिषट्कस्य संग्रहः, न तु पर्याप्ता-ऽपर्याप्तनाम्नोः, तिर्यगायुष्कजघन्यस्थितेरपर्याप्तप्रायोग्यत्वात्, अपर्याप्तनाम्नस्तूत्तरत्र **"सेसअपज्ज"** इत्यादिना संग्रहीष्यमाणत्वाच्च तृतीयगाथापूर्वार्धे **"दुठाणपतित"** इत्यादि तत्पूर्वस्य **"अलहुं"** इति पदस्य व्याख्यानस्थानीयम्, **"इगचत्ताए"** इत्यनेन संगृहीताः शेषा अपर्याप्ततिर्यक्प्रायोग्या एकचत्वारिंशत्प्रकृतयः इमाः—निद्रापञ्चकम्, मिथ्यात्वम्, संज्वलनवर्जकषायद्वादशकम्, भयजुगुप्से, नपुंसकवेदः, तिर्यग्द्विकम्, औदारिकशरीरनाम, नामध्रुवबन्धिनीनवकम्, हुंडकसंस्थाननाम, अपर्याप्तकनाम, अस्थिरा-ऽशुभ-दुर्भगा-ऽनादेया-ऽयशःकीर्तिनामानि, नीचैर्गोत्रञ्चेति। उपपत्तिस्तु अनन्तरदर्शितनीत्या कार्या। तद्यथा—तिर्यगायुषो जघन्यस्थितेरेकेन्द्रियस्वामिकत्वेनैकेन्द्रियेतरस्वामिकत्वेन चाऽसातवेदनीयस्थितेरसंख्येयभागाधिकत्वस्य संख्येयगुणाभ्यधिकत्वस्य च सम्भवः तथाहि—एकेन्द्रिय एव यदा तिर्यगायुष्कजघन्यस्थितिबन्धकत्वेन गृह्यते तदाऽसातवेदनीयादीनामेकेन्द्रियस्वामिकजघन्यस्थितिबन्धानामसंख्येयभागाभ्यधिकः स्थितिबन्धो भवति, नाधिकः। यदा त्वेकेन्द्रियेतरो द्वीन्द्रियादिस्तिर्यगायुष्कजघन्यस्थितिबन्धकत्वेन गृह्यते तदा तासामसातवेदनीयादीनामसौ संख्येयगुणाभ्यधिको लभ्यते, न भवत्यन्यो विकल्पः, इत्यतः **"दुठाणवडिय"**मित्युक्तम्। शेषं तु सुगमम्, केवलं प्रतिपक्षरहितस्य हुंडसंस्थानस्य नियतबन्धं प्रतिपाद्यापि तथाविधस्य सेवार्तसंहननस्याऽनियतबन्धप्रतिपादनमेकेन्द्रियप्रायोग्यस्य वा द्वीन्द्रियादिप्रायोग्यस्य वा तिर्यगायुष्कजघन्यस्थितेर्बन्धकस्य हुंडसंस्थाननाम्नोऽवश्यं बन्धभावात्, सेवार्तनाम्नस्तु द्वीन्द्रियादिप्रायोग्यं बध्नत एव बन्धभावात्, न पुनरेकेन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतोऽपीत्यतस्तद्बन्धो विकल्पितः। एवमेवौदारिकाङ्गोपाङ्गबन्धविकल्पविषयेऽपि ज्ञेयमिति ॥१३६१-१३६३॥

थीलहुबंधी णियमा संजलणा-वरणणवग-विग्घाणं । कुणइ असंखगुणऽहियं सिआ खलु जसु-च्च-सायाणं ॥
जुगल-असायाणं तिरिणरदुग-संघयणआगिइतिगाणं । उज्जोअ-थिर-सुहाणं अथिरा-ऽसुह अजस णीआण ॥
बंधेइ सिआ अलहुं असंखभागाहियं ठिइ णियमा । बायालसेसधुवसुहअधुवपणिंदितिरिजोग्गाण ॥
॥१३५५-५७॥

(प्रे०) "थीलहुबंधी" इत्यादि, अत्र स्त्रीवेदप्रधानसंनिकर्षेऽपि स्त्रीवेदलघन्यस्थितिबन्धस्वामिन एकेन्द्रिया एवेत्यनन्तरोक्ताऽसातवेदनीयप्रधानसंनिकर्षप्रस्तावे भणितप्रकृतिविच्छेदक्रमानुसारेणाभ्यूह्योऽयमपि संनिकर्षः, तत्र पुंवेदस्य नियतबन्धो भणित इह तु स्त्रीवेदस्य प्राधान्यात् स प्रतिषिद्धः, किञ्च स्त्रीवेदविच्छेदस्थानादुत्तरवर्तिस्थानेष्वधिकतो द्वितीयतृतीयसंहननसंस्थानलक्षणप्रकृतिचतुष्टयस्य लाभाद्यस्तद्बन्धो भणितः स तासामनियत एव, प्रतिपक्षप्रकृतिसहितत्वात् , अत एव प्रथमसंहननसंस्थानयोरपि स्याद्बन्धो ज्ञेयः । एवमेव या असातवेदनीयाद्या अनन्तरं प्रधानीकृतास्तासामपि सर्वासां स्याद्बन्ध एव भवति, तासाममातादीनां प्रतिपक्षसहितत्वात् , शेषं प्राग्वत् । अक्षरार्थस्तु सुगमः, केवलं प्रथमगाथोत्तरार्धे "असंखगुणऽहियं" इति पदम् , एवं तृतीयगाथापूर्वार्धे "असंखभागहियं" इत्येतत्पदं च प्रागुक्तन्यायेनोभयत्र योज्ये; "बायाल" इत्यादिना संगृहीताः प्रकृतयस्त्विमाः—निद्रापञ्चक मिथ्यात्व संज्वलनवर्जकषायद्वादशक-भय-जुगुप्सा-पञ्चेन्द्रियजात्यौ-दारिकद्विक-नामध्रुवबन्धिनीनवक सुखगति-पराघातो-च्छ्वास-त्रसचतुष्क-सुभगत्रिकलक्षणा द्विचत्वारिंशदिति ॥१३५५-५७॥

अथ नपुंसकवेदप्राधान्येन विभणिषुः सापवादमतिदिशति—

एवं णपुमस्स नवे णवर बधइ सिआ अचरमाण । संघयणआगिईणं पंचण्ह असंखभागहियं ॥१३५८॥

(प्रे०) "एवं णपुमस्स" इत्यादि, नपुंसकवेदप्रधानसंनिकर्षः स्त्रीवेदप्रधानसंनिकर्षवद्भवेद् "णवरं" केवलम् , तत्र स्त्रीवेदप्रधानसंनिकर्षे आद्यत्रयसंहननसंस्थानप्रकृतीनां योऽसंख्यभागाभ्यधिकस्थितेः स्याद्बन्धो भणितस्स इह चतुर्थपञ्चमसंहननसंस्थानप्रकृतीनामपि संग्रहं कृत्वा चरमवर्जानां पञ्चानां संहननप्रकृतीनां पञ्चानां संस्थानप्रकृतीनां च तथा भणितव्यः, सुगमं चैतत् , स्त्रीवेदात्पूर्ववर्तिस्थानद्वय विहाय नपुंसकवेदविच्छेदस्थानस्य स्थितत्वादिति ॥१३५८॥

तदेवं गतो मोहनीयप्रकृतिप्रधानोऽपि प्रस्तुत औघिकपरस्थानजघन्यस्थितिबन्धसंनिकर्षः, साम्प्रतं तमेव क्रमप्राप्ता-ऽऽयुःप्रकृतीरधिकृत्य विभणिषुर्निरयायुःप्राधान्येनाह—

णिरयाउहस्सबंधी संजलणावरणणवगविग्घाणं । णियमा बंधेइ ठिइं अजहण्णमसंखगुणअहियं ॥१३५९॥
णिरयविउव्वदुगाण संखंसहियमुअ संखगुणअहियं । णियमा संखगुणहियं सेसाणं णिरयजोग्गाणं ॥१३६०॥

(प्रे०) "णिरयाउहस्सबंधी" इत्यादि. आद्यगाथा सुगमा, द्वितीयगाथायां नरकवैक्रियद्विकयोः संख्यांशाभ्यधिकः स्थितिबन्धोऽसंज्ञिजीवानधिकृत्य, असंज्ञिनो हि देवप्रायोग्यं जघन्यस्थितिबन्धं कुर्वन्तो वैक्रियद्विकस्य जघन्यस्थितिं तथा तत्प्रायोग्यविशुद्धाः सन्तो नरकद्विकस्य जघन्यस्थितिं बध्नन्ति, नरकप्रायोग्यजघन्यस्थितिं बध्नतां हि तेषामायुर्बन्ध एव न जायते, किन्तु ते यदा ततोऽपि संक्लिष्टा

इत्यादिगाथाद्वये भणितमतिज्ञानावरणादीनां नियतस्याद्बन्धादिकवद्वक्तव्यम् , परं तत्र निरयायुष्कस्य बन्धो नैव वक्तव्यः, अत एव किमसौ नरकायुर्बध्नीयान्न वेत्याशङ्कायाम् "ण चिअ उणाऊ" इति भणितमिति । उपपत्तिरपि तत्तन्निरयद्विकादिप्रधानौघिकजघन्यस्वस्थानादिस्थितिबन्धसंनिकर्षोपपत्त्यनुसारेण द्रष्टव्या, केवलं यो नरकायुष्कस्य बन्धप्रतिषेधः स तु तथाविधप्रकृतिविच्छेदक्रमे नरकायुष्कविच्छेदस्थानस्य निरयद्विकविच्छेदस्थानतः पूर्ववर्तित्वात् ; प्रधानीकृतप्रकृतिविच्छेदस्थानतः पूर्ववर्त्तिविच्छेदस्थानगतानां प्रकृतीनां बन्धो न भवतीत्येतत्तु प्रागनेकशो भणितमिति । इत्थमेवोत्तरत्राऽपि कृताऽतिदेशे उपपत्तिस्तत्तत्पूर्ववृत्तिग्रन्थानुसारेणैवाभ्यूह्या, न पुनः पुनः प्रपञ्चयिष्यते ग्रन्थविस्तरभयादिति ॥१३६९॥

अथ तिर्यग्द्विकप्रधानं प्रस्तुतपरस्थानजघन्यस्थितिबन्धसंनिकर्षं विभणिषुस्तुल्यवक्तव्यत्वादुद्योतनामप्रधानमपि तं सममेवाह—

तिरिदुगउज्जोआण लहुबंधी बंधए सठाणव्व । णामाण ठिइं णियमा बंधेइ असंखगुणअहियं ॥
साय-जसा-ऽऽवरणाण पुम-चउसंजलण-पचविग्घाणं । लहुमलहुं वा णियमा रइ-हस्सा-ऽणधुव-णीआण ॥
॥१३७०-७१॥

(प्रे०) "तिरिदुग-उज्जोआण"मित्यादि, तत्राऽऽद्यगाथायां "सठाणव्व णामाण" इति प्राग्वत् , केवलं तिर्यग्द्विकादिप्रधानस्वस्थानसंनिकर्षप्रतिपादिका गाथास्त्वेवम्–'एगस्स तिरिदुगा लहुबंधी णियमेयरस्स तहा ॥९३७॥ पर्चिदियुरलदुग-धुव-सुखगइ-संघयणआगिईण तहा । परघा-ऊसासाण तसणवगस्स लहुमलहु वा ॥९३८॥ उज्जोअस्स सिआ खलु लहुमलहु वा असंखगुणअहियं । णियमा जसस्स बंधइ । उज्जोअसेवमेव भवे ॥९३९॥ ' इति । "ठिइं णियमा बंधेइ असंखगुणअहियं" इत्याद्यपि प्राग्वत् , तद्यथा—सातवेदनीयादिजघन्यस्थितिबन्ध इहौघिकः, स च द्वादशमुहूर्तादिमानः, प्रधानीकृततिर्यग्द्विकादिजघन्यस्थितिबन्धस्वामिन एकेन्द्रियास्तु तासां सातवेदनीयादीनां पल्याऽसंख्यभागन्यूनसागरोपमादित्रिसप्तभागमानां स्थितिं बध्नन्ति,सा च द्वादशमुहूर्तादिमानौघिकस्थित्यपेक्षयाऽसंख्येयगुणेति । निद्राद्विकादीनां शेषध्रुवबन्धिनीनां रति-हास्य-नीचैर्गोत्राणां च जघन्योऽजघन्यो वेति तु तथाविधविच्छेदक्रमे तासां ध्रुवबन्ध्यादीनां चरमे स्थाने तिर्यग्द्विकादिप्रधानीकृतप्रकृत्या सममेव लाभात्तासां जघन्यस्थितेः प्रधानीकृतप्रकृतिवदेकेन्द्रियस्वामिकत्वाच्चेति ॥१३७०-७१॥

अथानन्तरोक्तेन तुल्यवक्तव्यत्वादक्रमगतमपि नीचैर्गोत्रं प्रधानीकृत्याऽतिदिशन् क्रमप्राप्तमनुष्यद्विकं प्रधानीकृत्य साक्षात् प्रतिपादयंश्चाह—

एवं णीअस्स भवे बंधइ णरदुगजहण्णठिइबंधी । णामाण सठाणव्व उ असंखियगुणाहियं णियमा ॥१३७२॥
साया-ऽऽवरणणवग-पुम-चउसंजलणु-च्च-पंचविग्घाणं । लहुमलहुं वा णियमा रइ-हस्सा-ऽणधुवबंधीणं ॥

(प्रे०) "एवं" इत्यादि, सर्वमनन्तरभणितगाथाद्वयवत् , केवलम् "एव"मिति प्रत्यासत्त्याऽनुपदभणिततिर्यग्गत्यादिप्रकृतिप्रधानसंनिकर्षवत् । "णीअस्स" त्ति नीचैर्गोत्रप्रधानप्रस्तुतसंनिकर्षो भवेत् । अयम्भावः–अनन्तरं यथा तिर्यग्गतेः प्रधानत्वे तिर्यगानुपूर्व्या वा प्रधानत्वे शेष-

अथ मनुजायुष्कप्राधान्येन प्राह—

मणुयाउहस्सबंधी सायस्स सिआ असंखगुणअहियं। णियमा आवरणाणं णवण्ह संजलण-विग्घाणं ॥१३६४॥
पुगल-प्रसायाण सिआ बंधेइ असंखभागमहियमुप्र। संखगुणहियं णियमा सेसअपज्जणरजोग्गाणं ॥१३६५॥

(प्रे०) "मणुयाउहस्सबंधी" इत्यादि, सुगमा गाथाद्वयी अनन्तरोक्तनीत्याऽभ्यूह्या च, केवलमिह केवलस्थावरप्रायोग्यप्रकृतीनां केवलविकलप्रायोग्यप्रकृतीनां च बन्धप्रायोग्यत्वाभावेन ध्रुवबन्ध्यादिवत् पञ्चेन्द्रियजाति-त्रस बादर-प्रत्येकौ-दारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नां सेवार्तसंहनननाम्नश्च नियतबन्धो भणितो विज्ञेय इति ॥१३६४-१३६५॥ अथ देवायुष्कप्राधान्येन भणति—

देवाउहस्सबंधी साया-ऽऽवरण-जस-उच्च-विग्घाणं। संजलणाणं णियमाऽसंखगुणहियं पुमस्स सिआ ॥
देवविउव्वदुगाण णियमाओ बंधए दुठाणगयं। संखेज्जभागअहियं संखगुणहियं व अजहण्णं ॥
इत्थीअ सिआ संखियगुणअहियं बंधए ठिइं णियमा। रइ-हस्सा-ऽणधुव-सुहअधुवसुरजोग्गपणचत्ताए ॥
॥१३६६-६८॥

(प्रे०) "देवाउहस्सबंधी" इत्यादि, तत्र "ऽऽवरण" इत्यनेनाऽऽवरणनवकमेव विवक्षितं प्रागुक्तस्वरूपम्। प्रथमगाथोत्तरार्धे "संखगुणहियं" इत्यस्य पूर्वतोऽकारो व्यक्तो द्रष्टव्योऽन्वयश्च तस्य देहलीदीपकन्यायेनोत्तरत्राऽपि कार्यः, तथाच प्रागिव सातवेदनीयादीनामसंख्यगुणाभ्यधिकां स्थितिं बध्नात्येवं पुंवेदस्याऽपीत्यर्थः। शेषाक्षरार्थः प्राग्वत्। भावार्थोऽपि प्राग्वदेव, केवलं जघन्यस्थितिकं तिर्यगायुष्कं वा मनुष्यायुरपर्याप्तप्रायोग्यमेवाऽस्ति; ततस्तत्प्रधानसंनिकर्षे केवलो नपुंसकवेद एव बन्धप्रायोग्यः, कथम्? अपर्याप्ततिर्यग्मनुष्याणामवश्यं नपुंसकवेदित्वात्। जघन्यस्थितिकदेवास्तु पुंवेदिन इव स्त्रीवेदिनोऽपि भवन्ति, तथाच देवायुष्कजघन्यस्थितिं बध्नतो वेदद्वयं बन्धप्रायोग्यम्, एवं सति वेदद्वयस्याऽपि प्रस्तुते स्याद्बन्धो भवति। ज्ञानावरणादीनामसंख्यगुणाद्यभ्यधिको जघन्यः स्थितिबन्ध इत्यादि तु सुगमं नरकायुष्कप्रधानसंनिकर्षवदभ्यूह्यञ्च, केवलमसातवेदनीयादिस्थाने इह सातवेदनीय हास्य-रति स्थिर-शुभ-यशःकीर्तिनाम्नामसातवेदनीयादिप्रतिपक्षभूतानामेव नियतबन्धो देवायुषः प्रधानीकृतत्वादिति ॥१३६६-१३६८॥

तदेवं गत आयुष्कप्रकृतिचतुष्टयप्रधानोऽपि प्रस्तुतपरस्थानजघन्यस्थितिबन्धसंनिकर्षः, तदनु नामप्रकृतिप्रधानं तं विभणिषुर्नरकद्विकप्राधान्येन प्राह—

णिरयदुगस्स जहण्णं बंधंतो बंधए सठाणव्व। णामाण सेसाण णिरयाउव्व ण चिअ उराउं ॥१३६९॥

(प्रे०) "णिरयदुगस्से"त्यादि, अक्षरार्थः सुगमः, केवलं "सठाणव्व णामाण" त्ति प्राग्भणितनिरयद्विकप्रधानौघिकस्वस्थानजघन्यस्थितिबन्धसंनिकर्षवत्। तद्यथा- 'एगस्स हस्सबंधी णिरयदुगाऽण्णरस हस्समियर वा णियमा बंधेइ विउव्वदुगस्स संखेज्जभागहियं ॥९३६॥ सेसणिरयजोग्गाण णियमा बंधेइ संखगुणअहियं' इति। "सेसाणं णिरयाउव्व" त्ति पञ्चेन्द्रियजात्यादिनामप्रकृतीर्विहाय शेषाणां मतिज्ञानावरणादीनां नियतस्याद्बन्धादिकं सर्वमत्रैव परस्थानौघिकजघन्यस्थितिबन्धसंनिकर्षे "णिरयाउहस्सबंधी संजलणावरणणवगविग्घाण। णियमा बंधेइ ठिइं अजहण्णमसंखगुणअहियं ॥"

अट्ठारस विगलसुहुमतिगाण आहारदुगजिणाणंतो ।
वीसा सेसाण भवे एआलीसाण पयडीणं ॥७२॥

(प्रे०) "**अट्ठारसे**" त्यादि, अनन्तरगाथोक्तस्य "**सागरकोडाकोडी**" इति पदस्येहापि सम्बन्धात् "**अट्ठारस**" त्ति अष्टादश सागरोपमकोटीकोटयः "**विगलसुहुमतिगाण**" त्ति त्रिकशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् विकलत्रिकस्य द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रियजातिप्रकृतित्रयलक्षणस्य, सूक्ष्मत्रिकस्य सूक्ष्मा-ऽपर्याप्त-साधारणप्रकृतिरूपस्येत्येतासा षण्णां प्रकृतीनाम् ,उत्कृष्टस्थितिबन्ध इति गम्यत एव, उक्तं च **कर्मप्रकृतौ**-"अट्ठारस सुहुमविगलतिगे" इति । "**आहारदुगजिणाणंतो**" त्ति आहारकद्विकस्या-ऽऽहारकशरीराऽऽहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणस्य जिननाम्नश्च प्रत्येकमन्तःसागरोपमकोटीकोटय उत्कृष्टस्थितिबन्धो भवति ।

ननु किमेष आहारकद्विक-तीर्थंकरनामप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धमानं निकाचितापेक्षयाऽनिकाचितापेक्षया वा ? इति चेद् , इह **पञ्चसंग्रहवृत्तिः**-'तीर्थंकरस्याहारकद्विकस्य चोत्कृष्टा स्थितिरन्तःसागरोपमकोटीकोटी, अन्तमुर्हूर्तमबाधा अबाधाकालहीनश्च कर्मदलनिषेक । एषा चोत्कृष्टा स्थितिरनिकाचितयोस्तीर्थंकराहारकद्विकयोरुक्ता । निकाचितयोः पुनरिमामाह-"तीए" इत्यादि,, निकाचितयोस्तु तीर्थंकरा ्रारकद्विकयोरुत्कृष्टा स्थितिस्तस्या अन्त सागरोपमकोटीकोटया सख्येयभागादारभ्य तीर्थंकरस्य त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि किंचिन्न्यूनपूर्वकोटीद्वयाभ्यधिकानीति शेष. । आहारकद्विकस्य पल्योपमासंख्येयभागमात्रम्' इत्यादि ।

उक्तशेषप्रकृतीनां प्रकृतबन्धप्रमाणमोघतो दर्शयन्नाह—**सेसाणे**"त्यादि, शेषाणामनन्तरोक्तमतिज्ञानावरणादिनवसप्ततिप्रकृतिवर्जानां नपुंसकवेदादीनामेकचत्वारिंशत्प्रकृतीनां "**भवे वीसा**" त्ति उत्कृष्टस्थितिबन्धप्रमाणं विंशतिः सागरोपमकोटीकोटयो भवेदित्यर्थः । तत्र शेषप्रकृतयो नामत इमाः-नपुंसकवेदा-ऽरति-शोक-भय-जुगुप्सा-निरयगति-तिर्यग्गत्ये-केन्द्रियजातिपञ्चेन्द्रियजात्यौ दारिक-वैक्रिय-तैजस-कार्मणशरीरौ-दारिक-वैक्रियाङ्गोपाङ्ग-वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श-निरयानुपूर्वी-तिर्यगानुपूर्व्य-ऽगुरुलघू-पघात-पराघातो-च्छ्वासा-ऽऽतपो-द्योता-ऽप्रशस्तविहायोगति-त्रस-स्थावर-बादर-पर्याप्त - प्रत्येका-ऽस्थिरा ऽशुभ-दुर्भग- दुस्वरा-ऽनादेया-ऽयशःकीर्त्ति-निर्माण-नीचैर्गोत्राणीति । उक्तं च **शतकचूर्णौ**-

'नपु सकवेयअरइसोगभयदुगछाणिरयगइतिरियगइएगिंदियपंचिंदियजाइओरालियवेउव्वियतेयकम्मइगसरीरहुडसठाणओरालियवेउव्वियंगोवंगसेवट्टसघयणवन्नगधरसफासनिरयाणुपुव्वितिरियाणुपुव्विअगुरुलहुउवघायपराघायऊसासआयवउज्जोअअपसत्थविहायगइतसथावरबायरपज्जत्तगपत्तेयअथिरअसुभदुभगदुसरअणाएज्जअजसकित्तिणिम्माणणीयगोत्ताण उक्कोसगो ठिइबन्धो वीसं सागरोवमकोडाकोडीओ-दो वाससहस्साणि अबाहा, अबाहूणिया कम्मटिई णिसेगो ।' इति ।

ननु जातिपञ्चकमध्ये पञ्चेन्द्रियजातिरुत्तमा, चतुरिन्द्रियादयस्तु यथोत्तरमधमा-ऽधम-

सप्तमूलप्रकृत्युत्तरभेदानां स्याद्वनियतबन्धादिकं प्रतिपादितं तथेह नीचैर्गोत्रं प्रधानीकृत्य प्रतिपादनीयम् , न चैवमपि तिर्यग्गत्यादेस्तत्र प्रधानीकृतानामिहाऽप्रधानभावे किं स्याद् , इति वाच्यम् , तिर्यग्गत्यादिप्रकृतित्रयमध्यादन्यान्यप्रधानत्वे यच्छेषतिर्यगानुपूर्व्यादेरप्रधानभावे स्यात् तदेव, तिसृणां मध्ये तिर्यग्द्विकस्य नियतबन्धः, उद्योतस्य स्याद्वन्धः, तिसृणामपि जघन्याया अजघन्याया वा स्थितेश्चेति भावः। "बंधइ" इत्यादि मनुष्यद्विकप्रधानसंनिकर्षप्रतिपादनम् , तच्च सर्वथाऽनन्तरभणिततिर्यग्द्विकप्रधानसंनिकर्षवद्भावनीयम् , केवलमिह मनुष्यद्विकस्य प्रधानीकृतत्वान्नीचैर्गोत्रं विवर्ज्योच्चैर्गोत्रस्योपादानं ज्ञेयम् ; नीचैर्गोत्रस्य वर्जनं तु तस्य तथाविधविच्छेदक्रमे प्रधानीकृतमनुष्यगत्यादिविच्छेदस्थानतः पूर्वस्थाने गतत्वादिति ॥१३७२-७३॥ अथ देवद्विकवैक्रियद्विकप्राधान्येन प्राह—

णामाण सुरधिउधवुगलहुवधी वधए सठाणव्व । णियमा बधइ अलहु ठिइ असखेज्जगुणअहिय ।।१३७४॥
साय-णघावरणाण पुम-चउसजलण-उच्च-विग्घाण। सखगुणहिय णियमा रइ हस्सा-ऽण्णधुबवधीण॥१३७५॥

(प्रे०) "णामाण" इत्यादि, "णामाणे"त्यस्य "बंधए सठाणव्व" इत्यनेनान्वयः, शेषं सर्वं प्राग्वत् । उपपत्तिरपि मनुष्यद्विकादिप्रधानसंनिकर्षवत् , केवलं 'सखगुणहियं' इत्यादिना यो रतिहास्यादीनां संख्येयगुणाभ्यधिकस्थितिबन्धो भणितः स पञ्चेन्द्रियजात्यादिनामप्रकृतिवज्ज्ञेयः, पञ्चेन्द्रियजात्यादिवत्तासां रत्यादीनां जघन्यस्थितेः प्रस्तुतौघिकप्ररूपणायामेकेन्द्रियस्वामिकत्वात् प्रधानीकृतदेवद्विकादिजघन्यस्थितिबन्धस्वामिनामसंज्ञिपञ्चेन्द्रियत्वाच्चेति ॥१३७४-७५॥

तदेवं गतो गतिचतुष्टयप्रधानः प्रस्तुतपरस्थानजघन्यस्थितिबन्धसंनिकर्षस्तत्तुल्यवक्तव्यत्वादानुपूर्वीचतुष्टयप्रधान उद्योतनाम-नीचैर्गोत्र-वैक्रियद्विकप्रधानश्च । साम्प्रतं क्रमगतत्वादेकेन्द्रियादिजातिचतुष्टयप्रधानं तं विभणिषुस्तुल्यवक्तव्यत्वादातपनामस्थावरचतुष्कप्रधानमपि सममेव प्राह—

णामाण सठाणव्वा ऽऽयव-थावर-जाइचउगलहुवधी । णियमाऽसखगुणहिय सजलणा-ऽऽवरण-विग्घाणं ॥
सायस्स सिआऽसखियगुणहियमण्णधुव-णपुम-णीआण । णियमाऽसंखसहिय सिआ खलु असायजुगलाण
॥१३७६-७७॥

(प्रे०) "णामाणे"त्यादि, अक्षरार्थः सुगमः, केवलं "थावरजाइचउग" इत्यत्र चतुष्कशब्दः प्रत्येकं सम्बध्यते, "णियमा-ऽसखगुणहियं" इत्यत्र 'संखगुणहियं' इत्यस्य पूर्वोऽकारः स्पष्टयितव्यस्तथाच 'असखगुणहियं' स्यात् , इत्थमेवोत्तरत्र 'संखियगुणहियं" इत्यस्य 'संखंसहियं' इत्यस्यापि च पूर्वोऽकारो व्यक्तीकर्त्तव्यस्तथा द्वितीयगाथाप्रान्ते "जुगलाणं" इत्यनेन हास्य-रति-शोका-ऽरतिलक्षणं युगलद्वयं सगृहीतं बोद्धव्यमिति । उपपत्तिस्तु सुगमा, प्रधानीकृतप्रकृतिजघन्यस्थितिबन्धस्वामिनामेकेन्द्रियत्वात्तदनुसारेण कार्या स्वयमेवेति ॥१३७६-७७॥

तदेवं भणितो जातिचतुष्टयप्रधानस्तत्तुल्यवक्तव्यत्वात् स्थावरचतुष्टया-ऽऽतपनामप्रधानोऽपि प्रस्तुतः संनिकर्षः, तदनु क्रमगतपञ्चेन्द्रिजात्यौ-दारिकद्विक-तैजस-कार्मणशरीरनामप्रधानः प्राग् 'छुबगुणतीसाओ' इत्यादि(१३४७ ४८-४९)गाथात्रये निद्रापञ्चकादिप्रधानसंनिकर्षेण समं प्ररूपितो

वैक्रियद्विकप्रधानस्तु 'णामाण सुरव्विउव' इत्यादि(१३७४-७५)गाथाद्वये देवद्विकप्रधानेन समं प्रतिपादितश्चातः क्रमप्राप्ताऽऽहारकद्विकप्रधानं तत्तुल्यवक्तव्यत्वात्तीर्थंकरनामप्रधानं च तं सममेवाह—

तित्था-ऽऽहारदुगाणं लहुबंधी बधए सठाणव्व । णामाण ठिइ णियमा बंधेइ असंखगुणअहियं ॥
साया-ऽऽवरणणवग-पुम-चउसंजलणु-च्च-पंचविग्घाण । णियमा बंधइ सखियगुणअहियं हस्सचउगस्स ॥
॥१३७८-७९॥

(प्रे०) "तित्थाहारदुगाणं" इत्यादि, गाथाद्वयी कण्ठया, केवलं द्वितीयगाथोत्तरार्धे हास्यरतिभयजुगुप्सालक्षणस्य हास्यादिप्रकृतिचतुष्टयस्य संख्येयगुणाभ्यधिकस्थितिबन्धस्तस्य जघन्यस्थितिबन्धस्यैकेन्द्रियस्वामिकत्वात् प्रधानीकृतप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्य त्वपूर्वकरणगुणस्थक्षपकस्वामिकत्वाच्च । भवति हि एकेन्द्रियस्वामिकस्थितिबन्धापेक्षयाऽपूर्वकरणक्षपकस्वामिकजघन्यस्थितिबन्धोऽपि संख्येयगुणः, अनिवृत्तिकरणगुणादावेवैकेन्द्रियस्वामिकस्थितिबन्धतः स्तोकस्थितबन्धस्य सम्भवादिति ॥१३७८ ७९॥

अथ क्रमप्राप्तसंहनन-संस्थानप्रकृतिप्रधानः प्रस्तुतसंनिकर्षो वक्तव्यस्तत्र प्रथमसंहननसंस्थानप्रधानस्याऽपि तस्य 'धुवगुणतीसाओ'(गाथा-१३४७-४९)इत्यादौ निद्रापञ्चकादिप्रधानसंनिकर्षेण सममेव भणितत्वाच्छेपपञ्चसंहनन-पञ्चसंस्थानप्रधानं प्रागिव कुखगति-दुर्भगत्रिकप्रधानमपि तं सममेवाह—

पणसघयणागिइ कुखगइ-दुहगतिगाण हस्सठिइबधी । सट्ठाणव्व उ बंधइ णामाणऽण्णाण थिव्व पर ॥
दुइआइदुसंघयणागिइ लहुबधी पुमस्स णियमाओ । सेसलहुट्ठिइबंधी सिआ असखेज्जगुणअहिय ॥
तुरिआइदुलहुबधी थीअ सिआ ठिइमसखभागहिय । बधइ थीणपुमाण सिआ छसेसलहुठिइबंधी ॥
॥१३८०-८२॥

(प्रे०) "पणसंघयणागिइ" इत्यादि, तत्र "सट्ठाणव्व" इत्यादि प्राग्वत् , "थिव्व" त्ति स्त्रीवेदप्रधानपरस्थानजघन्यस्थितिबन्धसंनिकर्षवत् , स तु 'थीलहुबंधी णियमा संजलणा-ऽऽवरणणवग-विग्घाणं । कुणइ असखगुणहियं सिआ खलु जसु-च्च-सायाण ॥१३५५॥' इत्यादिगाथात्रये भणितस्वरूपः, केवलं तत्र स्त्रीवेदस्य प्रधानत्वात्पुंवेदादेर्बन्धः सर्वथा प्रतिषिद्धः, इह तु स्त्रीवेदः पुंवेदादिर्वा न प्रधानीकृतसंहननादिप्रतिपक्षभूतः, तथाच तासां स्त्रीवेदादिप्रकृतीनां स्याद्बन्धो नियतबन्धो वेत्यादि भणितव्यम् , तत्र संहननादिप्रधानीकृतप्रकृतिजघन्यस्थितिबन्धस्वामिन एकेन्द्रियाः, तत्स्वामिके प्राग्दर्शिते तथाविधे प्रकृतिविच्छेदक्रमे हि द्वितीयतृतीयसंहननसंस्थानविच्छेदस्थानादुत्तरं केवलस्य पुंवेदस्यैव बन्धविच्छेदो लभ्यते, न तु स्त्रीवेदनपुंसकवेदयोः, तयोर्द्वितीयसंहननसंस्थानविच्छेदस्थानतः पूर्वस्थाने एव विच्छेदभावात् , इत्येवं द्वितीयसंहननादिप्रकृतिचतुष्टयप्रधानसंनिकर्षे पुंवेदस्य नियतो बन्धो लभ्यते; स्थितिस्तु तस्य प्राग्वदसंख्येयगुणाभ्यधिका जायते, तदीयजघन्यस्थितेरनिवृत्तिबादरक्षपकस्वामिकत्वात् । चतुर्थपञ्चमसंहननसंस्थानविच्छेदस्थानत उत्तरस्थानेषु पुंवेदवत्स्त्रीवेदस्याऽपि बन्धविच्छेदः सम्पद्यते, तथाच तच्चतुर्थसंहन-

नादिप्रकृतिचतुष्टयप्रधानसंनिकर्षे पुंवेदस्त्रीवेदयोः स्याद्बन्धो लभ्यते, तत्र पुंवेदस्थितिस्त्वनन्तरोक्तनीत्याऽसंख्येयगुणाधिका लभ्यते, स्त्रीवेदस्य तु न तथा, अपि त्वसङ्ख्यभागेनाभ्यधिका एव प्राप्यते, तदीयजघन्यस्थितेरेकेन्द्रियस्वामिकत्वात् । चरमसंहननसंस्थान-कुखगति-दुर्भगत्रिकविच्छेदस्थानादुत्तरं पुनर्नपुंसकवेदस्याऽपि बन्धविच्छेदस्थानमवाप्यते, तथाच तच्चरमसंहननादिप्रकृतिषट्कप्रधानसंनिकर्षेऽधिकृतो नपुंसकवेदस्याऽपि स्यात्संख्येयभागाभ्यधिकस्थितिबन्धोऽवाप्यते, एतदेव "दुइआइदुसघयणागिइलहुबंधो"इत्यादिगाथाद्वयेन विशेषतो दर्शितमिति । अक्षरार्थस्तु सुगमः स्वयमेव द्रष्टव्यश्चेति ॥

तदेवं भणितः शेषसंहननसंस्थानप्रकृतिप्रधानोऽपि प्रस्तुतौघिकपरस्थानजघन्यस्थितिबन्धसंनिकर्षः, तत्साम्यात्कुखगतिप्रधानो दुर्भगत्रिकप्रधानश्चासौ । ततः क्रमगतवर्णचतुष्कादिप्रकृतिमध्याद् वर्णचतुष्क-सुखगत्य ऽगुरुलघु निर्माणो-पघात-पराघातो च्छ्वास त्रसनवकप्रधानोऽसौ 'धुवगुणतीसाओ' इत्यादि(१३४७)गाथात्रये निद्रापञ्चकादिप्रधानसंनिकर्षेण समम्, यशःकीर्तिप्रधानः 'एगस्स' इत्यादि(१३४६)गाथायां मतिज्ञानावरणादिप्रधानेन साकम्, आतपनामप्रधानः स्थावरचतुष्कप्रधानश्च 'णामाण सठाणव्वा-ऽऽयव-थावरजाइचउगे'त्यादि(१३७५)गाथाद्वये एकेन्द्रियजात्यादिप्रधानसंनिकर्षेण सह, तथोद्योतनामप्रधानः 'तिरिदुगुज्जोआण' इत्यादि(१३६९)गाथाद्वये तिर्यग्द्विकप्रधानसंनिकर्षेण साकम्, जिननामप्रधानः 'तत्थाहारदुगाण' इत्यादि(१३७७)गाथाद्वये आहारकद्विकप्रधानेन समं भणितः, अस्थिरा-ऽशुभा-ऽयशःकीर्तिनामप्रधानस्तु 'विग्घावरणणवग'इत्यादि(१३५०)गाथात्रयेऽसातवेदनीयप्रधानमभिधाय तत्रैव तृतीयगाथान्ते 'एव सिं' इत्यनेनाऽतिदिष्टः, दुर्भगत्रिकप्रधानस्त्वनुपदं द्वितीयसंहननादिप्रधानेन समं प्रतिपादितश्च, ततः क्रमप्राप्तगोत्रप्रकृतिमध्यात्तदनुप्राप्तान्तरायप्रकृतिमध्याच्चोच्चैर्गोत्रा-ऽन्तरायपञ्चकप्रधानः 'एगस्स जहण्णठिइ सायावरण'इत्यादि(१३४६)गाथायां मतिज्ञानावरणादिप्रधानेन साकं भणितः शेषनीचैर्गोत्रप्रधानस्त्वसौ 'एव णीअस्स भवे' इत्यतिदेशेन (गाथा-१३७१) तिर्यग्गत्यादिप्रधानसंनिकर्षवद्भणितश्च । तदेवं समाप्तः सर्वासां विंशत्युत्तरशतप्रकृतीनां परस्थानजघन्यस्थितिबन्धसंनिकर्ष ओघत इति ॥१३८०-८२॥

भणितो मतिज्ञानावरणादिसर्वोत्तरप्रकृतप्रधानः परस्थानजघन्यस्थितिबन्धसंनिकर्ष ओघतः । अथ तमेवादेशतो मार्गणास्थानेषु विभणिषुः प्रथमतस्तावत् काययोगौघौ-दारिककाययोग-लोभा-ऽचक्षुर्दर्शन-भव्या ऽऽहारकलक्षणासु षट्सु मार्गणासु सर्वथा ओघतुल्य इति कृत्वाऽतिदिशन्नाह—

ओघव्व सण्णियासो भवे लहुठिईअ सव्वपयडीणं । काय-उरल-लोहेसुं अचक्खु-भवियेसु आहारे ॥१३८३॥

(प्रे०) "ओघव्व" इत्यादि, कण्ठ्या, उपपत्तिरपि सर्वथौघवत्कार्या, मतिज्ञानावरणाद्यौघिकजघन्यस्थितिबन्धस्वामिनामिह सर्वत्र प्रवेशात् प्रकृतिक्रमविच्छेदादेरपि तथात्वाच्चेति ॥१३८३॥

तदेवं यासु मार्गणासु सर्वथौघवत्तास्वतिदिश्य साम्प्रतं नरकगत्योघादिक्रमेण विभणिषुर्नरकौघप्रथमनरकमार्गणयोराह गाथासप्तदशकेन—

[1] णिरय-पढमणिरयेसुं धुवबंधी उ रइ-हस्स-पुरिसाओ । तित्थाउगवज्जाओ सुहणरजोग्गाउ सेसाओ ॥
[2]एगस्स जहण्णठिइं बंधंतोऽण्णाण एगसयरीए । णियमाहिन्तो बधइ ठिइं जहण्णमजहण्णं वा ॥
[3]एगस्स असाय-अरइ-सोग-अथिर-असुह-अजसाओ । लहुबधी बधइ लहुमलहुं व ठिइ सिआऽण्णेसिं ॥
[4]तप्पडिवक्खाण सिआ बंधइ सखेज्जभागअब्भहियं । णियमा धुवबंधीणं पुम-सुहसेसणरजोग्गाण ॥
[5]साय-असाय-दुजुगल-तिसघयणाऽऽगिइ-थिराइजुगलाण । थीलहुबधी बंधइ सिआ ठिइं सखभागहियं ॥
[6] णियमा संखंसहियं धुवाण सेससुहमणुयजोग्गाणं । एव णपुमस्स णवरि पणसघयणाऽऽगिईण सिआ ॥
[7]तिरियाउहस्सबंधी दुवेअणीअ-सगणोकसायाणं । सघयणआगिईण थिराइछजुगल-दुखगईण ॥
[8]उज्जोअस्स य बंधइ सिआ छतीसाअ संखगुणअहियं । णियमा गुणसट्ठीए सेसाणं तिरियजोग्गाणं ॥
[9]मणुयाउहस्सबंधी दुवेअणीअ-सगणोकसायाण । संघयणऽऽगिइ-दुखगइ-थि॰ाइछजुगल-दुगोआणं ॥
[10]सगतीसाअ सिआ खलु बधइ सखियगुणाहियं णियमा । बंधइ अडवण्णाए सेसाणं मणुयजोग्गाणं ॥
[11]तिरिदुग-उज्जोआणं लहुबधी बंधए सठाणव्व । णामाण तिरियाउव्वऽण्णेसिं णवरि संखभागहियं ॥
[12]जिणलहुबंधी णियमा चउसट्ठीए उ सखगुणअहियं।धुव-पुम-रइ-हस्साण तहा-ऽण्णसुहमणुयजोग्गाणं ॥
[13]पणसंघयणागिइ कुखगइ-दुहगतिगाण हस्सठिइबधी । सट्ठाणव्व उ बंधइ णामाण थिव्व सेसाणं ॥
[14]दुइआइदुसघयणागिइलहुबधी पुमस्स णियमाओ । सेसाण हस्सबधी सिआ ठिइं संखभागहिय ॥
[15]तुरिआइदुलहुबधी थीअ सिआ सखभागअब्भहिअ । बधइ थीणपुमाण सिआऽण्णछक्कलहुठिइबधी ॥
[16]णीअस्स हस्सबंधो दुवेअणीअ सगणोकसायाणं । संघयण-आगिईणं दुखगइ-छथिराइजुगलाण ॥
[17]बधेइ सिआ सखियभागहिय सेसमणुयजोग्गाण । णियमा अडवण्णाए तित्था-ऽऽउग-उच्चवज्जाण ॥

॥१३८५-१४००॥ (तृतीयोऽगीतिस्तथैकादशी गीतिः)

(प्रे०) "णिरयपढमणिरयेसु" इत्यादि, तत्राद्यगाथाद्वयेन सप्तचत्वारिंशन्मतिज्ञानावरणाद्या ध्रुवबन्धिन्यः, रतिहास्य-पुरुषवेदमोहनीयानि, तथा भणितान्या जिननाममनुष्यायुष्कवर्जाः सातवेदनीय-मनुष्यद्विक-पञ्चेन्द्रियजात्यौ-दारिकद्विक प्रथमसंहनन-प्रथमसंस्थान-सुखगति पराघातो-च्छ्वास-त्रसदसको-च्चैर्गोत्रलक्षणा मनुष्यप्रायोग्याः शुभा द्वात्रिंशतिप्रकृतयः सर्वसंख्यया तु द्वासप्ततिः प्रकृतयस्तत्प्रधानप्रस्तुतसंनिकर्षः प्रतिपादितः । तत्र जिननाम्नः स्याद्बन्ध इत्यप्यकथनमेतद्ध्रुवबन्ध्यादिप्रकृतीनां जघन्यस्थितेः प्रस्तुते पश्चात्कृताऽसंज्ञित्वजीवस्वामिकत्वात् , शेषं तु सुगमत्वात्प्राग्वदभ्यूह्यमिति । "एगस्स असाये"त्यादितृतीयचतुर्थगाथाद्वयेनाऽसाता-ऽरति शोका-ऽस्थिराऽशुभा-ऽयशःकीर्तिलक्षणा यास्तथाविधविच्छेदक्रमे द्विचरमस्थानगतास्तत्प्रधानसंनिकर्षो भणितः। इमा अपि अनन्तरभणिततथाविधक्रमचरमस्थानगतध्रुवबन्ध्यादिप्रकृतिवत् पश्चात्कृतासंज्ञित्वजीवस्वामिकजघन्यस्थितिका इति । अक्षरार्थः सुगमः, केवलम् 'तप्पडिवक्खाण' इत्यनेनाऽसातवेदनीयादिमध्यात्प्रधानीकृतामेकैकां प्रकृतिं विहाय याः शेषाः पञ्च प्रकृतयस्तत्प्रतिपक्षभूता रत्यादिप्रकृतयो बोद्धव्याः, न पुनः प्रधानीकृताऽसातवेदनीयादेः प्रतिपक्षभूता सातवेदनीयादिप्रकृतिरपि, तस्या अवश्यं बन्धाभावादित्यादि सर्वं पूर्वग्रन्थानुसारेणेहोत्तरत्र च व्याख्येयम् । उपपत्तिरपि प्राग्वदेव कार्येति।

अथ "साय-असाय" इत्यादिपञ्चमषष्ठगाथाद्वयेन स्त्रीवेदनपुंसकवेदप्रधानः संनिकर्षः पठितः । तत्र "दुजुगल" इत्यनेन प्रागिव हास्य-रति-शोका-ऽरतिलक्षणप्रकृतिचतुष्टयसंग्रहो

बोध्यः । एवमुत्तरत्रापि ज्ञेयम् । "**तिसंघयणागिइथिराइ**" इत्यादौ आद्यस्त्रिशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते, तथाच तेन वज्रर्षभनाराचादिसंहननत्रयं समचतुरस्रादिसंस्थानत्रयं स्थिरशुभयशःकीर्ति-तत्प्रतिपक्षप्रकृतिलक्षणं स्थिरादिद्विकत्रयं चेत्येवं सर्वसंख्यया द्वादश प्रकृतयः संगृहीता वेदितव्याः, एवं "**पणसंघयण**" इत्यादावपि प्रथमसंहनन-प्रथमसंस्थानाद्याः पञ्च पञ्च संहननसंस्थानाद्याः प्रकृतयः संगृहीता ज्ञेयाः । शेषाक्षरार्थः सुगमः, उपपत्तिस्त्वौघिकस्त्रीनपुंसकवेदप्रधानसंनिकर्षोपपत्त्यनुसारेण कार्या, केवलं तत्रौघे तेजस्कायवायुकाय-तदितरैकेन्द्रियलक्षणद्विविधजीवानां स्त्रीवेदजघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वेन ध्रुवबन्धिनीवन्मनुष्य-पञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रयोग्याः शुभाऽध्रुवबन्धिन्यस्तथाविधविच्छेदक्रमे चरमस्थानगताः, मतिज्ञानावरणादीनां जघन्यस्थितिबन्धोऽन्तर्मुहूर्तादिमानश्च, इह तु पश्चात्कृतसंज्ञित्वानां नारकाणां स्त्रीवेदजघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वेन ध्रुवबन्धिनीवत्केवलमनुष्यप्रायोग्या याः शुभाध्रुवबन्धिन्यस्तास्तथाविधविच्छेदक्रमे चरमस्थानगताः पश्चात्कृताऽसंज्ञित्वजीवा एव मतिज्ञानावरणादिजघन्यस्थितिबन्धस्वामिनश्च, अत एवेह मतिज्ञानावरणादीनां संख्येयभागाभ्यधिकस्थितिबन्धो भणितः, तद्वदुच्चैर्गोत्रमनुष्यद्विकयोर्नियतबन्धश्च भणितः । शेषं तिर्यग्द्विकादीनामबन्ध इत्यादि तु सुगममिति । अथ "**तिरियाउहस्सबंधे**" इत्यादिसप्तमाष्टमगाथाद्वयेन तिर्यगायुष्कप्रधानसंनिकर्षः प्रतिपादितः । तत्र हि प्रस्तुतमार्गणायां तिर्यगायुस्तथाविधविच्छेदक्रमे आद्यस्थानगतत्वेन तदनुसारेण स्याद्बन्धो नियतबन्धो वेत्यादि बोध्यम्, तद्यथा—इह सर्वाः पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्गतिप्रायोग्याः प्रकृतयो बध्यन्ते, कुतः? नरकौघादेः प्रस्तुतत्वात् । तत्र या ध्रुवबन्धिन्यो याश्चाध्रुवबन्धिन्यस्तिर्यग्गत्याद्यास्तिर्यग्द्विक पञ्चेन्द्रियजात्यौ-दारिकद्विक पराघातो-च्छ्वास-त्रसचतुष्क-नीचैर्गोत्रलक्षणाः प्रतिपक्षप्रकृतिविरहितास्तासां नियमाद् बन्धो जायते, शेषसातवेदनीया ऽसातवेदयनीय-सप्तनोकषाय संहननषट्कादीनां तु प्रतिपक्षप्रकृतिसहितबन्धप्रायोग्यत्वात्तासां "**दुवेअणीअ**" इत्यादिना संगृहीतानां पञ्चत्रिंशत्प्रकृतीनां स्याद्बन्धो भवति, तथोद्योतस्य प्रतिपक्षरहितत्वेऽपि स्वभावादेव स्याद्बन्धो भवतीति तथा भणितः । एतासां स्थितिस्तु "**संखगुणअहिय**" इति वचनात् संख्यातगुणाभ्यधिका बध्यते, कथम्? एतासां जघन्यस्थितेः पश्चात्कृतासंज्ञित्वस्वामिकत्वेऽपि प्रधानीकृततिर्यगायुष्कजघन्यस्थितेर्बन्धकानां पर्याप्तावस्थागतनारकतया सञ्ज्ञिबन्धप्रायोग्यबन्धस्य भावात्तस्य च बन्धस्याऽसंज्ञिप्रायोग्यस्थितिबन्धतः संख्येयगुणत्वादिति । अथ "**मणुयाउहस्सबंधी**" इत्यादिनवमदशमगाथाद्वयेन मनुष्यायुष्कप्रधानसंनिकर्षः प्रतिपादितः; सोऽप्यनन्तरोक्तनीत्यैवाभ्यूह्यः, केवलमिह ध्रुवबन्धिनीनां पर्याप्तमनुष्यप्रायोग्याध्रुवबन्धिनीनां च बन्धः, तथाचोद्योतनाम्नो वर्जनम्, उच्चैर्गोत्रस्य च ग्रहणम्, तद्ग्रहणाद् गोत्रद्वयस्य बन्धप्रायोग्यतायां द्वयोरपि गोत्रयोः स्याद्बन्ध इति सुगममिति । "**तिरिदुगउज्जोआणं लहुबंधी**" इत्यादिशेषगाथासप्तकार्थस्तु सुगमः, औघिकविवेचनानुसारेणाभ्यूह्यश्च यथासम्भवम् । अक्षरार्थोऽपि सुगमो

गतार्थश्च, केवलम्- एकादशगाथायां "णवरि संखभागहियं" इत्यपवादभणनं तिर्यगायुषः पर्याप्तावस्थनारकस्वामिकत्वेऽपि प्रधानीकृततिर्यग्गत्यादिजघन्यस्थितेर्ध्रुवबन्ध्यादिवत्पश्चात्कृतासंज्ञित्वजीवस्वामिकत्वादिति; इह तिर्यगायुषोऽबन्धोऽपि यथोक्तकरणानुसारेण विज्ञेयः । त्रयोदशचतुर्दशगाथयोर्मध्ये तु 'परं' इत्यध्याहृतं द्रष्टव्यम्, तथाच त्रयोदशगाथाप्रान्ते "थिव्व सेसाणं" इत्येवंरूपो योऽतिदेशस्तत्र "दुइआइदुसंघयण" इत्यादिचतुर्दशपञ्चदशगाथाद्वयेनाऽपवादो भणितो भवतीति ॥१३८४-१४००॥

अथ क्रमप्राप्तद्वितीयपृथ्वीनरकमार्गणाभेदादिपञ्चनरकमार्गणासु प्रस्तुतपरस्थानजघन्यस्थितिबन्धसंनिकर्षमाह विंशतिगाथाभिः—

[1]दुइआइणिरयपणगे गुणचत्तधुव-रइ-हस्स-पुरिसाओ । णरजोग्गऽण्णसुहाओ जिणाउवज्जाउ एगस्स ॥
[2] लहुबधी अण्णेसिं णियमा बधइ ठिइं तिसट्ठीए । हस्समहस्स व सिआ जिणस्स एमेव तित्थस्स ॥
[3] एगस्स हस्सबंधी थीणद्धितिगा-ऽणचउग-मिच्छाओ । लहुमलहुं वा बंधइ णियमा अण्णाण सत्तण्हं ॥
[4]णियमा संखगुणहियं गुणचत्तधुव-रइ-हस्स-पुरिसाणं । णरजोग्गऽण्णसुहाण जिणाउवज्जाण बधेइ ॥
[5]एगस्स असाय-अरइ-सोग-जुगल अथिर-असुह-अजसाओ । लहुबधी बधइ लहुमलहुं व ठिइ सिआऽण्णेसिं ॥
[6]तप्पडिवक्खाण सिआ संखियभागाहियं ठिइं णियमा । गुणचत्तधुवाण तहा पुम-सुहसेसणरजोग्गाणं ॥
[7]थीलहुबंधी बधइ संखगुणहियं दुवेअणीयाणं । दुजुगल-वइर-सुहागिइ थिरआइजुगलतिगस्स सिआ ॥
[8]णियमा संखगुणहियं धुवाण सेससुहमणुयजोग्गाणं । बंधइ संखंसहियं संघयणागिइदुगस्स सिआ ॥
[9]एव णपुमस्स भवे णवर बंधेइ संखभागहियं । संघयण-आगिईण दुइआईणं चउण्ह सिआ ॥
[10]तिरियाउस्स जहण्णं बधंतो बधए उ णियमाओ । ठिइमाण सयमुज्झ तिरिक्खदुग-णीअगोआण ॥
[11]बधइ सिआ णपुंसग-थी-पणसंघयणआगिईण तहा । कुखगइ-उज्जोअ-दुहगतिगाण माण तु सयमुज्झ ॥
[12]धुव-पंचिंदि-युरलदुग-परघा-ऊसास-तसचउक्काण । णियमा संखगुणहिय सिआ उ सेसतिरिजोग्गाण ॥
[13] मणुयाउहस्सबंधी वा ठिइमाणं सय णपुंसस्स । थी पणसंघयणाऽऽगिइ-कुखगइ-दुहगतिग-णीआणं ॥
[14] धुव-णरुरलदुग-परघा-ऊसास-पणिंदि-तसचउक्काणं । णियमा संखगुणहियं सिआऽण्णजिणवज्जमणुयजोग्गाणं ॥
[15]णामाण सठाणव्व उ तिरिदुगउज्जोअहस्सठिइबंधी । तिरियाउव्वऽण्णेसिं णवरि णपुमथीण सखभागहिय
[16] पणसघयणागिइ-कुखगइ-दुहगतिगाणं हस्सठिइबंधी । सट्ठाणव्व उ बधइ णामाणऽण्णाण थिव्व परं ॥
[17] दुइआइदुसघयणागिइलहुबधी पुमस्स बधेइ । णियमा संखगुणहियं सिआऽण्णवसहस्सठिइबधी ॥
[18] तुरिआइदुलहुबधी थीअ सिआ संखभागअब्भहियं । बधइ थीणपुमाणं सिआऽण्णछक्कलहुठिइबंधी ॥
[19] णीअस्स हस्सबंधी संखसहियं ठिइं सिआ कुणए । थी-पणसंघयणाऽऽगिइ-कुखगइ-दुहगतिग-णपुमाणं ॥
[20] धुव-णरुरलदुग-परघा-ऊसास-पणिंदि तसचउक्काणं । णियमा संखगुणहिय सिआ जिणाऊण मणुयजोग्गाणं ॥१४०१-१४२०॥ (चतुर्दशी त्रिंशी च गीति.)

(प्रे०) "दुइआइणिरयपणगे" इत्यादि, तत्राद्यगाथाद्वये स्त्यानर्द्धित्रिक-मिथ्यात्वाऽनन्तानुबन्धिचतुष्टयवर्जा या शेषा मतिज्ञानावरणाद्या एकोनचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिन्यस्तथा हास्य-रति पुंवेद-मोहनीयलक्षणास्तिस्रो मनुष्यप्रायोग्या उक्तान्या जिनमनुष्यायुष्कवर्जाः शुभाः सातवेदनीय-मनुष्य-

द्विक-पञ्चेन्द्रियौदारिकद्विक-प्रथमसंहनन-प्रथमसंस्थान-सुखगति-पराघातो-च्छ्वास त्रदशकोच्चैर्गोत्र-लक्षणा द्वाविंशतिः प्रकृतयश्चेति सर्वसंख्यया चतुःषष्टिस्तत्प्रधानः प्रस्तुतसंनिकर्षो भणितः,एतासां हि सर्वासां प्रस्तुतमार्गणासु या मार्गणाप्रायोग्या सर्वोत्कृष्टविशुद्धिस्तज्जन्यः सम्यग्दृष्टिस्वामिको जघन्य-स्थितिबन्धस्तथाविधविच्छेदक्रमे चरमस्थानगताश्चैता इति सुगमोऽयं संनिकर्षः । "एगस्स हस्स-बंधो" इत्यादितृतीयचतुर्थगाथाद्वयेन भणितशेषस्त्यानर्द्धित्रिकादिध्रुवबन्धिप्रकृत्यष्टकप्रधानः संनि-कर्षः पठितः, सम्यक्त्वाभिमुखमिथ्यादृग्नारकस्वामिकजघन्यस्थितिका हि एतास्तथाविधश्च प्रस्तुत-मार्गणागतनारकः सर्वा ध्रुवबन्धिनीर्हास्य-रति-पुंवेदमोहनीयानि मनुष्यप्रायोग्याः शुभा अध्रुव-बन्धिनीश्चैव बध्नीयात् , तत्रानन्तरोक्तनीत्या मतिज्ञानावरणादिशेषध्रुवबन्धिनीनां हास्यादीनां च जघन्यस्थितिः सम्यग्दृक्स्वामिका इति कृत्वेहानेन संख्येयगुणाभ्यधिका बध्यते । शेषं सुगममिति । "एगस्स असाय" इत्यादिपञ्चमषष्ठगाथाद्वयेन तु असाता ऽरति-शोका ऽस्थिरा ऽशुभा ऽयशः-कीर्तिनामलक्षणषट्प्रकृतिप्रधानः संनिकर्षः प्रतिपादितः, एतदसातवेदनीयादिजघन्यस्थितिबन्धस्वा-मिनो हि प्रस्तुते स्वस्थानतत्प्रायोग्यविशुद्धसम्यग्दृग्नारका इत्यतस्तदनुसारेण प्रागुक्तनीत्याऽभ्यूह्यो-ऽयं संनिकर्षः। अक्षरार्थः सुगमः, परं "तप्पडिवक्खाण" इत्यनेन प्राग्दर्शितनीत्या प्रधानीकृता-ऽसातवेदनीयाद्येकैकप्रकृतीतरा-ऽरत्यादिपञ्चप्रकृतिप्रतिपक्षभूता रत्याद्याः पञ्च पञ्च प्रकृतयो बोध्या इति। "थीलहुबंधो" इत्यादिगाथाद्वयेन स्त्रीवेदप्रधानोऽसौ परिपठितः,अयमपि प्राग्दर्शितनीत्या तथा-विधप्रकृतिविच्छेदक्रममनुसृत्याऽभ्यूह्यः, केवलं संख्येयगुणाभ्यधिकत्वादिलक्षणः स्थितिबन्धविशेषो वेदनीयादिप्रकृतीनां सम्यग्दृष्ट्यादिलक्षणजघन्यस्थितिबन्धस्वाम्याद्यनुसारेण ज्ञेयः, स्त्रीवेदजघन्य-स्थितिबन्धस्वामिनस्तु स्वस्थानतत्प्रायोग्यविशुद्धमिथ्यादृग्नारकजीवाः प्रस्तुत इति"संघयणागिइ-दुगस्स" इत्यनेन तु द्वितीयतृतीयसंहननसंस्थानप्रकृतयो ज्ञेयाः । 'एवं णपुमस्स भवे''इत्या-दिना नवमगाथया नपुंसकवेदप्रधानसंनिकर्षोऽतिदिष्टः सापवादम् । गतार्था, अन्यत्रौघिकप्ररूपणादौ तथाविधातिदेशार्थस्य विस्तरेण व्याख्यातत्वात् । तदनु "तिरियाउस्स" इत्यादिगाथात्रयेण तिर्यगायुष्कप्रधानः संनिकर्षः प्रतिपादितः, तत्र स्याद्बन्धादिकं सर्वं नरकौघादिमार्गणावत् , केवलं स्थितिविशेषोऽनन्तरोक्तनीत्या सम्यग्दृष्ट्यादिलक्षणतत्तत्प्रकृतिजघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वानुसारे-णाभ्यूह्यः, यत्तु तिर्यग्द्विकादिस्थितिबन्धमानविषये "ठिइमाणं सयमुज्झं'इत्यादि मुकुलिताभि-धानं तत्तु प्रागिव तद्विषयकस्पष्टगमकाऽलाभात् । एवमेवोत्तरत्राऽपि तथाऽभिधाने स्पष्टगमकालाभ एव बीजं ज्ञेयमिति । शेषतिर्यक्प्रायोग्यप्रकृतयस्त्विमाः—पुरुषवेद हास्यादियुगलद्वय-प्रथमसंहनन-प्रथमसंस्थान सुखगति-स्थिरषट्का-ऽस्थिरा-ऽशुभा-ऽयशःकीर्तिनामानीति सप्तदश। तदनु''मणुयाउ-हस्सबंधो''इत्यादित्रयोदश-चतुर्दशगाथाद्वयेन मनुष्यायुष्कप्रधानः प्रस्तुतसंनिकर्षः प्रतिपादितः सोऽपि मनुष्यायुष्कजघन्यस्थितिबन्धस्य मिथ्यादृष्टिस्वामिकतयाऽनन्तरोक्तनीत्याऽभ्यूह्य इति ।

"णामाण सठाणव्व उ" इत्यादिशेषगाथाषट्कार्थस्तु स्वस्थानसंनिकर्ष-नरकौघादिमार्गणाविषयकपरस्थानसंनिकर्षादिना गतप्राय इति ॥१४०१-१४२०॥

अथ क्रमप्राप्तसप्तमपृथ्वीनरकमार्गणायां प्रस्तुतं संनिकर्षं प्रतिपादयन्नाह गाथाषट्कम्—

[1] सत्तमणिरये तिरिदुग-थीणद्धितिगा-ऽण-मिच्छ णीआओ । एगस्स हस्सबंधी णियमाऽण्णाण लहुमलहुं वा ॥
[2] णियमा संखगुणहिय धुव-पुम-रइ-हस्स सुतिरिजोग्गाण । उज्जोअस्स सिआ लहुमलहुं वेवं भवे तस्स ॥
[3] तिरियाउहस्सबंधी ठिइपरिमाणं सिआ सयं णेयं । थी पणसंघयणागिइ-कुखगइ-दुहगतिग णपुमाणं ॥
[4] धुव-रलतिरिदुग-परघा-ऊसास-पणिंदि-तसचउग णीआण । णियमा सखगुणहियं बंधेइ ठिइं सिआऽण्णतिरिजोग्गाणं ॥
[5] पचागिइसघयण-कुखगइ-दुहगतिगजहण्णठिइबंधी । णामाण सठाणव्व उ दुइअणिरयथिव्व वेअसेसाणं ॥
[6]सेसाण दुइअणिरयव्व व उज्जोअस्स णपुमथीबंधो । संखगुणहिय णियमा तिरिदुगणीआण सिं ण पडिवक्खा॥

॥१४२१–१४२६॥ (चतुर्थ्यार्यागीतिः, पञ्चमी षष्टी च गीति)

(प्रे०) "सत्तमणिरये" इत्यादि, अक्षरार्थः प्राग्वत्, केवलं द्वितीयगाथापूर्वार्धे "धुव" इत्यनेनाऽनन्तरभणिताः स्त्यानर्द्धित्रिकाद्या अष्टौ विहाय शेषा एकोनचत्वारिंशन्मतिज्ञानावरणाद्या बोध्याः, द्वितीयगाथोत्तरार्धे "एवं भवे तस्स" इत्यनेनोद्योतनामप्रधानसंनिकर्षोऽतिदिष्टः, चतुर्थगाथोत्तरार्धे "संखगुणहियं" इत्येतद्देहलीदीपकन्यायेन संबध्यते, पञ्चमगाथायां "पचागिइ-संघयण" इत्यनेन प्रथमवर्जसंहनन-संस्थानलक्षणप्रकृतिदशकसंग्रहो बोद्धव्यः, पञ्चमगाथोत्तरार्धे 'दुइ-अणिरयथिव्व वेअसेसाण" इत्येतत्तु द्वितीयसंहननादिप्रधानसंनिकर्षे नामेतरप्रकृतीनां स्याद्बन्धो नियतबन्धो वेत्यादिप्रतिपादनार्थाऽतिदेशद्वयी, तद्यथा—यथासंख्यमन्वयाद्व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेश्च "वेअ" त्ति नामेतरप्रकृतिमध्याद् वेदप्रकृतित्रयस्य स्यान्नियतबन्धादि "दुइअ-णिरय" त्ति अनन्तरं द्वितीयनरकमार्गणायां प्रथमवर्जसंहननसंस्थानप्रधानसंनिकर्षे दर्शिततत्तद्वेदप्रकृतिस्यान्नियतबन्धादिवद्वाच्यम्, "अण्णेसिं" ति वेदत्रय-नामप्रकृतिवर्जान्यप्रकृतिस्यान्नियतबन्धादिकं पुनः "थिव्व" त्ति अनन्तरगाथायां "सेसाण दुइअणिरयव्व" इति शेषप्रकृत्यन्तर्गता या स्त्रीवेदप्रकृतिस्तत्प्रधानवक्ष्यमाणसंनिकर्षवद्वाच्यमित्यर्थः। चरमगाथायां "दुइअणिरयव्व" इत्यस्योत्तरं "नवर" मित्यध्याहृतं द्रष्टव्यम्, तथाच "व उज्जोअस्स" इत्यादि 'सेसाण दुइअणिरयव्व" इत्यत्रातिदेशेऽपवादस्थानीयं भवेदिति। उपपत्तिस्तु द्वितीयभूमिनरकभेदादिवत्कार्या, केवलमिह प्रथमगुणस्थाने मनुष्यद्विकस्य बन्धाभावेन यावत् सम्यक्त्वाभिमुखावस्थायां मिथ्यात्वाद्यष्टप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्तावदपि तिर्यग्द्विक-नीचैर्गोत्रे ध्रुवं तथोद्योतनाम स्याद् बध्यते, तथाच मिथ्यात्वाद्यष्टकेन समं तिर्यग्द्विकादिचतुष्टयं संगृह्य तत्प्रधानसंनिकर्ष आद्यगाथया भणितः, द्वितीयभूमिनरकभेदादौ यस्तिर्यग्द्विकादिप्रकृतिचतुष्टयस्य स्वस्थानविशुद्धमिथ्यादृशां जघन्यस्थितिबन्ध इतिकृत्वा तिर्यगायुष्कप्रधानसंनिकर्षे तासां तिर्यग्द्विकादीनां स्थितिबन्धोऽनुद्घाट्य मुकुलित एव स्थापितः स त्विह मिथ्यात्वाद्यष्टकवत्संख्येयगुणाभ्यधिको गम्यत इति संख्येयगुणाभ्य-

धिक उक्तः। एवं चरमगाथायां "सेसाण" इत्यत्रप्रविष्टस्त्रीनपुंसकवेदप्रधानसंनिकर्षे उद्योतादिप्रकृति-चतुष्टयसंख्येयगुणाभ्यधिकस्थितिबन्धलक्षणापवादपदेऽपि ज्ञेयम् । शेषं सुगममिति ॥१४२१-२६॥

अथ क्रमप्राप्ततिर्यग्गत्योघमार्गणायां प्रस्तुतं निर्माणपुंस्तुल्यवक्तव्यत्वान्मत्यज्ञान-श्रुताज्ञानो ऽभव्य-मिथ्यात्वमार्गणास्वपि सममेवाहैकोनविंशतिगाथाभिः —

[१] एगस्स हस्सबंधी तिरिये दुअणाणअभविमिच्छेसुं । धुव-रइ हस्स-पुरिस-तिरिणरुभयजोग्गसुहसेसाओ ॥
[२] णियमाऽण्णेसिं दुविहं वुज्जोअ तिरिणरगोअजुगलाणं । एवं सि सत्तण्हं णवरि णरदुगुच्चलहुबंधी ॥
[३] णो चेव बंधए खलु तिरिदुग-उज्जोअ-णीअगोआणि । णेव णरदुगुच्चाइं तिरिदुग-उज्जोअ णीअलहुबंधी ॥
[४] एगस्स असाय-अरइ-सोगजुगल-अथिर-असुह अजसाओ । लहुबंधी बंधइ लहुमलहुं व ठिइं सिआऽण्णेसिं ॥
[५] पडिवक्खु-ज्जोअ-तिरियणरगोअदुगाणऽसखभागहियं । णियमा धुव-पुम-सुहतिरिणरुभयगइजोग्गसेसाणं ॥
[६] थीलहुबंधी जुगल-तिसंघयणागिइ-थिराइजुगलाण । गोअ-तइअ-तिरिणरदुग-उज्जोआण व असंखभागहियं ॥
[७] बंधइ णियमा खलु धुव-सेससुहतिरिणरउभयजोग्गाण । एव णपुमस्स णवरि पणसंघयणागिईण सिआ ॥
[८] णिरयाउहस्सबंधी णियमा बंधेइ संखभागहियं । अहवा संखगुणहियं णिरयविउव्वियदुगाण ठिइं ॥
[९] संखगुणहियं णियमा बंधइ सेसाण णिरयजोग्गाण । तिरियाउहस्सबंधी दुवेअणीअजुगलाण तहा ॥
[१०] उरलोवंग-छिवट्ठग-पणजाइ-तसाइतिजुगलाण सिआ अलहुं दुट्ठाणगयं णियमाऽणअपज्जतिरियजोग्गाण ॥
[११] मणुयाउहस्सबंधी सिआ खलु दुवेअणीअ-जुगलाणं । अलहुं दुट्ठाणगयं णियमाऽण्णअपज्जमणुयजोग्गाण ॥
[१२] देवाउहस्सबंधी संखगुणहियमुअ संखभागहियं । णियमा सुरविउव्वदुगाण सिआ पुमथीण संखगुणअहियं ॥
[१३] धुव-रइ हस्साण तहा तित्था-ऽऽहारदुगवज्जसेसाण । सुहसुरपाउग्गाण णियमा संखेज्जगुणअहियं ॥
[१४] णिरयदुगस्स जहण्णं बंधंतो बंधए सठाणव्व । णामाण सेसाणं णेरइयाउव्व ण तिआउ ॥
[१५] सुरविउवदुगाण लहुबंधी सट्ठाणगव्व णामाणं । णियमा संखगुणहियं धुव-साय-पुम-रइ-हस्स-उच्चाणं ॥
[१६] पणसंघयणागिइ-कुखगइ-दुहगतिगाण हस्सठिइबंधी । णामाण सठाणव्व उ सेसाणित्थिव्व णवरि भवे ॥
[१७] दुइआइदुसंघयणागिइलहुबंधी पुमस्स णियमाओ । सेसाण हस्सबंधी पुमथीण सिआ असंखभागहियं ॥
[१८] हुंड-छिवट्ठ-दुहगतिग-कुखगइबंधी असंखभागहियं । णपुमस्स वि कुणइ सिआ लहुबंधी सेसणामाणं ॥
[१९] णामाण सठाणव्व उ णियमा धुवबंधि णपुम णीआणं । कुणइ असंखसहियं दुवेअणीअ-जुगलाण सिआ ॥

॥१४२७-१४४५॥ (तृतीया षष्ठी दशम्येकादशी द्वादशी त्रयोदशी पञ्चदशी सप्तदशी च गीतिः)

(प्रे०) "एगस्स" इत्यादि, प्रस्तुतमार्गणापञ्चके हि जिननामा-ऽऽहारकद्विकविवर्जाः सप्तदशोत्तरशतप्रकृतयो बन्धप्रायोग्याः, तासु च वैक्रियाऽष्टक तिर्यग्मनुष्यायुर्द्वयं च विहाय शेषसप्तोत्तरशतप्रकृतीनां जघन्यस्थितिरेकेन्द्रियस्वामिका, वैक्रियाऽष्टकजघन्यस्थितिस्तु पञ्चेन्द्रियस्वामिका, तिर्यग्मनुष्यायुष्कजघन्यस्थितिबन्धस्वामिनस्त्वेकेन्द्रिया अन्येऽपि चेति स्वामित्वद्वारगतार्थम् । न च वैक्रियाष्टकवर्जनवोत्तरशतान्यतमप्रकृतिजघन्यस्थितिं बन्धतो वैक्रियाष्टकबन्धसम्भवः, एकेन्द्रियाणां वैक्रियाष्टकबन्धस्वामित्वाभावात् तिर्यग्मनुष्यायुष्कबन्धेनाऽपि वैक्रियाऽष्टकबन्धविरोधाच्च । तथाच वैक्रियाऽष्टकवर्जशेषप्रकृतिजघन्यस्थितिं बध्नतः कासाञ्चित् पूर्वदर्शितविच्छेदक्रमे प्रधानीकृतप्रकृत्या तुल्यस्थानगतानां जघन्योऽजघन्यो वा स्थितिबन्धो भवति, यथा प्रथमगाथापूर्वार्धे "धुवे" त्यादिना संगृहीतानां ध्रुवबन्ध्याद्येकोनसप्ततेर्मध्यादन्यतमस्याः प्रधानत्वे तच्छेषाणामष्टषष्टे-

उद्योतादीनां च सप्तानां जघन्यो वाऽजघन्यो वा स्थितिबन्धो भणितः, एवमेवोद्योतादेः प्रधानत्वे ध्रुवबन्ध्यादीनाम् , चतुर्थगाथायाममातवेदनीयादिषडन्यतमप्रधानत्वे शेषपञ्चानाञ्चेति । दर्शितविच्छेदक्रमे प्रधानीकृतप्रकृतिविच्छेदस्थानादुत्तरस्थानगतानां बध्यमानानां त्वसंख्येयभागाभ्यधिकोऽजघन्यस्थितिबन्ध एव जायते, न जघन्यः, यथा चतुर्थगाथायां "एगस्स असाय" इत्यादावमातवेदनीयादेः प्रधानत्वे "पडिवक्खुज्जोअ" इत्यादिना संगृहीतानां रतिहास्यादीनां "धुवे"त्यादिना संगृहीतानां ध्रुवबन्ध्यादीनां त्रिषष्टेश्च । स्त्रीवेदादेः प्रधानत्वे सर्वासां बध्यमानानां संख्येयभागाभ्यधिक एव, एवं तिर्यगाद्यायुष्कप्रधानत्वेऽपि सर्वासां तदानीं बध्यमानानाम् ,केवलमायुष्कद्वयजघन्यस्थितेरेकेन्द्रियेतरेषामपि स्वामित्वेन संख्येयगुणाभ्यधिकोऽपि लभ्यते, एकेन्द्रियेतरस्वाम्यपक्षेया । अत एव दशमगाथोत्तरार्धे एकादशगाथोत्तरार्धे च "अलहुं दुद्वाणगयं" इत्यनेन तिर्यगाद्यायुष्कप्रधानसंनिकर्षेऽसंख्येयभागाधिकः संख्येयगुणाधिकश्चेत्येवंरूपो द्विस्थानगतोऽजघन्यस्थितिबन्धो बोध्यः सातवेदनीयादीनाम्, वैक्रियाष्टकमध्यादपि देवनरकायुष्कस्य जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाः सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियाश्चेति द्विविधाः,शेषनरकद्विकादीनां षण्णां त्वसंज्ञिपञ्चेन्द्रिया एव, तथाच नरकदेवान्यतमायुष्कं बध्नतामसंज्ञिपञ्चेन्द्रियादिस्वामिनां भेदात् नरकद्विकवैक्रियद्विकयोर्देवद्विकवैक्रियद्विकयोर्वा संख्येयभागाभ्यधिकः संख्येयगुणाभ्यधिकश्चेत्येवं द्विस्थानगतः स्थितिबन्धो लभ्यते। शेषबध्यमानप्रकृतीनां तु संख्येयगुणाभ्यधिक एव,यतः शेषप्रकृतिजघन्यस्थितिरेकेन्द्रियस्वामिकेति । शेषं तु सुगमम् । नियतस्याद्बन्धादिकमपि तथाविधविच्छेदक्रममनुसृत्य तत्तत्प्रधानीकृतप्रकृतिजघन्यस्थितिं बध्नतां पारभविकप्रकृष्टतमोत्पत्तिस्थानाद्यनुसारेण भावनीयम् ; तथाच "एवं सिं सत्तण्हं" इत्यतिदेशे "णवरि" इत्यादिना "णीअ उच्चुबंधी" इत्यन्तेन यान्यपवादपदानि भणितानि तैर्मनुष्यद्विको च्चैर्गोत्रप्रधाने संनिकर्षे तिर्यग्द्विको-द्योत-नीचैर्गोत्राणां बन्धप्रतिषेधस्य लाभेऽपि, एवं तिर्यग्द्विकादिप्रधाने मनुष्यद्विकादेर्बन्धप्रतिषेधस्य लाभेऽपि योऽर्थापत्तिगम्य आद्ये उच्चैर्गोत्रादेर्नियतो बन्धो द्वितीये तु नीचैर्गोत्रादेरसौ च सोऽपि गम्येत । एवमन्यत्राऽपि तथाविधविच्छेदक्रमोत्पत्तिप्रश्नः प्रागनिर्वणितोऽर्थापत्तिगम्यार्थगमको ज्ञेय इति ।

अक्षरार्थोऽपि गतप्रायः, केवलम्-प्रथमगाथोत्तरार्धे "तिरिणरुभयजोग्गसुहसेसाओ" इत्यनेन पञ्चेन्द्रियजात्याद्या एकोनविंशतिः प्रकृतयः संगृहीताः, तद्यथा—सातवेदनीय-पञ्चेन्द्रियजात्यौदारिकद्विक-प्रथमसंहनन प्रथमसंस्थान सुखगति--पराघातो-च्छ्वास-त्रसदशकानीति । मनुष्यद्विकादीनामग्रहणं तु तासां शेषशुभत्वेऽपि तिर्यग्मनुष्योभयगतिप्रायोग्यत्वाभावादिति । एवमेवोत्तरत्र पञ्चमगाथादौ ज्ञेयम् । द्वितीयगाथापूर्वार्धे "तिरिणर" इत्यादावन्त्यो युगलशब्दः प्रत्येकं सम्बध्यते, तथाच तेन द्विकत्रयग्रहणम् । द्वितीयगाथोत्तरार्धे "सिं" इत्यनेन प्रत्यासत्त्योद्योतनाम तिर्यग्द्विकादिद्विकत्रयं चेति सप्तप्रकृतयः परामृश्यन्ते, "णरदुगुच्चे"त्यादि तृतीयगाथायां "णेव णरदुगुच्चाई"

इत्यादि च "एवं सिं सत्तण्ह" इत्यत्रातिदेशेऽपवादपदद्वयम्। चतुर्थगाथायां "अरइसोगजुगल" इत्यत्र युगलशब्दग्रहणं तयोरन्यतरस्याः प्रधानत्वे शेषाऽन्यस्या नियतबन्धप्रतिपादनार्थम्, प्रतिपक्षभूतस्य हास्यरतिलक्षणयुगलस्य बन्धप्रतिषेधार्थं च। पञ्चमगाथापूर्वार्धे "पडिवक्ख" इत्यस्य व्याख्यानं तु प्राक् सविशेषं कृतमेव। षष्ठगाथायाः पूर्वार्धे "जुगल" इत्यनेन व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेर्हास्यरति-शोकाऽरतिलक्षणं युगलद्वयं बोध्यम्, "तिसंघयण" इत्यत्र त्रिशब्द आकृतीत्यनेनेव स्थिरादियुगलेत्यनेनाऽपि सम्बध्यते, तथाच "जुगलतिसंघयण" इत्यादिना हास्यरति-शोका-ऽरति प्रथमादित्रिसंहनन-प्रथमादित्रिसंस्थान स्थिर-शुभ-यशःकीर्त्य ऽस्थिरा-ऽशुभा-ऽयशःकीर्तिलक्षणाः षोडश प्रकृतयो बोध्याः। इत्थमेव षष्ठगाथोत्तरार्धे "गोअ तइअ तिरि णरदुग" इत्यत्र द्विकशब्दस्य गोत्रादिना प्रत्येकं सम्बन्धाद् गोत्रद्वयं, तृतीयस्य वेदनीयाख्यमूलकर्मणो भेदद्विकं साता ऽसातवेदनीयलक्षणं, तिर्यग्द्विकं, मनुष्यद्विकं चेत्यर्थः सम्पन्नः। सप्तमगाथोत्तरार्धे "पणसंघयणे" त्यादिना चरमवर्जसंहननसंस्थानलक्षणप्रकृतिदशकसंग्रहः। अष्टमगाथोत्तरार्धे "अहवा" इति न मतान्तरसूचकमपि तु निरयद्विकादेरजघन्योऽपि स्थितिबन्धो भङ्गद्वयगत इति ख्यापनपरम्। भङ्गद्वैविध्यं च साधितमेव नरकायुर्जघन्यस्थितिबन्धकानां संज्ञ्यसंज्ञिलक्षणद्वैविध्यहेतुनेति। नवमगाथोत्तरार्धे "जुगलाण" इत्यनेन प्रागिव हास्यरति-शोकारतिलक्षणंयुगलद्वयं संगृहीतम्। एवमेवैकादशगाथापूर्वार्धेऽपि। दशमगाथोत्तरार्धे "दुट्ठाणगय" ति असंख्येयभागाधिक-सङ्ख्येयगुणाधिकजघन्यस्थितिबन्धलक्षणामलघुस्थितिमित्यर्थः। एवमेवैकादशगाथोत्तरार्धेऽपि। शेषाक्षरार्थः सुगमः, केवलं षोडशगाथोत्तरार्धे "सेसाणित्थिव्व" इत्यतिदेशे "लहुबंधी सेसणामाणं" इत्येतावद्वर्जे सप्तदशाऽष्टादशगाथेऽपवादरूपे। अष्टादशगाथोत्तरार्धे "लहुबंधी सेसणामाणं" इत्यत्र "सेस" इति शब्देन भणितशेषजातिचतुष्क-स्थावरचतुष्का-ऽऽतपनामलक्षणनवप्रकृतिप्रधानसंनिकर्षोऽभिहित इति ॥१४२७-४५॥

अथ क्रमप्राप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगोघ-तत्पर्याप्त-तिरश्चीलक्षणमार्गणात्रये प्रस्तुतसंनिकर्षमाह—

१ एगस्स हस्स-रइ-पुम-धुव सुहदेवारिहाउ लहुबंधी। तिपणिंदियतिरियेसुं णियमाऽण्णाण लहुमलहुं वा॥
२ एगस्स असाय-अरइसोगजुगल अथिर-असुह-अजसाओ। लहुबंधी बंधइ लहुमलहुं व ठिइ सिआऽण्णेसिं॥
३ तप्पडिवक्खाण सिआ सखियभागाहिय ठिइ णियमा। पुम-धुवबंधीण तहा सुहसुरजोग्गाण सेसाणं॥
४ थीलहुबंधी बंधइ सिआ खलु दुवेअणीअजुगलाणं। णरसुरुरलविउवदुग-तिसंघयणागिइथिराइजुगलाणं॥
५ सखंसहियं णियमा धुव सेससुहणरदेवजोग्गाण। णपुमस्स हस्सबंधी दुवेअणीयजुगलाण तहा॥
६ संघयणागिईणं पंचण्ह थिराइतिजुगलाण सिआ। सखंसहियं णियमा धुव-सुहसेसणरजोग्गाणं॥
७ णिरयाउहस्सबंधी सखगुणहियमुअ संखभागहियं। णियमा इगसयरीए सेसाण णिरयजोग्गाणं॥
८ तिरियाउहस्सबंधी सिआ खलु दुवेअणीअजुगलाणं। पणजाइ-उरलुवंगग-छिवट्ठ तितसाइजुगलाणं॥
९ बंधेइ ठिइं सखियभागाहियमहव संखगुणअहियं। णियमा गुणसट्ठीए सेसअपज्जतिरिजोग्गाणं॥

१० मणुयाउहस्सबंधी सिआ खलु दुवेअणीअजुगलाणं । दुट्ठाणगयं णियमा सेसअपज्जणरजोग्गाणं ॥
११ देवाउहस्सबंधी पुमधीण सिआ ठिइ दुठाणगय । णियमा रइहस्साणं धुव-सुहसेससुरजोग्गाण ॥
१२ एगस्स हस्सबंधी णिरयदुगाऽण्णस्स हस्समियरं च । णियमा सखसहिय सेसाण णिरयजोग्गाण ॥
१३ णिरयव्व णीअ-पणसंघयणागिइ-दुहगतिग-कुखगईणं । तिरिदुगउज्जोआण णरुरलदुग-वइरलहुबंधी ॥
१४ णामाण सठाणव्व उ धुव-पुरिसु-च्चाण बंधए णियमा । सखेज्जभागअहिय दुविअणीअजुगलाण सिआ ॥
१५ सेसाणं णामाणं लहुबधो बधए सठाणव्व । णामाण णियमाओ धुवबधि-णपुंस-णीआणं ॥
१६ बधइ सखंसहिय सिआ खलु दुवेअणीअजुगलाणं ॥१४४६–१४६१...॥ (चतुर्थी षोडशी च गीतिः)

(प्रे०)''**एगस्स हस्स**''इत्यादि, तत्र प्रथमगाथया हास्याद्येकसप्ततिप्रकृतिप्रधानः प्रस्तुतसंनिकर्षः, द्वितीयादिगाथाद्वयेनाऽसातवेदनीयादिषट्प्रकृतिप्रधानः प्रस्तुतसंनिकर्षः, चतुर्थादिसार्धगाथया स्त्रीवेदप्रधानः, पञ्चमगाथोत्तरार्धप्रभृतेः सार्धगाथया नपुंसकवेदप्रधानः, सप्तमगाथया नरकायुष्कप्रधानः, अष्टमनवमगाथाद्वयेन तिर्यगायुष्कप्रधानः, दशमगाथया मनुजायुःप्रधानः, एकादशगाथया देवायुष्कप्रधानः, द्वादशगाथया निरयद्विकप्रधानश्चामावुक्तः,पादोनत्रयोदशगाथया तु नीचैर्गोत्रद्वितीयादिसंहननपञ्चकप्रभृत्यष्टादशप्रकृतिप्रधानोऽसौनरकमार्गणोक्तैतत्प्रकृतिप्रधानप्रस्तुतसंनिकर्षवदतिदिष्ट', ''**णरुरलदुगवइरलहुबंधी**''इत्येतावता त्रयोदशगाथाचरमांशेन चतुर्दशगाथया च मनुष्यद्विकादिपञ्चप्रकृतिप्रधानः, पञ्चदशादिसार्धगाथया भणितशेषजातिचतुष्क-स्थावरचतुष्का ऽऽतपनामलक्षणनवप्रकृतिप्रधानश्च प्रस्तुतसंनिकर्षो निरूपित इत्येवमक्षरार्थादि सर्वं प्राग्वद् द्रष्टव्यम्, प्रपञ्चितप्रायत्वान्न पुनः पुनः प्रपञ्च्यते, केवलं मूलोपपादकं स्वामित्वं किञ्चित्स्मार्यते । तद्यथा—प्रस्तुतमार्गणासु हि सर्वासां बन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनोऽसंज्ञिजीवाः, केवलमायुश्चतुष्टयस्य संज्ञिनोऽपि, अत एव तिर्यग्गत्योघादिमार्गणावत्प्रस्तुतमार्गणास्वपि आयुश्चतुष्टयप्रधानसंनिकर्षे शेषबध्यमानप्रकृतीनां संख्येयगुणसंख्येयभागाभ्यधिकजघन्यस्थितिबन्धलक्षणद्विस्थानपतितस्थितिबन्धो दर्शितः, आयुश्चतुष्टयवर्जशेषप्रकृतिप्रधानसंनिकर्षे तु शेषाणां स्याद्बन्धानां नियतबन्धानां वा सर्वासां प्रकृतीनां मध्यात्प्रधानीकृतप्रकृत्या तुल्यस्थानगतानां जघन्यादिद्विविधान्यतरस्थितेस्तथोत्तरस्थानगतानां संख्येयभागाभ्यधिकजघन्यस्थितिबन्धलक्षणैकस्थानपतित एव स्थितिबन्धो भणित इति ।

इदन्त्ववधेयम्—तृतीयगाथादौ ''**सुहसुरजोग्गाण सेसाणं**'' इत्यादिना यथाश्रुतं भणितशेषसुरादियोग्यशुभानामध्रुवबन्धिप्रकृत्यन्तर्गततया देवादिशुभायुषां ग्रहणमापद्यते परं कस्या अपि आयुष्केतरप्रकृतेर्जघन्यस्थितिं बध्नतो न भवत्यायुष्कस्य बन्ध इति कृत्वा व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेस्तेन तेन ''**सुहसुरजोग्गाण**'' इत्यादिनाऽऽयुष्कवर्जशेषसुरादियोग्याऽध्रुवबन्धिनीनां संग्रहो बोध्य इति । इत्थमेव पूर्वमुत्तरत्र च विभाव्यमिति ॥१४४६ १४६१॥

तराऽधमतमाः, यद्येवं तथाऽपि पञ्चेन्द्रियजातेरुत्कृष्टस्थितिबन्धो विंशतिसागरोपमकोटीकोट्यो लभ्यते, एवमेकेन्द्रियजातेरप्युत्कृष्टस्थितिबन्धो विंशतिसागरोपमकोटीकोट्यो लभ्यते, चतुरिन्द्रियादिजातित्रयस्य त्वष्टादशसागरोपमकोटीकोट्य एव, तदत्र किं रहस्यम्? इति चेत्, पञ्चेन्द्रियजातेः शुभत्वेऽपि सा कैश्चित्पर्याप्तसंज्ञीपञ्चेन्द्रियजीवैरेकेन्द्रियजातिवदोघोत्कृष्टसंक्लेशेनाऽपि निर्वर्त्यते, न पुनः विकलेन्द्रियत्रिकम्, तथा च शुभायाः पञ्चेन्द्रियजातेरुत्कृष्टस्थितेर्विंशतिसागरोपमकोटिकोटीप्रमाणभावेऽपि विकलेन्द्रियजातित्रयस्य सा तावती न बध्यते। इदमुक्तं भवति–मनुष्यतिरश्चां ततश्च्युत्वाऽनन्तरभवे नारकतयोत्पत्तेः सम्भवेनौघोत्कृष्टसंक्लेशे सति ते नरकगतिप्रायोग्यप्रकृतीर्बध्नन्तः पञ्चेन्द्रियजातिमवश्यं बध्नन्ति, एवं देवानामनन्तरभवे एकेन्द्रियतयोत्पत्तेः सम्भवेनौघोत्कृष्टसंक्लेशे ते एकेन्द्रियप्रायोग्याः प्रकृतीर्बध्नन्त एकेन्द्रियजातिं बध्नन्त्येव, ओघोत्कृष्टसंक्लेशे बध्यमानयोश्च तयोरुत्कृष्टस्थितिबन्धोऽपि विंशतिसागरोपमकोटीकोट्यो जायते, न च विकलत्रिकं केनाऽपि जीवेनौघोत्कृष्टसंक्लेशे निर्वर्त्यते, चतुरिन्द्रियादिजातित्रयस्य केषामपि जीवानां स्वप्रायोग्यपारभविकसर्वनिकृष्टस्थानत्वाऽभावात्, अयम्भावः–तिर्यग्मनुष्याणां स्वप्रायोग्यपारभविकसर्वनिकृष्टं स्थानं नरकगति-पञ्चेन्द्रियजात्यादिरूपम्, नारकाणां तु तत् तिर्यग्गति-पञ्चेन्द्रियजात्यादिलक्षणम्, देवानां पुनस्तिर्यग्गत्येकेन्द्रियजात्याद्यात्मकम् इत्यादि प्राग् मूलस्थितिबन्धविधानद्वितीयाधिकारकालद्वारवृत्तौ (पृष्ठ-१५५...) विवृतमस्माभिर्विस्तरतः, कृष्णलेश्याकपर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्याणां शुक्लेतरलेश्याकदेवानां नारकाणां चौघोत्कृष्टसंक्लेशसम्भवः, नेतरेषाम्, तत्र पर्याप्तसंज्ञितिर्यग्मनुष्याः स्वप्रायोग्ये ओघिकोत्कृष्टसंक्लेशे वर्तमानाः सन्तो ज्ञानावरणादिध्रुवबन्धिनीनामिव नरकगति-पञ्चेन्द्रियजाति-वैक्रियदेह-वैक्रियाङ्गोपाङ्ग-हुंडसंस्थाना-ऽशुभवर्णचतुष्कनरकानुपूर्वी-कुखगत्यादिप्रकृतीर्निर्वर्तयन्ति, नारकास्तु ओघोत्कृष्टसंक्लेशसद्भावे तिर्यग्गति-पञ्चेन्द्रियजात्यादिप्रकृतीर्निर्वर्तयन्ति, ईशानान्ता देवास्तु बादरपर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्यास्तिर्यग्गत्यादिप्रकृतीर्बध्नन्ति, उपरितनाः सहस्रारान्ता अपि तिर्यग्गति-पञ्चेन्द्रियजात्यादिप्रकृतीरेव निर्वर्तयन्ति, एवं चौघोत्कृष्टसंक्लेशसद्भावे केषाञ्चिदपि जीवानां विकलत्रिकादीनां सूक्ष्मत्रिकादीनां वा प्रकृतीनामबन्धाद् ओघतोऽपि तासामुत्कृष्टस्थितिबन्धोऽष्टादशसागरोपमकोटीकोट्य एव जायते, न पुनः पञ्चेन्द्रियजात्यादिवद् विंशतिकोटीकोटीसागराः। इत्थमेव तत्तज्जीवानां बन्धप्रायोग्यसाताऽसातवेदनीयादिपरावर्तमानप्रकृतीनां मध्येऽसातवेदनीयाद्युत्कृष्टस्थित्यपेक्षया सातवेदनीयादीनामुत्कृष्टस्थितेर्ह्रस्वत्वम्, सातवेदनीयादीनां जघन्यस्थित्यपेक्षयाऽसातवेदनीयादीनां जघन्यस्थितेर्दीर्घत्वमोघतो मार्गणास्थानेषु चाऽभ्यूह्यम्।

ननु मोहनीयोत्तरप्रकृत्युत्कृष्टस्थितिबन्धमानस्य मिथ्यात्वमोहनीय-कषायमोहनीय-नोकषायमोहनीयादिप्रकृतिभेदेनाऽतुल्यत्वेऽपि यथा मोहनीयाख्यमूलप्रकृतेरुत्कृष्टस्थितिबन्धमानं प्राग्

ओघव्व स ण्णियासो होइ लहुठिईअ तिणरसण्णीसु । साया-ऽऽवरणणवग-पुम-संजलण-जसु-च्च-विग्घाण ॥
णिरयाउस्स वि णेयो ओघव्व णवरि सय तु ठिइमाण । णिरयदुगस्स विउव्वियदुगस्स सखेज्जगुणअहिय ॥
देवाउहस्सबंधी पुरिसस्स सिआ असंखगुणअहियं । णियमा आवरणणवग-संजलण-जसु-च्च साय-विग्घाणं ॥
थीअ व संखगुणहियं णियमा-ऽऽहारदुगतित्थवज्जाणं । सुरजोरगऽण्णसुहाणं सेसधुवाण रइ-हस्साणं ॥
विक्किियछक्का-ऽऽहारगदुग तित्थाणं जहण्णठिइबंधी । णामाण सठाणव्व उ बंधइ ओघव्व सेसाणं ॥
णवरि सुरविउव्वियदुगलहुठिइबधी ण चेव बंधेइ । पणणिद्दा ऽऽइमबारसकसाय-मिच्छत्तमोहाणि ॥
असमत्तणरव्व भवे सेसाण परं असंखगुणअहियं । साय-णवाऽऽवरण-पुरिस-सजलण जसु-च्च-विग्घाणं ॥
॥१८६४-७०॥ (तृतीया गीति)

(प्रे०) "**ओघव्व**" इत्यादि, **अयम्भावः**-अनन्तरभणिताऽपर्याप्तमनुष्यमार्गणायामपि वैक्रियाऽष्टकं पञ्चविंशतिक्षपकप्रकृतीश्च विहाय शेषसप्ताशीतिप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनोऽसंज्ञित्वपश्चात्कृतादयस्तुल्या एव, तथाच तत्प्रधानसंनिकर्षोऽपि अपर्याप्तमनुष्यमार्गणावदेव लभ्यते, केवलं तत्र बन्धप्रायोग्यजिननामाहारकद्विकवर्जानां द्वाविंशतेः क्षपकप्रकृतीनां जघन्यस्थितेरपि प्रधानीकृतस्यानद्वित्रिचादिप्रकृतिवत्पश्चात्कृतासंज्ञित्वादिलक्षणजीवस्वामिकत्वेन तासां स्थितिबन्धो यथासम्भवं जघन्यो वा जघन्यतः संख्येयभागादिनाऽभ्यधिको नानाविधो वा भणितः स त्वत्राऽसंख्येयगुणाभ्यधिको लभ्यते, प्रस्तुते क्षपकप्रकृतीनां जघन्यस्थितेरन्तर्मुहूर्तादिमात्रत्वात् , तदपेक्षयाऽसंज्ञिस्वामिकस्य तासां जघन्यस्थितिबन्धस्याऽपि असंख्येयगुणत्वाद् , अतोऽसौ चरमगाथया सापवादमतिदिष्टः, तत्र '**सेसाण**'' इत्यनेन वैक्रियाष्टकक्षपकप्रकृतिवर्जा निद्राद्विकाद्याः सप्ताशीतिप्रकृतय एव बोध्याः । यास्तु पञ्चविंशतिः क्षपकप्रकृतयस्तन्मध्याज् जिननामा-ऽऽहारकद्विकं च विहाय शेषद्वाविंशतेर्जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनस्तु सर्वथा ओघवदेव, न च तज्जघन्यस्थितिं बध्नतां क्षपकेतरस्वामिकजघन्यस्थितिबन्धानां प्रकृतीनां बन्धोऽपि भवति; जिननामा-ऽऽहारकजघन्यस्थितेः क्षपकस्वामिकत्वेऽपि तां बध्नतां तु क्षपकेतरस्वामिकजघन्यस्थितिबन्धानां देवगत्यादिप्रकृतीनां मध्याद्देवगत्यादेर्बन्धः प्रवर्तत एव, न च तासां देवगत्यादीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामिन इहौघिकाः, ओघेऽसंज्ञिनां प्रवेशेऽपि इह तेषामप्रवेशात् , पश्चात्कृतासंज्ञित्वभावानां प्रविष्टत्वेपि तेषां देवगत्यादेर्बन्धाभावाच्च, तथाच प्रस्तुते देवद्विकवैक्रियद्विकयोर्जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनो जिननामजघन्यस्थितिबन्धवत्क्षपका एव,तदेवं तासां तिसृणां मध्यादेकस्या जघन्यस्थितिं बध्नतः शेषयोर्द्वयोर्जघन्यो वाऽजघन्यो वा स्थितिबन्धः प्रवर्तते, स च तासां स्वस्थानजघन्यस्थितिबन्धसंनिकर्षे दर्शित एव । शेषाणां वध्यमानानां क्षपकस्वामिकजघन्यस्थितिबन्धानां मतिज्ञानावरणादीनां पश्चात्कृतासंज्ञित्वजीवस्वामिकानां निद्रापञ्चकादिवर्जाना हास्यादीनां वा स्थितिबन्धस्तु स्वस्वजघन्यतः संख्येयगुणाभ्यधिक एव लभ्यते, कथम् ? जिननामौघिकजघन्यस्थितिं बध्नतां देवद्विक-वैक्रियद्विकवर्जशेषप्रकृतिबन्धन्यायेन । एवमेव नरकद्विकजघन्यस्थितिबन्धस्येह संज्ञिस्वामिकत्वेऽपि तत्प्रधानसंनिकर्षे

अथ क्रमप्राप्ताऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणायां प्रस्तुतसंनिकर्षं सापवादाऽतिदेशेन प्रतिपिपादयिषुस्तत्तुल्यवक्तव्योपेताऽपर्याप्तमनुष्या ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिया ऽपर्याप्तत्रसमार्गणा विकलेन्द्रियमार्गणानवकं च सममेव संगृह्य प्राह—

. । असमत्तपणिंदितिरियमणुयपणिंदितससव्वविगलेसुं ॥
णेयो तिरियणराउग-थावरजाइचउगा ऽऽयवाणं तु । पंचिंदियतिरिव्व उ णिरयव्व हवेज्ज सेसाणं ॥
णवरि सयलविगलेसु बधइ तिरियमणुयाउलहुबंधी । सखंसहियं चिअ सखगुणहियं चिअ अपज्जणरे ॥
॥…१४६२-६३ ॥

(प्रे०) "असमत्ते" त्यादि, अक्षरार्थः सुगमः, केवलं "तिरियणराउग" इत्यत्राऽऽयुष्कशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् तिर्यगायुष्कस्य नरायुष्कस्य च संग्रहः, एवमेव "थावरजाइचउग" इत्यत्र चतुष्कशब्दस्याऽपि, तथाचाऽऽयुष्कद्वय-जातिचतुष्क-स्थावरचतुष्का-ऽऽतपनामलक्षणैकादशप्रकृतिप्रधानसंनिकर्षः "पंचिंदियतिरियव्व उ" इत्यनेनातिदिष्टः । शेषाऽष्टनवतिप्रकृतिप्रधानस्तु "णिरयव्व हवेज्ज सेसाण" इत्यनेन निरयगत्योघवद्भणितः, सा चातिदेशद्वयी सुगमा, पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघादिमार्गणास्वपि सम्यक्त्वाद्यभिमुखावस्थाया अन्यत्र वर्तिनां मिथ्यात्वलक्षणैकगुणस्थानगतानामसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाद्येकरूपाणां जीवानां बन्धप्रायोग्यप्रकृतिजघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वात् ,केवलं पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघे तिर्यग्मनुष्यायुषोः संज्ञिनोऽपि जघन्यस्थितिबन्धस्वामिन आसन् , इह तु विकलमार्गणास्थाननवके केवला असंज्ञिन एव, न पुनः संज्ञिनोऽपि, तथाच तदायुर्द्वयजघन्यस्थितिं बध्नतो बध्यमानानां शेषप्रकृतीनामपि एकविधः संख्येयभागाधिको जघन्यस्थितिबन्ध एव जायते, अपर्याप्तमनुष्यमार्गणायां पश्चात्कृतासंज्ञित्वभावानां जीवानां प्रवेशेऽपि आयुष्कद्वयजघन्यस्थितिबन्धस्वामिनस्तु केवलाः संज्ञिन एव, तथाच तस्यामायुष्कद्वयजघन्यस्थितिं बध्नतः शेषबध्यमानप्रकृतीनामेकविधः सख्येयगुणाभ्यधिको जघन्यः स्थितिबन्ध एव लभ्यत इत्यतः "णवरि" इत्यादिगाथयाऽपवादद्वयी भणितेति । **ननु** भवत्वेवं विकलेन्द्रियमार्गणाभेदनवके संख्येयभागाभ्यधिकजघन्यस्थितिबन्धलक्षण एक एव विकल्पः, अपर्याप्तमनुष्यमार्गणायां तु संज्ञिजीवानामिवासंज्ञिजीवानामपि प्रवेशेनाऽपवादानकाश एव ? **इति चेत्, सत्यम्** ,परमत्र ग्रन्थे मनुष्यमार्गणायामपर्याप्तमनुष्यमार्गणायां वा **प्राच्यशतक**वन्नाधिकृता असंज्ञिनः, विवृतं चैतत्प्राग् **मूलस्थितिबन्धद्वितियाधिकारैकजीवाश्रयकालद्वारे** अत्थ विसेसो'(१२१-१२२)इत्यादिगाथाद्वयवृत्तावस्माभिः,तथा चाऽपर्याप्तमनुष्यमार्गणायामप्येक एव विकल्प इति सर्वं समञ्जसमेवेति ॥१४६२-६३॥

अथाऽपर्याप्तमनुष्यमार्गणायामनुपदं प्रस्तुतसंनिकर्षस्य प्रतिपादितत्वात् क्रमप्राप्तमनुष्यौघादिशेषमनुष्यगतिमार्गणाभेदत्रये प्रस्तुतसंनिकर्षं सापवादमतिदिदिक्षुस्तुल्यवक्तव्योपेतसंज्ञिमार्गणामपि सहैव संगृह्याह—

(प्रे०) "ओइसकप्पदुगेसु" इत्यादि, इहापि अतिदेशद्वयमनन्तरभणितनीत्या विच्छेदक्रम-तौल्यादिना विभावनीयम् . केवलं स्वामित्वकृतो यो विशेषस्तत्प्रयुक्तावपवादौ भणितावेव, तौ पुनरेवं भाव्येते–एकेन्द्रियादिप्रकृतित्रयान्यतमजघन्यस्थितिं बध्नतो याः स्याद्बन्धा नियतबन्धा वा प्रकृतय-स्तन्मध्यात् नपुंसकवेदाद्याः "णपुम" इत्यादिद्वितीयगाथापूर्वार्धभणितास्ताः सप्त विहाय शेषाणां कासाञ्चिन्मतिज्ञानावरणादीनां जघन्यस्थितिः सम्यग्दृष्टिस्वामिका, कासाञ्चित्स्त्यानर्द्धित्रिकादीनां तु सा सम्यक्त्वाभिमुखस्वामिका; "णपुमे"त्यादिना संगृहीतानां तु प्रधानीकृतैकेन्द्रियजात्यादिप्रकृति-वत्स्वस्थानविशुद्धमिथ्यादृष्टिस्वामिका इत्यत एकेन्द्रियादिजघन्यस्थितिं बध्नतो नपुंसकवेदादीनां तिर्यक्पञ्चेन्द्रियौघमार्गणावत् संख्येयभागाभ्यधिकजघन्यस्थितिबन्धभावेऽपि मतिज्ञानावरणादीनां त्वसौ संख्येयगुणाभ्यधिक एवेह लभ्यते । अभिमुखावस्थाभाविविशुद्धौ जायमानस्थितिबन्धापेक्षया स्वस्थानविशुद्धौ जायमानस्थितिबन्धस्य संख्येयगुणाभ्यधिकता तु प्रागनेकशः प्रतिपादितेति तथैव भावनीया । द्वितीयापवादस्तु द्वितीयनरके नासीदेकेन्द्रियस्थावरातपानां बन्धः, नारकाणामेकेन्द्रिय-प्रायोग्यबन्धाभावात् , इह पुनरसौ भवति, ईशानान्तदेवानामेकेन्द्रियेष्वप्युत्पादात् ,न केवलं तावत्, तेषां बन्धप्रायोग्यतिर्यगायुष्कजघन्यस्थितेः पञ्चेन्द्रियैरिवैकेन्द्रियैरपि वेद्यतया तिर्यगायुष्कजघन्य-स्थितिं बध्नतामपि एकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धसम्भवः, एकेन्द्रिय पञ्चेन्द्रियोभयप्रायोग्यबन्धसम्भवे तु तासामेकेन्द्रियजात्यादीनां तिसृणां तथा ता बध्नतोऽबन्धप्रायोग्याणां पञ्चेन्द्रियजाति-त्रसौ-दारिका-ङ्गोपाङ्गनाम्नां चेह स्याद्बन्धो लभ्यत इति । एकेन्द्रियजात्यादीनां तिसृणां स्थितिबन्धमानस्य मुकुलितवर्जनं तु तत्र द्वितीयनरकमार्गणायां तिर्यगायुष्कप्रधानसंनिकर्षे यथा तिर्यग्द्विकादिस्थिति-बन्धमुकुलितवर्जनं कृतं तथाऽनवगतेरिति ॥१५७३-१५७५॥

अथ क्रमप्राप्तसानत्कुमारादि-नवमग्रैवेयकान्तैकोनविंशतिदेवगतिमार्गणासु तुल्यवक्तव्यत्वाद् युगपदतिदिशन्नाह—

गेविज्जंतसुरेसुं सणकुमाराइगेसु विण्णेयो। सप्पाउग्गाणं खलु सव्वेसिं बीअणिरयव्व ॥१५७६॥

(प्रे०) "गेविज्जंतसुरेसु" इत्यादि, सुगमा, केवलं 'सप्पाउग्गाण'मिति ग्रहणमान-तकल्पादौ तिर्यग्द्विकादेर्बन्धाभावेन तत्प्रधानसंनिकर्षस्य प्रस्तुते प्रतिषेधार्थम् । न च तिर्यग्द्विकादे-र्बन्धाभावेन तत्प्रयुक्तस्तदन्यप्रकृतिप्रधानसंनिकर्षे कश्चिद्विशेषोऽपि भवति, द्वितीयनरकमार्गणाया-मपि तिर्यग्द्विकाद्यन्यप्रकृतिप्रधानसंनिकर्षे तिर्यग्द्विकादीनां सर्वथा बन्धाभावादिति । सन्निकर्षस्तु प्रागिव स्वयमेव विभावनीय इति ॥१५७६॥

अथ क्रमप्राप्तानुत्तरदेवभेदपञ्चकलक्षणदेवगतिशेषमार्गणासु प्रस्तुतमाह—

पचसु अणुत्तरेसु धुवबधीउ रइ-हस्स-पुरिसाओ । तित्था-ऽऽउगवज्जाउ अधुवबधीओ पसत्थाओ ।
एगस्स हस्सबधी णियमाऽण्णेसिं जहण्णमियर वा । बंधइ तित्थस्स सिआ एमेव हवेज्ज तित्थस्स ॥

मतिज्ञानावरणादीनां निद्रापञ्चकादीनां वा स्थितिबन्ध ओघे नरकद्विकजघन्यस्थितिबन्धसंनि-कर्षवदेव लभ्यते नरकद्विकं बध्नतां स्वस्थानविशुद्धमिथ्यादृशां तथाविधाऽसंज्ञिनां च मतिज्ञाना-वरणाद्यौघिकजघन्यस्थितितोऽसंख्येयगुणस्थितिबन्धभावात् निद्रापञ्चकादिजघन्यस्थितितः संख्येय-गुणाधिकस्य स्थितिबन्धस्य च भावात् , इत्यतो जिननामाऽऽहारकद्विकं विहाय शेषक्षपकप्रकृति-प्रधानसंनिकर्षे "ओघव्व" इत्यादिप्रथमगाथया सर्वथा ओघवदतिदिश्याऽपि वैक्रियषट्का-ऽऽहारक-द्विक-जिननामप्रधानोऽसौ "विक्कियछक्का" इत्यादिगाथाद्वयेन यथासम्भवं स्वस्थानसंनिकर्षवदो-घवच्च सापवादमतिदिष्टः । उक्तनीत्या देवायुष्कप्रधानप्रस्तुतसंनिकर्षोऽपि ओघवदेव लभ्यते, केवलं प्रस्तुते केवलानां संज्ञिनामेव देवायुष्कजघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वेन द्विविधस्वामिप्रयुक्तो य ओघतो वैक्रियद्विकादीनां चतसृणां प्रकृतीनां द्विभङ्गपतितः स्थितिबन्धः प्रदर्शितः स इहैकविध एव प्राप्यते । एवमेव नरकायुष्कप्रधानेऽपि, परं नरकायुष्कजघन्यस्थितिं बध्नतो नरकद्विकस्य यत्स्थितिबन्धमानं तत्तु स्पष्टं न गम्यत इत्यतो नरकायुष्कादिशेषायुष्कद्वयप्रधानसंनिकर्षो द्वितीया-दिगाथात्रयेण सविशेषमोघवद्दर्शित इति ॥१६६४-७०॥

अथ क्रमप्राप्तदेवौघादिदेवगतिमार्गणास्थानेषु प्रस्तुतसंनिकर्षं व्याजिहीर्षुर्देवौघ-भवनपति-व्यन्तरलक्षणमार्गणात्रये सापवादमतिदिशति—

सुर-भवण-वंतरेसुं एगिंदिय-थावरा-ऽऽयवाणं भवे । पंचिंदितिरियव्व उ णिरयव्व हवेज्ज सेसाणं ॥
णवरि सिआ तिरियाउगलहुबंधी बंधए दुजाईण । उरलोवंगा-ऽऽयव-तस-थावरणामाण संखगुणअहियं ॥
॥१६७१-७२॥ (द्वितीया ग तः)

(प्रे०) "सुरभवणवंतरेसु" इत्यादि, सुगमम् , पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघमार्गणायामेकेन्द्रि-यादिप्रकृतित्रयान्यतमजघन्यस्थितिं बध्नतो यादृशः प्रकृतिविच्छेदक्रमस्तादृश एव प्रस्तुतमार्गणास्वपि तां बध्नतः, स्वामिनोऽपि तासामेकेन्द्रियादिप्रकृतीनां जघन्यस्थितेरुभयत्र तुल्यप्राया एव, यतस्ते पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघेऽसंज्ञिनः प्रस्तुतमार्गणात्रये त्वसंज्ञित्वपश्चात्कृता इत्येवं लाघवार्थमतिदेशः कृतः । इत्थमेव "णिरयव्व हवेज्ज सेसाणं" इत्यतिदेशोऽपि विभावनीयः, केवलं तत्र योऽपवादः स नरकौघे तिर्यगायुर्जघन्यस्थितिं बध्नतां केवलपञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्यप्रकृतीनां बन्ध-भावेऽपीहैकेन्द्रियप्रायोग्यप्रकृतीनामपि बन्धप्रायोग्यतया तत्तत्प्रायोग्यं बध्नतामेकेन्द्रिय-पञ्चेन्द्रिय-जात्यादीनां बन्धवद् बन्धाभावस्याऽपि लाभेन षण्णामपि स्याद्बन्धलाभादिति ॥१६७१-१६७२॥

अथ क्रमप्राप्तज्योतिष्कादिदेवगतिमार्गणाभेदत्रये प्रस्तुतं प्राह—

जोइसकप्पदुगेसु एगिंदिय थावरा-ऽऽयवाण भवे । पंचिंदियतिरियव्व उ णवरं संखेज्जगुणअहियं ॥
णपुम-तिरियदुग हुंडग-दुहगा-ऽणादेय-णीअवज्जाणं । सेसाण दुइअणिरयव्व णवरि तिरियाउलहुबंधी ॥
णेयं सयं पमाणं एगिंदिय-थावरा-ऽऽयवाण सिआ । बंधइ संखगुणहिय पणिंदि-तस-उरलुवंगाण ॥
॥१६७३-७५॥

(प्रे०) "सप्पाउग्गाण" इत्यादि, सुगमे, प्रस्तुतैकेन्द्रियौघादिमार्गणासु बन्धप्रायोग्य-प्रकृतिजघन्यस्थितिबन्धस्वामिनां तिर्यग्गत्योघमार्गणासंबन्धिनां च तेषामेकरूपत्वात्, केवलं प्रति-पक्षप्रकृतिसहितबन्धप्रायोग्यतया तिर्यग्गत्योघे एकेन्द्रियौघादिषु वा मनुष्यगत्युच्चैर्गोत्रवत् तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोरपि यः स्याद्बन्धो लभ्यते स सर्वेषु तेजस्काय-वायुकायमार्गणास्थानेषु मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोर्मूलत एव बन्धाप्रायोग्यत्वेन नियतो लभ्यते इत्येतदेव "परं तिरिदुगणीआण" इत्यादिनाऽपोद्य भणितम्। "तह" इत्यादिना भणिताऽपवादान्तरं तु सुगमम्, तिर्यग-त्योघे एकेन्द्रियेतरजीवानामपि प्रवेशेन तदपेक्षया संख्येयगुणाभ्यधिकस्थितिबन्धस्याऽपि लाभेन शेषप्रकृतिस्थितिबन्धस्य द्विस्थानपतितत्वस्य सम्भवेऽपीह केवलानामेकेन्द्रियाणामेव प्रवेशेनाऽ-संख्येयभागाभ्यधिकताया एव सम्भवात्। विशेषतस्तु प्रागिवाभ्यूह्यमिति ॥१५८२-१५८३॥

अथ क्रमप्राप्तविकलेन्द्रियमार्गणास्थानेषु अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगोघादिमार्गणाभिस्तुल्य-प्रायवक्तव्यत्वात्प्राक् 'भममत्तपणिंदितिरियमणुयपणिंदि-तस-सव्वविगलेसु' ॥१४६२-६३॥ इत्यादिना भणितः प्रस्तुतसंनिकर्ष इति कृत्वा क्रमप्राप्तपञ्चेन्द्रियौघ-तत्पर्याप्तमार्गणयोराह—

साय-णवाऽऽवरण-पुरिस-सजलणा-ऽऽहारदुग-जिण जसाणं। तह पणविग्घु-च्चाणं ओघव्व भवे पणिंदिदुगे॥
सेसाण पणिंदितिरिव्व णवरि बंधइ असखगुणअहियं। साय-णवावरण पुरिस-संजलणा-जसुच्च विग्घाणं ॥१५८४-१५८५॥

(प्रे०) "साया ऽऽवरणो" त्यादि, तत्र प्रथमगाथासंगृहीतसातवेदनीय जघन्यस्थितिबन्ध-स्वामिनो य ओघे त एव प्रस्तुतमार्गणाद्वयेऽविशेषेण, शेषप्रकृतिजघन्यस्थितिबन्धस्वामिनोऽपि ये पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघमार्गणायां त एवेहापि, केवलं पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघे शेषप्रकृ [illegible]वदनन्तरोक्तसातवेद-नीयादीनां जिननामा-ऽऽहारकद्विकवर्जानां प्रकृतीनां स्वामिनोऽसंज्ञिन एवासन्, इह तु तेऽनन्तरोक्ता औघिकाः, औघिकसातवेदनीयादिजघन्यस्थितिबन्धापेक्षयाऽसंज्ञिस्वामिकः सातवेदनीयादिजघन्य-स्थितिबन्धस्त्वसंख्येयगुणो भवतीत्यतः "सेसाण पणिंदितिरिव्व" इत्यतिदिश्याऽपि 'णवरि बंधइ' इत्यादिनाऽपवादो भणित इति। शेषं सुगमम् ॥१५८४-१५८५॥

अथेन्द्रियमार्गणास्त्कायां क्रमप्राप्तायामपर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणायामपि विकलेन्द्रियमार्गणा-भेदवदपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिमार्गणाभिः सार्कं भणितः प्रस्तुतसंनिकर्षः, तथाच समाप्त एकोन-विंशतिसंख्याकेष्विन्द्रियमार्गणाभेदप्रभेदेषु प्रस्तुतसंनिकर्षः। तदनु क्रमप्राप्तकायमार्गणासम्बन्धिषु सर्वपृथिवीकाय-सर्वाऽप्काय-सर्ववनस्पतिकायमार्गणास्थानेषु तुल्यवक्तव्यमिति कृत्वा युगपत् साप-वादमतिदिशति—

असमत्तपणिंदितिरिव्व सव्वभूदगवणेसु सव्वेसिं। णवरि असखमहियं संखियगुणभागअहियथले। ॥१५८६॥

एगस्स असाय-अरइसोगजुगल-अथिर-असुह-अजसाओ । लहुबंधी बंधइ लहुमलहुं व ठिइं सिआऽण्णेसिं ॥
तप्पडिवक्खाण तहा तित्थस्स सिआ उ संखभागहियं । बंधइ णियमाऽऽणेसिं आउग-पडिवक्खवज्जाणं ॥
मणुयाउहस्सबंधी जिणस्स सायाइवारमण्ह सिआ । ठिइमाणं सयमुज्झ णियमाऽण्णाण अडवण्णाए ॥
॥१२७७-१२८१॥

(प्रे०) "पंचसु" इत्यादि, अक्षरार्थः प्राग्वत्, केवलं "धुवबंधीउ" इत्यनेन प्रस्तुतमार्गणाबन्धप्रायोग्या अनन्तानुबन्धिचतुष्टय-मिथ्यात्व स्त्यानर्द्धित्रिकवर्जा एकोनचत्वारिंशद्बोध्याः, इत्थमेवाऽध्रुवबन्धिन्योऽपि मार्गणाबन्धप्रायोग्या एव ग्राह्याः, तथाचाऽऽद्यगाथाद्वये प्रस्तुतमार्गणाबन्धप्रायोग्यद्विसप्ततिप्रकृतिमध्याद् असातवेदनीयाद्यष्टप्रकृतीर्विहाय चतुःषष्टिप्रकृतिप्रधानः संनिकर्षः साक्षात् तथा जिननामप्रधानः "एमेव हवेज्ज तित्थस्स" इत्येवंलक्षणेन द्वितीयगाथाचरमांशेनातिदेशेन भणित इति । तृतीयगाथायां "अरइसोगजुगल"इत्यत्र युगलशब्दः प्रागिवाऽरतिशोकयोर्युगपद्बन्धस्य बन्धाभावस्य चाभिधानाय । चतुर्थगाथापूर्वार्धे "तप्पडिवक्खाण" इत्यपि प्राग्वत्, केवलमसातवेदनीयादिप्रधानीकृतैकैकप्रकृतिप्रतिपक्षप्रकृतेर्वर्जनमिह चतुर्थगाथाप्रान्ते "आउगपडिवक्खवज्जाणं" इत्यनेन ग्रन्थकृता स्वेनैव कृतमिति 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्ति'रिति न्यायोऽनाश्रयणीय इति । उपपत्तिस्तु आयुष्कवर्जानां प्रस्तुतमार्गणादर्शितस्वस्थानसंनिकर्षवदेव, केवलं मतिज्ञानावरणादयो ध्रुवबन्धिन्यो नामध्रुवबन्धिकल्पतयोपादाय संनिकर्षोऽभ्यूह्यः । एवमेव पुंवेदोच्चैर्गोत्रेऽपि तत्प्रतिपक्षप्रकृतीनामिह बन्धाप्रायोग्यत्वेन नामध्रुवबन्धिकल्पे पञ्चेन्द्रियजात्यादिकल्पे वा, सप्रतिपक्षप्रकृतिषु तु सातवेदनीयहास्याद्याः स्थिरादिकल्पाः, असातवेदनीयाद्यास्तु अस्थिरादिकल्पा इति तदनुसारेण संनिकर्षोऽपि तेषां मतिज्ञानावरणादीनां पुंवेदादेः सातवेदनीयादीनां च । आयुष्कप्रधानस्तु तदीयविच्छेदस्थानादुत्तरवर्त्तिन्येव प्रस्तुतमार्गणाबन्धप्रायोग्यशेषसर्वप्रकृतिविच्छेदस्थानानि, तथाचाऽऽयुष्कजघन्यस्थितिं बध्नतः सर्वासां बन्धप्रायोग्याणां बन्धः सम्भवति, केवलं कासाञ्चिद् ध्रुवबन्धित्व प्रतिपक्षरहितत्वादिहेतोः, ध्रुवबन्धि पुंवेद-पञ्चेन्द्रिय-जात्यादीनां नियतबन्धो लभ्यते, सातवेदनीयादीनां तथा, तीर्थकरनाम्नस्तु प्रतिपक्षसहितत्वादिना स्याद्बन्धो लभ्यते चेति तु सुगमम् । स्थितिबन्धस्तु प्रागिव स्पष्टमगम्यमानतया नोद्घाटितः, किन्तु "सयमुज्झ" इत्यनेन मुकुलित एव वर्जितः । विस्तरस्तु प्रागिव स्वयमेव कार्य इति ॥१२७७-८१॥

तदेवं गतो गतिमार्गणास्थानेषु प्रस्तुतः परस्थानजघन्यस्थितिबन्धसंनिकर्षः, साम्प्रतं क्रमप्राप्तजातिमार्गणास्थानेषु प्रतिपादनीयोऽसौ, तत्रैकेन्द्रियमार्गणाभेदसप्तकेऽतिदिदिक्षुस्तत्तुल्यप्रायवक्तव्यत्वात्तेजस्काय वायुकायसर्वमार्गणा अपि सममेव संगृह्याह—

सुप्पाउगाण भवे तिरिव्व एगिंदियेसु सव्वेसुं । तेउ-अणिलेसु वि परं तिरिदुग-णीआण बंधए णियमा ॥
तह सव्वेसुं हस्सट्ठिइ तिरिणराउगाण वर्षतो । सव्वाण बंधइ ठिइं असंखभागाहियं चेव ॥
॥१२८२-१२८३॥ (प्रथमा गीतिः)

ऽसम्भवेन तत्प्रतिषेधार्थम् , द्वीन्द्रियादिलक्षणं च तमादाय लभ्यमानो यस्तासां संख्येयभागाभ्यधिकजघन्यस्थितिबन्धलक्षणोऽजघन्यस्थितिबन्धस्तद्विधानाय, एवं पञ्चेन्द्रियादिलक्षणं स्वामिनमादायस्तासां संख्येयगुणाभ्यधिकजघन्यस्थितिबन्धलक्षणोऽजघन्यस्थितिबन्धस्तस्याऽपि विधानाय तिर्यगायुष्कमनुष्यायुष्कप्रधानसंनिकर्षस्य **"पणिंदिव्व दुआउगं"** इत्यनेनाऽतिदेष्टुमावश्यकत्वादिति ? **इति चेद् ,सत्यम्** , परं पञ्चेन्द्रियौघमार्गणायां वैक्रियषट्कजघन्यस्थितिबन्धवन्निद्रापञ्चकादिजघन्यस्थितिबन्धस्याप्यसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्वामिकत्वेन देवद्विकादिप्रधानसंनिकर्षे तासां निद्राद्विकादीनां जघन्योऽजघन्यो वा स्थितिबन्ध इत्यादि यत्तत् प्रस्तुतमार्गणायां विरुध्येत, प्रस्तुते वैक्रियषट्कजघन्यस्थितिं बध्नातामसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां द्वीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियस्वामिकजघन्यस्थितिबन्धानां तासां निद्रापञ्चकादीनामोघवत्संख्येयगुणाभ्यधिकजघन्यस्थितिबन्धलक्षणस्याऽजघन्यस्थितिबन्धस्यैव भावात् ,तथाच वैक्रियषट्कप्रधानसंनिकर्ष ओघवद्भवति, आहारकद्विकजिननामप्रधानस्त्वसौ पञ्चेन्द्रियौघवदपि स्यात् ,ओघ-पञ्चेन्द्रियौघयोराहारकद्विकजिननामप्रधानसंनिकर्षस्याऽविशेषात् । शेषप्रकृतिवन्मनुष्यौघवत्तु नैव स्यात् ,मनुष्यौघे जिननामा-ऽऽहारकद्विकवत् देवद्विकवैक्रियद्विकयोर्जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनामपि तुल्यैकरूपक्षपकतया जिननामादिजघन्यस्थितिं बध्नता देवद्विकवैक्रियद्विकयोर्जघन्यादिस्थितिबन्धभावात् ,प्रस्तुतमार्गणायां तु तां बध्नतामसंज्ञिस्वामिकजघन्यस्थितिबन्धयोस्तयोर्द्विकयोः संख्येयगुणाभ्यधिकजघन्यस्थितिबन्धस्यैव भावादित्यतो जिननामादिप्रकृतिप्रधानसंनिकर्ष ओघवदतिदिष्टः। एवं देवनरकायुष्कप्रधानोऽप्यसौ ओघवदेव भवति, न पुनः पञ्चेन्द्रियौघवन्मनुष्यौघवद्वा, यतः पञ्चेन्द्रियौघे प्रस्तुतमार्गणावदसंज्ञि-संज्ञिलक्षणानां द्विविधानां जीवानां देव-नरकायुष्कजघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वेऽपि असंज्ञिलक्षण स्वामिनमपेक्ष्य निद्रापञ्चकादीनां संख्येयभागाभ्यधिको जघन्यस्थितिबन्धो लभ्यते, पञ्चेन्द्रियाणामेव तत्र प्रवेशात् , प्रस्तुते त्वसौ तासां संख्येयगुणाभ्यधिकोऽवाप्यते, कुतः ? द्वीन्द्रियादीनामपीह प्रवेशात् , प्रस्तुते द्वीन्द्रियादिस्वामिकजघन्यस्थितिबन्धापेक्षयाऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्वामिकजघन्यस्थितिबन्धस्य संख्येयगुणाभ्यधिकत्वाच, देवायुष्कनरकायुष्कजघन्यस्थितिं बध्नतां संज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां वा द्वीन्द्रियादिस्वामिकजघन्यस्थितिबन्धानां निद्रापञ्चकादीनां संख्येयगुणाभ्यधिको जघन्यस्थितिबन्धो भवतीति भावः । मनुष्यौघे तु देवाद्यायुष्कद्वयस्य जघन्यस्थितेः संज्ञिलक्षणा एकविधा एव बन्धस्वामिनः, तथाच देवद्विकादेः संख्येयगुणाभ्यधिकादिलक्षणैकैकभङ्गगत एवाऽजघन्यस्थितिबन्धो भणितः, इह तु द्विविधस्वाम्यपेक्षया भङ्गद्वयगत इत्येवं न सम्भवति पञ्चेन्द्रियौघवन्मनुष्यौघवद्वाऽतिदेशः, किन्तु ओघवदेव सम्भवति, यत ओघे प्रस्तुतमार्गणावद् देवनरकायुष्कजघन्यस्थितिबन्धस्वामिनो द्विविधाः, निद्रापञ्चकादीनां जघन्यस्थितिबन्धोऽपि उभयत्र पञ्चेन्द्रियेतरैकेन्द्रिय-द्वीन्द्रियादिजीवस्वामिकश्च, वैक्रियषट्कस्योभयत्राऽसंज्ञिस्वामिकश्चेति । तिर्यग्मनुष्या-

(प्रे०) "असमत्त" इत्यादि, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणावत् प्रस्तुतमार्गणास्वपि आयुष्क-वर्जप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनः सम्यक्त्वाभिमुखाद्यवस्थातोऽन्यत्र मिथ्यात्वलक्षणैकगुण-स्थाने एव वर्तमाना इति कृत्वा तत्प्रधानसंनिकर्षेण साम्यम्, केवलं तत्राऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रिया जघन्य स्थितिबन्धस्वामिन इह त्वेकेन्द्रिया इति कृत्वा यासां तत्र संख्येयभागाभ्यधिको जघन्यस्थितिबन्धो लभ्यते तासामपि इह त्वसंख्येयभागाभ्यभ्यधिक एवासौ सम्पद्यते, तदन्यविकल्पस्येहाऽसम्भवात्। अत एव "णवरि असंखंसहियं संखियगुणभागभहियथले' इत्यपवादपदे 'संखिय'' इति पदस्य 'भाग' इति पदस्य च ग्रहणम्, 'संखिय' इति पदेन सम 'गुण' इति पदस्य ग्रहणं तु तत्राऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणायां बन्धप्रायोग्यायुष्कजघन्यस्थितिबन्धस्वामितयाऽसंज्ञिनामिव संज्ञिनां लाभेऽपि प्रस्तुते संज्ञिनामलाभेन शेषप्रकृतिजघन्यस्थितिबन्धस्वामिवदेकेन्द्रियाणामेव लाभात्, तथाचाऽऽयुष्कजघन्यस्थितिबन्धस्वामितया सञ्ज्ञिन आदाने तेन बध्यमानानामसंज्ञिस्वामिकजघन्य-स्थितिबन्धानां मतिज्ञानावरणादिप्रकृतीनां यः संख्येयगुणाऽभ्यधिकजघन्यस्थितिबन्धलक्षणो भङ्गः स इह न लभ्यते किन्तु असंज्ञिस्थाने आयुष्कजघन्यस्थितिबन्धस्वामितया एकेन्द्रियस्याऽऽदाने तासां मतिज्ञानावरणाद्यानां जघन्यस्थितेरेकेन्द्रियस्वामिकतया तासामसंख्यभागाभ्यधिकजघन्य-स्थितिबन्धलक्षणो भङ्ग एव लभ्यत इति। विस्तरस्तु स्वयं कार्यः प्रत्येकप्रकृतिमादायेति ॥१४८६॥

अथ क्रमप्राप्तत्रसौघ-पर्याप्तत्रसकायमार्गणयोः प्रस्तुतसंनिकर्षमतिदेशेन विभणिषुस्तत्तुल्यवक्तव्य-त्वाद् वचनयोगौघ व्यवहारवचनयोग चक्षुर्दर्शनलक्षणमार्गणात्रयमपि सममेव संगृह्य प्राह—

दुतसवयण-चक्खूसु आहारदुग विउवऽट्ठग-जिणाणं। ओघव्व पणिदिव्व दुआऊण ण त्व्व सेसाणं॥१४८७॥

(प्रे०) "दुतसवयणे" त्यादि, अयम्भावः—प्रस्तुते हि नास्ति एकेन्द्रियाणां प्रवेशः, चक्षु-र्दर्शनमार्गणायां तु द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रियाणामप्यमी न विद्यते, तथाच यासां निद्रापञ्चकादीनां स्वामिन ओघत एकेन्द्रियास्तासामिह मार्गणाचतुष्टये द्वीन्द्रिया तत्त्वेन लभ्यन्ते चक्षुर्दर्शने तु चतुरिन्द्रियाः, शेषाणां तु सर्वथैवौघवदिति स्वामित्वद्वारतः प्रथमाधिकारप्रथमद्वारभणितजघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धाल्प-बहुत्वतो वा स्फुटं गम्यते, इत्थञ्चाऽऽहारकद्विकजघन्यस्थितिं बध्नतां क्षपकस्वामिकजघन्यस्थिति-बन्धानां मतिज्ञानावरणादीनां यथा ओघतोऽसंख्येयगुणाभ्यधिकजघन्यस्थितिबन्धः प्राप्यते तथा इहाप्यसौ तावान् प्राप्यते, न केवलं तावदपि त्वसंज्ञिस्वामिकजघन्यस्थितिबन्धानां देवगत्यादीनां द्वीन्द्रियादिस्वामिकजघन्यस्थितिबन्धानां पञ्चेन्द्रियजात्यादीनामप्यसौ ओघवत्संख्येयगुण एव लभ्यत इत्यत ओघवदतिदेशः कृतः, एवं वैक्रियषट्कादीः प्रकृतीरादायाभ्यूह्यम्। ननु आयुष्कद्वयवर्जाऽऽ-हारकद्विकादिनवप्रकृतिप्रधानसंनिकर्षमोघवदनभिधाय तस्य पञ्चेन्द्रियौघवदभिधाने को दोषः, एवं हि लाघवमेव स्यात्, तिर्यग्मनुष्यायुष्कप्रधानसंनिकर्ष ओघत एकेन्द्रियलक्षणं स्वामिनमादाय यो निद्राद्विकादीनामसंख्येयभागाभ्यधिकजघन्यस्थितिबन्धलक्षणोऽपे अजघन्यः स्थितिबन्धस्तस्येहा-

मूलस्थितिबन्धविधानग्रन्थे दीर्घतमस्थितिकमिथ्यात्वमोहनीयोत्कृष्टस्थितिप्राधान्यात् सप्ततिः सागरोपमकोटीकोटयः कथितम् , वेदनीयादिमूलप्रकृतीनामसातवेदनीयाद्युत्कृष्टस्थितिप्राधान्यात् त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटयादिमानं च दर्शितम् तथा भवतु कृष्णवर्णाद्यशुभप्रकृत्युत्कृष्टस्थितिप्राधान्येन वर्णादिचतुष्टयोत्कृष्टस्थितिबन्धमानं विंशतिः सागरोपमकोटीकोटयः,परं तत्तद्वर्ण-तत्तद्रस-तत्तद्गन्धादिप्रकृतिविशेषापेक्षया तु तद्विलक्षणं विलक्षणं भविष्यति ? इति चेद् , श्रूयताम् , कृष्णवर्णाद्या विंशतिरपि वर्णगन्ध-रस-स्पर्शप्रकृतयो ध्रुवबन्धिन्य एव, ध्रुवबन्धित्वाच्च ताः सर्वा अपि ओघोत्कृष्टसंक्लेशवताऽपि जीवेनाऽवश्यं बध्यन्ते, सर्वसंक्लेशे बध्यमानानां च प्रकृतीनां वर्गोत्कृष्टा स्थितिरेव निर्वर्त्यते, यदि नाम ता नरकगत्यादिवदशुभा भवन्तु पञ्चेन्द्रियजात्यादिवच्छुभा वा भवन्तु; इत्येवमनेन न्यायेन शुभानामपि शुभ्रवर्णादिप्रकृतीनामुत्कृष्टा स्थितिः कृष्णवर्णाद्युत्कृष्टस्थितिवद् विंशतिः सागरोपमकोटीकोटय एव भवति, न पुनरवर्गोत्कृष्टा,अत एवोत्कृष्टस्थितिसंक्रमप्रस्तावेऽवर्गोत्कृष्टस्थितिकसातवेदनीयादिना समं ताः शुभ्रवर्णाद्याः संक्रमोत्कृष्टा न भणिताः, किन्तु शेषमतिज्ञानावरणादिना समं बन्धोत्कृष्टतया गृहीताः । तथा चात्र **संक्रमकरणचूर्णिः**–

'तत्थ संकमुक्कसातो इमातो पगतितो-सायावेयणिज्ज-संमत्त-सम्मामिच्छत्त-णवणोकसाय-मणुयगति-देवगति-बेइंदिय-तेइंदिय-चउरिन्दियजाइ-आहारसत्तगं अंतिमवज्जा सठाणसंघयणा मणुयगतिदेवगति-आणुपुव्वीउ पसत्थविहायगति-सुहुम-अपज्जत्त-साहारण थिर-सुह-सुभग-सुस्सर-आदेज्ज-जसकीत्ति-तित्थगर-उच्चगोयाणं एयासिं अडयालीसाए पगतीण संकमातो उक्कसट्ठिती लब्भति । सेसाणं पगतीण बधओ चेव उक्कसट्ठिती लब्भति ।' इति ।

अयम्भावः–स्थितिसंक्रममधिकृत्य द्विविधा हि प्रकृतयः, एका बन्धत एवोत्कृष्टस्थितिकाः,अपरास्तु संक्रमत एवोत्कृष्टस्थितिकाः, तत्र याः प्रकृतयो बन्धतः स्वस्वमूलप्रकृत्युत्कृष्टस्थित्या तुल्यस्थितिकास्ता बन्धोत्कृष्टाः । तदुक्तं **कर्मप्रकृतिसंक्रमकरणाधिकारवृत्तौ**–'यासामुत्तरप्रकृतीनां स्वस्वमूलप्रकृत्यपेक्षया स्थितेर्न्यूनता न भवति किन्तु तुल्यतैव ता बन्धोत्कृष्टा ज्ञातव्या' इति । ताश्च प्रकृतयः 'सेसाण पगतीणं बंधओ चेव उक्कस्सट्ठिती लब्भति' इति **तच्चूर्णिवचनात्** मतिज्ञानावरणाद्या एव, तासु च प्रविष्टाः शुभाशुभवर्णाद्या विंशतिरपीति; अत एवोक्तं **स्थितिसत्ताधिकारेऽपि** यत्–'पच णाणावरण चउरो दसणावरण . वन्नातिवीस एयासिं छलसीते पगतीण उक्कोसट्ठितिसतकम्मं उक्कोसट्ठितिबधेण तुल्ल । । यत्पुनस्तत्रैव **मलयगिरीयायां संक्रमकरणवृत्तौ**–"ता' सप्तनवतिसख्या, तद्यथा–ज्ञानावरणपञ्चकम् , दर्शनावरणपञ्चकम्' इत्यादौ नीलकटुवर्जमशुभवर्णसप्तकम् , इत्यनेनाऽशुभवर्णसप्तकमेव बन्धोत्कृष्टतया गृहीतम् , शेषवर्णादित्रयोदशं तु 'सातवेदनीयम्' इत्यादिना समम् 'शुभवर्णाद्येकादशम् , नीलम् , कटु,' इत्यनेन संक्रमोत्कृष्टस्थितिकतया गृहीतम् , एवम् 'सुक्किल-सुरभी-महुराण दस,उ तह सुभचउण्ह फासाण । अड्ढाइज्ज पवुड्ढी अविलहालिद्दपुव्वाण ॥३३॥' इत्यादिना **पञ्चसंग्रहादौ** शुक्लवर्णादीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धमानं दशसागरोपमकोटीकोटयादिलक्षणमवर्गोत्कृष्टं दर्शितं तत्तु सिद्धान्तानुसारि एव ज्ञायते; यत उक्तं

ऽऽयुष्कप्रकृतिद्वयप्रधानस्तु भवदुक्तनीत्या पञ्चेन्द्रियौघवदेव । शेषप्रकृतिमध्यात् क्षपकप्रकृतिप्रधान ओघे पञ्चेन्द्रियौघे मनुष्यौघे वा तुल्य एव; यतस्तन्मतिज्ञानावरणादिजघन्यस्थितिं बध्नतां न भवति द्वीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियस्वामिकजघन्यस्थितिबन्धानां निद्राद्विकादीनामसंज्ञिस्वामिकजघन्य स्थितिबन्धानां वैक्रियषट्कादीनां वा बन्धः, स्वामिनश्च तासां तथाविधानां क्षपकप्रकृतीनामोघे पञ्चेन्द्रियौघे मनुष्यौघे वा समानैकरूपा एव,एवमपि 'णरव्व' इत्यतिदेशस्तु तासां द्वाविंशतिसंख्याकानां, द्वीन्द्रियस्वामिकजघन्यस्थितिबन्धानां निद्राद्विकादीनां पञ्चाशीतेश्च, सर्वसंख्यया तु सप्तोत्तरशतस्य 'सेसाण' इत्येतावन्मात्रेण संग्रहसम्भवेन पृथग्नामाभिधानं कृतं लाघवार्थम् । तत्र निद्राद्विकादिप्रधानो मनुष्यौघवदिति तु सुगमम्, यतो यथा मनुष्यगत्योघे निद्राद्विकादिजघन्यस्थितेर्बन्धकेनाऽसंज्ञित्वपश्चात्कृतेन जीवेन तुल्यैकस्वामिकाः प्रकृतयः क्षपकस्वामिकाः प्रकृतयश्च बध्यन्ते, नान्याः, एवं प्रस्तुतमार्गणास्वपि द्वीन्द्रियादिलक्षणतुल्यैकस्वामिकाः क्षपकस्वामिकाश्च बध्यन्ते, नान्याः, तथाच तुल्य एव संनिकर्षः सम्पद्यत इति । विस्तरतस्तु तां तां प्रकृतिमादाय बन्धविच्छेदक्रमान्वेषणाद्यनुसारेण प्रागिव स्वयं भावनीय इति ।।१६८७।।

अथाऽपर्याप्तत्रसमार्गणायामपि विकलेन्द्रियमार्गणानवक्तव्यत्प्रागेवाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिमार्गणाभिः सार्कं प्ररूपितः प्रस्तुतसंनिकर्षः, तथाव गता द्विचत्वारिंशदपि कायमार्गणाभेदप्रभेदाः । तदनु योगमार्गणाभेदप्रभेदेषु प्रस्तुतसंनिकर्षो भणितव्यः, तत्र मनोयोगौघादिपञ्चमनोयोगेषु सत्याऽसत्य-मिश्रवचनयोगलक्षणेषु त्रिषु वचोयोगेषु च तुल्यवक्तव्यत्वाद् युगपदभिधातुकाम आह—

[1]ओघव्व सण्णियासो विण्णेयो पंचमण-तिवयणेसु । साय णवावरण-पुरिस-संजलण-जसु-च्च-विग्घाणं ।।
[2]एगस्स हस्सबंधी थीणद्धितिगा-ऽणचउग-मिच्छाओ । लहुमलहुं वा णियमा बंधइ अण्णाण सत्तण्ह ।।
[3]साय-णवावरणाण पुम-संजलण-जस-उच्च विग्घाण । णियमाहिन्तो बंधइ ठिइं असंखेज्जगुणअहियं ।।
[4]णियमा संखगुणहियं तित्था-हारदुग-आउवज्जाण । सुरजोग्गऽण्णसुहाणं रइ हस्सा-ऽण्णधुवबंधीणं ।।
[5]एगस्स हस्सबंधी णिद्दद्दुगाऽण्णसस हस्समियरं वा । णियमा बावीसखवगपयडीण असंखगुणअहियं ।।
[6]तित्थाहारदुगाण सिआ उ बंधेइ संखगुणअहियं । णियमा हस्सचउग-धुव-सुरजोग्गऽण्णसुहणामाण ।।
[7]एगस्स असाय-अरइसोगजुगल-अथिर असुह-अजसाओ । लहुबंधी बंधइ लहुमलहुं व ठिइ सिआऽण्णेसिं ।।
[8]णियमा आवरणणवग-पुम-चउसंजलण-उच्च-विग्घाणं । बंधेइ ठिइमसंखगुणाहियं व जस सायाणं ।।
[9]रइ-हस्स-थिर सुह-जिणाण सिआ संखियगुणाहियं णियमा । सुरजोग्गऽण्णसुहाणुवधायदुणिद्द भय-कुच्छाणं ।।
[10]एगस्स हस्सबंधी दुइअकसायाउ हस्समियरं वा । तिण्ह णियमा दुवीसासायाईण असंखगुणअहियं ।।
[11]तित्थस्स सिआ संखियगुणअहियं बंधए ठिइ णियमा । सुरजोग्गधुवियरसुणाम-दुणिद्द-कसाय-हस्सचउगाणं
[12]एगस्स हस्सबंधी तइअकसायाउ तिण्ह अण्णेसिं । लहुमलहुं व सिआ खलु दुइअकसायव्व सेसाणं ।।
[13]एगस्स बंधमाणो हस्सचउक्काउ लहुठिइं णियमा । सेसाण तिण्ह बंधइ ठिइं जहण्णमजहण्णं वा ।।
[14]आवरणणवग-पुम-चउसंजलणाण जसु-च्च-सायाणं । पणविग्घाणं णियमा बंधेइ असंखगुणअहियं ।।

[१५]साय-असु-थ्वाण सिआ थीलहुबंधी असंखगुणअहियं । णियमा आवरणणवग-संजलणचउक्क विग्घाणं ॥
[१६]जुगल-असाय--तिरिणरसुरुरलविउवदुग--वइर-णीआणं । पढमागिइ--उज्जोअग--थिराथिरदुगा-ऽजसाण सिआ ॥
[१७]संखगुणहियं णियमा थत्ताए सेसतिगइजोग्गाणं । संघयणआगिईणं दोण्ह सिआ संखभागहियं ॥
[१८]एवं णपुमस्स णवरि बंधइ णियमा उरालियदुगस्स । णो चिअ सुरविउवदुगं चउसंघयणागिईण सिआ ॥
[१९]णिरयसुराऊण भवे णरव्व णवरि णिरयाउलहुबंधी । माणं सयं खलु णपुम-हुंड-कुखगइ-दुहगतिगाणं ॥
[२०]थीअ उ सुराउबंधी सयं पमाणं णराउलहुबंधी । णियमा छिवट्ठ-हुंड-अपज्जा-ऽणादेय-दुहग णपुमाणं ॥
[२१]सायस्स सिआ बंधइ असंखियगुणाहियं ठिइं णियमा । संजलणा-ऽऽवरणणवग-विग्घाण सिआ असाय-जुगलाणं ॥
[२२]संखगुणहियं णियमाऽण्णधुव-पणिंदि णरउरलजुगलाणं । तस दुग-पत्तेआणं अथिरा-ऽसुह-अजसणीआणं ॥
[२३]तिरियाउहस्सबंधी संजलणा-ऽऽवरणणवग-विग्घाणं । णियमाऽसखगुणहियं बंधेइ सिआ उ सायस्स ॥
[२४]णियमा सेसधुव-तिरियदुगु-रल-णीआण संखगुणअहियं । जुगल असाय-पणिंदि-तसु-वंग-पत्तेअ बाय-राण सिआ ॥
[२५]णियमा हुंड-अपज्जग-दुहगा-ऽणादेय-णपुमवेआणं । माणं सयं खलु सिआ जाइ-छिवट्ठग-तिथावराईणं ॥
[२६]णिरयदुगहस्सबंधी णामाण बंधए सठाणव्व । सेसाणोघव्व परं संखंसहियं णपुंसस्स ॥
[२७]एगस्स हस्सबंधी तिरिदुग-णीआउ दोण्ह अण्णेसिं । णियमा लहुमलहुं वा बंधइ उज्जोअगस्स सिआ ॥
[२८]साय-णवावरण-पुरिस-चउसजलण-जस-पंचविग्घाणं । णियमा बंधइ अलहुं ठिइ असखेज्जगुणअहियं ॥
[२९]णियमा सखगुणहियं सुहसेसपणिंदितिरियजोग्गाणं । रइ हस्सा-ऽण्णधुवाण उज्जोअस्सेवमेव भवे ॥
[३०]णरउरलदुग-वइराण लहुबंधी बधए सठाणव्व । णामाण ठिइं णियमा बंधेइ असंखगुणअहिय ॥
[३१]साय-णवावरण-पुरिस-चउसजलणु-च्च पंचविग्घाणं । संखगुणहिय णियमा रइ-हस्स-दुवालसधुवाणं ॥
[३२]एगस्स हस्सबंधी धुव-सुहअधुवसुरजोग्गणामाओ । तित्था-ऽऽहारगदुग-जसवज्जाओ सत्तवीसाओ ॥
[३३]णियमाऽण्णाण लहुमुअ अलहुं सिआ-ऽऽहारजुगल-तित्थाणं । णियमा संखगुणहियं हस्सचउक्कस्स बधेइ ॥
[३४]साय-णवावरणाणं पुम-संजलण-जस उच्च-विग्घाणं । णियमाऽसखगुणहियं तित्था-ऽऽहार-जुगलाणेवं ॥
[३५]णामाण जाइथावरचउक्क-आयवजहण्णठिइबंधी । सट्ठाणव्व उ णियमा संखंसहियं णपुंसस्स ॥
[३६]सायस्स सिआ बधइ असंखियगुणाहियं ठिइं णियमा । आवरणाण णवण्हं चउसंजलणाण विग्घाणं ॥
[३७]जुगल असायाण सिआ बधइ संखियगुणाहिय णियमा । सेसाणं वीसाए धुवबंधीण तह णीअस्स ॥
[३८]पणसंघयणागिइ कुखगइ दुहगतिगाण हस्सबंधी उ । णामाण सठाणव्व उ सेसाणित्थिव्व णवरि भवे ॥
[३९]बुइआइदुसघयणा-गिइलहुबधी असंखगुणअहियं । णियमा पुरिसस्स सिआ सेसाण जहण्णठिइबंधी ॥
[४०]तुरिआइदुलहुबधी थीअ सिआ संखभागअब्भहियं । बधइ थी-णपुमाणं सिआऽण्णाछक्कलहुठिइबंधी ॥

॥१४८८-१५२७॥(दशम्येकादशी त्रिंशे एकत्रिंशी चतुर्त्रिंशी पञ्चत्रिंशी च गीतयः)

(प्रे०) "**ओघव्व सण्णियासो**" इत्यादि, तत्राद्यगाथया जिना-ऽऽहारकद्विकवर्जा या मतिज्ञानावरणाद्या द्वाविंशतिः क्षपकप्रकृतयस्तत्प्रधानः संनिकर्ष ओघवद्भणितः, स च सुगमः,

यतो यत्र मार्गणायां तासामोघिकजघन्यस्थितिबन्धस्वामिनः प्रविष्टास्तत्र प्रागुक्तनीत्या तत्प्रधानसंनिकर्ष ओघवदेव लभ्यते । द्वितीयादिगाथात्रयेण संयमाभिमुखमिथ्यादृष्टिस्वामिका याः स्त्यानर्द्धित्रिका-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्टय-मिथ्यात्वलक्षणा अष्ट प्रकृतयस्तत्प्रधानः संनिकर्षः प्रतिपादितः, तत्र शेषसप्तानां जघन्योऽजघन्यो वा इति तु तुर्यैकस्थाने तासां विच्छेदात् , सातवेदनीयादीनां द्वाविंशतेरसंख्येयगुणाभ्यधिक इत्यादि तु सुगमम् ,तासां जघन्यस्थितेः क्षपकादिस्वामिकतया द्वादशमुहूर्तादिमानत्वात् ,केवलं "सुरजोगे"त्यादिना देवगत्यादीनामेव ग्रहणं, न पुनर्मनुष्यद्विकादीनां तत्तु संयमाभिमुखमिथ्यादृष्टिमनुष्याणां मिथ्यात्वगुणस्थाने बन्धप्रायोग्यप्रकृतिमध्याद्देवगत्यादीनामेव प्रशस्तत्वेन तासामेव बन्धाद् , यद्वा प्रधानीकृतस्त्यानर्द्धित्रिकजघन्यस्थितिबन्धस्वामिनमपेक्ष्य लभ्यमाने तथाविधे विच्छेदक्रमे प्रधानीकृतप्रकृतिविच्छेदस्थानात्पूर्वस्थाने एव मनुष्यद्विकादीनां विच्छेदलाभात्प्रागुक्तनीत्या । एवमेवान्यत्राऽपि भावनीयम् । पञ्चमादिगाथाद्वयेन यस्य जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनोऽष्टमगुणस्थानप्रथमांशगतास्तन्निद्राद्विकप्रधानः संनिकर्षः; तत्रोत्तरगाथायाम् "हस्सचउग" इत्यनेन हास्यरतिभयजुगुप्साप्रकृतयो ज्ञेयाः,"धुव" इत्यनेन तु नामध्रुवबन्धिन्यो ज्ञेयाः, समासान्तनामशब्दस्य ध्रुव इत्यनेनापि सम्बन्धात् "संखगुणअहियं" इत्यस्य देहलीदीपकन्यायेनान्वयः, एवमुत्तरत्र नवमगाथादावपि यथासम्भवं द्रष्टव्यम् । सप्तमादिगाथात्रयेण तु षष्ठगुणस्थानान्ते विच्छिद्यमानबन्धा या असातवेदनीयाद्याः षट् प्रकृतयस्तत्प्रधानो भणितः, तत्राष्टमगाथाप्रान्तेन यशःकीर्त्यादेर्नवमगाथायां रत्यादीनां च यः स्याद्बन्धो दर्शितः स तु स्वप्रतिपक्षेतरप्रकृतिप्रधानसंनिकर्षे एव बोध्यः, स्वप्रतिपक्षप्रकृतिप्रधानसंनिकर्षे तु तस्यास्तस्या यशःकीर्त्यादेरबन्ध एव बोध्य इति । दशमादिगाथाद्वयेन संयमाभिमुखाऽविरतसम्यग्दृष्टिस्वामिकजघन्यस्थितिबन्धा या द्वितीयसंज्ञा अप्रत्याख्यानावरणक्रोधादयस्तत्प्रकृतिचतुष्टयप्रधानः संनिकर्षः परिपठितः, अत्राऽपि सर्वं प्राग्वत् , केवलमुत्तरगाथोत्तरार्धे "सुरजोग्गधुवियरसुणाम" इत्यत्र 'णाम' इति विशेष्यपदम् , तेन च विशेषणविशेष्यभावलक्षणः कर्मधारयसमासः, तथा "सुरजोग्गे"त्यादिना या देवयोग्या ध्रुवाः शुभाऽध्रुवाश्च नामप्रकृतयस्ता एव बोद्धव्याः, न तु नामेतराः, तथा "कसाय"इति सामान्याभिधानेऽपि पूर्वगाथायां 'दुवोसासायाईणं'इत्यत्र संज्वलनकषायाणां द्वाविंशतिप्रकृत्यन्तर्गतत्वेन गृहीतत्वाच्छेषकषायाः प्रत्याख्यानावरणक्रोधादिलक्षणाश्चत्वारो विज्ञेयाः, "हस्सचउगाणं"इत्यनेन हास्यरतिभयजुगुप्सानां ग्रहणमिति तु सुगममिति । द्वादशगाथया तृतीयसंज्ञा याः संयमाभिमुखदेशविरतस्वामिकजघन्यस्थितिबन्धाः प्रत्याख्यानावरणक्रोधादिलक्षणाश्चतस्रः प्रकृतयस्तत्प्रधानसंनिकर्षः प्रतिपादितः,तत्र यः"दुइअकसायव्व सेसाणं" इत्यतिदेशस्तत्राऽनन्तरं "कसाय"इति अभिलापसाम्येन तृतीयकषायाणां यद् ग्रहणं जातं तस्य प्रतिषेधः कार्यो व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिरिति न्यायं समाश्रित्य । शेषं तु प्राग्वत् । त्रयोदशादिगाथाद्वयेना-

ऽष्टमगुणस्थानप्रान्ते विच्छिद्यमानबन्धा या हास्य-रति-भय जुगुप्सालक्षणाश्चतस्रः प्रकृतयस्त-त्प्रधानः संनिकर्षः प्रतिपादितः । पञ्चदशादिगाथात्रयेण स्वस्थानविशुद्धमिथ्यादृष्टिस्वामिकजघन्य-स्थितिबन्धायाः स्त्रीवेदप्रकृतेः प्राधान्येन संनिकर्षो भणितः, तत्र प्रथमगाथायां "**असंखगुण-अहियं**"इत्येतद्देहलीदीपकन्यायेन संबध्यते, द्वितीयगाथायां "**दुजुगल**"इत्यनेन हास्य-रति शोका-ऽरतिलक्षणप्रकृतिचतुष्टयम् , तथा "**थिराथिरदुग**" इत्यनेन स्थिर-शुभा ऽस्थिरा ऽशुभप्रकृतयः संगृहीताः । तृतीयगाथायां "**पत्ताए सेसतिगइजोग्गाणं**"इत्यनेन संगृहीताः प्रकृतय इमाः— निद्रापञ्चकम् , संज्वलनवर्जकषायद्वादशकम्, भय-जुगुप्से, मिथ्यात्वम् , नामध्रुवबन्धिनीनवकम् , पञ्चेन्द्रियनाम,सुखगतिनाम,पराघातो-च्छ्वासनाम्नी,त्रसचतुष्टयम् , सुभगत्रिकं च; एतासां संयमा-भिमुखमिथ्यादृष्टिस्वामिकत्वात् , कासाञ्चिदप्रत्याखानावरणक्रोधादीनां तु क्षपकवर्जाऽविरतसम्य-ग्दृष्ट्यादिस्वामिकत्वाच्च । उत्तरार्धे '**संघयणआगिईणं दोण्ह**" इत्यनेन द्वितीयसंहननसंस्था-नयोस्तृतीयसंहननसंस्थानयोश्च संग्रहः । शेषं तु गतार्थम् । अष्टादशगाथया नपुंसकवेदप्रधानः संनिकर्षः सापवादमतिदिष्टः, तत्राऽतिदेशः सुगमः, अपवादस्त्वेवम् – नपुंसकवेदजघन्यस्थितिं बध्नन् हि मनुष्यप्रायोग्यप्रकृतीस्तिर्यक्प्रायोग्यप्रकृतीर्वा बध्नाति, न पुनर्देवप्रायोग्या अपि, देवानां पुंवेदित्ववत्स्त्रीवेदित्वसत्त्वेऽपि नपुंसकवेदित्वाभावात् , अत एवोत्तरार्धे "**णो विअ**"इत्यादिना देवद्विकवैक्रियद्विकबन्धः प्रतिषिद्धः । इत्येवं मनुष्यप्रायोग्यं बध्नता सप्तमनारकेतरेण तिर्यक्पञ्चे-न्द्रियप्रायोग्यं वा बध्नता सप्तमनरकनारकेणौदारिकद्विकं ध्रुवं निवर्त्यते । ननु मा भवतु देवा नपुंसकवेदिनः, नारकास्तु तथा सन्त्येव, तथाच नपुंसकवेदजघन्यस्थितिं बध्नन्नसौ नारकप्रायोग्य-प्रकृत्यन्तर्गततया वैक्रियद्विकस्य बन्धको भविष्यति, मनुष्यप्रायोग्यं तिर्यक्प्रायोग्यं वा बध्नन् तु औदारिकद्विकस्य बन्धकस्स्यादित्येवमौदारिकद्विकस्य वैक्रियद्विकस्य च स्याद्बन्धो वाच्यः ! **इति चेत्, न,** नपुंसकवेदजघन्यस्थितिं बध्नतां सप्तमनारकेतरेषां तथाविधशुद्धेस्तिर्यक्प्रायोग्य-स्याऽपि बन्धो न प्रवर्तते, किं नाम नरकप्रायोग्यस्य, नरकप्रायोग्यस्य बन्ध नैव भवतीति भावः । सप्तमभूमिनारकस्य तु स्वभावत एवाऽऽसौ न भवति, तथाच सुष्ठूक्तम् "**बंधइ णियमा उरा-लियदुगस्स**"इति । स्त्रीवेदप्रधानसंनिकर्षे बन्धाऽप्राप्तानामपीह तु "**चउसंघयणागिईण सिआ**"इति वचनतः स्याद्बन्धप्राप्तानां चतुर्थपञ्चमसंहननसंस्थानप्रकृतीनामपि स्थितिबन्धमानं तु व्याख्यानत एव द्वितीयतृतीयसंहननसंस्थानप्रकृतिवत्संख्येयभागाभ्यधिकजघन्यलक्षणं ज्ञेयम् । **शेषं** तु सुगमम् , प्रकृतिविच्छेदक्रममनुसृत्य विभावनीयञ्चेति । एकोनविंशतितमार्यया विंशतितमार्याप्रथमपादेन च नरकदेवायुष्कलक्षणप्रकृतिद्वयप्रधानः संनिकर्षो मनुष्यौघवत् साप वादमतिदिष्टः; तत्राऽपवादपदे नरकायुष्कजघन्यस्थितिं बध्नतो नपुंसकवेदादिपञ्चप्रकृतीनां तथा "**माणंसय खलु**"इत्यस्य "**थीअ उ सुराउबंधो**" इत्यनेनाऽपि अन्वयाद् देवायुष्कजघन्यस्थितिं

बध्नतः स्त्रीवेदस्थितिबन्धमानव्यक्तानभिधाने पूर्वोक्तप्रकार एव बोध्यः । विंशतितमगाथाशेषपाद-त्रयेणैकविंशतितमादिगाथाद्वयेन च मनुष्यायुष्कप्रधानः संनिकर्षः प्रतिपादितः । अयमपि मनुष्यौ-घवदेव, केवलं सेवार्तसंहननादिप्रकृतिषट्कस्थितिबन्धविषये यत् "सयं पमाणं" इत्यव्यक्ताभिधानं तत्र पूर्वोक्तप्रकारो ज्ञेयः । 'तिरियाउहस्सबंधो" इत्यादित्रयोविंशतितमादिगाथात्रयेण तिर्य-गायुष्कप्रधानः सनिकर्षो निगदितः, तत्र पञ्चविंशतितमगाथायां "जाइ" इत्यनेन पञ्चेन्द्रियवर्ज-जातिचतुष्कं बोध्यम्, न पुनः सामान्यवचनमिति कृत्वा प्रागिव जातिपञ्चकम्, कथम्? भण्यते, चतुर्विंशतितमगाथोत्तरार्धे "पणिंदि" इत्यनेन पञ्चेन्द्रियजातेर्गृहीतत्वात् । संनिकर्षस्त्वयं तिर्यगायुष्कप्रधानोऽपि मनुष्यौघवत् सविशेषं भावनीयः । यतस्तिर्यग्द्विकादीनां जघन्यस्थितेस्तत्र पश्चाकृताऽसंज्ञित्वजीवस्वामिकत्वेऽपीह सप्तमभूमिनारकाणां प्रवेशेन तासां जघन्यस्थितेः सम्य-क्त्वाभिमुखमिथ्यादृक्स्वामिकत्वमिति । यत्पुनः पञ्चविंशतितमगाथायां हुण्डसंस्थाननामादिप्रकृति-स्थितिबन्धमानविषये "माणं सयं" इति अव्यक्ताभिधानं तदपि प्रागिव तत्स्थितिबन्धमानस्य स्फुटमनवगतेरिति । षड्विंशतितमगाथया नरकद्विकप्रधानः प्रस्तुतसंनिकर्षः परिपठितः, तत्रा-ऽपि यो नपुंसकवेदस्य संख्येयभागाभ्यधिकजघन्यस्थितिबन्ध उक्तः स ओघे तज्जघन्यस्थितिबन्ध-स्यैकेन्द्रियस्वामिकत्वेऽपि प्रस्तुते स्वस्थानविशुद्धसंज्ञिमिथ्यादृष्टिस्वामिकत्वात् । शेषं तु गतार्थम् । सप्तविंशतितमादिगाथात्रयेण तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रप्रधानः साक्षात्तथा "उज्जोअस्सेवमेव, भवे" इत्येवंलक्षणेनैकोनत्रिंशत्तमगाथाचरमांशेनोद्योतनामप्रधानः प्रस्तुतसंनिकर्षोऽतिदेशद्वारेण भणितः, स हि प्रस्तुते क्षपकादीनां प्रवेशे सत्यपि तिर्यग्द्विकादिजघन्यस्थितेः सम्यक्त्वाभिमुखसप्तमभूमि-नारकस्वामिकत्वात् तदनुसारेण भावनीय इति । त्रिंशत्तमादिगाथाद्वयेन मनुष्यद्विकौदारिकद्विक-वज्रर्षभनाराचसंहननलक्षणा याः स्वस्थानसर्वविशुद्धाऽविरतसम्यग्दृष्टिदेवनारकस्वामिकजघन्यस्थिति-बन्धाः पञ्च प्रकृतयस्तत्प्रधानः प्रस्तुतसनिकर्षो दर्शितः, तत्रोत्तरगाथाप्रान्ते "दुवालसधुवाणं" इत्यत्र व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेर्मिथ्यात्वा-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्टय-स्त्यानर्द्धित्रिकलक्षणा अष्टौ प्रकृ-तयो न ग्राह्याः । शेषं सुगमम् । द्वात्रिंशत्तमादिगाथात्रयेण तु अष्टमगुणस्थानषष्ठभागान्ते विच्छिद्यमाना याः "सुरदुग पणिंदि-सुखगइ-तसनव उरल विणु तणुवगा ॥९॥ समचउर-निमिण-जिण-वन्न-अगुरुलहुचउ" इत्यनेन कर्मस्तवे भणितास्त्रिंशत्प्रकृतयस्तन्मध्याज्जिननामाऽऽहारकद्विके विहाय शेषसप्तविंशति-प्रकृतिप्रधानः साक्षात् तथा "तित्था-ऽऽहारजुगलाणेवं" इत्यनेन जिननामा-ऽऽहारकद्विक-प्रधानोऽतिदेशेन भणितः प्रस्तुतसनिकर्षः, तत्र "साये"त्यादिचतुस्त्रिंशत्तमगाथोत्तरार्धे "सखगुण-हियं" इत्यस्य पूर्वत्योऽकारो व्यक्तो द्रष्टव्यस्तथाच सातवेदनीयादीनामसंख्येयगुणाभ्यधिकजघन्य-स्थितिबन्धं करोतीत्यर्थो लभ्यते । शेषं तु प्रागिवाभ्यूह्यमिति । पञ्चत्रिंशत्तमादिगाथात्रयेण जाति-चतुष्क-स्थावरचतुष्का ऽऽतपलक्षणनवप्रकृतिप्रधानः संनिकर्षः प्रतिपादितः, तत्र "सट्ठाणव्व" इति

सुगमम् ,नामेतरप्रकृतीनां तु तत्तन्नामप्रकृतिसाम्यात् तत्तत्स्थानीयत्वं कृत्वाऽभ्यूह्यः। तद्यथा-नपुंसकवेदो हुंडसंस्थानस्थानीयः स्यात् ; हुंडसंस्थानवत् नपुंसकवेदस्याऽपि प्रस्तुतप्रकृतिप्रधानसंनिकर्षे तथाविधविच्छेदक्रमे उत्तरस्थानगतत्वे सति स्वस्थानमिथ्यादृष्टिस्वामिकजघन्यस्थितिबन्धत्वात् प्रतिपक्षप्रकृतेरबन्धाच्च । तत्र उत्तरस्थानगतत्वे सतीत्याद्यंशेन बन्धप्रायोग्यत्वे सति संख्ययेभागाभ्यधिकजघन्यस्थितिबन्धत्वसिद्धिः, प्रतिपक्षप्रकृतेरबन्धादित्यनेन तु नियमबन्धत्वसिद्धिश्च । इत्थमेव सातवेदनीयादीनां यशःकीर्त्यादिसाम्यादिकं दृष्ट्वा भावनीयमिति। अष्टात्रिंशत्तमादिचरमगाथात्रयेण तु भणितशेषाः प्रथमवर्जसंहननपञ्चक प्रथमवर्जसंस्थानपञ्चक-कुखगति-दुर्भगत्रिकलक्षणा याः स्वस्थानतत्प्रायोग्यविशुद्धमिथ्यादृष्टिस्वामिकजघन्यस्थितिबन्धाश्चतुर्दश प्रकृतयस्तत्प्रधान उक्तः,अयमपि गतार्थप्रायः,यः पुनर्विशेषस्स त्वनन्तरदर्शितनानाविधनीत्या यथासम्भवमभ्यूह्य इति॥१४८८-१५२७॥

तदेवं भणितश्चत्वारिंशद्गाथाभिः पञ्चमनोयोगमार्गणासु सत्या-ऽसत्य-मिश्रवचोयोगमार्गणासु च तुल्यवक्तव्यत्वाद् युगपत्प्रस्तुतः परस्थानजघन्यस्थितिबन्धसन्निकर्षः, शेषवचनयोगमार्गणाभेदद्वये त्वनन्तरमेव "दुतसवयण" इत्यादिना त्रसौघमार्गणादिना साकं प्रतिपादितः, काययोगमार्गणामूलोत्तरभेदमध्यात् काययोगौघे औदारिककाययोगमार्गणायां चौघवक्तव्यतापरिसमाप्तेनन्तरमेव "ओघव्व सण्णियासो भवे लहुठिईअ सव्वपयडीण । काय-उरल ोहेसु" इत्यादिगाथा(१३८३)यामतिदिष्ट इत्यत औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां तत्प्रतिपादयन्नाह—

एगस्स उरलमीसे सुरविउवदुगाउ हस्सठिइबंधी । णियमाऽण्णेसिं तिण्हं लहुमलहुं वा जिणस्स सिआ ।
णियमा रइ-हस्स-पुरिस-गुणचत्तधुवा ऽण्णसुसुरजोग्गाण । सखगुणहियं एव जिणस्स तिरियव्व सेसाणं ।
॥१५२८-१५२९॥

(प्रे०) "**एगस्स**" इत्यादि, प्रस्तुतमार्गणायां हि यास्तिर्यग्गत्योघमार्गणायामेकेन्द्रियस्वामिकजघन्यस्थितिबन्धास्ता अधिकनो देवद्विक वैक्रियद्विक जिननाम चेति पञ्च प्रकृतयश्च बन्धप्रायोग्याः, तत्र देवद्विकादीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनः करणाऽपर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाः, शेषाणां तु तिर्यग्गत्योघवदेकेन्द्रिया एव; तत्राऽपि देवद्विकादिजघन्यस्थितिबन्धस्वामिनस्तुल्यैकरूपाः सम्यग्दृष्टयः, तथा च तास्वन्यतमस्याः प्राधान्ये शेषाणां पञ्चानां जघन्योऽजघन्यो वा इति विकल्पद्वयविषयः स्थितिबन्धः प्राग्दर्शितनीत्या । शेषाणां बध्यमानानां "**रइहस्सपुरिस**"इत्यादिना भणितानामेकोनषष्टेस्तु संख्येयगुणजघन्यः, कुतः ? तासां जघन्यस्थितेरिहैकेन्द्रियस्वामिकत्वात् । शेषबन्धप्रायोग्याणां तिर्यग्गत्योघवदिति तु गतार्थमेवेति ॥१५२८-१५२९॥

अथ वैक्रियकाययोगमार्गणायां प्रस्तुतमाह—

[1] एगस्स हस्सबंधी थीणद्धितिगा-ऽणचउग-मिच्छाओ । विउवे लहुमलहुं वा बंधइ णियमाऽण्णसत्तण्हं ॥

[2] णरदुग-उच्चाण सिआ बंधइ संखियगुणाहियं णियमा । धुव-पुम-रइ-हस्साण जिणा-ऽऽउवज्ज-सुहमणुयजोग्गाण ॥

76 A

[३] हस्समहस्स व सिआ तिरिदुग उज्जोअ-णीअगोआण । सत्तमणिरयव्व भवे तिरिदुग-उज्जोअ-णीआणं ॥
[४] सोहम्मव्वाऊण णवरं णीअस्स संखगुणअहियं । तिरिदुग-उज्जोआण वि बंधइ तिरियाउलहुबंधी ॥
[५] पणसघयणागिइ-कुखगइ-दुहगतिगाण हस्सठिइबंधी । णामाण सठाणव्व उ दुइअणिरयथिव्व वेअअण्णेसिं
[६] एगिंदि-थावरा-ऽऽयवणामाण मणव्व णवरि संखगुणं । कुणइ असंखगुणथले सेसाण बीअणिरयव्व ॥
[७] णवर बंधेइ तिरियमणुयदुगु-ज्जोअ गोअजुगलाणं । संखेज्जगुणाऽब्भहियं सिआ णपुंसित्थिलहुबंधी ॥
॥१५३०-३६॥ (द्वितीया पञ्चमी च गीतिः)

(प्रे०) "एगस्स" इत्यादि, इह हि उत्तरवैक्रियस्याऽनधिकृतत्वेन देवनारकजीवानामेव प्रवेशः,तथा च सम्यक्त्वाभिमुखस्वामिकजघन्यस्थितिबन्धानां स्त्यानर्द्धित्रिकादीनां प्रधानत्वे मनुष्यद्विकादीनां 'सखिवगुणाहिय' ति संख्येयगुणाभ्यधिकजघन्यस्थितेर्बन्धस्तासां मनुष्यद्विकादीनां जघन्यस्थितेः सम्यग्दृष्टिस्वामिकत्वात् । तिर्यग्द्विक-नीचैर्गोत्रो द्योतनाम्नां जघन्यादिद्विविधस्तु तेषां जघन्यस्थितेः सप्तमनारकलक्षणं स्वामिनमपेक्ष्य प्रधानीकृतप्रकृत्या तुल्यैकरूपस्वामिकत्वात् । "सत्तमणिरयव्व भवे" इत्यादिना तिर्यग्द्विको-द्योत-नीचैर्गोत्रलक्षणप्रकृतिचतुष्टयप्रधानसंनिकर्षातिदेशः,स तु सप्तमभूमिनारकाणामेवेह तिर्यग्द्विकादिजघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वात्तथा ज्ञेयः । "सोहम्मव्वाऊणं" इत्यादि, प्रस्तुतमार्गणायां बन्धप्रायोग्यतिर्यग्मनुष्यायुष्कप्रधानप्रस्तुतसंनिकर्षस्तु सौधर्मकल्पमार्गणावद्भवति । किं सर्वथेत्याह-"णवरं" इत्यादि, केवलमायुष्कद्वयप्रधानेऽपि संनिकर्षे तत्र सौधर्मकल्पमार्गणायां नीचैर्गोत्रस्थितिबन्धप्रमाणस्य मुकुलितवर्जनेऽपीह तु तत् संख्येयगुणाभ्यधिकं स्फुटं ज्ञायते । कुतः ? तत्र सौधर्मकल्पे स्वस्थानतदर्हविशुद्धमिथ्यादृशा नीचैर्गोत्रजघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वेऽपि प्रस्तुतमार्गणायां सप्तमभूमिनारकाणामपि प्रवेशेन सम्यक्त्वाभिमुखानां तज्जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वात् । अत एव तिर्यगायुष्कजघन्यस्थितिं बध्नतां नीचैर्गोत्रवत्तिर्यग्द्विकोद्योतनाम्नोऽपि संख्येयगुणाधिकजघन्यस्थितिबन्ध एव लभ्यते, नीचैर्गोत्रवत्तयोस्तिर्यग्द्विकोद्योतनाम्नोर्जघन्यस्थितिबन्धस्याऽपि सम्यक्त्वाभिमुखस्वामिकत्वात् । विस्तरस्तु प्रागिव कार्य इति । "पणसघयणाऽऽगिइ" इत्यादि, प्रथमवर्जसंहननपञ्चकप्रथमवर्जसंस्थानपञ्चकादिप्रधानसंनिकर्षे "दुइअणिरयथिव्व वेअअण्णेसिं" ति यथासंख्यमन्वयाद्व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेश्च वेदत्रयप्रकृतिस्थानियतबन्धादिकं द्वितीयनरकमार्गणायां प्रथमवर्जसंहननादिप्रधानसंनिकर्षे दर्शितवेदप्रकृतिस्थानियतबन्धादिवत्तथा नामवेदान्यप्रकृतिस्थानियतबन्धादिकं प्रस्तुतमार्गणायामेव वक्ष्यमाणस्त्रीवेदप्रधानसंनिकर्षे दर्शयिष्यमाणनामवेदान्यतत्तत्प्रकृतिस्थानियतबन्धादिवद् विज्ञातव्यम् । "एगिंदि" इत्यादि, एकेन्द्रिय स्थावरा-ऽऽतपनामप्रधानसंनिकर्षे "णवरि" इत्यादिनाऽपवादकथनं मनोयोगमार्गणाया क्षपकाणां प्रवेशेऽपीह तेषामप्रवेशात् । "सेसाणं बीअणिरयव्व" इत्यनेन स्त्यानर्द्धित्रिकाद्यष्टप्रकृतिविवर्जैकोनचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिन्यः, साता-ऽसात हास्य-रति-शोका ऽरति-वेदत्रय मनुष्यद्विक पञ्चेन्द्रियजात्यौ-दारिकद्विक-प्रथमसंहनन प्रथमसंस्थान सुखगति-

पराघातो च्छ्वास-जिन-त्रसदशका-ऽस्थिरा ऽशुभा ऽयशःकीर्तिनामो-च्चैर्गोत्रलक्षणाश्चतुस्त्रिंशच्चेति त्रिसप्ततिप्रकृतिप्रधानः संनिकर्षो द्वितीयनरकमार्गणावद्भणितत्वाऽपि "णवरं" इत्यादिचरमगाथया शेषप्रकृत्यन्तर्गतस्त्रीनपुंसकवेदप्रधानसंनिकर्षेऽपवादो भणितः, तत्राऽपवादपठनं तिर्यग्द्विकादिजघन्यस्थितेरिह सम्यक्त्वाभिमुखसप्तमभूमिनारकस्वामिकत्वादित्यादिहेतोर्विज्ञेयम् । शेषैकसप्ततेर्निरपवादातिदेशस्तु द्वितीयनरकवदिहापि तासां सम्यग्दृष्टिस्वामिकत्वेन सर्वथा तुल्यसंनिकर्षप्राप्तेरिति । शेषं प्रागिवाभ्यूह्यमिति ॥१५३०-१५३६॥

अथाऽनन्तरोक्तेन तुल्यप्रायत्वाद् वैक्रियमिश्रकाययोगे प्रस्तुतसंनिकर्षं सापवादमतिदिशति—

दिउव्व विउवमीसे सव्वेसिं णवरि संखभागहियं । थीणद्धितिग-ऽण-मिच्छग-तिरिदुग-उज्जोअ णीआणं ॥
॥१५३७॥

(प्रे०) "**वउव्व**" इत्यादि, सुगमा, केवलमपवादभणनं वैक्रियकाययोगे स्त्यानर्द्धित्रिकादिजघन्यस्थितेः सम्यक्त्वाभिमुखस्वामिकत्वेऽपि प्रस्तुते तस्याः स्वस्थानविशुद्धमिथ्यादृष्टिस्वामिकत्वात्, तथाच द्वितीयसंहननादिप्रधानसंनिकर्षे वैक्रियकाययोगे स्त्यानर्द्धित्रिकादीनां यः सङ्ख्येयगुणाभ्यधिको जघन्यस्थितिबन्धो भणितः स इह संख्येयभागाभ्यधिक एव लभ्यते । तावत्तारतम्यं तु प्रधानीकृतेतरप्रकृतीनां जघन्यस्थितेः स्वस्थानविशुद्धमिथ्यादृष्टिलक्षणतुल्यस्वामिकत्वे सति तत्प्रकृतीनां तथाविधप्रकृतिविच्छेदस्थानक्रमे पूर्वोत्तरस्थानेषु विच्छेदभावादित्यादि प्राग्वद्विज्ञेयमिति ॥१५३७॥

अथा-ऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगमार्गणयोः प्रस्तुतसंनिकर्षं प्रतिपादयति—

एगस्सा-ऽऽहारदुगे धुवबधीउ रइ हस्स-पुरिसाओ । तित्थाऽऽउगवज्जाउ अधुवबधीओ पसत्थाओ ॥
हस्सठिइ बंधतो णियमाऽण्णेसिं जहण्णमियरं वा । बंधेइ जिणस्स सिआ एमेव जिणस्स विण्णेयो ॥
एगस्स असाय-अरइ-सोगजुगल-अथिर-असुह अजसाओ । लहुबधी बधइ लहुमलहुं व ठिइ सिआऽण्णेसिं ॥
सप्पडिवक्खाण तहा तित्थस्स सिआ उ संखभागहियं । बंधइ णियमाऽण्णेसिं आउग-पडिवक्खवज्जाणं ॥
देवाउहस्सबधी जिणस्स वुज्झ सयं ठिइपमाणं । बधइ णियमा धुव पुम-रइ-हस्साण सुहसेसाण ॥१५३८-४२॥

(प्रे०) "**एगस्सा ऽऽहारदुगे**" इत्यादि, प्रस्तुतमार्गणाद्वये हि एकमेव प्रमत्तगुणस्थानकम्, तत्र च बन्धप्रायोग्यप्रकृतिमध्यादसातवेदनीया-ऽरति-शोका-ऽस्थिरा ऽशुभा-ऽयशःकीर्तिनामानि सप्रतिपक्षबन्धप्रायोग्यतया स्वप्रतिपक्षप्रकृत्यपेक्षयाऽप्रशस्ततया च सर्वविशुद्धैर्न बध्यन्ते, अपि तु तत्प्रायोग्यविशुद्धैर्निर्वर्त्यन्ते, शेषास्त्वायुष्कवर्जा सर्वविशुद्धैरेकविधस्वामिभिर्निर्वर्त्यन्ते इति त एव तज्जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनो भणिताः। तथात्वे चाऽसातवेदनीयादिषट्कायुष्कवर्जानामन्यतमस्या जघन्यस्थितिं बध्नतः शेषाणामसातादिवर्जानां मतिज्ञानावरणादीनां पञ्चपञ्चाशतो जघन्याऽज-न्यान्यतरविधस्थितिबन्धः प्रोक्तः । तत्र जिननाम्नः स्याद्बन्धस्तथा शेषाणां नियतबन्ध इति तु सुगमम् । एवमसातवेदनीयादीनां षण्णां जघन्यस्थितेस्तुल्यैकस्वामिकत्वेन तासामन्यतमस्याः प्रधानत्वे शेषाणा-

मरतिशोकयुगलादीनां द्विविधान्यतरस्थितेर्बन्ध इत्यादि भावनीयम् । एवमायुष्कप्राधान्येनाऽपि भावनीयं प्रागिव, केवलं तत्र "**जिणस्स वुज्झं सयं ठिइमाणं**" ति जिननाम्नो बन्धः '**वा**' त्ति न नियमतोऽपि तु वैकल्पिक एव, भवति न वा भवतीत्यर्थः, स्थितिबन्धमानं पुनस्तस्य जिननाम्नः, स्वयमभ्यूह्यं तज्ज्ञप्राप्तौ, अस्माकं तु दुर्गमं प्रतिभातीति प्रागुक्तार्थ एव । किञ्च '**वा**' इत्येतावद्विहाय "**उज्झं सयं ठिइपमाणं**" इत्यस्य देहलीदीपकन्यायेन "**बंधइ**" इत्यादिनाप्यन्वयात् "**धुव**" इत्यादिना भणितानां ध्रुवबन्ध्यादिप्रकृतीनां बन्धस्य "**णियमा**" इति वचनात् नियतत्वेऽपि तासां स्थितिबन्धमानविषये तु दुर्गमत्वलक्षणः पूर्वोक्तार्थ एव बोध्य इति ॥१५३८-४२॥

अथ कार्मणकाययोगमार्गणायां प्रस्तुतं विभणिषुः प्रागिवाऽनाहारकमार्गणायामपि सममेवाह—

कम्मा-ऽणाहारेसुं उरालमीसव्व सव्वपयडीणं । णवर जिणलहुबंधी कुणइ सठाणव्व णामाणं ॥१५४३॥

(प्रे०) "**कम्मा-ऽणाहारेसु**"मित्यादि, सुगमा, केवलमपवादकरणं जिननामजघन्यस्थितिबन्धस्वामिनामिह त्रिगतिकतया तज्जघन्यस्थितिं बध्नतो देवद्विकस्य स्वामिद्वैविध्यकृतः स्याद्बन्धो भवति, औदारिकमिश्रे तु मनुष्यलक्षणैकविधस्वामीति कृत्वा तस्य नियतबन्ध एवोक्त इति ॥१५४३॥

अथ क्रमप्राप्तवेदमार्गणास्थानचतुष्टयमध्यान्नपुंसकादिवेदत्रये प्राह प्रस्तुतसंनिकर्षम्—

साय-णवावरण-पुरिस-चउसजलण-जस उच्च विग्घाओ । वेअतिगे बंधतो लहुठिइमेगस्स बंधेइ ॥
णियमाऽण्णाण जहण्ण पुमथीसु पणिंदियव्व सेसाण । णपुमे ओघव्व भवे णवर जिणणामलहुबंधी ॥
सखेज्जगुणाऽब्भहिय ठिइमाहारगदुगस्स बंधेइ । ·· ··· ॥१५४४-४५॥

(प्रे०) "**साये**"त्यादि, तत्र सातवेदनीयादिप्रधानसंनिकर्षे "**णियमाऽण्णाण जहण्णं**" ति सातवेदनीयादीनां प्रत्येकं जघन्यस्थितेस्तत्तन्मार्गणाचरमस्थितिबन्धनिर्वर्तकक्षपकलक्षणतुल्यैकस्वामिकत्वे सत्यनिवृत्तिबादरगुणस्थाने जायमानत्वात् । शेषप्रकृतिप्रधानसंनिकर्षः पुंस्त्रीवेदमार्गणयोः पञ्चेन्द्रियौघमार्गणावदिति तु पञ्चेन्द्रियौघमार्गणावदनयोर्मार्गणयोरपि शेषप्रकृतीनां जघन्यस्थितेरसंज्ञिप्रमुखजीवस्वामिकत्वात् , पञ्चेन्द्रियौघमार्गणावत्सातवेदनीयादिजघन्यस्थितेरसंज्ञ्यादितत्तत्स्वामिकजघन्यस्थितितोऽसंख्येयगुणहीनत्वाच्च । एवमेव "**णपुमे ओघव्व भवे**"इत्यत्राऽपि विभावनीयम् ; यत्तु "**णवर**" इत्याद्यपवादभणनं तत्तु जिननामजघन्यस्थितिबन्धस्वामिनामुपशामकत्वादित्यादि स्वस्थानसंनिकर्षव्याख्यानाद्गतार्थमिति ॥१५४४-४५॥

अथ क्रमप्राप्ताऽपगतवेदमार्गणायां प्रस्तुतपरस्थानजघन्यस्थितिबन्धसंनिकर्षं विभणिषुस्तत्तुल्यवक्तव्यत्वात्सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायामपि सममेवाह—

· । ओघव्व सण्णियासो अवेअ-सुहुमेसु सव्वेसिं ॥१५४६॥

(प्रे०) "**ओघव्व**" इत्यादि, सुगमम् , केवलं "**सव्वेसिं**" ति अपगतवेदादितत्तन्मार्गणाबन्धप्रायोग्यैकविंशत्यादिसर्वप्रकृतिप्रधान इति ॥१५४६॥

तदेवं गतो वेदमार्गणास्थानेष्वपि प्रस्तुतः संनिकर्षः, साम्प्रतं क्रमप्राप्तकषायमार्गणास्थानेषु तं प्रतिपिपादयिषुर्लोभमार्गणायां प्रागनपवादौघातिदेशप्रस्तावेऽतिदिष्टत्वाच्छेपासु क्रोध-मान-माया-मार्गणासु प्रतिपादयन्नाह—

कोहे णवावरण-चउसंजलण-जसु-च्च-साय-विग्घाओ। एगस्स हस्सबंधी णियमाऽण्णेसिं लहुं चेव ॥
माणम्मि णवावरण-तिसंजलण-जसु-च्च-साय विग्घाओ । एगस्स हस्सबंधी णियमाऽण्णेसिं लहुं चेव ॥
मायाअ णवावरण-दुसंजलण जसु-च्च-साय-विग्घाओ। एगस्स हस्सबंधी णियमाऽण्णेसिं लहुं चेव ॥
तीसु पि कसायेसुं सेसाणोघव्व होइ .... । ॥१५४७-१५४९॥

(प्रे०) "कोहे" इत्यादि, सुगमा साधिकगाथात्रयी ॥१५४७-१५४९॥

अथ क्रमप्राप्तज्ञानमार्गणास्थानेषु प्रस्तुतसंनिकर्षो वक्तव्यः, तत्र मति श्रुता-ऽवधिज्ञानमार्गणासु निजिगदिषुरवधिदर्शन-सम्यक्त्वौघौ-पशमिकसम्यक्त्व-क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणास्वपि सममेवाह—

[1]................ णाणतिगे। ओहिम्मि सम्म-उवसम-खइएसु णराउलहुबंधी॥
[2]जस सायाणं बंधइ सिआ असखियगुणाहियं णियमा । आवरणाण णवण्ह पुम-सजलणु-च्च-विग्घाण॥
[3]बंधइ सिआ दुजुगल असाय-थिराऽथिरदुगा-ऽजसाण ठिइ। सखेज्जगुणाऽभहियं णरओरालदुग-वइराणं॥
[4]ठिइमाणं सयमुज्जं णियमा बंधेइ सखगुणअहियं । सेसमणुयजोग्गाणं तेत्तीसाअ जिणवज्जाणं ॥
[5]देवाउहस्सबंधी णियमा बंधइ असंखगुणअहियं। साय-णवावरण-पुरिस संजलण जसु-च्च-विग्घाणं॥
[6]णियमा बंधइ संखियगुणाहियमियरसुराउजोग्गाण । तित्थयरा-ऽऽहारगदुगवज्जाण एगचत्ताए ॥
[7]णरुरलदुग-वइराण लहुबंधी बंधए सठाणव्व। णामाण सुराउव्व उ सेसाण मणव्व अण्णेसिं ॥१५५०-५६॥

(प्रे०) "णाणतिगे" इत्यादि, तत्र तृतीयगाथायाः पूर्वार्धे "दुजुगल"त्ति हास्यरतियुगलं शोकाऽरतियुगलं चेत्यर्थः॥ "थिराथिरदुग" इत्यत्र द्विकशब्दस्य स्थिरास्थिरयोः प्रत्येकं सम्बन्धो वाच्यस्तथा च तेन स्थिरशुभादिप्रकृतिचतुष्टयसंग्रहः। तदुत्तरार्धे "तेत्तीसाअ"त्ति निद्राद्विक-मध्यमकषायाष्टक-भय-जुगुप्सा-पञ्चेन्द्रियजाति--प्रथमसंहननसंस्थान- नामध्रुवबन्धिनीनवक-सुखगति-पराघातो-च्छ्वास-त्रसचतुष्क-सुभगत्रिकलक्षणानां त्रयस्त्रिंशत इत्यर्थः । षष्ठगाथापूर्वार्धे "इयर-सुराउजोग्गाणं" इत्यभिधानं देवगतिप्रयोग्यं बध्नतः सात हास्य-रत्यादिवदसात-शोका-ऽरत्यादीनां बन्धप्रायोग्यत्वेऽपि देवायुष्कं बध्नतोऽसात-शोका-ऽरत्य स्थिरत्रिकलक्षणानां षण्णामवश्यमबन्धेन प्रस्तुते देवायुष्कप्रधानसंनिकर्षे तासामसातवेदनीयादीनां षण्णां बन्धप्रतिषेधार्थम्, तत्प्रतिपक्षभूतानां सातवेदनीयादीनां षण्णां मतिज्ञानावरणादिवत् नियतबन्धप्रतिपादनार्थञ्च। तथाच "एग-चत्ताए" इत्यनेन निद्राद्विक- प्रत्याख्यानावरणाऽप्रत्याख्यानावरणकषायाऽष्टक हास्य-रति भय-जुगुप्सा देवद्विक-वैक्रियद्विक -पञ्चेन्द्रियजाति-प्रथमसंस्थान-सुखगति-पराघातो च्छ्वास त्रसनवक नामध्रुवबन्धिनवकलक्षणा एकचत्वारिंशत्प्रकृतयो बोद्धव्याः; मनुष्यद्विकाद्याः पञ्चेह शेषास्वसंगृह्य तासां पृथग्ग्रहणं तु निरपवादातिदेशतः प्रतिपादनस्येष्टत्वात् । स्याद्धि तासां 'मणव्व' इत्यतिदेशविषयशेषप्रकृतिषु संग्रहेऽन्याऽपवादस्याऽप्रसंगेऽपि औपशमिक-सम्यक्त्वमार्गणायां तत्प्रधानसंनिकर्षे

जिननामबन्धप्रतिषेधलक्षणापवादभिधानप्रसङ्गः, प्रथमौपशमिकसम्यक्त्ववतां तत्प्रकृतिपञ्चकजघन्य-स्थितिबन्धस्वामित्वात्, तेषां तु जिननामाबन्धाच्चेति। शेषं गतार्थप्रायमिति।

इदं तु बोध्यम्–औपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायामायुर्बन्धस्याभावेन तत्राऽऽयुर्वर्जप्रकृतिप्रधानसंनिकर्ष एव ज्ञेयः, आयुष्कद्वयप्रधानसंनिकर्षे जिननाम्नः स्याद्बन्धादिकस्याऽप्रतिपादितत्वेन प्रकृतानुक्तप्रतिषेधनीत्या यद्यपि तस्य जिननाम्नो बन्धप्रतिषेध एव गम्यते तथाऽपीह व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेस्तस्य बन्धप्रतिषेधो नैव गम्योऽपि तु तदीयस्याद्बन्धादिकमागमानुसारेण स्वयमूह्यमिति ॥१५५०-१५५६॥

अथ क्रमाप्तमनःपर्यवज्ञानमार्गणायां प्रस्तुतं व्याजिहीर्षुस्तत्तुल्यवक्तव्यत्वात्संयमौघेऽपि सममाह–

मणणाणसंजमेसुं असंखगुणहियं सुराउलहुबंधी। णियमा-ऽऽवरणणवग पुम-संजलण जसुच्च साय-विग्घाण ॥ (गीति)

सत्था-ऽऽहारदुगाण सिआ उ संखियगुणाहिय णियमा। छअसायाई वज्जिअ सेसाण मणव्व सेसाणं ॥१५५७-५८॥

(प्रे०) "**मणणाणसंजमेसु**" इत्यादि, अत्राऽपि "**छअसायाई वज्जिअ**" इत्यनेनाऽसातवेदनीयादीनां वर्जनमनन्तरदर्शितनीत्या बोद्धव्यम्। शेषं गतार्थमिति ॥१५५७-५८॥

अथ क्रमप्राप्तज्ञानप्रतिपक्षमार्गणाभ्यो मत्यज्ञान श्रुताज्ञानमार्गणयोः प्राग् "एगस्स हस्सबंधी तिरिये दुअणाण-अभविय-मिच्छेसु" (गाथा–१४२७-१४४५) इत्यादिना तिर्यग्गत्योघेन समं प्रस्तुतसंनिकर्षस्य भणितत्वादवशिष्टायां विभङ्गमार्गणायामाह–

[1] एगस्स विभंगे धुव पुम-रइ-हस्स-सुहदेवजोग्गाओ। लहुठिइबंधी बंधइ लहुमलहुं व णियमाऽण्णेसिं ॥
[2] एगस्स असाय-अरइसोगजुगल अथिर असुह-अजसाओ। लहुबंधी बंधइ लहुमलहु व ठिइ सिआऽण्णेसिं॥
[3] तप्पडिवक्खाण तिरिणरसुरुरलविउवगोअजुगलाणं। वइरुज्जोआण सिआ बंधइ संखेज्जगुणअहियं ॥
[4] णियमा संखगुणहियं सट्ठीए सेसतिगइजोग्गाणं। थीलहुबंधी बंधइ सिआ ठिइं संखगुणअहियं॥
[5] साय रइ हस्स-तिरिणरसुरुरलविउवदुग-वइररिसहाण। पढमागिइ-उज्जोअग-थिर-सुह-जस-उच्च णीआण ॥

[6] संखेज्जभागअहियं सिआ ठिइमसाय-सोग अरईण। संघयणआगिईण दोण्ह अथिर-असुह अजसाण ॥
[7] णियमा संखगुणहिय सेसतिगइजोग्गअट्ठवण्णाए। णपुमस्स हस्सबंधी असाय-सोग-अरईण तहा ॥
[8] संघयणा-ऽऽगिइचउग-अथिरदुग-अजसाण संखभागहियं। बंधइ सिआ सिआ उण बंधइ साय-रइ-हस्साणं॥
[9] वइर-सुहागिइ तिरिणरगोअदु-गुज्जोअ-थिर-सुह जसाण। संखगुणहिय णियमा धुवाऽण्णसुहदुगइजोग्गाण।
[10] णिरयाउहस्सबंधी धुव-पंचिंदिय-विउव्वियदुगाण। परघा-ऊसासाण तसचउगस्स तह णीअस्स ॥
[11] सगवण्णाए बंधइ संखेज्जगुणाहिय ठिइ णियमा। सेसणिरयजोग्गाणं ठिइमाणं चउवसण्ह सयं ॥
[12] तिरिमणुयाऊण मणव्व णवरि जेसिं असंखगुणअहियं। उत्तं संखगुणहियं सिमसायाईण छण्ह ठिइमुज्झं ॥
[13] माण तु सय थीअ व सुराउबंधी सिआ पुमस्स पुण। संखगुणहिय णियमा धुव रइ हस्स-ऽण्णसुसुर-जोग्गाणं ॥

[१४]णामसठाणव्व णिरयदुगलहुबंधी उ संखगुणअहियं । धुव-णीआणं णियमा संखंसहियं चउण्ह ठिइ ॥
[१५]एगस्स हस्सबंधी तिरिदुग-णीआउ णियमओ दोण्हं । तहुरलदुग-वइराणं दुविहं उज्जोअगस्स सिआ ॥
[१६]णियमा संखगुणहियं बंधेइ धुव-रइ-हस्स-पुरिसाणं । सेससुहपणिदितिरियजोग्गाणु-ज्जोअगस्सेवं ॥
[१७]णरदुगलहुठिइबंधी णामाणं बंधए सठाणव्व । णियमा सखगुणहिय धुव-रइ-हस्स-पुरिसु-च्च-सायाणं ॥
[१८]उरलदुगवइरलहुठिइबंधी बधइ ठिइं सठाणव्व । णामाण सिआ बधइ णीअस्स जहण्णमियर वा ॥
[१९]उच्चस्स सिआ बंधइ सखेज्जगुणाहिय ठिइ णियमा । सेसधुवबंधिणीण तह पुम-रइ-हस्स-सायाण ॥
[२०]णामाण सठाणव्वा-ऽऽयव-थावरजाइचउगलहुबंधी । णियमा णपुंसगस्स उ बंधइ सखेज्जभागहियं ॥
[२१]बंधेइ अरइ-सोग-असायाण सिआ तदियरतिण्ह सिआ । संखगुणहिय णियमा धुव-णीआण विउवव्व सेसाणं ॥
[२२]णवरि असायस्स तहा सोग-अरइ-अथिर-असुह-अजसाण । ठिइमाण विण्णेय संखेज्जदिभागअब्भहियं ॥
॥ १५५९-१५८० ॥(त्रयोदशी एकविंशी च गीति)

(प्रे०) "**एगस्स विभंगे**"इत्यादि, इह मार्गणायां केवला मिथ्यादृष्टयश्चतुर्गतिकाः पर्याप्तसंज्ञि-पञ्चेन्द्रियजीवा एव प्रविष्टाः; नान्येऽविरतसम्यग्दृष्ट्याद्याः पश्चात्कृतासंज्ञिनोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रिया एके-न्द्रियविकलेन्द्रिया वा, तथाच बन्धप्रायोग्यप्रकृतिमध्यात्कासाञ्चिद् ध्रुवबन्ध्यादीनां जघन्यस्थितेः संयमाभिमुखाः सम्यक्त्वाभिमुखा वा स्वामिनः, तत्र ध्रुवबन्ध्यादीनां देवगतिप्रायोग्याऽध्रुवबन्धिनीनां च संयमाभिमुखाः, शेषासु मनुष्यगतिप्रायोग्याणां सम्यक्त्वाभिमुखा देवाः सप्तमनरकवर्जनारकाश्च, तिर्यग्गतिप्रायोग्याणां तु सम्यक्त्वाभिमुखसप्तमनरकनारका इति । शेषस्वस्थानस्वामिकजघन्यस्थिति-बन्धानामसातवेदनीय-शोका-ऽरति-स्त्री--नपुंसकवेद-नरकद्विक--जातिचतुष्क-द्वितीयादिसंहननपञ्चक-द्वितीयादिसंस्थानपञ्चक-कुखगत्या-तप-स्थावरचतुष्का ऽस्थिरषट्कलक्षणानां मध्यादपि कासाञ्चिद-सातवदेनीयादीनां चतुर्गतिका जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनः, कासाञ्चिन्नरकद्विकादीनां तु द्विगतिका-स्तिर्यग्मनुष्याः, न पुनर्देवनारका इत्यादि स्वामित्वद्वारोक्तं सर्वं सम्यगवधार्य तत्तत्प्रकृतिजघन्य-स्थितिबन्धस्वामिनमपेक्ष्य लभ्यमानं प्रकृतिविच्छेदक्रमं सम्यक्त्वाभिमुखत्वाद्यवस्थाविशेषं चानु-सृत्याऽभ्यूह्यः संनिकर्षः प्राग्वत् । **तद्यथा**—आद्यगाथायां संयमाभिमुखस्वामिकजघन्यस्थितिबन्धा मतिज्ञानावरणाद्या एकसप्ततिप्रकृतीः संगृह्य तत्प्रधानः प्रस्तुतसंनिकर्षो भणितः; तत्र सर्वासां तुल्यै-करूपजघन्यस्थितिबन्धस्वामिकत्वात् तत्र प्रस्तुतमार्गणायामबन्धप्रायोग्यत्वेन जिननामादेरप्रविष्ट-त्वाच सर्वासां नियमतो जघन्याया वाऽजघन्याया वा स्थितेर्बन्धो लभ्यत इति सुष्ठूक्तम् "**लहुमहुं च णियमा**"इति । द्वितीयगाथायां तु स्वस्थानतत्प्रायोग्यविशुद्धस्वामिकजघन्यस्थितिबन्धा असातवेद-नीयाद्याः षट् प्रकृतीः संगृह्य तत्प्रधानो भणितः । आसां हि जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनश्चतुर्गतिका-स्तथाविधविच्छेदक्रमे द्विचरमस्थानगताश्चैताः; तथाचैता बध्नता त्रिचरमादिस्थानगताः प्रकृतय एव न बध्यन्ते, चरमस्थानगतमध्यात् संयमाद्यभिमुखस्वामिकजघन्यस्थितिबन्धाः काश्चिद् देवद्विकाद्या नाना-स्वामिनोऽपेक्ष्य स्याद्बध्यन्ते, काश्चित्तु ध्रुवं बध्यन्ते।**तद्यथा**—ध्रुवबन्धिनी-पुंवेद पञ्चेन्द्रियजात्याद्या-

श्रीमत्यां **प्रज्ञापनायाम्**–'सुक्किलवण्णणामस्स ण भंते ! कम्मस्स केवइयं काल ठिती पण्णत्ता ? गोयमा ! जहण्णेण सागरोवमस्स एग सत्तभाग पलितोवमस्स असंखिज्जभागेण ऊणग, उक्कोसेणं दस सागरोवमकोडाकोडीतो, दसवाससताइं अबाहा। हालिद्दवण्णणामए ण पुच्छा, गो० ज० सागरोवमस्स पच अट्ठावीसतिभागा पलितोवमस्स अ० भा० ऊ०, उ० अद्धतेरससागरोवमकोडाकोडी, अद्धतेरस वाससयाइ अबाहा, लोहितवण्णणामए ण पुच्छा, गो० ! जह० सागरोवमस्स छ अट्ठावीसतिभागा पलितोवमस्स अस०भागेहिं ऊणया, उ० पण्णरस सागरोवमकोडाकोडीओ,पण्णरसवाससयाति अबाहा,' इत्यादि ।

तदेवं प्रस्तुते **कर्मप्रकृतितच्चूर्ण्याद्यभिप्रायानुसारेण** शुभवर्णादीनामप्युत्कृष्टस्थितिबन्धमानं विंशतिसागरोपमकोटीकोटीमानमेवावसातव्यमिति ॥७२॥

तदेवं भणितमोघतः सर्वासामुत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धप्रमाणम् । साम्प्रतं तदेवाऽऽदेशतो निरयगत्योघादिमार्गणाभेदेन विभणिषुरादौ तावदायुर्वर्जानामुत्तरप्रकृतीनां तदाह—

असमत्तपणिंदितिरिय-मणुस-पणिंदि-तस-आणताईसु ।
आहारदुगम्मि विउवमीस-उरलमीस-कम्मेसु ॥७३॥
चउणाण-संयमेसु समइअ-छेअ-परिहार-देसेसु ।
ओहि-सुइल-सम्मेसु खाइअ-वेअग-उवसमेसु ॥७४॥
सासायण-मीसेसु तह-ऽणाहारम्मि जेट्ठठिइबंधो ।
अंतोकोडाकोडी आउगवज्जसगजोग्गाणं ॥७५॥

(प्रे०) "**असमत्तपणिंदि**"इत्यादि, अपर्याप्तशब्दस्य त्रसपर्यन्तेषु प्रत्येकं योजनाद् अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग-ऽपर्याप्तमनुष्या-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिया ऽपर्याप्तत्रसकायलक्षणेषु चतुर्षु मार्गणाभेदेषु, तथाऽऽनतकल्पादिषु पञ्चानुत्तरविमानपर्यन्तेष्वष्टादशदेवगतिमार्गणाभेदेषु, आहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगमार्गणाद्वयलक्षणे आहारकद्विके, वैक्रियमिश्रौदारिकमिश्रकार्मणकाययोगमार्गणाभेदेषु, मत्यादि चतुर्ज्ञान-सयमौघमार्गणासु,सामायिक-छेदोपस्थापन परिहारविशुद्धिक-देशसंयममार्गणासु,"**ओहिसुइलसम्मेसु**" ति अवधिदर्शन-शुक्ललेश्या सम्यक्त्वौघमार्गणासु, क्षायिक-वेदकौ-पशमिकसम्यक्त्वमार्गणासु, सासादन-मिश्रदृष्टिमार्गयोस्तथाऽनाहारकमार्गयामित्येवं गाथात्रयसंगृहीतासु पञ्चचत्वारिंशन्मार्गणासु प्रत्येकं "**जेट्ठठिइबंधो**" त्ति 'ज्येष्ठः' उत्कृष्टः स्थितिबन्धः "**अंतोकोडाकोडी**" त्ति अन्तःकोटीकोट्यः सागरोपमाणि, भवतीति शेषः । कासां प्रकृतीनां, किं सर्वासामुत कासाञ्चिदेवेत्याह–"**आउगवज्जसगजोग्गाण**" ति आयुष्कवर्जानां स्वकयोग्यानाम् , अपर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रियादितत्तन्मार्गणागतजीवानां बन्धप्रायोग्याणां प्रकृतीनामित्यर्थः । एवमुत्तरत्राऽपि स्वप्रायोग्यप्रकृतीनामित्यभिधाने तत्तन्मार्गणासु बन्धप्रायोग्याः-प्रकृतयो बोद्धव्याः ।

तत्तन्मार्गणासु बन्धप्रायोग्याः प्रकृतयः पुनरिमाः—

मनुष्यगत्योघ-पर्याप्तमनुष्य-मानुषी-पञ्चेन्द्रियौघ पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय--त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रस-

संनिकर्षो वैक्रियकाययोगमार्गणावद्भणितस्तत्र शेषप्रकृतय इमाः–प्रथमवर्जसंहननपञ्चक-प्रथमवर्जसंस्थानपञ्चक-कुखगति-दुर्भगत्रिकाणीति । "**णवरि असायस्स**" इत्यादिचरमगाथया तु तत्राऽतिदेशेऽपवादः पठितः, तत्त्र पुनर्वैक्रियकाययोगमार्गणायां सम्यग्दृशामपि प्रवेशेन तेषामेव तत्राऽसातादिप्रकृतिषट्कजघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वेऽपि प्रस्तुते तु स्वस्थानतत्प्रायोग्यविशुद्धमिथ्यादृशामेव तदीयजघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वादिति । विस्तरतस्तु प्रागिव स्वयमेव भावनीयमिति।। १५५९-८०।।

अथ क्रमप्राप्तसंयममार्गणास्थानेषु प्रस्तुतपरस्थानजघन्यस्थितिबन्धसंनिकर्षं प्रवक्तुकामः संयमौघे "मणणाणसयमेसु" (गाथा–१५५७–१५५८) इत्यादिना मनःपर्यवज्ञानमार्गणया सार्कं भणितत्वात् सामायिकसंयम-च्छेदोपस्थापनसंयममार्गणयोराह—

साय-णवावरणाओ अतिमलोह-जस-उच्च-विग्घाओ । एगस्स जहण्णठिइ समइअ-छेएसु बधंतो ।।
णियमाऽण्णाए लहुं चिअ मणणाणव्व हवए सुराउस्स । मणजोगव्व हवेज्जा सप्पाउग्गाण सेसाण ।।
।।१५८१–१५८२।।

(प्रे०) "**साय-णवावरणाओ**" इत्यादि, तत्र "**अण्णाण लहुं चिअ**" त्ति सातवेदनीयादिमध्यात्प्रधानीकृतेतरासां जघन्यामेवस्थितिं बध्नाति । कुतः ? प्रस्तुते चरमसमयानिवृत्तिबादरक्षपकस्य सातवदेनीयादिजघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वात् । "**मणणाण**व्वे" त्यादि, देवायुष्कप्रधानसंनिकर्षो मनःपर्यवज्ञानमार्गणावत् । सातवेदनीयादिप्रकृतीर्देवायुष्कं च विहाय शेषबन्धप्रायोग्यप्रकृतिप्रधानसंनिकर्षो मनोयोगमार्गणावदित्यर्थः । कुतः ? स्वामित्वतौल्यादिति । शेषं सुगमं गतार्थञ्चेति ।।

अथ क्रमप्राप्तपरिहारविशुद्धिकसंयममार्गणायां प्रस्तुतसंनिकर्षं प्रवक्ति—

परिहारे लहुबधो एगस्स धुव-रइ-हस्स-पुरिसाओ । सेससुहाओ आउग-तित्था-ऽऽहारदुगवज्जाओ ।।
बधइ णियमाऽण्णेसिं चउवण्णाए जहण्णमियर वा । तित्था-हारदुगाण सिआऽत्थि एमेव सिं तिण्हं ।।
एगस्स असाय-अरइसोगजुगल-अथिर-असुह-अजसाओ । लहुबधी बधइ लहुमलहु व ठिइ सिआऽण्णेसिं ।।
सप्पडिवक्खाण तहा तित्थस्स सिआ उ सखगुणअहियं । णियमाऽण्णाणा-ऽऽहारगदुगा-ऽऽउ-जिणवज्जसेसाणं ।।
तित्थाहारदुगाण व सखगुणहियं सुराउलहुबंधी । बधइ णियमा धुव-पुम-रइ-हस्साण सुहसेसाणं ।।
। १५८३–८७।।

(प्रे०) "**परिहारे**" इत्यादि, कण्ठ्याः ।।१५८३-८७।।

अथ सूक्ष्मसंपरायसंयममार्गणायां प्राक् "ओघव्व सण्णियासो अवेअ-सुहुमेसु सव्वेसिं" इत्यनेनाऽपगतवेदमार्गणया सह प्रस्तुतसंनिकर्षस्योक्तत्वात्क्रमाप्तदेशसंयममार्गणायामाह—

देसे जहण्णबधी धुवबंधीउ रइ-हस्स-पुरिसाओ । तित्था ऽऽउगवज्जाओ सेसपसत्थाउ एगस्स ।।
बंधइ णियमाऽण्णेसिं अडवण्णाए जहण्णमियरं वा । तित्थस्स सिआ बधइ एमेव हवेज्ज तित्थस्स ।।
एगस्स असाय-अरइसोगजुगल-अथिर-असुह अजसाओ । लहुबधी बंधइ लहुमलहुं व ठिइ सिआऽण्णेसिं ।।

स्त्रिगतिप्रायोग्या इति नियमतो बध्यन्ते , देवद्विक-वैक्रियद्विके देवनारकैर्न बध्येते, शेषैस्तु बध्येते, एव तासां स्याद्बन्धः, मनुष्यद्विकौदारिकद्विकप्रथमसंहननानि देवनारकैर्बध्यन्ते, न मनुष्यतिर्यग्भिः, तिर्यग्द्विक नीचैर्गोत्रो-द्योतनामानि सप्तमनारकैर्बध्यन्ते नेतरैरिति तासां स्याद्बन्धः, यद्वोद्योतनाम्नः स्वतः स्याद्बन्धः; नीचैर्गोत्र सप्तमनरकनारकैर्बध्यते, शेषैस्तु नेति तस्यापि स्याद्बन्धः ,प्रधानीकृतेतरप्रतिपक्षभूताः सातवेदनीयाद्यास्तु सप्रतिपक्षबन्धप्रायोग्या इति कृत्वैव स्याद्बन्धा इत्येवं तृतीयगाथायां तासां प्रधानीकृतेतरप्रकृत्यादीनां स्याद्बन्धो भणितः; चतुर्थगाथापूर्वार्धे तु मतिज्ञानावरणादीनां नियमबन्धो भणितश्च । असातवेदनीयादिमध्यात् प्रधानीकृतेतरासां जघन्योऽजघन्यो वा स्थितिबन्ध इति तु सुगमम् , तासां तथाविधविच्छेदक्रमे द्विचरमलक्षणतुल्यैकस्थानगतत्वात् । शेषाणां प्रतिपक्षभूतानां सातवेदनीयादीनां संख्येयगुणाभ्यधिकजघन्यस्थितिबन्धस्तु तासां जघन्यस्थितेः संयमाभिमुखस्वामिकत्वात् प्रधानीकृतानां स्वस्थानविशुद्धस्वामिकत्वाच्च प्राग्-दर्शितनीत्या । एममेवोत्तरत्राऽपि विभावनीयं स्वधिया । अक्षरार्थस्तु गतार्थ प्राय एव तथाऽपि क्वचित्किञ्चित् प्रदर्श्यते-"थीणद्धिबंधा" इत्यादि, स्त्रीवेदप्रधानसंनिकर्षे "सघयणआगिईण दोण्ह"इत्यनेन द्वितीयतृतीये संहनने संस्थाने च बोध्ये तथा "सेसतिगइजोग्गअट्ठवण्णाए" इत्यत्र "तिगइजोग्ग"इति पदमवच्छेदकपरम् , तथाच न द्विगतिप्रायोग्याणामेकगतिप्रायोग्याणां वा तेन संग्रहः "तिगइ"इत्यनेन नरकगतिवर्जा गतित्रयी च बोध्या । एवमेव पूर्वे चतुर्थगाथायामपि विज्ञातव्यम् । नपुंसकवेदप्रधानसंनिकर्षेऽष्टमगाथास्थेन"संघयणाऽऽगिइचउग"इत्यनेन मध्यमं संहननचतुष्टयं संस्थानचतुष्टयं च ज्ञेयम् । नवमगाथोत्तरार्धे "दुगइजोग्गाणं" इत्यपि प्राग्वत्; केवलं द्वे गतीह मनुष्यतिर्यग्गतिरूपे बोध्ये । एकादशगाथोत्तरार्धे "सेसणिरयजोग्गाणं ठिइमाणं चउदसण्ह सय"इति नरकायुष्कप्रधानसंनिकर्षेऽसात शोका ऽरति-नपुंसकवेद नरकद्विक हुंडसंस्थान-कुखगत्य-ऽस्थिरषट्कलक्षणा याश्चतुर्दश निरयप्रायोग्याः शेषप्रकृतयस्ता यद्यपि ध्रुवबन्ध्यादीनामिव नियमतो बध्यन्ते परं तासां तदानीं स्थितिबन्धमानं कियद्भिरुच्यते नरकायुष्कजघन्यस्थितिबन्धकेनेति तु न ज्ञायत इत्यतस्तत् "ठिइमाणं चउदसण्ह सय"इत्यनेन मुकुलितमेववर्जितम् । एवमेव द्वादशगाथायां तिर्यग्मनुष्यायुष्कप्रधानसंनिकर्षे "सिमसायाईण छण्ह ठिइ-सुज्झ"इत्यनेनाऽसातादीनां षण्णां स्थितिबन्धमानविषये तथा त्रयोदशगाथायां देवायुष्कप्रधानसंनिकर्षे "माणं तु सयं थीअ व"इत्यनेन स्त्रीवेदप्रकृतेः स्याद्बन्धमभिधायाऽपि तदीयस्थितिबन्धमानस्य मुकुलितवर्जने कारणं ज्ञेयम् । शेष तु सुगमार्थम् ,केवल चतुर्दशगाथाप्रान्ते"चउण्ह ठिइं" इत्यत्र 'चउण्ह' इति असात-शोका ऽरति नपुंसकवेदप्रकृतीनाम् । षोडशगाथाप्रान्ते "उज्जोअ-गस्सेवं" इति उद्योतनामप्रधानसंनिकर्षोऽनुपद भणिततिर्यग्गत्यादिप्रकृतिप्रधानसंनिकर्षवदित्यर्थः । द्विचरमाया एकविंशतितमगाथायाः प्रान्ते "विउव्वव्व सेसाणं"इत्यनेन चतुर्दशशेषप्रकृतिप्रधान-

१०णियमा संखगुणहियं गुणतीसाअ सुहदेवजोग्गाणं । रइ-हस्साणऽण्णेसिं धुवबंधीण गुणचत्ताए ॥
११एगस्स जहण्णठिइ णरउरलदुग-वइराउ बंधंतो । णियमाऽण्णेसिं बंधइ ठिइ जहण्णमजहण्णं वा ॥
१२तित्थस्स सिआ बंधइ सखेज्जगुणाहिय ठिइं णियमा पणवीस-सुणरजोग्ग-रइ-हस्स-पुम-धुविगतीसाण॥
१३परिहारव्वऽण्णेसिं चउसट्ठीएऽत्थि देवजोग्गाणं । सोहम्मसुरव्व भवे सप्पाउग्गाण सेसाण ॥
॥१५९४-१६०६॥ (चतुर्थ्यष्टमी नवमी च गीतयः)

(प्रे०) "**एगस्स**" इत्यादि, तत्र तेजोलेश्यायां नरकत्रिक-विकलत्रिक-सूक्ष्मत्रिकवर्जा एकादशोत्तरशतं तथा पद्मलेश्यामार्गणायां भणितनरकत्रिकाद्या नवैकेन्द्रिय-स्थावरा-ऽऽतपनामानि चेति द्वादशप्रकृतीर्विहाय या अष्टोत्तरशतं प्रकृतयो बन्धप्रायोग्यास्तन्मध्यान्नपुंसकवेद-तिर्यग्द्विक-मनुष्यद्वि-कौदारिकद्विक-संहननषट्क-प्रथमवर्जसंस्थानपञ्चक-कुखगति-दुर्भगत्रिको द्योतै-केन्द्रिय-स्थावरा-ऽऽतपनामानि नीचैर्गोत्रं तिर्यग्मनुष्यायुषी चेत्येता एकोनत्रिंशतं प्रकृतीर्विहाय शेषा द्व्यशीतिः प्रकृतयो देवप्रायोग्याः सन्ति, किञ्च प्रस्तुतमार्गणाद्वये तिर्यग्मनुष्या देवप्रायोग्याः प्रकृतीरेव बध्नन्तीति प्राग्भणितमेव, त एव यथासम्भवं तज्जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनश्च । तत्र संयमाभिमुखस्वामिकजघन्यस्थितिबन्धा याः स्त्यानर्द्धित्रिका-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्क-मिथ्यात्वलक्षणा अष्टौ प्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्टयमप्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्टयं च तत्प्रधानः प्रस्तुतसंनिकर्षः प्रथमादिगाथापञ्चकेन भणितः । षष्ठादिगाथात्रयेण स्त्रीवेदप्रधानस्तथा देवायुष्कमनुष्यद्विकौदारिकद्विकप्रथमसंहननप्रधानोऽसौ नवमादिगाथाचतुष्टयेन प्रतिपादितः । शेषमतिज्ञानावरणादीनां चतुःषष्टेस्तु चरमगाथापूर्वार्धे "**परिहारव्वऽण्णेसिं चउसट्ठीएऽत्थि देवजोग्गाणं**"इत्यनेन सर्वथा परिहारविशुद्धिकमार्गणावदतिदेशेन कथितः,यतस्तुल्या एव प्रस्तुतमार्गणाद्वये परिहारविशुद्धिकमार्गणायां च तासां चतुःषष्टेर्जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनः । यद्यपि स्त्यानर्द्धित्रिकादीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनोऽत्र मनोयोगादिमार्गणातुल्या भवन्ति तथाऽपि स्त्यानर्द्धित्रिकादिजघन्यस्थितिं बध्नतो बन्धप्रायोग्याणां मतिज्ञानावरणादीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनस्तत्र मनोयोगादौ प्रस्तुते च न तुल्याः, तथाच तत्र तासां जघन्यस्थितिं बध्नतो मतिज्ञानावरणादीनामसंख्येयगुणाभ्यधिकजघन्यस्थितिबन्धभावेऽपि प्रस्तुते संख्येयगुणाधिकजघन्यस्थितिबन्धस्य भावान्मनोयोगवदित्यनुक्त्वा साक्षात्संनिकर्षाभिधानं कृतमिति । देवप्रायोग्यद्व्यशीतिप्रकृतीर्विहाय याः शेषा एकोनत्रिंशत् षड्विंशतिश्च प्रकृतयस्तज्जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनस्तु देवा एव, किञ्च तासु मनुष्यद्विकौ-दारिकद्विक-प्रथमसंहननजघन्यस्थितिबन्धस्वामिनः सम्यग्दृष्टयः स्वस्थानविशुद्धाः देवाः, शेषाणामपि चतुर्विंशतेरेकविंशतेश्चाऽपि स्वस्थानविशुद्धदेवा एव जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनः; केवलं मिथ्यादृष्टय इत्यतो मनुष्यद्विकादिपञ्चप्रकृतिप्रधानः संनिकर्ष एकादशद्वादशगाथाद्वयेन प्रतिपादितः । चतुर्विंशत्यादिशेषाणां तु "**सोहम्मसुरव्व भवे सप्पाउग्गाण सेसाण**"मित्यनेनाऽतिदिष्टः । ननु मनुष्यद्विकादिप्रधानोऽप्यसौ कथं सौधर्मकल्पमार्गणावन्नातिदिष्टः ? **इति चेत्,** सौधर्मकल्पेऽपि मनुष्यद्विकादिजघन्यस्थितिबन्ध-

तत्पडिवक्खाण तहा तित्थस्स सिआ उ सखगुणअहियं । बंधइ णियमाऽण्णेसिं आउगपडिवक्खवज्जाणं ॥
देवाउहस्सबंधी सिआ जिणस्स खलु संखगुणअहियं । बंधइ णियमा धुव-पुम-रइ-हस्साण सुहसेसाणं ॥
॥१५८८-९२॥

(प्रे०) 'देसे' इत्यादि, कण्ठ्याः ॥१५८८-९२॥

अथ संयमप्रतिपक्षभूतायामसंयममार्गणायां प्रस्तुतमतिदिदिक्षुस्तुल्यवक्तव्यत्वादशुभलेश्या-मार्गणात्रयेऽपि सममेवाह—

अजया-ऽसुहलेसासु जिणवज्जाण तिरियव्व जिणबंधी । णामाण सठाणव्व उ बंधइ णिरयव्व अण्णेसिं ॥
॥१५९३॥

(प्रे०) "अजया-ऽसुहलेसासु"मित्यादि, "जिणवज्जाण तिरियव्व"त्ति जिनवर्जशेषबन्ध-प्रायोग्यसप्तदशाभ्यधिकशतप्रकृतिप्रधानः प्रस्तुतसंनिकर्षस्तिर्यग्गत्योघमार्गणावत् "एगस्स हस्सबंधी तिरिये"(गाथा-१४२७-४५ इत्याद्येकोनविंशतिगाथाभिर्भणितस्वरूपो ज्ञेयः ।"जिणबंधी"त्ति जिन-नामजघन्यस्थितिं बध्नन् देवगत्यादिनामप्रकृतीनां स्याद्बन्धको नियतबन्धको वा भवतीत्यादि "सठाणव्व"त्ति प्रस्तुतमार्गणादर्शितजिननामप्रधानस्वस्थानजघन्यस्थितिबन्धसंनिकर्षवत् । नामे-तरासां मतिज्ञानावरणादीनां नियतबन्धकोऽनियतबन्धको वेत्यादि तु "णिरयव्व" त्ति नरक-गत्योघदर्शितजिननामप्रधानपरस्थानजघन्यस्थितिबन्धसंनिकर्षवदित्यर्थः, शेषं गतार्थमिति॥१५९३॥

अथ क्रमाप्तदर्शनमार्गणास्थानमध्याच्चक्षुर्दर्शनमार्गणायां 'दुतसवयणचक्खुसु"(गाथा-१४८७) इत्यादिना त्रसौघादिमार्गणाभिः समम्, अचक्षुर्दर्शनमार्गणायां "ओघव्व सण्णियासो"(गाथा-१३८२) इत्यादिना काययोगौघादिमार्गणाभिः साकं सर्वथौघवत् तथाऽवधिदर्शनमार्गणायां "णाणतिगे ओहिम्मि" (गाथा-१५५०)इत्यादिना मतिज्ञानादिमार्गणाभिः सह प्रस्तुतसंनिकर्षोऽभिहित एव प्राक्, केवलदर्शन-मार्गणायां कषायप्रत्ययस्थितिबन्धाभावान्मूलत एवाऽसौ न भण्यते, तथाच गता दर्शनमार्गणा-भेदाः । तदनु क्रमावाप्तलेश्यामार्गणास्थानेषु तत्प्ररूपणावसरः,तत्राऽपि अप्रशस्तकृष्णादिलेश्यामार्गणा-त्रयेऽनुपदमेव "अजयाऽसुहलेसासु" इत्यादिनाऽसंयममार्गणया साकं भणितः प्रस्तुतसंनिकर्ष इति क्रमाप्ततेजःपद्मलेश्यामार्गणयोराह—

[1]एगस्स हस्सबंधी थीणद्धितिगा-ऽणचउग-मिच्छाओ । तेउपउमासु बंधइ णियमाऽण्णाण लहुमलहुं वा ॥
[2]णियमा सखगुणहियं गुणतीसाअ सुहदेवजोग्गाण । पुम रइ-हस्साण तहा सेसिगतीसधुवबंधीणं ॥
[3]एगस्स हस्सबंधी दुइअकसायाउ तिण्ह अण्णेसिं । णियमा हिन्तो बंधइ ठिइं अहण्णमजहण्ण वा ॥
[4]तित्थस्स सिआ बंधइ संखेज्जगुणाहिय ठिइ णियमा । पणतीसधुव-पुरिस-रइ-हस्साण-ऽण्णसुहदेवजोग्गाणं ॥
[5]एगस्स हस्सबंधी तइअकसायाउ तिण्ह अण्णेसिं । लहुमलहुं वा णियमा दुइअकसायव्व सेसाणं ॥
[6]णियमा धुव-पंचिंदिय-परघा-ऊसास तसचउक्काणं । तह सुहगतिग-सुहखगइ-उच्चाणितिथलहुठिइबंधी ॥
[7]सखगुणहिय दुजुगल-णरसुरुरालियविउव्वियदुगाणं ।सायेयर-वइर-सुहागिइ-तिथिराइजुगलाण सिआ ॥
[8]सखसहिय संघयणा-गिइदुइअतइआण कुणइ सिआ।णवरि पउमाअ णियमा णरउरलदुगाण ण सुरविउवदु ॥
[9]देवाउहस्सबंधी थीअ सिआ खलु सयं ठिइपमाण। बंधइ संखगुणहियं पुमस्स णवरि पउमाअ णियमा से॥

मुखमिथ्यादृष्ट्यादिस्वामिकत्वेऽपि तथाऽतिदेशं विहाय सर्वसाम्यतया लाघवान्मनोयोगमार्गणावद्भणितो निरपवाद एकोनविंशतिवर्जशेषबन्धप्रायोग्यपञ्चाशीतिप्रकृतिप्रधानः संनिकर्षः । शेषं तु सुगमं प्रागिव विभावनीयं चेति ।।१६०७-१६०८।।

तदेवं गतो लेश्यामार्गणाषट्केऽपि प्रस्तुतसंनिकर्षः । ततः क्रमगतायां भव्यमार्गणायां प्रागादेशवक्तव्यतायाः प्रारम्भ एव "ओघव्व सण्णियासो" (गाथा-१३८३) इत्यादिना काययोगौघादिमार्गणाभिः साकं सर्वथौघवद्भणितः, अभव्यमार्गणायां तु "एगस्स हस्सबंधी तिरिये दुअणाण अभवि" (गाथा-१४२७) इत्यादिना तिर्यग्गत्योघादिमार्गणाभिः सह प्रतिपादितश्च । साम्प्रतं सम्यक्त्वमार्गणावसरः, तत्राऽपि सम्यक्त्वौघे क्षायिकौपशमिकसम्यक्त्वमार्गणयोश्च "णाणतिगे । ओहिम्मि य सम्म-उवसमखइएसु" (गाथा-१५५०) इत्यादिना मतिज्ञानादिमार्गणाभिः समं प्रस्तुतसंनिकर्षस्य पठितत्वात् क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायामाह—

बारससायाईण णराउबंधी मिआ खओवसमे । सखगुणअहिय बंधइ णरओरालदुग-वइराणं ।।
ठिइमाणं सयमुज्झं णियमा बंधेइ सखगुणअहियं । सेसमणुयजोग्गाण जिणवज्जाण सगवण्णाए ।।
देवाउहस्सबंधी धुव-पुम-रइ-हस्स-सुसुरजोग्गाण । जिणवज्जाण णियमा सखगुणहियमियराण तेउव्व ।।
।।१६०९-११।। (तृतीया गीति)

(प्रे०) "बारससायाईणं" इत्यादि, सुगमम्, केवलमायुष्कद्वयप्रधानसंनिकर्षे जिननाम्नो वर्जनं मतिज्ञानादिमार्गणवदेव, तथैव मनुष्यपञ्चकवर्जशेषसर्वासां संख्येयगुणाभ्यधिक एव जघन्यस्थितिबन्धस्त्विह तेजोलेश्यावत्सप्तमगुणस्थानान्तानामेव प्रवेशेन मतिज्ञानामार्गणादीनां जघन्यस्थितिबन्धस्याऽनौधिकत्वात्, अन्तःकोटीकोटीसागरोपमत्वादिति भावः । अत एव आयुष्कद्वयवर्जशेषप्रकृतिप्रधानसंनिकर्षोऽपि "तेउव्व" इत्यनेन तेजोलेश्यावद्दर्शितः । ननु तेजोलेश्यायां मिथ्यादृष्ट्योऽपि प्रविष्टाः, इह तु तत्प्रवेश एव नास्ति तर्हि कथं शेषप्रकृतिप्रधानसंनिकर्षः सर्वथा तेजोलेश्यामार्गणावद्? इति चेत्, तेजोलेश्यामार्गणायां मिथ्यादृशां प्रवेशेऽपि यास्तत्स्वामिकजघन्यस्थितिबन्धास्स्त्यानर्द्धित्रिकादयः प्रकृतयस्तासां तत्रेह च तद्वर्जमतिज्ञानावरणादिजघन्यस्थितिं बध्नतां बन्ध एव नास्ति, अतो भवति सर्वथा तुल्यत्वम्; स्त्यानर्द्धित्रिकादीनां त्विह मूलत एव बन्धो नास्तीति । विस्तरस्तु प्रागिव कार्य इति ।।१६०९-१६११।।

अथ सम्यग्मिथ्यात्वमार्गणायां प्रस्तुतसंनिकर्षमाह—

मीसे धुव-साय-पुरिस-हस्स-सुहागिइ-पणिदिय-रईओ । परघा-ऊसासाओ सुवगइ-तसदसग-उच्चाओ ।।
एगस्स हस्सबंधी णियमाऽण्णेसिं जहण्णमियर वा । बंधइ ठिइ सिआ णरसुरुरलविउवदुग-वइराण ।।
एगस्स असाय-अरइ-सोगजुगल-अथिर-असुह-अजसाओ । लहुबंधी बंधइ लहुमलहुं व ठिइ सिआऽण्णेसिं ।।
सप्पडिवक्खाण तहा णरसुरुरलविउवजुगल-वइराण । बंधेइ सिआ संखियगुणहियमण्णाण णियमाओ ।।
हस्सठिइ बंधतो णरसुरुरलविउवजुगल-वइराणं । णामाण सठाणव्व उ णाणावरणव्व सेसाणं ।।
।।१६१२-१६।।

स्वामिनामिव मतिज्ञानावरणादीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनः स्वस्थानविशुद्धाः सम्यग्दृष्टय एव, तत्स्वामिको हि मतिज्ञानावरणादिजघन्यस्थितिबन्धो मिथ्यादृष्टिसौधर्मदेवस्वामिकजघन्यस्थिति-बन्धापेक्षया संख्येयगुणः सन्नपि मनुष्यद्विकादिजघन्यस्थितिबन्धस्वामिकेन मतिज्ञानावरणादिजघन्य-स्थितिबन्धेन तुल्य एव; तथाच सौधर्मकल्पमार्गणायां मनुष्यद्विकादिजघन्यस्थितिं बध्नतो मति-ज्ञानावरणादीनां जघन्योऽवाऽजघन्यो वा स्थितिबन्धो लभ्यते, प्रस्तुते तु मतिज्ञानावरणादिजघन्य-स्थितिबन्धो विशुद्धतमाप्रमत्तस्वामिकस्तदपेक्षयाऽविरतसम्यग्दृष्टिस्वामिको जघन्योऽपि स्थितिबन्धः संख्येयगुण एव, तथाच मनुष्यद्विकादेर्जघन्यस्थितिं बध्नतो मतिज्ञानावरणादीनां संख्येयगुणा-भ्यधिकजघन्यस्थितिबन्धो लभ्यत इति कृत्वा नपुंसकवेद-तिर्यग्द्विकादिप्रधानोऽसौ सौधर्मकल्पवदि-त्यभिधायाऽपि मनुष्यद्विकादिप्रकृतिपञ्चकप्रधानसन्निकर्षः पृथगेव प्रतिपादित इति ।

इदन्त्ववधेयम्—नवमगाथाया "देवाउहस्सबंधी" इत्यादिदेवायुष्कप्रधानसंनिकर्षे तेजो-लेश्याकदेवानां स्त्रीवेदि-पुंवेदिद्विविधतया तेजोलेश्यायां वेदद्वयस्य बन्धप्रायोग्यत्वाद् द्वयोरपि वेदयोः स्याद्बन्धो भवति, न तु तथा पद्मलेश्यायाम् ,पद्मलेश्याकदेवाना केवलपुंवेदितया तत्प्रायोग्यं बध्नतां केवलस्य पुंवेदस्यैव बन्धभावात् ; अत एव 'णवरि" इत्यादिना "से"इत्यनेन पद्मले-श्यायां पुंवेदस्य नियमाद्बन्धो भणितः । स्त्यानर्द्धित्रिकाद्यष्टप्रकृतीनां स्याद्बन्धाप्रतिपादन तु प्रस्तुतमार्गणाद्वये मिथ्यादृशामेव तदीयजघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वाधिकारात् , मिथ्यादृष्टीतरेषा-मपि तदीयजघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वाधिकारे तु तासां स्त्यानर्द्धित्रिकादीनामष्टानां मध्यमकषाया-ष्टकस्याऽऽहारकद्विकस्य जिननाम्नश्च यथासंभवं स्याद्बन्ध एव वाच्य इति । विस्तरतस्तु सर्वं स्व-यमेव भावनीयं प्रागिवेति ॥१५९४-१६०६॥

अथ क्रमाप्तशुक्ललेश्यामार्गणायां प्रस्तुतसनिकर्षमाह—

सुक्काअ थी-णपुसग-दुआउ दुहगतिग-कुखगईण तह । अतिमसघयणागिइपचग-णीआण पम्हव्व ॥
णवरि खवगपयडीण बावीसाए असखगुणअहिय । मणजोगव्व हवेज्जा पचासीईअ सेसाणं ॥
॥१६०७-१६०८॥

(प्रे०) "सुक्काअ" इत्यादि, अक्षरार्थः सुगमः, स्त्रीवेदाद्येकोनविंशतिप्रकृतिप्रधानसंनिकर्षस्य पद्मलेश्यावत्कथनं स्वामित्वस्येह तत्तौल्यात् । तद्यथा—एकोनविंशतिमध्यादायुर्द्वयं विहाय शेषसप्त-दशाना जघन्यस्थितेः स्वामिन उभयत्र स्वस्थानविशुद्धमिथ्यादृष्टयो देवाः,एवं मनुष्यायुष्कस्योभयत्र देवा देवायुष्कस्योभयत्राऽपि देवेतरजीवाश्च। तदेव स्वामित्वस्याविशिष्टत्वेऽपि "णवरि"इत्यादिना-ऽपवादपठन पद्मलेश्यायां मतिज्ञानावरणादिक्षपकप्रकृतिजघन्यस्थितिबन्धस्वामिनामप्रमत्तगुणस्थान-गतत्वेनाऽन्तःकोटीकोटीसागरोपमप्रमाणत्वेऽपि प्रस्तुते क्षपकाणामेव तज्जघन्यस्थितिबन्धस्वामि-त्वेन तासां जिननामाऽऽहारकद्विकवर्जानां क्षपकप्रकृतीनां जघन्यस्थितेरन्तर्मुहूर्तादिप्रमाणत्वात् । अत एव स्त्यानर्द्धित्रिकादिप्रकृतिजघन्यस्थितिबन्धस्वामिनामिहाऽपि पद्मलेश्यावत्संयमाद्यभि-

१४पणसट्ठीए णियमा बंधेइ ठिइ जहण्णमियरं वा। णरदेवोरालविउवदुग-वइराण णवण्ह सिआ ॥
॥१६१७-३५॥

(प्रे०) "एगस्स सासणे" इत्यादि, इह हि आयुर्वर्जानां सर्वासामपि बन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां जघन्या स्थितिः स्वस्थानविशुद्धस्वामिकाऽधिकृता, न पुनः पश्चात्कृतसंयतत्वस्वामिका, मार्गणायां च प्रस्तुतायां सास्वादनलक्षणतुल्यैकगुणस्थानगता जीवाः प्रविष्टाः, किञ्चापर्याप्तनामैकेन्द्रियाणां विकला-ऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां वाऽप्रवेशात्प्रकृतिविच्छेदक्रमोऽपि मनोयोगादिमार्गणावदेव; तथाचोपपत्तिरपि सर्वा मनोयोगमार्गणावत्कार्या, केवलं गुणस्थानान्तरगतानामिहाऽप्रवेशात् पश्चात्कृतसंयतत्वानां जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वाऽनधिकाराच्च यस्याः कस्या अपि प्रकृतेः प्रधानत्वे तुल्यस्थानोत्तरस्थानविच्छिद्यमानबन्धप्रायोग्यप्रकृतिमध्यादुत्तरस्थानविच्छिद्यमानप्रकृतीनां संख्येयभागाभ्यधिको जघन्यः स्थितिबन्ध एव लभ्यते, न पुनर्मनोयोगमार्गणावत् तिर्यगायुष्कस्याऽपि प्रधानत्वे मतिज्ञानावरणादीनामसंख्येयगुणाभ्यधिकः स्त्यानर्द्धित्रिकादीनां संख्येयगुणाभ्यधिको वा, तदेवं सर्वा उपपत्तिर्मनोमार्गणावत्परं सविशेषैव कार्या।

तद्यथा—ध्रुवबन्धिनी-सातवेदनीयादीनामष्टपञ्चाशतः प्रकृतीनां जघन्यः स्थितिबन्ध इह नरकवर्जान्यतमगतिप्रायोग्यप्रकृतीर्बध्नतो जायते, किञ्च ता बध्नतस्तथाविधो यः प्रकृतिविच्छेदक्रमस्तत्र ताश्चरमस्थानगता इति न तदूर्ध्वं किञ्चिद्विच्छेदस्थानम्, तथाच तदन्यतमस्या जघन्यस्थितिं बध्नतः शेषसप्तपञ्चाशतो नियमाज्जघन्योऽजघन्यो वा जघन्यापेक्षया समयादिना यावत्पल्योपमाऽसंख्येयभागेनाधिकायाः स्थितेर्बन्धो लभ्येत। तत्तद्देवगत्याद्येकैकगतिप्रायोग्यं बध्नतो बन्धविषया अपि मनुष्यगत्यादिप्रायोग्यं बध्नतोऽबन्धविषया देवद्विकाद्या वैक्रियद्विकाद्याश्च या द्वितीयगाथोत्तरार्धसंगृहीतास्तासां तु तथाविधप्रकृतिविच्छेदक्रमे चरमस्थानगतत्वेऽपि नानास्वामिनोऽपेक्ष्य बन्ध इव बन्धाभावस्य ऽपि लाभेन स्याद्बन्धो लभ्येत। स्थितिबन्धस्तु आसामनन्तरोक्तध्रुवबन्ध्यादिवज्जघन्यादिद्विविधान्यतर एव, कुतः? आसां विच्छेदस्याऽपि चरमस्थानविषयत्वादित्यत एवाद्यगाथाद्वयेनाऽष्टपञ्चाशत्प्रकृतिप्रधानः संनिकर्षस्तथा भणितः। असातवेदनीयाद्या या ओघतः षष्ठगुणस्थानान्ते बन्धविच्छेदविषयास्तास्तु गतित्रयप्रायोग्यं बध्नतामपि द्विचरमस्थाने विच्छिद्यन्ते, तथाच तासामन्यतमस्या जघन्यस्थितिं बध्नतस्तच्छेषाणां जघन्यादिद्विविधस्थितिबन्धः। तत्र चरमस्थानविच्छेदविषयसातवेदनीयादिसप्रतिपक्षतया प्रधानेतरासां तत्प्रतिपक्षभूतानां च स्याद्बन्धः, देवगत्यादीनां त्वनन्तरोक्तध्रुवबन्ध्यादिप्रधानसंनिकर्षवदेव स्याद्बन्धश्च। ध्रुवबन्ध्यादीनां शेषाणां ध्रुवबन्धस्तु सुगमः। अत्राऽपि हास्यादेः प्रधानत्वे रत्यादेर्नियतो बन्धस्तत्प्रतिपक्षयुगलस्याऽबन्धश्चेति प्रागिव विशेषो बोध्यः। स्थितिबन्धस्तु चरमस्थानविच्छेदविषयाणां ध्रुवबन्धि-सातवेदनीयादीनां प्रधानत्वे यासां जघन्यादिद्विविधान्यतरः कथितस्तासां स्याद्बन्धानां नियतबन्धानां वात्र संख्येयभागोनजघन्यो भवति, कुतः? प्रधानी-

(प्रे०) "**मीसे**" इत्यादि, अक्षरार्थः सुगमः, केवलमाद्यगाथायां "**धुव**"इत्यनेन प्रस्तुतमार्गणायां बन्धप्रायोग्याः स्त्यानर्द्धित्रिका-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्टय-मिथ्यात्ववर्जा एकोनचत्वारिंशद् ध्रुवबन्धिन्य एव ज्ञेयास्तथाचाऽऽद्यगाथाद्वयेन मतिज्ञानावरणाद्येकोनपंचाशत्प्रकृतिप्रधानः संनिकर्षः प्रतिपादितः । तृतीयचतुर्थगाथाद्वयेन मार्गणाप्रविष्टसर्वजीवानां या असातवेदनीयाद्याः षट् प्रकृतयः सप्रतिपक्षबन्धप्रायोग्याः सत्यः स्वस्थानविशुद्धस्वामिकजघन्यस्थितिबन्धास्तत्प्रधानः संनिकर्षो निगदितः, अत्रोत्तरगाथायां "**णरसुर**" इत्यादौ युगलशब्दो 'द्वन्द्वान्त०' इति न्यायात् 'णर'' इत्यादिना प्रत्येकं सम्बध्यते । एवमेव पूर्वत्र द्वितीयगाथायामुत्तरत्र पञ्चमगाथायां च बोद्धव्यम् । '**हस्सठिइं**" इत्यादिचरमगाथया गतिभेदेन बन्धाऽबन्धप्रायोग्या या मनुष्यद्विकाद्या नव प्रकृतयस्तत्प्रधानः संनिकर्षो निरूपितः । अत्र गतिभेदेन बन्धप्रायोग्यत्व तु मनुष्यद्विकौ-दारिकद्विक वज्रर्षभनाराचसंहनननामप्रकृतीनां मिश्रदृष्टिदेवनारकाणां बन्धप्रायोग्यत्वेऽपि तथाविधानां तिर्यग्मनुष्याणामबन्धप्रायोग्यत्वात्तासाम्, वै परी १८ देवद्विक-वैक्रियद्विकयोर्मिश्रदृष्टितिर्यग्मनुष्याणां बन्धप्रायोग्यत्वेऽपि तथाविधदेवनारकाणां बन्धाप्रायोग्यत्वाच्चेति । भावार्थस्तु प्रस्तुतमार्गणासु नियतैकगुणस्थानगतानां जीवानां प्रवेशेन तदनुसारेण प्राग्विवाभ्यूह्यः ॥१६१२-१६॥

अथाऽवशिष्टायां सासादनमार्गणायां प्रस्तुतं परस्थानजघन्यस्थितिबन्धसंनिकर्षमाह--

[1]एगस्स सासणे धुव-साय-पुरिस-हस्स-रइ-पणिंदीओ । पढमागिइ सुखगइ-परघा-ऊसास-तसदसगाओ ॥
[2]लहुबंधी अण्णेसिं णियमा हस्समियर व कुणइ सिआ । तिरिणरसुरउरलविउवगोअदुगु-ज्जोअ-वइराणं॥
[3]एगस्स असाय-अरइसोगजुगल-अथिर-असुह-अजसाओ । लहुबंधी अण्णेसिं सिआ जहण्णमजहण्ण वा ॥
[4]तिरिणरसुरउरलविउवगोअदुगु-ज्जोअ-वइर-रिसहाण । तह तप्पडिवक्खाणं सिआ ठिइ सखभागहिय ॥
[5]धुवबंधिछचत्ताए पुमस्स तह आउवज्जसेसाण । सुहबारसण्ह बंधइ णियमा सखेज्जभागहियं ॥
[6]णियमा धुव-पंचिंदिय-परघा-ऊसास-तसचउक्काण । सुहगतिग-सुखगईण थीबंधी सखभागहिय ॥
[7]सायेयर दुजुगल-तिरिणरसुरउरलविउवगोअजुगलाण । उज्जोआ-ऽऽगिइ-संघयण-थिराइजुगलतिगाण सिआ॥
[8]तिरियाउहस्सबंधी णियमा धुव-तिरिउरालियदुगाण । परघा-ऊसासाण पणिंदि-तसचउग-णीआण ॥
[9]ठिइमाण सयमुज्झ वेअ जुगल-वेअणीअ-खगईण। पण संघयणा-ऽऽगिइ-उज्जोअ-थिराइजुगलाण सिआ ॥
[10]मणुयाउहस्सबंधी णियमा धुव-णरउरालियदुगाण । परघा-ऊसासाण तहा पणिंदि-तसचउगाणं ॥
[11]ठिइमाण सयमुज्झं वेअजुगल-वेअणीअ-गोआण। पणसंघयणाऽऽगिइ-दुखगइ-छथिराइजुगलाण सिआ ॥
[12]देवाउहस्सबंधी सिआ ठिइं पुरिस-थीण सयमुज्झ । णियमा रइ-हस्साण धुव सुहसेससुरजोग्गाण ॥
[13]बंधइ तिरिणरसुरउरलविउवदुगु-ज्जोअ-वइरलहुबंधी । णामाण सठाणव्व उ णाणावरणव्व सेसाण ॥
[14]परमुच्चस्स उ णियमा णरसुरविउवदुगहस्सठिइबंधी। णियमा णीअस्स कुणइ तिरिदुग-उज्जोअलहुबंधी ।
[15]चउसंघयणाऽऽगिइ कुखगइ दुहगतिगाण हस्सठिइबंधी । णामाण सठाणव्व उ णाणावरणव्व सेसाण ॥
[16] दुइआइदुसंघयणाऽऽगिइलहुबंधी पुमस्स णियमाओ । सखसहिअमियरलहुबंधी कुणइ पुमथीण सिआ ॥
[17]णीअस्स हस्सबंधी वा उज्जोअस्स हस्समियर वा । णियमा रइ-हस्स-पुरिस धुवा-ऽऽउवज्जाऽण्णसुतिरि-
जोग्गाणं ॥(गीति.)
[18]उच्चलहुगबंधी धुव-साय पुरिस-हस्स-रइ-पणिंदीण । पढमागिइ -सुखगइ-परघा ऊसास-तसदसगाणं॥

काय-पञ्चमनोयोगभेद-पञ्चवचोयोगभेद-काययोगसामान्यौदारिककाययोग-स्त्रीवेद-पुरुषवेद-नपुंसकवेद क्रोधादिचतुःकषाय-चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शन-भव्य-संज्ञया-ऽऽहारिलक्षणास्वेकत्रिंशन्मार्गणासु प्रत्येकं मति-श्रुता-ऽवधि-मनःपर्यव-केवलज्ञानावरणभेदात् पञ्च ज्ञानावरणानि, चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनावरणानि, निद्रा-निद्रानिद्रा-प्रचला-प्रचलाप्रचला-स्त्यानर्द्धय इत्येता नव दर्शनावरणप्रकृतयः, साता-ऽसातरूपे द्वे वेदनीयप्रकृती, मिथ्यात्वम् , तथाऽनन्तानुबन्ध्य-ऽप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण-संज्वलनभेदभिन्नाः, क्रोधमानमायालोभाख्याः षोडश कषायप्रकृतयः, हास्य-रति-शोका-ऽरति-भय-जुगुप्सास्त्री-पुरुष-नपुंसकवेदरूपा नव नोकषायप्रकृतयः, निरय-तिर्यग्-मनुष्य-देव-भेदाच्चतस्र आयुः-प्रकृतयः, निरय-तिर्यग्-मनुष्य-देवभेदाच्चतस्रो गतिनामप्रकृतयः, एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियाभिधाः पञ्च जातिनामप्रकृतयः, औदारिक-वैक्रिया-ऽऽहारक-तैजस-कार्मणभेदात् पञ्च शरीरनामप्रकृतयः, औदारिक-वैक्रिया-ऽऽहारकभेदात्तिस्रोऽङ्गोपाङ्गनामप्रकृतयः, वज्रर्षभनाराच-ऋषभनाराच-नाराचा-ऽर्धनाराच-कीलिका-सेवार्ताख्याः षट् संहनननामप्रकृतयः, समचतुरस्र-न्यग्रोधपरिमण्डल सादि-कुब्ज-वामन-हुण्डसंस्थानभेदात् षट् संस्थाननामप्रकृतयः;चतस्रो वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शाभिधा नामप्रकृतयः,निरय-तिर्यग्-मनुष्य-देवगतिभेदाच्चतस्र आनुपूर्वीनामप्रकृतयः, प्रशस्ता-ऽप्रशस्तभेदाद् द्वे विहायोगतिनामप्रकृती, तथा पराघातनामो-च्छ्वासनामा-ऽऽतपनामो-द्योतनामा-ऽगुरुलघुनाम-तीर्थकरनाम-निर्माणनामो-पघातनामान्येता अष्टौ प्रत्येकप्रकृतयः, त्रस -बादर-पर्याप्त-प्रत्येक-स्थिर-शुभ-सुभग-सुस्वरा-ऽऽदेय-यशःकीर्तिनामाख्यं त्रसदशकम् , स्थावर सूक्ष्मा-ऽपर्याप्त-साधारणा-ऽस्थिरा-ऽशुभ-दुर्भग-दुःस्वरा-ऽनादेया-ऽयशःकीर्तिनामप्रकृतिदशकलक्षणं स्थावरदशकमित्येताः सप्तषष्टिर्नामप्रकृतयः । उच्चैर्गोत्र-नीचैर्गोत्रभेदाद् द्वे गोत्रकर्मणी, दान-लाभ-भोगो-पभोग-वीर्यान्तरायभेदात्पञ्चाऽन्तरायाण्येताः समस्ता विंशत्युत्तरशतप्रकृतयो बन्धप्रायोग्याः सन्ति ।

निरयगत्योघमार्गणायां निरयगति-निरयानुपूर्वी-निरयायुर्देवगति-देवानुपूर्वी-देवायु-वैक्रियशरीर-वैक्रियाङ्गोपाङ्गलक्षणाऽष्टप्रकृत्यात्मकं वैक्रियाष्टकम् , आहारकशरीरा-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्गप्रकृतिद्वयरूपमाहारकद्विकम् ,एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियजातिनामलक्षणं जातिचतुष्कम् ,स्थावर-सूक्ष्मा-ऽपर्याप्त-साधारणनामचतुःप्रकृतिरूपं स्थावरचतुष्कमातपनाम चेत्येता एकोनविंशतिप्रकृतीर्विवर्ज्य शेषा मतिज्ञानावरणाद्येकोत्तरशतप्रकृतयो बन्धप्रायोग्या बोद्धव्याः ।

प्रथम-द्वितीय-तृतीय-पृथिवीनिरयभेदेष्वपि निरयगत्योघवदेव वैक्रियाष्टकाद्येकोनविंशतिप्रकृतिवर्जाः शेषा एकोत्तरशतप्रकृतय एव बन्धप्रायोग्याः ।

चतुर्थ-पञ्चम-षष्ठ-पृथिवीभेदभिन्ननिरयगतिमार्गणात्रये त्वनन्तरोक्ता वैक्रियाऽष्टकाद्येकोनविंशतिप्रकृतयस्तीर्थङ्करनाम चेत्येवं विंशतिप्रकृतीर्विवर्ज्य शतप्रकृतयो बन्धप्रायोग्याः सन्ति ।

सप्तमपृथिवीनिरयभेदे पुनरेताभ्योऽनन्तरोक्ताभ्यः शतप्रकृतिभ्यो मनुष्यायुर्विवर्ज्य शेषा नवनवतिः प्रकृतयो बन्धप्रायोग्याः सन्ति ।

कृताऽसातवेदनीयादिप्रकृत्यपेक्षोत्तरस्थानविच्छेदविषयत्वात्तासाम्। एवमेव त्रिचरमादितत्तत्स्थानविच्छेदविषयां द्वितीयसंहननाद्यां तां तां प्रकृतिं प्रधानीकृत्य संनिकर्षो विवरणीयः स्वधिया पूर्वग्रन्थविवरणमवलम्ब्य, नेह विव्रीयते,विवृतप्रायत्वात् , ग्रन्थविस्तरभयाच्चेति । अक्षरार्थोऽपि गतार्थप्राय एवेति ॥१६१७-३५॥

गताः सम्यक्त्वमूलमार्गणाभेदाः,तदनु अवशिष्टसंज्ञ्यादिमार्गणाभेदचतुष्टयमध्यात् संज्ञिमार्गणायाम् 'ओघव्व सण्णियासो होइ लहुठिईअ तिणरसण्णीसु' (गाथा-१३८३) इत्यादिनाऽऽदेशवक्तव्यताप्रारम्भे, एवमाहारकमार्गणायामपि तत्रैव तथाऽनाहारकमार्गणायां 'कम्माणाहारेसु'(गाथा-१५४३) इत्यादिना कार्मणमार्गणया सह पूर्वमेव प्रस्तुतसंनिकर्षस्य भणितत्वादवशिष्टायामसंज्ञिमार्गणायां तं विभणिषुर्लाघवात् सापवादातिदेशेनैवाह--

अमणे तिरिव्व णवरि ण सखगुणहिय दुआउलहुबधी । णिरयविउव्वदुगाण सुरविउवदुगाण जहजोग्गं ॥१६३६॥

(प्रे०) "अमणे" इत्यादि, असंज्ञिमार्गणायां प्रस्तुतः परस्थानजघन्यस्थितिबन्धसंनिकर्षः "तिरिव्व"त्ति 'एगस्स हस्सबधी तिरिये'इत्यादि(१४२७-१४४५)गाथोनविंशतिकेन तिर्यग्गत्योघमार्गणाभणितप्रस्तुतसंनिकर्षवद्वक्तव्यः, तद्वदत्रापि वैक्रियाष्टकवर्जानां जघन्यस्थितेरेकेन्द्रियस्वामिकत्वात् देवनरकायुष्कवर्जवैक्रियषट्कस्य जघन्यस्थितेरपि असंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्वामिकत्वाच्च । केवलं देवनरकायुष्कजघन्यस्थितेस्तत्राऽसंज्ञिन इव संज्ञिनोऽप्युक्ताः, इह तु संज्ञिनां मूलतः प्रवेशाभावात् केवला असंज्ञिन एव तत्स्वामिनः, तथाच तत्र तद्द्वयप्रधानसंनिकर्षे संज्ञिलक्षणं स्वामिनमपेक्ष्य बध्यमानवैक्रियद्विकादेर्यः संख्येयगुणाभ्यधिकजघन्यस्थितिबन्धलक्षणस्थितिबन्धविकल्पो भणितः स इह न लभ्यतेऽपि तु असंज्ञिलक्षणं स्वामिनमपेक्ष्योत्पद्यमानः संख्येयभागाभ्यधिकजघन्यस्थितिबन्धलक्षण एक एव विकल्पोऽवाप्यते । एतदवाह-"णवरि" इत्यादिना, सुगमम् , केवलम् 'जहजोग्गं' ति नरकायुष्कप्रधाने नरकद्विकवैक्रियद्विकयोस्तथा देवायुष्कप्रधाने देवद्विकवैक्रियद्विकयोरित्यर्थः । विस्तरार्थिना तु तिर्यगोघमार्गणावृत्तिर्विलोकनीयेति ॥१६३६॥

तदेवमवशिष्टायामसंज्ञिमार्गणायामपि प्रतिपादितः परस्थानजघन्यस्थितिबन्धसंनिकर्षः,तस्मिंश्च प्रतिपादिते निष्ठामित आदेशतोऽपि परस्थानजघन्यस्थितिबन्धसंनिकर्षः, तस्मिंश्च निष्ठिते गतः परस्थानोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षवत् परस्थानजघन्यस्थितिबन्धसंनिकर्षोऽपि, गते च तस्मिन् समाप्ता स्वस्थानवत् परस्थानतोऽप्युत्कृष्टजघन्यस्थितिबन्धसंनिकर्षप्ररूपणा, समाप्तायां च तस्यामवसितं षष्ठं संनिकर्षद्वारमिति ॥

॥ इति प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते उत्तरप्र० स्थितिबन्धविधाने द्वितीयाधिकारे षष्ठं संनिकर्षद्वारं समाप्तम् ॥

॥ अथ वृत्तिग्रन्थप्रशस्तिः ॥

रचितायां मयकैवं वृत्तावस्यां तु संनिकर्षम्य ।
मूलवदुत्तरकर्मसु पूर्णा पूर्वांशवृत्तिरियम् ॥१॥ (पथ्या०)

ज्ञेया प्रशस्तिरत्र तु मूलस्थितिबन्धवृत्तिसत्का या ।
दृब्धा मयैव परमिह भवति विशेषस्त्वियन्मात्रः ॥२॥ ,,

निष्ठां प्राप्तेयं खलु वीराब्दे वेदनिधियुगाक्षि(२४९४)मिते ।
मासे राधे नगरे स्तम्भनसंज्ञे समयविदिते ॥३॥ ,,

मूलस्थितिबन्धवदस्याऽपि विशोध्यैव मूलभणितार्थान् प्राक् ।
निर्माप्य पुनः काश्चिद् गाथा वृत्त्या समर्थनेऽपि यदीह ॥४॥ (आर्या)

मतिमौढ्यादिनिमित्तादमदर्थममर्थनं भवेत् किञ्चित् ।
तत्राऽऽग्रहो न मे कः, शोध्यं क्षम्यं च तत्सुधीभिः ॥५॥ ,, (युग्मम्)

वृत्तिः संशोधिता त्वस्य प्रभुभिः प्रेमसूरिभिः ।
कर्मशास्त्ररहस्यज्ञै-र्गच्छेशैः करुणापरैः ॥६॥ (अनुष्टुप्)

जम्बूसूरीश्वरैस्तेषां शिष्यैरागमवेदिभिः ।
प्रशिष्यादिभिरन्यैश्च परिकर्मितधीधनैः ॥७॥ ,,

कर्मशास्त्रकृतायासैः प्रस्तुतसर्जनधूर्वहैः ।
श्रीमज्जयघोष धर्मानन्दाख्यैर्मुनिभिस्तथा ॥८॥ ,,

वीरशेखरमुन्युद्धैः प्राकृतज्ञैः परैस्तथा ।
तदेवं तैः श्रुतेर्भक्ति-र्मयि तूपकृतिः कृता ॥९॥ ,,

दृष्टा पुनः सा हि मयोपयोगात्, तर्ह्यप्यवश्यं स्खलनाः स्युरत्र ।
छाद्मस्थ्यसख्यो मतिमान्द्यजा वा, ज्ञात्वाऽपनेया कृपया बुधैस्ताः ॥१०॥ (इन्द्रवज्रा)

॥ द्रव्यसहाय-प्रशस्तिः ॥

वर्धमानादितीर्थेशैर्मण्डितैर्जिनमन्दिरैः । शास्त्रागारादिभिर्नानाधर्मस्थानैश्च प्रोज्ज्वलम् ॥ ११ ॥
पिण्डवाडाभिधं पुरं स्थितैः श्राद्धैर्हितेच्छुकैः । दत्तद्रव्यसहायाद्धि ग्रन्थो मुद्रापितस्त्वयम् ॥ १२ ॥

तथाहि—

प्रीणाति शुक्लपाक्षिकं, जगच्चन्द्रातिशायिना ।
अर्हन्नध्यात्मशैत्येन, पातु चन्द्रप्रभः स नः ॥१३॥

पूरा तत्त्वविद्घनघनावनघटिततत्त्वोपदेशा ऽऽसारवाहिताऽध्यात्मवादवाहिनीनिवहपरिचायितभव्यात्मभूरिदानीमितस्ततः प्रसृतभौतिकवाददवानलदन्दह्यमानविलासिजनाऽऽत्मेन्धनपरितप्तवाकाशादिकुवातसंसृष्टाऽनेकमुग्धजनान्तःकरणप्रदेशोऽप्यपरिच्युतधर्मवासनाशैत्य इति समाकर्षत्येव 'क्व तत्त्वपीयूषरसः' इत्यभिलाषावच्छिन्नचित्तचातकान् परिभ्रष्टप्रायःपातकजातकान् कथमपि विज्ञातविषयकषायसंसृतिरज्जुपाशकान् मनीषिगणमुख्यानयं जम्बूद्वीपीयदक्षिणभरतार्धमध्यंगतो **भारतः** ।

भारते ह्यस्मिन् शुक्तिमौक्तिकोज्ज्वलबहलदेवाधिदेवगेहपरिभूषितभूभागैर्नानावरगिरिनगरग्रामगृहाङ्गणैर्भववजलतरणैकतरणैस्तीर्थनिकरैश्च विजितविमानवासिवासविराजो **मरुधर** इति समयख्यातसंज्ञः ससंज्ञजनमनआल्हाददायको **राजस्थान**नामा देशः ।

तत्र च रतिपतिरतिविरतिकारिणा निरुपमरूपवैभवधारिणा पराजितमोहमहावीरेण **महावीरेण** नाम्ना चरमतीर्थपतिना विरचितमूलनायकत्वेनाऽनेकसंख्यकलकलाकलापकलितपञ्चधातुजिनबिम्बाऽऽभासितदिग्विदिग्विभागाभोगेन गर्भागारचतुष्टय -समवसरण—द्विपञ्चाशद्देवकुलिकानिकरसंवलितेन चेतोहरचित्रविचित्रशिल्पोपशोभितवितानदेशेन वीरविक्रमप्रासादेन कृताधिपत्यं चैत्यद्वयान्तर-शास्त्रागारानेकपौषधशालाप्रमुखनानाविधधर्माराधनस्थान-बहुसह्वयश्राद्धगणादिनिवसितं हसितसद्धर्मनाकिनगरं **पिण्डवाडा**नाम नगरं वर्षसहस्रातीतावधिकेन कालेन निजास्तित्वं बिभर्ति ।

नगरं चेदं पवित्रितं पूराऽनेकमुनिपतिभिरिवेदानीन्तनेऽपि युगे विपुलमुनिमधुपपर्युपासितपादपङ्कजेन गतपापपङ्केनाऽजस्रमुत्सुकेन रतेन जिनाज्ञाकरणकारणादौ मुनिपधुर्येण '**गुरुगुणामृतवेली**'वर्णितमाहात्म्येन श्री**प्रेमसूरीश्वरेण** गुरुणा वर्षावासादिवसनेनाऽनेकशः । नहि तावन्मात्रम्, धूल्यप्यस्याऽस्य सूरिपुङ्गवस्य चरणारविन्दयुगलेन पुनिता गृहस्थत्वे बाल्यावस्थायां बालोचितकेलिं कुर्वतः । किं बहुना, अन्यैरपि मुनिपमुनिवरैर्वामितमिद धर्मोपदेशदानविधानादिना तत्र तत्र काले ।

पुरे चैतादृशि निवसति स्म श्राद्धाग्रणी '**हंसाजी**' इत्याख्यः श्रमणोपासकः । तत्पुत्राः '**झवेरचदजी नथमलजी-भायचन्दजी-रायचन्दजी**'ति नामानश्चत्वारस्तत्र भायचन्दजीत्यस्य '**जवानमल-छोगालाल**' संज्ञकपुत्रद्वयेन लघोः रायचन्दजीत्यस्य '**समरथमल-कुन्दनमल-सागरमल**'नामकपुत्रत्रयेण च संगत्य स्वपित्रोरुपकृतिस्मृतिश्रेयांसि मनसि निधाय वितीर्णानि रूप्यकाणां दशसहस्राणि, अत्रास्तद्द्रव्यमहायाद् मुद्राप्याऽयमु**त्तरप्रकृतिस्थितिबन्धग्रन्थपूर्वांशः** श्रीवीरनिर्वाणादतिगतायां पञ्चनवतिवर्षाभ्यधिकाया वर्षशतानां पञ्चविंशतौ प्रकाशमानीत इति ।

पृष्ठ०	पङ्क्तिः	अशुद्धम्	संशोध्यम्
२१७	२३/२७	०मुद्धस्य/०नाम्न	मुद्धृत्य/नाम्न
२२२	१४/१७	त्रीण/योल्कृ०	त्रीणि/स्योल्कृ०
,,	२०	प्रस्तु-	प्रस्तुत-
२२४	४	आरोलस्स	ओरालस्स
२२६	२४	षट्न्वेके०	षट्स्वेके०
२२८	२४	सगृहीतान'	सगृहीताना
२३१	२२	बर्षप्रमाणोऽ०	वर्षप्रमाणोऽ०
२३३	१	०रुत्कुट०	०रुत्कृष्ट०
२४०	८	ऽऽतनामभिः	ऽऽतपनामभि
२४४	११/२३	ध्रुवबधि०/विध्ना०	ध्रुवबधि०/विघ्ना०
,,	१९	प्रकातबन्धकाळस्यव	प्रकृतिबन्धकालस्यैव
,,	२८	प्रवतनेन	प्रवर्तनेन
२४७	४/१२	०काला/०रचक्षर्द०	०कालो/०रचक्षुर्द०-
२४८	२२	अन्तमुहूर्तम्	अन्तर्मुहूर्तम्
२५२	१६	बहुना	बहूना
२५५	१८	तासामजन्य०	तासामजघन्य०
२६०	२	मनोयागादि०	मनोयोगादि०
२६३	४	भिथ्या०	मिथ्या०
,,	११	जस-अजसा	जस-असाय-अजसा
२६५	२०	०द्विको तनाम्नी	०द्विकोद्योतनाम्नी
२६४	२८	मतद्वय	मतद्वयी
२७७	१२	मनोयागादि०	मनोयोगादि०
२७८	११	न भर्वात।	न भवति, सातादिषट्-कस्य तु जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तम्।
२८१	२४	०वर्जेष्वोघ०	०वर्जेष्वोघ०
२८३	१२	मागणासत्को०	मार्गणासत्को०
२५६	१०	तासा जघन्य०	तासामजघन्य०
२८४	२६	श्रातपानामा०	आतपनामा०
२८७	४	'सव्वेसिं पयडीण'	'आहारदुगस्सूणद्ध'
२८७	२८	सर्वेह्म्वकाल	सर्वेह् स्वकालं
२९५	२०	०मितित्युत्तराध्य०	०मित्युत्तराध्य०
२९८	२८	०मित्यथ	०मित्यर्थः
३०२	२२	त्रिल्योपमानि	त्रिपल्योपमानि
३०५	४/७	मनुरय०/कसाञ्चि०	मनुष्य०/कासाञ्चि०
३०६	१९	तावाद०	तावद०

पृष्ठ०	पङ्क्ति	अशुद्धम्	संशोध्यम्
३०६	२०/२२	त्रिज्ञयम् /तुकरो	विज्ञेयम् /तुकारो
३०७	२१	लामेन/०भिरश्य-	लाभेन/०भिरश
३११	५/२७	वारण०/पुवेद०	०वरण०/पु वेद०
३१४	१२	०मान्तर्मुहूर्ते,	मान्तर्मुहूर्ते,
३१९	५	०ऽसख्यमाग०	०ऽसख्यभाग०
३२२	१४	सहननाम्ना	'संहनननाम्ना-
३२५	२१/३०	०मित्याद,/वन्ध०	०मित्यादि,/बन्ध०
३२९	१३	एगिदिय०	एगिंदिय०
३३०	१४	०यृपोऽपि	०युषोऽपि
३३२	८	केवल	केवलं
३३४	१३	०सक्षेप्याद्यायां	०सक्षेप्याद्धायां
३३५	२८	०मभिहितमिति।	०मभिहितमिति।
३३७	९	०वर्जयोरतर्य०	०वर्जयोस्तिर्य०
३४१/४२	१	आयुर्जघन्य०	सर्वासां जघन्य०
३५४	२६	०संयमेष्वशात०	०सयमेष्वसात०
३५६	१६	०प्रतिपत्तर्वचन०	०प्रतिपत्तेर्वचन०
,,	२६	स्यानावाच्चेति	०स्याभावाच्चेति
३६०	३	जघस्थिति०	जघन्यस्थिति०
३६०	३०	वौक्रयमिश्रयोग०	वैक्रियमिश्रयोगे०
३६५	८	'सुरविहवा०	'सुरविउवा०
३६७	२२	मध्यकमपाया०	मध्यमकषाया०
३६९	७	तथाचानुष्ट०	तथाचानुत्कृष्ट०
३७०	२०	०त्रयो सख्येया	०त्रयोरसख्येया
३७१	चरमा	नपुकसक०	नपुसक०
३७३	२५	नाचगात्राणा	नीचैर्गोत्राणां
३७४	१५	ता ां	तासा
३७८	१८	मिच्छते	मिच्छत्ते
३८०	११/२२	आघत्व/प्रातपा०	ओघत्व/प्रतिपा०
३८२	२	०यूक्ताः	०युक्ताः
३८५	१०/१५	परस्परं/ध्रुव०	परस्परं/ध्रुव०
,,	२०	स्त्यार्द्धित्रिकस्य	स्त्यानर्द्धित्रिकस्य
३८६	१३	सख्यलोक०	सख्येयलोक०
३८७	१५/१८	स्थान दो /अथ	स्थानादो/अथौघत
३८६	१७	(अस्पष्टमुद्रणस्थाने)	केवलं तत्र वर्गोत्कृष्ट-स्थितिं बध्नतो यस्तदन्यवर्गो०

: अशुद्धि-सम्मार्जनम् :

पृष्ठ०	पङ्क्तिः	अशुद्धम्	संशोध्यम्
११	२३	०ऽत्थि थोवा "	०ऽत्थि थोवाइ"
१३	२७	०केन्द्रिस्य	०केन्द्रियस्य
१५	२	पर्याप्तसूक्ष्ममेके०	पर्याप्तसूक्ष्मैके०
१६	१६	०त्रीन्द्रिययस्य	०त्रीन्द्रियस्य
१७	२०	०बन्ध चे०	०बन्धश्चे०
१८	६	सर्वैथैव	सर्वथैव
,,	११	प्रकृताल्पबहुत्व	प्रकृताल्पबहुत्वं
२१	२	०शरिरौ०	०शरीरौ०
,,	१२	०स्योत्कृष्ट	०स्योत्कृष्टः
२४	२९	बन्ध	बन्ध
२७	२३	भवतीत्यर्थ,	भवतीत्यर्थः,
२८	१५	समूहलक्षण	समूहलक्षण
२९	२१	भवतीन्ति	भवन्तीति
,,	२७	०मूलानित्यर्थः	मूलानीत्यर्थ
३०	८	बध्यत	बध्यते
३४	१८	तस्मिश्र	तस्मिंश्च
३६	१४	ग्याव /स्त्रीय०	ग्याध /स्वीय०
३७	५/६	विघ्नानि	विघ्नानि
३९	१५	तीर्थकरा ारक०	तीर्थकराहारक०
४०	५/१८	सञ्जी% वणरादि०	संज्ञि%वरणादि०
४१/४३/४७	२/२६/२४	वन्ध०	बन्ध०
४४	१६	०कान्येपु	०कान्तेपु
४८	१०	श्रतज्ञाना०	श्रुतज्ञाना०
५०	२४	प्रकृतिनामन्य०	प्रकृतीनामन्य०
५५	२६	वुच्चेइ ॥	स वुच्चेइ ॥
,,	२७	०पणिंदतिरिय०	०पणिंदितिरिय०
५६	५	वुच्चइ	वुच्चेइ
६१	२१	उरसमीसे	उरलमीसे
६४/६५	१२/२७	॥पइ॥/रार्थ.,	॥५३॥/रर्थ ,
६८	१६	०कीतिनाम्न	कीर्तिनाम्न
६९	२८	०मुनिसुन्दर०	०मुनिचन्द्र०
७६	२५	सञ्ज्ञिमर्गणायामपि	सञ्ज्ञिमार्गणायामपि
७९	१३/२६	सख्येय/पर्याप्त०	सख्येय०/पर्याप्त०
८०	१६	णारण०	णारग०

पृष्ठ०	पङ्क्ति	अशुद्धम्	संशोध्यम्
८३	१२/१४	विघ्नावर०/सखिया	विघ्नावर०/सखिया
९५	३/२८	०पूर्विप्र%साठईअ	०पूर्वीप्र०%सठिईअ
९६	१४/१७	मसखा/मानाजीवा	मसखा/माना जीवा
१००	१०/२६	०कोटो०/वघति	०कोटी०/बधति
१०४	११	अपाइ	अपीइ
१२२	११	नरकवर्जोन्य०	नरकवर्जान्य०
१३२	२९	वज्ञेय	विज्ञेय
१३६	२५	स्वप्रतिप्रकृति०	स्वप्रतिपक्षप्रकृति०
१४२	२६	तिष्ठत्य०	तिष्ठन्त्य०
१४५	१८	ग्यविशुद्ध	ग्यसंक्लिष्ट
१४९	४	कोहसजलणाए	कोहसजलणाए
१५०	१४	पर्याप्तावदरै०	पर्याप्तबादरै०
१५१	२१/२६	सञ्ज्ञा वा/असखि०	सञ्ज्ञी वा०/असखि०
१५८	३	दर्शनावरण तुष्क०	दर्शनावरणचतुष्क०
१५९	१३	णवरेगिंदिय०	तत्थेगिंदिय०
१६१	१६	०पणिंदितिरि०	०पणिंदितिरि०
१६४	२३	तत्त प्रकृतीना	तत्तत्प्रकृतीना
१६६	२१	अनिवृति०	अनिवृत्ति०
१६८	१७	सज्वलन०	सञ्ज्वलन०
१७०	५	पढमाण	पढमतिमाण
१७६	६	बन्धप्रायोग्य	बन्धप्रायोग्या
१७८	१२	बन्धस्वामित्व	बन्धस्वामित्व
,,	१३	दुपणिंदिय	दुपणिंदिय
१८१	त्रिचरमा	-द्योतनामा	-द्योतनामौ-
१८६	२२	बन्धप्रवृति	बन्धप्रवृत्ति.
,,	२३	मष्टाना०	०मष्टादशाना०
१८७	११	रोक्तनीत्या, जघन्याजघन्य-स्थितिपूत्कृष्टतोऽसख्यकाले प्रत्येक जीवानां गमनागम-नेनाऽनाद्यनन्तत्वाऽसम्भ-वात् । अजघन्य०	रोक्तनीत्या । अजघन्य०
१९७	१७	स्वभहित०	त्वभिहित०
२०३	२६	सम्भवति,	सम्भवति,
२०४	४	चत्वारिंशत्ध्रुव०	चत्वारिंशद्ध्रुव०
२१५	१८	०कालस्तुल्य	०कालतुल्य





इति

समाप्तः

बन्धविधाने

ॐ उत्तरप्रकृतिस्थितिबन्धे ॐ

द्वितीयाधिकारसंनिकर्षद्वारान्तः

'प्रेमप्रभा'टीकाविभूषितः

पूर्वांशः



आदौ मध्येऽन्त्ये वा कुत्राऽप्यस्यां समस्तटीकायाम् ।
यज्जिनवचनातीतं भणितं स्याद्भवतु तन्मिथ्या ॥१४॥ (पथ्या०)

यावद्भूकजकर्णिकात्वममरग्राव्णा समानीयते,
यावद्भूकमलाकटौ जलधिना काञ्चीत्वमारच्यते ।
यावच्चेन्दुदिवस्करौ विलसतस्तावद्धि नन्दत्वियं,
मूलान्यस्थितिबन्धवृत्तिरियती प्रेमप्रभासंज्ञका ॥१५॥ (शार्दूल०)

इत्थं हि संनिकर्षान्तं कृत्वा विवरणं मया लब्धैः ।
कुशलगुणैः सत्वाः स्युः शिवसद्माऽऽरोहणे कुशलाः ॥१६॥ (पथ्या०)

सवृत्तिसंनिकर्षान्ते, ग्रन्थे सहस्रविंशतिः । अनुष्टुब्वृत्तमानाद्धि, ग्रन्थाग्रमनुमीयते ॥१७॥

। तदेव श्री बन्धविधानोत्तरप्रकृतिस्थितिबन्धपूर्वार्धटीकाया प्रशस्तिः समाप्ता ।

॥ तदेव श्रीबन्धविधाने उत्तरप्रकृतिस्थितिबन्धपूर्वार्धे प्रेमप्रभाटीका समाप्ता ॥

तत्समाप्तौ च

समाप्तः

प्रवचनकौशल्याधार-सुविहिताग्रणी-गच्छाधिपति-परमशासनप्रभावक-सिद्धान्तमहोदधि-कर्मशास्त्रनिष्णाता-ऽऽचार्यदेवश्रीमद्विजयप्रेमसूरीश्वरपादाना पवित्रनिश्राया तदन्तेवासिवृन्दविनिर्मिते मुनिश्री-जयघोषविजय-धर्मानन्दविजय-वीरशेखरविजयसगृहीतपदार्थके मुनिश्रीवीरशेखर-विजयविरचितमूलगाथाके प्रेमप्रभाटीकाविभूषिते

बन्धविधाने

मुनिजगच्चन्द्रविजयविरचितप्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृतः
द्वितीयाधिकारसनिकर्षद्वारान्तः

उत्तरप्रकृतिस्थितिबन्धपूर्वार्धः

पृष्ठ०	पङ्क्तिः	अशुद्धम्	संशोध्यम्
३९२	१४	०पपादनप्रव ारा०	पपादनप्रकारा०
३९३	१०	०द्वितीयांश-ासरात्	०द्वितीयांशप्रसरात्
,,	१४/१७	०र्द्विभगोन०	०र्द्विभागोन०
३९४	१२/२०	नियमो/०स्थतिकाः	नियम /स्थितिका
३९६	११	इ-ीहापि सम्बध्यते	इतीहापि सम्बध्यते
३९७	३०	०जाल मापद्येत	०जालमापद्येत
३९८	२४	ध्रु वबध्या%दि॰व	ध्रु वबन्ध्या%दिनैव
३९८	७	तुल्य ाग०	तुल्यभाग०
,,	२३	रहि त्वादन	रहितत्वादिनैव
३९९	१७	य्ध्नाति	वध्नाति
४००	८	०युग ाद्/उद्योस्य	०युगपद्/उद्योतस्य
४००	११/१२	०न्द्धपाणा/ि यम	०न्छेपाणां/णियम
४०१	७/२६	विरो-/ ॥ ॥	विरोधि-/॥६७६-७७॥
४०७	९	आहारद्विक०	आहारकद्विक०
४१३	१२	हास्य दि०	हास्यादि०
४०८	२/२२	ऽस्थिरां%विकल्प०	०ऽस्थिर%विकल्पा
४१४	१७	'सखसूण'	'सखसूण'
४१५	१	सर्वप्रकृत्य०	सर्वप्रकृतीर०
४१७	२०	ध्रुवबन्ध्य०	ध्रु वबन्ध्य०
४१६	१८	जेट्ठमजेट्टं	जेट्ठमजेट्ठ
४२२	३/२४	बध्नत/यरस्स	बध्नतर० /इयरस्स
४२४	७	०मस्थि ादीना/नाम,	०मस्थिरादीनां/नाम्
,,	१४/१६	तासा/स्योघेन	तासा/स्यौघेन
२२३	१५	बध्यप्रायोग्याणां	बन्धप्रायोग्याणा
४२९	२१	नीचगोत्र०	नीचैर्गोत्र०
४३५	१०	मार्गगासु	मार्गणासु
४३६	७	०दशेभ्य	०दशभ्य.
,,	१८	लभ्ययान०	लभ्यमान०
४३६	११	इययरस्स'	इयरस्स'
४३९	१७	छवट्टस	छेवट्टस्स
,,	२७	०स्थितेवगात्कृष्टत्व-	स्थितेर्वर्गोत्कृष्टत्वे-
,,	,,	ऽपाहाऽष्टा श०	ऽपीहाऽष्टादश०
,,	३०	०कर्षो. त्रयो०	०कर्षस्त्रयो०
,,	३१	०तइआ गम मतदव०'	०तइआइगअट्ठ-मंतदेवेसु''
४३८	१३	०त्रयोशकेन	०त्रयोदशकेन
४४२	१७	मित्येन	मित्यनेन
४४३	२४	०सनिकर्ष बिभणी-	सनिकर्ष बिभणि-
,,	,,	सुरादौ	षुरादौ
४४४	५/७	स्याद्बन्ध/प्रधा०	स्याद्बन्धो/ प्राधा०
४४६	२५/२७	०स्वामी०/बन्धाप्र०	०स्वामि०/बन्धप्रा०
४४८	२१	'तिसघय	'तिसंघय०
,,	२८	मंनुष्यानु०	मनुष्यानु०
४४९	३	न्यूनः वर्गो०	न्यूनो वर्गो०
४४९	२३	०लक्षणास्त्रयोपञ्च०	०लक्षणाः पञ्च०
४५०	५	अथा	अथ
४५५	२४	०वद्वेव०	०वद्देव०
४५६	१६	०वेद्देव०	०वद्देव०
४६०	१८	०स्थितेनियमाद्	०स्थितेर्नियमाद्
४६४	९	०वक्तव्यत	०वक्तव्यता
४६५	१८	सापवादति०	सापवादाति०
४७८	२३	तदे	तदेव
४७९	७	भणित्वाद०	भणितत्वाद०
,,	१७	।.६५३-	॥९५६-
४८२	३	सम्पन्न ,	सम्पन्नः,
४८६	२८	तुल्यैकरूपा०	तुल्यैकरूप०
४८९	२४	सनिकषर्वद्ध०	सनिकर्षवद्ध०
४९०	८	साक्षद्ध०	साक्षाद्ध०
४९३	९	०कादश०	०कादश०
,,	११	पुनस्तापञ्च०	पुनस्ता' पञ्च०
५०४	चरमा	०प्राप्तरिति।	०प्राप्तेरिति।
५०५	११	बध्नता । नर०	बध्नता नर०
५०६	२०	०रोत्तरतस्थान०	०रोत्तरस्थान०
५०७	२७	१०५५५७	१०५५-५७
५०९	१४	सनिकषे	सनिकर्षे
५११	३३	"वियर०	"धुवियर०
५१२	२/१६	सस्थाना०/सुगम् ,	संस्थान०/सुगमम्,
५१३	१०	परघातो०	पराघातो०
५१५	३०	०ऽवधिज्ञान०	ऽवधिज्ञान०
५१८	६	०कषर्व०/प्रकृति वि०	०कर्षव०/प्रकृतिवि०
५१९	२५	तदुनु	तदनु

पृष्ठ०	पङ्क्तिः	अशुद्धम्	संशोध्यम्
५२०	४/११	१११/स्यसप्त०	११/स्य सप्त०
५२१	९	अन्येका,	अन्यैका,
५२२	२/७	०सहना०/स्वयमा०	०महन०/स्वयम०
५२३	२	तत्र	अथ परस्थानसंनिकर्षः, तत्र
,,	९	वौधिक०	वौत्रिक०
,,	११	०प्रकृतप्रकृति०	०प्रकृति०
५२५	१८/२६	सुगम;/प्रवृत्तर्ना०	सुगम /प्रवृत्तेर्ना०
५२६	२/५	प्रप्रथ०/ऽसावेद०	प्रथ०/ऽसातवेद०
५३५	१९	–गोत्र०	–गोंत्र०
५३६	३	चत्वारिंद्०	चत्वारिंशद्०
५४२	२६	हीनोकृष्ट०	हीनोत्कृष्ट०
५४३	५	दित्यदे०	दित्यनिदे०
५४५	२६	०काङ्गोपाङ्ग०	०काङ्गोपाङ्ग०
५४७	२७	०पञ्चशतो	०पञ्चाशतो
५५१	१९	प्रतिप्रपक्ष०	प्रतिपक्ष०
५५४	१४	परघातो-	पराघातो
५५७	१९	सातवेदया०	सातवेदनीया०
५५८	चरमा	१०३४	१३०४
५६१	१८	०मोत्क्रिष्ट०	०मोत्कृष्ट०
५६२	७	०गाथद्वया०	०गाथाद्वया०
,,	१८	०गुणोनात्कृ०	०गुणोनोत्कृ०
५६५	२४	सभ्मवे	सम्भवे
५६६	१८	वेदितव्या	वेदितव्यौ
५६७	१०	०स्थिति कनत्०	स्थितिक तन०
५७२	१६	पारावातो०	पराघातो०
५७४	१७	०युवऽ०	०युर्वाऽ०
५७५	२२	०मादित्रिसप्तमाग०	०मत्रिसप्तभागादि०
५८०	८	तिर्यक्प्रयो०	तिर्यक्प्रायो०
,,	१७	नरकौघादे	नरकौघादे

पृष्ठ०	पङ्क्तिः	अशुद्धम्	संशोध्यम्
५८२	२	त्रदशको०	त्रसदशको०
५८५	२/१०	उद्योता०/पक्षेया	कद्योता०/पेक्षया
५८६	११	०द्विक	द्विक
५८८	२६	०द्वितिया०	द्वितीया०
५८९	९	१३६४-	१४६४-
,,	१४	नद्वित्रिका०	नर्द्वित्रिका०
५९१	२०	ववत्व्य०	०वक्तव्य०
५९२	१४-१८	प्रतिपपत्ति-सनि०	प्रतिपत्ति-सनि०
५९४	६	भागाभ्यभ्य०	भागाभ्य०
५९५	१४	वध्नता	वध्नतो
५९७	२१	³¹ ाय-	³¹ माय-
६००	५	पूर्वोक्त०	पूर्वोक्त०
६०१	१४	०समाप्रते०	समाप्तेर०
६०२	२१	०स्थियर्यग्द्वि०	०स्तिर्यग्द्वि०
६०४	१३	नियतिबन्ध०	नियतबन्ध०
,,	२५	०नाद्गातार्थ०	०नाद्तार्थ०
६०६	२	०वादभिधान०	०वादाभिधान०
६०६	४	०मायुर्वन्ध०	०मायुर्बन्ध०
,,	७/१२	०प्रतिपते०/तत्थ०	०प्रतिपत्ते०/तित्थ
६०७	१६	०सथान०	०सस्थान०
,,	२६	'लहुमहु'	'लहुमलहु
६०८	५/१९	स्या-/गतीह	स्याद्-/गती इह
६१०	२०	केवलदशन-	केवलदर्शन-
६१३	६	उवशम-	उवसम-
६१४	२९	ठिइ वधी	ठिइवधी
६१५	२१	०भावस्य ऽपि	०मावस्याऽपि
,,	२६	तत्प्रतिक्ष०	तत्प्रतिपक्ष०
६१६	१८	०सनिकर्षे	सनिकर्षे
,,	२०	०भागाम्यधिक०	०भागाभ्यधिक०



तिर्यग्गत्योघमार्गणाभेदे तु विंशत्युत्तरशतप्रकृतिभ्य आहारकद्विक-तीर्थकरनामलक्षणप्रकृतित्रयं संत्यज्य शेषाः सप्तदशोत्तरशतप्रकृतयो बन्धप्रायोग्या भवन्ति ।

पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्-तिरश्चीरूपमार्गणाभेदत्रयेऽपि तिर्यग्गत्योघवदाहारकद्विक-तीर्थकरनामवर्जाः सप्तदशाभ्यधिकशतप्रकृतय एव बन्धप्रायोग्याः सन्ति ।

अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदे तु वैक्रियाष्टकम् आहारकद्विकं तीर्थकरनाम चेत्येता एकादशप्रकृतीर्विवर्ज्य शेषा नवाभ्यधिकशतप्रकृतयो बन्धप्रायोग्या विद्यन्ते ।

मनुष्यगत्योघ-पर्याप्तमनुष्य-मानुषीमार्गणासु तु प्रत्येकं सर्वाः प्रकृतयो बन्धप्रायोग्या इति प्रागभिहितम् । शेषायामपर्याप्तमनुष्यमार्गणायां त्वपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणावद् वैक्रियाष्टकाद्येकादशप्रकृतिवर्जा नवोत्तरशतप्रकृतयो बन्धप्रायोग्या बोद्धव्याः ।

देवगत्योघमार्गणायां वैक्रियाष्टकम् ,आहारकद्विकम् , द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियजातिनामप्रकृतित्रयलक्षणं विकलत्रिकं, सूक्ष्मा-ऽपर्याप्त-साधारणनामप्रकृतित्रयात्मकं सूक्ष्मत्रिकं चेत्येताः षोडशप्रकृतीर्विवर्ज्य शेषाश्चतुरुत्तरशतप्रकृतयो बन्धप्रायोग्याः सन्ति ।

भवनपति-व्यन्तर-ज्योतिष्कदेवभेदेषु तु प्रत्येकमनन्तरोक्ताश्चतुरुत्तरशतप्रकृतयस्तीर्थकरनामप्रकृत्या न्यूनाः सत्यस्त्र्युत्तरशतं बन्धप्रायोग्या विद्यन्ते ।

सौधर्मेशानकल्पद्वये तु देवगत्योघवच्चतुरुत्तरशतप्रकृतयो बध्यन्ते ।

सनत्कुमारादिसहस्रारान्तेषु षट्सु देवगतिभेदेषु निरयगत्योघवद् वैक्रियाष्टकाद्येकोनविंशतिप्रकृतिवर्जा एकोत्तरशतप्रकृतयो बन्धप्रायोग्या बोद्धव्याः ।

आनतकल्पप्रभृतिनवमग्रैवेयकान्तेषु त्रयोदशदेवमार्गणाभेदेषु तु प्रत्येकं वैक्रियाष्टकम् ,आहारकद्विकम् , तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्वी-तिर्यगायुःप्रकृतित्रयलक्षणं तिर्यक्त्रिकं, जातिचतुष्कम् , स्थावरचतुष्कम् , आतपनामोद्योतनाम चेत्येतास्त्रयोविंशतिप्रकृतीर्विवर्ज्य शेषाः सप्तनवतिप्रकृतयो बन्धप्रायोग्याः ।

अनुत्तरदेवमार्गणाभेदपञ्चके द्विसप्ततिः प्रकृतयो बन्धप्रायोग्याः सन्ति । तद्यथा–पञ्चज्ञानावरणप्रकृतयः, चक्षुदर्शनावरणादीनि चत्वारि आवरणानि निद्रा प्रचले चेति षड् दर्शनावरणप्रकृतयः, साताऽसातवेदनीयमिति वेदनीयप्रकृतिद्वयम् , अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण-संज्वलनक्रोधमानमायालोभलक्षणा द्वादशकषायाः, हास्य-रति शोका-ऽरति-भय-जुगुप्सात्मकं हास्यषट्कम् ; पुंवेदश्चेत्येता एकोनविंशतिर्मोहनीयप्रकृतयः , मनुष्यायुरित्येकाऽऽयुःप्रकृतिः , मनुष्यगतिः, पञ्चेन्द्रियजातिः, औदारिक तैजस-कार्मणशरीराणि, औदारिकाङ्गोपाङ्गम् ,वज्रर्षभनाराचसंहननम् , समचतुरस्रसंस्थानम् , वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शनामप्रकृतिरूपं वर्णचतुष्कम् , मनुष्यानुपूर्वी, प्रशस्तविहायोगतिनाम, आतपनामोद्योतनामवर्जाः पराघातादिषट्प्रत्येकप्रकृतयः, त्रसदशकम् , अस्थिराऽशुभाऽयशः-

कीर्तिनामप्रकृतित्रयं चेत्येतास्त्रयस्त्रिंशन्नामप्रकृतयः । उच्चैर्गोत्रमित्येका गोत्रप्रकृतिः । पञ्चान्तरायप्रकृतयश्चेति ।

इन्द्रियमार्गणासत्केषु त्वोघ-सूक्ष्मौघ-बादरौघ-तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्नेषु सप्तस्वेकेन्द्रियभेदेषु, तथा ओघ-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्नेषु द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियसत्केषु नवसु विकलेन्द्रियभेदेष्वपर्याप्तपञ्चेन्द्रियभेदे चेत्येतासु सप्तदशमार्गणास्वपर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रियमार्गणावद् वैक्रियाष्टकाद्येकादशप्रकृतिवर्जा नवोत्तरशतप्रकृतय एव बन्धप्रायोग्याः ।

पञ्चेन्द्रियौघ-तत्पर्याप्तभेदयोस्तु सर्वाः विंशत्युत्तरशतप्रकृतयो बन्धप्रायोग्याः प्रागुक्ता एव ।

कायमार्गणासम्बन्धिष्वप्योघ-सूक्ष्मौघ-बादरौघ-तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्नेषु पृथिवीकाया-ऽप्काय-वनस्पतिकायसत्कसर्वभेदेष्वपर्याप्तत्रसकायभेदे च प्रत्येकमपर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रियमार्गणावदेव नवोत्तरशतप्रकृतयो बन्धप्रायोग्याः सन्ति ।

तेजस्काय-वायुकायसत्केषु पुनः सप्तसप्तसंख्याकेषु सर्वभेदेषु अनुपदोक्तनवोत्तरशतप्रकृतिभ्यो मनुष्यगति-मनुष्यानुपूर्वी-मनुष्यायुर्लक्षणप्रकृतित्रयरूपं मनुष्यत्रिकम्, उच्चैर्गोत्रञ्चेति चतुःप्रकृतीर्विवर्ज्य पञ्चाभ्यधिकशतप्रकृतय एव बन्धप्रायोग्याः सन्ति ।

त्रसकायौघ पर्याप्तत्रसकायमार्गणाद्वये त्वशेषाः विंशत्युत्तरशतं बन्धप्रायोग्याः प्रागुक्ता एव ।

योगमार्गणासत्केषु तु पञ्चमनोयोग-पञ्चवचोयोग-काययोगसामान्यौ-दारिककाययोगरूपद्वादशमार्गणास्थानेष्वपि प्रत्येकं समस्ता विंशत्युत्तरशतप्रकृतयो बन्धप्रायोग्याः प्रागुक्ता एव ।

औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां विंशत्युत्तरशतप्रकृतिभ्यो देवायुराहारकद्विकं निरयत्रिकं चेत्येताः षट्प्रकृतीर्विवर्ज्य शेषाश्चतुर्दशोत्तरशतप्रकृतयो बन्धप्रायोग्याः ।

वैक्रियकाययोगमार्गणायां तु देवगत्योघमार्गणावद् वैक्रियाष्टकम्, आहारकद्विकम्, विकलत्रिकम्, सूक्ष्मत्रिकं चेत्येताः षोडशप्रकृतीर्विहाय शेषाश्चतुरुत्तरशतं प्रकृतयो बन्धप्रायोग्याः बोद्धव्याः।

वैक्रियमिश्रकाययोगे त्वायुष्कद्वयमपि न बध्यत इति कृत्वोपर्युक्ताश्चतुरुत्तरशतप्रकृतयो देवायुर्निरयायुर्वर्जाः सत्यो द्व्यभ्यधिकशतं बन्धप्रायोग्याः ।

आहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगमार्गणाद्वये पुनस्त्रिषष्टिः प्रकृतय एव बन्धप्रायोग्याः सन्ति । तद्यथा—पञ्च ज्ञानावरणानि, निद्रानिद्रा-प्रचलाप्रचला स्त्यानर्द्धिप्रकृतित्रयलक्षणस्त्यानर्द्धित्रिकवर्जानि षड् दर्शनावरणानि, साता-ऽसातवेदनीये, संज्वलनक्रोध--मान-माया-लोभप्रकृतिलक्षणं संज्वलनचतुष्कम्, हास्यषट्कम्, पुरुषवेदः, देवायुस्तथा देवगतिनाम, पञ्चेन्द्रियजातिनाम, वैक्रिय-तैजस-कार्मणशरीरनामानि, वैक्रिया-ऽङ्गोपाङ्गनाम, समचतुरस्रसंस्थाननाम, वर्णचतुष्कम्, देवानुपूर्वीनाम, प्रशस्तविहायोगतिनाम, आतपोद्योतनामप्रकृतिद्वयवर्जाः षट् प्रत्येकप्रकृतयः, त्रसदशकम्, अस्थिरा-ऽशुभा-ऽयशःकीर्तिनामानि, उच्चैर्गोत्रम्, पञ्चान्तरायाणि चेति ।

कार्मणकाययोगमार्गणायां त्वायुश्चतुष्कम् , आहारकद्विकम् , निरयगति-निरयानुपूर्वीप्रकृति-द्वयलक्षणं निरयद्विकं चापहाय शेषा द्वादशोत्तरशतप्रकृतयो बन्धप्रायोग्याः सन्ति ।

स्त्रीवेद-पुरुषवेद-नपुंसकवेदमार्गणात्रये सर्वाः प्रकृतयो बन्धप्रायोग्या इत्यभिहितं प्राक् ।

अपगतवेदमार्गणायां त्वेकविंशतिः प्रकृतयो बन्धप्रायोग्याः । तद्यथा–पञ्च ज्ञानावरणानि, चक्षुर्दर्शनादिचतुर्दर्शनावरणानि, सातवेदनीयम् , संज्वलनचतुष्कम् , यशःकीर्तिनाम, उच्चैर्गोत्रम् , अन्तरायपञ्चकं चेति ।

क्रोध मान माया-लोभकषायमार्गणासु प्रत्येकं प्राक् सर्वाः प्रकृतयो बन्धप्रायोग्या उक्ताः ।

मत्यज्ञानाद्यज्ञानमार्गणात्रये तु प्रत्येकं तिर्यग्गत्योघवदाहारकद्विकतीर्थकरनामवर्जाः सप्तदशोत्तरशतप्रकृतयो बन्धप्रायोग्या भवन्ति ।

मतिज्ञानादिज्ञानमार्गणात्रये पुनर्नवसप्ततिः प्रकृतयो बन्धप्रायोग्याः । तद्यथा–पञ्च ज्ञानावरणानि, स्त्यानर्द्धित्रिकवर्जानि षड् दर्शनावरणानि,साताऽसातवेदनीये,अनन्तानुबन्धिचतुष्कवर्जा द्वादशकषायाः, हास्यषट्कम् , पुरुषवेदः, देव-मनुष्यायुषी, देवगतिनाम-मनुष्यगतिनाम पञ्चेन्द्रियजातिनामौ-दारिकादिपञ्चशरीरनामौ–दारिकादित्र्यङ्गोपाङ्गनाम-वज्रर्षभनाराचसंहनननाम समचतुरस्रसंस्थाननाम-वर्णचतुष्क-देवानुपूर्वी-मनुष्यानुपूर्वी–प्रशस्तविहायोगति–पराघातो-च्छ्वासा-ऽगुरुलघु तीर्थकर-निर्माणो-पघात-त्रसदशका-ऽस्थिरा-ऽशुभा-ऽयशःकीर्तिनामानि,तथोच्चैर्गोत्रम् , पञ्चान्तरायाणि चेति ।

मनःपर्यवज्ञानमार्गणायां त्वाहारककाययोगमार्गणायामुक्तास्त्रिषष्टिप्रकृतय आहारकद्विकेन सहिताः सत्यः पञ्चषष्टिः प्रकृतयो बन्धप्रायोग्या बोद्धव्याः ।

संयमौघे सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणास्थानेषु च मनःपर्यवज्ञान-मार्गणावदेव पञ्चषष्टिः प्रकृतयो बन्धप्रायोग्याः सन्ति । सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायान्तु पञ्च ज्ञानावरणानि, चत्वारि दर्शनावरणानि, सातवेदनीयम् , यशःकीर्त्तिनाम, उच्चैर्गोत्रम् , पञ्चान्तरायाणि चेत्येताः सप्तदश प्रकृतयो बन्धप्रायोग्या भवन्ति । देशसंयममार्गणायां तु मनःपर्यवज्ञानमार्गणोक्ताः पञ्चषष्टिः आहारकद्विकेन रहिताः प्रत्याख्यानावरणक्रोधादिकषायचतुष्केण संयुताः सप्तषष्टिः प्रकृतयो बन्धप्रायोग्या अवसातव्याः। असंयममार्गणायामाहारकद्विकवर्जा अष्टादशोत्तरशतं बन्धप्रायोग्याः ।

चक्षुरचक्षुर्दर्शनमार्गणाद्वये प्रत्येकं सर्वाः प्रकृतयो बन्धप्रायोग्या इति कथितमेव । अवधिदर्शन-मार्गणायां तु मतिज्ञानादिमार्गणावत् स्त्यानर्द्धित्रिकाद्येकचत्वारिंशत्प्रकृतिवर्जा एकोनाशीतिः प्रकृतयो बन्धप्रायोग्या वेदितव्याः ।

कृष्ण-[२]नील-[३]कापोतलेश्यामार्गणात्रये प्रत्येकम्–असंयममार्गणावदाहारकद्विकवर्जा अष्टादशाभ्यधिकशतप्रकृतयो बन्धप्रायोग्याः । [४]तेजोलेश्यामार्गणायान्तु विकलत्रिक नरकत्रिक-सूक्ष्मत्रिक-वर्जा एकादशाभ्यधिकशतप्रकृतयो बन्धप्रायोग्या बोद्धव्याः । [५]पद्मलेश्यामार्गणायां नरकत्रिक-जाति-

चतुष्क-स्थावरचतुष्का-ऽऽतपनामलक्षणा द्वादशप्रकृतीर्विवर्ज्य शेषा अष्टोत्तरशतं प्रकृतयो बन्धप्रायोग्याः सन्ति । [६]शुक्ललेश्यामार्गणायान्तूपयुक्ता अष्टोत्तरशतप्रकृतयस्तिर्यक्त्रिकोद्योतनामवर्जाश्चतुरुत्तरशतप्रकृतयो बन्धप्रायोग्या अवसातव्याः ।

भव्यमार्गणायां प्रागमनुष्यगत्योघादिमार्गणाभिः समं सर्वा विंशत्युत्तरशतं बन्धप्रायोग्या इति भणितम्, अभव्यमार्गणायां तु तिर्यग्गत्योघवदाहारकद्विकतीर्थकरनामवर्जाः शेषाः सप्तदशोत्तरशतप्रकृतयो बन्धप्रायोग्या भवन्ति ।

[१]सम्यक्त्वौघे क्षायिकसम्यक्त्व-[३]क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणयोश्च प्रत्येकं मतिज्ञानादिमार्गणावत् नवसप्ततिप्रकृतयो बन्धप्रायोग्याः । [४]औपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायामपि मतिज्ञानादिमार्गणावदेव, केवलमायुर्न बध्यत इति देवायुर्मनुष्यायुर्द्वयवर्जाः सप्तसप्ततिप्रकृतयो बन्धप्रायोग्या वेदितव्याः । सम्यग्मिथ्यात्वमार्गणास्थाने पञ्चज्ञानावरणषड्दर्शनावरण-साता ऽसातवेदनीय-द्वादशकषाय-हास्यषट्क-पुरुषवेद-देवद्विक-मनुष्यद्विक-पञ्चेन्द्रियजाति - वैक्रियद्विकौ- दारिकद्विक -तैजस-कार्मणशरीर वज्रर्षभनाराचसंहनन समचतुरस्रसंस्थान-वर्णचतुष्कप्रशस्तविहायोगति-पराघातो च्छ्वासा-ऽगुरुलघु-निर्माणो पघात त्रसदशका-ऽस्थिरा-ऽशुभा-ऽयशःकीर्त्यु -च्चैर्गोत्रा ऽन्तरायपञ्चकरूपाश्चतुःसप्ततिप्रकृतयो बन्धप्रायोग्याः सन्ति । सासादनमार्गणायामाहारकद्विक तीर्थकरनाम-निरयत्रिक जाति-चतुष्क-स्थावरचतुष्काणि, नपुंसकवेद-मिथ्यात्व-हुंडसंस्थान-सेवार्तसंहननान्यातपनाम चेत्येता एकोनविंशतिप्रकृतीर्विवर्ज्य शेषा एकोत्तरशतप्रकृतयो बन्धप्रायोग्या भवन्ति, मिथ्यात्वमार्गणायामाहारकद्विक तीर्थकरनामवर्जाः सप्तदशोत्तरशतप्रकृतयो बन्धप्रायोग्याः ।

संज्ञिमार्गणायां सर्वा विंशत्युत्तरशतप्रकृतयो बन्धप्रायोग्या इत्युक्तमेव । असंज्ञिमार्गणायां तु मिथ्यात्वमार्गणावदाहारकद्विकजिननामप्रकृतित्रयवर्जाः शेषाः सप्तदशोत्तरशतप्रकृतय एव ।

आहारिमार्गणायां संज्ञिमार्गणावत् सर्वाः प्रागुक्ताः । अनाहारिमार्गणायां तु कार्मणकाययोगवद् आयुश्चतुष्कमाहारकद्विकं निरयद्विकं च विवर्ज्य शेषा द्वादशोत्तरशतप्रकृतयो बन्धप्रायोग्या इति ।

इत्थं ह्यपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणायां बन्धप्रायोग्यनवोत्तरशतप्रकृतिभ्यस्तिर्यग्मनुष्यायुषी विना शेषाणां सप्तोत्तरशतप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धोऽन्तःकोटीकोटीसागरोपमप्रमाणो जायते, एवमेव शेषमार्गणास्वपि द्रष्टव्यम् । तद्यथा—अपर्याप्तमनुष्या-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिया ऽपर्याप्तत्रसकायमार्गणासु प्रत्येकं बन्धप्रायोग्यनवोत्तरशतप्रकृतिभ्यस्तिर्यग् मनुष्यायुषी विवर्ज्य सर्वा ज्ञानावरणप्रकृतयः, सर्वा दर्शनावरणप्रकृतयः, द्वे अपि वेदनीयप्रकृती, सर्वा मोहनीयप्रकृतयः, निरयगति-निरयानुपूर्वी-देवगति-देवानुपूर्वी-वैक्रियशरीर वैक्रियाङ्गोपाङ्गलक्षणं वैक्रियषट्कम्, आहारकद्विकम्, तीर्थकरनाम च विवर्ज्याऽष्टपञ्चाशत् नामप्रकृतयः, द्वे अपि गोत्रप्रकृती, पञ्चान्तरायप्रकृतयश्चेत्येतासां सप्तोत्तरशतशेषप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धोऽन्तःकोटीकोटीसागरोपमप्रमाणो भवति । आनतकल्पादिषु त्रयोदशसु

देवगतिभेदेषु प्रत्येकं बन्धप्रायोग्याभ्यः सप्तनवतिप्रकृतिभ्यो मनुष्यायुर्विना शेषाणां षण्णवतिप्रकृतीनां प्रत्येकमन्तःकोटीकोटीसागरोपमप्रमाणः स्थितिबन्धो भवति, ताश्च इमाः—पञ्च ज्ञानावरणानि, नव दर्शनावरणानि, द्वे वेदनीये, षड्विंशतिर्मोहनीयप्रकृतयः, मनुष्यगति-पञ्चेन्द्रियजात्यौदारिक-तैजस-कार्मणशरीरौदारिकाङ्गोपाङ्ग-संहननषट्क-संस्थानषट्क-वर्णचतुष्क-मनुष्यानुपूर्वी-विहायोगतिद्विकानि, तथाऽऽतपो-द्योतनामवर्जाः षट् प्रत्येकप्रकृतयः,त्रसदशकम् ,अस्थिरा-ऽशुभ-दुर्भग-दुःस्वराऽनादेया-ऽयशःकीर्तिनामप्रकृतिषट्कात्मकमस्थिरषट्कम् ,गोत्रप्रकृतिद्वयम् ,अन्तरायपञ्चकं चेति । अनुत्तरदेवमार्गणापञ्चके बन्धप्रायोग्यद्विसप्ततिप्रकृतिभ्यो मनुष्यायुर्विहाय शेषाणामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्तथाऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगमार्गणयोस्तु देवायुर्वर्जानां द्वाषष्टिप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धोऽन्तःकोटीकोटीसागरोपमप्रमाणः । वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायामायुर्बन्धस्यैवाऽभावाद् बन्धप्रायोग्याणां सर्वासां द्व्यभ्यधिकशतप्रकृतीनामप्युत्कृष्टस्थितिबन्धपरिमाणं यथोक्तं बोद्धव्यम् । औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां बन्धप्रायोग्यचतुर्दशोत्तरशतप्रकृतिभ्यस्तिर्यग्मनुष्यायुर्द्वयं विहाय शेषाणां द्वादशोत्तरशतप्रकृतीनामन्तःकोटीकोट्यः सागरोपमाण्युत्कृष्टस्थितिबन्धो जायते । कार्मणकाययोगे त्वायुरेव न बध्यत इति बन्धप्रायोग्याणां सर्वासां द्वादशोत्तरशतप्रकृतीनामपि यथोक्तप्रमाणः स्थितिबन्धो भवतीति विज्ञेयम् । इत्थमेवानाहारकमार्गणायामपि द्वादशोत्तरशतप्रकृतीनाम् ।मतिज्ञानमार्गणायां बन्धप्रायोग्याभ्य एकोनाशीतिप्रकृतिभ्यो देवायुर्मनुष्यायुषी विना शेषाणामुक्तस्थितिबन्धप्रमाणं बोद्धव्यम् । मतिज्ञानमार्गणावदेव श्रुतज्ञाना-ऽवधिज्ञानमार्गणयोरवधिदर्शनमार्गणायां सम्यक्त्वौघे क्षायिकसम्यक्त्व-वेदकसम्यक्त्वमार्गणयोश्च विज्ञेयम् । मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणासु बन्धप्रायोग्यपञ्चषष्टिप्रकृतिभ्यो देवायुर्विहाय शेषाणां चतुःषष्टिप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धमानं यथोक्तमन्तःकोटिकोटिसागरोपमाणि ज्ञेयम् । देशसंयममार्गणायां तत्र बन्धप्रायोग्यसप्तषष्टिप्रकृतिभ्यो देवायुर्विहाय षट्षष्टिप्रकृतीनामेतज्ज्ञातव्यम् । शुक्ललेश्यामार्गणायां बन्धप्रायोग्याभ्यश्चतुरुत्तरशतप्रकृतिभ्यो देवमनुष्यायुषी संत्यज्य शेषाणां पञ्चानां ज्ञानावरणानां नवानां दर्शनावरणप्रकृतीनां द्वयोर्वेदनीययोः षड्विंशतिमोहनीयप्रकृतीनां नरकद्विक-तिर्यग्द्विक-जातिचतुष्कस्थावरचतुष्काऽऽतपोद्योतलक्षणचतुर्दशप्रकृतिवर्जानां त्रिपञ्चाशतो नामप्रकृतीनां द्वयोर्गोत्रप्रकृत्योः पञ्चानामन्तरायाणां चेत्येतासां द्व्यस्यधिकशतप्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टः स्थितिबन्धोऽन्तःकोटीकोटीसागरोपमप्रमाणो जायते । सासादनमार्गणायां बन्धप्रायोग्याभ्य एकोत्तरशतप्रकृतिभ्यस्तिर्यग्मनुष्यदेवायुलक्षणप्रकृतित्रयं विवर्ज्य शेषाणां पञ्चज्ञानावरणप्रकृतीनां, नवदर्शनावरणप्रकृतीनां, द्वयोर्वेदनीयप्रकृत्योः, अनन्तानुबन्ध्यादीनां षोडशानां कषायाणां, हास्यषट्कस्य, स्त्रीपुंवेदयोः, आहारकद्विक—निरयद्विक जातिचतुष्क-स्थावरचतुष्क-चरमसंहनन-चरमसंस्थान-तीर्थकरनामा-ऽऽतपनामलक्षणषोडशप्रकृतिवर्जानामेकपञ्चाशतो नामप्रकृतीनां द्वयोर्गोत्रप्रकृत्योः, पञ्चानामन्तरायप्रकृतीनां च प्रत्येकं यथोक्तोऽन्तःकोटीकोटीसागरोपमप्रमाण उत्कृष्टस्थितिबन्धो जायते । सम्यग्मिथ्यात्वमार्गणायां

त्वायुषो बन्धाभावात् सर्वासां चतुःसप्ततिप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धोऽन्तःकोटीकोटीसागरोपमप्रमाणो भवतीति । एवमेवौपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायामपि आयुर्बन्धाभावात् तत्र बन्धप्रायोग्याणां सर्वासां सप्तसप्ततिप्रकृतीनां प्रस्तुतस्थितिबन्धमानमन्तःकोटीकोटीसागरोपमाणि ज्ञेयमिति ॥७५॥

अथैकेन्द्रियजात्यादिकतिपयमार्गणासु प्रस्तुतमुत्कृष्टस्थितिबन्धमानं प्रचिकटयिषुर्लाघवार्थं करणविशेषेण प्राह—

मिच्छगुरुट्ठिइभत्तो णायव्वो वग्गजेट्ठठिइबंधो ।
सो जेट्ठो सव्वेसुं एगिंदिय-पंचकायभेएसुं ॥७६॥ (गीतिः)

सो खलु पणवीसाए पण्णासाए सयेण सहसेणं ।
गुणिओ कमसो णेयो समत्थविगलेसु अमणे य ॥७७॥

(प्रे०) "**मिच्छगुरु**" इत्यादि, मिथ्यात्वस्य "**गुरुट्ठिइ**" त्ति सप्ततिकोटिकोटिसागरोपममाना या औघिकी 'गुरुस्थितिः'-उत्कृष्टस्थितिस्तया मिथ्यात्वगुरुस्थित्या 'भक्तः'–विभक्तः एवम्भूतः "**वग्गजेट्ठठिइबंधो**" त्ति 'वर्गाः' उत्तरप्रकृतिसमुदायाः, ते च मोहनीयाऽऽयुर्वर्जषड्-मूलप्रकृतिभेदात् षड् , दर्शनमोहनीय कषायमोहनीय-नोकषायमोहनीयभेदादन्ये त्रयश्चेति समस्ता नव; **तद्यथा**–ज्ञानावरणोत्तरप्रकृतिसमुदायो ज्ञानावरणवर्गः, दर्शनावरणोत्तरप्रकृतिसमुदायो दर्शनावरणवर्गः, वेदनीयोत्तरप्रकृतिसमुदायो वेदनीयवर्गः, दर्शनमोहनीयोत्तरप्रकृतिसमुदायो दर्शनमोहनीयवर्गः, कषायमोहनीयोत्तरप्रकृतिसमुदायः कषायमोहनीयवर्गः, नोकषायमोहनीयोत्तरप्रकृतिसमुदायो नोकषायमोहनीयवर्गः, नामकर्मोत्तरप्रकृतिसमुदायो नामवर्गः, गोत्रकर्मोत्तरप्रकृतिसमुदायो गोत्रवर्गः, अन्तरायकर्मोत्तरप्रकृतिसमुदायोऽन्तरायवर्गः । **उक्तं च कर्मप्रकृतिचूर्णौ**–'णाणावरणिज्ज, दसणावरणिज्ज, वेयणिज्ज, दंसणमोहणिज्ज, कसायमोहणिज्जं, नोकसायमोहणिज्ज, नाम, गोयं, अतराइयन्ति एते णव वग्गा वुच्चति ।' इति । तेषां नवानां वर्गाणां प्रत्येकं "**जेट्ठठिइबंधो**" त्ति औघिको 'ज्येष्ठः' उत्कृष्टः स्थितिबन्धः स वर्गज्येष्ठस्थितिबन्धः । औघिकं वर्गोत्कृष्टस्थितिबन्धमानं त्वेवम्—ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तरायवर्गाणां प्रत्येकं त्रिंशत्सागरोपमकोटिकोट्यः । कुतः? तत्र तत्र प्रविष्टोत्तरप्रकृतिषु कस्या अपि प्रकृतेरोघतस्तदधिकस्थितिबन्धस्याऽभावात् । अत एव दर्शनमोहनीयवर्गस्य सप्ततिसागरोपमकोटिकोट्यः कषायमोहनीयवर्गस्य चत्वारिंशत्सागरोपमकोटिकोट्यः, नोकषायमोहनीयादिशेषवर्गाणां प्रत्येकं विंशतिसागरोपमकोटिकोट्यश्चोत्कृष्टस्थितिबन्धतया लभ्यन्त इति । मिथ्यात्वोत्कृष्टस्थित्या विभक्ते चास्मिन् नवविधे स्थितिबन्धे सागरोपमत्रिसप्तादिभागमानः स्थितिबन्धः प्राप्यते, स हि एकेन्द्रिय पृथिव्यादिमार्गणाभेदेषु वक्ष्यमाणाऽपवादविशेषानपहाय तत्तद्वर्गप्रविष्टबन्धप्रायोग्योत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धो भवतीत्येतद्दिदर्श-

यिपुराह–"**सो जेट्ठो**" इत्यादि, 'सः' मिथ्यात्वोत्कृष्टस्थित्या विभक्तस्तत्तद्वर्गाणामुत्कृष्ट-स्थितिबन्धः "**एगिंदियपंचकायभेएसु**" ति ओघ-बादरौघ-तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्त सूक्ष्मौघ-तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्नेषु सप्तसंख्याकेषु 'सव्वेसु' ति एकेन्द्रियमूलोत्तरभेदतया तावतां सप्तानां भेदानामेवेहाधिकृतत्वेन तेषु सर्वेषु भेदेषु, एवमेव पृथिव्यादिवनस्पतिकायान्तपञ्चकायसम्बन्धिषु सर्वेषु भेदेष्वित्यर्थः, केवलं वनस्पतिकायमूलोत्तरमार्गणाभेदा इहैकादशाऽधिकृताः, **तद्यथा**–वनस्पतिकायौघः, प्रत्येकवनस्पतिकायौघस्तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदौ चेति चत्वारः, साधारणवनस्पतिकायसत्कार्श्चैकेन्द्रियादिवदोघबादरौघादिभेदभिन्नाः सप्तेति । इह हि यथोक्तकरणलब्धं मतिज्ञानावरणादीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धमानमौत्सर्गिकं विज्ञेयम् , कुतः, तस्य सूत्रलाघवार्थमभिहितत्वेनापवादपदानां वक्ष्यमाणत्वात् । अथापवादपदानि पश्चादेव चिकथयिषुर्विकलेन्द्रियादिमार्गणाभाव्युत्कृष्टस्थितिबन्धमानस्यानयनायाऽपि करणमेव दर्शयति–"**सो खलु**" इत्यादि, तत्र खलुशब्दोऽवधारणार्थस्ततः स मिथ्यात्वोत्कृष्टस्थित्या विभक्तो ज्ञानावरणादिवर्गाणामुत्कृष्टस्थितिबन्ध एव "**पणवीसाए**" इत्यादि,पञ्चविंशत्या पञ्चाशता शतेन सहस्रेण गुणितः सन्ः क्रमशः"**णेयो समत्थविगलेसु**" त्ति 'समस्तेषु' ओघ-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्नेषु '**विकलेषु**' द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियाणामेकैकस्य त्रिषु त्रिषु मार्गणाभेदेषु "**अमणे य**" त्ति असंज्ञिमार्गणास्थाने च उत्कृष्टस्थितिबन्धो भवतीति अनुवृत्त्या ज्ञेयम् । **अयम्भावः**–यथोक्तकरणलब्धो मतिज्ञानावरणादीनां सागरोपमत्रिसप्तभागादिमान एकेन्द्रियाणामुत्कृष्टस्थितिबन्धः पञ्चविंशत्या गुणितः सन् द्वीन्द्रियभेदत्रये उत्कृष्टस्थितिबन्धो जायते, स एकेन्द्रियाणामुत्कृष्टस्थितिबन्धः पञ्चाशता गुणितस्त्रीन्द्रियभेदत्रये, शतेन गुणितश्चतुरिन्द्रियभेदत्रये, सहस्रेण गुणितश्चासंज्ञिमार्गणास्थाने मतिज्ञानावरणादितत्तद्वर्गप्रविष्टबन्धप्रायोग्यप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धो भवति, तथाहि–यथोक्तैकैकवर्गोत्कृष्टस्थितिबन्धस्य मिथ्यात्वोत्कृष्टस्थित्या भागे हृते ज्ञानावरणोत्तरप्रकृतिपञ्चक-दर्शनावरणोत्तरप्रकृतिनवक-वेदनीयोत्तरप्रकृतिद्वया-ऽन्तरायोत्तरप्रकृतिपञ्चकानीत्येवमेकविंशतिप्रकृतीनामन्यतमस्याः प्रकृतेः सागरोपमत्रिसप्तभागप्रमाणः । मिथ्यात्वलक्षणमोहनीयस्यैकसागरोपमप्रमाणः, अनन्तानुबन्धिप्रभृतिक्रोधादिषोडशप्रकृतिनामन्यतमस्याः सागरोपमस्य चतुःसप्तभागप्रमाणः, शेषाणामायुर्वर्जबन्धप्रायोग्यप्रकृतीनामन्यतमस्यास्तु सागरोपमद्विसप्तभागप्रमाणः स्थितिबन्धः प्राप्यते, वक्ष्यमाणाऽपवादपदानि विहायैतावानेवैकेन्द्रियपृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिकायमार्गणासत्केषु मूलोत्तरभेदेषूत्कृष्टस्थितिबन्धतया ज्ञेयः,एवमेव वक्ष्यमाणापवादस्थानानि विहाय द्वीन्द्रियमार्गणाभेदेषु ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणनवक-वेदनीयद्विका-ऽन्तरायपञ्चकलक्षणैकविंशतिप्रकृतीनामन्यतमस्याः पञ्चविंशतिसागरोपमाणां त्रिसप्तभागप्रमाणः, त्रीन्द्रियमार्गणाभेदेषु तु तस्या एकविंशत्यन्यतमप्रकृतेः पञ्चाशत्सागरोपमत्रिसप्तभागप्रमाणः, चतुरिन्द्रियमार्गणाभेदत्रये तु तस्या अन्यतमस्याः प्रकृतेरुत्कृष्टस्थिति-

बन्धः शतसागरोपमत्रिसप्तभागप्रमाणः, असंज्ञिमार्गणास्थानेषु तस्या उत्कृष्टस्थितिबन्धः सहस्रसागरोपमत्रिसप्तभागमानश्च लभ्यते, मिथ्यात्वमोहनीयस्य द्वीन्द्रियमार्गणाभेदत्रये पञ्चविंशतिसागरोपमाणि, त्रीन्द्रियमार्गणाभेदत्रये पञ्चाशत्सागरोपमाणि, चतुरिन्द्रियमार्गणाभेदत्रये शतं सागरोपमाणि, असंज्ञिमार्गणायां तु सहस्रं सागरोपमाणि चोत्कृष्टस्थितिबन्धतया प्राप्यते, षोडशकषायप्रकृतीनामन्यतमस्याः प्रकृतेस्तु द्वीन्द्रियमार्गणाभेदत्रये पञ्चविंशतिसागरोपमाणां चत्वारः सप्तभागाः, त्रीन्द्रियमार्गणाभेदत्रये पञ्चाशतः सागरोपमाणां चत्वारः सप्तभागाः, चतुरिन्द्रियमार्गणाभेदत्रये सागरोपमशतस्य चत्वारः सप्तभागाः, असंज्ञिपञ्चेन्द्रियमार्गणायां तु सागरोपमसहस्रस्य चत्वारः सप्तभागाः। शेषाणामायुर्वर्जानां बन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां द्वीन्द्रियमार्गणाभेदत्रये पञ्चविंशतिसागरोपमाणां द्वौ सप्तभागौ; त्रीन्द्रियमार्गणाभेदत्रये पञ्चाशत्सागरोपमाणां द्वौ सप्तभागौ, चतुरिन्द्रियमार्गणाभेदत्रये सागरोपमशतस्य द्वौ सप्तभागौ, असंज्ञिपञ्चेन्द्रियमार्गणायां तु सागरोपमसहस्रस्य द्वौ सप्तभागाविति ॥७६-७७॥

इदं हि लाघवार्थं सामान्यतः स्थितिबन्धप्रमाणं दर्शितम् , तत्र या अतिप्रसक्तिस्तामुद्धर्तुकामोऽपवदन्नाह—

णवरं सो सव्वसुहुमबायरएगिंदिया-ऽसमत्तेसुं ।
बायरअपज्जपुहवाइचउगपत्तेअवणणिगोएसुं ॥७८॥ (गीतिः)
पल्ला-ऽसंखंसूणो सेसेगिंदिपणकायभेएसुं ।
साय-रइ-हस्स-थी-पुम-मणुस्सदुग-जाइचउगाणं ॥७९॥
उरलोवंग-पणागिइ-संघयणछगाण आयवदुगस्स ।
परघा-ऊसास-कुसर-दुखगइ-तसदसग-उच्चाणं ॥८०॥

(प्रे०) "णवर"मित्यादि 'नवरं'–परमेतास्वेकेन्द्रियादिमार्गणाभेदेषु दर्शितस्थितिबन्धप्रमाणेऽयं वक्ष्यमाणो विशेषो ज्ञातव्यः, उपर्युक्तस्य स्थितिबन्धस्य लाघवार्थं सामान्यतोऽभिहितत्वादिति भावः। कोऽसौ विशेष इत्यादावेकेन्द्रियपञ्चकायभेदेष्वाह—"सो" इति अस्य हि 'पल्लासंखंसूणो" इत्यनेनोत्तरगाथायामन्वयस्ततः 'सः' एकेन्द्रियपृथिव्यादिभेदेषु मिथ्यात्वोत्कृष्टस्थित्या वर्गोत्कृष्टस्थितेर्विभाजनप्रकारेण सामान्यवक्तव्यतया समवाप्तो मतिज्ञानावरणादिप्रकृतीनां सागरोपमत्रिसप्तभागादिप्रमाणः स्थितिबन्धः पल्योपमाऽसंख्यभागेनोनः सन्नुत्कृष्टो भवतीत्यर्थः। केषु मार्गणाभेदेषु, किं सर्वेषूत केषुचिदेवेत्याह–"सव्वसुहुमे"त्यादि, सर्वेष्वेकेन्द्रियपृथिव्यादिसत्केष्वोघ-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्नेष्वष्टादशस्वपि सूक्ष्ममार्गणाभेदेषु, अपर्याप्तबादरैकेन्द्रियमार्गणायां तथा "बायरअपज्जपुहवाइ" इत्याद्युत्तरार्धं, तत्र बादराऽपर्याप्तशब्दः

पृथिव्यादिना प्रत्येकं सम्बध्यते,ततश्च बादराऽपर्याप्ते पृथिव्यप्तेजोवायुकायमार्गणाभेदचतुष्के,बादराऽपर्याप्तयोः प्रत्येकवनस्पतिकाय-निगोदमार्गणयोश्चेत्यर्थः । **अयम्भावः**–मिथ्यात्वोत्कृष्टस्थित्या वर्गोत्कृष्टस्थितिं विभज्याऽऽनीतमुत्कृष्टस्थितिबन्धप्रमाणमेकेन्द्रिय-पृथिव्यादिजीवस्वामिकं सदपि न सर्वैकेन्द्रियपृथिव्यादिजीवस्वामिकम्, पर्याप्तबादरैकेन्द्रियैरेव तस्य निर्वर्तनात्, ततश्च यासु मार्गणासु केवलाः सूक्ष्मैकेन्द्रियजीवा अपर्याप्तैकेन्द्रियजीवा वा प्रविष्टास्तासु पर्याप्तबादरैकेन्द्रियजीवप्रायोग्यस्य यथोक्तस्थितिबन्धस्य केनाऽप्यनिर्वर्तनादसावपोह्य पल्योपमाऽसङ्ख्येयभागेन न्यूनोऽभिहित इति ।

अथैकेन्द्रियौघादिशेषमार्गणास्थानेषु काश्चित्प्रकृतीरधिकृत्याऽऽह-"**सेसेगिंदिपणकाये**"-त्यादि, सूक्ष्मैकेन्द्रियपृथिव्यादीनष्टादशसूक्ष्मभेदानपर्याप्तबादरैकेन्द्रियपृथिव्यादिसप्तमार्गणाभेदांश्चापहाय ये 'शेषाः' ओघ-बादरौघ बादरपर्याप्तभेदादेकेन्द्रियपृथिव्यप्तेजोवायुसाधारणवनस्पतिकाय-सम्बन्धिनस्त्रयस्त्रयो भेदाः, वनस्पतिकायौघ-प्रत्येकवनस्पतिकायौघ-तत्पर्याप्तभेदात्त्रयोभेदाश्च तेष्वेकविंशतिमार्गणाभेदेषु प्रत्येकम् "**साय**" इत्यादि, सातवेदनीय-हास्य रतिमोहनीय-स्त्री पुरुषवेद-मनुष्यद्विकै-केन्द्रियवर्जजातिचतुष्कौ-दारिकाङ्गोपाङ्ग-हुंडवर्जसंस्थानपञ्चक-संहननषट्का-ऽऽतपो-द्योत-पराघातो-च्छ्वास-दुःस्वर-खगतिद्विक-त्रसदशको-च्चैर्गोत्रलक्षणानामेकचत्वारिंशत्प्रकृतीनामन्यतमस्या बन्धप्रायोग्यप्रकृतेः, अस्य हि '**पल्लाऽसंखंसूणो**' इति पूर्वेणान्वयः, ततो यथोक्तकरणलब्धसागरोपमत्रिसप्तभागादिमात्रस्थितिबन्धः पल्योपमासंख्यभागेन न्यूनः सन् उत्कृष्टतोऽपि भवति, न पुनर्मतिज्ञानावरणादिप्रकृतीनामिव यथोत्सर्गं परिपूर्णसागरोपमत्रिसप्तभागादिमान इति भावः ।

कथम् ? इति चेत्,स्वप्रायोग्योत्कृष्टस्थितिसंक्लेशे वर्तमानानामेकेन्द्रियाणामपर्याप्तसूक्ष्म-साधारणवनस्पतिकायप्रायोग्यप्रकृतीनामेव बन्धस्य प्रवर्तनेनाऽऽसां प्रकृतीनामेवाबन्धाद्, यद्यपि अपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियप्रायोग्यप्रकृतीर्बध्नतामसातवेदनीयस्येव सातवेदनीयस्याऽपि बन्धः सम्भवति, तथाऽपि स्वप्रायोग्योत्कृष्टस्थितिसंक्लेशवतां तु तद्बन्धो नैव जायते, कुतः ? तदानीं तेषां सर्वसंक्लिष्टतयाऽसातवेदनीयस्य बन्धभावेन सातवेदनीयबन्धस्य निरुद्धत्वात् । इत्येवं मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टसंक्लेशादुपलक्षणेनेपन्मध्यमसक्लेशाद्वाऽन्यत्र तत्प्रायोग्योत्कृष्टसंक्लेशे विशुद्धौ वा वर्तमानानामेकेन्द्रियाणामेवाऽऽसां बन्धभावेन न भवति मतिज्ञानावरणादीनामिव मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टेपन्मध्यमसंक्लेशहेतुकः परिपूर्णसागरोपमत्रिसप्तभागादिमानो मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टस्थितिबन्धः, किन्तूत्कृष्टतोऽपि पल्योपमासंख्येयभागन्यूनसागरोपमत्रिसप्तभागादिरेव जायते ।

ननु स्वप्रायोग्योत्कृष्टस्थितिसंक्लेशवर्तिनामेकेन्द्रियाणां कुतोऽपर्याप्तसूक्ष्मसाधारणवनस्पतिकायप्रायोग्यप्रकृतीनामेव बन्धो जायते ? **इति चेद्**, अपर्याप्तसूक्ष्मसाधारणवनस्पतित्वस्यैव तेषां स्वप्रायोग्यसर्वनिकृष्टपारभविकोत्पत्तिस्थानरूपत्वात् । कुतस्तत् तेषां यथोक्तसर्वनिकृष्टस्थानमिति चेद् ?

तत एव, स्वप्रायोग्योत्कृष्टस्थितिसंक्लेशनिर्वर्तनीयत्वादेवेति भावः । एतद्धि प्राग् **मूलस्थितिबन्ध-द्वितीयाधिकारे एकजीवाश्रयकालद्वारप्रेमप्रभा**यामेकाक्षौघादौ ज्ञानावरणादिमूलप्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितिबन्धस्यान्तर्मुहूर्तप्रमाणजघन्यकालव्युत्पादनावसरे विस्तरतो वृत्तमस्माभिरिति नात्र पुनः प्रपञ्च्यते ग्रन्थगौरवभयाद् , सविस्तरं जिज्ञासता तत्रत्या **प्रेमप्रभा**प्रविलोकनीयेति ॥७८-८०॥

अथैकेन्द्रिय-पृथिव्यादिमार्गणाभेदेषु यथा कुत्रचित्पर्याप्तजीवानामप्रवेशेन सर्वासां प्रकृतीनां, कुत्रचिद् बादरपर्याप्तजीवानां प्रवेशेऽपि सातवेदनीयादिप्रकृतीनां यथोक्तकरणप्राप्तोऽप्युत्कृष्टस्थितिबन्धोऽपोद्य पल्योपमाऽसंख्येयभागेन न्यूनः कथितस्तथा विकलेन्द्रियभेदेष्वपि तेनैव नीत्या कुत्रचित् सर्वासामायुर्वर्जबन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां कुत्रचिच्च केवलानां सातवेदनीयादीनामसात्वपवदन्नाह--

स पलियसंखंसूणो अपज्जविगलेसु सव्वपयडीणं ।
सेसविगलेसु णेयो सायाईणेगचत्ताए ॥८१॥

(प्रे०) **"स पलिये"**त्यादि, सः 'सो खलु पणवीसाए' इत्यादिना द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियलक्षण-विकलेन्द्रियभेदेष्वनन्तरं पञ्चविंशत्यादिना गुणनप्रकारेण प्राप्त आयुर्वर्जबन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां स्थितिबन्धः **"पलियसंखंसूणो"** त्ति पल्योपमसंख्येयभागेन न्यूनः, ज्ञेय इत्युत्तरार्धेऽन्वयः, उत्कृष्टोऽपीति शेषः । केषु मार्गणास्थानेषु कासां प्रकृतीनामित्याह-**"अपज्जे"**त्यादि, अपर्याप्तद्वीन्द्रिया-ऽपर्याप्तत्रीन्द्रिया ऽपर्याप्तचतुरिन्द्रियभेदत्रयलक्षणेष्वपर्याप्तविकलेषु **'सव्वपयडीणं'** ति आयुर्वर्जानां सर्वासां बन्धप्रायोग्यप्रकृतीनाम् , **'सेसविगलेसु'** त्ति उक्तभेदत्रयवर्जेषु ओघ-पर्याप्तभेदभिन्नेषु द्वीन्द्रियादिलक्षणविकलेन्द्रियभेदेषु **"सायाईणेगचत्ताए"** त्ति 'साय-रइ हस्स' इत्यादिनाऽनन्तरमेवाभिहितानां सातवेदनीयाद्येकचत्वारिंशत्प्रकृतीनाम् , न पुनरपर्याप्तविकलेन्द्रियभेदवत्सर्वासाम् ।

अयम्भाव-यथोक्तपञ्चविंशत्यादिगुणनप्रकारेणावाप्तमानः स्थितिबन्धः स्वप्रायोग्योत्कृष्टसंक्लेशे वर्तमानानां पर्याप्तद्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियाणामेव जायते,शेषाणां त्वसौ पल्योपमसंख्येयभागेन न्यून एवोत्कृष्टतोऽपि भवति, तथा चापर्याप्तभेदत्रये पर्याप्तानामप्रवेशेनासात्वपोद्य पल्योपमसंख्येयभागन्यून एव उत्कृष्टतोऽप्यभिधातव्यः, यः पुनर्द्वीन्द्रियाद्योघ-तत्पर्याप्तभेदेषु सातवेदनीयाद्येकचत्वारिंशत्प्रकृतीनामप्यसात्वपोद्य पल्योपमसंख्येयभागेन न्यून उत्कृष्टतोऽपि कथितः सोऽपि पर्याप्तैकेन्द्रियादिमार्गणाभेदवदेवाभ्यूह्यः, पर्याप्तैकेन्द्रियाणामिव पर्याप्तद्वीन्द्रियादीनामपि मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टसंक्लेशसद्भावे ईषन्मध्यमसंक्लेशसद्भावे वाऽसातवेदनीयादीनामेव बन्धभावेन सातवेदनीयादीनां बन्धस्य निरुद्धत्वात् न भवति तासां मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टसंक्लेशप्रत्यय ईषन्मध्यमसंक्लेशप्रत्ययो वा परिपूर्णपञ्चविंशतिसागरोपमादित्रिसप्तभागादिप्रमाणः स्थितिबन्धोऽपि द्वीन्द्रियौघादिमार्गणाभेदषट्के । ननु मा भवतु एवं सति सातवेदनीयादिप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धः

पञ्चविंशत्यादिभागगेपमाणां त्रिसप्तादिभागमानः, परमेकेन्द्रियौघादिमार्गणाभेदवत् पल्योपमाऽसंख्येयभागेन न्यूनस्तु स्याद्, उक्तस्तु पल्योपमसंख्येयभागेन न्यूनः, उच्यतां किमत्र हृदयम् ? इति चेत्, श्रुणु, एकेन्द्रियौघादिमार्गणाभेदवद् विकलेन्द्रियौघादिमार्गणाभेदेष्वपि बन्धप्रायोग्यवेदनीयोत्कृष्टस्थितिबन्धस्थानादारभ्य अधः समयसमयहान्या यदा बन्धप्रायोग्यस्थितिबन्धस्थानसंख्येयभागप्रमाणानि स्थितिबन्धस्थानानि अतिक्रम्यन्ते तदा सातवेदनीयादिबन्धप्रायोग्या अध्यवसायाः प्राप्यन्ते, न पुनस्तदर्वाक्, स चाऽतिक्रमणीयो बन्धप्रायोग्यस्थितिबन्धस्थानसंख्येयभागः एकेन्द्रियौघादिमार्गणास्थानेषु पल्योपमाऽसंख्येयभागमात्रः, द्वीन्द्रियौघादिमार्गणास्थानेषु तु पल्योपमसंख्येयभागप्रमाणः । कुतः ? एकत्र बन्धप्रायोग्यस्थितिबन्धस्थानानां पल्योपमाऽसंख्येयभागप्रमाणत्वात्, अन्यत्र तु तेषां पल्योपमसंख्येयभागप्रमाणत्वाच्च, इत्थं चैकेन्द्रियौघादिमार्गणास्थानेषु सातवेदनीयादीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य उक्तकरणलब्धस्थितिबन्धात् पल्योपमाऽसंख्येयभागेन न्यूनभावेऽपि विकलेन्द्रियौघादिमार्गणास्थानेष्वसौ पल्योपमसंख्येयभागेन न्यून एव लभ्यते, न तु पल्योपमाऽसंख्येयभागेन न्यूनः । अनयैव नीत्या एकेन्द्रियविकलेन्द्रियादिमूलोत्तरसर्वमार्गणास्थानेष्वपोघाभिहिते ज्ञानावरणादीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धेऽसातवेदनीयादीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धापेक्षया सातवेदनीयादीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धः पल्योपमाऽसंख्येयभागादिना न्यून एवाऽवसातव्यः, न पुनरसातवेदनीयादिना तुल्य इत्यलं विस्तरेण, उत्तरत्रैतद्विषयेऽल्पबहुत्वस्य वक्ष्यमाणत्वादिति ॥८१॥

अथाऽनन्तरोक्तनीत्यैवाऽसंज्ञिमार्गणायामप्यपवदन्नाह—

साय-पुरिस-थी-रइदुग-णारगपाउग्गणामवज्जाणं ।
उच्चस्स य सो अमणे होइ पलियसंखभागूणो ॥८२॥

(प्रे०) 'सायपुरिसे'' त्यादि, असज्ञिमार्गणायां सातवेदनीयं, पुरुष-स्त्रीवेदौ, हास्यरतिप्रकृतिद्वयात्मकं रतिद्विकं तथा नरकगतिप्रायोग्यप्रकृतीर्बध्नता जीवेन बध्यमाना या नरकगति-नरकानुपूर्वी-पञ्चेन्द्रियजाति-वैक्रियशरीर-वैक्रियाङ्गोपाङ्ग-तैजसकार्मणशरीर-हुण्डसंस्थान-वर्णादिचतुष्टयाऽगुरुलघु-निर्माणो-पघात-पराघातो-च्छ्वासनामा-ऽप्रशस्तविहायोगति-त्रसचतुष्का-ऽस्थिरषट्कनामलक्षणा निरयगत्याद्यष्टाविंशतिर्नामप्रकृतयस्तद्वर्जा याः प्रकृतमार्गणायां बन्धप्रायोग्याः षट्त्रिंशत् नामप्रकृतयस्तथोच्चैर्गोत्रमित्येतासां द्विचत्वारिंशत्प्रकृतीनां प्रत्येकं ''सः'' 'सहस्सेण गुणिओ' इत्यनेन करणेन प्राप्तः प्रकृतमार्गणायां बन्धप्रायोग्याणामायुर्वर्जप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धः ''पलियसंखभागूणो'' ति उत्कृष्टतोऽपि पल्योपमसंख्येयभागेन न्यूनो बोद्धव्यः, उक्तशेषध्रुवबन्ध्यादीनामुत्कृष्टसंक्लेशकाले निर्वर्तनीयानामेकसप्ततिप्रकृतीनां तु यथोत्सर्गं सागरोपमसहस्रत्रिसप्तभागादिमान एवेत्यर्थः । इहोपपत्तिस्तु असंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामनन्तरभवे नारकतयोत्पादसंभवेनोत्कृष्टसंक्लेशे सातवेद्यादीनामिवैकेन्द्रिय-विकलेन्द्रियजात्यादिप्रकृतीनां बन्धाऽयोगात् प्रागिव कार्या ॥८२॥

अथापगतवेदमार्गणायां प्रस्तुतोत्कृष्टस्थितिबन्धमानमाह—

गयवेए संखसमा चउसंजलणाण सेसघाईण ।
संखसहस्ससमाऽण्णाण असंखयमो पलियभागो ॥८३॥

(प्रे०) "**गयवेए**" इत्यादि, अपगतवेदमार्गणायां "**संखसमा चउसंजलणाण**" त्ति चतुर्णां क्रोध-मान-माया-लोभलक्षणानां संज्वलनकषायाणां संख्येयाः समाः=वर्षाणि "**सेसघाईणं**" ति ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणचतुष्का-ऽन्तरायपञ्चकलक्षणानां शेषाणां बन्धप्रायोग्याणां घातिप्रकृतीनां प्रत्येकं "**संखसहस्ससमा**" त्ति संख्येयानि वर्षसहस्राणि उत्कृष्टस्थितिबन्धः । "**ऽण्णाण**" ति लुप्ताऽकारस्य दर्शनाद् अन्यासां बन्धप्रायोग्याणां सातवेदनीय-यशःकीर्त्तिनामो-च्चैर्गोत्रलक्षणानां तिसृणां प्रकृतीनां तु "**असंखयमो पलियभागो**" त्ति पल्योपमस्याऽसंख्येयतमो भाग उत्कृष्टस्थितिबन्ध इत्यर्थः ॥८३॥ अथ सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायामाह—

सुहुमे गुरू पुहुत्तं मुहुत्तमासाण दिणसमाणं वा ।
आवरणग-विग्घाणं साय-जसु-च्चाण होइ कमा ॥८४॥

(प्रे०) "**सुहुमे गुरू**" इत्यादि, सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायां 'गुरुः' प्रकृतोत्कृष्टस्थितिबन्धः, क्रमाद्भवतीति गाथाप्रान्तेऽन्वयः,कासां प्रकृतीनां कस्मात् क्रमादित्याह–"**पुहुत्त**"मित्यादि "**आवरणविग्घाण**"मित्यादि च ।

अयम्भावः–पञ्चज्ञानावरण-चतुर्दर्शनावरणलक्षणानां नवानामावरणप्रकृतीनां "**विग्घाण**" ति पञ्चानां 'विघ्नानाम्' अन्तरायप्रकृतीनां च प्रत्येकं मुहूर्तपृथक्त्वम् , सातवेदनीयं यश कीर्त्तिरुच्चैर्गोत्रमित्येतासां तिसृणां प्रकृतीनां प्रत्येकं पुनर्मासपृथक्त्वमुत्कृष्टस्थितिबन्धो भवति, "**दिणसमाणं वा**" त्ति वाकारो मतान्तरेऽभिप्रेतः पृथक्त्वशब्दश्चानुवर्तते ततो मतान्तरेणा-ऽऽवरण-विघ्नरूपाणां चतुर्दशप्रकृतीनां प्रत्येकं दिवसपृथक्त्वम् , सातवेदनीयादीनां तिसृणां प्रकृतीनां तु प्रत्येकं समापृथक्त्वं, वर्षपृथक्त्वमुत्कृष्टस्थितिबन्ध इत्यर्थः ॥८४॥

अथ शेषमार्गणासु प्रकृतोत्कृष्टस्थितिबन्धप्रमाणवक्तव्यतायाः पूर्वोक्तौघिकोत्कृष्टस्थितिबन्धप्रमाणवक्तव्यतया तुल्यप्रायत्वात्सापवादमतिदिदिक्षुराह—

सेसासु ठिइबंधो सप्पाउग्गाण आउवज्जाणं ।
ओघव्व भवे इह जो अत्थि विसेसो वुच्चेइ ॥८५॥

(प्रे०) "**सेसासु**" इत्यादि, अनन्तरम् 'असमत्तपणिंदतिरियमणुस' इत्यादिगाथाभिरभिहितास्त्र्युत्तरशतमार्गणा विवर्ज्य शेषासु निरयगत्योघादिसप्तषष्टिमार्गणासु प्रत्येकम् "अतोकोडाकोडी सत्तमणिरयम्मि" इत्यादिना ग्रन्थेन वक्ष्यमाणं विशेषमपहाय "**ठिइबंधो**" त्ति प्रकृत उत्कृष्टस्थितिबन्धः-उत्कृष्टस्थितिबन्धप्रमाणं "**ओघव्व भवे**" त्ति ओघवद्भवेदिति परेणान्वयः,

कासां प्रकृतीनामित्याह–"**सप्पाउग्गाण आउवज्जाणं**" ति तत्तन्निरयगत्योघादिमार्गणासु बन्धप्रायोग्याणामायुर्वर्जानां मतिज्ञानावरणादिप्रकृतीनामित्यर्थः । केवलं कासुचिन्मार्गणासु कासाञ्चित्प्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धप्रमाणविषयको यः कश्चिद्विशेषोऽसौ पृथक् प्रतिपादयिष्यते, एतदेव प्रतिजानन्नाह–"**इह जो अत्थि विसेसो स वुच्चइ**" इति, सुगमम् ॥८५॥

अथातिदिष्टार्थविशेषवक्तव्यताविषयां प्रतिज्ञामेव निर्विवाहयिषुर्निरयगत्योघे प्रथमादिषट्पृथिवीभेदभिन्ननरकभेदेषु च सर्वथौघवदिति कृत्वा तानि सप्तमार्गणास्थानानि विहायादौ सप्तमपृथिवीनिरयभेदे ततश्चान्येषु मार्गणाभेदेषु यथासम्भवं विशेषं ज्ञापयन्नाह—

> अंतोकोडाकोडी सत्तमणिरयम्मि णरदुगुच्चाणं ।
> जाणेयव्वो तिरिय-तिपणिंदितिरिय-तिणरु-रलेसु ॥८६॥
> तिरियजुगल-एगिंदिय-छिवट्ठ-थावरु-रला-ऽऽयवदुगाणं ।
> अट्ठारह जलहीणं कोडाकोडी मुणेयव्वो ॥८७॥

(प्रे०) "**अंतोकोडाकोडी**" इत्यादि, सप्तमपृथिवीनिरयभेदे नरद्विकोच्चैर्गोत्ररूपाणां तिसृणां प्रकृतीनामन्तःकोटीकोटीसागरोपमाणि "**जाणेयव्वो**" त्ति उत्कृष्टस्थितिबन्धो भवतीत्योघापेक्षया विशेषो ज्ञातव्यः । **अयम्भावः**–मनुष्यद्विकादिप्रकृतित्रयवर्जानां तिर्यगायुर्वर्जशेषबन्धप्रायोग्यपञ्चनवतिप्रकृतीनां त्वोघवत् त्रिंशत्कोटीकोटीसागरोपमादिप्रमाण एवोत्कृष्टस्थितिबन्धः, केवलमेतासां मनुष्यगति मनुष्यानुपूर्व्युच्चैर्गोत्ररूपाणां तिसृणां प्रकृतीनां सप्तमनिरयनारकैस्तृतीयगुणस्थाने चतुर्थगुणस्थाने वा सति निर्वर्तनात् तासां तिसृणामुत्कृष्टाऽपि स्थितिरन्तःकोटीकोटीसागरोपमप्रमाणैव निर्वर्त्यते, कुतः ? सासादनाद्यप्रमत्तान्तानां गुणस्थानानामन्यतमगुणस्थाने वर्तमानस्य जीवस्य जघन्यत उत्कृष्टतो वाऽन्तःकोटीकोटीसागरोपमप्रमाणस्थितिबन्धस्यैव भावाद् । उक्तं च **नव्यशतके**–'साणाइअपुव्वंते अयरंतोकोडिकोडिओ नऽहिगो बंधो । न हु हीणो न य मिच्छे भव्वियरसंनिम्मि ॥४८॥' इति ।

अथ मार्गणान्तरे ओघापेक्षया यो विशेषस्तमाह–"**तिरिये**"त्यादि, तिर्यग्गत्योघे, तथा "**तिपणिंदितिरिय**" त्ति अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणायामायुर्वर्जबन्धप्रायोग्यसमस्तप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धप्रमाणस्य प्रागभिहितत्वात् तामपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणां विहाय याः शेषा ओघपर्याप्त तिरश्चीभेदभिन्नास्तिस्रः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणास्तासु तथैवाऽपर्याप्तमनुष्यभेदवर्जेषु त्रिषु मनुष्यगतिमार्गणाभेदेषु औदारिककाययोगमार्गणायामित्येवं सप्तसु मार्गणासु प्रत्येकं '**तिर्यग्युगलं**' तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्वीप्रकृतिलक्षणम् , एकेन्द्रियजातिः, सेवार्तसंहननम् , स्थावरनाम तथा समा-

सान्तवर्तिद्विकशब्दस्यौदारिकाऽऽतपयोः प्रत्येकं योजनाद् औदारिकद्विकम् औदारिकशरीरौ-दारिकाङ्गोपाङ्गलक्षणम्, आतपद्विकम् आतपो-द्योतनामप्रकृतिद्वयरूपमित्येतासां नवप्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टस्थितिबन्धः "**जलहीणं**" ति 'जलधीनां' सागरोपमाणामष्टादशकोटीकोट्यो ज्ञातव्यः ।

कथमष्टादशकोटीकोट्यः, न पुनरोघवद् विंशतिकोटीकोटयः सागरोपमाणि ? इति चेद्, देवानामिहाऽप्रवेशात् प्रविष्टानां तिर्यग्मनुष्याणां तु अष्टादशसागरोपमकोटिकोटीतोऽधिकस्थितिबन्धप्रायोग्येष्वध्यवसायेषु सत्सु नरकगतिप्रायोग्यप्रकृतीनां बन्धभावाच्च । **अयम्भावः**—ओघोत्कृष्टसंक्लेशे तत ईषन्मध्यमसंक्लेशे वा वर्तमाना जीवाः स्वप्रायोग्यसर्वनिकृष्टपारभविकोत्पत्तिस्थानप्रायोग्या गत्यादिप्रकृतीनिर्वर्तयन्तस्तासामेवोत्कृष्टां स्थितिं निर्वर्तयन्ति, नान्ये; तत्रैकेन्द्रिय-विकलेन्द्रियतया नारकतया वा ताथास्वाभाव्येनैवाऽनुत्पत्तेर्नारकाणां यथा स्वप्रायोग्यं सर्वनिकृष्टं पारभविकमुत्पत्तिप्रायोग्यं स्थानं पर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रियत्वलक्षणं तथा ईशानान्तदेवानां तत् पर्याप्तप्रत्येकबादरैकेन्द्रियत्वलक्षणम्, एवं सनत्कुमारादिसहस्रारान्तदेवानां नारकवत् पञ्चेन्द्रियतिर्यग्गतिलक्षणमेव, संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्याणां तु तन्न पञ्चेन्द्रियतिर्यग्लक्षणमेकेन्द्रियलक्षणं वा, किन्तु नरकगतिलक्षणमेव । तथा च नारकाः सहस्रारान्तदेवा वा यथा सर्वसंक्लिष्टा ईषन्मध्यमसंक्लिष्टा वा सन्तो यथासम्भवं तिर्यग्गत्येकेन्द्रियजात्याद्याः प्रकृतीर्निर्वर्तयन्ति, न तथा संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्या अपि, सर्वसंक्लिष्टैस्तत ईषन्मध्यमसंक्लिष्टैर्वा तैर्नरकगतिप्रायोग्यप्रकृतीनामेव निर्वर्त्यमानत्वात् । एकेन्द्रियप्रायोग्या यथोक्तास्तिर्यग्गत्याद्याः प्रकृतयस्त्वेते विशुद्ध्यमाना यदाऽष्टादशसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणायाः स्थितेर्बन्धप्रायोग्यानध्यवसायानाप्नुवन्ति ततोऽपि विशुद्धतरा वा भवन्ति तदा तेषां बन्धप्रायोग्या भवन्ति, बध्यन्ते च तास्तैरेकेन्द्रियप्रतिपक्षभूतद्वीन्द्रियजात्यादिना समं परावृत्त्याऽन्तराऽन्तरा, न पुनरष्टादशसागरोपमकोटीकोटीस्थितितोऽधिकस्थितिबन्धप्रायोग्यसंक्लेशसद्भावे । प्रस्तुतमार्गणासु तु न प्रविष्टा देवा न वा नारकाः, तिर्यग्मनुष्यास्त्वनन्तरोक्तनीत्योत्कर्षतोऽपि अष्टादशसागरोपमकोटीकोटीस्थितिबन्धयोग्यसंक्लेशादधिकसंक्लेशसद्भावे नरकगतिप्रायोग्या एव प्रकृतीर्बध्नन्तीति एकेन्द्रियजात्यादीनामुत्कृष्टतोऽप्यष्टादशसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणामेव स्थितिमारचयन्ति; तथा चौघवदतिदिष्टमपि तिर्यग्गत्यादिप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धमानमपोह्याष्टादशसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणमभिहितमिति । न चैवं तिर्यग्गत्यादिवन्मनुष्यगतेरपि एतेऽष्टादशसागरोपमकोटीकोटीमानां स्थितिं निर्वर्तयिष्यन्तीति वाच्यम्, यतो यथाऽष्टादशसागरोपमकोटीकोटीसागरोपमस्थितितोऽधिकसंक्लेशे सति न बध्नन्त्येते एकेन्द्रियप्रायोग्याः प्रकृतयस्तथा पञ्चदशसागरोपमकोटीकोटीतोऽधिकस्थितिबन्धप्रायोग्यसंक्लेशसद्भावे न निर्वर्तयन्ति मनुष्यगतिप्रकृतिम्; कुतः ? विशुद्ध्यमानानां तेषां यथोत्तरविशुद्धौ तिर्यग्गति-मनुष्यगत्यादिप्रायोग्याणां प्रकृतीनां क्रमेण बन्धप्रायोग्यत्वादन्यथा त्वबन्धप्रायोग्यत्वाच्च । यत उक्तं **शतकचूर्णौ**—"णिरयदुगवेउव्विय-

दुगाणं अच्चंतसंकिलिट्ठो वीसं सागरोवमकोडाकोडीओ बंधमाणो उक्कोसं ठिइं बंधइ। देवदुगविगलतिग-सुहुमतिगाण उक्कोसठिइं तप्पाओगसंकिलिट्ठो बंधइ, अच्चंतसंकिलिट्ठो णिरयपाओग बंधइ त्ति, तओ विसुद्धो तिरियपाओगं, तओ विसुद्धो मणुयपाओग, तओ विसुद्धो देवपाउग्गाति। 'छण्हं सुरणेरइया' इति तिरियगई ओरालियसरीरं सेवट्टसंघयणं ओरालियगोवंग तिरियाणुपुव्वी उज्जोवमिति एएसिं छण्ह् कम्माण उक्कोसगो ठिइबंधो देवणेरइगाणं भवइ। कह् ? देवणेरइगा अच्चंतसंकिलिट्ठा पचिंदियतिरियगइपाओग्गं बंधति, तेसु वीसं सागरोवमकोडाकोडीओ भवइ। एएसिं उक्कोसा ठिई मणुयतिरिएसु अट्ठारस सागरोवमकोडाकोडीओ। कहं ? ते संकिलिट्ठा णिरयपाओग्गं बंधति, तत्तो विसुद्धतरा मणुयगइपाओग्ग ति।" इत्यादि ॥८६-८७॥

अथेशानान्तदेवभेद-तेजोलेश्यामार्गणासु ओघापेक्षया यो विशेषस्तं दर्शयन्नाह—

पंचिंदियु-रलुवंग-छिवट्ठ-कुखगइ-तस-दुस्सराण भवे।
अट्ठार कोडिकोडी अयरीसाणंत-तेऊसु ॥८८॥

(प्रे०) "**पचिंदिय**" इत्यादि, पञ्चेन्द्रियजात्यौदारिकाङ्गोपाङ्ग-सेवार्तसंहनना-ऽप्रशस्त-विहायोगति-त्रस-दुःस्वरनामानीत्येतासां षण्णां प्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धमानमष्टादश कोटीकोट्यः "**अयर**" त्ति 'अतराः'-सागरोपमाणि भवेत्। कासु मार्गणास्वित्याह—"**ईसाणंत**" इत्यादि, भवनपत्यादिष्वीशानकल्पान्तेषु पञ्चसु देवगतिमार्गणासु तेजोलेश्यामार्गणायां चेत्यर्थः। अत्राऽपि ईशानान्तदेवानां ततश्च्युत्वा पर्याप्तबादरैकेन्द्रियतयोत्पादसम्भवेनोत्कृष्टसंक्लेशसद्भावे पर्याप्तबादरैकेन्द्रियत्वेऽनुभवयोग्यानामेकेन्द्रियजात्यादीनामेव बन्धः सम्भवति, न पुनरासां पञ्चेन्द्रियजात्यादीनाम्, तथा चौघोत्कृष्टस्थितिबन्धोऽपि तासामेकेन्द्रियजात्यादीनामेव लभ्यते, न त्वासां पञ्चेन्द्रियजात्यादीनाम्, ओघोत्कृष्टसंक्लेशे नरकप्रायोग्यं पञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्यं वा बध्नतां तिर्यग्मनुष्यसनत्कुमारादीनामेवासामोघोत्कृष्टस्थितिबन्धस्य भावात्। यदा चेमे देवाः पूर्वोक्तन्यायेन यथोत्तरं विशुद्धिमवाप्नुवन्तोऽष्टादशसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणस्थितिबन्धप्रायोग्याध्यवसायस्थानान्याप्नुवन्ति तदा तेषां पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियप्रायोग्याः प्रस्तुताः पञ्चेन्द्रियजात्यादयः प्रकृतयो बन्धप्रायोग्या भवन्ति, यथोत्तरविशुद्ध्याऽष्टादशसागरोपमकोटीकोटीप्रायोग्याध्यवसायाऽवाप्तौ पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिरश्चां मनुष्याणां वा एकेन्द्रियजात्यादिप्रकृतयो बन्धप्रायोग्या भवन्ति। तदेवमीशानान्तदेवभेदेषु तिर्यग्मनुष्यादीनामप्रवेशेनैकेन्द्रियप्रायोग्यप्रकृतीनामेव सर्वसंक्लेशनिर्वर्तनीयतया तदितरासां पञ्चेन्द्रियजात्यादीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धमानमोघवदतिदिष्टमप्यपोह्याऽष्टादशसागरोपमकोटीकोटीमानं भणितम्। एवमेव तेजोलेश्यामार्गणायामप्यवसातव्यम्, तत्राऽपीशानान्तदेवानामेव प्रस्तुतपञ्चेन्द्रियजात्याद्युत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वादिति ॥८८॥

अथ नीलादिकतिपयलेश्यामार्गणासु प्रस्तुतविशेषवक्तव्यतामाह—

अंतोकोडाकोडी सुरविउवदुगाण तेउ-पउमासु।
अयरा विउवछग-विगल-सुहुमतिगाणऽत्थि णीलदुगे ॥८९॥

(प्रे०) "अंतोकोडाकोडी" इत्यादि, तेजोलेश्या-पद्मलेश्ययोः प्रत्येकं देवद्विक-वैक्रियद्विक-लक्षणप्रकृतिचतुष्टयस्य नील-कापोतलेश्ययोस्तु प्रत्येकं वैक्रियषट्क-विकलत्रिक-सूक्ष्मत्रिकलक्षणानां द्वादशप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धमानमन्तःकोटीकोट्यः 'अतराः' सागरोपमाणि भवति, न पुनरोघवद् दशकोटीकोट्यादिसागरोपमाणीत्योघापेक्षया विशेषः । कथं न ओघवद् ? इति चेद्, देवद्विकाद्यौघिकोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनां कृष्णलेश्याकतिर्यग्-मनुष्याणामिहाऽप्रवेशात्, प्रविष्टानां तेजोलेश्याकादिमनुष्यतिरश्चां तूत्कृष्टतोऽप्यन्तःकोटीकोटीसागरोपमप्रमितस्यैव स्थितिबन्धस्य भावात् । न च तर्हि प्रोक्तान्यामां मनुष्यगत्यादीनां कथमसौ ओघवत्स्यादिति वाच्यम्, देवनारकाणां तदुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वात्, तेषां चावस्थितलेश्यत्वेन कृष्णलेश्यावच्छुक्ललेश्यावर्जासु नीलादिलेश्यास्वप्योघोत्कृष्टस्थितिबन्धप्रवृत्तेरविरोधात् । तत्र तेजःपद्मलेश्ययोः देवद्विकादिप्रकृतिचतुष्टयविषये एवापवदनं नीलादिलेश्याद्वये पुनर्नरकद्विक विकलत्रिक-सूक्ष्मत्रिकादिविषयेऽप्यपवदनं तु तेषां देवगतिवन्नरकगत्यादिप्रायोग्यप्रकृतीनामपि बन्धभावादिति ॥८९॥

अथ स्त्रीवेदमार्गणायामनन्तरोक्तनीत्या सेवार्तसंहननौदारिकाङ्गोपाङ्गयोरौघिकोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनां नारकाणां सनत्कुमारादिदेवानां चाप्रवेशात् तत्र, नपुंसकवेदमार्गणायान्तु नारकाणां प्रवेशेऽपि एकेन्द्रियस्थावरातपौघिकोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनां भवनपत्यादीशानान्तदेवानामप्रवेशात् तत्र च तासां सेवार्तसंहननादिप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धप्रमाणविषये य ओघापेक्षया विशेषस्तं प्रदर्शयन्नाह—

अट्ठारकोडिकोडी अयराणि छिवट्ठ-उरलुवंगाणं ।
थीए एगिंदिय-थावरा-ऽऽयवाणं भवे णपुमे ॥९०॥

(प्रे०) "अट्ठारे"त्यादि, अक्षरार्थः सुगमः पातनीकया गतार्थश्च, भावार्थोऽपि तया गतार्थ एव, केवलम् अष्टादशकोटीकोटीसागरोपमाणि स्थितिबन्धमानं तु तिर्यग्गत्योघादिमार्गणायां भावितनीत्या विभावनीयमिति ॥९०॥

अथ नील-कापोतलेश्ययोः प्रागोघापेक्षया विशेषस्याभिहितत्वेऽपि साम्प्रतं तत्र कृष्णलेश्यायां च पराभिप्रायेण तमाह—

अट्ठारकोडिकोडी एगिंदिय-थावरा-ऽऽयवाणऽण्णे ।
किण्हाए अयरंतोकोडाकोडी उ णीलदुगे ॥९१॥

(प्रे०) "अट्ठारे"त्यादि, अक्षरार्थः सुगमः, भावार्थः पुनरयम्—'अन्ये' महाबन्धकाराः देवानामपर्याप्तावस्थानामेवाऽशुभलेश्यामामनन्ति, न पुनः पर्याप्तावस्थानाम्, किञ्चौघतः प्रागेकेन्द्रिय-स्थावरा-ऽऽतपनाम्नां यदुत्कृष्टस्थितिबन्धमानं विंशतिकोटीकोटीसागरोपमाणि प्रतिपादितं तत्तु देवस्वामि-

कमेव, न पुनर्मनुष्य-तिर्यक्स्वामिकम्, उत्कृष्टसंक्लेशगतानां मनुष्यतिरश्चां नरकप्रायोग्यप्रकृतीनामेव बन्धभावात्, देवानां त्वीशानान्तानां सर्वसंक्लेशे एकेन्द्रियप्रायोग्यप्रकृतीनां बन्धभावात्, तथा च सर्वसंक्लिष्टा देवाः प्रस्तुतैकेन्द्रियजात्यादिप्रकृतीनामौघिकोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनः, ते च पर्याप्तावस्थावर्तिन एव, अपर्याप्तावस्थायां कस्याऽपि जीवस्यौघोत्कृष्टसंक्लेशाभावात्, ते च पर्याप्तावस्थाः प्रस्तुतमते कृष्णाद्यशुभलेश्यामार्गणात्रये न प्रविष्टाः,अपर्याप्तावस्थदेवानां प्रवेशेऽपि तेषामुत्कृष्टोऽपि स्थितिबन्धोऽन्तःकोटीकोटीसागरोपमाण्येव जायते, नाधिकः, तथाविधसंक्लेशाभावात्, तथा च तन्मते प्रस्तुतप्रकृतीनां मनुष्यतिर्यक्स्वामिकोत्कृष्टस्थितिबन्ध एव प्रस्तुतमार्गणात्रये उत्कृष्टस्थितिबन्धतया ग्राह्यः, स च नील-कापोतलेश्यागतानां मनुष्यतिरश्चामन्तःसागरोपमकोटीकोटीमान एव, ततोऽधिकसंक्लेशभावे तेषां कृष्णलेश्यापरिणतेः, कुतः ? परावर्तमानलेश्यत्वात्। तथा च तन्मते नीलकापोतलेश्ययोः प्रस्तुतप्रकृतित्रयोत्कृष्टस्थितिबन्धमानमपोह्याऽन्तःकोटीकोटीसागरोपमाण्यभिहितम्। कृष्णलेश्यागतानां तेषां यद्यप्योघोत्कृष्टसंक्लेशो भवत्येव तथापि तदानीं ते प्रागुक्तनीत्या नरकगतिप्रायोग्यप्रकृतीर्बध्नन्तस्तासां नरकगत्यादिप्रकृतीनामेवोत्कृष्टां स्थितिमौघिकीं निर्वर्तयन्ति, एकेन्द्रियप्रायोग्यं बध्नन्तस्तु ते न सर्वसंक्लिष्टाः, किन्तु ततो न्यूनसंक्लेशभाजः, तथा च ते तदानीमुत्कृष्टतोऽप्यष्टादशसागरोपमकोटीकोटीसागरोपमप्रमाणामेव स्थितिं निर्वर्तयन्तः प्रस्तुतैकेन्द्रियादित्रिप्रकृतीनामपि तावतीमष्टादशसागरोपमकोटीकोटीमानामेव स्थितिं निर्वर्तयन्तीति कृत्वा मतान्तरेण कृष्णलेश्यायां तासां तिसृणामुत्कृष्टस्थितिबन्धमानमष्टादशसागरोपमकोटीकोट्यो भणितमिति ॥९१॥

तदेवमभिहितं सर्वासामायुर्वर्जानां प्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धप्रमाणमादेशतः सर्वमार्गणास्थानेष्वपि। एतर्हि अवशेषाणामायुःप्रकृतीनां तदादेशतोऽभिधित्सुरादौ तावद् वेद्यमानायुरवशेषरूपामुत्कृष्टाबाधां मार्गणाभेदेन दर्शयन्नाह—

उक्कोसिया अबाहा, सव्वेसु निरयसुरेसु विउवे य।
णायव्वा छम्मासा, सप्पाउग्गाण आऊणं ॥९२॥
जेट्ठभवठिइतिभागो, सव्विंदियचउग-कायपणगेसु।
सेसापज्जत्तेसु य, भिन्नमुहुत्तं उरलमीसे ॥९३॥
णाणतिगे ओहिम्मि य, सुहलेसा-सम्म-वेअगेसु तहा।
खइए देवाउस्स उ, कोडितिभागोऽत्थि पुव्वाणं ॥९४॥
छम्मासा सेसाणं, सप्पाउग्गाण आउगाण भवे।
सेसासु पुव्वाणं, कोडितिभागो मुणेयव्वो ॥९५॥

(प्रे०) "**उक्कोसिया अबाहा**" इत्यादि, उत्कृष्टाऽबाधा प्रागुक्तलक्षणा पारभविकायुर्बन्धप्रथमसमये लभ्यमाना वेद्यमानायुषः सर्वदीर्घविशेषरूपा "**सप्पाउग्गाण**" त्ति स्वस्मिन् विवक्षितमार्गणामध्ये वर्त्तमानानां जीवानां "**प्रायोग्याणां**" बन्धमधिकृत्य प्रायोग्याणामायुषामित्यर्थः। कासु मार्गणासु कियती ? इत्याह–"**सव्वेसु**" इत्यादि, "**छम्मासा**" इत्यादि च, 'सर्वेषु'-ओघरत्नप्रभादिपृथिवीभेदभिन्नेषु निरयगतिभेदेषु, सर्वेषु ओघभवनपत्यादिभेदभिन्नेषु सुरगतिमार्गणाभेदेषु, "**विउवे य**" त्ति वैक्रियकाययोगमार्गणायां च, इत्येतास्वेकोनचत्वारिंशन्मार्गणासु प्रत्येकं "**छम्मास**" त्ति षण्मासाः। युक्तं चैतत्, देवनारकाणां निरुपक्रमायुष्कतया षण्मासानवशेषे स्वीयवेद्यमानायुषि प्राक् पारभविकायुर्बन्धस्याजायमानत्वात्। यदवाचि **सङ्ग्रहणिकृद्भिः**–"बधति देवनारय असंखनरतिरि छम्मासससेसाउ" इति।

उत्कृष्टतः षण्मासावशेषे स्वायुषि आयुर्बन्धभावे त्वबाधाऽपि मासषट्कादधिका नैव संभवति, अवशिष्टवेद्यमानायुःस्थित्यधीनत्वात्तस्या इति। "**जेट्ठभवठिइतिभागो**" त्ति, वेद्यमानोत्कृष्टस्थितिकायूरूपाया ज्येष्ठभवस्थितेस्त्रिभागः-तृतीयभागः, स्वीयबन्धप्रायोग्यायुषामुत्कृष्टाऽबाधा ज्ञातव्येत्यनुवृत्त्या गम्यम्। कासु मार्गणासु इत्याह–"**सव्विंदिये**"त्यादि, तत्र सर्वशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् सर्वैकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियलक्षणेन्द्रियचतुष्कसत्कषोडशमार्गणाभेदेषु, सर्वेषु च पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिकायलक्षणकायपञ्चकसत्कैकोनचत्वारिंशद्भेदेषु, "**सेसापज्जत्तेसु य**" त्ति अनुपदमेव 'सव्विंदिय' इत्यादिनाऽभिहितैकेन्द्रियादिभेदेषु संगृहीतान् अपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियादिषोडशाऽपर्याप्तभेदान् विवर्ज्य ये शेषा अपर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रियाऽपर्याप्तमनुष्याऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियाऽपर्याप्तत्रसकायरूपाश्चत्वारः शेषाऽपर्याप्तमार्गणाभेदास्तेषु चेत्यर्थः। उक्तं च **पञ्चसंग्रहे**–

"इगविगलाण भवठिइतसो" इति।

"**भिन्नमुहुत्तं उरसमीसे**" त्ति 'भिन्नमुहूर्त्तम्' लब्ध्यपर्याप्तोत्कृष्टभवस्थितितृतीयभागमानरूपमन्तर्मुहूर्त्तमौदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां बन्धप्रायोग्यायुःप्रकृतीनामुत्कृष्टाऽबाधा ज्ञातव्या, सुगमम्। "**णाणतिगे**" त्ति 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः' इति न्यायेन मतिश्रुतावधिज्ञानलक्षणानां मनःपर्यवज्ञानवर्जानां ज्ञानानां त्रिके केवलज्ञानमार्गणायां कषायप्रत्ययस्य स्थितिबन्धस्यैवाऽभावात्सा मूलत एवेह न गृहीतेति। तथाऽवधिदर्शनमार्गणायां, 'चः' पादपूर्त्यै, शुभलेश्यात्रयसम्यक्त्वौघ-वेदकसम्यक्त्वेषु, तथा क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायाम् इत्येतासु दशमार्गणासु प्रत्येकं देवायुष उत्कृष्टाऽबाधा पूर्वकोटितृतीयभागप्रमाणा भवतीत्यर्थः। प्रकृतमार्गणागतानां संख्येयवर्षायुष्कमनुष्याणामेव देवायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धभावात्, तेषां वेद्यमानायुष उत्कृष्टतः पूर्वकोटिवर्षप्रमाणत्वाच्चेति। "**सेसाणं**"ति प्रकृतमतिज्ञानादिदशमार्गणास्वेव प्रोक्तशेषान्यतरायुष उत्कृष्टाऽबाधा 'छम्मासा' त्ति षण्मासा भवति, तत्रोक्तशेषबन्धप्रायोग्यायुःप्रकृतिस्तु पद्मलेश्यावर्जनवमार्गणासु

मनुष्यायुरेव, पद्मलेश्यायां तु तिर्यगायुरपि, उपपत्तिस्तु प्रत्येकमनुभवयोग्योत्कृष्टस्थितिकायुर्बन्धस्य देवनारकाणामेव भावादिति ज्ञेया। **'सेसासु'** त्ति उक्तशेषासु तिर्यग्गत्योघादिचतुःपञ्चाशन्मार्गणासु बन्धप्रायोग्यायुषामुत्कृष्टाऽबाधा पूर्वकोटीत्रिभागप्रमाणा ज्ञातव्या। **शेषमार्गणानामानि त्विमानि**–तिर्यग्गत्योघः, पञ्चेन्द्रियतिर्यग्-मनुष्य-पञ्चेन्द्रिय-त्रसकायसत्का ओघ-पर्याप्तभेदनिष्पन्ना अष्टौ भेदाः, तिरश्ची-मानुषीभेदौ, पञ्च मनोयोगभेदाः, पञ्च वचोयोगभेदाः, काययोगसामान्यौदारिककाययोगौ, स्त्रीवेदादिवेदमार्गणात्रयी, क्रोधादिकषायमार्गणाचतुष्कम्, अज्ञानमार्गणात्रिकम्, असंयम-चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शन-कृष्ण-नील-कापोतलेश्या--भव्या-ऽभव्य--मिथ्यात्व-संज्ञ्य-ऽसंज्ञ्या-ऽऽहारकमार्गणाः, तथा-ऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगौ, मनःपर्यवज्ञानम्, संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिकसंयम-देशसंयमाः सासादनं चेति। अत्र हि प्रथमोक्तासु तिर्यग्गत्योघाद्याहारकमार्गणापर्यन्तासु पञ्चचत्वारिंशन्मार्गणासु नरकादीनि चत्वार्यप्यायूंषि बन्धप्रायोग्याणि, ततस्तेषां चतुर्णामप्युत्कृष्टाऽबाधा पूर्वकोटीत्रिभागप्रमाणा, तदनन्तरं क्रमोक्तास्वाहारककाययोगाद्यष्टमार्गणासु केवलं देवायुरेव बन्धप्रायोग्यमिति कृत्वा तस्यैकस्यैव यथोक्ताबाधा बोद्धव्या, प्रान्तोक्तसासादनमार्गणायां तु नरकायुर्वर्जानि त्रीण्यायूंषि बन्धप्रायोग्याणीति तेषां त्रयाणामुक्ताबाधामानमवसातव्यम्। उपपत्तिस्तु सुगमा, प्रत्येकं मार्गणासु संख्येयवर्षायुषां तिर्यङ्मनुष्याणां प्रवेशात् तेषां च तत्तन्मार्गणायां बन्धप्रायोग्याणां तत्तदायुषामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वाच्चेति ॥९२-९५॥

तदेवं प्रतिपादिता लाघवार्थमादावेव सर्वमार्गणासु बन्धप्रायोग्यायुषामुत्कृष्टाबाधा। साम्प्रतं तेषां बन्धप्रायोग्यायुषामनुभवयोग्यतालक्षणस्थितेरुत्कृष्टपदगतं मानं प्रदर्शयितुकाम आह—

सव्वेसु णारग[30] सुर[15] इंदियचउग[16] पणकायभेएसु।
असमत्त पणिंदितिरिय मणुस पणिंदिय तसेसु च ॥९६॥
विउव उरलमीसेसु सप्पाउग्गाण आउगाणं तु।
उक्कोसो ठिइबंधो कोडी पुव्वाण विण्णेओ ॥९७॥

(प्रे०) "सव्वेसु" इत्यादि, तत्र 'णारगे'-त्यादिसमासान्तवर्त्तिनो भेदशब्दस्य नारकेत्यादिना प्रत्येकं योजनात् सर्वेषु ओघरत्नप्रभादिपृथिवीभेदभिन्नेषु नारकभेदेषु, तथैव सर्वेषु देवगतिमार्गणाभेदेषु, सर्वेष्वेकेन्द्रियादिचतुरिन्द्रियान्तं यदिन्द्रियचतुष्कं तत्सम्बन्ध्योघोत्तरभेदभिन्नेषु षोडशभेदेषु, पृथिव्यादिवनस्पतिकायान्तपञ्चकायमार्गणासत्केष्वेकोनचत्वारिंशत्सङ्ख्याकेषु सर्वभेदेषु, अन्यमार्गणाः संगृह्णनाह–"असमत्तपणिंदि" इत्यादि, तत्र अपर्याप्ताऽपरपर्यायस्याऽसमाप्तशब्दस्य प्रत्येकं योजनादपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मार्गणाया-मपर्याप्तमनुष्यमार्गणाया-मपर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणाया-मपर्याप्तत्रसकायमार्गणायां चेत्यर्थः, चकारः समुच्चये; "विउवे"त्यादि, वैक्रियकाययो-

गौदारिकमिश्रकाययोगमार्गणयोरित्येतासु समुदितासु नवनवतिमार्गणासु प्रत्येकं **'सप्पाउग्गाण आउगाणं तु"** त्ति स्वस्यां स्वस्यां बन्धप्रायोग्यमनुष्यतिर्यगन्यतरायुषः **"कोडो पुव्वाण विण्णेओ"** त्ति उत्कृष्टस्थितिबन्धः "पुव्वस्स उ परिमाण" इत्यादिनाऽन्यत्राभिहितमानानां पूर्वाणामेका कोटी विज्ञेयः।

इदं त्ववधेयम्—आयुष्कर्मण उत्कृष्टस्थितिबन्धमानमपीह प्रस्तुतत्वात् कर्मरूपताऽवस्थानलक्षणस्थितिबन्धापेक्षया वक्तव्यम्, तच्चोत्कृष्टाबाधासंगतानुभवयोग्यस्थितिबन्धप्रमाणरूपम्, तत्र प्रस्तुतायुष्प्रकृत्युत्कृष्टाबाधायाः 'उक्कोसिया अबाहा' इत्यनेनाभिहितत्वादिदं 'कोडीपुव्वाण' इत्यनेनाभिहितस्थितिबन्धमानमनुभवयोग्यस्थितिबन्धप्रमाणापेक्षया विज्ञेयम्, कर्मरूपतावस्थानलक्षणस्थितिबन्धमानं तूक्तोत्कृष्टाबाधा 'कोडीपुव्वाण'-मित्यनेनाभिहितानुभवयोग्यस्थितिबन्धमानं च संयुज्य स्वयमेवाऽऽनेतव्यम्, **तद्यथा**—सर्वेषु ओघोत्तरभेदभिन्नेषु नरकगतिभेदेषु, तथैव सर्वेषु देवगतिमार्गणाभेदेषु वैक्रियकाययोगमार्गणायां च बन्धप्रायोग्यस्य तिर्यगायुषो मनुष्यायुषो वा उत्कृष्टस्थितिबन्धमानं षण्मासाभ्यधिका एका पूर्वकोटी, एवमेव सर्वत्र द्रष्टव्यम्। तदपेक्षया वक्ष्यमाणस्वामित्व-साद्यादि-काला-ऽन्तरादीनि चोपपादनीयानीति ॥९६-९७॥

अथ कतिपयमार्गणासु मतान्तरं प्रस्तुतोत्कृष्टस्थितिबन्धमानमाह—

परिहारे कालगओ उप्पज्जइ जेट्ठओ सहस्सारे।
इइ भगवईअ भणियं बिंति परे जलहि तेत्तीसा ॥९८॥
तेउपउमासु कोडी पुव्वाण तिरियणराउगाण भवे।
देवाउस्स कमुदही दोऽट्ठार दुवीस सागरा देसे ॥९९॥ (गीतिः)
अमणे असंखभागो पलियस्स चउण्ह आउगाण भवे।
तिरियमणुसाउगाणं कोडी पुव्वाण बिंति परे ॥१००॥

(प्रे०) **"परिहारे"** इत्यादि, परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणायां **"कालगतः"**मृत्युमितः, उत्कृष्टतोऽष्टमे सहस्राराख्ये कल्पे उत्पद्यत इति श्रीमत्यां **'भगवत्यां' पञ्चमाङ्गरूपायां** 'परिहारविशुद्धियस्स" इत्यादिना भणितं भवति, ततश्च देवायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धोऽपि परिहारविशुद्धिकसंयतस्याऽष्टदशसागरोपमाण्येव सम्भवति, न पुनस्तदधिक इति भावः। अत्रैव मतान्तरमाह—**'बिंति परे'** इत्यादि, सुगमम्, केवलं 'परे' त्ति महाबन्धकारा इति। इदं हि **मूलस्थितिबन्धविधानवृत्तावपि** विभावितमेव, केवलं तत्र मूलप्रकृतिस्थितिबन्धस्य प्रस्तुतत्वेन तदपेक्षया दर्शितम्, इह तूत्तरप्रकृतिस्थितिबन्धस्य प्रस्तुतत्वाद् देवायुरधिकृत्य भणितमिति।

"तेउपउमासु" इत्यादि, तेजोलेश्या-पद्मलेश्यामार्गणयोस्तिर्यग् नरायुषोः प्रत्येकं पूर्वा-

णामेका कोटी भवेत् । **"देवाउस्स"** त्ति देवायुषः **"कमुदही दोऽट्ठार"** त्ति क्रमाद् द्वौ उदधी अष्टादशोदधयश्चेत्यर्थः । इदं हि पूर्वकोटिप्रमुखस्थितिबन्धोऽनन्तरोक्तनीत्याऽनुभवयोग्य-स्थितिबन्धापेक्षया ज्ञेयः ।

अयम्भावः–प्रकृतमार्गणाद्वये तिर्यग्मनुष्यायुषोर्बन्धका देवा एव, ते चानन्तरभवे संख्येय-वर्षायुष्कतिर्यग् मनुष्यान्यतरतयैवोत्पद्यन्ते, ततश्चायुरप्युत्कृष्टतः पूर्वकोटीस्थितिकमेव बध्नन्ति, देवा-युषो बन्धकास्तु प्रकृतमार्गणाद्वये तिर्यञ्चो मनुष्या वा, ते चोत्कृष्टस्थितिकपद्मलेश्याकदेवतयोत्पद्य-माना अष्टादशसागरोपमस्थितिकदेवतयैवोत्पद्यन्ते, न पुनस्तदधिकस्थितिकदेवतया, अष्टादशसाग-रोपमादधिकस्थितिकदेवानां शुक्ललेश्यत्वात्, इत्थं चायुरप्येते पद्मलेश्यायामष्टादशसागरोपमा-दधिकं नैव बध्नन्ति, ततश्च पद्मलेश्यायां देवायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धोऽप्यष्टादशसागरोपमाण्यभिहितः ।

अनेन प्रकारेणैव तेजोलेश्यायामपि देवायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धप्रमाणमभिहितं बोद्धव्यम्, केवलं "दसवाससहस्साइं तेऊए ठिई जहन्निया होइ उक्कोसा दो उदही पलियस्स असंखभागं च ॥५३॥" इति देवजीवमधिकृत्य तेजोलेश्याया उत्कृष्टस्थितेरुत्तराध्ययनादावभिहितत्वात् मूलेऽनुक्तमपि तेजोलेश्यायां देवायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धमानं पल्योपमासंख्येयभागेनाऽभ्यधिकं द्रष्टव्यमिति ।

"दुवीस सागरा देसे" त्ति "जा अच्चुओ सड्ढा" इति वचनाद् देशसंयतानां श्राद्धानामुत्कर्षतोऽच्युतकल्पे उत्पादस्याभिहितत्वात् तत्र चोत्कृष्टाया अपि स्थितेर्द्वाविंशतिसागरोपम-प्रमाणत्वात् तदपेक्षया देशसंयममार्गणायामायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धमानं द्वाविंशतिः सागरोपमाणि विज्ञेयमिति भावः ।

"अमणे" त्ति 'अमनस्के' असंज्ञिमार्गणायाम् **"असंखभागो"** इत्यादि, बन्धप्रायो-ग्याणां चतुर्णामप्यायुषां प्रत्येकमुत्कृष्टस्थितिबन्धः पल्योपमाऽसंख्येयतमैकभागप्रमाणो भवेदि-त्यर्थः । इह चतुर्णामप्यायुषामुत्कृष्टस्थितिबन्धमानं पल्योपमासंख्येयभागः सदपि न परस्परं तुल्यं किन्तु देव-मनुष्य-तिर्यग् नरकायुषा यथोत्तरमसंख्यगुणं बोद्धव्यम् । एवमन्यत्राऽपि यथासम्भवं विज्ञेयम् ।

अथ महाबन्धकारैरसंज्ञिनां तिर्यग्मनुष्यायुषोरुत्कृष्टोऽपि स्थितिबन्धः पूर्वकोट्येव मन्यते, इति तेषां मतं संगृह्णन्नाह–**'तिरियमणुसाउगाण'**'मित्यादि, सुगमं "जं तम्मयम्मि ताण आऊण पुव्वकोडिठिइबंधो" इति द्वितीयाधिकारनिषेकद्वारवक्तव्यतया गतार्थं चेति ॥९८-१००॥

अथ शेषमार्गणासु प्रकृतस्थितिबन्धप्रमाणस्यौघप्ररूपणया बहुसाम्यादतिदिदिक्षुः सापवादम-तिदिशति—

सेसासु मग्गणासुं णेयो ओघव्व जेट्ठठिइबंधो ।
सप्पाउग्गाऊणं योऽत्थि विसेसोऽत्थ वुच्चइ सो ॥१०१॥

(प्रे०) "**सेसासु**" इत्यादि ,अनन्तरं "सव्वेसु णाग" इत्यादिगाथापञ्चकेनाऽभिहिता निरयगत्योघादिचतुरुत्तरशतमार्गणा विवर्ज्य शेषासु तिर्यग्गत्योघाद्येकोनषष्टिमार्गणासु प्रत्येकं "**सप्पाउग्गाऊणं**" ति तत्तत्तिर्यग्गत्योघादिमार्गणायां स्वस्यां स्वस्यां बन्धप्रायोग्यमनुष्याद्यायुषामन्यतमायुषो 'ज्येष्ठः'-उत्कृष्टस्थितिबन्धः "**णेयो ओघव्व**" त्ति अनन्तरं "योऽत्थि विसेसो" इत्यादिना वक्ष्यमाणविशेषमपहायौघवज्ज्ञातव्य इत्यर्थः। विशेषमेवाभिधित्सुः प्रतिजानीते-"**योऽत्थि विसेसो**" इत्यादि सुगमम् ॥१०१॥ प्रतिज्ञामेव निर्विवाहयिषुर्गाथाचतुष्केणाऽपवादपदान्याह—

देवाउस्सऽट्ठारह अयरा तिरिय-[3]तिपणिंदितिरियेसु ।
[1]मणुसि[1]तिरिच्छि[1]त्थीसु णिरयाउस्स जलहिदुवीसा ॥१०२॥
[3]अण्णाणतिगे [1]अयते [1]अभविय-[1]सासायणेसु [1]मिच्छत्ते ।
जलहीण एगतीसा जाणेयव्वो सुराउस्स ॥१०३॥
[3]णाणतिगे [1]ओहिम्मि य [1]सुइलाए[1]सम्म[1]वेअगेसु च ।
[1]खइअम्मि य पुव्वाणं कोडी णेयो णराउस्स ॥१०४॥
[3]अपसत्थतिलेसासु भवे सुराउस्स सागरोऽब्भहिओ ।
णिरयाउस्सुदही दस तिण्णि कमा णीलकाऊसु ॥१०५॥

(प्रे०) "**देवाउस्स**" इत्यादि, तिर्यग्गत्योघ-पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्-तिरश्चीरूपासु चतसृषु मार्गणासु प्रत्येकं "**देवाउस्सऽट्ठारह अयरा**" त्ति देवायुषोऽष्टादश "अतराः" सागरोपमाणीत्येवरूप ओघापेक्षया विशेषः । मानुषी तिरश्ची स्त्रीवेदमार्गणासु निरयायुषः "**जलहिदुवीसा**" त्ति द्वाविंशतिः 'जलधयः' सागरोपमाणीत्येवंरूपो विशेषः, 'अज्ञानत्रिके'-मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान विभङ्गज्ञानमार्गणात्रिके तथा 'अयते' असंयममार्गणायामभव्यसासादनमार्गणयोर्मिथ्यात्वमार्गणायामित्येतासु सप्तमार्गणासु प्रत्येकं "**जलहीण एगतीसा जाणेयव्वो**" त्ति 'जलधीनां' सागरोपमाणामेकत्रिंशदित्येवंरूपो विशेषो ज्ञातव्यः । कस्येत्याह-"**सुराउस्स**" इति "देवायुषः" देवायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धविषय इति यावत् । इत्येवं पूर्वम् उत्तरत्र च ज्ञेयम् । अन्यं विशेषमाह-"**णाणतिगे**" इत्यादि, 'ज्ञानत्रिके' मतिज्ञान-श्रुतज्ञाना ऽवधिज्ञानमार्गणात्रये, अवधिदर्शने, चशब्दः पादपूर्त्यै, "**सुइलाए**" त्ति शुक्ललेश्यामार्गणायां, सम्यक्त्वौघ-वेदकसम्यक्त्वयोः, चः समुच्चयार्थः, "**खइअम्मि उ**" त्ति तुशब्दः पुनरार्थः, तथा च क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां पुनः "**नरायुषः**"—मनुष्यायुषः उत्कृष्टस्थितिबन्धः पूर्वाणामेका कोटी इत्येवंलक्षणो विशेषो ज्ञेयः। अन्यमप्याह-"**अपसत्थतिलेसासु**" त्ति अप्रशस्तासु कृष्ण-नील-कापोतरूपासु तिसृषु लेश्यासु 'सुरायुषः' देवायुषः "**सागरोऽब्भहियो**" त्ति अभ्यधिकः

"सागरः" सागरोपम, इत्येवंलक्षणो विशेषो भवेदिति पूर्वेण योगः, उत्कृष्टस्थितिबन्धविषय इति सर्वत्र गम्यते, तस्यैव प्रस्तुतत्वात् । "**णिरयाउस्सुदही दस तिण्णि कम।**" त्ति अनन्तरोक्तस्य "**अब्भहियो**" इत्यस्य पदस्य मण्डुकप्लुतिन्यायेनाऽत्रापि सम्बन्धाद् अर्थवशाद्विभक्तिविपरिणतेश्च निरयायुषोऽभ्यधिका दशोदधयोऽभ्यधिकास्त्रय उदधयः क्रमात् नीलकापोतलेश्ययोरुत्कृष्टः स्थितिबन्धो भवेत्, न पुनरोघवत् त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणीत्यर्थः । उपपत्तिस्त्वेवम्–निरयायुर्वेदकानां नीललेश्याकनारकाणामुत्कृष्टमायुः पल्योपमासंख्येयभागेनाभ्यधिकानि दशसागरोपमाणि भवति, कापोतलेश्याकनारकाणामुत्कृष्टमायुः पल्योपमासंख्येयभागेनाभ्यधिकानि त्रीणि सागरोपमाणि भवति, श्रीमति–**उत्तराध्ययनसूत्रे** लेश्याऽध्ययने उत्कृष्टस्थितिकतत्तल्लेश्याकनारकसम्बन्धिन्याः कृष्णादिलेश्याया उत्कृष्टस्थितेस्तथाऽभिहितत्वात् । तथा च तद्ग्रन्थः—

"दसवाससहस्साइ काउए ठिई जहन्निया होइ । तिण्णुदही पलिओवमअसखभाग च उक्कोसा ॥४१॥
तिण्णुदही पलिओवमअसखभागो जहन्नेण नीलठिई । दसउदही पलिओवमअसखभाग च उक्कोसा ॥४२॥
दसउदही पलिओवमअसखभाग जहन्निया होइ । तेत्तीससागराइ उक्कोसा होइ किण्हाए लेसाए ॥४३॥
एसा नेरइयाण लेसाण ठिई उ वण्णिया होइ" इति । तच्च साधिकदशसागरोपमादिस्थितिकमुत्कृष्टायुः पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्-मनुष्यास्तत्तन्नीललेश्यादिपरिणताः सन्तो बध्नन्ति, ततश्च नीलादिलेश्यायां निरयायुष उत्कृष्टोऽपि स्थितिबन्धो यथोक्तमानो जायत इति तथैवाभिहितः ।

इत्थमेवानन्तरोक्ततिर्यग्गत्योघादिमार्गणास्वपि तत्तन्मार्गणागतजीवानामुत्कृष्टस्थितिकदेवादितयोत्पत्त्यनुसारेण यथोक्तस्थितिबन्धप्रमाणं भावनीयम् । **तथाहि**–पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिरश्चश्च्युत्वोत्कर्षतः महस्रारकल्पं यावदूर्ध्वं गच्छति, न परतः, "जा सहस्सारो पंचिंदितिरिय" इति वचनात्, ततश्च प्रथमं तिर्यग्गत्योघ पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्-तिरश्चीलक्षणमार्गणाचतुष्के देवायुष उत्कृष्टस्थितिबन्ध ओघवन्न त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणः प्राप्यते; किन्त्वष्टादशसागरोपमाण्येव प्राप्यते । तिरश्च्यो मानुष्यश्च स्त्रियः, स्त्रियश्चाधस्तात् षष्ठभूमिं यावदेव गच्छन्ति न पुनः सप्तम्याम् "असन्नि-सरिसिव-पक्खी सीह उरगित्थि जा छट्ठि । कमसो उक्कोसेण' मिति वचनात्, षष्ठनरके चोत्कृष्टा स्थितिर्द्वाविंशतिः सागरोपमाणि, ततश्च तिरश्चीमानुषीमार्गणाद्वये स्त्रीवेदमार्गणायां च निरयायुष उत्कृष्टः स्थितिबन्धोऽपि द्वाविंशतिसागरोपमाण्येव लभ्यते । मत्यज्ञानादिसप्तमार्गणागता जीवास्तु न सर्वविरतयः, ततश्चोत्कृष्टतोऽपि नवमग्रैवेयके देवतयोत्पद्यन्ते, तथा च तासु नवमग्रैवेयकदेवानामुत्कृष्टभवस्थितिप्रमाण एकत्रिंशत्सागरोपमाणि आयुष उत्कृष्टस्थितिबन्धः प्राप्यते, मतिज्ञानाद्यष्टमार्गणासु तु मनुष्यायुषो बन्धका देवा नारका वा, तेषां च परभवे संख्येयवर्षायुष्कमनुष्यतयैवोत्पत्तेः मतिज्ञानादिमार्गणासु मनुष्यायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धः पूर्वकोट्येव जायते । इत्थमेव मार्गणान्तरेऽपि विज्ञातव्यमिति । तदेवमपोदिते मनुष्यगत्योघ-पर्याप्तमनुष्य-पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकायौघ पर्याप्तत्रसकाय–मनोयोगपञ्चक-वचो-

योगपञ्चक काययोगसामान्यौ-दारिककाययोग-पुरुषवेद-नपुंसकवेद-कषायचतुष्क-चक्षु रचक्षुर्दर्शन-भव्य-संज्ञ्या-हारिरूपास्वेकोनत्रिंशन्मार्गणासु प्रत्येकं बन्धप्रायोग्याणां चतुर्णामप्यायुषामाहारका-ऽऽहारकमिश्र-काययोग-मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थानसंयमरूपासु षट्सु मार्गणासु बन्धप्रायोग्यस्य देवायुषश्च भण्यमानमबाधाऽसंगतमनुभवयोग्यस्थितिबन्धमानमतिदेशानुसारेण सर्वथौघवदेव प्राप्यते।

"देवाउस्सऽट्ठारह अयरा तिरियदुपणिंदितिरियेसु" इत्यादिगाथाचतुष्केणानुपदमभिहितासु तिर्यग्गत्योघादिचतुर्विंशतिमार्गणासु त्वपोदितशेषाणां बन्धप्रायोग्यनिरयाद्यायुषां तदोघवद् लभ्यते। तद्यथा—तिर्यगोघ-पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघ-तत्पर्याप्ता-ऽज्ञानत्रिका-ऽसंयमा-ऽभव्य-मिथ्यात्व-कृष्णलेश्यालक्षणासु [1]°दशमार्गणासु देवायुर्वर्जानां शेषाणां त्रयाणामायुषाम्, मानुषी-स्त्रीवेदलक्षणमार्गणाद्वये[2] नरकायुर्वर्जानां शेषाणां त्रयाणामायुषाम्, तिरश्री नील-कापोतलेश्या-सासादनलक्षणमार्गणाचतुष्टये [4]तिर्यग्मनुष्यायुषोः, मति-श्रुता-ऽवधिज्ञाना-ऽवधिदर्शन-शुक्ललेश्या-सम्यक्त्वौघ-क्षायिकसम्यक्त्व क्षायोपशमिकसम्यक्त्वलक्षणासु [5]अष्टमार्गणासु देवायुष उत्कृष्ट-स्थितिबन्धमानमोघवद्भवति, मनुष्यौघ-तत्पर्याप्त-पञ्चेन्द्रियौघ-तत्पर्याप्त-त्रसौघ-तत्पर्याप्त-सर्वमनो-वचोयोगभेद-काययोगौघौ-दारिका-ऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोग पुंवेद-नपुंसकवेद-कषायचतुष्टय-मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापनसंयम-चक्षु-रचक्षुर्दर्शन-भव्य-संज्ञ्या- ऽऽहारकलक्षणासु पञ्चत्रिंशन्मार्गणासु तु बन्धप्रायोग्याणां सर्वासामायुःप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धमानमोघवद्भवतिः उपपत्तिरप्यस्यौघवदेव कार्येति ॥१०२-१०५॥

गतमादेशतोऽपि बन्धप्रायोग्यसर्वोत्तरप्रकृत्युत्कृष्टस्थितिबन्धप्रमाणप्ररूपणम्, गते च तस्मिन् समाप्ता उत्कृष्टस्थितिबन्धप्रमाणप्ररूपणा ॥

॥ अथ जघन्यस्थितिबन्धप्रमाणम् ॥

एतर्हि जघन्यस्थितिबन्धप्रमाणप्ररूपणा कार्या, साऽपि ओघादेशभेदतो द्विधा, तत्रादौ तावदोघतस्तां चिकीर्षुर्गाथाषट्कमाह—

हस्सो भिन्नमुहुत्तं णवावरण-चरमलोह-विग्घाणं ।
सायस्सऽत्थि मुहुत्ता बारह अट्ठ य जसुच्चाणं ॥१०६॥
संजलणाणं तिण्हं कोहाईणं कमा मुणेयव्वो ।
मासा दो एगोऽद्धो वासा पुरिसस्स अट्ठ भवे ॥१०७॥
अंतोकोडाकोडी अयरा आहारदुग-जिणाण भवे ।
एआओ पणवीसा णायव्वा खवगपयडीओ ॥१०८॥

णारग-देवाऊणं णेयो वासाणि दस सहस्साणि ।
होएइ खुड्डगभवो तिरिक्ख-मणुसाउगाणं तु ॥१०९॥
दुसहस्सुदहीणूणो सत्तमभागोऽत्थि संखभागेणं ।
पल्लस्स विउवछक्कस्स केइ उ असंखभागेणं ॥११०॥
मिच्छगुरुठिइविभत्तो विण्णेयो वग्गजेट्ठठिइबंधो ।
पल्लासंखंसूणो सेसपणासीइपयडीणं ॥१११॥

(प्रे०)''**हस्सो**'' इत्यादि, 'हृस्वः' जघन्यः प्रकृतत्वात्स्थितिबन्धः 'भिन्नमुहूर्तम्' अन्तर्मुहूर्तं भवति । कासां प्रकृतीनामित्याह–''**णवावरणे**''त्यादि, मतिज्ञानावरणादिपञ्चज्ञानावरण-चक्षुर्दर्शनावरणादि-चतुर्दर्शनावरणलक्षणानां नवानामावरणप्रकृतीनां तथा चरमस्य संज्वलनाख्यस्य लोभस्य, '**विघ्नानाम्**' अन्तरायप्रकृतीनां दानान्तरायादिभेदभिन्नानां पञ्चानां चेत्येवं सर्वसंख्यया पञ्चदशप्रकृतीनां प्रत्येकमित्यर्थः । अत्र हि प्रागुक्ताबाधानियमात् पञ्चदशानामपि अन्तर्मुहूर्तमबाधाऽबाधोनकर्मस्थितिः कर्मदलनिषेकश्च वक्तव्यः । उक्तं च **शतकचूर्णौ**- पचण्ह णाणावरणाण चउण्ह दसणावरणाण लोभसजलण-पंचण्हमतराइगाण जहन्नतो ठिइबंधो अतोमुहुत्तिओ, अंतोमुहुत्तमबाहा अबाहूणिया कम्मट्ठिई कम्मणिसेगो' इति । ''**सायस्सऽत्थि**'' त्ति सातवेदनीयस्य जघन्यस्थितिबन्धो भवति, कियान् ? ''**मुहुत्ता बारह**'' त्ति द्वादश मुहूर्त्ताः । ''**अट्ठ य जसुच्चाणं**'' ति यशःकीर्तिनाम्न उच्चैर्गोत्रस्य चेत्येवं द्वयोः प्रकृत्योस्त्वसौ जघन्यस्थितिबन्धोऽष्टमुहूर्तमानो भवतीति, अत्राऽप्यबाधानिषेकौ प्रागिव भेदेन स्वयमेव द्रष्टव्यौ । उक्तं च **शतकचूर्णौ**–'सायवेयणीयस्स जहन्नओ ठिइबधो बारसमुहुत्तिओ, अतोमुहुत्तमबाहा, अबाहाए विणा ठिई णिसेगो' तथा 'जसकित्ति-उच्चागोयाण जहन्नओ ठिइबधो अट्ठ मुहुत्ता'' इत्यादि । ''**संजलणाणं**'' इत्यादि, त्रयाणां 'क्रोधादीनां' क्रोध-मान-मायाख्यानां 'संज्वलनानां' संज्वलनकषायाणां क्रमात् ''**मासा दो एगोऽद्धो**'' त्ति द्वौ मासौ, एको मासः, अर्धमासश्च जघन्यस्थितिबन्धो ज्ञातव्यः । संज्वलनक्रोधस्य द्वौ मासौ, संज्वलनमानस्यैको मासः, संज्वलनमायायास्त्वर्धमास इत्यर्थः । ''**वासा पुरिसस्स अट्ठ भवे**'' त्ति पुरुषवेदाख्याया मोहनीयोत्तरप्रकृतेर्जघन्यस्थितिबन्धोऽष्टौ वर्षाणि भवेत् । 'वासा' इत्यत्र पुस्त्वं तु प्राकृतवशाद्विज्ञेयम् , प्राकृते हि लिङ्गमतन्त्रं भवति, यदाहुः **श्रीहेमचन्द्रसूरिपादाः** स्वोपज्ञप्राकृतलक्षणे–'लिङ्गमतन्त्रम्' (**सिद्धहेमः** ॥८।४।४४५॥) एवमेवान्यत्राऽपि ज्ञेयम् । ''**अंतोकोडाकोडी**'' इत्यादि, अन्तःकोटीकोट्यः 'अतराः' सागरोपमाणि जघन्यः स्थितिबन्ध आहारकद्विकस्या-ऽऽहारक-शरीरा-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणस्य जिननाम्नश्चेत्येवं तिसृणां प्रकृतीनां भवेत् । एतासां तिसृणां प्रागुत्कृष्टस्थितिबन्धोऽप्यन्तःकोटीकोटीसागरोपमाण्येवोक्तस्तथाऽप्ययं जघन्य उत्कृष्टापेक्षया संख्येय-

गुणहीनो विज्ञेयः । उक्तं च **शतकचूर्णौ**–'कोहसंजलणाए जहन्नओ ठिइबंधो बे मासा, अंतोमुहुत्तमबाहा । माणसंजलणाए जहन्नओ ठिइबंधो मासो, अंतोमुहुत्तमबाहा । मायासंजलणाए जहन्नओ ठिइबंधो अद्धमासो, अंतोमुहुत्तमबाहा । पुरिसवेयस्स जहन्नओ ठिइबंधो अट्ठ वासाणि, अंतोमुहुत्तमबाहा' । तथा 'आहारकशरीर-आहारकगोवग-तित्थकरणामाणं जहन्नओ ठिइबंधो अंतोकोडाकोडी, अंतोमुहुत्तमबाहा । उक्कोसाओ सखेज्जगुणहीणो जहन्नओ ठिइबंधो' । इत्यादि ।

अमूषां मतिज्ञानावरणादिजिननामपर्यन्तानां पञ्चविंशतेः प्रकृतीनां यथोक्तप्रमाणो जघन्यस्थितिबन्धश्चारित्रमोहनीयक्षपकैरेव क्रियते, नान्यैः,अत उत्तरग्रन्थलाघवार्थं तासां पञ्चविंशतेरिदानीमेव **'क्षपकप्रकृतय'** इति संज्ञां व्यवस्थापयितुमाह–**"एआओ पणवीसा"** इत्यादि, गतार्थम्, केवलमुत्तरत्र यत्र यत्र 'खवगपयडि' त्ति वक्ष्यते तत्र तेनेमा मतिज्ञानावरणाद्याः पञ्चविंशतिः प्रकृतयो बोद्धव्या इति ।

"णारगदेवाऊण" मित्यादि, नरकायुर्देवायुषोः प्रत्येकं प्रस्तुत औघिकजघन्यस्थितिबन्धो दशवर्षसहस्राणि ज्ञेयः । तिर्यग्मनुष्यायुषोस्त्वसौ **"होएइ खुड्डगभवो"** त्ति 'क्षुल्लकः' सर्वलघुर्भवस्तत्प्रमाणो भवति । तदुक्तं **बन्धशतकवृत्तौ**–'देवनरकायुषोर्जघन्यस्थितिर्दशवर्षसहस्राणि । मनुष्यतिर्यगायुषोस्तु क्षुल्लकभवग्रहणम्' इति । इदमप्यायुषां जघन्यस्थितिबन्धमानं प्रागुक्तायुष्कोत्कृष्टस्थितिबन्धप्रमाणन्यायेनाऽनुभवयोग्यस्थितिमाश्रित्य विज्ञेयम्, अबाधा चेह जघन्या ग्राह्या, सा तु 'लहु मुहुत्तंतो' इति वचनादन्तर्मुहूर्तमात्रेति ।

अथ वैक्रियषट्कस्य जघन्यस्थितिबन्धमाह-**"दुसहस्सुदहीणूणो"**इत्यादि,देवद्विकादिप्रकृतिषट्कलक्षणस्य वैक्रियषट्कस्यैकेन्द्रियविकलेन्द्रियैरनिर्वर्तनादसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्वामिकस्तस्य जघन्यः स्थितिबन्धः **"दुसहस्सुदहीणूणो सत्तमभागोऽत्थि"**त्ति सागरोपमसहस्रद्वयस्य सप्तमो भाग ऊनो भवति, केनोन इत्याह–**"संखभागेणं पल्लस्स"** त्ति पल्योपमस्य संख्येयभागेन । **अयम्भावः**-एकेन्द्रियैर्यथा स्वबन्धप्रायोग्यायुर्वर्जप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धापेक्षया जघन्यः स्थितिबन्धः पल्योपमासंख्येयभागेन हीनः क्रियते तथा विकलेन्द्रिया-ऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियैरसौ पल्योपमसंख्येयभागेन हीनः क्रियते, इत्थं च वैक्रियषट्कस्य जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनोऽसंज्ञिनो वैक्रियषट्कस्य जघन्यां स्थितिमपि शेषाऽऽयुर्वर्जजघन्यस्थितिवद् उत्कृष्टतः पल्योपमसंख्येयभागेन हीनामारचयन्ति, वैक्रियषट्कौघिकजघन्यस्थितिबन्धस्वामिनोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रिया एवेत्युक्तमेव, तदेवमोघतो वैक्रियषट्कजघन्यस्थितिबन्धः सागरोपमसहस्रद्वयस्यैकः सप्तभागः पल्योपमसंख्येभागन्यूनो लभ्यते । उक्तं च **कर्मप्रकृतिचूर्णिविषमपदटिप्पनके श्रीमन्मुनिसुन्दरसूरिपुङ्गवैः**–'द्वीन्द्रियादिषु चतुर्षु जीवस्थानेषूत्कृष्टस्थितिबन्धचिन्तायां क्रमेण पञ्चविंशतिः पञ्चाशत् शतं सहस्रं च गुणकारा क्रियन्ते, तत एतेषु जीवस्थानकेषु पञ्चविंशत्यादिप्रमाणसागरोपमसहस्रस्य द्वौ सप्तभागौ द्विसप्तभागादिक उत्कृष्टस्थितिबन्धः सम्पद्यते, अयमेव च पल्योपमसंख्येयभागहीनस्तेषां जघन्य, ततः सिद्धमिदं सागरोपमसहस्रस्य द्वौ सप्त-

भागौ पल्योपमसङ्ख्येयभागहीनावसञ्ज्ञिन एव जघन्यो वैक्रियषट्बन्ध' इति । अत्रैव मतान्तरं संगृह्ण-न्नाह-"**केइ उ असंखभागेण**"मिति, केचित्तु यथोक्ताः सागरोपमसहस्रद्वयस्य सप्तभागाः पल्योपमस्याऽसंख्येयभागेनोनाः सन्तो वैक्रियषट्कस्य जघन्या स्थितिर्भवतीति ब्रुवन्ति; तदुक्तं **पञ्चसंग्रहे**-'वेउव्विछक्कि त सहस्सताडिय जं असन्निणो तेसिं । पलियाऽसंखसूणं ठिई अबाहूणिय-णिसेगो' ॥४९॥ इति ।

अथ भणितशेषप्रकृतयस्तु एकेन्द्रियाणामपि बन्धप्रायोग्याः, अतस्तासां जघन्यस्थितिबन्धं तदनुसारेण दर्शयन्नाह-"**मिच्छगुरुठिइ**"इत्यादि, सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीलक्षणया मिथ्या-त्वगुरुस्थित्या विभक्तो '**वर्गाणां**' ज्ञानावरणोत्तरप्रकृतिसमुदायः, दर्शनावरणोत्तरप्रकृतिसमुदायः, वेदनीयोत्तरप्रकृतिसमुदायः, दर्शनमोहनीय-कषायमोहनीय-नोकषायमोहनीयोत्तरप्रकृतिसमुदायाः, नामकर्मोत्तरप्रकृतिसमुदाय-गोत्रकर्मोत्तरप्रकृतिसमुदाया ऽन्तरायकर्मोत्तरप्रकृतिसमुदायाश्चेत्येतेषां प्रागु-क्तस्वरूपाणां नवानां वर्गाणामेकैकस्य वर्गस्य 'ज्येष्ठः' उत्कृष्टः स्थितिबन्धः । इह वर्गोत्कृष्टस्थिति-बन्धस्तु यस्तत्तद्वर्गप्रविष्टप्रकृतीनां मध्ये यस्या मतिज्ञानावरणादिप्रकृतेरोघोत्कृष्टस्थितिबन्धस्तत्र प्रविष्टशेषप्रकृत्योघोत्कृष्टस्थितिबन्धापेक्षयाऽधिकः स ज्ञेयः । स च पल्योपमस्याऽसंख्येयभागेनोनः सन्नुक्तशेषाणां पञ्चाशीतिप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धो भवति ।

तद्यथा-नास्ति काचिज्ज्ञानावरणप्रकृतिरवशिष्टा, पञ्चानामपि जघन्यस्थितिबन्धस्याभि-हितत्वात् । दर्शनावरणवर्गस्य वेदनीयवर्गस्य चोत्कृष्टा स्थितिस्त्रिंशत्सागरोपमकोटिकोटि-प्रमाणा, तस्या मिथ्यात्वोत्कृष्टस्थित्या सप्ततिसागरोपमकोटिकोटिलक्षणया भागे हृते लब्धाः साग-रोपमस्य त्रयः सप्तभागाः, ते पल्योपमासंख्येयभागेन हीनाः सन्तः पञ्चाशीतिशेषप्रकृत्यन्तर्गतस्य निद्रापञ्चकस्याऽसातवेदनीयस्य च जघन्यस्थितिबन्धो भवति । दर्शनमोहनीयवर्गस्योत्कृष्टा स्थितिः सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणा, तस्यास्तावत्प्रमाणयैव मिथ्यात्वस्थित्या भागे हृते लब्धाः सप्त-सागरोपमसप्तभागाः, ते च पल्योपमासंख्येयभागेन हीनाः सन्तो मिथ्यात्वमोहनीयस्य जघन्य-स्थितिबन्धप्रमाणं भवति । कषायमोहनीयवर्गस्योत्कृष्टास्थितिश्चत्वारिंशत्सागरोपमकोटीकोटी-प्रमाणा, तस्या मिथ्यात्वस्थित्या भागे हृते लब्धाश्चत्वारः सागरोपमसप्तभागाः, ते च पल्योपमा-संख्येयभागेनोनाः सन्तोऽनन्तानुबन्ध्य-ऽप्रत्याख्यानावरण प्रत्याख्यानावरणक्रोधादिलक्षणानां शेषाणां द्वादशकषायमोहनीयप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धो जायते । नोकषायमोहनीयस्य तु वर्गोत्कृष्टा स्थि-तिर्विंशतिसागरोपमकोटीकोटयः, तस्याश्च मिथ्यात्वस्थित्या प्रागवद् भागे हृते लब्धौ द्वौ सागरो-पमसप्तभागौ, तौ च पल्योपमासंख्येयभागेन हीनौ हास्य-रति शोका-ऽरति भय-जुगुप्सा-स्त्रीवेद-नपुंसक-वेदलक्षणानां शेषाणामष्टानां नोकषायप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धप्रमाणतया जायेते । एवमेव नाम गोत्रयोरपि शेषोत्तरप्रकृतीनां पल्योपमासंख्येयभागेनोनौ सागरोपमस्य द्वौ सप्तभागौ जघन्य-

स्थितिबन्धो ज्ञेयः, कथम्? इति चेद्, नामगोत्रवर्गयोरप्युत्कृष्टस्थितिबन्धप्रमाणस्य नोकषायमोहनीयवर्गवद् विंशतिसागरोपमकोटिकोटिप्रमाणत्वात्। इह वैक्रियषट्का-ऽऽहारकद्विक-जिननाम-यशःकीर्त्तिनामवर्जाः सप्तपञ्चाशत् नामप्रकृतयो नीचैर्गोत्रं च शेषप्रकृतितया विज्ञेया इति ॥१०९-१११॥

तदेवमभिहितमोघतः सर्वासामुत्तरप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धमानम्। इदानीं तदेवादेशतो व्याचिकीर्षुरादौ तावद् यासु मार्गणास्वायुर्वर्जप्रकृतीनां तदोघवत्ताः सङ्गृह्याह—

कायु-रला-ऽवेएसुं लोहे सुहुमे अचक्खु-भवियेसुं।
आहारे ओघव्व य सप्पाउग्गाउवज्जाणं ॥११२॥

(प्रे०) "**कायुरलावेएसु**"मित्यादि, काययोगसामान्यौ-दारिककाययोगा-ऽपगतवेदमार्गणासु, लोभमार्गणायाम्, सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायाम्, अचक्षुर्दर्शनभव्यमार्गणयोराहारिमार्गणायां चेत्येवं समुदितास्वष्टमार्गणासु प्रत्येकम् "**ओघव्व य**" त्ति जघन्यस्थितिबन्धप्रमाणमोघवत्, चकारो भिन्नक्रमः, स च "आहारे" इत्यस्योत्तरं योजितः। कासां प्रकृतीनामित्याह—"**सप्पाउग्ग**" इत्यादि, स्वप्रायोग्याणामायुर्वर्जप्रकृतीनाम्, काययोगसामान्यादितत्तन्मार्गणासु बन्धप्रायोग्या याः प्रकृतयस्ताभ्य आयुःप्रकृतीर्विवर्ज्य याः शेषाः प्रकृतयस्तासां सर्वासामिति भावः।

तत्र—काययोगसामान्यमार्गणायां त्वायुर्वर्जाः बन्धप्रायोग्याः प्रकृतयः षोडशोत्तरशतम्, तस्यां सर्वासां विंशत्युत्तरशतप्रकृतीनां बन्धप्रायोग्यत्वात्। कस्मादोघवत्? ओघवच्चारित्रमोहक्षपकैकेन्द्रियासंज्ञिपञ्चेन्द्रियादिसर्वविधजीवराशेस्तत्र प्रवेशात्। एवमेवौदारिककाययोगे लोभकषाया-ऽचक्षुर्दर्शन-भव्या-ऽऽहारिमार्गणासु च वेदितव्यम्। अपगतवेदमार्गणायां तु पञ्चज्ञानावरण-चतुर्दर्शनावरण-पञ्चान्तराय-सातवेदनीय-संज्वलनचतुष्क यशःकीर्तिनामो-च्चैर्गोत्रलक्षणा एकविंशतिः प्रकृतयो बन्धप्रायोग्याः सूक्ष्मसम्परायसंयमे तु ताभ्यः कषायचतुष्कवर्जाः सप्तदशप्रकृतयो बन्धप्रायोग्याः, एतासां च प्रकृतीनामौघिकजघन्यस्थितेर्बन्धकाः प्रस्तुतमार्गणाद्वये प्रविष्टाः, अतस्तासां प्रस्तुतमार्गणाद्वये बन्धप्रायोग्याणां सर्वासां प्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धमानमप्योघवदेवातिदिष्टम्। अत्र मार्गणाद्वये तु स्वबन्धप्रायोग्यप्रकृतीनाम् "**आउवज्जाणं**" इति विशेषणं स्वरूपदर्शकमेव विज्ञेयम्, मार्गणाद्वये एकस्या अप्यायुःप्रकृतेर्बन्धप्रायोग्यत्वाभावेन व्यवच्छेदकतयाऽनुपपत्तेः। इत्थमेवाग्रेऽपि यथासम्भवं वेदितव्यमिति ॥११२॥

अथाऽऽयुषो जघन्यस्थितिबन्धस्योत्तरत्रैव वक्ष्यमाणतयानन्तरोक्तमार्गणावद्वक्ष्यमाणमार्गणास्वप्याऽऽयुःप्रकृतीर्विहाय शेषप्रकृतीनामेव जघन्यस्थितिबन्धमानं प्रतिपिपादयिषुर्यासु मार्गणासु निरयगत्योघवद् बन्धप्रायोग्याणामायुर्वर्जप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धो बाहुल्येन सर्वथा वाऽसंज्ञिप्रायोग्यस्ता मार्गणाः संगृह्याह—

णिरय-पढमणिरयेसुं देव-भवण-वंतरेसु सव्वेसुं ।
पंचिंदियतिरियेसुं असमत्तमणुस-पणिंदियेसुं च ॥११३॥ गीतिः)
मिच्छगुरुठिइविभत्तो सहस्सगुणियो य वग्गगुरुबंधो ।
पलिओवमस्स णेयो हीणो संखेज्जभागेणं ॥११४॥
णवरं हवेज्ज णिरये आइमणिरयम्मि देवलोगम्मि ।
अंतोकोडाकोडी अयरा जिणणामकम्मस्स ॥११५॥

(प्रे०) "**णिरये**"त्यादि, अत्र ह्यनन्तरगाथातः 'सप्ताउग्गाउवज्जाण' इति पदमनुवर्तते, ततश्च निरयगत्योघ-प्रथमपृथिवीनिरयभेदयोः, देवगत्योघ-भवनपति-व्यन्तरदेवभेदेषु, सर्वेष्वोघपर्याप्ता-ऽपर्याप्त तिरश्चीभेदभिन्नेषु चतुर्षु पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदेषु, अपर्याप्तमनुष्या-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियजाति-भेदयोश्चेत्येवं समुदितास्वेकादशमार्गणासु प्रत्येकं "**मिच्छगुरुठिइविभत्तो**" त्ति सप्ततिसागरो-पमकोटिकोटिलक्षणया मिथ्यात्वस्य 'गुरुस्थित्या' औघिकोत्कृष्टस्थित्या विभक्तः '**सहस्सगु-णिओ य**' त्ति 'सहस्रेण'-सहस्रसंख्यया गुणितश्च, एवम्भूतः क इत्याह-"**वग्गगुरुबंधो**" त्ति मतिज्ञानावरणादिप्रकृतिसमुदायलक्षणानां पूर्वोक्तस्वरूपाणां नवानां वर्गाणां यो 'गुरुः' उत्कृष्टः 'बन्धः' स्थितिबन्धः स वर्गगुरुबन्धः, स च "**पलिओवमस्से**"त्यादि, पल्योपमस्य संख्येय-भागेन हीनः सप्तायुर्वर्जानां स्वप्रायोग्याणां प्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धो ज्ञेयः । अत्रैव मार्ग-णात्रये योऽपवादस्तमाह-'**णवरं**' इत्यादिना, 'नवरम्'-परं 'णिरये' त्ति निरयगत्योघे, आदिम-निरये देवगत्योघे चेत्येवं तिसृषु मार्गणासु जिननामकर्मणोऽन्तःकोटीकोट्यः 'अतराः' सागरोपमा-ण्यसौ भवेत् ।

अयम्भावः-निरयगत्योघादिप्रस्तुतैकादशमार्गणासु जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनोऽसंज्ञिनोऽ-संज्ञिभ्यश्च्युत्वोत्पद्यमाना अन्तरालगतिवर्तिनो वा जीवाः एव, नान्ये, कुतः ? उच्यते-प्रत्येकमे-केन्द्रियविकलेन्द्रियाणां श्रेणिगतजीवानां वाऽप्रवेशात् शेषप्रविष्टजीवेषु तु यथोक्तानामसंज्ञिनामसंज्ञि-त्वपश्चात्कृतानां * वा कार्मणकाययोगिजीवानामेव जघन्यस्थितिबन्धो जायते,तत्र निरयौघ-प्रथम-निरया-ऽपर्याप्तमनुज-देवौघ-भवनपति-व्यन्तरभेदरूपषड्मार्गणास्वसंज्ञिभ्यश्च्युत्वोत्पद्यमाना अन्तरा-लगतौ वर्तमाना जीवा जघन्यस्थितिबन्धस्य स्वामिनः, ते च तदानीं निरयगत्योघादिषड्मार्गणा-स्वायुर्जिननामवर्जा बन्धप्रायोग्याः सर्वाः प्रकृतीर्निर्वर्तयन्ति, इत्थ चाऽऽयुर्जिननामवर्जानां सर्वासां बन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धोऽपि यथोक्तोऽसंज्ञिप्रायोग्यः प्राप्यत इति तथैवोक्तः । जिननाम्नस्तु संज्ञिभ्य आगतानां पर्याप्तावस्थायां विशुद्धौ सत्यां जायते, तदानीं च शेषप्रकृतीना-

* असंज्ञिभ्यश्च्युत्वा नारकतयोत्पद्यमानानामित्यर्थः ।

मिव तस्याऽप्यन्तःकोटीकोटीसागरोपमाण्येव स्थितिबन्धो भवतीति तथैवाऽभिहितः। आयुःप्रकृति-सत्कस्तु सर्वमार्गणास्वग्रे वक्ष्यमाणतयाऽत्र नाभिहितः। निरयगत्योघादिमार्गणा विहाय शेषासु पञ्चमार्गणासु तु जिननाम बन्धप्रायोग्यमेव नास्ति, शेषप्रकृतीनां च बन्धका मार्गणाप्रविष्टा असंज्ञिनो जीवाः स्वप्रायोग्योत्कृष्टस्थितिबन्धात्पल्योपमसंख्येयभागेन हीनं जघन्यस्थितिबन्धं कुर्वन्ति। उक्तं च **कर्मप्रकृतिचूर्णौ** द्वीन्द्रियाद्यसंज्ञिपर्यन्तानां जघन्यस्थितिबन्धमानं विवृण्वता चूर्णिकृता—'बेइंदियादीण अप्पप्पणो उक्कसट्ठिती पलिउवमस्स संखेज्जतिभागेण ऊणा 'इयरो' त्ति जहण्णगट्ठिति भवति।' इति।

इत्थं हि निरयगत्योघाद्येकादशमार्गणासु ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणनवक-वेदनीयद्विका-ऽन्तरायपञ्चकलक्षणानामेकविंशतिप्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यस्थितिबन्धः सागरोपमसहस्रस्य त्रयः सप्तभागाः पल्योपमस्य संख्येयभागेन हीनाः। मिथ्यात्वमोहनीयस्य तु सागरोपमसहस्रस्य सप्त सप्तभागाः पल्योपमस्य संख्येयभागेन न्यूनाः। षोडशकषायाणां पुनश्चत्वारः सागरोपमसहस्रस्य सप्तभागाः पल्योपमसंख्येयभागेन न्यूना जघन्यस्थितिबन्धः। नवनोकषायाणां तु पल्योपमसंख्येयभागन्यूनौ द्वौ सागरोपमसहस्रस्य सप्तभागावसौ प्राप्यते। एवमेव द्वयोर्गोत्रप्रकृत्योरपि पल्योपमसंख्येयभागन्यूनौ सागरोपमसहस्रस्य द्वौ सप्तभागावेव जघन्यस्थितिबन्धो विज्ञेयः। नामकर्मण उत्तरप्रकृतीनामप्येवमेव, नवरं बन्धप्रायोग्याणामेवासौ वक्तव्यः, तत्राऽपि निरयौघ-देवौघ प्रथमनिरयलक्षणभेदत्रये तीर्थकरनाम्नोऽन्तःकोटीकोटीसागरोपमाणि, नामकर्मणो बन्धप्रायोग्याः प्रकृतयस्तु निरयौघ-प्रथमनिरयभेदयोः पञ्चाशत्, देवौघे त्रिपञ्चाशत्, भवनपति-व्यन्तरभेदयोर्द्विपञ्चाशत्, पञ्चेन्द्रिय-तिर्यगोघ-तत्पर्याप्त-तिरश्चीमार्गणात्रये तु चतुःषष्टिः, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्-पर्याप्तमनुष्यमार्गणयोरष्टपञ्चाशत्, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणायामप्येवमेवाऽष्टपञ्चाशत्प्रकृतय इति ॥११३-११५॥

अथ क्रमप्राप्तशेषनिरयगतिमार्गणाभेदेषु प्रस्तुतायुर्वर्जप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धमन्तः-कोटिकोटिसागरोपममानं दिदर्शयिषुरन्या अपि सदृशमार्गणाः संगृह्य सममेवाह—

सेसणिरयदेव-विउवआहारजुगल-विभंग-देसेसुं।
परिहारे तेउ-पउम-वेअग-सासाण-मीसेसुं ॥११६॥
अंतोकोडाकोडी विण्णेयो सागरोवमाणं तु।

(प्रे०) "**सेसणिरये**"त्यादि, निरयगत्योघ-प्रथमनिरयभेदद्वये मतिज्ञानावरणादिप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्यानन्तरमेवाभिहितत्वात् तद्भेदद्वयं परित्यज्य शेषेषु द्वितीयपृथिवीनिरयभेदादिषु षड्निरयगतिभेदेषु, तथैव शेषेषु देवगत्योघ-भवनपति-व्यन्तरभेदवर्जेषु ज्योतिष्कादिसर्वार्थसिद्धविमानान्तेषु सप्तविंशतिदेवगतिभेदषु, तथा '**युगल**' इति शब्दस्य प्रत्येकं योजनाद् वैक्रिय-वैक्रियमिश्र-

काययोगमार्गणाद्वयलक्षणे वैक्रिययुगले, आहारक-तन्मिश्रयोगद्वयलक्षणे आहारकयुगले च, विभङ्गज्ञानमार्गणायाम्, देशसंयममार्गणायाम्, परिहारसंयमे, तेजोलेश्या-पद्मलेश्या-वेदकसम्यक्त्व-सासादन-मिश्रदृष्टिमार्गणास्वित्येवं समुदितासु पञ्चचत्वारिंशन्मार्गणासु प्रत्येकं प्रस्तुतानामायुर्वर्जानां सर्वासां तत्तद्द्वितीयपृथिवीनिरयभेदादिमार्गणासु बन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां जघन्यः स्थितिबन्धः "अंतोकोडाकोडी"त्यादि, सागरोपमाणामन्तःकोटीकोट्यो विज्ञेयः । कुतः ? एतासु सर्वमार्गणासु श्रेणिमनारूढानामेकेन्द्रिय-विकलेन्द्रियाणामसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामसंज्ञिपञ्चेन्द्रियेभ्यश्च्युत्वा कार्मणकाययोगितया वर्तमानानां वा जीवानामप्रवेशात्, अन्येषां प्रविष्टजीवानां तु संज्ञित्वात् मिथ्यात्वाद्यप्रमत्तान्तानामन्यतमगुणस्थानकगतत्वाच्चायुर्वर्जसर्वबन्धप्रायोग्यप्रकृतीनामन्तःकोटीकोटीसागरोपमतो हीनस्थितिबन्धस्यैवाभावात् । एतासु प्रत्येकं बन्धप्रायोग्याः प्रकृतयस्तु 'सामायणमीसेसु"मित्यस्या (७५) गाथाया वृत्तितो द्रष्टव्या इति ॥ ११६ ॥

अथ तिर्यग्गत्योघमार्गणायामायुर्वर्जप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धमानं प्रतिपिपादयिषुर्बहुसाम्यादन्यमार्गणा अपि सममेव सगृह्णन्नाह—

तिरिये तह सव्वेसुं एगिंदिय-पंचकायेसुं ॥११७॥
ओरालमीस-कम्मण-दुअणाणा-ऽयत-तिअसुहलेसासुं ।
अभविय-मिच्छत्तेसुं अमणा-ऽणाहारगेसुं च ॥११८॥
मिच्छगुरुठिइविभत्तो विण्णेयो वग्गजेट्ठठिइबंधो ।
पलिओवमस्स हीणो भागेण असंखियतमेणं ॥११९॥
णवरोघव्व तिरिक्खे दुअणाणा-ऽयत-तिअसुहलेसासुं ।
अभविय-मिच्छत्तेसुं अमणे य विउव्वछक्कस्स ॥१२०॥
अंतोकोडाकोडी अयत-कुलेसासु होइ तित्थस्स ।
कम्मु-रलमीस-ऽणाहारगेसु वेउव्व-सुरदुगाणमवि ॥१२१॥ (गीतिः)

(प्रे०) "तिरिये तहे"त्यादि, तिर्यग्गत्योघे, सर्वेषु षट्चत्वारिंशत्संख्याकेष्वोघ-सूक्ष्मौघ-बादरौघ-तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्तैकेन्द्रिय-पृथिवीकायादिपञ्चकायसत्कभेदेषु "ओरालमीस" इत्यादि, औदारिकमिश्र कार्मणकाययोग-मत्यज्ञान-श्रुताऽज्ञाना-ऽसंयम-कृष्ण-नील-कापोतलेश्या-ऽभव्य-मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञ्य-नाहारकमार्गणाभेदेषु च प्रत्येकम्, आयुर्वर्जानां बन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धो भवतीत्यनुवर्तते । कियान्भवतीत्याह—"मिच्छगुरुठिइविभत्तो" इत्यादि, अक्षरार्थस्तु

प्राग्वद्, ततश्च मतिज्ञानावरणादिप्रकृतीनां पल्योपमस्याऽसंख्येयभागेन हीनः सागरोपमस्य त्रिसप्तभागादिर्जघन्यस्थितिबन्धो भवतीत्यर्थः । इत्थं हि सामान्येनाऽभिहिते कासुचिन्मार्गणासु या काचिदतिप्रसक्तिस्तामुद्धर्तुकामोऽपवदन्नाह–"**णवरोघव्व**" इति "**अंतोकोडाकोडो**" इति च, 'नवरं'-परम् तिर्यग्गत्योघे द्वयोरज्ञानमार्गणयोरसंयम-त्र्यशुभलेश्या-ऽभव्य-मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञिलक्षणासु दशमार्गणासु वैक्रियषट्कस्य देवगति-देवानुपूर्वी-निरयगति-निरयानुपूर्वी वैक्रियशरीर-वैक्रियाङ्गोपाङ्गप्रकृतिलक्षणस्य जघन्यस्थितिबन्ध"**ओघवत्**" "दुसहस्सुदहीणूणो सत्तमभागोऽत्थि सखभागेण" इत्यादिना(गाथा-११०)ऽभिहितो द्विसहस्रसागरोपमाणां सप्तमभागः पल्योपमसंख्येयभागेन हीनो विज्ञेयः;तथा"**अंतोकोडाकोडो**"त्ति सागरोपमाणामन्तःकोटीकोटयो जघन्यस्थितिबन्धः "**अयतकुलेसासु होइ तित्थस्स**"त्ति असंयतमार्गणायां कुत्सितासु तिसृषु कृष्णादिलेश्यासु च तीर्थकरनाम्नो जघन्यस्थितिबन्धो भवति । "**कम्मुरल**" इत्यादि, कार्मणकाययोगौ-दारिकमिश्रकाययोगाऽनाहारकमार्गणासु पुनः "**वेउव्व-सुरदुगाणमवि**" त्ति न केवलं तीर्थकरनाम्नोऽपि तु वैक्रियद्विकसुरद्विकजिननामानीत्येतासां पञ्चानामपि प्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धोऽन्तःकोटिकोटिसागरोपमाणि भवतीत्यर्थः ।

इत्थं हि–ओघ-सूक्ष्म-बादर-तत्पर्याप्तापर्याप्तलक्षणेषु सप्तस्वेकेन्द्रियभेदेषु, तथैव सप्तसु पृथिवीकायभेदेषु, सप्तस्वप्कायभेदेषु, सप्तसु तेजस्कायभेदेषु, सप्तसु वायुकायभेदेषु, सप्तसु साधारणवनस्पतिकायभेदेषु, वनस्पतिकायौघे, प्रत्येकवनस्पतिकायौघ-तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदेष्वित्येवं षट्चत्वारिंशन्मार्गणासु प्रत्येकं ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणनवक-वेदनीयद्विका-ऽन्तरायपञ्चकलक्षणानामेकविंशतिप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धः सागरोपमस्य त्रयः सप्तभागाः पल्योपमस्याऽसंख्येयभागेन हीनाः । मिथ्यात्वस्य सागरोपमस्य सप्त सप्तभागाः पल्योपमस्याऽसंख्येयभागेन न्यूनाः । षोडशकषायाणां चत्वारः सागरोपमसप्तभागाः पल्योपमस्याऽसंख्येयभागेन हीना जघन्यस्थितिबन्धः । नवनोकषायाणां तु द्वौ सप्तभागौ सागरोपमस्य पल्योपमस्याऽसंख्येयभागेन हीनौ । एवमेव बध्यमानगोत्रप्रकृत्योरपि । नामप्रकृतीनामप्येवमेव पल्योपमस्याऽसंख्येयभागेन न्यूनौ द्वौ सागरोपमसप्तभागावेव वाच्यः, केवलं न सर्वासामुत्तरप्रकृतीनाम्, किन्त्वेकेन्द्रियौघादितत्तन्मार्गणासु बन्धप्रायोग्योत्तरप्रकृतीनामेव । नामकर्मणो बन्धप्रायोग्योत्तरप्रकृतयस्तु सप्तस्वेकेन्द्रियभेदेषु, सप्तपृथिवीकायभेद-सप्ताप्कायभेदेषु तथैकादशसु वनस्पतिकायभेदेषु च प्रत्येकं वैक्रियषट्का-ऽऽहारकद्विक-जिननामवर्जा अष्टपञ्चाशत् । सप्तसु तेजस्कायभेदेषु तथा सप्तसु वायुकायभेदेषु पुनरुपर्युक्ता नवप्रकृतीर्मनुष्यद्विकं च विहाय षट्पञ्चाशदिति । तिर्यग्गत्योघ-मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽभव्य-मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञिलक्षणासु षण्मार्गणासु पुनर्बन्धप्रायोग्यप्रकृतिभ्यो वैक्रियषट्कस्य पल्योपमसंख्येयभागेन हीनौ

सागरोपमसहस्रस्य द्वौ सप्तभागौ जघन्यस्थितिबन्धः,शेषाणां ज्ञानावरणादीनामायुर्वर्जसर्वबन्धप्रायोग्य-प्रकृतीनां त्वेकेन्द्रियौघादिमार्गणावत्पल्योपमाऽसंख्येयभागेन हीनः सागरोपमस्य त्रिसप्तभागादिरेव।

ननु कस्मात्वैक्रियषट्कस्यैवम् ,न पुनः शेषनामप्रकृतीनामपि ? इति चेद् , वैक्रियषट्कस्य बन्धका असंज्ञिनः, न त्वेकेन्द्रियाद्याः, ततश्च तस्य जघन्योऽपि स्थितिबन्धोऽसंज्ञिस्वामिकः सन् यथोक्तो भवति, शेषा नामप्रकृतयस्तु प्रस्तुततिर्यग्गत्योघादिषड्मार्गणागतैकेन्द्रियजीवैरपि बध्यन्ते, न चान्यतमस्यामपि मार्गणायां श्रेणिवर्तिनो जीवाः प्रविष्टाः,इत्थं शेषप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्ध एकेन्द्रियस्वामिकः सन्पल्योपमाऽसंख्यभागन्यूनसागरोपमद्विसप्तभागप्रमाण एव प्राप्यत इति । एवमेवाऽसंयमेऽशुभलेश्यात्रये च, केवलं तत्र जिननाम्नोऽपि बन्धः, तस्य च जघन्यस्थितिबन्धोऽन्तःकोटिकोटिसागरोपमाणि, अत्र नामकर्मणो बन्धप्रायोग्योत्तरप्रकृतयस्तु तिर्यग्गत्योघा-ऽज्ञानद्विका-ऽभव्य-मिथ्यात्वा ऽसंज्ञिलक्षणासु षण्मार्गणासु जिननामा-ऽऽहारकद्विकवर्जाश्चतुःषष्टिः । असंयमा ऽशुभलेश्या-मार्गणासु त्वाहारकद्विकवर्जाः पञ्चषष्टिर्विज्ञेया इति ।

अथ शेषास्त्वौदारिकमिश्र-कार्मणकाययोगा-ऽनाहारकलक्षणासु तिसृषु मार्गणासु देवद्विक-वैक्रियद्विक-तीर्थकरनामवर्जा बन्धप्रायोग्या नामप्रकृतयो मार्गणाप्रविष्टैकेन्द्रियजीवैरपि निर्वर्तयितुं शक्यन्तेऽतस्तासां देवद्विकादिप्रकृतिपञ्चकवर्जानां बन्धप्रायोग्यनामप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्ध एकेन्द्रियस्वामिकः सन्नेकेन्द्रियौघादिमार्गणावत्पल्योपमाऽसंख्येयभागन्यूनसागरोपमद्विसप्तभागप्रमाण एव, न पुनर्देवद्विकादिपञ्चप्रकृतीनामपि, तासां देवद्विक-वैक्रियद्विक-तीर्थकरनाम-प्रकृतीनामेकेन्द्रिय-विकलेन्द्रियैरसंज्ञिपञ्चेन्द्रियैरसंज्ञिपञ्चेन्द्रियेभ्यश्च्युत्वा कार्मणकाययोगाद्यवस्थायां वर्तमानैः संज्ञिपञ्चेन्द्रियैर्वाऽनिर्वर्तनेन प्रागुक्तनीत्या जघन्यतोऽप्यन्तःकोटीकोटीसागरोपमप्रमाण एव स्थितिबन्धो लभ्यतेऽतः पञ्चानामप्यसावन्तःकोटीकोटीसागरोपमप्रमाणो विज्ञेयः । मतिज्ञानावरणादिप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्त्वेकेन्द्रियमार्गणावदेव । मार्गणात्रयेऽप्यायुर्वर्जा मतिज्ञानावरणादिसर्वप्रकृतयो बन्धप्रायोग्याः, नामप्रकृतयस्तु नरकद्विका-ऽऽहारकद्विकवर्जास्त्रिषष्टिरिति विज्ञेयमिति ॥११७-१२१॥

अथाऽपर्याप्तमनुष्यमार्गणायां प्रस्तुतजघन्यस्थितिबन्धस्य पूर्वं निरयगत्योघादिमार्गणाभिः सममभिहितत्वात् तद्वर्जासु शेषासु मनुष्यगत्योघ-पर्याप्तमनुष्य-मानुषीमार्गणासु जघन्यस्थितिबन्धं विभणिषुस्तत्साम्यात्संज्ञिम र्गणायामपि सममेवाह—

ओघव्व तिणर-सण्णीसु खवगपयडीण विउवळकस्स ।
अयरांतकोडिकोडी पणिंदितिरियव्व सेसाणं ॥१२२॥

(प्रे०) "ओघव्व तिणर" इत्यादि, मनुष्यौघ-पर्याप्तमनुष्य-मानुषीलक्षणासु तिसृषु नर-मार्गणासु संज्ञिमार्गणायां च "खवगपयडीणं" ति मतिज्ञानावरणादीनां पञ्चत्रिंशतः क्षपक-

प्रकृतीनां प्रागुक्ताऽभिधानानां "**ओघव्व**"त्ति प्रस्तुतत्वाज्जघन्यः स्थितिबन्ध ओघवद्भवति, कुतः ? क्षपकप्रकृतीनामौघिकजघन्यस्थितिबन्धस्वामिनामत्र मार्गणाचतुष्के प्रवेशात् । क्षपकप्रकृतीनामौघिकजघन्यस्थितिबन्धस्वामिनो हि चारित्रमोहनीयक्षपकाः, प्रविष्टाश्च तेऽत्र मार्गणाचतुष्केऽपीति । "**विउवछक्कस्स**" त्ति वैक्रियषट्कस्य प्रस्तुतमार्गणाचतुष्के जघन्यस्थितिबन्धः "**अयरंतकोडिकोडी**" त्ति अन्तःकोटीकोटिसागरोपमाणीत्यर्थः ।

ननु प्रस्तुतमार्गणाचतुष्के मिथ्यात्वादिसर्वगुणस्थानवर्तिनो जीवा विद्यन्ते, इत्थं च वैक्रियषट्कस्य जघन्यस्थितिबन्धोऽपि क्षपकप्रकृतीनामिवौघवदतिदेष्टव्यो भवति ? **इति चेद्** , **न**, यतो मिथ्यात्वादिसर्वगुणस्थानवर्तिजीवानामत्र प्रवेशेऽपि नाऽऽसामेकस्यामप्यसंज्ञिजीवानां प्रवेशः, तदभावे च ओघतोऽभिहितो वैक्रियषट्कस्य जघन्यस्थितिबन्धोऽसंज्ञिस्वामिकः सन्नात्र मार्गणाचतुष्के प्राप्यते, किन्तु संज्ञिस्वामिकोऽन्तःकोटीकोटीसागरोपमप्रमाण एवासौ प्राप्यत इति कृत्वौघवन्नातिदिष्टः । **ननु** प्रस्तुतमार्गणाचतुष्केऽसंज्ञिनामप्रवेशेऽपि येऽसंज्ञिभ्यश्च्युत्वा संज्ञितयोत्पद्यमाना अन्तरालगतौ भवप्रथमसमयवर्तिनः संज्ञिजीवास्ते तु लभ्यन्त एव, तेषां च तदानीमसंज्ञिनामिव जघन्यः स्थितिबन्धो जायते, अत एव पूर्वं निरयगत्योघादिमार्गणासु "**मिच्छगुरुठिइविभत्तो**" इत्यादिना जिननाम विहाय सर्वासामायुर्वर्जबन्धप्रायोग्यप्रकृतीनामसावसंज्ञिप्रायोग्यः कथितः, न च तत्राऽपि वैक्रियषट्कस्य त्वसौ नाभिहित इति वाच्यम् , यतस्तासु मार्गणाप्रविष्टनारकादिजीवानां वैक्रियषट्कं बन्धप्रायोग्यमेव नासीत् , अत्र तु मार्गणाचतुष्के मनुष्याणां तिरश्चां वा प्रवेशाद् वैक्रियषट्कस्य बन्धः सन् विद्यते, इत्थं च प्रस्तुतमार्गणाचतुष्केऽसंज्ञिनामप्रवेशेऽप्यसंज्ञित्वपश्चात्कृतानां मनुष्य-तिर्यगन्यतरविधजीवानां प्रवेशात्तदपेक्षया वैक्रियषट्कस्य जघन्यस्थितिबन्ध ओघवदतिदेष्टव्यो भवत्येव ? **इति चेद्** , **न**, यतोऽसंज्ञिभ्यश्च्युत्वा संज्ञितयोत्पद्यमानाः कार्मणकाययोगिनो जीवा हि नियमेन मिथ्यादृष्टयः, मिथ्यादृष्टीनां हि तदानीं वैक्रियषट्कस्य बन्धो नैव जायते, उक्तं च **बन्धस्वामित्ववृत्तौ**—

"विंशत्युत्तरशतमध्यादाहारकषट्क-तिर्यग्नरायु प्रकृतीर्मुक्त्वा शेषस्य द्वादशोत्तरशतस्य सामान्येन कार्मणकाययोगे बन्धः । तदेव द्वादशोत्तरशतं जिनादिपञ्चक विना शेष सप्तोत्तरशत कार्मणकाययोगे मिथ्यादृशो बध्नन्ति ।" इति ।

इत्थं हि यथोक्तकार्मणकाययोगिमिथ्यादृष्टिजीवानां वैक्रियषट्कस्यैव बन्धप्रायोग्यत्वाभावाद् वैक्रियषट्कस्य जघन्यस्थितिबन्ध ओघवन्नैव प्राप्यते, अतोऽसौ पर्याप्तसंज्ञिजीवस्वामिको ग्राह्यः, स च यथोक्तोऽन्तःकोटीकोटीसागरोपमप्रमाण एवेत्यलं विस्तरेण ।

शेषबन्धप्रायोग्यप्रकृतीनामाह—"**पणिदितिरयव्व सेसाणं**" ति बन्धप्रायोग्याणामायुर्वर्जशेषप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धः पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघमार्गणावत् , स च मार्गणाचतुष्केऽपि शेषपश्चा-

शीतिप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्ध इयान् वेदितव्यः—निद्रापञ्चका-ऽसातवेदनीयलक्षणानां षण्णां प्रकृतीनां पल्योपमसंख्येयभागेन हीनाः सागरोपसहस्रस्य त्रयः सप्तभागाः । मिथ्यात्वस्य पल्योपमसख्येयभागेन हीनं सागरोपमसहस्रम् । संज्वलनवर्जानां द्वादशकषायाणां पल्योपमसंख्येयभागेन हीनाः सागरोपमसहस्रस्य चत्वारः सप्तभागाः । पुरुषवेदवर्जानामष्टानां नोकषायाणां तु पल्योपमसंख्येयभागेन हीनौ सागरोपमसहस्रस्य द्वौ सप्तभागौ जघन्यस्थितिबन्धः । एवमेव वैक्रियषट्का ऽऽहारकद्विक जिननाम-यशःकीर्त्तिनामलक्षणप्रकृतिदशकवर्जानां सप्तपञ्चाशन्नामप्रकृतीनां नीचैर्गोत्रस्य च प्रत्येक पल्योपमसंख्येयभागेन हीनौ सागरोपमसहस्रस्य द्वौ सप्तभागौ जघन्यस्थितिबन्ध इति । एष हि जघन्यस्थितिबन्धो निरयगत्योघवदसंज्ञिपञ्चेन्द्रियतश्च्युत्वा प्रस्तुतमार्गणायामुत्पद्यमानान् कार्मणकाययोगिजीवानपेक्ष्य नेयः ॥१२२॥

अथ सर्वेषु विकलेन्द्रियभेदेष्वपर्याप्तत्रसकायमार्गणायां च प्रस्तुतानामायुर्वर्जसर्वोत्तरप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धमानमाह——

सगगुरुठिइबंधो चिअ विण्णेयो पल्लसंखभागूणो ।
सव्वविगलभेएसुं बिंदियभंगो अपज्जतसे ॥१२३॥

(प्रे०) "**सगगुरुठिइ**" इत्यादि, ओघ-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तद्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रियलक्षणेषु सर्वेषु विकलेन्द्रियमार्गणाभेदेषु प्रस्तुतो जघन्यस्थितिबन्धः "**सगगुरुठिइबंधो चिअ**" त्ति "सो खलु पणवीसाए" इत्यादि-(७७)-गाथाभिस्तथा "स पलियसखसूणो अपज्जविगलेसु" इत्यादि(८१)गाथया च प्रागुत्कृष्टपदे स्थितिबन्धप्रमाणाऽभिधानावसरे विकलेन्द्रियमार्गणाभेदेष्वभिहितस्तत्तज्ज्ञानावरणादिप्रकृतीनां पञ्चविंशत्यादिसागरोपमसत्कत्रिसप्तभागादिप्रमाणः स्वकः स्वकः 'गुरुः'-उत्कृष्टस्थितिबन्ध एव "**पल्लसखभागूणो**" त्ति पल्योपमस्य संख्येयभागेनोनः-हीनः सन् , जघन्यस्थितिबन्धो विज्ञेय इति प्रस्तुतत्वाद्गम्यते । कासां प्रकृतीनाम् ? इति चेद् , एतदपि प्रस्तुतत्वादायुर्वर्जानां सर्वासां बन्धप्रायोग्यप्रकृतीनामिति विज्ञेयम् ।

इत्थं हि—ओघ-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तद्वीन्द्रियभेदत्रये ज्ञानावरणपञ्चकस्य पञ्चविंशतिसागरोपमाणां त्रयः सप्तभागाः पल्योपमसंख्येयभागेन हीना जघन्यस्थितिबन्धः । एवमेव दर्शनावरणनवकस्य वेदनीयद्विकस्य तथा-ऽन्तरायपञ्चकस्याऽपि जघन्यस्थितिबन्धो विज्ञेयः । मिथ्यात्वमोहनीयस्य तु पञ्चविंशतिसागरोपमाणां सप्त सप्तभागाः पल्योपमस्य संख्येयभागेन हीनाः । षोडशकषायाणां पुनस्तथाविधाश्चत्वारः सप्तभागाः पल्योपमसंख्येयभागेन हीना जघन्यस्थितिबन्धः । नवानां नोकषायप्रकृतीनां तादृशौ पञ्चविंशतिसागरोपमसत्कौ पल्योपमसंख्येयभागेन हीनौ द्वौ सप्तभागौ । एवमेव नामकर्मणो बन्धप्रायोग्यसर्वप्रकृतीनां गोत्रद्विकस्य च पञ्चविंशतिसागरोपमाणां पल्योपमसंख्येयभागेन हीनौ द्वौ सप्तभागावेव जघन्यस्थितिबन्धो वेदितव्यः ।

यथैव द्वीन्द्रियमार्गणाभेदत्रये तथैवौघ-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्ने त्रीन्द्रियमार्गणाभेदत्रये चतुरिन्द्रियमार्गणाभेदत्रये च ज्ञानावरणादीनामायुर्वर्जानां सर्वप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धो वाच्यः, केवलं द्वीन्द्रियभेदेषु ये त्र्यादिसप्तभागाः पञ्चविंशतिसागरोपमसत्काः कथितास्ते त्रीन्द्रियमार्गणाभेदत्रये पञ्चाशत्सागरोपमसत्का वक्तव्यास्तथा चतुरिन्द्रियमार्गणाभेदत्रये शतसागरोपमसत्का अभिधातव्याः । तद्यथा–त्रीन्द्रियमार्गणाभेदत्रये मतिज्ञानावरणादिप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धः पञ्चाशत्सागरोपमाणां पल्योपमसंख्येयभागेन न्यूनास्त्र्यादिसप्तभागाः । चतुरिन्द्रियमार्गणाभेदत्रये तु तासां जघन्यस्थितिबन्धः सागरोपमशतस्य पल्योपमसंख्येयभागेन न्यूनास्त्र्यादिसप्तभागाः । विस्तरतस्तु स्वयमेव द्रष्टव्यः । मार्गणानवकेऽपि नामकर्मणो बन्धप्रायोग्याः प्रकृतयो वैक्रियषट्का-ऽऽहारकद्विकजिननामवर्जा अष्टपञ्चाशत्, ज्ञानावरणादीनां तु यथोक्ताः सर्वप्रकृतयो बन्धप्रायोग्या इति । अत्र द्वीन्द्रियादिमार्गणाभेदेषु पञ्चसंग्रहमतेन तु जघन्यस्थितिबन्धोऽन्यथैव । तदुक्तं **कर्मप्रकृतिवृत्तौ श्रीमदुपाध्यायप्रकाण्डैः**–"पञ्चसंग्रहे तु या जघन्यस्थितिरेकेन्द्रियाणां सा पल्योपमसंख्येयभागाभ्यधिकीकृता पञ्चविंशत्यादिना च गुणिता द्वीन्द्रियादीनामुत्कृष्टा, यथास्थितैव चैकेन्द्रियजघन्यस्थितिः पञ्चविंशत्यादिना गुणिता जघन्येत्युक्तमस्ति" इति ।

अथा-ऽपर्याप्तत्रसकायमार्गणायां जघन्यस्थितिबन्धमानमतिदेशेनाह–**"बिंदियभंगो अपजत्तसे"** त्ति अपर्याप्तत्रसमार्गणास्थाने आयुर्वर्जानां बन्धप्रायोग्यसर्वप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धप्रमाणविषये 'द्वीन्द्रियभङ्गः'– अपर्याप्तद्वीन्द्रियमार्गणाभङ्गो विज्ञेयः । **इदमुक्तं भवति–** "बिंदियभंगो" इत्यनेन द्वीन्द्रियौघभङ्गः पर्याप्तद्वीन्द्रियभङ्गश्च ग्रहीतुं शक्यते, नवरं तयोः प्रत्येकं जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनः पर्याप्तद्वीन्द्रियाः, ते च जघन्यस्थितिबन्धमपर्याप्तद्वीन्द्रियैर्निर्वर्त्यमानजघन्यस्थितिबन्धापेक्षया पल्योपमसंख्येयभागेन हीनं कुर्वन्ति, पर्याप्तद्वीन्द्रियापेक्षयाऽपर्याप्तद्वीन्द्रियास्तु पल्योपमसंख्येयभागेनाऽभ्यधिकं कुर्वन्ति, अपर्याप्तत्रसकायमार्गणायां पर्याप्तद्वीन्द्रियास्तु नैव प्रविष्टाः, तथा चापर्याप्तद्वीन्द्रियाणां यो जघन्यस्थितिबन्धः स एवाऽपर्याप्तत्रसकायमार्गणायामपीति कृत्वा "बिंदियभङ्गो" इत्यनेन द्वीन्द्रियौघ-तत्पर्याप्तमार्गणाभङ्गौ विहायाऽपर्याप्तद्वीन्द्रियमार्गणाभङ्गो ग्राह्यः, अतस्तथैव गृहीतः । इत्थं च द्वीन्द्रियापर्याप्तमार्गणायां ज्ञानावरणादिप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धोऽनन्तरं पल्योपमसंख्येयभागेन न्यूनः पञ्चविंशतिसागरोपमाणां त्रिसप्तभागादिरुक्तस्तथैवाऽत्रा-पर्याप्तत्रसकायमार्गणायामपि बोद्धव्य इति ॥१२३॥

अथाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियभेदे प्राग् निरयगत्योघेन समं जघन्यस्थितिबन्धस्याऽभिहितत्वात् शेषपञ्चेन्द्रियमार्गणाभेदद्वये जघन्यस्थितिबन्धं दर्शयन्नाह—

दुपणिंदियेसु णारगसुरवेउव्वदुग-खवगपयडीणं ।
ओघव्व जाणियव्वो पणिंदितिरियव्व सेसाणं ॥१२४॥

(प्रे०) **"दुपणिंदियेसु"** इत्यादि, पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणालक्षणयोर्द्वयोः

पञ्चेन्द्रियभेदयोः प्रत्येकं "**णारगसुरवेउव्वदुग**" त्ति दुगशब्दस्य प्रत्येकं योजनात् नरकगतिनरकानुपूर्वीलक्षणं नरकद्विकं, देवगतिदेवानुपूर्वीलक्षणं सुरद्विकं वैक्रियशरीर वैक्रियाङ्गोपाङ्गलक्षणं वैक्रियद्विकं च, वैक्रियषट्कमित्यर्थः। तासां षण्णां तथा "**खवगपयडीणं**" ति मतिज्ञानावरणादीनां पञ्चविंशतिसंख्याकानां क्षपकप्रकृतीनां प्रस्तुतो जघन्यस्थितिबन्ध ओघवज्ज्ञातव्यः। "इस्सो भिन्नमुहुत्त"मित्यादि(१०६...)गाथात्रयेण क्षपकप्रकृतीनां तथा "दुसहस्सुदहीणूणो" इत्यादि (११०) गाथया वैक्रियषट्कस्यौघतो जघन्यपदे यावानुक्तस्तावान् बोद्धव्य इत्यर्थः। कुतः? वैक्रियषट्क-क्षपकप्रकृतीनामौघिकजघन्यस्थितिबन्धस्वामिनां प्रस्तुतमार्गणाद्वये प्रवेशादिति।

अथ शेषाणामाह—"**पणिंदितिरियव्व सेसाणं**" ति प्रस्तुतमार्गणाद्वये आयुर्वर्जोक्तशेषपञ्चाशीतिप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धः पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघमार्गणावद्, ज्ञातव्य इत्यत्राप्यनुषज्यते। सुगमम्, पञ्चेन्द्रियतिर्यग्वत् प्रस्तुतमार्गणाद्वयेऽप्येकेन्द्रिय-विकलेन्द्रियाणामप्रवेशात्, असंज्ञिनां तु प्रवेशाज्जघन्यस्थितिबन्धोऽपि तद्वदसंज्ञिस्वामिकः प्राप्यत इति ॥१२४॥

अथाऽपर्याप्तत्रसमार्गणायां जघन्यस्थितिबन्धमानस्य पूर्वगाथायामपर्याप्तद्वीन्द्रियमार्गणावदतिदिष्टत्वात्तद्वर्जशेषत्रसकायमार्गणाभेदद्वये तत्साम्याद् वचनयोगसामान्य-व्यवहारवचनयोगमार्गणयोश्च सममेव जघन्यस्थितिबन्धमानमाह—

दुतसवयणेसु णारण-सुर-वेउव्वदुग-खवगपयडीणं।
ओघव्व जाणियव्वो सेसाणं बिंदियव्व भवे ॥१२५॥

(प्रे०) "**दुतसवयणेसु**" इत्यादि, त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकायलक्षणयोर्द्वयोस्त्रसकायमार्गणयोस्तथा "**वयणेसु**" त्ति दुशब्दस्यात्राऽपि सम्बन्धाद् द्वयोर्वचनयोगमार्गणाभेदयोः, इमौ वचनयोगमार्गणाभेदौ मूले सामान्येनाऽभिहितावपि **व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिरिति** कृत्वा वचनयोगसामान्य-व्यवहारवचनयोगलक्षणौ वेदितव्यौ। इत्येवमेतेषु चतुर्षु मार्गणाभेदेषु प्रत्येकम् "**णारगे**"त्यादि, अनन्तरोक्तपञ्चेन्द्रियमार्गणाभेदद्वयवद् वैक्रियषट्कस्य मतिज्ञानावरणादीनां पञ्चविंशतेः क्षपकप्रकृतीनां च प्रत्येक जघन्यस्थितिबन्धः "इस्सो भिन्नमुहुत्त" मित्यादि(१०६...) गाथात्रयेण तथा "दुसहस्सुदहीणूणो" इत्यादि(११०)गाथया चौघतोऽभिहितप्रमाणो ज्ञातव्यः, प्रस्तुतमार्गणाचतुष्केऽप्योघवदसंज्ञिपञ्चेन्द्रिय-चारित्रमोहक्षपकादीना वैक्रियषट्क-मतिज्ञानावरणादिक्षपकप्रकृतीनामौघिकजघन्यस्थितिबन्धस्वामिनां प्रवेशादिति।

शेषाणामाह—"**सेसाण**"मित्यादि, उक्तशेषाणामायुर्वर्जपञ्चाशीतिप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्तु "**बिंदियव्व**" त्ति द्वीन्द्रियौघमार्गणावत् पञ्चविंशतिसागरोपमाणां पल्योपमसंख्येयभागेनोनौ द्वौ सप्तभागौ भवेदित्यर्थः। एषोऽपि शेषप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धः पर्याप्तद्वीन्द्रिय-

स्वामिकः विज्ञेयः, सजातीयेषु पर्याप्तैरपर्याप्तापेक्षया ह्रस्वजघन्यस्थितिबन्धकरणात्, मार्गणाचतुष्के पर्याप्तद्वीन्द्रियाणां प्रविष्टत्वाच्चेति ॥१२५॥ सम्प्रति स्त्रीवेद-नपुंसकवेदयोराह—

थी-णपुमेसु वासा विग्घा-ऽऽवरणाण संखियसहस्सा ।
चउसंजलण-पुमाणं संखेज्जसया मुणेयव्वो ॥१२६॥
पलियाऽसंखियभागो साय-जसु-च्चाण होइ सेसाणं ।
पंचिंदियव्व थीए ओघव्व णपुंसगे णेयो ॥१२७॥

(प्रे०) "**थीणपुमेसु**" इत्यादि, स्त्रीवेद-नपुंसकवेदमार्गणयोः प्रत्येकं "**वासा**" त्ति पुंस्त्वं प्राकृतत्वात्, ततः 'वर्षाणि' सवत्सराणि, जघन्यस्थितिबन्ध इति गम्यते । कासां प्रकृतीनां कियन्ति संवत्सराणीत्याह—"**विग्घा-वरणाण संखियसहस्सा**" इत्यादि, विघ्नानां दानान्तरायादिलक्षणानां पञ्चान्तरायप्रकृतीनाम्, तथा-ऽऽवरणानां मति-श्रुता-ऽवधि मनःपर्यव-केवलज्ञानावरण-चक्षु-रचक्षु-रवधि-केवलदर्शनावरणभेदभिन्नानां नवानामित्येवं चतुर्दशप्रकृतीनां संख्येयसहस्राणि वर्षाणि, तथा चतुर्णां संज्वलनकषायाणां पुंवेदस्य चेत्येवं पञ्चानां प्रकृतीनां संख्येयशतानि वर्षाणि ज्ञातव्यानीति । '**पलियाऽसंखियभागो**' त्ति पल्योपमस्याऽसंख्येयभागः "**साय-जसु-च्चाण**" त्ति सातवेदनीय-यशःकीर्त्तिनामोच्चैर्गोत्रलक्षणानां तिसृणां प्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धो भवति । शेषप्रकृतीनामाह—"**सेसाणं**" इत्यादि, अनन्तराभिहिता दानान्तरायादिद्वाविंशतिप्रकृतीरपहाय शेषाणामायुर्वर्जानां प्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्तु "**पंचिंदियव्व थीए**" त्ति स्त्रीवेदमार्गणायां पञ्चेन्द्रियौघमार्गणावत्, तथा "**ओघव्व णपुंसगे णेयो**" त्ति नपुंसकवेदमार्गणायां त्वोघवज्ज्ञेय इत्यर्थः । **इदमुक्तं भवति**—स्त्रीवेदमार्गणायां संज्ञिनोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाश्च प्रविष्टाः, न पुनरेकेन्द्रियाः, नपुंसकवेदमार्गणायां त्वेकेन्द्रिया अपि निविष्टाः, किञ्चोक्तशेषप्रकृतिषु वैक्रियषट्का-ऽऽहारकद्विक-तीर्थकरनामलक्षणा नवप्रकृतीरपहाय शेषाऽऽयुर्भिन्नप्रकृतीनां सर्वस्तोकस्थितिबन्ध एकेन्द्रियैः क्रियते, इत्येवमोघवन्नपुंसकवेदमार्गणायामेकेन्द्रियाणामपि प्रविष्टत्वात् नपुंसकवेदमार्गणायामसावोघवदतिदिष्टः, स्त्रीवेदमार्गणायां तु शेषप्रकृतिसत्कौघिकजघन्यस्थितिबन्धस्वामिनामेकेन्द्रियाणामप्रवेशात् शेषप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धोऽप्योघवन्नातिदिष्टः, किन्तु पञ्चेन्द्रियौघमार्गणावदतिदिष्टः ।

कथम्? इति चेद्, उच्यते, पञ्चेन्द्रियौघमार्गणायां स्त्रीवेदमार्गणायां च शेषप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनामनन्यत्वात्, **अयम्भावः**—पञ्चेन्द्रियौघमार्गणायामेकेन्द्रियविकलेन्द्रियाणामप्रवेशेन यथा शेषपञ्चाशीतिप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियास्तथा स्त्रीवेदमार्गणायामपीति । वैक्रियषट्क-ऽऽहारकद्विक जिननाम्नामौघिकजघन्यस्थितिबन्धस्वामिनस्तु यथा ओघतः प्राप्यन्ते तथा पञ्चेन्द्रियौघे स्त्रीवेदमार्गणायां नपुंसकवेदमार्गणायां च प्राप्यन्ते इति ।

इत्थं वैक्रियपट्कादिनवप्रकृतीनां जघन्यस्थितिवन्धस्य प्रस्तुतमार्गणाद्वये ओघतुल्यत्वेऽपि स्त्रीवेदमार्गणायां पञ्चेन्द्रियौघवदतिदेशकरणं नवप्रकृतिवर्जशेषपञ्चाशीतिप्रकृतीनां जघन्यस्थितिवन्धप्रतिपादनाय कृतातिदेशेनैव तासां नवप्रकृतीनां जघन्यस्थितिवन्धप्रमाणप्रतिपादनसिद्धेर्लाघवार्थम्, न तु नवप्रकृतीनां नपुंसकवेदमार्गणाभाविजघन्यस्थितिवन्धापेक्षया विशेषप्रदर्शनार्थमिति ज्ञेयम् ।

एवं हि "**विग्घावरणाण**" इत्यादिनाऽभिहिता द्वाविंशतिप्रकृतीर्विहाय शेषाऽऽयुर्वर्जप्रकृतिषु तीर्थकरनामा-ऽऽहारकशरीरा-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणानां तिसृणां प्रकृतीनां जघन्यस्थितिवन्धः प्रस्तुतमार्गणाद्वयेऽप्योघवदन्तःकोटीकोटीसागरोपमाणि, एवमेव वैक्रियपट्कस्याप्योघवदेव; शेषाणां निद्रापञ्चकादीनां पञ्चाशीतिप्रकृतीनां तु नपुंसकवेदमार्गणायामोघवदेकेन्द्रियस्वामिकः पल्योपमाऽसंख्येयभागन्यूनसागरोपमत्रिसप्तभागादिप्रमाणः । स्त्रीवेदमार्गणायां तु तासां निद्रापञ्चका-ऽसातवेदनीयादीना पञ्चाशीतेरप्यसंज्ञिस्वामिकः पल्योपमसंख्येयभागन्यूनाः सागरोपमसहस्रस्य त्र्यादिसप्तभागा जघन्यस्थितिवन्धः प्राप्यते । निद्रापञ्चकादिप्रत्येकप्रकृतीनां विशेषतस्तु स्वयमेव द्रष्टव्य इति ॥१२६-१२७॥ अथ पुरुषवेदमार्गणायामाह--

विग्घा-ऽऽवरणाण पुमे समा सहस्सा सया व संखेज्जा ।
संखियसहस्सवासा साय-जसु-च्चाण विण्णेयो ॥१२८॥
णेयो सोलसवासा संजलणाणं चउण्ह अट्ठ समा ।
पुरिसस्स जाणियव्वो सेसाण पणिंदियव्व भवे ॥१२९॥

(प्रे०) "**विग्घावरणाण पुमे**" इत्यादि, पुरुषवेदमार्गणायां 'विघ्नावरणानाम्'-पञ्चान्तराय-पञ्चज्ञानावरण-चतुर्दर्शनावरणलक्षणानामुक्तस्वरूपाणां चतुर्दशप्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यस्थितिवन्धः "**समा**" त्ति 'समा' वर्षाणि, कियन्त्य इत्याह-**सहस्सा सया व संखेज्जा**' त्ति संख्येयानि सहस्राणि, संख्येयानि शतानि वेत्यर्थः । "**संखियसहस्सवासा**" संख्येयसहस्राणि 'वर्षाः'-वर्षाणि जघन्यस्थितिवन्धः "**सायजसुच्चाण विण्णेयो**" त्ति सातवेदनीय यशःकीर्त्युच्चैर्गोत्रलक्षणानां तिसृणां प्रकृतीनां विज्ञेयः । "**णेयो सोलसवासा संजलणाणं चउण्ह**" त्ति चतुर्णां क्रोधादिसंज्वलनकषायाणां जघन्यस्थितिवन्धः षोडश वर्षाणि ज्ञेयः । "**अट्ठसमा**" त्ति 'अष्टसमाः'-अष्टवर्षाणि जघन्यस्थितिवन्धः, कस्य ? "**पुरिसस्स जाणियव्वो**" त्ति 'पुरुषस्य'-पुरुषवेदस्य ज्ञातव्यः । उक्तं च **कषायप्राभृतचूर्णौ** चारित्रमोहक्षपणाऽधिकारे- 'सत्तण्ह णोकसायाण सकामयस्स चरिमो ठिदिबंधो पुरिसवेदस्स अट्ठ वस्साणि । संजलणाण सोलस्स वस्साणि । सेसाण कम्माण संखेज्जाणि वस्ससहस्साणि । इति ।

"**सेसाण पणिंदियव्व भवे**" त्ति अनन्तरोक्तदानान्तरायादिद्वाविंशतिप्रकृतीर्विहाय शेषाणामायुर्वर्जानां चतुर्नवतिप्रकृतीना जघन्यस्थितिवन्धस्तु पञ्चेन्द्रियौघवद्भवेत्, एष ह्यनन्तर-

गाथावृत्तौ स्त्रीवेदमार्गणायां दर्शितनीत्या विज्ञेयः, पुंवेदमार्गणायामपि स्त्रीवेदमार्गणावत्सञ्ज्ञिना-मिवाऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियजीवानामपि प्रवेशात् । इत्थं च शेषासु वैक्रियषट्का-ऽऽहारकद्विक-तीर्थकरनाम-प्रकृतीनां प्रत्येकमोघवत् । अन्यासां निद्रापञ्चका-ऽसातवेदनीयादीनां त्वसंज्ञिस्वामिकः पल्योपम-संख्येयभागहीनाः सागरोपमसहस्रस्य त्र्यादिसप्तभागा इति ।

तदेवमभिहितो गाथाचतुष्केण वेदत्रयेऽपि जघन्यस्थितिबन्धः । अपगतवेदमार्गणायां तु प्रागोघवदतिदिष्टः । इत्येवं समाप्तो वेदभेदेषु जघन्यस्थितिबन्धः ॥१२८-१२९॥ सम्प्रति कषाय-मार्गणाभेदेषु प्रस्तुतजघन्यस्थितिबन्धं प्रचिकटयिषुरादौ तावत्क्रोधमार्गणायामाह––

विग्घा-ऽऽवरणाण समा सया सहस्सा व संखिया कोहे ।
संखियसहस्सवासा साय-जसु-च्चाण विण्णेयो ॥१३०॥
चउसंजलणाण दुवे मासा सेसाण होइ ओघव्व ।

(प्रे०) "**विग्घावरणाणे**" त्यादि, "**कोहे**" त्ति क्रोधकषायमार्गणाभेदे 'विघ्नावरणानाम्' दानान्तरायाद्यन्तरायपञ्चक--मतिज्ञानावरणादिज्ञानावरणपञ्चक--चक्षुर्दर्शनावरणादिदर्शनावरणचतुष्क-लक्षणानां चतुर्दशप्रकृतीनां जघन्यः स्थितिबन्धः '**समाः**' वर्षाणि "**सया सहस्सा व संखिया**" त्ति सख्येयशतानि संख्येयसहस्राणि वा, इह "सया" इत्यादौ पुंस्त्वं प्राकृतत्वाद् ज्ञेयमिति । एव-मेवाग्रेऽपि, ततः "**संखियसहस्सवासा सायजसुच्चाण विण्णेयो**" त्ति संख्येयसहस्र-वर्षाणि जघन्यस्थितिबन्धः सातवेदनीय-यशःकीर्त्यु-च्चैर्गोत्रलक्षणप्रकृतित्रयस्य विज्ञेयः । चतुर्णां संज्व-लनानां तु "**दुवे मासा**" त्ति जघन्यस्थितिबन्धमानं द्वौ मासौ भवति । उक्तं च **कषायप्राभृत-चूर्णौ** चारित्रमोहक्षपणाधिकारे–'चरिमसमयकोहवेदगो जहण्णगो ठिदिउदिरगो । ताधे ठिदिबधो सज-लणाण दो मासा पडिपुण्णा' इति । उक्तशेषाणामाह–"**सेसाण होइ ओघव्व**" त्ति उक्तशेषाणा-मायुर्वर्जानां पञ्चनवतिप्रकृतीनां पुनर्जघन्यस्थितिबन्ध ओघवद्भवति । कुतः ? प्रस्तुतमार्गणायामपि नपुंसकवेदमार्गणावदेकेन्द्रियपर्यन्तानां शेषप्रकृतिसत्कौघिकजघन्यस्थितिबन्धस्वामिनां प्रवेशादिति ॥१३०॥ अथ मानमार्गणायामाह—

माणे वरिसपुहुत्तं हवए आवरण-विग्घाणं ॥१३१॥
संखा सहस्सवासा सायजसुच्चाण होअए अहवा ।
सत्तदसण्हं णेयो संखसहस्साणि वासाणि ॥१३२॥
संजलणमाणमायालोहाणं होइ तीसराइदिणा ।
ओघव्व जाणियव्वो सेसछणवतीअ पयडीणं ॥१३३॥

(प्रे०) "**माणे वरिसपुहुत्त**"मित्यादि, मानमार्गणायाम् '**आवरणविग्घानां**' यथोक्त-चतुर्दशप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धो वर्षपृथक्त्वं भवेत्। संख्येयानि वर्षसहस्राणि जघन्यस्थितिबन्धः "**सायजसुच्चाण होअए**" त्ति सातवेदनीय-यशःकीर्त्यु-च्चैर्गोत्राणां भवति। "**अहवा**" त्ति अथवा-मतान्तरेण "**सत्तदसण्हं**" ति अनन्तरोक्तानाम् आवरणविघ्नानां मतिज्ञानावरणादिलक्षणानां चतुर्दशानां तथा सातवेदनीय-यशःकीर्त्यु-च्चैर्गोत्रलक्षणानां त्रयाणामित्येवं सप्तदशप्रकृतीनामपि जघन्यस्थितिबन्धः संख्येयसहस्राणि वर्षाणि ज्ञेयः। संज्वलनमान-माया-लोभलक्षणानां तिसृणां प्रकृतीनां पुनः "**होइ तीसराइदिणा**" त्ति त्रिंशत् रात्रिंदिनाः, एको मासः परिपूर्णो जघन्यस्थितिबन्ध इत्यर्थः। उक्तं च **कषायप्राभृतचूर्णौ** क्षपणाधिकारे-"ताहे माणस्स चरिमसमयवेदगो। ताधे तिण्हं संजलणाण ट्ठिदिबंधो मासो पडिपुण्णो।" इति। अनन्तरोक्ता विंशतिप्रकृतीर्विहाय शेषाणामायुर्वर्जप्रकृतीनामाह-"**ओघव्वे**"त्यादि, सुगमम्। तत्तत्प्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धप्रमाणं विशेषतस्त्वोघवत्स्वयमेव व्याख्येयमिति ॥१३१-१३३॥ अथ मायामार्गणायामाह—

मायाए मासाणं पुहुत्तमावरण-अंतरायाणं।
णेयं वासपुहुत्तं साय-जसु-च्चाण पयडीणं ॥१३४॥
उअ सिं सत्तदसण्ह वि सहस्सवासा हवेज्ज संखेज्जा।
संजलणदुगस्स भवे पक्खं ओघव्व सेसाणं ॥१३५॥

(प्रे०) "**मायाए**" इत्यादि, मायामार्गणायां मतिज्ञानावरणादीनां नवानामावरणानां तथा दानान्तरायादीनां पञ्चानामन्तरायाणामित्येवं चतुर्दशप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धमानम् "**मासाणं पुहुत्तं**" ति मासपृथक्त्वं ज्ञेयम्। "**वासपुहुत्तं**" ति वर्षपृथक्त्वं जघन्यस्थितिबन्धमानं पुनः सातवेदनीय-यशःकीर्त्यु-च्चैर्गोत्रलक्षणानां तिसृणां प्रकृतीनां ज्ञेयम्। "**उअ**" त्ति 'उत' अथवाऽन्यमतेनैतासां सप्तदशानामपि प्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धः "**सहस्सवासा हवेज्ज संखेज्ज**" त्ति संख्येयानि सहस्रवर्षाणि भवेद्। "**संजलणदुगस्स**" त्ति सूत्रस्य सूचकत्वात् संज्वलनमाया-लोभलक्षणस्य संज्वलनद्विकस्य जघन्यस्थितिबन्धः "**भवे पक्खं**" ति एकं पक्षम्, अर्धमासः प्रतिपूर्णो भवेदित्यर्थः। उक्तं च **कषायप्राभृतचूर्णौ**-"ताधे मायाए चरमसमयवेदगो। ताधे संजलणाण ट्ठिदिबंधो अद्धमासो पडिवुण्णो। ...... । तिण्हं घादिकम्माण ठिदिबंधो मासपुधत्तं।" इत्यादि। अत्र पाठे 'तिण्हं घादिकम्माण' मित्यत्र प्रकृतित्रयस्य ग्रहणं मूलप्रकृत्यपेक्षया विज्ञेयम्, उत्तरप्रकृत्यपेक्षया तु मूलोक्ताश्चतुर्दशप्रकृतयः प्राप्यन्त इति। उक्तशेषाऽऽयुर्वर्जानामाह-"**ओघव्व सेसाण**" मिति, शेषप्रकृतिसत्कौघिकजघन्यस्थितिबन्धस्वामिनां प्रस्तुतमार्गणायामपि प्रवेशादिति प्राग्वदुपपाद्यमिति ॥१३४-१३५॥

अथ सामायिक-छेदोपस्थापनसंयममार्गणयोराह—

सामाइअ-छेएसुं णवावरण-पंचअंतरायाणं ।
होइ मुहुत्तपुहुत्तं अहवा होइ दिवसपुहुत्तं ॥१३६॥
मासपुहुत्तं णेयो सायजसुच्चाण होइ ओघव्व ।
पुम-संजलणाणंतोकोडाकोडिअयराऽत्थि सेसाणं ॥१३७॥ (गीतिः)

(प्रे०) "**सामाइअ**" इत्यादि, सामायिक छेदोपस्थापनसंयममार्गणाद्वये मतिज्ञानावरणादीनां नवानामावरणानां दानान्तरायादीनां पञ्चानामन्तरायाणामित्येवं चतुर्दशप्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्य-स्थितिबन्धः "**होइ मुहुत्तपुहुत्तं**" ति मुहूर्तपृथक्त्वं भवति । मतान्तरमाह–"**अहवा**" इत्यादि, अथवा तासामेव चतुर्दशप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धो दिवसपृथक्त्वं भवति । "**मास-पुहुत्तं णेयो**" त्ति प्रस्तुतजघन्यस्थितिबन्धो मासपृथक्त्वं ज्ञेयः, केषामित्याह–"**सायजसु-च्चाण**" इति गतार्थम् । उक्तं च–"तम्हि चेव लोभसजलणस्स ट्ठिदिबंधो अतोमुहुत्त। तिण्ह घादि-कम्माण ठिदिबंधो अहोरत्तस्स अनो। णामा-गोद-वेदणीयाणं बादरसंपराइयस्स जो चरिमो ट्ठिदिबधो सो सखेज्जेहिं वस्ससहस्सेहि हाइदूण वस्सस्स अतो जादो" इति । अत्राऽपि पाठे पूर्ववत् 'णामा गोद-वेदणी-याण'मित्यनेन यशःकीर्त्यु-च्चैर्गोत्र-सातवेदनीयान्येव क्रमेण विज्ञेयानि, लोभस्यान्तर्मुहूर्तप्रमाण-चरमस्थितिबन्धकाले यशःकीर्त्यादिवर्जनामादिप्रकृतीनां बन्धस्यैवाऽभावात् । अनया नीत्या 'तिण्हं घादिकम्माण'मित्यादिनाऽपि प्रस्तुता मतिज्ञानावरणादिप्रकृतय एव प्राप्यन्ते निद्रापञ्चकबन्धस्य पूर्वमेव विच्छेदादिति । "**होइ ओघव्व पुम-संजलणाण**"मित्यादि, पुरुषवेद-संज्वलनक्रोध-मान-माया-लोभलक्षणानां पञ्चानां प्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्त्वोघवदेव भवति; पुरुषवेदस्याऽष्टौ वर्षाणि, संज्वलनक्रोधादीनां तु क्रमेण द्वौ मासौ, एको मासः, एकं पक्षम् , अन्तर्मुहूर्तं च जघन्यस्थिति-बन्ध इत्यर्थः । कुत एतासां पञ्चप्रकृतीनामेवौघवत् , न पुनः पूर्वोक्तानां मतिज्ञानावरणादीनामपि ? इति चेद् , उच्यते, तत्तत्प्रकृतीनामौघिकजघन्यस्थितिबन्धस्वामिनां प्रवेशाऽप्रवेशात् ।

इदमुक्तं भवति–पूर्वोक्तमतिज्ञानावरणादिचतुर्दशप्रकृतीनामौघिकजघन्यस्थितिबन्धस्वा-मिनस्तु सूक्ष्मसम्परायचरमस्थितिबन्धे वर्तमाना जीवाः, वक्ष्यते च **स्वामित्वद्वारे**–

"हस्साअ ठिईअ भवे अतिमबधम्मि बधगो खवगो। सुहुमे आवरणन्तगसायजसुच्चपणविग्घाण॥" इति ।

पुवेद संज्वलनचतुष्कयोस्त्वनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थाः क्षपका जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनः वक्ष्यते च–"चउसजलणपुमाण अणियट्टीअ खलु सोदये सते" इति । प्रस्तुतमार्गणाद्वये तु क्षपकानि-वृत्तिबादराः प्रविष्टाः, क्षपकसूक्ष्मसम्परायास्तु न, इत्येवं पुंवेदसंज्वलनचतुष्कलक्षणपञ्चप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्ध ओघवत्प्राप्यते, न तु मतिज्ञानावरणादीनां चतुर्दशप्रकृतीनामिति ।

अथोक्तशेषाऽऽयुर्वर्जबन्धप्रायोग्यप्रकृतीनामाह–अंतोकोडाकोडी''त्यादि, शेषाणामायु-र्वर्जबन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धोऽन्तःकोटीकोटीसागरोपमाणि, अपूर्वान्तगुणस्थानवर्त्ति-नामेव तत्स्वामित्वात्, एतादृशसंयतानाम् त्वायुर्वर्जप्रकृतीनामुत्कृष्टो जघन्यो वा स्थितिबन्धो-ऽन्तःकोटीकोटीसागरोपमाण्येव जायते, ''साणाइअपुव्वंते अयरकोडिकोडीओ नऽहीणो । बंधो न हु हीणो' इति वचनात् । मार्गणाद्वयेऽपि बन्धप्रायोग्या आयुर्वर्जाः शेषप्रकृतय इमाः–निद्रा-प्रचला-ऽसात-वेदनीय-हास्यषट्क-देवद्विक पञ्चेन्द्रियजाति-वैक्रियद्विका-ऽऽहारकद्विक-तैजस-कार्मणशरीर-समचतुर-स्रसंस्थान वर्णचतुष्क- प्रशस्तविहायोगतिनामा-ऽगुरुलघु--निर्माणो-पघात-पराघातो--च्छ्वास तीर्थकर-नाम-त्रसनवका-ऽस्थिरा-ऽशुभा-ऽयशःकीर्त्तिनामलक्षणा द्विचत्वारिंशदिति ।।१३६-१३७।।

अथ चक्षुर्दर्शनमार्गणायामाह––

णयणे ओघव्व भवे वेउव्वियछक्क-खवगपयडीणं
चउइंदियव्व णेयो सेसपणासीइपयडीणं ।।१३८।।

(प्रे०) ''णयणे'' इत्यादि, 'नयने' चक्षुर्दर्शनमार्गणायां प्रस्तुतजघन्यस्थितिबन्ध ओघवद्भ-वेत्, कासां प्रकृतीनामित्याह––''वेउव्वियछक्क'' इत्यादि, देवगति-देवानुपूर्वी-निरयगति निर-यानुपूर्वी-वैक्रियदेह-वैक्रियाङ्गोपाङ्गप्रकृतिलक्षणस्य वैक्रियषट्कस्य तथा 'क्षपकप्रकृतीनाम्'-पञ्चज्ञा-नावरण चतुर्दर्शनावरण-सातवेदनीय-संज्वलनचतुष्क-पुरुषवेदा-ऽऽहारकद्विक-तीर्थकरनाम-यशःकीर्त्यु-च्चैर्गोत्रा-ऽन्तरायपञ्चकलक्षणानां पञ्चविंशतेरित्येवं समुदितानामेकत्रिंशत्प्रकृतीनां प्रत्येकम् । शेष-पञ्चाशीतिप्रकृतीनां तर्हि कियानित्याह–''चउइंदियव्वे''त्यादि, चतुरिन्द्रियौघमार्गणावत् साग-रोपमशतस्य पल्योपमसंख्येयभागेन न्यूनास्त्र्यादिसप्तभागा इत्यर्थः । कुतश्चतुरिन्द्रियौघवद् ? चक्षु-र्दर्शनमार्गणायामेक-द्वि-त्रीन्द्रियाणामप्रवेशात्, क्षपकाणां प्रविष्टत्वेऽपि तेषां शेषपञ्चाशीतिप्रकृतिबन्ध-स्वामित्वाभावाच्च पर्याप्तचतुरिन्द्रियजीवापेक्षया जघन्यस्थितिबन्धः प्राप्यते, स च चतुरिन्द्रियौघ-मार्गणायां पर्याप्तचतुरिन्द्रियमार्गणायां वा प्राग् दर्शितस्तावान् भवति । तथाहि–निद्रापञ्चका-ऽसात-वेदनीययोः पल्योपमसंख्येयभागेन न्यूनास्त्रयः सागरोपमशतस्य सप्तभागाः । मिथ्यात्वस्य सागरो-पमशतं पल्योपमसंख्येयभागेन न्यूनम् । संज्वलनवर्जकषायद्वादशकस्य सागरोपमशतस्य चत्वारः सप्तभागाः पल्योपमसंख्येयभागन्यूनाः । पुरुषवेदवर्जाष्टनोकषायाणां सागरोपमशतस्य द्वौ सप्तभागौ पल्योपमसंख्येयभागहीनौ जघन्यस्थितिबन्धः । एवमेव नीचैर्गोत्रस्य शेषनामप्रकृतीनां च तादृशौ पल्योपमसंख्येयभागोनौ द्वौ सप्तभागौ जघन्यस्थितिबन्धो वेदितव्यः । शेषा नामप्रकृतयस्तु सप्तषष्टिनामप्रकृतिभ्यो वैक्रियषट्का-ऽऽहारकद्विक–तीर्थकरनाम-यशःकीर्तिनामवर्जाः सप्तपञ्चाशदिति ।।१३८।। अथौपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायामाह–

अत्थि उवसमे ओघा दुगुणो बावीसखवगपयडीणं ।
अंतोकोडाकोडी अयरा सेसाण पयडीणं ॥१३९॥

(प्रे०) "**अत्थि उवसमे**" इत्यादि, औपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां जघन्यः स्थितिबन्धः "**ओघा दुगुणो**" त्ति 'ओघात्' ओघाऽपेक्षया, औधिकजघन्यस्थितिबन्धापेक्षया द्विगुणो भवति । कासां प्रकृतीनामित्याह–"**बावीसखवगपयडीणं**" ति व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेराहारकद्विकजिननामवर्जानां शेषाणां मतिज्ञानावरणादीनां द्वाविंशतेः क्षपकप्रकृतीनां प्रत्येकमित्यर्थः । कुतः ?, उच्यते–एतासां प्रकृतीनामोघतो जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनः क्षपकश्रेणिमारोहन्तश्चारित्रमोहक्षपकाः, तेषां च यावान् जघन्यस्थितिबन्धो जायते तदपेक्षया उपशमश्रेणिमारोहतामसौ द्विगुणो जायते, उपशमश्रेणितः प्रपततां ततोऽपि द्विगुणो भवति, उक्तञ्च **कर्मप्रकृतौ**–"खवगुवसामणपडिवयमाण दुगुणो य तहिं तहिं बन्धो" इति । प्रस्तुतमार्गणायां हि चारित्रमोहक्षपका नैव प्राप्यन्ते, उपशामकास्तु प्राप्यन्तेऽतः स्थितिबन्धोऽपि तासां द्वाविंशतिप्रकृतीनां चारित्रमोहोपशमकस्वामिकः क्षपकापेक्षया द्विगुण इति कृत्वौघापेक्षया द्विगुणः कथितः; स च ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्क-संज्वलनलोभा-ऽन्तरायपञ्चकलक्षणानां पञ्चदशप्रकृतीनां प्रत्येकमन्तर्मुहूर्तम्, केवलं बृहत्, ओघापेक्षया द्विगुणमित्यर्थः । सातवेदनीयस्य चतुर्विंशतिर्मुहूर्ता जघन्यस्थितिबन्धः । उच्चैर्गोत्र-यशःकीर्तिनाम्नोः षोडश मुहूर्ताः । संज्वलनक्रोधस्य चत्वारो मासाः । सञ्ज्वलनमानस्य द्वौ मासौ । संज्वलनमायायास्तु एको मासः । पुरुषवेदस्य षोडश वर्षाणीति । एता द्वाविंशतिप्रकृतीर्विहाय शेषाणां बन्धप्रायोग्याणामायुर्वर्जप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धमानमाह—"**अंतोकोडाकोडी अयरा**" इत्यादि, सुगमम् ।

शेषाः प्रकृतयस्तु नामत इमाः पञ्चपञ्चाशत्–निद्रा-प्रचला-ऽसातवेदनीया ऽप्रत्याख्यानावरणचतुष्क-प्रत्याख्यानावरणचतुष्क हास्यषट्क-देवद्विक-मनुष्यद्विक--पञ्चेन्द्रियजाति -शरीरपञ्चका-ऽङ्गोपाङ्गत्रिक-वज्रर्षभनाराचसंहनन-समचतुरस्रसंस्थान- वर्णचतुष्क-प्रशस्तविहायोगतिनामा-ऽगुरुलघु-निर्माणो-पघात पराघातो-च्छ्वास जिननाम--त्रसनवका-ऽस्थिरा -ऽशुभा -ऽयशःकीर्तिनामानीति ॥१३९॥

अथोक्तशेषमार्गणासु तुल्यवक्तव्यत्वाद् युगपज्जघन्यस्थितिबन्धमानमाह—

सेसासु मग्गणासु णेयो ओघव्व खवगपयडीणं ।
अंतोकोडाकोडी अयरा सेसाण पयडीणं ॥१४०॥

(प्रे०) "**सेसासु मग्गणासु**" इत्यादि, शेषादुक्तनिरयगत्योघादित्रिपञ्चाशदुत्तरशतमार्गणाव्यतिरिक्तासु मनोयोगादिसप्तदशमार्गणासु प्रत्येकं "**णेयो ओघव्व खवगपयडीण**"

ति यथोक्तसंज्ञानां मतिज्ञानावरणादीनां पञ्चविंशतेः क्षपकप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्ध ओघवज्ज्ञेयः, ओघवत्प्रस्तुतशेषसर्वमार्गणासु क्षपकप्रकृतीनामौघिकजघन्यस्थितिबन्धस्वामिनां सर्वविधचारित्रमोहक्षपकाणां प्रविष्टत्वात्। शेषाणामाह-"अंतोकोडाकोडी" त्यादि, उक्तव्यतिरिक्तानामायुर्वर्जानां तत्तन्मनोयोगसामान्यादिमार्गणासु बन्धप्रायोग्याणां शेषप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्त्वन्तःकोटीकोटीसागरोपमाणि जायते । कुतः ? शेषप्रकृतीनामन्तःकोटिकोटिसागरोपमप्रमाणाद्धीनस्थितिबन्धाक्षेपकाणामेकेन्द्रियाणां विकलेन्द्रियाणामसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामेतेभ्यश्च्युत्वा संज्ञितयोत्पद्यमानकार्मणकाययोगिजीवानां चैकतरस्यामपि शेषमार्गणायामप्रवेशात्, उक्तव्यतिरिक्तैः प्रविष्टजीवैस्तु जघन्यतोऽप्यन्तःकोटीकोटीसागरोपमप्रमाणस्यैव स्थितिबन्धस्य निर्वर्तनाच्च ।

शेषमार्गणास्तु नामत इमाः-मनोयोगसामान्यः, सत्या-ऽसत्य-मिश्र व्यवहारभेदाच्चत्वारो मनोयोगोत्तरभेदाः, सत्या-ऽसत्य मिश्रवचोयोगभेदभिन्नास्त्रयो वचनयोगोत्तरभेदाः मति श्रुता-ऽवधि-मनःपर्यवज्ञानभेदात् चत्वारो ज्ञानमार्गणाभेदाः, संयमौघा-ऽवधिदर्शन-शुक्ललेश्यासम्यक्त्वौघ क्षायिकसम्यक्त्वानि चेति । एतासु प्रत्येकं शेषा बन्धप्रायोग्यप्रकृतयो नामतस्त्वत्रैव द्वारे उत्तरप्रकृत्युत्कृष्टस्थितिबन्धप्रमाणग्रन्थे उक्तायाः 'सासायणमीसेसु' इत्यस्याः (७५) गाथायाः वृत्तितो स्वयमेवोन्नेयाः ॥१४०॥

तदेवमभिहितं सर्वमार्गणास्वायुर्वर्जबन्धप्रायोग्यसर्वोत्तरप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धप्रमाणम् । इदानीं शेषाणां बन्धप्रायोग्यायुषां तद् व्याचिकीर्षुरादौ तावदेकया गाथया सर्वमार्गणासु जघन्यामबाधां दर्शयति—

सव्वासु मग्गणासुं जाणेयव्वा जहण्णिया ऽबाहा ।
आऊण मुहुत्तंतो सप्पाउग्गाण सव्वाणं ॥१४१॥

(प्रे०) '**सव्वासु**' इत्यादि, आयुर्बन्धप्रायोग्यासु वैक्रियमिश्र-कार्मणकाययोगा-ऽपगतवेदसूक्ष्मसम्परायसंयमौ-पशमिकसम्यक्त्व सम्यग्मिथ्यात्वा-ऽनाहारकवर्जासु त्रिषष्ट्यधिकशतसंख्याकासु निरयगत्योघादिषु सर्वासु मार्गणासु ज्ञातव्या, का कियत्यत आह-"**जहण्णिया**" इत्यादि, 'स्वप्रायोग्याणाम्'-तत्तन्निरयगत्योघादिमार्गणासु बन्धप्रायोग्याणां प्रकृतिबन्धेऽभिहितनाम्नां सर्वेषामायुषां जघन्याऽबाधा "**मुहुत्तंतो**" त्ति अन्तर्मुहूर्तम्, कुतः ? आयुःप्रकृतिबन्धस्वामिनां सर्वविधजीवानामसंक्षेप्याद्धायामायुर्बन्धस्याविरुद्धत्वात् ॥१४१॥

तदेवमभिहिता सर्वासु मार्गणासु बन्धप्रायोग्यायुषां जघन्याबाधा । साम्प्रतं तास्वेवाऽनुभवयोग्यजघन्यस्थितिबन्धस्य प्रमाणं प्रदर्शयन्नाह-

सव्वणिरयभेएसुं देवे वेउव्वियम्मि विण्णेयो ।
सप्पाउग्गाऊणं लहुठिइबंधो मुहुत्तंतो ॥१४२॥

(प्रे०) "**सव्वणिरयभेएसु**" इत्यादि, सर्वेष्वष्टसंख्याकेष्वोघोत्तरभेदभिन्नेषु निरयभेदेषु देवगत्योघे वैक्रियकाययोगे चेत्येवं समुदितासु दशमार्गणासु प्रत्येकं स्वप्रायोग्यायुषोः '**लघुः**' जघन्यः स्थितिबन्धो '**मुहूर्तान्तः**' अन्तर्मुहूर्तं ज्ञातव्यः। तत्र सप्तमपृथिवीनिरयभेदवर्जेषु नवमार्गणास्थानेषु मनुष्य-तिर्यगायुषी बन्धप्रायोग्ये, सप्तमपृथिवीनिरयभेदे तु केवलं तिर्यगायुरेवेति ॥१४२॥

अथ देवगत्युत्तरभेदेषु प्रदर्शयन्नाह—

भवणेसाइसुरेसुं जहारिहं आगमाणुसाराओ।
भिन्नमुहुत्तपभीई जा णेयो हायणपुहुत्तं ॥१४३॥

(प्रे०) "**भवणेसाई**"त्यादि, 'भवनेशादिसुरेषु' भवनपत्यादिषु सर्वार्थसिद्धान्तेष्वेकोनत्रिंशत्यपि देवगत्युत्तरमार्गणास्थानेषु प्रत्येकं जघन्यस्थितिबन्धः "**जहारिहं आगमाणुसाराओ**" त्ति यथार्हं **व्याख्याप्रज्ञप्त्याद्यागमानुसाराद्**, ज्ञेय इत्युत्तरार्धेऽन्वयः। सामान्यतोऽसौ कियान् भवतीत्याह—"**भिन्नमुहुत्ते**"त्यादि, केषुचिद्देवभेदेषु भिन्नमुहूर्तम्, यथा भवनपत्यादिषु, केषुचिद्देवभेदेषु त्वसावन्तर्मुहूर्तादधिको यावदनुत्तरविमानेषु जघन्यतोऽपि "**हायणपुहुत्तं**" ति 'हायनपृथक्त्वम्' वर्षपृथक्त्वं जायते। अत्र मध्यगेषु देवगतिभेदेषु त्वसौ नानाविधो मतमतान्तरेण यथा **मूलस्थितिबन्धविधाने** 'भवणेसाइसुरेसुं जहारिहं आगमाणुसाराओ। भिन्नमुहुत्तपभीई जा णे हायणपुहुत्तं' ॥७२॥ इत्यस्या गाथाया वृत्तौ व्याख्यातस्तथैव **श्रीपञ्चमाङ्ग-जीवाजीवाभिगम-पञ्चसंग्रह जीवसमास-महाबन्धादिग्रन्थभेदेन** द्रष्टव्य इति ॥१४३॥

अथाऽऽहारकाऽऽहारकमिश्रकाययोगमार्गणयोः प्रस्तुतमायुष्कजघन्यस्थितिबन्धमानं दर्शयन्नाह—

आहारदुगे मरिउं जहण्णओ लंतगम्मि उप्पाओ।
संघयणीए उत्तो पल्लपुहुत्तं परे बिंति ॥१४४॥

(प्रे०) "**आहारदुगे**" इत्यादि, इयं गाथा तु शब्दतोऽर्थतश्च सर्वथैव **मूलप्रकृतिस्थितिबन्धविधाने** जघन्यायुःस्थितिबन्धमानव्याख्यानावसरे व्याख्याता तथैव व्याख्येया, अक्षरतोऽप्युभयत्र तुल्यत्वाद् आयुषो बन्धप्रायोग्योत्तरप्रकृतेरेकमात्रत्वाच्च, केवलं तत्र मूलप्रकृतेः प्रस्तुतत्वादायुःसामान्यमधिकृत्य व्याख्याता; अत्र तूत्तरप्रकृतेः प्रस्तुतत्वाद्बन्धप्रायोग्यदेवायुरधिकृत्य व्याख्येयेति ॥१४४॥ अथ ज्ञानत्रिकाऽवधिदर्शनयोराह—

णाणतिगे ओहिम्मि य सम्म-खइअ-वेअगेसु बोद्धव्वो।
मणुयसुराऊण कमा वासपुहुत्तं अहियपल्लं ॥१४५॥

(प्रे०) "णाणतिगे" इत्यादि, मनःपर्यवज्ञानमार्गणायामनन्तरगाथया वक्ष्यमाणत्वात् तद्वर्जे मतिज्ञान-श्रुतज्ञाना-ऽवधिज्ञानमार्गणात्रयलक्षणे ज्ञानत्रिके, अवधिदर्शने, चकारस्समुच्चये, स च 'वेअगेसु' इत्यस्यानन्तरं योज्यः। सम्यक्त्वौघ-क्षायिकसम्यक्त्व वेदकसम्यक्त्वेषु चेत्येवं सप्तमार्गणासु प्रत्येकम् "मणुयसुराऊण कमा" त्ति 'क्रमात्'-यथासंख्यम् मनुज-सुरायुषोः प्रस्तुतो जघन्यस्थितिबन्धो वर्षपृथक्त्वम् "अहियपल्लं" अभ्यधिकं पल्योपमम्। अयम्भावः—प्रस्तुत-प्रत्येकमार्गणासु मनुष्यायुषः स्वामिनः सम्यग्दृष्टयो देवा नारकाश्च, ते च मनुष्यायुर्जघन्यतोऽपि वर्षपृथक्त्वस्थितिकं निर्वर्तयन्ति, यथाऽनुत्तरवासिनः सुराः। कुतः? तेषां सम्यग्दृष्टित्वेनान्तर्मुहूर्तादिलक्षणह्रस्वस्थितिष्वनुत्पत्तेः। देवायुषः स्वामिनस्त्वविरतसम्यग्दृष्टयस्तिर्यग्-मनुष्याः एते च जघन्यतोऽपि सौधर्मकल्पे साधिकपल्योपमस्थितिकदेवतयोत्पद्यन्ते ततो देवायुषः स्थितिबन्धोऽपि तावानभिहित इति। मतान्तरतस्तु पल्योपमस्थितिकस्याऽपि बन्धो द्रष्टव्य इति ॥१४५॥

अथ यासु संयता देशसंयता वा बन्धप्रायोग्याऽऽयुषो जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनस्ता मार्गणाः संगृह्याऽऽह—

मणणाण-संजमेसुं समइअ-छेअ-परिहार-देसेसुं।
देवाउस्स पुहुत्तं णेयो पलिओवमाणं तु ॥१४६॥

(प्रे०) "मणणाणे"त्यादि, मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिकसंयम-देशसंयमलक्षणासु षण्मार्गणासु प्रत्येकं देवायुषो जघन्यः स्थितिबन्धः पल्योपमपृथक्त्वं ज्ञेयः। उपपत्तिस्तु **मूलप्रकृतिस्थितिबन्धे**ऽभिहितायाः 'मणपज्जवणाणे तह सजम-सामइय-छेअ-देसेसु। परिहारविसुद्धीए णेयो पलिओवमपुहुत्त ॥७५॥' इत्यस्याः गाथाया वृत्तौ यथा कृता तथा कार्या, प्रस्तुतसर्वमार्गणास्वेकस्य देवायुष एव बन्धसद्भावेनोभयत्राविशेषादिति ॥१४६॥

अथ शुभलेश्यात्रये प्रस्तुतमायुःप्रकृतिजघन्यस्थितिबन्धमानमाह—

सुहलेसासु कमा दस सहस्सवासाणि सागरा दोण्णि।
अट्ठार सुराउस्स उ सेसाण सुराणुसारेणं ॥१४७॥

(प्रे०) "सुहलेसासु" इत्यादि, 'शुभासु' प्रशस्तासु तेजःपद्मशुक्लाभिधासु तिसृषु 'लेश्यासु' लेश्यामार्गणासु "कमा" त्ति क्रमात् जघन्यस्थितिबन्धो ज्ञेयः, कियानित्याह—"दस सहस्स-वासाणि" इत्यादि, दश सहस्रवर्षाणि, द्वे सागरोपमे, "अट्ठार" त्ति 'सागरा' इत्यनुवर्तते, ततोऽष्टादश सागरोपमाणि च। देव-मनुष्य-तिर्यगायुषां मध्ये कस्यायुषः? इत्याह— "सुराउस्स" त्ति देवायुषः। कुतस्तावत्प्रमाणः? इति चेद्, उच्यते, तत्तच्छुभलेश्याकदेवानां जघन्यस्थितेस्तावत्प्रमाणत्वात्।

अयम्भावः–तेजोलेश्याकदेवानां जघन्या भवस्थितिः दशसहस्रवर्षाणि, पद्मलेश्याकानां तु द्वे सागरोपमे, शुक्ललेश्याकानां त्वष्टादश सागरोपमाणि च। तां तां जघन्यां स्थितिं मनुष्यास्तिर्यञ्चो वा तत्तल्लेश्यापरिणताः सन्तो बध्नन्ति, इत्थं च तत्तल्लेश्यायां देवायुषो जघन्यस्थितिबन्धोऽपि यथोक्तः प्राप्यते, केवलं मूले **"सागरा दोण्णि"** इत्यनेन यः पद्मलेश्यायामायुषो जघन्यस्थितिबन्धः सागरोपमद्वयमभिहितः, स पल्योपमासंख्येयभागेनाऽभ्यधिको विज्ञेयः, लाघवार्थं मूलेऽधिकांशस्याऽदर्शितत्वात्, कस्मादधिको विज्ञेयः ? इति चेद्, पद्मलेश्याकदेवानां जघन्यायुषः पल्योपमाऽसंख्येयभागेनाऽभ्यधिकसागरोपमद्वयप्रमाणत्वात्। उक्तं च **श्रीमत्युत्तराध्ययने लेश्याध्ययने**—

'दस वाससहस्साइ तेऊइ ठिई जहन्निया होइ। दुण्णुदही पलिओवमअसंखभागं च उक्कोसा ॥५४॥
जा तेऊइ ठिई खलु उक्कोसा सा उ समयमब्भहिया। जहन्नेण पम्हाए ·· ··· '॥५५॥ इति।

न च शुक्ललेश्यायामनया नीत्याऽपि देवायुषो जघन्यस्थितिबन्धो दश सागरोपमाण्येव प्राप्येत, उक्तस्त्वष्टादश सागरोपमाणीति कथं न दोष इति वाच्यम्। यतः **श्रीप्रज्ञापनोत्तराध्ययनसूत्रा**द्यभिप्रायेण तथात्वेऽपि **बन्धस्वामित्वा**द्यभिप्रायेण सनत्कुमारादिसहस्रारान्तानां देवानां पद्मलेश्यां तदुपरितनवर्तिनां तु तेषां शुक्ललेश्यां चाभिप्रेत्य प्रस्तुतेऽष्टादश सागरोपमाण्यभिहित इत्यदोषः। श्री**प्रज्ञापना**द्यभिप्रायेण तु सोऽन्यथाऽपि स्वयमेव द्रष्टव्यः। सहस्रारकल्पान्तानां पद्मलेश्या तु प्राग् **मूलप्रकृतिस्थितिबन्धविधाने** 'तेउपउमासु अयरा दो अट्ठारहे'त्यादि(७३)गाथावृत्तौ व्युत्पादिता जिज्ञासुना तत एव विलोकनीयेति।

अथ प्रस्तुतमार्गणात्रये शेषायुःप्रकृत्योर्जघन्यस्थितिबन्धमानं दिदर्शयिषुराह—**"सेसाण"** त्ति 'शेषयोः' तेजःपद्मलेश्ययोस्तिर्यग्मनुष्यायुषोः, शुक्ललेश्यायां मनुष्यायुषश्चेत्यर्थः, किम् ? **"सुराणुसारेणं"** ति जघन्यस्थितिबन्धः 'सुरानुसारेण' तत्तत्तेजोलेश्याकादिदेवानां बन्धप्रायोग्यजघन्यस्थितिबन्धानुसारेण विज्ञेयः। कस्मात् ? मार्गणात्रयेऽपि देवानामेव शेषायुषोर्जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वात्। इत्थं च तेजोलेश्यायां मनुष्यायुषो जघन्यस्थितिबन्धमानं मासपृथक्त्वम्, तिर्यगायुषस्त्वदोऽन्तर्मुहूर्तम्। पद्मलेश्यायामपि तिर्यगायुषस्त्वेवमेव, मनुष्यायुषस्तु वर्षपृथक्त्वम्। शुक्ललेश्यायामपि मनुष्यायुषो जघन्यस्थितिबन्धो वर्षपृथक्त्वमेव विज्ञेयः। इदं हि जघन्यस्थितिबन्धमानं प्राग् मूलप्रकृतिस्थितिबन्धे "भवणेसाइसुरेसु जहारिहं" इत्यस्या गाथाया वृत्तौ दर्शितनीत्या **पञ्चसङ्ग्रहा**भिप्रायेण व्युत्पादनीयम्। **पञ्चसंग्रह-महाबन्धकारास्तु** तेजोलेश्यायां मनुष्य-तिर्यगायुषोर्जघन्यस्थितिबन्धप्रमाणमन्तर्मुहूर्तम्, पद्मलेश्यायां तूभयोरपि दिवसपृथक्त्वम्, तथा शुक्ललेश्यायां मनुष्यायुषस्तत् मासपृथक्त्वं वदन्तीति ॥१४७॥

अथोक्तशेषमार्गणासु प्रस्तुतमायुषो जघन्यस्थितिबन्धमानमभिधित्सुराह—

सेसासु आऊणं सप्पाउग्गाण होइ ओघव्व ।
णवरुदही किण्हाए दस णिरयाउस्स तिण्णि णीलाए ॥१४८॥ (गीतिः)
पल्लासंखंसो उण अत्थि सुराउस्स णील-काऊसु ।
णेयो भिन्नमुहुत्तं तिरिय-णराऊण सासाणे ॥१४९॥

(प्रे०) "**सेसासु**" इत्यादि, अनन्तरम् 'सव्वणिरयभेएसु' इत्यादिगाथाषट्केनाऽभिहिता निरयगत्योघादिसप्तपञ्चाशन्मार्गणाः संत्यज्य शेषास्वायुर्बन्धप्रायोग्यषडुत्तरशतमार्गणासु बन्धमधिकृत्य स्वप्रायोग्याणामायुषाम् "**होइ ओघव्व**" त्ति जघन्यस्थितिबन्ध ओघवत्क्षुल्लकभवप्रमाणस्तिर्यग्मनुष्यायुषोर्दशवर्षसहस्राणि च नरक-देवायुषोर्भवतीत्यर्थः । किं शेषसर्वासु सर्वेषामुतास्ति कस्याश्चित्कस्यचिद्विशेषोऽपीत्यत आह–'**णवरुदही**' इत्यादि, नवरम् '**उदही किण्हाए दस णिरयाउस्स**' त्ति शेषमार्गणाऽन्तःप्रविष्टायां कृष्णलेश्यामार्गणायां निरयायुषो जघन्यस्थितिबन्धो दश 'उदधयः' सागरोपमाणि भवति । तथा "**तिण्णि णीलाए**" त्ति 'उदही'त्यनुवर्तते 'णिरयाउस्स' इति घण्टालालान्यानेनात्राऽपि सम्बध्यते च, तथाच नीललेश्यामार्गणायां निरयायुषो जघन्यस्थितिबन्धस्त्रीणि सागरोपमाणि जायत इत्यर्थः ।

अत्र हि कृष्णलेश्यायां नीललेश्यायां चापोद्याभिहितोऽपि निरयायुषो जघन्यस्थितिबन्धः पल्योपमाऽसंख्येयभागेनाभ्यधिको द्रष्टव्यः । कुतः ? तत्तल्लेश्याकनैरयिकाणां जघन्यभवस्थितेः क्रमेण पल्योपमाऽसंख्यांशाभ्यधिकदश-त्रिसागरोपमप्रमाणत्वात् । तथा चोक्तं **श्रीमति उत्तराध्ययन-शास्त्रे** लेश्याध्ययने नारकजीवानधिकृत्य कृष्णादिलेश्याया जघन्यस्थितिं प्रतिपादयता शास्त्रकृता–

"तिण्णुदहीपलिओवममसंखभागो उ जहण्णनीलठिई । दसउदहीपलिओवमअसखभाग च उक्कोसा ॥४२॥
दसउदहीपलिओवममसखभागं जहन्निया होइ । तित्तीससागराइं उक्कोसा होइ किण्हाए ॥४३॥" इति ।
मतान्तरेण तु यथासंख्यं दश सप्तदश च सागरोपमाणीति विज्ञेयमिति ।

अथ देवायुषो जघन्यां स्थितिमपवदति–"**पल्लासंखंसो उण**" इत्यादि, नील-कापोतलेश्ययोः प्रत्येकं 'सुरायुषः' देवायुषो जघन्यस्थितिबन्धः पल्योपमस्याऽसंख्यांशो भवति, न पुनर्यथोत्सर्गमोघवद् दशवर्षसहस्राणीत्यर्थः । अत्र हि मार्गणाद्वयेऽपोद्य पल्योपमासंख्येयभागप्रमाणोऽभिहितोऽप्ययं देवायुषो जघन्यस्थितिबन्धो न मार्गणाद्वयेऽपि तुल्यः किन्तु यावान् नीललेश्यायां ततः पल्योपमासंख्येयभागेनाभ्यधिकः कापोतलेश्यायाम् । कथमिति चेद्, नील-कापोतलेश्याकदेवानां जघन्यभवस्थितेस्तथात्वात् । उक्तं च **श्रीमत्युत्तराध्ययनसूत्रे** लेश्याध्ययने–

'दसवाससहस्साइं किण्हाए ठिई जहण्णिआ होइ । पलिअमसंखिज्जइमो उक्कोसो होइ किण्हाए ॥४८॥
जा किण्हाइ ठिई खलु उक्कोसा सा उ समयमब्भहिआ । जहन्नेण नीलाए पलिअमसंखं च उक्कोसा ॥४९॥
जा नीलाइ ठिई खलु उक्कोसा सा उ समयमब्भहिआ । जहन्नेण काऊए ॥५०॥' इति ॥

अथ सासादनमार्गणायां तिर्यग्नरायुर्जघन्यस्थितिबन्धप्रमाणविषयमपवादमाह–**"णेयो भिन्नमुहुत्त"**मित्यादि, सासादनमार्गणायां तिर्यग्नरायुषोर्भिन्नमुहूर्तं ज्ञेयः, न पुनर्यथोत्सर्गं क्षुल्लकभवः, मिथ्यादृष्टीनामेवाऽपर्याप्ततयोत्पत्तेस्तेषामेव क्षुल्लकभवमानसर्वजघन्यायुर्बन्धसम्भवादिति ।

इत्थं चाऽपोदिते शेषमार्गणासु बन्धप्रायोग्यायुषां जघन्यस्थितिबन्ध एतावान् लभ्यते–तिर्यग्गत्योघ-पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघ-तत्पर्याप्त-तिरश्री मनुष्यौघ-तत्पर्याप्तभेद- मानुषी-पञ्चेन्द्रियौघ-तत्पर्याप्तभेद-त्रसकायौघ-तत्पर्याप्तभेद–सर्वमनोयोगभेद-सर्ववचोयोगभेद--काययोगसामान्यौ-दारिककाययोग-वेदत्रयी--कषायचतुष्टया-ऽज्ञानत्रिका-ऽसंयम--चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शन-भव्या-ऽभव्य -मिथ्यात्व--संज्ञ्य-ऽसंज्ञ्या-ऽऽहारकरूपासु द्विचत्वारिंशन्मार्गणासु प्रत्येकं तिर्यग्मनुष्यायुषोः क्षुल्लकभवः, देवनरकायुषोस्तु दशवर्षसहस्राणि जघन्यस्थितिबन्धः । कृष्ण-नील-कापोतलेश्यामार्गणात्रये तिर्यग्मनुष्यायुषोः क्षुल्लकभवः, निरयायुषस्तु कृष्णादिषु यथासंख्यं साधिकदशसागरोपमाणि, साधिकसागरोपमत्रयम्, दशवर्षसहस्राणि । देवायुषः पुनर्नीलकापोतलेश्ययोः पल्योपमाऽसंख्येयभागमानः, कृष्णायां तु दशवर्षसहस्राण्येव । सासादनमार्गणायां तिर्यग्मनुष्यायुषोरन्तर्मुहूर्तम्, देवायुषस्त्वोघवद्दशवर्षसहस्राण्येव । शेषास्वपर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तमनुष्य-सर्वैकेन्द्रियभेद सर्वविकलेन्द्रियभेदा-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-पृथिवीकायादिवनस्पतिकायान्तपञ्चकायमूलोत्तरसर्वभेदा ऽपर्याप्तत्रसौ-दारिकमिश्रकाययोगरूपासु बन्धप्रायोग्यस्य तिर्यगायुषो मनुष्यायुषो वा जघन्यस्थितिबन्धः क्षुल्लकभवमानः । सर्वत्र जघन्याबाधा त्वसंक्षेप्याद्धालक्षणा प्रागभिहितेति ॥१४८–१४९॥

तदेवं प्रतिपादितं भणितशेषाऽऽयुःप्रकृतिजघन्यस्थितिबन्धप्रमाणमादेशतोऽपि, प्रतिपादिते च तस्मिन् गतं प्रथमं स्थितिबन्धप्रमाणाभिधं द्वारम् ॥

॥ इति प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते बन्धविधाने उत्तरप्र०स्थितिबन्धे
द्वितीयाधिकारे प्रथमं स्थितिबन्ध-
प्रमाणद्वारं समाप्तम् ॥



द्वितीयं स्वामित्वद्वारम्

अथ द्वितीयस्वामित्वद्वारावसरः, तत्रादावुत्कृष्टपदे स्वामित्वं प्रदिदर्शयिपुर्लाघवार्थी प्रकृतिसंग्रहगाथा आह—

अत्थ जयाई वोच्छिमु एआउ तयाइगा कमा गेज्झा ।
[2]णिरय-[2] विउवदुग-[1] णपुमा [1]असाय- [1]सोगा- [1]ऽरई [1]हुंडं॥१५०॥
[1]णीअं [3]अथिरतिग- [1]अजस- [1]ऽणाइज्जाणि [1]परघाय- [1]ऊसासा ।
[3]वायरतिग- [1]तस- [1]कुखगइ- [1]पणिंदि- [1]दूस्सर- [1]छिवट्ठाणि ॥१५१॥
[1]उरलोवंगु- [1]ज्जोआ [1]उरल- [2]तिरिक्खदुग- [1]आय- [1]वेगिंदी ।
[1]थावर- [3]सुहुमतिग- [3]विगल- [2]सुर- [2]णरदुग- [1]उच्चगोआणि ॥१५२॥
[1]सायं तह [1]हस्स- [1]रई [1]थिर- [1]सुह- [1]जस- [3]सुहगतिग- [1]सुखगइ- [1]पुमा ।
[1]पढम-[1] दुइअ- [1]तइअ- [1]तुरिअ- [1]पंचमसंघयणआगिइ- [1]थी ॥१५३॥

(प्रे०) "अत्थ जयाई" इत्यादि, "अत्थ" त्ति अत्र=भण्यमानोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वे "जयाई वोच्छिमु एआउ" त्ति एतास्वनुपदं 'णिरय-विउवदुगे'त्यादिना सार्धगाथात्रयेण क्रमशो वक्ष्यमाणासु षट्षष्टिप्रकृतिषु यदादिकाः प्रकृतीर्वक्ष्यामः, अनन्तरं "णपुमाइगवीसे"त्यादिना नपुंसकवेदाद्यां यां प्रकृतिमादौ कृत्वा यावतीर्विंशत्याद्याः प्रकृतीर्भणिष्याम इत्यर्थः । "तयाइगा कमा गेज्झा" त्ति तदादिकास्तावत्यो विंशत्याद्याः प्रकृतयः 'क्रमात्'-गाथोक्तक्रमेण ग्राह्या इत्यर्थः । संगृहीताः प्रकृतीरेव क्रमेणाह—"णिरयविउवे"त्यादि, तत्र 'दुग'शब्दस्य प्रत्येकं योजनात्, निरयद्विकं निरयगति-निरयानुपूर्वीलक्षणम्, वैक्रियद्विकं वैक्रियशरीर-वैक्रियाङ्गोपाङ्गलक्षणम्, नपुंसकवेदः, असातवेदनीयम्, शोकाऽरती, "हुंडं" ति चरमं हुंडसंज्ञं संस्थानम् । "णीअं" ति नीचैर्गोत्रम् "अथिरतिगे"त्यादि, अस्थिरा-ऽशुभ-दुर्भगनामप्रकृतित्रयलक्षणमस्थिरत्रिकम्, अयशःकीर्तिनाम, अनादेयनाम, पराघातनाम, उच्छ्वासनाम, "बायरतिगे"त्यादि, बादर-पर्याप्त-प्रत्येकनामप्रकृतित्रयलक्षणं बादरत्रिकम्, त्रसनाम, कुखगतिनाम, अप्रशस्तविहायोगतिनामकर्मेत्यर्थः । तदनु पञ्चेन्द्रियजातिनाम, दुःस्वरनाम, सेवार्तसंहनननाम च । "उरले"त्यादि, औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम, उद्योतनाम, "उरल" त्ति औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नोऽनन्तरमेव गृहीतत्वाद् औदारिकशरीरनाम, तिर्यग्द्विकं तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्वीप्रकृतिद्वयलक्षणम्, आतपनाम, एकेन्द्रियजातिनाम च । "थावरे"त्यादि, स्थावरनाम, "सुहुमतिग" त्ति सूक्ष्मा-ऽपर्याप्त-साधारणनामप्रकृतित्रयलक्षणं सूक्ष्मत्रिकम्, "विगल" त्ति त्रिकशब्दस्यात्रापि योजनाद् द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-

जातिनामप्रकृतित्रयलक्षणं विकलत्रिकमित्यर्थः । "**सुरणरदुग**" त्ति द्विकशब्दस्य प्रत्येकं योजनाद् देवगति-देवानुपूर्विप्रकृतिद्वयलक्षणं देवद्विकं नरगतिनरानुपूर्विप्रकृतिद्वयलक्षणं नरद्विकं चेत्यर्थः । उच्चैर्गोत्रम्, "**सायं**' ति सातवेदनीयम्, तथाशब्दः समुच्चये । हास्यमोहनीयम्, रतिमोहनीयम्, स्थिर-शुभ-यशःकीर्तिनामानि "**सुभगतिग**" त्ति सुभग-सुस्वरा ऽऽदेयनामप्रकृतित्रयलक्षणं सुभगत्रिकम्, सुखगतिः, प्रशस्तविहायोगतिनामेत्यर्थः । "**पुम**" त्ति पुरुषवेदः । "**पढमे**" त्यादि, अत्र 'संघयणआगिइ' इतिपदद्वयस्य प्रथमादिना प्रत्येकं योजनात् प्रथमसंहननसंस्थाने, द्वितीयसंहननसंस्थाने तृतीयसंहननसंस्थाने, तुर्यसंहननसंस्थाने, पञ्चमसंहननसंस्थाने इत्येवमनेन दशप्रकृतयः संगृहीता विज्ञेयाः । "**थी**" त्ति स्त्रीवेदमोहनीयं चेति ।।१५०-१५३।।

तदेवं लाघवार्थमुत्तरत्रग्राह्यप्रकृतीरिष्टक्रमेण व्यवस्थाप्यादावोघेत उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वं व्याचिकीर्षुर्लाघवार्थमेव सर्वप्रकृतिस्वामित्वविषयां सामान्यवक्तव्यतां कथयति——

सव्वाण बंधगो खलु पज्जत्तीहि सयलाहि पज्जत्तो ।
सागारो जागारो सुओवजुत्तो गुरुठिईए ।।१५४।।

(प्रे०) "**सव्वाणे**"त्यादि, ओघतो मतिज्ञानावरणादीनां सर्वासां विंशत्युत्तरशतसंख्याकानामुत्तरप्रकृतीनां प्रत्येकं "**गुरुठिईए**" त्ति अनन्तरे **स्थितिबन्धप्रमाणद्वारे** "आवरणपचणिद्दा-अमायविग्घाण सागरा तीसा" इत्यादिगाथापञ्चकेनाऽभिहितायाः कर्मरूपतावस्थानलक्षणोत्कृष्टस्थितेः "**बंधगो**" त्ति 'बन्धकः' स्वामी "**पज्जत्तीहि सयलाहि पज्जत्तो**" त्ति 'सकलाभिः'-अन्यूनाभिराहार शरीरे-न्द्रियो-च्छ्वास-भाषा-मनोलक्षणाभिः षड्भिः कुत्रचिच्चतुरिन्द्रियादिमार्गणादौ सकलाभिरिति स्वप्रायोग्याभिः पञ्चभिश्चतुर्भिर्वा पर्याप्तिभिः पर्याप्तः, पुनः किंविशिष्ट इत्याह-"**सागारो**" इत्यादि, साकारेण-विशेषावबोधलक्षणेनोपयोगेनोपयुक्तोऽपि ज्ञानज्ञानिनोरभेदनयेन साकारस्तथा "**जागारो**" त्ति 'जाग्रत्' अनुदितनिद्रः, "**सुओवजुत्तो**" त्ति साभिलापज्ञानोपयुक्तः, एवम्भूतो यो भवति स एव सामान्यतो विज्ञेयः, न तूक्तविपरीतः सकलपर्याप्तिभिरपर्याप्त इत्यादिविशेषणैर्विशिष्ट इति भावः । एतेषां पदानां विस्तरार्थस्त्वस्मिन्नेव ग्रन्थे **मूलप्रकृतिस्थितिबन्धे द्वितीयाधिकारे स्वामित्वद्वारे**-"सागारो जागारो सुओवउत्तो" इत्यादि(७७)गाथाया वृत्तितो विलोकनीयः, नात्र पुनरपि विवियते, तत्रैवास्माभिर्विस्तरतः प्रपञ्चितत्वादिति ।।१५४।।

तदेवं दर्शिता सर्वप्रकृतीनामोघिकोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वविषया सामान्यवक्तव्यता । साम्प्रतं तासामेव सर्वप्रकृतीनां प्रस्तुतस्वामित्वविषयां विशेषवक्तव्यतां प्रकटयितुमुपक्रमते——

धुव-णपुमाइगवीसाणुक्कोसठिईअ बंधगो सण्णी ।
मिच्छो तिव्वकिलिट्ठो व ईसिमज्झिमकिलिट्ठो वा ।।१५५।।

(प्रे०) "धुवणपुमाइगे"त्यादि, तत्र "धुव" त्ति भीमो भीमसेन इति न्यायेन ध्रुवबन्धिनीनां ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणनवक-मिथ्यात्व-कषायषोडशक भय-जुगुप्सा-वर्णचतुष्क तैजसकार्मणशरीरा-ऽगुरुलघु-निर्माणो-पघातनामा-ऽन्तरायपञ्चकलक्षणानां सप्तचत्वारिंशत्प्रकृतीनां, तथा "णपुमाइगवीसाण" त्ति अनन्तरम् " णपुमा असाय सोगा ऽरई हु डं ॥१५०॥णीअं अथिरतिग-अजस-ऽणाइज्जाणि परघाय-ऊसासा । बायरतिग-तस-कुखगइ-पणिंदि-दुस्सर" इत्येतावता संग्रहगाथाऽवयवेन संगृहीता नपुंसकवेदा ऽसातवेदनीय-शोका-ऽरति-हुंडसंस्थान-नीचैर्गोत्रा-ऽस्थिरत्रिका-ऽयशःकीर्त्य-ऽनादेय-पराघातो-च्छ्वास-बादरत्रिक त्रस-कुखगति-पञ्चेन्द्रियजाति-दुःस्वरनामलक्षणा नपुंसकवेदादिविंशतिप्रकृतयस्तासामित्येवं समुदितानां सप्तषष्टिप्रकृतीनां प्रत्येकम् 'उक्कोसठिईअ' त्ति औघिकोत्कृष्टस्थितेर्बन्धकः स्वामी, कः? इत्याह–"सण्णी मिच्छो तिव्वकिलिट्ठो व ईसिमज्झिमकिलिट्ठे वा" इत्यादि, तत्र तीव्रक्लिष्टो नाम यस्याऽपेक्षयाऽधिकक्लिष्टं संक्लेशस्थानमेव न विद्यते तादृशं 'तीव्रं' तीव्रतमं संक्लेशस्थानं प्राप्तः, सर्वसंक्लिष्ट इत्यर्थः, इह हि प्रत्येकं स्थितिबन्धस्थानमसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमितस्थितिबन्धाऽध्यवसायस्थानैर्बन्धप्रायोग्यम् , उक्तं च पूर्वं **मूलप्रकृतिस्थितिबन्धे षष्ठाधिकारे**–"पइठिइबंधमसखा लोगा अट्ठण्ह अज्झवसणाण" इति । तत्राऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमितेषूत्कृष्टस्थितिबन्धाऽध्यवसायेष्वेकमेव चरमं संक्लेशस्थानं सर्वसंक्लिष्टम् ,शेषाणि संक्लेशस्थानानि तूत्कृष्टस्थितिबन्धप्रायोग्याणि सन्त्यपि न तीव्रतमानि किन्त्वीषन्मध्यमसंक्लिष्टानि, तेषु वर्तमानाजीवा अप्युत्कृष्टां स्थितिं निर्वर्त्तयन्त्येव, अतस्तेषामप्युत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वं दर्शयितुमुक्तम् 'ईसिमे' त्यादि, ईषन्मध्यमाः उक्ततीव्रतमसंक्लेशवर्जा ये शेषा उत्कृष्टस्थितिबन्धप्रायोग्याः संक्लेशास्तेषामन्यतमेन युक्त ईषन्मध्यमसंक्लिष्टः, वाशब्दश्चकारार्थकः चकारस्तु समुच्चये ततो यथोक्तस्वरूपस्तीव्रसंक्लिष्ट ईषन्मध्यमसंक्लिष्टश्च संज्ञी मिथ्यादृष्टिर्जीव इत्यर्थः । अत्र पदद्वये प्रपञ्चव्याख्यानं समिच्छता तु **मूलप्रकृतिस्थितिबन्धद्वितीयाधिकारस्वामित्वद्वारे** "मिच्छादिट्ठी उ परमसकेसेणीसिमज्झिमेण वा" इत्यस्या (७८) गाथायाः **प्रेमप्रभा**ऽवलोकनीया । **ननु** किं निरयाद्येकगतिको मिथ्यादृष्टिसंज्ञ्युत चतुर्गतिकोऽपि ? इति चेद् , उच्यते, चतुर्गतिकः कश्चिदपि जीवः, केवलं मनुष्यतिर्यग्गतिकेषु युग्मिनो वर्जनीयाः,तेषां स्वभावतो मन्दकषायत्वात् , देवगतिकेषु तु पञ्चेन्द्रिय-जाति त्रस-दुःस्वरनाम्नां तिसृणां प्रकृतीनां सनत्कुमाराद्याः सहस्रारान्ताः, न तु भवनपत्याद्या अपि, उत्कृष्टस्थितिबन्धप्रायोग्ये सक्लेशे वर्तमाने तैरेकेन्द्रियप्रायोग्यप्रकृतीनां निर्वर्तनेन पञ्चेन्द्रियजात्यादिप्रस्तुतप्रकृतित्रयस्यैवाऽबन्धात् , यदा त्वेते भवनपत्याद्या ईशानान्ताः प्रस्तुतपञ्चेन्द्रियजात्यादिप्रकृतित्रयं निर्वर्तयन्ति तदा ते तस्य प्रकृतित्रयस्योत्कृष्टतोऽप्यष्टादशकोटीकोटीसागरोपमप्रमाणामेव स्थितिं निर्वर्तयन्ति, नाधिकां, अधिकस्थितिबन्धेऽधिकसंक्लेशस्याऽपेक्षितत्वात् , अधिकसंक्लेशे जाते तु तेषामेकेन्द्रियप्रायोग्यप्रकृतीनामेव बन्धप्रवर्तनाच्च । सनत्कुमाराद्यानां त्वेकेन्द्रियप्रायोग्यबन्ध-

मेव न जायते, तेषामेकेन्द्रियतयाऽनुत्पत्तेः, किञ्च देवा विकलेन्द्रियेष्वपि नोत्पद्यन्ते, इत्थं चोत्कृष्टस्थितिबन्धप्रायोग्यसंक्लेशे वर्तमाना अप्येते पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यप्रकृतीर्बध्नन्तः प्रस्तुतपञ्चेन्द्रियजाति-त्रसदुस्वरनाम्नामुत्कृष्टां स्थितिं निर्वर्तयन्ति; प्रकृतित्रयवर्जशेषचतुःषष्टिप्रकृतीनामपि भवनपत्यादिसहस्रारान्ता एव देवा उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनः, न पुनरानताद्या अपि, तेषां शुक्ललेश्याकतया सर्वदैवौघोत्कृष्टस्थितिबन्धप्रायोग्यसंक्लेशानुत्पत्तेरिति ॥१५५॥

तप्पाउग्गकिलिट्ठो मिच्छत्ती बंधगो मुणेयव्वो ।
सण्णी णराइगाणं पयडीणं पंचवीसाए ॥१५६॥

(प्रे०) "**तप्पाउग्गे**"त्यादि, तत्प्रायोग्यः 'क्लिष्टः' सक्लिष्टो मिथ्यात्वी संज्ञी जीवः "**बंधगो**" त्ति प्रस्तुतत्वादुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य स्वामी ज्ञातव्यः, न पुनरनन्तरोक्तस्तथैव सर्वसंक्लिष्टजीव इत्यर्थः। कासां प्रकृतीनामित्याह–"**णराइगाण**" मित्यादि, नरादिकानाम् "णरदुग-उच्च-गोआणि॥ १५२॥ साय तह हस्सरई थिर-सुह-जस-सुहगतिग-सुखगइ-पुमा । पढम दुइअ तइअ-तुरिअ-पंचमसंघयणआगिइ-थी" इत्येतावत्संग्रहगाथासंगृहीता मनुष्यगति-मनुष्यानुपूर्वीलक्षणमनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्र-सातवेदनीय-हास्य रति-स्थिर शुभ-यशःकीर्ति-सुभग सुस्वरा ऽऽदेय सुखगति-पुंवेद-प्रथम-द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ पञ्चमसंहननसंस्थान स्त्रीवेदलक्षणानां पञ्चविंशतेः प्रकृतीनां प्रत्येकम् । उक्तं च **शतकचूर्णौ**–"साय-पुरिस-त्थिवेद हास-रति-उच्चागोय-मणुयदुग-हुंडासपत्तवज्जसंघयण-संठाणदसगं पसत्थविहायोगति-थिराइछण्णमेयासिं पणवीसाए तप्पाओगसंकिलिट्ठतरो" इति । कुत एतासामोघोत्कृष्टस्थितिबन्धोऽपि सर्वसंक्लेशेनेषन्मध्यमसंक्लेशेन वा न निर्वर्त्यते किन्तु तत्प्रायोग्यसंक्लेशेनैव निर्वर्त्यते ? इति चेद्, उच्यते, ओघोत्कृष्टसंक्लेशभाग्भिरीषन्मध्यमसंक्लेशवद्भिर्वा कैरपि जीवैर्मनुष्यगत्यादिप्रस्तुतप्रकृतीनामेवाऽनिर्वर्तनात् । कुत ओघोत्कृष्टसंक्लेशेषन्मध्यमसंक्लेशभाजो जीवा एता मनुष्यगत्यादिप्रकृतीर्न निर्वर्तयन्ति ? इति चेद्, उच्यते, तथाविधसंक्लेशभाग्भिर्जीवैः स्वप्रायोग्यपाश्चात्यविकसर्वनिकृष्टोत्पत्तिस्थानप्रायोग्याणां निरयगत्यादिप्रकृतीनां निर्वर्तनेन बन्धमपेक्ष्य परावर्तमानानाममूषां प्रकृतीनां बन्धो न क्रियते, तथाहि- ओघत उत्कृष्टसंक्लेशभाज ईषन्मध्यमसंक्लेशभाजो वा नारकाः पर्याप्ततिर्यक्संज्ञिपञ्चेन्द्रिया मनुष्याः सहस्रारान्तदेवा वा भवन्ति, नान्ये, तेभ्यो यथोक्तसंक्लेशभाजो नैरयिकास्तिर्यग्गतिप्रायोग्याः प्रकृतीर्निर्वर्तयन्त उक्तान्या असातवेदनीय शोका-ऽरति-नपुंसकवेद-तिर्यग्गति तिर्यगानुपूर्वी-चरमसंहनन-संस्थान--कुखगत्य-स्थिरषट्कादीः प्रकृतीर्निर्वर्तयन्ति, इत्येवं मनुष्यगत्यादिकामेकामपि न निर्वर्तयन्ति, एव पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्या अपि यथोक्तोत्कृष्टसंक्लेशस्थान तदासन्नवर्तीषन्मध्यमसंक्लेशस्थानान्यवाप्याऽसातवेदनीय-शोका-ऽरति-नपुंसकवेद-निरयगत्याद्याः प्रकृतीर्निर्वर्तयन्ति, न पुनरिमाः, कुतः ? अत्यन्तसंक्लिष्टत्वात्, इत्थमेवेशानान्ता देवास्तथाविधसंक्लेशं भजन्तस्तिर्यग्गत्येकेन्द्रियजात्यादिप्रकृतीस्तथा तदु-

परिष्टाद्वर्तिनः सहस्रारान्ता देवास्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यास्तिर्यग्गत्यादिप्रकृतीर्निर्वर्तयन्त आसां मनुष्यगत्यादीनां बन्धं नैव कुर्वन्ति, इत्येवं येषां येषां जीवानां यदा यदाऽमूषां प्रकृतीनां बन्धः प्रवर्तते तदा तदा तेषां तत्प्रायोग्यमध्यमसंक्लेशो विशुद्धिर्वा वर्तते, तत्रोत्कृष्टस्थितिबन्धस्तत्प्रायोग्यसंक्लेशेन, जघन्यस्थितिबन्धस्तु विशुद्धया, प्रस्तुते चोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनां चिन्तनस्य प्रस्तुतत्वात्ते तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टा इत्यभिहितमिति। इत्थमेवाग्रे मार्गणास्थानेष्वपि तत्तत्प्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनस्तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टत्वं मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टसंक्लेशकाले तासां तासां प्रकृतीनां केनाऽपि मार्गणागतजीवेनाऽनिर्वर्तनाद्विभावनीयमिति ॥१५६॥

अथायुषामोघोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिन आह—

णिरयाउगस्स सण्णी तिरियो मणुओ य होइ मिच्छत्ती।
तप्पाउग्गकिलिट्ठो वट्टंतो गुरुअबाहाए ॥१५७॥
तिरियणराऊण भवे सण्णी तिरियो णरो व मिच्छत्ती।
तप्पाउग्गविसुद्धो वट्टंतो गुरुअबाहाए ॥१५८॥
तप्पाउग्गविसुद्धो बोद्धव्वो बंधगो पमत्तजई।
उक्कोसाबाहाए वट्टमाणो सुराउस्स ॥१५९॥

(प्रे०) "**णिरयाउगस्से**"त्यादि, निरयायुषः प्रस्तुतत्वादोघोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी को भवतीत्याह–"**सण्णी**"त्यादि, 'गुर्व्याम्'-उत्कृष्टायां पूर्वकोटीतृतीयभागलक्षणायामबाधायां वर्तमानस्तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिः संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यक् तथाविधो मनुष्यश्च भवति। "**तिरियणराऊणे**"त्यादि, तिर्यग्मनुष्यायुषोरुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वाम्योघतो गुर्वबाधायां पूर्वकोटित्रिभागलक्षणायां वर्तमानस्तत्प्रायोग्यविशुद्धो मिथ्यादृष्टिः संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग् मनुष्यो वा भवति। देवायुष आह–"**तप्पाउग्गविसुद्धो**" इत्यादि, 'सुरायुषः' देवायुषः प्रस्तुतोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वाम्युत्कृष्टायां पूर्वकोटित्रिभागलक्षणायामबाधायां वर्तमानः प्रमत्तो 'यतिः' संयतो बोद्धव्यः, न पुनरप्रमत्तः किन्त्वप्रमत्ताभिमुखः प्रमत्त एवेति भावः। अत्र निरयायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टः, शेषायुषां तत्प्रायोग्यविशुद्ध इत्युक्तं तत्तु निरयायुष उत्कृष्टस्थितेरशुभत्वात्, शेषाणां तु तस्याः शुभत्वाच्चावसेयम्। **अयम्भावः**–देव-मनुष्य-तिर्यगायुर्वर्जानां सर्वासामुत्कृष्टस्थितेरशुभत्वात् सा संक्लेशेन निर्वर्त्यते, देवाद्यायुस्त्रयस्य तूत्कृष्टस्थितेः शुभत्वात् सा विशुद्धया निर्वर्त्यते, अत एव जघन्या स्थितिस्तु वैपरीत्येनाऽऽयुस्त्रयस्य संक्लेशेन, शेषाणां विशुद्धया। उक्तं च **शतके**-
"सव्वट्ठिईण उक्कोसगो उ उक्कोसमसंकिलेसेण। विवरीए य जहन्नो आउगतिगवज्जसेसाणं॥" ५८॥ इति।

उभयत्र तत्प्रायोग्यत्वविशेषणं त्वायुःप्रकृतिबन्धस्याप्युत्कृष्टसंक्लेशेनोत्कृष्टविशुद्धया वाऽभवनात्,यत आयुर्बन्धो घोलनापरिणामेन जायते, उक्तं च–"आयुष्कस्य तु घोलनापरिणामेनैव बन्धनात् इति। **शतकचूर्णावप्युक्तम्**–"पचिंदियतिरिक्खो मणुओ वा मिच्छद्दिट्ठी तप्पाओगविसुद्धो पुव्वकोडितिभागाइसमए वट्टमाणो मणुयतिरियाउगाण उक्कोस ठिइ बंधइ। अच्चतविसुद्धस्स ण बंधो इइ तिरिमणुया सम्मद्दिट्ठी एताणि ण बधति। णिरयाउगस्सवि एए चेव णवरि तप्पाओगसकिलिट्ठो बधइ, अच्चंतसंकिलिट्ठो आउग न बधइ" इति। **ननु** प्रमत्ता इवाऽप्रमत्ता अपि अनुत्तरदेवसत्कं त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिकं देवायुर्निर्वर्त्तयितुमर्हन्ति तत्कथमिहाऽप्रमत्तानां वर्जनम्? इति चेद् , **सत्यम्**,केवलमिह कर्मरूपतावस्थानलक्षणस्थितिबन्धापेक्षया स्वामित्वस्य प्रस्तुतत्वाद् अप्रमत्तानां च त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिकदेवायुर्बन्धकत्वेऽपि प्रमत्तावस्थाऽऽरब्धस्याऽऽयुर्बन्धस्य निर्वाहणमात्रतया पूर्वकोटितृतीयभागलक्षणाया उत्कृष्टाबाधाया असम्भवेन न भवन्ति अप्रमत्ताः कर्मरूपतावस्थानलक्षणोत्कृष्टस्थितिकदेवायुर्बन्धका इति न तेषां ग्रहणम् , किन्तु प्रमत्तग्रहणेन विशेषतो वर्जनमेव। उक्तं च **शतकचूर्णौ**-"देवाउगस्स उक्कोसं ठिइं पमत्तसजओ पुव्वकोडितिभागाइसमये वट्टमाणो अप्पमत्ताभिमुहो बधइ। अप्पमत्तो उक्कोस किं ण बधति त्ति चेत्? तदुच्यते, अप्पमत्तो आउग बंधिउं णाढप्पइ, पमत्तेणाढत्त अप्पमत्तो बधइ त्ति, सो य उक्कोसठिइय बंधो एक समय लब्भइ, परओ अबाहापरिहाणि त्ति न लब्भइ।" इति ॥१५७-१५८॥

णिरआईण चउण्हं सण्णी तिरियो णरो य मिच्छत्ती।
उक्कोससंकिलिट्ठो व ईसिमज्झिमकिलिट्ठो वा ॥१६०॥

(प्रे०) "**णिरयाईण**" इत्यादि "णिरयविउव्वदुगे"त्यनेन संग्रहगाथावयवेन संगृहीतानां निरयद्विकादीनां निरयगति-निरयानुपूर्वी वैक्रियशरीर-वैक्रियाङ्गोपाङ्गलक्षणानां चतसृणां प्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी मिथ्यात्वी संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग् मनुष्यो वा "**उक्कोससंकिलिट्ठो व ईसिमज्झिमकिलिट्ठो व**" त्ति 'उत्कृष्टसंक्लिष्टः-' ओघोत्कृष्टसंक्लेशवान् , ईषन्मध्यमसंक्लेशवान् वा यः स भवति, न पुनर्देवो नैरयिको वा, तयोः प्रस्तुतप्रकृतीनां बन्धस्वामित्वाभावात् , असंज्ञिनां तत्स्वामित्वेऽप्योघोत्कृष्टसंक्लशस्यैवानुत्पत्तेर्न तत्स्वामित्वम्। ईषन्मध्यमसंक्लिष्टविशेषणस्य ग्रहणं तु प्रागुक्तनीत्या सर्वस्थितिबन्धस्थानान्तर्गततयोत्कृष्टस्थितिबन्धस्थानस्याऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशमितस्थितिबन्धाध्यवसायस्थाननिर्वर्त्यत्वेन सर्वसंक्लेशात्मकैकाध्यवसायस्थानादन्यत्र रूपोनाऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमिताध्यवसायान्यतमाध्यवसायस्थाने वर्तमानानामपि प्रस्तुतप्रकृतिचतुष्कोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वदर्शनार्थम्। अत एवोत्तरत्र––

"तत्थ खलु ईसिमज्झिमसकिट्ठो वधगो वि वत्तव्वो। उक्कोससकिलिट्ठो वुच्चिहिए बधगो जत्थ ॥१६७॥"

इत्यनेन यत्रोत्कृष्टसंक्लिष्टानां स्वामित्वं तत्रेषन्मध्यमसंक्लिष्टानामपि स्वामित्वं सामान्यव्याप्त्याऽभिधास्यतीति ॥१६०॥

छण्ह छिवट्ठाईणं णिरयो देवो य होइ मिच्छत्ती।
उक्कोससंकिलिट्ठो व ईसिमज्झिमकिलिट्ठो वा ॥१६१॥

(प्रे०) "छण्ह छिवट्ठाईण"मित्यादि, " छिवट्ठाणि ॥१५१॥ उरलोवगुज्जोआ उरलतिरिक्खदुग" इत्येतावता संग्रहगाथावयवेन संगृहीतानां सेवार्तसंहननौ दारिकशरीरौ-दारिकाङ्गोपाङ्ग तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्व्यु-द्योतलक्षणानां षण्णां प्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी "णिरयो देवो व होइ मिच्छत्ती" त्ति नैरयिको देवो वा मिथ्यादृष्टिर्भवति, कथम्भूतः ? इत्याह-"उक्कोसे"त्यादि, गतार्थम्। कुतो नारकदेवाः, न पुनस्तिर्यग्मनुष्याः ? इति चेद्, उच्यते, नारकाः सनत्कुमारादि-सहस्रारान्तदेवाश्चात्यन्तसंक्लिष्टाः पञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्यप्रकृतीर्बध्नन्तः सेवार्तसंहननौ-दारिकाङ्गोपाङ्गलक्षणप्रकृतिद्वयस्योत्कृष्टां विंशतिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणां स्थितिं निर्वर्तयन्ति, शेषाणामौदारिकशरीर-तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्व्यु-द्योतलक्षणानां चतसृणामत्यन्तसंक्लिष्टा भवनपत्यादीशानान्तदेवा अप्युत्कृष्टां विंशतिसागरोपमकोटीकोटीलक्षणां स्थितिं निर्वर्तयन्ति, न पुनस्तिर्यग्मनुष्याः,तैरासां षण्णां प्रकृतीनामुत्कृष्टतोऽप्यष्टादशसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणस्थितेरेव निर्वर्तनात्। कुत एवम् ? उच्यते, पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्या ओघोत्कृष्टसंक्लेशे वर्तमानाः सन्तो निरयगतिप्रायोग्याः प्रकृतीर्निर्वर्तयन्त आसां षण्णामन्यतमामेकामपि प्रकृतिं न निर्वर्तयन्ति, यदा त्वासां बन्धं कुर्वन्ति तदा तु तिर्यक्प्रायोग्यप्रकृतीर्बध्नन्तस्ते न तीव्रसंक्लिष्टाः, किन्तु मंदसंक्लिष्टाः, ततश्चासां प्रकृतीनामुत्कृष्टामपि स्थितिमष्टादशसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणामेव निर्वर्तयन्ति, ततो नैते षण्णामोघिकोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनः। इत्थमेव देवेष्वपि भवनपत्याद्या ईशानान्ताः सेवार्तसंहननौदारिकाङ्गोपाङ्गप्रकृतिद्वयस्य स्वामिनो न भवन्ति, सर्वसंक्लेशे सति तेषामेकेन्द्रियप्रायोग्यप्रकृतिबन्धभावेन प्रस्तुत प्रकृतिद्वयस्य बन्धाभावात्, प्रस्तुतप्रकृतिद्वयं तु त्रसप्रायोग्यम्, अतस्तद् बध्नन्तस्तु मन्दसंक्लिष्टाः सन्त उत्कृष्टतोऽप्यष्टादशसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणामेव स्थितिं बध्नन्त्यस्य, न त्वोघोत्कृष्टां विंशतिसागरोपमकोटीकोटीमानाम्। उक्तं च **शतकचूर्णौ**—

"तिरियगई ओरालियसरीर सेवट्टसंघयण ओरालियगोवंग तिरियाणुपुव्वी उज्जोवमिति एएसिं छण्ह कम्माण उक्कोसगो ठिइबन्धो देव-णेरइगाण भवइ। कहं ? देवणेरइगा अच्चतसंकिलिट्ठा पंचिंदियतिरियगइपाओगं बधंति, तेसु वीसं सागरोवमकोडाकोडीओ भवइ। एएसिं उक्कोसा ठिई मणुयतिरिएसु अट्ठारस सागरोवमकोडाकोडीओ। कहं ? ते संकिलिट्ठा णिरयपाओग्गं बधंति। ततो विसुद्धतरा मणुयगइपाओग्गं ति। सेवट्टओरालियगोवंगाण ईसाणाओ उवरिल्ला देवा उक्कोस ठिइ बधंति, ईसाणतेसु ण भवइ। कहं ? ते अच्चंतसंकिलिट्ठा एगिंदियपाओग्गं वीस सागरोवमकोडाकोडीओ बधंति, तम्मि एएसिं दोण्ह अट्ठारस भवंति, तओ विसुद्धतरो एयाओ बधइ त्ति।' इति।

ईषन्मन्दसंक्लिष्टा इति तु पूर्ववदेव व्याख्येयम्। एवमेवोत्तरत्राऽपि तत्पदं तथैव व्याख्येयमिति ॥१६१॥

तप्पाउग्गकिलिट्ठो सण्णी तिरियो णरो व बोद्धव्वो ।
मिच्छादिट्ठीयो खलु सुहुमाईण अडपयडीणं ॥१६२॥

(प्रे०) "तप्पाउग्गकिलिट्ठो" इत्यादि, 'सुहमतिगविगलसुरे'त्यादिना संग्रहगाथादेशेन संगृहीतानां सूक्ष्मत्रिक-विकलत्रिक-देवद्विकलक्षणानामष्टानां प्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी खलु तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टः संज्ञिपञ्चेन्द्रियस्तिर्यग् मनुष्यो वा बोद्धव्यः । कुतः ? इति चेत् , देवानां बादरपर्याप्तपृथिव्यप्प्रत्येकवनस्पतिकाय-पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्याणामन्यतमतयैवोत्पत्तेस्तथा नैरयिकाणां पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्यतयैवोत्पत्तेर्विहितत्वादपर्याप्तसूक्ष्मसाधारणैकेन्द्रियप्रायोग्यं सूक्ष्मत्रिकं विकलेन्द्रियप्रायोग्यं विकलत्रिकं देवगतिप्रायोग्यं देवद्विकं चैते देवनारका नैव निर्वर्तयन्ति, प्रकृतिबन्धाभावे स्थितिबन्धस्तु न भवत्येव, इत्येवं प्रस्तुतप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामितया देवनारका न गृहीताः, किन्तु तिर्यग्मनुष्या एव दर्शिताः, तिर्यग्मनुष्याणामपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियतया विकलेन्द्रियतया चोत्पत्तेर्विहितत्वात् । ननु तथाऽपि तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टा एव कथं दर्शिताः, न पुनस्सर्वसंक्लिष्टाः ? इति चेद् , श्रूयताम्, एते हि सर्वसंक्लिष्टा निरयगतिप्रायोग्यं कर्मबन्धं कुर्वन्ति, ततो विशुद्धास्तिर्यग्गतिप्रायोग्यं बध्नन्ति, ततोऽपि विशुद्धा मनुष्यगतिप्रायोग्यं बध्नन्ति, ततोऽपि विशुद्धतरा देवगतिप्रायोग्यं बध्नन्ति, तत्र तिर्यक्प्रायोग्यप्रकृतीर्बध्नतां तिर्यग्मनुष्याणां सूक्ष्मत्रिकविकलत्रिकयोर्बन्धः सम्भवति, देवगतिप्रायोग्यं बध्नतां तु देवद्विकस्य बन्धो जायते, तदानीं तूक्तनीत्याऽष्टानामपि प्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितेरपि बन्धका न संक्लिष्टाः किन्तु तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टा एवातस्तथैवोक्ताः । उक्तं च **शतकचूर्णौ**–'देवदुग-विगलतिग-सुहुमतिगाण उक्कोसठिइं तप्पाओगसकिलिट्ठो बधइ,अच्चतसकिलिट्ठो णिरयपाओग बधइ त्ति, तओ विसुद्धो तिरियपाओगं, तओ विसुद्धो मणुयपाओग, तओ विसुद्धो देवपाउग्ग ति ।" इति ॥१६२॥

तिण्हा-ऽऽयवाइगाणं ईसाणंतो सुरोऽत्थि मिच्छत्ती ।
उक्कोससंकिलिट्ठो व ईसिमज्झिमकिलिट्ठो वा ॥ १६३ ॥

(प्रे०) "तिण्हा-ऽऽयवाइगाण"मित्यादि, त्रयाणामातपादिकानाम् "आयवेगिंदी। थावरे" त्येतावता संग्रहगाथात्रयवेन संगृहीतानामातपनामै-केन्द्रियजातिनाम-स्थावरनामलक्षणानां प्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी "ईसाणंतो सुरोऽत्थि मिच्छत्ती" त्ति भवनपत्यादीशानान्तानामन्यतमो मिथ्यादृष्टिर्देवो भवति । कथम्भूत इत्याह–"उक्कोससकिलिट्ठो वे"त्यादि, गतार्थम् । उक्तं च **शतके**–"ईसाणता तिण्ह" इति । इह उत्कृष्टसंक्लिष्टग्रहण त्वीशानान्तदेवानां सर्वसंक्लेशे सत्येकेन्द्रियप्रायोग्यप्रकृतीर्बध्नतामस्य प्रकृतित्रयस्याऽपि बन्धसम्भवात् , न तु तदानीमबन्ध एव, किन्त्वेकेन्द्रियस्थावरनाम्नोर्नियमतो बन्धः, आतपस्य तु कादाचित्क इति भावः ॥१६३॥

साम्प्रतं सम्यग्दृष्टिस्वामिकोत्कृष्टस्थितिबन्धानामुक्तशेषाणामाहारकद्विकतीर्थकरनामलक्षणानां तिसृणां प्रकृतीनां स्वामिनः प्रदर्शयन्नाह–

आहारदुगस्स भवे पमत्तहुत्तो तदरिहसंकिट्ठो ।
अपमत्तो सम्मणरो मिच्छाहिमुहो जिणस्स भवे ॥१६४॥

(प्रे०) "**आहारदुगस्स**" इत्यादि, आहारकद्विकस्याऽऽहारकशरीर-तदङ्गोपाङ्गलक्षणस्योत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी "**पमत्तहुत्तो**" त्ति प्रमत्ताभिमुखः "**तदरिहसंकिट्ठो**" त्ति 'तदर्हसंक्लिष्टः' तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टः, न त्वोघोत्कृष्टसंक्लिष्ट इत्यर्थः, मिथ्यादृशामेवौघोत्कृष्टसंक्लेशसम्भवात् । एवम्भूतो यः "**अपमत्तो**" त्ति अप्रमत्तः संयतः स भवेदिति पूर्वेण योगः । अथ तीर्थकरनामकर्मण आह–"**सम्मणरो**" इत्यादि, 'जिनस्य'-जिननाम्न उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी तु "**मिच्छाहिमुहो**" त्ति मिथ्यात्वाभिमुखः क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टिर्मनुष्यो भवेदित्यर्थः । अत्र हि तीर्थकरनाम्न उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामितया मिथ्यात्वाभिमुखत्वस्याभिहितत्वेऽप्यसौ तत्स्वामी नरकाभिमुख इत्यपि बोद्धव्यम् । उक्तं च **शतकचूर्णौ**–'आहारगदुगस्स उक्कोसं ठिइ अप्पमत्तसंजओ पमत्ताभिमुहो तव्वन्धकेसु सव्वसंकिलिट्ठो बधइ । 'तित्थयरं च मणुस्सो अविरयसम्मो समज्जेइ' त्ति तित्थकरणामस्स उक्कोसं ठिइ मणुस्सो असंजओ वेयगसम्मदिट्ठी पुव्व नरगवद्धाउगो णिरयाभिमुहो मिच्छत्त पडिवज्जहि त्ति अतिमे ठिइबंधे वट्टमाणो बधइ, तव्वन्धकेसु अच्चतसंकिलिट्ठो त्ति काउं । जो सम्मत्तेणं खइगेणं णरगं गच्छइ सो तत्तो विसुद्धतरो त्ति तम्मि उक्कोसो ण भवइ ।' इति ॥१६४॥ तदेवमभिहिताः सर्वासामुत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिन ओघतः । सम्प्रत्यादेशतो वक्तव्यास्तत्र प्रथमतस्तावदायुर्वर्जबन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां विभणिषुर्लाघवार्थमादौ बहुमार्गणाविषयां सामान्यवक्तव्यतामाह—

सव्वासु वंधगो खलु सप्पाउग्गाण आउवज्जाणं ।
सागाराइविसिट्ठो उक्कोसठिईअ णायव्वो ॥१६५॥
पज्जत्ताऽपज्जत्ता दुहावि जीवाऽत्थि जत्थ तत्थ भवे ।
पज्जत्तो सव्वाहिं पज्जत्तीहिं त्ति वत्तव्वं ॥१६६॥
तत्थ खलु ईसिमज्झिमसंकिट्ठो वंधगो वि वत्तव्वो ।
उक्कोससंकिलिट्ठो वुच्चिहिए वंधगो जत्थ ॥१६७॥

(प्रे०) "**सव्वासु**" इत्यादि, सर्वासु निरयगत्योघाद्यनाहारकमार्गणापर्यन्तासु प्रत्येकं "**सप्पाउग्गाण**" त्ति तत्तन्मार्गणामपेक्ष्य 'स्वस्यां' निरयगत्योघादिमार्गणायां बन्धप्रायोग्यानामायुर्वर्जाना प्रकृतीनामुत्कृष्टायाः स्थितेर्बन्धकः खलु "**सागाराइविसिट्ठो**" त्ति ओघतोऽभिहितस्वरूपैः 'साकारादिभिः' साकारो जाग्रदित्यादिभिर्विशेषणैर्विशिष्टो जीवः सामान्यतो ज्ञातव्यः । विशेष-

तस्तु प्रत्येकं मार्गणासु प्रत्येकप्रकृतीनामनन्तरं 'अइसंकिट्ठो' इत्यादिनाऽभिधास्यमानत्वादिति भावः। अन्यासपि बहुमार्गणाविषयकसामान्यवक्तव्यतामाह–"पज्जत्ताऽपज्जत्ते"त्यादि; तत्र "जत्थ" त्ति 'यत्र' यासु मार्गणासु 'पर्याप्ताः' स्वस्वप्रायोग्याभिः सर्वाभिः पर्याप्तिभिः, करणपर्याप्ता इत्यर्थः। तथाऽपर्याप्ता उक्तेतराः, लब्ध्यपर्याप्ताः करणापर्याप्ताश्चेत्यर्थः। "दुहावि जीवाऽत्थि" त्ति उक्तस्वरूपा द्विविधा अपि जीवाः 'सन्ति' विद्यन्ते, तत्र किमित्याह–"तत्थ भवे" इत्यादि, तत्र प्रस्तुतोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी "पज्जत्तो सव्वाहिं पज्जत्तीहिं" त्ति सर्वाभिः स्वप्रायोग्याभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्त इति वक्तव्यं भवेत्। पर्याप्ताऽपर्याप्तजीवयोर्मध्ये पर्याप्त एवोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी भवतीति भावः। अथाऽन्यां विशेषवक्तव्यतामाह–"तत्थ खलु" इत्यादि 'तत्र' तासु मार्गणासु 'खलु' निश्चयेनेषन्मध्यमसंक्लिष्टोऽपि 'बंधगो" त्ति तत्तत्प्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकतया वक्तव्यः, न केवल उत्कृष्टसंक्लिष्ट एवेति भावः। कुत्र ज्ञातव्यः? इत्याह–"उक्कोसे"त्यादि, 'जत्थ' त्ति 'यत्र' यासु मार्गणासु "उक्कोससंकिलिट्ठो वुच्चिहिए बंधगो" त्ति 'बन्धकः' तत्प्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी उत्कृष्टसंक्लिष्टो वक्ष्यत इत्यर्थः। आसां तिसृणामपि गाथानां प्रपञ्चव्याख्यानं तु **मूलप्रकृतिस्थितिबन्धविधानद्वितीयाधिकारस्वामित्वद्वारे**" 'सेसासु मग्गणासु" इत्यादि–(८२-८३ ८४) गाथात्रयवृत्त्यनुसारेण स्वयमेव द्रष्टव्यमिति॥ १६४ १६७॥

तदेवं दर्शिता सामान्यवक्तव्यता। इदानीं निरयगत्योघादिक्रमेणाऽऽयुर्वर्जप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनो विशेषतः प्रतिपादयन्नाह—

अइसंकिट्ठो मिच्छो सव्वणिरय-छतइआइकप्पेसु।
णेयो धुवबंधीणं तह छव्वीसणपुमाईणं ॥१६८॥
तप्पाउग्गकिलिट्ठो मिच्छो सेसाण णवरि एआओ।
बंधोऽत्थि जिणस्स जहिं तहिं भवे तस्स सम्मत्ती ॥१६९॥
मिच्छत्तसंमुहो तह सम्मदिट्ठी तदरिहसंकिट्ठो।
सत्तमणेरइये खलु विण्णेयो णरदुगु-च्चाणं ॥१७०॥

(प्रे०) "अइसंकिट्ठो" इत्यादि, उक्तवचनात् साकारादिविशेषणविशिष्टः सर्वपर्याप्तिपर्याप्तः 'अतिसंक्लिष्टः' सर्वसंक्लिष्टस्तथा "तत्थ खलु ईसिमज्झिमसकिट्ठो बधगो वि वत्तव्वो' इत्याद्यनन्तरोक्त सामान्यवचनादीषन्मध्यमसंक्लिष्टश्च "मिच्छो" त्ति मिथ्यादृष्टिः, अस्य हि "णेयो" इत्यनेनान्वयस्ततो ज्ञातव्यः, उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामितयेति प्रक्रमाद्गम्यते, कासु मार्गणासु कासां प्रकृतीनामित्याह--"सव्वणिरये"त्यादि "धुवबधीण"मित्यादि च,ओघोत्तरभेदभिन्नेषु सर्वेष्वष्टसंख्या-

केषु निरयगतिभेदेषु, तथा "छतइआइकप्पेसु" त्ति तृतीयादिषु सनत्कुमारादिनामधेयेषु सहस्रार-कल्पपर्यन्तेषु षट्सु 'कल्पेषु'-वैमानिकदेवगतिभेदेष्वित्येवं समुदितासु चतुर्दशमार्गणासु प्रत्येकं ज्ञाना-वरणपञ्चक-दर्शनावरणनवका ऽन्तरायपञ्चक-मिथ्यात्व-कषायषोडशक भय-जुगुप्सा-वर्णचतुष्क-तैजस-कार्मणा-ऽगुरुलघु निर्माणो पघातलक्षणानां सप्तचत्वारिंशतो ध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनां तथा "छव्वीस णपुमाईणं" ति "णपुमा असाय-सोगा-ऽरई हुंड ॥१५०॥णीअ अथिरतिग अजस-ऽणाइज्जाणि परघाय-ऊसासा। बायरतिग तस-कुखगइ-पणिंदि-दुस्सर छिवट्ठाणि ॥१५१॥ उरलोवंगु-ज्जोआ उरल तिरिक्खदुग" इत्ये-तावता संग्रहगाथाऽवयवेन संगृहीतानां नपुंसकवेदादिषड्विंशतिप्रकृतीनां च प्रत्येकम् । कुतः सर्व-संक्लिष्टाः ? इति चेद्, प्रस्तुतचतुर्दशमार्गणागतैरुत्कृष्टसंक्लेशवद्भिर्देवनारकैः पञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रा-योग्यबन्धकरणात् तदानीमुद्योतवर्जप्रस्तुतद्विसप्ततिप्रकृतीनां नियमेनोद्योतनाम्नो भजनयाऽपि बन्ध-भावाच्च । ननु स्थिराद्योऽन्या अपि प्रकृतयस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्याः सन्ति तत्। अत्राह कथं न संगृहीताः? इति चेद् ; उच्यते, सत्यम्, स्थिराद्या अन्या अपि तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्याः प्रकृतयः सन्तीत्येतद्, नवरं ता न देवनैरयिकबन्धप्रायोग्यसप्रतिपक्षप्रकृतिष्वशुभतमाः, किन्तु काश्चिदशुभाः काश्चित्तु शुभा एव, ताश्चोत्कृष्टसंक्लेशे विद्यमाने ईषन्मध्यमसंक्लेशे वा विद्यमाने नैव बध्यन्ते, किन्तु तत्प्रायोग्यसंक्लेशे सति बध्यन्ते, इत्येव तिर्यग्गतिप्रायोग्या अपि ता अत्र न संगृहीता इति ।

अथ प्रस्तुतमार्गणास्वेव शेषप्रकृत्युत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिन आह–"तप्पाउग्गे"त्यादि, 'सेसाण" त्ति प्रस्तुतमार्गणासु बन्धप्रायोग्यप्रकृतिभ्य उक्तत्रिसप्ततिप्रकृतीर्विहाय शेषाणामायुर्व-र्जानां प्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिर्जीवो ज्ञेयः, न तु पूर्ववत् सर्वसंक्लिष्ट ईषन्मध्यमसंक्लिष्टो वा, शेषप्रकृतिषु कासांचिन्मनुष्यगत्यादिप्रकृतीनां मनुष्यगति-प्रायोग्यं बध्नतामेव बन्धभावेन तासामुत्कृष्टस्थितेरपि तत्प्रायोग्यसंक्लेशेन बन्धात् । कुतः ? उच्यते-एते हि देवनारकाः सर्वसंक्लिष्टाः सन्तस्तिर्यग्गतिप्रायोग्याः प्रकृतीर्बध्नन्ति, मन्दसंक्लिष्टाः सन्त-स्तु मनुष्यगतिप्रयोग्या निर्वर्तयन्तीतिकृत्वा । यद्यपि काश्चिद्धास्य-रति-स्त्रीवेद पुंवेदाद्या अशुभाः काश्चिच्च सातवेदनीय-स्थिर-शुभादयः शुभाः प्रकृतयस्तिर्यग्गतिप्रायोग्यं बध्नद्भिरपि देवनारकैर्बध्यन्ते तथाऽपि न ते सर्वसंक्लेशवद्भिः, सर्वसंक्लेशवद्भिरनन्तरोक्ताऽरत्यादिप्रकृतीनामेव बन्धकरणात् । इत्थ चोक्तशेषसर्वप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनस्तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टा मिथ्यादृष्टयो जीवा एव ।

अतिप्रसक्तिमुद्धरति–"णवरि एआओ" इत्यादिना, 'नवरम्' परम् एतासु चतुर्दशमार्ग-णासु "जहिं" ति 'यत्र' यासु मार्गणासु "बंधोऽत्थि जिणस्स" त्ति जिननाम्नो बन्धो 'अत्थि' त्ति सन् भवति, प्राक प्रकृतिबन्धग्रन्थे मद्गुतः प्रतिपादित इत्यर्थः । "तहिं" त्ति 'तत्र' तासु नरकौघ प्रथम-द्वितीय-तृतीयपृथिवीनरकभेद-सनत्कुमाराद्यानतकल्पान्तदेवगतिभेदलक्षणासु नवसु मार्गणासु "भवे तस्स सम्मत्तो" त्ति तस्य जिननाम्न उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी सम्यग्दृष्टि-

जीवो भवेत्, स च मार्गणागतेषु जिननाम्नो बन्धकेषु यः सर्वाधिकसंक्लिष्टः स विज्ञेयः, कुतः ? तीर्थकृन्नाम्नोऽप्युत्कृष्टस्थितेरशुभत्वेन संक्लेशप्रत्ययत्वात् ।

अपवादान्तरमाह–"**मिच्छत्तसंमुहो तहे**"त्यादि, सप्तमपृथिवीनरकभेदे "**णरदुगुच्चाणं**" इति मनुष्यगति-मनुष्यानुपूर्व्युच्चैर्गोत्रलक्षणानां तिसृणां प्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी मिथ्यात्वाभिमुखस्तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टः सम्यग्दृष्टिर्जीवो विज्ञेयः, तथाशब्दोऽपवादान्तरसमुच्चये, तथात्र न केवलं यत्र जिननाम्नो बन्धस्तत्र जिननामस्वामिन्येवापवादः किन्तु सप्तमनरके मनुष्यगत्यादिप्रकृतित्रयस्वामिविषयेऽपि, सप्तमनरके मिथ्यात्वदशाया अन्यत्र वर्तमानानामेव नरद्विकादिप्रकृतित्रयस्वामित्वादिति भावः । मिथ्यात्वाभिमुखस्य ग्रहणं तु तादृशस्य सम्यग्दृष्टिजीवेषु संक्लिष्टतमत्वात्, अत एव तत्प्रायोग्यसंक्लिष्ट इति विशेषणं मार्गणासम्भव्युत्कृष्टसंक्लेशापेक्षया विज्ञेयमिति । इत्येवमपोदिते निरयगत्योघादिषु प्रत्येकं सातवेदनीय-हास्य-रति पुंवेद-स्त्रीवेद-मनुष्यद्विक-स्थिरषट्क-सुखगति-चरमवर्जसंहननपञ्चक-चरमवर्जसंस्थानपञ्चकोच्चैर्गोत्रलक्षणानां पञ्चविंशतिप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी यथोत्सर्गं साकारादिविशेषणविशिष्टस्तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिः प्राप्तः, केवलं सप्तमभूमिनिरयभेदे न पञ्चविंशतेः प्रकृतीनां किन्तु द्वाविंशतेरेव,तत्र मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रविषयकापवादस्याप्यभिहितत्वेन तासां तिसृणामपि शेषप्रकृतिभ्यो वर्जनीयत्वादिति ॥ १६५-१७० ॥

अथ क्रमप्राप्ततिर्यग्गतिभेदेषु प्रस्तुतायुर्वर्जसर्वोत्तरप्रकृत्युत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वमाह–

चउसु तिरियभेएसु धुव-चउवीसणिरयाइपयडीणं ।
तिव्वकिलिट्ठो मिच्छो सण्णी सेसाण तदरिहकिलिट्ठो ॥१७१॥(गीतिः)

(प्रे०) "**चउसु**" इत्यादि, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदेऽनन्तरं वक्ष्यमाणतया तद्वर्जेषु तिर्यग्गत्योघ-पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघ तत्पर्याप्त तिरश्चीभेदलक्षणेषु चतुर्षु 'तिर्यग्भेदेषु' तिर्यग्गतिमार्गणाभेदेषु प्रत्येकम् "**धुव चउवीसणिरयाइपयडीणं**" ति मतिज्ञानावरणादीनां सप्तचत्वारिंशतो ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां तथा "णिरयविउव्वदुग-णपुमा असाय-सोगा-ऽरई हुंड ॥१५०॥ नीअं अथिरतिग-अजस-ऽणाइज्जाणि परघाय-ऊसासा । बायरतिग-तस-कुखगइ-पणिंदि-दुस्सरे"त्येतावद्भिः सङ्ग्रहगाथावयवैः संगृहीतानां नरकद्विक-वैक्रियद्विक-नपुंसकवेदाऽसातवेदनीय-शोकाऽरति-हुंडसंस्थान नीचैर्गोत्रा-ऽस्थिरत्रिका-ऽयशःकीर्त्य-नादेय पराघातो-च्छ्वास-बादरत्रिक-त्रस-कुखगति पञ्चेन्द्रियजाति दुःस्वरलक्षणानां चतुर्विंशतेर्निरयगत्यादिप्रकृतीनाम् "**तिव्वकिलिट्ठो मिच्छो सण्णी**" त्ति ओघवत्तीव्रसंक्लिष्टस्तथा "तत्थ खलु ईसिमज्झिमे"त्यादिवचनादीषन्मध्यमसंक्लिष्टश्च मिथ्यादृष्टिसंज्ञी जीवो भवति, उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामीति गम्यते । "**सेसाण तदरिहकिलिट्ठो**" त्ति 'मिच्छो सण्णी" इति **घण्टालालान्यायेना**ऽत्रापि सम्बध्यते तत उक्तशेषाणां प्रस्तुततत्तिर्यग्गत्योघादिभेदेषु बन्धप्रायोग्याणामायुर्वर्जद्विचत्वारिंशत्प्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी तु 'तदर्हक्लिष्टः' तत्प्रायोग्य-

संक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिः संज्ञी जीवो भवति, न तु ध्रुवबन्ध्यादीनामिव सर्वसंक्लिष्ट ईषन्मध्यम-संक्लिष्टो वा, कुतः ? उत्कृष्टसंक्लेशे तत ईषन्मन्दसंक्लेशे वा विद्यमाने पर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां निरयगतिप्रायोग्यप्रकृतीनां बन्धभावेन शेषाणां तिर्यग्गत्यादिप्रकृतीनामबन्धात्, तिर्यग्गत्यादि-प्रायोग्यं बध्नन्तस्तिर्यञ्चस्तु तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टाः सन्ति, तथा च तिर्यग्गत्यादीनामुत्कृष्टस्थितिं बध्नन्तोऽपि तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टा एवेति कृत्वा शेषप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनस्तत्प्रायोग्य-संक्लिष्टा एव भणिता इति । अत्र साकारादिविशेषणविशिष्टमर्वपर्याप्तिपर्याप्तेत्यादीनि सामान्यो-क्त्याऽभिहितानि विशेषणानि यथासम्भवं स्वयमेव योजनीयानि, सुगमत्वात् । एवमेवोत्तरत्राऽपि विज्ञेयमिति । इहापि युग्मितिर्यग्जीवास्तु प्रस्तुतस्वामितया वर्जनीया एव, कथम् ? तेषां स्वभावतो मन्दकषायतयाऽन्तःकोटिकोटिसागरोपमतोऽधिकस्थितिबन्धप्रायोग्यसंक्लेशस्यैवानुत्पत्तेः, एवमेवा-ऽन्यत्रापि यथासम्भवं युग्म्यादीनां परिहारो द्रष्टव्यः। मार्गणाचतुष्टये बन्धप्रायोग्या आयुर्वर्जाः **शेषा द्विचत्वारिंशत्प्रकृतयस्त्विमाः**—सातवेदनीय-हास्य-रति-स्त्रीवेद-पुंवेद-तिर्यग्द्विक-मनुष्यद्विक-देवद्विक-जातिचतुष्कौ-दारिकद्विक-संहननषट्क-हुंडवर्जसंस्थानपञ्चक-सुखगत्या-ऽऽतपो-द्योत-स्थिर-षट्क-स्थावरचतुष्को-च्चैर्गोत्राणीति ॥१७१॥ अथ शेषेऽपर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रियभेदे प्रस्तुतोत्कृष्ट-स्थितिबन्धस्वामित्वं विभणिषुर्लाघवार्थं क्रमप्राप्तास्वन्यमार्गणास्वपि सममेवाह—

> **असमत्तपणिंदितिरियपणिंदितस-उरलमीसजोगेसु ।**
> **धुवबंधि-गारसतिपणणपुमुरलेगिंदियाईणं ॥१७२॥**
> **सव्वकिलिट्ठो मिच्छो सण्णी सेसाण तदरिहकिलिट्ठो ।**
> **णवरं उरालमीसे देवविउवदुग-जिणाण सम्मत्ती ॥१७३॥** (गीतिः)

(प्रे०) "**असमत्तपणिंदी**" त्यादि, अपर्याप्तवाचकस्याऽसमाप्तशब्दस्य त्रसान्तेषु प्रत्येकं योजनादपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदे, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियभेदे, अपर्याप्तत्रसभेदे, औदारिकमिश्रकाय-योगे चेत्येवं चतुर्षु मार्गणाभेदेषु प्रत्येकमित्यर्थः, प्रत्येकं किमित्याह—"**धुवबंधिगारस**"इत्यादि, मतिज्ञानावरणादिसप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनाम्, तथा "**इगारसे**"त्यादीनां '**णपुमे**'—त्यादिभिः क्रमेण योजनात् "णपुमा असाय-सोगाऽरई हुंड ॥१५०॥ णीअ अथिरतिग-अजस-ऽणाइ-ज्जाणि" इत्येतावता सङ्ग्रहगाथावयवेनाऽभिहितानां नपुंसकवेदा-ऽसातवेदनीय-शोका-ऽरति-हुंड-संस्थाना-ऽस्थिरत्रिका-ऽयशःकीर्त्य-नादेयनाम-नीचैर्गोत्रलक्षणानां नपुंसकवेदाद्येकादशप्रकृतीनाम्, तथा "उरलतिरिक्खदुग" इत्यनेन संग्रहगाथावयवेनोक्तानामौदारिकशरीर-तिर्यग्गति-तिर्यग्गानु-पूर्वीलक्षणानां तिसृणां प्रकृतीनाम् "एगिंदी । थावर-सुहुमतिग" इत्यनेन संगृहीतानामेकेन्द्रियजाति-स्थावर सूक्ष्मा-ऽपर्याप्तक-साधारणाभिधानां पञ्चानामेकेन्द्रियादिप्रकृतीनामित्येवं समुदितानां षट्

षष्टिप्रकृतीनां प्रत्येकम् **"सव्वकिलिट्ठो मिच्छो सण्णी"** त्ति मार्गणाप्रविष्टः सर्वसंक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिः संज्ञी जीवः, उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी भवतीति गम्यते। अत्र सर्वसंक्लिष्ट इवेषन्मध्यमसंक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिः संज्ञी जीव इत्यपि विज्ञेयम्, कुतः? "तत्थ खलु ईसिमज्झिसंकिट्ठो बधगो वि वत्तव्वो" इत्यादिप्रागुक्तसामान्यवचनात्।

ननु प्रस्तुतमार्गणाचतुष्केऽपर्याप्तजीवानामेव प्रवेशेन पर्याप्तजीवस्वामिकः सर्वसंक्लेश एव न सम्भवति, इत्थं **"सव्वकिलिट्ठो"** इत्येतदेव नोपपद्यते, तदेतदधीनमीषन्मध्यमसंक्लिष्टविशेषणमपि नोपपद्येत, मूलाभावे मूलाधीनानां शाखादीनामनुपपत्तेरिव? **इति चेद्**, न यतोऽत्र सर्वसंक्लेशतया न ओघोत्कृष्टसंक्लेशोऽभिप्रेतः, किन्तु तत्तदपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिमार्गणासु सम्भवत्सर्वाधिकसंक्लेशः सर्वसंक्लेशतयाऽभिमतः, अतो न काचिदनुपपत्तिरिति।

ननु कस्मादत्र मार्गणास्थानेषु मार्गणाप्रायोग्यसर्वाधिकसंक्लेश एव सर्वसंक्लेशतया विवक्षितः, न पुनरोघोत्कृष्टसंक्लेशः? **इति चेद्**, **उच्यते**, किञ्चित्स्फुटावबोधार्थम्। **इदमुक्तं भवति**–सर्वसंक्लेशेनौघोत्कृष्टसंक्लेशस्यैव विवक्षणे यास्वपर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रियादिमार्गणासु पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियमिथ्यादृष्टिजीवानामप्रवेशेनौघोत्कृष्टसंक्लेश एव नाऽवाप्यते तास्वशुभतमानामशुभानां शुभानां ध्रुवबन्धिनीनां वा सर्वासामपि प्रकृतीनां बन्धकस्तत्प्रायोग्यसंक्लिष्ट एव वक्तव्यः स्यात्, मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टसंक्लेशस्य सर्वसंक्लेशतया विवक्षणे तु तदन्येषां हीनहीनतरादिसंक्लेशानां तत्प्रायोग्यसंक्लेशतया तथा मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टसंक्लेशस्य तु सर्वसंक्लेशतयेत्येवं भेदेन प्रदर्शयितुं शक्यम्, तथा च प्रदर्शने संज्ञ्यसंज्ञिपर्याप्तापर्याप्तत्वादिरूपेण समानेष्वपि तत्तत्प्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिषु दर्शितनीत्योत्कृष्टसंक्लिष्टास्तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टा वेत्येवं किञ्चिद्विशेषतः स्वामित्वविषयकावबोधो भवतीति।

मार्गणास्थानेषु मार्गणाप्रायोग्यसर्वाधिकस्य संक्लेशस्य सर्वसंक्लेशतया विवक्षितत्वादेव उक्तशेषप्रकृतीनां बन्धका न सर्वसंक्लिष्टा इति कृत्वा तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टा इति दर्शयन्नाह–**"सेसाण तदरिहकिलिट्ठो"** त्ति "मिच्छो सण्णी" इत्यनुवर्तते, तत उक्तशेषाणां सातवेदनीयादिप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकस्तु 'तदर्हक्लिष्टः' तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिः संज्ञी जीवो भवति, न पुनरुत्कृष्टसंक्लिष्ट ईषन्मध्यमसंक्लिष्टो वा, उत्कृष्टसंक्लिष्टैरीषन्मध्यमसंक्लिष्टैर्वाऽसातवेदनीयादियथोक्तप्रकृतीनामेव निर्वर्तनात्। अत्रौदारिकमिश्रकाययोगे बन्धप्रायोग्यशेषप्रकृत्यन्तर्गता देवद्विक-वैक्रियद्विक-जिननामलक्षणाः पञ्चप्रकृतयः सम्यग्दृष्टिजीवैरेव बध्यन्ते, न तु मिथ्यादृष्टिभिः, इत्थं तासां पञ्चप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य स्वामी न तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिः किन्तु सम्यग्दृष्टिरेवेत्यतस्तत्रापवदन्नाह–**"णवरं उरालमीसे"** इत्यादि, गतार्थम्। शेषा **आयुर्वर्जबन्धप्रायोग्यप्रकृतयस्त्व**पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणायाम्–सातवेदनीय-हास्य-रति-स्त्रीवेद-पुरुषवेद-

मनुष्यद्विक-विकलत्रिक-पञ्चेन्द्रियजातिनामौ-दारिकाङ्गोपाङ्ग-संहननषट्क-हुंडकवर्जसंस्थानपञ्चक-विहायोगतिद्विका-ऽऽतपो-द्योत-पराघातो-च्छ्वास-त्रसदशक-दुःस्वरो-च्चैर्गोत्राणीत्येकचत्वारिंशत् । एवमेवाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तत्रसकायमार्गणयोरपि । औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां तु ता एवैकचत्वारिंशद् देवद्विक-वैक्रियद्विक जिननामलक्षणप्रकृतिपञ्चकेन सहिताः सत्यः षट्चत्वारिंशदवसेया इति ।

इदन्त्ववधेयम्-एतासु मार्गणासु प्रत्येकं केवलानामपर्याप्तजीवानामेव प्रवेशेन सामान्यवक्तव्यतयाऽभिहितं सर्वपर्याप्तिभिः पर्याप्त इति विशेषणं योजनीयं न भवत्यतः साकारादिलक्षणानि शेषविशेषणान्येव योजनीयानि; एवमेवोत्तरत्राऽपि स्वयमेव यथासम्भवं विशेषणयोजना कार्येति ।

ननु औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां सर्वेषां बन्धकानामपर्याप्तत्वेऽपि केचन लब्ध्यपर्याप्ताः केचन तु करणाऽपर्याप्ताः, तदनयोर्द्विविधजीवभेदयोर्मध्ये के प्रस्तुतप्रकृतीनां यथोक्तोत्कृष्टस्थितिबन्धस्य स्वामिनो भवन्ति ? इति चेद् , उच्यते, करणापर्याप्ता एवोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनः, न तु लब्ध्यपर्याप्ताः, तेषां तथाविधसंक्लेशानुत्पत्तेः । इत्थमौदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायामायुर्वर्जसर्वप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनः करणाऽपर्याप्तजीवा एव विज्ञेयाः, एवमेवोत्तरत्र कार्मणकाययोगा ऽनाहारकमार्गणयोरपि विज्ञेयम् , अन्यासु पुनर्यासु पर्याप्ता जीवा न प्रविष्टास्तास्वपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिमार्गणासु तु सर्वासां बन्धप्रायोग्यप्रकृतीनामुत्कृष्टाया जघन्याया वा स्थितेर्बन्धका लब्ध्यपर्याप्तजीवा एव, तासु पर्याप्तानामिव करणाऽपर्याप्तजीवानामप्यप्रवेशादिति ॥१७२-१७३॥

दर्शिता तिर्यग्गतिभेदेषु तत्साम्याद् मार्गणान्तरेषु चायुर्वर्जप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनः । साम्प्रतं क्रमप्राप्तमनुष्यगतिमार्गणाभेदेभ्योऽपर्याप्तमनुष्यभेदे तान् दिदर्शयिषुस्तत्साम्यादेकेन्द्रियादिमार्गणान्तरेष्वपि युगपदाह—

असमत्तणरम्मि सयलएगिंदियविगलपंचकायेसु ।
धुवबंधि-गारस-ति-पण-णपुमुरलेगिंदियाईणं ॥१७४॥
उक्कोससंकिलिट्ठो णेयो सेसाण तदरिहकिलिट्ठो ।
णत्थऽत्थि बायरो खलु सव्वाणेगिंदियाईसु ॥१७५॥

(प्रे०) "**असमत्तणरम्मी**"त्यादि, अपर्याप्तनरमार्गणाभेदे तथा 'सकलेषु' अन्यूनेष्वोघ-सूक्ष्मौघ तत्पर्याप्त-ऽपर्याप्त-बादरौघ तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्नेषु सप्तस्वेकेन्द्रियजातिमार्गणाभेदेषु, सकलेष्वोघ-पर्याप्ता ऽपर्याप्तभेदभिन्नेषु "**विगल**"त्ति द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियजातित्रयलक्षणविकलेन्द्रियसत्केषु नवसु भेदेषु, तथैव सकलेषु "**पंचकायेसु**" त्ति पृथिव्यादिवनस्पतिकायान्तपञ्चकायसत्केष्वेकोनचत्वारिंशत्संख्याकेषु मार्गणाभेदेषु प्रत्येकमित्यर्थः । तत्र पृथिव्यादीनां पृथिवी-

जल-ज्वलन-वायु-साधारणवनस्पतिकायानां प्रत्येकमेकेन्द्रियवत्सप्त सप्त भेदा इति कृत्वा पञ्चत्रिंशद्, ओघ-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्नाः प्रत्येकवनस्पतिकायसत्कास्त्रयः, वनस्पतिकायौघभेदश्चेत्येवं पृथिव्यादिपञ्चकायसत्काः प्रस्तुतग्रन्थेऽधिकृता एकोनचत्वारिंशन्मार्गणाभेदा अवसातव्याः। एतेषु प्रत्येकं किमित्याह—"**धुवबंधिगारस**" इत्यादि, तत्र "**धुवबंधिगारसे**"त्यादेरक्षरार्थोऽनन्तरगाथायामुक्तस्तथैवाविशेषेण ज्ञातव्यः, तदीयविशेषव्याख्यानमप्यपर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रियमार्गणावदेव, केवलं द्वितीयगाथोत्तरार्धे "**णवरऽत्थि**" इत्यादिनैकेन्द्रियौघ-पृथिवीकायौघा-ऽप्कायौघ-तेजस्कायौघ-वायुकायौघ-वनस्पतिकायौघ-साधारणवनस्पतिकायौघमार्गणालक्षणेषु "**एगिंदियाईसु**" ति एकेन्द्रियौघादिषु सप्तमार्गणाभेदेषु "**ऽत्थि बायरो खलु**" त्ति तत्तन्मतिज्ञानावरणादिध्रुवबन्धिनीनां नपुंसकवेदादिप्रकृतीनां च यथोक्त उत्कृष्टसंक्लिष्टो जीवस्तथा शेषप्रकृतीनां यथोक्तस्तदर्हसंक्लिष्टो जीवो बादर एव ज्ञेयः, न पुनः सूक्ष्म इत्यर्थः, खलुशब्दस्यावधारणार्थत्वात्।

अयम्भावः—यद्यपि बादरपृथिवीकायौघादिभेदेषु यथोक्ता उत्कृष्टसंक्लिष्टास्तदर्हसंक्लिष्टाश्चोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनो जीवा बादरा एव सन्ति तथापि तेषु सूक्ष्मजीवानामप्रवेशेनाऽनुक्तेऽपि बादरेति विशेषणे गम्यत एव यथोक्तबादरजीवा उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिन इति, तत्राऽपि पर्याप्ता-ऽपर्याप्तद्विविधजीवानां यत्र प्रवेशस्तत्र "पज्जत्ताऽपज्जत्ता दुहावि जीवाऽत्थि जत्थ तत्थ भवे" इत्यादिलक्षणया स्वामित्वप्रतिपादकगाथया दर्शितसामान्यव्याप्त्या पर्याप्ता इत्यपि ज्ञायते एव, न च ज्ञायते यत्र सूक्ष्म-बादरद्विविधजीवाः प्रविष्टास्तत्र के? सूक्ष्मा बादरा द्विविधा वोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनो भवन्ति के चोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनो न भवन्ति इत्यतस्तादृग्मार्गणासु सूक्ष्मा उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनो न भवन्ति अतस्तेषां व्यावृत्तये बादराणामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वप्रदर्शनार्थं च "बायरो खलु" इति विशेषतोऽभिहितमिति। ननूपपद्यतामेतत्सर्वं पृथिवीकायौघादिपञ्चौघमार्गणासु एकेन्द्रियौघ-वनस्पतिकायौघमार्गणयोस्तु नोपपद्यते, तत्र प्रत्येक-साधारणद्विविधजीवानां प्रवेशेन प्रत्येकजीवानामेवोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वसम्भवात्, **तथाहि**—सूक्ष्मत्व-बादरत्वयोर्मध्ये बादरत्वस्य पर्याप्ता-ऽपर्याप्तत्वयोर्मध्ये पर्याप्तत्वस्य चोत्कृष्टस्थानरूपतया तदितरयोर्निकृष्टस्थानरूपतया च यथाऽनयोर्मध्ये उत्कृष्टस्थानगता बादराः पर्याप्ताश्चोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनो भवन्ति, नान्ये सूक्ष्मा अपर्याप्ता वा, तथा प्रत्येकत्व-साधारणत्वयोर्मध्ये प्रत्येकत्वरूपोत्कृष्टस्थानगतानामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वस्य न्याय्यत्वात्। न च बादरत्व-सूक्ष्मत्व-पर्याप्तत्वा-ऽपर्याप्तत्वमध्ये यथोक्तोत्कृष्ट-निकृष्टस्थानविभागसत्त्वेऽपि प्रत्येकत्व साधारणत्वयोर्मध्ये उत्कृष्ट-निकृष्टस्थानविभागो न विद्यते इति वाच्यम्, अपर्याप्तमनुष्यादीनां तथाविधोत्कृष्टसंक्लेशेन सूक्ष्मा-ऽपर्याप्तनामप्रकृत्योरिव साधारणनामकर्मण एव बन्धभावाद् बादर-पर्याप्त-प्रत्येकप्रकृतीनां त्वनिर्वर्तनाच्च यथोत्कृष्टसंक्लेशनिर्वर्तनीयत्वलक्षणं निकृष्टस्थानत्वं सूक्ष्मत्वा-ऽपर्याप्तत्वयोस्तयोर्निकृष्टस्थानत्वे तदन्ययोर्बादरत्व-पर्याप्तत्वयोरुत्कृष्टस्थानत्वं

चाव्याहतं तथा साधारणत्वस्य निकृष्टत्वम् , तदन्यस्य प्रत्येकत्वस्योत्कृष्टत्वं चाऽनपायमेव, इत्येवं वनस्पतिकायौघमार्गणायां बादरजीवानां यथोक्तोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वं वक्तव्यं न भवति, तस्यां सूक्ष्मबादरयोः साधारणवनस्पतिकायभेदत्वात् , प्रत्येकसाधारणजीवयोर्मध्ये यथोक्तनीत्या साधारणजीवानामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वाभावेन तद्व्याप्यानां बादरसाधारणजीवानामपि तस्याऽसम्भवात् , इत्थं च वनस्पतिकायौघमार्गणायां बादरेति विशेषणस्योपादानं न युज्यते, उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनां प्रत्येकजीवानां व्यावृत्त्यापत्तेः, यद्वा बादरनामकर्मोदयरूपस्य बादरत्वस्य बादरनामकर्मोदयवत्सु प्रत्येकवनस्पतिकायजीवेष्वपि सम्भवेन मा भवतु बादरेति विशेषणेन प्रत्येकवनस्पतिकायिकानां व्यवच्छेदः, अतिप्रसक्तिस्तु स्यादेव, उक्तनीत्योत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामितयाऽघटमानानां बादरसाधारणवनस्पतिकायजीवानामपि बादरेति विशेषणेन संग्रहीतुं शक्यत्वाद् ? इति चेद् , मैवम् , भवदुक्तव्याप्तेरेवासिद्धेः, अन्यथा तिर्यक्त्वमनुष्यत्वमध्ये मनुष्यत्वस्यैवोत्कृष्टस्थानरूपतयौघतो मनुष्याणामेवोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वं स्याद् , यद्वा देवानामेव तत्स्यात् , न तु नारकाणां तिरश्चां मनुष्याणां वा तेभ्यो देवगतेरेव श्रेष्ठत्वात् । यथोक्तोत्कृष्टनिकृष्टत्वं तु बन्धप्रायोग्योत्कृष्टस्थित्यादेरुपपत्तौ पारभविकोत्पत्तिस्थानान्यपेक्ष्योपयुज्यते, न पुनः वेद्यमानमनुष्यत्व-तिर्यक्त्वैकेन्द्रियत्व-प्रत्येकत्व-बादरत्वाद्यवस्थाविशेषापेक्षया । **एतदुक्तं भवति**–यथैकेन्द्रिय-प्रत्येक-पर्याप्तनामादीनामुत्कृष्टस्थितेर्बन्धका एते उत्कृष्टसंक्लिष्टजीवास्तदा सम्भवन्ति यदि तेषां सर्वनिकृष्टं पारभविकोत्पत्तिस्थानं पर्याप्तप्रत्येकैकेन्द्रियत्वलक्षणं स्यात् , एवं साधारणाऽपर्याप्तनामादिप्रकृतीनां तदा सम्भवन्ति यदि तेषां सर्वनिकृष्टं पारभविकोत्पत्तिस्थानमपर्याप्तसाधारणवनस्पतिकायलक्षणं स्यात् , इत्येवमन्यत्राऽपि पारभविकोत्पत्तिस्थानमपेक्ष्य योज्यं भवति, भवता तु वैपरीत्येन योजितं तत्कथं घटामञ्चेत् , न कथमपीति भावः, यतो वनस्पतिकायौघमार्गणायां बादरेति विशेषणवर्ज्या यथोक्तोत्कृष्टसंक्लेशादिविशिष्टाः प्रत्येकवनस्पतिकायिका वा भवन्तु बादरसाधारणवनस्पतिकायिका वा भवन्तु ते सर्वेऽप्युत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनो भवन्ति, बादरेति विशेषणस्य बादरनामकर्मोदयवत्परतयाऽभिमतत्वात् ।

ननु कथं ज्ञायते यत्प्रत्येकवनस्पतिकायिका इव साधारणवनस्पतिकायिकेष्वपि केचन जीवा वनस्पतिकायौघमार्गणायां बन्धप्रायोग्योत्कृष्टस्थितिबन्धानुकूलसंक्लेशमवाप्योत्कृष्टस्थितिबन्धं निर्वर्तयन्ति ? **इति चेद्** , स्थावरप्रायोग्येषु प्रत्येकं रसबन्धाध्यवसायस्थानेष्वनन्तानां जीवानां प्रतिपादनात् । उक्तं च **कर्मप्रकृतिरसबन्धचूर्णौ**—"एक्केक्कमि थावरपाउग्गे अज्झवसाणट्ठाणे। अणंता थावरजीवा।" इति । इदमुक्तं भवति–एकैकस्मिन् स्थितिबन्धस्थानेषु प्रत्येकं तत्कारणीभूतानि तीव्र-तीव्रतर-मन्द-मन्दतरादिकषायविशेषोदयरूपाण्यसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमितानि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानि सन्ति, तेष्वेकैकस्मिन् कषायोदयस्थाने नानाजीवापेक्षयाऽसंख्येयलोकप्रदेशप्रमितानि सकषायोदयलेश्यापरिणामविशेषरूपाणि रसबन्धाध्यवसायस्थानानि सन्ति । उक्तं च

विद्वत्तल्लजैर्महामहोपाध्यायैर्यशोविजयपादैः **कर्मप्रकृतिरसबन्धवृत्तौ**–'जघन्या स्थितिरेक स्थितिस्थानं, सैव समयोत्तरा द्वितीय, एव समयवृद्धया तावद्वाच्यं यावदुत्कृष्टा स्थितिः । एव चासंख्येयानि स्थितिबन्धस्थानानि भवन्ति । तेषु च प्रत्येकमेकैकस्मिन् स्थितिबन्धस्थानेऽध्यवसायस्थानानि तीव्र मन्दादिकषायोदयविशेषरूपाण्यसख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि भवन्ति । एकैकस्मिंश्च कषायोदये सति असख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्यनुभागबन्धस्थानानि कृष्णादिलेश्यापरिणामविशेषरूपाणि भवन्ति'' इति । किञ्च "एगिंदिया णिच्च" मिति वचनात् स्थावरप्रायोग्यरसबन्धाध्यवसायेषु तु प्रत्येकं प्रतिसमयमनन्ता जीवाः प्राप्यन्ते, एतच्चाऽनन्तपरिमाणं साधारणवनस्पतिकायजीवापेक्षया घटामञ्चति, न तु प्रत्येकवनस्पतिकायजीवापेक्षया, तेषां सर्वेषामप्यसंख्येयत्वात् । इत्थं हि वनस्पतिकायौघमार्गणायां बन्धप्रायोग्यसर्वरसबन्धस्थानेष्वनन्ता अनन्ताः साधारणजीवाः, ततोऽसंख्येयगुणा वनस्पतिकायिका जीवाश्च बन्धप्रायोग्येषु स्थितिबन्धस्थानेषु जघन्याद्युत्कृष्टपर्यन्तेष्वेकैकस्मिन् स्थाने प्राप्यन्ते, इत्येवं वनस्पतिकायौघमार्गणायामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्थानेऽपि तद्बन्धकतया साधारणवनस्पतिकायजीवा लभ्यन्त एवेत्यलं विस्तरेण; एवमेवैकेन्द्रियौघमार्गणायामपि समाधेयमिति ॥१७४-१७५॥

शेषमनुष्यगतिमार्गणाभेदत्रये तत्साम्यादौदारिककाययोगे चाह—

चउवीसाणिरयाइग-धुवबंधीण तिणरेसु मिच्छत्ती ।
उक्कोससंकिलिट्ठो ओघव्वाहारदुग-जिणाण भवे ॥१७६॥ (गीतिः)
तप्पाउग्गकिलिट्ठो मिच्छादिट्ठी हवेज्ज सेसाणं ।
एमेव उरलजोगे सण्णी वि असण्णिवज्जत्थं ॥१७७॥

(प्रे०) "**चउवीसाणिरयाइगे**"त्यादि, तत्र "**तिणरेसु**" त्ति उक्तशेषेषु मनुष्यौघपर्याप्तमनुष्य-मानुषीलक्षणेषु त्रिषु मनुष्यगतिमार्गणाभेदेषु "णिरयविउव्वदुगे"त्यादिसंग्रहगाथावयवसंगृहीतानां निरयद्विक वैक्रियद्विक-नपुंसकवेदा-ऽसातवेदनीय-शोका-ऽरति-हुंडसंस्थान-नीचैर्गोत्रा-ऽस्थिरत्रिका-ऽयशःकीर्त्य-नादेय-पराघात-श्वासोच्छ्वास-बादरत्रिक-त्रस-कुखगति-पञ्चेन्द्रियजाति दुःस्वरनामलक्षणानां चतुर्विंशतेर्निरयगत्यादिप्रकृतीनां तथा मतिज्ञानावरणादीनां सप्तचत्वारिंशतो ध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनामित्येवं समुदितानामेकसप्ततिप्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी "**मिच्छत्ती उक्कोससंकिलिट्ठो**" त्ति प्रागिव साकारादिविशेषणविशिष्ट उत्कृष्टसंक्लिष्ट ईषन्मध्यमसंक्लिष्टश्च मिथ्यादृष्टिर्जीवो भवति । विशेषार्थोऽपीह प्राग्वदेव केवलं "**उक्कोससंकिलिट्ठो**" इत्यनेनापर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रियमार्गणावन्मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टसंक्लेशस्य ग्राह्यत्वेऽप्यसावुत्कृष्टसंक्लेशोऽत्र मार्गणात्रये ओघवदेव विज्ञेयः, तदनुसारेणेषन्मध्यमश्चेति । "**ओघव्वाहारदुगजिणाण भवे**" त्ति मार्गणात्रयेऽप्याहारकद्विकजिननामलक्षणप्रकृतित्रयस्योत्कृष्टस्थितेर्बन्धक ओघवद्विज्ञेयः । **तद्यथा**–आहारकद्विक-

स्य प्रमत्तत्वाभिमुखस्तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टोऽप्रमत्तो यतिः, जिननाम्नस्तु नरकं जिगमिषुर्मिथ्यात्वाभिमुखः सम्यग्दृष्टिर्मनुष्य उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामीति ।

उक्तशेषप्रकृतीनामाह–"तप्पाउग्गे"त्यादि, गतार्थम् । **शेषा आयुर्वर्जप्रकृतयस्त्विमा द्विचत्वारिंशत्**– सातवेदनीय- हास्य–रति स्त्रीवेद-पुंवेद–तिर्यग्द्विक-मनुष्यद्विक-देवद्विक-जातिचतुष्कौदारिकद्विक-संहननषट्क-हुंडवर्जसंस्थानपञ्चक-सुखगत्या-तपो-द्योत स्थावरचतुष्क स्थिरषट्कोच्चैर्गोत्राणि । कुत एतासामुत्कृष्टा स्थितिरुत्कृष्टसंक्लेशैर्जीवैर्न निर्वर्त्यते ? मार्गणात्रयेऽप्युत्कृष्टसंक्लेशगतानां जीवानां निरयगतिप्रायोग्यप्रकृतीनामेव बन्धभावात् , तासु निरयप्रायोग्यप्रकृतिषु प्रस्तुतद्विचत्वारिंशत्प्रकृतीनामनन्तर्गतत्वाच्चेति ।

अथोक्तमार्गणात्रयोक्तस्वामिनां वक्ष्यमाणौदारिककाययोगमार्गणायां लभ्यमानप्रस्तुतप्रकृत्युत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनां चानन्यत्वादतिदेशेनाह–"**एमेव उरलजोगे**" इत्यादि, अनुपदमुक्तमार्गणात्रयवदौदारिककाययोगमार्गणायामप्यायुश्चतुष्कवर्जानां मतिज्ञानावरणादीनां शेषसर्वप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी वक्तव्यः, केवलम् "**सण्णी वि**" त्ति विशेषतः स उत्कृष्टसंक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिस्तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टो वा जीवः संज्ञीत्यपि वक्तव्यम् , कस्मादित्याह–"**असण्णिवज्जत्थं**" ति उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामितयाऽसंज्ञिनां वर्जनार्थम् । **अयम्भावः**–प्रथमोक्तमनुष्यगत्योघादिमार्गणात्रयेऽसंज्ञिनामप्रवेशेन तेषां वर्जनस्याऽनावश्यकतया संज्ञीति विशेषणेऽनुक्तेऽपि निर्वहति सर्वम् , अत्रौदारिककाययोगे तु संज्ञिनामिवाऽसंज्ञिनामपि प्रवेशो विद्यतेऽतस्तेषां व्यवच्छेदार्थमुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिविशेषणतया संज्ञीत्यधिकृतो वक्तव्यमावश्यकमिति ॥१७६-१७७॥ दर्शिता मनुष्यगतिमार्गणाभेदेषूत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनः । साम्प्रतं क्रमप्राप्तदेवगतिमार्गणाभेदेषु तान् व्याचिकीर्षुराह—

मिच्छो सव्वकिलिट्ठो धुव-गुणतीसणपुमाइगाण सुरे ।
तदरिहकिट्ठो सम्मो जिणस्स सेसाण मिच्छत्ती ॥१७८॥
धुव-सोलसणपुमाइग-सत्तुज्जोआइगाण विण्णेयो ।
ईसाणंतसुरेसुं मिच्छो उक्कोससंकिट्ठो ॥१७९॥
तप्पाउग्गकिलिट्ठो मिच्छो सेसाण बंधगो णवरं ।
सोहम्मीसाणेसुं सम्मादिट्ठी जिणस्स भवे ॥१८०॥
अइसंकिट्ठो मिच्छो तेरसभेएसु आणताईसुं ।
धुवबंधि-णरदुग-उरल-दुवीसणपुमाइगाण भवे ॥१८१॥
तप्पाउग्गकिलिट्ठो सम्मादिट्ठी जिणस्स बोद्धव्वो ।
तदरिहकिट्ठो मिच्छो तेवीसाअ अवसेमाणं ॥१८२॥

(प्रे०) "**मिच्छो सव्वकिलिट्ठो**" इत्यादि, सुरगत्योघमार्गणाभेदे सर्वसंक्लिष्टो मिथ्यादृग्जीव उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी भवेत्, कासां प्रकृतीनामित्याह–"**धुवगुणतीसे**"त्यादि, मतिज्ञानावरणादिसप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनां तथा "णपुमा असाय-सोगा-ऽरई हुड ॥१५०॥ णीअ अथिरतिग-अजस-ऽणाइज्जाणि परघाय ऊसासा । बायरतिग-तस-कुखगइ-पणिंदि-दुस्सर-छिवट्ठाणि ॥१५१॥ उरलोवगु ज्जोआ उरल-तिरिक्खदुग-आयवे-गिंदी । थावर" इत्येतावद्भिः संग्रहगाथावयवैः संगृहीतानां नपुंसकवेदाद्येकोनत्रिंशत्प्रकृतीनाम् । तत्र पञ्चेन्द्रियजात्यौदारिकाङ्गोपाङ्ग-सेवार्तसंहनना-ऽप्रशस्तविहायोगति-त्रस-दुःस्वरनामलक्षणानां षण्णां प्रकृतीनां सनत्कुमाराद्याः सहस्रारान्ताः सर्वसंक्लिष्टा देवा भवन्ति, न पुनर्भवनपत्याद्या ईशानकल्पान्ता अपि, तेषां सर्वसंक्लेशे सत्येकेन्द्रियप्रायोग्यप्रकृतीनां बन्धभावेन त्रसप्रायोग्याणां प्रस्तुतानां प्रकृतीनामेवाऽबन्धात् । आतप-स्थावरै-केन्द्रियजातिलक्षणानां तिसृणां प्रकृतीनां तु भवनपत्यादीशानान्ताः सर्वसंक्लिष्टदेवा एव, न पुनस्तदुपरितनवर्तिविमानवासिनोऽपि, तेषामनन्तरभवे एकेन्द्रियतयाऽनुत्पत्तेर्भवप्रत्ययेनाऽऽतपादिप्रकृतित्रयस्याऽबन्धात् । शेषनपुंसकवेदादिसप्तषष्टिप्रकृतीनामपि भवनपत्यादिसहस्रारकल्पान्ताः सर्वसंक्लिष्टा देवा एवोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनः, न पुनस्तदुपरिवर्तिनोऽपि, उपरिष्टाद्वर्तिदेवानां शुक्ललेश्याकतया तथाविधसंक्लेशानुत्पत्तेरुत्कृष्टतोऽप्यन्तःकोटीकोटीसागरोपमप्रमाणस्थितिबन्धस्य भावात् तस्य च देवगत्योघमार्गणापेक्षयाऽनुत्कृष्टत्वात्, न तद्बन्धका उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिन इति भावः । "**तदरिहकिट्ठो सम्मो जिणस्स**" त्ति 'जिनस्य' तीर्थंकरनामकर्मणस्तदर्हसंक्लिष्टः सम्यग्दृष्टिर्जीवः; स च भवनपतिव्यन्तर ज्योतिष्कदेववर्जोऽन्यतमो बोद्धव्यः, ज्योतिष्कान्तानां जिननाम्नोऽबन्धकत्वादिति ।

शेषाणामायुर्वर्जानामाह–"**सेसाण मिच्छत्ती**" त्ति "**तदरिहकिट्ठो**" इत्यनुवर्तते तत उक्तव्यतिरिक्तानां सातवेदनीयादिप्रकृतीनां तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टो मिथ्यात्वी देव उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी भवति, अयमप्यानतादिकल्पोद्भवदेववर्जो विज्ञेयः ।

नन्वानतादिभेदेषु मिथ्यादृशोऽपि जीवा भवन्ति, तेषां चोत्कृष्टसंक्लेशस्याऽसम्भवेऽपि तत्प्रायोग्यसंक्लेशस्तु भवत्येव, न चैते सातवेदनीयादिशेषप्रकृतीनामबन्धका इत्यपि वक्तुं युज्यते, तत्कथमेते वर्ज्यन्ते? **इति चेत्, सत्यमेतत्**, नवरं तत्प्रायोग्यसंक्लेशो नानाभेदभिन्नो वर्तते, स च प्रस्तुते सातवेदनीयादीनां स्थितिबन्धप्रमाणद्वारोक्तपञ्चदशसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणस्थित्यनुरूपोऽभिमतः, तादृशश्चाऽऽनतकल्पादिवासिनां मिथ्यादृग्देवानामपि न भवति, तेषां शुक्ललेश्यतयोत्कृष्टतोऽप्यन्तःकोटीकोटीसागरोपमप्रमाणस्थितिबन्धभावादित्येवमन्यत्राऽप्यभ्यूह्यम् । **शेषप्रकृतयस्त्विमाः पञ्चविंशतिः**–सातवेदनीय-हास्य-रति-स्त्रीवेद-पुंवेद-मनुष्यद्विक-सेवार्तवर्जसंहननपञ्चक-हुडकवर्जसंस्थानपञ्चक-प्रशस्तविहायोगति-स्थिरषट्को-च्चैर्गोत्राणीति ।

ईशानकल्पान्तदेवगत्युत्तरभेदेष्वाह–"**धुवसोलसणपुमे**"त्यादिना, ईशानकल्पान्तेषु भवनपत्यादिषु पञ्चसु देवगत्युत्तरमार्गणाभेदेषु सप्तचत्वारिंशतो ध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनां तथा "**सोलसणपुमाइग**" त्ति "णपुमा" इत्यादिना संग्रहगाथांशेन संगृहीतानां नपुंसकवेदा-ऽसातवेदनीय-शोका-ऽरति-हुंडकसंस्थान-नीचैर्गोत्रा-ऽस्थिरत्रिका-ऽयशःकीर्त्य-नादेय-पराघातो-च्छ्वास-बादरत्रिकलक्षणानां षोडशप्रकृतीनां तथा "**सत्तुज्जोआइगाण**" त्ति प्राग्वत् 'उज्जोआ" इत्यादिना संगृहीतानामुद्योतौ-दारिकशरीर-तिर्यग्द्विका-ऽऽतपै-केन्द्रियजाति-स्थावरनामलक्षणानां सप्तप्रकृतीनामित्येवं समुदितानां सप्ततिप्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकः "**मिच्छो उक्कोससंकिट्ठो**" त्ति ओघवदुत्कृष्टसंक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिर्देवो विज्ञेयः । गतार्थम् । "**तप्पाउग्गकिलिट्ठो मिच्छो सेसाण**" त्ति उक्तशेषाणां भवनपत्यादित्रये त्रिंशतः सौधर्मेशानयोस्त्वेकत्रिंशत आयुर्वर्जप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितेः स्वामी तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिजीवः । अत्र सौधर्मेशानमार्गणाद्वये शेषप्रकृतिषु जिननाम्नोऽप्यन्तर्गतत्वात् तस्य च सम्यग्दृष्टिस्वामिकत्वादपवदति–"**णवर**"मित्यादिना, 'नवरम्'-परं सौधर्मेशानकल्पदेवगतिमार्गणाभेदयोः 'जिनस्य'-तीर्थकरनामकर्मण उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी "**सम्मदिट्ठी**" त्ति '**तप्पाउग्गकिलिट्ठो**" इत्यस्यानुवर्तनात् तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टः सम्यग्दृष्टिर्जीवो भवेदित्यर्थः । भावना तु देवगत्योघभेदघटनया गतप्राया इति ।

अथ क्रमप्राप्तसानत्कुमारादिदेवभेदेषु पूर्वं निरयगत्योघादिभेदैः सह प्रस्तुतस्वामित्वस्य दर्शितत्वात् तान् सानत्कुमारादिसहस्रारान्तदेवभेदान् त्यक्त्वाऽऽनतकल्पादिभेदेष्वाह–"**अइसंकिट्ठो मिच्छो**" इत्यादि, आनतकल्पादिषु नवमग्रैवेयकान्तेषु त्रयोदशसु देवगतिमार्गणाभेदेषु सप्तचत्वारिंशतो ध्रुवबन्धिनीनां तथा "**णरदुग**" त्ति मनुष्यगति-मनुष्यानुपूर्वीलक्षणस्य मनुष्यद्विकस्य "**उरल**" त्ति औदारिकशरीरस्य च, तथा "**दुवीसणपुमाइगाण**" त्ति द्वाविंशतेर्नपुंसकवेदादीनां "णपुमा असाये"त्यादिसङ्ग्रहगाथावयवैः संगृहीतप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकोऽतिसंक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिर्जीवो भवेत् , अत्रातिसंक्लेशेन ओघवत्सर्वसंक्लेशो न ग्राह्यः, किन्तु तत्तन्मार्गणाभेदसम्भवत्सर्वाधिकः संक्लेशो ग्राह्यः, स चाऽन्तःकोटीकोटीसागरोपमस्थितिप्रायोग्य एव भवति, आनतादिषु सर्वेषां देवानां शुक्ललेश्यत्वादिति । अथ शेषप्रकृतीनामाह–"**तप्पाउग्गे**"त्यादि, जिननाम्नस्तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टः सम्यग्दृष्टिर्जीवः, अवशेषाणां सातवेदनीयादीनां त्रयोविंशतेः प्रकृतीनां तु तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिर्जीव इत्यर्थः । कथं शेषप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टः, न पुनरुत्कृष्टसंक्लिष्टः ? इति चेद् , शेषप्रकृतीनामशुभतमसप्रतिपक्षपरावर्तमानप्रकृतित्वात् । **एतदुक्तं भवति**–सर्वसंक्लेशे वा तत्प्रायोग्यसंक्लेशे वा ध्रुवबन्धित्वादेव ध्रुवबन्धिन्यः प्रकृतयः सर्वदैव बध्यन्ते यदि स्यात् मिथ्यात्वादिनिजहेतुसद्भावः । न पुनरेवमध्रुवबन्धिन्यः, तासां परावर्तमानबन्धत्वेन सर्वदैव तद्बन्धस्याऽनावश्यकत्वात् ; यद्यपि एवं

तथापि काश्चित् सामान्यतः परावर्तमानबन्धा अपि प्रकृतयो मार्गणाविशेषेषु स्वप्रतिपक्षप्रकृतेर्बन्धविच्छेदाद् मूलत एव तद्बन्धाभावाद्वा ध्रुवबन्धिप्रकृतिवत् सदैव बध्यन्ते, न केवलं तत्प्रायोग्यसंक्लेशे एव, न चैवं स्वप्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसद्भाववत्यः प्रकृतयोऽपि; तासां स्वप्रतिपक्षप्रकृत्या समं परावृत्य परावृत्य बन्धभावात्, तासु पुनः या अशुभतमाः प्रकृतयस्ता एव सर्वसंक्लेशे बध्यन्ते, नान्याः, प्रस्तुतशेषप्रकृतयोऽपि न ध्रुवबन्धिन्यः, न वा स्वप्रतिपक्षप्रकृतिबन्धविरहिताः, न वाऽशुभतमसप्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाः, किन्तु अनशुभतमसप्रतिपक्षपरावर्तमानबन्धा एव, प्रतिपक्षप्रकृतिसहिता अनशुभतमाः परावर्तमानबन्धप्रायोग्यप्रकृतय एवेत्यर्थः, तथा च ता उत्कृष्टसंक्लेशे सति नैव बध्यन्ते, किन्तु तत्प्रायोग्यसंक्लेशे सत्येव निर्वर्त्यन्त इति तत्स्वाम्यपि तत्प्रायोग्यसंक्लिष्ट एव, न तूत्कृष्टसंक्लिष्ट इति । इह **शेषप्रकृतयस्तु** या अनन्तरं देवगत्योघमार्गणायां शेषप्रकृतितया दर्शितास्ता मनुष्यद्विकवर्जाः सत्यस्त्रयोविंशतिरवगन्तव्या इति ॥१७८-१८२॥

अथ शेषदेवगतिमार्गणाभेदेषु बिभणिषुस्तत्साम्यादाहारक-तन्मिश्रकाययोगमार्गणाद्वयेऽपि सममेवाह—

पंचसु अणुत्तरेसुं आहारदुगे य तदरिहकिलिट्ठो ।
छण्हं सायाईणं सेसाणुक्कोससंकिट्ठो ॥१८३॥

(प्रे०) "**पंचसु**" इत्यादि, जयन्त-विजयन्त-वैजयन्ताऽपराजित-सर्वार्थसिद्धाभिधेयेषु पञ्चस्वनुत्तरविमानभेदलक्षणेषु देवगतिभेदेषु "**आहारदुगे य**" त्ति आहारक-तन्मिश्रयोगद्वयलक्षणे आहारकद्विके च प्रत्येकमुत्कृष्टायाः स्थितेर्बन्धकस्तदर्हसंक्लिष्टो यथासंभवं देवो मनुष्यो वा भवति, कासां प्रकृतीनामित्याह—"**छण्हं सायाईणं**" ति संग्रहगाथावयवसंगृहीतानां सातवेदनीय-हास्य-रति-स्थिर-शुभ-यशःकीर्तिलक्षणसातवेदनीयादिषट्प्रकृतीनाम् । तत्र तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टोऽनन्तरोक्तनीत्याऽस्य प्रकृतिषट्कस्याऽनशुभतमत्वे सति परावर्तमानत्वादिति । शेषप्रकृतीनां तर्हि क इत्याह—"**सेसाणुक्कोससंकिट्ठो**" त्ति उक्तप्रकृतिषट्कव्यतिरिक्तानामायुर्वर्जप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी '**उत्कृष्टसंक्लिष्टः**' मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टसंक्लेशे वर्तमानो विज्ञेयः । इहापि सातवेदनीयादिवन्मनुष्यगत्यादिप्रकृतीनां सामान्यतो बन्धतः परावर्तमानप्रकृतित्वेऽपि प्रस्तुतमार्गणायां तत्प्रतिपक्षप्रकृतीनां मूलत एव बन्धाभावेन ध्रुवबन्धिनीनामिवोत्कृष्टसंक्लेशेऽपि बन्धभावात्तदुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी उत्कृष्टसंक्लेशे वर्तमानोऽभिहित इति बोद्धव्यमिति । इत्येवमन्यत्राप्यभ्यूह्यं स्वधियेति ॥१८३॥

तदेवं दर्शिता गतिमार्गणाभेदेषूत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनस्तत्तुल्यवक्तव्यत्वान्मार्गणान्तरेषु च प्रस्तुतोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनः, सम्प्रति क्रमप्राप्तयोः पञ्चेन्द्रियौघ-तत्पर्याप्तयोरुक्तशेषयोरिन्द्रियमार्गणाभेदयोस्तेषामोघसदृशत्वादतिदिदिक्षुरन्यमार्गणास्वपि तुल्यवक्तव्यत्वात्सममेवातिदिशन्नाह—

ओघव्व जाणियव्वो सप्पाउग्गाण सव्वपयडीणं ।

दुपणिंदितसेसु तह पणमणवय-कायजोगेसु ॥१८४॥
कोहाईसु चउसु तिअणाणा-ऽजय-अचक्खु-चक्खूसु ।
भविया-ऽभवियेसु तहा मिच्छे सण्णिम्मि आहारे ॥१८५॥

(प्रे०) "ओघव्वे"त्यादि, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियभेदा-ऽपर्याप्तत्रसकायभेदयोः प्राग् "असमत्तपणिंदितिरियपणिंदितस" इत्यादि (१७२-१७३) गाथया प्रस्तुतस्वामिनामभिहितत्वात्तद्वर्जयोर्द्वयोः पञ्चेन्द्रियौघ-तत्पर्याप्तभेदयोर्द्वयोश्च त्रसकायौघ-तत्पर्याप्तभेदयोः, तथा पञ्चसु मनोयोगभेदेषु, पञ्चसु वचोयोगभेदेषु, काययोगसामान्ये, क्रोधादिषु क्रोध-मान-माया-लोभलक्षणेषु चतुर्षु कषायमार्गणाभेदेषु, त्रिषु मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान-विभङ्गज्ञानलक्षणेष्वज्ञानेषु, असंयमे, अचक्षुर्दर्शन-चक्षुर्दर्शनयोः, भव्या-ऽभव्ययोः, मिथ्यात्वे, संज्ञिनि, आहारकमार्गणाभेदे चेत्येवं सर्वसंख्यया त्रिंशन्मार्गणाभेदेषु प्रत्येकमुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी ओघवज्ज्ञातव्यः, कासां प्रकृतीनामित्याह–"**सप्पाउग्गाण सव्वपयडीणं**" ति प्रस्तुतत्वादायुर्वर्जानां तत्तत्पञ्चेन्द्रियौघादिमार्गणाभेदेषु स्वस्मिन् स्वस्मिन् बन्धप्रायोग्याणां सर्वासामुत्तरप्रकृतीनाम् । सुगमम्, प्रत्येकं मार्गणास्वौघिकोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनां सर्वसंक्लिष्टमिथ्यादृष्ट्यादिजीवानां प्रविष्टत्वादिति ॥१८४-१८५॥

तदेवमभिहिता इन्द्रियमार्गणाशेषभेदद्वये तत्साम्यात्कायमार्गणाशेषभेदद्वये मनोयोगादिभेदेषु चोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनः, सम्प्रति क्रमप्राप्तयोगमार्गणाभेदे तान् प्रदिदर्शयिषुर्वैक्रिय-तन्मिश्रकाययोगद्वय आह—

धुव-सोलसणपुमाइग-चउउज्जोआइगाण विउवदुगे ।
तिव्वकिलिट्ठो मिच्छो णिरयो तह आसहस्सारो ॥१८६॥
छण्ह खलु तसाईणं सणंकुमाराइआसहस्सारो ।
णेरइयो वा णेयो मिच्छत्ती सव्वसंकिट्ठो ॥१८७॥
अइसंकिट्ठो मिच्छो ईसाणंतो तिआयवाईणं ।
तदरिहकिट्ठो सम्मो णिरयो देवो य तित्थस्स ॥१८८॥
तप्पाउग्गकिलिट्ठो णिरयो देवो य आसहस्सारो ।
मिच्छादिट्ठी णेयो पणवीसाए णराईणं ॥१८९॥

(प्रे०) "धुव-सोलसणपुमाइगे"त्यादि, तत्र "विउवदुगे" त्ति वैक्रिय-तन्मिश्रकाययोगमार्गणाद्वयलक्षणे वैक्रियद्विके ध्रुवबन्धिनीनां पूर्वोक्तलक्षणानां मतिज्ञानावरणादिसप्तचत्वारिंशत्प्रकृतीनां तथा "सोलसणपुमाइग" त्ति पूर्वं संग्रहगाथासंगृहीतानां नपुंसकवेदा-ऽसातवेदनीय-

शोका-ऽरति-हुंडकसंस्थान-नीचैर्गोत्रा-ऽस्थिरत्रिका-ऽयशःकीर्त्य--नादेय-पराघातो-च्छ्वास-बादरत्रिक-लक्षणानां षोडशानां नपुंसकवेदादिप्रकृतीनाम्, तथा "चउउज्जोआइगाण" त्ति पूर्वसंगृहीताना-मुद्योतौ-दारिकशरीर-तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्वीलक्षणानां चतसृणां प्रकृतीनामित्येवं सर्वसंख्यया सप्त-षष्टिप्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टायाः स्थितेर्बन्धकस्तीव्रक्लिष्टस्तथा पूर्वोक्तवचनादीषन्मध्यमसंक्लिष्टश्च मिथ्यादृष्टिर्नैरयिकस्तथा तादृश एव "आसहस्सारो" त्ति भवनपत्यादिसहस्रारान्तदेवो भवति। अत्र हि "तिव्वकिलिट्ठो" इत्यनेन व्याख्यानतो वैक्रियकाययोगे ओघवत्सर्वसंक्लिष्टस्तथा वैक्रिय-मिश्रकाययोगमार्गणायां मार्गणाप्रायोग्यसर्वाधिकसंक्लेशोपेतो देवो नारको वा विज्ञेयः, न पुनरौ-घिकोत्कृष्टसंक्लेशोपेत इति।

ननु अतिक्रान्तापर्याप्तावस्थानामुत्तरवैक्रियं देहं चिकीर्षतां वैक्रियमिश्रकाययोगवर्तिनामोघो-त्कृष्टसंक्लेशस्य सम्भवाद् वैक्रियकाययोगवद् वैक्रियमिश्रकाययोगेऽप्यौघिकोत्कृष्टसंक्लेशोपेतो देवो नारको वा गृहीतुं युज्यते, तदनावश्यकमिदं वैक्रियमिश्रयोगे मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टसंक्लेशोपेत-जीवानामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वप्रतिपत्तये विशेषव्याख्यानम्? इति चेद्, न, उत्तरवैक्रियापेक्षया वैक्रियकाययोगिनां तदपेक्षयैव वैक्रियमिश्रकाययोगिनां वा प्रस्तुतमार्गणाद्वयेऽनधिकृतत्वेन केवल-भवप्रत्ययिकवैक्रियतन्मिश्रशरीरिजीवापेक्षया स्वामित्वादीनां प्ररूपणीयत्वात्, अत एव यथो-क्तस्वरूपो देवो नारकश्च स्वामी कथितः, न पुनर्मनुष्यस्तिर्यङ् वा, मनुष्यतिरश्चां भवप्रत्ययवैक्रिय-तन्मिश्रशरीराऽसम्भवेन मार्गणाद्वयेऽप्रविष्टत्वात्, अत एव जघन्यस्थितिबन्धस्वामितयाऽपि वायु-कायिकान् विहाय देवनारका एव वक्ष्यन्त इति।

अन्यप्रकृतीनामाह—"छण्ह खलु" इत्यादि, 'तस-कुखगइ-पणिदि-दुसर-छिवट्ठाणि॥ १५१॥'उर-लोवगु' इत्येतावता संग्रहगाथावयवेन संगृहीतानां त्रसनामादीनां षण्णां प्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्ध-स्वामी "सणंकुमाराइआसहस्सारो" त्ति सनत्कुमारादि-सहस्रारकल्पान्तोद्भवो देवजीवः, "णेरइयो वा णेयो" त्ति वाकारश्चकारार्थकः, चकारस्तु समुच्चये ततो नैरयिकजीवश्च ज्ञेयः, स च "मिच्छत्ती सव्वसंकिट्ठो" त्ति प्राग्वद् यथासम्भवमोघवद् मार्गणाप्रायोग्यश्च सर्वसंक्लिष्ट ईषन्मध्यमसंक्लिष्टश्च मिथ्यादृष्टिरिति।

ननु भवतु "आसहस्सारो" इत्यनेन सहस्रारोपरितनवर्तिदेवानां शुक्ललेश्यत्वात् प्रस्तुतप्रकृतिषट्कोत्कृष्टस्थितिबन्धास्वामितया वर्जनम्, कथं पुनः "सणंकुमाराइ" इत्यनेना-धस्तना भवनपत्यादयोऽपि वर्ज्यन्ते? उच्यते—भवनपत्यादीनामीशानान्तानामनन्तरभवे स्थावर-तयाप्युत्पत्तेः सम्भवात् सर्वसंक्लेशे ईषन्मध्यमसंक्लेशे वा सत्येते स्थावरप्रायोग्याः प्रकृतीर्बध्नन्तः प्रस्तुतास्त्रसादिप्रकृतीर्न बध्नन्ति, त्रसप्रायोग्यं बध्नतामेव तद्बन्धस्य भावात्, त्रसप्रायोग्यं बध्नतामी-शानान्तदेवानां तु तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टत्वात् त्रसादिप्रकृतीनामुत्कृष्टोऽपि स्थितिबन्धो वैक्रियकाय-

योगेऽष्टादशसागरोपमकोटिकोट्य एव जायते, स च वैक्रियकाययोगमार्गणायामनुत्कृष्ट एव; अतो न तद्बन्धका ईशानान्तदेवा वैक्रियकाययोगे तदीयोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनः, अतस्तेऽपि वर्ज्यन्ते, यथा वैक्रियकाययोगे तथा वैक्रियमिश्रकाययोगेऽपि भावनीयम्, केवलमन्तःकोटीकोटीसागरोपमस्थितेर्नानात्वमपेक्ष्येति ।

"अइसंकिट्ठो मिच्छो ईसाणंतो" त्ति पूर्ववदतिसंक्लिष्ट ईषन्मध्यमसंक्लिष्टश्चोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी भवति, केवलम् "ईसाणंतो" इति वचनाद् भवनपत्यादीशानान्तानामन्यतमो देव एव, न तु नैरयिकः सनत्कुमारादीनामन्यतमो देवो वा । कासां प्रकृतीनामित्याऽऽह–"तिआयवाईणं" ति "आयवेगिंदी थावरे"त्यनेन प्राक्संगृहीतानां तिसृणामातपैकेन्द्रिय-स्थावरनामप्रकृतीनाम् । कुत ईशानान्तदेवः, न पुनरन्ये देवा नारका वा ? इति चेद्, प्रस्तुतप्रकृतीनां स्थावरप्रायोग्यतया ईशानान्तवर्जदेवैर्नारकैर्वाऽऽकालमनिर्वर्तनात्, प्रकृतिबन्धस्वामित्वाभावे स्थितिबन्धस्वामित्वं न भवतीति तु सुगममेवेति ।

अथ जिननाम्न आह–"तदरिहे"त्यादि, तत्प्रायोग्यसंक्लिष्ट सम्यग्दृष्टिः नैरयिको देवश्च "तित्थस्स" त्ति तीर्थकरनामकर्मणः, उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी भवतीति गम्यते, अत्र "णिरयो देवो य" इत्येवं सामान्येनोक्तेऽप्यसौ नारकस्तृतीयपृथिव्यन्तोद्भव एव, देवश्च वैमानिक एव गम्यते, देव-निरयगतिद्वये तेषामेव तीर्थकरनामकर्मणः प्रकृतिबन्धस्वामित्वात् । जीवसमासग्रन्थानुसारेण तु वैक्रियमिश्रे प्रथमपृथिवीनारक एव न तु नारकान्तरम्; तदभिप्रायेण क्षायिकसम्यग्दृशां प्रथमनरक एवोत्पादाभिधानान्नारकतयोत्पित्सूनां प्रस्तुतमार्गणावर्तिजिननामबन्धकानां क्षायिकसम्यक्त्वनियमाच्चेति । एवमेवोत्तरत्र कार्मणयोगेऽपि जीवसमासाभिप्रायेण विशेषो द्रष्टव्यः ।

ननु तीर्थकरनाम्नो बन्धकानां मध्ये मिथ्यात्वाभिमुखावस्थायाश्चरमस्थितिबन्धे वर्तमानस्यैवाऽधिकतमसंक्लिष्टतया स एवोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामितया वक्तुं युक्तः, तत्कथं "तदरिहकिट्ठो" सम्मो" इत्येवमुक्तम् ? इति चेद्, उच्यते, सत्यमेतत्, नवरं नरकं जिगमिषवो मनुष्या एव तादृशाः सम्भवन्ति, न तु देवा नैरयिका वा, तेषामनन्तरभवे नारकतयोत्पत्तेः प्रतिषेधात्, प्रस्तुतमार्गणाद्वये तु देवनारकाणामेव प्रवेशेनौघवत् न केचन मिथ्यात्वाभिमुखास्तीर्थकरनाम्नो बन्धका लभ्यन्ते, अतो "मिथ्यात्वाभिमुखः" इति विशेषणमनिष्टमेव, अतस्तद्विहाय "तदरिहकिट्ठो सम्मो" इत्येतावन्मात्रमभिहितमिति ।

अथोक्तावशिष्टायुर्वर्जप्रकृतीनामाह–"तप्पाउग्गे"त्यादि, तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टो नैरयिकः सहस्रारकल्पान्तो मिथ्यादृष्टिर्देवश्च "पणवीसाए णराईणं" ति 'णरदुग-उच्चगोआणि ॥१५२॥ साय तह हस-रई थिर सुह-जस-सुहगतिग-सुखगइ-पुमा । पढम-दुइअ-तइअ-तुरिअ पञ्चमसघयणआगिइ-थी ॥१५३॥' इत्यनेन संगृहीतानां नरद्विकादीनां पञ्चविंशतेः प्रकृतीनाम्, उत्कृष्टस्थितिबन्ध-

स्वामी भवतीति गम्यते, भावना तु निरयगत्योघादिवत्कर्तव्येति ॥१८६-१८९॥

अथ कार्मणा-ऽनाहारकमार्गणयोः प्राह—

कम्माणाहारेसुं सण्णी मिच्छोऽत्थि तिव्वसंकिट्ठो ।
धुवबंधि-तिरिदुगाणं उरले-गारणपुमाईणं ॥१९०॥
पणवीसणराईणं सण्णी मिच्छोऽत्थि तदरिहकिलिट्ठो ।
देवविउव्वदुगाणं सम्मो तिरियो णरो व भवे ॥१९१॥
एगिंदि-थावराणं सव्वकिलिट्ठोऽत्थि तिगइयो मिच्छो ।
विगलाणं दुगइट्ठो मिच्छत्ती तदरिहकिलिट्ठो ॥१९२॥
अइसंकिट्ठो मिच्छो ईसाणंतोऽत्थि आयवस्स सुरो ।
तित्थयरस्स तिगइयो सम्मत्ती तदरिहकिलिट्ठो ॥१९३॥
बारसपरघाईणं मिच्छो णिरयो सुरो च संकिट्ठो ।
सुहमतिगस्स दुगइयो सण्णी मिच्छो किलिट्ठयमो ॥१९४॥

(प्रे०) "**कम्माणाहारेसु**"मिति, कार्मणकाययोगेऽनाहारकमार्गणास्थाने च सप्तचत्वारिंशतो ध्रुवबन्धिप्रकृतीनाम् "**तिरियदुग**"त्ति तिर्यग्द्विकस्य तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्वीलक्षणस्य, "**उरल**" त्ति औदारिकशरीरस्य, तथा "**एगारणपुमाईणं**"ति "नपुंसकवेदा-ऽसातवेदनीय-शोका-ऽरति-हुण्डकसंस्थान नीचैर्गोत्रा-ऽस्थिरत्रिका-ऽयशःकीर्त्य-नादेयलक्षणानाम् 'णपुमा' इत्यादि(१५०)संग्रहगाथावयवसंगृहीतानां नपुंसकवेदाद्येकादशप्रकृतीनामित्येवं सर्वसंख्ययैकषष्टिप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी मार्गणाप्रविष्टजीवेषु '**तीव्रसंक्लिष्टः**'—सर्वाधिकसंक्लिष्टः, उक्तवचनाद् ईशन्मध्यमसंक्लिष्टश्च मिथ्यादृष्टिः संज्ञी जीवो भवति । "**पणवीसे**" त्यादि, "णरदुग-उच्चगोआणि ॥१५२॥ सायं तह हस्स-रई थिर-सुह-जस-सुहगतिग-सुखगइ-पुमा। पढम-दुइअ तइअ-तुरिअ-पचमसघयणआगिइ थी ॥१५३॥" इत्यनेन संग्रहगाथाद्वयेन संगृहीतानां पञ्चविंशतेर्मनुष्यगत्यादिप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिश्चतुर्गतिकः संज्ञी जीवो भवति । देवगति-देवानुपूर्वी-वैक्रियशरीर-वैक्रियाङ्गोपाङ्गलक्षणानां चतसृणां प्रकृतीनां तु "**सम्मो तिरियो णरो व भवे**" त्ति '**तदरिहकिलिट्ठो**" इत्येतदत्राऽपि सम्बध्यते ततस्तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टः सम्यग्दृष्टिस्तिर्यङ् मनुष्यो वा भवेत् । कथं सम्यग्दृष्टिः, न पुनर्मिथ्यादृष्टिः ? इति चेद्, मार्गणाद्वये मिथ्यादृशां प्रस्तुतप्रकृतिचतुष्कबन्धस्यैवाभावात् ।

"**एगिंदि**"इत्यादि, एकेन्द्रियजातिस्थावरनाम्नोरुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी सर्वसंक्लिष्टो नारकवर्जत्रिगतिको मिथ्यादृष्टिर्भवति, नारकाणां स्वभावतः स्थावरप्रायोग्यप्रस्तुतप्रकृतिद्वयबन्धस्वा-

मित्वाभावात् । इत्थमेव देवोऽपि ईशानान्त एव द्रष्टव्यः । "**विगलाण**" ति द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियजातिनामप्रकृतित्रिकस्योत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टमिथ्यादृष्टिर्द्विगतिकः-तिर्यङ् मनुष्यो वा भवति, तिर्यग्मनुष्यवर्जानां प्रकृतिबन्धस्वामित्वाभावात्, तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टग्रहणं तु तिर्यग्मनुष्येष्वपि कार्मणकाययोगे वर्तमाना उत्कृष्टस्थितिं निर्वर्तयन्तो जीवास्तदानीमेकेन्द्रियप्रायोग्याः प्रकृतीर्बध्नन्तो विकलत्रिकं नैव बध्नन्ति, किन्तु यदा तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टास्तदा विकलेन्द्रियप्रायोग्यं विकलत्रिकं बध्नन्ति, अतस्तस्योत्कृष्टस्थितेर्बन्धका अपि तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टाः प्राप्यन्त इति । "**अइसंकिट्ठो**" इत्यादि, आतपनाम्न उत्कृष्टस्थितेर्बन्धक ईशानकल्पान्तः सुर एव भवति, नान्यः, कुतः ? उच्यते, आतपनाम्नः पर्याप्तबादरपृथिवीकायप्रायोग्यं बध्नतां बन्धसम्भवात्, ईशानान्तदेवानामेव पर्याप्तबादरपृथिवीत्वस्य पारभविकस्वप्रायोग्यसर्वनिकृष्टस्थानरूपत्वाच्च । एतदुक्तं भवति-मार्गणाद्वये आतपनाम्नो बन्धका नारकवर्जास्त्रिगतिकाः; आतपनामप्रकृतिस्तु पर्याप्तबादरैकेन्द्रियप्रायोग्या; सूर्यविमानगतपृथिवीकायजीवानामेव तदुदयस्याऽभिहितत्वात्, इत्थं च गतित्रयेऽपि पर्याप्तबादरपृथिवीकायप्रायोग्यं बध्नतामेवाऽऽतपनाम्नो बन्धसम्भवः, नान्येषाम्, उत्कृष्टसंक्लेशपरिणता हि कार्मणकाययोगिनस्तिर्यग्मनुष्या एकेन्द्रियप्रायोग्यप्रकृतीर्बध्नन्तः पर्याप्तबादरैकेन्द्रियप्रायोग्याः प्रकृतीर्न बध्नन्ति, किन्त्वपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियप्रायोग्या बध्नन्ति, ता बध्नन्तश्च ते आतपनाम नैव बध्नन्ति, यदा ते आतपनाम बध्नन्ति तदा तु नातिसंक्लिष्टाः, पर्याप्तबादरैकेन्द्रियत्वस्य तेषां स्वप्रायोग्यसर्वनिकृष्टपारभविकोत्पत्तिस्थानरूपत्वाभावात्, अत एवैते यदा आतपनाम बध्नन्ति तदा तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टाः सन्तोऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनो भवन्ति, ईशानान्तदेवास्तु अपर्याप्ततया सूक्ष्मैकेन्द्रियतया वा तथास्वभावत एव नोत्पद्यन्ते इति ते उत्कृष्टसंक्लेशपरिणताः सन्तोऽपि पर्याप्तबादरैकेन्द्रियप्रायोग्यप्रकृतीर्बध्नन्तस्तासामिवाऽऽतपनाम्नोऽपि उत्कृष्टां स्थितिं निर्वर्तयन्ति, इत्यत ईशानान्तदेव एवोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामितयोक्त इति । "**तित्थयरस्से**" त्यादि, सुगमम्, नवरं "**तिगइयो**" त्ति तिरश्चां प्रकृतिबन्धस्वामित्वाभावात् तिर्यग्वर्जो देवाद्यन्यतम इति। "**बारसे**"त्यादि, पराघातो-च्छ्वास-बादरत्रिक-त्रस कुखगति-पञ्चेन्द्रियजाति दुःस्वर-सेवार्तसहननौदारिकाङ्गोपाङ्गो-द्योतलक्षणानां पूर्वं संगृहीतानां पराघातनामादिद्वादशप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी मिथ्यादृष्टिः सर्वसंक्लिष्टो देवो नैरयिको वा, न पुनर्मनुष्यस्तिर्यङ् वा, कस्मात् ? सर्वसंक्लिष्टानां कार्मणकाययोगितिर्यग्मनुष्याणामपर्याप्तसूक्ष्मसाधारणैकेन्द्रियप्रायोग्यप्रकृतीनामेव बन्धभावेन प्रस्तुतानां पराघातादीनां पर्याप्तबादरप्रायोग्याणां त्रसप्रायोग्याणां वा प्रकृतीनां बन्धस्यैवाऽभावात् । देवनारकाणां प्रस्तुतस्वामित्वं त्वातपनाम्न इव द्रष्टव्यम्, केवलं त्रसादीनां षण्णां सनत्कुमारादयो देवा नारकाश्च बोद्धव्याः, न त्वीशानान्ता अपि देवा इति । "**सुहुमतिगस्से**"त्यादि, सूक्ष्मा-ऽपर्याप्त-साधारणनामप्रकृतित्रयलक्षणस्य सूक्ष्मत्रिकस्योत्कृष्टस्थितेर्बन्धकः संक्लिष्टतमो मिथ्यादृष्टिः सञ्ज्ञी

तिर्यङ् मनुष्यो वा भवतीत्यर्थः । एतच्च तिर्यग्मनुष्याणां सूक्ष्मत्रिकोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वमनन्तरमेवाऽऽतपनाम्नस्तिर्यग्मनुष्याणामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामितया प्रतिषेधप्रसंगे दर्शितमिति ॥१९०-१९४॥ अथ स्त्रीवेदमार्गणायामाह—

थीअ धुवबंधिसोलसणपुमाईण अइकिट्ठमिच्छत्ती ।
तारिच्छो दुगइट्ठो णिरयविउव्वदुग-चउतसाईणं ॥१९५॥ (गीतिः)
सत्तुज्जोआईणं ईसाणंतो किलिट्ठयमिच्छो ।
अडसुहुमाईण भवे दुगइट्ठो तदरिहकिलिट्ठो ॥१९६॥
ओघव्व जाणियव्वो आहारदुग-जिणणामकम्माणं ।
तदरिहकिट्ठो मिच्छो सेसाणं सत्तवीसाए ॥१९७॥

(प्रे०) "थीअ" इत्यादि, स्त्रीवेदमार्गणायां सप्तचत्वारिंशतो ध्रुवबन्धिनीनां, नपुंसकवेद-शोका-ऽरत्य-सातवेदनीय हुंडसंस्थान-पराघातो - च्छ्वास-बादरत्रिका - ऽस्थिरत्रिका-ऽनादेया-ऽयशः-कीर्ति-नीचैर्गोत्रलक्षणानां नपुंसकवेदादिषोडशप्रकृतीनां च प्रत्येकमुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी "अइ-किट्ठमिच्छत्ती" त्ति ओघवत् सर्वसंक्लिष्टमिथ्यादृष्टिर्भवति, केवलमोघप्ररूपणायामसौ चतुर्गतिकः, अत्र तु त्रिगतिक इति विशेषः । कुतः ? नारकाणां स्त्रीवेदमार्गणाबहिस्त्वात् । "तारिच्छो" इत्यादि, निरयद्विकस्य निरयगति-निरयानुपूर्वीप्रकृतिद्वयलक्षणस्य वैक्रियद्विकस्य वैक्रियशरीर-तदङ्गोपाङ्गलक्षणस्य तथा चतसृणां 'त्रसादीनां' त्रसा-ऽप्रशस्तविहायोगति पञ्चेन्द्रियजाति-दुःस्वरनामलक्षणानामित्येवमष्टानां प्रकृतीनामपि "तारिच्छो" तादृश ओघवत्सर्वसंक्लिष्टो जीव एव, केवलम् 'दुगइट्ठो" त्ति 'द्विगतिस्थः' मनुष्य-तिर्यगन्यतरगतिकः, देवीनां देव-नारकतयाऽनुत्पादेन निरयद्विकवैक्रियद्विकप्रकृतिचतुष्टयबन्धस्वामित्वाभावात् सर्वसंक्लेशे सति स्थावरप्रायोग्यप्रकृतीनामेव बन्धभावेन त्रसप्रायोग्याणां त्रसादिचतुःप्रकृतीनामबन्धाच्चेति भावः । सप्तानामुद्योतादीनाम् "उज्जोआ उरल-तिरिक्खदुग आयवे-गिंदी । थावर" इत्येतावता संग्रहगाथांशेन प्राक्संगृहीतानामुद्योतौ-दारिकशरीर-तिर्यग्द्विका-ऽऽतपै केन्द्रिय-स्थावरनाम्नां प्रत्येकम् "ईसाणंतो किलिट्ठयमिच्छो" त्ति सर्वसंक्लिष्ट ईशानान्तो भवनपत्याद्यन्यतमोऽधिकृतस्त्रीवेदमार्गणावर्ती जीव एवोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी, न पुनरन्ये मनुष्य तिर्यग्-नारका देवा वा, अन्यदेवनारकाणां प्रस्तुतमार्गणायामेवाप्रवेशात्, मानुषीणां तिरश्चीनां चेह प्रवेशेऽपि तासां सर्वसंक्लेशे सतीषन्मध्यमसंक्लेशे वा विद्यमाने निरयगतिप्रायोग्यप्रकृतीनां बन्धभावेन प्रस्तुतानामुद्योतादीनामेकेन्द्रियादिप्रायोग्यप्रकृतीनामेवाऽबन्धादिति ।

"अडे"त्यादि, "सुहुमतिगे"त्यादि(गा० १५२)संग्रहगाथांशसंगृहीतानां सूक्ष्मत्रिक-विकलत्रिक-देवद्विकलक्षणानामष्टानां प्रकृतीनां तु "दुगइट्ठो" त्ति स्त्रीवेदी मनुष्यस्तिर्यग्जीवो वा भवेत्,

कथम्भूत ? इत्याह–"**तदरिहकिलिट्ठो**" त्ति तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टः; न पुनः सर्वसंक्लिष्टः। कस्मादिति चेद् ? उच्यते, प्रस्तुताष्टप्रकृतीनां प्रकृतिबन्धस्वामिनो मनुष्यास्तिर्यञ्चो वा, नान्ये, मनुष्यतिर्यञ्चस्तु सर्वसंक्लेशे निरयगतिप्रायोग्याः प्रकृतीर्निर्वर्तयन्ति, ततो मन्दसंक्लेशे सति तिर्यग्गतिप्रायोग्याः प्रकृतीर्निर्वर्तयन्ति; ततोऽपि विशुद्धा मनुष्यप्रायोग्या निर्वर्तयन्ति, ततोऽपि विशुद्धास्तु देवप्रायोग्याः, सूक्ष्मत्रिकाद्यष्टप्रकृतयस्तु स्थावरप्रायोग्यतया तिर्यक्प्रायोग्याः. अतो न तैस्सर्वसंक्लेशनिर्वर्त्याः, किन्तु तत्प्रायोग्यसंक्लेशनिर्वर्त्याः, अतस्तासामुत्कृष्टा स्थितिरपि सर्व-संक्लेशेन न निर्वर्त्यते किन्त्वोघवत्तत्प्रायोग्यसंक्लेशेनैवेति कृत्वा तत्स्वामिन ओघवत्तत्प्रायोग्य-संक्लिष्टा अभिहिता इति । "**ओघव्वे**"त्यादि, आहारकद्विकजिननामकर्मणोरुत्कृष्टस्थितिबन्ध-स्वाम्यप्योघवत्तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टसम्यग्दृष्ट्यादिजीव एव ज्ञातव्यः, सुगमम् ।

शेषप्रकृतीनामाह–"**तदरिहे**"त्यादि, एतदपि सुगमम्, केवलं नरकवर्जोन्यतमगतिक इति गम्यम्। **शेषाः सप्तविंशतिः प्रकृतयो नामत इमाः**–सातवेदनीयम्, हास्य-रति-स्त्रीवेद-पुंवेदमोहनीयानि, मनुष्यद्विकम्, औदारिकाङ्गोपाङ्गम्, संहननषट्कम्, हुंडकवर्जसंस्थानपञ्चकम्, प्रशस्तविहायोगतिनाम, स्थिरषट्कम्, उच्चैर्गोत्रञ्चेति ॥१९५-१९७॥ इदानीं पुरुषवेदमार्गणायामाह–

पुरिसे सव्वकिलिट्ठो मिच्छो णपुमाइसोलस-धुवाणं ।
चउउज्जोआईणं तारिच्छो अट्ठमंतसुरो ॥१९८॥
णिरयविउव्वदुगाणं तिव्वकिलिट्ठोऽत्थि दुगइयो मिच्छो ।
तदरिहकिट्ठो मिच्छो दुगइट्ठोऽट्ठसुहुमाईणं ॥१९९॥
अइसंकिट्ठो मिच्छो ईसाणंतो तिआयवाईणं ।
सेससहस्सारंतो मणुसो तिरियो व चउतसाईणं ॥२००॥ (गीतिः)
तइआइअट्ठमंतो छिवट्ठजुगलस्स मिच्छकिट्ठो देवो ।
तित्थाहारदुगाणं ओघव्वियराण तयणुकिट्ठो मिच्छो ॥२०१॥(आर्यागीति.)

(प्रे०) "**पुरिसे**" इत्यादि, पुरुषवेदमार्गणायां "णपुमा असाय-सोगा-ऽरई हुंडं ॥१९०॥ नीअ अथिरति-अजस-ऽणाइज्जाणि परघाय-ऊसासा बायरतिग ' इति संग्रहगाथावयवसंगृहीतानां नपुंसक-वेदासातवेदनीयादिषोडशप्रकृतीनां तथा मतिज्ञानावरणादीनां सप्तचत्वारिंशतो ध्रुवबन्धिनीनामित्येवं सर्वसंख्यया त्रिषष्टिप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी सर्वसंक्लिष्टमिथ्यादृष्टिस्तिर्यग्-मनुष्य देवान्यतमो भवति, न तु नारकः, तस्य प्रस्तुतमार्गणायामप्रविष्टत्वात् । "**चउ**" इत्यादि, 'उज्जोआ उरलतिरिक्ख-दुगे' त्यनेन प्राक् संगृहीतानां चतसृणामुद्योतौ-दारिकशरीर-तिर्यग्गति तिर्यगानुपूर्वीलक्षणप्रकृतीना-मुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी '**तारिच्छो**' त्ति अनन्तरोक्तस्वरूपः सर्वसंक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिः'**अट्ठमंत-**

सुरो' त्ति भवनपत्याद्यष्टमसहस्रारकल्पान्तोद्भवः "**सुरः**" देवो भवति, अयं हि स्त्रीवेदमार्गणा-वद् बोद्धव्यः, केवलं स्त्रीवेदमार्गणायां देवानामप्रवेशाद् देवीतया तु कल्पद्वयं यावदेवोद्भवाच्चे-शानान्तो देवीजीव एवाऽभिहितः; प्रस्तुतमार्गणायां पुनर्देवानां प्रविष्टत्वात् सहस्रारान्तः कथितः, आनतकल्पादिभवानामग्रहणं तु प्राग्वत्तेषां शुक्ललेश्यत्वेन सर्वसंक्लेशानुत्पत्तेरिति । "**णिरये**"-त्यादि, निरयद्विक-वैक्रियद्विकलक्षणानां चतसृणां प्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी '**तीव्र-संक्लिष्टः**' सर्वसंक्लिष्टः, तत एव ईषन्मध्यमसंक्लिष्टश्च मिथ्यादृष्टिः 'द्विगतिकः' तिर्यङ् मनुष्यो वा भवति । "**तदरिहे**"त्यादि, सूक्ष्मत्रिक-विकलत्रिक-देवद्विकलक्षणानामष्टानां सूक्ष्मादिप्रकृतीना-मुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिस्तिर्यङ् मनुष्यो वा भवति । "**अइ-संकिट्ठो**" इत्यादि, आतपै-केन्द्रिय-स्थावरनामलक्षणानां तिसृणामातपादिप्रकृतीनां पुनरति-सक्लिष्टः-सर्वसंक्लिष्ट ईषन्मध्यमसंक्लिष्टश्चेशानकल्पान्तो भवनपत्याद्यन्यतमो मिथ्यादृष्टिर्देवो भवति ।

"**सेस**" इत्यादि, 'शेषः'-ईशानान्तवर्जः सहस्रारकल्पान्तोऽन्यतमो देवो मनुष्यस्तिर्यङ् वा "**चउतसाईणं**" ति चतसृणां त्रसा ऽप्रशस्तविहायोगति-पञ्चेन्द्रियजाति-दुःस्वरनाम्नां प्रकृतीनाम्, उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी भवतीति प्रक्रमाद्गम्यते । "**तइआई**"त्यादि, तृतीयसानत्कुमारकल्पादिः सहस्रारान्तः सर्वसंक्लिष्टमिथ्यादृष्टिर्देवः "**छिवट्ठजुगलस्स**" त्ति सेवार्तसंहननौदारिकाङ्गोपा-ङ्गलक्षणप्रकृतियुगलस्योत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी, न तु पूर्ववत्तिर्यङ मनुष्यो वा। "**तित्थे**"त्यादि, जिन-नामाऽऽहारकद्विकलक्षणानां तिसृणां प्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी तु "**ओघव्व**" त्ति ओघ-वज्ज्ञेयः । सुगमम् । "**इयराण**" त्ति उक्तेतरासामायुर्वर्जानां सातवेदनीयादीनां पञ्चविंशतेः प्रकृ-तीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिर्जीवो ज्ञेयः, इति प्राग्वद्भावनीय-मिति ॥१९८-२०१॥ अथ नपुंसकवेदमार्गणायामाह—

> णपुमे सव्वकिलिट्ठो मिच्छोऽत्थि धुव-णपुमाइवीसाणं ।
> तदरिहकिट्ठो मिच्छो भवे णराइपणवीसाए ॥२०२॥
> णिरयविउव्वदुगाणं अइसंकिट्ठोऽत्थि दुगइयो मिच्छो ।
> छण्ह छिवट्ठाईणं मिच्छो णिरयो किलिट्ठयमो ॥२०३॥
> तित्था-ऽऽहारदुगाणं ओघव्वेगारहा-ऽऽयवाईणं ।
> तप्पाउग्गकिलिट्ठो मिच्छत्ती दुगइयो णेयो ॥२०४॥

(प्रे०) "**णपुमे**" इत्यादिनपुंसकवेदमार्गणायां मतिज्ञानावरणादिसप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिनीनां तथा 'णपुमा" इत्यादि(१५०)संग्रहगाथांशसगृहीतानां नपुंसकवेद-शोका-ऽरत्य-सातवेदनीय-

पञ्चेन्द्रियजाति-कुखगति-हुंडसंस्थान-पराघातो च्छ्वास-त्रसचतुष्का-ऽस्थिरषट्क-नीचैर्गोत्रलक्षणानां विंशतिप्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी सर्वसंक्लिष्टः "तत्थ खलु ईसिमज्झिमसंकिट्ठो बंधगो वि णायव्वो" (गा० १६७) इत्यादिनियमादीषन्मध्यमसंक्लिष्टश्च मिथ्यादृष्टिर्जीवो भवति, स च देववर्ज इति स्वयमेव गम्यम् , देवानां प्रस्तुतमार्गणायामप्रवेशात् । एवमुत्तरत्रापि यथासम्भवं ज्ञेयम् । "तदरिह" इति "णरदुग-उच्चगोआणि ॥१५२॥ साय तह हस्स-रई थिर-सुह-जस-सुहगतिग सुखगइ-पुमा। पढम-दुइअ-तइअ तुरिय-पचमसंघयणआगिइ-थी ॥१५३॥" इत्यनेन पूर्वं संगृहीतानां मनुष्यगत्यादिपञ्चविंशतिप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी तु तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिर्जीवो भवेत् । "णिरयविउव्वदुगाणं" इत्यादि, निरयद्विकस्य निरयगति-निरयानुपूर्वीलक्षणस्य वैक्रियद्विकस्य वैक्रियशरीर वैक्रियाङ्गोपाङ्गलक्षणस्येत्येतासां चतसृणामपि प्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी ध्रुवबन्धिनीनामिव सर्वसंक्लिष्टः प्राग्वदीषन्मध्यमसंक्लिष्टश्च मिथ्यादृष्टिर्जीव एव, केवलम् "दुगइओ" त्ति नारकाणामनन्तरभवे देव-नारकतयाऽनुत्पादेन प्रस्तुतप्रकृतिचतुष्कबन्धस्वामित्वाभावात् तिर्यग्मनुष्ययोरन्यतमो भवति, न पुनर्नारकोऽपीति । "छण्ह" त्ति षण्णां सेवार्तसंहननौदारिकशरीरौदारिकाङ्गोपाङ्ग-तिर्यग्द्विको-द्योतनामलक्षणप्रकृतीनां संक्लिष्टतमो मिथ्यादृष्टिर्नारक एव, न तु मनुष्यस्तिर्यग्वा, उत्कृष्टसंक्लेशपरिणतैर्मनुष्य-तिर्यग्भिर्नरकगतिप्रायोग्यप्रकृतीनां बन्धकरणेन प्रस्तुतप्रकृतीनामबन्धादिति । "तित्थाहारदुगाणं ओघव्व" त्ति गतार्थम् । "एगारह" त्ति पूर्वम् "आयवेगिंदी" इत्यादिना संगृहीतानामातपै-केन्द्रियजाति-स्थावरचतुष्क-विकलत्रिक देवद्विकलक्षणानामेकादशानामायुर्वर्जोक्तशेषप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिर्भवति, स च "दुगइयो" त्ति नारकाणामेकेन्द्रियादिप्रकृतिबन्धस्वामित्वाभावान्नारकवर्जो मनुष्यतिर्यगन्यतरो ज्ञेयः । तत्र तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टस्य ग्रहणं तु मनुष्य-तिरश्चां नरकगतेः सर्वनिकृष्टपारभविकोत्पत्तिस्थानरूपतया नरकप्रायोग्यप्रकृतीनामेव सर्वसंक्लेशेन निर्वर्तनात् , तदन्यासामेकेन्द्रियजात्यादिप्रकृतीनां तु तत्प्रायोग्यसंक्लेशेन बन्धकरणादिति ॥२०२-२०४॥

अथापगतवेदमार्गणायामाह—

सव्वाण सो अवेए अपुरिसवेएणुवट्ठिओ ताओ ।
परिणिवडंतोऽणंतरबंधे यो होहिइ सवेओ ॥२०५॥

(प्रे०) "सव्वाणे"त्यादि, अपगतवेदमार्गणायां "सव्वाण" त्ति आयुषो मूलत एवाबन्धात् प्रस्तुतमार्गणायां बन्धप्रायोग्याणां सर्वासामेकविंशतेरपि प्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी "सो" त्ति स भवति, कः स इत्याह—"अपुरिसवेएणे"त्यादि, पर्युदासाश्रयणात् पुरुषान्यवेदेन, स्त्रीवेदेन नपुंसकवेदेन वेत्यर्थः "उवट्ठिओ" त्ति उपस्थितः, समारूढ इत्यर्थः, उपशमश्रेणिमिति गम्यते, कथमिति चेत् ? "परिणिवडंतो" इत्यनेनाऽनुपदं वक्ष्यमाणस्य 'प्रतिनिपतन्"

इति विशेषणस्यान्यथानुपपत्तेः। इत्थं च स्त्रीनपुंसकान्यतरवेदेनोपशमश्रेणिं समारूढस्ततश्च "ताओ" त्ति तस्या उपशमश्रेणेः प्रतिपतन् **'अणंतरबंधे यो होहिइ सवेओ'** त्ति यस्मात् स्थितिबन्धाद-नन्तरस्थितिबन्धे यः 'सवेदः' वेदोदयवान् भविष्यतीत्यर्थः।

अयम्भावः—अपगतवेदमार्गणायामुपशमश्रेणिमारोहन् जीवो यथा यथोत्तरं विशुद्ध-विशुद्ध-तरो भवति तथोपशमाद्धाक्षयेण प्रतिपतन् यथोत्तरं संक्लिष्ट-संक्लिष्टतरो भवति; अतो वेदोदयाद-र्वाग्भाविनि चरमे स्थितिबन्धे वर्तमान उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामितया गृहीतः। पुंवेदेनोपस्थितानां वर्जनं पुनस्तेन वेदेनोपस्थाय प्रपततामवेदावस्थायाश्चरमस्थितिबन्धादूर्ध्वमपि संख्येयसहस्रस्थिति-बन्धानतिक्रम्य पश्चाज्जायमानस्थितबन्धस्य स्त्रीनपुंसकवेदयोरन्यतरवेदेनोपस्थाय प्रपततामवेद्य-वस्थासत्कचरमस्थितिबन्धतया लाभात्; अस्य च पूर्वोक्तावेद्यवस्थाचरमस्थितिबन्धापेक्षया सुबहु-दीर्घत्वादिति। इह विस्तरार्थिना तु **मूलस्थितिबन्धद्वितीयाधिकार**स्वामित्वद्वारे 'गयवेए स भवे' (गाथा-९५) इत्यादिगाथाया वृत्तिर्विलोकनीया, तत्रास्माभिर्विस्तरतो व्याख्यातत्वादिति ॥२०५॥

तदेवं दर्शिता वेदमार्गणाभेदेष्वायुर्वर्जानां सर्वासां प्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनः। कषायमार्गणाभेदेषु तु पूर्वं 'कोहाईसु चउसु' (गाथा१७५) इत्यनेन पञ्चेन्द्रियौघादिमार्गणाभेदैः सममभिहिताः, सम्प्रति ज्ञानमार्गणाभेदेषु द्रष्टव्याः, तत्र मतिज्ञानादिमार्गणात्रये दिदर्शयिषुस्तुल्य-वक्तव्यत्वादवधिदर्शन सम्यक्त्वौघ वेदकसम्यक्त्वमार्गणास्वपि सममेव दर्शयन्नाह—

णाणतिगे ओहिम्मि य सम्मत्ते वेअगे मुणेयव्वो।
छण्हं सायाईणं असंजमी तदरिहकिलिट्ठो ॥२०६॥
आहारदुग-जिणाणं ओघव्वियराण मिच्छमुहअयतो।
दुदुगइओ उण णरसुरउरलविउव्वदुग-वइराणं ॥२०७॥

(प्रे०) **"णाणतिगे"** इत्यादि, मतिज्ञान-श्रुतज्ञानाऽवधिज्ञानमार्गणात्रयलक्षणे ज्ञानत्रिके, **"ओहिम्मि य"** त्ति अवधिदर्शनमार्गणायाम्, चकारः समुच्चये, स च **"वेअगे"** इत्यस्योत्तरं योज्यः, **"सम्मत्ते"** त्ति सम्यक्त्वौघमार्गणायाम्; **"वेअगे"** त्ति क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्ग-णायां चेत्येतासु षट्सु मार्गणासु प्रत्येकम् **"छण्हं सायाईणं"** ति 'साय तह हस्स-रई थिर सुह-जसे' त्येतावता संग्रहगाथांशेन संगृहीतानां सातवेदनीय-हास्य-रति-स्थिरनाम शुभनाम यशःकीर्तिनाम-लक्षणानां षण्णां प्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी **"असंजमी तदरिहकिलिट्ठो"** त्ति तत्प्रायोग्य-संक्लिष्टो 'असंयमी' अविरतसम्यग्दृष्टिर्जीवो भवति। **"आहारदुगे"**त्यादि; आहारकद्विक जिन-नामलक्षणानां तिसृणां प्रकृतीनां तूत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी **"ओघवत्"** 'आहारदुगस्स भवे पमत्तहुत्तो' (गाथा १६४)इत्यादिनाऽभिहितस्वरूपो विज्ञेयः। **"इयराण"**त्ति उक्तनवप्रकृतीर्वन्धप्रायोग्यमायु-

द्विकं च विहाय या इतराः स्त्यानर्द्धित्रिक-मिथ्यात्वा-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्कवर्जा एकोनचत्वारिंशद् ध्रुवबन्धिन्यः; असातवेदनीय-शोका-ऽरति-पुंवेद-पञ्चेन्द्रियजाति-पराघातो च्छ्वास-त्रसचतुष्क-सुभगत्रिका-ऽस्थिरनाम-ऽशुभा-ऽयशःकीर्ति-प्रशस्तविहायोगति देवद्विक वैक्रियद्विक-मनुष्यद्विकौदारिकद्विक-प्रथमसंहनन-प्रथमसंस्थानो-च्चैर्गोत्राणि, तासामुक्तेतरासां बन्धप्रायोग्याऽष्टषष्टिशेपप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी "मिच्छमुहअयतो" त्ति मिथ्यात्वाभिमुखस्संक्लिष्टतमोऽविरतसम्यग्दृष्टिर्नारकतिर्यग्मनुष्यदेवानामन्यतमो जीवो भवति, केवलम् "दुदुगइयो" त्ति मनुष्यद्विक देवद्विकौदारिकद्विकवैक्रियद्विकलक्षणानां चतुर्णां प्रकृतिद्विकानां "वइराणं" ति भीमो भीमसेन इति न्यायेनैकदेशतोऽपि समुदायस्य गम्यमानत्वाद् वज्रर्षभनाराचाख्यस्य प्रथमसंहननस्येत्येतासां नवप्रकृतीनां प्रत्येकं द्विद्विगतिकः, मनुष्यद्विकौदारिकद्विकप्रथमसंहननानां निरयदेवानामन्यतमः; देवद्विक-वैक्रियद्विकयोस्तु तिर्यग्मनुष्याणामन्यतम इति भावः ॥२०६-२०७॥

मनःपर्यवज्ञानमार्गणायामाह—

तप्पाउग्गकिलिट्ठो मणणाणम्मि हवए पमत्तजई ।
छण्हं सायाईणं आहारदुगस्स ओघव्व ॥२०८॥
सेसाण पमत्तजई अइसंकिट्ठो असंयमाहिमुहो ।

(प्रे०) "तप्पाउग्गे"त्यादि, मनःपर्यवज्ञानमार्गणायां तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टः "पमत्तजई"त्ति प्रमत्तसंयत उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी भवति, कासामित्याह—"छण्ह" मित्यादि, सातवेदनीय-हास्य-रति-स्थिर-शुभ-यशःकीर्तिनामलक्षणानां षण्णां प्रकृतीनामित्यर्थः । "आहारदुगस्से"त्येतदपि पूर्ववदेव । "सेसाण" त्ति उक्तशेषाणां देवायुर्वर्जबन्धप्रायोग्यपट्पञ्चाशत्प्रकृतीनां पुनरतिसंक्लिष्ट ईषन्मध्यमसंक्लिष्टश्च 'असंयमाभिमुखः' अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानकाभिमुखः प्रमत्तयतिर्भवति । मरणव्याघाताभावेऽपि मनःपर्यवज्ञानिनां मनःपर्यवज्ञानाच्च्युत्वा-ऽसंयमे विश्रामादुत्तरमेव मिथ्यात्वोदयसम्भवेन मिथ्यात्वाभिमुखत्वविशेषणानुपपत्तेरविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानाभिमुख इति व्याख्यातमवसेयम् । **शेषप्रकृतयो नामतस्त्विमाः**—आवरणनवक-निद्राद्विका-ऽसातवेदनीय-संज्वलनचतुष्क-शोका-ऽरति भय-जुगुप्सा पुंवेदमोहनीय-देवद्विक-पञ्चेन्द्रियजाति वैक्रियद्विक-तैजस-कार्मणशरीर-समचतुरस्रसंस्थान-वर्णचतुष्क-प्रशस्तविहायोगतिनामानि, आतपोद्योतवर्जपट्प्रत्येकप्रकृतयः, त्रसचतुष्कम्, सुभगत्रिकम्, अस्थिरा-ऽशुभा-ऽयशःकीर्तिनामानि, उच्चैर्गोत्रम्, अन्तरायपञ्चकञ्चेति ॥२०८॥ संयमौघ सामायिक-छेदोपस्थापनसंयममार्गणास्वाह—

एमेव भवे संजम-समइअ-छेएसु सव्वेसिं ॥२०९॥
णवरं मिच्छाहिमुहो संकिट्ठयमो भवे पमत्तजई ।

सेसाणं पयडीणं पणवण्णाए अतित्थाणं ॥२१०॥

(प्रे०) "एमेव" इत्यादि, यथा मनःपर्यवज्ञानमार्गणायां तथा संयमौघ-सामायिकसंयम-छेदोपस्थापनसंयमलक्षणासु तिसृषु मार्गणास्वपि सर्वासां प्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी भवेत्, "णवरं" त्ति केवलं मिथ्यात्वाभिमुखः संक्लिष्टतमः प्रमत्तयतिः "सेसाणं" इति मनःपर्यवज्ञानमार्गणायां शेषप्रकृतितयोक्तानां मतिज्ञानावरणादीनां "अतित्थाणं" ति तीर्थङ्करनामवर्जानामत एव "पयडीणं पणवण्णाए" त्ति पञ्चपञ्चाशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी भवति, न तु जिननाम्नोऽपि, तस्योत्कृष्टस्थितेस्तु मनःपर्यवज्ञानमार्गणावत्प्रस्तुतमार्गणास्वपि चतुर्थगुणस्थानाभिमुखसंक्लिष्टप्रमत्तयतिभिरेव निर्वर्तनादिति ॥२०९-२१०॥

अथ परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणायामाह—

छण्हं सायाईणं आहारदुगस्स अत्थि परिहारे ।
मणणाणव्वियरेसिं छेआभिमुहो पमत्तकिट्ठयमो ॥२११॥ (गीतिः)

(प्रे०) "छण्ह"मित्यादि, परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणायां "साय तह हस्स-रई थिर-सुह-जस" इत्यनेन संगृहीतानां सातवेदनीयादीनां षण्णामाहारकद्विकस्य चेत्येवमष्टानां प्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी मनःपर्यवज्ञानमार्गणावद्भवति । "इयरेसि" मिति इतरासामुक्ताऽष्टौ प्रकृतयो देवायुश्चेति प्रकृतिनवकवर्जानां मतिज्ञानावरणादीनां तु छेदोपस्थापनसंयमाभिमुखस्तद्बन्धकेषु संक्लिष्टतमः प्रमत्तसंयतो भवति ॥२११॥ अथ सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायामाह—

सुहुमे सव्वाण भवे सो यो उवसामगो णिवडमाणो ।
सेढीए पाविहिए अणियट्टिमणंतरे बंधे ॥२१२॥

(प्रे०) "सुहुमे" इत्यादि, सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायां "सव्वाण" त्ति ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणचतुष्का ऽन्तरायपञ्चक-सातवेदनीयो-च्चैर्गोत्र-यशःकीर्तिनामलक्षणानां बन्धप्रायोग्याणां सर्वासामुत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी "भवे सो" त्ति स भवेत्, क इत्याह— "यो उवसामगो" इत्यादि, श्रेणेर्निपतन् य उपशामकः "पाविहिए अणियट्टिमणंतरे बंधे" त्ति यस्मात्स्थितिबन्धादनन्तरोत्तरस्थितिबन्धे 'अनिवृत्तिम्'—अनिवृत्तिबादरसम्परायाख्यं गुणस्थानकं प्राप्स्यति तत्स्थितिबन्धे वर्तमान इत्यर्थः । मार्गणागतजीवेषु तस्यैव संक्लेशाधिक्यादिति भावः ॥२१२॥ अथ देशसंयममार्गणायामाह—

देसे तहरिहकिट्ठो सायाईणऽत्थि छण्ह तित्थस्स ।
अयताहिमुहोऽण्णेसिं मिच्छाहिमुहो किलिट्ठयमो ॥२१३॥

(प्रे०) "देसे" इत्यादि, देशसंयममार्गणायां सातवेदनीय-हास्य-रतिमोहनीय-स्थिर-शुभ-

यशःकीर्तिनामलक्षणानां सातवेदनीयादीनां षण्णां प्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी तत्प्रायोग्य-संक्लिष्टजीवो भवति। "**तित्थस्स**" त्ति मध्यमपदस्य लुप्तत्वात् तीर्थंकरनामकर्मणः "**अयता-हिमुहो**" त्ति अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानाभिमुखो जीवो भवति, स च तत्प्रायोग्यसंक्लिष्ट एव, सर्वसंक्लेशस्य मिथ्यात्वाभिमुखानामेव सम्भवात्। इह मिथ्यात्वाभिमुखं सर्वसंक्लिष्टदेशविरतं विहाय तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टचतुर्थगुणस्थानाभिमुखस्य देशविरतस्य जिननाम्न उत्कृष्टस्थितिबन्ध-स्वामितया ग्रहणं जिननाम्नो बन्धकानां देशविरतानां मिथ्यात्वाभिमुखत्वस्यैवाऽसम्भवात्। **तथाहि**—जिननाम्नो बन्धका मिथ्यात्वाभिमुखास्तदा जायन्ते यदा ते नरकं यियासवः सन्तो भवचरमान्तर्मुहूर्ते वर्तन्ते, न त्वन्यदा। न च भवति 'आसम्मदेसजोगी उवसंता सतयाऊण ॥८॥' इति **पञ्चसंग्रह**वचनाद् देशविरतानां निरयायुषः सत्ताया एवाऽभावात् नरकजिगमिषा, तदभावे तु जिननाम्नो बन्धकानां तेषां मिथ्यात्वाभिमुखताविरहः सुसिद्ध एव। यद्वा **कर्मस्तवाद्य**भि-प्रायेण देशविरतानां नरकायुःप्रकृतिसत्त्वमधिक्रियेत तदाऽपि जिननाम्नोऽवन्धकानां नरकायुः प्रकृतिसत्त्वे जिननाम्नो बन्धकानां तदसत्त्वे सूपपत्तेः, जिननाम्नो बन्धकानां देशविरतानामपि नर-कायुःप्रकृतिसत्त्वे वा तथाभूतानां तेषामविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानमवाप्य पश्चादेव मृतेर्भावेऽसङ्गत्यु-द्भवानवकाश एव, तत्त्वं पुनः केवलिगम्यमिति न कर्तव्यः केनाऽपि मतिमता यथावस्थिततत्त्वे-ऽनवगतेऽन्यतमे पक्षे आग्रह इति।

"**अण्णेसि**"मिति उक्तान्यासामायुर्वर्जैकोनषष्टिप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी संक्लि-ष्टतम ईषन्मध्यमसंक्लिष्टश्च मिथ्यात्वाभिमुखो देशसंयतो भवति। शेषा **एकोनषष्टि-प्रकृतयः पुनरिमाः**—पञ्चज्ञानावरण-चतुर्दर्शनावरण-निद्राद्विका-ऽसातवेदनीय-प्रत्याख्यानावरण-चतुष्क-संज्वलनचतुष्क-शोका-ऽरति-भय-जुगुप्सा-पुंवेद-पञ्चेन्द्रियजाति देवद्विक - वैक्रियद्विक-सम-चतुरस्रसंस्थान-वर्णचतुष्क-तैजस-कार्मणशरीर-प्रशस्तविहायोगतयः, आतपोद्योत-जिननामवर्जाः पञ्च प्रत्येकप्रकृतयः, त्रसचतुष्कम्, अस्थिरा-ऽशुभा-ऽयशःकीर्तयः, सुभगत्रिकम्, अन्तरायपञ्चकम्, उच्चैर्गोत्रं चेति ॥२१३॥

असंयममार्गणायां पूर्वं पञ्चेन्द्रियौघादिमार्गणासाम्येनौघवदतिदिष्टत्वाद् गतं संयममार्गणा-भेदेषु प्रस्तुतोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वम्। अथ दर्शनमार्गणाभेदेषु तद् द्रष्टव्यम्, तत्र चक्षुरचक्षुर्दर्शन-मार्गणाभेदयोः पञ्चेन्द्रियौघादिवदतिदिष्टमेव, अवधिदर्शनमार्गणायां तु मतिज्ञानादिमार्गणाभिः समं कथितम्, केवलदर्शने तु स्थितिबन्धाभावात्तन्न कथ्यते च, अतः क्रमप्राप्तलेश्यामार्गणाभेदेषु दिदर्शयिषुरादौ तावत्कृष्णलेश्यायामाह—

णिरयो किण्हाअ छिवट्ठ-उरलुवंगाण चउतसाईणं।
तिगइट्ठो सेसाणं ओघव्वऽत्थि णपुमव्व बिंति परे ॥२१४॥(गीतिः)

(प्रे०) "**णिरयो**" इत्यादि, कृष्णलेश्यायां सेवार्तसंहननौ-दारिकाङ्गोपाङ्गनामलक्षणयोर्द्वयोः

प्रकृत्योरुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी **"णिरयो"** त्ति नैरयिक एव भवति, न पुनस्तिर्यग्मनुष्या देवा वा, कुतः ? तिर्यग्मनुष्याणां सर्वसंक्लेशे नरकप्रायोग्यप्रकृतीनां बन्धभावात् , तासु अनयोरप्रविष्टत्वाच्च । देवास्तु कृष्णलेश्याका भवनपति-व्यन्तरभेदगता एव, ते च सर्वसंक्लेशे स्थावरप्रायोग्याः प्रकृतीर्बध्नन्तोऽनयोर्बन्धं नैव कुर्वन्ति, नारकाणां तु सर्वसंक्लेशगतानां पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्यप्रकृतीनामेव बन्धः, तासु चानयोः सेवार्तौदारिकाङ्गोपाङ्गयोरस्ति प्रवेश इति नारका एव तदीयोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिन इति । **"चउतसाईण"** मित्यादि, "तस-कुखगइ-पणिंदि-दुस्सर" (गाथा १५१) इत्यनेन प्राक् संगृहीतानां चतसृणां त्रसनामादिप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी **"तिगइट्ठो"** त्ति देववर्जाऽन्यतमगतिस्थो जीवो विज्ञेयः, तत्र देवानां वर्जनमनन्तरोक्तनीत्या भवनपति-व्यन्तराणामेव प्रस्तुतमार्गणाप्रविष्टत्वात् तेषां च सर्वसंक्लेशे स्थावरप्रायोग्यबन्धभावादिति । **"सेसाणं"** इत्यादि, अनन्तरोक्तप्रकृतिषट्कं बन्धप्रायोग्यायुःप्रकृतीश्च वर्जयित्वा शेषाणां बन्धप्रायोग्यप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी **"ओघव्व"** त्ति ओघवत् 'सव्वाण बंधगो' इत्यादि(१५४...)गाथाभिरोघेनाभिहितस्वरूपो ज्ञातव्यः, सुगमम् , ओघतोऽपि कृष्णलेश्याकानां सर्वप्रकृत्युत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वसम्भवादिति ।

अथ मतान्तरं सगृह्णाति—**"णपुमव्व"** त्ति प्रस्तुतानामायुर्वर्जानां सर्वासां बन्धप्रायोग्यप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी नपुंसकवेदमार्गणायां यथा प्रदर्शितस्तथा प्रदर्शयितव्य इत्यक्षरार्थः । **भावार्थस्त्वयम्**—प्राग्मूलस्थितिबन्धप्रस्तावे मतविशेषेणाऽपर्याप्तावस्थागतानां देवानामेवाऽशुभलेश्या प्रदर्शिता, तथा च तन्मते न भवन्ति देवाः प्रस्तुतमार्गणायां कस्या अपि प्रकृतेरुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनः किन्तु नपुंसकवेदमार्गणावद् यथासम्भवं देववर्जा एकगतिका द्विगतिकास्त्रिगतिका वा भवन्ति, ते च 'णपुमे सव्वकिलिट्ठो मिच्छोऽत्थि धुव-णपुमाइवीसाणं ।' इत्यादिगाथा(२०२-२०३-२०४)त्रयोक्तस्वरूपा विज्ञेया इति ॥२१४॥

अथ नील-कापोतलेश्ययोराह—

धुव-सोलसणपुमाइ-चउज्जोआईण णील-काऊसुं ।
दुगइट्ठो मिच्छत्ती हवेज्ज उक्कोससंकिट्ठो ॥२१५॥
पणवीसणराईणं तदरिहकिट्ठोऽत्थि मिच्छसुरणिरयो ।
णिरय-विउव्वदुगाणं तह अट्ठण्ह सुहुमाईणं ॥२१६॥
तप्पाउग्गकिलिट्ठो मिच्छो तिरियो णरो व विण्णेयो ।
छतसाईणं मिच्छो णिरयो उक्कोससंकिट्ठो ॥२१७॥

तप्पाउग्गकिलिट्ठो जिणस्स सम्मो कमा णरो णिरयो ।
अइसंकिट्ठो मिच्छो देवो तिण्हाऽऽयवाईणं ॥२१८॥

(प्रे०) "धुवसोलसे"त्यादि नीललेश्यायां कापोतलेश्यायां च सप्तचत्वारिंशतो ध्रुवबन्धिनीनां तथा षोडशानाम् '' णपुमा असाय-सोगा ऽरई हुंडं॥१५०॥ नीअं अथिरतिग-अजस-ऽणाइज्जाणि परघाय-ऊसामा । बायरतिगे' त्येतावता संग्रहगाथांशेन पूर्वं संगृहीतानां नपुंसकवेदादिप्रकृतीनाम् "उज्जोआ उरलतिरिदुगे"त्यनेन संगृहीतानामुद्योतादिचतुःप्रकृतीनां चोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वाम्युत्कृष्टसंक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिः "दुगइट्ठो" त्ति निरयदेवान्यतमो भवेत्, न पुनर्मनुष्यस्तिर्यङ् वेत्यर्थः । कुतः ? प्रस्तुतमार्गणाभाव्युत्कृष्टसंक्लेशस्यौघिकोत्कृष्टसंक्लेशरूपत्वात्, औघिकोत्कृष्टसंक्लेशानां तिर्यग्मनुष्याणां तु कृष्णलेश्यापरिणततया प्रस्तुतमार्गणाया एव बहिर्वर्तनादिति । अत्र पूर्वोक्तसामान्यवक्तव्यतानुसारेणेषन्मध्यमसंक्लिष्टा निरय-देवा अप्युत्कृष्टस्थितिबन्धकतया वक्तव्याः । एवमुत्तरत्रापि । 'पणवीसणराईण"मित्यादि, 'णरदुग-उच्च गोआणि ॥१५२॥ सायं तह हस्स-रई थिर-सुह-जस सुहगतिग-सुखगइ-पुमा । पढम-दुइअ तइअ तुरिअ-पचमसंघयणआगिइ-थी ॥१५३॥'इत्येतावता संगृहीतानां मनुष्यगत्यादिपञ्चविंशतिप्रकृतीनां तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिर्देवो नैरयिको वा भवति । नरकगति-नरकानुपूर्वीलक्षणस्य नरकद्विकस्य वैक्रियदेह-वैक्रियाङ्गोपाङ्गलक्षणस्य वैक्रियद्विकस्य तथा "अट्ठण्ह सुहुमाईण"मिति सूक्ष्मत्रिक-विकलत्रिक-देवद्विकलक्षणानां पूर्वं संगृहीतानामष्टानां सूक्ष्मादिप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिस्तिर्यङ्मनुष्यो वा विज्ञेयः, न तु देवो नैरयिको वा, देवनैरयिकैः प्रस्तुतद्वादशप्रकृतीनामेवाबन्धात् । "छतसाईण"मिति 'तस-कुखगइ पणिंदि-दुस्सर-छिवट्ठाणि ॥१५१॥ उरलुवंगे'त्येतावता संगृहीतानां षण्णां त्रसादिप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वाम्युत्कृष्टसंक्लिष्टमिथ्यादृष्टिर्नैरयिको भवति, नैरयिकाणामेकेन्द्रियतयानुत्पादेन स्वप्रायोग्यसर्वनिकृष्टपारभविकोत्पत्तिस्थानानुरूपप्रकृतीर्बध्नतां सर्वसंक्लिष्टानामपि तेषां त्रसकुखगत्यादिप्रकृतीनामेव बन्धभावात् । न च तिर्यग्मनुष्या अपि स्वप्रायोग्यसर्वनिकृष्टपारभविकोत्पत्तिस्थानप्रायोग्याः प्रकृतीर्बध्नन्तस्त्रसादिप्रकृतीरेव निर्वर्तयन्ति, तदानीं तेऽप्यत्यन्तसंक्लिष्टाश्च, तत्कथं नैरयिकाणामेव त्रसादिप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्ध इति वाच्यम्, तथाकुर्वतां तिर्यग्मनुष्याणां त्रसादिप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धसम्भवेऽपि नैते प्रस्तुतमार्गणाप्रविष्टाः सन्ति, उत्कृष्टसंक्लेशेनेषन्मध्यमसंक्लेशेन वोत्कृष्टस्थितिबन्धं निर्वर्तयतां तेषां कृष्णलेश्यापरिणतत्वेन प्रस्तुतमार्गणाया एव बहिस्त्वात्, नारकास्त्ववस्थितलेश्यतयोत्कृष्टसंक्लेशपरिणताः, ईषन्मध्यमसंक्लेशपरिणता एवं तत्प्रायोग्यसंक्लेशपरिणता वाऽऽजन्मप्रवृत्तां लेश्यां न जहत्येव, अत एव तेऽपीह प्रथमादिनिरयपृथिवीमपुद्भवा उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामितयाऽवसातव्याः, न तु यथाकथञ्चित् सर्वेऽपि वेति । "तप्पाउग्गे"त्यादि, जिननाम्न उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी तु तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टः सम्यग्दृष्टि-

भवति, स च "**कमा णरो णिरयो**" त्ति "**णीलकाऊसु**" इत्यनुवर्तते ततः 'क्रमाद्'-यथाक्रमं नरो नैरयिकश्च, नीललेश्यायां नरः कापोतलेश्यायां तु नैरयिक इत्यर्थः । **इदमुक्तं भवति**–नील-लेश्याकनैरयिकाणां जिननाम्नो बन्धाभावात् नीललेश्यायां केवला मनुष्या एव तत्स्वामितया प्राप्यन्ते, कापोतलेश्यायां यद्यपि नैरयिका मनुष्याश्च जिननाम्नो बन्धस्वामिनस्तथाप्युत्कृष्टस्थिति-बन्धस्वामिनो मनुष्या न भवन्ति, कापोतलेश्यापरिणतैर्नारकैः यादृशि संक्लेशे जिननाम्न उत्कृष्ट-स्थितिबन्धः क्रियते तादृशसंक्लेशपरिणतानां मनुष्याणां कृष्णलेश्यापरिणतत्वेन प्रस्तुतमार्गणाबहि-र्वर्तनात्, यदा त्वेते मनुष्याः कापोतलेश्यापरिणता भवन्ति, तदा तु अतथाविधसंक्लेशोपेताः सन्त उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनो न भवन्त्यत एकत्र नरा अन्यत्र तु नारका एव स्वामितयोक्ता इति । "**अइसंकिट्ठो**" इत्यादि, आतप-स्थावरै-केन्द्रियलक्षणानां तिसृणामातपादिप्रकृतीनामतिसंक्लिष्ट ईषन्मध्यमसंक्लिष्टश्च मिथ्यादृष्टिर्देवो भवति, अत्रापि देवसामान्यस्यैव स्वामितया कथनेऽपि भवन-पतिव्यन्तरदेवानामन्यतमोऽसौ ग्राह्यः, नान्यः, इहान्येषामप्रवेशादिति ॥२१५ २१८॥

अथ प्रस्तुतनीलकापोतलेश्ययोरपि कृष्णलेश्यावद्यथोक्तमतान्तरमधिकृत्योत्कृष्टस्थितिबन्ध-स्वामित्वमाह—

उक्कोससंकिलिट्ठो मिच्छो णिरयोऽत्थि णील-काऊसु ।
अण्णे उ भणन्ते धुवबंधि-छवीसणपुमाईणं ॥२१९॥
पणवीसणराईणं तदरिहकिट्ठोऽत्थि मिच्छ-णेरइयो ।
णिरय-विउव्वदुगाणं तदरिहकिट्ठयमदुगइयो मिच्छो ॥२२०॥(गीतिः)
तदरिहकिट्ठदुगइओ मिच्छो एगारसाऽऽयवाईणं ।
तदरिहकिट्ठो सम्मो जिणस्स कमसो णरो णिरयो ॥२२१॥

(प्रे०) "**उक्कोससंकिलिट्ठो**"इत्यादि, तत्र'अण्णे उ' त्ति पूर्वोक्ता देवानां पर्याप्तावस्थागता-नामशुभलेश्यामनभ्युपगच्छन्तः प्रस्तुतयोर्नील-कापोतलेश्ययोः सप्तचत्वारिंशतो ध्रुवबन्धिनीनां तथा 'णपुमा असाय-सोगा-ऽरई हु ड ॥१५०॥ णीअ अथिरतिग-अजस-ऽणाइज्जाणि परघाय-उसासा । बायर-तिग-तस-कुखगइ-पणिंदि-दुस्सर-छिवट्ठाणि ॥१५१॥ उरलोव-गुज्जोआ उरल-तिरिक्खदुग' इत्येतावद्भिः संग्रहगाथांशैः संगृहीतानां षड्विंशतेर्नपुंसकवेदादिप्रकृतीनां प्रस्तुतत्वादुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी तीव्रसंक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिर्नारकजीवो भवति, तत्र त्रसादीनां षण्णां प्राग्दर्शितनीत्यैव, शेषाणां ध्रुव-बन्ध्यादीनां, नपुंसकवेदादीनां षोडशानां, उद्योतादीनां चतसृणां च तत्र यो नारकवद् देवोऽपि भणितः, स भवनपतिव्यन्तरदेवाऽपेक्षयैव, अस्मिन् मते तु भवनपति-व्यन्तराणां ध्रुवबन्ध्यादिप्रकृति-बन्धसद्भावेऽपि अपर्याप्तावस्थतया न भवत्युत्कृष्टस्थितिबन्धस्तथा च नारका एव तासामुत्कृष्ट-

स्थितिबन्धस्वामित्वेन दर्शिताः । एवमेव यासां पूर्वमते देवनारका उभयविधा उत्कृष्टस्थितिबन्ध-स्वामित्वेन भणितास्तासामनेनाभिप्रायेण नारका एवोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनो भवन्ति, यासां तु केवला देवा एव प्रतिपादितास्तासां पर्याप्ताः संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चस्तादृशा मनुष्याश्च स्वामितया लभ्यन्ते, केवल तत्र देवाः सर्वसंक्लेशगता भणिताः, इह तु तिर्यग्मनुष्यास्तत्प्रायोग्यसंक्लेशान्विता द्रष्टव्याः, ततोऽधिकसंक्लेशगतानां तेषां नारकप्रायोग्यबन्धभावेनैकेन्द्रियादिप्रायोग्यं बध्नताम-नुत्कृष्टसंक्लेशगतत्वात् । एतदेवाह–"**पणवीसणराईणं**" इत्यादि, सुगमम् , केवलं द्वितीयगाथो-त्तरार्धे "**तदरिहकिट्ठयमदुगइयो मिच्छो**" इत्यत्र '**दुगइयो**' इत्यनेन पूर्ववत् तिर्यङ् मनुष्यो वा विज्ञेयः । **ननु 'अइसंकिट्ठ'** इति विहाय '**तदरिहकिट्ठ**' इति कथमुक्तम् ? **इति चेद्** , नील-कापोतलेश्यापरिणतानां तिर्यग्मनुष्याणामुत्कृष्टसंक्लेशासम्भवात् , कथमुत्कृष्टसंक्लेशो न भवति ? इति चेद् , अस्थिरलेश्यत्वात् , अत एव कृष्णलेश्यावर्जासु नीलादिलेश्यासु नारकादीनामेव तीव्र-संक्लेशो विज्ञेयः,तेषां स्थिरलेश्यत्वेन सर्वसंक्लेशपरिणतावपि नीलादितत्तल्लेश्याया अवस्थानादित्य-लम् । एवमेव तृतीयगाथास्थेन "**दुगइओ**" इत्यनेनाऽपि तिर्यङ् मनुष्यो वा विज्ञातव्यः, प्रस्तुतमते नीलाद्यशुभलेश्यासूक्तनीत्याऽपर्याप्तावस्थागतानां देवानामातपादिप्रकृतिबन्धसम्भवेऽप्युत्कृष्टस्थिति-बन्धाऽसम्भवादिति ॥२१९-२२१॥ अथ तेजोलेश्यायां प्रस्तुतमुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वमाह—

धुव-सोलसणपुमाइग-सत्तुज्जोआइगाण तेऊए ।
मिच्छादिट्ठी देवो विण्णेयो तिव्वसंकिट्ठो ॥२२२॥
देवविउव्वदुगाणं तिरियो मणुसो व तदरिहकिलिट्ठो ।
मिच्छादिट्ठी णेयो आहारदुगस्स ओघव्व ॥२२३॥
तप्पाउग्गकिलिट्ठो सम्मादिट्ठी सुरो जिणस्स भवे ।
तदरिहकिट्ठो मिच्छो देवो सेसेगतीसाए ॥२२४॥

(प्रे०) "**धुवसोलसे**"त्यादि, तेजोलेश्यायां मतिज्ञानावरणादीनां सप्तचत्वारिंशतो ध्रुव-बन्धिनीनां तथा 'णपुमा' इत्यादिसंग्रहगाथावयवसंगृहीतानां यथोक्तानां षोडशानां नपुंसक-वेदादिप्रकृतीनां तथा तद्वदेव संगृहीतानामुद्योतौदारिकशरीर-तिर्यग्द्विका-ऽऽतपै-केन्द्रिय-स्थावर-नामलक्षणानां सप्तानामुद्योतादिप्रकृतीनामित्येवं सर्वसंख्यया सप्ततिप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी "**मिच्छादिट्ठी**"त्यादि, ओघवत्तीव्रसंक्लिष्ट ईषन्मध्यमसंक्लिष्टश्च मिथ्यादृष्टिर्देवो विज्ञेयः, स च भवनपत्यादीशानकल्पान्तगत एव, उपरितनदेवानां प्रस्तुतमार्गणायामप्रवेशात् । "**देवविउव्वे**"-त्यादि, द्विकशब्दस्य प्रत्येकं योजनात् देवद्विक-वैक्रियद्विकलक्षणस्य प्रकृतिचतुष्कस्य तत्प्रायोग्य-संक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिस्तिर्यङ् मनुष्यो वोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी वज्ञेयः । सुगमम् । "**आहारे**"-

त्यादि, आहारकशरीर-तदङ्गोपाङ्गलक्षणस्या-ऽऽहारकद्विकस्य पुनरोघवद्देवोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी ज्ञेयः। "**जिणस्स**" त्ति तीर्थंकरनामकर्मण उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी तत्प्रायोग्यक्लिष्टः सम्यग्दृष्टिः '**सुरः**'-देवो भवेत्, अयं चोत्कृष्टस्थितिबन्धो न ओघोत्कृष्टः, ओघोत्कृष्टस्थितिबन्धस्य मनुष्यैरेव निर्वर्तनात्, न च तर्हि मनुष्य एवात्रोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी कथ्यताम्, देवानामिव मनुष्याणामपि प्रस्तुतमार्गणायां प्रवेशादिति वाच्यम्, मनुष्याणां प्रस्तुतमार्गणायां प्रवेशेऽपि जिननाम्न उत्कृष्टस्थितिबन्धकानां तु तेषां नरकाभिमुखतयाऽशुभलेश्यापरिणतत्वेन प्रस्तुतमार्गणाया बहिस्त्वात् नाऽमी गृह्यन्त इति।

शेषाणामाह-"**तदरिहे**"त्यादि, उक्तशेषाणामायुर्वर्जानामेकत्रिंशत्प्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिर्देवो भवति। अत्र **शेषप्रकृतयो नामत इमाः**-हास्य-रति-स्त्रीवेद-पुंवेदमोहनीयानि, सातवेदनीयम्, मनुष्यद्विकम्, पञ्चेन्द्रियजातिनाम, औदारिकाङ्गोपाङ्गम्, संहननषट्कम्, हुंडवर्जसंस्थानपञ्चकम्, विहायोगतिद्विकम्, त्रसनाम, स्थिरषट्कम्, दुःस्वरनाम, उच्चैर्गोत्रं चेति।

ननु कुत एतासामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी देव एव, न पुनस्तिर्यङ्मनुष्यो वा? इति चेद्, उक्तहेतोरेव, आहारकद्विकं विहाय तिर्यग्मनुष्यैरायुर्वर्जसर्वप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य कृष्णलेश्यायामेव निर्वर्तनादिति भावः। तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टस्य ग्रहणं तु देवेष्वपीशानान्तानामेव तेजोलेश्याकतयैकेन्द्रियप्रायोग्यप्रकृतीनामपि बन्धसम्भवेन सर्वसंक्लेशे सति एकेन्द्रियप्रायोग्यप्रकृतीनां बन्धस्यैव शोका-ऽरति-नपुंसकवेदादीनामेव बन्धस्य भावात् हास्य-रत्यादिप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्तत्प्रायोग्यसंक्लेशेनैव जायत इति ॥२२२-२२४॥

अथ पद्मलेश्यामार्गणायामाह-

> **णपुमाइछवीसाए धुवबंधीणं च पम्हलेसाए।**
> **अइकिट्ठो मिच्छसुरो आहारदुगस्स ओघव्व ॥२२५॥**
> **सुरविउवदुगाण भवे मिच्छो संकिट्ठदुगइयोऽण्णेसिं।**
> **तदरिहकिट्ठो मिच्छो सुरोऽत्थि णवरं जिणस्स सम्मत्ती ॥२२६॥** (गीतिः)

(प्रे०) "**णपुमाई**"त्यादि, पद्मलेश्यायां 'णपुमा असाय-सोगा-ऽरई हुंड ॥१५०॥ णीअं अथिरतिग-अजस-ऽणाइज्जाणि परघाय ऊसासा। बायरतिग-तस-कुखगइ-पणिंदि-दुस्सर-छिवट्ठाणि ॥१५१॥ उरलोवगु ज्जोआ उरल-तिरिक्खदुगे'त्येतावद्भिः 'णपुमा' इत्यादिसंग्रहगाथात्रयवैः संगृहीतानां नपुंसकवेदादीनां षड्विंशतेः प्रकृतीनां सप्तचत्वारिंशतो ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां च प्रत्येकमुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी '**अतिक्लिष्टः**'-सर्वसंक्लिष्ट ईषन्मध्यमसंक्लिष्टश्च मिथ्यादृष्टिः '**सुरः**'-देवो भवति, आहारकद्विकस्याऽऽहारकशरीर-तदङ्गोपाङ्गलक्षणस्य पुनरोघवद्देवोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी भवति। "**सुरे**

त्यादि, सुरद्विक-वैक्रियद्विकयोर्मिथ्यादृष्टिः **"संकिट्ठ"** त्ति तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टः **"दुगइयो"** त्ति मनुष्यस्तिर्यङ्वा भवति । **"ऽण्णेसिं"** ति आदावकारस्य दर्शनाद् 'अन्यासाम्' उक्तव्यतिरिक्तानामायुर्वर्जानां सातवेदनीय-हास्य-रति-पुंवेद-स्त्रीवेदमोहनीय-मनुष्यद्विक-प्रथमादिसंहननपञ्चक-प्रथमादिसंस्थानपञ्चक-सुखगति-जिननाम स्थिरषट्को-च्चैर्गोत्रलक्षणानां षड्विंशतेः प्रकृतीनां तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिः सुरो भवति, **'नवरम्'**-केवलं जिननाम्नः **"सम्मत्ति"** त्ति तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टः **'सम्यक्त्वी'**-सम्यग्दृष्टिर्देवो भवतीत्यर्थः ॥२२५-२२६॥ अथ शुक्लायामाह—

धुव-णपुमाइदुवीसा-णरदुग-उरलाण सुक्कलेसाए ।
आणतसुरो व मिच्छो हवेज्ज उक्कोससंकिट्ठो ॥२२७॥
देवविउव्वदुगाणं तिरियो व णरो व तदरिहकिलिट्ठो ।
मिच्छत्ती बोद्धव्वो आहारदुगस्स ओघव्व ॥२२८॥
तप्पाउग्गकिलिट्ठो सम्मो आणतसुरो य तित्थस्स ।
तदरिहकिट्ठो मिच्छो आणतदेवो य सेसाणं ॥२२९॥

(प्रे०) **"धुवे"**त्यादि, शुक्ललेश्यायां सप्तचत्वारिंशतो ध्रुवबन्धिनीनां तथा 'णपुमा-असाय-सोगा-ऽरई हुड ॥१५०॥ णीअ अथिरतिग-अजस-ऽणाइज्जाणि परघाय-ऊसासा । बायरतिग-तस-कुखगइ-पणिंदि-दुस्सर-छिवट्ठाणि उरलोवंगे"त्येतत्संग्रहगाथांशसंगृहीतानां नपुंसकवेदादिद्वाविंशतिप्रकृतीनां तथा मनुष्यद्विकौदारिकशरीरयोरित्येवं सर्वसंख्यया द्वासप्ततिप्रकृतीनां प्रत्येकम् **"आणतसुरो य"** त्ति आनतकल्पोद्भवः सुरो भवति, चकारस्तु अभिप्रायान्तरसमुच्चये, ततश्च मूलस्थितिबन्ध(गा०-१०३)स्वामित्वद्वारोक्तनीत्याऽऽनतादिकल्पोद्भवो वा प्रस्तुतध्रुवबन्ध्यादीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी विज्ञेयः । स चाभिप्रायद्वयेनाऽप्युत्कृष्टसंक्लिष्ट ईषन्मध्यमसंक्लिष्टश्च मिथ्यादृष्टिरेव भवेदिति । **"देवविउव्वे"** त्यादि, देवद्विक वैक्रियद्विकलक्षणानां चतसृणां प्रकृतीनां तु **"तिरियो"**इत्यादि, तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिस्तिर्यङ्मनुष्यो वा बोद्धव्यः, तयोरेव प्रस्तुतप्रकृतिचतुष्कस्वामित्वादिति । **"आहारदुगस्स"** इत्यादि, प्राग्वत् । **"तप्पाउग्गे"**त्यादि, तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टः सम्यग्दृष्टिः सुरः 'जिनस्य' जिननाम्न उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी बोद्धव्यः । उक्तशेषाणामायुर्वर्जप्रकृतीनां तु तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिः **"आणतदेवो य"** त्ति पूर्ववच्चकारस्याभिप्रायान्तरसमुच्चायकतयाऽऽनतकल्पोद्भवदेव आनतादिकल्पोद्भवदेवो वेत्यर्थः ।

अत्र **शेषप्रकृतयस्त्विमाः**-सातवेदनीय-हास्य-रति-पुंवेद-स्त्रीवेद-चरमवर्जसंहननपञ्चक-चरमवर्जसंस्थानपञ्चक प्रशस्तविहायोगति-स्थिरषट्को-च्चैर्गोत्राणीति ॥२२७-२२९॥

तदेवं दर्शिता लेश्यामार्गणाभेदेषूत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनः । तदनु क्रमप्राप्तभव्या-ऽभव्यमार्ग-

णयोस्तु प्राग् "भविया-भवियेसु" (गाथा-१८४...) इत्यनेन पञ्चेन्द्रियौघादिमार्गणाभिः सहौघवदितिदिष्टत्वात्तथा क्रमप्राप्तसम्यक्त्वौघ--क्षायोपशमिकसम्यक्त्वादिसप्तभेदमध्यान्मिथ्यात्वमार्गणायां पञ्चेन्द्रियौघादिमार्गणाभिः सममेव तथा सम्यक्त्वौघ-क्षायोपशमिकसम्यक्त्वद्वये "णाणतिगे ओहिम्मि य सम्मत्ते" (गाथा २०६) इत्यादिना मतिज्ञानादिमार्गणाभिः सममेव प्रस्तुतस्वामित्वस्याभिहितत्वात् क्षायिकसम्यक्त्वादिशेषभेदमध्ये आदौ तावत् क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायामाह—

तप्पाउग्गकिलिट्ठो खइए सायाइगाण छण्ह भवे ।
आहारदुगस्स भवे ओघव्वियराण अइकिट्ठो ॥२३०॥
तहि वि तिरियो णरो वा सुरविउव्वदुगाण अत्थि दुगइट्ठो ।
णरुरलदुग-वइराणं तिगइट्ठो तित्थणामस्स ॥२३१॥

(प्रे०) "**तप्पाउग्गे**" त्यादि, क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां सातवेदनीयादीनाम् "साय तह हस्स रई थिर-सुह जस" इत्येतावता संग्रहगाथावयवेन संगृहीतानां षण्णां प्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टो भवति, ततोऽधिकसङ्क्लेशे प्रस्तुतप्रकृतीनामेवाऽबन्धात् । आहारकद्विकस्य त्वोघवदुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी भवेत् । "**इयराण**" त्ति उक्तेतरासां प्रस्तुतमार्गणायां बन्धप्रायोग्याणामसातवेदनीयाद्येकोनसप्ततिप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी "**अइकिट्ठो**" त्ति सर्वसंक्लिष्ट ईषन्मध्यमसंक्लिष्टश्च नारकादीनामन्यतमो भवेत् । अत्रैवापवादपदान्याह-"**तहि वि**" इत्यादि, '**तहि वि**'त्तितत्राऽपि किमित्याह-"**तिरियो**" इत्यादि '**सुरविउवदुगाण**' त्ति नैरयिक-देवानां सुरद्विकादिप्रकृतिचतुष्कबन्धस्वामित्वाभावात् सुरद्विक-वैक्रियद्विकलक्षणानां चतसृणां प्रकृतीनामसौ तिर्यङ मनुष्यो वा विज्ञेयः, "**णरुरलदुगवइराणं**"ति नरद्विकौदारिकद्विक वज्रर्षभनाराचसंहननलक्षणानां पञ्चप्रकृतीनां त्वसौ निरयो वा देवो वा विज्ञेयः, न तु तिर्यग्मनुष्याणामन्यतमः,प्रस्तुतमार्गणाप्रविष्टतिर्यग्-मनुष्याणां सम्यग्दृष्टितया देवगतिप्रायोग्यप्रकृतीनामेव बन्धसद्भावेन मनुष्यगतिप्रायोग्यप्रकृतीनामबन्धात् , प्रकृतिबन्धाभावे स्थितिबन्धस्याप्यभाव एवेति । "**तिगइट्ठो तित्थणामस्स**" त्ति जिननाम्न उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी तिर्यग्गतिवर्जान्यतमगतिवर्ती स्यात् ॥२३०-२३१॥

साम्प्रतमौपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायामाह—

तज्जोगसंकिलिट्ठो असंजमी उवसमे जिणस्स णरो ।
ओहिव्व जाणियव्वो अवसेसाणं छसयरीए ॥२३२॥

(प्रे०) "**तज्जोगसंकिलिट्ठो**" इत्यादि, "**उवसमे**" त्ति औपशमिकसम्यक्त्वे 'जिनस्य' जिननामकर्मण उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टः "**असंजमो**" त्ति अविरतसम्य-

ग्दृष्टिगुणस्थानवर्ती 'नरः'-मनुष्यो भवति । कुतः ? उच्यते, जिननाम्नो बन्धः श्रेणिसत्कद्वितीय-सम्यक्त्वभाजाम्, न पुनः प्रथमसम्यक्त्वभाजामसौ सम्भवति, ये तु द्वितीयसम्यक्त्ववन्तस्तेषां जिननामबन्धकत्वसम्भवेऽपि न भवति नरकायुःसत्कर्मता, किञ्च जिननामबन्धकानां नरकायुष्कसत्कर्मत्वे सत्येव मिथ्यात्वाभिमुखता भवति नान्यथेति सामान्यनियमः, तदेवं जिननामबन्धकेतरेषामेव मिथ्यात्वाभिमुखतायाः सद्भावसम्भवे तेषामेव मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टसंक्लेशसम्भवः, जिननाम्नो बन्धकानां तु तत्प्रायोग्य एवेति कृत्वा तदीयोत्कृष्टस्थितेर्बन्धकोऽपि तत्प्रायोग्यसंक्लिष्ट एव भणितः । यत्तु देवानां द्वितीयसम्यक्त्वसम्भवेऽपि प्रस्तुतस्वामितयाऽग्रहणं तत्तु अपर्याप्तावस्थायां तेषां तस्य सम्भवात्, तदानीं तथाविधसंक्लेशाऽपरिणतेरुत्कृष्टस्थितिबन्धस्याऽभावाच्चेति ।

शेषप्रकृतीनामाह-"ओहिव्वे"त्यादि, प्रस्तुतमार्गणायां बन्धप्रायोग्याणामुक्तशेषध्रुवबन्ध्यादीनां पट्सप्ततिप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी तु "णाणतिगे ओहिम्मि ये"त्यादिना (गाथा२०६...) ऽवधिज्ञानादिमार्गणायामुक्तस्वरूपो ज्ञातव्य इति ।।२३२।। अथ सम्यग्मिथ्यात्वमार्गणायामाह-

तप्पाउग्गकिलिट्ठो मीसे सायाइगाण छण्ह भवे ।
सेसाण मिच्छहुत्तो हवेज्ज उक्कोससंकिट्ठो ।।२३३।।
णवरि भवे तिरियो वा मणुसो वा सुरविउव्वियदुगाणं ।
णिरयो वा देवो वा मणुस्सुरालदुगवइराणं ।।२३४।।

(प्रे०) "**तप्पाउग्गकिलिट्ठो**" इत्यादि 'मिश्रे'-सम्यग्मिथ्यात्वमार्गणायां सातादीनां "सायं तह हस्स-रई थिर-सुह-जसे"त्येतावता पूर्वं संगृहीतानां षण्णां प्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टो मिश्रदृष्टिर्जीवो भवति, न पुनर्मिथ्यात्वाभिमुखः सर्वसंक्लिष्टः, असातवेदनीय-शोका-ऽरत्यादिप्रतिपक्षप्रकृतिषट्कस्याऽपि मिश्रदृष्टिगुणस्थाने एकजीवमाश्रित्य बन्धप्रायोग्यतया सर्वसंक्लिष्टैस्तस्यैव बन्धकरणेन तदानीं सातवेदनीयादीनां षण्णामबन्धादिति ।

अत एवाऽसातवेदनीयादीनां षण्णां प्रतिपक्षप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी मिथ्यात्वाभिमुखः सर्वसंक्लिष्टो जीवो भवति, तथा शेषप्रकृतिष्वपि काश्चिन्मतिज्ञानावरणादयः प्रकृतयो ध्रुवबन्धिन्यः, न पुनः सातवेदनीयादीनामिवाऽध्रुवबन्धिन्यः, काश्चित्तु सातवेदनीयादीनामिवाध्रुवबन्धिन्योऽपि न प्रस्तुतगुणस्थाने एकं जीवं समाश्रित्य स्वप्रतिप्रकृतिसहितबन्धप्रायोग्याः, स्वप्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धप्रायोग्यत्वाभावे च ता एव उत्कृष्टसंक्लेशे प्रवर्तमानेऽनुत्कृष्टे संक्लेशे वा विद्यमाने नैरन्तर्येण बध्यन्ते, अतस्तासामुत्कृष्टस्थितिबन्धोऽसातवेदनीयादिप्रकृतीनामिव मिथ्यात्वाभिमुखैः सर्वसंक्लेशगतैर्जीवैः क्रियत इति तथैव दर्शयन्नाह-"**सेसाणे**"त्यादि, उक्तशेषाणां प्रस्तुतमार्गणायां बन्धप्रायोग्याणामष्टषष्टिप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी "**मिच्छहुत्तो**" त्ति मिथ्यात्वाभिमुखः

"उक्कोससंकिट्ठो" त्ति उत्कृष्टसंक्लिष्टः, पूर्वोक्तवचनादीषन्मध्यमसंक्लिष्टश्च मिश्रदृष्टिर्जीवो भवति। अत्रैव विशेषमाह–"णवरि" इत्यादिना, गतार्थम् ।।२३३-२३४।। अथ सास्वादनमार्गणायामाह–

तप्पाउग्गकिलिट्ठो बावीसणराइगाण सासाणे।
देवविउव्वदुगाणं दुगइट्ठो तदरिहकिलिट्ठो ॥२३५॥
उक्कोससंकिलिट्ठो अवसेसाणं दुसत्तरीअ भवे।
अहवा मिच्छाहिमुहो विण्णेयो तिव्वसंकिट्ठो ॥२३६॥

(प्रे०) "तप्पाउग्गे"त्यादि, सासादनसम्यक्त्वमार्गणायां "बावीसणराइगाण" त्ति "णरदुग-उच्च-गोआणि ॥१५२॥ साय'मित्यादिना संग्रहगाथात्रयवेन संगृहीतानां मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्र सातवेदनीय-हास्य-रति–पुरुषवेद-प्रथम-द्वितीय–तृतीय-चतुर्थसंहनन प्रथम-द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-संस्थान-प्रशस्तविहायोगति-स्थिरषट्कलक्षणानां द्वाविंशतिप्रकृतीनां प्रत्येकं तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टो जीव उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी भवति। कथं मिथ्यात्वमार्गणावत् स्त्रीवेद-पञ्चमसंहननादीनामपि तत्प्रायोग्यसंक्लिष्ट उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी नोच्यते ? भण्यते, नपुंसकवेद-षष्ठसंहननादीनां सासादनगुणस्थाने बन्धप्रायोग्यत्वाभावेन बन्धप्रायोग्यासु प्रकृतिषु स्त्रीवेद-पञ्चमसंहननादीनामेव कनिष्ठतमतया तासामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य उत्कृष्टसंक्लेशकाले भावादिति। 'देवे"त्यादि, द्विकशब्दस्य प्रत्येकं योजनाद् देवद्विकवैक्रियद्विकयोरुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वाम्यपि "तदरिहकिलिट्ठो" त्ति तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टो जीव एव, केवलम् "दुगइट्ठो" त्ति मनुष्यस्तिर्यङ् वेति।

शेषाणामायुर्वर्जप्रकृतीनामाह–"उक्कोसे"त्यादि, अवशेषाणामायुर्व्यतिरिक्तानां मतिज्ञानावरणादिद्विसप्ततिप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी 'उक्कोससंकिलिट्ठो" त्ति सासादनावस्थासम्भविसंक्लेशमपेक्ष्योत्कृष्टसंक्लिष्ट ईषन्मध्यमसंक्लिष्टो वा जीवो भवेत्। अत्रैव विकल्पान्तरमाह–"अहवे"त्यादि, सुगमम्; केवलमस्मिन् विकल्पे विशेषतो मिथ्यात्वाभिमुखस्य मतिज्ञानावरणादिशेषप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वप्रदर्शनात् पूर्वविकल्पेऽसौ मिथ्यात्वाभिमुखो नाऽपि भवतीति अर्थाज्ज्ञापितं विज्ञेयम् ।।२३५-२३६।।

अमणे पणिंदियो खलु धुव-चउवीसणिरयाइगाण भवे।
तिव्वकिलिट्ठोऽण्णेसिं पणिंदियो तदरिहकिलिट्ठो ॥२३७॥

(प्रे०) "अमणे" इत्यादि, असंज्ञिमार्गणायां सप्तचत्वारिंशतो ध्रुवबन्धिनीनां तथा "णिरयविउव्वदुग-णपुमा असाय-सोगा-ऽरई हुंडं ॥१५०॥ णीअ अथिरतिग-अजस-ऽणाइज्जाणि परघाय-ऊसासा ॥ ॥१५१॥बायरतिग तस कुखगइ-पणिंदि-दुस्सरे"त्यादिना संगृहीतानां निरयगत्यादिचतुर्विंशतिप्रकृतीनां चोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी मार्गणागतजीवापेक्षया यस्तीव्रतमसंक्लिष्टः "ईसिमज्झिमसकिट्ठो अधगो वि"

इति पूर्वोक्तवचनादीषन्मध्यमसंक्लिष्टश्च पञ्चेन्द्रियजीवः स भवति, "**अण्णेसिं**" ति उक्तान्यासामायुर्वर्जप्रकृतीनां तु तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टः पञ्चेन्द्रियो भवति, **शेषप्रकृतयस्तु**–सातवेदनीय-हास्य-रति-स्त्रीवेद-पुंवेदमोहनीय-देवद्विक-मनुष्यद्विक-तिर्यग्द्विक-जातिचतुष्कौ-दारिकद्विक-संहननषट्क-हुंडवर्जसंस्थानपञ्चक -प्रशस्तविहायोगतिनामा--ऽऽतपो--द्योत--स्थावरचतुष्क स्थिरषट्को--च्चैर्गोत्राणीति द्विचत्वारिंशज्ज्ञेया इति ॥२३७॥

तदेवमभिहिता निरयौघादिसर्वमार्गणास्वायुर्वर्जबन्धप्रायोग्योत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनः, साम्प्रतं तास्वेवोक्तशेषाणां बन्धप्रायोग्याऽऽयुःप्रकृतीनां स्वामिनो द्रष्टव्याः, तत्रादौ तावत्प्राग्वद्गाथात्रयेण सामान्यवक्तव्यताकथनपूर्वकं विशेषवक्तव्यतां प्रतिजानाति—

सव्वासु बंधगो खलु जेट्ठठिईएऽत्थि गुरुअबाहगओ ।
सागाराइविसिट्ठो सप्पाउग्गाण आऊणं ॥२३८॥
पज्जत्ताऽपज्जत्ता दुहावि जीवाऽत्थि जत्थ तत्थ भवे ।
पज्जत्तो सव्वाहिं पज्जत्तीहिं ति वत्तव्वं ॥२३९॥
जहि णिरयाउस्स भवे बंधो तहि तस्स तदरिहकिलिट्ठो ।
सव्वह इयराऊणं तदरिहसुद्धोऽत्थ भण्णइ विसेसो ॥२४०॥ (गीतिः)

(प्रे०) "**सव्वासु**"इत्यादि, सामान्येन निरयगत्योघादिषु सर्व्वासु मार्गणासु '**ज्येष्ठायाः**' उत्कृष्टायाः '**स्थितेः**'-कर्मरूपतावस्थानलक्षणायाः पूर्वं **मूलप्रकृतिस्थितिबन्धविधाने** द्वितीयाधिकार-द्वितीयगाथावृत्तौ व्यावर्णितस्वरूपायाः '**बन्धकः**'-स्वामी '**खलु**'-निश्चयेन '**ऽत्थि**' त्ति भवति, क इत्याह-"**गुरुअबाहे**"त्यादि, '**गुर्व्याम्**'-उत्कृष्टायामनन्तरे प्रमाणद्वारेऽभिहितप्रमाणायाम्, वैक्रियकाययोग-निरय-देवमार्गणाभेदानधिकृत्य षण्मासलक्षणायां शेषमनुष्यगत्यादिमार्गणाभेदानधिकृत्य यथासम्भवं पूर्वकोटीत्रिभागप्रभृत्यन्तर्मुहूर्तप्रमाणायामिति भावः । तस्यामुत्कृष्टाबाधायां '**गतः**' वर्तमानः, पुनः किं विशिष्ट इत्याह-"**सागाराइविसिट्ठो**" त्ति पूर्वव्याख्यानसाकारोपयोगादिविशेषणविशिष्टो जीवः, केषामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी भवतीत्याह-"**सप्पाउग्गाणे**"-त्यादि, निरयगत्योघादितत्तन्मार्गणायां स्वस्यां स्वस्यां बन्धप्रायोग्याणां "**आऊण**" त्ति आयुषाम्, आयुरुत्तरप्रकृतीनामित्यर्थः ।

तत्र **निरयगत्योघादिमार्गणास्थानेषु बन्धप्रायोग्या आयुःप्रकृतयस्त्वेवम्**–निरयौघः, सप्तमपृथिवीवर्जाः प्रथमादिषड् निरयभेदाः, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्, अपर्याप्तमनुष्यः, देवौघः, भवनपत्यादिमहस्रारकल्पान्ता एकादशदेवगत्युत्तरमार्गणाभेदाः, सप्तैकेन्द्रियभेदाः, नव विकलेन्द्रियभेदाः, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियभेदः, पृथिवीकाया-ऽप्काय-वनस्पतिकायसत्काः सर्वे इति पञ्च-

विंशतिर्भेदाः, अपर्याप्तत्रसकायः, औदारिकमिश्र वैक्रियकाययोगौ इत्येवं सर्वसंख्यया षट्षष्टिमार्गणा-स्थानेषु तिर्यगायुर्मनुष्यायुश्चेति द्वे आयुःप्रकृती बन्धप्रायोग्ये। सप्तमपृथिवीनिरयभेदे तथा सप्तसु तेज-स्कायभेदेषु सप्तसु वायुकायभेदेष्वित्येवं पञ्चदशमार्गणास्थानेषु त्वेकं तिर्यगायुरेव बन्धप्रायोग्यम्। तिर्यग्गत्योघ-पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघ तत्पर्याप्त-तिरश्ची-मनुष्यौघ तत्पर्याप्त-मानुषी-पञ्चेन्द्रियौघ-तत्पर्याप्त-त्रसकायौघ-तत्पर्याप्त-पञ्चमनोयोगभेद-पञ्चवचोयोगभेद-काययोगसामान्यौ-दारिककाययोग-वेदत्रयी-कषायचतुष्का-ऽज्ञानत्रया-ऽसंयम- चक्षु रचक्षुर्दर्शना--ऽशुभलेश्यात्रयी -भव्या-ऽभव्य--मिथ्यात्व--संज्ञ्य-ऽसंज्ञ्या-ऽऽहारिलक्षणेषु पञ्चचत्वारिंशन्मार्गणास्थानेषु तु निरयादीनि चत्वार्यपि आयूंषि बन्ध-प्रायोग्याणि । आनतादिसर्वार्थसिद्धविमानपर्यन्ताष्टादशदेवगतिभेदेषु केवलमेकं मनुष्यायुरेव बन्ध-प्रायोग्यम् । आहारका-ऽऽहारकमिश्र-मनःपर्यवज्ञान संयमौघ सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशु-द्धिकसंयम-देशसंयमलक्षणाष्टमार्गणास्थानेषु तु केवलं देवायुरेव बन्धप्रायोग्यम् । मति-श्रुता-ऽवधि-ज्ञाना ऽवधिदर्शन-शुक्ललेश्या सम्यक्त्वौघ क्षायिकसम्यक्त्व-क्षायोपशमिकसम्यक्त्वलक्षणाष्टमार्गणा-स्थानेषु पुनर्द्वे देवमनुष्यायुषी बन्धप्रायोग्ये । तेजोलेश्या-पद्मलेश्या-सासादनरूपमार्गणास्थानत्रये तु देव-मनुष्य-तिर्यग्लक्षणानि त्रीणि आयूंषि बन्धप्रायोग्याणीति ।

अथान्यद् बहुमार्गणाविषयकं सामान्यवक्तव्यमाह–"**पज्जत्ता**" इत्यादिगाथया, यासु मार्गणासु पर्याप्ता अपर्याप्ताश्चेति द्विविधा जीवाः प्रविष्टास्तासु मार्गणासु 'स्वप्रायोग्याभिः सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तो बन्धप्रायोग्यायुःप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकतया वक्तव्यः, इह पर्याप्ता नाम करणपर्याप्ताः, ते च तत्तन्मार्गणासम्भविसर्वपर्याप्तिपर्याप्ता ज्ञेयाः । अपर्याप्तास्तु तदितराः करणाऽपर्याप्ता लब्ध्यपर्याप्ताश्च बोद्धव्यास्तत्र च लब्ध्यपर्याप्तानामेवायुर्बन्ध इति । अनयोर्गाथयोः सप्रपञ्चं व्याख्यानं तु **मूल-प्रकृतिस्थितिबन्धद्वितीयाधिकारस्वामित्वद्वारवृत्तितोऽवलोकनीयम्।**

अथान्यदप्याह–"**जहि णिरयाउस्स**" त्यादि, '**जहि**" त्ति 'यत्र' यस्यां तिर्यग्गत्योघा-दिमार्गणायां निरयायुषो बन्धो भवेत्, "**तहि**" त्ति 'तत्र' तस्यां मार्गणायां '**तस्य**' निरया-युषः "**तदरिहकिलिट्ठो**" त्ति उत्कृष्टस्थितेर्बन्धकस्तत्प्रायोग्यः '**क्लिष्टः**'-संक्लिष्टस्तथा "**सव्वह**" त्ति 'सर्वत्र' निरयगत्योघादिसर्वमार्गणासु "**इयराऊण**" त्ति निरयायुर्वर्जानामि-तरेषां बन्धप्रायोग्यायुषामुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकः "**तदरिहसुद्धो**"त्ति तत्प्रायोग्यविशुद्धाध्यवसानो जीवो विज्ञेयः ।

इदमुक्तं भवति--"सव्वासिं पि ठिईओ सुभाऽसुभाण पि होंति असुभाओ। माणुस-तिरिक्ख-देवाउग च मोत्तूण सेसाण॥८७॥" इति शतकवचनतस्तिर्यग्-मनुष्य-देवायुर्वर्जानां मतिज्ञानावरणा दीनां सर्वासां प्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितेरशुभत्वात् तासामुत्कृष्टस्थितिबन्धः संक्लेशेन जायते, तथा च मति-ज्ञानावरणादीनामिव शेषायुःप्रकृत्यन्तःप्रविष्टनिरयायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धोऽपि संक्लेशेनैव जायते,

तिर्यगाद्यायुस्त्रयस्य तूत्कृष्टस्थितेः शुभत्वात् तद्बन्धो विशुद्धया प्रवर्तते, किञ्चायुर्बन्धो घोलनापरिणामेन भवति, उक्तं च– 'आयुष्कस्य तु घोलनापरिणामेनैव बन्धनाद्" इति ।

इत्थ चातिविशुद्धानामतिसंक्लिष्टानां चायुर्बन्धस्यैवाभावाद् ओघतः सर्वमार्गणासु च तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टो निरयायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी तथा शेषायुषां तत्प्रायोग्यविशुद्ध उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी भवतीत्येतत् तत्तन्मार्गणासु विशेषत आयुरुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वभणनावसरे न वक्ष्यते तथापि तत् साकारादिविशेषणानामिव लाघवार्थमादावेवोक्तं तत्र तत्र यथासम्भवमनुसंधेयमिति । तदेवं सामान्यवक्तव्यतां समाप्य विशेषवक्तव्यतां प्रारिप्सुः प्रतिजानन्नाह–"**अत्थ भणई**"त्यादि, सुगमम् ॥२३८-२४०॥

अथ प्रतिज्ञातमेव निर्विवाहयिषुरुपक्रमते—

णिरय-पढमाइछणिरय-देव-सहस्सारअंत-विउवेसु ।
तिरियाउगस्स मिच्छो भवे णराउस्स सम्मो वि ॥२४१॥

(प्रे०) "**तिरिये**"त्यादि, निरयगत्योघः, प्रथमादिषष्ठान्तपृथिवीभेदभिन्नाः षडुत्तरभेदाः, देवौघः, भवनपत्यादिसहस्रारकल्पान्ता एकादश देवगत्युत्तरभेदा वैक्रियकाययोगश्चेत्येवं सर्वसंख्यया विंशतिमार्गणाभेदेषु प्रत्येकम्, किम् ? आह–"**तिरियाउगस्से**"त्यादि, तिर्यगायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी "**मिच्छो**" त्ति मिथ्यादृष्टिर्भवेत्, न पुनः सम्यग्दृष्टिः, सम्यग्दृशां तिर्यगायुषो बन्धप्रायोग्यत्वाभावात् । "**णराउस्स सम्मो वि**" त्ति अपेः समुच्चायकतया नरायुष उत्कृष्टस्थितेर्बन्धकः सम्यग्दृष्टिर्मिथ्यादृष्टिश्च, द्वयमपि भवतीत्यर्थः । कुतो द्वयमपि ? प्रस्तुतमार्गणासूत्कृष्टतः पूर्वकोटिस्थितिकमनुष्यायुषो बन्धप्रायोग्यत्वात्, तावत्स्थितिषु सम्यग्दृष्टिनारकाणामिव मिथ्यादृष्टिनारकाणामपि समुत्पत्तेरविरोधादिति ॥२४१॥

सत्तमणिरये मिच्छो तिरियाउस्स हवए णराउस्स ।
मिच्छो सम्मो य भवे तेरससु आणताईसु ॥२४२॥

(प्रे०) "**सत्तमे**"त्यादि, सप्तमपृथिवीनिरयभेदे तु बन्धप्रायोग्यस्य तिर्यगायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी मिथ्यादृष्टिर्भवेत्, सुगमम्, तत्र मिथ्यात्वगुणस्थाने एवाऽऽयुर्बन्धस्य भावात् । अथोक्तशेषानुत्तरवर्जदेवगतिभेदेष्वाह–"**णराउस्से**"त्यादि, आनतकल्पादिषु नवमग्रैवेयकान्तेषु त्रयोदशसु मार्गणास्थानेषु नरायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी मिथ्यादृष्टिः सम्यग्दृष्टिश्च द्वावपि भवेताम्, नारकाणामिव सम्यग्दृष्टिमिथ्यादृष्टिद्विविधदेवानामप्यनन्तरभवे पूर्वकोटीस्थितिकमनुष्यतयोत्पत्तेः सम्भवादिति ॥२४२॥

सम्मो मिच्छो य भवे सण्णी तिरिय-तिपणिंदितिरियेसु ।

देवाउस्सियरेसिं मिच्छो सण्णी मुणेयव्वो ॥२४३॥

(प्रे०) "सम्मो" इत्यादि, तिर्यग्गत्योघे तथा पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघ-तत्पर्याप्त-तिरश्चीलक्षणेषु त्रिषु पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदेषु प्रत्येकं सम्यग्दृष्टिर्मिथ्यादृष्टिश्च संज्ञी जीवो भवेत्, कस्येत्याह– "देवाउस्स" त्ति देवायुषः, उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामीति गम्यते। अत्रापि सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टि-द्विविधस्यापि ग्रहणं मार्गणाचतुष्के बन्धप्रायोग्येऽष्टादशसागरोपमप्रमाणोत्कृष्टस्थितिकदेवायुषि सम्यग्दृशां मिथ्यादृशां चोत्पादस्याभिमतत्वात्। अनुत्तरवर्जशेषवैमानिकदेवतया सम्यग्दृशामिव मिथ्यादृशामपि समुत्पत्तेस्तादृशोत्कृष्टस्थितिक देवायुः सम्यग्दृष्टिभिरिव मिथ्यादृशैरपि निर्वर्त्यत इति भावः। "इयरेसि"मिति इतरेषां देवायुर्वर्जानां बन्धप्रायोग्याणां निरय तिर्यग्-मनुष्यायुषामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी संज्ञी मिथ्यादृष्टिर्जीवो ज्ञातव्यः। कथं न असंज्ञी? इति चेद्, असंज्ञिनां ततश्च्युत्वोत्कृष्टतोऽपि पल्योपमासंख्येयभागस्थितिकमनुष्यादितयैवोत्पत्तेरिति ॥२४३॥

ओघव्व तिमणुसेसु देवाउस्स इयराण मिच्छत्ती।
एगिंदियपणकायणिगोएसु बायरो णेयो ॥२४४॥

(प्रे०) "ओघव्वे"त्यादि, अपर्याप्तमनुष्यभेदवर्जेषु मनुष्यौघ-तत्पर्याप्त-मानुषीलक्षणेषु त्रिषु मनुष्यगतिमार्गणाभेदेषु देवायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी "ओघव्व" त्ति ओघवत्-"तप्पाउग्गविसुद्धो बोद्धव्वो बंधगो पमत्तजई। उक्कोसाबाहाए वट्टमाणो सुराउस्स" ॥१५९॥ इत्यनया गाथयोक्तस्वरूपः प्रमत्तसंयतो ज्ञेयः। गतार्थम्। "इयराण" त्ति देवायुर्वर्जानामितरेषां त्रयाणामायुषां पुनर्मिथ्यादृष्टिर्जीवो ज्ञेय इति। "एगिंदिये"त्यादि, एकेन्द्रिय-पृथिवीकाया-ऽप्काय-तेजस्काय-वायुकाय-वनस्पतिकाय साधारणवनस्पतिकायौघलक्षणेषु सप्तस्वोघमार्गणास्थानेषु बन्धप्रायोग्ययोस्तिर्यग्मनुष्यायुषोरुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी बादरो ज्ञेयः न तु सूक्ष्मः, सूक्ष्मस्योत्कृष्टाबाधाऽप्राप्तेरिति ॥२४४॥

दुपणिंदिय-तस-पणमणवय-कायु-रलि-त्थि-पुरिस-णपुमेसुं।
चउकोहाइ-गय-णियर-भव्वेसुं सण्णि-आहारे ॥२४५॥
ओघव्व जाणियव्वो चउण्ह आऊण उरलमिस्सम्मि।
तिरियमणुसाउगाणं मिच्छादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२४६॥

(प्रे०) "दुपणिंदियतसे"त्यादि, व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेरपर्याप्तभेदं विहाय शेषयोर्द्वयोः पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियभेदयोस्तथैव द्वयोस्त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकायभेदयोः, पञ्चसु मनोयोगमार्गणाभेदेषु, पञ्चसु वचोयोगमार्गणाभेदेषु, काययोगसामान्ये, औदारिककाययोगे, स्त्रीवेद-पुंवेद-नपुंसकवेदमार्गणासु, चतुर्षु क्रोधादिकषायमार्गणाभेदेषु, चक्षुर-चक्षुर्दर्शनमार्गणयोः, भव्ये, संज्ञिनि,

आहारकमार्गणाभेदे चेत्येवं सर्वसंख्ययाऽष्टात्रिंशतिमार्गणासु प्रत्येकम् "ओघव्वे" त्यादि, चतुर्णामपि बन्धप्रायोग्याणामायुषामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी ओघवत् 'णिरयाउगस्स सण्णी" त्यादि(१६०) गाथया प्रोक्तस्वरूपो ज्ञातव्यः। गतार्थम्। "उरलमिस्सम्मि" त्ति औदारिकमिश्रमार्गणायां बन्धप्रायोग्यतिर्यग्मनुष्यायुषोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी मिथ्यादृष्टिर्जीवो ज्ञातव्यः ॥२४५-२४६॥

तिअणाणा-ऽजय-अभविय-मिच्छेसु सुदव्वसंजमी मणुसो।
देवाउस्सियरेसिं णरो व तिरियो व मिच्छत्ती ॥२४७॥

(प्रे०) "तिअणाणाजये"त्यादि, मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान-विभङ्गज्ञाना ऽसंयमा-ऽभव्य-मिथ्यात्वलक्षणासु षट्सु मार्गणासु प्रत्येकं पुनः "**सुदव्वसंजमी मणुसो देवाउस्स**" त्ति देवायुष्कस्योत्कृष्टस्थितेः स्वामी 'सुद्रव्यसंयमी' अतिचारलेशरिरहिताऽऽवश्यकादिपरिपूर्णबाह्याऽऽचारादिसम्पन्नो मनुष्यो भवति, स च सम्यग्दर्शनापेत उदितमहामोह एव विज्ञेयः, कस्मात्? इति चेत्, उक्तान्यविधासु द्रव्यसंयमिनां तादृशग्रैवेयकसत्काऽऽयुर्बन्धप्रायोग्याध्यवसायप्राप्तेः पूर्वमेव भावसंयमस्य नियमेन प्राप्तेः। अत्र 'सुद्रव्यसंयमी'ति विशेषणं न प्रस्तुतबन्धकस्य भावसंयमप्रतिषेधार्थम्, प्रस्तुतमार्गणाऽप्रविष्टत्वेनैव तेषां तत्प्रतिषेधप्राप्तेः, किन्तु प्रस्तुतोत्कृष्टस्थितिबन्धकस्याभिमतस्वामित्वसम्पादनार्थं विज्ञेयम्। इत्थं च लेशतोऽप्यतिचाररहितत्वात् सुष्ठु यः द्रव्यसंयमः-आवश्यकादिबाह्याचारकलापपरिपालनादिलक्षणः सुद्रव्यसंयमस्तेन सुद्रव्यसंयमेनोपेतः सुद्रव्यसंयमी मनुष्यः संभवतीत्यर्थः, स चासंयममार्गणायामप्युदितनिबिडमिथ्यात्वो जीवः सासादनी वा स्यात्, न पुनरविरतसम्यग्दृष्टिरसुमान्, कथम्? इति चेत्, अविरतसम्यग्दृशस्तथाविधद्रव्यसंयमप्राप्तौ विशुद्धतरस्य विशुद्धतमस्य वा भावसंयमस्य नियमेनावाप्तेः केवलसुद्रव्यसंयमोपेतत्वलक्षणस्य विशेषणस्याऽनुपपत्तेः।

इदमुक्तं भवति—उदितनिबिडमिथ्यात्वा हि जीवा भावसंयमकारणद्रव्यसंयमप्राप्तावपि प्रतिबन्धकस्य निबिडमिथ्यात्वोदयस्य सत्वाद् भावसंयम नाप्नुवन्ति, सुद्रव्यसंयमप्रभावाद्यथासम्भवं ग्रैवेयकायुर्बध्नन्ति च, सासादनिनामपि तथाविधविशुद्धतर विशुद्धतमद्रव्यसंयमसत्त्वेऽप्यव्यवधानेन स्वभावतो मिथ्यात्वोदयस्यावश्यकत्वात् भावसंयमस्याऽनवकाश एव, तथा च तेषां विशुद्धतमद्रव्यसंयमसत्त्वे यो ग्रैवेयकोत्कृष्टायुर्बन्धः सोऽसंयममार्गणायां प्राप्यते, न चैवमविरतसम्यग्दृष्टीनां देशसयतानां वा जायते, तेषां मिथ्यात्वाऽनुदयेन गाढमिथ्यात्वोदयरूपस्य प्रतिबन्धकस्याभावेन स्वभावतोऽधस्तनगुणस्थानकगमनस्याऽनावश्यकत्वेन च तथाविधद्रव्यसंयमतो नियमेन भावसंयमोत्पत्तेः द्रव्यसंयमादिप्रत्ययो जायमानोऽपि ग्रैवेयकोत्कृष्टस्थितिकायुर्बन्धो नाऽविरतसम्यग्दृष्ट्याद्यवस्थायाम्, किन्तु सद्द्रव्यसंयमाद् भावसंयमस्याऽपि प्रादुर्भूतत्वेन संयमावस्थायामेव, इत्थ न तिष्ठन्त्यविरतसम्यग्दृशो देशविरता वा तथाविधविशुद्धद्रव्यसंयमावासौ भावसंयमेन विरहिताः, ततः सुद्रव्यसंयमलक्षणस्य विशेषणस्यैव तेष्वघटमानत्वात् प्रस्तुतबन्धका

असंयममार्गणायामपि अनुभूयमाननिविडमिथ्यात्वा जीवाः सासादनिनो वा जीवा एवाऽवसेया इति ।

अथ प्रस्तुतमार्गणास्वेव बन्धप्रायोग्यशेषाऽऽयुषां प्रस्तुतस्वामित्वमाह–"**अण्णेसिं**" इत्यादि, अन्येषां देवायुर्वर्जबन्धप्रायोग्यमनुष्यादित्रिविधाऽऽयुषामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी मिथ्यादृष्टिर्मनुष्यस्तादृक् तिर्यङ् वा भवति, न पुनर्देवो नारको वेत्यर्थः । तत्र नरकायुरुत्कृष्टस्थितिबन्धकतया नारकदेवानां वर्जनं तु तेषां तस्याः प्रकृतेरेवाऽबन्धात्सुगतम् । शेषाऽऽयुर्द्वयबन्धकतया यत्तेषां वर्जनं मनुष्यतिरश्चां च ग्रहणं तदपि सुज्ञेयमेव, यतो देवनारकास्ततश्च्युत्वोत्कर्षतोऽपि संख्येयवर्षस्थितिकमनुष्यतिर्यक्तयैवोत्पद्यन्ते, मनुष्यतिर्यञ्चस्तु ततश्च्युत्वोत्कृष्टतोऽसंख्येयवर्षस्थितिकमनुष्यतिर्यक्तयाप्युत्पद्यन्ते इति तदनुसारेण तेषां स्थितिबन्धोऽपि तथा सम्भवत्येवेति ॥२४७॥

णाणतिगे ओहिम्मि य सम्म-खइअ-वेअगेसु य पमत्तो ।
देवाउगस्स णिरयो सुरो व णेयो णराउस्स ॥२४८॥

(प्रे०) "**णाणतिगे**" इत्यादि, ज्ञानत्रिके मतिज्ञानश्रुतज्ञानाऽवधिज्ञानमार्गणात्रयलक्षणे, अवधिदर्शने, सम्यक्त्वौघ-क्षायिक-वेदकसम्यक्त्वेषु च "**पमत्तो**" त्ति प्रमतसंयत उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी भवति, कस्य ? "**देवाउगस्स**" त्ति देवायुषः, अत्र यद्यप्यप्रमत्तसंयतैरपि प्रस्तुतमार्गणाबन्धप्रायोग्यमनुत्तरसत्कं त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिकमायुर्बध्यत एव तथापि तेषामायुर्बन्धस्याप्रारम्भकतया आयुर्बन्धाद्धाप्रथमसमयाधीनायाः पूर्वकोटिस्थितिकभवचरमत्रिभागलक्षणाया उत्कृष्टाबाधाया असम्पद्यमानत्वनाधिकृतकर्मरूपतावस्थानलक्षणस्थितिबन्धस्योत्कृष्टपदेऽप्राप्यमाणत्वात्तानप्रमत्तसंयतान् विहाय प्रमत्तसयता एवोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामितया गृहीताः, विशेषतस्तु प्राग् **मूलप्रकृत्यौघिकोत्कृष्टस्थितिबन्धविवरणावसरे** भावितमस्माभिः, नातः पुनः प्रपञ्च्यत इति । अथ मनुष्यायुष आह–"**णिरयो**" इत्यादि, सुगमम् ॥२४८॥

आउस्सा-ऽऽहारदुगे मणपज्जव-संजमेसु सामइए ।
छेए तह परिहारे अत्थि पमत्तो णरो देसे ॥२४९॥

(प्रे०) "**आउस्से**" त्यादि, आहारकतन्मिश्रयोगद्वयलक्षणे आहारकमार्गणाद्विके मनःपर्यवज्ञान सयमौघ--सामायिक--छेदोपस्थान-परिहारविशुद्धकसंयमेष्वित्येवं सर्वसंख्यया सप्तमार्गणासु "**आउस्स**" त्ति देवायुष्कादितरायुषां प्रस्तुतमार्गणासु बन्धप्रायोग्यत्वाभावादायुष इति सामान्येनोक्तेऽपि देवायुषः प्रस्तुतत्वादुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी "**अत्थि पमत्तो**" त्ति प्रमत्तः सयतो भवति, इहापि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिकदेवायुर्बन्धकानामप्रमत्तसंयतानां वर्जनमनन्तरोक्तनीत्या तेषामुत्कृष्टाबाधाया असम्पद्यमानत्वादेवेति । "**णरो देसे**" त्ति देशसंयममार्गणायां तस्य देवायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी तु 'नरः' मनुष्यो भवति, न तु तिर्यङिति भावः, कथमिति चेद्, देशविरततिर्यग्मनुष्यलक्षणानां द्विविधानामपि जीवानामुत्कृष्टाबाधायाः सम्भवेऽपि तिरश्चा-

मच्युतकल्पेऽनुत्पादेन द्वाविंशतिसागरोपमस्थितिकदेवायुषोऽबन्धात्, मनुष्याणां तु तद्बन्धाच्चेति ॥२४९॥

अपसत्थतिलेसासुं सण्णी तिरिओ णरो व मिच्छत्ती ।
होइ चउण्हा-ऽऽऊणं सम्मत्ती अवि सुराउस्स ॥२५०॥

(प्रे०) "**अपसत्थतिलेसासु**"मित्यादि, अप्रशस्तासु कृष्ण-नील कापोताभिधासु तिसृषु लेश्यामार्गणासु सञ्ज्ञी मिथ्यादृष्टिस्तिर्यक् तादृशो मनुष्यो वा "**होइ चउण्हा-ऽऽऊण**"मिति चतुर्णामायुषामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी भवति । "**सम्मत्ती अवि सुराउस्स**" त्ति सुरायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी 'सम्यक्त्वी'-सम्यग्दृष्टिर्जीवोऽपि भवति, न तु त्रयाणां शेषायुषामिव केवलो मिथ्यादृष्टिरेवेत्यपिशब्दार्थः । अत्र ह्यप्रशस्तलेश्याकानां देवायुषो बन्धस्वामित्वं कार्मग्रन्थिकाभिप्रायेण विज्ञेयम्, **श्रीमद्भगवतीवृत्त्यभिप्रायेण** तु मिथ्यादृष्टय एव तत्स्वामिनः, तत्र कृष्णाद्यशुभलेश्यापरिणतानां सम्यग्दृशामायुर्बन्धस्यैव प्रतिषेधात् । उक्तं च–"यदा पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चः सम्यग्दृष्टय कृष्णलेश्यादिपरिणतास्तदाऽऽयुरेकमपि न बध्नन्ति, सम्यग्दृशो वैमानिकायुर्बन्धकत्वेन तेजोलेश्यादित्रयबन्धनादिति" ॥२५०॥

सुहलेसासु पमत्तो उ सुराउस्स मणुसाउगस्स सुरो ।
मिच्छादिट्ठियो वा सम्मादिट्ठी व विण्णेयो ॥२५१॥
तेउपउमासु देवो मिच्छो ति रियाउगस्स सासाणे ।
देवाउस्स णरो चिअ तिरियणराऊण तिरियो वि ॥ २५२ ॥

(प्रे०) "**सुहलेसासु**" इत्यादि, शुभासु प्रशस्तासु तेजः-पद्म शुक्लाभिधासु तिसृषु लेश्यामार्गणासु "**पमत्तो उ सुराउस्स**" त्ति 'सुरायुषः'-देवायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी प्रमत्तसंयतो ज्ञेयः । तुकारः पुनः पद्मलेश्यामार्गणायां प्रस्तुतस्वामित्वविषयकविशेषद्योतनार्थम्, किं विशेषो द्योत्यते तेन ? इति चेद्, तत्र पद्मलेश्यायां न केवलः प्रमत्त एव देवायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी, किन्तर्हि ? तिर्यङपि भवति, तिरश्चामप्यष्टादशसागरोपमस्थितिकदेवतयोत्पत्तेरभिमतत्वात्, यद्वा तुकारः पादपूर्त्यै, तथा च **मूलस्थितिबन्धविधानोक्ता**ऽभिप्रायेण प्रमत्तसंयत एव विज्ञेय इति । "**मणुसाउगस्स**" त्ति मनुष्यायुषस्तु सम्यग्दृष्टिर्वा मिथ्यादृष्टिर्वा 'सुरः'-देवः, न पुनर्मनुष्यः, शुभलेश्यापरिणतैर्मनुष्यैर्मनुष्यायुष एवाऽबन्धादिति । अथ तेजः-पद्मलेश्ययोस्तु तिर्यगायुरपि बन्धप्रायोग्यम्, न पुनः शुक्लायाम्, अतस्तयोस्तस्योत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनमाह-"**तेउपउमासु**" इत्यादि, तेजोलेश्यापद्मलेश्यामार्गणयोस्तिर्यगायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी मिथ्यादृष्टिर्देवो ज्ञातव्य इति ।

अथ सासादनमार्गणायामाह-"**सासाणे**" इत्यादि, सासादने देवायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी "**णरो च्चिअ**" त्ति 'नरः'-मनुष्य एव, न पुनस्तिर्यङ्, कुतः ? तिरश्चामष्टमकल्पादुपर्यनुत्पादेन ग्रैवेयकसत्काया एकत्रिंशत्सागरोपमप्रमाणस्थितेरबन्धादिति । "**तिरियणराऊण**" त्ति तिर्यग्-नरायुषोः पुनः "**तिरियोवि**" त्ति अपेः समुच्चायकत्वात् मनुष्यस्तिर्यङ् चेति ।

तदेवं कृता पृथक्पृथग् निरयगत्योघादि-सासादनान्तपञ्चोत्तरशतमार्गणासु बन्धप्रायोग्यायुःप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वप्ररूपणा विशेषतोऽपि, अथाऽवशिष्टा अनुत्तरदेवाद्यष्टपञ्चाशन्मार्गणासु सा, नवरं तासु "सव्वासु बंधगो खलु जेट्ठठिईअऽत्थि" (२३८······)इत्यादिगाथात्रितयाभिहितसामान्यवक्तव्यताया एव पर्याप्तत्वेन, तथैव विशेषवक्तव्यताया गतार्थत्वात् न तासु किञ्चिदभिधानमवशिष्यते ।

अवशिष्टमार्गणाः पुनरिमाः-पञ्चाऽनुत्तरविमानदेवगतिभेदाः, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगपर्याप्तमनुष्या-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तत्रसलक्षणाश्चतुर्भेदाः, तथा सूक्ष्मौघ-तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्त बादरौघ-तत्पर्याप्ता ऽपर्याप्तलक्षणा एकेन्द्रियौघभेदवर्जाः षडेकेन्द्रियभेदाः, तथैव षट् पृथिवीकायभेदाः,षडप्कायभेदाः,षट् तेजस्कायभेदाः, षड् वायुकायभेदाः, षट् साधारणवनस्पतिकायभेदाः, प्रत्येकवनस्पतिकायौघ-तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्तलक्षणास्त्रयो भेदाः, ओघ-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्ना नव विकलेन्द्रियभेदाः, असंज्ञिमार्गणास्थानञ्चेति । अथादितासु प्रत्येकं तिर्यग्-मनुष्य-देवायुषामन्यतमस्य बन्धप्रायोग्यायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी तत्प्रायोग्यविशुद्धस्तथा बन्धप्रायोग्यनरकायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी तत्प्रायोग्यविशुद्ध उत्कृष्टाबाधायां वर्तमानो जीवो ज्ञातव्य इति ॥२५१-२५२॥



॥ अथ जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वम् ॥

तदेवमभिहिताः शेषाणामायुःप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनो मार्गणास्थानेष्वपि, अथ जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनो व्याजिहीर्षुर्लाघवार्थं प्रकृतिसंग्रहगाथा आह—

वोच्छिमु आइम्मि किरिअ जं जावइआऽत्थ तत्तिआ ताओ।
एआउ कमा गेज्झा मिच्छं [3]थीणद्धियतिगं च ॥२५३॥
[4]अणचउग-मसाया-ऽरइ-सोग-अथिर-असुह-अजस-थी-णपुमा ।
[5]संघयणा-[5]ऽऽगिइपणगं [3]दुहगतिगं कुखगई णीअं ॥२५४॥
[2]तिरियदु-गुज्जो-आयव-थावर-एगिंदिया य [3]सुहुमतिगं ।
[3]विगल-[2]णिरयदुग-जिण-[2]सुर-[2]विउवदु-गुच्च-पुम-सायाणि ॥२५५॥
जस-थिर-सुह-हस्स-रई सुहागिइ-खगइ-पणिंदि-परघाया ।
ऊसास-[3]सुहगतिग-[4]तसचउग-वइरु- राल-[2]मणुसदुगं ॥२५६॥

(प्रे०) "**वोच्छिमु**" इत्यादि, तत्र "**अत्थ**" त्ति 'अत्र' अनुपदं भणनीये ओघाऽऽदेशभेदभिन्ने उत्तरप्रकृतिजघन्यस्थितिबन्धस्वामित्ववक्तव्ये "**वोच्छिमु**" त्ति "थिराइगाण" इत्यादिना यां स्थिरादिकां प्रकृतिमादौ कृत्वा 'गुणवीसाए' इत्यादिना यावत्य एकोनविंशत्यादयः प्रकृतयो वक्ष्यन्ते तावत्य एकोनविंशत्यादिस्थिरादयः प्रकृतयः "**एआउ कमा गेज्झा**" त्ति '**एताभ्यः**'-अनुपदम् "मिच्छ थीणद्धियतिग चे"त्यादिनाभिष्टक्रमेण संगृह्य वक्ष्यमाणाभ्यः पञ्चसप्ततिप्रकृतिभ्यः क्रमाद् ग्राह्याः । संगृहीताः प्रकृतीरेवाह—"**मिच्छ**"मित्यादिना, मिथ्यात्वमोहनीयम्, निद्रानिद्रा-प्रचलाप्रचला-स्त्यानगृद्धिप्रकृतित्रयलक्षणं स्त्यानर्द्धित्रिकम्, चकारो वक्ष्यमाणप्रकृतीनां समुच्चये, ताः समुच्चेयाः प्रकृतीराह—"**अणचउगे**"त्यादिना गाथात्रयेण, तत्र "**अणचउग**" त्ति अनन्तानुबन्धिक्रोध-मान माया लोभलक्षणानां प्रकृतीनां चतुष्कम्, असातवेदनीयम्, अरति-शोकमोहनीये, अस्थिरा-ऽशुभा ऽयशःकीर्तिनामानि, स्त्रीवेद-नपुंसकवेदमोहनीये, "**संघयणागिइपणगं**" ति "सुहागिइ"इत्यादिना समचतुरस्रसंस्थान-वज्रर्षभनाराचसंहननयोरुत्तरत्र वक्ष्यमाणतया तद्वर्जानां पञ्चानां संहननानां पञ्चानां चाऽऽकृतीनां ग्राह्यत्वाद् द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ पञ्चम षष्ठसंहनन-द्वितीय-तृतीय चतुर्थ-पञ्चम षष्ठ संस्थानात्मिका दशप्रकृतयोऽनेन क्रमेण संगृहीता वेदितव्याः, ततो दुर्भगत्रिकं दुर्भग-दुःस्वरा-ऽनादेयप्रकृतित्रयलक्षणम्, कुत्सिता अप्रशस्ता खगतिः कुखगतिः, अशुभविहायोगतिनामप्रकृतिरित्यर्थः । नीचैर्गोत्रम्, "**तिरियदुगे**"त्यादि, तिर्यग्द्विक तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्वीप्रकृतिद्वयलक्षणम्, उद्योतनाम, आतपनाम, स्थावरनाम, एकेन्द्रियजातिनाम, चः प्राग्वत्, सूक्ष्मत्रिकं सूक्ष्मा-ऽपर्याप्तक-साधारणनामप्रकृतित्रयलक्षणम्, "**विगल**" त्ति द्वीन्द्रिय-

त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियजातिनामप्रकृतित्रयात्मकं विकलत्रिकमित्यर्थः, निरयद्विकं निरयगति-निरयानुपूर्वीरूपम्, जिननाम, "सुरविउवदुग" त्ति; द्विकशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् सुरद्विकं देवगति-देवानुपूर्वीप्रकृतिद्वयलक्षणम्, वैक्रियद्विकं वैक्रियशरीर-वैक्रियाङ्गोपाङ्गप्रकृतिद्वयात्मकम्, उच्चैर्गोत्रम्, "पुम" त्ति पुरुषवेदमोहनीयम्, सातवेदनीयम्। "जसे"त्यादि, यशःकीर्ति-स्थिर-शुभनामानि, हास्य-रतिमोहनीये, पुण्यप्रकृतित्वाच्छुभा आकृतिः-संस्थानमिति शुभाकृतिः, समचतुरस्रसंस्थाननामकर्मेत्यर्थः। "खगइ" त्ति, शुभशब्दस्यात्रापि सम्बन्धाच्छुभा प्रशस्ता 'खगतिः' विहायोगतिः, पञ्चेन्द्रियजातिनाम, पराघातनाम, उच्छ्वासनाम, सुभगत्रिकं सुभग-सुस्वरा-ऽऽदेयनामप्रकृतित्रयात्मकम्, त्रसचतुष्कं त्रस-बादर-पर्याप्तक-प्रत्येकनामरूपम्, 'वइर' त्ति वज्रर्षभनाराचसंहननम्, "उराल" त्ति समासान्तवर्तिद्विकशब्दस्यात्रापि योजनादौदारिकद्विकम् औदारिकशरीरतदङ्गोपाङ्गप्रकृतिद्वयात्मकम्, मनुष्यद्विकं मनुष्यगति-मनुष्यानुपूर्वीलक्षणमिति ॥२५३-२५६॥

तदेवं लाघवार्थं प्रकृतिसंग्रहगाथा अभिधायादावोघतो जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनः प्रदिदर्शयिषुर्लाघवार्थं गाथाद्वयेन बहुप्रकृतिविषयां सामान्यवक्तव्यतामाह—

खवगपयडिवज्जाणं सव्वाणं बंधगो मुणेयव्वो।
सागाराइविसिट्ठो जहण्णगाए खलु ठिईए ॥२५७॥
सव्वाण बंधगो खलु पयडीण तिरियणराउवज्जाणं।
पज्जत्तो सव्वाहिं पज्जत्तीहिं मुणेयव्वो ॥२५८॥

(प्रे०) "खवगे"त्यादि, 'एआओ पणवीसा णायव्वा खवगपयडीओ" (गाथा-१०८) इत्यनेन प्राग् जघन्यस्थितिबन्धप्रमाणप्रतिपादनप्रारम्भे क्षपकप्रकृतितया संज्ञिताः पञ्चज्ञानावरण-चतुर्दर्शनावरण सातवेदनीय-संज्वलनचतुष्क-पुरुषवेदमोहनीया ऽऽहारकद्विक-जिन-यशःकीर्तिनामो-च्चैर्गोत्र-पञ्चान्तरायलक्षणाः पञ्चविंशतिं प्रकृतीर्विवर्ज्य शेषाणां सर्वासां पञ्चनवतेरप्युत्तरप्रकृतीनां जघन्यायाः स्थितेर्बन्धकः स्वामी "मुणेयव्वो सागाराइविसिट्ठो" त्ति पूर्वम् उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वप्रस्तावे 'सव्वाण बंधगो खलु' इत्यादि(१५४)गाथावृत्तावुक्तनिरुक्तैः साकारोपयोगोपयुक्तत्वादिविशेषणैर्विशिष्टो जीवो ज्ञातव्यः। खलुशब्दस्तु पादपूर्त्यै। गाथेयं विस्तरतस्तु प्रागिव स्वयमेव व्याख्येया।

अथान्यां सामान्यवक्तव्यतामाह—'सव्वाणे"त्यादि, इयमपि गाथा प्राग्वत्स्वयमेव व्याख्येया, केवलं तिर्यग्नरायुषोर्वर्जनं जघन्यस्थितिकतिर्यग् नरतया पर्याप्तानामिवाऽपर्याप्तानामपि तिर्यगादीनामुत्पत्तेर्विधानात् सर्वजीवानामसंक्षेप्याद्धालक्षणजघन्याबाधाप्राप्तेश्च करणपर्याप्तजीवैरिव लब्ध्यपर्याप्तजीवैरपि तिर्यग्-नरायुषोर्जघन्यस्थितिबन्धः कर्तुं शक्यत इति कृत्वेति। इत्थं च तिर्यग्-मनुष्या-

ऽऽयुर्वर्जानां प्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामी विशेषतो वक्ष्यमाणपञ्चेन्द्रियै-केन्द्रियादिरूपः सामान्यतः स्वप्रायोग्यपर्याप्तिभिः पर्याप्त एव जीवो विज्ञेयः, नान्यः, खलुशब्दस्यावधारणार्थत्वात् । अर्थतस्तु तिर्यग् मनुष्यायुषोः पर्याप्तोऽपर्याप्तश्च, द्विविधजीव इत्यपि विज्ञेयमिति ॥२५७-२५८॥

तदेवं सामान्यवक्तव्यतामभिधाय साम्प्रतं विशेषवक्तव्यतां वक्तुमुपक्रमते—

हस्साअ ठिईअ भवे अंतिमबंधम्मि बंधगो खवगो ।
सुहुमे आवरणवग-साय-जसु-च्च-पणविग्घाणं ॥२५९॥

(प्रे०) "**हस्साअ**" इत्यादि, ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणचतुष्कलक्षणाऽऽवरणनवक-सातवेदनीय-यशःकीर्त्युच्चैर्गोत्रा-ऽन्तरायपञ्चकलक्षणानां सप्तदशप्रकृतीनां ह्रस्वायाः स्थितेर्बन्धकः "**सुहुमे**" त्ति सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानके "**अंतिमबंधम्मि**" त्ति 'अंतिमे'-चरमे स्थितिबन्धे, वर्तमान इति शेषः । एवम्भूत उपशमकोऽपि भवति, न च तस्यौघिकजघन्यस्थितिबन्धः, अतस्तद्व्यवच्छेदार्थमाह-"**खवगो**" त्ति 'क्षपकः' चारित्रमोहनीयक्षपको महात्मा भवेत् । कुतः ? मतिज्ञानावरणादिप्रस्तुतसप्तदशप्रकृतीनां बन्धकेष्वस्य क्षपकस्यैवात्यन्तविशुद्धत्वात् । उक्तं च **शतकचूर्णौ**– 'सुहुमसपराइगखवगो चरिमे ठिइबंधे वट्टमाणो पचण्ह णाणावरणीयाण, चउण्हं दसणावरणीयाण, सायवेयणीय-(य)-जसकित्ति-उच्चागोयाणं पचण्हमतराइगाणं एएसि सत्तरसण्हं कम्माणं जहन्नग ठिइ बधइ, तब्बंधकेसु अच्चंतविसुद्धो त्ति काउं ॥" इति ॥२५९॥

पुम-चउसंजलणाणं कमा-ऽणियट्टीअ पंचभागेसु ।
तित्था-ऽऽहारदुगाणं अपुव्वकरणे उ सेससंखंसे ॥२६०॥ (गीतिः)

(प्रे०) "**पुमे**"त्यादि, पुरुषवेदस्य तथा क्रोध-मान-माया-लोभभेदाच्चतुःसंज्वलनप्रकृतीनामित्येवं सर्वसंख्यया पञ्चानां जघन्यस्थितेर्बन्धकः "**कमाऽणियट्टीअ पंचभागेसु**" त्ति 'क्रमाद्' यथासंख्यम् 'अनिवृत्तेः'-अनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानस्य 'पञ्चभागेषु' पुरुषवेदादितत्तत्प्रकृतेर्बन्धविच्छेदादर्वाग्भाविस्वस्वचरमस्थितिबन्धस्थानलक्षणेषु भवति, क्षपक इत्यनुवर्तते । पुरुषवेदादिपञ्चप्रकृतीनां बन्धविच्छेदक्रमस्त्वेवम्-अनिवृत्तिकरणगुणस्थानकालस्य संख्येयेषु भागेषु गतेषु अवशेषायां च किञ्चिन्मात्रानिवृत्त्यद्धायां सवेदावस्थायाश्चरमसमये पुरुषवेदस्य बन्धविच्छेदो जायते, ततोऽवशिष्टानिवृत्त्यद्धायाः संख्येयेषु भागेषु गतेषु संज्वलनक्रोधस्य बन्धविच्छेदो जायते, ततोऽवशिष्टानिवृत्त्यद्धायाः संख्येयेषु भागेष्वतिक्रान्तेषु पश्चात्संज्वलनमानस्य बन्धो विच्छिद्यते, ततोऽप्यवशिष्टस्तोकमात्राऽनिवृत्त्यद्धायाः संख्येयेषु भागेषु व्यतितेषु संज्वलनमायाया बन्धो व्यवच्छिद्यते, चरमे चावशिष्टे संख्येयतमे भागे व्यतिक्रान्तेऽनिवृत्तिकरणाद्धासमाप्त्या समं संज्वलनलोभस्यापि बन्धविच्छेदो भवति । उक्तं च **शतकचूर्णौ**–"अणियट्टिअद्धाए संखेज्जेसु भागेसु गएसु

पुरिसवेयस्स बंधो वोच्छिज्जइ, त मवेयगो बंधइ त्ति काउं । पुव्वुत्ते अप्पाओगगे एगे पुरिसवेयस्स सहिए मोत्तूण तओ एक्कवीस पगईओ अणियट्टी बधइ, ताव जाव सेसद्धाए सखेज्जा भागा गयत्ति । सखेज्जइमे सेसे कोहसजलणाए बंधो वोच्छिज्जइ । अणतरुत्ते अप्पाओग्गे कोहसंजलणासहिए मोत्तूण सेसातो वीस पगईओ अणियट्टी बंधइ, ताव जाव सेसद्धाए सखेज्जा भागा गयत्ति" इत्यादि । पुरुषवेदादिप्रस्तुतप्रकृतीनां बन्धकेपु यथोक्तः पुरुषवेदादिप्रस्तुतप्रकृतीनां बन्धविच्छेदादर्वाग्भाविनि चरमस्थितिबन्धे वर्तमानो महात्मा विशुद्धतमः, अतोऽसावेव पुरुषवेदादीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामी भवतीति ।

तीर्थकरनामा-ऽऽहारकद्विकयोराह–"**तित्थाहारे**"त्यादि, क्षपक इत्यत्राप्यनुवर्तते ततोऽपूर्वकरणगुणस्थानस्य संख्येयबहुभागेषु गतेषु, संख्येयैकभागमात्रे चावशिष्टेऽपूर्वकरणकाले यत्र देवगत्यादित्रिंशत्प्रकृतीनां बन्धविच्छेदो भवति ततः प्रभृत्यपूर्वकरणचरमसमयपर्यन्तो यः कालस्तावन्मात्रायामपूर्वकरणाद्धायामवशेषायामिति भावः । तीर्थकरनामा-ऽऽहारकद्विकलक्षणप्रकृतित्रयस्य चरमस्थितिबन्धं कुर्वन् क्षपकस्तस्य जघन्यस्थितिबन्धस्वामी भवति । उक्तं च **शतकचूर्णौ**–
"आहारगदुगतित्थकरणामाण जहन्नगं ठिइ 'णियट्टि' त्ति अपुव्वकरणो तस्स वि खवगो चरिमे ठिइबंधे वट्टमाणो बंधइ तब्बधकेसु अच्चतविसुद्धोत्ति काउ" इति ॥२६०॥

सेसधुवबंधिणीणं गुणवीसाए थिराइगाणं च ।
तिव्वविसुद्धीअ ठिओ बायरएगिंदियो णेयो ॥२६१॥
तप्पाउग्गविसुद्धो बायरएगिदियो मुणेयव्वो ।
बावीसअसायाइगपयडीण णवा-ऽऽयवाईणं ॥२६२॥

(प्र०) "**सेसधुवे**"त्यादि, अनन्तराऽभिहितजघन्यस्थितिबन्धस्वामिका मतिज्ञानावरणाद्यष्टादशध्रुवबन्धिप्रकृतीर्विहाय शेषाणां निद्रापञ्चकाद्येकोनत्रिंशतो ध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनां तथा "**गुणवीसाए थिराइगाणं च**" त्ति एकोनविंशतेः स्थिरादीनाम् "थिर-सुह हस्स-रई, सुहागिइ-खगइ-पणिंदि-परघाया । ऊसास-सुहगतिग-तसचउग-वइरु-राले" इत्यादिना संग्रहगाथा(२५६)ऽवयवेन संगृहीतानां स्थिर-शुभ-हास्य रति-समचतुरस्रसंस्थान--प्रशस्तविहायोगति--पञ्चेन्द्रियजाति-पराघातोच्छ्वास-सुभगत्रिक-त्रसचतुष्क-वज्रर्षभनाराचसंहननौ-दारिकद्विकलक्षणोत्तरप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामी "**तिव्वे**"त्यादि, 'तीव्रायाम्'एकेन्द्रियप्रायोग्यायामुत्कृष्टविशुद्धौ'स्थितः' वर्तमानो बादर एकेन्द्रियो ज्ञेयः । "**तप्पाउग्ग**"त्यादि, तत्प्रायोग्यविशुद्धो बादरैकेन्द्रियो ज्ञातव्यः, कासामित्याह–"**बावीसे**"त्यादि, द्वाविंशतेरसातवेदनीयादीनाम् "असाया-ऽरइ-सोग-अथिर-असुह-अजस-थी-णपुमा । सघयणा ऽऽगिइपणग दुहगतिगं कुखगई"त्येतावता (गाथा २५४) संग्रहगाथांशेन संगृहीतप्रकृतीनां तथा '**नवानां**' "आयव-थावर एगिंदिया य सुहुमतिगं । विगले"त्येतावता (गाथा-२५५) संग्रहगाथांशेन संगृहीतानामित्येवं सर्वसंख्ययैकत्रिंशत्प्रकृतीनामित्यर्थः । अयं हि ध्रुवबन्ध्या-

षट्चत्वारिंशत्प्रकृतीनां तथाऽसातवेदनीयाद्येकत्रिंशत्प्रकृतीनां यथोक्तस्वरूपजघन्यस्थितिबन्धस्वामी पर्याप्त जीव एव विज्ञेयः, कुतः पर्याप्त एव ? इति चेद् , सामान्यवक्तव्यतया पर्याप्तानामेव तिर्यग्नरायुर्वर्जशेषसर्वप्रकृतिजघन्यस्थितिबन्धस्वामितया प्राग्दर्शितत्वात् ।

ननु "सेसाणं पज्जत्तो बायरएगिंदियविसुद्धो" इत्यनेन **शतकग्रन्थे** निद्रापञ्चकादीनामिवाऽसातवेदनीयादिप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामी सर्वविशुद्धः पर्याप्तबादरैकेन्द्रिय एवाभिहितः, अत्र त्वसातवेदनीयादीनामसौ तत्प्रायोग्यविशुद्धः अभिहितः, उत्तरत्र तिर्यग्गत्यादिप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनः पर्याप्तबादरतेजःकायवायुकायिका एव वक्ष्यन्ते चेति कथं न विरोधः ? इति चेद्, न, तत्र सामान्येनाभिहितत्वात् , अत्र तु विशेषतो दर्शितत्वाच्च । **इदमुक्तं भवति**—शेषनिद्रापञ्चकादिपञ्चाशीतिप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामी सामान्येन एकेन्द्रियः, यद्वा विशुद्धः बादरैकेन्द्रिय इत्यादिस्वरूप उच्यते, विशेषेण तु कासाञ्चित्प्रकृतीनां पृथिव्यब्वनस्पत्यादीनामन्यतमोऽसौ भणिष्यते, तत्राऽपि कासांचिदसावत्यन्तविशुद्धः, कासाञ्चित्तु तत्प्रायोग्यविशुद्धः, यतो या ध्रुवबन्धिन्यस्तासां बन्धस्तेषां पर्याप्तबादरैकेन्द्रियाणां सर्वदैव प्रवर्तते, ततश्च यथा तासां ध्रुवबन्धिनीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी अत्यन्तसंक्लिष्टः पर्याप्तबादरैकेन्द्रियो भवति, तथा निद्रापञ्चकादीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामी अत्यन्तविशुद्धः पर्याप्तबादरैकेन्द्रियो भवति, उत्कृष्टसंक्लेशकाल इव उत्कृष्टविशुद्धिकालेऽपि अविरततयैतासां ध्रुवबन्धिनीनां बन्धस्य प्रवर्तनात् , न चैवं सातवेदनीयादिषु प्रतिपक्षप्रकृतिसहितबन्धप्रायोग्यासु परावर्तमानप्रकृतिष्वपि भवति, बन्धप्रायोग्याणां तासां सातवेदनीयादीनां तत्प्रतिपक्षभूतानामसातवेदनीयादीनाञ्च सर्वासां युगपद्बन्धाभावाद् , बन्धप्रायोग्यास्वपि तासु सातवेदनीयादिषु स्वस्वप्रतिपक्षप्रकृतिबन्धनिरोधेनान्यतमाया एकैकस्या बन्धभावे तूत्कृष्टसंक्लेशे सति या अशुभतमा असातवेदनीय-शोकाऽरतियुगल-नपुंसकवेदाद्या याश्च तेषामेकेन्द्रियादीनां पारभविकस्वप्रायोग्यसर्वनिकृष्टस्थानानुरूपास्तिर्यग्गत्यादयः प्रकृतयस्ता एव बध्यन्ते, नान्याः सातवेदनीयाद्याः । एतेनैव न्यायेन सर्वविशुद्धौ सत्यां तु याः शुभतमाः सातवेदनीय-हास्य-रतियुगलाद्या याश्च स्वप्रायोग्यसर्वोत्कृष्टपारभविकोत्पत्तिस्थानानुरूपा मनुष्यगत्याद्याः प्रकृतयस्ता एव बध्यन्ते, नेतराः; एतदपि तदा भवति यदा तस्य पृथिव्यादिजीवस्य तस्याः सातवेदनीयादितत्तत्प्रकृतेर्बन्धस्वामिनः सातवेदनीयादिप्रतिपक्षभूता असातवेदनीयादिप्रकृतिर्बन्धप्रायोग्या स्यात् , प्रतिपक्षप्रकृतेर्बन्धप्रायोग्यत्वाभावे तु सामान्यतः परावर्तमाना अपि ताः सर्वसंक्लेशो भवतु सर्वविशुद्धिर्वा भवतु नैरन्तर्येण बध्यन्ते, यथा तेजस्कायवायुकायिकानां नीचैर्गोत्रतिर्यग्गत्यादेर्नैरन्तर्येण बन्धः, किञ्च प्रस्तुते पृथिव्यादिभेदभिन्नानां सर्वेषां पर्याप्तबादरैकेन्द्रियाणामुत्कृष्टसंक्लेशवदुत्कृष्टविशुद्धिरपि तुल्या संभवति, विशुद्ध्याधिक्ये आयुश्चतुष्कवर्जानां सर्वासां प्रकृतीनां ह्रस्वः स्थितिबन्धः, संक्लेशाधिक्ये त्वसौ दीर्घश्चेति नियमः,

तथाच सामान्यत उत्कृष्टविशुद्धौ सत्यामपि बन्धप्रायोग्याणां ध्रुवबन्धिनीनां सातवेदनीय-हास्य-रत्याद्यध्रुवबन्धिनीनां च जघन्यस्थितिबन्धस्वामी अत्यन्तविशुद्धः प्राप्यते, तदितरासां तु नात्यन्तविशुद्धः, किन्तु तत्प्रायोग्यविशुद्धः, सर्वविशुद्धौ सत्यां केनाऽपि बादरैकेन्द्रियेण तासामबध्यमानत्वात्।

अत एव नीचैर्गोत्र-तिर्यग्गत्यादिप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनो विशुद्धतमाः पर्याप्तबादरतेजस्कायिका वायुकायिका वेति यद् वक्ष्यमाणं तदपि निर्दुष्टमवसातव्यम्, पृथिवीकायादितुल्योत्कृष्टविशुद्धिभावेऽपि तेषां तेजस्कायवायुकायिकानां ध्रुवबन्ध्यादीनामिव तिर्यग्गतिप्रायोग्यप्रकृतीनामेव बन्धभावेन तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्वी-नीचैर्गोत्राणां नियमतो बन्धात्, उद्योतनाम्नोऽपि बन्धस्य तदानीमविरुद्धत्वाच्चेत्यलं विस्तरेणेति ॥२६१-२६२॥

मिच्छत्ती होइ णरो पणिंदितिरियो व लहुअबाहगओ ।
णिरयसुराऊण कमा तज्जोगविसुद्धसंकिट्ठो ॥२६३॥
तिरियमणुमाउगाणं तिरियो मणुसो व मिच्छदिट्ठीयो ।
तप्पाउग्गकिलिट्ठो वट्टंतो लहुअबाहाए ॥२६४॥

(प्रे०) "**मिच्छत्ती**"त्यादि, निरयायुःसुरायुषोर्जघन्यस्थितिबन्धस्वामी प्रस्तुतत्वादोघतो जघन्यायामसंक्षेप्याद्धात्मिकायामबाधायां 'गतः'-वर्तमानो मिथ्यादृष्टिर्मनुष्यः पञ्चेन्द्रियतिर्यङ् वा भवति, तत्रापि "**कमा तज्जोगविसुद्धसंकिट्ठो**" त्ति निरयायुषस्तत्प्रायोग्यविशुद्धः, मनुष्यायुषस्तु तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टो ज्ञेयः । कुतः ? तिर्यग्-मनुष्य-देवायुर्लक्षणप्रकृतित्रयवर्जानां सर्वासां जघन्यायाः स्थितेर्विशुद्धिप्रत्ययत्वात्, आयुस्त्रयस्य तु तस्याः संक्लेशप्रत्ययत्वाच्च । उक्तं च **प्राच्यशतके**-

"सव्वट्ठिईणमुक्कोसगो उ उक्कोससंकिलेसेणं । विवरीए उ जहन्नो आउगतिगवज्जसेसाणं ॥५६॥" इति ।

एष हि संज्ञ्यसंज्ञिनामन्यतमः स्यात्, न पुनः केवलोऽसंज्ञी, केवलः संज्ञी वा, द्वयोरप्यसंक्षेप्याद्धालक्षणजघन्याबाधायाः सम्भवात् । उक्तं च **शतकचूर्णौ**-"देवणिरयाउगाणं सन्नी वा असन्नी जहन्नग करेइ असंखिप्पद्धा दोण्हवि लब्भइत्ति ।" इति ।

'**तिरियमणुसाउगाण**"मित्यादि, तिर्यग्मनुष्यायुषोर्जघन्यस्थितिबन्धस्वामी जघन्याबाधायां वर्तमानस्तत्प्रायोग्यक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिरेकेन्द्रियादीनामन्यतमस्तिर्यङ् मनुष्यो वा भवति, उक्तं च **शतकचूर्णौ**-'मणुयतिरियाउगाणं एगिंदियाइयो सव्वजहन्नग ठिइ करेंति, असंखिप्पद्धा सव्वेसिं लब्भइ त्ति काउं ।" इति । कथं न देवो नारको वा ? इति चेद्, क्षुल्लकभवग्रहणलक्षणजघन्यायुषोऽपर्याप्ततिर्यगादिप्रायोग्यं बध्नतामेव सम्भवेन देवनारकबन्धप्रायोग्यत्वाभावात् । एवमपि कुतः ? देवनारकाणामनन्तरभवेऽपर्याप्ततयाऽनुत्पादात् । अत एवोक्त **विशेषावश्यकभाष्यवृत्तौ**-"यदाऽप्युत्कृष्टसंक्लेशो नारक-देवावुत्कृष्टस्थितिकं मोहनीय बद्ध्वा तिर्यक्षूत्पद्येते तदाप्यायुषो जघन्यस्थितिर्न भवति,

लम् "तदरिहविसुद्धो" त्ति तत्प्रायोग्यविशुद्धः, न पुनरत्यन्तविशुद्धः, अत्यन्तविशुद्धौ सत्यां तस्य शेषाणामसातवेदनीयादिप्रकृतीनामेवाबन्धात् ।

अत्राप्यपवदति–"णवरि"इत्यादि, नवरं 'यत्र' यासु निरयगत्योघ-प्रथमनिरय-देवौघलक्षणासु तिसृषु मार्गणासु "जिणस्स" त्ति जिननाम्नः "ऽत्थि" त्ति बन्धोऽस्ति, जिननाम्नो बन्धः प्रकृतिबन्धे मत्र प्रतिपादित इत्यर्थः । "तहिं से सम्मो विसुद्धयमो" त्ति तत्र निरयगत्योघादिमार्गणात्रये 'से' त्ति तस्य जिननाम्नो जघन्यस्थितिबन्धस्वामी मार्गणागततद्बन्धकेषु यो विशुद्धतमः सम्यग्दृष्टिजीवः स भवति । ननु सम्यग्दृष्टिनैरयिकाणां तादृशदेवानां वा जघन्यतोऽपि सागरोपमाऽन्तःकोटीकोटीप्रमाण एव स्थितिबन्धो जायते, तदपेक्षया तु यथोक्तानां विग्रहगतौ वर्तमानानामसंज्ञित्वपश्चात्कृतानामसौ स्तोकतमः, तत्कथमेवमुच्यते ? इति चेद् , न, असंज्ञिनो हि मिथ्यादृष्टय एव, अतो न ततो नारकादितयोत्पद्यमाना भवप्रथमसमयद्वयवर्तिनोऽपि सम्यक्त्वभाजः सन्ति, तेषां पूर्वभवसम्बन्धिनः सम्यक्त्वस्याऽसम्भवात् , न वा तेषामुत्पद्यमानानामप्यपर्याप्तावस्थायां तदुत्पत्तिः, तथा च विग्रहगतिवर्तिनामसंज्ञित आगतानां तेषां जिननाम्नो बन्धाऽसम्भवात् जिननामजघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वमपि निरवकाशमेव । वस्तुतस्तु अतिक्रान्ताऽपर्याप्तावस्थानां करणपर्याप्तसम्यग्दृशामेवाऽधिकतमविशुद्धिरिति अपर्याप्तावस्थस्य सम्यग्दृशोऽपि न जिननामजघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वम् , किं पुनर्विग्रहगतिस्थस्येत्यलम् ॥२६९ २७०॥

अथानुत्तरपञ्चकवर्जोक्तशेष-निरय देवगतिमार्गणास्थानेष्वाह—

सम्मत्ती सेसणिरय-गेविज्जंतअमरेसु सुविसुद्धो ।
धुव-जिण-उच्चाईणं छअसायाईण तदरिहविसुद्धो ॥२७१॥ (गीतिः)
मिच्छो सम्माहिमुहो अडमिच्छाईण होइ सुविसुद्धो ।
चउणीआईण वि तमतमाअ सेसाण तदरिहविसुद्धो ॥२७२॥(गीतिः)

(प्रे०) "सम्मत्ती" इत्यादि, उक्तशेषेषु द्वितीयपृथिव्यादिभेदभिन्नेषु षट्सु निरयगतिमार्गणास्थानेषु, तथा "गेविज्जंतअमरेसु" त्ति शेषपदमिहापि सम्बध्यते, ततः शेषेषु देवौघ-भवनपति-व्यन्तरभेदवर्जेषु ज्योतिष्कादिषु नवमग्रैवेयकान्तेषु द्वाविंशतौ देवगतिमार्गणास्थानेषु प्रत्येकं "सुविसुद्धो" त्ति मार्गणाप्रायोग्यप्रकृष्टविशुद्धियुतः 'सम्यक्त्वी' सम्यग्दृष्टिर्जीवः, जघन्यस्थितिबन्धस्वामी भवतीति गम्यते, कासां प्रकृतीनामित्याह–"धुवे"त्यादि, मिथ्यात्वादीनामष्टध्रुवबन्धिप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनोऽनन्तरम् 'मिच्छो सम्माहिमुहो अडमिच्छाईण' इत्यादिना वक्ष्यमाणत्वात्तद्वर्जानां शेषाणामेकोनचत्वारिंशतो ध्रुवबन्धिनीनां जिननाम्नः, तथा "उच्चाईणं" ति उच्च-पुम-सायाणि ॥ २५५ ॥ जस-थिर-सुह-हस्स रई सुहागिइ-खगइ पणिंदि-

परघाया । ऊसास-सुहगतिग-तसचउग-वइरु-राल-मणुसदुग'मित्यनेन प्राक् संगृहीतानामुच्चैर्गोत्रादीनां मनुष्यद्विकान्तानां पञ्चविंशतेः प्रकृतीनामित्यर्थः । कुत इति चेद् ? मतिज्ञानावरणादीनां कासाञ्चिद् ध्रुवबन्धित्वात् , औदारिकदेहादीनां कासाञ्चित्स्वप्रतिपक्षप्रकृतिरहितबन्धप्रायोग्यत्वात् , कासाञ्चिचोच्चैर्गोत्रादीनां स्वप्रतिपक्षप्रकृतिसहितबन्धप्रायोग्यत्वेऽपि बन्धप्रायोग्यप्रतिपक्षप्रकृत्यपेक्षया प्रशस्ततमत्वेन जघन्यस्थितिबन्धप्रायोग्यविशुद्धावपि तासामेव बन्धभावादिति । "**छअसायाईण तदरिहविसुद्धो**" त्ति असातवेदनीयादीनां 'असाया-ऽरइ-सोग-अथिर-असुह अजसे'त्येतावता (गा०-२५४) संगृहीतानां षण्णां प्रकृतीनां पुनस्तत्प्रायोग्यविशुद्धः सम्यग्दृष्टिर्जीवो जघन्यस्थितिबन्धस्वामी भवति; न पुनः प्रागिव सर्वविशुद्धः, सर्वविशुद्धौ सत्यां स्वप्रतिपक्षप्रकृतिबन्धभावेनासामसातवेदनीयादीनां बन्धस्य निरोधात् । इह नीचैर्गोत्रस्याग्रहणं तु सम्यग्दृशां तत्स्वामित्वाभावादेव । "**मिच्छो**" इत्यादि, मिच्छ थीणाद्धियतिग च ॥२५३॥ अणचउग' इत्येतावता संगृहीतानामष्टानां मिथ्यात्वादिप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामी तु सम्यक्त्वाभिमुखः सर्वविशुद्धो मिथ्यादृष्टिर्जीवो भवति, सुगमम् । "**चउणीआईण वि तमतमाअ**"त्ति अपिः समुच्चये, ततो न केवलं प्रागुक्तमिथ्यात्वाद्यष्टप्रकृतीनामेवासौ सुविशुद्धः सम्यक्त्वाभिमुखो मिथ्यादृष्टिर्जघन्यस्थितिबन्धस्वामी अपि तु चतसृणां 'णीअ ॥२५४॥ तिरियदुगुज्जोअ' इत्यनेन संगृहीतानां नीचैर्गोत्रादिप्रकृतीनामप्यसौ तथाविधो मिथ्यादृष्टिर्जीव एव जघन्यस्थितिबन्धस्वामी भवति; केवलं '**तमतमाअ**' त्ति तमस्तमाऽभिधसप्तमभूमिनरकभेदे एव, न तु शेषमार्गणास्थानेषु, कुतः ? शेषमार्गणासु मिथ्यात्वगुणस्थाने नीचैर्गोत्रादीनामिव तत्प्रतिपक्षभूतोच्चैर्गोत्रादिप्रकृतीनामपि बन्धप्रायोग्यतया सम्यक्त्वाभिमुखसुविशुद्धावस्थागतानां जीवानां तासामुच्चैर्गोत्रादिप्रकृतीनामेव बन्धभावात्, सप्तमभूमिनिरयभेदे तु मिथ्यात्वे केवलनीचैर्गोत्रादीनामेव बन्धप्रायोग्यतया यथोक्तसर्वविशुद्धावपि तासामेवाविरततया बन्धप्रवर्तनाच्चेति । "**सेसाण तदरिहविसुद्धो**" त्ति '**मिच्छो**' इत्यनुवर्तते, तथा च शेषाणां मिथ्यात्वगुणस्थाने बन्धप्रायोग्याणां नपुंसकवेदादीनां प्रकृतीनां तत्प्रायोग्यविशुद्धमिथ्यादृष्टिर्जीवो जघन्यस्थितिबन्धस्वामी भवति, सुगमम् , एतासां सम्यक्त्वावस्थायां बन्धाभावात् , मिथ्यात्वगुणस्थाने तु तत्प्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धप्रायोग्यत्वाच्च । **अयम्भावः**—सम्यक्त्वावस्थायां बन्धाभावात् तत्स्वामी मिथ्यादृष्टिः, मिथ्यात्वगुणस्थाने तत्प्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धप्रायोग्यत्वाच्च तत्स्वामी तत्प्रायोग्यविशुद्धः, न पुनः सर्वविशुद्ध इति ॥२७१ २७२॥ अथ तिर्यगोघादिमार्गणास्वाह—

तिरियदुअणाण-अजय-असुहलेसा-अभवि-मिच्छ-अमणेसुं ।
धुव-बावीसपुमाईणेगिंदियबायरविसुद्धो ॥२७३॥
उच्चस्स भूदगवणो सव्वविसुद्धोऽत्थि बायरोऽण्णेसिं ।
ओघव्व णवरि अजए संजमहुत्तो जिणस्स भवे ॥२७४॥

क्षुल्लकभवग्रहणलक्षणजघन्यस्थितिषु नारकदेवानामनुत्पादात" । इति ॥२६३-२६४॥

णिरयदुगस्स असण्णी पणिंदियो होइ तदरिहविसुद्धो ।
सो उण सव्वविसुद्धो होइ चउण्हं सुराईणं ॥२६५॥

(प्रे०) "**णिरयदुगस्से**"त्यादि, निरयद्विकस्य निरयगति-निरयानुपूर्वीप्रकृतिद्वयलक्षणस्य तत्प्रायोग्यविशुद्धोऽसंज्ञी पञ्चेन्द्रियः, जघन्यस्थितिबन्धस्वामी भवतीति गम्यते । "**सो उण**" त्ति स पुनरसंज्ञिपञ्चेन्द्रिय एव, केवलम् "**सव्वविसुद्धो**" त्ति सर्वविशुद्धः सन्, न पुनस्तत्प्रायोग्यविशुद्धः "**होइ चउण्हं सुराईणं**" ति चतुर्णाम् "सुरविउव्वदुग" इत्येतावता संग्रह(२५७)गाथांशेन संगृहीतानां देवगति-देवानुपूर्वी वैक्रियशरीर-तदङ्गोपाङ्गलक्षणानां कर्मणाम्, जघन्यस्थितिबन्धस्वामी भवतीति पूर्ववद्गम्यम् । उक्तं च **शतकचूर्णौ**–"णिरयगइ-देवगइ-तदाणुपुव्वीओ वेउव्वियदुगमिति एएसि छण्ह कम्माण जहन्नग असन्निपचिंदिओ सव्वाहिं पज्जत्तिहिं पज्जत्तगो सव्वविसुद्धो सव्वजहन्निय ठिइ बधइ । णिरयदुगस्सवि तप्पाओगविसुद्धो त्ति वत्तव्व" इत्यादि ॥२६५॥

णीआईण चउण्हं तेऊ वाऊ व बायरविसुद्धो ।
बायरसव्वविसुद्धो सेसतिकायो णरदुगस्स ॥२६६॥

(प्रे०) "**णीआईणे**"त्यादि, "णीअ ॥२५४॥ तिरियदुगुज्जोअ" इत्येतावता संग्रहगाथावयवेन संगृहीतानां नीचैर्गोत्र-तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्व्युद्योतनामलक्षणानां चतसृणां प्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामी '**तेऊ वाऊ व बायरविसुद्धो**'' त्ति अत्यन्तविशुद्धो बादरतेजस्कायिकस्तथाविधो बादरवायुकायिकश्च विज्ञेयः, स च पर्याप्त इति प्राग्वज्ज्ञेयम्, एवमुत्तरत्रापि यथासम्भवं योज्यम् । उक्तशेषयोर्मनुष्यगति मनुष्यानुपूर्व्योराह–"**बायरे**"त्याद्युत्तरार्धम्, मनुष्यगति-मनुष्यानुपूर्वीप्रकृतिद्वयलक्षणस्य नरद्विकस्य जघन्यस्थितिबन्धस्वामी "**सव्वविसुद्धो**" त्ति एकेन्द्रियाणां सम्भवद्विशुद्ध्यपेक्षया सर्वविशुद्धः, न पुनरौघिकविशुद्ध्यपेक्षया, एवम्भूतो यः '**बादरः**'उदितबादरनामकर्मा "**सेसतिकायो**" त्ति अनुपदमभिहितान् तेजस्काय-वायुकायिकान् विहाय शेषत्रिकायसम्बन्धी, पर्याप्तबादरपृथिव्यब्वनस्पतिकायिकानामन्यतम इति भावः । अत्र मनुष्यद्विकस्य जघन्यस्थितिबन्धस्वामितया तेजोवायुकायिकानां वर्जनं तथा पूर्वं नीचैर्गोत्रादिप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामितया पृथिवीकायिकादीनां वर्जनं तु "तप्पाउग्गविसुद्धो बायरएगिंदियो णेयो' इत्यादिकायाः (२६२) गाथाया वृत्तौ प्रसङ्गाद्भावितमिति ॥२६६॥

तदेवं प्रतिपादिता ओघतः सर्वासामुत्तरप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनः । एतर्हि मार्गणास्थानेषु तान् प्रतिपिपादयिषुः प्रागिवादावायुर्वर्जप्रकृतीनां बहुमार्गणाविषयमामान्यवक्तव्यतामाह–

सव्वासु बंधगो खलु सप्पाउग्गाण आउवज्जाणं ।
सागाराइविसिट्ठो भवे ठिईए जहण्णाए ॥२६७॥

पज्जत्ताऽपज्जत्ता दुहावि जीवाऽत्थि जत्थ तत्थ भवे ।
पज्जत्तो सव्वाहिं पज्जत्तीहिं मुणेयव्वो ॥२६८॥

(प्रे०) "**सव्वासु**" इत्यादिगाथाद्वयी प्राग्वद् व्याख्येया इति ॥२६७-२६८॥

अथ निरयगत्योघादिमार्गणाभेदक्रमेण प्रस्तुतस्वामिनो विशेषतो दिदर्शयिषुर्निरयगत्योघेन तुल्यवक्तव्यतोपेता मार्गणाः संगृह्य तत्राऽपि सममेवाह—

णिरय-पढमणिरयेसुं अपज्जणर-देव-भवणजुगलेसुं ।
विग्गहगईअ उ ठिओ असण्णिओ आगओ विसुद्धयमो ॥२६९॥(गीतिः)
धुव-पणवीसुच्चाईणियरेसिं सो च्च तदरिहविसुद्धो ।
णवरि जिणस्सऽत्थि जहिं तहि से सम्मो विसुद्धयमो ॥२७०॥

(प्रे०) "**णिरये**"त्यादि, निरयगत्योघ-प्रथमपृथिवीनिरयभेदयोः, अपर्याप्तनर-देवौघयोर्भवनपतिव्यन्तरनिकायलक्षणमार्गणायुगले चेत्येवं सर्वसंख्यया षट्सु मार्गणास्थानेषु प्रत्येकम्, एतेषु प्रत्येकं किमित्याह–"**विग्गहगईअ**" इत्यादि, असंज्ञिपञ्चेन्द्रियाच्च्युत्वा '**आगतः**'-समुत्पन्नो विग्रहगतौ '**स्थितः**' वर्तमानः "**विसुद्धयमो**" त्ति तत्र वर्तमानेषु योऽधिकतमविशुद्धो नैरयिकादिजीवः स जघन्यस्थितिबन्धस्वामी ज्ञेयः, कासां प्रकृतीनामित्याह–"**धुवे**"त्यादि, मतिज्ञानावरणादीनां सप्तचत्वारिंशतो ध्रुवबन्धिनीनाम्, तथा "**पणवीसुच्चाईण**" त्ति पञ्चविंशतेरुच्चैर्गोत्रादिप्रकृतीनां चेत्यर्थः । अत्रोच्चैर्गोत्रादिपञ्चविंशतिप्रकृतयस्तु जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वप्रतिपादनप्रारम्भे "उच्चपुममायाणि" इत्यादिभिः संग्रहगाथा(२५५)ऽवयवैः संगृहीता विज्ञेयाः, ताश्चेमाः- उच्चैर्गोत्रम्, हास्यरतिपुंवेदमोहनीयानि, सातवेदनीयम्, मनुष्यद्विकपञ्चेन्द्रियजात्यौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचसंहनन-समचतुरस्रसंस्थान-प्रशस्तविहायोगति-पराघातो-च्छ्वास-त्रसदशकनामानि च ।

कथमसंज्ञिभ्य आगतो विग्रहगतौ वर्तमान एव ? इति चेद्, असंज्ञिभ्यः संज्ञितयोत्पद्यमानानां विग्रहगतौ वर्तमानानां संज्ञिनामप्यसंज्ञिवत् स्थितिबन्धभावात्, तस्य च स्थितिबन्धस्य तदन्यत्रवर्तमानसंज्ञिजघन्यपदगतस्थितिबन्धापेक्षया संख्येयगुणहीनत्वात् । यद्यपि क्षपकश्रेण्यादौ वर्तमानानां संज्ञिनां मतिज्ञानावरणादीनां कासांचित्प्रकृतीनामसंज्ञ्यपेक्षयाऽपि स्तोकः स्थितिबन्धो जायते, नवरं न तेऽत्र मार्गणाषट्के प्रविष्टाः, एवमसंज्ञ्यपेक्षया स्तोकस्थितिबन्धं कुर्वतामेकेन्द्रिय-विकलेन्द्रियाणामपि नास्त्यत्र प्रवेशः, ततश्च यथोक्ता जीवा एव जघन्यस्थितिबन्धस्वामितया प्राप्यन्त इति ।

"**इयरेसिं**" ति उक्तेतरासां निरयगत्योघादितत्तन्मार्गणासु बन्धप्रायोग्याणामायुर्वर्जप्रकृतीनाम् "**सो च्च**" त्ति स एवासंज्ञिभ्यश्च्युत्वा नारकादितयोत्पन्नो विग्रहगतौ वर्तमानो जीवः, केव-

किण्हाए णीलाए सम्मादिट्ठी णरो विसुद्धयमो ।
काऊए णेरइयो सम्मादिट्ठी विसुद्धयमो ॥२७५॥

(प्रे०) "**तिरियदुअणाणे**"त्यादि, तिर्यग्गत्योघः, मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाने, असंयमः, तिस्रोऽशुभलेश्याः, अभव्यः, मिथ्यात्वम्; असंज्ञीत्येवं समुदितासु दशमार्गणासु प्रत्येकम् "**धुवे**"त्यादि, सप्तचत्वारिंशतो मतिज्ञानावरणादीनां ध्रुवबन्धिनीनां तथा 'पुमसायाणि ॥२५४॥ जसे'त्यादिना संगृहीतानां पुरुषवेदादिद्वाविंशतिप्रकृतीनां प्रत्येकम् "**एगिंदियबायरविसुद्धो**" त्ति जघन्यस्थितिबन्धस्वामी पृथिव्यादीनामन्यतमः सर्वविशुद्धः पर्याप्तबादरैकेन्द्रियजीवो भवति, कुतः ? प्रस्तुतमार्गणासूपशमकानां क्षपकाणां वाऽप्रवेशात् शेषप्रविष्टजीवेष्वेकेन्द्रियजीवैरेव ह्रस्वस्थितिबन्धकरणाच्च । "**उच्चस्से**"त्यादि, उच्चैर्गोत्रस्य सर्वविशुद्धः पर्याप्तबादरैकेन्द्रिय एव, नवरं पृथिव्यब्वनस्पतिकायानामन्यतमः, तेजोवायुकायिकैस्तस्याऽबन्धात् । **ननु** यद्येवं तर्हि कथमेतासां ध्रुवबन्ध्यादीनामेव स्वामी असौ पर्याप्तबादरैकेन्द्रिय उच्यते न पुनरन्यासामसातवेदनीयादीनामपि, श्रेणिस्थजीववर्जेषु वैक्रियषट्का-ऽऽहारकद्विक-जिननामवर्जानां सर्वासां ह्रस्वस्थितिबन्धस्यैकेन्द्रियैरेव करणाद् ? **इति चेद्, सत्यम्**, अत एवासौ लाघवार्थमोघवदतिदिशति— "**ऽण्णेसिं**"इत्यादि, उक्तान्यासामायुर्वर्जबन्धप्रायोग्यप्रकृतीनामोघवद् "गुणवीसाए थिराइगाण च । तिव्वविसुद्धीम ठिओ बायरएगिंदियो णेयो ॥२६२॥ तप्पाउग्गविसुद्धो बायरएगिंदियो मुणेयव्वो । बावीसअसायाइगपयडीणं णवायवाईणं ॥२६३॥ णिरयदुगस्स असण्णी पणिंदियो होइ तदरिहविसुद्धो । सो उण सव्वविसुद्धो होइ चउण्हं सुराईणं ॥२६५॥ णीआईण च उण्हं तेऊ वाऊ व बायरविसुद्धो। बायरसव्वविसुद्धो सेसतिकायो णरदुगस्स ॥२६६॥" इत्यनेनाभिहितस्वरूपो विज्ञेयः । यत्र जिननाम्नो बन्धस्तत्राऽसंयममार्गणायां तस्य जिननाम्नो जघन्यस्थितिबन्धस्वामी "**संजमहुत्तो**" त्ति संयमाभिमुखो मनुष्यो विज्ञेयः, कृष्णलेश्यायां तथा नीललेश्यायां त्वसौ "**सम्मादिट्ठी णरो विसुद्धयमो**" त्ति विशुद्धतमः सम्यग्दृष्टिर्मनुष्यः, न पुनः पूर्ववत् संयमाभिमुखः, संयमाभिमुखानामन्यतमशुभलेश्यायामेव वर्तमानत्वेन प्रस्तुतमार्गणाऽप्रवेशात् । कापोतलेश्यायां तु "**णेरइओ**" इति तादृशो विशुद्धतमो नैरयिको जीवो ज्ञेयः, कथं न मनुष्यः ? इति चेद्, अनवस्थितलेश्याकतया नैरयिकप्रायोग्योत्कृष्टविशुद्धिकमनुष्याणां ततः किञ्चिन्न्यूनविशुद्धिकानां वा मनुष्याणां शुभलेश्याप्रवृत्तेः प्रस्तुतमार्गणाया बहिर्भवनादिति । अत्र "**विसुद्धयमो**" इत्यनेन गृह्यमाणो जीवः सर्वत्र मार्गणायां न तुल्यविशुद्धिकः किन्तु तत्तन्मार्गणायां सम्भवदुत्कृष्टविशुद्ध्या विशुद्धो ज्ञेयः, उत्कृष्टविशुद्धकथनादुपलक्षणेनेपन्मन्दविशुद्धोऽपि जघन्यस्थितिबन्धस्वामितया ग्राह्यः, कस्माद् ? अनिवृत्तिकरणादिगुणस्थानादितोऽन्यत्र प्रतिस्थितिबन्धस्थानानामसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमिताध्यवसायस्थानैर्बन्धप्रायोग्यत्वेनोत्कृष्टविशुद्धाध्यवसाये वर्तमानस्येव किञ्चिन्मन्द-मन्दतरादिषु रूपोना-

ऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमितेष्वध्यवसायस्थानेषु वर्तमानानामपि जघन्यस्थितिबन्धस्य भावाद्, एवमग्रेऽपि यथासम्भवं द्रष्टव्यमिति ॥२७३-२७५॥

चउवीससुराईणं तहा धुवाण तिपणिंदितिरियेसुं ।
सव्वविसुद्धो अमणो सेसाणं तदरिहविसुद्धो ॥२७६॥

(प्रे०) "**चउवीससुराईणं**" इत्यादि, तत्र '**तिपणिंदितिरियेसु**" ति अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदेऽनन्तरं वक्ष्यमाणत्वात्तद्वर्जेषु त्रिषु पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघ-तत्पर्याप्त-तिरश्चीलक्षणेषु मार्गणास्थानेषु "सुर-विउव्वदुगुच्च-पुम-सायाणि ॥२५५॥ जस-थिर-सुह-हस्स-रई सुहागिइ-खगइ-पणिंदि-परघाया । ऊसास-सुहगतिग-तसचउगे" त्यनेन संगृहीतानां चतुर्विंशतेः सुरगत्यादिप्रकृतीनां तथा ध्रुवबन्धिनीनां सप्तचत्वारिंशत्संख्याकानामित्येवमेकसप्ततिप्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यस्थितिबन्धस्वामी सर्वविशुद्धः '**अमना**' असंज्ञी भवति, स च पर्याप्त एव विज्ञेयः, प्राक् सामान्यवक्तव्यतया यासु मार्गणासु पर्याप्ता-ऽपर्याप्तद्विविधजीवानां प्रवेशस्तासु पर्याप्तानामेव जघन्यस्थितिबन्धस्वामितयाऽभिहितत्वात् । एवमुत्तरत्रापि विज्ञातव्यम् । "**सेसाण**" ति उक्तशेषाणामायुर्वर्जबन्धप्रायोग्यद्विचत्वारिंशत्प्रकृतीनां तत्प्रायोग्यविशुद्धोऽसंज्ञी ज्ञेय इति ॥२७६॥

असमत्तपणिंदितिरियपणिंदियेसु अमणो विसुद्धयमो ।
धुव-पणवीसुच्चाईणियरेसिं तदरिहविसुद्धो ॥२७७॥

(प्रे०) "**असमत्ते**"त्यादि, असमाप्तशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धादसमाप्तः-अपर्याप्तः पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्, अपर्याप्तः पञ्चेन्द्रियश्चेत्येतयोर्द्वयोर्मार्गणयोः "**अमणो विसुद्धयमो**"त्ति विशुद्धतमोऽसंज्ञी जीवो जघन्यस्थितिबन्धस्वामी भवति, कासामित्याह–"**धुवे**"त्यादि, सप्तचत्वारिंशतो ध्रुवबन्धिनीनां तथा 'उच्च-पुम-सायाणि" इत्यादिना (गा०२५५) संगृहीतानामुच्चैर्गोत्रादीनां पञ्चविंशतेः प्रकृतीनां प्रत्येकम् । शेषाणां तर्हि क इत्याह–"**सेसाण**"मित्यादि, सुगमम्, केवलं शेषाः प्रकृतय आयुर्वर्जा बोध्याः, ताश्चेमाः–असातवेदनीय-शोका ऽरति-स्त्रीवेद-नपुंसकवेद-तिर्यग्द्विक-जातिचतुष्क-संहननपञ्चक-संस्थानपञ्चका-ऽशुभविहायोगत्या-तपो-द्योत-स्थावरदशक-नीचैर्गोत्राणीति॥२७७॥

तिमणुससण्णीसु खवगपयडि-चउसुराइगाण खवगोऽत्थि ।
अंतिमबंधम्मि णिरयदुगस्स मिच्छतदरिहसुद्धो ॥२७८॥
विग्गहगईअ उ ठिओ असण्णिओ आगओ विसुद्धयमो ।
सेसधुवबंधिणीणं तहा थिराइइगवीसाए ॥२७९॥
तप्पाउग्गविसुद्धो सो चेव हवेज्ज सेसपयडीणं ।
मणुसीए तित्थस्स उ मल्लिकुमारिव्व खवगो वा ॥२८०॥

(प्रे०) "**तिमणुसे**"त्यादि, व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेरपर्याप्तभेदवर्जेषु मनुष्यौघ-पर्याप्त-मनुष्य-मानुषीषु संज्ञिमार्गणाभेदे च क्षपकप्रकृतीनां ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरण चतुष्क सातवेद-नीय-संज्वलनचतुष्क पुंवेदा-ऽऽहारकद्विक-जिननाम-यशःकीर्त्युच्चैर्गोत्रा ऽन्तरायपञ्चकलक्षणानां चतसृणां सुरादिप्रकृतीनां च जघन्यस्थितिबन्धस्वामी तत्तत्प्रकृतेश्चरमे स्थितिबन्धे वर्तमानः '**क्षपकः**' चारित्रमोहनीयक्षपको भवति। निरयगति-निरयानुपूर्वीलक्षणस्य निरयद्विकस्य तत्प्रायोग्यविशुद्धो मिथ्यादृष्टिर्भवति। असंज्ञिभ्यश्च्युत्वा प्रस्तुतमार्गणायां प्रविष्टो यो विग्रहगतौ वर्तमानो विशुद्ध-तमो मनुष्यादिर्जीवः सः '**शेषाणाम्**' उक्तव्यतिरिक्तानां निद्रापञ्चक-मिथ्यात्व भय जुगुप्सा-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्का-ऽप्रत्याख्यानावरणचतुष्क--प्रत्याख्यानावरणचतुष्का--ऽगुरुलघु-निर्माणो-पघात-वर्णचतुष्क-तैजस-कार्मणदेहनामलक्षणानामेकोनत्रिंशतो ध्रुवबन्धिनीनां तथा "**थिराइइगवीसाए**" त्ति 'थिर-सुह इस्स-रई सुहागिइ-खगइ-पणिंदि परघाया। ऊसास सुहगतिग-तसचउग वइरु राल-मणुसदुग ॥२५६॥ इत्यनेन संगृहीतानां स्थिरादीनामेकविंशतेः प्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामी जायते। "**तप्पाउग्गे**"त्यादि, स असंज्ञिभ्यश्च्युत्वा विग्रहगतौ मनुष्यादितया प्रस्तुतमार्गणायां वर्तमानो जीव एव तत्प्रायोग्यविशुद्धः सन् "**हवेज्ज सेसपयडीण**"मिति उक्तशेषाणां "असाया ऽरइ-सोग-अथिर-असुह-अजस-थी-णपुमा। सघयणा-ऽऽगिइपणग दुहगतिगं कुखगई णीयं ॥२५४॥ तिरियदु-गुज्जो-आयव-थावर-एगिंदिया य सुहुमतिगं। वि ग्ल" इत्येतावता संगृहीतानामसातवेदनीया-दीनां पञ्चत्रिंशत्प्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामी भवति। अथ मानुषीमार्गणायां क्षपकप्रकृत्यन्त-र्गतत्वाज्जिननाम्नो जघन्यस्थितिबन्धस्वामितया प्राप्तेऽपि क्षपके सोदाहरणं विशेषतः प्राह—'**मणुसीए**' इत्यादि. मानुषीमार्गणायां पुनस्तीर्थकरनाम्नो जघन्यस्थितिबन्धस्वामी '**मल्लि-कुमारिव्व**' त्ति आकालमुदारचरितायास्त्रिलोकीसीमन्तिनीललाटललामललामायमानायाः कुम्भनृप-तिनन्दनाया ज्ञातेन क्षपको ज्ञेयः, अयं हि आश्चर्यस्याप्यधिकारे, स्त्रीतीर्थकरत्वस्याऽनन्तकालान्त-रितत्वेनाऽऽश्चर्यविषयत्वात्। तस्याऽश्चर्यविषयत्वेनाविवक्षायां पुनः प्रस्तुतबन्धक उपशमकः, तथा-विधोपशमकमानुषीणामुत्कृष्टतोऽसंख्येयकालान्तरेणाऽवश्यं प्राप्यमाणत्वेनाऽऽश्चर्याविषयत्वात्। अत एवोत्तरत्र **नानाजीवाश्रयान्तरद्वारे** एतद्बन्धकानामुत्कृष्टमन्तरमङ्गुलासंख्येयभागमानं भणिष्यते तदाश्चर्याविवक्षायां बोद्धव्यम्। ननु कुतो ज्ञायते इयं द्वितीया विवक्षा इति चेत्, '**वा**'-कारस्य ग्रहणादिति ॥२७८-२८०॥

पंचसु अणुत्तरेसुं आहारदुगे य तदरिहविसुद्धो।
छण्ह असायाईणं सव्वविसुद्धोऽत्थि सेसाणं ॥२८१॥

(प्रे०) "**पंचसु**" इत्यादि विजय-वैजयन्त जयन्ता ऽपराजित सर्वार्थसिद्धाभिधेषु पञ्चस्वनु-त्तरविमानदेवगतिभेदेष्वाहारक तन्मिश्रकाययोगमार्गणाद्वयलक्षणे आहारकद्विके च '**असायाईणं**' ति

असातवेदनीय-शोका ऽरतिमोहनीया ऽस्थिरा-ऽशुभा-ऽयशःकीर्तिनाम्नां 'असाया-ऽरइ-सोगे'त्यादिना पूर्वसंगृहीतानां षण्णां प्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामी तत्प्रायोग्यविशुद्धो जीवो भवति, शेषाणामायुर्वर्जबन्धप्रायोग्याणां मतिज्ञानावरणादीनां तु सर्वविशुद्धो भवति, कुतः ? ध्रुवबन्धिनीनामनवरतबन्धभावेन, शेषासु कासाञ्चित्सातवेदनीय हास्य-रति स्थिरनामादीनां बन्धप्रायोग्यस्वप्रतिपक्षप्रकृत्यपेक्षया शुभत्वेन, अन्यासां तु प्रागुक्तनीत्या बन्धप्रायोग्यप्रतिपक्षप्रकृतिरहितत्वेन ध्रुवबन्धिनीवदुत्कृष्टविशुद्धौ सत्यामपि बन्धभावादिति ॥२८१॥

सव्वविसुद्धो णेयो एगिंदियसकसव्वभेएसुं ।
सगचत्तधुवाण तहा बावीसाए पुमाईणं ॥२८२॥
णीआईण चउण्हं तेऊ वाऊ व होइ सुविसुद्धो ।
पुहवी दगं वणो वा सुविसुद्धो णरदुगुच्चाणं ॥२८३॥
तप्पाउग्गविसुद्धो हवेज्ज सेसाण एगतीसाए ।
णवरेगिंदियओहे सव्वेसिं बायरो णेयो ॥२८४॥

(प्रे०) "**सव्वविसुद्धो**" इत्यादि, एकेन्द्रियसत्केषु ओघ-सूक्ष्म तत्पर्याप्ता ऽपर्याप्त-बादरतत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्नेषु सर्वेषु सप्तसंख्याकेष्वपि मार्गणाभेदेषु तत्तन्मार्गणासम्भविशुद्ध्यपेक्षया सर्वविशुद्धः पर्याप्तबादरैकेन्द्रियादिर्जीवो जघन्यस्थितिबन्धस्वामितया ज्ञेयः, कासां प्रकृतीनामित्याह–**सगचत्त**"इत्यादि,सप्तचत्वारिंशतो ध्रुवबन्धिनीनां तथा "पुम-सायाणि ॥२५५॥ जस-थिर-सुह-हस्स-रई सुहागिइ खगइ पणिंदि-परघाया । ऊसास-सुहगतिग-तसचउग-वइरु-राल" इत्यादिना संगृहीतानां पुरुषवेदाद्यौदारिकद्विकान्तानां द्वाविंशतेः प्रकृतीनामिति । "**णीआईण चउण्हं**" ति 'णीअ ॥२५४॥ तिरियदुगुज्जोअ' इत्येतावता संगृहीतानां नीचैर्गोत्र-तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्व्युद्योतनामलक्षणानां चतसृणां प्रकृतीनाम् "**तेऊ वाऊ व होइ सुविसुद्धो**" त्ति तथाविधः सर्वविशुद्धस्तेजस्कायिको वायुकायिको वा भवति, न पुनः शेषपृथिवीकायिकादीनामन्यतमः, पृथिवीकायिकादीनां नीचैर्गोत्रादीनामिव उच्चैर्गोत्रादितत्प्रतिपक्षप्रकृतीनामपि बन्धप्रायोग्यत्वात् । "**पुहवी**"-त्यादि, सुविशुद्धः पृथिवीकायिक उदककायिको वनस्पतिकायिको वा "**णरदुगुच्चाणं**" ति मनुष्यगति मनुष्यानुपूर्व्यु-च्चैर्गोत्राणां जघन्यस्थितिबन्धस्वामी भवति, अत्र च तेजस्काय-वायुकायिकयोर्वर्जनं तयोर्मनुष्यगत्यादिप्रकृतीनां बन्धस्वामित्वाभावादिति । "**तप्पाउग्गे**"त्यादि, तत्प्रायोग्यविशुद्धः, पृथिव्यादीनामन्यतम इति गम्यते, कुतः ? विशेषतो व्यवच्छेदस्याऽकृतत्वात् । कासामित्याह–"**हवेज्ज सेसाणे**"त्यादि, 'असाया-ऽरइ सोग-अथिर-असुह-अजसे'त्यादिना संगृहीतानां द्वाविंशतेरसातवेदनीयादिप्रकृतीनां"आयव थावर-एगिंदिया य सुहमतिगं । विगले"त्येतावता संगृहीतानां

शेषाणामायुर्वर्जानां नवानामातपनामादिप्रकृतीनां चेत्यर्थः। अत्र हि मार्गणासप्तके यत्र पर्याप्ताऽपर्याप्तद्विविधैकेन्द्रियजीवाः प्रविष्टास्तत्रैकेन्द्रियौघ-सूक्ष्मौघ-बादरौघलक्षणभेदत्रये यथोक्तविशुद्धाः पर्याप्ता एव जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनो भवन्तीत्येतत्तु "पज्जत्ताऽपज्जत्ता दुहावि जीवाऽत्थि जत्थ तत्थ भवे। पज्जत्तो सव्वाहिं पज्जत्तीहिं मुणेयव्वो ॥२६८॥" इति सामान्यवक्तव्यतया प्रोक्तमेव, न पुनर्यत्र ओघभेदे सूक्ष्म-बादरद्विविधजीवाः प्रविष्टास्तत्र बादर एवेत्यतस्तत्र बादर एव प्रकृतस्वामीति दर्शयन्नाह–"**तत्थेगिंदियओहे**" इत्यादि, गतार्थमिति ॥२८२-२८४॥

सव्वविसुद्धो णेयो सव्वेसु विगल-भू-दग-वणेसु।
सगचत्तधुवाण तहा उच्चाईण पणवीसाए ॥२८५॥
तप्पाउग्गविसुद्धो होइ असायाइपंचतीसाए।
तत्थ वि पुढवाईसु सव्वेसिं बायरो णेयो ॥२८६॥

(प्रे०) "**सव्वे**"त्यादि, सर्वेषु ओघ-पर्याप्ताऽपर्याप्तभेदभिन्नेषु "**विगल**" त्ति 'विकलेन्द्रियेषु'-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियसत्केषु नवमार्गणाभेदेष्वित्यर्थः, तथा "**भूदगवणेसु**" ति ओघ-सूक्ष्मौघ-तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्त-बादरौघ तत्पर्याप्ता ऽपर्याप्तभेदभिन्नेषु पृथिव्यप्साधारणवनस्पतिकायसत्केष्वेकविंशतिभेदेषु वनस्पतिकायौघ प्रत्येकवनस्पतिकायौघ तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदलक्षणेषु चतुर्षु भेदेष्वित्येवं सर्वसंख्यया चतुस्त्रिंशन्मार्गणास्थानेषु सप्तचत्वारिंशतो ध्रुवबन्धिनीनां तथा '**उच्चाईण पणवीसाए**'' त्ति 'उच्च पुम-सायाणि ॥२५५॥ जस थिर सुह-हस्स-रई सुहागिइ-खगइ पणिंदि-परघाया। ऊसास सुहग-तिग-तसचउग-वइरु-राल-मणुमदुगं ॥२५६॥ इत्येतावता संगृहीतानामुच्चैर्गोत्रादीनां पञ्चविंशतेः प्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामी तत्तन्मार्गणाप्रविष्टोऽत्यन्तविशुद्धः पर्याप्तद्वीन्द्रियादिजीवो ज्ञेयः। "**तप्पाउग्गे**"त्यादि, शेषाणामायुर्वर्जानाम् 'असाया-ऽरइ-सोग-अथिर-असुह-अजस-थी-णपुमा। सघयणागिइपणग दुहगतिग कुखगई णीअं ॥२५४॥ तिरियदु-गुज्जो-आयव-थावर-एगिंदिया य सुहुमतिग। विगले'त्येतावता संगृहीतानामसातवेदनीयादिपञ्चत्रिंशत्प्रकृतीनान्त्वसौ तत्प्रायोग्यविशुद्धः सन् जघन्यस्थितिबन्धस्वामी भवति, अत्यन्तविशुद्धावसातवेदनीयादीनामबन्धात्। अत्रापि प्रागिव पृथिवीकायाद्योघभेदचतुष्टये सूक्ष्मबादरद्विविधजीवप्रवेशाद् विशेषत आह-"**तत्थवि**" इत्यादि, पृथिवीकायौघाऽप्कायौघ वनस्पतिकायौघ-साधारणवनस्पतिकायौघलक्षणमार्गणाचतुष्टये बादरपृथिव्यादिजीव एव प्रस्तुतस्वामी, न त्वितर इत्यर्थः। अत्रापि पर्याप्तोऽपर्याप्तो वेति यथासम्भवं सामान्यवक्तव्यतयैव विज्ञेयम्, एवमुत्तरत्रापीति ॥२८५-२८६॥

सव्वविसुद्धो होअइ सव्वेसु तेउ-वाउभेएसु।
धुव-चउणीआईणं बावीसाए पुमाईणं ॥२८७॥

तप्पाउग्गविसुद्धो हवेइ सेसाण एगतीसाए ।
तत्थऽग्गिवाउओहे सव्वेसिं बायरो णेयो ॥२८८॥

(प्रे०) "**सव्वविसुद्धो**" इत्यादि, ओघ-सूक्ष्मौघ-तत्पर्याप्ता ऽपर्याप्त-बादरौघ-तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदात् "**सव्वेसु**"ति सप्तसु तेजस्कायभेदेषु, तथैव सप्तसु वायुकायभेदेष्वित्येवं चतुर्दशमार्गणास्थानेषु प्रत्येकं सप्तचत्वारिंशतो ध्रुवबन्धिनीनां तथा पूर्ववत् चतसृणां नीचैर्गोत्रादीनां तथा द्वाविंशतेः पुंवेदादीनामित्येवं सर्वसंख्यया त्रिसप्ततिप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामी सर्वविशुद्धो मार्गणाप्रविष्टस्तेजस्कायिकादिर्जीवो भवति । शेषाणामसातवेदनीयादीनामायुर्वर्जबन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां त्वसौ तत्प्रायोग्यविशुद्धः सन् जघन्यस्थितिबन्धस्वामी भवति, न पुनः सर्वविशुद्धः । एताश्च शेषप्रकृतयोऽनन्तरम् "असायाइपणतीसाए" इत्यनेनाऽभिहिता "असाया-ऽरइ-सोगे" त्यादिना (गा०-२५४) संगृहीताः पञ्चत्रिंशद् नीचैर्गोत्रादिचतुष्कवर्जा एकत्रिंशदवसेया इति । अत्रापि पूर्ववद्विशेषमाह-"**तत्थऽग्गिवाउओहे**" इत्यादि, सुगममिति ॥२८७-२८८॥

दुपणिंदियेसु उ खवगपयडीणोघव्व होअइ असण्णी ।
सव्वविसुद्धो सोलसथिराइ-सेसधुव-चउसुराईणं ॥२८९॥ (गीतिः)
तप्पाउग्गविसुद्धो अमणो बायालसेसपयडीणं ।

(प्रे०) "**दुपणिंदियेसु**" इत्यादि, पूर्वम् "असमत्तपणिंदितिरियपणिंदियेसु" इत्यनेनाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणया सममपर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणायामपि प्रस्तुतस्वामित्वस्याऽभिहितत्वात्तद्वर्जयोर्द्वयोः पञ्चेन्द्रियौघ तत्पर्याप्तभेदयोस्तु "**खवगपयडीण**" त्ति सामान्येन क्षपकाणां तज्जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वेन 'एआओ पणतीसा णायव्वा खवगपयडीओ' इत्यनेन (१०८ गाथायां) क्षपकप्रकृतितया संज्ञितानां पञ्चज्ञानावरण-चतुर्दर्शनावरण-पञ्चान्तराय-सातवेदनीय-संज्वलनचतुष्क-पुरुषवेदा-ऽऽहारकद्विक-जिननाम-यशःकीर्त्युच्चैर्गोत्रलक्षणानां पञ्चविंशतेः प्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामी ओघवत् "हस्साअ ठिईअ भवे अतिमवधम्मि बंधगो खवगो । सुहुमे आवरणणवग-साय-जसु-च-पणविग्घाण ॥२५९॥ पुम-चउसजलणाणं कमाऽणियट्टीअ पचभागेसु । तित्था-हारदुगाण अपुव्वकरणे उ सेससंखसे ॥२६०॥' इति गाथाद्वयेनाभिहितस्वरूपः क्षपको विज्ञातव्यः, मार्गणाद्वयेऽपि तादृक्क्षपकाणां प्रवेशात् । "**होअइ**" इत्यादि, षोडशानाम् 'थिर-सुह हस्स-रई सुहागिइ खगइ-पणिंदि-परघाया । ऊसास-सुहगतिग-तसचउगे 'त्येतावता (गा० २५६) संगृहीतानां स्थिरादिप्रकृतीनां तथा "**सेसधुव**" त्ति '**खवगपयडीण**' इत्यनेनाऽनन्तरं क्षपकप्रकृतितया गृहीता मतिज्ञानावरणाद्यष्टादशप्रकृतीरपहाय शेषाणां निद्रापञ्चक-कषायद्वादशक-मिथ्यात्व-भय जुगुप्सा वर्णचतुष्क-तैजस-कार्मण-शरीरा-ऽगुरुलघु-निर्माणो-पघातनामलक्षणानामेकोनत्रिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां तथा चतसृणां सुरादीनां

सुरगति-सुरानुपूर्वी वैक्रियशरीर-वैक्रियाङ्गोपाङ्गलक्षणप्रकृतीनामित्येवं सर्वसङ्ख्ययैकोनपञ्चाशत्प्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामी "असण्णी सव्वविसुद्धो" त्ति मार्गणाप्रविष्टाऽसंज्ञिजीवेषु यः 'सर्वविशुद्धः' अत्यन्तविशुद्धः स इत्यर्थः, न पुनः मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टविशुद्ध्यपेक्षया सर्वविशुद्धः, तदपेक्षया तु प्रस्तुतप्रकृतिबन्धकविशुद्धतमसंज्ञिनोऽपि तत्प्रायोग्यविशुद्धत्वात् । ननु तर्हि कथं तत्प्रायोग्यविशुद्धो नोक्तः ? इति चेद् , वक्ष्यमाणोक्तशेषप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वाम्यपेक्षयाऽऽसां स्थिरादिप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनो भिन्ना मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टविशुद्ध्यनपेताश्चेति प्रतिपादयितुमिष्टत्वादिति । शेषाणामाह–"तप्पाउग्ग"त्यादि, उक्तशेषाणां द्विचत्वारिंशतः प्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामी तु तत्प्रायोग्यविशुद्धोऽसञ्ज्ञी, न पुनः सर्वविशुद्धोऽसञ्ज्ञी, सर्वविशुद्धौ सत्यामसातवेदनीय-शोका-ऽरत्यादिशेषप्रकृतीनामेवाऽबन्धात् । शेषप्रकृतयस्तु असातवेदनीयाद्याः सप्तत्रिंशत् प्रथमसंहननाद्याः पञ्च च, ताश्च प्रत्येकं नामतः प्राग्भणितसंग्रहगाथा-(२५४...)ऽनुसारेणावसेया, इति ॥२८९॥

ओघव्व हवेज्ज दुतसवयणेसु खवगपयडीणं ॥२९०॥
णिरयदुगस्स असण्णी पणिंदियो होइ तदरिहविसुद्धो ।
सव्वविसुद्धो सो उण होइ चउण्हं सुराईणं ॥२९१॥
बेइंदियो हवेज्जा सेसधुव-थिराइएगवीसाणं ।
सव्वविसुद्धो णेयो सेसाणं तदरिहविसुद्धो ॥२९२॥

(प्रे०) "ओघव्वे"त्यादि, व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्त्या "दुतसवयणेसु" त्ति अपर्याप्तभेदवर्जयोस्त्रसकायौघ-तत्पर्याप्तभेदलक्षणयोर्द्वयोर्मार्गणास्थानयोर्द्वयोर्वचनयोगसामान्य-व्यवहारवचनयोगलक्षणमार्गणास्थानयोश्चानन्तरगाथावृत्त्युक्ताभिधानानां पञ्चत्रिंशतः क्षपकप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामी ओघवत् "हस्साइ ठिईअ भवे" इत्यादिगाथा (२५९...)द्वयेनोक्तस्वरूपो भवेत् , अनन्तरोक्तमार्गणाद्वयवदत्रापि मार्गणाचतुष्के तादृशक्षपकाणां प्रवेशात् । "णिरये"त्यादि, निरयगति-निरयानुपूर्वीलक्षणस्य प्रकृतिद्वयस्य जघन्यस्थितिबन्धस्वामी तु तत्प्रायोग्यविशुद्धोऽसञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रियो भवति । "सव्व" त्ति चतसृणा देवद्विक-वैक्रियद्विकलक्षणानां सुरादिप्रकृतीनां सर्वविशुद्धः 'सः' असंज्ञिपञ्चेन्द्रियो भवति; अत्रापि सर्वविशुद्धिरनन्तरोक्तनीत्याऽसंज्ञिनां सम्भवत्सर्वाधिकविशुद्धिलक्षणा विज्ञातव्या । "बेइंदियो" त्ति क्षपकप्रकृत्यन्तर्गता मतिज्ञानावरणाद्यष्टादशध्रुवबन्धिनीः परित्यज्य याः शेषा एकोनत्रिंशद्ध्रुवबन्धिन्यस्तासां तथा "थिराइएगवीसाण" ति 'थिर सुहे'त्यादि-(गा० २५६)-सग्रहगाथांशसंगृहीतानां स्थिरादीनामेकविंशतेः प्रकृतीनामित्येव सर्वसंख्यया पञ्चाशत्प्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामी "बेइंदियो" त्ति पर्याप्तद्वीन्द्रियो

भवेत् , स च "**सव्वविसुद्धो णेयो**" त्ति प्रागिव द्वीन्द्रियेषु सम्भवदधिकतमविशुद्ध्युपेतो ज्ञेयः । "**सेसाणं तदरिहविसुद्धो**"त्ति '**बेइंदियो**' इत्यनुवर्तते,तत उक्तशेषाणामायुर्वर्जोऽसातवेदनीयादिप्रकृतीनां तदर्हविशुद्धः पर्याप्तद्वीन्द्रियजीवो भवेत् ।

इदमत्र हृदयम्-सामान्यत एकेन्द्रियजघन्यस्थितिबन्धापेक्षयाऽपि ह्रस्वः स्थितिबन्धः क्षपकाणामनिवृत्तिबादरगुणस्थानसंख्येयबहुभागादूर्ध्वं लभ्यते नवरं तत्र न सर्वाः प्रकृतयो बन्धप्रायोग्याः, किन्तु मतिज्ञानावरणादयो द्वाविंशतिरेव इति तासामेव जघन्यस्थितिबन्धकोऽसौ क्षपकः प्राप्यते, शेषप्रकृतिष्वपि वैक्रियषट्कमाहारकद्विकं जिननाम च नैकेन्द्रियाणां बन्धप्रायोग्यमिति तद्वर्जानां जघन्यस्थितिबन्धकतया एकेन्द्रियाः प्राप्यन्ते, यदि ते विवक्षितमार्गणायां प्रविष्टाः स्युः, तेषामप्रवेशे तु द्वीन्द्रियास्तज्जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनो भवन्ति, तेषामप्यप्रवेशे तु यथासम्भवं विवक्षितमार्गणाप्रविष्टत्रीन्द्रियाद्याः, वैक्रियषट्कस्य तु विकलेन्द्रियाणां बन्ध एव न प्रवर्तते, कुतः ? तेषामनन्तरभवे देवनारकतयाऽनुत्पादाद् , अतस्तासां जघन्यस्थितिबन्धः सामान्यतोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां जायते, तेषामप्रवेशे पुनः क्षपकाणाम् , आहारकद्विक-जिननामलक्षणशेषप्रकृतित्रयस्य तु संज्ञिपञ्चेन्द्रिया एव बन्धकाः, तन्मध्ये च सर्वस्तोकः स्थितिबन्धः क्षपकाणां जायत इति त एव तस्य जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनो भवन्ति, तेषां क्षपकाणां विवक्षितमार्गणायामप्रवेशे तु यथासम्भवं प्रविष्टजीवयोर्मध्येऽप्रमत्त-प्रमत्तादीनाम्, प्रस्तुतमार्गणायां तु क्षपकाणां प्रवेशेन मतिज्ञानावरणादिद्वाविंशतिप्रकृतय आहारकद्विकं जिननाम चेत्येतासां पञ्चविंशतेः क्षपकप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनः क्षपका भणिताः, शेषप्रकृतिषु वैक्रियषट्कवर्जानां प्रकृतीनां ह्रस्वतरस्थितेर्बन्धका यद्यप्येकेन्द्रिया भवन्ति नवरं तेऽत्र मार्गणाचतुष्के न प्रविष्टाः, तदप्रवेशे तु द्वीन्द्रियास्तज्जघन्यस्थितिबन्धस्वामितया प्राप्यन्त इति तथैवोक्ताः, असंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां चेह प्रवेशाद् वैक्रियषट्कजघन्यस्थितिबन्धस्वामितया त्वोघवदसंज्ञिन एव दर्शिताश्चेति । अनया रीत्यैवोत्तरत्र चक्षुर्दर्शनमार्गणायां द्वीन्द्रियाणां स्थाने चतुरिन्द्रियास्तत्तत्प्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामितया वक्ष्यन्त इत्येवमन्यत्राऽप्यभ्यूह्यमिति ॥२९०-२९२॥

बेइंदियो अपज्जगतसे धुवु-च्चाइपंचवीसाणं ।
सव्वविसुद्धो णेयो सेसाणं तदरिहविसुद्धो ॥२९३॥

(प्रे०) '**बेइंदियो**' इत्यादि, अपर्याप्तत्रसकायमार्गणास्थाने सप्तचत्वारिंशतो ध्रुवबन्धिनीनां तथोच्चैर्गोत्रादीनाम् "उच्च-पुम-सायाणि ॥२५५॥ जसे"त्यादीना संगृहीतानां पञ्चविंशतेः प्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामी सर्वविशुद्धोऽपर्याप्तद्वीन्द्रियो जीवो ज्ञेयः । उक्तशेषाणां बन्धप्रायोग्याऽऽयुर्वर्जप्रकृतीनां तु "**तदरिहविसुद्धो**" त्ति गतार्थम् । केवलं शेषप्रकृतयस्तु 'असाया ऽरइ-सोग-अथिर-असुह-अजस थी-णपुमा। सघयणागिइपणगं दुहगतिगं कुखगई णीअ ॥२५४॥ तिरियदुगुज्जो-

आयव-थावर-एगिंदिया य सुहुमतिगं । विगले" त्येतावता संगृहीताः पञ्चत्रिंशदवसातव्याः । उपपत्तिस्तु यथासम्भवं पूर्ववद् द्रष्टव्येति ॥ २९३ ॥

पणमण-तिवयेसु चरमबंधे खवगो धुवेगतीसाए ।
आहारदुगस्स तहा पणवीसाए जिणाईणं ॥२९४॥
छण्ह असायाईणं तदरिहसुद्धो भवे पमत्तजई ।
संजमहुत्तो मिच्छो अडमिच्छाईण सुविसुद्धो ॥२९५॥
दुइआण कसायाणं सम्मत्ती होइ संजमाहिमुहो ।
तइअकसायाण भवे देसजई संजमाहिमुहो ॥२९६॥
णीआईण चउण्हं तमतमगो सम्मसंमुहो मिच्छो ।
पणवइराईण भवे सुविसुद्धो दुगइओ सम्मो ॥२९७॥
तप्पाउग्गविसुद्धो मिच्छो सेसाण णवरि दुगइट्ठो ।
अडसुहुमाईण भवे तिआयवाईण तिगइट्ठो ॥२९८॥

(प्रे०) "**पणमणे**" त्यादि, पञ्चसु मनोयोगमार्गणास्थानेषु तथा "**तिवयेसु**" त्ति वचनयोगसामान्य-व्यवहारवचनयोगयोरभिहितत्वात्तद्वर्जेषु सत्यवचना-ऽसत्यवचन-सत्यासत्यवचनयोग-लक्षणेसु त्रिपु वचनयोगमार्गणास्थानेषु '**धुवेगतीसाए**' त्ति अनन्तरं वक्ष्यमाणा मिथ्यात्वादि-षोडशप्रकृतीर्विहाय शेषाणामावरणनवक-निद्राद्विक-संज्वलनचतुष्क-भय-जुगुप्सा-वर्णचतुष्क-तैजस-कार्मणा-ऽगुरुलघु-निर्माणो पघातनामा-ऽन्तरायपञ्चकलक्षणानामेकत्रिंशत्प्रकृतीनाम् । "**आहार-दुगस्स तहा पणवीसाए जिणाईणं**" ति तथाऽऽहारकशरीर-तदङ्गोपाङ्गलक्षणस्य प्रकृति-द्वयस्य तथा जिनादीनाम् "जिण-सुर-विउवदुगे" त्यादिना संगृहीतानां सातवेदनीय-हास्य रति-पुंवेद देवद्विक वैक्रियद्विक पञ्चेन्द्रियजाति-समचतुरस्रसंस्थान-प्रशस्तविहायोगति-पराघातो-च्छ्वास-जिननाम-त्रसदशको च्चैर्गोत्रलक्षणानां पञ्चविंशतेः प्रकृतीनामित्येवं सर्वसंख्ययाष्टपञ्चाशत्प्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामी "**चरमबंधे खवगो**" त्ति अपूर्वकरणगुणस्थानादौ यस्तत्त-प्रकृतीनां बन्ध-विच्छेदादर्वाग्भावी चरमः स्थितिबन्धस्तस्मिन् चरमस्थितिबन्धे वर्तमानः क्षपको भवति । "**छण्हे**"-त्यादि, 'असाया-ऽरइ-सोग-अथिर-असुह-अजसे' त्येतावता संगृहीतानामसातवेदनीयादीनां षण्णां प्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामी तत्प्रायोग्यविशुद्धः "**पमत्तजई**" त्ति प्रमत्तगुणस्थानकवर्ती संयतो भवति । "**संजमहुत्तो**" इत्यादि, अष्टानां मिथ्यात्वादीनाम् "मिच्छ" मित्यादिना (गा० २५६...) संगृहीतानां मिथ्यात्वमोहनीय स्त्यानर्द्धित्रिका-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्कलक्षणानां प्रकृतीनां "**संजम-**

हुत्तो''त्ति संयमाभिमुखः सर्वविशुद्धो मिथ्यादृष्टिर्जीवो भवति । ''**दुइआणे**'' त्यादि, द्वितीयानामप्रत्याख्यानावरणक्रोधादीनां चतुर्णां कषायाणां ''**सम्मत्तो होइ संजमाभिमुहो**'' त्ति अनन्तरगाथोक्तं ''**सुविसुद्धो**'' इति पदमिहापि संबध्यते ततो यः सुविशुद्धः संयमाभिमुखोऽविरतसम्यग्दृष्टिर्जीवः स भवति । ''**तइअ**'' इत्यादि, तृतीयानां प्रत्याख्यानावरणक्रोधादीनां चतुर्णां कषायाणां जघन्यस्थितिबन्धस्वामी संयमाभिमुखः ''**देसजई**'' त्ति देशसंयतो मनुष्यो भवेत् । ''**णीआईणे**''त्यादि, नीचादीनां नीचैर्गोत्र-तिर्यग्द्विको-द्योतनामलक्षणानां चतसृणां प्रकृतीनाम् ''**तमतमगो सम्मसंमुहो मिच्छो**'' त्ति पूर्ववत् सुविशुद्धः सम्यक्त्वाभिमुखो यस्तमस्तमाभिधसप्तमपृथिव्यामुत्पन्नो मिथ्यादृष्टिर्नैरयिकजीवः स भवति ।

ननु यथोक्तसम्यक्त्वाभिमुखनारकजीवापेक्षया संयमाभिमुखो मनुष्य एव विशुद्धतमः, विशुद्ध्याधिक्ये च स्तोकस्थितिबन्धस्तत् कथं यथोक्तनारकजीवो जघन्यस्थितिबन्धस्वामितयोच्यते ? **इति चेत्**, सप्तमपृथिव्युद्भवानां मिथ्यादृष्टिनारकाणां सर्वविशुद्धावपि तिर्यग्गतिप्रायोग्यप्रकृतीनामेव बन्धभावात् , प्रस्तुतप्रकृतीनां तास्वन्तर्गतत्वाच्च । न चैवं देशसंयमाभिमुखानां तिर्यग्मनुष्याणां संयमाभिमुखानां मनुष्याणां वा भवति, तेषां मिथ्यात्वगुणस्थानके तिर्यग्गतिवन्मनुष्यदेवगत्योरपि बन्धप्रायोग्यत्वात्, सर्वविशुद्धौ च तेषां देवगतिप्रायोग्यप्रकृतीनां बन्धभावेन प्रस्तुतानां तिर्यग्गतिप्रायोग्याणां नीचैर्गोत्रादीनां प्रकृतीनामेवाबन्धात् , अत एव नारकेष्वपि प्रथमादिषष्ठपृथिव्यन्तोद्भवान् नारकान् विहाय सप्तमपृथिव्युद्भवस्य ग्रहणमिति विज्ञेयमिति ।

''**पणवइराईणे**'' त्यादि, ''वइरुरालमणुसदुग''मित्येतावता (गा०२५३) संगृहीतानां वज्रर्षभनाराचसंहननौ-दारिकद्विक मनुष्यद्विकलक्षणानां पञ्चानां प्रकृतीनां ''**सुविसुद्धो दुगईओ सम्मो**'' त्ति सुविशुद्धः सम्यग्दृष्टिः '**द्विगतिकः**' देवो नारको वा जघन्यस्थितिबन्धस्वामी ज्ञेयः, न पुनस्तिर्यङ् मनुष्यो वा, कुतः ? सम्यग्दृक्तिर्यग्मनुष्याणां प्रस्तुतप्रकृतिपञ्चकस्यैव बन्धाभावादिति ।

उत्कृशेषाणामायुर्वर्जानामाह–''**तप्पाउग्गे**''त्यादि, शेषाणां सप्तविंशतिप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामी पुनस्तत्प्रायोग्यविशुद्धो मिथ्यादृष्टिर्जीवः, '**णवरि**' त्ति केवलम् ''**अडसुहुमाईण**'' त्ति अष्टानां सूक्ष्मनामादीनाम् 'सुहुमतिगं। विगल-णिरयदुगे'त्यनेन (गा०२५५) संगृहीतानां '**द्विगतिकः**' तिर्यङ् मनुष्यो वा भवेत् , देवनारकैस्तासामबन्धाद् , एवं '**तिआयवाईण तिगइट्ठो**' त्ति तिसृणामातपादीनाम् 'आयव थावर-एगिंदिया' इत्यनेन (गा०२५५) संगृहीतानां '**त्रिगतिस्थः**'–नारकाणां प्रस्तुतप्रकृतित्रयस्य बन्धस्वामित्वाभावात् तिर्यङ्-मनुष्य-देवानामन्यतम इति भावः ।।२९४-२९८।। अथ काययोगौघादिदशमार्गणास्वाह–

कायो-राल-णपुम-चउकसाय-अणयण-भवेसु आहारे ।
ओघव्व हवेज्ज णवरि जिणस्स उवसामगो णपुमे ॥२९९॥
साया-ऽऽवरणणवग-जस-विग्घु-च्चाण णपुमे कसायतिगे ।
पण-चउ-ति-दु-संजलणपुमाण-ऽणियट्टिचरमे खवगो ॥३००॥

(प्रे०) "कायोराले"त्यादि, काययोगसामान्ये औदारिककाययोगे नपुंसकवेदे क्रोधादिषु चतुर्षु कषायेसु "अणयण" त्ति अचक्षुर्दर्शनमार्गणायाम्, भव्ये तथाऽऽहारकमार्गणायामित्येवं सर्वसंख्यया दशमार्गणासु प्रत्येकं "ओघव्व" त्ति प्रस्तुतत्वाद् बन्धप्रायोग्याणामायुर्वर्जानां षोडशोत्तरशतप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वाम्योघवत् 'ह्रस्साअ ठिईअ भवे' इत्यादि-(२५९-२६६)गाथाऽष्टकेनोक्तस्वरूपो भवेद् । इत्थमतिदिष्टे याऽतिप्रसक्तिस्तामुद्दिधीषुराह-"णवरि" इत्यादि, 'नवरं'-केवलं 'णपुमे' त्ति नपुंसकवेदमार्गणायां जिननाम्नो जघन्यस्थितिबन्धस्वामी "उवसामगो" त्ति उपशमश्रेणिं समारोहन् जिननाम्नो बन्धविच्छेदादर्वाग्भाविनि चरमस्थितिबन्धे वर्तमान उपशामको विज्ञेयः, न त्वोघवत् तादृशः क्षपको जिननाम्नो बन्धकानां क्षपकाणां तद्भवभावितीर्थकरत्वेन प्रस्तुतमार्गणायामप्रवेशात् । तथा "सायावरणे"त्यादि, नपुंसकवेदमार्गणास्थाने लोभवर्जक्रोधादिकषायत्रिके च सातवेदनीय-ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्कलक्षणाऽऽवरणनवक-यशःकीर्ति-विघ्नपञ्चको-च्चैर्गोत्राणां सप्तदशप्रकृतीनां तथा "पण-चउ-ति-दु" इत्यादि, नपुंसकवेद-क्रोधादिमार्गणास्वेव यथासंख्यं पञ्चादीनां "संजलणपुमाण" त्ति यथायथं क्रोधसंज्वलनादीनामेकैकप्रकृत्या हीनानां संज्वलनद्वयान्तानाम्, अयम्भावः–नपुंसकवेदे संज्वलनचतुष्टय-पुंवेदलक्षणानां पञ्चानां, क्रोधमार्गणायां पुंवेदलक्षणैकप्रकृत्या हीनानां चतसृणां संज्वलनप्रकृतीनां; मानमार्गणायां पुनरप्येकेन संज्वलनक्रोधेन हीनानां त्रयाणां संज्वलनानां, एवं मायायां क्रोधमानवर्जयोर्द्वयोः संज्वलनयोरिति । तासां किमित्याह–"ऽणियट्टि" इत्यादि, अनिवृत्तिगुणस्थानके नपुंसकवेदादितत्तन्मार्गणाभावी मतिज्ञानावरणादितत्तत्प्रकृतीनां यश्चरमः स्थितिबन्धस्तस्मिन् चरमस्थितिबन्धे वर्तमानः क्षपको जघन्यस्थितिबन्धस्वामी भवति, न पुनरोघवत्सूक्ष्मसम्परायचरमसमयादिषु, तत्र वर्तमानस्य प्रस्तुतमार्गणाबहिस्त्वादिति ॥२९९-३००॥

तिरियव्व हवेज्ज उरलमीसे कम्मे तहा अणाहारे ।
णवरं सव्वविसुद्धो सम्मत्ती पणजिणाईणं ॥३०१॥
तत्थवि तिरियो मणुयो वा णेयो सुरविउव्वियदुगाणं ।
तित्थस्स उरलमीसे भवे णरो दोसु तिगइट्ठो ॥३०२॥

(प्रे०) "तिरियव्वे"त्यादि, औदारिकमिश्रकाययोगे कार्मणकाययोगे तथाऽनाहारके बन्धप्रायोग्याणामायुर्वर्जप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामी 'तिरियव्व हवेज्ज' त्ति तिर्यग्गत्योघमार्गणावत् "तिरियदुमणाण" इत्यादिगाथा(२७३-२७४-२७५)त्रयोक्तस्वरूपो ज्ञातव्यः; अत्रैव तिर्यग्गतिमार्गणापेक्षया यो विशेषस्तमाह–"णवर"मित्यादिसार्धगाथया, इत्थमपोदिते मार्गणात्रयेऽपि पञ्चज्ञानावरण-नवदर्शनावरण–सातवेदनीय–मिथ्यात्व-कषायषोडशक-हास्य-रति–भय जुगुप्सा-पुंवेदौदारिकद्विक-तैजस-कार्मणशरीर-पञ्चेन्द्रियजाति-प्रथमसंहनन प्रथमसंस्थान-वर्णादिचतुष्क-प्रशस्तविहायोगत्य-गुरुलघु-निर्माणो- पघात-पराघातो-च्छ्वास-त्रसदशका ऽन्तरायपञ्चकलक्षणानामेकोनसप्ततिप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामी पृथिव्यादीनां वनस्पतिकायान्तानामन्यतमः सर्वविशुद्धो बादरैकेन्द्रियो भवति, असातवेदनीय-शोका-ऽरति-स्त्रीवेद-नपुंसकवेद-जातिचतुष्क-प्रथमवर्जसंहननपञ्चकप्रथमवर्जसंस्थानपञ्चका-ऽप्रशस्तविहायोगत्या ऽऽतप- स्थावरदशकलक्षणानामेकत्रिंशत्प्रकृतीनां तादृशः पृथिव्यादीनामन्यतमः, नवरं तत्प्रायोग्यविशुद्धो बादरैकेन्द्रियो जघन्यस्थितिबन्धस्वामी भवति, तिर्यग्द्विको-द्योत नीचैर्गोत्रलक्षणानां चतसृणां तु बादरतेजस्काय-वायुकायानामन्यतमः सर्वविशुद्ध एव, न तु बादरपृथिव्यादित्रयाणामन्यतमोऽपि । मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोस्तु सर्वविशुद्धो बादरपृथिव्यादित्रयाणामन्यतम एव । देवद्विक-वैक्रियद्विकलक्षणानां चतसृणां प्रकृतीनां तु जघन्यस्थितिबन्धस्वामी सर्वविशुद्धः सम्यग्दृष्टिस्तिर्यङ् मनुष्यो वा भवति । जिननाम्नस्तु औदारिकमिश्रकाययोगे सर्वविशुद्धः सम्यग्दृष्टिर्मनुष्यो भवति, कार्मणकाययोगाऽनाहारकमार्गणयोः पुनस्तादृशः सुविशुद्धस्त्रिगतिकः, नारक-मनुष्य-देवानामन्यतमो भवतीति भावः ॥३०१ ३०२॥

वेउव्वदुगे णेयो गुणयालीसधुवबंधि-तित्थाणं ।
पणवीसुच्चाईण य सम्मादिट्ठी विसुद्धयमो ॥३०३॥
सम्माहिमुहो मिच्छो णेयो मिच्छाइगाण अट्ठण्हं ।
छण्ह असायाईणं सम्मत्ती तदरिहविसुद्धो ॥३०४॥
तप्पाउग्गविसुद्धो मिच्छो थीआइसोलसण्ह भवे ।
सम्माहिमुहो मिच्छो चउणीआईण तमतमगो ॥३०५॥
तदरिहसुद्धो मिच्छो ईसाणंतो तिआयवाईणं ।
णवरऽत्थि बारसण्ह ण सम्माभिमुहो विउवमीसे ॥३०६॥

(प्रे०) "वेउव्वदुगे" इत्यादि, वैक्रिय-तन्मिश्रकाययोगलक्षणे वैक्रियद्विके "गुणयालीसधुवबंधि" त्ति 'मिच्छाइगाण अट्ठण्ह' इत्यनेन मिथ्यात्वादीनां मिथ्यात्व-स्त्यानद्धित्रिका ऽनन्ता-

नुबन्धिचतुष्कलक्षणानामष्टानां प्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनामनन्तरं वक्ष्यमाणतया ता अष्टौ प्रकृतीर्वियुज्य शेषाणामेकोनचत्वारिंशतो ध्रुवबन्धिनीनां तीर्थकरनाम्नस्तथा "**पणवीसुचाईण य**" त्ति 'उच्च-पुम-सायाणि ॥२५५॥ जस थिर-सुह-द्दस्स रई सुहागिइ-खगइ-पणिंदि-परघाया । ऊसास-सुहग-तिग-तसचउग-वइरु-रालमणुसदुग' ॥२५६॥ इत्यनेन संगृहीतानामुच्चैर्गोत्रादीनां पञ्चविंशतेः प्रकृतीनां च जघन्यस्थितिबन्धस्वामी मार्गणाप्रविष्टजीवेषु यो विशुद्धतमः सम्यग्दृष्टिर्जीवः स ज्ञेयः । **सम्माहिमुहो**" इत्यादि; मिथ्यात्वस्त्यानर्द्धित्रिकाऽनन्तानुबन्धिचतुष्कलक्षणानामष्टानां मिथ्यात्वादिकप्रकृतीनां सम्यक्त्वाभिमुखः सुविशुद्धो मिथ्यादृष्टिर्जीवो ज्ञेयः । "**छण्हे**"त्यादि, असातादीनाम् 'असाया-ऽरइ-सोग-अथिर-असुह-अजसे' त्येतावता (गा-२५४) संगृहीतानां षण्णां प्रकृतीनां तत्प्रायोग्यविशुद्धः सम्यग्दृष्टिर्जीवो भवति । "**तप्पाउग्गविसुद्धो**" त्ति "थी-णपुमा । संघयणाऽऽगिइपणग दुहगतिगं कुखगइ" इत्येतावता (गा०२५४)संगृहीतानां षोडशप्रकृतीनां तत्प्रायोग्यविशुद्धो मिथ्यादृष्टिर्जीवो भवेत् , "**सम्माभिमुहो**" इति सम्यक्त्वाभिमुखो यः सर्वविशुद्धस्तमस्तमापृथिवीसमुद्भूतो मिथ्यादृष्टिर्नारकः स नीचैर्गोत्र-तिर्यग्द्विको द्योतनाम्नां चतसृणां प्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामी भवति, स चानन्तरोक्तमनोयोगादिमार्गणावद्भावनीयः । तत्प्रायोग्यविशुद्धो भवनपत्यादीशानान्तसमुद्भूतो मिथ्यादृष्टिर्देवस्तिसृणामातपादीनामातप स्थावरै-केन्द्रियलक्षणानां प्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामी भवति ।

अथ वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायामभिनवसम्यक्त्वप्राप्त्यधीनस्य सम्यक्त्वाभिमुखत्वस्याऽसम्भवात् तत्र तावदंशमपवदन्नाह-' **णवरऽत्थि**" इत्यादि, सुगमम् , केवलं "**बारसण्ह**" त्ति मार्गणाद्वयसाधारणवक्तव्यतायां यासामष्टानां मिथ्यात्वादीनां प्रकृतीनां तथा चतसृणां नीचैर्गोत्रादीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामी सम्यक्त्वाभिमुखो मिथ्यादृष्टिर्जीवोऽभिहितस्तासां मिथ्यात्वादिद्वादशप्रकृतीनामिति । ननु तर्हि एतासां मिथ्यात्वादिद्वादशप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामी कीदृशो भवति ? इति चेद् , स्वस्थानविशुद्धमिथ्यादृष्टिर्जीव इति ॥३०३ ३०६॥

थीपुरिसेसु खवगो अंतिमबंधम्मि खवगपयडीणं ।
सेसाणं पयडीणं पणिंदितिरियव्व बोद्धव्वो ॥३०७॥
णवरं णेयो थीए माणुस्सिव्व जिणनामकम्मस्स ।

(प्रे०) ' **थीपुरिसेसु**" इत्यादि, स्त्रीवेद-पुरुषवेदमार्गणयोः ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणचतुष्क सातवेदनीय सज्वलनचतुष्क-पुरुषवेदा-ऽऽहारकद्विक-जिननाम-यशःकीर्त्युच्चैर्गोत्रा-ऽन्तरायपञ्चकलक्षणानां पञ्चविंशतेः क्षपकप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामी "**खवगो अंतिमबंधम्मि**" त्ति 'क्षपकः' क्षपकश्रेणिं समारूढस्तत्तज्ज्ञानावरणादिप्रकृतीनां प्रस्तुतमार्गणाभावी यः

'अंतिमः'-चरमः 'बन्धः'-स्थितिबन्धस्तत्र चरमे स्थितिबन्धे वर्तमानस्त्रैलोक्यमहनीयो महात्मा भवेत्। तत्राहारकद्विकजिननाम्नोः सर्वथा ओघवत्, शेषाणां द्वाविंशतेस्तु तत्तन्मार्गणाविच्छेदाद्-र्वाग्भाविनि चरमस्थितिबन्धे वर्तमानः क्षपको ज्ञेयः । शेषप्रकृतीनामाह-'सेसाण'मित्यादि, उक्तशेषाणामायुर्वर्जबन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां पञ्चेन्द्रियतिर्यग्गतिमार्गणावत् "चउवीससुराईण तहा धुवाण तिपणिंदितिरियेसु । सव्वविसुद्धो अमणो सेसाण तदरिहविसुद्धो ॥२७६॥" इत्यनेनोक्तस्वरूपोऽवगन्तव्यः । अथ स्त्रीवेदमार्गणायामपवादपदमाह-"णवरं णेयो" इत्यादि, नवरं "थीए" इति स्त्रीवेदमार्गणायां जिननाम्नो मानुषीमार्गणावत् "मणुसीए तित्थस्स उ मल्लिकुमारिव्व खवगो वा ॥२८०॥" इत्यनेन प्रतिपादितस्वरूपोऽवगन्तव्य इति ॥२०७॥

गयवेए सुहमम्मि य सप्पाउग्गाण ओघव्व ॥३०८॥

(प्रे०) "गयवेए" इत्यादि, सुगमम्, केवलं 'सप्पाउग्गाण" त्ति गतवेदादितत्तन्मार्गणायां स्वस्यां स्वस्यां बन्धप्रायोग्याणां प्रकृतीनामित्यर्थः, ताश्च प्रकृतयो गतवेदमार्गणायां ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणचतुष्क सातवेदनीय-संज्वलनचतुष्क- यशःकीर्त्युच्चैर्गोत्रा-ऽन्तरायपञ्चकलक्षणा एकविंशतिः, सूक्ष्मसम्परायमार्गणाया तु ता एकविंशतिः संज्वलनचतुष्कवर्जाः सप्तदशेति ॥३०८॥

चउणाण-संजमेसुं समइअ-छेओ-हि-सम्म-खइएसुं ।
मणजोगव्व हवेज्जा सप्पाउग्गाण पयडीणं॥३०९॥
णवरं आवरणणवग-साय-जसु-च्च-पणअंतरायाणं ।
समइअछेएसु चरमबंधे खवगोऽणियट्टीए ॥३१०॥

(प्रे०) "चउणाणे"त्यादि, केवलज्ञानमार्गणायामधिकृतस्य काषायिकस्थितिबन्धस्यैवाऽसत्त्वात्तां विहाय शेषासु मतिज्ञानादिभेदभिन्नासु चतसृषु ज्ञानमार्गणासु, संयमौघमार्गणायां, सामायिकसंयम-छेदोपस्थापनसंयमा-ऽवधिदर्शन-सम्यक्त्वौघ क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणासु च प्रत्येकं "सप्पाउग्गाण" त्ति स्वस्यां मतिज्ञानादितत्तन्मार्गणायां बन्धप्रायोग्याणाम्, प्रस्तुतत्वादायुर्वर्जानामिति गम्यम् । तासां किम्? "मणजोगव्व हवेज्जा" त्ति जघन्यस्थितिबन्धस्वामी मनोयोगवत् 'पणमणतिवयेसु चरमबंधे खवगो धुवेगतीसाए । आहारदुगस्स तहा पणवीसाए जिणाईण ॥२९४॥ छण्ह असायाईण तदरिहसुद्धो भवे पमत्तजई ।' इत्यादिग्रन्थेन भणितस्वरूपो विज्ञातव्यः । अत्रैव मनोयोगमार्गणावत्सामायिक-छेदोपस्थापनसंयममार्गणयोः सूक्ष्मसम्परायसंयतानामप्रवेशाद् या अतिप्रसक्तिस्तामुद्धरन्नाह-"णवर"मित्यादि, सुगमम् । तत ऊर्ध्वं मतिज्ञानावरणादिप्रकृतीना जायमानस्यापि स्तोक-स्तोकतरादिस्थितिबन्धस्य प्रस्तुतमार्गणाद्वयबहिर्भावादिति भावः ।

ननु भवत्वेवं यज्जिननाम्नोर्जघन्यस्थितेर्बन्धका मनःपर्यवज्ञानमार्गणावत् क्षपका इति छेदो-

पस्थापनवर्जमार्गणासु, छेदोपस्थापनमार्गणायां पुनस्तत्कथं संगतिमञ्चेत् ? इति चेत्, सत्यम्- "अन्ने संजमो" इति सव्वे तित्थगरा सामाइअसंजमे पव्वइता" इत्यावश्यकचूर्णिसंगृहीतेन तत्र तत्र गम्यमानाऽभिप्रायेण सर्वेषां तीर्थकृतां चरमभवे सामायिकसंयमस्यैव सद्भावप्रतिपादनेन तथाविधाभिप्रायेण क्षपकश्रेणिं समारूढानां छेदोपस्थापनसंयममार्गणायामप्रवेशेऽपि "संजमो पढमाण दुविगप्पो। सेसाण सामाइतो" इत्यावश्यकनिर्युक्तितद्वृत्त्यभिप्रायेणाद्यान्तिमतीर्थकृतोः छेदोपस्थापनसंयमस्याऽपि संमतत्वात्तथाभिप्रायेण छेदोपस्थापनसंयममार्गणायां क्षपकश्रेणिं समारूढानां सद्भावाऽविरोधेन तत्राऽपि जिननामजघन्यस्थितेर्बन्धकाः क्षपका इति सुसङ्गतेरिति ॥३०९-३१०॥

संजमहुत्तो मणुसो विब्भंगे बंधगो विसुद्धयमो ।
सगचत्तधुवाण तहा चउवीसाए सुराईणं ॥३११॥
णीआईण चउण्हं सम्माहिमुहोऽत्थि तमतमो मिच्छो ।
तारिच्छो दुगइट्ठो णेयो पंचवइराईणं ॥३१२॥
तप्पाउग्गविसुद्धो मिच्छो सेसाण णवरि दुगइट्ठो ।
अडसुहुमाईण भवे तिआयवाईण तिगइट्ठो ॥३१३॥

(प्रे०) "**संजमहुत्तो**" इत्यादि, विभङ्गज्ञानमार्गणायां विशुद्धतमः संयमाभिमुखो मनुष्यः "**बंधगो**" इति जघन्यस्थितेर्बन्धको भवति, कासामित्याह-"**सगचत्ते**"त्यादि, सप्तचत्वारिंशतो मतिज्ञानावरणादिध्रुवबन्धिनीनां तथा "सुरविउव्वदुगुच्चे"त्यादिना (गा०२५५) संगृहीतानां चतुर्विंशतेः 'सुरादीनां' सुरद्विकादिप्रकृतीनामिति । "**णीआईणे**"त्यादि, नीचैर्गोत्रादीनां नीचैर्गोत्र-तिर्यग्द्विको-द्योतनामलक्षणानां चतसृणां प्रकृतीनां तमस्तमाभिधसप्तमनिरयपृथिव्यां समुद्भूतः सम्यक्त्वाभिमुखो मिथ्यादृष्टिर्जीवो भवति । "**तारिच्छो**" इति तादृशः सम्यक्त्वाभिमुखो मिथ्यादृष्टिर्जीवो नवरं "**दुगइट्ठो**" त्ति 'द्विगतिस्थः' देवो नारको वेत्यर्थः, जघन्यस्थितिबन्धको ज्ञातव्यः, कासां प्रकृतीनामित्याह-"**पंचवइराईण**"मिति 'वइरुरालमणुसदुग' मित्येतावता (गा०२५६) संगृहीतानां वज्रर्षभनाराचसंहननादीनां पञ्चप्रकृतीनामित्यर्थः । शेषाणामाह-"**तप्पाउग्गे**'त्यादि; तत्प्रायोग्यविशुद्धो मिथ्यादृष्टिः, न तु सम्यक्त्वाभिमुखः सुविशुद्धो मिथ्यादृष्टिः, शेषाणामायुर्वर्जप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामी भवेत्, केवलम् "**दुगइट्ठो अडसुहुमाईण**" त्ति सूक्ष्मत्रिक-विकलत्रिक-निरयद्विकलक्षणानामष्टानां प्रकृतीनां द्विगतिस्थः, निरयदेवानां प्रस्तुतप्रकृतिबन्धस्वामित्वाभावात् तिर्यङ् मनुष्यो वेत्यर्थः, "**तिआयवाईण तिगइट्ठो**" त्ति तिसृणामातप-स्थावरै-केन्द्रियनाम्नां निरयवर्जो मनुष्यादीनामन्यतम इत्यर्थः ॥३११-३१३॥

परिहारम्मि पमत्तो छअसायाईण तदरिहविसुद्धो ।
सेसाण विसुद्धयमो अपमत्तो अहव भावि कयकरणो ॥३१४॥ (गीतिः)

(प्रे०) "**परिहारम्मि**" इत्यादि, परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणायां षण्णामसातादीनाम् 'असाया ऽरइ-सोग-अथिर-असुह-अजसे' त्यनेन (गा०२५४) संगृहीतानां जघन्यस्थितिबन्धस्वामी तत्प्रायोग्यविशुद्धः '**प्रमत्तः**' प्रमत्तगुणस्थानवर्तिसंयतो भवति "**सेसाण**" त्ति उक्तशेषाणामायुर्वर्जानां मतिज्ञानावरणादीनामष्टपञ्चाशतो बन्धप्रायोग्यप्रकृतीनाम् "**विसुद्धयमो अपमत्तो**" त्ति विशुद्धतमोऽप्रमत्तगुणस्थानवर्ती संयतो भवति । "**अहव**" त्ति अथवा **मूलप्रकृतिस्थितिबन्धविधानग्रन्थे** प्राग् दर्शितमतान्तरविशेषमधिकृत्य "**भाविकयकरणो**" त्ति '**अपमत्तो**' इत्यत्राप्यनुवर्तते ततस्तादृशोऽप्रमत्तो नवरं '**भाविकृतकरणः**' योऽनन्तरस्थितिबन्धे कृतकरणो भविष्यति तादृशो विशुद्धतमो दर्शनमोहक्षपको भवति, न तु तदन्यः सुविशुद्धोऽप्यप्रमत्तसयतः, तदपेक्षया कृतकरणाद्धाया अर्वाग्भाविनि चरमस्थितिबन्धे वर्तमानस्य विशुद्धतरत्वेन स्तोकस्थितिबन्धभावादिति भावः । इदं हि मतद्वयाभिप्रेतं प्रस्तुतस्वामित्वं **मूलप्रकृतिस्थितिबन्धविधानद्वितीयाधिकार**स्वामित्वद्वारवृत्तितो विलोकनीयं विशेषजिज्ञासुना, नात्र प्रपञ्च्यते, तत्राऽस्माभिर्विस्तरतः प्रपञ्चितत्वादिति ॥३१४॥

छण्ह असायाईणं देसम्मि हवेज्ज तदरिहविसुद्धो ।
सेसाणं सट्ठीए पयडीणं संजमाहिमुहो ॥३१५॥

(प्रे०) "छण्हे"त्यादि, देशसंयममार्गणायां षण्णामसातादीनाम् असातवेदनीया-ऽरति-शोका-ऽस्थिरा-ऽशुभा-ऽयशःकीर्तिनाम्नां जघन्यस्थितिबन्धस्वामी तत्प्रायोग्यविशुद्धस्तिर्यङ् वा मनुष्यो वा भवेत्, शेषाणामायुर्वर्जानां नवाऽऽवरण निद्राद्विक-सातवेदनीय-प्रत्याख्यानावरणचतुष्क-संज्वलनचतुष्क-हास्य-रति-भय जुगुप्सा-पुंवेदमोहनीय-देवद्विक पञ्चेन्द्रियजाति--वैक्रियद्विक--तैजस--कार्मणशरीर--समचतुरस्रसंस्थान--वर्णादिचतुष्क प्रशस्तविहायोगति -पराघातो-च्छ्वासा-ऽगुरुलघु-निर्माणो पघात-जिननाम-त्रसदशको-च्चैर्गोत्रा-ऽन्तरायपञ्चकलक्षणानां षष्ट्याः प्रकृतीनां संयमाभिमुखो मनुष्यो भवेदिति ॥३१५॥

सप्पाउग्गाणं खलु पज्जत्ततसव्व होइ चक्खुम्मि ।
णवरं बिंदियठाणे णेयो चउइंदियो सामी ॥३१६॥

(प्रे०) "**सप्पाउग्गाणं**" इत्यादि, स्वस्यां बन्धप्रायोग्याणामायुर्वर्जप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामी खलु "**पज्जत्ततसव्व होइ**" त्ति पर्याप्तत्रसकायमार्गणाभेदवत् 'ओघव्व हवेज्ज दुतसवयणेसु' खवगपयडीण ॥२९०॥ णिरयदुगस्स असण्णी पणिंदियो होइ तदरिहविसुद्धो । सव्व-

विशुद्धो सो उण होइ चउण्ह सुराईणं ॥२६१॥ वेइंदियो इवेज्जा सेसधुवथिराइएगवीसाण । सव्वविसुद्धो णेयो सेसाण तदरिहविसुद्धो ॥२६२॥' इति सार्धद्वयगाथोक्तस्वरूपो भवति **'नवरं'** केवलम् **'विंदियट्ठाणे'** इत्यादि, 'वेइदियो इवेज्जा" इत्यादिगाथया तत्र पर्याप्तत्रसकायमार्गणायां शेषैकोनत्रिंशद्ध्रुवबन्धिनीनां तथा स्थिराद्येकविंशतिप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामी सर्वविशुद्धो द्वीन्द्रियोऽभिहितस्तत्र द्वीन्द्रियस्थाने प्रस्तुतमार्गणायां सर्वविशुद्धश्चतुरिन्द्रियः स्वामितया विज्ञेयस्तथैवाऽसातवेदनीयादिशेषप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वाम्यपि तत्प्रायोग्यविशुद्धश्चतुरिन्द्रियो ज्ञेयः, द्वित्रीन्द्रियाणामत्र मार्गणायामप्रवेशादिति भावः) अत्र भावनाऽपि पर्याप्तत्रसमार्गणावत्कर्तव्येति॥३१६॥

तेउ-पउमासु तेसिं परिहारविसुद्धिसंजमव्व भवे ।
जेसिं अडवण्णाए कयकरणो वि हवए सामी ॥३१७॥
संजमहुत्तो मिच्छो अडमिच्छाईण होइ सम्मत्ती ।
दुइअकसायाण तहा तइअकसायाण देसजई ॥३१८॥
छण्ह असायाईणं तदरिहसुद्धो भवे पमत्तजई ।
सव्वविसुद्धो सम्मो देवो पंचवइराईणं ॥३१९॥
तप्पाउग्गविसुद्धो मिच्छादिट्ठी सुरोऽत्थि सेसाणं ।
णवरि भवे तेऊए तिगइट्ठो इत्थिवेअस्स ॥३२०॥

(प्रे०) **"तेउ-पउमासु"** इत्यादि, तेजोलेश्या-पद्मलेश्यामार्गणयोस्तासां प्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामी परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणावद्भवेत्, कासां तासामित्याह-**"जेसि"**-मित्यादि, यासामसातवेदनीयादिप्रकृतिषट्कवर्जानां मतिज्ञानावरणादीनामष्टपञ्चाशत्प्रकृतीनां परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणायाम् 'सेसाण विसुद्धयमो अपमत्तो अहव भाविकयकरणो ॥३१४॥' इत्यनेन कृतकरणावस्थाया अर्वाग्भाविस्थितिबन्धे वर्तमानोऽप्रमत्तसंयतः, मतान्तरेण विशुद्धतमोऽप्रमत्तसंयतश्च जघन्यस्थितिबन्धस्वामितया प्रतिपादितस्तासामष्टपञ्चाशत्प्रकृतीनामित्यपिशब्दार्थः । **अयम्भावः**-मूलप्रकृतिजघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वभणनावसरे प्राक् प्रस्तुतमार्गणाद्वय आयुर्वर्जसप्तप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामी सुविशुद्धोऽप्रमत्तसंयतस्तथाविधः कृतकरणश्च मतभेदेनाभिहितस्तद्वृत्तौ भावितश्च, तदपेक्षयाऽत्रोत्तरप्रकृतिजघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वचिन्तायामप्यावरणनवक-निद्राद्विक-सातवेदनीय-संज्वलनचतुष्क-हास्य- रति-भय-जुगुप्सा--पुंवेदमोहनीय- देवद्विक पञ्चेन्द्रियजाति-वैक्रियद्विका-ऽऽहारकद्विकतैजस-कार्मणशरीर-समचतुरस्रसंस्थान वर्णादिचतुष्क-सुखगति-पराघातो-च्छ्वासा-ऽगुरुलघु-निर्माणोपघात-जिननाम-त्रसदशको-च्चैर्गोत्रा-ऽन्तरायपञ्चकलक्षणानामष्टपञ्चाशत्प्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वाम्येकेन मतेन सर्वविशुद्धोऽप्रमत्तसंयतस्तथाऽन्येन कृतकरणाद्धाया अर्वाग्भाविनि स्थिति-

बन्धे वर्तमानः सर्वविशुद्धोऽप्रमत्तसंयत एव, नान्य इति विज्ञेयम् । **न चाशङ्क्यम्** 'प्रस्तुतमार्गणाद्वये कृतकरणानां प्रवेश एव न विद्यते, तदप्रवेशे च कृतकरण इति विशेषणस्याऽनुपपत्त्या सर्वमसङ्गतं स्यादिति ?' तस्य **मूलस्थितिबन्धस्वामित्वग्रन्थे** निराकृतत्वादिति । उक्तान्यामां क्रमत आह–'**संजमहुत्तो मिच्छो**' इत्यादिगाथा सुगमा । "**छण्हे**" त्यादि, षण्णामसातादीनामसातवेदनीया-ऽरति–शोका-ऽस्थिरग शुभा-ऽयशःकीर्तिनाम्नाम् "**तदरिहसुद्धो भवे पमत्तजई**" त्ति तेजोलेश्यापरिणतानां तथैव पद्मलेश्यापरिणतानां च यावत्यां विशुद्धौ सत्यामसातवेदनीया-दीनां बन्ध एव न जायते तद्विशुद्धिवर्जविशुद्ध्यपेक्षया सर्वविशुद्धोऽपि प्रस्तुतमार्गणासम्भाविसर्वोत्कृष्ट-विशुद्ध्यपेक्षा तत्प्रायोग्यविशुद्धो यः प्रमत्तगुणस्थानकवर्ती 'यतिः'–संयतः स भवेत् । "**सव्व**" इत्यादि, 'वइरुरालमणुसदुग' मित्येतावता (गा० २५६) संगृहीतानां वज्रर्षभनाराचसंहननौदारिक-द्विक मनुष्यद्विकलक्षणानां पञ्चानां प्रकृतीनां सर्वविशुद्धः सम्यग्दृष्टिर्देवो भवति ।

शेषाणामाह–'**तप्पाउग्गे**'त्यादि, उक्तशेषाणामायुर्वर्जप्रकृतीनां तु तत्प्रायोग्यविशुद्धो मिथ्यादृष्टिर्देवो भवति, ताश्च शेषप्रकृतयस्तेजोलेश्यामार्गणायामेताः– स्त्रीवेद-नपुंसकवेद-तिर्य-ग्द्विकै केन्द्रियजाति-प्रथमवर्जसंहननपञ्चक-प्रथमवर्जसंस्थानपञ्चक-कुखगत्या ऽऽतपो--द्योत-स्थावर--दुर्भगत्रिक-नीचैर्गोत्रलक्षणास्त्रयोविंशतिः । पद्मलेश्यामार्गणायां तु ता एव त्रयोविंशतिरेकेन्द्रिय-स्थावरा-ऽऽतपनामवर्जा विंशतिरवगन्तव्याः । अत्र विशेषमाह-"**णवरी**"त्यादिना, सुगमम्, तेजो-लेश्याकतिर्यग्मनुष्याणां कल्पद्वयं यावद् देवीतया सम्भवदुत्पत्तिकत्वेन तत्प्रायोग्यं बध्नतां तिर्यग्-मनुष्याणामपि स्त्रीवेदजघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वसम्भवात् । न चैवं पद्मलेश्यायां सम्भवति, पद्म-लेश्याकदेवानां नियमतः पुंवेदितया तत्प्रायोग्यं बध्नतां स्त्रीवेदबन्धाभावादिति ॥३१७-३२०॥

सुक्काअ चरमबंधे खवगोऽत्थि मणव्व अट्ठवण्णाए ।
पम्हव्व जाणियव्वो चउआलीसाअ सेसाणं ॥३२१॥

(प्रे०) "**सुक्काअ**" इत्यादि, शुक्ललेश्यामार्गणायां मनोयोगमार्गणावत् "**अट्ठवण्णाए**" इति 'धुवेगतीसाए । आहारदुगस्स तहा पणवीसाए जिणाईण ॥२९४॥ इत्यनेन मनोयोगमार्गणाया-मभिहितानामष्टपञ्चाशतः प्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामी तद्वदेव '**चरमबंधे खवगोऽत्थि**' त्ति तत्तत्प्रकृतीनां बन्धविच्छेदादर्वाग्भाविचरमस्थितिबन्धे वर्तमानः क्षपको भवति । "**पम्हव्व**" इत्यादि, उक्तशेषाणामायुर्वर्जानां "**चउआलीसाअ**" त्ति चतुश्चत्वारिंशतः प्रकृतीनामनन्तरोक्त-पद्मलेश्यावज्ज्ञातव्यः ।

इत्थं हि–प्रस्तुतमार्गणायामावरणनवक-निद्राद्विक-सातवेदनीय-संज्वलनचतुष्क–हास्य-रति-भय जुगुप्सा पुंवेदमोहनीय--देवद्विक पञ्चेन्द्रियजाति--वैक्रियद्विका-ऽऽहारकद्विक -तैजस-कार्मणशरीर-समचतुरस्रसंस्थान वर्णादिचतुष्क-सुखगति पराघातो च्छ्वासा-ऽगुरुलघु-निर्माणो-पघात-जिन-त्रसदशक-

नामो-च्चैर्गोत्रा-ऽन्तरायपञ्चकलक्षणानामष्टपञ्चाशत्प्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामी यथोक्त-श्चरमस्थितिबन्धे वर्तमानः क्षपकः । मिथ्यात्व स्त्यानर्द्धित्रिका ऽनन्तानुबन्धिचतुष्कलक्षणानाम-ष्टानां प्रकृतीनां संयमाभिमुखः सुविशुद्धो मिथ्यादृष्टिर्भवति । अप्रत्याख्यानावरणक्रोधादिप्रकृति-चतुष्कस्य संयमाभिमुखः सुविशुद्धोऽविरतसम्यग्दृष्टिर्जीवो भवति । प्रत्याख्यानावरणक्रोधादिप्रकृति-चतुष्कस्य तु तादृशः संयमाभिमुख एव, केवलं देशविरतः । असातवेदनीया-ऽरति-शोका ऽस्थि-रा ऽशुभा-ऽयशःकीर्तिलक्षणानां षण्णां प्रकृतीनां तत्प्रायोग्यविशुद्धः प्रमत्तसंयतो भवति । वज्रर्षभ-नाराचसंहननौ-दारिकद्विक-मनुष्यद्विकलक्षणानां पञ्चानां प्रकृतीनां सर्वविशुद्धः सम्यग्दृष्टिर्देवः । उक्तशेषाणां स्त्रीवेद-नपुंसकवेद-प्रथमवर्जसंहननपञ्चक प्रथमवर्जसंस्थानपञ्चक कुखगति दुर्भगत्रिक-नीचैर्गोत्रलक्षणानां सप्तदशप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामी तु तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टो मिथ्यादृष्टि-र्देवो भवतीति ॥३२१॥

मणजोगव्व उवसमे सप्पाउग्गाण सव्वपयडीणं ।
णवरं जेसिं खवगो तेसिं उवसामगो णेयो ॥३२२॥

(प्रे०) "**मणजोगव्वे**"त्यादि, औपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायामायुर्वर्जानां बन्धप्रा-योग्याणां सर्वासां प्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामी '**मणजोगव्व**' त्ति मनोयोगमार्गणावद् वक्तव्यः '**नवरं**'-केवलं क्षपकाणामत्राप्रवेशाद् यासां जघन्यस्थितिबन्धस्वामी तत्र क्षपक उक्तस्ता-सामत्रोपशामको ज्ञेयः । **तद्यथा**—आवरणनवक-निद्राद्विक-सातवेदनीय संज्वलनचतुष्क-हास्य-रति-भय जुगुप्सा—पुंवेदमोहनीय-देवद्विक-पञ्चेन्द्रियजाति वैक्रियद्विका ऽऽहारकद्विक-तैजस--कार्मणशरीर-समचतुरस्रसंस्थान-वर्णादिचतुष्क-सुखगति-पराघातो-च्छ्वासा-ऽगुरुलघु-निर्माणो—पघात-जिन-त्रसदश-कोच्चैर्गोत्रा-ऽन्तरायपञ्चकलक्षणानामष्टपञ्चाशत्प्रकृतीनां तत्तन्मतिज्ञानावरणादिप्रकृतीनां बन्धविच्छे-दादर्वाग्भाविनि चरमस्थितिबन्धे वर्तमान उपशमको भवति । असातवेदनीया-ऽरति-शोका-ऽस्थिरा-ऽशुभा-ऽयशःकीर्तिलक्षणानां षण्णां तत्प्रायोग्यविशुद्धः प्रमत्तसंयतः, अप्रत्याख्यानावरणक्रोधादि-चतुष्कस्य संयमाभिमुखः सुविशुद्धोऽविरतसम्यग्दृष्टिः । प्रत्याख्यानावरणानां तु संयमाभिमुखः सुवि-शुद्धो देशसंयतः, वज्रर्षभनाराचसंहननौ दारिकद्विक-मनुष्यद्विकलक्षणानां पञ्चानां सुविशुद्धः सम्य-ग्दृष्टिर्देवो नारको वा जघन्यस्थितिबन्धस्वामी भवतीति ॥३२२॥

तेउव्व वेअगे सिं जाणऽत्थि कयकरणोऽवि ओहिव्व ।
विण्णेयो सेसाणं पयडीणगूणवीसाए ॥३२३॥

(प्रे०) "तेउव्वे"त्यादि, 'वेदके' क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां तेजोलेश्यामार्गणा-वद्भवति, जघन्यस्थितिबन्धस्वामीति प्रक्रमाद्गम्यते, कासां प्रकृतीनामित्याह—"जाणे"त्यादि,

तेजोलेश्यामार्गणायां यासां प्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामितया "**कयकरणोऽवि**" त्ति '**कृतकरणः**'-कृतकरणावस्थाया अर्वाग्भाविचरमस्थितिबन्धे वर्तमानो दर्शितः, अपिशब्दात् मतविशेषेण स्वस्थानसुविशुद्धाऽप्रमत्तसंयतश्च दर्शितस्तासामनन्तरगाथाद्वयवृत्तौ नामतोऽभिहिता-नामावरणनवकादीनामष्टपञ्चाशतः प्रकृतीनामित्यर्थः । शेषाणामाह-"**ओहिव्व**" इत्यादि, उक्तशेषाणामसातवेदनीयादीनामायुर्वर्जानामेकोनविंशतेः प्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वाम्यनन्तर-गाथायामुक्तस्वरूपोऽवधिज्ञानमार्गणावद्वा तत्प्रायोग्यविशुद्धः प्रमत्तसंयतादिर्विज्ञेय इति ॥३२३॥

मीसे तदरिहसुद्धो छअसायाईण सम्महुत्तोऽत्थि ।
वीसुच्चाईण तहा धुवबंधीण गुणचत्ताए ॥३२४॥
सम्माहिमुहो णिरयो सुरो व वइराइगाण पंचण्हं ।
सम्माहिमुहो तिरियो मणुसो वा चउसुराईणं ॥३२५॥

(प्रे०) "**मीसे**"इत्यादि, सम्यग्मिथ्यात्वमार्गणायां षण्णामसातवेदनीया-ऽरति-शोका-ऽस्थिरा-ऽशुभा-ऽयशःकीर्तिलक्षणप्रकृतीनां तत्प्रायोग्यविशुद्धः प्रस्तुतमार्गणागतजीवो भवति, न पुनः सुविशुद्धः सम्यक्त्वाभिमुखः, तस्य सातवेदनीयादिप्रकृतीनामेव बन्धभावात् । "**सम्महुत्तोऽत्थि**" त्ति सम्यक्त्वाभिमुखो जघन्यस्थितिबन्धस्वामी भवति, कासामित्याह-"**वीसुच्चाई**"त्यादि, 'उच्च-पुम-सायाणि । ॥२५५॥ जस-थिर-सुह-हस्स रई सुहागिइ-खगइ-पणिंदि-परघाया । ऊसास-सुहगतिग-तसचउगे'त्येतावता सगृहीतानामुच्चैर्गोत्रादीनां विंशतेः प्रकृतीनां तथा "**धुवबंधीण गुणच-त्ताए**" त्ति स्त्यानर्द्धित्रिक-मिथ्यात्वा ऽनन्ता नुबन्धिचतुष्कलक्षणानामष्टप्रकृतीनां प्रस्तुतमार्गणा-यामबन्धात्तद्वर्जानां मतिज्ञानावरणादीनामेकोनचत्वारिंशतो ध्रुवबन्धिप्रकृतीनामित्येवं सर्वसंख्ययै-कोनषष्टिप्रकृतीनामित्यर्थः । वज्रर्षभनाराचसंहननौ-दारिकद्विक-मनुष्यद्विकलक्षणानां पञ्चप्रकृतीनां तु सुविशुद्धः सम्यक्त्वाभिमुखः सुरो नैरयिको वा भवति । उक्तशेषाणां चतसृणां '**सुरादीनां**' सुरद्विक वैक्रियद्विकलक्षणप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामी तु तथाविधसुविशुद्धः सम्यक्त्वाभिमुख एव, नवरं तिर्यङ् मनुष्यो वा, अत्र परस्परपरिहारेण स्वामित्वकथनं तत्तत्प्रकृतीनां तेषां बन्धप्रायो-ग्यत्वाभावात्तदन्येषां बन्धप्रायोग्यत्वाच्चेति ॥३२४ ३२५॥

सासाणे सुविसुद्धो वीसुच्चाइ-धुवबंधिपयडीणं ।
चउणीआईण भवे सत्तमणिरयो विसुद्धयमो ॥३२६॥
सव्वविसुद्धो णेयो पणवइराईण चउसुराईणं ।
जहजोग्गं दुदुगइयो सेसाणं तदरिहविसुद्धो ॥३२७॥

(प्रे०) "**सासाणे**" इत्यादि, सासादनमार्गणायां सुविशुद्धो यः पश्चात्कृतसंयमश्चातुर्गतिको

वा सुविशुद्धो जीवः स जघन्यस्थितिबन्धस्वामी भवति, कासामित्याह–"वीसुच्चे"त्यादि, या उच्चै-र्गोत्रादयो विंशतिः प्रकृतय एकोनचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिनीप्रकृतयश्चानुपदं सम्यग्मिथ्यात्वमार्गणायां दर्शितास्तास्तथा प्रस्तुतमार्गणायामनन्तानुबन्धिक्रोधादिचतुष्कस्त्यानगृद्धित्रिकयोरपि बन्धादन्याः सप्तेति सर्वसंख्यया षट्षष्टिः प्रकृतयस्तासां षट्षष्टिप्रकृतीनामित्यर्थः । "चउणीआईण" इत्यादि, नीचैर्गोत्र-तिर्यग्द्विको-द्योतनामलक्षणानां चतसृणां प्रकृतीनां विशुद्धतमो यः सप्तमपृथिव्यां समुद्भूतो नैरयिकः संभवति ।

ननु तथाभूतनैरयिकापेक्षया तु मनुष्य एव विशुद्धतमः सम्भवेत, पश्चात्कृतसंयमानां ततो-ऽधिकविशुद्धत्वात् ? इति चेद्, सत्यम्, तथाऽपि तेषामुच्चैर्गोत्रादिप्रकृतयोऽपि बन्धप्रायोग्य विद्यन्ते, तथा च विशुद्धतमा अपि ते तदोच्चैर्गोत्रादिप्रकृतीनां बन्धकाः सन्तः प्रस्तुतप्रकृतीनाम-बन्धका एव, प्रकृतिबन्धाभावे कुतस्तेषां जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वमपि, न कुतश्चिदपीति भावः ।

"सव्वविसुद्धो" इत्यादि, पञ्चानां वज्रर्षभनाराचसंहनना-ऽऽरिकद्विक-मनुष्यद्विकलक्ष-णानां, चतसृणां देवद्विकवैक्रियद्विकलक्षणानां सुरादिप्रकृतीनां च सर्वविशुद्ध स्वामी, स च "जह-जोग्गं दुदुगईओ" त्ति 'यथायोग्यम्'-यथासम्भवम्, अत एव 'द्विद्विगतिकः' इत्यत्र वीप्सा-ऽऽदरणम्, ततश्च प्रथमसंहननादीनां पञ्चानां देवो नैरयिकश्च, सुरादीनां चतसृणां तु तिर्यङ्म-नुष्यश्चेति । "सेसाण"मिति उक्तशेषाणामसातवेदनीयादीनामायुर्वर्जप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्ध-स्वामी तु तत्प्रायोग्यविशुद्धसासादनसम्यक्त्वभाग् जीवः । अत्र शेषप्रकृतयस्तु–असातवेदनीया-ऽरति शोक स्त्रीवेद-मध्यसंहननचतुष्क-मध्यसंस्थानचतुष्क-कुखगत्यऽस्थिरषट्कलक्षणा एकोनविंशति-रिति ॥३२६-३२७॥

तदेवं प्रतिपादितं मार्गणास्थानेष्वायुर्वर्जप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वम्, एतर्हि शेषाणामायुःप्रकृतीनां तत्प्रतिपिपादयिषुरादौ तावद्गाथात्रयेण प्राग्वक्ष्यमाणस्वामित्वविषयां सामान्यवक्तव्यतामाह—

सप्पाउग्गाऊणं सव्वासु बंधगो लहुठिईए ।
विण्णेयो वट्टंतो जहण्णगाए अबाहाए ॥३२८॥
जहि णिरयाउस्स भवे बंधो तहि तस्स तदरिहविसुद्धो ।
सव्वह इयराऊणं विण्णेयो तदरिहकिलिट्ठो ॥३२९॥
जहि णिरयसुराऊणं बंधोऽत्थि तहि हविरे दुहा जीवा ।
पज्जत्ताऽपज्जत्ता खलु पज्जत्तो मुणेयव्वो ॥३३०॥

(प्रे०) "सप्पाउग्गाऊण"मित्यादि, सर्वासु यास्वन्यतमस्या अप्यायुःप्रकृतेर्बन्धः सन्, प्रकृतिबन्धग्रन्थे सन्प्रतिपादित इति भावः, तासु वैक्रियमिश्र-कार्मणकाययोगा-ऽपगतवेद-सूक्ष्मसम्पराय-

संयमौ-पशमिकसम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्वा-ऽनाहारकलक्षणसप्तमार्गणावर्जासु निरयगत्योघादित्रिषष्ट्यु-त्तरशतमार्गणासु प्रत्येकं स्वस्यां स्वस्यां बन्धप्रायोग्यायुषां "लहुठिइए" त्ति अधिकृतां कर्म-रूपतावस्थानलक्षणस्थितिमपेक्ष्य 'लघुस्थितेः' जघन्यस्थितेः 'बन्धकः' स्वामी जघन्यायामसंक्षेप्या-द्धात्मिकायामबाधायां वर्तमानो जीवो विज्ञेयः, सर्वेषां प्राणिनां जघन्याबाधायामायुर्बन्धस्या-विरुद्धत्वादिति भावः ।

"जहि"इत्यादि,"सव्वठिईण उक्कोसओ उ उक्कोससकिलेसेण। विवरीए य जहन्नो आउगतिगवज्जसेसाण ॥५८॥"इति शतकवचनाद् आयुस्त्रिकवर्जप्रकृतिष्वन्तर्गतत्वान्निरयायुषो जघन्यस्थितिबन्धस्वामी तत्प्रा-योग्यविशुद्धस्तथेतरेषां तिर्यग्-मनुष्य-देवायुषां तु तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टो भवत्यतः "जहि" त्ति 'यत्र' यासु मार्गणासु निरयायुषो बन्धो भवेत् , प्रकृतिबन्धग्रन्थे सन्नभिहित इत्यर्थः, तासु तिर्यग्गत्योघ-पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघ--पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्तिरश्ची--मनुष्यौघ -तत्पर्याप्त--मानुषी--पञ्चेन्द्रियजात्योघ-तत्पर्याप्त-त्रसकायौघ-तत्पर्याप्त-पञ्चमनोयोगभेद-पञ्चवचोयोगभेद-काययोगौघौ-दारिककाययोग वेद-त्रयी-कषायचतुष्का-ऽज्ञानत्रया-ऽसंयम-चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शना-ऽशुभलेश्यात्रयी-भव्या-भव्य-मिथ्यात्व-संज्ञ्य-संज्ञ्या-हारिलक्षणासु पञ्चचत्वारिंशन्मार्गणासु तस्य निरयायुषो जघन्यस्थितिबन्धस्वामी तत्प्रा-योग्यविशुद्धो विज्ञेयः, सर्वमार्गणास्वितरेषां तिर्यग्-नर-देवायुषामन्यतमस्याऽप्यसौ तत्प्रायोग्य-संक्लिष्टश्च विज्ञेयः । तथा "जहि"इत्यादि, यत्र तिर्यग्गत्योघादिमार्गणासु निरयायुषो देवायुषो वा बन्धो भवति तत्र यदि पर्याप्ता अपर्याप्ताश्च द्विविधजीवाः स्युस्तदा तस्य निरयायुषो देवायुषो वा जघन्यस्थितेर्बन्धकः पर्याप्त एव विज्ञेयः, न पुनरपर्याप्तः, कुतः ? आयुर्बन्धकाऽपर्याप्तजीवा हि लब्ध्य-पर्याप्ता एव भवन्ति, न तु करणाऽपर्याप्ताः करणापर्याप्तानां कस्याऽप्यायुषोऽबन्धात् , लब्ध्यपर्याप्तास्तु मृत्वा अनन्तरभवे देवतया नारकतया वा नोत्पद्यन्ते, तत्रोत्पत्तेरभावे च न भवति तेषां देवायुषो निरयायुषो वा बन्धोऽपि, तत्कुतस्तेषां प्रस्तुतजघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वमपि स्यात् , न कुतश्चिद-पीत्यर्थः ॥३२८-३३०॥

तदेवं लाघवार्थं बहुमार्गणाविषयकसामान्यवक्तव्यतामादावभिधायेदानीं तत्रैव विशेषवक्तव्यतां विभणिषुराह—

इह जो होइ विसेसो सो वुच्चइ बंधगो मुणेयव्वो ।
सप्पाउग्गाऊणं सव्वेसु णिरयभेएसु ॥३३१॥
तिरिय-तिपणिंदियतिरिय-णर-सुर-गेविज्जअंतदेवेसु ।
उरले उरालमीसे तह वेउव्विम्मि मिच्छत्ती ॥३३२॥

(प्रे०) "इहे"त्यादि, 'इह'-भण्यमाने आयुर्जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वे यो भवति विशेषः सामान्यवक्तव्यतापेक्षया स उच्यते इति प्रतिज्ञा, तामेव निर्वाहयन्नाह-"बंधगो" इत्यादि, अस्य चोत्तरगाथाप्रान्ते "मिच्छत्ती"त्यनेनाऽन्वयः, ततश्च मार्गणाप्रविष्टनैरयिक तिर्यगादीनामन्यतमो

यथोक्तविशुद्ध्याद्युपेतो मिथ्यादृष्टिर्जघन्यस्थितिबन्धस्वामी ज्ञातव्य इत्यर्थः । कासु मार्गणासु कासां प्रकृतीनामित्याह–"**सप्पाउग्गाऊण**"मित्यादि, सर्वेष्वोघोत्तरभेदभिन्नेष्वष्टसु निरयगतिभेदेषु तथा तिर्यग्गत्योघभेदे, अपर्याप्तभेदवर्जेषु त्रिषु पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणाभेदेषु, त्रिशब्दस्य '**णर**' इत्यनेनापि योजनाद् अपर्याप्तभेदवर्जेषु मनुष्यौघ-तत्पर्याप्त मानुषीलक्षणेषु त्रिषु मनुष्यमार्गणाभेदेषु, "**सुर**" त्ति देवगत्योघभेदे, ग्रैवेयकान्तेषु भवनपति-व्यन्तर-ज्योतिष्क-द्वादशकल्पोपपन्न-नवग्रैवेयक-लक्षणेषु चतुर्विंशतिमार्गणास्थानेषु, तथौदारिकौ-दारिकमिश्र-वैक्रियकाययोगेष्वित्येवं "**सव्वेसु**" इत्यादिना संगृहीतासु त्रिचत्वारिंशन्मार्गणासु स्वस्यां स्वस्यां बन्धप्रायोग्याणां निरयाद्यन्यतमायुषा-मित्यर्थः । कुतः ? प्रत्येकं मार्गणासु मिथ्यादृशां प्रवेशात् तेषां च निरयायुरादिप्रकृतिबन्धस्वा-मित्वे तासां निरयाद्यायुषां जघन्यस्थितेरपि निर्वर्तनात् , अत एवोत्तरत्रापि तत्तन्मार्गणासु मिथ्या-दृशां निरयगत्याद्यायुःप्रकृतीनां बन्धस्वामित्वसद्भावे तेषामेव मिथ्यादृशां निरयादितत्तदायुषो जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वं विज्ञेयम् ।।३३१-३३२।।

चउआऊण दुगइयो मिच्छो होइ दुपणिंदियतसेसुं ।
पणमणवयेसु काये वेअतिगे चउकसायेसुं ।।३३३।।
अण्णाणतिगे अजए चक्खु-अचक्खूसु असुहलेसासुं ।
भविया-ऽभवियेसु तहा मिच्छे सण्णिम्मि आहारे ।।३३४।।

(प्रे०) "**चउआऊणे**"त्यादि, बन्धप्रायोग्याणां चतुर्णामप्यायुषां जघन्यस्थितिबन्धस्वामी "**दुगइयो मिच्छो**" त्ति व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेस्तिर्यग्मनुष्यलक्षणगतिद्वयसम्बन्धी मिथ्या-दृष्टिर्भवति, न पुनर्देवो नारको वा । कासु मार्गणास्वित्याह–"**दुपणिंदिय**" इत्यादि, अपर्याप्त-भेदवर्जितयोर्द्वयोः पञ्चेन्द्रियभेदयोर्द्वयोश्च त्रसकायभेदयोस्तथा पञ्चमनोयोगभेद-पञ्चवचोयोग-भेद-काययोगसामान्य-स्त्र्यादिवेदत्रिक क्रोधादिकषायचतुष्क-मत्यज्ञानाद्यज्ञानत्रिका-ऽसंयम-चक्षु-रच-क्षुर्दर्शन-कृष्णाद्यशुभलेश्यात्रिक-भव्या-ऽभव्य-मिथ्यात्व सञ्ज्ञा-ऽऽहारकेष्वित्येवं सर्वसंख्यया षट्-त्रिंशन्मार्गणासु प्रत्येकमित्यर्थः ।

ननु मा भवतु देव-नारकाणां देवनिरयायुषोर्जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वम् , तेषां देव-निरयायुषोरेवाऽबन्धात् , कथं पुनस्तिर्यग्मनुष्यायुषोर्जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनोऽप्येते न भवन्ति ? **इति चेद्** , उच्यते, प्रस्तुतमार्गणासु प्रत्येकं तिर्यग्मनुष्यायुषोर्जघन्या स्थितिरसंक्षेप्याद्धासमन्वित क्षुल्लकभवग्रहणलक्षणा बध्यते,सा तु लब्ध्यपर्याप्तप्रायोग्यायुर्बध्नतां जीवानामेव प्राप्यते, न च देवनैर-यिकैस्तावत्स्थितिर्निवर्तयितुं शक्यते,तेषामनन्तरभवे लब्ध्यपर्याप्ततयाऽनुत्पादादिति।।३३३-३३४।।

णाणतिगे ओहिम्मि य सम्म-खइअ-वेअगेसु सम्मत्ती ।
दुदुगइयो जहजोगं ओद्धव्वो णरसुराऊणं ।।३३५।।

(प्रे०) "**णाणतिगे**" इत्यादि, मति-श्रुता-ऽवधिज्ञानलक्षणे ज्ञानत्रिके, अवधिदर्शने, सम्यक्त्वौघ--क्षायिकसम्यक्त्व--क्षायोपशमिकसम्यक्त्वेषु च "**णरसुराऊण**"मिति नरायुषः सुरायुषश्चेत्यर्थः, "**सम्मत्तो**" त्ति अविरतसम्यग्दृष्टिर्जीवो जघन्यस्थितिबन्धस्वामी बोद्धव्यः, स च "**दुदुगइओ जहजोग**"मिति यथायोगं प्रकृतिबन्धस्वामित्वानुसारेण द्विद्विगतिकः, नरायुषो देवो नैरयिकश्चः, देवायुषस्तु तिर्यङ् मनुष्यश्चेत्यर्थः ॥३३५॥

सुहलेसासु तिरियो णरो व मिच्छो भवे सुराउस्स ।
सेसाऊणं देवो मिच्छादिट्ठी मुणेयव्वो ॥३३६॥

(प्रे०) "**सुहलेसासु**"मित्यादि, शुभासु-प्रशस्तासु तेजः-पद्म-शुक्लाभिधासु तिसृषु लेश्यासु सुरायुषो जघन्यस्थितिबन्धस्वामी "**तिरियो णरो व मिच्छो**" त्ति मिथ्यादृष्टिस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियो '**नरः**' मनुष्यो वा भवेत् , तत्राऽपि व्याख्यानतः शुक्ललेश्यायां मनुष्य एव ज्ञेयः, न तिर्यङ्, तस्यानतदेवादावुत्पादाभावादिति। "**सेसाऊण**"मिति तेजोलेश्यादितत्तन्मार्गणायां बन्धप्रायोग्ययोरुक्तदेवायुर्वर्जयोः '**शेषायुषोः**'-शेषायुःप्रकृत्योरन्यतमस्या जघन्यस्थितिबन्धस्वामी मिथ्यादृष्टिर्देवो ज्ञातव्यः। तत्र तेजोलेश्यापद्मलेश्ययोस्तिर्यग्मनुष्यायुषी, शुक्ललेश्यायां तु मनुष्याऽऽयुष्कं शेषाऽऽयुःप्रकृतितया ज्ञेयमिति । कथं नान्यः ? इति चेद्, अन्येषां प्रस्तुततत्तन्मार्गणासु तत्तत्तिर्यगाद्यायुषः प्रकृतिबन्धस्वामित्वाभावादिति ॥३३६॥

सासायणम्मि तिरियो णरो व देवाउगस्स णायव्वो ।
तिरियमणुसाउगाणं चउगइयो बंधगो णेयो ॥३३७॥

(प्रे०) "**सासायणम्मि**"इत्यादि, सासादनमार्गणायां देवायुषो जघन्यस्थितिबन्धस्वामी तिर्यङ् नरो वा ज्ञातव्यः। तिर्यग्मनुष्यायुषोस्तु '**चतुर्गतिकः**'-नारक-तिर्यग्-मनुष्यदेवानामन्यतमो जीवो जघन्यस्थितिबन्धस्वामी भवति। सुगमम् , सासादनावस्थायां बन्धप्रायोग्यायास्तिर्यग्मनुष्यायुर्जघन्यस्थितेः पर्याप्तप्रायोग्यत्वात् तिर्यग्मनुष्यैरिव नारकदेवैरपि सा निर्वर्त्यत इति ।

इदमत्र विज्ञेयम्—"इह जो होइ विसेसो" इत्यादिगाथासप्तकेन नरकगत्योघादिनवतिमार्गणासु सामान्यवक्तव्यतापेक्षया विशेषः प्रदर्शितः, शेषाऽपर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रियादित्रिसप्ततिमार्गणासु तु सामान्यवक्तव्यतयोक्त एवासौ विज्ञेयः, **स चैवम्**—बन्धप्रायोग्यनिरयायुषो मार्गणागतोऽन्यतमो जघन्याबाधायां वर्तमानस्तत्प्रायोग्यविशुद्धो जीवः, शेषबन्धप्रायोग्यतिर्यगाद्यायुषा तु तादृश एव, केवलं तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टः, न पुनर्विशुद्धः, तिर्यगाद्यायुषां जघन्यस्थितेरशुभत्वादिति ॥३३७॥

तदेवं प्रतिपादिता अवशिष्टबन्धप्रायोग्यायुःप्रकृतिजघन्यस्थितिबन्धस्वामिनो मार्गणास्थानेष्वपि, प्रतिपादितेषु च तेषु समाप्तं जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वप्ररूपणमपि, तथा च गतं द्वितीयं स्वामित्वद्वारम् ॥

A अष्टौ **निरय**भेदाः, C अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्, B शेषतिर्यग्भेदा, E अपर्याप्तमनुष्य, G शेषमनुष्यमार्गणात्रयम्, H देवगत्योघ, I भवनपत्यादीशानान्ता, A सनत्कुमाराद्याः षट्, J आनताद्यास्त्रयोदश,

K अनुत्तरदेवपञ्चकम्, E सर्व **एकेन्द्रिय**भेदा, E सर्वविकलेन्द्रियभेदा, J अपर्याप्तपञ्चेन्द्रिय, L शेषपञ्चेन्द्रियभेदो, E सर्व**पृथ्वी**-जल-वनस्पति० F सर्व तेजो-वायुकायभेदाः, C अपर्याप्तत्रसकाय, L शेषत्रसकायभेदो,

L सर्व**मनो**वचो०काययोग, M वैक्रिय तन्मिश्रयोगौ, G औदारिककाययोग, D औदारिकमिश्रकाययोग, K आहारक-तन्मिश्रयोगौ, N कार्मणकाययोग., O **स्त्रीवेद** । P पुरुषवेदः ।

Q नपुंसक० । R गतवेद । L क्रोध-मान-माया लोभा S **मति**-श्रुता-ऽवधिज्ञान० T मनःपर्यवज्ञानम्, L अज्ञानत्रयम्, U **संयमौघ**-सामायिक० U छेद०परिहारविशुद्धि० V सूक्ष्मसम्पराय,

मार्गणा	प्रकृतयः	स्वामिन
ओघत (गा०१४४ तः १४८)	●मिथ्यात्वादि-४७, नपुंसक २०,	सर्वसंक्लिष्ट-पर्या० मिथ्या० संज्ञिनः ।
	मनुष्यद्विकादि-२५.	तत्प्रायोग्यस० ,, ,, ,, ।
	नरकद्विकादि-४,	सर्वस० मिथ्या० पर्याप्तसंज्ञितिर्यग्नरा ।
	सूक्ष्मनामादि-८,	तत्प्रा० ,, ,, ,, ,, ,, ।
	सेवार्तादि-६	सर्वसंक्लिष्टमिथ्यादृशो देवनारका ।
	आतपादि-३,	,, ,, ,, ईशानान्तदेवा. ।
	आहारकद्विक-२,	तत्प्रा० सं० प्रमत्तत्वाऽभिमुखा प्रमत्तसंयताः ।
	जिननाम-१,	संक्लि० मिथ्यात्वाभिमुखा-ऽविरतसम्यग्दृश ।

A मिथ्यात्व-४७, नपुंसक-२६ आसा सर्वसंक्लिष्टमिथ्यात्वी । जिननाम-१, तत्प्रायोग्यसंक्लिष्ट सम्यग्दृष्टि । शेषा मनुष्यद्विक-२५ आदि०, तत्प्रायो०संक्लिष्टमिथ्यादृग् ।

B मिथ्यात्व-४७, नरकद्विक-२४, आसा सर्वसंक्लिष्टमिथ्यादृग् । शेषा सेवार्तसंहननादि-४२, आसा, तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टसंज्ञी ।

C मिथ्यात्व-४७, नपुं-११, औ० देह-३, एकेन्द्रिय-५, सर्वस०, शेषा -पराघात-१२-आतप-१, मनुष्य-२५, विकल-३, तत्प्रायोग्यस० संज्ञी ।

D देवद्विक-वैक्रियद्विक-जिन-५ सम्यग्दृष्टि । शेषमिथ्यात्वादि,-१०७, आसा C **मार्गणावत्** ।

E मिथ्यात्व-४७, नपुंसक-११, औदा०देह ३, एकेन्द्रि-५, आसा सर्वसंक्लिष्टबादरः । आसा तत्प्रा० संक्लि० बादर । शेषा -पराघात-१२, आतप-१, मनुष्य-२५ विकले३,

F **सर्वासां E मार्गणावत्**, **केवलं** मनुष्य-२५, स्थाने सात-२२ ।

G मिथ्यात्व-४७, नरक-२४, सर्वसंक्लि० मिथ्यादृष्टि । आहारकद्विक जिननाम-३ आसाम् **ओघवत्** । शेषा सेवार्त-४१, आसा तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टमिथ्यादृष्टि ।

H मिथ्यात्व-४७, नपुंसक-२९, सर्वसंक्लिष्टमिथ्यादृष्टि । जिननाम-१, अस्यास्तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टसम्यग्दृग् । शेषा मनुष्य २५, ,, ,, मिथ्यादृग् ।

I मिथ्यात्व ४७, नपुंस-१६, उद्योत ७, सर्वसंक्लिष्टमिथ्यादृग् । शेषास्त्रस ६, मनुष्य २५, आसा तत्प्रायोग्य ,, ,, । जिननाम-१, तत्प्रायोग्यस० सम्यग्दृग् । मिथ्यात्वी ।

J मिथ्यात्व-४७, मनुष्यद्विक-२, औ०देह १, नपुं-२२, सर्वस० जिन-१, तत्प्रा०स० । **शेषा** उच्चैर्गो-२३, तत्प्रा०सं-मिथ्या०

K सातवेदनीय-६, तत्प्रा० सं० । **शेषा** सर्वसंक्लिष्ट ।

L **बन्धप्रायोग्यसर्वाऽऽयुर्वर्जानाम्-ओघवत्** ।

M मिथ्यात्व-४७, नपुंसक-१६, आसां सर्वस०मिथ्यादृष्टि. । उद्योत-४, संक्लिष्टतममिथ्यादृशो नारकाःसहस्रारान्तदेवाश्च, त्रस-६, सर्वस०मिथ्यादृग्नारक-सनत्कुमारादिसहस्रारान्ता । जिननाम-१, तत्प्रा०संक्लिष्टसम्यग्दृष्टिनारकदेवा । आतप-३, आसा सर्वस० मिथ्यात्वीशानान्त. । नारका । मनुष्यद्विक-२५, तत्प्रायोग्यस०मिथ्यादृष्टिसहस्रारान्तदेव-

N मिथ्या-४७, तिर्यग्द्विक-२, औदा-२ नपु ११, सर्वसं०मिथ्यात्वी । मनुष्यद्विक-२५, तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टसंज्ञिमिथ्यात्वी । देववैक्रियद्विके ४, ,, ,, सम्यग्दृक्तिर्यग्नराः । एकेन्द्रिय-स्थावर-२, सर्वस०मिथ्यात्वितिर्यग्-नर-देवाः । विकलत्रिक-३, तत्प्रा० सं० मिथ्यात्वितिर्यग्-मनुष्या । आतप-१, सर्वसंक्लिष्टमिथ्यात्वीशानान्तदेवा । जिन-१, तत्प्रा० सं० नारक-नर-देवा । पराघात-१२, सर्वस०मिथ्यात्विनारकदेवाः । सूक्ष्मत्रिक-३, ,, ,, ,, संज्ञितिर्यग्नरा ।

O मिथ्यात्व-४७, नपुंसक-१६, सर्वसंक्लिष्टमिथ्यात्वी । नरक-४, त्रस-२, आसा ,, ,, मिथ्यात्वितिर्यग्नरा । उद्योत ७, ईशानान्तसर्वसंक्लिष्टमिथ्यात्वी । सूक्ष्म-८ तत्प्रायोग्यसं० मिथ्यादृक्तिर्यग्नरा । आहारकद्विक-जिन-३-**ओघवत्** ।

● **प्रकृतिसंग्रह** -मिथ्यात्व-स्त्यानर्द्धित्रिका-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्का-ऽप्रत्याख्यानावरणचतुष्क-प्रत्याख्यानावरणचतुष्क-निद्राद्विका ऽगुरुलघु-निर्माणो-पघात-वर्णचतुष्क तैजस कार्मण-भय जुगुप्सा-संज्वलनचतुष्क-ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरण-चतुष्का-ऽन्तरायपञ्चक-नरकद्विक वैक्रियद्विक-नपुंसकवेदा-ऽसातवेदनीय शोका ऽरति हुंडसंस्थान नीचैर्गोत्रा-ऽस्थिरत्रि-

W देशसयमः	(क) पद्मलेश्या	(च) सासादन०
L असयम.	(ख) शुक्ललेश्या	L मिथ्यात्व०
L **चक्षु**-रचक्षु०	L **भव्या**-ऽभव्यौ०,	
S अवधि०	S **सम्यक्त्वौघ**०	L **सञ्ज्ञी**,
X **कृष्णलेश्या**	S क्षायोपशमिकम् ,	(छ) असंज्ञी,
Y नील-कापोत०	(ग) क्षायिकम् ,	L **आहारी**,
Z तेजोलेश्या	(घ) औपशमिकम्	N **अणाहारी**,
	(ङ) मिश्रम् ,	

शेषाः सेवार्त–२, मनुष्यद्विक–२५,तत्प्रा०स०मिथ्यात्वी ।

P **मिथ्यात्व**-४७,नपुंसक-१६,त्रिगतिकसर्वसंक्लिष्टमिथ्यात्वी ।
उद्योत–४**,** सहस्रारान्तस्तथा **आतप**-३ ईशानान्तः ,, ।
नरकवैक्रियद्विके-४, सर्वसंक्लिष्टमिथ्यादित्रितिर्यग्नरा ।
सूक्ष्मादि-८, तत्प्रायोग्यस० ,, ,, ,, ।
त्रस-४, सर्वस०मनुष्य-तिर्यक्सनत्कुमारादिसहस्रारान्तदेवा ।
सेवार्तादि २ सनत्कुमारादिसहस्रारान्ता सवस०मिथ्यादृश ।
आहारकद्विक-जिन–३, **ओघवत्** ।
शेषा -मनुष्यद्विकादि २५, तत्प्रायो० सं०मिथ्यात्वी ।

Q **मिथ्यात्व**-४७, नपु-२०, सर्वसं० मिथ्यात्वी ।
मनुष्यद्विक-२५, तत्प्रायोग्यस० ,, ।
नरकवैक्रियद्विके-४, सर्वस० मिथ्यात्वितिर्यग्नरा ।
सेवार्त–६, ,, ,, नारकाः ।
आहारकद्विक-जिन-३, **ओघवत्** ।
शेषा आतप-११, तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टतिर्यग्नरा ।

R **सर्वा** -२१, वेदोदयात्प्राक्चरमस्थितिबन्धे पुरुषान्यवेदी ।

S **सातवेदनीय** ६, तत्प्रायोग्यस० अविरतसम्यग्दृष्टि ।
आहारकद्विक जिन ३,–**ओघवत्** । [नारकदेवा ।
मनुष्यौदारिकद्विके४,प्रथमसंहनन-१, मिथ्यात्वा**भिमुख**–
देववैक्रियद्विके ४,मिथ्यात्वा**भिमुखा**ऽविरततिर्यग्नरा. ।
शेषा –अप्रत्याख्या०-३९,असात ३,पराघात ६,सुभग ५,
पञ्चेन्द्रिय प्रथमसंस्थाना-ऽस्थिरा–ऽशुभा-ऽयश–उच्चै-
र्गोत्र-६,मिथ्यात्वा**ऽभिमुखा**श्चतुर्गतिका अविरता ।

T **सातवेदनीय** ६, तत्प्रायोग्यस० प्रमत्तसयत ।
आहारकद्विकम् , २, **ओघवत्** ।
शेषा –निद्राद्विक ३१, असात-३, पराघात-६, सुभग- ५.
देववैक्रियद्विके-४ पञ्चेन्द्रिय-जिन-प्रथमसंस्थाना-ऽस्थिरा-
ऽशुभा-ऽयश-उच्चैर्गोत्राणि-७, आसा सर्वसंक्लिष्टा-
ऽसयमा**भिमुख** प्रमत्त ।

U **सर्वासाम्** T **मार्गणावत्** केवलम्-निद्राद्विकादिशे-
षाणां परिहारे छेदा**भिमुख** , जिनवर्जानां सयमसामायि-
कयोर्मिथ्यात्वा**भिमुख** , **जिननाम**-१ अयता**भिमुख** एव ।

V **सर्वा** –१७, आसा निपतन्नु**पशमको** मार्गणाचरमबन्धे ।

W **सातवेदनीय**-६, तत्प्रायोग्यसक्लिष्टतिर्यग्मनुष्या ।
जिननाम–१, ,, ,, असंयमा**भिमुख**मनुष्य ।
शेषाः– मिथ्यात्वाभिमुखास्तिर्यग्मनुष्या ।

X **सर्वासाम् ओघवत्** , **केवलम्**–त्रस-४ देवेतरः, सेवार्त-
२, नारक एव । मतान्तरे **सर्वासां** Q **मार्गणावत्** ।

Y **मिथ्यात्व**–४७ नपुंसक-१६,उद्योत-४ सर्वस०मिथ्यात्वि-
मनुष्य-२५, प्रायोग्यस मि० देवनारकाः । [देवनारका ।
नरक–४, सूक्ष्म ८, ,, मि० तिर्यग्मनुष्या ।
त्रस–६, सर्वसं-मि० नारका । **आतप**-३, **सर्वस**०देवाः,
मतान्तरेण तु तत्प्रायोग्यस० तिर्यग्नरा ।
जिन–१प्रायोग्यस सम्यग्दृग्मनुष्य ,**पर** कापोत्या नारक ।

Z **मिथ्या**०४७,नपुंसक-१६,उद्योत-७,सर्वस०मि० देव ।
देववैक्रियद्विक-४, प्रायो० स-मि० तिर्यग्नराः ।
आहारक२ **ओघवत्** । जिन १,प्रायोग्यस०सम्यग्दृग्देव ।
त्रस–६, मनुष्य २५, आसा प्रायोग्यस०- मि० देवः ।

(क)**ध्रुव**–४७ नपुंसक-२६, सर्वसं० मि० देव ।
देव वैक्रियद्विके ४, सर्वस० मि० तिर्यग्नरा ।
आहारक-२, **ओघवत्** । जिन-१, प्रा० स० सम्यग्दृग्देव ।
मनुष्य–२५,प्रायोग्यस०मि०देवः । [मि०आनतस्तदादिर्वा ।

(ख)**ध्रुव**-४७, नपुं०२२, नरद्विकौदारिकदेह ३, सर्वस०
देव वैक्रियद्विक-४, सर्वस० मि० तिर्यग्नरा ।
जिन–१ प्रायोस०आनतस्तदादिदेवा **वा**,**आहा**-२,**ओघवत्**
शेषा उच्च-२३,प्रायोग्यसं०मि०आनतस्तदादिदेवा **वा** ।

(ग)**सातवेदनीय**-६, प्रायोग्य स० । **आहारक**-२,**ओघवत्** ।
देव-वैक्रियद्विक-४ सर्व स०तिर्यग्मनुष्याः । [नारकदेवा ।
मनुष्य-२,औदारिकद्विक २,प्रथमसहनन-१ सर्वसंक्लिष्ट-
शेषा –असात-३ अप्रत्याख्या-३९,पराघात-६,सुभग-५,
आद्यसस्थान-पञ्चेन्द्रिया-ऽस्थिरा-ऽशुभा-ऽयश उच्च-६,
जिन–१, सर्वस० त्रिगतिका , [सर्वसं० चतुर्गतिका ।

(घ)**जिन**-१, प्रायोग्यस० असयतमनुष्य । **शेषा** ७६, S

(ङ)**सातवेदनीय**-६, प्रायोग्यसक्लिष्टा । [**मार्गणावत्** ।
देव वैक्रियद्विक-४,मिथ्यात्वा**भिमुख**सर्वस०तिर्यग्नरा ।
मनुष्यौदारिकद्विकप्रथमसहनन०५, ,, ;, नारकदेवाः ।
शेषा – ,, ,, चतुर्गतिका ।

(च) **देववैक्रियद्विके** ४, तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टतिर्यग्नरा ।
मनुष्यद्विक-२२,प्रायोग्यस० । **शेषा** –सर्वस०चतुर्गतिक ।

(छ) **मिथ्यात्व**-४७,नरक-२४, आसा सर्वस० पञ्चेन्द्रियाः ।
शेषाः–सेवार्तसहनन-४२, तत्प्रायोग्यस० पञ्चेन्द्रिया ।

काऽयश कीर्ति-अनादेय-**पराघातो**-च्छ्वास-बादरत्रिक-**त्रस** कुखगति-पञ्चेन्द्रिय दु स्वर-**सेवार्तौ** दारिकाङ्गोपाङ्गो-**द्योतनाम** दारिकदेह-तिर्यग्द्विका-ऽऽतप-केन्द्रिय-स्थावर सूक्ष्मत्रिक विकलत्रिक-देवद्विक-**मनुष्यद्विको**-च्चैर्गोत्र–सातवेदनीय–हास्य-रति स्थिर-शुभ-यश -सुभगत्रिक-सुखगति पु वेद-प्रथमसहनन-प्रथमसस्थान द्वितीयतृतीयचतुर्थपञ्चमसहननसस्थान स्त्रीवेदाः।

ओघा-ऽऽदेशत आयुष्कप्रकृत्युत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिप्रदर्शि यन्त्रकम्

ओघत –**तिर्यग्नरायुषो** पूर्वकोटीत्रिभागाबाधाया गतस्तत्प्रायोग्यविशुद्धमिथ्यादृक्, तादृग्मनुष्यो वा । **नरकायुषो**ऽपि तथा, परं तत्प्रायोग्यसङ्क्लिष्ट एव । **देवायुषस्तु**–यथोक्ताऽबाबागतस्तत्प्रायोग्यविशुद्ध प्रमत्तसंयत: (गा० १५७) ।

आदेशत –यत्र **नरकायुषो** बन्धस्तत्र तस्य तत्प्र योग्यसंक्लिष्टः, **नरकान्यायुषा** तु तत्प्रायोग्यविशुद्ध, स च प्रत्येकमुत्कृष्टाबाबागत साकारादिविशेषणविशिष्ट, पर्याप्ताऽपर्याप्तद्विविधजीवसत्त्वे पर्याप्त एव, अन्यथा त्वितर, इत्येव पञ्चानुत्तरदेवभेदा:, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्-अपर्याप्तमनुष्या-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तत्रसभेदा:, तथा सूक्ष्मौघ-तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्त-बादरौघ-तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्तलक्षणा षडेकेन्द्रियभेदा, तथैव षट् पृथिवीकायभेदा, षडप्कायभेदा, षट् तेजस्कायभेदा, षड् वायुकायभेदा, षट् साधारणवनस्पतिकायभेदा., प्रत्येकवनस्पतिकायौघ-तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदा, ओघ-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्ना नव विकलेन्द्रियभेदा, असज्ञिमार्गणास्थानञ्चेत्यष्टपञ्चाशन्मार्गणास्वविशेषेण, शेषमार्गणासु तु विशेषतोऽपि, तत्र विशेषो नीम्नालिखितयन्त्रादवसेय (गाथा–२३८-२५२) ।

	मार्गणा		स्वामिन.
गति	सप्तमनरक,	१	तिर्यगायुषो–मिथ्यादृग्,
	शेषनरक देवौघ-सहस्रारान्तदेवा,	१९	,, ,, मनुष्यायुषो–,,सम्यग्दृष्टिश्च
	आनतादि नवमग्रैवेयकान्ता,	१३	,, ,, ,,
	अपर्याप्तवर्जतिर्यग्गतिभेदा	४	देवायुष -सज्ञि ,, ,, शेषायुषा- ,, मिथ्यादृष्टि
	अपर्याप्तवर्जमनुष्यभेदा:	३	देवायुष -ओघवत्, शेषायुषां-मिथ्यादृष्टि,
इन्द्रिय०	एकेन्द्रियौघ	१	तिर्यग्मनुजायुषो-बादर,
	पञ्चेन्द्रियौघ-तत्पर्याप्तौ	२	चतुर्णामपि ओघवत्
काय०	पृथिव्यादिपञ्चकाय-साधारणवनौघा	६	तिर्यग्मनुष्यायुषो बादर
	त्रसकायौघ तत्पर्याप्तौ	२	चतुर्णामपि ओघवत्
योग.	सर्वमन -सर्ववचन-कायौघौ-दारिककाययोगा	१२	,, ,,
	वैक्रियकाययोग:	१	नरकौघवत्
	औदारिकमिश्र०	१	तिर्यग्मनुजायुषो -मिथ्यात्वी
	आहारकद्विकम्	२	देवायुष –प्रमत्तसयत,
वेद	वेदत्रिकम्	३	ओघवत्
कषा.	कषायचतुष्कम्	४	,,
ज्ञान	अज्ञानत्रयम्	३	देवायुष -सुद्रव्यसयमिमिथ्यादृग्मनुष्य । शेषायुषा-मिथ्यादृग् तिर्यग्मनुष्यो वा,
	मति-श्रुता-ऽवधिज्ञान०	३	देवायुष -प्रमत्तसयत, मनुष्यायुष -देवो नारको वा
	मन पर्यवज्ञानम्	१	देवायुष –प्रमत्तसयत,

	मार्गणा:		स्वामिन
सयम	सयमौघ-सामा० छेद० परिहार०	४	देवायुष –प्रमत्तसयतः,
	देशसयम,	१	,, मनुष्य,
	असयम	१	अज्ञानमार्गणावत्,
दर्शन	चक्षु-रचक्षुर्दर्शने	२	ओघवत्
	अवधिदर्शनम्	१	मतिज्ञानमार्गणावत्,
लेश्या	अप्रशस्तलेश्यात्रिकम्	३	देवायुष –सज्ञितिर्यग्मनुष्याः सम्यग्दृशो मिथ्य दृशो वा, शेषायुषा मिथ्यादृक्-सज्ञितिर्यग्मनुष्या,
	तेज.-पद्मलेश्या०	२	देवायुष –प्रमत्तसयत, मनुष्यायुष -सम्यग्दृग्मिथ्यादृग्वा देव:, तिर्यगायुष –मिथ्यादृग्देव.
	शुक्ललेश्या	१	देवायुष प्रमत्तसयत, मनुष्यायुष सम्यग्दृग्मिथ्यादृग्वा देव.,
भव्य	भव्य०	१	ओघवत्
	अभव्य०	१	अज्ञानमार्गणावत्
सम्यक्त्व	सम्यक्त्वौघ-क्षायिक-वेदक ०	३	मतिज्ञानादिमार्गणावत्
	सासादन०	१	देवायुष -मनुष्य एव, तिर्यग्नरायुषो –,,तिर्यङ् च
	मिथ्यात्वम्	१	अज्ञानमार्गणावत्
स.	सज्ञि०	१	ओघवत्
आ.	आहारक०	१	ओघवत्

ओघतः–नरकायुषो जघन्याबाधागता मिथ्यादृक्पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्यास्तत्प्रायोग्यविशुद्धा ।
देवायुषोऽपि त एव परं तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टा ।
तिर्यग्मनुष्यायुषोस्तत्प्रायोग्यसक्लिष्टा जघन्याबाधागता मिथ्यादृक्तिर्यग्मनुष्या. (गाथा-२६३-२६४) ।

आदेशतो मार्गणास्थानेषु		
	सर्वनरकभेदाः ८, अपर्याप्तवर्जास्तिर्यग्भेदाः ४, अपर्याप्तवर्जा मनुष्यभेदा ३, देवौघः १, भवनपत्यादिनवमग्रैवेयकान्तदेवभेदाः २४, औदारिक-तन्मिश्र वैक्रियकाययोगा ३,=४३	नरकायुषो बन्धप्रायोग्यत्वे सति तस्य तत्प्रायोग्यविशुद्धा मिथ्यादृष्ट्य, शेषायुषस्तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टा, ते च सर्वे जघन्याबाधागता ।
	पञ्चेन्द्रियौघ-तत्पर्याप्त-त्रसौघ-तत्पर्याप्त-सर्वमनोयोग-सर्ववचोयोग-काययोगौघ-वेदत्रिक कषायचतुष्का-ऽज्ञानत्रिका-ऽसंयम-चक्षु-रचक्षुदर्शना-ऽप्रशस्तलेश्यात्रिक–भव्या ऽभव्य-मिथ्यात्व-सञ्ज्ञा-ऽऽहारक०=३६	ओघवत्
	मति–श्रुता–ऽवधिज्ञाना–ऽवधिदर्शन-सम्यक्त्वौघ-क्षायिक-क्षायोपशमिकसम्यक्त्वानि =७	मनुष्यायुष –तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टा नारकदेवाः, देवायुषः– ,, तिर्यग्मनुष्या, ते च सर्वे जघन्याबाधागता ।
	प्रशस्तलेश्यात्रिकम् ३,	देवायुष–जघन्याबाधागतास्तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टमिथ्यादृक्तिर्यग्मनुष्याः । शेषायु० ,, ,, ,, मिथ्यादृष्टिदेवा ।
	सासादनम् १,	–देवायुष –जघन्याबाधागतास्तत्प्रायोग्यसक्लिष्टास्तिर्यग्मनुष्या । शेषायु०– ,, ,, ,, चतुर्गतिका ।
	उपर्युक्तशेषाऽपर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रियादि-त्रिसप्ततिमार्गणासु—७३	नरकायुषो बन्धप्रायोग्यत्वे तस्य मार्गणागतोऽन्यतमो जघन्याबाधाया वर्तमानस्तत्प्रायोग्यविशुद्धो जीवः । शेषबन्धप्रायोग्यायुषामपि तादृश एव, पर तत्प्रायोग्यसंक्लिष्ट, न पुनस्तत्प्रायोग्यविशुद्ध इति । (गाथा-३३७ वृत्ति)

।। इति प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते बन्धविधाने
उत्तरप्रकृतिस्थितिबन्धे द्वितीयाधिकारे
द्वितीयं स्वामित्वद्वारम् ।।



अथ तृतीयं साद्यादिद्वारम्

गतं स्वामित्वद्वारम् । तदनु एकजीवाश्रयं साद्यादिद्वारम्, तत्र च सर्वासामुत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टा ऽनुत्कृष्ट-जघन्या-ऽजघन्यभेदभिन्नचतुर्विधस्थितीनां प्रत्येकमेकजीवाश्रिताः साद्य-नादि-सान्ता-ऽनन्तभेदभिन्ना बन्धविकल्पा ओघतो विभागेन नरकगत्योघादिमार्गणास्थानान्यधिकृत्य च चिन्तनीया यथा प्राग् मूलस्थितिबन्धद्वितीयाधिकारसाद्यादिद्वारे मूलप्रकृतीनां चिन्तिताः । तत्र विवक्षितप्रकृतेर्यस्या उत्कृष्टादिविवक्षितस्थितेर्बन्धस्य कमप्येकजीवमधिकृत्या-ऽऽदिर्लभ्यते स विवक्षितप्रकृतिविवक्षितोत्कृष्टादिस्थितेः तं जीवमाश्रित्य सादिर्बन्धः, सहादिना वर्तते इति कृत्वेत्यादि साद्यादिबन्धनिर्वचनं सुगमं **प्राग्मूलस्थितिबन्धवृत्तौ** दर्शितं चेति तेषु साद्यादिबन्धविकल्पेषु कासामुत्कृष्टादिस्थितेस्ते कियन्तो भवन्तीति आदावोघतो दर्शयन्नाह—

अलहुठिईए चउहा बंधो धुवबंधिखवगपयडीणं ।
तिविहाणं दुविगप्पो चउव्विहाणं पि सेसाणं ॥३३८॥

(प्रे०) "अलहुठिईए" इत्यादि, ओघतो "**धुवबंधिखवगपयडीणं**" ति कर्मधारयसमासः, ततश्च या ध्रुवबन्धिन्यश्चामूः क्षपकप्रकृतयः = ध्रुवबन्धिक्षपकप्रकृतयः पञ्चज्ञानावरण-चतुर्दर्शनावरण-संज्वलनचतुष्टया-ऽन्तरायपञ्चकलक्षणा अष्टादश तासामष्टादशानां ध्रुवबन्धिक्षपकप्रकृतीनाम् '**अलघुस्थितेः**' अजघन्यायाः स्थितेर्बन्धश्चतुर्धा—सादिः, अनादिः, सान्तः, अनन्तश्च भवति, न पुनरन्यासां ध्रुवबन्धिनीनाम् ।

तथाहि—उक्तमतिज्ञानावरणादिवर्जानामेकोनत्रिंशतो मिथ्यात्वादिध्रुवबन्धिनीनां जघन्यस्थितिबन्धस्यैकेन्द्रियस्वामिकत्वेनोत्कृष्टतोऽसंख्येयकालचक्रे व्यतिक्रान्तेषु अवश्यं बन्धभावादसौ सादिरध्रुवश्च भवति न पुनरनादिरनन्तो वा । मतिज्ञानावरणादीनामष्टादशानां जघन्यस्थितिबन्धस्तु समस्तेऽपि भवचक्रे क्षपकश्रेणौ तत्तत्प्रकृतीनां बन्धविच्छेदादर्वाग्भाविनि चरमस्थितिबन्धे सकृदेव सम्भवति, न च तदनु पुनरजघन्यस्थितिबन्धप्रवृत्तिः, तथा चाभव्यजीवमपेक्ष्य मतिज्ञानावरणादीनामष्टानामप्यजघन्यस्थितिबन्धोऽनादिरनन्तश्च, दृष्टोपशान्तमोहगुणस्थानकं भव्यजीवमपेक्ष्य तु सान्तः सादिश्चोपशमश्रेणिमभारोहे तत्तत्प्रकृतीनां विच्छेदभावे तदीयाजघन्यस्थितिबन्धस्याऽपि पर्यवसानात्, उपशान्ताद्धासमाप्तौ पुनः प्रपाते तत्तत्प्रकृतीनां बन्धभावे तदादेश्चेति । तदुक्तं **प्राच्यशतके**–'अट्ठारसपयडीण अजहन्नो बंधो चउविगप्पो' इति ।

"तिविहाणं दुविगप्पो" त्ति प्रस्तुतानां मतिज्ञानावरणादीनामष्टादशप्रकृतीनां शेषाणामजघन्यस्थितिवर्जानामुत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्ट जघन्यभेदात् त्रिविधस्थितीनां प्रत्येकं 'द्विविकल्पः'-सादिः

सान्तश्च द्विविकल्पो बन्धो भवति । तत्रोत्कृष्टस्थितिबन्धस्य सर्वसंक्लिष्टपर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियमिथ्यादृष्टिप्रायोग्यत्वेनोत्कृष्टतोऽसंख्येयपुद्गलपरावर्तलक्षणेष्वनन्तेषु कालचक्रेष्वतिक्रान्तेष्ववश्यं भावात्तदनूत्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तेनावश्यमनुत्कृष्टस्थितिबन्धस्यापि प्रवर्तनाच्चैवं पौनःपौन्येन भावे उत्कृष्टाऽनुत्कृष्टद्विविधोऽपि स्थितिबन्धः सादिः सान्तश्च भवति, यत उक्तं **प्राच्यशतकचूर्णौ**–'उक्कोसो ठिइबधो सत्तण्हवि सन्निमि मिच्छादिट्ठिम्मि सव्वसकिलिट्ठम्मि लब्भइ, सो साइओ अधुवो य, कह ? (समयाओ) आवत्तो अतोमुहुत्ताओ णियमा फिट्टइत्ति तओ परिवडतस्स अणुक्कोसो साइओ, पुणो जहन्नेणं अतोमुहुत्तेणं उक्कोसेण अणताहिं ओसप्पिणीउस्सप्पिणीहिं उक्कोस ठिइ बधमाणस्स अणुक्कोसस्स अद्धुवो, उक्कोसस्स साइओ, पुणो अधुवो, एव उक्कोसाणुक्कोसेसु परिभमति त्ति दोण्हवि साइओ अद्धुवो य । 'इति ।

एतेन व्यवहारराशिप्रविष्टजीवानधिकृत्यौघादेशगतं सर्वं प्ररूपणमित्यप्यत्रभातव्यम्, अन्यथाऽव्यवहारराशिगतानां वनस्पतिकायतयाऽनन्तानपरिमितान् पुद्गलपरावर्तान्निर्गमयतां पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्वामिकस्योत्कृष्टस्थितिबन्धस्याऽप्राप्यभवनादनुत्कृष्टस्थितिबन्धोऽनादिरपि भणितः स्यात्, न चोक्त इति व्यवहारराशिप्रविष्टजीवापेक्षया सर्वत्र सर्वमभ्यूह्यमिति । जघन्यस्तु एकस्थितिबन्धस्थानात्मकतया कादाचित्कत्वात् सुतरां सिद्धः सादिः सान्तश्च ।

"चउव्विहाणं पि सेसाणं" ति **'दुविगप्पो'** इतीहापि संबध्यते तथाचोक्तमतिज्ञानावरणाद्यष्टादशप्रकृतीर्विहाय शेषाणां निद्रापञ्चकादीनामेकोनत्रिंशतो ध्रुवबन्धिनीनां त्रिसप्ततेर्हास्याद्यध्रुवबन्धिनीनां च प्रत्येकं चतुर्विधानामुत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्ट-जघन्या-ऽजघन्यभेदभिन्नानां स्थितीनां सादिसान्तलक्षणद्विविकल्पो बन्धो भवति, तत्र ध्रुवबन्धिनीनामजघन्यस्थितिवर्जस्थितीना द्विविकल्पोऽनन्तरोक्तनीत्या, ज[illegible] । अजघन्यस्थितेस्तु जघन्यस्थितेरेकेन्द्रियस्वामिकत्वेनोपपादित एव । अध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतिबन्धस्यैव सादिसान्तभङ्गपतितत्वात् प्रकृतिबन्धाभावे स्थितिबन्धस्याप्यभावाच्च चतुर्विधोऽपि स्थितिबन्धः सादिसान्तो भवतीति सुगमः । विस्तरभावना तु **मूलप्रकृतिस्थितिबन्धद्वितीयाधिकारसाद्यादिद्वारवृत्तौ** दर्शितनीत्या स्वयमेव कार्येति ।।२३८।।

अथ मार्गणास्थानेष्वतिदेशादिना प्राह—

एवमचक्खु-भवेसुं णवरं णत्थि भविये धुवो बंधो ।
सेसासुं दुविगप्पो चउव्विहठिईण सव्वेसिं ।।२३९।।

(प्रे०) **"एवमचक्खु"** इत्यादि, अचक्षुर्दर्शनभव्यमार्गणयोः **'एव'**मिति ओघवन्मतिज्ञानावरणादितत्प्रकृत्युत्कृष्टादिचतुर्विधस्थितेः साद्यादिबन्धविकल्पा भवन्ति, **'नवरं'** परं **'णत्थि"** त्ति य ओघतोऽष्टादशानां क्षपकध्रुवबन्धिप्रकृतीनामजघन्यायाः स्थितेर्ध्रुवो बन्धो भणितः स भव्यमार्गणाया न भवति, कथम् ? अभव्यजीवापेक्षया तल्लाभाद् अभव्यानामिह भव्यमार्गणायामप्रवे-

शाच्च, अनादिस्तु भवत्येव, अभव्यत्ववद्भव्यत्वस्याप्यनादित्वात् । अचक्षुर्दर्शनमार्गणायां तु भव्या-ऽभव्यद्विविधजीवानां प्रवेशाद् अनादितस्तत्र स्थितेषु तेषु भव्यानां क्षपकश्रेणिं समारुह्य मतिज्ञानावरणादीनां जघन्यस्थितिबन्धं यावत्तदूर्ध्वमपि अवस्थानाच्च । शेषं त्वोघवदेवोपपाद्यम् ।

"सेसासु" इत्यादि, अनन्तरोक्ताऽचक्षुर्भव्यमार्गणाद्वयवर्जासु नरकगत्योघादिषु साष्टषष्टिशतमार्गणासु प्रत्येकं पुनर्बन्धप्रायोग्याणां सर्वासां प्रकृतीनामुत्कृष्टादिचतुर्विधस्थितेः "दुविगप्पो" त्ति सादि-सान्तद्विविधो बन्धो भवति, न पुनरनाद्यध्रुवभङ्गद्वयगतः । तत्र मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंयमा-ऽभव्य-मिथ्यात्वमार्गणावर्जासु त्रिषष्टिमार्गणासु प्रत्येकजीवानामवस्थानस्यैव साद्यध्रुवभङ्गद्वयगतत्वेन मार्गणाप्रविष्टकालमपेक्ष्यैकजीवाश्रयस्य स्थितिबन्धस्यापि आद्यन्तयुतत्वाद्यथोक्तौ द्वावेव भङ्गौ सम्पद्येते, मत्यज्ञानादिशेषपञ्चमार्गणासु त्वभव्यजीवानामाकालमवस्थानेऽपि तत्र निद्रापञ्चकादिध्रुवबन्धिनीवन्मतिज्ञानावरणादीनां यथोक्तक्षपकध्रुवबन्धिनीनामष्टादशप्रकृतीनामपि जघन्यस्थितिबन्धस्यैकेन्द्रियस्वामिकत्वेन तथाविधस्य जघन्यस्थितिबन्धस्योत्कृष्टतोऽसंख्यकालचक्रान्तरेणावश्यं भावेन चाऽभव्यजीवानामप्यन्तराऽन्तरा जघन्यस्थितिबन्धस्य भावान्मतिज्ञानावरणादीनामजघन्यस्थितेरपि बन्धः साद्यध्रुव एव लभ्यते, मतिज्ञानावरणादीनां शेषत्रिविधस्थितेर्निद्रापञ्चकादीनामध्रुवबन्धिनीनां सर्वासां चतुर्विधस्थितेश्च साद्यध्रुवबन्धौ तु सुगमौ, ओघतोऽपि तथाभावादिति । विस्तरत उपपत्तिं समिच्छता तु **मूलस्थितिबन्धसाद्यादिद्वारवृत्तिरनुसरणीयेति** ॥३२९॥

तदेवं कृतमोघतः सर्वमार्गणास्थानेषु च बन्धप्रायोग्यसर्वप्रकृतीनामुत्कृष्टादिचतुर्विधस्थितेः सम्भवत्साद्यादिबन्धविकल्पप्ररूपणम् , कृते च तस्मिन् गतं तृतीयं साद्यादिद्वारम् ॥

॥ इति प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते बन्धविधाने उत्तरप्र० स्थितिबन्धे द्वितीयाधिकारे तृतीय साद्यादिद्वारम् ॥



अथ चतुर्थं कालद्वारम्

गतं साद्यादिद्वारम् । साम्प्रतं कालद्वारावसरः, तत्र च **मूलप्रकृतिस्थितिबन्धविधानद्वितीयाधिकारकालद्वारे** भणितनीत्यौघत आदेशतश्चाष्टधाष्टधा तत्तत्प्रकृतीनां स्थितिबन्धस्योक्तनिरुक्तस्यैकजीवाश्रयकालस्य प्ररूपणं क्रियते, **तद्यथा**–उत्कृष्टस्थितेर्जघन्यबन्धकालः, तस्या एवोत्कृष्टबन्धकालः, अनुत्कृष्टायाः स्थितेर्जघन्यबन्धकालः, तस्या एवोत्कृष्टबन्धकालः इत्येवं जघन्याऽजघन्यस्थित्योरपि प्रत्येकं जघन्योत्कृष्टभेदाद् द्विधा द्विधाऽसौ प्ररूप्यत इत्यजायताऽष्टविधत्वम् । इत्थमेवोत्तरत्राऽन्तरद्वारादिप्ररूपणविषयेऽपि विज्ञातव्यम् । अत्र कालप्ररूपणायामपि स्वामित्वप्ररूपणावल्लाघवार्थं प्रथमतस्तावत्प्रकृतिसंजिघृक्षया संग्रहगाथात्रिकमाह–

मिच्छं थीणद्धितिगं आइम-दुइअ-तइआ कसाया य ।
तिरियदुगं णीअं तह णरदुग-वइराणि उरलं च ॥३४०॥
उरलोवंग-पणिंदिय-तस-परघू-सास-बायरतिगाणि ।
पुम-सुखगइ-पढमागिइ-सुहगतिगु-च-सुरविउवजुगल-जिणा ॥३४१॥ (गीति)
आहारदुगं सायं रइथिरदुग-जस-असाय-अजसा य ।
अरइअथिरदुग-मेत्तो इह जा वुच्चन्ति ता कमा गेज्झा ॥३४२॥(गीतिः)

(प्रे०) "**मिच्छ**"मित्यादि, मिथ्यात्वम् , 'स्त्यानर्द्धित्रिकं' निद्रानिद्रा-प्रचलाप्रचला-स्त्यानगृद्धिप्रकृतित्रयलक्षणम् , 'आदिमाः'अनन्तानुबन्धिक्रोधादिलक्षणाः 'द्वितीयाः' अप्रत्याख्यानावरणक्रोधादिरूपाः 'तृतीयाः' प्रत्याख्यानावरणक्रोधाद्यात्मकाश्चत्वारश्चत्वारः कषायाः, कषायप्रकृतय इत्यर्थः । चः समुच्चये । '**तिर्यग्द्विकं**' तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्वीप्रकृतिद्वयात्मकम् , नीचैर्गोत्रम् , तथाशब्दः समुच्चये । '**नरद्विकं**' मनुष्यगति-मनुष्यानुपूर्वीप्रकृतिद्वयलक्षणम् , "**वइराणि**" त्ति वज्रर्षभनाराचसंहनननाम, औदारिकशरीरनाम च । "**उरलोवंगे**"त्यादि, औदारिकाङ्गोपाङ्गपञ्चेन्द्रियजाति-त्रस पराघातो-च्छ्वासनामानि, बादरत्रिकं बादरपर्याप्तक-प्रत्येकनामप्रकृतित्रयरूपम् । पुरुषवेदमोहनीयं , सुखगतिनाम, "**पढमागिइ**" त्ति प्रथमाकृतिः, समचतुरस्राख्यं प्रथमसंस्थानमित्यर्थः । '**सुभगत्रिकं**' सुभग-सुस्वरा-ऽऽदेयप्रकृतित्रयात्मकम् , उच्चैर्गोत्रम् "**सुरविउवजुगल**' त्ति युगलशब्दस्य प्रत्येकं योजनात् 'सुरयुगलं' देवगति-देवानुपूर्वीप्रकृतिद्वयात्मकं, 'वैक्रिययुगलं' वैक्रियशरीर वैक्रियाङ्गोपाङ्गात्मकं च । जिननाम । "**आहारे**"त्यादि, आहारकद्विकमा-

हारकदेह तदङ्गोपाङ्गप्रकृतिद्वयरूपम्, सातवेदनीयम्, "**रइथिरदुग**" त्ति द्विकशब्दस्य प्रत्येकं योजनाद् 'रतिद्विकं' रतिमोहनीय हास्यमोहनीयप्रकृतिद्वयात्मकम्. 'स्थिरद्विकं' स्थिरनाम-शुभनाम-प्रकृतिद्वयलक्षणम्. यशःकीर्त्तिनाम, असातवेदनीयम्, अयशःकीर्तिनाम। चः प्राग्वत्। "**अरइ-अथिरदुग**" त्ति 'अरतिद्विकम्'-अरतिमोहनीय शोकमोहनीयप्रकृतिद्वयात्मकम्, 'अस्थिरद्विकम्' अस्थिरनामा-ऽशुभनामप्रकृतिद्वयात्मकम्। तदेवमुत्तरत्र 'पुमाइणे' त्यादिना ग्राह्यप्रकृतीर्मिथ्यात्व-मोहनीयादिना क्रमेण व्यवस्थाप्य तासु तेनैव क्रमेण ग्राह्यतयाऽभिदधाति-"**एत्तो इह जा**" इत्यादि, एताभ्यो मिथ्यात्वस्त्यानर्द्धित्रिकादिक्रमेण संस्थापिताभ्यः प्रकृतिभ्यः 'इह'एकजीवाश्रय-कालप्ररूपणप्रस्तावे उत्तरत्र 'पुमाईणे'त्यादिना पुंवेदाद्याः याः प्रकृतय उच्यन्ते, यां पुंवेदादि प्रकृतिमादौ कृत्वा यावत्यः सप्ताद्याः प्रकृतयो वक्ष्यन्त इति भावः, तास्तावत्यः 'पुम-सुखगइ-पढमागिइ-सुइगतिग' इत्यादिना संगृहीताः पुंवेद-सुखगति-प्रथमसंस्थानाद्याः प्रकृतयः 'क्रमाद्'-अनन्तरोक्तक्रमादेव 'ग्राह्याः' ज्ञातव्याः, न त्वन्यत्र स्वामित्वादिप्रकरणे उक्तक्रमाद्, ग्रन्थान्त-रोक्तक्रमाद्वेति ॥२४०-२४२॥

तदेवं लाघवार्थमुत्तरत्रग्राह्यप्रकृतीरिष्टक्रमेण संस्थाप्य ताभ्यस्तेनैव क्रमेण ता ग्राह्यतयाऽऽदिश्य चाऽल्पवक्तव्यत्वादादौ तावदायुष उत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्टस्थित्योर्जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नमेकजीवाश्रयं द्विविधं बन्धकालमानमोघादेशतः प्रदर्शयन् गाथाद्वयमाह—

आऊणुक्कोसाए ठिईअ कालो दुहा भवे समयो।
अगुरूअ मुहुत्तंतो एमेव हवेज्ज सव्वासु ॥२४३॥
णवरि अजेट्ठठिईए हस्सो समयोऽत्थि पणमणवयेसु।
काये उरले विउवे आहारदुगे कसायेसु ॥२४४॥

(प्रे०) "**आऊणे**"त्यादि, आयुषां निरय-तिर्यग्मनुष्य-देवभेदाच्चतुर्विधानामपि, आयु-षश्चतसृणामप्युत्तरप्रकृतीनामिति भावः। उत्कृष्टायाः स्थितेः "**कालो**" त्ति बन्धविधानस्य प्रस्तुत-त्वात् बन्धकालः "**दुहा भवे समयो**" त्ति 'द्विधा' जघन्यत उत्कृष्टतश्च समयो भवेत्, जघन्य-तोऽपि समय उत्कृष्टतोऽपि च समयमात्र एव भवेत् न पुनरधिकः, अधिकृतस्य कर्मरूपतावस्थान-लक्षणस्थितिबन्धमानस्याऽबाधासंगतनिषेकस्थितिमानरूपत्वात्, वेद्यमानायुरवशेषरूपाया अबाधायाः प्रतिसमयं परिगलनेन समयमेकमुत्कृष्टाबाधायाः प्राप्तेश्च। **इदमुक्त भवति**—निरयाद्यायुर्बध्यमानं सद् अन्तर्मुहूर्त्तं बद्ध्वैव विरमति, न तु समयं द्वित्र्यादिसमयान् वा, एवं च तदन्तर्मुहूर्त्तं यावत्प्रति-समयमुत्कृष्टपदे निषेकमधिकृत्य त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणस्थितिकं लभ्यमानमपि सत् कर्मरूपता-वस्थानलक्षणमुत्कृष्टाबाधोपेतम्; अत एव पूर्वकोटीतृतीयभागाभ्यधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थि-तिकं तु पूर्वकोटितृतीयभागावशेषवेद्यमानायुष उत्कृष्टस्थितिक निरयायुर्बध्नत आयुर्बन्धाद्धाऽऽद्य-

समये प्राप्यते, न पुनस्तद्‌द्वितीयादिसमयेषु, तदानीं समयान्तरेषु वेद्यमानायुषः समयादिहीनपूर्वकोटितृतीयभागप्रमाणत्वेनोत्कृष्टाबाधाया अभावात् , इत्थमेव तिर्यगाद्यायुर्विषयेऽपि विज्ञेयमिति । यत उत्कृष्टाबाधा समयमेकं प्राप्यते ततश्चतुर्णामायुषामुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यत उत्कृष्टतश्च बन्धकालः समय एवेति तु सुगममिति ।

अनुत्कृष्टाया आह–'अगुरूअ' इत्यादि, '**कालो दुहा भवे**' इत्यनुवर्तते, ततो निरयादीनां चतुर्णामप्यायुषामगुर्व्याः–अनुत्कृष्टायाः, उत्कृष्टतरस्या इति यावत् । जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नो द्विविधोऽपि कालो 'मुहूर्तान्तः' अन्तर्मुहूर्तं भवेत् , आयुषां प्रकृतिबन्धकालस्यैव जघन्यत उत्कृष्टतो वाऽन्तर्मुहूर्तत्वात् , प्रकृतिबन्धाद्धामध्ये प्रथमं समयं विहायोत्कृष्टस्थितिबन्धस्यासम्भवाच्च, विशेषतस्तु **मूलप्रकृतिस्थितिबन्ध**द्वितीयाधिकारकालद्वारे प्रदर्शितप्रकारेण भावनीय इति ।

अथ लाघवार्थं मार्गणास्थानेष्वपि सापवादमतिदिदिक्षुराह–"**एमेव**" इत्यादि, 'एवमेव' यथा ओघतः काल उक्तस्तथैव '**सर्वासु**' यासु यस्या यस्या निरयाद्यायुःप्रकृतेर्बन्धो भवति तासु, निरयगत्योघादिसर्वमार्गणास्वित्यर्थः । अपवादपदान्याह–"**णवरि**" इत्यादि, 'नवरं' केवलं बन्धप्रायोग्यायुषामनुत्कृष्टस्थितेः 'ह्रस्वः'–जघन्यो बन्धकालः 'समयः'–समयमात्रो भवति, कास्वित्याह–"**पणमणे**"त्यादि, पञ्चमनोयोग-पञ्चवचोयोगेषु, काययोगसामान्ये, औदारिककाययोगे, वैक्रियकाययोगे, आहारक-तन्मिश्रकाययोगयोः, क्रोध-मान-माया-लोभलक्षणेषु चतुर्षु कषायेष्वित्येवं सर्वसंख्ययैकोनविंशतिमार्गणासु प्रत्येकम् । कथम् ? इति चेद् , आयुर्बन्धचरमसमये तत्तन्मनोयोगादीनां वचोयोगादिमार्गणान्तरतया परावृत्तेः सम्भवात् , आयुर्बन्धप्रारम्भद्वितीयसमयेऽपि प्रस्तुतमनोयोगादिमार्गणानां वचोयोगादिमार्गणान्तरतया परिणतेरविरोधाद्वेत्यादि प्राग् **मूलप्रकृतिस्थितिबन्धविधानवृत्तौ** भावितनीत्या विभावनीयमिति ॥३४३-३४४॥

तदेवमुक्त आयुःप्रकृतीनामुत्कृष्टाऽनुत्कृष्टस्थित्योर्जघन्योत्कृष्टद्विविधबन्धकाल ओघाऽऽदेशतः । अथोक्तान्यप्रकृतीनां प्रस्तुतकालं प्रचिकटयिषुरादौ तावद्गाथापञ्चकेनौघत आह—

जेट्ठठिईअ कणिट्ठो भिन्नमुहुत्तं जिणस्स सेसाणं ।
समयो णेयो जेट्ठो सव्वाण भवे मुहुत्तंतो ॥३४५॥
धुवबंधिजिणाण भवे अगुरुठिईए लहू मुहुत्तंतो ।
समयो सेसाण गुरू धुव-उरलाणं असंखपरियट्टा ॥३४६॥
बत्तीससागरसयं सत्तपुमाईण तितिरियाईणं ।
लोगा-ऽसंखा णरदुग-वइराणं जलहितेत्तीसा ॥३४७॥

णेयो सुराइगाणं चउण्ह तिण्णि पलिओवमाऽब्भहिया ।
पणसीइसागरसयं पणिंदिआईण सत्तण्हं ॥३४८॥
उरलोवंग-जिणाणं तेत्तीसा सागरोवमाऽब्भहिया ।
अंतमुहुत्तं हवए बायालीसाअ सेसाणं ॥३४९॥

(प्रे०) "जेट्ठठिईअ" इत्यादि, ओघतो जिननाम्नो ज्येष्ठस्थितेः 'कनिष्ठः' ह्रस्वो बन्धकालो 'भिन्नमुहूर्तम्'–अन्तर्मुहूर्तं भवति, कुतः ? ओघतो मिथ्यात्वाभिमुखानां तत्स्वामित्वात्, एतदुक्तं भवति–मिथ्यात्वाद्यभिमुखावस्थायां प्रवर्तमानाः स्थितिबन्धा निर्व्याघातेनान्तर्मुहूर्तं यावत्प्रवर्तन्ते, तदानीं यथोत्तरवर्धमानसंक्लेशस्यैव प्राप्तेः, एवं सम्यक्त्वाद्यभिमुखावस्थायां विशुद्धिविषयेऽपि विज्ञेयम्, एतच्च मूलप्रकृतिस्थितिबन्धविधानद्वितीयाधिकारकालद्वारे विस्तरेण भावितमेवेति नात्र प्रपञ्च्यते, विस्तरार्थिना तत्रत्या वृत्तिर्विलोकनीया । "सेसाणं समयो णेयो" इति, आयुश्चतुष्कजिननामवर्जानां मतिज्ञानावरणादिपञ्चदशोत्तरशतप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितेः कनिष्ठो बन्धकालः समयो ज्ञेयः, कुतः? शेषप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य मिथ्यात्वाभिमुखाद्यवस्थाया अन्यत्र भावात्, तदानीं चोत्कृष्टस्थितिबन्धप्रयोजकानां साकारोपयोगादीनां परावृत्तेरविरोधेनोत्कृष्टस्थितिबन्धप्रारम्भद्वितीयसमय एव स्थितिबन्धान्तरप्रवृत्तेः सम्भवात् । ननु मा भवतूक्तनीत्या मतिज्ञानावरणादीनामुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यबन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तमात्रः, आहारकद्विकस्य त्वसावन्तर्मुहूर्तं स्यात्, प्रमत्तगुणाभिमुखानां तस्योत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वाद् ? इति चेद्, न, प्रमत्ताऽप्रमत्तयोः सर्वसंयतरूपेणैकतया तयोः परस्पराभिमुखावस्थाया अतथात्वेनाऽप्रमत्तावस्थायाश्चरमसमये समयमेकमप्युत्कृष्टस्थितिबन्धस्य सम्भवादिति ।

"जेट्ठो सव्वाण भवे मुहुत्तंतो" त्ति आयुश्चतुष्कवर्जानां सर्वासां षोडशोत्तरशतप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितेः 'ज्येष्ठः' उत्कृष्टो बन्धकालो मुहूर्तान्तो भवति, सुगमम्, तत्तदेकैकस्थितिबन्धस्थानलक्षणस्थितिबन्धप्रायोग्याध्यवसायानामुत्कृष्टतोऽप्यन्तर्मुहूर्तं यावदेव प्रवर्तनात् । उत्कृष्टस्थितिबन्धस्यैकस्थितिबन्धस्थानात्मकत्वाच्चेति ।

अथानुत्कृष्टस्थितेराह– "धुवबंधि" इत्यादि, मतिज्ञानावरणादिसप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां जिननाम्नश्च 'अगुरुस्थितेः' अनुत्कृष्टायाः स्थितेः 'लघुः' ह्रस्वो बन्धकालो मुहूर्तान्तो भवेत्, न पुनः समयः । कथं न समयः ? इति चेद्, उच्यते, नानास्थितिबन्धस्थानात्मकस्यानुत्कृष्टादिस्थितिबन्धस्य समयमात्रो जघन्यकालो द्विधा लभ्यते, तत्राद्या विधा–प्रकृतिबन्धजघन्यकालस्य समयमात्रत्वसद्भावलक्षणा, न चैषा इह सम्भवति, प्रस्तुतप्रकृतीनां जघन्यबन्धकालस्यौघतोऽन्तर्मुहूर्तत्वात् । तथा चोक्तं महामहोपाध्यायैः कर्मप्रकृतिवृत्तौ–ज्ञानावरणपञ्चका-

ऽन्तरायपञ्चक दर्शनावरणनवक कषायषोडशक--मिथ्यात्व-भय-जुगुप्सा--ऽगुरुलघु--निर्माण-तैजस-कार्मणोपघात-वर्णचतुष्टयरूपा. सप्तचत्वारिंशद् ध्रुवबन्धिन्य. जिननामायुश्चतुष्टय चेति द्विपञ्चाशत्, एतासां बन्धो ह्यन्तर्मुहूर्तमध्ये न विच्छिद्यते' इति । द्वितीयप्रकारस्तु-प्रकृतिबन्धजघन्याद्धाया अन्तर्मुहूर्तादिमात्रत्वेऽपि प्रकृतिबन्धाद्धाया द्वितीयसमये द्विचरमसमये वा प्रतिपक्षभूतोत्कृष्टादिस्थितिबन्धस्य प्राप्तिलक्षणः, अयमपीह न सम्भवत्येव, कुतः ? एतद्ध्रुवबन्धिप्रकृत्योधिकबन्धाद्धाद्वितीय-द्विचरमसमयलक्षणसमयद्वयस्य गुणान्तराभिमुखावस्थायामुपशमश्रेणौ क्षपकश्रेणौ वाऽलाभात्, अनुत्कृस्थितिबन्धविपक्षभूतस्योत्कृष्टस्थितिबन्धस्य तु ततोऽतिदूरेण बहुसंख्येयादिस्थितिबन्धान्तरेणैव भावाच्च। **इदमुक्तं भवति**-ओघतो मतिज्ञानावरणादितत्तद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां बन्धप्रारम्भ उपशमश्रेणितः प्रतिपततः सूक्ष्मसम्परायादितत्तद्गुणस्थानप्रारम्भे लभ्यते, नान्यदा, तासामबन्धोऽप्येवमेव, केवलं वैपरीत्येनाविरतसम्यग्दृष्ट्यादितत्तद्गुणस्थानप्राप्तौ समवाप्यते, न पुनस्तत्पूर्वमखिलेऽपि भवचक्रे, औघिकोत्कृष्टस्थितिबन्धस्तु आसां मतिज्ञानावरणादीनां मिथ्यात्वगुणस्थाने एव, तत्रापि न तत्प्रारम्भे, तत्र तत्स्वामिनस्तथाविधसंक्लेशाऽसम्भवाद्, अपि तु जघन्यतोऽपि बहुसंख्येयाननुत्कृष्टस्थितिबन्धानतिक्रम्योत्कृष्टसंक्लेशस्येषन्मध्यमसंक्लेशस्य वाऽवाप्तौ, तथा च प्रकृतिबन्धाद्धाद्वितीय-द्विचरमसमययोरनुत्कृष्टस्थितिबन्धविपक्षभूतस्योत्कृष्टस्थितिबन्धस्याऽसम्भवान्न भवत्योघतो मतिज्ञानावरणादिध्रुवबन्धिप्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य जघन्यकालः समयमात्र इति ।

"**समयो सेसाण**" त्ति निगदितशेषाणां सातवेदनीयादीनामष्टषष्टिप्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितेर्लघुर्बन्धकालः समयप्रमाणः । कुतः ? तासां प्रकृतिबन्धकालस्य जघन्यतः समयमात्रत्वात् ।

अथोत्कृष्टत आह—"**गुरू**" इत्यादि, ध्रुवबन्धिनीनां मतिज्ञानावरणादीनां सप्तचत्वारिंशत्संख्याकानामौदारिकशरीरनाम्नश्च "**असंखपरियट्टा**" त्ति अनुत्कृष्टस्थितेर्गुरुबन्धकालोऽसंख्येयपुद्गलपरावर्तप्रमाण इत्यर्थः । सुगमम्, एकेन्द्रियाद्यवस्थायामसंख्येयपुद्गलपरावर्तान् यावद् आसां प्रकृतीनामविरततया बध्यमानत्वात्, एकेन्द्रियादीनां संज्ञिवर्जानामासामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वाभावेन तावत्कालमनुत्कृष्टस्थितिबन्धस्यैव प्रवर्तनाच्चेति ।

"**बत्तीससागरसय**"मित्यादि, "**सत्तपुमाईण**" त्ति 'पुम-सुखगइ-पढमागिइ-सुहगतिगु-च्चे' त्येतावता संग्रहगाथांशेन संगृहीतानां पुंवेद-प्रशस्तविहायोगति-समचतुरस्रसंस्थान-सुभग-सुस्वरा-ऽऽदेयनामो-च्चैर्गोत्रलक्षणानां सप्तप्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितेर्गुरुबन्धकालो द्वात्रिंशदधिकशतं सागरोपमाणि भवति, कुतः ? तासां प्रकृतिबन्धकालस्योत्कृष्टतस्तावत्प्रमाणत्वात्, उक्तं च **पञ्चसंग्रहे**--"चउरस-उच्च-सुभखगइ-पुरिस-सुस्सरतिगाणि छावट्ठि । विगुणा" इति, न चैतावत्कालमध्ये एतासामुत्कृष्टस्थितिबन्धसम्भवः, एतासामौघिकोत्कृष्टस्थितिबन्धस्य मिथ्यादृष्टिस्वामिकत्वात्, एतावत्कालस्य तु सम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्वावस्थया पूरणाच्च, इत्थं चोत्कृष्टस्थितिबन्धाभावे ताव-

न्काल तासामनुत्कृष्टस्थितिबन्ध एव प्रवर्तत इति ।

'तितिरियाईण''मिति "तिरियदुगं णीअ"मित्यनेन संगृहीतानां तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्वी-लक्षणतिर्यग्द्विक-नीचैर्गोत्रात्मिकानां तिसृणां प्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टबन्धकालस्तु **"लोगाऽसंखा"** त्ति क्षेत्रतोऽसंख्येयलोकप्रमाणः, कालतस्त्वसंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः । अयमपि तासां तिसृणां प्रकृतिबन्धोत्कृष्टकालानुसारेणैव भावनीयः, तावत्प्रकृतिबन्धकालपूरकेषु तेजोवायुकायिक-भवेष्वासामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्याऽभावेन नैरन्तर्येणानुत्कृष्टस्थितिबन्धस्यैव प्रवर्त्तनादिति ।

"णरदुग-वइराणं जलहितेत्तीसा" त्ति मनुष्यद्विकं मनुष्यगति-तदानुपूर्वीलक्षणं वज्र-र्षभनाराचसंहननं चेत्येतासां तिसृणां प्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टो बन्धकालस्त्रयस्त्रिंशत्सागरो-पमप्रमाण इत्यर्थः । अयमप्यनन्तरोक्तनीत्यैव भावनीयः, तावत्प्रकृतिबन्धकालस्योत्कृष्टस्थितिकाऽ-नुत्तरदेवभवेन पूरणात् , अनुत्तरदेवानां च सम्यग्दृष्टितयैतत्प्रतिपक्षप्रकृतीनां मिथ्यात्वप्रत्ययस्यासा-मुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य चाभावेन तावत्कालमनुत्कृष्टस्थितिबन्धस्यैव प्रवर्तनादिति ।

"णेयो सुराईगाण"'मित्यादि, 'सुर-विउवजुगले' त्येतावता संग्रहगाथांशेन संगृहीतानां देवगति देवानुपूर्वी वैक्रियदेह-वैक्रियाङ्गोपाङ्गलक्षणानां चतसृणां प्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टो बन्धकालः **"तिण्णि पलिओवमाऽब्भहिया"** त्ति त्रीणि पल्योपमान्यन्तर्मुहूर्तोनपूर्वकोटि-तृतीयभागेनाभ्यधिकानीत्यर्थः, कथम् ? उत्कृष्टप्रकृतिबन्धकालस्य तावत्प्रमाणत्वात् , तावत्कालपू-रकावस्थायां तासामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्याऽसम्भवाच्च । **एतदुक्तं भवति**—यः कश्चित् पूर्वकोटि-स्थितिको मनुष्यस्तृतीयभागावशेषे स्वायुषि आयुर्बन्धाद्धामवाप्यान्तर्मुहूर्तं यावत् त्रिपल्योपमस्थि-तिकं युग्मिभवमत्कमायुर्निर्वर्तयति,आयुर्बन्धे च समाप्तेऽविलम्बेन सम्यक्त्वमधिगम्य क्रमेण क्षायिक-सम्यक्त्वं च प्रतिपद्यैतत्प्रकृतिचतुष्कं नैरन्तर्येण बध्नाति यावद्भवचरमसमयः, कस्मात् ? ताव-त्कालं सम्यक्त्वस्याऽप्रतिपतनेन प्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धप्रायोग्यत्वाभावात् । तदूर्ध्वं युग्मितयोत्पद्य तत्राऽपि भवप्रथमसमयादारभ्याऽऽमरणमेतद् देवगत्यादिप्रकृतिचतुष्कं नैरन्तर्येण निर्वर्तयति, तदूर्ध्वं तु देवतयोत्पत्त्या भवप्रथमसमयादेव मनुष्यगत्यादीनां बन्धप्रवर्तनादिना देवगत्यादिप्रकृतिबन्धो विच्छिद्यते, तथा च प्रस्तुतदेवगति-देवानुपूर्वी वैक्रियदेह-तदङ्गोपाङ्गनाम्नामुत्कृष्टप्रकृतिबन्धकालो यथोक्तः समुपलभ्यते, तत्र च प्राग्भवे सम्यक्त्वस्य सद्भावाद् युग्मिभवे ताथास्वाभाव्येन मन्द-कषायोदयाच्च न भवत्यासामोघोत्कृष्टस्थितिबन्धः, तदभावे तु यथोक्तकालं तासामनुत्कृष्टस्थिति-बन्ध एव लभ्यत इति ।

"पणसोई"'त्यादि, "पणिंदिय-तस-परघू-सास-बायरतिगाणि" इत्येतावता सगृहीतानां पञ्चेन्द्रियजाति त्रस-पराघातो-च्छ्वास-बादर-पर्याप्तक-प्रत्येकनामलक्षणानां सप्तानां प्रकृतीनामनुत्कृ-

ष्टस्थितेरुत्कृष्टबन्धकालः पञ्चाशीत्यधिकसागरोपमशतम् । अयमपि गुणभवप्रत्ययान्निरन्तरं जायमानसमधिकप्रकृतिबन्धकालापेक्षया ज्ञेयः, उक्तश्च पञ्चसंग्रहवृत्तावासामुत्कृष्टप्रकृतिबन्धकालः—

'पराघातोच्छ्वासत्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकरूपत्रसचतुष्कपञ्चेन्द्रियजातिरूपा सप्त प्रकृतयो जघन्यतः समयमेक बन्धमायान्ति, उत्कर्षतः सागरोपमाणां पञ्चाशीत शत, कथम् ? इति चेद् , उच्यते, इह षष्ठ्या पृथिव्यामुत्कर्षतो नारकाणां स्थितिर्द्वाविंशतिसागरोपमाणि, न च तत्रोक्तत्रिपक्षभूताः प्रकृतयो बन्धमायान्ति, तथाभवस्वाभाव्यात् । योऽपि च नारको भवान्ते सम्यक्त्वमासाद्य मनुष्येष्वागच्छति तस्यापि तत्र सम्यक्त्वप्रत्ययतो विवक्षितप्रकृतिप्रतिपक्षप्रकृतयो न बन्धमागच्छन्ति । तत स मनुष्योऽनुत्तर सयममनुपाल्य ग्रैवेयकेष्वेकत्रिंशत्सागरोपमस्थितिको देवो जात , स च तथाविधाध्यवसायपरिणतिवशेन अल्पकालानन्तर मिथ्यात्वमासादितवान । च्यवनकाले च भूयः सम्यक्त्वमासाद्य मनुष्यमध्ये समागत्य षट्षष्टिसागरोपमप्रमाण सम्यक्त्वकालमच्युते वारत्रयगमनेन पूरयति ततोऽन्तर्मुहूर्तकाल यावत् सम्यग्मिथ्यात्वमनुभवति, तत पुनरपि ससम्यक्त्वं विजयादिषु वारद्वयगमनेन षट्षष्टिसागरोपमाण्यनुभवति, न चैतेषु स्थानेषु भवप्रत्ययतो गुणप्रत्ययतो वा विवक्षितप्रकृतीनां विपक्षभूता प्रकृतयो बन्धमायान्ति, ततो विवक्षितप्रकृतीना पराघातादीना पञ्चाशीत शत सागरोपमाणामुत्कर्षतो बन्धकालः ।' इति ।

नन्वेवमपि कथं तावत्कालमनुत्कृष्टस्थितिबन्ध एव, न पुनर्मध्य उत्कृष्टस्थितिबन्धोऽपि ? इति चेद् , पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाद्यवस्थायामप्युत्कृष्टस्थितिबन्धप्रायोग्याध्यवसायानामुत्कृष्टतोऽतिबहुदीर्घान्तरेण प्राप्तेः । अयम्भावः—यथा कश्चिज्जीवो नारकभवेऽन्तर्मुहूर्ताद्यन्तरेण प्रस्तुतप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धं करोति तथा प्रस्तुतोत्कृष्टप्रकृतिबन्धकालस्य निर्वाहकः कश्चिज्जीवस्तु यावज्जीवं तं नाऽपि करोति, कुतः ? नानाजीवानाश्रित्य मूलप्रकृत्युत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरस्य क्षेत्रतोऽङ्गुलासंख्येयभागप्रमाणत्वाभिधानात् । शेषकालपूरकभवेषु तु तस्योत्कृष्टस्थितिबन्धयोग्यतैव न वर्तते, ग्रैवेयकभवे शुक्ललेश्यत्वात् , अन्यभवेषु तु सम्यग्दृष्टित्वाच्च इत्थं चोत्कृष्टप्रकृतिबन्धकालं यावत्तथास्वाभाव्यादिना न भवति केषाञ्चिदुत्कृष्टस्थितिबन्धः, तदभावेऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धो भवतीति तु सुगमः ।

वस्तुतस्तु—यासा प्रकृतीना बन्धकालोऽङ्गुलाऽसंख्यभागस्तदधिको वा ताः प्रकृतीर्विहाय शेषसातवेदनीयादिप्रकृतिविषये न तथाविधनियमः यत्सातवेदनीयादेरुत्कृष्टप्रकृतिबन्धकाल यावत्तां बध्नतो जीवस्येयति कालेऽतिक्रान्ते नियमतः सातवेदनीयादेरुत्कृष्टस्थितिबन्धेन भवितव्यमेवेति । इत्थं च तादृक्सातवेदनीयादिप्रकृतीनां यावान्प्रकृतिबन्धकालो भवति समयादिनाऽन्यूनस्तावानेवाऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धस्योत्कृष्टकालः प्राप्यते, उत्कृष्टस्थितिबन्धनियमाभावेन तावत्कालमविच्छेदेनाऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य प्रवर्तनात् । एवं च पञ्चेन्द्रियजात्यादिप्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टबन्धकालोऽन्यूनोत्कृष्टप्रकृतिबन्धकालतुल्य एव प्राप्यते, तासां प्रकृतिबन्धकालस्यैवाऽङ्गुलाऽसंख्यभागाऽपेक्षया स्तोकत्वात् । इत्थमेव पूर्वत्र पुंवेदादिप्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितिबन्धस्योत्तरत्रौदारिकाङ्गोपाङ्गादिप्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य चोत्कृष्टकालोत्पत्तिबीजमवसातव्यम् । एवमेवोत्तरत्र मार्गणास्थानेषु तथौघादेशतोऽजघन्यस्थितिबन्धोत्कृष्टकालविषयेऽपि विभावनीयम् । यत्तु तत्र तत्र गुण-

भवादिप्रत्ययादुत्कृष्टस्थितिबन्धाऽसम्भवद्वारेणोत्कृष्टप्रकृतिबन्धकालं यावदनुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य निराबाधताप्रदर्शनं तत्तु विशेषरूपेणैव, सामान्यतस्तूपर्युक्तनियमाभावप्रयुक्त एव पुंवेदादिप्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितिबन्धस्योत्कृष्टकालः प्रकृतिबन्धकालतुल्य इत्यलं पल्लवितेन ।

"उरलोवंग" इत्यादि, औदारिकाङ्गोपाङ्ग-जिननाम्नोरनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टबन्धकालोऽभ्यधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि भवति । तत्रौदारिकाङ्गोपाङ्गस्य कालोऽन्तर्मुहूर्तेनाभ्यधिको द्रष्टव्यः, जिननाम्नोऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धकालस्तु देशोनपूर्वकोटीद्वयेन । कुतः ? उत्कृष्टप्रकृतिबन्धकालस्य तथात्वात् । **भावना त्वेवम्**—यः कश्चिदुत्कृष्टस्थितिकसप्तमभूमिनारको यावज्जीवमौदारिकाङ्गोपाङ्गं बध्नन्नपि तस्योत्कृष्टस्थितिबन्धं न करोति, ततश्च च्युत्वा तिर्यक्त्वेनोत्पद्याऽपर्याप्तावस्थायां वैक्रियद्विकस्य बन्धप्रायोग्यत्वाभावादौदारिकदेहादिप्रकृतीर्बध्नन् यावदेकेन्द्रियप्रायोग्यप्रकृतीनां बन्धं न करोति तावत्कियत्कालमौदारिकाङ्गोपाङ्गं तस्यानुत्कृष्टस्थितिं च बध्नाति, इत्येवमुत्कृष्टस्थितिकनिरयभवसत्कानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि तिर्यग्भवाऽऽद्यान्तर्मुहूर्तं चैतावान् काल उत्कृष्टतः प्राप्यते, जिननाम्नस्तूत्कृष्टस्थितिकाऽनुत्तरभवसत्कस्तत्पूर्वोत्तरभवसत्कश्च समन्वितः सन् यथोक्तो विज्ञेय इति ।

उक्तशेषाणामाह—**"अंतमुहुत्त"**मित्यादि, उक्तशेषाणां प्रथमवर्जसंस्थानपञ्चक-प्रथमवर्जसंहननपञ्चक-जातिचतुष्क-स्थावरदशक-हास्य-रति-शोका-ऽरति-नरकद्विका-ऽऽहारकद्विका-ऽऽतपोद्यात-स्त्रीवेद-नपुंसकवेद-स्थिर--शुभ-यशःकीर्ति--सातवेदनीया-ऽसातवेदनीया-ऽप्रशस्तविहायोगतिरूपाणां द्विचत्वारिंशत्संख्याकानां प्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टो बन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तं भवेत् , कुतः ? तासां प्रकृतीनामुत्कृष्टबन्धकालस्यैवाऽन्तर्मुहूर्तत्वात् , उक्तं च **मलयगिरिपादैः पञ्चसंग्रहवृत्तौ**—

" प्रथमवर्जसंस्थानपञ्चकप्रथमवर्जसंहननपञ्चकैकद्वित्रिचतुरिन्द्रियजातिस्थावरदशकहास्यरत्यरतिशोकनरकद्विकाहारकद्विकातपोद्योतस्त्रीवेदनपुंसकवेदस्थिरशुभयशःकीर्त्यसातवेदनीया ऽप्रशस्तविहायोगतिरूपाणामेकचत्वारिंशत्संख्याकानां प्रकृतीनां जघन्यतः समयमात्रं बन्धः, उत्कर्षतोऽन्तर्मुहूर्तं, तत ऊर्ध्वं बन्धमधिकृत्य नियमत एताः परावर्तन्ते' इति । सातवेदनीयस्योत्कृष्टबन्धकालस्तु "देसूणपुव्वकोडी साय"मिति **पञ्चसंग्रह**वचनाद् देशोनपूर्वकोटीवर्षमितः प्राप्यते, नवरमसौ सयोगिकेवलिनमपेक्ष्य, स च नात्राधिकृतः, स्थितिबन्धस्य प्रस्तुतत्वेन साम्परायिकबन्धस्यैवाधिकृतत्वात् तदपेक्षया तु तस्योत्कृष्टतोऽप्यन्तर्मुहूर्तमात्रप्राप्तेरित्यतो यथोक्तपाठे एकचत्वारिंशतो ग्रहणम् , प्रस्तुतग्रन्थे तु द्विचत्वारिंशत उपादानं चेति ॥३४५-३४९॥

तदेवं प्ररूपितः सर्वासामुत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टेतरस्थित्योर्जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नो द्विविधोऽपि बन्धकाल ओघतः । सम्प्रत्यादेशतस्तं विभणिषुः प्रथमं तावदायुर्वर्जबन्धप्रायोग्यशेषसर्वप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यबन्धकालं सर्वमार्गणास्थानेषु गाथापञ्चकेनाह—

जेट्ठठिईअ जहण्णो सत्तमणिरयम्मि णरदुगुच्चाणं ।
भिन्नमुहुत्तं समयो सेसाणं आउवज्जाणं ॥३५०॥
तिमणुस-दुपणिंदितस-तिवेअ-अयत-णयण-इयर-किण्हासु ।
सण्णि-भवा-ऽऽहारेसुं जिणस्स णेयो मुहुत्तंतो ॥३५१॥
समयो सेसाण भवे खणो उवसमम्मि णवजिणाईणं ।
णेयो भिन्नमुहुत्तं सेसाणं अट्ठसट्ठीए ॥३५२॥
चउणाण-संजमेसुं समइअ-छेअ-परिहार-देसेसुं ।
ओहिम्मि य सम्मत्ते वेअग-मीसेसु बोद्धव्वो ॥३५३॥
आहारदुगाईणं अट्ठण्ह भवे खणो मुहुत्तंतो ।
सेसाणं पयडीणं समयो सेसासु सव्वेसिं ॥३५४॥

(प्रे०) **"जेट्ठठिईअ जहण्णो"** इत्यादि, सप्तमपृथिवीनिरयभेदे **"णरदुगुच्चाण"**-मिति मनुष्यगति-मनुष्यानुपूर्व्युच्चैर्गोत्रलक्षणानां तिसृणां प्रकृतीनां 'ज्येष्ठायाः'—उत्कृष्टायाः स्थितेः 'जघन्यः'—ह्रस्वो बन्धकालो **"भिन्नमुहुत्त"**—मिति अन्तर्मुहूर्तं भवति । कुतः ? आसां तिसृणां प्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य स्वामिनो मिथ्यात्वाभिमुखत्वात् ।उक्तञ्च प्राक् **स्वामित्वद्वारे**—'मिच्छत्तसंमुहो तह सम्मद्दिट्ठी तप्परिहसंकिट्ठो । सत्तमणेरइए खलु तिण्णेयो णरदुगुच्चाणं ॥१७०॥' इति । मिथ्यात्वाभिमुखाद्यवस्थायां जायमानाः स्थितिबन्धा अन्तर्मुहूर्तं प्रवृत्त्यैव विरमन्तीति त्वभिहितमेव, एवमुत्तरत्रापि विज्ञेयमिति ।

"समयो सेसाणं आउवज्जाण"मिति सप्तमपृथिवीनिरयभेदे बन्धप्रायोग्याणां नरद्विकोच्चैर्गोत्रवर्जानां शेषाणां मतिज्ञानावरणादीनां **"आउवज्जाणं"** ति सर्वमार्गणास्वायुः-प्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धकालस्य प्रागेव भणितत्वात् बन्धप्रायोग्यतिर्यगायुर्वर्जानां पञ्चनवतिप्रकृतीनां प्रस्तुतोत्कृष्टस्थितेर्ह्रस्वो बन्धकालः समयमात्रो भवति, मिथ्यात्वाद्यभिमुखावस्थाया अन्यत्र तासा-मुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य भावात् । **अयम्भावः**—क्षपकश्रेणिं मिथ्यात्वाद्यभिमुखावस्थाश्च विहायान्यत्र भाविन एकैकस्थितिबन्धस्थानात्मका उत्कृष्टस्थितिबन्धा जघन्यस्थितिबन्धा वा साकारोपयोगपरा-वर्तनादिना निमित्तेन तथास्वाभाव्येन वा कदाचित् समयमपि प्रवृत्य विरमन्ति, तथा च तेषां कालो जघन्यतः समयमात्रः प्राप्यते, प्रकृतेऽपि प्रस्तुतप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य तथात्वात्तदीयो जघन्यबन्धकालः समयमात्रः कथितः । एवमेवान्यत्राऽपि विभावनीयमिति ।

"तिमणुसे"त्यादि, 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्ते'रपर्याप्तभेदवर्जेषु त्रिषु मनुष्यौघ पर्याप्त-

मनुष्य-मानुषीलक्षणेषु मार्गणाभेदेषु तथैवापर्याप्तभेदवर्जयोर्द्वयोः पञ्चेन्द्रियौघ-तत्पर्याप्तभेदयोर्द्वयोश्च त्रसकायौघ-तत्पर्याप्तभेदयोः, त्रिषु वेदमार्गणाभेदेषु, असंयमे, चक्षुरचक्षुर्दर्शनयोः, कृष्णलेश्या-संज्ञि-भव्या-ऽऽहारकमार्गणास्थानेषु चेत्येवं सर्वसंख्यया सप्तदशमार्गणासु प्रत्येकं "जिणस्स" त्ति जिननाम्न उत्कृष्टस्थितेर्जघन्यो बन्धकालो 'मुहूर्तान्तः'–मुहूर्ताभ्यन्तरवर्ती ज्ञेयः । कुतः ? प्रत्येकमोघवन् मिथ्यात्वाभिमुखानां तत्स्वामित्वात् । उक्तं च अत्रैवाधिकारे प्राक् स्वामित्वद्वारे ' · तिणरेपु ओघव्वाऽऽहारदुगजिणाण भवे ॥१७६॥ ओवव्व जाणियव्वो सप्पाउग्गाण सव्वपयडीण । दुपणिदितसेसु तह' ॥१८४॥ त्यादि ।

"समयो सेसाण भवे" इति एतासु मनुष्यौघादिसप्तदशमार्गणासु जिननामवर्जानां प्रस्तुतानामायुर्भिन्नाना बन्धप्रायोग्याणां मतिज्ञानावरणादिशेषसर्वप्रकृतीनामुत्कृष्टायाः स्थितेर्जघन्यो बन्धकालः समयो भवेत्, मिथ्यात्वाभिमुखाद्यवस्थाया अन्यत्रैवाऽऽसां शेषप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य जायमानत्वात् । "खणो उवसमम्मि णवजिणाईण"मिति औपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां "जिणा ॥३४१॥ आहारदुग साय रइथिरदुग जस" इत्येतावता संगृहीतानां जिननामा ऽऽहारकद्विक-सातवेदनीय-हास्य-रति-स्थिर शुभ यशःकीर्तिनामलक्षणानां नवानां जिनादिप्रकृतीनां ज्येष्ठस्थितेर्जघन्यो बन्धकालः 'क्षणः' समयो भवति । अत्र हेतुस्तु प्राग्वद्विज्ञेयः ।

शेषप्रकृतीनामाह--"णेयो भिन्नमुहुत्त"मित्यादि, उक्तनवप्रकृतिवर्जानां शेषाणामष्टषष्टिप्रकृतीना ज्येष्ठस्थितेर्जघन्यबन्धकालस्तु 'भिन्नमुहूर्तम्'-अन्तर्मुहूर्तं भवति, मिथ्यात्वाभिमुखानां तदीयोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वादिति । **शेषप्रकृतयस्तु नामत इमा**–ज्ञानावरणपञ्चक दर्शनावरणचतुष्क-निद्राद्विका-ऽसातवेदनीया ऽप्रत्याख्यानावरणचतुष्क-प्रत्याख्यानावरणचतुष्क-संज्वलनचतुष्क-शोका-ऽरति-भय-जुगुप्सा पुंवेदमोहनीय देवद्विक–मनुष्यद्विक- पञ्चेन्द्रियजाति--वैक्रियद्विकौदारिकद्विक -तैजस कार्मणशरीर–प्रथमसंहनन--प्रथमसंस्थान वर्णचतुष्क प्रशस्तविहायोगति पराघातोच्छ्वासा-ऽगुरुलघु-निर्माणो पघात-त्रसचतुष्का-ऽस्थिरा-ऽशुभा ऽयशःकीर्ति सुभगत्रिको-च्चैर्गोत्रा-ऽन्तरायपञ्चकानीति ।

"चउणाणे"त्यादि, मतिज्ञान-श्रुतज्ञाना ऽवधिज्ञान-मनःपर्यवज्ञानलक्षणेषु चतुर्षु ज्ञानमार्गणास्थानेषु, संयमौघे, सामायिक-छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धिकसंयम-देशसंयमेषु, अवधिदर्शने, सम्यक्त्वौघे, "वेअगमीसेसु" त्ति क्षायोपशमिकसम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्वयोरित्येवं सर्वसंख्यया त्रयोदशमार्गणासु प्रत्येकं बोद्धव्यः, कासां कियानित्याह–"आहारे"त्यादि, 'आहारदुग साय' मित्यादिना संगृहीतानामाहारकद्विक–सातवेदनीय हास्य-रति स्थिर शुभ-यशःकीर्तीनामन्यतमस्या बन्धप्रायोग्यप्रकृतेर्ज्येष्ठस्थितेर्जघन्यो बन्धकालः 'क्षणः'–समयो भवेत् । अत्र "आहारदुगाईणं अद्धणहे"त्येवमुक्त ऽप्याहारकद्विकाद्यष्टप्रकृतीनामन्यतमस्या बन्धप्रायोग्यप्रकृतेरिति

व्याख्यानं तु देशसंयम-सम्यग्मिथ्यात्वमार्गणयोराहारकद्विकस्य बन्धप्रायोग्यत्वाभावेन तदग्रहणार्थम्, अर्थात् देशसंयमसम्यग्मिथ्यात्वमार्गणयोः सातवेदनीयादिषट्प्रकृतीनामन्यतमस्या ज्येष्ठस्थितेर्जघन्यबन्धकालः समय इति विज्ञेयम्।

आहारकद्विकादिवर्जानामाह–"**मुहुत्तंतो सेसाण**"मित्यादि, उक्ताऽऽहारकद्विकादीरायुःप्रकृतीश्च संत्यज्य शेषाणां मतिज्ञानावरणादीनां प्रस्तुतमार्गणासां बन्धप्रायोग्यप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यबन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तमित्यर्थः। हेतुस्तु प्राग्वत्प्रस्तुतशेषप्रकृत्युत्कृष्टस्थितिबन्धस्य मतिज्ञानादिमार्गणासु मिथ्यात्वाभिमुखस्वामिकत्वात्, मनःपर्यवज्ञानादिषु तु तस्याविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानाभिमुखावस्थायां जायमानत्वादित्यादिरूपो विज्ञेयः।

अथोक्तशेषमार्गणास्वाह–"**समयो सेसासु सव्वेसि**"मिति, उक्तशेषासु निरयगत्योघाद्यष्टत्रिंशदुत्तरशतमार्गणासु '**सव्वेसिं**' ति प्रस्तुतत्वादायुर्वर्जानां सर्वासामुत्तरप्रकृतीनां ज्येष्ठस्थितेर्जघन्यो बन्धकालः समयमात्रो लभ्यते, मिथ्यात्वाभिमुखाद्यवस्थाया अन्यत्रैव तासामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य भावादिति भाव इति।

शेषमार्गणास्त्विमाः–सप्तमपृथिवीवर्जाः सप्तनिरयगतिभेदाः, पञ्च तिर्यग्गतिभेदाः, अपर्याप्तमनुष्यभेदः, त्रिंशद् देवगतिभेदाः, सप्तैकेन्द्रियभेदाः, नव विकलेन्द्रियभेदाः, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियभेदः, पृथिव्यप्तेजोवायुकायसत्काः प्रत्येकं सप्त सप्त भेदाः, एकादश वनस्पतिकायभेदाः, अपर्याप्तत्रसकायभेदः, सर्वे योगभेदाः ते चाऽष्टादश, अपगतवेदभेदः, चत्वारः क्रोधादिकषायभेदाः, अज्ञानत्रिकम्, सूक्ष्मसंपरायसंयमः, कृष्णलेश्यावर्जलेश्यापञ्चकम्, अभव्यः, क्षायिकसम्यक्त्वम्, सासादनम्, मिथ्यात्वम्, असंज्ञ्य-ऽनाहारकभेदौ चेति।

ननु मनुष्यौघादिमार्गणावद् योगभेद-कषायभेदादिकतिपयमार्गणासु जिननाम्न उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिन ओघवन्मिथ्यात्वाभिमुखा एव कथिताः, तथा च तासु मनोयोगादिमार्गणास्वपि जिननाम्न उत्कृष्टस्थितिबन्धकाल ओघवद् जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमात्रो वक्तव्यः, उक्तस्तु समयमात्र इति कथं न दोषः? **इति चेत्**, सत्यम्, यथा तासु मनोयोगादिमार्गणास्वायुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यबन्धकालः समयमात्रः प्राप्यते तथा जिननाम्न उत्कृष्टस्थितेर्जघन्यबन्धकालोऽपि समयमात्र एव प्राप्यते, **तथाहि**–मनोयोगादीनां जिननामोत्कृष्टस्थितिबन्धप्रारम्भद्वितीयादिसमयेष्वऽपि वचोयोगादिमार्गणान्तरतया परावृत्तेरविरोधेन यः कश्चिन्मनोयोगमार्गणावर्ती जीवो जिननाम्न उत्कृष्टस्थितिबन्धं प्रारभ्य द्वितीयसमय एव वचोयोगादिं प्रतिपद्यते, वचोयोगादिमार्गणायां प्रविशतीत्यर्थः, तस्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं प्रवर्तमानोऽपि जिननाम्न उत्कृष्टस्थितिबन्धो मनोयोगमार्गणायां तु समयमेव प्राप्यते, इत्थं च सामान्येन जिननाम्न उत्कृष्टस्थितेर्मिथ्यात्वाभिमुखाद्यवस्थायां जायमानतया जघन्यबन्धकालस्याऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वेऽपि मनोयोगादिमार्गणाविशेषे त्वसौ

समयमात्रोऽपि प्राप्यते, न चैवं संयमादिमार्गणास्वपि भवक्षयादिनोत्कृष्टस्थितिबन्धप्रारम्भद्वितीयसमये संयमादिमार्गणाया असंयमादिमार्गणान्तरतया परावृत्त्या तास्वपि मतिज्ञानावरणादिप्रकृतीनां प्रस्तुतकालः समयमात्रो लभ्येतेत्याऽऽशङ्क्यम्, तस्य **मूलप्रकृतिस्थितिबन्धद्वितीयाधिकारैकजीवाश्रयकालद्वारवृत्तौ** प्रागेव तथाविधानां मरणप्रतिषेधद्वारेण निराकृतत्वादिति। मनोयोगादिवद् वचोयोगादिकषायादिमार्गणास्वपि विभावनीयमिति। यद्यप्यवेदमार्गणायां सूक्ष्मसम्परायमार्गणायां च सामान्यतो मरणव्याघाताभावेन प्रत्येकं स्थितिबन्धा यथा जघन्यत उत्कृष्टतश्चान्तर्मुहूर्तप्रवृत्तिकास्तद्वदुत्कृष्टस्थितिबन्धोऽपि, तथापि कालकरणेनैवोत्कृष्टस्थितिबन्धस्य जघन्यकालः समयप्रमाणो भावनीय इति दिक्। शेषमार्गणासु बन्धप्रायोग्यप्रकृतयस्तु **स्थितिबन्धप्रमाणद्वारवृत्तितो**ऽवसातव्या इति ॥३५०–३५४॥

तदेवं प्रतिपादितः सर्वमार्गणास्थानेष्वायुर्वर्जसर्वोत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टायाः स्थितेर्जघन्यो बन्धकालः, एतर्हि तस्या एवोत्कृष्टकालस्य प्रचिकटयिषयैकामार्यामाह—

सव्वाण गुरू समयो भिन्नमुहुत्तं व मिस्सजोगेसुं।
कम्मा-ऽणाहारेसु दुसमयाऽण्णासुं मुहुत्तंतो ॥३५५॥

(प्रे०) "**सव्वाणे**" त्यादि, आयुःप्रकृतिवर्जानां 'सर्वासां' मतिज्ञानावरणादीनां बन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां 'गुरुः' उत्कृष्टो बन्धकालः "**समयो भिन्नमुहुत्तं व**" त्ति 'समयः' समयमात्रो भिन्नमुहूर्तं वा भवति, एकेन मतेन समयः, अन्येन मतेन त्वन्तर्मुहूर्तमिति भावः। कासु मार्गणास्वित्याह—"**मिस्सजोगेसु**"मिति, औदारिकमिश्र-वैक्रियमिश्रा-ऽऽहारकमिश्रकाययोगमार्गणालक्षणेषु त्रिषु मिश्रयोगेष्वित्यर्थः। तत्र समयो **मूलप्रकृतिस्थितिबन्धविधानद्वितीयाधिकारस्वामित्वद्वारे** "से काले पज्जतिं निट्ठवउ स व मुण मीसजोगेसुं ॥९३॥" (पृष्ठ० ११५) इत्यनेन प्रकृतमार्गणासु दर्शितस्वामित्वानुसारेण विज्ञेयः।

अयम्भावः—पूर्वं प्रस्तुतमार्गणात्रये आयुर्वर्जप्रकृतीनामुत्कृष्टजघन्यस्थितिबन्धस्वामिविषये द्वे मते संगृह्य दर्शिते, तत्रैकेन मतेन तु प्रस्तुतमार्गणाप्रविष्टः करणाऽपर्याप्तो जीवो यस्मादनन्तरसमये शरीरपर्याप्तिं निष्ठापयेत् तत्समये वर्तमानः सन् बध्यमानायुर्वर्जप्रकृतीनां प्रकृतमार्गणायां सम्भवदुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य स्वामी भवितुमर्हति, नान्यदा, अन्यदा तस्योत्कृष्टस्थितिबन्धप्रायोग्यसंक्लेशस्यैवाऽसम्भवात्, एवं प्रस्तुतमार्गणासम्भविजघन्यस्थितिबन्धोऽपि तदानीं मार्गणाचरमसमयवर्तिन एव सम्भवति, नान्यदा, तथा च तेन मतेन जघन्यस्थितिबन्धकालोऽप्युत्कृष्टतः समयमात्रः प्राप्यते, अत एव तन्मते जघन्यस्थितिबन्धस्योत्कृष्टकालोऽपि समयमात्रो वक्ष्यते, अन्तरं च प्रतिषेत्स्यति, एवमुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य मार्गणाचरमसमये सकृदेव भावात् तद्द्वित्वाधीनमन्तरं न प्राप्यते, एतच्च

सर्वं **मूलप्रकृतिस्थितिबन्धद्वितीयाधिकारवृत्तौ** सविस्तरमभिहितमस्माभिरिति जिज्ञासुनाऽऽदौ मूलप्रकृतिस्थितिबन्धग्रन्थेऽवलोकितेऽस्य ग्रन्थस्य सुखावबोधस्स्यादिति मन्यामहे ।

प्रस्तुतमार्गणात्रय उक्तेतरमतेन तु चरमसमय इव द्विचरमादिसमयेष्वपि बध्यमानप्रकृतीनामुत्कृष्टो वा जघन्यो वा स्थितिबन्धोऽविरुद्ध एव, तथा च सति तन्मते प्रस्तुतकालोऽन्तर्मुहूर्तं प्राप्यते, उत्कृष्टस्थितिबन्धस्याऽन्तरमपि लभ्यते चेति ।

"**कम्माणाहारे**"त्यादि, कार्मणकाययोगाऽनाहारकमार्गणयोः प्रस्तुत आयुर्वर्जप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितेर्गुरुबन्धकालो द्वौ समयावेव भवति, कथं नाधिकः ? इति चेद् , उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनां प्रस्तुतमार्गणाद्वये समयद्वयादधिकावस्थानस्यैवाऽसम्भवात् । **इदमुक्तं भवति**–'तिसमया णेया कम्माऽणाहाराण' (मू०स्थि०गाथा-१६६) मिति वचनात् सामान्येनैकजीवाश्रया कार्मणकाययोगोत्कृष्टकायस्थितिस्त्रिसमयमात्राऽत्राधिकृता, तत्रापि संज्ञिभ्यश्च्युत्वा संज्ञितयोत्पद्यमानानां प्रस्तुतोत्कृष्टस्थितेर्निर्वर्तकानां तु सा उत्कृष्टतोऽपि द्विसमयमात्रैव लभ्यते, कुतः ? तेषां त्रसनाडीतस्त्रसनाडावेवोत्पत्तेः, इत्थं च प्रस्तुतमार्गणाद्वये जीवानां समयद्वयादधिकाऽवस्थानाभावात्प्रस्तुतबन्धकालोऽपि समयद्वयादधिको न प्राप्यत इति ।

उक्तपञ्चमार्गणावर्जास्वाह–"**ऽण्णासु मुहुत्तंतु**" त्ति विश्लेशप्राप्तस्याकारस्यादौ दर्शनादन्यासु प्रोक्तव्यतिरिक्तासु निरयगत्योघादिपञ्चपष्ट्युत्तरशतमार्गणासु बन्धप्रायोग्याणामायुर्वर्जानां सर्वासां प्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टो बन्धकालो 'मुहूर्तान्तः'–अन्तर्मुहूर्तं भवतीत्यर्थः । कुतः ? उत्कृष्टस्थितिबन्धस्यैकस्थितिबन्धस्थानात्मकतयोत्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तादधिकमनवस्थानात्, मार्गणोत्कृष्टकायस्थितेरन्तर्मुहूर्तादिप्रमाणत्वाच्च । अयमपि कालो विशेषतस्तु **मूलप्रकृतिस्थितिबन्धविधानवृत्त्यनुसारेण** भावनीय इति ॥३५५॥

तदेवमभिहितः सर्वासु मार्गणास्वायुर्वर्जसर्वोत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितेर्जघन्योत्कृष्टद्विविधो बन्धकालः, सम्प्रति तासामेवानुत्कृष्टस्थितेस्तं दिदर्शयिषुरादौ जघन्यत आह—

सव्वासु लहू कालो अवक्खमाणाण आउवज्जाणं ।
सप्पाउग्गाण खणो भवे ठिईए अजेट्ठाए ॥३५६॥

(प्रे०) "**सव्वासु**" इत्यादि, निरयगत्योघादिषु सर्वासु मार्गणासु "**लहू कालो**" त्ति जघन्यकालः, अस्य चान्वयः "**खणो भवे ठिईए अजेट्ठाए**" इत्यनेन, ततः '**अज्येष्ठायाः**'–अनुत्कृष्टायाः स्थितेः 'लघुः'जघन्यो बन्धकालः 'क्षणः'–समयो भवेत् , **कासां प्रकृतीनाम् ? इत्याह**–"**अवक्खमाणाणे**"त्यादि, आयुर्वर्जानां स्वप्रायोग्याणामवक्ष्यमाणप्रकृतीनाम् , वक्ष्यमाणेतरबन्धप्रायोग्यप्रकृतीनामित्यर्थः । **इदमुक्तं भवति**–प्रतिमार्गणं बहूनां प्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थिते-

र्जघन्यबन्धकालः समयमात्रः प्राप्यते, स्तोकानां त्वन्तमुर्हूर्तादिः, तत्र लाघवार्थं "भिन्नमुहुत्त" इत्यादिना तत्तन्मार्गणासु यासां स्तोकप्रकृतीनामन्तमुर्हूर्तादिस्तासु तासामसावन्तमुर्हूर्तादिप्रमाणो वक्ष्यते, एवं च यासां न वक्ष्यते ता अवक्ष्यमाणाः प्रकृतयो यथा नरकगत्योघादावेकस्या अपि प्रकृतेरवक्ष्यमाणत्वादायुर्वर्जाः सर्वा बन्धप्रायोग्याः, सप्तमभूमिनरकभेदादौ तु मनुष्यद्विकादेर्वक्ष्यमाणत्वात्तद्वर्जाः शेषायुर्वर्जपञ्चनवत्यादिप्रकृतयः, तासामवक्ष्यमाणायुर्वर्जप्रकृतीनां प्रस्तुतो बन्धकालः समयमात्रोऽवगन्तव्यः ॥३५६॥

अथ यद्यन्मार्गणासु यासां प्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यो बन्धकालोऽन्तमुर्हूर्तं तत्र तासां तं तथैव दर्शयन् गाथाष्टकमाह--

भिन्नमुहुत्तं णरदुग-उच्चाणं तमतमाअ तित्थस्स ।
दुपणिंदितस-पुम-सुइल-णयणेसुं तह य सण्णिम्मि ॥३५७॥
एगिंदि-णिगोएसुं तेसिं सुहुमेसु सिं अपज्जेसुं ।
हरिए य मुहुत्तंतो णेयो धुवबंधि-उरलाणं ॥३५८॥
ओरालमीसजोगे भिन्नमुहुत्तं व होइ पयडीणं ।
धुवबंधि-जिणु-रलाणं तहा चउण्हं सुराईण ॥३५९॥
होइ विउवमीसे वा धुवु-रल-पंचपरघाइ-तित्थाणं ।
आहारगमीसे वा बारससायाइ-तित्थवज्जाणं ॥३६०॥ (गीतिः)
मिच्छत्तस्स उ कीवे धुवाण दुअणाण-अभवि-मिच्छेसुं ।
धुवबंधि-जिणाण अजय-अचक्खु-अपसत्थलेस-भवियेसुं ॥३६१॥
णेयो भिन्नमुहुत्तं णाणतिगे ओहि-सम्मु-वसमेसुं ।
देव-विउवदुग-चउदसआहारदुगाइवज्जाणं ॥३६२॥
भिन्नमुहुत्तं वेअग-परिहारेसु तह देस-मीसेसुं ॥
चउदसआहारदुगाइ-बारसायाइवज्जिआण कमा ॥३६३॥ (गीतिः)
खइए भिन्नमुहुत्तं होइ पणणराइवज्जिआण तहा ।
देवविउवदुग-चउदसआहारदुगाइवज्जाणं ॥३६४॥

(प्रे०) "भिन्नमुहुत्त" मित्यादि, 'भिन्नमुहूर्त्तम्'–अन्तमुर्हूर्त्तम्, अस्य च 'णेयो' इति परेणान्वयः, जघन्यबन्धकाल इति गम्यते, कासु मार्गणासु कासां प्रकृतीनामित्याह–"णरदुगे"त्यादि,

तमस्तमाभिधे सप्तमपृथिवीनिरयभेदे नरद्विकस्य मनुष्यगति मनुष्यानुपूर्वीलक्षणस्योच्चैर्गोत्रस्य च, तथा "**तित्थस्से**"त्यादि, द्वयोरपर्याप्तभेदवर्जयोः पञ्चेन्द्रियौघ-तत्पर्याप्तभेदलक्षणयोः पञ्चेन्द्रिय-मार्गणाभेदयोः, तथैव द्विशब्दस्य त्रसेत्यनेनापि योजनादपर्याप्तभेदवर्जयोस्त्रसौघ-तत्पर्याप्तभेदयोः, पुरुषवेदे, शुक्ललेश्यायां, "**णयणु**"त्ति चक्षुर्दर्शनमार्गणायां तथा सञ्ज्ञिमार्गणायामित्येवं सर्वसंख्य-याऽष्टमार्गणासु तीर्थकरनामलक्षणैकप्रकृतेः। इत्थं च सप्तमपृथिवीनिरयभेदे यथोक्तमनुष्यद्विका-दिप्रकृतित्रयं तिर्यगायुश्च परिहृत्य शेषाणां बन्धप्रायोग्याणां मतिज्ञानावरणादीनां पञ्चनवतिप्रकृती-नामनुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यबन्धकालः 'सव्वासु लहू कालो अवक्कमाणाणे'त्याद्यनन्तर(३५६)गाथोक्त-वचनात्समयमात्रः प्राप्तः। पञ्चेन्द्रियौघादिमार्गणासु तु प्रत्येकं जिननामाऽऽयुश्चतुष्कं च विवर्ज्य पञ्चदशोत्तरशतप्रकृतीनामसौ समयमात्रः प्राप्तः। इत्थमेवोत्तरत्राप्यवक्ष्यमाणप्रकृतीनां प्रस्तुतकाल उक्तवचनात्समयमात्रोऽवगन्तव्यः।

ननु सप्तमपृथिवीनरकभेदे मनुष्यद्विकादीनां तिसृणां प्रकृतीनां कथमन्तर्मुहूर्तप्रमाणः प्रस्तुत-जघन्यबन्धकालः, न पुनः समयः? **इति चेद्**, ओघोक्तनीत्या समयमात्रजघन्यकालप्रयोजकप्र-कारमध्यादन्यतरस्यापीहाऽसम्भवात्। **तथाहि**–नास्त्यत्रामूषां तिसृणां प्रकृतीनां प्रकृतिबन्धकालो जघन्यतः समयमात्रः, इत्येवं न सम्भवति प्रथमः प्रकारः। नाऽपि द्वितीयप्रकारः, प्रकृतिबन्ध जघन्याद्धाया अन्तर्मुहूर्तादिमात्रत्वेऽपि प्रकृतिबन्धाद्धाद्वितीयद्विचरमसमययोः प्रतिपक्षभूतोत्कृष्ट-स्थितिबन्धस्य मिथ्यात्वाभिमुखस्वामिकत्वेनाभवनात्। **ननु** इह मार्गणास्थाने प्रस्तुतप्रकृतिबन्धा-द्धाद्विचरमसमये लभ्यत एवोत्कृष्टस्थितिबन्धः? **इति चेत् सत्यम्**, नवरं द्वितीयसमये इत्य-नेन प्रथमसमयव्यवच्छेदस्य द्विचरमसमये इत्यनेन चरमसमयव्यवच्छेदस्य च विवक्षितत्वात् न दोषः, न चेह द्विचरमसमय एवोत्कृष्टस्थितिबन्धलाभः किन्तु यस्य द्विचरमसमय उत्कृष्टस्थिति-बन्धस्तस्य चरमसमयेऽपि उत्कृष्टस्थितिबन्धस्यैव भावाच्चरमसमयेऽप्युत्कृष्टस्थितिबन्धलाभ एव, इत्येवं कथमपि प्रस्तुतप्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य जघन्यबन्धकालः समयमात्रो न लभ्यते। इत्थमेवान्यत्रापि समयमात्रकालाभावे उपपत्तिः कार्या।

मनुष्यद्विकादीनां तिसृणामनुत्कृष्टस्थितेरन्तर्मुहूर्तमात्रजघन्यबन्धकालस्तु तासां तिसृणाम-विरतसम्यग्दृष्टिनारकैर्नैरन्तर्येण बध्यमानत्वात्, मिथ्यात्वाभिमुखानामेव तदीयोत्कृष्टस्थिति-बन्धस्वामित्वाच्च। **तथाहि**–मिथ्यात्वमुत्सृज्य सम्यक्त्वादिकं प्राप्तो जीवो जघन्यतोऽपि सङ्ख्येय-स्थितिबन्धेषु कृतेषु पश्चान्मिथ्यात्वमधिगच्छति, न त्वर्वाक्, प्रस्तुते सप्तमपृथिवीनिरयभेदे च मिथ्यात्वाभिमुखानां प्रस्तुतमनुष्यद्विकादिप्रकृत्युत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वात् तादृशसङ्ख्येयस्थिति-बन्धेषु यश्चरमः स्थितिबन्धः स एवोत्कृष्टः सम्भवति, न त्वन्ये तथा च तत्पूर्वभाविनो निरन्तराः संख्येयस्थितिबन्धा अनुत्कृष्टस्थितेरेव, तेषां च कालोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाण इति।

मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रवर्जानां शेषाणामायुर्वर्जबन्धप्रायोग्यप्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यबन्धकालः समयमात्रस्तु कासाञ्चित्प्रतिपक्षप्रकृतिसहितबन्धप्रायोग्याणां सातवेदनीयादीनां परावर्तमानबन्धत्वात्, अन्यासां मतिज्ञानावरणादिसप्तचत्वारिंशत्ध्रुवबन्धिनीनां तथा प्रतिपक्षप्रकृतिरहितबन्धप्रायोग्याणामौदारिकद्विक-पञ्चेन्द्रियजाति-तिर्यग्द्विक-नीचैर्गोत्र-त्रसचतुष्क-पराघातो-च्छ्वासरूपाणां तु मिथ्यात्वगुणस्थाने बन्धभावेन तदीयोत्कृष्टस्थितिबन्धं भवद्विचरमसमये समाप्य भवचरमसमयेऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धप्रारम्भादनु तत्स्वामिनो मरणसम्भवान्मार्गणापरावृत्त्याऽवसातव्यः, **न चो**च्चैर्गोत्रं मनुष्यद्विकं चेति तिस्रः प्रकृतयस्तेषां नारकाणां प्रतिपक्षप्रकृतिसहितबन्धप्रायोग्याः, तत्तासां तिसृणां प्रस्तुतकालः कथं न सातवेदनीयादीनामिव समयमात्रः ? इति **वाच्यम्**, गुणस्थानभेदेन तासां तिसृणां प्रतिपक्षप्रकृतिसहितबन्धप्रायोग्यत्वेऽपि गुणस्थानाऽभेदेन तासां तद्रहितबन्धप्रायोग्यत्वात् । अत एवौदारिकद्विकादीनां समयमात्रप्रस्तुतकालप्रयोजकतया मिथ्यात्वगुणस्थाने बन्धभावेनेत्यादि प्रागुक्तमनवद्यमवसेयम् ।

पञ्चेन्द्रियौघादिमार्गणासु जिननाम्नः प्रस्तुतकालोऽप्युक्तनीत्या समयमात्रकालप्रयोजकाभावादेव बोद्धव्यः, अन्यथा मनुष्यगत्योघादिमार्गणावत्सः समयमात्रोऽपि स्यात् । **इदमुक्तं** भवति–मनुष्यगत्योघमार्गणायां जिननाम्नो बन्धको यः कश्चिन्महानुभाव उपशान्तमोहगुणस्थानेऽबन्धको भूत्वा उपशान्ताऽद्धाक्षयेण प्रतिपत्य च जिननामबन्धप्रारम्भद्वितीयसमये भवक्षयेण देवगतावुत्पद्यते तस्य मार्गणापरावृत्तिप्रयुक्तो जिननाम्नोऽनुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यबन्धकालः समयमात्रः प्राप्यते, न नैवं पञ्चेन्द्रियौघादिप्रस्तुतमार्गणास्वपि सम्भवति, उक्तप्रकारेण कालं कृत्वा देवतयोत्पत्तावपि प्रस्तुतपञ्चेन्द्रियौघादिमार्गणानामविच्छिन्नतया तत्राऽपि प्रवर्तनात् । न चानुत्तरदेवमार्गणाभेदेष्विवोत्कृष्टस्थितिबन्धादुत्तीर्यानुत्कृष्टस्थितिबन्धप्रारम्भद्वितीयसमये कालकरणेनाऽपि समयमात्रकालस्य प्रस्तुतमार्गणायां सम्भवः, प्रस्तुतमार्गणायां मिथ्यात्वाभिमुखाना जिननाम्न उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वादुत्कृष्टस्थितिबन्धे समाप्ते जिननाम्नोऽपि बन्धविच्छेदेन उत्कृष्टस्थितिबन्धानन्तरभाव्यनुत्कृष्टस्थितिबन्धसव्यपेक्षस्य समयमात्रजघन्यबन्धकालस्य चिन्ताया एवाऽनवकाशात् । काययोगादिमार्गणावत् समयमात्रप्रकृतिबन्धकालस्याप्यभावेन प्रकृतिबन्धकालप्रयुक्तोऽपि समयमात्रो जघन्यबन्धकाल आसु मार्गणासु न सम्भवत्येव, इत्थं चासौ जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तमेव प्राप्यते इति तथैवाभिहितः । स्वप्रतिपक्षप्रकृतिविरहितबन्धप्रायोग्यत्वेनाऽपरावर्तमानबन्धानां शेषप्रकृतीनां ध्रुवबन्धयादीनां च देवभवचरमसमये तदनुत्कृष्टस्थितिबन्धप्रारम्भादनु भवक्षयेणैकेन्द्रियतयोत्पत्तौ प्रस्तुतमार्गणाविच्छेदात् ; स्वप्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसहितबन्धप्रायोग्यतया परावर्तमानानां तु प्रकृतिबन्धजघन्याद्धानुसारी प्रस्तुतसमयमात्रजघन्यकाल इति यथासम्भवं विज्ञेय इति ।

अथाह–"एगिंदि" इत्यादि, एकेन्द्रियौघमार्गणास्थाने "णिगोएसु"मिति साधारणवनस्पतिकायौघमार्गणास्थाने, "तेसिं सुहुमेसु"त्ति बहुवचनान्तनिर्देशस्य प्राकृतवशेन प्रयुक्त-

त्वात् तयोरेकेन्द्रिय-साधारणवनस्पतिकाययोः सम्बन्धिनौ यौ सूक्ष्मभेदौ सूक्ष्मैकेन्द्रियौघ-सूक्ष्मसाधारणवनस्पतिकायौघलक्षणौ तयोः, तथा "**सिं अपज्जेसु**" मिति प्रागिव प्राकृतवशेन बहुवचनान्तनिर्देशस्य प्रयुक्तत्वात् "**सि**"मिति तयोरनन्तरोक्तयोः सूक्ष्मैकेन्द्रियौघ सूक्ष्मनिगोदौघभेदयोः सम्बन्धिनौ यौ अपर्याप्तभेदौ, अपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिया-ऽपर्याप्तसूक्ष्मसाधारणवनस्पतिकायभेदावित्यर्थः। तयोरपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिया ऽपर्याप्तसूक्ष्मसाधारणवनस्पतिकायभेदयोः, तथा "**हरिए य**" त्ति वनस्पतिकायौघभेदे, चः समुच्चये, तत एतासु समुच्चितासु सप्तमार्गणासु प्रत्येकम् "**मुहुत्तंतो**" इत्यादि, मतिज्ञानावरणादीनां सप्तचत्वारिंशतो ध्रुवबन्धिनीनामौदारिकदेहस्य चानुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यो बन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तम्।

ननु मा भवत्वासां प्रकृतीनामपरावर्तमानतया प्रकृतिबन्धकालस्यैव जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तत्वात्प्रकृतिबन्धकालप्रयुक्तोऽनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकालो जघन्यतः समयमात्रः, उत्कृष्टस्थितिबन्धादुत्तीर्यानुत्कृष्टस्थितिबन्धप्रारम्भद्वितीयसमये भवक्षयस्य सम्भवेन मार्गणापरावृत्तितस्त्वसौ समयमात्रो लभ्येत ? **इति चेत्, न,** आसु मार्गणासु भवद्विचरमसमये ध्रुवबन्ध्यादिप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्ध समाप्य भवचरमसमयेऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य प्रारम्भकाणामनन्तरसमये कालकरणेऽपि स्वप्रायोग्यसर्वनिकृष्टे पारभविकोत्पत्तिस्थानेऽपर्याप्तसूक्ष्मसाधारणवनस्पतिकायतयैवोत्पत्तेः प्रस्तुतमार्गणाया अविच्छेदात् न लभ्यते मार्गणापरावृत्तिप्रयुक्तोऽपि जघन्यतः समयमात्रः कालः। **इदमुक्तं भवति**–ये मुमूर्षवो जीवा भवचरमान्तर्मुहूर्ते कस्या अपि वर्गोत्कृष्टस्थितिकप्रकृतेर्विवक्षितमार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टस्थितिबन्धानुरूपसंक्लेशभाजो भवन्ति, ते मृत्वा स्वप्रायोग्यसर्वनिकृष्टगतिजात्यादितयोत्पद्यन्ते, निकृष्टतमगत्यादयस्तु याः स्वप्रायोग्यसर्वोत्कृष्टसंक्लेशनिर्वर्तनीयास्ता विज्ञेयाः। प्रस्तुतमार्गणासप्तके उत्कृष्टसंक्लेशनिर्वर्तनीया गत्यादयस्तु तिर्यक्त्वै-केन्द्रियत्व-वनस्पतिकायत्व साधारणत्व-सूक्ष्मत्वा-ऽपर्याप्तत्वरूपाः, प्रस्तुतमार्गणावर्तिनो भवद्विचरमसमये ध्रुवबन्ध्यादिप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितेर्बन्धका मुमूर्षवो जीवा उक्तनीत्या मृत्वाऽपर्याप्तसूक्ष्मसाधारणवनस्पतिकायतयोत्पद्यमानाः प्रस्तुतमार्गणायामेवोत्पद्यन्ते, तथा च सति गतभवचरमसमयारब्धध्रुवबन्ध्यादिप्रकृतिसत्कानुत्कृष्टस्थितिबन्धः प्रस्तुतैकेन्द्रियादिमार्गणायामेव नैरन्तर्येण प्राप्यते, इत्थं च न लभ्यते मार्गणापरावृत्तिप्रयुक्तः समयमात्रो जघन्यबन्धकाल एतादृग्मार्गणास्थानेषु ध्रुवबन्ध्याद्यपरावर्तमानप्रकृतीनाम्। एष तथाविधोत्पत्तिनियमस्तदनुसारेण तत्तन्मार्गणागतजीवानां स्वप्रायोग्यसर्वनिकृष्टपारभविकोत्पत्तिस्थानानि चेत्यादिकं **मूलप्रकृतिस्थितिबन्धविधानग्रन्थे द्वितीयाधिकारकालद्वार**(पृष्ठ–३६९–३७०)**वृत्तौ** एकेन्द्रियादिमार्गणास्थानेष्वायुर्वर्जसप्तप्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यबन्धकालस्याऽन्तर्मुहूर्तमात्रत्वोपपादनावसरे प्रपञ्चितम्, विस्तरतो जिज्ञासुना तु तत्रत्या **प्रेमप्रभा** विलोकनीया।

न च औदारिकदेहस्यैवौदारिकाङ्गोपाङ्गस्य वैक्रियाङ्गोपाङ्गादिलक्षणा प्रतिपक्षप्रकृतिः प्रस्तुतमार्गणासु बन्धप्रायोग्या न विद्यते; इत्थं च प्रतिपक्षप्रकृतेर्बन्धाभावेनौदारिकदेहस्यैवौदारिकाङ्गो-

पाङ्गस्याऽपि प्रस्तुतकालोऽन्तमुर्हूर्तमात्रो वक्तव्यो भवतीत्यारेकणीयम्, यत एकेन्द्रियप्रायोग्य-प्रकृतीर्बध्नतामपि औदारिकदेहस्य बन्धो जायत एव, तथा चौदारिकदेहनाम प्रस्तुतमार्गणायां ध्रुवं बध्यते, न चैवमौदारिकाङ्गोपाङ्गनामाऽपि, द्वीन्द्रियादिप्रायोग्यप्रकृतीर्बध्नतां तद्बन्धस्य नियमतो भावेऽपि एकेन्द्रियप्रायोग्यप्रकृतीर्बध्नतां तद्बन्धाभावेन तस्याध्रुवं बध्यमानत्वात्, इत्थं त्रसनामसहभाविबन्धस्यौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नोऽपि त्रसनाम्न इव जघन्यतः प्रकृतिबन्धकालः समय-मात्रः समवाप्यते, तत्प्राप्तौ तु सुसिद्धस्तस्यानुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यबन्धकालः समयमात्रः, तदेवमौदारि-कदेहस्य प्रस्तुतकालमन्तमुर्हूर्तमात्रं प्रदर्श्याऽपि तदङ्गोपाङ्गस्याऽसौ तथा नाभिहित इति न कश्चि-द्दोषः। इत्थमेवान्यत्र स्वप्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धाभावेऽपि विवक्षितप्रकृतेर्ध्रुवबन्धित्वादिकमनुसृत्य समयमात्रप्रकृतिबन्धकालप्राप्त्यप्राप्त्यनुसारेणाऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धकालोऽपि जघन्यतः समयमात्रो-ऽन्तमुर्हूर्तमात्रो वा यथासम्भवं स्वयमेवोह्य इति।

"ओरालमीसे"त्यादि, औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां "भिन्नमुहुत्तं व होइ", त्ति पूर्वोक्तमूलप्रकृत्युत्कृष्टजघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वविषयकमतद्वयानुसारेण यथासम्भवं भिन्नमुहूर्तं समयो वा भवतीति 'से काले पज्जत्ति निट्ठवउ स व मुण मीसजोगेसु ॥९३॥' इत्यनेनाभिहितशरीरपर्या-प्त्यवगाहनप्रागनन्तरसमयवर्तिनामेवोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वमतेन प्रस्तुतकालोऽन्तमुर्हूर्तमात्रो भवति, तदन्यमतेन त्वसौ समयमात्रो लभ्यत इत्यर्थः। कासां प्रकृतीनामित्याह-'पयडीणं' इत्यादि, सप्तचत्वारिंशतो ध्रुवबन्धिनीनां जिननामौदारिकदेहनाम्नोस्तथा चतसृणां सुरादीनां देवद्विक-वैक्रियद्विकलक्षणानां प्रकृतीनाम्। तत्रान्तर्मुहूर्तमात्रः कालस्तु प्रथममते मार्गणाचरमसमय एवोत्कृष्टस्थितिबन्धभावेनौदारिकमिश्रकाययोगमार्गणाप्रथमसमयप्रारब्धानुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य मार्ग-णाद्विचरमसमयं यावन्नैरन्तर्येण प्रवर्तनात्, प्रस्तुतमार्गणाया एकजीवाश्रयजघन्यकायस्थितेरप्यन्त-र्मुहूर्तत्वाच्च। तदन्यमतेन तु मिश्रयोगचरमसमय इव द्विचरमादिसमयेष्वप्युत्कृष्टस्थितिबन्धस्य सम्भवेन यः कश्चिज्जीवः प्रस्तुतमार्गणाद्विचरमसमये उत्कृष्टस्थितिबन्धं समाप्य चरमसमयेऽनुत्कृष्ट-स्थितिबन्धं कृत्वा मार्गणान्तरं गच्छति, तेन मिश्रयोगमार्गणाचरमसमयकृतस्थितिबन्धापेक्षयाऽनु-त्कृष्टस्थितेर्जघन्यबन्धकालः समयमात्रः प्राप्यत इति। इत्थमेवाऽनुपदं वक्ष्यमाणवैक्रियमिश्रयोगा-दावपि मतद्वयेन ध्रुवबन्ध्यादिप्रकृतीनामसौ समयोऽन्तमुर्हूर्तं च जघन्यकालो यथासम्भवं भावनीयः।

प्रस्तुतौदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायामुक्तत्रिपञ्चाशत्प्रकृतिवर्जाना सातवेदनीयाद्येकोनषष्टि-प्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यबन्धकालस्तु मतद्वयेनाऽपि समयमात्रः, स च प्रकृतिबन्धकालस्य सम-यमात्रत्वात् तदपेक्षया विभावनीयः। सातवेदनीयादिप्रकृतयस्त्विमाः-साताऽसातवेदनीये, हास्य-रति-शोका-ऽरति स्त्री-पु-नपुंसकवेदमोहनीयम्, मनुष्यद्विक तिर्यग्द्विकै-क-द्वि-त्रि चतुः-पञ्चेन्द्रियजात्यौ-दारिकाङ्गोपाङ्ग-संहननषट्क-संस्थानषट्क-विहायोगतिद्विका-ऽऽतपो द्योत-पराघातो-च्छ्वास-त्रसद-शक-स्थावरदशकनामानि गोत्रद्वयं चेति।

वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायामाह–"होइ" इत्यादि, वैक्रियमिश्रकाययोगे सप्तचत्वारिंश-द्ध्रुवबन्धिनीनामौदारिकदेहस्य 'पंचपराघाइ' त्ति 'परघूसासबायरतिगाणि' (गाथा-३४१) इत्यनेन संगृहीतानां पराघातो-च्छ्वास-बादर-पर्याप्तक-प्रत्येकनामलक्षणानां पञ्चानां प्रकृतीनां जिननाम्नश्चा-ऽनुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यो बन्धकालः समयोऽन्तर्मुहूर्तं वा भवति. स चानन्तरोक्तनीत्या तत्तन्मतानु-सारेण विज्ञेयः । तत्रान्तर्मुहूर्तकालोऽप्यनन्तरोक्तनीत्यैव भावनीयः. केवलमत्र पराघातादिपञ्चप्रकृती-नामपि संग्रहस्तासां प्रस्तुतमार्गणायां ध्रुवबन्धिकल्पतया प्रकृतिबन्धकालस्य जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहू-र्तत्वेनौदारिकमिश्रकाययोगमार्गणावत्समयमात्रप्रकृतिबन्धकालप्रयुक्तस्य समयमात्रप्रस्तुतस्थिति-बन्धकालस्याऽलाभादिति । उक्तशेषाऽष्टचत्वारिंशत्प्रकृतीनां प्रस्तुतकालस्तु 'अवक्खमाणाण' इत्या-दिपूर्वोक्तवचनात् समयमात्रोऽवगन्तव्यो मतद्वयेनाऽपीति ।

आहारकमिश्रकाययोगमार्गणायामाह–"आहारगमीसे"त्यादि, आहारकमिश्रयोगेऽपि यथोक्तमतद्वयेन 'साय रइथिर' (गाथा-३४२) इत्यादिना संगृहीताः साता-ऽसातवेदनीय-हास्य-रति शोका-ऽरति–स्थिरा ऽस्थिर-शुभा-ऽशुभ--यशःकीर्त्य-ऽयशःकीर्ति--लक्षणा द्वादशप्रकृतीर्जिननाम देवायुश्च विहाय शेषाणां बन्धप्रायोग्याणां मतिज्ञानावरणाद्येकोनपञ्चाशत्प्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थि-तेर्जघन्यो बन्धकालो यथासम्भवं समयोऽन्तर्मुहूर्तो च भवति, जिननाम्नः सातवेदनीयादिद्वादश-प्रकृतीनां च मतद्वयेनाऽपि समयमात्र एवेति, भावना तूपर्युक्तप्रकारेणैव कर्तव्येति । मतिज्ञाना-वरणादिप्रकृतयस्त्विमा एकोनपञ्चाशत् -ज्ञानावरणपञ्चकम् , दर्शनावरणचतुष्कम् , निद्राद्विकम् , संज्वलनचतुष्कम् , भय-जुगुप्सा-पुंवेदाः, देवद्विक-पञ्चेन्द्रियजाति वैक्रियद्विक-तैजस-कार्मणशरीर-समचतुरस्रसंस्थान वर्णचतुष्क–प्रशस्तविहायोगति–पराघातो-च्छ्वासा-ऽगुरुलघु निर्माणो–पघात त्रस-चतुष्क-सुभग-सुस्वरा-ऽऽदेयनामानि, उच्चैर्गोत्रम् , अन्तरायपञ्चकं चेति ।

नपुंसकवेदमार्गणायामाह– 'मिच्छत्तास्से"त्यादि, तत्र तुकारः पादपूर्त्यै "कीवे" त्ति 'क्लीवे' नपुंसकवेदमार्गणास्थाने मिथ्यात्वमोहनीयलक्षणाया एकस्याः प्रकृतेः, तस्याः कीयान् प्रस्तुतः कालः ? इति चेद् , अन्तर्मुहूर्तम् , तच्चानन्तरगाथावक्ष्यमाणस्य 'णेयो भिन्नमुहुत्त'-मित्यस्याऽत्रापि संबन्धाद्विज्ञेयम् ।

'धुवाण' त्ति सप्तचत्वारिंशतो ध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनां प्रस्तुतकालोऽन्तर्मुहूर्तं भवति, कासु मार्गणास्वित्याह–"दुअणाणे"त्यादि, मत्यज्ञान श्रुताज्ञाना ऽभव्य-मिथ्यात्वलक्षणेषु चतुर्षु मार्गणास्थानेषु सप्तचत्वारिंशतो ध्रुवबन्धिनीनामनुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यबन्धकालो भिन्नमुहूर्तं भवति, शेषाणामायुर्वर्जबन्धप्रायोग्यषट्पञ्चाशदध्रुवबन्धिनीनां तु प्राग्वत् समयः । स च सुगमः, प्रस्तुतमार्गणा-चतुष्टये बन्धप्रायोग्याऽऽयुर्वर्जसर्वासामध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतिबन्धकालस्य जघन्यतः समयमात्रत्वात् ।

ननु भवत्वध्रुवबन्धिनीनां प्रस्तुतकालः समयमात्रः, कथं पुनर्ध्रुवबन्धिनीनामसावन्तर्मुहूर्तप्रमाणो भवति, न पुनः समयमात्रः ? **इति चेद्**, प्रागुक्तनीत्या, **तथाहि**–प्रस्तुतमार्गणाचतुष्के सर्वासां ध्रुवबन्धिनीनां जघन्यः प्रकृतिबन्धकालोऽन्तर्मुहूर्ताद्धीनो न विद्यते, न चानुत्कृष्टस्थितिबन्धद्वितीयसमये प्रस्तुतमार्गणापरावृत्तेरपि सम्भवः, अभव्यमार्गणावर्जानां तिसृणां मत्यज्ञानादिमार्गणानां सम्यक्त्वाभिमुखावस्थाया ऊर्ध्वमेव मार्गणान्तरतया परावर्तनात्, सम्यक्त्वाभिमुखावस्थायां त्वनुत्कृष्टस्थितिबन्धस्यैव प्रवर्तनाच्च, अभव्यमार्गणा तु तत्र वर्तमानजीवानां ध्रुवा इति। एवं न मार्गणाप्रारम्भद्वितीयसमय उत्कृष्टस्थितिबन्धस्याऽपि सम्भवः, अभव्यमार्गणायाः प्रारम्भस्यैव विरहात्, शेषमार्गणात्रये तु सासादनादिमार्गणान्तरेभ्यः प्रविष्टानां जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तेऽतिक्रान्ते एवोत्कृष्टस्थितिबन्धसम्भवात्, एवं शेषमार्गणात्रयेऽपि नानुत्कृष्टस्थितिबन्धप्रारम्भद्वितीयसमये मतिज्ञानावरणादिप्रकृतेर्बन्धविच्छेदोऽबन्धो वा, तयोरन्तर्मुहूर्तादूर्ध्वं मार्गणाविच्छेदेन सममेव सम्भवादित्यतं न लभ्यते कुतश्चिदपि ध्रुवबन्धिनीनामनुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यबन्धकालः समयमात्र इति।

अथाऽसंयमादिमार्गणास्वाह–'**धुवबंधिजिणाण**''मित्यादि, असंयमा ऽचक्षुर्दर्शन कृष्ण-नील-कापोतलक्षणा-ऽप्रशस्तत्रिलेश्या भव्यलक्षणासु षट्सु मार्गणासु सप्तचत्वारिंशतो ध्रुवबन्धिनीनां जिननाम्नश्चानुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यबन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणो भवति। अत्रापि ध्रुवबन्धिनीनां त्वसावनन्तरोक्तमत्यज्ञानादिमार्गणावदेव द्रष्टव्यः, तद्वदत्राऽपि तासामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य सर्वसंक्लिष्टमिथ्यादृक्स्वामिकत्वात्। जिननाम्नस्तु असंयमादितत्तन्मार्गणायां तद्बन्धकानां कालकरणेऽपि तत्तन्मार्गणाया अविच्छेदादोघवदेव विभावनीयः। उक्तशेषाणामायुर्वर्जानां समय इति प्राग्वदत्राऽपि समानमेवेति।

अथ मतिज्ञानादिमार्गणास्वाह–"**णेयो भिन्नमुहुत्त**"मित्यादि, मतिज्ञान श्रुतज्ञानाऽवधिज्ञानमार्गणालक्षणे ज्ञानमार्गणात्रिके, अवधिदर्शन सम्यक्त्वौपशमिकसम्यक्त्वेषु च प्रत्येकम् "**देवे**"त्यादि, देवद्विक वैक्रियद्विके तथा 'आहारदुगं साय' मित्यादि(३४२)गाथया संगृहीता आहारकद्विक-सातवेदनीया-ऽसातवेदनीय-हास्य-रति-शोका ऽरति-स्थिरा-ऽस्थिर-शुभा–ऽशुभ-यशःकीर्त्ययशःकीर्तिलक्षणाश्चतुर्दशाऽऽहारकद्विकादिप्रकृतीरित्येवं सर्वसंख्ययाऽष्टादशप्रकृतीर्विवर्ज्य शेषाणां बन्धप्रायोग्याणां मतिज्ञानावरणादीनामायुर्भिन्नप्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यो बन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तमात्रो ज्ञेयः। मतिज्ञानावरणादयस्त्विमा एकोनषष्टिः,–ज्ञानावरणपञ्चकम्, दर्शनावरणचतुष्कम्, निद्राद्विकम्, अनन्तानुबन्धिवर्जद्वादशकषाय-भय-जुगुप्सा-पुरुषवेदमोहनीयम्, मनुष्यद्विक-पञ्चेन्द्रियजात्यौ-दारिकद्विक-तैजस-कार्मणशरीर-प्रथमसंहनन-प्रथमसंस्थान-वर्णचतुष्क प्रशस्तविहायोगति-पराघातो-च्छ्वासा-ऽगुरुलघु-निर्माणो-पघात-जिन-त्रसचतुष्क-सुभग सुस्वरा ऽऽदेयनामानि, उच्चैर्गोत्रम्, अन्तरायपञ्चकं च।

ननु कथं मनुष्यद्विकौदारिकद्विकयोः प्रस्तुतबन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तं, देवद्विक-वैक्रियद्विकयोस्तु न ? **इति चेद्**, प्रस्तुतमार्गणायां तासां मनुष्यद्विकादिप्रकृतीनां बन्धस्य भिन्नभिन्नस्वामिकत्वेन मनुष्यद्विकौदारिकद्विकयोः प्रकृतिबन्धकालस्याऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वप्राप्तेः, देवद्विक-वैक्रियद्विकयोस्तु तस्य समयमात्रत्वप्राप्तेश्च तदनुसारेण तासामनुत्कृष्टस्थितिबन्धकालोऽपि अन्तर्मुहूर्तं समयमात्रश्च प्राप्यते। **इदमुक्तं भवति**-एतासु मतिज्ञानादिमार्गणासु मनुष्यद्विकादीनां चतसृणां प्रकृतीनां बन्धस्वामिनो देवनारका एव, देवद्विकादीनां चतसृणां तु तिर्यग्मनुष्या एव च, तत्र प्रस्तुतमार्गणाप्रविष्टमनुष्याणां निवृत्तिबादरादिगुणस्थानेषु देवद्विकादिप्रकृतेरबन्धः प्राप्यते, ततश्च ये केचन मनुष्या उपशान्ताऽद्धाक्षयेण प्रपत्य समयमेकं देवद्विकादिप्रकृतीनां बन्ध कृत्वा भवक्षयेण देवतयोत्पद्यन्ते तेषां मनुष्यभवचरमसमयापेक्षया देवद्विकादिप्रकृतीनां समयमात्रः प्रकृतिबन्धकालः प्राप्यते, तदानीं मनुष्यभवचरमसमये च ते तासामनुत्कृष्टस्थितिमेव बध्नन्तीति देवद्विकादीनां चतसृणां प्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यबन्धकालस्तत्प्रकृतिबन्धकालानुसारेण समयमात्रः प्राप्यते । न चैवं मनुष्यद्विकादिविषयेऽपि सम्भवति, प्रस्तुतमार्गणागतानां तत्स्वामिनां देवानां तासामबन्धस्यैवाऽप्राप्तेः, उक्तान्यथा तु तस्य समयमात्रकाल एव न सम्भवति, अन्तर्मुहूर्तकालस्तु तासां मतिज्ञानादिमार्गणाया अन्तर्मुहूर्तप्रमाणजघन्यकायस्थित्यनुसारेण भावनीयः।

इदन्तु बोद्धव्यम्-अवधिज्ञानाऽवधिदर्शनमार्गणयोर्जघन्यकायस्थितिर्यन्मतेऽन्तर्मुहूर्तमात्रा तन्मतेऽयं कालोऽन्तर्मुहूर्तं लभ्यते, यन्मते तु तयोर्जघन्यकायस्थितिः समयमात्रा तन्मते तु सातवेदनीयादीनामिव मतिज्ञानावरणादीनां सर्वासां प्रकृतीनां प्रस्तुतकालः समयमात्रो भवतीति ।

अन्यत्राह-"**भिन्नमुहुत्त**" मित्यादि, गाथाप्रान्तेऽभिहितेन '**कमा**' इति वचनेन मार्गणाप्रकृतीनां यथासंख्यं योजनाद् वेदकसम्यक्त्व-परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणयोः "आहारदुग साय"-मित्यादि(३४२)गाथया संगृहीता अनन्तरोक्ता आहारकद्विकाद्याश्चतुर्दश प्रकृतीर्वर्जयित्वा शेषाणां बन्धप्रायोग्याणामायुर्भिन्नप्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यबन्धकालो भिन्नमुहूर्तम्, देशसंयम सम्यग्मिथ्यात्वमार्गणयोस्तु "**बारसायाइवज्जिआण**" त्ति 'साय'(गाथा-३४२) मित्यादिना संगृहीताः सातवेदनीयाद्या द्वादशप्रकृतीर्वर्जयित्वा शेषायुर्भिन्नबन्धप्रायोग्यप्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यबन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तमित्यर्थः । आहारकद्विकादिचतुर्दश-सातवेदनीयादिद्वादशप्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यबन्धकालस्तर्हि कियान् ? इति चेत्, 'सव्वासु लहू कालो" (गाथा-३५६) इत्यादिप्राग्युक्तवचनात्समयमात्रः । अयमप्यन्तर्मुहूर्तमात्रः समयमात्रश्च कालो मतिज्ञानादिमार्गणावद्देवाऽवसातव्यः, केवलमासु चतसृषु मार्गणासु अपूर्वगुणस्थानभाविनो देवद्विकवैक्रियद्विकयोरबन्धस्याऽप्राप्तेः प्रकारान्तरेण तु तयोर्जघन्यतः समयमात्रप्रकृतिबन्धकालस्याऽसम्भवाच्चान्तर्मुहूर्तप्रमाणप्रकृति-

बन्धजघन्यकालानुसारेण तासां देवद्विकादीनां चतसृणामनुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यबन्धकालोऽप्यन्तर्मुहूर्तप्रमाणोऽभिहित इति ।

अथ क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायामाह—"खइए" इत्यादि, क्षायिकसम्यक्त्वे 'णरदुग वइराणि उरल च' (गाथा–३४०) इत्यनेन संगृहीता मनुष्यद्विक-प्रथमसंहननौ-दारिकद्विकलक्षणाः पञ्च प्रकृतीस्तथा देवद्विक-वैक्रियद्विके आहारकद्विकादीर्यथोक्तचतुर्दशप्रकृतीश्च वर्जयित्वा शेषाणामायुर्भिन्नानां बन्धप्रायोग्याणां मतिज्ञानावरणादीनां चतुःपञ्चाशत्प्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यो बन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तम्, मनुष्यद्विकादीनामायुर्वर्जानां तु समयमात्रः । तत्र देवद्विकादीनामष्टादशप्रकृतीनां समयमात्रकालस्तु सर्वथैव मतिज्ञानादिमार्गणावद् द्रष्टव्यः, मनुष्यद्विकादीनां पञ्चानां तु तासामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनः प्रस्तुतमार्गणायां मतिज्ञानादिमार्गणावन्न मिथ्यात्वाभिमुखाः, किन्तु स्वस्थानतीव्रसंक्लिष्टदेवनारका एव, इत्थं च यः कश्चिद्देवो नारको वा भवद्विचरमसमये मनुष्यद्विकादिपञ्चप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धं समाप्य भवचरमसमयेऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धं करोति, अनन्तरसमये मनुष्यतयोत्पत्त्या मनुष्यद्विकादिपञ्चप्रकृतीनां बन्धविच्छेदश्च यस्य जायते, तस्य देवनरकभवचरमसमयकृतस्थितिबन्धाऽपेक्षया प्रस्तुतप्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यो बन्धकालः समयमात्रः प्राप्यते, न चैवं मतिज्ञानादिमार्गणास्वपि, तासु मिथ्यात्वाभिमुखानामेवोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वेनोत्कृष्टस्थितिबन्धेऽसमाप्ते मतिज्ञानादिमार्गणाया मार्गणान्तरतयाऽपरावर्तनात् । मतिज्ञानावरणादिचतुःपञ्चाशत्प्रकृतीनामन्तर्मुहूर्तप्रमाणः प्रस्तुतकालस्तु प्राग्वद्भावनीय इति ।

ननु निरयगत्योघादिमार्गणास्थानेषु तर्हि प्रस्तुतकालः कियान् ज्ञातव्यः ? इति चेद्, भण्यते, "सव्वासु लहू कालो अबक्खमा गाण" (गाथा ३५६) इत्यादि, पूर्वोक्तवचनादायुर्वर्जानां सर्वासां बन्धप्रायोग्यप्रकृतीनामसात्वनुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यो बन्धकालः समयमात्रो ज्ञातव्यः, स च प्रत्येकमार्गणास्थानेषु सातवेदनीयादीनां बहूनामध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतिबन्धजघन्यकालस्य समयमात्रत्वात् तदधीनः समयमात्रोऽवाप्यते कासाञ्चिज्जिननामाद्यध्रुवबन्धिनीनां मतिज्ञानावरणादिध्रुवबन्धिनीनां च प्रकृतिबन्धजघन्यकालस्य समयमात्रत्वाऽभावे तु तासामुत्कृष्टस्थितिबन्धादबन्धाद्वोत्तीर्य भवचरमसमयेऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धं प्रारभ्य कालकरणे मार्गणापरावृत्तिप्रयुक्तोऽसौ समयमात्रो लभ्यते, यथा निरयगत्योघादिषु ध्रुवबन्धि-जिननाम्नामुत्कृष्टस्थितिबन्धादुत्तीर्य, संयमौघादिमार्गणासु त्वबन्धादुत्तीर्य तथा काययोगादिकतिपयमार्गणासु त्वन्यथाऽपि मार्गणाद्वितीयसमये उत्कृष्टस्थितिबन्धे प्रारब्धे मार्गणाप्रथमसमयापेक्षो मार्गणाकायस्थितेर्जघन्यकालापेक्षया वा यथासम्भवं बोद्धव्यः । निरयगत्योघादिशेषमार्गणास्त्विमा एकोनत्रिंशदभ्यधिकशतम्—सप्तमपृथिवीनिरयभेदवर्जाः सप्तनिरयगतिभेदाः, सर्वे तिर्यग्गतिभेदाः, सर्वे मनुष्यगतिभेदाः, सर्वे देवगतिभेदाः, बादरैकेन्द्रियौघ-तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्त-सूक्ष्मैकेन्द्रियपर्याप्तभेदलक्षणाश्चत्वार एकेन्द्रियभेदाः, सर्वे विकलेन्द्रियभेदाः, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-

भेदश्च, पृथिवीकाया-ऽप्काय-तेजस्काय-वायुकायसत्काः सर्वे भेदाः, सर्वे प्रत्येकवनस्पतिकायभेदाः, एकेन्द्रियमार्गणाभेदचतुष्टयवच्चत्वारः साधारणवनस्पतिकायभेदाः, अपर्याप्तत्रसकायभेदः, सर्वे मनोयोगभेदाः, सर्वे वचोयोगभेदाः, काययोगसामान्यौदारिक-वैक्रिया-ऽऽहारक-कार्मणकाययोग-भेदाश्च, स्त्रीवेदा-ऽपगतवेदौ, कषायचतुष्कम्, मनःपर्यवज्ञानम्, विभङ्गज्ञानम्, संयमौघसामायिक-छेदोपस्थापन-सूक्ष्मसम्परायसंयमाः, तेजः-पद्मलेश्ये, सासादनम्, असंज्ञ्या-ऽऽहारका-ऽनाहाकभेदा-श्चेति ॥३५७-३६४॥

तदेवमभिहितो गाथानवकेन सर्वमार्गणास्थानेष्वायुर्वर्जबन्धप्रायोग्यसर्वप्रकृतीनामनुत्कृष्टायाः स्थितेर्बन्धकालो जघन्यतः। साम्प्रतं तमेवोत्कृष्टतो बिभणिषुरादौ तावत् तत्तन्मार्गणासु बन्धप्रा-योग्यध्रुवबन्धिनीनां गाथाचतुष्टयेनाह—

जेट्ठो असंखलोगा एगिंदि-णिगोअ-पंचकायेसुं ।
धुवबंधीणं अंगुलअसंखभागो छसुहुमेसुं ॥३६५॥
अण्णाणदुगे अजए अचक्खु-भवियो-यरेसु मिच्छत्ते ।
विण्णेयो परिअट्टा असंखिया पोग्गलाणं तु ॥३६६॥
जेट्ठा ससकायठिई सप्पाउग्गाण सेससव्वासुं ।
णवरं सुरसुकासुं अडमिच्छाईण एगतीसुदही ॥३६७॥ (गीतिः)
णाणतिगे ओहिम्मि य सम्मत्ते वेअगे मुणेयव्वो ।
मज्झट्ठकसायाणं तेत्तीसा सागरा ऽब्भहिया ॥३६८॥

(प्रे०) 'जेट्ठो' इत्यादि प्रस्तुतत्वादनुत्कृष्टायाः स्थितेः 'ज्येष्ठः' उत्कृष्टो बन्धकालः "असंख-लोगा" त्ति क्षेत्रतोऽसंख्येयलोकप्रमाणः, लोकप्रमाणेष्वसंख्येयेषु क्षेत्रखण्डेषु प्रतिसमयमेकैकाकाशप्रदे-शापहारे यावता कालेन तत्सर्वं क्षेत्रं निर्लेपं स्यात् तावानसंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिण्यस्तु कालतो विज्ञेयः, केषु मार्गणास्थानेषु कासां प्रकृतीनामित्याह– 'एगिंदिणिगोअ" इत्यादि, एकेन्द्रिय-पृथिव्य-प्तेजो वायु वनस्पतिकायौघमार्गणास्थानेषु साधारणवनस्पतिकायौघमार्गणास्थाने च मतिज्ञानावर-णादिसप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिनीनामित्यर्थः। "अंगुलअसंखभागो छसुहुमेसु" ति एकेन्द्रिय-पृथिव्य-प्तेजो वायु-साधारणवनस्पतिकायभेदभिन्नेषु षट्सु सूक्ष्मौघभेदेषु, सूक्ष्मैकेन्द्रियाद्यौघभेदे-ष्वित्यर्थः। एतासु प्रत्येकं सप्तचत्वारिंशतो ध्रुवबन्धिनीनामनुत्कृष्टस्थितेर्ज्येष्ठो बन्धकालः क्षेत्रतोऽङ्गु-लाऽसंख्येयभागप्रमाणो लभ्यते, कालतस्तु प्राग्वदसंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिण्य एव, केवलं पूर्वापेक्षया स्तोकतमा असंख्येयभागमात्रा इमाः। "अण्णाणदुगे" इत्यादि, मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंयमेषु,

अचक्षुर्दर्शने, भव्ये, इतरशब्दादभव्ये, मिथ्यात्वे च प्रस्तुतो ध्रुवबन्धिनीनामनुत्कृष्टस्थितेर्दीर्घो बन्धकालः पुद्गलानामसंख्येयाः परावर्ता ज्ञेयः, ओघवदसंख्येयपुद्गलपरावर्तप्रमाणो ज्ञातव्य इत्यर्थः ।

अथोक्तविंशतिमार्गणा विहाय शेषमार्गणास्वाह–"**जेट्ठो ससकायठिई**"त्यादि, पूर्वोक्तं "धुवबंधीण" मिति पदमत्राप्यनुवर्तत एव, तत उक्तशेषनिरयगत्योघादिसर्वमार्गणासु स्वस्यां स्वस्यां बन्धप्रायोग्याणां सर्वासां मतिज्ञानावरणादिध्रुवबन्धिप्रकृतीनां प्रस्तुतोऽनुत्कृष्टस्थितेः 'ज्येष्ठः'–उत्कृष्टो बन्धकालः '**ससकायठिई**' त्ति निरयगत्योघादितत्तन्मार्गणायाः प्राग् **मूलप्रकृतिस्थितिबन्धद्वितीयाधिकारैकजीवाश्रयकालद्वारे** उक्तप्रमाणा उत्कृष्टा कायस्थितिर्ज्ञेयः, 'नवरं'–केवलमयं विशेषः, कोऽसावित्याह–"**सुरसुक्कासु**" इत्यादि, देवगत्योघे शुक्ललेश्यायां च "**अडमिच्छाईण**"त्ति 'मिच्छ थीणद्धितिग आइम'त्येतावता (गाथा-३४०) संग्रहगाथांशेन संगृहीता या मिथ्यात्व-स्त्यानर्द्धित्रिका-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्कलक्षणा अष्टौ प्रकृतयस्तासामनुत्कृष्टस्थितेरेकत्रिंशदुदधयः-सागरोपमाण्येकजीवाश्रय उत्कृष्टो बन्धकालः; स च व्याख्यानतः शुक्ललेश्यामार्गणायामन्तर्मुहूर्तेनाप्यधिको द्रष्टव्यः । **अयम्भावः**–सामान्यतः शुक्ललेश्याया उत्कृष्टकायस्थितिः सर्वार्थसिद्धदेवोत्कृष्टभवस्थित्यपेक्षया लभ्यते, नवरं तेषां सर्वार्थसिद्धदेवानां सम्यग्दृष्टितया मिथ्यात्वादिप्रकृतीनामेवाऽबन्धादिह नवमग्रैवेयकोत्कृष्टभवस्थित्यपेक्षया एकत्रिंशत्सागरोपमाण्यभिहितानि, तत्रस्थदेवानां च शुक्ललेश्या पूर्वोत्तरभवयोरन्तर्मुहूर्तं सम्बध्यते, संभवति च तदानीमपि तेषां मिथ्यात्वम्, तथा च प्रकृतिबन्धोत्कृष्टकालानुसारी मिथ्यात्वादिप्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टबन्धकालोऽपि शुक्ललेश्यामार्गणायां साधिकैकत्रिंशत्सागरोपमाणि भवतीति । एवमेवान्यत्राप्यन्तर्मुहूर्तादिना हीनाधिक्यं यथासम्भवं स्वयमेव द्रष्टव्यमिति । अन्यत्र विशेषमाह–"**णाणतिगे**" इत्यादि, मतिज्ञान-श्रुतज्ञाना-ऽवधिज्ञानमार्गणालक्षणे ज्ञानत्रिके, अवधिदर्शने, सम्यक्त्वौघे, क्षायोपशमिकसम्यक्त्वे च "**मज्झट्ठकसायाण**"मिति मध्यमानामप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरणक्रोधादिलक्षणानामष्टानां 'कषायाणां' कषायप्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितेरेकजीवाश्रय उत्कृष्टबन्धकालोऽभ्यधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणो ज्ञातव्यः । मतिज्ञानादिमार्गणानां प्रत्येकमेकजीवाश्रयोत्कृष्टकायस्थितेः साधिकषट्षष्टिसागरोपमप्रमाणत्वेऽपि समधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणकायस्थितावतिक्रान्तायामनुत्तरविमानादुद्वृत्तस्य जीवस्य मनुष्यभवे संयमप्राप्तौ मध्यमकषायाष्टकस्यावश्यं बन्धविच्छेदभावात् तस्य प्रकृतिबन्धकालतुल्य एवानुत्कृष्टस्थितिबन्धकालोऽपि समधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणः प्राप्यते । **सप्ततिकाभाष्यवृत्तिकाराणां** मतेन त्वसौ साधिकषट्षष्टिसागरोपमाण्येवाऽवगन्तव्यः, तन्मतेन प्रकृतिबन्धकालस्य तथात्वादिति ।

इत्थं चापोदिते देवगत्योघे पञ्चज्ञानावरण-चतुर्दर्शनावरण-निद्राद्विका-ऽप्रत्याख्यानावरण प्रत्याख्यानावरण-संज्वलनक्रोधादिकषाय-भय-जुगुप्सा-वर्णचतुष्क-तैजस-कार्मण-ऽगुरुलघु-निर्माणो–पघाता-

ऽन्तरायपञ्चकलक्षणैकोनचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टबन्धकालो देवगत्योघमार्गणाया एकजीवाश्रयोत्कृष्टकायस्थितिस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि प्राप्तः, मिथ्यात्व-स्त्यानर्द्धित्रिका-ऽनन्तानुबन्धिकषायचतुष्काणां तु यथोक्तैकत्रिंशत्सागरोपमप्रमाण एव । शुक्ललेश्यायां त्वसावन्तर्मुहूर्ताभ्यधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि मतिज्ञानावरणाद्येकोनचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिनीनाम् , अन्तर्मुहूर्ताभ्यधिकैकत्रिंशत्सागरोपमाणि च मिथ्यात्वमोहनीयाद्यष्टप्रकृतीनाम् । मतिज्ञानादिषण्मार्गणासु तु मिथ्यात्वमोहनीयाद्यष्टौ प्रकृतय एव न बध्यन्ते, शेषमतिज्ञानावरणाद्येकोनचत्वारिंशत्प्रकृतिष्वप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरणकषायलक्षणानामष्टानां प्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टो बन्धकालोऽपोद्य साधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यभिहितः, ततश्च तद्वर्जानां बन्धप्रायोग्याणां मतिज्ञानावरणाद्येकत्रिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनामेव मतिज्ञानादिमार्गणाया उत्कृष्टैकजीवाश्रयकायस्थितिः षट्षष्टिसागरोपमाणि साधिकाऽमाववगन्तव्यः । शेषनिरयगत्योघादिद्विचत्वारिंशदुत्तरशतमार्गणासु तु बन्धप्रायोग्याणां सर्वासां ध्रुवबन्धिप्रकृतीनाममौ तत्तन्निरयगत्योघादिमार्गणाया एकजीवाश्रयोत्कृष्टकायस्थितेस्तुल्य एव विज्ञेयः, तत्र निरयगत्योघादिमार्गणानामुत्कृष्टकायस्थितिप्रतिपादिका गाथा इमाः—

'कायठिई उक्कोसा णिरयसुराण विभगणाणस्स । किण्हसुइलखइआण तेत्तीसा सागरा णेया ॥१५२॥
पढमाइगणिरयाणं कमसो एगो य तिण्णि सत्त दस । सत्तरह य बावीसा तेत्तीसा सागरा णेया ॥१५३॥
णेया असखिया खलु परिअट्टा पोग्गलाण तिरियस्स । एगिंदियहरिआणं कायणपुंसगअसण्णीण ॥१५४॥
तिपणिंदियतिरिआण तिणराण च पलिओवमा तिण्णी । अब्भहिया पुव्वाण कोडिपुहुत्तेण णायव्वा ॥१५५॥
सव्वाऽपज्जत्ताणं सम्मत्तबायरणिगोअकायस्स । पज्जत्तगसुहुमाण पणमणवयउरलमीसाण ॥१५६॥
विउवाहारदुगाण अवगयवेअस्स चउकसायाण । सुहुमुवसममीसाण भिन्नमुहुत्त मुणेयव्वा ॥१५७॥
भवणस्स साहियुदही पल्ल वतरसुरस्स विण्णेया । पलिओवममब्भहिय जोइसदेवस्स णायव्वा ॥१५८॥
सोहम्माईण कमा अयरा दो साहिया दुवे सत्त । अब्भहिया सत्त य दस चउदस सत्तरह णायव्वा ॥१५९॥
एत्तो एगेगऽहिया णायव्वा जाव एगतीसुदही । उवरिमगेविज्जस्स उ तेत्तीसाऽणुत्तराण भवे ॥१६०॥
अगुलअसखभागो बायरएगिंदियस्स सुहुमाण । तह पुढवाइचउण्ह णेया लोगा असखेज्जा ॥१६१॥
बायरपज्जेगिंदियभूदगपत्तेअवाउविगलाण । सखेज्जसहस्ससमा समत्तबेइंदियस्स सखसमा ॥१६२॥
पज्जत्तगतेइंदियबायरतेऊण होइ संखेज्जा । दिवसा सखियमासा समत्तचउइंदियस्स भवे॥१६३॥
पंचिंदियचक्खूणऽहियुदहिसहस्सं तसस्स त दुगुण । पज्जपणिंदितसपुरिससण्णोणायरसयपुहुत्त ॥१६४॥
अड्ढतइअपरिअट्टा भवे णिगोअस्स होइ मोहठिई । बायरपुढवाइचउगणिगोअपत्तेअहारिआण ॥१६५॥
देसूणसहस्ससमा बावीसुरलस्स तिसमया णेया । कम्माणाहाराण पल्लसयपुहुत्तमित्थीए ॥१६६॥
मणणाणसजमाण समइअछेअपरिहारदेसाण । देसूणा पुव्वाण कोडी एगा मुणेयव्वा ॥१६७॥
दुअणाणायतमिच्छाण अणाइधुवा अणाइअधुवा य । माइअधुवा य तिविहा तइया हीणद्धपरिअट्टो ॥१६८॥
साहियछसट्ठिजलही तिणाणसम्मत्तवेअगोहिसु । दुविहाऽत्थि अणाइधुवा अणाइअधुवा अचक्खुस्स ॥१६९॥
णीलाइचउण्ह कमा अयरा दस तिण्णि दोण्णि अट्ठार । भवियस्सऽणाइअधुवा तहा अभवियस्सऽणाइधुवा॥१७०॥
सासाणस्सावलिआ छ भवे आहारगस्स णायव्वा । अगुलअसखभागो त्ति भवे उक्कोसकायठिई ॥१७१॥' इति ॥

आसां व्याख्यानं तु पूर्वं मूलप्रकृतिस्थितिबन्धविधानद्वितीयाधिकारकालद्वारप्रेमप्रभाया कृतमेवाऽस्माभिरिति जिज्ञासुना ततोऽवलोक्यमिति ॥३६५-३६८॥

ननूक्तः सर्व्वासु मार्गणासु बन्धप्रायोग्यध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टो बन्धकालः, न पुनरध्रुवबन्धिनीनामसावुक्तः, तर्हि तासामसौ कियान् भवति ? इत्यत्र बहूनामध्रुवबन्धिनीनामसावन्तर्मुहूर्तमेव भवति, अध्रुवबन्धित्वात् तासाम्, स्तोकानां तु गुणप्रत्ययेन भवप्रत्ययेन वा स्वप्रतिपक्षप्रकृतिरहितबन्धप्रायोग्यतया नैरन्तर्येण बध्यमानानां प्रकृतिबन्धकालवन्मार्गणोत्कृष्टकायस्थित्यादिप्रमाणोऽसौ लभ्यते, अतो यासां स्तोकप्रकृतीनाममौ मार्गणोत्कृष्टकायस्थित्यादिप्रमाणस्तासां तावान् वक्ष्यते, यासां त्वसौ न वक्ष्यते तासामायुर्वर्जाऽध्रुवबन्धिनीनाममावनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टबन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तमान एव ज्ञातव्य इत्येतदेव चिकथयिषुराह—

सव्वासु मुहुत्तंतो अवक्खमाणाण अधुवबंधीणं ।
आउगवज्जाण गुरू अगुरुठिईए मुणेयव्वो ॥३६९॥

(प्रे०) "सव्वासु" इत्यादि, निरयगत्योघादिषु सर्व्वासु "अवक्खमाणाण" त्ति प्राग्वद्यासां प्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टो बन्धकालो न वक्ष्यते तासामवक्ष्यमाणोत्कृष्टस्थितिबन्धकालानाम् "अधुवबंधीणं आउगवज्जाण" त्ति आयुर्वर्जानां तत्तन्मार्गणासु बन्धप्रायोग्याणामध्रुवबन्धिप्रकृतीनां "गुरू अगुरुठिईए" त्ति 'अगुरुस्थितेः' अनुत्कृष्टायाः स्थितेः 'गुरुः' दीर्घो निरन्तर एकजीवाश्रयः प्रस्तुतो बन्धकालो मुहूर्तान्तो ज्ञातव्य इति ॥३६९॥

इत्थं लाघवार्थमवक्ष्यमाणाऽऽयुर्वर्जा-ऽध्रुवबन्धिप्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितेरेकजीवाश्रयमुत्कृष्टबन्धकालमन्तर्मुहूर्तं ज्ञापयित्वाऽवक्ष्यमाणाऽऽयुर्वर्जशेषाऽध्रुवबन्धिनीना यासु मार्गणासु यावान्भवति तावन्तं दिदर्शयिषुः प्रथमतो निरयगतिभेदेषु तत्तुल्यप्रायोवक्तव्यत्वात्कृष्णादिलेश्यात्रये चाह--

णिरये गुरुकायठिई होइ तितिरियाइ-णवुरलाईणं ।
हीणा गुरुकायठिई सत्तपुमाइ-तिणराईणं ॥३७०॥
अब्भहियं अयरतिगं जिणस्स एमेव तित्थवज्जाणं ।
चरमणिरय-किण्हासुं सेसणिरय-णील-काऊसुं ॥३७१॥
उरलाईण णवण्हं सगगुरुकायट्ठिई मुणेयव्वो ।
सा देसूणा णेयो सत्तपुमाइ-तिणराईणं ॥३७२॥
णवरि सगुरुकायठिई देसूणा तिरिउरालियदुगाणं ।
किण्हाए ओरालियदुगस्स पुण णीलकाऊसुं ॥३७३॥

तित्थस्स पढमणिरये देसूणुदही तिसागरा ऊणा।
दुइअणिरयम्मि अहिया तइअणिरय-काउलेसासु ॥३७४॥

(प्रे०) "**णिरये**" इत्यादि, निरयगत्योघे 'गुरुः'-उत्कृष्टा त्रयस्त्रिंशत्सागरोपममाना या तदीयैकजीवाश्रयमार्गणाकायस्थितिः "**होइ**" त्ति प्रस्तुतानुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टबन्धकालमानं भवति, यावानुत्कृष्टकायस्थितिकालस्तावान्प्रस्तुतबन्धकालोऽपीत्यर्थः । एवमेवाग्रेऽपि योजनीयम् । कासां प्रकृतीनामित्याह-"**तितिरिये**"त्यादि, 'तिरियदुग णीअं' तथा 'उरल च ॥३४०॥ उरलोवंग-पणिंदिय-तस-परघू-सास-बायरतिगाणि' इत्येतावता प्राक् संगृहीतानां तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्वी-नीचैर्गोत्रलक्षणानां तिसृणां प्रकृतीनामौदारिकद्विक-पञ्चेन्द्रियजाति-त्रस-परघातो-च्छ्‌वास-बादरत्रिकलक्षणानां नवानां प्रकृतीनां चेत्यर्थः । कुतः ? प्रस्तुतमार्गणायामासां प्रकृतिबन्धोत्कृष्टकालस्य तथात्वात्, प्रकृतिबन्धोत्कृष्टकालस्य तथात्वं तु सप्तमनरके तिर्यग्गत्यादिप्रतिपक्षभूतमनुष्यगत्यादिप्रकृतीनां मिथ्यादृष्टिगुणस्थानेऽबन्धेन कैश्चिद् ध्रुवमिथ्यादृष्टिजीवैर्यावज्जीवं नैरन्तर्येण तिर्यग्गत्यादिप्रकृतीनामेव बध्यमानत्वात् । एवमेवान्यत्रापि प्रकृतिबन्धकालस्तु ग्रन्थान्तरादूह्यः ।

ननु प्रकृतिबन्धकालस्योत्कृष्टतस्तथात्वान्मा भवतु प्रस्तुतकाल उक्ताधिकः, कथं पुनः स्तोको न भवति ? **इति चेद्**, **उच्यते**, उत्कृष्टप्रकृतिबन्धकालात्स्तोकस्तु नियमेन तदा भवेद्, यदि प्रकृतिबन्धकालमध्ये तासामुत्कृष्टस्थितिबन्धो नियमेन जायेत, न चाऽसंख्यकालचक्रबन्धकालाद्धीनप्रकृतिबन्धकालानां प्रकृतीना स्थितिबन्धे तथा नियमः, नियमाभावाच्च केषाञ्चिज्जीवानामुत्कृष्टप्रकृतिबन्धकालं यावदनुत्कृष्टस्थितिबन्ध एव प्रवर्तते, तत उत्कृष्टतः प्रकृतिबन्धकालस्तुल्य एवानुत्कृष्टस्थितिबन्धकालोऽप्यवाप्यत इति । एवमेवोत्तरत्राऽपि विभावनीयः प्रस्तुतबन्धकाल इति ।

"**हीणा गुरुकायठिई**"त्यादि, 'हीना' अन्तर्मुहूर्तलक्षणेनैकदेशेन न्यूना निरयगत्योघस्य यथोक्तोत्कृष्टकायस्थितिः सप्तानां पुरुषवेदादीनां 'पुम-सुखगइ-पढमागिइ सुहगतिगु च्च" (गाथा-३४१) इत्येतावता संगृहीतानां पुरुषवेद सुखगति-प्रथमसंस्थान-सुभगत्रिको-च्चैर्गोत्रलक्षणप्रकृतीनां तथा नरदुग वइराणि' (गाथा-३४०, इत्यनेन संगृहीतानां मनुष्यद्विक-प्रथमसंहननप्रकृतीनां प्रस्तुतोऽनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टो निरन्तरैकजीवाश्रयो बन्धकालो भवति । अत्राऽपि हेतुतया प्रस्तुतदशप्रकृतीनामुत्कृष्टप्रकृतिबन्धकाल एवानुसर्तव्यः । प्रकृतिबन्धोत्कृष्टकालस्य तथात्व तु प्रस्तुतप्रकृतीनां चतुर्थगुणस्थाने तत्प्रतिपक्षप्रकृत्यबन्धेन निरन्तरं बन्धात् मिथ्यादृशामबन्धात् परावृत्य बन्धाद्वा।

अयम्भावः—सप्तमपृथिवीनिरयमार्गणास्थाने उत्कृष्टोऽपि सम्यक्त्वकालोऽन्तर्मुहूर्तोनत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्येव;भवाद्यचरमान्तर्मुहूर्तयोस्तत्रत्यनैरयिकाणां नियमेन मिथ्यादृष्टित्वात्, प्रस्तुतपुंवेदादिप्रकृतयस्तु सम्यक्त्वसद्भावे तैर्नैरन्तर्येण बध्यन्ते, कुतः ? सम्यक्त्वसद्भावे एतत्प्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धप्रायोग्यत्वाभावात् । मिथ्यात्वगुणस्थाने तु काश्चित्पुरुषवेदादिप्रकृतयः परावृत्य परावृत्य

बध्यन्ते, कासाञ्चिन्मनुष्यगत्यादीनां त्वबन्ध एव प्रवर्तते, तथा चोत्कृष्टसम्यक्त्वाद्धाप्रधानो मनुष्यगत्यादिप्रकृतीनां निरन्तरबन्धकालः सम्यक्त्वाद्धातुल्यो देशोनत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणो लभ्यते, पुंवेदादिप्रकृतीनां तु स किञ्चिदधिकः, मिथ्यात्वगुणस्थानेऽपि पुंवेदादिप्रकृतीनामन्तर्मुहूर्तं यावद् बन्धसद्भावात् मनुष्यगत्यादीनां कासांचिच्चबन्ध एव प्रवर्तते, तदेवं प्रस्तुतमार्गणायामुत्कृष्टसम्यक्त्वाद्धाप्रधानः पुंवेदादिप्रकृतीनामुत्कृष्टो निरन्तरबन्धकालो देशोनत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणोऽवाप्यते; स च कासांचित्किञ्चिदधिकः, कासांचिन्मनुष्यगत्यादीनां तु तावन्मात्रश्चेति।

"अब्भहियं अयरतिगं जिणस्स" त्ति अभ्यधिकं पल्योपमासंख्येयभागेन 'अतरत्रिकं' सागरोपमत्रिकं जिननाम्नोऽनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टबन्धकालो भवति, तदधिकस्थितिकनारकतया जिननाम्नो बन्धकानामनुत्पत्तेस्तदीयप्रकृतिबन्धकालस्यैवोत्कृष्टतस्तावत्प्रमाणत्वादिति । इत्थं हि निरयगत्योघमार्गणास्थाने 'गुरुकायठिई होइ तितिरिये' त्यादिना तिर्यग्गत्यादित्रयोविंशतिप्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टबन्धकालस्य स्वोत्कृष्टकायस्थित्यादिप्रमाणत्वकथनादन्यासां तु तस्यावक्ष्यमाणत्वाच्च 'सव्वासु मुहुत्ततो अवक्खमाणाणं'(गाथा-३६९)त्याद्यनन्तरोक्तवचनेन तासामुक्तशेषाणां साताऽसातवेदनीय-हास्य-रति-शोका-ऽरति-स्त्रीवेद- नपुंसकवेद--प्रथमवर्जसंहननपञ्चक-प्रथमवर्जसंस्थानपञ्चक-कुखगत्यु-द्योत-स्थिर-शुभ-यशःकीर्त्य--स्थिरषट्कलक्षणानामेकोनत्रिंशदायुर्वर्जाध्रुवबन्धिप्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टो बन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तं प्राप्तः, स तु तासां सातवेदनीयादीनां प्रकृतिबन्धकालस्यैव प्रस्तुतमार्गणायामुत्कृष्टतस्तथात्वात् तावानवसेय इति ।

तदेवं निरयगत्योघे आयुःप्रकृतेः पूर्वमुक्तत्वात् तद्वर्जाध्रुवबन्धिप्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टबन्धकालमभिधायाऽन्यत्र सापवादमतिदिशति–**'एमेव तित्थवज्जाणं चरमणिरयकिण्हासु'**-मिति **'एवमेव'** निरयगत्योघवदेव चरमे तमस्तमाभिधपृथिवीलक्षणे निरयगतिभेदे कृष्णलेश्यायां च तीर्थकरनामवर्जानां तिर्यग्गत्यादिप्रकृतीनां प्रस्तुतकालः "तितिरियाई" त्यादिनाऽभिहितप्रमाणो वक्तव्यः, विहाय 'णवरि' (गाथा–३७३) इत्यादिना वक्ष्यमाणापवादम् ।

"सेसे"त्यादि, शेषेषु निरयगत्योघ-सप्तमपृथिवीनिरयभेदवर्जेषु प्रथमादिपृथिवीभेदभिन्नेषु षट्सु निरयगतिमार्गणास्थानेषु नीललेश्यायां कापोतलेश्यायां च **"उरलाईण णवण्हं"** ति 'उरल च' (गाथा-३४०) इत्यादिना संगृहीतानामौदारिकद्विक-पञ्चेन्द्रियजाति-पराघातो-च्छ्वास-त्रसचतुष्कलक्षणानां नवप्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टो बन्धकालः **"सगगुरुकायठिई मुणेयव्वो"** त्ति स्वकीया स्वकीया प्रथमपृथिवीनिरयभेदादिमार्गणासम्बन्धिनी सागरोपमादिमानोत्कृष्टा कायस्थितिर्ज्ञेयः । तद्यथा–प्रथमनिरयपृथिव्यां सागरोपमम्, द्वितीयायां तु त्रीणि सागरोपमाणि, तृतीयायां सप्त, चतुर्थ्यां दश, पञ्चम्यां सप्तदश, षष्ठ्यां द्वाविंशतिः सागरोपमाणि, नीललेश्यायां पल्योपमासंख्येयभागेनाभ्यधिकानि दश सागरोपमाणि, कापोतलेश्यायां तु पल्योपमासंख्येयभागे-

नाऽभ्यधिकानि त्रीणि सागरोपमाण्यौदारिकद्विकादिनवप्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टबन्धकालः। तथा **"सा देसूणा णेयो"** त्ति सैव प्रथमपृथिव्यादिभेदसत्का सागरोपमादिप्रमाणोत्कृष्टकायस्थितिः **'देसूणा'** त्ति अन्तर्मुहूर्तलक्षणेनैकेन देशेनोना सती सप्तानां 'पुमसुखगई' (गाथा-३४१) त्यादिना संगृहीतानां पुरुषवेद-प्रथमसंस्थान-सुभगत्रिको-च्चैर्गोत्रलक्षणानां सप्तप्रकृतीनाम् 'णरदुग-वइराणि' (गाथा-३४०) इत्यनेन संगृहीतानां मनुष्यगति-मनुष्यानुपूर्वी-प्रथमसंहननलक्षणानां तिसृणां प्रकृतीनां च प्रस्तुतोत्कृष्टकालो ज्ञेयः।

अथ किञ्चिदतिप्रसक्तमर्थमपवदति–"**णवरो**"त्यादि, 'नवरं'-केवलं कृष्णलेश्यायां तिर्यग्द्विकौदारिकद्विकलक्षणानां चतुःप्रकृतीनां प्रस्तुतकालो न यथातिदेशं निरयगत्योघानुसारेण स्वीयोत्कृष्टकायस्थितिः, किन्तु "**सगुरुकायठिई देसूण**' त्ति 'स्वीया'-कृष्णलेश्यासत्का 'गुरु' उत्कृष्टा कायस्थितिः 'देशोना'-अन्तर्मुहूर्तलक्षणेनैकदेशेनोनाऽवगन्तव्यः, उत्कृष्टकायस्थितेर्निर्वाहकाणां नारकतयोत्पित्सूनां कृष्णलेश्यापरिणतानां मुमुर्षूणां कायस्थितिप्रारम्भे नियमतो निरयद्विकवैक्रियद्विकलक्षणप्रकृतिचतुष्कं बध्नतां तिर्यगादिजीवानां तदानीं तिर्यग्गत्यादिप्रकृतीनां बन्धाऽभावेन प्रकृतिबन्धकालस्यैव देशोनमार्गणोत्कृष्टकायस्थितिप्रमाणत्वलाभात् प्रकृतिबन्धकालप्रयुक्त एवासां चतसृणामनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टबन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तोनकृष्णलेश्योत्कृष्टकायस्थितिप्रमाणो ज्ञेयः।

"**सगुरुकायठिई देसूणा**" इत्यस्योत्तरत्राप्यनुवर्तनात् "**ओरालियदुगस्स पुण णीलकाऊसु**" ति नीललेश्याकापोतलेश्यामार्गणाद्वये पुनरौदारिकद्विकलक्षणप्रकृतिद्वयस्यैवाऽसौ देशोनस्वीयोत्कृष्टकायस्थितिरवगन्तव्यः, न तु तिर्यग्द्विकस्याऽपीति पुनःशब्दार्थः। अयमप्यनन्तरोक्तनीत्याऽन्तर्मुहूर्तलक्षणैकदेशेनैव न्यूनो विज्ञातव्यः, कुतस्तिर्यग्द्विकस्याऽग्रहणम्? इति चेद्, उत्कृष्टकायस्थितिं निर्गमयतामुत्कृष्टस्थितिकनीलकापोतान्यतरलेश्याकनैरयिकाणां मिथ्यात्वगुणस्थानेऽपि तिर्यग्द्विकस्य मनुष्यद्विकेन सह परावृत्य परावृत्य बन्धभावात्, न चैवमुत्कृष्टस्थितिककृष्णलेश्याकनैरयिकाणामपि, मिथ्यात्वे सति तेषां तिर्यग्द्विकस्य निरन्तरं बन्धभावादिति।

तदेवमतिप्रसक्तिमुद्धृत्य प्रथमनिरयादिभेदेषूक्तशेषस्य तीर्थकरनाम्नः प्रस्तुतकालं दर्शयन्नाह–"**तित्थस्से**"त्यादि, प्रथमपृथिवीनिरयभेदे तीर्थकरनामकर्मणः '**देसूणुदही**' त्ति देशोनं सागरोपमं प्रस्तुतकालो विज्ञेयः, द्वितीयपृथिवीनिरयभेदे त्वसौ '**तिसागरा ऊणा**' त्ति त्रयः सागरोपमा देशोनाः, तृतीयपृथिवीनिरयकापोतलेश्ययोस्तु "**अहिया**" त्ति ते त्रयः सागरोपमाः पूर्ववन्न न्यूनाः, किन्तु 'अभ्यधिकाः' पल्योपमासंख्येयभागेनाभ्यधिकास्तीर्थकरनाम्नः प्रस्तुतोऽनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टबन्धकालो बोध्यः। **इदमुक्तं भवति**–तीर्थकरनाम्नो बन्धकाः प्रथमादिनिरयत्रिके नारकतयोत्पद्यमानास्तत्तत्पृथिवीषूत्कृष्टस्थितिकनारकतया नोत्पद्यन्ते, किन्तु किञ्चिदूनोत्कृष्टस्थितिकनारकतयोत्पद्यन्ते, तत्राऽपि तृतीयपृथिवीनिरयभेदे तु पल्योपमासंख्येयभागेनाऽभ्य-

धिकत्रिसागरोपमस्थितितोऽधिकस्थितिकनारकतया नोत्पद्यन्ते, इत्थं च प्रथम-द्वितीय-तृतीयपृथिवीनिरयभेद-कापोतलेश्यालक्षणासु चतसृषु मार्गणासु तीर्थकरनाम्नः प्रकृतिबन्धकाल एवोत्कृष्टतः 'तित्थस्से'त्यादिगाथोक्तदेशोनसागरोपमादिर्लभ्यते, यावाँश्चोत्कृष्टप्रकृतिबन्धकालस्तावानेव प्रस्तुतस्थितिबन्धकालो लभ्यते, यतः कैश्चिदुत्कृष्टप्रकृतिबन्धकालं निर्गमयद्भिस्तीर्थकरनाम्नो बन्धकैरुत्कृष्टप्रकृतिबन्धकालं यावत्तस्योत्कृष्टस्थितिबन्धो नाऽपि क्रियते, न केवल तीर्थकरनामविषये एवम्, किन्तु सर्वासामसातवेदनीयाद्यध्रुवबन्धिनीनामनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टो बन्धकालोऽपि सर्वथा प्रकृतिबन्धकालानुसारेणैवोपपादनीयः, न चैवं प्रस्तुतनिरयगत्योघादिकतिपयमार्गणास्वेव, किन्त्वशेषमार्गणासु, विहाय काश्चिदतिदीर्घकायस्थितिकाः सूक्ष्मैकेन्द्रियपृथिवीकायाद्योघमार्गणाः। इत्थं चान्यत्र वक्ष्यमाणप्रस्तुतबन्धकालोऽपि सामान्यतः प्रकृतिबन्धकालानुसारेणैवोपपादनीयः, यत्र विशेषः स्यात्त्रासौ यथासम्भवं विभावयिष्यत इति ।

इत्थमौत्सर्गिकादिवाक्यैरध्रुवबन्धिनीनां प्रस्तुतकाले प्रतिपादिते प्रथमपृथिवीनिरयभेदे पञ्चेन्द्रियजात्यौदारिकद्विक-पराघातो च्छ्वास-त्रसचतुष्कलक्षणानां नवानामध्रुवबन्धिनीनामनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टो बन्धकालः प्रतिपूर्णमेकं सागरोपमम्, पुरुषवेद-मनुष्यद्विक-प्रथमसंहनन-प्रथमसंस्थान-प्रशस्तविहायोगति-सुभगत्रिको-च्चैर्गोत्रलक्षणानां दशप्रकृतीनां जिननाम्नश्च प्रत्येकमसौ देशोनैकसागरोपमम्, शेषाणां साता-ऽसातवेदनीय-हास्य-रति-शोका-ऽरति-स्त्रीवेद-नपुंसकवेद-तिर्यग्द्विक-प्रथमवर्जसंहननपञ्चक-प्रथमवर्जसंस्थानपञ्चका-ऽप्रशस्तविहायोगत्यु-द्योत-स्थिर-शुभ यशःकीर्त्य-स्थिरषट्क-नीचैर्गोत्रलक्षणानां द्वात्रिंशदध्रुवबन्धिप्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टो बन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तम् । द्वितीयपृथिवीनिरयभेदेऽपि एवमेव, केवलं पञ्चेन्द्रियजात्यादिनवप्रकृतीनां प्रतिपूर्णं सागरोपमत्रयम्, पुरुषवेदादिदशप्रकृतीनां जिननाम्नश्च देशोनसागरोपमत्रयम्, शेषाणामायुर्वर्जसातवेदनीयादिद्वात्रिंशदध्रुवबन्धिनीनां तु पूर्ववदन्तर्मुहूर्तमेव प्रस्तुतकालः । तृतीयपृथिवीनिरयभेदे तु पञ्चेन्द्रियजात्यादिनवप्रकृतीनां प्रतिपूर्णानि सप्त सागरोपमाणि प्रस्तुतकालः, पुंवेदादिदशप्रकृतीनां तानि सप्तसागरोपमाणि देशोनानि, जिननाम्नस्तु साधिकानि त्रीणि सागरोपमाणि, शेषद्वात्रिंशत्सातवेदनीयाद्यध्रुवबन्धिनीनां त्वन्तर्मुहूर्तमेव । चतुर्थ-पञ्चम षष्ठभूमिनिरयभेदेषु पुनः पञ्चेन्द्रियजात्यादिनवप्रकृतीनां क्रमेण दश, सप्तदश, द्वाविंशतिः सागरोपमाणि प्रतिपूर्णानि, पुंवेदादीनां दशानां प्रकृतीनां तु क्रमेण तानि दश सप्तदश द्वाविंशतिः सागरोपमाणि देशोनानि, जिननाम्नस्तु बन्ध एव नास्ति । शेषसातवेदनीयादिद्वात्रिंशदध्रुवबन्धिनीनां तु पूर्ववन्मार्गणात्रयेऽप्यन्तर्मुहूर्तमेव । सप्तमपृथिवीनिरयलक्षणे मार्गणास्थाने तु निरयगत्योघमार्गणावत् पञ्चेन्द्रियजात्यादिनवप्रकृतीनां तिर्यग्द्विक-नीचैर्गोत्रलक्षणत्रिप्रकृतीना च प्रस्तुतोऽनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टबन्धकालः परिपूर्णानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि पुंवेदादिदशप्रकृतीनां तु तानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि

देशोनानि, शेषसाता-ऽसातवेदनीय-हास्य-रति शोका-ऽरति-स्त्री-नपुंसकवेद-प्रथमवर्जसंहननपञ्चक-प्रथमवर्जसंस्थानपञ्चक-कुखगत्यु-द्योत-स्थिर-शुभ-यशःकीर्त्य-स्थिरषट्कलक्षणैकोनत्रिंशदध्रुवबन्धिनीनां तु प्राग्वदन्तर्मुहूर्तमेव प्रस्तुतकालः ।

कृष्णलेश्यामार्गणायां पञ्चेन्द्रियजाति-पराघातो-च्छ्वास-त्रसचतुष्कलक्षणसप्तप्रकृतीनां नीचैर्गोत्रस्य च कृष्णलेश्योत्कृष्टकायस्थितिः, सा चान्तर्मुहूर्ताभ्यधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणा । पुंवेदाद्या दश तिर्यग्द्विकौ-दारिकद्विके चेति चतुर्दशप्रकृतीनां तु सा कृष्णलेश्योत्कृष्टकायस्थितिरन्तर्मुहूर्तोना सती प्रस्तुतकालो लभ्यते । शेषाणां साता-ऽसातवेदनीय-हास्य-रति-शोका-ऽरति-स्त्री-नपुंसकवेद-वैक्रियषट्क-जातिचतुष्क प्रथमवर्जसंहननपञ्चक-संस्थानपञ्चका-ऽप्रशस्तविहायोगत्या ऽऽतपो-द्योत-जिन-स्थिर-शुभ-यशःकीर्ति-स्थावरदशकलक्षणपञ्चचत्वारिंशदध्रुवबन्धिनीनां त्वसावन्तर्मुहूर्तमेव ।

यथा कृष्णलेश्यायां तथा नीललेश्यायामपि, केवलमुत्कृष्टकायस्थितिमानं साधिकदशसागरोपमाणि । इहाऽपि तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोरनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टबन्धकालः कृष्णलेश्यामार्गणायामिव न देशोनकायस्थितिः, किन्तु सातवेदनीयादीनामिवान्तर्मुहूर्तमेव । कापोतलेश्यायां तु जिननामवर्जानां प्रस्तुतसर्वाध्रुवबन्धिनीनां सर्वथा नीललेश्यामार्गणावदेव, जिननाम्नस्तु न तत्रेवेहाप्यन्तर्मुहूर्तम् , किन्तु तृतीयपृथिवीनिरयभेदवत्साधिकत्रिसागरोपमाणि, सोऽपि विशेषतस्त्वन्तर्मुहूर्तेनाभ्यधिको द्रष्टव्यः, तल्लेश्यायाः पूर्वोत्तरभवयोरपि सम्बन्धादिति ॥३७० ३७४॥

तदेवमुक्तो निरयगत्योघादिषु तत्साम्यात्कृष्णादिलेश्यामार्गणात्रये चाऽऽयुर्वर्जबन्धप्रायोग्या-ऽध्रुवबन्धिनीनामनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टबन्धकालः । साम्प्रतं क्रमप्राप्ततिर्यग्गतिमार्गणास्थानेषु तमाह—

तिरियम्मि तिण्णि पलिआ पुमाइएगारसण्ह तेऽब्भहिया ।
सत्तपणिंदियआईणोघव्व उराल-तितिरियाईणं ॥३७५॥ (गीतिः)
तिपणिंदियतिरियेसु पुमाइएगारसण्ह पल्लतिगं ।
णवरं जोणिमईए सिं देसूणं मुणेयव्वो ॥३७६॥
तीसुं पि तिण्णि पलिया अब्भहिया सगपणिंदियाईणं ।

(प्रे०) "तिरियम्मि" इत्यादि, तिर्यग्गत्योघमार्गणास्थाने 'पुम-सुखगइ-पढमागिइ सुहग-तिगु-च्च-सुरविउवजुगल' (गाथा ३५१) इत्येतावता संग्रहगाथांशेन संगृहीतानां पुरुषवेद-प्रशस्तविहायोगति प्रथमसंस्थान-सुभगत्रिक-देवद्विक वैक्रियद्विको-च्चैर्गोत्रलक्षणानां पुमाद्येकादशप्रकृतीना प्रस्तुतोऽनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टो बन्धकालः "तिण्णि पलिआ" त्ति त्रीणि पल्योपमानि भवति, कुतः ?

पुंवेदादिप्रकृतीनामुत्कृष्टप्रकृतिबन्धकालस्यैव क्षायिकसम्यग्दृष्टियुग्मितिर्यग्भवाधीनतया तथात्वात्। "तेऽब्भहिय" त्ति प्राकृतत्वात्पुंलिङ्गनिर्देशः, ततस्तानि त्रीणि पल्योपमान्यन्तर्मुहूर्तेनाभ्यधिकानि सप्तानाम् 'पणिंदियतस' (गाथा-३४१) इत्यादिना संगृहीतानां पञ्चेन्द्रियजाति-त्रसचतुष्क-पराघातो-च्छ्वासनामप्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टबन्धकालो भवति ; अयमप्यासामुत्कृष्टप्रकृतिबन्धकालस्य तथात्वादेवैतावान् विज्ञेयः। ननु कथं पुंवेदादिप्रकृतीनामसौ प्रकृतिबन्धकालः स्तोकः, पञ्चेन्द्रियजात्यादीनान्त्वमावन्तर्मुहूर्तेनाऽभ्यधिकः ? इति चेद्, तादृशकालप्रयोजकजीवविशेषात्, इदमुक्तं भवति–पुंवेदादिप्रकृतीनामुत्कृष्टः प्रकृतिबन्धकालो यः कश्चिन्मनुष्यस्त्रिपल्योपमस्थितिकतिर्यगायुर्बद्ध्वा क्षायिकसम्यक्त्वमधिगम्य त्रिपल्योपमस्थितिकयुग्मितयोत्पद्यते तदपेक्षया लभ्यते, युग्मितिर्यग्भवप्रथमसमयादारभ्य तद्भवचरमसमयपर्यन्तं नैरन्तर्येण तस्य क्षायिकसम्यग्दृष्टेः पुरुषवेदादिप्रकृतीनां बन्धभावात्, पञ्चेन्द्रियजात्यादीनां त्वसौ यः कश्चित् मिथ्यादृष्टिस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियजीवो विशुद्धिवशात् त्रिपल्योपमस्थितिकं युग्म्यायुर्बद्ध्वा भवप्रान्ते मिथ्यात्वेन सहितो मृत्वोत्कृष्टस्थितिकतिर्यक्तयोत्पद्यते तादृग्जीवापेक्षया साधिकानि त्रीणि पल्योपमानि लभ्यन्ते, परिपूर्णे युग्मिभवे तत्पूर्वभवचरमान्तर्मुहूर्ते च पञ्चेन्द्रियजात्यादिप्रकृतीनां नैरन्तर्येण बन्धप्रवर्तनात्। न चैवं पुंवेदादिप्रकृतीनामुत्कृष्टप्रकृतिबन्धकालोऽप्यन्तर्मुहूर्ताभ्यधिकत्रिपल्योपमानि सम्भवति, युग्मिभवे मिथ्यात्वावस्थायां पञ्चेन्द्रियजात्यादीनां नैरन्तर्येण बन्धभावेऽपि पुवेदादिप्रकृतीनां स्वप्रतिपक्षप्रकृतिसहितबन्धप्रायोग्यतया तया प्रतिपक्षप्रकृत्या सह परावृत्य परावृत्य बन्धभावादिति।

"ओघव्व उरालतितिरियाईण"मिति, प्रस्तुततिर्यग्गत्योघमार्गणायामेवौदारिकशरीरनामकर्मणस्तथा "तितिरिय" त्ति तिर्यग्द्विक-नीचैर्गोत्रयोरित्येवं चतसृणां प्रकृतीनां प्रस्तुतोऽनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टबन्धकाल ओघवत् 'उरलाण असंखपरिअट्टा' तथा 'तितिरियाईण लोगाऽसंखा" इत्यनेनोक्तमानो यथासंख्यमसंख्येयपुद्गलपरावर्ता असंख्येया लोकाश्च भवति स चौघवदेव भावनीयः। उक्तशेषाणामायुर्वर्जानां सातवेदनीयादिचतुश्चत्वारिंशदध्रुवबन्धिप्रकृतीनां त्वयमनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टबन्धकालः 'सव्वासु मुहुत्तंतो अवक्खमाणाण' (गाथा-३६६) इत्यादिवचनादन्तर्मुहूर्तमात्रः, स तु तदीयप्रकृतिबन्धोत्कृष्टकालस्यैव तथात्वात् तथा विज्ञेयः। सातवेदनीयाद्यास्त्विमाः–साता-ऽसातवेदनीयहास्य-रति-शोका-ऽरति-स्त्री-नपुंसकवेद-नरकद्विक-मनुष्यद्विक-जातिचतुष्कौदारिकाङ्गोपाङ्ग-संहननषट्क-प्रथमवर्जसंस्थानपञ्चक-कुखगत्या-ऽऽतपो-द्योत-त्रसचतुष्क-स्थिरत्रिक-स्थावरदशकानीति।

अथ शेषतिर्यग्गतिमार्गणास्थानेषु प्रस्तुतस्याभिधित्सयाऽऽह–"तिपणिंदि" इत्यादि, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियौघ-तत्पर्याप्त-तिरश्चीलक्षणे मार्गणास्थानत्रये यथोक्तानां 'पुम सुखगइ-पढमागिइ-सुहगतिगु-च्च-सुरविउव्वजुगल' (३४१) इत्येतावता संगृहीतानां पुंवेदाद्येकादशप्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टबन्धकालः "पल्लतिग"मिति पल्योपमत्रिकं भवति, स च तिरश्चीवर्जमार्गणाद्वय एवानन्तरोक्त-

नीत्या यथोक्तानामेकादशप्रकृतीनामप्युत्कृष्टस्थितिकक्षायिकसम्यग्दृष्टियुग्मिजीवापेक्षयोपपद्यते, न पुनस्तिरश्चीमार्गणायामपि, क्षायिकसम्यग्दृशां स्त्रीवेदितयाऽनुत्पादाद्, अत एवाऽपवदन्नाह—'**णवर**'मित्याद्युत्तरार्धेन, 'नवरं'-केवलं "**जोणिमईए**" त्ति तिरश्चीमार्गणास्थाने '**सिं**' इति तासां पुंवेदाद्येकादशप्रकृतीनां तत्पल्योपमत्रिकं "**देसूणं मुणेयव्वो**" त्ति देशोनं सत् प्रस्तुतबन्धकालो ज्ञातव्यः, क्षायिकसम्यग्दृष्टिभ्य इतरेषां युग्मिनामपर्याप्ताद्यवस्थायां नियमेन मिथ्यादृष्टितया पुंवेदादीनां परावृत्य बध्यमानत्वात्, अयं हि कालः प्रकृतिबन्धोत्कृष्टकालेन तुल्य एवेति।

मार्गणात्रयेऽप्यन्यासामाह–"**तीसु पि**"इत्यादि, प्रस्तुतमार्गणात्रयेऽपि, न केवलं तिरश्चीमार्गणायामित्यपिशब्दार्थः, मार्गणात्रयेऽपि किमित्याह-"**तिण्णि**" इत्यादि, 'पणिंदिय-तसे' त्यादिना संगृहीतानां पञ्चेन्द्रियजाति-त्रसचतुष्क-पराघातो-च्छ्वासनामलक्षणानां सप्तानां पञ्चेन्द्रियादिप्रकृतीनां प्रस्तुतकालोऽन्तर्मुहूर्तेनाऽभ्यधिकानि त्रीणि पल्योपमानि भवति, स तु तिर्यग्गत्योघे आसां प्रकृतीनामुत्कृष्टबन्धकालवदेव भावनीयः। इत्थं च मार्गणात्रयेऽप्युक्तशेषाऽऽयुर्वर्जाध्रुवबन्धिप्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टबन्धकालः 'सव्वासु मुहुत्ततो अवक्खमाणाण' (गाथा-३६६) इत्याद्युक्तवचनादन्तर्मुहूर्तमवगन्तव्यः। आयुर्वर्जशेषाध्रुवबन्धिन्यस्तु तिर्यग्गत्योघमार्गणायां शेषाऽध्रुवबन्धिनीप्रकृतितयाऽभिहिताः सातवेदनीयाद्याः चतुश्चत्वारिंशदौदारिकदेह-तिर्यग्द्विक-नीचैर्गोत्रैः सहिताः सत्योऽष्टचत्वारिंशदत्र मार्गणात्रये वेदितव्या इति ॥३७५-३७६॥

अथ क्रमप्राप्ताऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणास्थाने प्रस्तुताऽयुर्वर्जाऽऽध्रुवबन्ध्यनुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टकालमभिधाय तत्पश्चान्मनुष्यगतिमार्गणास्थानेष्वसावभिधातव्यः, नवरं नोक्तो मूलकृताऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणास्थानेऽसौ, वक्ष्यते च मनुष्यगतिमार्गणास्थानेष्वनुपदम्, अतः 'मुहुत्ततो अवक्खमाणाणे' (गाथा-३६९)' ति पूर्वोक्तवचनादपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणायां बन्धप्रायोग्याऽऽयुर्वर्जसर्वाध्रुवबन्धिनीनामसावन्तर्मुहूर्तमेवावसेयः, स च प्रकृतिबन्धकालस्यैवोत्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तत्वात् तथा वेदितव्य इति। गतस्तिर्यग्गतिमार्गणास्थानेष्वायुर्वर्जबन्धप्रायोग्याध्रुवबन्धिनीनामनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टबन्धकालः। साम्प्रतं क्रमप्राप्तेषु मनुष्यगतिमार्गणास्थानेषु तमाह—

तिणरेसु जिणस्स भवे कोडी पुव्वाण देसूणा ॥३७७॥
अब्भहियं पल्लतिगं होज्जाऽट्ठारहपणिंदियाईणं।
णवरं जोणिमईए पुमाइएगारसण्ह देसूणं ॥३७८॥ (गीतिः)

(प्रे०) "**तिणरेसु**" इत्यादि, सूत्रस्य सूचकत्वात् '**तिणरेसु**' त्ति अपर्याप्तभेदवर्जेषु मनुष्यौघतत्पर्याप्त मानुषीलक्षणेषु त्रिषु मनुष्यगतिमार्गणास्थानेषु जिननाम्नः प्रस्तुतोऽनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टबन्धकालः "**भवे कोडी पुव्वाण देसूणा**" त्ति वर्षपृथक्त्वलक्षणैकदेशेनोनानि पूर्वकोटी

वर्षाणि भवेत्, वर्षपृथक्त्वात् न्यूनायुषां मनुष्याणां जिननामबन्धप्रारम्भस्यैव प्रतिषेधात्। तत्र पूर्वमानं त्वेवमुक्तम्–'पुव्वस्स उ परिमाण सयरिं खलु वासकोडिलक्खाओ। छप्पन्नं च सहस्सा बोधव्वा वासकोडीणं ॥२६३॥' इति। "अब्भहिय"मित्यादि, 'पणिंदियतसे' (गाथा ३४१) इत्यादिना पूर्वं संगृहीतानां पञ्चेन्द्रियजाति–देवद्विक-वैक्रियद्विक–प्रथमसंस्थान-प्रशस्तविहायोगति-पराघातो-च्छ्वास-त्रसचतुष्क-सुभगत्रिक-पुंवेदो-च्चैर्गोत्रलक्षणानामष्टादशप्रकृतीनां प्रस्तुतबन्धकालो देशोन-पूर्वकोटीतृतीयभागेनाऽभ्यधिकं पल्यत्रिकम्। कुतः? प्रस्तुतानामष्टादशानां प्रकृतिबन्धकालस्यै-वोत्कृष्टतस्तावत्प्रमाणत्वात्, तावान्प्रकृतिबन्धकालस्तु मनुष्यावस्थायामुत्कृष्टस्य सम्यक्त्वकालस्य देशोनपूर्वकोटीतृतीयभागाभ्यधिकत्रिपल्योपमप्रमाणत्वेन तदानीं, ततः पूर्वं निरन्तरायां सम्यक्त्वा-भिमुखावस्थायां च प्रतिपक्षभूतैकेन्द्रियादिप्रकृतीनामबन्धादेव विज्ञेयः। अयम्भावः–प्रस्तुत-मार्गणागतो यः कश्चिज्जीवः पूर्वकोटितृतीयभागलक्षणायामुत्कृष्टाबाधायां वर्तमानस्त्रिपल्योपमस्थि-तिकं मनुष्यायुर्बद्ध्वाऽन्तमुहूर्ताभ्यन्तरे सम्यक्त्वाभिमुखो भूत्वा क्षायोपशमिकं सम्यक्त्वमधिग-च्छति, तत्पश्चाच्च क्षायिकं सम्यक्त्वमधिगत्य मृत्वोत्कृष्टस्थितिकमनुष्यतयोत्पद्यते तस्य पञ्चेन्द्रिय-जात्यादीनामुत्कृष्टः प्रकृतिबन्धकालो लभ्यते, स च देशोनपूर्वकोटितृतीयभागेनाभ्यधिकानि त्रीणि पल्योपमानि, तावति च प्रकृतिबन्धकाले न जायते तस्य प्रस्तुतमार्गणाप्रायोग्यपञ्चेन्द्रियजातिनाम-प्रकृत्याद्युत्कृष्टस्थितिबन्धः,तथाच यावानुत्कृष्टप्रकृतिबन्धकालस्तावानेव प्रस्तुतोऽनुत्कृष्टस्थितिबन्ध-स्योत्कृष्टकाल इति।

अयं हि प्रस्तुतसर्वप्रकृतीनां साधिकत्रिपल्योपमप्रमाणः प्रस्तुतकालो मानुषीमार्गणायां न घटते, कुतः? क्षायिकसम्यक्त्वेन सह स्त्रीवेदितयाऽनुत्पादाद्, मिथ्यात्वेन सह तत्रानुत्पादे तु तिरश्चीमार्गणोक्तपुंवेदादिप्रकृत्यनुत्कृष्टस्थित्युत्कृष्टबन्धकालवद् देशोनत्रिपल्योपमानि लभ्यते प्रस्तु-कालश्चातोऽपवदन्नाह–"णवरं जोणिमईए" इत्यादि, गतार्थम्, केवलं 'जोणिमईए' त्ति प्रस्तुतत्वाद् मानुषीमार्गणायामित्यर्थः। इत्थं चाभिहिते मार्गणात्रये उक्तशेषायुर्वर्जाध्रुवबन्धिनीनां तथाऽपर्याप्तमनुष्यमार्गणास्थाने आयुर्वर्जसर्वबन्धप्रायोग्याध्रुवबन्धिप्रकृतीनां प्रस्तुतकालः 'मुहुत्तंतो अवक्कममाणाण (गाथा–२६९) इति वचनादन्तमुहूर्तं प्राप्तः, तावत्कालस्योपपत्तिस्तु प्रकृतिबन्ध-कालस्योत्कृष्टतस्तथात्वात् पूर्ववत्कर्तव्येति ॥३७७-३७८॥

अभिहितो मनुष्यगतिमार्गणास्थानेष्वप्यायुर्वर्जसर्वाध्रुवबन्धिप्रकृतीनां प्रस्तुतोऽनुत्कृष्टस्थिते-रुत्कृष्टबन्धकालः, साम्प्रतं तमेव देवगतिमार्गणास्थानेषु विभणिषुराह—

देवे सोहम्माइगसव्वत्थंतेसु देवभेएसुं।
जेट्ठा सगकायठिई गुणवीसणराइ-तित्थाणं ॥३७९॥

भवणतिगे सगुरुठिई पणपरघाइ-उरलाण सा ऊणा ।
तिणराइ-सगपुमाइग-पणिंदि-तस-उरलुवंगाणं ॥३८०॥

(प्रे०) "देवे" इत्यादि, देवगत्योघे तथा सौधर्मकल्पादिसर्वार्थसिद्धविमानान्तेषु षड्विंशतिदेवगत्युत्तरभेदेषु, तेषु किमित्याह-"जेट्ठा" इत्यादि, 'णरदुग-वइराणि उरल च॥३४०॥ उरलोवग-पणिंदिय-तस-परघू-सास-बायरतिगाणि । पुम-सुखगइ-पढमागिइ-सुहगतिगु-च्चे' त्यनेन संगृहीतानां मनुष्यगत्याद्येकोनविंशतिप्रकृतीनां तथा तीर्थकरनाम्नोऽनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टबन्धकालः 'जेट्ठा सगकायठिई' त्ति देवगत्योघादितत्तन्मार्गणायाः स्वीया स्वीया 'ज्येष्ठा'–उत्कृष्टा कायस्थितिः 'सोहम्माईण कमा अयरा दो' (मूलस्थितिबन्धविधाने गाथा १५९–१६०) इत्यादिनाऽभिहितमानाऽवगन्तव्यः । उत्कृष्टभवस्थितिकसौधर्मादिकल्पोद्भवसम्यग्दृष्टिदेवानां प्रस्तुतप्रकृतिप्रतिपक्षभूतानां तिर्यग्गत्यादिप्रकृतीनामबन्धेन प्रस्तुतमार्गणासु मनुष्यगत्यादीनां प्रकृतिबन्धकालस्योत्कृष्टतो मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिप्रमाणत्वादिति । उक्तशेषाणां देवगत्योघादिप्रस्तुतमार्गणासु बन्धप्रायोग्याणामायुर्वर्जाध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतिबन्धकालस्यैवोत्कृष्टतोऽन्तमुहूर्तत्वात् प्रस्तुतकालोऽपि 'मुहुत्ततो भवक्खमाणाण' (गाथा ३६९) इति वचनादन्तमुहूर्तमेवावसातव्य इति ।

"भवणतिगे" त्ति भवनपति-व्यन्तर-ज्यौतिष्कदेवगतिमार्गणास्थानत्रयलक्षणे भवनत्रिके 'परघू-सास-बायरतिगाणि (गाथा–३४१) इत्यनेन संगृहीतानां पराघातादिपञ्चप्रकृतीनामौदारिकशरीरनाम्नश्च "सगुरुठिई" त्ति भवनपत्यादिमार्गणायाः स्वीया उत्कृष्टकायस्थितिः प्रस्तुतबन्धकालोऽवसातव्यः । "सा ऊणा" त्ति अस्मिन्नेव मार्गणात्रये 'णरदुग-वइराणि' तथा 'पुम-सुखगइ-पढमागिइ-सुहगतिगुच्च' (गाथा–३४१) इत्यनेन संग्रहगाथात्रयवद्वयेन संगृहीतानां मनुष्यगत्यादिदशप्रकृतीनां पञ्चेन्द्रियजातिनाम-त्रसनामौ-दारिकाङ्गोपाङ्गनामलक्षणानां तिसृणां प्रकृतीना च प्रस्तुतोऽनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टबन्धकालः 'सा' त्ति अनन्तरोक्ता भवनपत्यादिमार्गणायाः स्वीया स्वीया गुरुकायस्थितिः "ऊणा" त्ति अन्तमुहूर्तलक्षणेनैकदेशेनोनाऽवगन्तव्यः, न पुनर्देवगत्योघादिमार्गणावत्परिपूर्णा, देवगत्योघादिमार्गणासूत्कृष्टस्थितिकदेवतया ससम्यक्त्वानां जीवानामपि भवान्तरादागतेः भवप्रथमान्तमुहूर्तेऽपि मनुष्यगत्यादिप्रकृतीनामपरावृत्य बध्यमानत्वात्, प्रस्तुतमार्गणात्रये तु भवान्तरादागच्छतां भवप्रथमान्तमुहूर्ते कार्मग्रन्थिकमतेन नियमतो मिथ्यादृष्टितया मनुष्यगत्यादिप्रकृतीनां तिर्यग्गत्यादिप्रकृतिभिः सम परावृत्य परावृत्य बध्यमानतया प्रकृतिबन्धकालस्यैवान्तमुहूर्तोनोत्कृष्टकायस्थितिप्रमाणत्वादिति भावः । उक्तशेषाणामायुर्वर्जाध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनां प्रागुक्तनीत्याऽन्तमुहूर्तमेव प्रस्तुतबन्धकाल इति ॥३७९-३८०॥

प्ररूपितो गतिमार्गणाभेदेषु प्रस्तुतोऽध्रुवबन्धिनीनामनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टबन्धकालः । साम्प्रतं

क्रमप्राप्तेन्द्रियमार्गणाभेदेषु तं निर्मणिषुस्तत्तुल्यवक्तव्योपेतान्यमार्गणा अपि संगृह्याह—

लोगा असंखिया खलु एगिंदिय-तेउ-वाउकायेसु ।
तिण्हं तिरियाईणं तह आरोलस्स विण्णेयो ॥३८१॥
विण्णेयो सुहुमेसु एगिंदिय-तेउ-वाउकायेसु ।
अंगुलअसंखभागो तिरियदुगो-राल-णीआणं ॥३८२॥
अंगुलअसंखभागो बायरएगिंदियम्मि उरलस्स ।
तिण्हं तिरियाईणं कम्मठिई वा मुणेयव्वो ॥३८३॥
जाणेयव्वो बायरपज्जत्तेगिंदियम्मि संखेज्जा ।
वाससहस्सा तिरिदुग-ओरालिय-णीअगोआणं ॥३८४॥
बायरणिगोअ-भू-जल-पत्तेअवण-विगले सपज्जत्ते ।
ओरालियस्स णेयो सगसगकायट्ठिई जेट्ठा ॥३८५॥
उरलस्स असंखेज्जा लोगा पुहवि-दग-वण-णिगोएसु ।
अंगुलअसंखभागोऽत्थि सुहुम-भू-दग-णिगोएसु ॥३८६॥

(प्रे०) "लोगा" इत्यादि, एकेन्द्रियौघ-तेजस्कायौघ-वायुकायौघलक्षणासु तिसृषु मार्गणासु 'तिरियदुग णीअ' (गाथा–३४०) इत्यनेन संगृहीतानां तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्वी-नीचैर्गोत्रलक्षणानां तिसृणां प्रकृतीनां तथौदारिकशरीरनाम्नोऽनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टो बन्धकालः खलु **"लोगा असखिया"** त्ति प्रतिसमयमेकैकाकाशप्रदेशापहारेणाऽसंख्येयलोकप्रमाणाऽऽकाशखण्डनिर्लेपने यावान् कालो गच्छति तावानसंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणीप्रमाणो विज्ञेयः, एष हि ध्रुवबन्धिनीनां प्रस्तुतकालवद्भावनीयः, तेजस्कायिकाद्यवस्थायामेतत्प्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धाभावेनैतत्प्रकृतित्रयबन्धकालस्यातिदीर्घत्वाद्, उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनां बादरपर्याप्ततया पर्याप्ता-ऽपर्याप्तसूक्ष्मतेजस्कायाद्यवस्थायामासामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य नियमेनाऽप्रवर्तनात्, तादृशावस्थाया उत्कृष्टतोऽसंख्यलोकप्रमाणत्वाच्चेति ।

"विण्णेयो सुहुमेसु" ति पर्याप्ताऽपर्याप्तत्वादिविशेषणविरहितेषु सूक्ष्मेष्वेकेन्द्रियतेजस्काय-वायुकायलक्षणौघभेदेषु प्रस्तुतकालः **'अङ्गुलाऽसंख्यभागः'** अङ्गुलाऽसंख्यभागप्रमाणक्षेत्रगतनभःप्रदेशेषु प्रतिसमयमेकैकाकाशप्रदेशापहारे यावान्कालोऽपगच्छति तावानसंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणीप्रमाणो विज्ञेयः, कासामित्याह–**"तिरियदु"** इत्यादि, अनन्तराऽभिहितानामेव तिर्यग्गति तिर्यगानुपूर्व्यौदारिकशरीर-नीचैर्गोत्रलक्षणानां चतसृणां प्रकृतीनामित्यर्थः । कथं पूर्वा-

पेक्षया स्तोकः ? इति चेद् ; उच्यते, एतन्मार्गणात्रये सूक्ष्मपर्याप्तजीवानां प्रस्तुतप्रकृतिचतुष्कोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वात् मतिज्ञानावरणादिध्रुवबन्धिप्रकृतीनामिवाऽऽसामनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टबन्धकालोऽङ्गुलाऽसंख्येयभागप्रमाणः प्राप्यत इति ।

"अंगुले"त्यादि, बादरैकेन्द्रियौघमार्गणायाम् 'उरलस्स' त्ति औदारिकदेहनामकर्मणः प्रस्तुतकालोऽङ्गुलाऽसंख्येयभागप्रमाणः क्षेत्रतो भवति, कालतस्तु प्राग्वदसंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिण्य एवासौ वेदितव्यः । अयमपि कालः प्रस्तुतमार्गणायां प्रागुदर्शितध्रुवबन्धिप्रकृत्यनुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टकालवदवसातव्यः,कुतः ? स्वप्रतिपक्षप्रकृतेर्बन्धप्रायोग्यत्वाभावेनौदारिकदेहस्याऽपि प्रस्तुतमार्गणायां मतिज्ञानावरणादिध्रुवबन्धिप्रकृतिकल्पत्वात् । "तिण्ह"मित्यादि, तिसृणां तिर्यग्गत्यादीनां तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्वी-नीचैर्गोत्रलक्षणप्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टबन्धकालः "कम्मठिई वा मुणेयव्वो" त्ति वाकारस्य विकल्पार्थकतयाऽङ्गुलाऽसंख्यभागप्रमाणो वा 'कर्मस्थितिः' सप्ततिसागरोपमकोटिकोटिलक्षणमोहनीयोत्कृष्टस्थितिस्तत्प्रमाणो वा ज्ञातव्यः । तत्र बादरतेजस्काय-वायुकायोभयभवसंवेधप्रयुक्तं प्रस्तुतप्रकृतीनामुत्कृष्टबन्धकालमङ्गुलाऽसंख्यभागप्रमाणमभ्युपगच्छतां मतेनाङ्गुलाऽसंख्यभागः, बादरतेजस्कायिकवायुकायिकोभयभवसंवेधप्रयुक्तप्रस्तुतप्रकृत्युत्कृष्टबन्धकालं सप्ततिसागरोपमकोटिकोटिप्रमाणमभ्युपगच्छतां मतेन तु कर्मस्थितिरिति । "जाणेयव्वो" इत्यादि, पर्याप्तबादरैकेन्द्रियमार्गणास्थाने संख्येयानि वर्षसहस्राणि प्रस्तुतानुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टबन्धकालो ज्ञातव्यः, कासामित्याह -"तिरिये"त्यादि, सुगमम् , कुतः ? पर्याप्तबादरतेजस्काय- वायुकायभवसंवेधनिष्पन्नोत्कृष्टकायस्थितेः संख्येयवर्षसहस्रप्रमाणत्वेन प्रस्तुतप्रकृतिचतुष्टयोत्कृष्टबन्धकालस्यैव संख्येयवर्षसहस्रत्वादिति ।

"बायरणिगोअ" इत्यादि, तत्र 'बादरे'ति पदं जलान्तानां प्रत्येकं सम्बध्यते, तथा च "सपज्जत्ते" ति पर्याप्तभेदसहितेषु बादरसाधारणवनस्पतिकायौघ-बादरपृथिवीकायौघ बादराप्कायौघ-प्रत्येकवनस्पतिकायौघ-द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रियलक्षणविकलेन्द्रियौघभेदास्तेषु तथा तेषां पर्याप्तभेदेष्विति चतुर्दशमार्गणाभेदेषु प्रत्येकमौदारिकशरीरनामकर्मणोऽनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टो बन्धकालः "सगसगकायठिई जेट्ठा" त्ति प्राग्वत्सुगमम् । एतासु प्रत्येकमौदारिकशरीरनामप्रकृतेः स्वप्रतिपक्षप्रकृत्यन्तरबन्धाभावतो ध्रुवबन्धिकल्पत्वेन तदीयप्रकृतिबन्धकालस्य तत्तन्मार्गणास्वीयस्वीयोत्कृष्टकायस्थितिप्रमाणत्वादिति ।

"उरलस्स" इत्यादि, पृथिवीकाया-ऽप्काय-वनस्पतिकाय-साधारणवनस्पतिकायलक्षणेषु चतुर्ष्वोघमार्गणास्थानेषु पुनरौदारिकशरीरनाम्नोऽनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टो बन्धकालः "असंखेज्जा लोगा" त्ति प्रस्तुततत्तन्मार्गणासु बन्धप्रायोग्यध्रुवबन्धिप्रकृतीनां प्रस्तुतकालवदसंख्येया लोकाः क्षेत्रतो भवति, कालतस्तु प्रागिव भावना द्रष्टव्येति । "अगुले"त्यादि, पर्याप्ता ऽपर्याप्तविशेषणवि-

रहितेषु सूक्ष्मपृथिवीकाया-ऽप्काय-साधारणवनस्पतिकायलक्षणेषु त्रिषु मार्गणास्थानेषु तु तस्यौदारिकनाम्नोऽनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टो बन्धकालः "अंगुलअसंखभागोऽत्थि" त्ति गतार्थम्, सूक्ष्मैकेन्द्रियौघादिमार्गणावदास्वपि ध्रुवबन्धिनीनामिवौदारिकदेहोत्कृष्टस्थितिबन्धस्य पर्याप्तसूक्ष्मजीवस्वामिकत्वादिति ॥३८१-३८६॥

अथ पञ्चेन्द्रियौघाद्यष्टमार्गणासु तिर्यग्गत्यादिप्रकृतीनां प्रस्तुतकालं सापवादमतिदिशन्नाह–

ओघव्व दुपंचिंदियतस-चक्खु-अचक्खु-भविय-सण्णीसु ।
णेयो तिरियाईणं पयडीणं सत्तवीसाए ॥३८७॥
णवरं जाणेयव्वो दुपणिंदितसेसु चक्खु-सण्णीसु ।
साहियतेत्तीसुदही तिरियदुगो-राल-णीआणं ॥३८८॥

(प्रे०) "ओघव्वे"त्यादि, व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेरपर्याप्तभेदवर्जयोर्द्वयोः पञ्चेन्द्रियमार्गणयोर्द्वयोश्च त्रसकायमार्गणयोस्तथा चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शन-भव्य-संज्ञिमार्गणासु तिर्यग्गत्यादीनाम् "तिरियदुग णीअ तह णरदुग-वइराणि उरल च॥३४०॥ उरलोवग-पणिंदिय-तस-परघू-सास-बायरतिगाणि । पुम-सुखगइ-पढमागिइ-सुहगतिगु-च्च-सुरविउवजुगल-जिणा"॥३४१॥ इति सार्धगाथासंगृहीतानां सप्तविंशतेः प्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टबन्धकालः "ओघव्व" त्ति ओघवत् ' ... उरलाणं असंख-परिअट्टा ॥३४६॥ बत्तीससागरसय सत्तपुमाईण तितिरियाईण । लोगाऽसखा णरदुगवइराण जलहितेत्तीसा णेयो सुराइगाण चउण्ह तिण्णि पलिओवमाऽब्भहिया । पणसीइसागरसयं पणिंदियाईण सत्तण्ह ॥ उरलोवंगजिणाणं तेत्तीसा सागरोवमाऽब्भहिया" । इत्यनेन प्रागुक्तप्रमाणो ज्ञातव्यः । ओघतो हि औदारिकशरीरस्याऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टकालः ' उरलाणं असखपरिअट्टा' इत्यनेनाऽसंख्येयपुद्गलपरावर्तप्रमाणोऽभिहितः, एवं 'तितिरियाईण लोगाऽसखा' इत्येवं वदता-तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्वी-नीचैर्गोत्रलक्षणानां तिसृणां प्रकृतीनामसौ प्रस्तुतबन्धकालोऽसंख्येयलोकप्रमाणः कथितः, स चैकेन्द्रियजीवानामौदारिकशरीरादितत्तत्प्रकृत्यनुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टकालप्राधान्याल्लभ्यते, तथा च अचक्षुर्दर्शनभव्यमार्गणयोरेकेन्द्रियजीवानां प्रवेशेनोपपद्यमानोऽप्यसौ पञ्चेन्द्रियौघादिषण्मार्गणासु नोपपद्यते, तासु षट्स्वेकेन्द्रियजीवानामप्रवेशात्, अतस्तत्राऽपवदन्नाह–"णवर" मित्यादि, 'नवरं'-परम् ओघ-पर्याप्तभेदभिन्नयोर्द्वयोः पञ्चेन्द्रियजातिमार्गणयोः, द्वयोस्त्रसकायमार्गणयोः, चक्षुर्दर्शनमार्गणायां संज्ञिमार्गणायां च "साहिये"त्यादि, तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्वीलक्षणस्य तिर्यग्द्विकस्यौ-दारिकशरीरनाम्नो नीचैर्गोत्रस्येत्येवं चतसृणां प्रकृतीनां साधिकत्रयस्त्रिंशदुदधयः-सागरोपमाणि ज्ञातव्यः, न पुनरोघवत्, असम्भवात् । साधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि तु प्रस्तुतमार्गणाप्रविष्टसप्तमभूमिनैरयिकाणां मिथ्यात्वावस्थायामासां चतसृणां नैरन्तर्येण बध्यमानतया सप्तमनिरयोत्कृष्टभव-

स्थितिप्रधानस्यासां चतसृणां प्रकृतिबन्धकालस्योत्कृष्टतः साधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणत्वादिति । उक्तशेषाणां बन्धप्रायोग्याऽऽयुर्वर्जाध्रुवबन्धिनीप्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टबन्धकालस्तु 'मुहुत्तंतो अवक्खमाणाण' (गाथा-२३९) इत्यादिवचनात्प्रागिवाऽन्तर्मुहूर्तमेव इति ॥३८७-३८८॥

हवए बायर-बायरपज्जेसुं तेउ-वाउकायेसुं ।
तिरियाइतिगु-रलाणं सगसगकायट्ठिई जेट्ठा ॥३८९॥

(प्रे०) "हवए" इत्यादि, बादरौघ-बादरपर्याप्तभेदभिन्नेषु चतुर्षु तेजस्कायवायुकायमार्गणास्थानेषु प्रत्येकं तिर्यग्द्विक-नीचैर्गोत्रलक्षणानां तिसृणां तिर्यग्गत्यादिप्रकृतीनामौदारिकशरीरनाम्नश्च "सगसगकायट्ठिई जेट्ठा" त्ति बादरतेजस्कायौघादितत्तन्मार्गणायाः 'ज्येष्ठा' उत्कृष्टा कायस्थितिर्भवति, कुतः ? स्वप्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धाभावेन तिर्यग्गत्यादिचतुःप्रकृतीनां बन्धकालस्यैव ध्रुवबन्धिप्रकृतिबन्धकालवत्कायस्थितिप्रमाणत्वादिति ।

अथेन्द्रिय-कायमार्गणास्थानान्तःप्रविष्टेषु भणितशेषेषु सूक्ष्मबादरैकेन्द्रिय-पृथिवी-जल-तेजोवायु-साधारणवन-प्रत्येकवन-विकलेन्द्रिय-पञ्चेन्द्रिय-त्रसकायसत्केषु अष्टादशस्वपर्याप्तमार्गणास्थानेषु षट्सु पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियपृथिव्यप्तेजोवायुसाधारणवनस्पतिकायमार्गणास्थानेषु च प्रस्तुतकालमभिधाय पश्चादसौ योगमार्गणास्थानेषु वक्तव्यः, नवरं नाभिहितो मूलकृताऽपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियादिमार्गणास्थानेष्वतोऽसौ 'मुहुत्ततो अवक्खमाणाण' (गाथा-२६९) इति प्रागुक्तवचनादपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियादिचतुर्विंशतिमार्गणास्थानेषु बन्धप्रायोग्याणामायुर्वर्जानां सर्वासामध्रुवबन्धिनीनामन्तर्मुहूर्तमात्रोऽवगन्तव्यः; कुतः ? तत्तन्मार्गणोत्कृष्टकायस्थितेरुत्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्ततया प्रकृतिबन्धकालस्यैवाऽन्तर्मुहूर्तत्वानतिरेकादिति ॥३८९॥

अथ योगमार्गणास्थानेषु प्रस्तुताऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टकालं व्याचिकीर्षुस्तुल्यवक्तव्योपेता अन्या-ऽन्यमार्गणाः सगृह्याह—

काया-ऽसण्णीसु भवे उरलस्स असंखपोग्गलपरट्टा ।
तिण्हं तिरियाईणं असंखलोगा मुणेयव्वो ॥३९०॥
उरले सगकायठिई जेट्ठा ओरालियस्स विण्णेयो ।
देसूणा तिसहस्सा वासा तिण्ह तिरियाईणं ॥३९१॥
कम्मा-ऽणाहारेसुं सुराइपंचण्ह होइ दो समया ।
सेसाणं पयडीणं सट्ठीए होइ समयतिगं ॥३९२॥

थावरपाउग्गाणं बत्तीसाए हवेज्ज समयतिगं।
दुखणा तेत्तीसाए तसपाउग्गाण बिंति परे ॥३९३॥

(प्रे०) **"काया-ऽसण्णीसु"** इत्यादि, काययोगसामान्येऽसंज्ञिमार्गणास्थाने च प्रत्येकं **"उरलस्स असंखपोग्गलपरट्टा"** त्ति औदारिकशरीरनाम्नोऽनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टो बन्धकालोऽसंख्येयाः पुद्गलपरावर्ता भवेत् । कुतः ? एकेन्द्रियोत्कृष्टकायस्थितिप्रधानस्याऽस्योत्कृष्टप्रकृतिबन्धकालस्याऽसंख्यपुद्गलपरावर्तप्रमाणत्वात्, पञ्चेन्द्रियाणामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वाच्च । **"तिण्हं"** इत्यादि, तिर्यग्द्विक-नीचैर्गोत्रलक्षणानां तिसृणां प्रकृतीनां प्रस्तुतबन्धकालोऽसंख्यलोका ज्ञातव्यः, हेतुस्त्वनन्तरोक्तः स एव, केवलं प्रकृतिबन्धकालस्य तेजस्काय-वायुकायभवसंवेधनिष्पन्नकायस्थितिप्राधान्येनाऽसंख्येयलोकप्रमाणत्वात्तथा विज्ञेयः । **"उरले"** इत्यादि, औदारिककाययोगमार्गणायाम् **"ओरालियस्स"** त्ति औदारिकशरीरनाम्नः प्रस्तुतोत्कृष्टबन्धकाल औदारिकमार्गणाया एकजीवाश्रयोत्कृष्टकायस्थितिर्देशोनद्वाविंशतिवर्षसहस्राणि विज्ञेयः, खरबादरपृथिवीकायोत्कृष्टभवस्थित्यधीनस्य तस्य प्रकृतिबन्धकालस्यैव तथात्वात् । **"देसूणा"** इत्यादि, तिसृणां तिर्यग्गत्यादीनां तिर्यग्द्विक-नीचैर्गोत्रलक्षणप्रकृतीनां प्रस्तुतकालस्तु **"देसूणा तिसहस्सा वासा"** त्ति देशोनानि त्रिसहस्राणि वर्षाणि ज्ञेयः । औदारिकमिश्रकाययोग्यवस्थासत्कभवप्रथमान्तर्मुहूर्तवर्जवायुकायोत्कृष्टभवस्थित्यधीनस्याऽऽसां तिसृणां प्रकृतीनां प्रकृतिबन्धकालस्यैव देशोनत्रिवर्षसहस्रत्वादिति ।

"कम्माणाहारेसु" इत्यादि, कार्मणकाययोगा-ऽनाहारकमार्गणयोः "सुरविउवजुगलजिण" (गाथा-३८१) इत्यनेन संगृहीतानां 'सुरादीनां' देवगत्यादीनां पञ्चप्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थित्युत्कृष्टबन्धकालः **"होइ दो समया"** त्ति द्वौ समयौ भवति, प्रस्तुतमार्गणागतानां त्रसेभ्यश्च्युत्वा त्रसतयोत्पद्यमानानां जीवानामेव सुरद्विकादिप्रस्तुतप्रकृतिपञ्चकस्य बन्धभावात्, तेषां च प्रस्तुतमार्गणायां समयद्वयमेवाऽवस्थानेन प्रकृतिबन्धकालस्यैवोत्कृष्टतो द्विसमयमात्रत्वात् । **'सेसाणं'** ति आयुर्वर्जाऽध्रुवबन्धिप्रकृतीनां प्रस्तुतकालस्य भण्यमानत्वाद् देवद्विकाद्युक्तप्रकृतिपञ्चकवर्जितानां कार्मणाऽनाहारकमार्गणयोर्बन्धप्रायोग्याणां शेषाणां सातवेदनीयादीनां पष्टिप्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टबन्धकालः **'समयत्रिकं'** त्रयस्समया इत्यर्थः । कुतः ? स्थावरेभ्यश्च्युत्वा स्थावरतयोत्पद्यमानानामपि जीवानामासां शेषप्रकृतीनां बन्धसम्भवात्, तेषां चोत्कृष्टतः समयत्रयं विग्रहगताववस्थानस्य सम्भवेन शेषाणां प्रकृतिबन्धकालस्योत्कृष्टतस्त्रिसमयत्वादिति ।

अत्रैव मार्गणाद्वये मतान्तरेण प्रस्तुतबन्धकालमाह—**"थावरपाउग्गाण"**मित्यादि, स्थावरप्रायोग्याणां 'थावरपाउग्गाओ' (गाथा ३९४-३९५) इत्यादिना वक्ष्यमाणनामधेयानां द्वात्रिंशदध्रुवबन्धिप्रकृतीनां प्रस्तुतकालः **"हवेज्ज समयतिगं"** ति त्रयः समया भवेत् । **'दुखणा'** त्ति अनन्तरोक्तद्वात्रिंशद्वर्जानां शेषाध्रुवबन्धिनीनामनुत्कृष्टस्थित्युत्कृष्टबन्धकालो द्वौ **'क्षणौ'** समयौ

भवति इत्येवं 'परे'—अन्ये ब्रुवन्ति, स्थावरेभ्यश्च्युत्वा स्थावरतयोत्पद्यमाना विग्रहगतौ स्थावरप्रायोग्याऽध्रुवबन्धिप्रकृतीरेव बध्नन्ति, न तु तदितराऽध्रुवबन्धिनीः, तथा च स्थावरप्रायोग्याऽध्रुवबन्धिप्रकृतीनां प्रागुक्तनीत्या प्रस्तुतकालः समयत्रयं प्राप्यते, शेषाऽध्रुवबन्धिनीनां तु त्रसेभ्यः स्थावरेभ्यो वा च्युत्वा विग्रहगतिवर्तिनां त्रसतयोत्पद्यमानानामेव बध्यमानत्वाद् देवद्विकादिप्रकृतिवत्प्रस्तुतकालः समयद्वयं लभ्यत इति तेषामभिप्राय इति ॥३९०-३९३॥

ननु का इमा द्वात्रिंशत् स्थावरप्रायोग्या अध्रुवबन्धिप्रकृतयः ? इत्यतस्ता दर्शयन्नाह—

थावरपाउग्गाओ दुतीसपयडीउ अधुवबंधीओ ।
साये-यर-हस्स-रई सोगा-ऽरइ-णपुम-तिरियदुगं ॥३९४॥
एगिंदिय-हुंड-उरल-परघा-ऊसास-आयवदुगाणि ।
णवथावराइ-बायरतिग-थिरजुगल-जस-णीआणि ॥३९५॥

(प्रे०) "थावरे"त्यादिना, याः 'थावरपाउग्गाण' इत्यनेनाऽनन्तरं संख्यामात्रेणोद्दिष्टाः स्थावरप्रायोग्या द्वात्रिंशदध्रुवबन्धिप्रकृतयस्ता इमाः-साता-ऽसात-हास्य-रति-शोका-ऽरति-नपुंसकवेद-तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्व्ये—केन्द्रियजाति—हुंडकसंस्थानौ-दारिकशरीर-पराघातो-च्छ्वासा-ऽऽतपो-द्योत-दुःस्वरवर्जस्थावरनवक-बादरत्रिक-स्थिर-शुभ-यशःकीर्ति नीचैर्गोत्राणीति । इत्येवं सातवेदनीयादिद्वात्रिंशत्प्रकृतयः स्थावरप्रायोग्या इति कथितशेषाः स्त्रीवेद-पुरुषवेद-मनुष्यद्विक-विकलत्रिक-पञ्चेन्द्रियजात्यौ-दारिकाङ्गोपाङ्ग-हुंडवर्जसंस्थानपञ्चक संहननषट्क-खगतिद्विक—त्रस सुभग-स्वरद्विका-ऽऽदेयो-च्चैर्गोत्रलक्षणा अष्टाविंशतिः प्रकृतयस्त्रसप्रायोग्या अर्थतस्त्वस्थावरप्रायोग्या इति परिशेषाज्ज्ञातव्य-मिति । ननु अन्या देवगत्याद्यध्रुवबन्धिप्रकृतयोऽस्थावरप्रायोग्याः सन्त्येव तत्कथं ता इह न परिगणिताः ? इति चेद् , सत्यम् , तासां देवगत्यादीनां प्रस्तुतकालस्य मतद्वयेनाऽपि द्विसमयमात्रत्वेन 'सुराइपचण्ह होइ दो समया' (गाथा-३९२) इत्यनेनोक्तत्वादिह न गणिता इति ।

अथोक्तशेषेषु पञ्चमनोयोग-पञ्चवचोयोगौ-दारिकमिश्र-वैक्रिय-वैक्रियमिश्रा-ऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगलक्षणेषु पञ्चदशयोगमार्गणास्थानेषु प्रस्तुतकालोऽभिधातव्यः, स च मूले नोक्तः, अतः 'मुहुत्तंतो अवक्खमाणाण' (गाथा ३६९) इति वचनात्तत्तन्मनोयोगादिमार्गणास्थानेषु बन्धप्रायोग्याणामायुर्वर्जसर्वाध्रुवबन्धिनीनामसावन्तर्मुहूर्तमात्रोऽवसातव्यः, प्रत्येकं मार्गणानामेकजीवाश्रयोत्कृष्टकायस्थितेरन्तर्मुहूर्तानभ्यधिकतया प्रकृतिबन्धकालस्यैवान्तर्मुहूर्तानभ्यधिकत्वादिति ॥३९४ ३९५॥

अथ वेदमार्गणास्थानेषु प्रस्तुताध्रुवबन्ध्यनुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टकाल दर्शयन्नाह—

थीअ पणपण्णपलिआ देसूणा होइ सगपुमाईणं
तिणराईणं तिण्हं उरलोवंगाइगाणं च ॥३९६॥

अहियपणपण्णपलिआ पणपरघाइ-उरलाण तित्थस्स ।
देसूणपुव्वकोडी ऊणतिपल्लाऽत्थि चउसुराईणं ॥३९७॥ (गीतिः)
पुरिसे ओघव्व भवे वारपुमाईण पणणराईणं ।
तेत्तीसा अयरा सगपणिंदियाईण उण तिवट्ठिसयं ॥३९८॥ (गीतिः)
णपुमे तेत्तीसुदही सत्तपुमाइ-तिणराइगाण भवे ।
देसूणाऽब्भहिआ उण उरलोवंगाइअट्ठण्हं ॥३९९॥
उरल-तितिरियाईणं ओघव्व हवेज्ज चउसुराईणं ।
देसूणपुव्वकोडी तित्थस्स तिसागराऽब्भहिया ॥४००॥

(प्रे०) "थीअ" इत्यादि, स्त्रीवेदमार्गणायां 'पुम-सुखगइ-पढमागिइ-सुहगतिगु-च्च' (गाथा-३४१) इत्यनेन संग्रहगाथांशेन पूर्वं प्रस्तुतद्वारप्रारम्भे संगृहीतानां सप्तानां पुंवेदादिप्रकृतीनां तथा 'णरदुग-वइराणि' इत्यनेन संगृहीतानां नरद्विक-वज्रर्षभनाराचसंहननलक्षणानां तिसृणां प्रकृतीनाम् 'उरलोवग-पणिंदिय-तस' (गाथा-३४०) इत्यनेन संगृहीतानां तिसृणामौदारिकाङ्गोपाङ्गादीनां प्रकृतीनां चेत्येवं सर्वसंख्यया त्रयोदशप्रकृतीनां देशोनानि पञ्चपञ्चाशत्पल्योपमानि, अनुत्कृष्टस्थितिबन्धो-त्कृष्टकाल इति तु गम्यते, तस्यैव प्रस्तुतत्वात् । एवमुत्तरत्राऽपि विज्ञातव्यम् । कथं तावान् ? इति चेद्, उच्यते, प्रस्तुतमार्गणाप्रविष्टानां जीवानां निरन्तरसम्यक्त्वकालस्योत्कृष्टतो देशोनपञ्च-पञ्चाशत्पल्योपमप्रमाणप्राप्तेः पुंवेदादित्रयोदशप्रकृतीनामुत्कृष्टप्रकृतिबन्धकालस्यैव देशोनपञ्च-पञ्चाशत्पल्योपमप्रमाणत्वात् ।

इदमुक्तं भवति–देवीनामुत्कृष्टभवस्थितिः पञ्चपञ्चाशत्पल्योपमानि, देवीतयोत्पद्य-मानो जीवो निःसम्यक्त्व एवोत्पद्यते, न तु समम्यक्त्वः सम्यक्त्वसहितानां देवतयैवोत्पत्तेः, इत्थं च तत्रोत्कृष्टस्थितिकदेवीभवे भवप्रथमान्तर्मुहूर्ते तस्य प्रस्तुतपुंवेदादिप्रकृतयः स्वप्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धप्रायोग्यतया ताभिः स्वप्रतिपक्षप्रकृतिभिः सह परावृत्य परावृत्य बध्यन्ते यावदसौ जीवः सम्यक्त्वं नाऽवाप्नोति, सम्यक्त्वेऽवाप्ते त्वेता ध्रुवं बध्यन्ते, कुतः ? स्वप्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धविच्छेदात् । तासां च निरन्तरो बन्धः प्रस्तुतमार्गणायामुत्कृष्टतस्तावल्लभ्यते यावदुत्कृष्टस्थितिकदेवीभवचरमसमयः, न पुनस्तदूर्ध्वमपि, भवचरमसमयपर्यन्तं सम्यग्दृष्टितयाऽवतिष्ठतामनन्तरभवे पुंवेदितयैवोत्पत्तेः प्रस्तुतमार्गणाबहिर्भवनात्, पूर्वमेव मिथ्यात्वाऽवाप्तौ तु भवान्तरे प्रस्तुतमार्गणायामेवाऽवस्थानसम्भवेऽपि पुंवेदादिप्रकृतीनां स्वप्रतिपक्षप्रकृतिभिः साकं परावृत्य बध्यमानत्वात् पुंवेदादिप्रकृतीनां निरन्तरबन्धाप्रवृत्त्योत्कृष्टप्रकृतिबन्धकालस्यैवाऽनवाप्तेः । इत्थं हि अन्तर्मुहूर्तोनपञ्चपञ्चाशत्प-

ल्योपमस्थितिकोत्कृष्टदेवीभवप्रमाणः प्रस्तुतप्रकृतीनां बन्धकालो लभ्यते, असंख्यलोकादिदीर्घकायस्थितिकवर्जमार्गणासु सामान्येन प्रकृतिबन्धोत्कृष्टकालप्रमाण एवाऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धकालोऽपि उत्कृष्टपदे लभ्यत इति त्वनेकशोऽभिहितं प्राग् भावितं चेति । इत्थमेवोत्तरत्राऽपि यथासम्भवमुपपत्तिः कर्तव्या ।

"अहिये"त्यादि, 'परघू-सास-बायरतिगाणि' (गाथा-३४१)इत्यनेन संगृहीतानां पराघातोच्छ्वास-बादर-पर्याप्तक-प्रत्येकनामलक्षणानां पञ्चप्रकृतीनामौदारिकशरीरनाम्नश्चेत्येवं षण्णामनुत्कृष्टस्थित्युत्कृष्टबन्धकालोऽधिकान्यन्तर्मुहूर्तलक्षणेनैकदेशेन पञ्चपञ्चाशत्पल्योपमानि भवति । अयमप्यनन्तरोक्तनीत्याऽऽसां प्रकृतिबन्धकालस्यैव साधिकपञ्चपञ्चाशत्पल्योपमप्रमाणापेक्षया विज्ञेयः । तत्र देवगतौ वर्तमानानां भवप्रत्ययादेव सूक्ष्माऽपर्याप्तसाधारणनाम्नां बन्धाभावेन बादर-पर्याप्तक-प्रत्येकप्रकृतीनां पर्याप्तकसहभाविबन्धयोः पराघातोच्छ्वासनाम्नोश्च नैरन्तर्येण बन्धः प्रवर्तते, एवमौदारिकदेहस्यापि, कुतः ? तेषां मनुष्य-तिर्यक्प्रायोग्यं बध्नतामौदारिकदेहस्यैव बन्धभावात् , इत्येवं पञ्चपञ्चाशत्पल्योपमानि निरन्तरः प्रकृतिबन्धकालस्तूत्कृष्टस्थितिकदेवीभवसत्कः, साधिकता तु तत्पूर्वभवे मिथ्यादृगवस्थायां सूक्ष्म-बादर-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तादिप्रकृतीनां परावृत्य परावृत्य बन्धभावे देवीतयोत्पित्सूनां भवचरमान्तर्मुहूर्तवर्तिनां देवभवप्रायोग्यप्रकृतीनामेव बन्धभावेन सूक्ष्मा-ऽपर्याप्त साधारणादिप्रकृतीनामबन्धतो बादर-पर्याप्तकादिप्रकृतीनां ध्रुवं बध्यमानत्वाद् देवीभवात् पूर्वभवसंबन्धिचरमान्तर्मुहूर्तापेक्षया लभ्यते, औदारिकदेहस्य तु सोत्तरभवप्रथमान्तर्मुहूर्तापेक्षया, न पुनः पूर्वभवचरमान्तर्मुहूर्तापेक्षया तदानीं देवप्रायोग्यं बध्नतामौदारिकदेहनाम्नोऽबन्धात् , उत्तरभवसत्काप्यन्तर्मुहूर्तमात्रेण सा साधिकता प्राग्वत् समिथ्यात्वमेव भवान्तरं गच्छतां तत्र स्त्रीवेदतयोत्पत्तेस्तदानीमपर्याप्तावस्थायां मनुष्यादिप्रायोग्यं बध्नतामौदारिकदेहस्यैव बन्धभावात्तदपेक्षयेति ।

"**तित्थस्स देसूणपुव्वकोडी**" त्ति तीर्थकरनाम्नस्तु प्रस्तुतबन्धकालो देशोनपूर्वकोटिवर्षप्रमाणोऽवगन्तव्यः; स च त्रिचरमभवापेक्षयोपपादनीयः, न पुनश्चरमभवापेक्षया, तदपेक्षया पूर्वकोटीकालमध्याद् दीर्घदेशस्य वर्ज्यत्वेन देशोनतायाः सम्भवेऽप्युत्कृष्टकालस्याऽप्राप्तेरिति ।

"**ऊणतिपल्ला**" इत्यादि, 'सुरविउवजुगल' (गाथा-३४०) इत्यनेन संगृहीतानां देवद्विक वैक्रियद्विकलक्षणानां चतसृणां सुरादिप्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्तलक्षणेनैकदेशेनोनानि त्रीणि पल्योपमानि भवति; स चोत्कृष्टस्थितिकयुग्मिभवापेक्षया तदीयप्रकृतिबन्धकालस्यैव तथात्वात्तथा वेदितव्यः । कथं देशोनता ? इति चेत् , युग्मिस्त्रीतयोत्पद्यमानाना समिथ्यात्वमेवोत्पत्तेरपर्याप्तावस्थायां प्रस्तुतप्रकृतीनामबध्यमानत्वादिति ।

"**पुरिसे**" इत्यादि, 'पुम-सुखगइ' (गाथा-३४०) इत्याद्याऽऽर्यार्धेन पूर्वं संगृहीताना पुंवेददेवद्विक वैक्रियद्विक-समचतुरस्रसंस्थान-प्रशस्तविहायोगति-तीर्थकरनाम-सुभगत्रिको-च्चैर्गोत्रलक्षणानां

पुंवेदादिद्वादशप्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थित्युत्कृष्टबन्धकालः **"ओघव्व भवे"** त्ति ओघवत् साधिक-द्वात्रिंशदधिकशतसागरोपमादिर्भवेत् । **तद्यथा**—पुंवेद-प्रशस्तविहायोगति-समचतुरस्रसंस्थान-सुभग-त्रिको-च्चैर्गोत्रलक्षणानां सप्तप्रकृतीनां साधिकानि द्वात्रिंशदधिकशतसागरोपमाणि, देवद्विक-वैक्रिय-द्विकलक्षणचतुःप्रकृतीनां साधिकानि त्रीणि पल्योपमानि, जिननाम्नस्तु साधिकानि त्रयस्त्रिंशत्साग-रोपमाणि, एष हि ओघवदेव भावनीय इति ।

"पणणराईणं तेत्तीसा अयरा" त्ति मनुष्यद्विक-प्रथमसंहननौ-दारिकद्विकलक्षणानां पञ्चानां 'नरादीनां' मनुष्यगत्यादिप्रकृतीनां प्रत्येकं प्रस्तुतबन्धकालस्त्रयस्त्रिंशद् 'अतराः'-सागरोप-माणि ज्ञेयः, अनुत्तरदेवानां तावत्कालमासां निरन्तरबन्धभावेन प्रकृतिबन्धकालस्यैवोत्कृष्टतस्ता-वत्प्रमाणत्वादिति ।

"सगपणिंदियाईण उण" त्ति 'पणिंदि' इत्यादिना प्राक् संगृहीतानां पञ्चेन्द्रिय-त्रस-परा-घातो-च्छ्वास-बादरत्रिकरूपाणां सप्तप्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टो बन्धकालः पुनः **"तिवट्ठिसयं"** ति **'अतरा'** इति पदमत्रापि सम्बध्यते ततः त्रिषष्ट्यभ्यधिकशतम् 'अतराः'-सागरोपमाणि भवति, सामान्यत आसां सप्तानामुत्कृष्टप्रकृतिबन्धकालस्य पञ्चाशीत्यधिकशतसागरोपमप्रमाणत्वेऽपि पुंवेद-मार्गणायां तु यथोक्तकालस्यैव लाभात् । **इदमुक्तं भवति**—सामान्येनैतासां सप्तप्रकृतीनामुत्कृष्ट-बन्धकालः यः कश्चित् तमःप्रभापृथिव्यां द्वाविंशतिसागरोपमाणि स्थितिमनुभूय ततः सम्यग्दृष्टिमनु-ष्यभवान्तरेण षट्षष्टिसागरोपमाण्यच्युतदेवलोकेऽनुभवति, पुनरन्तर्मुहूर्तं सम्यग्मिथ्यात्वमनुभूय भूयोऽपि सम्यग्दर्शनमवाप्य विजयादिषु वारद्वयगमनेन पुनः षट्षष्टिसागरोपमाणि निर्गमयति,एतेषु च भवेषु पर्यटन् स जीवः कुत्रचिद्भवप्रत्ययात् कुत्रचित्तु सम्यक्त्वप्रत्ययादेतत्प्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धा-भावेनैताः सप्तप्रकृतीः सततं बध्नाति, किन्तु तमःप्रभायां तेन नियमतो नपुंसकवेदिना भवित-व्यम् , अतः तमःप्रभानिरयभवसत्कद्वाविंशतिसागरोपमाणि कालं विहाय शेषभवेषु पुंवेदितया यथो-क्तप्रकारेण कालं निर्गमयन्तं प्रस्तुतमार्गणाप्रविष्टं जीवमपेक्ष्य पञ्चेन्द्रियजात्यादिसप्तप्रकृतीनां निरन्तर उत्कृष्टबन्धकालो नरभवादिसत्ककालेनाधिकं त्रिषष्ट्यभ्यधिकोदधिशतं भवति, यावान् प्रकृतिबन्धकालस्तावानेव तासां सप्तानामनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टबन्धकालः, स च मूले सामान्येन उक्तो विशेषतस्तु मनुष्यभवादिकालेन साधिको द्रष्टव्य इति ।

"णपुमे" इत्यादि, नपुंसकवेदमार्गणायां 'पुम-सुखगइ'(गाथा-२४१) इत्यादिसंग्रहगाथांश-संगृहीतानां सप्तानां पुंवेदादीनां पुंवेद-प्रशस्तविहायोगति-समचतुरस्रसंस्थान-सुभगत्रिको-च्चैर्गोत्र-लक्षणप्रकृतीनां तथैव तिसृणां मनुष्यद्विक वज्रर्षभनाराचसंहननप्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टबन्धकालः **"तेत्तीसुदही"** त्ति अस्य हि **'देसूणा'** इत्यनेन गाथोत्तरार्धेऽन्वयस्ततोऽन्तर्मुहूर्तलक्षणेनैकदेशे नोनास्त्रयस्त्रिंशदुदधयः—सागरोपमाणि भवेत् । प्रस्तुतमार्गणाप्रविष्टेषु जीवेषु सप्तमभूमिनैरयिकाणां

भवप्रथमचरमान्तर्मुहूर्तयोर्नियमतो मिथ्यादृष्टित्वेनोत्कृष्टसम्यक्त्वकालस्य देशोनत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणतया तदधीनस्य प्रस्तुतप्रकृतीनामुत्कृष्टबन्धकालस्याऽपि तथात्वादिति ।

"अब्भहिआ" इत्यादि, 'तेत्तीसुदही' इत्यनुवर्तते, ततः 'उरलोवग'(गाथा-३४२)इत्यादिना प्राक्संगृहीतानामौदारिकाङ्गोपाङ्ग-पञ्चेन्द्रियजाति-त्रस-पराघातो-च्छ्वास--बादरत्रिकलक्षणानामष्टप्रकृतीनां प्रस्तुतकालः पुनरन्तर्मुहूर्तेनाऽभ्यधिकास्त्रयस्त्रिंशदुदधयो भवति । कुतः ? मिथ्यादृष्टिसप्तमभूमिनैरयिकाणां यावज्जीवं एतत्प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावेन तथा तत्पूर्वोत्तरभवचरमप्रथमान्तर्मुहूर्तयोरासां निरन्तरबन्धस्य सम्भवेनोत्कृष्टप्रकृतिबन्धकालस्यैव तथात्वादिति । अत्रौदारिकाङ्गोपाङ्गस्य बन्धकाले पूर्वभवचरमान्तर्मुहूर्तं साधिकतया न ग्राह्यं; तदानीं नरकप्रायोग्यं बध्नतां वैक्रियाङ्गोपाङ्गस्यैव बन्धादिति । "उरले"-त्यादि, औदारिकशरीरनाम्नस्तथा तिर्यग्द्विक-नीचैर्गोत्रलक्षणानां तिसृणां तिर्यग्गत्यादिप्रकृतीनां प्रस्तुतबन्धकालस्तु "ओघव्व" त्ति ओघवद्भवति, तद्यथा—औदारिकदेहस्याऽसंख्येयपुद्गलपरावर्ताः, शेषाणां त्वसंख्येया लोकाः । उक्तं च प्राक्-'धुव-उरलाण असखपरिअट्टा' तथा 'तितिरिमाईण लोगाऽसखा इति । एष हि सर्वथौघवदेव भावनीय इति ।

"चउसुराईणं देसूणपुव्वकोडी" त्ति देवद्विक-वैक्रियद्विकलक्षणानां चतसृणां सुरगत्यादिप्रकृतीना प्रस्तुतकालो देशोनपूर्वकोटिवर्षप्रमाणो भवति । कुतः ? पूर्वकोटिस्थितिकसम्यग्दृष्टिमनुष्यतिर्यग्जीवापेक्षयाऽऽसां प्रकृतिबन्धकालस्यैव तावल्लाभात् । देशोनता तु नपुंसकवेदितयोत्पद्यमानानां भवप्रथमान्तर्मुहूर्ते नियमतो मिथ्यादृष्टित्वेन यावत्सम्यक्त्वं नाऽवाप्यत तावद् देवगत्यादिप्रकृतीनां स्वविपक्षप्रकृत्या समं परावृत्य बध्यमानतया पूर्वकोटिस्थितिकनपुंसकवेदिभवमध्यात् कियत्कालस्य वर्ज्यत्वात् । ननु कथं पूर्वकोटिस्थितिकसम्यग्दृष्टितिर्यग्मनुष्यभवापेक्षयैव प्रस्तुतोत्कृष्टकालः प्राप्यते , न पुनस्तदधिकस्थितिकसम्यग्दृष्टितिर्यग्भवापेक्षया तादृशमनुष्यभवापेक्षया वा ? इति चेद् , उच्यते- तदधिकस्थितिकाना युग्मित्वेन नपुंसकवेदमार्गणायामेवाऽप्रविष्टत्वादिति ।

"तित्थरस तिसागराब्भहिया" त्ति तीर्थंकरनामकर्मणः प्रस्तुतकालोऽभ्यधिकास्त्रयः सागरोपमा भवति,तीर्थंकरनाम्नो बन्धकानां तृतीयपृथिवीनैरयिकाणां भवस्थितिमपेक्ष्य प्रकृतिबन्धकालस्यैव तथात्वात्,विशेषतस्तु पूर्वभवसत्कदेशोनपूर्वकोटितृतीयभागेनाभ्यधिकता स्वयमेवाऽऽयोज्या।

अथ वेदमार्गणात्रयेऽनुक्ताऽऽयुर्वर्जाध्रुवबन्धिनीनां तथाऽपगतवेदमार्गणायां सर्वासामध्रुवबन्धिनीनां प्रस्तुतकालस्यानुक्तत्वात् 'मुहुत्ततो अवक्खमाणाण' (गाथा-३६९) इति पूर्वोक्तवचनादमावन्तर्मुहूर्तमात्रोऽभिहितो भवति स च तासां प्रकृतिबन्धकालस्यैवाऽन्तर्मुहूर्तानभ्यधिकत्वात्तथा ज्ञेयः ।

अथ क्रमप्राप्तकषायमार्गणास्थानचतुष्टये प्रस्तुतकालो भणनीयः, नवर तमनभिधायैव ज्ञानमार्गणास्थानेष्वसावनुपदं वक्ष्यते, अतः 'मुहुत्ततो अवक्खमाणाण' (गाथा-३६६) इत्येतद्वचनादेव कषायमार्गणाचतुष्टये बन्धप्रायोग्याणामायुर्वर्जानां सर्वासामध्रुवबन्धिनीनामनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टबन्धकालो-

ऽन्तर्मुहूर्तमात्रो ज्ञातव्यः, स तु पूर्ववत्मार्गणाकालाधीनतदीयप्रकृतिबन्धकालस्यान्तर्मुहूर्तानभ्यधिकतयाऽन्तर्मुहूर्तमात्रत्वे पर्यवसितो बोद्धव्य इति ॥३९६–४००॥

अथ क्रमप्राप्तज्ञानमार्गणास्थानेषु प्रस्तुतकालं विभणिषुस्तत्तुल्यवक्तव्योपेताऽन्याऽन्यमार्गणाः संगृह्य सममेवाऽऽह—

णाणतिगे ओहिम्मि य, सम्म-खइअ-वेअगेसु विण्णेयो ।
जेट्ठा सगकायठिई, चउद्दसपणिंदियाईणं ॥४०१॥
पंचणराईण भवे, तेत्तीसुदही जिणस्स तेऽब्भहिया ।
अहियतिपल्लाऽत्थि, सुराइचउण्हं वेअगे उ देसूणा ॥४०२॥ (गीतिः)
जइ जुगलधम्मिआणं ण भवे ओहिजुगलं तया णेयो ।
देवविउव्वदुगाणं ओहिदुगे पुव्वकोडी उ ॥४०३॥
मणणाण-संजमेसुं, समइअ-छेअ-परिहार-देसेसुं ।
देसूणपुव्वकोडी गुणवीसपणिंदियाईणं ॥४०४॥

(प्रे०) "णाणतिगे" इत्यादि, मति-श्रुता-ऽवधिज्ञानमार्गणात्रयलक्षणे ज्ञानत्रिके "ओहिम्मि य" त्ति अवधिदर्शनमार्गणास्थाने, चः समुच्चये, स च 'वेअगेसु' इत्यस्योत्तरं योज्यस्ततः सम्यक्त्वौघ-क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणास्थानयोः "वेअग" त्ति क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणास्थाने चेत्येवं संगृहीतेषु सप्तमार्गणास्थानेषु प्रत्येकं "विण्णेयो" त्ति प्रस्तुतत्वादनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टबन्धकालो विज्ञेयः । कासां प्रकृतीनां कियानित्याह–"जेट्ठा" इत्यादि, "चउद्दसे" त्यादि, च 'पणिंदिय' (गाथा–३४१) इत्यादिना प्राक्संगृहीतानां पञ्चेन्द्रियजाति-त्रस पराघातो-च्छ्वास-बादरत्रिक-पुवेद-सुखगति-प्रथमसंस्थान सुभगत्रिको-च्चैर्गोत्रलक्षणानां चतुर्दशप्रकृतीनां 'ज्येष्ठा' उत्कृष्टा '**स्वककायस्थितिः**'-मतिज्ञानादितत्तन्मार्गणायाः स्वकीया स्वकीया एकजीवाश्रया कायस्थितिः पूर्वं मूलप्रकृतिस्थितिबन्धद्वितीयाधिकारकालद्वारेऽभिहितप्रमाणा अत्र 'जेट्ठो असंखलोगा' इत्यादिगाथा–(३६५)-वृत्तावुद्धृता साधिकषट्षष्टिसागरोपमादिरित्यर्थः । कुतः ? एतावत्कालं सम्यग्दृष्टितया स्वप्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धाभावेन निरन्तरबध्यमानानामासां प्रकृतिबन्धकालस्यैवोत्कृष्टतः साधिकषट्षष्टिसागरोपमादिप्रमाणत्वादिति ।

"पंचणराईणे" त्यादि, पूर्वं (गाथा–३४०) संगृहीतानां मनुष्यद्विकौ-दारिकद्विक-वज्रर्षभनाराचसंहननलक्षणानां पञ्चानां नरगत्यादिप्रकृतीनां प्रस्तुतकालः "भवे तेत्तीसुदही" त्ति त्रयस्त्रिंशदुदधयः-सागरोपमाणि भवेत्, न पुनः पञ्चेन्द्रियजात्यादिप्रकृतीनामिवोत्कृष्टकायस्थितिः,

देवप्रायोग्यं बध्नतां सम्यग्दृष्टिमनुष्याणां पञ्चेन्द्रियजात्यादिप्रकृतीनां बन्धभावेऽप्यासां मनुष्यद्विकादिपञ्चप्रकृतीनां बन्धाभावेनोत्कृष्टस्थितिकदेवभवापेक्षयाऽसां प्रकृतिबन्धकालस्यैव तथात्वादिति ।

"जिणस्स तेऽब्भहिया" त्ति जिननाम्नोऽनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टबन्धकालः 'ते'-ऽनुपदमभिहितास्त्रयस्त्रिंशदुदधयो मनुष्यभवसत्ककियत्कालेनाऽभ्यधिकाः सन्तः प्रस्तुतकालो विज्ञेयः । कथम् ? सम्यग्दृष्टिमनुष्याणां मनुष्यगत्यादिप्रकृतीनां बन्धाभावेऽपि तीर्थकरनाम्नो बन्धसम्भवेन तीर्थंकरनाम्नः प्रकृतिबन्धकालस्य साधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणत्वादिति । कथं न कायस्थितिः ? इति चेद्, त्रिचरमभव एव तीर्थंकरनाम्नो बन्धप्रारम्भेन तत्स्वामिनः शेषसंसारावस्थाया अपि साधिकषट्षष्टिसागरोपमादिप्रमाणाऽसम्भवात्, क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां तु कायस्थितिरपीति न कश्चिद्दोषः, स्तोकमात्रकालस्य वर्ज्यत्वादिति । **"अहिअतिपल्ला"** इत्यादि, देवद्विकवैक्रियद्विकलक्षणानां सुरगत्यादीनां चतसृणां प्रकृतीनां प्रस्तुतकालो देशोनपूर्वकोटितृतीयभागेनाऽभ्यधिकानि त्रीणि पल्योपमानि भवति, क्षायिकसम्यग्दृष्टिप्रकृष्टस्थितिकयुग्मितिर्यग्मनुष्यभवप्रधानतदीयप्रकृतिबन्धकालस्योत्कृष्टतस्तथात्वादिति । विशेषतस्तु 'अब्भहिय पल्लतिग होज्जाऽट्ठारहपणिंदियाईणं' (गाथा–३७८) इत्यस्य वृत्तौ भावितसाधिकत्रिपल्योपमकालानुसारेण स्वयमेव भावनीयः प्रस्तुतो देशोनपूर्वकोटितृतीयभागाभ्यधिकस्त्रिपल्योपमकालः ।

अथाऽयं साधिकत्रिपल्योपमकालः क्षायिकसम्यग्दृष्टिजीवापेक्षयाऽवाप्यते, न पुनः क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टिजीवापेक्षया, युग्मितयोत्पद्यमानानां तेषां मिथ्यात्वसहितानामेवोत्पत्तेः, मिथ्यात्वावस्थायां तु देवगत्यादिप्रकृतयो मनुष्यगत्यादिना सम परावृत्य बध्यन्ते इत्येवं क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टिजीवापेक्षया त्वसावुत्कृष्टतोऽपि मिथ्यात्वकालेन हीनानि त्रीणि पल्योपमाण्येव लभ्यत इत्यतः क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां प्रस्तुतकालमपवदन्नाह–**"वेअगे उ देसूणा"** त्ति तु शब्दो विशेषाभिधानपरः, तथाच वेदकसम्यक्त्वमार्गणास्थाने **'देसूणा'** त्ति देवद्विकादिचतुःप्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टबन्धकालस्त्रीणि पल्योपमानि देशोनानि भवतीत्यर्थः ।

अथानन्तरं मतिज्ञानादिमार्गणाभिः सममवधिज्ञाना-ऽवधिदर्शनमार्गणयोरपि देवद्विक वैक्रियद्विकलक्षणप्रकृतिचतुष्टयस्यानुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टकालो यः साधिकत्रिपल्योपमप्रमाण उक्तः स युग्मिनामप्यवधिज्ञाना-ऽवधिदर्शनमार्गणाप्रवेशमधिकृत्य, साम्प्रतं युग्मिनां तन्मार्गणाद्वयाऽप्रवेशसिद्धान्तमधिकृत्याऽसौ कियान् भवेदिति दर्शयन्नाह–**"जइ"** इत्यादि, यदि युगलधार्मिकाणां न भवेदवधिज्ञाना-ऽवधिदर्शनलक्षणमवधियुगलं तदा **"ओहिदुगे"** त्ति अवधिज्ञानदर्शनमार्गणयोस्तेषां युग्मिनां प्रवेशाभावेन तत्राऽवधिमार्गणाद्विके देवद्विक-वैक्रियद्विकयोः प्रस्तुतोऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टकालः **"पुव्वकोडी उ"** त्ति पूर्वकोटिवर्षप्रमाणो ज्ञेयः । कथम् ? इति चेत्, तथा मति प्रस्तुतमार्गणाद्वये देवद्विकादिप्रकृतिचतुष्टयस्योत्कृष्टप्रकृतिबन्धकालस्यैव पूर्वकोटिवर्षप्रमाणत्वला-

भात् । तथाहि–युग्मिनां प्रस्तुतमार्गणाऽप्रवेशेन देव-नैरयिकाणां मूलत एव प्रस्तुतप्रकृतिचतुष्टया-ऽबन्धेन च कालोऽयं युग्मि-देव-नैरयिकेतरजीवापेक्षया प्राप्यते, तत्राऽपि संख्येयवर्षस्थितिकतिर्यग्मनुष्याणां सति मिथ्यात्वे देवद्विकादिप्रकृतयो बन्धप्रायोग्यस्वप्रतिपक्षप्रकृतिभिः साकं परावृत्य बध्यन्ते, तथाच मिथ्यादृग्जीवापेक्षया न लभ्यते प्रस्तुतोत्कृष्टकालः, तदपेक्षयाऽन्तर्मुहूर्तमात्रकालस्य लाभात् । संख्येयवर्षस्थितिकसम्यग्दृष्टितिर्यग्मनुष्येष्वपि तिरश्चां भवादिकालेऽन्तमुहूर्तं यावन्नियमतो मिथ्यात्वं भवति न पुनर्मनुष्याणाम् , तेषां देवगतित आगतानां भवाद्यसमयत एव पूर्वभवादनुवृत्तस्य सम्यक्त्वस्य सम्भवात् । न च तिरश्चामपि तथा भविष्यतीति वाच्यम् , यतो देवाः सम्यक्त्वविरहे सति एव तिर्यगायुर्बध्नन्ति, तथाच भवचरमान्तर्मुहूर्ते तिर्यग्गत्यभिमुखानां तेषां नियमतः सम्यक्तविरहः प्रादुर्भवति, तच्च तिर्यग्भवप्रारम्भे नियमतो प्रवर्तते, तथाच न भवति देवभवात्तिर्यक्तयोद्वृत्तानां भवाद्यकाले सम्यक्त्वम् । मनुष्यायुस्तु देवैः सम्यक्त्वसद्भावेऽपि बध्यते, तथा च तद्बन्धकाः सम्यग्दृष्टयो देवास्तद्भवचरमान्तर्मुहूर्तवत्तदुत्तरे मनुष्यभवाद्यान्तर्मुहूर्तेऽपि सम्यक्त्वभाजो भवन्ति, ते च यावज्जीव तेन सम्यक्त्वेन सहितास्तिष्ठन्तः प्रस्तुतं देवगत्यादिप्रकृतिचतुष्टयमेव निर्वर्तयन्ति, तद्भवक्षये पुनः सम्यक्त्वप्रभावनिष्पादितदेवायुष्कतया देवतयोत्पद्यमानास्तत्र भवप्रथमसमयादेव मनुष्यगत्यादिप्रकृतीर्बध्नन्ति, इत्येवं देवगत्यादिप्रकृतिचतुष्टयस्योत्कृष्टबन्धकालः परिपूर्णपूर्वकोटीप्रमाण एव प्राप्यते, नाधिक इति ।

"**मणणाणे**"त्यादि, मनःपर्यवज्ञान-सयमौघमार्गणास्थानयोः सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिकसंयम-देशसंयमेषु चेत्येवं सर्वसंख्यया षण्मार्गणासु प्रत्येकं 'देसूणा पुव्वकोडी'' त्यादि 'पणिंदिय-तस-परघू-सास-बायरतिगाणि । पुम सुखगइ पढमागिइ-सुहगतिगु च्च-सुरविउव्वजुगल-जिणा' (गाथा–३४१) इत्येतत्संग्रहगाथागसंगृहीतानामेकोनत्रिंशतेरध्रुवबन्धिप्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टो बन्धकालो देशोनपूर्वकोटिवर्षप्रमाणो भवति । कथम् ? मनःपर्यवादिमार्गणासु स्वप्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावेनासामेकोनविंशतेः प्रकृतीना मनःपर्यवज्ञानादिज्ञानमार्गणानामुत्कृष्टकायस्थितिं यावन्नैरन्तर्येण बध्यमानतया तदीयप्रकृतिबन्धकालस्यैवोत्कृष्टतस्तथात्वादिति । 'णाणतिगे' इत्यादिनाऽभिहितासु त्रयोदशमार्गणासूक्तशेषाऽऽयुर्वर्जाध्रुवबन्धिप्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टबन्धकालस्यानुक्तत्वादसौ 'मुहुत्तंतो अवक्खमाणाण' (गाथा-३६१) इति वचनादन्तर्मुहूर्तमात्रोऽवसातव्य इति ॥४०१–४०४॥

अथ ज्ञानमार्गणास्थानेषु प्रस्तुतकालमभिधाय तत्प्रतिपक्षत्वादज्ञानमार्गणास्थानेषु तं दिदर्शयिषुस्तुल्यवक्तव्योपेताऽन्याऽन्यमार्गणाः संगृह्याह—

उरल-तितिरियाईणं अण्णाणदुगे अभविय-मिच्छेसुं ।
ओघव्व एगतीसा अयरा णेयो दुगस्स ॥४०५॥

देसूणं पल्लतिगं भवे दसण्हं सुखगइआईणं ।
साहियतेत्तीसुदही उरलोवंगाइअट्ठण्हं ॥४०६॥
विब्भंगे कायठिई गुरू तितिरियाइ-णवुरलाईणं ।
जलहीण एगतीसा जाणेयव्वो णरदुगस्स ॥४०७॥

(प्रे०) "**उरले**" इत्यादि, अस्य च गाथोत्तरार्धे "**ओघव्वे**"त्यनेनान्वयस्तत औदारिकशरीरस्य तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्वी-नीचैर्गोत्रलक्षणानां तिसृणां तिर्यग्गत्यादिप्रकृतीनां चौघवत्, अनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टबन्धकाल इति गम्यते । केषु मार्गणास्थानेष्वित्याह–"**अण्णाणदुगे**" इत्यादि, मत्यज्ञान-श्रुताज्ञानमार्गणाद्वयलक्षणेऽज्ञानद्विकेऽभव्य-मिथ्यात्वमार्गणास्थानयोश्चेत्येवं चतुर्षु मार्गणास्थानेषु । कुतः? ओघवदेतेष्वपि औदारिकदेहस्याऽसंख्येयपुद्गलपरावर्तप्रमाणप्रस्तुतकालस्य तथा तिर्यग्गत्यादीनां तिसृणामसंख्येयलोककालस्याक्षेपकाणामेकेन्द्रिय-तेजस्काय-वायूकायादिजीवानां प्रविष्टत्वात्, संज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वाच्चेति । "**एगतीसा**" इत्यादि मत्यज्ञानादिमार्गणाचतुष्क एव एकत्रिंशदतराः–सागरोपमाणि प्रस्तुतकालो ज्ञातव्यः, कस्येत्याह–"**णरदुगस्स**" ति मनुष्यगति मनुष्यानुपूर्वीलक्षणस्य नरद्विकस्य । स चोत्कृष्टस्थितिकनवमग्रैवेयकोद्धृतमिथ्यादृष्टिजीवापेक्षयाऽस्य प्रकृतिद्विकस्योत्कृष्टबन्धकालस्य तथात्वात्तथा विज्ञेयः ।

"**देसूण**" मित्यादि, देशोनं पल्योपमत्रिकम् 'सुखगइ-पढमागिइ सुहगतिगु-च्च-सुरविउवजुगल' इत्यनेन पूर्वं संगृहीतानां प्रशस्तविहायोगत्यादीनां दशप्रकृतीनां प्रस्तुतकालो भवति । मिथ्यादृग्युग्मिनां पर्याप्तावस्थायां केवलदेवगतिप्रायोग्यप्रकृतीनामेव बन्धभावेनाऽपर्याप्तावस्थामन्त्याऽन्तमुहूर्तवर्जयुग्मभवोत्कृष्टस्थिति यावन्निरन्तर बध्यमानानामासा प्रकृतिबन्धकालस्यैव प्रस्तुतमार्गणायां देशोनत्रिपल्योपमप्रमाणत्वादिति । "**साहिये**" त्यादि, 'उरलोवग' (गाथा–३४१) इत्यादिना पूर्वं संगृहीतानामौदारिकाङ्गोपाङ्ग-पञ्चेन्द्रियजाति त्रस-पराघातो-च्छ्वास-बादरत्रिकलक्षणानामष्टप्रकृतीना प्रस्तुतबन्धकालः साधिकास्त्रयस्त्रिंशदुदधयः-सागरोपमाणि भवति । मिथ्यादृशः सप्तमभूमिनैरयिकस्यैतत्प्रतिपक्षप्रकृतीनां यावज्जीवमनिर्वर्तनेन तत्कालप्रधानस्यासामष्टानामुत्कृष्टप्रकृतिबन्धकालस्य साधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणत्वात् । अत्र साधिकता तु औदारिकशरीरस्य उक्तनैरयिकभवादुत्तरभवप्रथमान्तमुहूर्तसम्बन्धिनी तथा शेषप्रकृतीना पूर्वभवचरमान्तमुहूर्तसम्बन्धिन्यपि नपुंसकवेदमार्गणायामागमुत्कृष्टबन्धकालभावनायां दर्शितनीत्या विज्ञेयेति ।

"**विब्भंगे**" इत्यादि, विभङ्गज्ञानमार्गणास्थाने तिर्यग्द्विक-नीचैर्गोत्रलक्षणानां तिसृणां तिर्यग्गत्यादिप्रकृतीनां तथा 'उरलुवङ्ग' (गाथा–३४१) इत्यादिना प्रस्तुतद्वारारम्भे सगृहीतानां नवप्रकृतीनां प्रस्तुतबन्धकालः "**कायठिई गुरु**" त्ति 'गुर्वी'-उत्कृष्टा एकजीवाश्रया विभङ्गज्ञानमार्गणा-

कायस्थितिर्भवति । अयं हि कालः प्राग्दर्शितकायस्थितिविषयकमतद्वयमपेक्ष्य यथासम्भवं देशोन-पूर्वकोट्या हीनस्तावन्मात्रश्च स्वयमेव द्रष्टव्यः । "**जलहीणे**" त्यादि, 'लजधीनां'-सागरोपमाणा-मेकत्रिंशत्प्रस्तुतकालः "**जाणेयव्वो णरदुगस्स**' त्ति मनुष्यद्विकस्य ज्ञातव्यः, नवमग्रैवेयकोद्भव-देवानामेतत्प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावेनाऽस्योत्कृष्टप्रकृतिबन्धकालस्य तथात्वादिति । पञ्चमार्गणास्वप्युक्त-शेषाऽऽयुर्वर्जसातवेदनीयाद्यध्रुवबन्धिनीनां तु प्रागिव 'मुहुत्तंतो अवक्खमाणाण' (गाथा-१६६) इत्यादि-वचनादन्तमुहूर्तमेवासौ गम्यत एवेति ॥४०५-४०७॥

गतो ज्ञानाऽज्ञानमार्गणास्थानेषु प्रस्तुतानुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टबन्धकालः । साम्प्रतं संयम-मार्गणास्थानेष्ववसराभिधातव्यस्तत्र संयमौघ सामायिक छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिकसंयम-देशसंय-मेषु तस्य मनःपर्यवज्ञानमार्गणया सममभिहितत्वात्, सूक्ष्मसम्परायमार्गणाया उत्कृष्टकायस्थितेरन्त-र्मुहूर्ततयाऽनुक्तत्वेनाऽवक्ष्यमाणत्वेन च "मुहूत्ततो अवक्खमाणाण" (गाथा-३६१) इति पूर्वोक्तवचनात् तत्र बध्यमानाना सर्वासामध्रुवबन्धिप्रकृतीनां प्रकृतकालस्यान्तमुहूर्तमात्रतया गम्यमानत्वाच्च शेषेऽसंयममार्गणास्थाने प्रस्तुतकाल दर्शयन्नाह —

उरलोवंगाईणं पंचदसण्हमजएऽब्भहिया जलही ।
तेत्तीसोघव्व भवे तिरियाइगसग-सुराइपणगाणं ॥४०८॥ (गीतिः)

(प्रे०) "**उरलोवंगाईण**"मित्यादि, 'अजए' असंयममार्गणास्थाने "उरलोवग पणिंदिय-तस-परघू-सास-बायरतिगाणि । पुम-सुखगइ पढमागिइ-सुहगतिगु-च्च" (गाथा-३४१)इत्येतावता संग्रह-गाथांशेन संगृहीतानामौदारिकाङ्गोपाङ्गादीनां पञ्चदशप्रकृतीनां प्रस्तुतोऽनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टो बन्ध-कालः "**ऽब्भहिया**" त्ति यथासम्भवमन्तमुहूर्तादिनाऽभ्यधिकास्त्रयस्त्रिंशज्जलधयः-सागरोपमाणि भवेत् । तत्रौदारिकाङ्गोपाङ्गस्य प्रस्तुतकाल उत्कृष्टस्थितिकनारकभवप्रधानो लभ्यते, तत्र च पूर्वोक्त-नीत्योत्तरभवसम्बन्ध्यन्तमुहूर्तेनाऽभ्यधिकता विज्ञेया तथा शेषाणा प्रस्तुतकालस्तूत्कृष्टस्थितिकदेव-भवप्रधानः प्राप्यते इति तत्र उत्तरवर्तिमनुष्यभवसत्कदेशोनपूर्वकोट्यादिकालेनाभ्याधकता विज्ञेया ।

"**ओघव्वे**"त्यादि, 'तिरियदुगं नीअं तह णरदुग-वइराणि उरलं च' इत्येतावता संग्रहगाथां-शेन संगृहीतानः तिर्यग्गत्यादिसप्तप्रकृतीनां तथा 'सुरविउवजुगल-जिणा' (गाथा-३४१) इत्यनेन संगृही-तानां सुरगत्यादिपञ्चप्रकृतीनां प्रस्तुतकाल ओघवद्भवेत्, **तद्यथा**—तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्वी नीचै-र्गोत्राणामसंख्येया लोकाः, मनुष्यद्विक-वज्रर्षभनाराचसंहनननाम्नोस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, औदा-रिकशरीरनाम्नोऽसंख्येयाः पुद्गलपरावर्ताः, देवद्विक वैक्रियद्विकयोः साधिकानि त्रीणि पल्योपमानि, तीर्थंकरनाम्नस्तु साधिकानि* त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणीति । अत्र भावनाऽपि प्रत्येकमोघवद् द्रष्टव्येति । अत्राप्यनुक्ताऽऽयुर्वर्जाध्रुवबन्धिनीनां प्रस्तुतकालस्तु 'मुहुत्ततो अवक्खमाणाणे'त्येतत्पूर्वोक्त-वचनादन्तमुहूर्तमात्रोऽवमातव्यः, तासां प्रकृतिबन्धकालस्यैवोत्कृष्टतोऽन्तमुहूर्तत्वादिति ॥४०८॥

---

* केवलमोघे देशोनपूर्वकोटिद्वयेन साधिकता, इह तु देशोनैकपूर्वकोट्या सेति विशेष ।

अथ क्रमप्राप्तदर्शनमार्गणास्थानेषु प्रस्तुतकालोऽभिधातव्यः, नवरं चक्षुरचक्षुर्दर्शनमार्गणास्थानयोः 'ओघव्व दुपर्णिदियतस चक्खु-अचक्खु' (गाथा–३८७) इत्यादिना पञ्चेन्द्रियौघादिमार्गणाभिः सममेव, तथा 'णाणतिगे ओहिम्मि य सम्म'(गाथा–४०१) इत्यादिना मतिज्ञानादिमार्गणया साकमवधिदर्शनमार्गणायां प्रस्तुतकालस्याभिहितत्वात् केवलदर्शनमार्गणायां तु स्थितिबन्धस्यैवाऽसत्त्वेन तत्र वक्तव्यताया एवाभावाच्च गतं दर्शनमार्गणाभेदेषु प्रस्तुतकालाभिधानम् , तदनन्तरं तु लेश्यामार्गणाभेदेषु प्रस्तुतकालाभिधानावसरः प्राप्यते, नवरं तेष्वपि कृष्णाद्यप्रशस्तलेश्यामार्गणात्रये निरयगत्योघादिमार्गणास्थानैः समं कृतं प्रस्तुतकालाभिधानम् , अवशिष्टं च शुभलेश्यासु तदिति तत्रैवाह—

तीसुं सुहलेसासुं चउद्दसपणिंदियाइ-तित्थाणं ।
जेट्ठा सगकायठिई सा हीणा पणणराईणं ॥४०९॥

(प्रे०) "**तीसु**" मित्यादि, तिसृषु तेजः-पद्म-शुक्लाभिधासु शुभलेश्यासु प्रत्येकं चतुर्दशानां 'पणिदिय-तस-परघू-सास-बायरतिगाणि । पुम-सुखगइ-पढमागिइ-सुहगतिगु-च' (गाथा–३४१) इत्यनेन प्राक्संगृहीतानां पञ्चेन्द्रियजात्यादिप्रकृतीनां तीर्थकरनाम्नश्च "**जेट्ठा सगकायठिई**" त्ति 'ज्येष्ठा'-उत्कृष्टा तेजोलेश्यादिमार्गणायाः स्वीया स्वीया कायस्थितिः, अनुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टकालो भवतीति गम्यते । "**सा हीणा पणणराईणं**" ति सा तेजोलेश्यादितत्तन्मार्गणायाः स्वीया स्वीयोत्कृष्टकायस्थितिः किञ्चिद्धीना सती पञ्चाना 'णरदुग-वइराणि उरल च उरलोवग' (गाथा–३४१) इत्यनेन संगृहीतानां मनुष्यद्विकादिप्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टबन्धकालो भवतीत्यर्थः । कथमयं देशोनोत्कृष्टकायस्थितिः पूर्वोक्तस्तु परिपूर्णोत्कृष्टकायस्थितिः ? इति चेद् , उत्कृष्टस्थितिकतेजोलेश्यादिदेवभवप्रधानायास्तेजोलेश्याद्युत्कृष्टकायस्थितेराद्यान्त्यान्तर्मुहूर्तयोर्देवभवप्रायोग्यं बध्नतां पञ्चेन्द्रियजात्यादिप्रकृतीनां बन्धसद्भावेऽपि मनुष्यगत्यादिप्रकृतिपञ्चकस्य नियमतोऽबध्यमानत्वेन तदीयोत्कृष्टप्रकृतिबन्धकालस्यैव तथात्वात् । **अयम्भावः**—तेजोलेश्याया उत्कृष्टकायस्थितिरन्तर्मुहूर्तेनाभ्यधिकं पल्योपमासंख्यभागयुतसागरोपमद्वयम् , पद्मलेश्यायास्तु साऽन्तर्मुहूर्ताभ्यधिकान्यष्टादशसागरोपमाणि; शुक्ललेश्यायास्तु सा अन्तर्मुहूर्ताभ्यधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि च, तत्र यदन्तर्मुहूर्तं तन्न देवभवसंबन्धि, किन्तु यः शेषपल्योपमासंख्यभागयुतसागरोपमद्वयादिकालः स देवभवसंबधीत्येतत्सर्वं प्राक् कायस्थितिप्रपञ्चाद्गतार्थम् । इह देवभवसम्बन्धिनि कायस्थितिकाले पञ्चेन्द्रियजात्यादीनां मनुष्यगत्यादीनां च भवप्रत्ययादितः, पुंवेदादीनां कतिपयानां तु सम्यक्त्वप्रत्ययतश्च निरन्तरो बन्धः प्राप्यते, न पुनः यथोक्तान्तर्मुहूर्तकालेऽप्यसौ, तदानीं पञ्चेन्द्रियजात्यादीनां बन्धभावेऽपि मनुष्यगत्यादीनां नियमतोऽबन्धात् । तथाच मनुष्यगत्यादीनामुत्कृष्टप्रकृतिबन्धकालोऽपि पञ्चेन्द्रियजात्यादीनामुत्कृष्टप्रकृतिबन्धकालापेक्षयाऽन्तर्मुहूर्तेन न्यूनः प्राप्यते, यावान् प्रकृतिबन्धकालस्तावानेव

तदीयानुत्कृष्टस्थितिबन्धकाल इति तु सुगममिति ।

उक्तशेषाणां सातवेदनीयाद्यध्रुवबन्धिनीनां त्वसौ "मव्वासु मुहुत्तंतो अवक्खमाणाण अधुव-बंधीण' (गाथा-२६६) मित्यादिप्रागुक्तवचनादन्तर्मुहूर्तं ज्ञातव्यः, ता पुनः प्रकृतयः शुक्ललेश्यायां साता-ऽसातवेदनीय-हास्य-रति-शोका-ऽरति-स्त्रीवेद-नपुंसकवेदमोहनीय-देवद्विक-वैक्रियद्विका-ऽऽहा-रकद्विक-प्रथमवर्जसंहननपञ्चक-प्रथमवर्जसंस्थानपञ्चक-कुखगति-स्थिर-शुभ-यशःकीर्त्य-स्थिरषट्क-नीचैर्गोत्रलक्षणाः पञ्चत्रिंशत्, पद्मलेश्यायां तु सा पञ्चत्रिंशत् तिर्यग्द्विकोद्योतसहिताः सत्योऽष्टत्रिं-शत्; तेजोलेश्यायां पुनस्ताः पञ्चत्रिंशत् तिर्यग्द्विकोद्योतै-केन्द्रिय-स्थावरा-ऽऽतनामभिः सहिता एकचत्वारिंशदिति ॥४०९॥

तदेवं गता लेश्यामार्गणास्थानेष्वपि प्रस्तुतबन्धकालप्ररूपणा तदनु क्रमगतभव्यादिमार्गणास्थान-मध्याद् भव्यमार्गणास्थाने पञ्चेन्द्रियौघादिमार्गणास्थानैः समम्, अभव्यमार्गणास्थाने 'अण्णाणदुगे अभविय' (गाथा-४०५)इत्यादिना मत्यज्ञानादिमार्गणास्थानैः समम्, तथा सम्यक्त्वौघ-क्षायिक-क्षायो-पशमिकसम्यक्त्वमार्गणास्थानेषु 'णाणतिगे ओहिम्मि य सम्म-खइअ-वेअगेसु' इत्यादिना मतिज्ञानादि-मार्गणास्थानैः साकं प्रस्तुतकालस्याभिहितत्वात्, औपशमिकसम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्वमार्गणयोः केनाऽपि सहानभिहितत्वादवक्ष्यमाणत्वाच्च 'मुहुत्तंतो अवक्खमाणाण' (गाथा-२६६) इति वचनात्तत्र बन्धप्रायोग्याणां सर्वासामध्रुवबन्धिनीनां प्रस्तुतकालस्याऽन्तर्मुहूर्तमात्रत्वस्य गम्यत्वात्, क्रम-प्राप्तसासादनमार्गणास्थाने आह प्रस्तुतकालम्—

सासायणम्मि होइ तितिरियाइ-णरदुग-णवुरलाईणं ।
तह सुखगइआईणं दसण्ह सगजेट्ठकायठिई ॥४१०॥

(प्रे०) "**सासायणे**"त्यादि, सासादनमार्गणास्थाने तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्वी नीचैर्गोत्र-लक्षणानां तिसृणां तिर्यग्गत्यादीनां तथा नरगति-नरानुपूर्वीलक्षणस्य नरद्विकस्य 'उरल च ॥३४०॥' इत्यादिना संगृहीतानामौदारिकशरीरौ-दारिकाङ्गोपाङ्ग-पञ्चेन्द्रियजाति-त्रस-पराघातो-च्छ्वास-बादर-त्रिकलक्षणानामौदारिकशरीरादिनवप्रकृतीनां तथा 'सुखगइ पढमागिइ-सुहगतिगु-च्च सुरविउव्वजुगल' (गाथा-३४१) इत्यनेन संगृहीतानां दशानां प्रकृतीनामित्येवं सर्वसंख्ययायुर्वर्जानां चतुर्विंशतेरध्रुव-बन्धिप्रकृतीनां प्रत्येकं प्रस्तुतोऽनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टो बन्धकालः "**सगजेट्ठकायठिई**" त्ति सासा-दनमार्गणायाः स्वका षडावलिकाप्रमाणा 'ज्येष्ठा' उत्कृष्टा कायस्थितिर्भवति, स च मार्गणोत्कृष्टकाय-स्थित्यधीनतदीयप्रकृतिबन्धकालस्य तथात्वात्तथा विज्ञेय इति । शेषाध्रुवबन्धिनीनां तु 'अवक्खमाणाण' (गाथा-२६९) इत्यादिपूर्वोक्तवचनादन्तर्मुहूर्तमेव ज्ञेयः, साध्यस्तु प्रकृतिबन्धकालाद्यनुसारेणेति ॥४१०॥

अथ मिथ्यात्वमार्गणायां प्रस्तुतकालः 'अण्णाणदुगे अभवियमिच्छेसु' (गाथा-४०५)इत्यादिना पूर्वं मत्यज्ञानादिमार्गणास्थानैः सममभिहितस्ततश्च गतं सम्यक्त्वमार्गणास्थानेषु प्रस्तुतकालप्ररूपणम् ।

संज्ञिमार्गणास्थाने पञ्चेन्द्रियौघादिमार्गणास्थानैः समम् , असंज्ञिमार्गणास्थाने 'कायाऽसण्णीसु भवे' इत्यादिना काययोगसामान्येन सार्कं च प्रस्तुतकालस्य प्रतिपादितत्वात् क्रमप्राप्तायामाहारकमार्गणायां तं प्रतिपादयन्नाह—

आहारे तिणराइग-उरलोवंगाइवीसपयडीणं ।
ओघव्व सकायठिई गुरू तितिरियाइ-उरलाणं ॥४११॥

(प्रे०) "आहारे" इत्यादि, आहारकमार्गणास्थाने मनुष्यद्विक-वज्रर्षभनाराचसंहननलक्षणानां तिसृणां प्रकृतीना तथा 'उरलोवग' (गाथा-३४०) इत्यादिसंग्रहगाथासंगृहीतानामौदारिकाङ्गोपाङ्गादिविंशतिप्रकृतीनामोघवत् प्रस्तुताऽनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टबन्धकालो भवति, तद्यथा–पु वेद प्रशस्तविहायोगति-समचतुरस्रसंस्थान-सुभगत्रिको-च्चैर्गोत्रलक्षणानां सप्तप्रकृतीनां द्वात्रिंशदभ्यधिकशतसागरोपमाणि, देवद्विक वैक्रियद्विकलक्षणचतुःप्रकृतीनामभ्यधिकानि त्रीणि पल्योपमानि, पञ्चेन्द्रियजाति-त्रस पराघातो-च्छ्वास बादरत्रिकलक्षणानां सप्ताना तु पञ्चाशीत्यभ्यधिकसागरोपमशतम् । औदारिकाङ्गोपाङ्ग-जिननाम्नोस्तु त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यभ्यधिकानीति । अयं हि प्रत्येक प्रकृतीनामोघवदेव प्रकृतिबन्धकालस्य तथात्वादुपपादनीय इति । "**सकायठिई**" त्यादि, तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्वी-नीचैर्गोत्रलक्षणानां तिसृणां तिर्यगत्यादीनामौदारिकशरीरनाम्नश्चेत्येवं चतसृणां प्रत्येकमनुत्कृष्टस्थितिबन्धस्योत्कृष्टकालः "**सकायठिई गुरू**" त्ति प्रस्तुताया आहारकमार्गणाया अङ्गुलाऽसंख्यभागमाना 'गुरुः'-उत्कृष्टा स्वीया कायस्थितिर्ज्ञेयः । उक्तशेषाऽऽयुर्वर्जसातवेदनीयादिपञ्चचत्वारिंशदध्रुवबन्धिनीनां तु प्रागुक्तवचनादन्तर्मुहूर्तमात्रः प्रस्तुतकालस्तदीयप्रकृतिबन्धकालस्य तथात्वात्प्राग्वदेव विज्ञातव्य इति ।

अथाऽनाहारकमार्गणायां प्रस्तुतकालो वक्तव्यः, स च प्राक् 'कम्मा-ऽणाहारेसुं सुराइपचणह' इत्यादिना कार्मणकाययोगमार्गणया सह प्रतिपादित एव । तदेवमभिहितः सर्वासु मार्गणासु आयुर्वर्जबन्धप्रायोग्याऽध्रुवबन्धिनीनामनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टबन्धकालः, बन्धप्रायोग्यध्रुवबन्धिनीनान्त्वसौ पूर्वम् 'जेट्ठो असखलोगा' इत्यादिना गाथाचतुष्टयेन प्रतिपादितः, आयुषस्तु ततोऽपि पूर्वम् 'एमेव हवेज्ज सव्वासु' इत्यादिनाऽतिदेशतः प्ररूपितश्च, तथा च निष्ठितं सर्वासु मार्गणासु बन्धप्रायोग्याणां सर्वासां प्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थित्युत्कृष्टबन्धकालप्ररूपणम्, निष्ठिते च तस्मिन् समाप्ता आदेशतोऽपि सर्वासां प्रकृतीनामुत्कृष्टानुत्कृष्टस्थितिबन्धविषया जघन्योत्कृष्टभेदभिन्ना द्विविधकालप्ररूपणेति॥४११॥

सम्प्रति जघन्या-ऽजघन्यस्थितिबन्धमधिकृत्य जघन्योत्कृष्टभेदभिन्न एकजीवाश्रयो द्विविधकालः प्रतिपादनीयः, तत्र तावदल्पवक्तव्यत्वादोघत आदेशतश्च बन्धप्रायोग्यायुःप्रकृतीना तमाह–

आऊण जहण्णाए ठिईअ कालो दुहा भवे समयो ।
अलहूअ मुहुत्तंतो एमेव हवेज्ज सव्वासुं ॥४१२॥

णवरं अलहुठिइए हस्सो समयोऽत्थि पणमणवयेसुं ।
काये उरले विउवे आहारदुगे कसायेसुं ॥४१३॥

(प्रे०) "आऊणं"त्यादि, निरय-तिर्यग्-मनुष्य-देव-भेदाच्चतुर्विधानामपि 'आयुषाम्'-आयुरु त्तरप्रकृतीनां जघन्यायाः "ठिईअ" त्ति अधिकृतायाः कर्मरूपतावस्थानलक्षणायाः स्थितेः "कालो" त्ति प्रस्तुतत्वादेकजीवाश्रयो निरन्तरबन्धकालः "दुहा भवे समयो" त्ति 'द्विधा'- जघन्यत उत्कृष्टतश्च द्विविधोऽपि 'समयः' समयमात्रो भवेद्, न पुनरधिकः कर्मरूपतावस्थान- लक्षणजघन्यस्थितिबन्धे जघन्याऽबाधायाः प्रविष्टत्वात् तस्याश्च वेद्यमानायुरवशेषरूपतया नैरन्तर्ये- णैकस्मिन् समये एव प्राप्तेस्तदधीनः प्रस्तुतकालोऽपि जघन्यत उत्कृष्टतो वा समयमात्रः प्राप्यते । इदमुक्तं भवति–वेद्यमानायुषोऽवशिष्टत्रिभाग-तत्त्रिभाग तत्त्रिभागादिप्रकारेण प्राप्तायां चरमा- यामसंक्षेप्याद्धाया ये केचन जीवाः क्षुल्लकभवलक्षणषट्पञ्चाशदधिकशतद्वयावलिकास्थितिकतिर्य- ग्मनुष्यान्यतराऽऽयुर्बन्धं दशसहस्रवर्षस्थितिकनिरयदेवान्यतरायुर्बन्धं वा प्रारभन्ते तेषां तत्प्रारम्भ- समयात् सर्वह्रस्वनिषेकसद्भावेन सर्वजघन्यानुभवयोग्यतालक्षणस्थितिबन्धसम्भवेऽपि सर्वजघन्या- बाधाया अभावेन कर्मरूपतावस्थानलक्षणस्थितिबन्धः सर्वजघन्यो न प्राप्यते किन्तु यदा ते तस्याश्च- रमाया आयुर्बन्धप्रायोग्याद्धायाश्चरमे समये वर्तन्ते तदा सर्वजघन्यस्थितिबन्धः प्राप्यते, स चैकं समयं प्राप्यते, कथम् ? अनन्तरसमये आयुर्बन्धस्य विच्छेदाद्, इत्थं प्रस्तुतकालो जघन्यत उत्कृ- ष्टतो वा समयमात्र एव लभ्यत इति ।

अथाजघन्यस्थितेराह–"अलहुअ" इत्यादि, 'आऊण'इत्यादेरनुवर्तनात् नरकायुःप्रभृतीनां चतुर्णामप्याऽऽयुषाम् 'अलघुस्थितेः'जघन्येतरस्थितेर्जघन्योत्कृष्टद्विविधोऽपि बन्धकालः "मुहुत्तंतो" त्ति अन्तर्मुहूर्तं भवतीत्यर्थः । अयं जघन्योत्कृष्टद्विविधः कालः प्राग्दर्शितोविकायुरनुत्कृष्टस्थिति- बन्धजघन्योत्कृष्टकालवदेव ज्ञेयः, आयुःप्रकृतिबन्धाद्धामध्ये प्रथम समयमेकं विहाय उत्कृष्टस्थिति- बन्धस्येव चरमसमयमेकं विहाय जघन्यस्थितिबन्धस्याप्यऽसम्भवात्, प्रकृतिबन्धाद्धायास्तु जघन्यत उत्कृष्टतो वाऽन्तर्मुहूर्तमात्रत्वाच्च । उक्तं च **बन्धशतकवृत्तौ श्रीमद्देवेन्द्रसूरिपादैः**–'आयूंषि सत्वार्यपि यावदन्तर्मुहूर्तं तावज्जघन्यतोऽपि बध्यन्ते' इति ।

तदेवमभिहित ओघतश्चतुर्णामप्यायुषां जघन्या-ऽऽजघन्यस्थित्योर्द्विविधबन्धकालः । साम्प्रतं लाघवार्थं मार्गणास्थानेष्वपि सापवादमतिदिशन्नाह–"एमेव हवेज्जे"त्यादि, 'एवमेव' यथा ओघतो बन्धकाल उक्तस्तथैव **'सव्वासु'** त्ति यासु मार्गणासु निरयाद्यन्यतमायुःप्रकृतेर्बन्धो जायते तासु सर्वासु निरयगत्योघादिमार्गणासु बन्धप्रायोग्यनिरयाद्यन्यतमायुष इत्यर्थः । अपवदन्नाह– "णवर" इत्यादि, 'नवरं'–केवलं पञ्चमनोयोग-पञ्चवचोयोग-काययोगसामान्यौ-दारिककाययोग- वैक्रियकाययोगा-ऽऽहारककाययोगा-ऽऽहारकमिश्रकाययोग-क्रोध-मान-माया-लोभकषायेष्वित्येवं समु-

दिवास्वेकोनविंशतिमार्गणासु तु बन्धप्रायोग्यनिरयाद्यन्यतमायुषोऽजघन्यस्थितेः "**हस्सो**" त्ति "ह्रस्वः" जघन्यो बन्धकालः समयो भवति; न पुनर्यथोत्सर्गमन्तर्मुहूर्तम् । एष हि आयुर्बन्धाद्धाद्वितीयसमयेऽपि प्रस्तुतमनोयोगादिमार्गणानां मार्गणान्तरतया परावृत्तेः सम्भवात्तेन हेतुनाऽन्यथा वा आयुर्मूलप्रकृतेरजघन्यस्थितेर्जघन्यबन्धकालवद्भावनीय इति ।।४१२-४१३।।

तदेवमभिहित ओघत आदेशतश्चाऽऽयुःप्रकृतीनां जघन्याऽजघन्यद्विविधस्थितेर्जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नो द्विविधोऽपि बन्धकालः । इदानीं शेषाणां मतिज्ञानावरणादिप्रकृतीनामोघतस्तमभिधित्सुरादौ तावज्जघन्यस्थितेरेकयाऽऽर्यया प्राह—

खवगपयडीण हस्सो भिन्नमुहुत्तं ठिईअ हस्साए ।
समयो सेसाण भवे सव्वाण गुरू मुहुत्तंतो ।।४१४।।

(प्रे०) "**खवगे**"त्यादि, ओघतो यासां प्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धश्चारित्रमोहनीयक्षपकाणां जायते तासामत्रैव ग्रन्थे प्राक् स्थितिबन्धप्रमाणद्वारे "एआओ खवगपयडीओ" (गाथा-१०८) इत्यनेन क्षपकप्रकृतितया संज्ञितानां पञ्चज्ञानावरण चतुर्दर्शनावरण-सातवेदनीय-संज्वलनचतुष्क-पुरुषवेदमोहनीया-ऽऽहारकद्विक-तीर्थकरनाम-यशःकीर्त्यु-च्चैर्गोत्रा-ऽन्तरायपञ्चकलक्षणानां पञ्चविंशतेः क्षपकप्रकृतीनां "**ठिईअ हस्साए**" त्ति 'ह्रस्वायाः' जघन्यायाः स्थितेः '**हस्सो**' त्ति जघन्य एकजीवाश्रयो बन्धकालो '**भिन्नमुहूर्तम्**' अन्तर्मुहूर्तं भवति । कुतः ? क्षपकाणामेतज्जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वादेवेति । **इदमुक्तं भवति**—क्षपकश्रेणौ सर्वे स्थितिबन्धा आन्तर्मुहूर्तिका एव, ततश्च यासां प्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धः क्षपकश्रेणौ प्राप्यते तासां जघन्यस्थितिबन्धस्य जघन्यो वा उत्कृष्टो वा कालोऽन्तर्मुहूर्तमात्रः प्राप्यते, प्रस्तुतेऽपि तथात्वादसावन्तर्मुहूर्तमभिहित इति ।

शेषप्रकृतीनामाह—"**समयो सेसाणे**"त्यादि, पञ्चविंशतिक्षपकप्रकृतीश्चत्वार्यायूंषि च विहाय शेषाणामेकनवतिप्रकृतीनां जघन्यस्थितेर्जघन्यबन्धकालस्तु समयमात्रो भवतीत्यर्थः । कुतः ? शेषप्रकृतीनामौघिकजघन्यस्थितिबन्धस्यैकेन्द्रिया-ऽसञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियस्वामिकत्वेन सम्यक्त्वाद्यभिमुखावस्थाया अन्यत्र जायमानत्वात् । **अयम्भावः**—सम्यक्त्वाद्यभिमुखावस्थायां वर्तमानानां जीवानां यथोत्तरविशुध्यमानाध्यवसायत्वात् क्षपकश्रेणिस्थवन्मरणव्याघाताभावाच्च तदानीं प्रवर्तमानाः स्थितिबन्धा आन्तर्मुहूर्तिका एव जायन्ते, सम्यक्त्वाद्यभिमुखावस्थाया अन्यत्र तु न तथा, साकारोपयोगादिपरावृत्तेरन्यथा वा जघन्यस्थितिबन्धप्रारम्भद्वितीयसमय एव सङ्क्लेशवृद्ध्या स्थितिबन्धवृद्धेः सम्भवात् ,निद्रापञ्चकादिशेषप्रकृतीनामौघिकजघन्यस्थितिबन्धस्य तु यथासम्भवमेकेन्द्रियस्वामिकतया देवद्विकादीनामसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्वामिकतया वा सम्यक्त्वाद्यभिमुखावस्थाया अन्यत्र भावेन तदीयकालो जघन्यतः समयमात्रः प्राप्यत इति ।

अथाऽऽयुःप्रकृतिवर्जानां शेषाणां षोडशोत्तरशतप्रकृतीनां जघन्यस्थितेरुत्कृष्टबन्धकालमाह–"सव्वाणे"त्यादि, आयुषां प्रस्तुतकालस्यानन्तरमेवाभिहितत्वात्तद्वर्जानां शेषाणां सर्वासां प्रकृतीनां जघन्यस्थितेरुत्कृष्टो बन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तमित्यर्थः । कुतः ? उत्कृष्टस्थितिबन्धवज्जघन्यस्थितिबन्धस्यैकस्थितिबन्धस्थानात्मकत्वात् , एकस्थितिबन्धप्रायोग्याध्यवसायानामुत्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तं यावदेवावस्थानाच्चेति ॥४१४॥ अथाऽजघन्यस्थितेरोघत आह—

जिण-धुवबंधीण भवे अलहुठिईए लहू मुहुत्तंतो ।
समयो सेसाण हवइ संजलणाऽऽवरण-विग्घाणं ॥४१५॥
तिविगप्पोऽणाइधुवो अणाइअधुवो य साइअधुवो य ।
साइअधुवोऽत्थि जेट्ठो देसूणो अद्धपरिअट्टो ॥४१६॥
लोगा असंखिया खलु हवेज्ज सेसधुवबंधिउरलाणं ।
अगुरुठिइव्व हवेज्ज सेसाणं अट्ठसट्ठीए ॥४१७॥

(प्रे०) "जिण-धुवबंधीणे"त्यादि, जिननाम्नः सप्तचत्वारिंशतो ध्रुवबन्धिनीनां पञ्चज्ञानावरण नवदर्शनावरण-मिथ्यात्व-कषायषोडशक-भय-जुगुप्सामोहनीय–वर्णचतुष्क तैजस-कार्मणशरीराऽगुरुलघु निर्माणो-पघातनामा-ऽन्तरायपञ्चकलक्षणानाम् 'अलहुठिईए लहू मुहुत्तंतो' त्ति 'अलघुस्थितेः' अजघन्यस्थितेः 'लघुः' जघन्यो बन्धकालो मुहूर्तान्तो भवेत् । कुतः ? आसां प्रकृतिबन्धकालस्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तत्वाद् , अजघन्यस्थितिबन्धस्य नानास्थितिबन्धस्थानात्मकत्वाच्चेति । "समयो सेसाण हवइ" त्ति जिनध्रुवबन्ध्यायुश्चतुष्कवर्जानां शेषाणां सातवेदनीयाद्यष्टषष्टिप्रकृतीनामजघन्यस्थितिबन्धस्य जघन्यकालः समयो भवति, अध्रुवबन्धितयाऽऽसां प्रकृतिबन्धकालस्यैव जघन्यतः समयमात्रत्वादिति ।

अथोत्कृष्टतः प्राह-"संजलण" इत्यादिना, क्रोध-मान माया-लोभभेदाच्चतुर्णां संज्वलनकषायाणां तथा "आवरण" त्ति मतिज्ञानावरणादिपञ्चज्ञानावरण-चक्षुर्दर्शनावरणादिचतुर्दर्शनावरणलक्षणानां नवानामावरणानाम् , आवरणप्रकृतीनामित्यर्थः, तथा "विग्घाणं" ति विघ्नाना, पञ्चानामन्तरायप्रकृतीनामित्यर्थः, इत्येवं मतिज्ञानावरणादीनामष्टादशप्रकृतीनामजघन्यस्थितिबन्धस्य, उत्कृष्टकाल इति गम्यते, ओघिकप्ररूपणायां तस्यैव परिशेषात् , भवतीति क्रियाऽत्राप्यनुपज्यते। कथं भवतीत्याह–"तिविगप्पो" इत्यादि, 'त्रिविकल्पः' स्वामिभेदात् त्रिप्रकारः । त्रिविकल्पानेवाह–"णाइधुवो" त्ति 'अनादिध्रुवः' अनाद्यनन्त इत्यर्थः, क्षपकश्रेणौ भाविन आसां जघन्यस्थितिबन्धस्योपशमश्रेणौ भाविनोऽबन्धस्य वा ध्रुवमिथ्यात्वोदयानामभव्याना कदाप्यप्रवर्तनेन तेषामभव्यानामजघन्यस्थितिबन्धस्य सर्वदा प्रवर्तनादिति । "अणाइअधुवो" त्ति 'अनाद्य-

ध्रुवः' अनादिमान्त इत्यर्थः, स चाप्राप्याप्राप्ताऽनिवृत्तिबादरादिगुणस्थानं भाविसिद्धिकं भव्यजीवमपेक्ष्य विज्ञातव्यः, अप्राप्यप्राप्तानिवृत्तिबादरादिगुणस्थानत्वेन तदीयसंज्वलनक्रोधाद्यजघन्यस्थितिबन्धस्याऽनादित्वाद् भाविसिद्धिकत्वेन सान्तत्वाच्चेति । चः समुच्चये । अथ तृतीयविधामाह–"साइअधुवो" त्ति साद्यध्रुवः, सादिसान्त इत्यर्थः । अयन्तूपशमश्रेणावासां संज्वलनक्रोधादीनामबन्धं प्राप्य निपतितं भव्यजीवमपेक्ष्य ज्ञातव्यः, तदपेक्षयाऽऽसां प्रकृतिबन्धस्यैव सादिसान्तत्वात्, प्रकृतिबन्धस्य सादिसान्तत्वे तदीयस्थितिबन्धस्य सादिसान्तत्वं सुसिद्धमेवेति । अत्र त्रिविधबन्धकाले तृतीयस्य सादिसान्तत्वेन स एव जघन्योत्कृष्टभेदतः प्रतिपादयितुं युज्यतेऽतस्तमुत्कृष्टतः प्रतिपादयन्नाह–"साइ" इत्यादि, तृतीयः साद्यध्रुवलक्षणो बन्धकालो 'ज्येष्ठः' उत्कृष्टो भवति, कियान् भवतीत्याह–"देसूणो अद्धपरिअट्टो" त्ति देशोनाऽर्धपुद्गलपरावर्तः, उपशमश्रेणित पतितानामुत्कृष्टतोऽपि देशोनार्धपुद्गलपरावर्तसंसारसम्भवेन प्रकृतिबन्धकालस्यैव तथात्वादिति ।

"लोगा"इत्यादि, अनन्तरोक्ताः संज्वलनक्रोधाद्यष्टादशप्रकृतीर्विहाय याः शेषाः निद्रापञ्चकाद्येकोनत्रिंशद् ध्रुवबन्धिप्रकृतयस्तासां शेषध्रुवबन्धिनीनामौदारिकशरीरनाम्नश्च 'असंख्येयाः लोकाः' असंख्येयेषु लोकप्रमाणाऽऽकाशखण्डेषु प्रतिसमयमेकैकाकाशप्रदेशापहारे यावान् कालो निर्याति तावानसंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिण्य इत्यर्थः, अजघन्यस्थितिबन्धोत्कृष्टकाल इति गम्यते । कथमेतावान् ? इति चेद्, उच्यते, एकेन्द्रियमध्ये बादरपर्याप्तैकेन्द्रियाणामेवासां जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वेनाऽपर्याप्तबादरावस्थायां सूक्ष्मावस्थायां वा नियमत आसामजघन्यस्थितिबन्धस्यैव प्रवर्तनात्, सूक्ष्मैकेन्द्रियाद्यवस्थाया उत्कर्षतोऽसंख्येयलोकप्रमाणत्वाच्चेति ।

उक्तशेषप्रकृतीनामतिदेशद्वारेणाह–"अणुरुठिइव्वे" त्यादि, उक्तायुश्चतुष्कौदारिकशरीरध्रुवबन्धिवर्जानां शेषसातवेदनीयाद्यष्टषष्ट्यध्रुवबन्धिप्रकृतीनां प्रस्तुतोऽजघन्यस्थितेरुत्कृष्टबन्धकालः "अणुरुठिइव्व" त्ति पूर्वम् "बत्तीससागरसय सत्तपुमाईणे" त्यादिना गाथा-(३४७)त्रयेणोक्तानुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टकालवद्विज्ञेयः। तद्यथा–सातवेदनीया-ऽसातवेदनीय-हास्य-रति शोका-ऽरति-स्त्रीवेद-नपुंसकवेदमोहनीय-नरकद्विक-जातिचतुष्का-ऽऽहारकद्विक--प्रथमवर्जसंस्थानपञ्चक-प्रथमवर्जसंहननपञ्चका-ऽप्रशस्तविहायोगत्या-ऽऽतपो-द्योत-स्थिर शुभ-यशःकीर्ति-स्थावरदशकलक्षणानां द्विचत्वारिंशत्प्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टबन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तमात्रः । पुरुषवेद प्रशस्तविहायोगति-समचतुरस्रसंस्थान-सुभगत्रिको च्चैर्गोत्रलक्षणानां सप्तानां द्वात्रिंशदभ्यधिकसागरोपमशतम् । तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्वी नीचैर्गोत्रलक्षणाना तिसृणा प्रकृतीनामसंख्येया लोकाः ।मनुष्यगति मनुष्यानुपूर्वी-वज्रर्षभनाराचसंहनननाम्नां त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि । देवद्विक-वैक्रियद्विकयोः साधिकानि त्रीणि पल्योपमानि । पञ्चेन्द्रियजाति त्रस-पराघातो च्छ्वास-बादरत्रिकलक्षणाना सप्तप्रकृतीनां तु पञ्चाशीत्यभ्यधिक सागरोपमशतम् । औदारिकाङ्गोपाङ्ग जिननाम्नोः पुनस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि साधि-

कानीति । अत्र भावना तु प्रत्येकमनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टबन्धकालवदेवावसातव्या, उभयत्र यथोक्त-कालप्रयोजकस्य प्रकृतिबन्धकालादेरविशेषादिति ।।४१५-४१७।।

अभिहित ओघत जघन्यादिस्थितिबन्धस्यैकजीवाश्रयो द्विविधः कालः । सम्प्रति तमेवादेशतो विवक्षुरायुःप्रकृतीनामनन्तरमुक्तत्वादायुर्वर्जानां जघन्यस्थितिबन्धस्य जघन्यकालमार्यापञ्चकेनाह—

दुइआइणिरय-तिमणुस-जोइसियाइ-दुपणिंदियतसेसुं ।
वेअतिग-अवेएसुं कसायचउग-चउणाणेसुं ।।४१८।।
संजम-समइअ-छेअग-देस-सुहुम-अजय-दंसणतिगेसुं ।
सुक्क-भवि-सम्म-खाइअ-मीसग-सण्णीसु आहारे ।।४१९।।
सामी जाण अहिमुहो, खवगो वा लहुठिईअ ताण लहू ।
कालो भिन्नमुहुत्तं, समयो सेसाण बोद्धव्वो ।।४२०।।
चरमणिरये विभंगे, भिन्नमुहुत्तं सिमहिमुहो जेसिं ।
उज्जोअवज्जिआणं समयो सेसाण विण्णेयो ।।४२१।।
परिहाराईसु खणो भिन्नमुहुत्तं व जाण कयकरणो ।
अंतमुहुत्तमहिमुहो, समयोऽण्णाण इयरासु सव्वेसिं ।।४२२।। (गीतिः)

(प्र०) "**दुइआइ**" इत्यादि, 'चरमणिरये' (गाथा-४२१) इत्यादिना सप्तमपृथिवीनिरयभेदे उत्तरत्र वक्ष्यमाणतया "**दुइआइणिरये**"त्यनेन शर्कराप्रभाद्यास्तमःप्रभान्ताः पञ्चैव निरयगतिमार्गणाभेदा ग्राह्याः, तथा '**तिमणुस**" इत्यनेन व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेरपर्याप्तभेदवर्जा ओघ-पर्याप्त मानुषीभेदभिन्नास्त्रयो मनुष्यगतिमार्गणाभेदाः, "**जोइसियाइ**" इत्यनेन पूर्ववज्ज्योतिष्काद्या नवमग्रैवेयकान्ता द्वाविंशतिदेवगतिमार्गणाभेदास्तथा '**दुपणिंदि**' इत्यादिनाऽपर्याप्तभेदवर्जाः पञ्चेन्द्रियौघ-तत्पर्याप्त-त्रसकायौघ-तत्पर्याप्तभेदाश्च ग्राह्याः, तेषु द्वितीयपृथिव्यादिनिरयभेदेषु तथा वेदत्रिके, अपगतवेदे, क्रोधादिकषायचतुष्के, मत्यादिचतुर्ज्ञानेषु, संयमौघ-सामायिकसंयम-छेदोपस्थापनसंयम-सूक्ष्मसम्परायसंयम-देशसंयमेषु, "**अजय**" त्ति असंयममार्गणास्थाने, "**दंसणतिगे**" त्ति चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनमार्गणास्थानत्रये, तथा शुक्ललेश्या भव्य सम्यक्त्वौघ-क्षायिकसम्यक्त्वेषु, '**मीसग**' त्ति मिश्रमेव मिश्रकम् तस्मिन् , सम्यग्मिथ्यात्वमार्गणास्थान इत्यर्थः, संज्ञिमार्गणास्थाने, आहारकमार्गणास्थाने चेत्येवं गाथाद्वयेन संगृहीतेषु द्विषष्टिमार्गणास्थानेषु प्रत्येकं "**सामी जाण**" इत्यादि, "लहुठिईअ" इत्येतदत्राऽपि सम्बध्यते, ततो यासां प्रकृतीनां लघुस्थितेः "**अहिमुहो**" त्ति

बन्धस्वामी सम्यक्त्वाद्यभिमुखावस्थावर्ती **"खवगो वा"** त्ति अथवा चारित्रमोहनीयक्षपकः, पूर्वं स्वामित्वद्वारेऽभिहित इति गम्यते, ततः किमित्याह **"लहुठिईअ ताण लहू कालो भिन्नमुहुत्त"** ति तासां जघन्यस्थितेः 'लघुः'-जघन्य एकजीवाश्रयः 'कालः'-बन्धकालो भिन्नमुहूर्तम्-अन्तर्मुहूर्तं भवेत् । **तद्यथा**–द्वितीयपृथिव्यादिपञ्चनिरयमार्गणास्थानेषु स्त्यानर्द्धित्रिका-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्क-मिथ्यात्वमोहनीयलक्षणानामष्टानां जघन्यस्थितेर्जघन्यो बन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तम्, एवमेव ज्योतिष्कादिनवमग्रैवेयकान्तद्वाविंशतिदेवगतिमार्गणास्थानेषु तासामष्टप्रकृतीनां जघन्यस्थितेर्जघन्यबन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तम् । मनुष्यगतिमार्गणास्थानत्रिके संज्ञिमार्गणास्थाने च पञ्चज्ञानावरण-चतुर्दर्शनावरण-सातवेदनीय-संज्वलनचतुष्क-पुंवेदमोहनीया-ऽऽहारकद्विक-जिननाम-यशःकीर्त्यु-च्चैर्गोत्रा-ऽन्तरायपञ्चकलक्षणानां पञ्चविंशतेः क्षपकप्रकृतीनां देवद्विक-वैक्रियद्विकयोश्चेत्येवमेकोनत्रिंशत्प्रकृतीनाम् । पञ्चेन्द्रियौघ-तत्पर्याप्त-त्रसकायौघ तत्पर्याप्तमार्गणास्थानानि स्त्रीवेद-पुंवेद-कषायचतुष्क चक्षुरचक्षुर्दर्शन-भव्या-ऽऽहारकमार्गणास्थानानि चेत्येवं चतुर्दशमार्गणास्थानेषु मतिज्ञानावरणादीनां पञ्चविंशतेः क्षपकप्रकृतीनाम् । नपुंसकवेदमार्गणास्थाने जिननामवर्जानां चतुर्विंशतेः क्षपकप्रकृतीनाम् । मतिज्ञानादिज्ञानत्रया-ऽवधिदर्शन-सम्यक्त्वौघ-क्षायिकसम्यक्त्वलक्षणेषु षड्मार्गणास्थानेषु बन्धप्रायोग्यनवसप्ततिप्रकृतिभ्योऽरति-शोका-ऽस्थिरा-ऽशुभा-ऽयशःकीर्त्य-ऽसातवेदनीय-मनुष्यद्विकौदारिकद्विक-वज्रर्षभनाराचसंहनननानि बन्धप्रायोग्या-ऽऽयुर्द्वयं चेति सर्वसंख्यया प्रकृतित्रयोदशकं विहाय शेषाणां षट्षष्टिप्रकृतीनाम् । मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापनसंयमलक्षणे मार्गणास्थानचतुष्के तूपयुक्तषट्षष्टिप्रकृतिभ्यो बन्धप्रायोग्याभावादप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरणकषायलक्षणा अष्टौ प्रकृतीर्विहायाऽष्टपञ्चाशत्प्रकृतीनाम् । अपगतवेदे बन्धप्रायोग्याणां सर्वासां मतिज्ञानावरणादीनामेकविंशतेरपि प्रकृतीनाम् । सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणास्थानेऽपि बन्धप्रायोग्याणां सर्वासां मतिज्ञानावरणादीनां सप्तदशप्रकृतीनामपि । देशसयममार्गणास्थाने पुनर्बन्धप्रायोग्यसप्तषष्टिप्रकृतिभ्योऽरति-शोका-ऽस्थिरा-ऽशुभा-ऽयशःकीर्त्य-ऽशातवेदनीय-देवायुलक्षणाः सप्त प्रकृतीर्विहाय शेषाणां षष्टिप्रकृतीनाम् । असंयममार्गणास्थाने केवलस्य जिननाम्नः । शुक्ललेश्यामार्गणास्थाने तु सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिनीनां तथा सातवेदनीय-हास्य-रति पुंवेदमोहनीय-देवद्विक-पञ्चेन्द्रियजाति-वैक्रियद्विका-ऽऽहारकद्विक-प्रथमसंस्थान-प्रशस्तविहायोगति-पराघातो-च्छ्वास-जिननाम-त्रसदशको-च्चैर्गोत्रलक्षणसप्तविंशत्यध्रुवबन्धिप्रकृतीनाम् । सम्यग्मिथ्यात्वमार्गणास्थाने तु बन्धप्रायोग्या एकोनचत्वारिंशद् ध्रुवबन्धिन्यस्तथा सातवेदनीय-हास्य-रति पुवेदमोहनीय-देवद्विक-मनुष्यद्विक-पञ्चेन्द्रियजाति-वैक्रियद्विकौ-दारिकद्विक प्रथमसंहनन-प्रथमसंस्थान-प्रशस्तविहायोगति-पराघातो-च्छ्वास-त्रसदशको-च्चैर्गोत्रलक्षणा एकोनत्रिंशदित्येतासामष्टषष्टिप्रकृतीनां जघन्यस्थितेर्जघन्यबन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तम् । कथममूषु मार्गणास्वमूषां प्रकृतीनां प्रस्तुतकालो जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तम् ? इति चेद्, तत्स्वा-

मिनां सम्यक्त्वाद्यभिमुखावस्थागतत्वात्क्षपकत्वाद्वा । विशेषतस्तु पूर्वत्र **मूलप्रकृतिस्थितिबन्ध-** ग्रन्थादावस्माभिरनेकशो भावितमिति तया नीत्या स्वयमेव भावनीयमिति ।

एतासु द्वितीयपृथिवीनिरयभेदादिद्विषष्टिमार्गणासूक्तशेषप्रकृतीनां जघन्यस्थितेर्जघन्यबन्ध-कालस्तर्हि कियान्भवतीत्याह-"**समयो सेसाण बोद्धव्वो**" त्ति सुगमम् । समयमात्रकालभावना तु तत्स्वामिनां सम्यक्त्वाद्यभिमुखाभावेन जघन्यस्थितिबन्धस्य स्वप्रारम्भद्वितीयसमयेऽपि स्थिति-बन्धान्तरतया परावृत्तेः सम्भवात् तथा कार्या ।

अथ सप्तमपृथिवीनिरयभेदे विभङ्गज्ञानमार्गणास्थाने चानन्तरोक्तनीत्या बन्धप्रा-योग्यप्रकृतिभ्यो यासां जघन्यस्थितिबन्धस्वामी सम्यक्त्वाद्यभिमुखो भवति तासां जघन्यस्थिति-बन्धजघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तम्, तदन्यासां त्वतथात्वेन समयश्च प्राप्यते, केवलमुद्योतनाम विहायैव, कस्मादुद्योतनाम वर्ज्यते ? इति चेद्, तदीयजघन्यस्थितिबन्धस्य सम्यक्त्वाभिमुखस्वामिकत्वेऽपि तदीयप्रकृतिबन्धस्य कादाचित्कतया समयमेकं बद्ध्वाऽपि तद्बन्धविच्छेदसम्भवात् । **इदमुक्तं भवति**-कस्यचित्सम्यक्त्वाभिमुखसप्तमभूमिनैरयिकस्याऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणजघन्यस्थितिबन्धप्रायोग्या-ध्यवसायाऽवाप्तावपि न तदानीं तिर्यग्द्विकादिप्रकृतीनामिवोद्योतनाम्नो बन्धेन भवितव्यमेव, इत्थं च कस्यचित् तद्बन्धो जायते कस्यचित्तु न, यस्य त्वसौ जायते तस्याऽपि न नियम-तोऽन्तर्मुहूर्तं यावदेव, किन्तु कस्यचित्समयमात्रमपि, तथाच यस्य तद्बन्धः समयमेव प्रवर्तते तज्जीवापेक्षया तदीयजघन्यस्थितिबन्धकालः समयमात्रोऽवाप्यत इति । विभङ्गज्ञानमार्गणास्थानेऽपि सप्तमनिरयजीवापेक्षयैवोद्योतनाम्नो जघन्यस्थितेर्जघन्यबन्धकालः समयमात्रः, इत्यतो मार्गणाभेद-द्वये शेषप्रकृतीनामिवोद्योतनाम्नोऽपि प्रस्तुतकालः समय इत्येतत् प्रदर्शयन्नाह-"**चरमणिरये विभंगे**"इत्यादि, भावार्थस्तूक्तः, अक्षरार्थस्त्वेवम्-सप्तमपृथिवीनिरयभेदलक्षणे '**चरमनिरये**'-चरम-निरयमार्गणास्थाने विभङ्गज्ञानमार्गणास्थाने च "**भिन्नमुहुत्तं सिं**" ति तासां प्रकृतीना 'भिन्न-मुहूर्तम्' अन्तर्मुहूर्तम्, जघन्यस्थितिबन्धजघन्यकाल इति गम्यते; प्रस्तुतत्वात् । कासां तासा-मित्याह-"**अहिमुहो जेसिं उज्जोअवज्जिआण**" मिति 'जेसिं' यासामुद्योतवर्जितानाम् 'अहिमुहो' त्ति जघन्यस्थितिबन्धस्वामी पूर्वम् "अडमिच्छाईण सम्महुत्तो उ । चउणीआईण वि तम-तमाअ' (गाथा-२७२) तथा 'संजमहुत्तो मणुसो विब्भगे बधगो विसुद्धयमो । सगचत्तधुवाण तहा चउनी-माए सुराईण ।। ३११।। णीआईण चउण्ह सम्माहिमुहोऽत्थि तमतमो मिच्छो । तारिच्छो दुगइट्ठो णेयो पचवइराईण ।' इत्यनेन सम्यक्त्वाद्यभिमुख उक्तस्तासामित्यर्थः । शेषाणां प्रस्तुतकालः 'समयः' समयमात्रो विज्ञेय इति । इत्थं हि सप्तमपृथिवीनिरयभेदे स्त्यानर्द्धित्रिका-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्क-मिथ्यात्व-तिर्यग्द्विक-नीचैर्गोत्रलक्षणानामेकादशप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्य जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तं प्राप्तः, तच्छेषाणां तु समयः । विभङ्गज्ञानमार्गणास्थाने तु सप्तचत्वारिंशद् ध्रुवबन्धिन्यः, सातवेद-

नीय-हास्य-रति-पुंवेदमोहनीय-तिर्यग्द्विक-मनुष्यद्विक-देवद्विक पञ्चेन्द्रियजाति--वैक्रियद्विकौ--दारिकद्विक--प्रथमसंहनन--प्रथमसंस्थान--प्रशस्तविहायोगति--पराघातो-च्छ्वास--त्रसदशक- गोत्रद्विकलक्षणद्वात्रिंशत्प्रकृतयश्चेत्येतासामेकोनाशीतिप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धजघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तम् ,शेषाणामसातवेदनीया-ऽरति शोक-स्त्रीवेद-नपुंसकवेदमोहनीय-नरकद्विक जातिचतुष्क--प्रथमवर्जसंहननपञ्चकप्रथमवर्जसंस्थानपञ्चका-ऽप्रशस्तविहायोगतिनामा-ऽऽतपो-द्योत स्थावरदशकलक्षणानां चतुस्त्रिंशत्प्रकृतीनां तु प्रस्तुतकालः समयमात्र इति ।

अथैकयाऽऽर्यया प्रस्तुतजघन्यस्थितिबन्धजघन्यकालं समापयन्नाह–"**परिहाराईसु**" इत्यादि, तत्र परिहारादिष्वित्यत्राऽऽदिपदात् तेजःपद्मलेश्याक्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणास्थानानि गृह्यन्ते, तत्रैव "जाण कयकरणो" इत्यनेन वक्ष्यमाणविधानस्योपपत्तेः । इत्थं च परिहारविशुद्धिकसंयमादिषु चतुर्षु मार्गणास्थानेषु "**खणो भिन्नमुहुत्तं व**"त्ति एकेन मतेन प्रस्तुतकालोऽन्तर्मुहूर्तम् , अन्यमतेन त्वसौ समय इत्यर्थः । कासां प्रकृतीनामित्याह–"**जाण कयकरणो**" त्ति 'परिहारम्मि सेसाण विसुद्धयमो अपमत्तो अहवभावि कयकरणो ॥ ३१४ ॥' तथा 'तेउ-पउमासु तेसिं परिहारविसुद्धिसयमव्व भवे । जेसिं अडवण्णाए कयकरणो वि हुवए सामी ॥३१५॥' तथा 'तेउव्व वेअगे सिं जाणऽत्थि कयकरणोऽवि' (गाथा-३२३) इत्यत्र गाथात्रये मतविशेषेण "**जाण**" त्ति यासां प्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामी 'कृतकरणः'-भाविकृतकरणः, योऽनन्तरस्थितिबन्धे कृतकरणो भविष्यति तादृशः कृतकरणावस्थाया अर्वाग्भाविचरमस्थितिबन्धे वर्तमान उक्त इत्यर्थः । **इदमुक्तं भवति**–परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणायां भाविकृतकरणस्वामिमते सातवेदनीयादिप्रकृतिषट्कं देवायुश्च विहाय बन्धप्रायोग्याणां मतिज्ञानावरणाद्यष्टपञ्चाशत्प्रकृतीनां प्रस्तुतबन्धकालः सप्तमूलप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धजघन्यकालवदन्तर्मुहूर्तं प्राप्यते, कुतः ? तदानीं दर्शनमोहनीयक्षपणाकाले तत्स्वामिनो यथोत्तरं विशुध्यमानतया प्रत्येकस्थितिबन्धानामान्तर्मुहूर्तिकत्वात् , मरणव्याघातस्याप्यभावाच्च । विशेषतस्तु **मूलप्रकृतिस्थितिबन्धग्रन्थद्वितीयाधिकारैकजीवाश्रयकालद्वारे** प्रस्तुतमार्गणासु मूलसप्तप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धजघन्यकालभावनायां दर्शितनीत्या विभावनीयः । उक्तान्यमतेन तु तासामष्टपञ्चाशतो मतिज्ञानावरणादीना जघन्यस्थितिबन्धजघन्यकालः समयमात्र एव प्राप्यते, तन्मते भाविकृतकरणस्यैवाऽतथाभूतस्य विशुद्धाप्रमत्तमुनेरपि प्रस्तुतप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामितयाऽभिमतत्वादिति । इत्थमेव तेजःपद्मलेश्याक्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायामपि तासामष्टपञ्चाशत्प्रकृतीनां प्रस्तुतकालो मतद्वयेनाऽन्तर्मुहूर्तं समयश्च यथासम्भवं द्रष्टव्य इति ।

"**अंतमुहुत्तमहिमुहो**" त्ति "जाण" इत्यनुवर्तते, ततो यासां प्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामी 'अभिमुखः'-संयमाभिमुख उक्तस्तासां प्रस्तुतकालो मतद्वयेनाऽप्यन्तर्मुहूर्तमेवेत्यर्थः । ताश्च प्रकृतयस्तेजःपद्मलेश्ययोः सञ्ज्वलनवर्जकषायद्वादशक-स्त्यानर्द्धित्रिक-मिथ्यात्व-

लक्षणाः षोडशः, क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां त्वप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरणकषायरूपा अष्टाविति ।

उक्तशेषप्रकृतीनामाह–"**समयोऽपणाण**" त्ति प्रस्तुतमार्गणाचतुष्के उक्तान्यासामायुर्वर्जबन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्य जघन्यकालः समयो भवति, तत्स्वामिनामभिमुख-क्षपकेतरत्वादिति । विशेषतस्तु पूर्ववद्योज्यमिति ।

अथाभिहितशेषमार्गणास्थानेष्वाह–"**इयरासु सव्वेसिं**" ति 'दुइआइणिरये' त्यादिना 'परिहाराईसु' इत्यन्तेनाऽभिहिता या द्वितीयपृथिवीनिरयभेदाद्यष्टषष्टिमार्गणास्तदितरासु निरयगत्योघादिद्व्यभ्यधिकशतमार्गणासु '**सर्वासाम्**'–आयुर्वर्जानां सर्वासां बन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां न त्वायुःसहितानामित्यर्थः, आयुषां पूर्वमुक्तत्वादिति भावः । प्रस्तुतजघन्यस्थितिबन्धजघन्यकाल इति गम्यते, कियान् ? इति चेद्, समयमात्रः, 'समयो' इत्यस्यात्रानुवर्तनादिति । ताश्च **निरयगत्योघाद्या उक्तेतरमार्गणा इमाः**–निरयगत्योघ-प्रथमपृथिवीनिरयभेद-सर्वतिर्यग्गतिभेदा ऽपर्याप्तमनुष्य-देवगत्योघ-भवनपति–व्यन्तरा-ऽनुत्तरदेवभेदपञ्चक-सर्वैकेन्द्रिय-सर्वविकलेन्द्रिया-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-सर्वपृथिविकायादिपञ्चकायसत्कमार्गणास्थाना-ऽपर्याप्तत्रसकाय-सर्वयोगमार्गणास्थान-मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान-कुलेश्यात्रिका-ऽभव्यौ-पशमिकसम्यक्त्व-सासादन-मिथ्यात्वा-ऽसंज्य-ऽनाहारकमार्गणा इति ।

इह मनोयोगादिकतिपययोगमार्गणासु क्षपकाणां प्रस्तुतजघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वेऽपि जघन्यस्थितिबन्धप्रारम्भद्वितीयसमयेऽपि विवक्षितमनोयोगादेर्योगान्तरतया परावृत्तेरविरोधात् मार्गणापरावृत्तिप्रयुक्तः प्रस्तुतकालः समयमात्रो लभ्यते, शेषमार्गणासु तु जघन्यस्थितिबन्धस्य क्षपकश्रेणि-सम्यक्त्वाभिमुखत्वाद्यन्यत्र स्वस्थानादौ जायमानत्वेन मरणव्याघाततः स्वभावतो वा तत्प्रारम्भद्वितीयसमयेऽपि व्युपरमसम्भवादसौ समयमात्रः प्राप्यते, तत्रौपशमिकसम्यक्त्वे मतिज्ञानावरणादीनां जघन्यस्थितिबन्धप्रारम्भद्वितीयसमय एव भवक्षयेण, अन्यत्र तु स्वभावतोऽपीति यथासम्भवं प्रागिव विज्ञेयमिति ॥४१८–४२२॥

उक्तः सर्वमार्गणास्थानेषु बन्धप्रायोग्यसर्वप्रकृतीनां जघन्यस्थितेर्जघन्यो बन्धकालः । एतर्हि तस्या एवोत्कृष्टबन्धकालं प्रतिपादयन्नाह गाथाचतुष्कम्—

तित्थस्स मुहुत्तंतो गुरू णिरय-पढमणिरय-देवेसुं ।
दो समया विण्णेयो सप्पाउग्गाण सेसाणं ॥४२३॥
भिन्नमुहुत्तं तिमणुयसण्णीसु णिरयदुगस्स तह खवगो ।
जेसिं गुणतीसाए तेसिं सेसाण दो समया ॥४२४॥

सव्वेसिं पयडीणं णेयो समया दुवे अपज्जणरे ।
भवणवइ-वंतरेसुं कम्मा-ऽणाहारगेसुं च ॥४२५॥
सव्वाण मुहुत्तंतो समयो व भवे तिमिस्सजोगेसुं ।
सेसासु मुहुत्तंतो सप्पाउग्गाण सव्वेसिं ॥४२६॥

(प्रे०) "**तित्थस्से**"त्यादि, निरयगत्योघ-प्रथमपृथिवीनिरयभेद-देवगत्योघलक्षणेषु त्रिषु मार्गणास्थानेषु तीर्थकरनाम्नः "**मुहुत्तंतो गुरू**" त्ति प्रस्तुतत्वाज्जघन्यस्थितेः 'गुरुः'–उत्कृष्टो बन्धकालो 'मुहूर्तान्तः' अन्तर्मुहूर्तं भवति । "**दो समय**" त्ति 'शेषाणाम्' आयुःप्रकृतिजघन्यस्थितिबन्धकालस्य पूर्वमुक्तत्वात्तीर्थकरनाम्नस्तु तस्यानन्तरमेव प्रतिपादितत्वाच्चाऽऽयुस्तीर्थकरनामवर्जानां निरयगत्योघादौ स्वस्मिन् स्वस्मिन् बन्धप्रायोग्याणां मतिज्ञानावरणादिप्रकृतीनां प्रस्तुतकालस्तु द्वौ समयौ विज्ञेयः । कथम् ? इति चेद्, उच्यते–मार्गणात्रयेऽपि तीर्थकरनाम-मनुष्यतिर्यगायुर्वर्जानां बन्धप्रायोग्यसर्वप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्यासंज्ञिभ्यश्च्युत्वा नारकादितया प्रस्तुतमार्गणासूत्पद्यमानानां विग्रहगतिस्थजीवानां भावात् तेषां चोत्कृष्टतो विग्रहगतौ समयद्वयमेवावस्थानात्, तीर्थकरनाम्नः प्रस्तुतकालोऽन्तर्मुहूर्तमिति तु सुगमम्, जघन्यस्थितिबन्धस्यैकस्थितिबन्धस्थानात्मकतयाऽन्तर्मुहूर्तात्परतोऽवश्यं विच्छेदादिति ।

"**भिन्नमुहुत्त**"मित्यादि, अपर्याप्तवर्जेषु त्रिषु मनुष्यगतिमार्गणास्थानेषु संज्ञिमार्गणास्थाने च "**णिरयदुगस्स**" त्ति नरकद्विकस्य तथा "**खवगो जेसिं गुणतोसाए**" ति यासामेकोनत्रिंशत्प्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामी पूर्वं **स्वामित्वद्वारे** क्षपक उक्त इत्यर्थः । तासां किमित्याह–"**तेसि**" ति तासां नरकद्विकाद्येकत्रिंशत्प्रकृतीनां भिन्नमुहूर्त्तं भवेदिति पूर्वेण योगः, प्रस्तुतोत्कृष्टकाल इति गम्यते । तत्रैकोनत्रिंशत्प्रकृतयः पञ्चविंशतिक्षपकप्रकृति-देवद्विक-वैक्रियद्विकलक्षणाः । प्रस्तुतकालोऽन्तर्मुहूर्तं पुनस्तत्र नरकद्विकस्य तदीयजघन्यस्थितेः स्वस्थानतत्प्रायोग्यविशुद्धस्वामिकत्वात्, एकोनत्रिंशतस्तु तस्याः क्षपकस्वामिकत्वाच्च । "**सेसाण दो समया**" त्ति मार्गणाचतुष्केऽप्युक्तशेषाऽऽयुर्वर्जबन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धकालस्तु द्वौ समयौ भवेत्, असंज्ञिभ्यश्च्युत्वा प्रस्तुतमार्गणाप्रविष्टविग्रहगतिस्थजीवानां शेषप्रकृतिजघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वात् । उक्तं च प्राक् **स्वामित्वद्वारे**–'तिमणुस-सण्णीसु विग्गहगईअ ठ ठिओ असण्णिओ विसुद्धयमो । सेसधुवबंधिणीण तथा थिराइइगवीसाए ॥ २७६ ॥ तप्पाउग्गविसुद्धो सो चेव हवेज्ज सेसपयडीण ।' इत्यादि ।

"**सव्वेसि**"मित्यादि, अपर्याप्तनर–भवनपति–व्यन्तर–कार्मणा–ऽनाहारकलक्षणेषु पञ्चमार्गणास्थानेषु "सव्वेसि" ति आयुःप्रस्तुतकालस्याऽभिहितत्वादायुर्वर्जानां सर्वासां बन्धप्रायोग्यमतिज्ञानावरणादिप्रकृतीनां प्रस्तुतो जघन्यस्थितिबन्धोत्कृष्टकालो द्वौ समयौ ज्ञेयः,

सर्वासामेतासां जघन्यस्थितिबन्धस्य पूर्ववद्विग्रहगतिस्थबादरजीवस्वामिकत्वादिति । "**सव्वाणे**" त्यादि, औदारिकमिश्र-वैक्रियमिश्रा-ऽऽहारकमिश्रयोगरूपेषु त्रिषु मिश्रयोगमार्गणास्थानेषु बन्धप्रायोग्याऽऽयुर्वर्जसर्वप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्योत्कृष्टो बन्धकालः "**मुहुत्तंतो समयो व भवे**" त्ति **मूलप्रकृतिस्थितिबन्धविधानग्रन्थद्वितीयाधिकारे**—'तिरियव्व उरलमीसे-ऽणतरकाले शरीरपज्जत्तिं । यो णिट्ठवेउ सो वा णेओ तिसु मीसजोगेसु ॥१२६॥' इत्यादिनाऽभिहितस्वामित्वविषयकमतद्वयेन यथासम्भवं मुहूर्तान्तः समयो वा भवेत् , तत्र शरीरपर्याप्तिनिष्ठापनार्वाक्समय एव जघन्यमुत्कृष्टं वा स्थितिबन्धमङ्गीकर्तु र्मतेनैकसमयः, तदन्यमतेन तु मुहूर्तान्त इति ।

उक्तशेषमार्गणास्वाह-"**सेसासु**" इत्यादि, अनन्तरं सार्धगाथात्रये 'णिरय-पढमणिरय-देवेसु'मित्यादिना पृथक् पृथगुक्त्वा निरयगत्योघादिपञ्चदशमार्गणा अपहाय शेषासु द्वितीयपृथिवीनिरयभेदादिपञ्चपञ्चाशदुत्तरशतमार्गणासु "**मुहुत्तंतो सप्पाउग्गाण सव्वेसिं**" ति आयुर्वर्जानां सर्वासां बन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां जघन्यस्थितेरुत्कृष्टो बन्धकालो 'मुहूर्तान्तः' अन्तर्मुहूर्तं भवतीत्यर्थः ॥४२३-४२६॥

तदेवं प्रतिपादित आयुर्वर्जशेषबन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्योत्कृष्टकालोऽपि सर्वमार्गणास्थानेषु । सम्प्रति तेषामेवाऽऽयुर्वर्जानामजघन्यस्थितिबन्धस्य जघन्यकालं विभणिषुर्लाघवार्थमादौ यासां बहुनां प्रकृतीनां बहुषु मार्गणास्थानेष्वसौ समयमात्रस्तासामुत्तरत्रावक्ष्यमाणत्वेनैवासौ समयमात्रोऽवगन्तव्य इत्येतत्कथयन्नाह—

सव्वासु मग्गणासुं अवक्खमाणाण आउवज्जाणं ।
अजहण्णाअ ठिईए हस्सो समयो मुणेयव्वो ॥४२७॥

(प्रे०) "**सव्वासु**" इत्यादि, निरयगत्योघादिषु सर्वासु मार्गणासूत्तरत्र 'अवक्ष्यमाणानाम्' अवक्ष्यमाणप्रस्तुताजघन्यस्थितिबन्धजघन्यकालानामित्यर्थः "**आउवज्जाणं**" ति आयुषोऽजघन्यस्थितिबन्धद्विविधकालस्य पूर्वमुक्तत्वादायुर्वर्जानां शेषप्रकृतीनामित्यर्थः । तासां किमित्याह-"**अजहण्णाअ**" इत्यादि, तासामजघन्यायाः स्थितेः '**ह्रस्वः**' जघन्यः समयो ज्ञातव्यः, बन्धकाल इति प्रक्रमाद् गम्यते । **अयम्भावः**-बाहुल्येन मार्गणास्थानेषु बहूनां प्रकृतीनामजघन्यस्थितिबन्धस्य जघन्यकालः समयमात्रः प्राप्यते, यासां चासौ समयमात्रः प्राप्यते तासामसौ न वक्ष्यते, अवक्ष्यमाणत्वाच्च नासौ न भवति, यथाकथञ्चिद्वा भवतीति ज्ञेयम् , किन्तु तासामसौ समयमात्र एव ज्ञातव्य इति ॥४२७॥

इत्थमवक्ष्यमाणबन्धप्रायोग्याऽऽयुर्वर्जप्रकृतीनामजघन्यस्थितिबन्धजघन्यकालं समयमात्रं ज्ञापयित्वा साम्प्रतं तच्छेषाणां तं प्रतिपिपादयिषुर्निरयोघादिमार्गणाक्रमेण पूर्ववदाह—

णिरय-पढमणिरयेसुं गुणचत्ताअ धुवबंधिणीण तहा ।
उरलाईण णवण्हं लहुकायठिई दुसमयूणा ॥४२८॥
मिच्छस्स मुहुत्तंतो तस्सेमेव दुइआइणिरयेसुं ।
बावीसजोइसाइगसुरेसु पज्जणर-मणुसीसुं ॥४२९॥
भिन्नमुहुत्तं सत्तमणिरये धुवबंधिसत्तचत्ताए ।
उरलाईण णवण्हं तह तिरिणरगोअजुगलाणं ॥४३०॥
दुखणूणो खुड्डभवो सगयालीसधुवबंधि-उरलाणं ।
होइ अपज्जत्तणरे मिच्छत्तस्स हवए मणुए ॥४३१॥
सुर-भवणदुगेसुं गुणचत्तधुव-पणपरघाइ-उरलाणं ।
दुसमयहीणलहुठिई मिच्छस्स भवे मुहुत्तंतो ॥४३२॥

(प्रे०) "**णिरयपढमे**"त्यादि, निरयगत्योघ-प्रथमपृथिवीनिरयमार्गणास्थानयोः प्रत्येकं "**गुणचत्ताअ धुवबंधिणीण**" त्ति व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेः स्त्यानर्द्धित्रिका-ऽनन्तानुबन्धि-चतुष्क-मिथ्यात्वलक्षणं मिथ्यात्वगुणस्थाने एव बन्धप्रायोग्यं प्रकृत्यष्टकं विहाय शेषाणामेकोन-चत्वारिंशतो मतिज्ञानावरणादिध्रुवबन्धिनीनां तथा "**उरलाईण णवण्हं**" ति पूर्वं प्रस्तुतकाल-द्वारप्रारम्भे 'उरल च ॥२४०॥ उरलोवग-पणिंदिय-तस-परघू-सास-बायरतिगाणि ।' इत्येतावता संग्रह-गाथांशेन संगृहीतानामौदारिकद्विक-पञ्चेन्द्रियजाति-त्रस-पराघातो-च्छ्वास-बादरत्रिकलक्षणानामौ-दारिकशरीरनामादीनां नवानां प्रकृतीनामजघन्यस्थितिबन्धजघन्यकालः "**लहुकायठिई दुस-मयूणा**" त्ति पूर्वं मूलप्रकृतिस्थितिबन्धविधानद्वितीयाधिकारकालद्वारेऽभिहिता एकजीवाश्रया प्रस्तुततत्तन्निरयगत्योघादिमार्गणासत्का दशसहस्रवर्षमाना 'लघुः'-जघन्या कायस्थितिर्द्विसमयोना, द्विसमयन्यूनजघन्यकायस्थितिः प्रस्तुतकालो ज्ञातव्य इत्यर्थः । कथम् ? उच्यते, एतासां मतिज्ञाना-वरणाद्यष्टचत्वारिंशत्प्रकृतीनां मिथ्यात्वगुणस्थान इव सासादन-मिश्र-सम्यग्दृष्टिगुणस्थानत्रयेऽपि निरन्तरं बध्यमानतया तासां प्रकृतिबन्धकालस्य जघन्यतः प्रस्तुतमार्गणाद्वये दशवर्षसहस्रप्रमाणत्वात् , आद्यसमययोरेव जघन्यस्थितिबन्धस्य सम्भवाच्च द्विसमयोनदशसहस्रवर्षाणि प्रस्तुतकालतया लभ्यते।

इदमुक्तं भवति–निरयगत्योघे जीवानां सम्यग्दृष्टिगुणस्थानकान्तानि मिथ्यात्वादीनि चत्वार्येव गुणस्थानानि सम्भवन्ति, तेषु च प्रत्येकमासां स्त्यानर्द्धित्रिकाद्यष्टप्रकृतिवर्जानां ध्रुवबन्धि-नीनामौदारिकशरीरादिनवप्रकृतीनां च बन्धो नैरन्तर्येण प्राप्यते, इत्थं च तासां प्रकृतिबन्धकालो मार्गणाद्वयेऽपि जघन्यतो दशवर्षसहस्रप्रमाणः पूर्वं प्रकृतिबन्धेऽभिहितः, जघन्यस्थितिबन्धश्चासां

विग्रहगतौ वर्तमानानामसंज्ञित आगतानां जीवानां मार्गणाप्रथमसमयद्वये एव सम्भवति, नान्यदाऽन्येषां वा, तेषामेव तत्स्वामित्वात् , एवं हि जघन्यस्थितिकनिरयभवतृतीयसमयप्रभृतेस्तद्भवचरमसमयपर्यंतं जघन्यस्थितिबन्धाभावे आसामजघन्यस्थितिबन्धो जायत एव, उपशान्तमोहादिगुणस्थानकाद्धां विहायाऽन्यदा प्रकृतिबन्धभावे जघन्याद्यन्यतमस्थितिबन्धस्य नियमतो भावात् । इत्थं प्रस्तुतमार्गणाद्वये मतिज्ञानावरणाद्यष्टचत्वारिंशत्प्रकृतीनामजघन्यस्थितिबन्धस्य जघन्यकालो द्विसमयोनमार्गणाजघन्यकायस्थितिरवाप्यत इति तथैवाऽभिहित इति ।

'**मिच्छस्स मुहुत्ततो**'' त्ति प्रस्तुतमार्गणाद्वये मिथ्यात्वमोहनीयलक्षणैकप्रकृतेरजघन्यस्थितिबन्धजघन्यकालो मुहूर्तान्तो भवति, प्रकृतिबन्धकालस्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात् , तावत्कालमजघन्यस्थितिबन्धस्यैव निराबाधतया प्रवर्तनाच्च । जघन्यस्थितिबन्धस्याऽसंज्ञित्वपश्चात्कृतस्वामिकतया तज्जन्यबाधाया अभावादिति भावः । उक्तमतिज्ञानावरणाद्या अष्टचत्वारिंशत् मिथ्यात्वं चेत्येवमेकोनपञ्चाशत्प्रकृतीर्मुक्त्वा शेषाणामायुर्वर्जबन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां तु प्रस्तुतबन्धकालः समयमात्रः । कथं ज्ञायते ? इति चेद् , तासां प्रस्तुतकालस्याऽनुक्तत्वेनाऽवक्ष्यमाणत्वेन च 'सव्वासु मग्गणासु अवक्खमाणाण आउवज्जाण । अजहण्णाअ ठिईए इसो समयो मुणेयव्वो ॥८२७॥' इति पूर्वोक्तवचनादिति । एवमुत्तरत्राऽपि विज्ञेयम् । कथं समयः ? इति चेद् ? स्वप्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धप्रायोग्यत्वेन परावर्तमानबन्धानामासां शेषाणां प्रकृतिबन्धकालस्यैव जघन्यतः समयमात्रत्वात् , प्रकृतिबन्धकालस्य समयमात्रत्वे तु तासामजघन्यस्थितिबन्धजघन्यकालः समयमात्रः सूपपन्न इति ।

अथ क्रमप्राप्तद्वितीयपृथिवीनिरयभेदादिमार्गणास्थानेषु प्रस्तुतकालमभिधित्सुस्तुल्यवक्तव्योपेता अन्यमार्गणा अपि सममेव संगृह्याह–''**तस्सेमेवे**''त्यादि, तत्र 'तस्य' इत्यनेन प्रत्यासत्त्या मिथ्यात्वमेव परामृश्यते, तथा च मिथ्यात्वस्य ''**एमेव**'' त्ति एवमेव, अन्तर्मुहूर्तमेवेति भावः, प्रस्तुतकाल इति गम्यते । केषु मार्गणास्थानेष्वित्याह–''**दुइआइ**'' इत्यादि, सप्तमपृथिवीनिरयमार्गणास्थाने 'भिन्नमुहुत्त सत्तमणिरये' इत्यादिना प्रस्तुतकालस्यानन्तरं वक्ष्यमाणतया सप्तमभूमिनरकभेदं विहाय द्वितीयादिषु षष्ठपृथिव्यन्तेषु पञ्चमार्गणास्थानेषु तथा द्वात्रिंशतो ज्योतिष्कादिषु नवमग्रैवेयकान्तेषु सुरगतिमार्गणास्थानेषु पर्याप्तमनुष्य-मानुषीमार्गणास्थानयोश्चेत्यर्थः । कुतः ? प्रत्येकं सम्यक्त्वाभिमुखानामसंज्ञित्वपश्चात्कृतानां वा यथासम्भव मिथ्यात्वजघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वात् , तदीयप्रकृतिबन्धकालस्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तत्वाच्च ।

प्रस्तुतद्वितीयपृथिवीनिरयभेदाद्येकोनत्रिंशन्मार्गणास्थानेषूक्तशेषाणामायुर्वर्जप्रकृतीनामजघन्यस्थितिबन्धजघन्यकालस्तु 'अवक्खमाणाण आउवज्जाण' (गाथा–८२७) इत्यादिवचनात्समयमात्रो भवति । स च प्रागुक्तनीत्या कासाञ्चित्स्वप्रतिपक्षप्रकृतिसहितबन्धप्रायोग्याणां सातवेदनीयादिपरावर्तमानप्रकृतीनां प्रकृतिबन्धकालस्यैव जघन्यतः समयमात्रत्वात् , कासाञ्चित्पुनः स्वप्रतिपक्षप्रकृतिरहितबन्ध-

प्रायोग्याणामौदारिकशरीरादीनामध्रुवबन्धिप्रकृतीनां मतिज्ञानावरणादिध्रुवबन्धिनीनाञ्च प्रकृतिबन्ध-जघन्यकालस्य समयमात्रत्वाभावेऽपि तदीयजघन्यस्थितिबन्धस्य मिथ्यात्वाद्यभिमुखावस्थाया अन्यत्र स्वस्थानविशुद्धौ वर्तमानानां जायमानत्वेन जघन्यस्थितिबन्धादनु समयमेकमजघन्यस्थितिबन्धे जातेऽनन्तरसमये तत्स्वामिनो मार्गणान्तरगमनात् साधनीयः ।

तथाहि–द्वितीयभूमनरकभेदादौ ज्योतिष्कदेवभेदादौ च मिथ्यात्वं स्त्यानर्द्धित्रिकमनन्तानुबन्धिचतुष्कं च विहाय मतिज्ञानावरणादिध्रुवबन्धिनीनां तथा स्वप्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धप्रायोग्यत्वाभावेनाऽपरावर्तमानबन्धानामौदारिकशरीराद्यध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतिबन्धकालो जघन्यतो न समयमात्रस्तथाऽपि तासां जघन्यस्थितिबन्धस्य 'सम्मत्ती सेसणिरय-गेविज्जतअमरेसु सुविसुद्धो । धुव-जिण-उच्चाईण छअसायाईण तदरिहविसुद्धो ॥२७१॥' इत्यादिस्वामित्वद्वारवचनात् सम्यक्त्वाद्यभिमुखावस्थाया अन्यत्रवर्तमानस्वस्थानविशुद्धसम्यग्दृष्ट्यादिजीवस्वामिकतया भवद्विचरमसमये जघन्यस्थितिबन्धं समाप्य भवचरमसमयेऽजघन्यस्थितिबन्धं प्रारभ्य च भवक्षयेण मार्गणान्तरं गच्छन्तं द्वितीयभूमिनैरयिकादिजीवमपेक्ष्य तासां मिथ्यात्वाद्यष्टप्रकृतिवर्जानां मतिज्ञानावरणादिध्रुवबन्धिनीनामौदारिकशरीरादीनां नवानामपरावर्तमानप्रकृतीनां चाऽजघन्यस्थितिबन्धकालो जघन्यतः समयमात्रः समवाप्यते । मिथ्यात्वस्य त्वसावन्तर्मुहूर्तमुक्त एव । शेषस्त्यानर्द्धित्रिकादीनां सप्तध्रुवबन्धिप्रकृतीनामौदारिकशरीरादिनवप्रकृतिवर्जानां सातवेदनीयादिपरावर्तमानप्रकृतीनां प्रकृतिबन्धकालस्यैव समयमात्रत्वात् प्रस्तुतकालः समयमात्रः सम्पद्यते । यद्यपि सातवेदनीयादिपरावर्तमानप्रकृतीनां प्रस्तुतकालो मतिज्ञानावरणादीनां प्रस्तुतकालवद् भवचरमसमये तासामजन्यस्थितिबन्धं प्रारभमाणं जीवमपेक्ष्यान्यथाऽप्युपपद्यत एव तथाऽप्यन्येषां स्त्यानर्द्धित्रिकादीनां सप्तानां तथाऽनुपपद्यमानोऽसौ अव्यभिचारिणा समयमात्रप्रकृतिबन्धकालेनैव साधितो ज्ञेयः, न पुनः प्रकारान्तराऽसम्भवाभिधानाय । स्त्यानर्द्धित्रिकादीनां सप्तप्रकृतीनां समयमात्रः प्रकृतिबन्धकालस्त्वौपशमिकसम्यक्त्वावस्थायामबन्धं प्राप्तानां तासां सासादनगुणस्थाने समयमेकं बन्धे प्रवृत्ते तत्स्वामिनो मार्गणान्तरगमनाद्विज्ञेयः । पर्याप्तमनुष्य-मानुषीमार्गणयोरपि मिथ्यात्ववर्जानां सर्वासामपि प्रकृतिबन्धकालस्य समयमात्रत्वात्तदपेक्षयैवासौ साधनीयः । प्रकृतिबन्धकालस्तु समयमात्रः परावर्तमानानां परावर्तमानत्वादेव, ध्रुवबन्धिनीनां तु कासाञ्चित्स्त्यानगृद्धित्रिका-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्का-ऽप्रत्याख्यानावरणचतुष्कादीनां सप्तमगुणस्थानादितः प्रतिपत्य पूर्ववत्समयमात्र सासादनगुणस्थानेऽवस्थाय कालं कुर्वतो जीवस्यापेक्षया, तदन्यासां तु श्रेणावुपशान्ताद्धाक्षयेण प्रतिपत्य तत्तन्मतिज्ञानावरणादिप्रकृतीनां बन्धप्रारम्भद्वितीयसमये भवक्षयेण मार्गणान्तरं गच्छतो जीवस्यापेक्षया च विज्ञातव्य इति ।

"**भिन्नमुहुत्तं सत्तमणिरये**" त्यादि, शेषे सप्तमपृथिवीनिरयमार्गणास्थाने 'भिन्नमुहू-

र्तम्'–अन्तर्मुहूर्तं भवति, अजघन्यस्थितिबन्धजघन्यकाल इति गम्यते । कासां प्रकृतीनामित्याह– "धुवबंधि" इत्यादि, मतिज्ञानावरणादिसप्तचत्वारिंशद् ध्रुवबन्धिन्यः 'उरलं च ॥३४९॥' इत्यादिना संगृहीता औदारिकद्विक-पञ्चेन्द्रियजाति-त्रस-पराघातो च्छ्वास-बादरत्रिकलक्षणा औदारिकशरीरादिनवप्रकृतयस्तथा "तिरिणरगोअजुगलाणं" ति तत्र युगलशब्दस्य प्रत्येकं योजनात्तिर्यग्द्विक मनुष्यद्विक-गोत्रद्विकलक्षणाः षट् प्रकृतय इत्यर्थः । इत्येतासां समुदितानां द्विषष्टिप्रकृतीनाम् । कथं सर्वध्रुवबन्ध्यादीनामपि प्रस्तुतकालोऽन्तर्मुहूर्तम् , न पुनर्द्वितीयपृथिवीनिरयभेदादिवन्मतिज्ञानावरणादीनां समयः ? इति चेद् , उच्यते, द्वितीयपृथिवीनिरयभेदादावनन्तरोक्तनीत्या मतिज्ञानावरणादीनां प्रस्तुतजघन्यबन्धकालस्तासां जघन्यस्थितिबन्धादबन्धाद्वा उत्तीर्य भवचरमसमये तासां जघन्यस्थितिबन्धं प्रारभमाणं जीवमपेक्ष्य लभ्यते, न चैवं सप्तमभूमिनिरयमार्गणायां सम्भवति, तत्रत्यजीवानां मिथ्यात्वसहितानामेव गत्यन्तरगमनेन भवचरमान्तर्मुहूर्ते नियमतो मिथ्यादृष्टीनां तेषां सम्यग्दृष्टिस्वामिकस्य सम्यक्त्वाभिमुखस्वामिकस्य वा मतिज्ञानावरणादीनां जघन्यस्थितिबन्धस्यैव भवचरमान्तर्मुहूर्तेऽप्रवर्तनेन तदानीं भवचरमसमयं यावत्तेषामजघन्यस्थितिबन्धस्यैव प्रवर्तनात् । उक्तशेषाणां वेदनीयद्विक-हास्य-रति-शोका-ऽरति-वेदत्रिक-संहननषट्क-संस्थानषट्क-विहायोगतिद्विको-द्योत-स्थिरषट्का-ऽस्थिरषट्कलक्षणानां षट्त्रिंशत्प्रकृतीनां पूर्ववत्समयमात्रः प्रस्तुतकालः, स च सर्वासां प्रकृतिबन्धकालस्य तथात्वात् तावान् विज्ञेय इति ।

"दुखणूणो" इत्यादि, अपर्याप्तमनुष्यमार्गणास्थाने सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिनीनां तथौदारिकशरीरनाम्नोऽजघन्यस्थितिबन्धजघन्यकालः "दुखणूणो" त्ति द्विसमयेनोनः षट्पञ्चाशदभ्यधिकशतद्वयावलिकालक्षणक्षुल्लकभवो भवेत् । कथम् ? उच्यते, ध्रुवमिथ्यात्वोदयानामपर्याप्तमनुष्याणां सर्वासां ध्रुवबन्धिनीनामबन्धस्याऽप्राप्तेरौदारिकदेहस्य तु स्वप्रतिपक्षप्रकृतेर्बन्धाभावेन यावज्जीवं नैरन्तर्येण बध्यमानत्वाच्च प्रकृतिबन्धकाल एव क्षुल्लकभवप्रमाणः, तत्र च भवप्रथमसमयद्वये विग्रहगतावसंज्ञिप्रायोग्यं बध्नतां जघन्यस्थितिबन्धस्य सम्भवेन द्विसमयोनाऽपर्याप्तमनुष्यजघन्यभवस्थितिप्रमाण एव लभ्यते प्रस्तुतकाल इति तथैवाभिहितः । शेषाणां तु सर्वासां बन्धप्रायोग्याणां परावृत्त्य बध्यमानतया प्रकृतिबन्धकालस्यैव समयमात्रत्वात्प्राग्वद्विज्ञेयः ।

"मिच्छत्तस्स हवए मणुए" त्ति मनुष्यगत्योघमार्गणास्थाने मिथ्यात्वस्य, प्रस्तुतकालो द्विसमयोनक्षुल्लकभव इत्यनुवृत्त्या विज्ञेयम् , अयमप्यनन्तरोक्तनीत्या द्विसमयोनाऽपर्याप्तमनुष्यजघन्यभवस्थित्यपेक्षयैव । अत्र शेषध्रुवबन्धिनीनामौदारिकदेहस्य चाग्रहणात्तासामपि प्रस्तुतकालः समयमात्रोऽवगन्तव्यः, स तु पर्याप्तमनुष्यमार्गणावत्साध्य इति ।

"सुरभवणे"त्यादि, देवगत्योघ–भवनपति–व्यन्तरलक्षणेषु त्रिषु देवगतिमार्गणास्थानेषु स्त्यानर्द्धित्रिका-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्क–मिथ्यात्वलक्षणप्रकृत्यष्टकं विहाय शेषाणां मतिज्ञाना-

वरणादीनामेकोनचत्वारिंशतो ध्रुवबन्धिनीनां तथा 'परघू-सास-बायरतिगाणि' (गाथा-६४१) इत्यनेन पूर्वं संगृहीतानां पराघातादिपञ्चप्रकृतीनामौदारिकशरीरनाम्नश्च प्रत्येकमजघन्यस्थितिबन्धजघन्यकालः "**दुसमयहीणलहुठिई**" त्ति द्विसमयहीना देवगत्योघादितत्तन्मार्गणाया जघन्या दशवर्षसहस्रमाना कायस्थितिर्भवस्थितिर्वा भवति, द्वयोस्तुल्यत्वात् । अयं तु प्रथमपृथिवीनिरयमार्गणास्थाने भावितस्य मतिज्ञानावरणादिध्रुवबन्धिप्रकृतीनां द्विसमयोनजघन्यकायस्थितिप्रमाणकालस्येव भावनीयः, अत्रापि मार्गणाशमसंज्ञिनामागतेर्भवप्रथमसमयद्वये एव जघन्यस्थितिबन्धसम्भवेन तत्समयद्वयवर्जशेषजघन्यकायस्थितिं यावदासामजघन्यस्थितिबन्धस्यैव प्रवर्तनात् । औदारिकाङ्गोपाङ्ग पञ्चेन्द्रिय त्रसनाम्नामत्र वर्जनं तु स्थावरप्रायोग्यैकेन्द्रियादिप्रकृतीनामप्यत्र बन्धप्रायोग्यतया ताभिः समं परावृत्य बध्यमानानामौदारिकाङ्गोपाङ्गादीनां प्रकृतिबन्धकालस्यैव समयमात्रत्वादिति । "**मिच्छस्स भवे मुहुत्तंतो**" त्ति मिथ्यात्वस्य प्रस्तुतकालस्त्वन्तमुर्हूर्तम् । अयमपि सर्वथा निरयगत्योघादिमार्गणावद्विज्ञेय इति । उक्तशेषायुर्वर्जानां समयस्तु प्राग्वदिति ।

तदेवमभिहितो गतिमार्गणाभेदप्रभेदलक्षणेषु नरकगत्योघादिमार्गणास्थानेषु प्रस्तुतः कालः, तत्रावशिष्टानि पञ्च तिर्यग्गतिमार्गणास्थानानि पञ्चाऽनुत्तरदेवमार्गणास्थानानि च, न च तत्र वक्ष्यते प्रस्तुतकालः, अनन्तरम् 'दुपणिंदि' इत्यादिना इन्द्रियमार्गणास्थानादौ तस्य वक्ष्यमाणत्वात्, तथाच 'अवक्खमाणाणे' त्यादिपूर्वोक्त-(गाथा-४२७)-वचनात्तेषु तिर्यग्गत्योघादिदशमार्गणास्थानेषु बन्धप्रायोग्याणामायुर्वर्जानां सर्वासां मतिज्ञानावरणादिप्रकृतीनामजघन्यस्थितेरेकजीवाश्रयो जघन्यो बन्धकालः समयमात्रोऽवगन्तव्यः, स च प्रागिव यथासम्भवं प्रकृतिबन्धकालादीनां समयमात्रत्वादिना साधनीय इति ॥४२८-४३२॥

अथ पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणयोः प्रस्तुस्तकालं व्याचिकीर्षुस्तत्तुल्य-तुल्यप्रायवक्तव्योपेतमार्गणान्तराण्यपि सममेव संगृह्य प्राह—

> दुपणिंदितसेसु णयण-सण्णीसु जहण्णसासणठिईए ।
> जावइआए ठाऊं जायइ एगिंदियम्मि तावइओ ॥४३३॥ (गीतिः)
> थीणद्धितिगा-ऽणाणं तिअसुहलेसासु होइ सयमुज्झो ।
> सेसधुवबंधिणीणं जिणस्स य णवसु मुहुत्तंतो ॥४३४॥

(प्रे०) "**दुपणिंदितसेसु**" इत्यादि, व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेरपर्याप्तभेदवर्जयोरोघपर्याप्तभेदभिन्नयोः पञ्चेन्द्रियभेदयोर्द्वयोश्च त्रसकायभेदयोस्तथा चक्षुर्दर्शनमार्गणायां संज्ञिमार्गणायामित्येवं षण्मार्गणासु प्रत्येकम्, "**थीणद्धितिगा-ऽणाणं**" ति स्त्यानर्द्धित्रिका-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्कलक्षणसप्तध्रुवबन्धिप्रकृतीनां प्रस्तुतोऽजघन्यस्थितेर्जघन्य एकजीवाश्रयो बन्धकालः "**जह-**

ण्णसासणठिईए" इत्यादि, जघन्यतो यावतीं स्थितिं=अवस्थितिं सासादनित्वेन स्थित्वा "**एगिंदियम्मि**" त्ति एकेन्द्रियेऽर्थतस्तु मार्गणान्तरे एकेन्द्रियत्वादिनोत्पद्यते तत्स्वामी तावान् कालो भवति, **अयम्भावः**–प्रस्तुतमार्गणास्थस्योपरितनगुणस्थानवर्तिनः सासादनात्राप्तावेव प्रस्तुतस्त्यानर्द्धित्रिकादिप्रकृतिबन्धः प्रारभ्यते, स च तावत्प्रवर्तते यावत्तत्स्वामी पुनरुपरितने गुणस्थाने मार्गणान्तरे वा न गच्छति, उपरितनं गुणस्थानं तु तत्स्वामिना जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तादर्वाग् नावाप्यते। कथम्? अन्तर्मुहूर्तं मिथ्यादृष्टित्वेनाऽवस्थितेरूर्ध्वमेवोपरितनगुणस्थानाऽवाप्तेः सम्भवात्, मार्गणान्तरे तु ततः प्रागपि गन्तुं पार्यते, सत्यपि सासादनित्वे मरणस्याविरुद्धत्वात्, अतस्तथाविधजीवस्यैकेन्द्रियत्वादिनोत्पत्तेः प्राक् सासादनित्वेन प्रस्तुतमार्गणायां यावत् जघन्यमवस्थानं भवेत् तावान् प्रस्तुतकालो भणितः, न चासौ समयमात्र एव वाच्यः, एवंरूपेण स्फुटमगम्यमानत्वादेव 'जहण्णसासणठिईए'' इत्यादि प्रपञ्चाभिधानं कृतम्, तथाच नात्र स्फुटाभिधानाऽग्रहो विधेय इत्यलम्।

अथाऽनन्तरोक्तनीत्याऽन्यत्राऽपि एतत्प्रकृतिसप्तकप्रस्तुतकालस्य स्फुटमज्ञायमानतयाऽस्फुटमेवाह–"**तिअसुहलेसासु होइ समयमुज्झो**" इति 'थीणद्धितिगाणाण' इत्यनुवर्तते, तथा च कृष्ण-नील-कापोतलेश्यासु तासां स्त्यानर्द्धित्रिकादीनां सप्तानां प्रस्तुतकालः प्रस्तुतमार्गणायां सासादनिनां पूर्वगुणस्थानानुवृत्ततत्तल्लेश्याया यावद् जघन्यमवस्थानं भवेत्तावानवसेय इत्यर्थः।

"**सेसधुवबंधिणीणं**" इत्यादि, मार्गणानवकेऽपि शेषचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिनीनां जिननाम्नश्च प्रस्तुतकालस्तु अन्तर्मुहूर्तमेव भवति, सुगमम्, मिथ्यादृष्टित्वेन सम्यग्दृष्टित्वेन वा जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमवस्थानात् तत्रैतच्छेपप्रकृतिबन्धस्वामिनामेतच्छेपप्रकृतिबन्धस्यावश्यं प्रवर्तनाच्चेति।

अथ प्रस्तुतनवमार्गणासु भणितशेषजिनवर्जाऽध्रुवबन्धिनीनां प्रस्तुतकालस्तु नोच्यते, तथा च "भवक्खमाणाण" (गाथा-४२७) इत्यादिपूर्वोक्तवचनात्समयमात्रोऽवगन्तव्यस्तासां प्रकृतिबन्धकालानुसारेणोह्यश्चेति।

अथेन्द्रिय-कायमूलोत्तरमार्गणाभेदमध्यात्पञ्चेन्द्रिय त्रसौघ तत्पर्याप्तभेदलक्षणेषु चतुर्षु मार्गणास्थानेषु तदन्यत्र च प्रस्तुतकालो भणितः, इन्द्रिय-कायमार्गणासम्बन्धिषु शेषमार्गणास्थानेषु त्वसौ नैवोक्तो न वा भणिष्यते, तथा च 'अवक्खमाणाणे' त्यादि (गाथा ४२७) पूर्वोक्तवचनात्तेषु एकेन्द्रियौघादिषु पृथिवीकायौघादिषु च सर्वसंख्यया सप्तपञ्चाशन्मार्गणास्थानेष्वसौ आयुर्वर्जबन्धप्रायोग्यसर्वप्रकृतीनां समयमात्रो विज्ञेयः, स च प्रागिव समयमात्रप्रकृतिबन्धजघन्यकालादिना संसाधनीय इति ॥४३३-४३४॥

गता इन्द्रिय-कायमार्गणास्थानेष्वपि प्रस्तुतवक्तव्यता। एतर्हि क्रमप्राप्तयोगमार्गणास्थानेषु तां कुर्वन्नाह—

ओरालमीसजोगे भिन्नमुहुत्तं व होइ पयडीणं ।
धुवबंधि-जिणु-रलाणं तहा चउण्हं सुराईणं ॥४३५॥
वा होइ विउवमीसे धुवु-रल-पंचपरघाइ-तित्थाणं ।
वा-ऽऽहारगमीसे जिणबारससायाइवज्जाणं ॥४३६॥

(प्रे०) "**ओरालमीसे**" त्यादि, औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणास्थाने सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिनीनां जिननाम्न औदारिकशरीरनाम्नस्तथा चतसृणां 'सुरादीनां' देवद्विकवैक्रियद्विकलक्षणप्रकृतीनां "**भिन्नमुहुत्तं व होइ**" त्ति प्रस्तुतत्वादजघन्यस्थितिबन्धजघन्यकालो "भिन्नमुहूर्तं" त्ति **मूलप्रकृतिस्थितिबन्धविधानग्रन्थे** 'अणंतरकाले सरीरपज्जत्ति जो णिट्ठवेउ सो वा णेयो तिसु मीसजोगेसु' (गाथा-१२६) इत्यनेन दर्शितमतविशेषेणाऽन्तर्मुहूर्तमात्रो भवतीति सामान्यतोऽवगन्तव्यः, विशेषतस्त्वौदारिकमिश्रकाययोगे सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्ध्यौदारिकशरीरनाम्नां त्रिसमयन्यूनक्षुल्लकभवमानोऽवगन्तव्य इति । अयमेव मतान्तरेणाभिधित्सुराह–"**वा होइ**" त्ति वाशब्दो मतान्तरे, न च मतान्तरेण प्रस्तुतकालमानमुक्तम्, न वा वक्ष्यते, तथा च 'अवक्खमाणाण' इत्यादि-(गाथा-४२७)-पूर्वोक्तवचनादुक्तान्यमतेन त्वसौ समयमात्रो भवति । एवमेव "**वा होइ विउवमीसे**" इत्यादिनाऽपि वैक्रियमिश्रकाययोगे सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिनीनां तथा 'परघू-सास-बायरतिगाणि' (गाथा-३४१) इत्यनेन संगृहीतां पञ्चानां परघातादिप्रकृतीनां तीर्थकरनाम्नश्च प्रस्तुतकालस्तेन तेन मतेनौदारिकमिश्रकाययोगमार्गणावदन्तर्मुहूर्तं समयश्च विज्ञेयः । आहारकमिश्रकाययोगमार्गणाया तु बन्धप्रायोग्यप्रकृतिभ्यो देवाऽऽयुषः पूर्वमुक्तत्वात् तत् 'साय रइ-थिरदुग--जस-असाय-अजसा य । अरइअथिरदुग' (गाथा-३४२) इत्यनेन पूर्वं संगृहीताः साता-ऽसातवेदनीय-हास्य रति-शोका-ऽरति स्थिर शुभा ऽस्थिरा-ऽशुभ--यशःकीर्त्य-ऽयशःकीर्तिनामलक्षणा द्वादशप्रकृतीर्जिननाम च वर्जयित्वा शेषाणा मतिज्ञानावरणादीनामेकोनपञ्चाशत्प्रकृतीना तत्तन्मतापेक्षयाऽन्तर्मुहूर्तं समयश्चावसेय इति । एतेषु त्रिष्वपि मार्गणास्थानेषूक्तध्रुवबन्ध्यादीनां प्रकृतिबन्धकालस्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तत्वात् मार्गणाचरमसमय एवोत्कृष्टस्थितिबन्धमिव जघन्यस्थितिबन्धमङ्गीकुर्वतां मते तासां प्रस्तुतकालोऽन्तर्मुहूर्तमेव प्राप्यते । तदन्यमतेन त्वसौ समयः प्राप्यते, मार्गणाद्विचरमसमयेऽपि जघन्यस्थितिबन्धसमाप्तेः सम्भवात् । उक्तशेषप्रकृतीनां तु प्रकृतिबन्धकालस्यैव समयमात्रत्वात्तासां प्रस्तुतकालो मतद्वयेनाऽपि समयमात्र एव प्राप्यत इति तु सुगममिति ।

अथ योगमार्गणासत्केषु शेषेषु पञ्चमनोयोग-पञ्चवचोयोग-काययोगसामान्यौ-दारिक-वैक्रिया-ऽऽहारक कार्मणकाययोगलक्षणेषु पञ्चदशमार्गणास्थानेषु प्रस्तुतकालः कियान् भवति ? इति चेद्, सर्वासां प्रकृतीनां तस्याऽवक्ष्यमाणतया प्राग्वदायुर्वर्जानां सर्वासां बन्धप्रायोग्याणामसौ समयमात्रः, तत्र काययोगमार्गणास्थाने तत्तत्प्रकृतिबन्धप्रारम्भद्वितीयसमये काययोगमार्गणाया मार्गणान्तरतया

परावर्तनात्, शेषमार्गणास्वपि तथाऽन्यथा वा तत्तन्मनोयोगादिमार्गणैकजीवाश्रयजघन्यकायस्थित्यधीनसर्वविधप्रकृतिबन्धकालस्य समयमात्रत्वात्तथा बोद्धव्य इति ॥४३५-४३५॥

अथ योगमार्गणाऽनन्तर वेदमार्गणास्थानेषु प्रस्तुतकालोऽभिधातव्यः, तत्र पुरुषवेदमार्गणायां तं विभणिषुरल्पवक्तव्यत्वादचक्षुर्दर्शना-ऽसंयम-भव्यमार्गणास्वपि एकयाऽऽर्ययाऽऽह—

थीणद्धितिगा-ऽणरहिअधुव-तित्थाण पुरिसे मुहुत्तंतो ।
अणयण-अजय-भवीसुं समत्थधुवबंधि-तित्थाणं ॥४३७॥

(प्रे०) 'थीणद्धितिगे'त्यादि, पुरुषवेदमार्गणायां स्त्यानर्द्धित्रिका-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्कलक्षणसप्तप्रकृतीर्विहाय शेषचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिनीनां तीर्थकरनाम्नश्च, तथा अचक्षुर्दर्शन-ऽसंयम-भव्यमार्गणात्रये सर्वासां सप्तचत्वारिंशतोऽपि ध्रुवबन्धिनीनां जिननाम्नश्चाऽजघन्यस्थितेरेकजीवाश्रयबन्धकालो जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तं भवति । अत्र स्त्यानर्द्धित्रिकादीनां सप्तानां वर्जनं समयमेकं सासादनगुणस्थाने तद्बन्धादनु द्वितीयसमये एवाऽऽयुःक्षयेण मार्गणान्तरे स्त्रीवेदादितयोत्पत्तेः सम्भवेन तासां सप्तानां जघन्यप्रकृतिबन्धकालस्याऽपि समयमात्रत्वात्, न चैवमचक्षुरादिमार्गणात्रयेऽपि, तत्राऽऽयुःक्षयेण कालकरणे प्रस्तुततत्तन्मार्गणायामेवोत्पत्तेरवश्यंभावित्वात्, प्रस्तुतमार्गणोत्पत्तौ तु जघन्यतो मिथ्यात्वगुणस्थानेऽन्तर्मुहूर्तं तद्बन्धस्याऽवश्यं प्रवर्तनात् प्रस्तुतकालो जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तमेव लभ्यते । इत्थमेव सर्वध्रुवबन्धिनीनां भावनीयः । जिननाम्नस्तु सुगमः गतार्थश्च । मार्गणाचतुष्टयेऽपि शेषाऽऽयुर्वर्जबन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां प्रस्तुतकालस्तु समयमात्र एव, स च 'अवक्खमाणाण' (गाथा-४२७) इत्यादिप्रागुक्तवचनादभिहितो बोद्धव्यः, उपपत्तिस्तु तस्य प्रकृतिबन्धकालस्य तथात्वादित्यादिः प्राग्वदेव बोद्धव्येति । अथ वेदमार्गणाशेषभेदत्रये प्रस्तुतकालो वक्तव्यः, न च तत्राऽसौ भणितः, न वा वक्ष्यते, अनन्तरं कषायमार्गणास्थानचतुष्टये वक्ष्यमाणत्वात् । तथा च तस्मिन् स्त्रीवेदादिमार्गणास्थानत्रयेऽपि प्रागिव 'अवक्खमाणाण' इत्यादि(गाथा-४२७) पूर्वोक्तवचनाद् बन्धप्रायोग्यायुःप्रकृतिवर्जानां सर्वासां प्रकृतीनामसौ समयमात्रोऽवगन्तव्यः । तत्र जिननाम-ज्ञानावरणाद्यष्टादशध्रुवबन्धिनीनामुपशान्तमोहगुणस्थानेऽबन्धं प्राप्तानामुपशान्ताद्धाक्षयेण प्रतिपत्य तत्तन्मार्गणायां तत्तत्प्रकृतीनां समयमेकं बन्धं विधाय तत्स्वामिनो भवक्षयेण देवगतौ पुंवेदितयोत्पत्तौ सत्यां प्रस्तुतमार्गणानां विच्छेदभावाद् लभ्यते । शेषध्रुवबन्धिनीनां तु तथाऽन्यथा वा प्रस्तुततत्तन्मार्गणाप्रायोग्यजघन्यस्थितिबन्धसमाप्तेरनन्तरं समयमेकमजघन्यस्थितिबन्धं कृत्वा भवक्षयेण तत्स्वामिनो मार्गणान्तरोत्पत्तेरवसातव्यः । जिननामवर्जाऽध्रुवबन्धिनीनां तु प्रकृतिबन्धजघन्यकालस्यैव समयमात्रत्वादित्येवं यथासम्भवं विज्ञेय इति ॥४३७॥

कोहाईसुं चउसुं समयो सव्वाण होइ सयमुज्झो ।
होइ विसेसो अंतोमुहुत्तलहुकायठिइगमए ॥४३८॥

(प्रे०) "**कोहाईसु**" इत्यादि, क्रोधादिषु क्रोध-मान-माया-लोभलक्षणेषु चतुर्षु कषाय-मार्गणास्थानेषु प्रत्येकमायुर्वर्जानां षोडशोत्तरशतसंख्याकानां सर्वासां प्रकृतीनां प्रस्तुतोऽजघन्यस्थिति-बन्धजघन्यकालः समयो भवति । अयं हि जघन्यकालः क्रोधादिमार्गणानां जघन्यकायस्थितिं समय-मात्रामभ्युपगच्छतां "अण्णे कोहाईण" समयो (गाथा-१८४) इत्यनेन दर्शितकायस्थितिविषयक-मतविशेषेण विज्ञातव्यः, तन्मते जघन्यकायस्थित्यधीनप्रस्तुतकालस्य समयमात्रस्य लाभादिति ।

ननु 'कोहकसाईण भंते ! पुच्छा, गो० । जह० उक्को० अंतोमुहुत्त, एव चेव माणमायाकसाती' इति श्री**प्रज्ञापना**ऽऽगमवचनात्क्रोधादिमार्गणात्रयस्य जघन्याऽपि कायस्थितिरन्तर्मुहूर्तमात्रा, तथा सति तदनुसारेण प्रस्तुतकालः कियान् भवेद् ? इत्याह-"**सयमुज्झो**" इत्यादि, क्रोध-मान-मायामार्गणानामन्तर्मुहूर्तमात्रजघन्यकायस्थित्यनुसारेण प्रस्तुतकालविषयकः विशेषः स्वयमेवाभ्यूह्यो भवति **अयम्भावः**-प्रस्तुतजघन्यकालो न क्रोधादिमार्गणाया अन्तर्मुहूर्तमात्रजघन्यकायस्थिते-रधीनः किन्तु तावत्कायस्थित्युपपत्त्यधीनः, उपपत्तिस्तु तस्या एकत्र श्री**प्रज्ञापनावृत्तौ श्रीम-न्मलयगिरिचरण**कृताऽन्यत्र श्री**जीवसमासवृत्तौ श्रीमन्मलधारि**पाददर्शिता परस्परं विलक्षणा एव, तथाच तद्ग्रन्थः-"कोहकसाईणं भंते !" इत्यादि, जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तम् इति, उत्कर्षतो-ऽप्यन्तर्मुहूर्तमिति,-क्रोधकषायोपयोगस्य जघन्यत उत्कर्षतो वाऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात्, तथाजीवस्वाभाव्यात्, इद च सूत्रचतुष्टयमपि विशिष्टोपयोगापेक्षमिति, लाभकषायी जघन्येनैकं समयमिति, यदा कश्चिदुपशमक उपशमश्रेणिपर्यवसाने उपशान्तवीतरागो भूत्वा श्रेणीतः प्रपतन् लोभाणुप्रथमसमयसंवेदनकाले एव काल कृत्वा देवलोकेपूत्पद्यते, तत्र चोत्पन्नः सन् क्रोधकषायी मानकषायी मायाकषायी वा भवति तदा एक समय लोभकषायी लभ्यते, अथैव क्रोधादिष्वप्येकसमयता कस्मान्न लभ्यते ? उच्यते, तथास्वाभाव्यात्, तथाहि-श्रेणितः प्रति-पतन् मायाणुवेदनप्रथमसमये मानाणुवेदनप्रथमसमये क्रोधाणुवेदनप्रथमसमये वा यदि काल करोति, काल च कृत्वा देवलोकेपूत्पद्यते तथाऽपि तथास्वाभाव्याद् येन कषायोदयेन काल कृतवान् तमेव कषायोदयं तत्राऽपि गत सन्नन्तर्मुहूर्तमनुवर्तयति, एतच्च गवमीयतेऽधिकृतसूत्रप्रामाण्यात्, ततोऽनेकसमयता क्रोधादिषु" इति मलधारिपादा । मलधारिपूज्यास्तु-"कोहकसाईण भंत । कोहकसाइत्ति कालओ केवच्चिरं होई गोयमा ! जहण्णेणवि उक्कोसेणवि अंतोमुहुत्त, एव माणमायाकसाईवि, लोभकसाई जहण्णेण एक्क समय उक्कोसेण अंतोमुहुत्त' ति । **अयमत्रार्थ**-क्रोधमानमायोपयुक्त प्रत्येक जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कृष्टतोऽपि तदेव बृहत्तरमवतिष्ठते, लोभोपयुक्तस्तु जघन्यतः समयम्, कथमिति ? उच्यते, य उपशान्तमोह प्रतिपतन्नेक समय लोभपुद्गलान् वेदयित्वाऽनन्तर कालकरणादनुत्तरेपूत्पद्यते, तस्य किल युगपत् सर्वेऽपि कषाया प्रदेशोदयेनोदयमागच्छन्ति, न तु केवलो लोभ एवेत्येव जघन्यतो लोभकषायोदय केवल समयमेकमवाप्यते, उत्कृष्टतस्त्वन्तर्मुहूर्त्तं क्रोधादिवदेव मन्तव्यम् । आह-यद्येवमनया नीत्या क्रोधाद्युप-योगोऽपि जघन्यपदे समयप्रमाणः कस्मान्न लभ्यते ? सत्यम्, किन्तु श्रेणिमस्तकात् प्रतिपततो यदा क्रोधा-दय उदयमागच्छन्ति तदा उदयप्राप्तकषायादपरेऽपि कषाया प्रदेशोदयेन युगपदेव वेद्यन्ते, अतो लोभवत् केवलः क्रोधाद्युदयो न लभ्यत इति वृद्धा व्याचक्षते, तत्त्व तु केवलिनो विदन्ति" इति । तथाचान्तर्मुहूर्तजघन्यकायस्थितिमते "**सयमुज्झो**" इत्यादिना मुकुलितमेवाऽभिहितः प्रस्तुत-कालः, स च व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेः, पञ्चज्ञानावरण चतुर्दर्शनावरण-पञ्चान्तराय-सञ्ज्वलन-

चतुष्कलक्षणानामष्टादशानामेव तथा विज्ञेयः, शेषाणां तु कासाञ्चिदध्रुवबन्धित्वात् , कासाञ्चित्तु ध्रुवबन्धित्वेऽपि तदीयजघन्यस्थितेः स्वस्थानविशुद्धैकेन्द्रियस्वामिकत्वेन मार्गणाद्विचरमसमये जघन्यस्थितिबन्धभावे मार्गणाचरमसमयापेक्षया समयमात्रकाललाभादिति अष्टादशानामेवासौ यथासम्भवमुन्नेयः सुधिया स्वधियेति ॥४३८॥

प्ररूपितः कषायमार्गणास्थानेषु प्रस्तुताऽजघन्यस्थितिबन्धजघन्यकालः । एतर्हि क्रमप्राप्तज्ञानमार्गणास्थानेषु तं प्रतिपिपादयिषुस्तुल्यवक्तव्योपेता'अन्यान्यमार्गणाः संगृह्याह—

अंतमुहुत्तं णेयो जिण-धुव-चउदसपणिंदियाईणं ।
णाणदुग-सम्म-वेअग-खइअ-उवसमेसुं वोहिदुगे ॥४३९॥
धुवबंधीणं अंतमुहुत्तं दुअणाण-अभवि-मिच्छेसुं ।
वा परिहारे चउदसआहारदुगाइवज्जाणं ॥४४०॥

(प्रे०) "**अंतमुहुत्त**"मित्यादि, मतिज्ञान-श्रुतज्ञान-सम्यक्त्वौघ-क्षायोपशमिक-क्षायिकौपशमिकसम्यक्त्वलक्षणेषु षट्सु मार्गणास्थानेषु जिननाम्नस्तथा '**धुव**'' त्ति बन्धप्रायोग्याणां मिथ्यात्व-स्त्यानद्धित्रिका-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्कवर्जानामेकोनचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां तथा 'पणिंदिय-तस-परघू-सास-बायरतिगाणि ।पुम-सुखगइ-पढमागिइ-सुहगतिगु-च्च' (गाथा-३४१) इत्येतावता पूर्वं संगृहीतानां चतुर्दशानां पञ्चेन्द्रियजात्यादिप्रकृतीनां चाऽजघन्यस्थितिबन्धस्य जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तं भवति । कथम् ? देशविरतादिगुणस्थाने आसां तत्तद्ध्रुवबन्ध्यादीनामबन्धाद् बन्धं प्राप्य कालकरणेऽपि तत्स्वामिनो देवतया प्रस्तुततत्तन्मार्गणास्वेवोत्पत्तेस्तत्र प्रस्तुतप्रकृतिबन्धस्य प्रस्तुतमार्गणानां च जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तादिकालं यावदवस्थानाच्च । शेषाणामायुर्वर्जानां तु प्रकृतिबन्धकालस्यैव जघन्यतः समयमात्रत्वात्प्रस्तुतकालः समयमात्रो विज्ञेयः । "**वोहिदुगे**" त्ति 'वा'-अथवा, मतविशेषेणेति भावः, मतविशेषेण किम् ?, जघन्यकायस्थितिविषयकेण मतविशेषेण '**अवधिद्विके**' प्रस्तुताना जिननामादिप्रकृतीनामजघन्यस्थितिबन्धजघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तं वक्तव्यः, न वा वक्तव्यो मतविशेषेण । कथं ज्ञायते ? इति चेद् , 'अंतमुहुत्त'मित्यस्याऽनुवर्तनात् , वाकारस्य विकल्पार्थकत्वाच्च । **इदमुक्तं भवति–पूर्वं मूलप्रकृतिस्थितिबन्धग्रन्थेकजीवाश्रयकालद्वारे** एकेन मतेनाऽवधिज्ञानाऽवधिदर्शनमार्गणयोरेकजीवाश्रया जघन्यकायस्थितिः समयमात्रा, मतान्तरेण तु साऽन्तर्मुहूर्तं चाभिहिता, तत्र यन्मते साऽन्तर्मुहूर्तं तन्मते प्रस्तुताऽवधिज्ञानादिमार्गणाद्वये जिननामादियथोक्तप्रकृतीनामजघन्यस्थितेर्जघन्यबन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तं वक्तव्यस्तदन्यमतेन त्वन्तर्मुहूर्तं न वक्तव्यः किन्तु 'अवक्खमाणाणे' (गाथा-४२७) इत्यादिपूर्वोक्तवचनात्तामामसौ समयमात्रोऽवगन्तव्य इति । साधना तु समयमात्रजघन्यकायस्थितिकमते सुगमा । अन्तर्मुहूर्तमात्रजघन्यकायस्थितिकमते त्वनु-

पदमभिहितमतिज्ञानादिमार्गणावत् । उक्तशेषाणामायुर्वर्जानां तूभयमते समय एव, स च मतिज्ञानादिमार्गणावद्विज्ञेय इति । "धुवबंधीण"मित्यादि, मत्यज्ञान-श्रुताज्ञानलक्षणोर्द्वयोरज्ञानमार्गणयोर-भव्य-मिथ्यात्वमार्गणयोश्च सप्तचत्वारिंशतो ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां प्रस्तुतकालोऽन्तमुहूर्तं भवति । कथं न समयः ? इति चेत्, एकेन्द्रियाणां तदीयजघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वेनाऽजघन्यस्थितिबन्धप्रारम्भद्वितीयसमये कालकरणे तत्स्वामिनो मार्गणापरावृत्तेरसम्भवादिति । शेषाणामायुर्वर्जबन्धप्रायोग्याऽध्रुवबन्धिनीनां तु प्रकृतिबन्धजघन्यकालस्यैव समयमात्रत्वात्प्रस्तुतकालोऽपि समय इति ।

परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणास्थाने प्राह–"वा परिहारे" इत्यादि, परिहारविशुद्धिकसंयमे 'वा' इति अथवा प्राग्वत्प्रस्तुतकालोऽन्तमुहूर्तं वक्तव्यः, न वा वक्तव्यः, यन्मते इह न वक्तव्यस्तन्मतेऽसौ अवक्खमाणाण' (गाथा–४२७) त्यादिपूर्वोक्तवचनात् समयमात्रः, कासामित्याह–"चउदसे" त्यादि, 'आहारदुग साय रइथिरदुग-जस-अजसा य । अरइअथिरदुगे'-(गाथा–३४२)-त्येतावता पूर्वं संगृहीता आहारकद्विक-साता-ऽसातवेदनीय-हास्य-रति-शोका-ऽरति-स्थिरा-ऽस्थिर-शुभा ऽशुभ-यशःकीर्त्य ऽयशःकीर्तिलक्षणा आहारकद्विकादिचतुर्दशप्रकृतीर्वर्जयित्वा शेषाणामायुर्वर्जानां बन्धप्रायोग्याणां मतिज्ञानावरणादीनां पञ्चाशत्प्रकृतीनाम् । तत्राऽन्तमुहूर्तमनन्तरस्थितिबन्धभाविकृतकरणानां जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वमभ्युपगच्छतां मतेन, समयस्तु स्वस्थानाप्रमत्तसंयतानामपि तदभ्युपगन्तृणां मते । आहारकद्विकादिचतुर्दशप्रकृतीनां तूभयमते समयमात्रः प्राग्वत्, स च परावर्तमानत्वादिहेतोस्तासां प्रकृतिबन्धकालस्यैव तथात्वादिति विज्ञेयम् ।

तदेवमभिहितो मतिज्ञानावरणादिलक्षणेसु ज्ञानमार्गणास्थानेषु तत्प्रतिपक्षभूताऽज्ञानमार्गणाद्वये च प्रस्तुतकालः, केवलमवशिष्टो मनःपर्यवज्ञाने विभङ्गज्ञाने च, न चासौ तत्र वक्ष्यते, तथाच 'अवक्खमाणाण' (गाथा–४२७) इत्यादिप्रागुक्तवचनात्तत्र मार्गणाद्वये बन्धप्रायोग्याणामायुर्वर्जानां सर्वासां प्रकृतीनामसौ समयमात्रोऽवगन्तव्यः । स च मार्गणाद्वयस्य जघन्यकायस्थितेः समयमात्रत्वान्मूलसप्तप्रकृत्यजघन्यस्थितिबन्धजघन्यकालवदभ्यूह्यः । न च मनःपर्यवज्ञानमार्गणायामन्तमुहूर्तजघन्यकायस्थितिमते ध्रुवबन्धिप्रकृतीनामसावन्तमुहूर्तं स्यादिति वाच्यम्, तन्मते उपशान्तमोहगुणस्थानादद्धाक्षयेण प्रतिपततां तत्तद्ध्रुवबन्धिप्रकृतिबन्धप्रारम्भद्वितीयसमये कालकरणे सति मार्गणाकायस्थितेर्जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वेऽपि प्रस्तुतकालस्य तु समयमात्रस्य लाभादिति ॥४३९–४४०॥

अथ क्रमप्राप्तसंयममार्गणास्थानेषु प्रस्तुतकालोऽभिधातव्यः, तत्र च परिहारविशुद्धिकमार्गणायाम् 'वा परिहारे' इत्यादिनाऽनन्तरमेवाभिहितः । अथ संयमौघ-सामायिकसंयम-छेदोपस्थापनसंयम-सूक्ष्मसंपरायसंयममार्गणासु प्रस्तुतकालस्यावक्ष्यमाणत्वात्तासु प्रागिव बन्धप्रायोग्यसर्वायुर्वर्जप्रकृतीनामसौ समयमात्रोऽवमातव्यः, स च तासामेकजीवाश्रयजघन्यकायस्थितेः समयमात्रत्वादि-

हेतोरभ्यूह्यः । एतर्हि देशसंयममार्गणायां तद्विभणिषुः प्रागिवाऽन्यमार्गणायामपि सममाह—

भिन्नमुहुत्तं देसे मीसे सायाइबारवज्जाणं ।
तेऊए सयमुज्झो थीणद्धितिगा-ऽणचउगाणं ॥४४१॥
सेसधुवबंधि-जिण-पणपरघायाईण खलु मुहुत्तंतो ।
देवविउव्वदुगाणवि कयकरणमए मुहुत्तंतो ॥४४२॥
पम्हसुइललेसासुं सप्पाउग्गाण एवमेव भवे ।
णवरं भिन्नमुहुत्तं पणिंदियतसाण विण्णेयो ॥४४३॥

(प्रे०) "**भिन्नमुहुत्त**"मित्यादि, "**देसे**" त्ति देशसंयममार्गणास्थाने तथा "**मीसे**" त्ति सम्यग्मिथ्यात्वमार्गणास्थाने प्रत्येकं 'साय रइ-थिरदुग-जस असाय-अजसा य। अरइ-अथिर-दुग' (गाथा-३४२) इत्येतावता संग्रहगाथांशेन संगृहीताः सातवेदनीयाद्या द्वादश प्रकृतीर्विहाय शेषाणां सर्वासा मायुर्वर्जबन्धप्रायोग्यप्रकृतीनामजघन्यस्थितेर्जघन्यो बन्धकालो भिन्नमुहूर्तं भवति, सातवेदनीयाद्यानां द्वादशप्रकृतीनां तु 'अवक्खमाणाणे' (गाथा-४०७)-त्याद्युक्तवचनात् प्रस्तुतकालः समयमात्रो भवति। समयमात्रोऽन्तर्मुहूर्तमात्रश्च कालः प्रस्तुतमार्गणाद्वयजघन्यकायस्थितेरन्तर्मुहूर्तमात्रत्वे सति सातवेदनीयादीनां स्वप्रतिपक्षप्रकृतिसहितबन्धप्रायोग्यत्वेन बन्धतः परावर्तमानतया तदीयप्रकृतिबन्धकालस्यैव जघन्यतः समयमात्रत्वात्, शेषाणां तु कासाञ्चिद्ध्रुवबन्धित्वेन कासाश्चिच्चाध्रुवबन्धित्वेऽपि एकजीवमाश्रित्य प्रतिपक्षप्रकृतिरहितबन्धप्रायोग्यतया ध्रुवबन्धिकल्पत्वेन च प्रकृतिबन्धजघन्यकालस्यैवाऽन्तर्मुहूर्तमात्रत्वात् तथा ज्ञेय इति ।

अथ संयममार्गणाप्रतिपक्षभूतायामसंयममार्गणायां दर्शनमार्गणाभेदेषु कृष्णादिष्वप्रशस्तलेश्यासु च प्राग् 'णयण' (गाथा-४३३) 'तिअसुहलेसासु' (गाथा-४३४) 'पुरिसे मुहुत्तंतो अणयण-अजय-भवीसु' (गाथा–४३७) इत्यादिना 'ओहिदुगे' (गाथा ४३९) इत्यादिना च पञ्चेन्द्रियौघादिमार्गणाभिः समं तत्र तत्राभिहितः प्रस्तुतकालोऽतः क्रमप्राप्ततेजोलेश्यामार्गणायां तदाह– "**तेऊए**" इत्यादि, तेजोलेश्यामार्गणायाम् "**सयमुज्झो**" त्ति स्त्यानर्द्धित्रिका-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्कलक्षणमसप्रकृतीनां प्रस्तुतोऽजघन्यस्थितेर्जघन्यबन्धकालः कृष्णाद्यशुभलेश्यामार्गणावदेव स्वयमभ्यूह्यः।

"**सेसधुवबंधि**" इत्यादि, स्त्यानर्द्धित्रिका-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्कवर्जानां शेषध्रुवबन्धिनीनां तथा जिननाम्नः 'परघू सास-आयवतिगाणि' (गाथा-३४१) इत्यनेन संगृहीतानां पञ्चानां पराघातादिप्रकृतीनां च प्रस्तुतकालस्त्वन्तर्मुहूर्तमेव। "**देवविउव्वदुगाण वि**" त्ति इह तेजोलेश्यामार्गणायां जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वप्रतिपादनावसरे प्राग् मतद्वय प्रदर्शिता, तत्रैकेन मतेन 'जेसिं अद्धवण्णाए कयकरणो वि हवए सामी' (गाथा-३१७) इत्यादिना मतिज्ञानावरणादीनामष्टपञ्चाशतः प्रकृतीना

जघन्यस्थितिबन्धस्वामी अनन्तरस्थितिबन्धे भाविकृतकरण उक्तः, तदन्यमतेन तु स्वस्थानसंयतोऽपि । तत्र "**कयकरणमए**" त्ति भाविकृतकरणस्य जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वमते "**देवविउव्वदुगाण वि**" त्ति न केवलं तदन्यमतवदनन्तरोक्तपट्चत्वारिंशत्प्रकृतीनामेवापि तु देवद्विकवैक्रियद्विकयोरपि इत्येवं सर्वसंख्यया मतिज्ञानावरणादीनां पञ्चाशत्प्रकृतीनामित्यपिशब्दार्थः । कथमन्तर्मुहूर्तम् ? इति चेद्, ध्रुवबन्धिनीनां ध्रुवबन्धित्वेन तथा सूक्ष्मापर्याप्तप्रायोग्यस्वप्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावेन बादरपर्याप्तप्रायोग्याणां पराघातादीनां पञ्चप्रकृतीनां तु ध्रुवबन्धिकल्पत्वेन, शेषाणां तु परिहारविशुद्धिकमार्गणावच्च प्रकृतिबन्धजघन्यकालस्यैवाऽन्तर्मुहूर्तत्वात् । उक्तशेषाणां भाविकृतकरणमते एकपञ्चाशत्प्रकृतीनां तदन्यमते तु पञ्चपञ्चाशत्प्रकृतीनां प्रस्तुतबन्धकालः 'अवक्खमाणाण' (गाथा-४२७) इत्यादिपूर्वोक्तवचनात्समयमात्रोऽवगन्तव्यः, साध्यस्तु तासामध्रुवबन्धित्वादेवेति ।

अथ शेषलेश्याभेदद्वये प्रस्तुत विभणिपुर्लाघवार्थी सापवादमतिदिशति–"**पम्हे**"त्यादि, पद्मशुक्ललेश्ययोः "**सप्पाउग्गाण एवमेव भवे**" त्ति स्वस्यां स्वस्यां बन्धप्रायोग्याणामायुर्वर्जप्रकृतीनां "एवमेव भवे" त्ति प्रत्यासत्त्या तेजोलेश्यामार्गणावद्भवेत, अजघन्यस्थितेर्जघन्यबन्धकाल इति गम्यते । अतिप्रसक्तिनिरासायापवादपदमाह–"**णवर**" इत्यादि 'नवरं' केवलं पञ्चेन्द्रिय-त्रसनामलक्षणस्य प्रकृतिद्वयस्यासौऽन्तर्मुहूर्तं विज्ञेयः, न पुनस्तेजोलेश्यामार्गणावत्समयमात्रः, तेजोलेश्याप्रविष्टानां देवानामेकेन्द्रियस्थावरनाम्नोर्बन्धप्रायोग्यत्वेन तयोः सह पञ्चेन्द्रियजाति-त्रसनाम्नोः परावृत्य परावृत्य बन्धभावेऽपि प्रस्तुतमार्गणाप्रविष्टानामेकेन्द्रिय-स्थावरनाम्नोर्बन्धप्रायोग्यत्वाभावेन पञ्चेन्द्रियजाति-त्रसनाम्नोर्ध्रुवबन्धिकल्पत्वात् । बन्धप्रायोग्याः प्रकृतयस्त्विह पद्मलेश्यायां तेजोलेश्योक्ताऽऽयुर्वर्जप्रकृतिभ्य एकेन्द्रिय-स्थावरा-ऽऽतपनामानि विवर्ज्य पञ्चोत्तरशतम्, शुक्ललेश्यायां तु एकेन्द्रिय-स्थावरा ऽऽतपनामानि तिर्यग्द्विकोतनाम्नी च विहाय द्व्यधिकं शतमिति ।

अथ लेश्यामार्गणाभेदानन्तरं भव्यमार्गणा, तत्र भव्यमार्गणायामसंयममार्गणादिना (गाथा-४३७) समम्, तथाऽभव्यमार्गणायां 'दुअणाण' (गाथा-४४०) इत्यादिना मत्यज्ञानादिना समं प्रागभिहितः प्रस्तुतकालः । तदनन्तर सम्यक्त्वमार्गणाभेदमध्यात्सम्यक्त्वौघ–क्षायिक- क्षायोपशमिकौ–पशमिकसम्यक्त्वेषु 'णाणदुग-सम्म-वेअग-खइअ उवसमेसु' (गाथा-४३९) इत्यादिना मतिज्ञानादिमार्गणाभिः समं तथा मिथ्यात्वमार्गणायां मत्यज्ञानादिमार्गणाभिः (गाथा–४४०) समम्, एवं सम्यग्मिथ्यात्वे 'भिन्नमुहुत्त देसे मीसे' (गाथा-४४१) इत्यादिना देशसंयममार्गणया सार्कं च कथितः प्रस्तुतकालः, अवशिष्टस्तु सासादनमार्गणायाम्, न च तत्राऽसौ वक्ष्यते एकस्या अपि प्रकृतेः, तथाचासौ तत्र 'अवक्खमाणाण' (गाथा-४२७) इत्यादिप्रागुक्तवचनात्सर्वासामायुर्वर्जबन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां समयमात्रोऽवगन्तव्यः समयमात्रमार्गणाजघन्यकायस्थित्यादिना साध्यश्च । सम्यक्त्वमार्गणाभेदप्रभेदादनु संज्ञ्याहारकमार्गणाभेदेषु क्रमाद्वक्तव्यः प्रस्तुतकालः, तत्र संज्ञिमार्गणायां

पञ्चेन्द्रियौघादिमार्गणाभिः समभुक्तो न शेषासु असंज्ञ्या-ऽऽहार्य-ऽनाहारमार्गणासु, न च तत्र वक्ष्यते, तथाच प्रागिव तासु सर्वासामायुर्वर्जानामसौ समयमात्र इति स्थितम् । स चाऽसंज्ञिमार्गणायां ध्रुवबन्धिनीनामसंज्ञिभवद्विचरमसमये जघन्यस्थितिबन्धं समाप्य मृत्वा मार्गणान्तरं गच्छतो जीवस्य भवचरमसमयापेक्षया, अध्रुवबन्धिनीनां त्वध्रुवबन्धित्वेन प्रकृतिबन्धकालस्यैव समयमात्रत्वादित्यादि प्रागिवाभ्यूह्यः । आहारकमार्गणायामप्येवमेव भवद्विचरमसमये जघन्यस्थितिबन्धं कासाश्चित्बन्धं वा कृत्वा वक्रगत्या भवान्तरं गच्छतो जीवस्य भवचरमसमयमपेक्ष्याऽध्रुवबन्धित्वादिहेतोः यथासम्भवमुन्नेयः । अनाहारकमार्गणायां तु मार्गणाकायस्थितेर्जघन्यतः समयमात्रत्वादित्यादिहेतोश्च ससाधनीय इति ॥४४१-४४३॥

तदेवमभिहितः सर्वमार्गणास्थानेषु सर्वासामायुर्वर्जशेषबन्धप्रायोग्यप्रकृतीनामप्यजघन्यस्थितेर्बन्धकालो जघन्यतः । एतर्हि तमेवोत्कृष्टतो विभणिषयाऽऽर्यात्रयमाह--

अलहुठिईए जेट्ठो सव्वाण अगुरुठिइव्व सव्वासुं ।
णवरि धुवु-रलाण भवे ओघव्व अचक्खु-भवियेसुं ॥४४४॥
तिरिये अण्णाणदुगे असंजमा-ऽभविय-मिच्छ-अमणेसुं ।
धुवबंधि-उरालाणं णेयो लोगा असंखेज्जा ॥४४५॥
काय-णपुमेसु णेयो असंखलोगा उरालियस्स तहा ।
खवगपयडिवज्जाणं धुवबंधीण गुणतीसाए ॥४४६॥

(प्रे०) "**अलहुठिईए**" इत्यादि, प्रस्तुतोऽजघन्यस्थितेः "**जेट्ठो**" त्ति उत्कृष्टो बन्धकालः "**सव्वाण**" त्ति 'अलहुअ मुहुत्ततो एमेव हवेज्ज सव्वासु ॥४१२॥' इत्यनेनायुषामजघन्यस्थितिबन्धोत्कृष्टकालस्यापि प्रागुक्तत्वाद् आयुर्वर्जाना सर्वासां ध्रुवाध्रुवबन्धिप्रकृतीनां "**अगुरुठिइव्व सव्वासु**" ति निरयगत्योघादिसर्वमार्गणासु पूर्वं 'जेट्ठो असखलोगा एगिंदि णिगोअ-पचकायेसु । धुवबधीण अगुलअसखभागो छसुहुमेसु ॥३६५॥' इत्यादिगाथाकदम्बकेनोक्ताऽऽयुर्वर्जध्रुवाध्रुवबन्धिप्रकृत्यनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टबन्धकालवद्भवति, "**णवरि**" त्ति 'नवरं' केवल वक्ष्यमाणापवादस्थानानि विहायेत्यर्थः । कानि पुनस्तान्यपवादस्थानानीत्याह-"**धुवुरलाणे**"त्यादि, अचक्षुर्दर्शन-भव्यमार्गणास्थानयोः सप्तचत्वारिंशतो ध्रुवबन्धिनीनामौदारिकशरीरनाम्नश्च "**भवे ओघव्व**" त्ति अजघन्यस्थितेः प्रस्तुतोत्कृष्टकाल ओघवत् 'हवइ सजलणावरणविग्घाण' (गाथा-४१५) इत्यादिगाथाभिरुक्तमानो भवेत् । **तद्यथा**-ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणचतुष्क संज्वलनचतुष्का-ऽन्तरायपञ्चकलक्षणानामष्टादशप्रकृतीनामनादिध्रुवः अनाद्यध्रुवः साद्यध्रुवश्च, तत्र साद्यध्रुव उत्कृष्टतो देशोनाऽपार्धपुद्गलपरावर्तः । शेषध्रुवबन्धिनीनामौदारिकशरीरनाम्नश्चाऽसंख्येया लोका इति । एष हि ओघवदेव

भावनीय इति । अन्यदपवादस्थानमाह–"तिरिये"त्यादि, तिर्यग्गत्योघे, मत्यज्ञाने, श्रुताज्ञाने, असंयमा-ऽभव्य मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञिषु च सप्तचत्वारिंशतो ध्रुवबन्धिनीनामौदारिकशरीरनाम्नश्च प्रस्तुतोत्कृष्टकालः "**णेया लोगा असंखेज्जा**" त्ति असंख्येयेषु लोकाकाशप्रमितक्षेत्रखण्डेषु प्रतिसमयमेकैकाकाशप्रदेशापहारे यावान्कालोऽपगच्छति तावत्योऽसंख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्य इत्यर्थः । अपरमाह–"**काय णपुमेसु**" इत्यादि, काययोगसामान्ये नपुंसकवेदमार्गणास्थाने चौदारिकशरीरनाम्नस्तथा क्षपकप्रकृतिवर्जा या निद्रापञ्चक-मिथ्यात्वा ऽनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानावरणप्रत्याख्यानावरणक्रोधमानमायालोभ-भय-जुगुप्सामोहनीय -वर्णचतुष्क-तैजसशरीरनाम कार्मणशरीरनामा ऽगुरुलघु-निर्माणो पघातनामलक्षणा एकोनत्रिंशद् ध्रुवबन्धिप्रकृतयस्तासामजघन्यस्थितिबन्धस्योत्कृष्टकालोऽसंख्येया लोकाः, प्राग्वदसंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः। तत्र प्रत्येकमसंख्येयलोकप्रमाणकालस्तु मार्गणाप्रविष्टसूक्ष्मैकेन्द्रियाणामेतत्प्रकृतिमत्कजघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वाभावेन सूक्ष्मैकेन्द्रियोत्कृष्टकायस्थितिं निर्गमयद्भिर्जीवैस्तावत्कालं नियमेन तासामजघन्यस्थितिबन्धस्यैव क्रियमाणत्वात्सुसाध्यः । एवमचक्षुर्दर्शन–भव्यमार्गणास्थानयोः संज्वलनादीनामपार्धपुद्गलपरावर्तप्रमाणकालोऽपि श्रेणिद्वयोत्कृष्टान्तरस्य तथात्वात्सूपपन्न इति । विशेषतस्तु पूर्ववत्स्वयमेव भाव्यः । अपवादस्थानानि विहाय शेषकालस्त्वनुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टकालवत्स्वयमेव द्रष्टव्यो भावनीयश्च, अनुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टकालवदजघन्यस्थितिबन्धोत्कृष्टकालस्य बहुलतया प्रकृतिबन्धसहचारित्वेन प्रकृतिबन्धोत्कृष्टकालवल्लाभादिति ।।४४४–४४६।।

तदेवं प्रतिपादितोऽवशिष्टाऽऽयुर्वर्जप्रकृत्यजघन्यस्थितिबन्धोत्कृष्टकालोऽपि, प्रतिपादिते च तस्मिन् समाप्तं विंशत्युत्तरशतप्रकृतीनामुत्कृष्टादिचतुर्विधस्थितेर्जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नस्यैकजीवाश्रयनिरन्तरबन्धकालस्य प्ररूपणम्, तथाच गतं चतुर्थमेकजीवाश्रयकालद्वारमिति ।।

।। इति प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते उत्तर० स्थितिबन्धे द्वितीयाधिकारे चतुर्थमेकजीवाश्रयकालद्वार समाप्तम् ।।



अथ पञ्चममन्तरद्वारम्

अधुना क्रमप्राप्तैकजीवाश्रयान्तरद्वारस्याऽवसरः । अत्र हि मूलप्रकृतिस्थितिबन्धैकजीवा-श्रयान्तरद्वारवदुत्तरप्रकृतीरधिकृत्योत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्ट-जघन्या-ऽजघन्यभेदभिन्नानां स्थितीनामेकजीवा-श्रयं बन्धाऽन्तरमोघाऽऽदेशभेदतो द्रष्टव्यम् । तत्रादौ तावद् पूर्ववल्लाघवार्थं प्रकृतिसंग्रहगाथाः प्राह—

इह आइम्मि करिअ जं जाओ वुच्चन्ति ता कमा गेज्झा ।
एत्तो आहारदुगं णिद्ददुगं च तइअकसाया ॥४४७॥

दुइअकसाया मिच्छं थीणद्धितिग-मणचउग-थी-णपुमा ।
संघयणाऽऽगिइपणगं दुहगतिगं कुखगई णीअं ॥४४८॥

तिरियदुगु-ज्जो-आयव-थावर-एगिंदि-सुहुमविगलतिगं ।
णिरयसुरविउव्वदुगं उच्च-णरदुग-वइरु-रलुवंगाणि ॥४४९॥ (गीतिः)

उरलं परघू-सासा वायरतिग-तस-पणिंदि-तित्थाणि ।
साय-रइथिरदुग-जसा असाय-अरइदुग-अथिरदुग-अजसा ॥४५०॥ (गीतिः)

(प्रे०) "इह आइम्मि" इत्यादि, पूर्वोक्तसंग्रहगाथावदिह भण्यमानैकजीवाश्रयान्तरद्वारे आहारकद्विकम्, निद्राद्विकम्, प्रत्याख्यानावरणक्रोध-मान-माया-लोभ-लक्षणास्तृतीयाः कषायाः, कषाय-प्रकृतय इत्यर्थः । एवमुत्तरत्रापि ज्ञेयम् । ततो द्वितीया अप्रत्याख्यानावरणाभिधाः क्रोधादिचतुः-कषायाः, मिथ्यात्वम्, स्त्यानर्द्धित्रिकं निद्रानिद्रा-प्रचलाप्रचला-स्त्यानर्द्धिप्रकृतित्रयलक्षणम्, "अण-चउग" त्ति अनन्तानुबन्धिकषायचतुष्कम्, स्त्रीवेदः, नपुंसकवेदः, "संघयणे"त्यादि, पञ्चकश-ब्दस्य प्रत्येकं योजनाद्व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेश्च प्रथमवज्रर्षभनाराचवर्जं संहननपञ्चकम्, प्रथमसम-चतुरस्रवर्जं संस्थानपञ्चकं चेत्यर्थः । ततः पुनर्दुर्भगत्रिकं दुर्भग-दुस्वरा-ऽनादेयप्रकृतित्रयलक्षणम्, कुत्सिता अप्रशस्ता विहायोगतिः, अप्रशस्तविहायोगतिनामकर्म इत्यर्थः । तदनन्तरं नीचैर्गोत्रम्, तिर्य-ग्द्विकं तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्वीप्रकृतिद्वयात्मकम्, उद्योतनाम, आतपनाम, स्थावरनाम, एकेन्द्रियजाति-नाम, "सुहुमविगलतिगं" ति सूक्ष्मत्रिकं सूक्ष्मा ऽपर्याप्तक-साधारणनामप्रकृतित्रयरूपम्, विकल-त्रिकं द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियजातिनामप्रकृतित्रयात्मकं चेत्यर्थः । समासान्तत्रिकमित्यत्रैकव-चनता समाहारविवक्षया, एवमन्यत्राऽपि ज्ञेयम् । द्विकशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धान्निरयद्विकं निरयगति-निरयानुपूर्वीलक्षणम्, सुरद्विकं देवगति-देवानुपूर्वीरूपम्, वैक्रियद्विकं वैक्रियशरीर तदाङ्गोपाङ्गप्रकृतिद्वया-

त्मकमित्येतेन क्रमेणेत्यर्थः। तत उच्चैर्गोत्रम्, नरद्विकं मनुष्यगति तदानुपूर्वीप्रकृतिद्वयात्मकम् **"वइ-रुरलुवंगाणि"** त्ति वज्रर्षभनाराचसंहनननामौ-दारिकाङ्गोपाङ्गनाम च, तत्पश्चादौदारिकशरीरनाम, तदनु पराघातनाम, एवं क्रमश उच्छ्वासनाम, बादरत्रिकं बादर-पर्याप्तक प्रत्येकनामात्मकम्, त्रस-नाम, पञ्चेन्द्रियजातिनाम, तीर्थकरनाम, सातवेदनीयम्, **"रतिथिरदुग"** त्ति रतिद्विकं हास्य-मोहनीय-रतिमोहनीयप्रकृतिद्वयरूपम्, स्थिरद्विकं स्थिरनाम-शुभनामप्रकृतिद्वयलक्षणं चेत्यर्थः। **"जस"** त्ति यशःकीर्तिनाम, असातवेदनीयम्, **'अरतिद्विकम्'** शोका-ऽरतिमोहनीयप्रकृतिद्वया-त्मकम्, **'अस्थिरद्विकम्'** अस्थिरा-ऽशुभनामप्रकृतिद्वयरूपम्, **"अजस"** त्ति अयशःकीर्तिनाम इत्येतस्मादभिष्टक्रमोक्तप्रकृतिसंग्रहादुत्तरत्र 'मिच्छाइपंचवीसाए" इत्यादिना यां मिथ्यात्वादिप्रकृती-मादौ कृत्वा यावत्यः पञ्चविंशत्याद्याः प्रकृतयो वक्ष्यन्ते ता अभिष्टक्रमेणैव ग्राह्या इत्यर्थः। इत्येवं गाथाचतुष्टयेनैकाशीतिः प्रकृतयो इष्टक्रमेण संगृहीताः, शेषास्तु तत्र तत्र नामत एव यथायोगं वक्ष्य-न्त इति गाथाचतुष्टयार्थः ॥४४७-४५०॥

तदेवं प्रकृतिसंग्रहगाथा अभिधाय प्रथमत उत्कृष्टस्थितेर्जघन्योत्कृष्टबन्धान्तरे ओघतः प्रति-पादयन् गाथात्रिकमाह—

उक्कोसाअ ठिईए जिणस्स णो चेव अंतरं हवए।
समयूणपुव्वकोडी हस्सं तिरिय-मणुसाऊणं ॥४५१॥
णिरयामराउगाणं समयूणा दससहस्सवासऽहिया।
पुव्वाण होइ कोडी सेसाण भवे मुहुत्तंतो ॥४५२॥
देसूणद्धपरट्टो आहारदुगा-ऽमराउगाण भवे।
उक्कोसं सेसाणं होइ परट्टा असंखेज्जा ॥४५३॥

(प्रे०) **"उक्कोसाअ"** इत्यादि **"जिणस्स"** इत्यादि, उत्तरप्रकृतिमध्ये **"जिणस्स"** त्ति जिननाम्न उत्कृष्टायाः स्थितेः **"णो चेव अंतर हवए"** त्ति एकजीवाश्रय बन्धान्तरमोघतो नैव भवेत्। कुतः? त्रिचरमभवस्थनरकाभिमुखजीवाना तत्स्वामित्वेन वारद्वयं तद्बन्धस्यैवाऽसम्भवात्। **इदमुक्तं भवति**–ओघतस्तीर्थकरनामोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनः सम्यग्दृष्टिमनुष्या अभिहिताः, ते च त्रिचरमभववर्तिन एव भवन्ति, नरकादागत्य तीर्थकरत्वमवाप्य मुक्तिगमनात्, इत्थं च तीर्थकरनामबन्धकानां सकृदेव नरकाभिमुखत्वं सम्भवति, तथाच तदुत्कृष्टस्थितिबन्धस्याऽपि सकृदेव सम्भवः, यस्य च सकृदेव बन्धस्तस्य त्वन्तरं न लभ्यते, उत्कृष्टस्थित्यादिविवक्षितबन्धान्तर स्य तद्बन्धद्वयान्तरालरूपतया तद्बन्धद्वयाभावेऽसम्भवादिति।

"समयूणे" त्यादि, तिर्यग्मनुष्यायुषोः **"हस्सं"** ति प्रस्तुतत्वादुत्कृष्टस्थितेः 'ह्रस्वं' जघन्यं

बन्धान्तरं समयोनपूर्वकोटिर्भवेत्, उत्कृष्टस्थितिकतिर्यग्मनुष्यायुर्बन्धद्वयस्य पूर्वकोटीतृतीयभाग-प्रमाणोत्कृष्टाबाधाद्वयाधीनत्वात्, तादृशाबाधाद्वयस्य तु पूर्वकोटीस्थितिकभवद्वयाधीनत्वाच्च ।

अयम्भावः–तिर्यगायुरुत्कृष्टस्थितिबन्धः पूर्वकोटिस्थितिकतिर्यग्मनुष्यान्यतरवेद्यमानायुपस्तृतीयभागे वेदयितुमारब्धे समयमेकं प्राप्यते, पूर्वकोटिस्थितिकभवतृतीयभागप्रथमसमये एवोत्कृष्टाबाधायाः सम्भवात् । तदनन्तरं तु तस्मिन्नेव भवे उत्कृष्टस्थितिकतिर्यगायुषो बन्धः पुनर्न लभ्यते, अबाधाया एवानुत्कृष्टत्वात्, किन्तु यदा असौ जीव उत्कृष्टाबाधायां बद्धं तत् त्रिपल्योपमस्थितिकमायुः पश्चादपवर्त्य पूर्वकोटिस्थितिकं कृत्वा तत्रोत्पद्य तस्य पूर्वकोटीस्थितिकभवस्य चरमं तृतीयभागं वेदयन् तत्प्रथमसमये वर्तते तदा प्रागिव समयमेकं प्राप्यते, न पुनस्तदर्वाक् । तथाच प्रथमभवचरमतृतीयभागद्वितीयसमयात्प्रवृत्तं तिर्यगायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धस्यान्तरं तदनन्तरवर्तिनः पूर्वकोटिस्थितिकभवस्य तृतीयभागावशेष यावत् प्रवर्तत एव । इत्थं प्रस्तुतान्तरं मूलोक्तमानं लभ्यते, समयोनपूर्वकोटीतृतीयभागस्य प्रथमभवसत्कस्य, पूर्वकोटितृतीयभागद्वयस्य तदनन्तरभवसत्कस्य चोत्कृष्टस्थितिकतिर्यगायुर्बन्धद्वयान्तराले पतितत्वात् । इत्थमेव मनुष्यायुरुत्कृष्टस्थितिबन्धजघन्यान्तरविषयेऽपि विभावनीयम् ।

अथ निरय-देवायुषोः प्राह–"**णिरया ऽमरे**"त्यादि, निरयायुषो देवायुषश्च प्रत्येकमुत्कृष्टस्थितिबन्धजघन्यान्तरम् "**समयूणा दससहस्सवासऽहिया पुव्वाण होइ कोडी**" त्ति समयोनदशसहस्रवर्षैरभ्यधिका एका पूर्वकोटिर्भवतीत्यर्थः । **कथम् ? इति चेद्**, पूर्वकोटितृतीयभागलक्षणायामुत्कृष्टाबाधायामुत्कृष्टस्थितिकनिरयायुर्बद्ध्वा पश्चाद्विशुद्धाध्यवसायविशेषेणापवर्त्य ह्रस्वं दशसहस्रवर्षस्थितिकं कृत्वा तत्रोत्पद्य क्रमेण पूर्वकोटीतिर्यगायुर्बद्ध्वा तावत्स्थितिकतिर्यक्तयोत्पद्य प्रागिवोत्कृष्टाबाधायामेव पुनः द्वितीयवारमुत्कृष्टस्थितिकनिरयायुषो बन्धः सम्भवति, न पुनस्तदर्वाक्, तथाचोत्कृष्टस्थितिकनिरयायुर्बन्धद्वयमध्ये यथोक्तकालः सम्पद्यते, प्रथमतिर्यग्भवसत्कस्य समयोनपूर्वकोटितृतीयभागस्य, तदनन्तरवर्तिनिरयभवसत्कानां दशसहस्रवर्षाणाम्, तदनन्तरवर्तिद्वितीयतिर्यग्भवसत्कस्य पूर्वकोटितृतीयभागद्वयस्य चोत्कृष्टस्थितिकनिरयायुर्बन्धद्वयान्तराले लाभात् । इदं हि तिर्यग्भवस्थाने मनुष्यभवद्वयमादायापि साधयितुं युज्यते, अतो यथेष्टं भावनीयम् । अत्र पूर्वबद्धनिरयायुषोऽध्यवसायविशेषेण पश्चादपवर्तनं ततो जघन्यस्थितिकनिरयतयोत्पाद इत्येतत्सर्वं **मूलस्थितिबन्धविधानग्रन्थ** द्वितीयाधिकारे कर्जीवाश्रयान्तरद्वारवृत्तौ आगमवचनसंवादेनोपपादितमस्माभिः, विशेषजिज्ञासुना तत्रत्य**प्रेमप्रभा**ऽवलोकनीयेति । यथा हि निरयायुषः प्रस्तुतान्तरं भावितं तथा देवायुषोऽपि तद् भावनीयम्, केवलं यथोक्तापवर्तितदशसहस्रवर्षस्थितिकदेवभवान्वरितपूर्वकोटिस्थितिकमनुष्यभवद्वयेन, न पुनस्तादृक्तिर्यग्भवद्वयेन, तिरश्चामोघिकोत्कृष्टस्थितिकदेवायुषोऽबन्धकत्वात्, अपवर्तना चेह संक्लेशाधिक्ये सति द्रष्टव्या, अस्य ह्रस्वस्थितेरशुभत्वादिति ।

"सेसाण भवे मुहुत्तंतो" त्ति अनन्तराभिहितजिननामा-ऽऽयुश्चतुष्कवर्जाणां शेषाणां पञ्च-दशोत्तरशतसंख्याकानां सर्वासामुत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यं बन्धान्तरं 'मुहूर्तान्तः' अन्तर्मुहूर्तं भवेत्, एकदा व्युपरतस्योत्कृष्टस्थितिबन्धस्य जघन्यतः संख्येयेषु तद्विलक्षणेषु समय-द्विसमयादि-हीनहीनतराद्यनुत्कृष्टस्थितिबन्धेष्वकृतेषु पुनरप्रवर्तनादिति भावः । उत्कृष्टस्थितिबन्धप्रायोग्या-ध्यवसायानामेव तथास्वाभाव्येन जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तादर्वागप्राप्तेरिति यावत् ।

अथ प्रस्तुतान्तरमुत्कृष्टत आह–**"देसूणद्धपरट्टो"** इत्यादि, आहारकद्विकस्या-ऽऽहारकशरीर-नामा-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्गनामप्रकृतिद्वयलक्षणस्य **"अमराउगाण"** त्ति देवायुषश्चेत्येतासां तिसृणां प्रकृतीनां देशोनार्धपुद्गलपरावर्तो भवेत्, किं तद् ? इत्याह–**"उक्कोस"** ति उत्कृष्टस्थिति-बन्धस्योत्कृष्टमन्तरमित्यर्थः । कथम् ? उच्यते, आहारकद्विकस्यानुत्तरभवसत्कोत्कृष्टस्थितिकदेवा-युषश्च भावसंयमव्यतिरेकेणाऽबन्धात्, अनुभूतभावसंयमस्य जीवस्यापार्धपुद्गलपरावर्ततोऽधिकं कालं संसारेऽवस्थानाभावेन भावसंयमोत्कृष्टान्तरस्य सम्यक्त्वोपशमश्रेण्याद्युत्कृष्टान्तरवद् देशोनापा-र्धपुद्गलपरावर्तप्रमाणत्वाच्चेति ।

उक्तशेषप्रकृतीनामाह–**"सेसाणं होइ"** इत्यादि, अनन्तरोक्तप्रकृतित्रितयं जिननाम च विव-र्ज्य शेषाणां सर्वासां षोडशोत्तरशतप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्योत्कृष्टान्तरं **"परट्टा असंखेज्जा"** त्ति असंख्येयाः पुद्गलपरावर्ता भवति, प्रत्येकमुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य संज्ञिपञ्चेन्द्रियमिथ्यादृष्टिस्वामि-कतया संज्ञिपञ्चेन्द्रियमिथ्यादृष्ट्यवस्थायामुत्कृष्टस्थितिबन्धं कृत्वा क्रमेणाऽसंज्ञितयोत्पन्नानामसंज्ञ्यु-त्कृष्टकायस्थितिं निर्गमयतां तत्र कदाप्युत्कृष्टस्थितिबन्धस्याऽप्रवर्तनाद् असंज्ञ्युत्कृष्टकायस्थितेरसं-ख्येयपुद्गलपरावर्तप्रमाणत्वाच्च । उक्तं च **मूलस्थितिबन्धद्वितीयाधिकारे** कायस्थितिं दर्शयता 'णेया असंखिया खलु परिअट्टा पोग्गलाण तिरियस्स । एगिंदिय-इयराण काय-ण्पु सग-असण्णीण' इति ॥४५३॥

तदेवमभिहितं सर्वोत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितेर्जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नं द्विविधं बन्धान्तरमोघतः । इदानीमनुत्कृष्टस्थितेस्तदोघतो बिभणिषुरार्यापञ्चकमाह—

आहारदुगस्स तहा चउआऊणं लहुं मुहुत्तंतो ।
होइ अणुक्कोसाए ठिईअ समयोऽत्थि सेसाणं ॥४५४॥
बत्तीससागरसयं जेट्ठं मिच्छाइपंचवीसाए ।
मज्झऽट्ठकसायाण कोडी पुव्वाण देसूणा ॥४५५॥
होइ असंखपरट्टा णिरय णर-सुराउ-छणिरयाईणं ।
तिरियाउस्स पुहुत्तं जलहिसयाणं मुणेयव्वं ॥४५६॥

तेवट्ठिसागरसयं तिरियाइतिगस्स णरदु-गुच्चाणं ।
लोगाऽसंखा अहियं पल्लतिगं तिवइराईणं ॥४५७॥
पणसीइसागरसयं णवायवाईण अद्धपरिअट्टो ।
आहारदुगस्सूणो सेसाण भवे मुहुत्तंतो ॥४५८॥

(प्रे०) "आहारदुगस्से"त्यादि, ओघतः 'आहारकद्विकस्य' आहारकशरीर-तदङ्गोपाङ्ग-प्रकृतिद्वयलक्षणस्य तथा निरय-तिर्यग्-मनुष्य देवभेदाच्चतुर्णामायुषाम् "लहुं मुहुत्तंतो होइ अणुक्कोसाए" त्ति अनुत्कृष्टायाः स्थितेः 'लघु' जघन्यं बन्धान्तर 'मुहूर्तान्तः'-अन्तर्मुहूर्तं भवति, तत्र चतसृणामायुःप्रकृतीनां प्रस्तुतान्तरं सर्वथा तासां प्रकृतिबन्धजघन्यान्तरवद्विज्ञेयम् , प्रकृतिबन्ध-जघन्यान्तरस्याऽऽयुर्बन्धप्रायोग्यचरम-द्विचरमाद्वाद्वय आकर्षद्वयेन द्विर्जायमानायुर्बन्धान्तरालापेक्षया लाभात् , तत्र चरम-द्विचरमयोराकर्षयोर्बध्यमानायुषोऽनुत्कृष्टस्थितिकत्वाच्च । एतच्च विशेषतो मूल-प्रकृतिस्थितिबन्धद्वितीयाधिकारैकजीवाश्रयान्तरद्वारदर्शितमूलप्रकृत्यनुत्कृष्टस्थितिबन्धजघन्यान्त-रवद्भावनीयम् , नाऽत्र पुनः प्रपञ्च्यते, तत्र विस्तरेण प्रपञ्चितत्वात् , प्रकारान्तरेणाऽपि तत्रैव दर्शित-भवद्वयापेक्षया मूलोक्तात्सुदीर्घं स्वयमेवाभ्यूह्यम् । एवमुत्तरत्रापि मतान्तरेण संसाधनीयं यथा-सम्भवं स्वधिया सुधियेति । आहारकद्विकस्याऽपि प्रस्तुतान्तरं तस्य प्रकृतिबन्धान्तरवद्विज्ञेयम् । कथम् ? तदीयोत्कृष्टस्थितिबन्धस्य प्रमत्ताभिमुखाऽप्रमत्तस्वामिकत्वात् , प्रमत्तस्य प्रकृतिबन्धस्वामित्वा-भावाच्च । को भावः ? उच्यते, आहारकद्विकस्य प्रकृतिबन्धस्वामिनो ह्यप्रमत्तादिगुणस्थानवर्तिनो जीवाः, न तु प्रमत्तसंयता अपि, अप्रमत्तेष्वपि तस्योत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनः प्रमत्ताभिमुखा एवोक्ताः, ते चानुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य प्रान्ते चरममेकमेव स्थितिबन्धमुत्कृष्टस्थितिकं कुर्वन्ति, न तु द्विचर-मादिस्थितिबन्धम् , अभिमुखावस्थावर्तिना तेषां यथोत्तरं सङ्क्लिश्यमानतया द्विचरमादिस्थिति-बन्धापेक्षया चरमस्थितिबन्धे एवाऽधिकसंक्लिष्टत्वात् , चरमे उत्कृष्टस्थितिबन्धे समाप्ते तु तेषा-माहारकद्विकस्य बन्ध एव विच्छिद्यते, कुतः ? प्रमत्तगुणस्थानप्राप्तेः । इत्थं च न भवति तेषामा-हारकद्विकस्यानुत्कृष्टस्थितिबन्धमध्ये उत्कृष्टस्थितिबन्धः, एवं चाहारकद्विकसत्कर्मणां जीवानाम-प्रमत्तगुणस्थानद्वयान्तरालवर्तिनो यः सर्वजघन्यः प्रमत्तगुणस्थानकालस्तत्प्रमाणं यत्प्रकृतिबन्धान्तरं तदधीन प्रस्तुताऽऽहारकद्विकानुत्कृष्टस्थितिबन्धजघन्यान्तरमप्यन्तर्मुहूर्तं लभ्यत इति ।

"सेसाणं" ति उक्तायुश्चतुष्कादिप्रकृतिषट्कवर्जानां शेषाणां चतुर्दशोत्तरशतप्रकृतीना-मनुत्कृष्टस्थितेर्जघन्य बन्धान्तरम् "समयोऽत्थि" त्ति समयमात्रं भवति, तत्र जिननाम्नः समयमात्राऽबन्धकालप्रयुक्तप्रकृतिबन्धान्तरस्य तथात्वात् प्रस्तुतान्तरं समयं प्राप्यते, नान्यथा, तदी-योत्कृष्टस्थितिबन्धस्य मिथ्यात्वाभिमुखस्वामिकत्वात् । शेषाणां तूत्कृष्टस्थितिबन्धस्याभिमुखाद्य-

वस्थाया अन्यत्र जायमानतयोत्कृष्टस्थितिबन्धजघन्यकालस्य समयमात्रत्वेन तेन समयं प्रवृत्तेनोत्कृष्टस्थितिबन्धेनान्तरितयोरनुत्कृष्टस्थितिबन्धयोरन्तरस्य समयमात्रत्वलाभात् तदपेक्षयाऽपि प्रस्तुतान्तरं समयमात्रमुपपद्यत इति ।

अथ प्रस्तुतान्तरमुत्कृष्टत आह–"**बत्तीससागरे**"त्यादि, तत्र "**मिच्छाइपंचवीसाए**" त्ति "मिच्छं थीणद्धितिग-मणचउग-थी-णपुमा । संघयणा-ऽऽगिइपणग दुहगतिगं कुखगई णीअ ॥४४८॥" इत्येतावता संग्रहगाथांशेन पूर्वं प्रस्तुतद्वारप्रारम्भे संगृहीतानां मिथ्यात्वादीनां मिथ्यात्व स्त्यानर्द्धित्रिका-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्क-स्त्रीवेद-नपुंसकवेद-प्रथमवर्जसंहननपञ्चक-प्रथमवर्जसंस्थानपञ्चक-दुर्भगत्रिका-ऽप्रशस्तविहायोगति-नीचैर्गोत्रलक्षणानां पञ्चविंशतेः प्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितेः 'ज्येष्ठम्'-उत्कृष्टं बन्धान्तरम् "**बत्तीससागरसयं**" ति द्वात्रिंशदभ्यधिकं सागरोपमशतं भवति, एतच्चान्तरं मूलोक्तप्रमाणात्सातिरेकं द्रष्टव्यम्, सम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्वोत्कृष्टकालाऽधीनस्यैतासां पञ्चविंशतिप्रकृतीनामबन्धकालस्यैव मनुष्यभवसत्ककियत्कालेनाभ्यधिकद्वात्रिंशदुत्तरशतसागरोपमत्वात्, प्रस्तुतान्तरस्य मिथ्यात्वादीनामुत्कृष्टाऽबन्धकालाधीनत्वाच्च । उक्तश्चासामुत्कृष्टोऽबन्धकालो नव्यशतके **श्रीमद्देवेन्द्रसूरिपादैः**–"अपढमसघयणा-ऽऽगिइ खगइ-अण मिच्छ-दुभग-थीणतिगं । निय नपु इत्थि दुतिस पणिंदिसु अबधठिइ परमा ॥५७॥" इति ।

अत्र 'दुतिसं' इत्यस्य वृत्तिः–"एतासां पञ्चविंशतिप्रकृतीनां नरभवसहित "दुतीस" ति द्वात्रिंशं शतमतराणां भवतीति शेष" इति ।

जीवसमासावचूरिकृदभिप्रायेण त्वेतासु मार्गणासु मिथ्यात्वाद्यष्टप्रकृतीनां न परिपूर्णं द्वात्रिंशत्सागरोपमशतम्, न वा तदधिकमपि तु देशोनमेव तद्विज्ञायते, तथाच तद्ग्रन्थः–"मिथ्यात्वस्यान्तरं सागरोपमाणां षट्षष्टी देशोनान्तर्मुहूर्तोने, कथमित्युच्यते, कश्चित् सम्यक्त्वमवाप्य षट्षष्टिसागरोपमाणि पुनरन्तर्मुहूर्तविशेषं सम्यग्मिथ्यात्वं गत्वाऽन्तर्मुहूर्तं यावत् स्थित्वा पुनः सम्यक्त्वमेव प्रतिपद्य षट्षष्टिसागरोपमाण्यन्तर्मुहूर्तोनानि यावत् स्थित्वा पुनर्मिथ्यात्वं प्रतिपद्यते, तदेव द्वे षट्षष्टी अन्तर्मुहूर्तोने मिथ्यात्वस्यान्तरम्" इति । **जघन्यप्रदेशसंक्रमस्वामित्वा**नुसारेण पुनर्नपुंसकवेद-संहननपञ्चक-संस्थानपञ्चक-दुर्भगत्रिक-कुखगति नीचैर्गोत्रलक्षणानां षोडशप्रकृतीनां मूलोक्तादप्यधिकमेवाऽवबुध्यते, कथम् ? "थीवेएण सरिसगं नवर पढमं तिपल्लेसु" इति वचनात् । सति मिथ्यात्वे युगलधर्मिणां स्त्रीवेदादेर्बन्धसम्भवेऽपि नपुंसकवेदादेर्बन्धाभावादिति भावः ।

"**मज्झऽट्ठ**" इत्यादि, मध्यमानामप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरणक्रोधादीनामष्टानामनुत्कृष्टस्थितिबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं "**कोडी पुव्वाण देसूणा**" त्ति देशोना पूर्वकोटी भवति । कथम् ? सर्वसयतावस्थायामासामष्टानां बन्धाभावेन तदीयप्रकृतिबन्धान्तरस्यैवोत्कृष्टतो देशोनपूर्वकोटिप्रमाणत्वात् । इत्थं ह्युत्तरत्राऽपि तत्तत्प्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरोपपत्तौ प्रायस्तासां प्रकृतिबन्धोत्कृष्टान्तरमानमेवानुसर्तव्यम् । "**होइ असंखपरट्टा**" इत्यादि, निरयायुर्नरायुः

सुरायुस्तेषां तथा "**छणिरयाईणं**" ति 'णिरयसुरविउव्वदुगं' ॥४४९॥ इत्यनेन संग्रहगाथांशेन संगृहीतस्य निरयद्विक देवद्विक वैक्रियद्विकलक्षणस्य वैक्रियषट्कस्यानुत्कृष्टस्थितिबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमसंख्येयाः पुद्गलपरावर्ता भवति। तत्र वैक्रियाष्टकं स्वभावत एवैकेन्द्रिय-विकलेन्द्रियैर्न बध्यते, एकेन्द्रियाद्यवस्था चोत्कृष्टत असंख्येयान् पुद्गलपरावर्तान् यावत्तिष्ठति, तथाच वैक्रियाष्टकोत्कृष्टाऽबन्धकालस्यैवाऽसंख्येयपुद्गलपरावर्तप्रमाणत्वात् प्रस्तुतमन्तरमपि सुतरां तथा भवति, मनुष्यायुर्बन्धाधीनाया मनुष्यगतेरप्यन्तरमुत्कृष्टतोऽसंख्येयपुद्गलपरावर्ता एव, तदुक्तं **श्रीजीवाजीवाभिगमागमे**–'णेरइयमणुस्सदेवाण अंतर जहन्नेण अंतोमुहुत्त, उक्कोसेण वणस्सतिकालो" इति। तथाच मनुष्यायुरुत्कृष्टाऽबन्धकालस्याऽसंख्येयपुद्गलपरावर्तप्रमाणत्वात्तदधीनं मनुष्यायुषोऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरमपि तावदसंख्येयपुद्गलपरावर्तमानमवाप्यत इति। '**तिरियाउस्स**"त्यादि, तिर्यगायुषोऽनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टं बन्धान्तरम् "**पुहुत्तं जलहिसयाणं**" ति सागरोपमशतपृथक्त्वं भवति, तदीयप्रकृतिबन्धान्तरस्यैव तथात्वात्। यतो **जीवाजीवाभिगमे** चतुर्थप्रतिपत्तौ–

"तिरिक्खजोणियस्स अंतर जहन्नेण अंतोमुहुत्त उक्कोसेण सागरोवमसयपुहुत्त साइरेग" इति।

"**तेषट्ठिसागरसय**" मित्यादि, त्रिषष्ट्यभ्यधिकसागरोपमशतं प्रस्तुतान्तरं "**तिरियाइतिगस्स**" त्ति 'तिरियदुगुज्जोअ' (गाथा–४४९) इत्येतावत्संग्रहगाथांशसंगृहीतानां तिर्यगादीनां तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्व्युद्योतनाम्नां त्रिकस्य भवति, एतच्च मूलोक्तात् सातिरेकपल्योपमचतुष्केणाऽभ्यधिकं विज्ञेयम्, तासां प्रकृतिबन्धान्तरस्यैव तथात्वात्। अन्ये तु एवंरीत्या सातिरेकतां नेच्छन्तीति।

"**णरदुगुच्चाण**" इत्यादि, नरद्विकस्य मनुष्यगति-मनुष्यानुपूर्वीलक्षणस्योच्चैर्गोत्रस्य चाऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरम् "**लोगाऽसखा**" त्ति तेजस्कायवायुकायोत्कृष्टकायस्थित्यसंख्येयलोकान् यावत् मनुष्यगत्यादीनां तिसृणां प्रकृतीनां बन्धाभावेन तदीयप्रकृतिबन्धोत्कृष्टान्तरस्यैवाऽसंख्येयलोकप्रमाणत्वादिति।

"**अहिय**" मित्यादि, अन्तर्मुहूर्तोनपूर्वकोटितृतीयभागेनाऽधिकं "**पल्लतिगं**" ति पल्योपमत्रिकं प्रस्तुतमनुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरं भवति। कासाम्? "**तिवइराईणं**" ति 'वइरुरलुवगाणि ॥४४९॥ उरल' इत्येतावता संग्रहगाथांशेन संगृहीतानां तिसृणां वज्रर्षभनाराचसंहननौदारिकशरीरौदारिकाङ्गोपाङ्गनामप्रकृतीनाम्। कथम्? सम्यग्दृष्टितिर्यग्मनुष्यत्वे देवप्रायोग्यप्रकृतीनामेव बन्धभावेन तावत्कालमामां वज्रर्षभनाराचादीनां तिसृणामबन्धेन प्रकृतिबन्धान्तरस्यैवान्तर्मुहूर्तोनपूर्वकोटितृतीयभागाभ्यधिकत्रिपल्योपमप्रमाणत्वादिति। तावत्प्रकृतिबन्धान्तरं तु मनुष्यभवे पूर्वकोटितृतीयभागलक्षणोत्कृष्टाबाधायां त्रिपल्योपमस्थितिकयुग्म्यायुर्बद्ध्वाऽविलम्बेन क्षायोपशमिकं सम्यक्त्वं तदनु क्षायिकसम्यक्त्वं चावाप्य क्रमेण युग्मितयोत्पद्यमानजीवापेक्षयोपपादनीयम्।

"पणसीइसागरसय"मित्यादि, 'आयव-थावर-एगिंदि-सुहुमविगलतिग' (गाथा-४४९) मित्येतावता संग्रहगाथांशेन संगृहीता आतप--स्थावरचतुष्क--जातिचतुष्कलक्षणा या आतपादिनवप्रकृतयस्तासामनुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरं पञ्चाशीत्यभ्यधिकसागरोपमशतप्रमाणम् ; इदमपि पूर्ववन्मूलोक्तप्रमाणात्सातिरेकपल्योपमचतुष्टयेन सातिरेकमेव विज्ञेयम् , कदाचित् सत्यपि मिथ्यात्वे नारकादिभवप्रत्ययात् कदाचित्तु मिथ्यात्वगुणस्थाने एव बन्धप्रायोग्याणां प्रस्तुतप्रकृतीनां सम्यक्त्वाद्यवस्थावशेन सतताऽबन्धकालस्य तथालाभात् । **तथाहि**–कश्चित्प्राणी षष्ठपृथिव्यामुत्कृष्टस्थितिकनारकत्वे भवप्रत्ययादेता नव प्रकृतीरबद्ध्वा भवचरमान्तर्मुहूर्ते सम्यक्त्वमासाद्य पश्चान्मनुष्यतयोत्पद्य देशसंयममवाप्य क्रमेण चतुःपल्योपमस्थितिकदेवो भूत्वा तदनु ससम्यक्त्वमेव मनुष्यतयोत्पद्य सम्पूर्णं संयममनुपाल्य च नवमग्रैवेयके एकत्रिंशत्सागरोपमस्थितिकदेवतयोत्पद्यते, तत्र चोत्पद्यनन्तरमन्तर्मुहूर्तेन मिथ्यात्वमासादयति, न च तत्राऽपि तस्यैतासामन्यतमस्या बन्धः प्रवर्तते, ग्रैवेयकदेवानामनन्तरभवे एकेन्द्रियादितयाऽनुत्पादेनैकेन्द्रियादिप्रायोग्याणामासां सर्वदैवाऽबन्धात् । तत्र चान्तर्मुहूर्ते शेषे सम्यक्त्वमधिगत्य ससम्यक्त्वमेव ततश्च्युत्वा मनुष्यतयोत्पद्य सर्वविरतिमनुपाल्य ससम्यक्त्वमेव वारद्वयमनुत्तरदेवतयोत्पद्य षट्षष्टिसागरोपमसम्यक्त्वकालं प्रपूर्य मनुष्यत्वेऽन्तर्मुहूर्तं सम्यग्मिथ्यात्वं संवेद्य पुनरपि षट्षष्टिसागरोपमसम्यक्त्वकालं वारत्रयमच्युतकल्पगमनेन पूरयति; न चैतेषु देवभवेषु मनुष्यभवेषु वा तस्यैतासामन्यतमप्रकृतेर्बन्धः सम्भवति, मनुष्यभवेषु ससम्यक्त्वतया तथा ग्रैवेयकादिभवेषु भवस्वाभाव्येन तदबन्धादिति । इत्थं च एतासां नवानां प्रकृतिबन्धोत्कृष्टान्तरस्य यथोक्तत्वात्तासामनुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरमपि यथोक्तमेव सम्पद्यत इति । भावितं चैतद् **देवेन्द्रसूरिपादैः स्वोपज्ञनव्यशतकवृत्तौ** । अन्ये त्विहाप्यतिरेकतां न भणन्तीति ।

"अद्धपरिअट्टो" इत्यादि, आहारकद्विकस्या-ऽऽहारकशरीरा-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्गप्रकृतिद्वयरूपस्यानुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरं तु प्रागिव संयमोत्कृष्टान्तरादूह्यमिति । **"सेसाण भवे मुहुत्तंतो"** त्ति अनन्तरम् 'मिच्छाइपंचवीसाए' इत्यादिना भणितास्त्रिषष्टिप्रकृतीस्त्यक्त्वा शेषाणां मतिज्ञानावरणाद्येकत्रिंशद्ध्रुवबन्धिनीनां तथा सातवेदनीयादिषड्विंशत्यध्रुवबन्धिनीनामनुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरं **'मुहूर्तान्तः'** अन्तर्मुहूर्तं भवेत् , तच्च तासां प्रकृतिबन्धोत्कृष्टान्तरापेक्षया विज्ञेयम् , न तूत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टकालापेक्षया, तदपेक्षयाऽबन्धकालप्रयुक्तस्यैव तस्य दीर्घत्वादिति । मतिज्ञानावरणाद्याः शेषप्रकृतयो नामतस्त्विमाः-पञ्चज्ञानावरण-चतुर्दर्शनावरण-निद्राद्विक संज्वलनचतुष्क-भय-जुगुप्सामोहनीय-वर्णचतुष्क तैजस-कार्मणशरीरा ऽगुरुलघु निर्माणो-पघातनामा-ऽन्तरायपञ्चकानीत्येता ध्रुवबन्धिन्यः, साता-ऽसातवेदनीय-हास्य-रति-शोका ऽरति-पुरुषवेदमोहनीय पञ्चेन्द्रियजाति समचतुरस्रसंस्थान–प्रशस्तविहायोगति–पराघातो-च्छ्वास–तीर्थकरनाम–त्रसदशका–ऽस्थिरा-ऽशुभा–ऽयशः-

कीर्तिनामान्यध्रुवबन्धिन्यश्चेति ॥४५४-४५८॥

तदेवमभिहितं सर्वासामुत्तरप्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितिबन्धस्याऽपि जघन्योत्कृष्टद्विविधान्तरमोघतः। साम्प्रतमादेशतो व्याजिहीर्षुरादौ तावादुत्कृष्टस्थितेर्बन्धान्तरं यासु मार्गणासु सर्वासामपि बन्धप्रायोग्यप्रकृतीना न भवति तत्र तत्तासां प्रतिषेधयन्नाह—

सव्वेसु जोगेसु गयवेअ-कसायचउग-सुहुमेसु ।
सासण-ऽणाहारेसु ण अंतरं सव्वपयडीणं ॥४५९॥

(प्रे०) "**सव्वेसु**"मित्यादि, मूलोत्तरभेदभिन्नेषु सर्वेष्वष्टादशसंख्याकेष्वधिकृतेषु '**योगेषु**' मनोयोगादियोगमार्गणास्थानेषु, अपगतवेदे, क्रोधादिकषायचतुष्के, "**सुहुम**" त्ति सूक्ष्मसम्पराये, सासादने, अनाहारकमार्गणास्थाने चेति सर्वसंख्यया षड्विंशतिमार्गणासु "**ण अंतरं सव्वपयडीणं**" ति "**उक्कोसाअ ठिईए**" इत्याद्युत्तरगाथातोऽत्राऽपि सम्बध्यते ततस्तत्र तत्र मनोयोगादिमार्गणास्थाने बन्धप्रायोग्याऽऽयुर्वर्जमतिज्ञानावरणादिसर्वप्रकृतीनामुत्कृष्टायाः स्थितेः "**अंतरं**" ति प्रस्तुतत्वाद् बन्धान्तरं न भवतीत्यर्थः । कथं न भवति ? इति चेद् , तत्तन्मनोयोगादिमार्गणोत्कृष्टकायस्थितेरेवोत्कृष्टस्थितिबन्धद्वयजघन्यान्तरालापेक्षया ह्रस्वत्वेन मार्गणोत्कृष्टकालमध्ये सकृदेवोत्कृष्टस्थितिबन्धस्य सम्भवात्; उत्कृष्टस्थितिबन्धस्य सकृत्सम्भवे तूत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरं न स्यादिति तु सुगममेव । न च काययोगौदारिककाययोगमार्गणास्थानयोरुत्कृष्टकायस्थितिः सुबहुदीर्घा यथासंख्यमसंख्येयपुद्गलपरावर्ता देशोनद्वाविंशतिवर्षसहस्राणि च, न पुनः शेषमनोयोगादीनामिवान्तर्मुहूर्तम् , तत्कथ तयोरपि प्रस्तुतान्तरं प्रतिषिध्यत इति **वाच्यम्** , उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिना सम्भवदुत्कृष्टकायस्थितेरेवात्रोपयोगित्वात् तस्याः पञ्चेन्द्रियतिर्यगाद्युत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिसम्बन्धिन्या काययोगसामान्यौदारिककाययोगोत्कृष्टकायस्थितेर्ह्रस्वत्वाच्चेत्येतत्सर्वं मूलस्थितिबन्धग्रन्थवृत्तौ प्रपञ्चितमेवास्माभिरिति नात्र प्रपञ्च्यते । अत एव कृष्णादिलेश्योत्कृष्टकायस्थितेः सुबहुदीर्घत्वेऽपि कृष्णलेश्यादिमार्गणास्थानेष्वपि तिर्यग्मनुष्यस्वामिकोत्कृष्टस्थितिकानां नरकगत्यादितत्तत्प्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्यान्तरमग्रे प्रतिपेत्स्यत्येव ग्रन्थकृदिति ॥४५९॥

अथोक्तशेषमार्गणास्थानेषु कुत्रचित्कासाञ्चित्प्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्यानन्तरोक्तनीत्या तदीयोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिना मिथ्यात्वादिमार्गणान्तराभिमुखतया वा न भवत्यन्तरम् , सकृदुत्कृष्टस्थितिबन्धे कृतेऽनुपदं मार्गणाया एव विच्छेदात् । अन्यासा तु तज्जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तमेव लभ्यते, एकदाप्युपरतानामुत्कृष्टस्थितिबन्धप्रायोग्याध्यवसायानां जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तादूर्ध्वमेव सम्पत्तेः, इत्यतः कुत्रचित्कासाञ्चिदुत्कृष्टस्थितिबन्धजघन्यान्तरं प्रतिपिषेधयिषुः प्रतिषेध्यशेषाणां तु तदन्तर्मुहूर्तप्रमाणं प्रतिपिपादयिषुश्च गाथापञ्चकमाह—

उक्कोसाअ ठिईए सप्पाउग्गाण आउवज्जाणं ।
सेसासु मुहुत्तंतो अणिसिज्जंताण होइ लहु ॥४६०॥
तित्थस्स अंतरं णो तिमणुस-दुपणिंदि-तस-तिवेएसु ।
अजय-णयणे-यरेसु भविये सण्णिम्मि आहारे ॥४६१॥
चउणाण-संजमेसु समइअ-छेअ-परिहार-देसेसु ।
सम्मु-वसम-वेअग-मीसो-हीसु सिं ण अहिमुहो जेसिं ॥४६२॥(गीतिः)
बारससुहुमाईणं विब्भंगे णंतरं ति बिंति परे ।
सुहलेसासु ण भवे सुर-विउवा-ऽऽहारजुगलाणं ॥४६३॥
बारससुहुमाईणं ण असुहलेसासु किण्हणीलासु ।
ण जिणस्स, णत्थि तीसु वि तिआववाईण बिंति परे ॥४६४॥

(प्रे०) "उक्कोसाअ ठिईए" इत्यादि, तत्र "सेसासु" त्ति अनन्तरोक्तमनोयोगादिषड्विंशतिमार्गणा अपहाय शेषासु निरयगत्योघादिचतुश्चत्वारिंशदुत्तरशतमार्गणासु "अणिसिज्जंताण" त्ति 'सत्सामीप्ये सद्वद् वा' (सिद्धहेम० ॥५।४।१॥) इत्यनेन वर्तमानस्य समीपे भविष्यति वर्तमानायाः प्रयुक्तत्वाद् उत्तरगाथाचतुष्के 'तित्थस्स अंतरं णो' इत्यादिना यासां प्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरं निषेत्स्यते ताः निषेत्स्यमानाः न निषेत्स्यमानाः अनिषेत्स्यमानास्तासामनिषेत्स्यमानानामित्यर्थः, एवम्भूतानाम् "सप्पाउग्गाण आउवज्जाणं" ति निरयगत्योघादौ स्वस्यां स्वस्यां बन्धप्रायोग्याणामायुर्वर्जप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितेः "होइ लहुं" ति जघन्यं बन्धान्तरं "मुहुत्तंतो" अन्तर्मुहूर्तं भवतीत्यर्थः ।

अथ प्रतिषेत्स्यमानशेषाणामायुर्वर्जानामुत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरमन्तर्मुहूर्तं ज्ञापयित्वा, यासां तत्प्रतिषेध्यं तासां प्रतिषेधयन्नाह–"तित्थस्स अंतरं णो" इत्यादि, अपर्याप्तभेदवर्जेषु त्रिषु मनुष्योघतत्पर्याप्त-मानुषीलक्षणेषु मनुष्यगतिमार्गणास्थानेषु, तथैवाऽपर्याप्तभेदवर्जितयोर्द्वयोरोघपर्याप्तभेदभिन्नयोः पञ्चेन्द्रियमार्गणास्थानयोः द्वयोश्च त्रसकायमार्गणास्थानयोस्तथा त्रिषु पुरुष-स्त्री-नपुंसकभेदभिन्नेषु वेदमार्गणास्थानेषु, असंयमे, "णयणेयरेसु" ति चक्षुर-चक्षुर्दर्शनमार्गणास्थानद्वये, भव्यमार्गणास्थाने, संज्ञिमार्गणास्थाने, आहारकमार्गणास्थाने चेत्येवं सर्वसंख्यया षोडशमार्गणास्थानेषु प्रत्येकं तीर्थकरनाम्न उत्कृष्टस्थितिबन्धस्याऽन्तरं न भवति, ओघवत् प्रत्येकं मिथ्यात्वाभिमुखानां तीर्थकृन्नामोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामितया तदीयोत्कृष्टस्थितिबन्धस्यैव सकृल्लाभात् । इत्थमेतासु केवलस्य जिननाम्नः प्रस्तुतान्तरे प्रतिषिद्धे प्रत्येकं जिननाम विना शेषाऽऽयुर्वर्जबन्धप्रायो-

ग्याणां पञ्चदशोत्तरशतप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरं भवति, तच्च जघन्यतः "**मुहुत्तंतो अणिसिज्जंताण होइ लहु**" मित्यनन्तरोक्तवचनादन्तर्मुहूर्तं कथितमेव । एवमुत्तरत्राऽपि ज्ञेयम् ।

अन्यत्र प्रतिषेधमाह-"**चउणाणे**"त्यादि, मत्यादिचतुर्ज्ञानमार्गणास्थानेषु, संयमौघे, सामायिक-छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धिकसंयमेषु, देशसंयममार्गणास्थाने तथा सम्यक्त्वौघौपशमिक-क्षायोपशमिकसम्यक्त्वेषु '**मीसोही**' त्ति सम्यग्मिथ्यात्वमार्गणास्थानेऽवधिदर्शनमार्गणास्थाने चेत्येवं सर्वसंख्यया चतुर्दशमार्गणासु "**सि ण**" त्ति तासां न भवति, प्रस्तुतत्वादुत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरमिति गम्यते, कासामित्याह-"**अहिमुहो जेसिं**" ति यासां मतिज्ञानावरणादिप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी **स्वामित्वद्वारे** मिथ्यात्वादिमार्गणान्तराभिमुखोऽभिहित इत्यर्थः । एतासु मार्गणासु शेषाऽऽयुर्वर्जप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरं तु प्रागिव जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमेव । **तथाहि**-देशसंयम-सम्यग्मिथ्यात्वमार्गणास्थानयोः सातवेदनीय-हास्य-रति-स्थिर शुभ-यशःकीर्तिनामलक्षणप्रकृतिषट्कं विहाय शेषाणां सर्वासामायुर्वर्जानामुत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरं न भवति । ज्ञानचतुष्क-संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापनीय परिहारविशुद्धिका ऽवधिदर्शन--सम्यक्त्वौघ-क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणास्थानेषु प्रत्येकं सातवेदनीय-हास्य-रतिमोहनीया-ऽऽहारकद्विक स्थिर-शुभयशःकीर्तिनामलक्षणप्रकृत्यष्टकं विहाय शेषाणां सर्वासामायुर्वर्जबन्धप्रायोग्यप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्यान्तरं न भवति, सातवेदनीयाद्यष्टप्रकृतीनां तु तज्जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तम् । औपशमिकसम्यक्त्वमार्गणास्थाने तु सातवेदनीयाद्या अष्टौ जिननाम चेत्येवं नव विवर्ज्य बन्धप्रायोग्याणां प्रस्तुतान्तरं न भवति, नवानां तु तज्जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमेवेति । उपपत्तिस्तु पातनयैव गतेति ।

अथ महाबन्धकारमते विभङ्गज्ञानमार्गणायां सूक्ष्मनामादिप्रकृतीनां प्रस्तुतान्तरप्रतिषेधमाह-"**बारसे**"त्यादि, विभङ्गज्ञानमार्गणास्थाने 'सुहुमविगलतिग । णिरयसुरविउव्वदुग'मित्येतावता (४४९) संग्रहगाथांशेन संगृहीतानां सूक्ष्मत्रिक-विकलत्रिक निरयद्विक-देवद्विक-वैक्रियद्विकलक्षणानां द्वादशानां सूक्ष्मादिनामप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितेः "**णतरं**" ति बन्धान्तरं न भवतीत्यर्थः । तन्मते तिर्यग्मनुष्यानाश्रित्य विभङ्गज्ञानोत्कृष्टकायस्थितेरन्तर्मुहूर्तमात्रतया तावत्कायस्थितौ द्विः सूक्ष्मनामादिप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धाभावादिति भावः । देवनैरयिकापेक्षया त्वसम्भव एव, देवनैरयिकाणामासां प्रकृतीनामेवाऽबन्धात् । तिर्यग्मनुष्याणां दीर्घकालं यावद् विभङ्गज्ञानावस्थानस्येष्टत्वान्मूलमते तु शेषप्रकृतीनामिव सूक्ष्मादिद्वादशप्रकृतीनामपि तद्भवति, तच्च जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तं बोद्धव्यम् ।

'**सुहलेसासु**'' इत्यादि, तेजः-पद्म-शुक्लाभिधासु तिसृषु शुभलेश्यासु '**सुरविउव्वाऽऽहारजुगलाणं**'' ति युगलशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धाद् देवद्विक-वैक्रियद्विका-ऽऽहारकद्विकलक्षणानां षण्णां प्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरं न भवति, तिर्यग्मनुष्याणां तदुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वात्, तेषां तत्तल्लेश्यायामुत्कृष्टतोऽपि स्तोकमन्तर्मुहूर्तमेवावस्थानेन निरन्तरे विवक्षितलेश्या-

काले द्विरुत्कृष्टस्थितिबन्धस्यैवाऽभवनादिति । शेषप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य तु देवस्वामिकतया तेषां देवानां तेजोलेश्यादेर्यावज्जीवमवस्थानेन च भवति शेषाणामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्यान्तरम्, तच्च 'सेसासु मुहुत्ततो' (गाथा-४६०) इत्यादिपूर्वोक्तवचनाज्जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमिति ।

"बारसे" त्यादि, 'अशुभासु' अप्रशस्तासु कृष्ण नील-कापोतसंज्ञासु तिसृषु लेश्यामार्गणासु **"बारससुहुमाईण"** ति 'सुहुमविगलतिगं । णिरय-सुर-विउव्वदुग' (गाथ-४४१) मित्येतावता संगृहीतानां सूक्ष्मादीनां द्वादशानां नामप्रकृतीनां **"ण"** त्ति उत्कृष्टस्थितिबन्धस्यान्तरं न भवति । कथम्? तेजोलेश्यादिवदत्रापि मनुष्यतिरश्चामेव तासामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वात् । तथा **"किण्ह णीलासु ण जिणस्स"** त्ति कृष्णनीललेश्ययोर्जिननाम्नोऽपि तन्न भवति, अत्राऽपि मनुष्याणामेव तदुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वादिति प्रतिषेधनिमित्तं द्रष्टव्यम् । प्रस्तुतमार्गणात्रये मतविशेषेण प्रतिषेवमाह— **"णत्थि तीसु वि"** इत्यादि, तत्रापिशब्दो भिन्नक्रमः समुच्चयार्थश्च, स च 'तिआयवाईण' इत्यस्योत्तरं योज्यस्तथाचान्येषां मते मार्गणात्रये यथोक्तसूक्ष्मनामादिप्रकृतीनामातप-स्थावरैकेन्द्रियनाम्नां च प्रस्तुतान्तरं न भवति । कुत आतपनामादीनां समुच्चयः? तन्मतेऽपर्याप्तावस्थदेवानामेवाऽशुभलेश्याया अभिमतत्वेन सूक्ष्मनामादिवद् आतपनामादीनामप्युत्कृष्टस्थितिबन्धस्य तिर्यग्मनुष्यस्वामिकत्वादिति । मार्गणात्रयेऽपि शेषप्रकृतीनां प्रस्तुतान्तरं तु प्रागिवान्तर्मुहूर्तम्, तच्च प्रागिव देव नारकजीवापेक्षया साधनीयमिति । 'सव्वेसु जोगेसु' इत्यादिना भणिताः षड्विंशतिम्, 'तिमणुसे'त्यादिना प्रोक्ताः षोडश मार्गणाः, 'चउणाणे'त्यादिनाऽभिहिताश्चतुर्दश मार्गणास्तथा विभङ्गमार्गणां षड्लेश्यामार्गणाश्च विहाय शेषसप्तोत्तरशतमार्गणासु तु कस्या अपि प्रकृतेरुत्कृष्टस्थितिबन्धजघन्यान्तरस्याऽप्रतिषेधात्तासु सर्वासामायुर्वर्जप्रकृतीनां तदन्तर्मुहूर्तं प्राग्वद्विज्ञेयम् । शेषमार्गणास्तु नामत इमाः—सर्वे नरकगतिभेदाः, सर्वे तिर्यग्गतिभेदाः, अपर्याप्तमनुष्यभेदः, सर्वे देवगतिभेदाः, सर्वे एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रियभेदाः, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियः, सर्वे पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिकायभेदाः, अपर्याप्तत्रसकायः, अज्ञानद्विकम्, अभव्यः, क्षायिकसम्यक्त्वम्, मिथ्यात्वम्, असंज्ञीतिसप्तोत्तरशतमिति ॥४६०-४६४॥

तदेवं निगदितं सर्वमार्गणासु यासामुत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरं न सम्भवति तासां तत्प्रतिषिध्य शेषाणामायुर्वर्जानां तज्जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमात्रम् । एतर्हि तदेवोत्कृष्टतः प्रतिपादयन्नाह—

सव्वासु गुरुठिईए अवक्खमाणाण आउवज्जाणं ।
अणिसिद्धाणं जेट्ठं देसूणसजेट्ठकायठिई ॥४६५॥
देसूणदुवीसुदही मणुसदुगुच्चाण होइ णेरइए ।
तइए णेरइअम्मि वि जिणस्स अब्भहियजलहितिगं ॥४६६॥
तिपणिंदियतिरियेसु सव्वेसिं अंतरं तिमणुसेसु ।

जिणवज्जाणं पुव्वा कोडिपुहुत्तं मुणेयव्वं ॥४६७॥
देवे अहियदुअयरा तिआयवाईण तित्थवज्जाणं।
सेसाणं सुक्काअवि अट्टारस सागरा ऊणा ॥४६८॥
णेयं असंखलोगा सव्वाणेगक्खवण-णिगोएसुं ।
अंगुलअसंखभागो पंचसु खलु सुहुमकायेसुं ॥४६९॥
णेयं असंखलोगा सुहुमेगिंदिम्मि णरदुगुच्चाणं ।
अंगुलअसंखभागो विण्णेयं सेसपयडीणं ॥४७०॥
आहारदुगस्सूणद्धपरट्टोऽत्थि णपुमम्मि सव्वेसिं ।
दुअणाणा-ऽजय-अभविय-मिच्छेसु असखपरिअट्टा ॥४७१॥
होइ णरदुगुच्चाणं विब्भंगे साहिया दुवीसुदही ।
देसूणा बिंति परे तिआयवाईण अहियजलहिदुगं ॥४७२॥ (गीतिः)
देसूणपुव्वकोडी बारससुहुमाइगाण बोद्धव्वं ।
सव्वेसिं पयडीणं ओघव्व अचक्खु-भवियेसुं ॥४७३॥
पल्लासंखियभागो किण्हाए आयवाईणं ।
होइ णरदुगुच्चाणं देसूणा जलहिबावीसा ॥४७४॥
पल्लासंखियभागो तिआयवाईण णीलकाऊसुं ।
आऊअ जिणस्स भवे अब्भहिया सागरा तिण्णि ॥४७५॥

(प्रे०) "**सव्वासु**"मित्यादि, 'सर्वासु' इति निरयगत्योघादिसर्वमार्गणास्थानेषु "**अवक्खमाणाण**" त्ति प्राग्वद्बन्धप्रायोग्यप्रकृतिभ्यो यासां प्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरं "देसूणदुवीसुदही" इत्यादिनाऽनन्तरं वक्ष्यते ताः वक्ष्यमाणास्तदितरास्त्ववक्ष्यमाणाः प्रकृतयः, तासामवक्ष्यमाणप्रकृतीनाम् , अस्य चान्वयः "**जेट्ठं देसूणसजेट्ठकायठिई**" इत्यनेन, ततस्तासां प्रस्तुतत्वादुत्कृष्टस्थितेर्ज्येष्ठम्-उत्कृष्टं बन्धान्तरं तत्तन्मार्गणायाः स्वीया देशोना ज्येष्ठकायस्थितिरवगन्तव्यमित्यर्थः । किं सर्वासामवक्ष्यमाणप्रकृतीनामित्याह-"**आउमवज्जाण अणिसिद्धाण**' ति अवक्ष्यमाणप्रकृतिभ्योऽप्याऽऽयुःप्रकृतयस्तथा यासां "तित्थस्स अतर णो" (गाथा-४६१) इत्यादिना पूर्वमुत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरं निषिद्धं ता निषिद्धप्रकृतयस्ताः परित्यज्य शेषाणामायुर्वर्जपूर्वनिषिद्धशेषाणां,

न पुनः सर्वासामवक्ष्यमाणप्रकृतीनामित्यर्थः ।

तदेवमायुर्वर्जनिषिद्धशेषावक्ष्यमाणप्रकृतीनामवक्ष्यमाणत्वादेवोत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरं मार्गणादेशोनोत्कृष्टकायस्थितिप्रमाणं ज्ञापयित्वा वक्ष्यमाणानामेव तद्दर्शयन्नाह–"**देसूणे**"त्यादि, निरयगत्योघमार्गणास्थाने मनुष्यद्विकस्य मनुष्यगति-मनुष्यानुपूर्वीलक्षणस्योच्चैर्गोत्रस्य च देशोना द्वाविंशतिरुदधयः–सागरोपमाणि भवति, उत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरमिति गम्यते, तस्यैव प्रस्तुतत्वात्, एवमुत्तरत्रापि गम्यम् । "**तइए णेरइअम्मि वि**" त्ति अपिशब्दस्य समुच्चायकतया निरयगत्योघे तृतीयपृथिवीनिरयभेदे चेत्यर्थः । तत्र किमित्याह–"**जिणस्से**" त्यादि, जिननाम्नः प्रस्तुतान्तरमभ्यधिकं सागरोपमत्रिकं भवति । तत्र निरयगत्योघे सप्तमभूमिनैरयिकाणां मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोरुत्कृष्टस्थितिबन्धाऽभावेन षष्ठभूमिनैरयिकोत्कृष्टभवस्थितिप्राधान्यात् प्रस्तुतोत्कृष्टान्तरं लभ्यते, तेषां च षष्ठभूमिनैरयिकजीवानामुत्कृष्टभवस्थितिर्द्वाविंशतिः सागरोपमाणि, तत्र भवप्रथमान्तर्मुहूर्ते उत्कृष्टस्थितिबन्धाऽसम्भवेन तदनन्तरमुत्कृष्टस्थितिबन्धं कृत्वा पुनर्भवप्रान्ते एवोत्कृष्टस्थितिबन्धं कुर्वन्तं जीवमपेक्ष्य यथोक्तान्तरलाभाद् देशोनता विज्ञेया इति । एवमुत्तरत्राऽपि तत्तद्भवस्थितिकायस्थित्यादेः यथासम्भवं प्रथम–चरमान्तर्मुहूर्तादिकं विवर्ज्य वक्ष्यमाणान्तरेषु देशोनता विभावनीयेति । जिननाम्नस्तु प्रस्तुतान्तरं सातिरेकसागरोपमत्रयस्थितिकतृतीयभूमिनैरयिकजीवापेक्षया सम्पद्यते, तदधिकस्थितिषु जिननाम्नो बन्धकानामनुत्पादादिति तदपेक्षयोपपादनीयमिति । निरयगत्योघे कस्या अपि प्रकृतेरुत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरस्याप्रतिषेधेन मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रजिननामानि विहाय तथा तृतीयपृथिवीनिरयमार्गणास्थाने जिननाम विहायाऽऽयुर्वर्जशेषसर्वबन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां प्रथमादिशेषषड्नरकमार्गणासु केवलाऽऽयुर्वर्जसर्वबन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां च "सव्वासु गुरुठिईए अवक्खमाणाण देसूणसजेट्ठकायठिई ॥४६५॥" इत्यनन्तरोक्तवचनात्तत्तत्प्रथमपृथिवीनिरयभेदादीनां पूर्वं **मूलस्थितिबन्धविधानद्वितीयाधिकारैकजीवाश्रयकालद्वारे** 'कायठिई उक्कोसा णिरय-सुराण'(गाथा–१५२)इत्यादिगाथाकदम्बकेनोक्ता एक त्रि-सप्त-दश-सप्तदशादिसागरोपममानाऽन्तर्मुहूर्तलक्षणेनैकदेशेनोना सती प्रस्तुतान्तरं विज्ञेयमिति ।

"**तिपणिंदिये**"त्यादि, अपर्याप्तभेदवर्जेष्वोघ-पर्याप्त-तिरश्चीभेदभिन्नेषु त्रिषु पञ्चेन्द्रियतिर्यग्गतिमार्गणास्थानेषु "**सव्वेसिं**" ति आयुर्वर्जानां सर्वासां बन्धप्रायोग्यप्रकृतीना तथाऽपर्याप्तवर्जेषु त्रिषु मनुष्यगतिमार्गणास्थानेषु "**जिणवज्जाणं**" ति जिननाम्न उत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरस्य 'तित्थस्स अंतरं णो तिमणुसे' (गाथा–४६१) इत्यनेन पूर्वं निषिद्धत्वाज्जिननाम विहाय शेषबन्धप्रायोग्यायुर्वर्जप्रकृतीनां प्रस्तुतान्तरं "**पुव्वा कोडिपुहुत्तं**" ति कोटिपृथक्त्व पूर्वाणि भवति, न तु कस्या अपि देशोनोत्कृष्टकायस्थितिः । कस्मात् ? उच्यते, 'पंचिंदितिरिनरेसुं सत्तट्ठभवा उ उक्कोसा' इत्यादिवचनादुत्कृष्टकायस्थितिपूरकेषु सप्ताऽष्टभवेषु यश्चरमस्त्रिपल्योपमस्थितिको युग्मिभवस्त-

स्मिन् युग्मिभवे स्वभावतो मन्दसंक्लेशतया मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टस्थितिबन्ध एव न जायते, इत्थं च शेषपूर्वकोटिस्थितिकसप्तभवनिष्पन्नकायस्थितेः प्रारम्भाद् यथासम्भवमदूरेणोत्कृष्टस्थितिबन्धं कृत्वा द्वितीयवारं सप्तमभवचरमसमये उत्कृष्टस्थितिबन्धकरणे प्रस्तुतान्तरं सम्पद्यते, तच्च मूले पूर्वकोटिपृथक्त्वमित्यभिहितम् । पूर्वकोटिपृथक्त्वाभिधाने हि यत् कुत्रचिदष्टौ भवा अपि पूर्वकोटिस्थितिकाः पठ्यन्ते तेनाऽप्यविरोधः । विशेषार्थिना **मूलस्थितिबन्धविधानवृत्तिरव**लोकनीया इति । अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगपर्याप्तमनुष्यमार्गणाभेदयोस्तु कस्या अपि प्रकृतान्तरस्यावक्ष्यमाणत्वादनिषिद्धत्वाच्चाऽऽयुर्वर्जानां सर्वासां बन्धप्रायोग्यप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरं देशोनतत्तन्मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिप्रमाणमन्तर्मुहूर्तमेव ज्ञेयम् । एवं तिर्यग्गत्योघेऽपि सर्वासामायुर्वर्जबन्धप्रायोग्यप्रकृतीना तदसंख्येयपुद्गलपरावर्तप्रमाणमवसातव्यमिति ॥४६७॥

"**देवे**" इत्यादि, देवगत्योघमार्गणास्थाने त्रयाणामातपादीनाम्-आतप-स्थावरै-केन्द्रियलक्षणप्रकृतीनां प्रस्तुतान्तरम् "**अहियदुअयरा**"त्ति अभ्यधिकौ द्वावतरौ-सागरोपमौ भवेत् , ईशानकल्पान्तदेवानामेवाऽऽतपादिप्रकृतित्रयस्वामित्वात् , तेषां च देवानामुत्कर्षतोऽभ्यधिकसागरोपमद्वयस्थितिकत्वादिति । "**तित्थवज्जाण**"मित्यादि, प्रस्तुतदेवगत्योघमार्गणाया शुक्ललेश्यामार्गणायां च तीर्थकरनामवर्जानामुक्तशेषाणां सर्वासा बन्धप्रायोग्यप्रकृतीना प्रस्तुतान्तर देशोनान्यष्टादश सागरोपमाणि विज्ञेयम् , केवल शुक्ललेश्यायां प्राक् 'सुइलेसासु ण भवे सुरविउवाहारजुगलाण ॥४६३॥' इत्यनेन देवद्विक-वैक्रियद्विका-ऽऽहारकद्विकलक्षणानां षण्णां प्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरस्य प्रतिषिद्धत्वात्तद्वर्जानामेवेदमष्टादश सागरोपमाणि विज्ञेयम् , तच्च देवगत्योघमार्गणायामुत्कृष्टस्थितिकसहस्रारकल्पदेवजीवापेक्षया तथा शुक्ललेश्यायामानतकल्पजघन्यस्थितिकदेवजीवापेक्षया प्रागिवोह्यम् । यद्वा शुक्ललेश्यायां मूलस्थितिबन्धग्रन्थोक्तनीत्याऽजघन्यस्थितिकानतादिदेवानामप्युत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वे तन्मूलोक्तादपि दीर्घं विज्ञेयमिति । जिननाम्नस्तु मार्गणाद्वयेऽपि देशोनत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्येवेति । शेषैकोनत्रिंशद्देवमार्गणासु तूक्तवचनात्सर्वासां कायस्थितिरेवेति ॥४६८॥

"**णेय**"मित्यादि, एकेन्द्रियोघे, वनस्पतिकायौघे, तथा "**णिगोएसु**" ति साधारणवनस्पतिकायौघ इत्येवं त्रिषु मार्गणास्थानेषु "**सव्वाण**" त्ति आयुर्वर्जाना सर्वासां बन्धप्रायोग्यप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरम् "**असखलोगा**" त्ति लोकप्रमाणेभ्योऽसंख्येयक्षेत्रखण्डेभ्यः प्रतिसमयमेकैकाकाशप्रदेशाऽपहारे यावान्कालोऽपगच्छति तावदसंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणीप्रमाणमित्यर्थः । कथं न स्तोकः ? मार्गणात्रयप्रविष्टसूक्ष्मजीवानामुत्कृष्टकायस्थितेरपि असंख्योत्सर्पिण्यवसर्पिणीप्रमाणत्वात् , तेषामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वाभावाच्चेति । "**अगुलअसंख**" इत्यादि, "**सव्वाण**" इत्यनुवर्तते, ततः पञ्चसु पृथिव्यप्तेजोवायुसाधारणवनस्पतिकायभेदभिन्नेषु "**खलु सुहुमकायेसु**" त्ति सूक्ष्मेषु कायमार्गणासत्कस्थानेषु खलु बन्धप्रायोग्यायुर्वर्जसर्वप्रकृतीनां

प्रस्तुतान्तरम् **'अङ्गुलाऽसंख्यभागः'** अङ्गुलाऽसंख्यभागप्रमाणक्षेत्रखण्डात्प्रतिसमयैकैकाशप्रदेशापहारे यावान्कालो विनिर्याति तावत्यः पूर्वापेक्षयाऽसंख्येयभागगता उत्सर्पिण्यवसर्पिण्य इत्यर्थः ।

"णेयं असंखलोगा" इत्यादि, पर्याप्ताऽपर्याप्तविशेषणविरहिते सूक्ष्मैकेन्द्रियौघमार्गणास्थाने मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रलक्षणानां तिसृणां प्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरम् **"असंखलोगा"** त्ति प्राग्वदसंख्येयलोकप्रमाणक्षेत्राकाशप्रदेशापहारप्रकारेण लभ्या असंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिण्यो भवति। कथम्? प्रस्तुतमार्गणाप्रविष्टानां केषाञ्चित् पर्याप्तसूक्ष्मतेजस्काय-वायुकायलक्षणानामेकेन्द्रियाणां प्रस्तुतप्रकृतित्रयबन्धस्वामित्वाभावात्, तेषामुत्कृष्टकायस्थितेरसंख्यलोकप्रमाणत्वाच्च । शेषाऽऽयुर्वर्जप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामितया पुनस्तेषां सूक्ष्मतेजस्कायादीनामपि लाभेन न शेषप्रकृत्युत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरमसंख्येया लोकाः, किन्तु सूक्ष्मपृथिव्यादिमार्गणास्थानवदङ्गुलाऽसंख्यभाग एवेत्येतदेव दर्शयन्नाह–**'अंगुलअसंखे'** त्याद्युत्तरार्धम् । गतार्थम् ।

अथेन्द्रियकायमार्गणासत्कोक्तशेषद्विपञ्चाशद्भेदमध्ये ओघ पर्याप्तभेदभिन्नयोर्द्वयोः पञ्चेन्द्रियजातिभेदयोर्द्वयोस्त्रसकायभेदयोश्च 'तित्थस्स अंतर णो तिमणुसदुपणिंदितसतिवेएसु' (गाथा–४६१) इत्यादिगाथाया जिननाम्न उत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरस्य प्रतिषिद्धत्वेन जिननामाऽऽयुर्वर्जशेषसर्वप्रकृतीनां प्रस्तुतान्तरस्य त्ववक्ष्यमाणत्वेन च तासां शेषप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरं 'सव्वासु गुरुठिइए अवक्खमाणाण जेट्ठं देसूणसजेट्ठकायठिई' इति (४६५)गाथया पञ्चेन्द्रियौवादितत्तन्मार्गणाया एकजीवाश्रयोत्कृष्टकायस्थितिर्ज्ञातव्यम् । शेषेषु सूक्ष्मपर्याप्ताऽपर्याप्तबादरौघ-तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्नेषु पञ्चैकेन्द्रियभेदेषु पञ्चसाधारणवनस्पतिकायभेदेषु तथा सर्वविकलेन्द्रियसूक्ष्मौघवर्जषट्षट्पृथिव्य-प्तेजो-वायु–प्रत्येकवनस्पतिकायभेदेष्वपर्याप्तपञ्चेन्द्रिया ऽपर्याप्तत्रसकाययोरित्येवं सर्वसंख्ययाऽष्टचत्वारिंशन्मार्गणाभेदेषु प्रत्येकं कस्या अपि प्रकृतेः प्रस्तुतान्तरस्याऽवक्ष्यमाणत्वादनिषिद्धत्वाच्चाऽऽयुर्वर्जबन्धप्रायोग्यसर्वप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टाऽन्तरं मार्गणादेशोनोत्कृष्टकायस्थितिप्रमाणं ज्ञेयम् । एवमेवोत्तरत्रापि तद् द्रष्टव्यम् । अथाऽष्टादशसंख्याकेषु योगमार्गणास्थानेषु तु 'सव्वेसु जोगेसु' (गाथा–४५६) इत्यादिगाथया सर्वासां बन्धप्रायोग्यप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरस्य प्रतिषिद्धत्वात् न भवति तद्व्याप्यमुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरमपि, व्याप्यनिवृत्तौ व्यापकनिवृत्तेरावश्यकत्वात्, अत एव गतवेद-कषायचतुष्क-सूक्ष्मसम्परायसंयम–सास्वादना-ऽनाहारकमार्गणास्थानेष्वपि प्रस्तुतान्तराभावो विज्ञातव्यः सुधीभिः । अथ क्रमप्राप्ते वेदद्वये जिननाम्नः प्रतिषिद्धं ततस्तत्र जिननामाऽऽयुर्वर्जबन्धप्रायोग्यसर्वप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरं देशोनमार्गणोत्कृष्टकायस्थितिः । एवमेव नपुंसकवेदेऽपि, परं तत्राऽऽहारकद्विकस्य प्रस्तुतान्तरं न देशोनकायस्थितिरपि तु देशोनार्धपुद्गलपरावर्त एवेत्यतस्तत्र तथैव दर्शयन्नाह–**"आहारदुगस्स"** त्यादि, गतार्थम् ।

अथ क्रमप्राप्तेषु चतुर्षु कषायमार्गणास्थानेषु तु सर्वासां प्रतिषिद्धमेव । क्रमप्राप्तेषु चतुर्षु मत्यादिज्ञानमार्गणास्थानेषु 'चउणाणसजमेसु' मित्यादि(४६२)-गाथयाऽभिमुखस्वामिकोत्कृष्टस्थिति-

बन्धानां प्रकृतीनां प्रतिषिद्धम्, ततस्तेषु सातवेदनीय-हास्य-रतिमोहनीया-ऽऽहारकद्विक-स्थिर-शुभ-यशःकीर्तिनामलक्षणानामष्टानां प्रकृतीनां प्रस्तुतान्तरं देशोनोत्कृष्टकायस्थितिः। शेषाणामायुर्वर्ज-बन्धप्रायोग्याणां तु तन्न भवत्येव, मिथ्यात्वाद्यभिमुखानां तदीयोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वादिति।

अथ ज्ञानमार्गणास्थानादनु ज्ञानप्रतिपक्षभूतेष्वज्ञानमार्गणास्थानेषु प्रस्तुतान्तरं प्रतिपादनीयं भवति। तत्र मत्यज्ञान श्रुताज्ञानमार्गणास्थानद्वये प्रतिपिपादयिषुस्तत्साम्यादन्यत्राऽपि यत्राऽऽयु-र्वर्जानां सर्वासां बन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां देशोनोत्कृष्टकायस्थित्यपेक्षया विलक्षणं तत्र तदाह-"**सव्वेसि**"मित्यादि, मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसयमा-ऽभव्य-मिथ्यात्वलक्षणेषु पञ्चमार्गणास्थानेषु सर्वासामायुर्वर्जबन्धप्रायोग्यप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरमसंख्येयाः पुद्गलपरावर्ता बोद्धव्यम्। न पुनः कस्या अपि प्रकृतेर्देशोनकायस्थितिर्विहायासंयममार्गणायां जिननाम्न उत्कृष्टस्थितिबन्धा-न्तरम्। कुतः? तस्य पूर्वं 'तित्थस्स अतरं णो' (४६१) इत्यादिगाथायां प्रतिषिद्धत्वात्, तथाच तत्र जिननामायुर्वर्जानां सर्वासां तज्ज्ञेयमिति। असंख्येयपुद्गलपरावर्ताः प्रस्तुतान्तरं तु प्रत्येकमुत्कृष्ट-कायस्थितेरनादिभङ्गपतितत्वात् पर्याप्तसंज्ञिमिथ्यादृष्टीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वेनासंज्ञ्यायवस्था-यामसंख्येयपुद्गलपरावर्तान् यावदुत्कृष्टस्थितिबन्धस्याऽप्रवर्तनाच्च।

"**होइ णरदुगुच्चाण**" मित्यादि, विभङ्गज्ञानमार्गणाया मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रलक्षणप्रकृति-त्रयस्योत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरं साधिकद्वाविंशतिसागरोपमाणि भवति, कस्यचिन्मनुष्यभवे यथा-सम्भवमदूरेण विभङ्गोत्पत्तेरूर्ध्वं प्रवृत्तस्य प्रस्तुतान्तरस्य तदनन्तरवत्युत्कृष्टस्थितिकषष्ठभूमिनारक-भवद्विचरमसमयं यावत्प्रवर्तनात्। अत्रैव मतान्तरमाह-"**देसूणा**" इत्यादि, प्राग्दर्शितैतन्मते भवा-न्तरे विभङ्गज्ञानस्यानुवर्तनेनाऽन्तर्मुहूर्तेऽतिक्रान्ते यथोक्तनरकायुषि प्रवृत्तप्रस्तुतान्तरस्य नरकभवद्वि-चरमसमय यावत्प्रवृत्तेर्देशोनता विज्ञेयाः। इहोभयत्राऽपि सप्तमभूमिनारकस्य वर्जनं तस्य यावज्जीवं प्रस्तुतप्रकृतित्रयोत्कृष्टस्थितिबन्धाभावात्। अत्रैव मार्गणायाम् "**तिआयवाईण**" त्ति तिसृणा-मातपादीनाम्-आतपैकेन्द्रिय-स्थावरनामप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरमभ्यधिकसागरोपमद्वयं ज्ञेयम्। एतत्तु तावत्स्थितिकेशानकल्पोद्भवसुरापेक्षयोपपादनीयम्। अत्रैव मार्गणायाम् "**देसूण-पुव्वकोडी**" त्ति सूक्ष्मत्रिक-विकलत्रिक वैक्रियषट्कलक्षणद्वादशप्रकृतीना प्रस्तुतान्तरं देशोनपूर्व-कोटिप्रमाणं ज्ञेयम्। तच्च पूर्वकोटिस्थितिकमनुष्यभवापेक्षया साध्यम्। एता मनुष्यद्विकादीस्तिस्र आतपानामादीस्तिस्रः सूक्ष्मत्रिकादीर्द्वादश प्रकृतीश्च विहाय शेषाऽऽयुर्वर्जबन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां प्रस्तु-तान्तरं तु 'सव्वासु' इत्यादि-(४६५)-गाथावचनाद्विभङ्गज्ञानमार्गणाया देशोनोत्कृष्टकायस्थितिरव-सेयम्। **महाबन्धकारमते** तु सूक्ष्मत्रिक विकलत्रिक-वैक्रियषट्कलक्षणद्वादशप्रकृतीना प्रस्तुतान्तर-मेव प्रतिषेध्यम्। कुतः? तन्मते 'बारससुहुमाईण विब्भगे णत्थ ति वित्ति परे' (गाथा-४६३) इत्य नेन सूक्ष्मनामादिद्वादशप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरस्य मूलत एव प्रतिषिद्धत्वात्।

"सव्वेसिं" इत्यादि, अचक्षुर्दर्शन-भव्यमार्गणयोरायुर्वर्जानां सर्वासां प्रकृतीनां प्रस्तुतान्तरम् "ओघव्व" त्ति ओघवत् "उक्कोसाअ" इत्यादि (४५१)-गाथाभिर्दर्शितमानं भवेत्, तद्यथा–जिननाम्नस्तावन्न भवति, आहारकद्विकस्य देशोनार्धपुद्गलपरावर्तः, शेषाणां तु असंख्येयाः पुद्गलपरावर्ताः । एतद्धि ओघवदेव साध्यमिति ।

अथ संयममार्गणास्थानेषु प्रस्तुतान्तरमभिधातव्यम्, तत्र संयमौघ सामायिक छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धिकसंयम-देशसंयममार्गणास्थानेषु मतिज्ञानादिमार्गणावत्सातवेदनीय-हास्य-रतिमोहनीय-स्थिर-शुभ-यशःकीर्तिनामलक्षणानां षण्णां तथा यथासम्भवं बन्धप्रायोग्यस्याऽऽहारकद्विकस्योत्कृष्टस्थितिबन्धस्य मिथ्यात्वाद्यनभिमुखस्वामिकतयोत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरं देशोनस्वीयोत्कृष्टकायस्थितिः । शेषाणामायुर्वर्जानां तु तन्न भवति, तदीयोत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरस्यैव 'चउणाण-सजमेसु समइअ-छेअ--परिहार-देसेसु'मित्यादि(४६२)गाथायां प्रतिषिद्धत्वात् । सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणास्थाने तु बन्धप्रायोग्यसर्वप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरम् 'सव्वेसु जोगेसु' मित्यादि(४६९)-गाथायां प्रतिषिद्धम्, इत्थं न भवत्येव तत्र प्रस्तुतान्तरं कस्या अपि प्रकृतेः । असंयममार्गणास्थाने पुनः 'तित्थरस अतर णो' इत्यादि(४६१)गाथायां जिननामोत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरं प्रतिषिध्य सव्वेसिं पयडीण'(४७१)मित्यादिगाथायां जिननामायुर्वर्जसर्वबन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां तदसंख्येय-पुद्गलपरावर्ताः प्रतिपादितम् । इत्थं गतं संयमतत्प्रतिपक्षमार्गणास्थानेषु प्रस्तुतान्तरम् ।

अथ क्रमप्राप्तदर्शनमार्गणास्थानत्रये तद्वक्तव्यम्, तत्र चक्षुर्दर्शनमार्गणास्थाने 'तित्थस्से'त्यादि-(४६१)गाथायां जिननाम्न उत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरस्य प्रतिषिद्धत्वात् कस्या अप्यवक्ष्यमाणत्वाच्च जिननाम विहाय शेषाऽऽयुर्वर्जबन्धप्रायोग्याणां तदुत्कृष्टतो देशोनोत्कृष्टकायस्थितिः प्राप्तम् । अचक्षुर्दर्शनमार्गणास्थाने तु न कस्या अपि देशोनोत्कृष्टकायस्थितिः, जिननाम्नः प्रतिषिद्धत्वात्, शेषाऽऽयुर्वर्जानामुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरस्य तु 'ओघव्व अचक्खु' (गाथा–४७२)इत्यादिनौघवदतिदिष्टत्वाच्चेति । अवधिदर्शने तु मतिज्ञानादिमार्गणावत् 'चउणाण' (गाथा–४६२) इत्यादिनाऽभिमुखस्वामिकोत्कृष्टस्थितिबन्धानां निषिद्धत्वात्सातवेदनीयाद्यष्टप्रकृतीनामेव देशोनज्येष्ठकायस्थितिरिति ।

अथ क्रमप्राप्तलेश्यामार्गणासु प्रस्तुतोत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरं द्रष्टव्यम्, तत्र कृष्णाद्यशुभलेश्यासु तदाह–'पल्लासंखियभागो' इत्यादिगाथाद्वयेन, कृष्णलेश्यायामातपादीनामाऽऽतप स्थावरै केन्द्रियनामलक्षणानां तिसृणां प्रकृतीनां प्रस्तुतान्तरं पल्योपमासंख्यभागमात्रं भवति । कथम्? उच्यते, प्रस्तुतान्तरस्य कृष्णलेश्याकदेवजीवोत्कृष्टभवस्थित्यधीनत्वात्, तादृग्देवानामुत्कृष्टाया अपि भवस्थितेः पल्योपमाऽसंख्येयभागमात्रत्वाच्चेति । "होइ" इत्यादि, कृष्णलेश्यामार्गणायामेव मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रलक्षणप्रकृतित्रयस्य प्रस्तुतान्तरं देशोनद्वात्रिंशतिसागरोपमाणि भवति, उत्कृष्टस्थितिकषष्ठनारकजीवापेक्षया तल्लाभात् । विशेषतस्तु नरकगत्योघमार्गणावद्विभावनीयमिति । उक्तप्रकृतिषट्कं विहाय शेषाऽऽयुर्वर्जप्रकृतिमध्ये 'बारससुहुमाईण ण असुहलेसासु किण्हणीलासु ।

ण जिणस्स' (गा-४६४) इत्यनेन सूक्ष्मत्रिक विकलत्रिक-वैक्रियषट्क तीर्थकरनामलक्षणानां त्रयोदश-प्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरस्य प्रतिषिद्धत्वान्मतिज्ञानावरणादीनां पञ्चनवतेस्तद् 'अवक्खमाणाणे' त्यादिवचनात् कृष्णलेश्योत्कृष्टकायस्थितिर्देशोना विज्ञेयम् , तच्च सप्तमभूमिनारकोत्कृष्टभवस्थिते-रन्त्यसमयवर्जनादिनोपपाद्यमिति ।

अथ नील-कापोतलेश्ययोराह–"**पल्लासंखियभागो**" इत्यादि, अक्षरार्थस्तु सुगमः, इहापि मार्गणाद्वयेऽनन्तरोक्तनीत्या सूक्ष्मत्रिकादीना प्रस्तुतान्तरस्य प्रतिषेधात् नीललेश्यायामातपादि-प्रकृतित्रयं सूक्ष्मत्रिकादित्रयोदशप्रकृतीश्च विहाय शेषाणामायुर्वर्जानां मतिज्ञानावरणाद्यष्टनवतिप्रकृ-तीनां प्रस्तुतान्तरं नीललेश्यामार्गणोत्कृष्टकायस्थितिरन्तर्मुहूर्तादिना देशेनोना विज्ञेयम् । कापोत-लेश्याया तु जिननाम्नः प्रस्तुतान्तरेऽप्रतिसिद्धेऽपि तस्य 'काऊअ जिणस्स भवे अब्भहिया सागरा तिण्णि । (गाथा–४७५) इत्यनेनोक्तत्वात्ता एव षोडशप्रकृतीर्विहाय शेषाणामायुर्वर्जानामष्टनवति-प्रकृतीनां प्रस्तुतान्तरं कापोतलेश्यामार्गणोत्कृष्टकायस्थितिर्देशोना विज्ञेयम् , तच्चेह देशोनकाय-स्थितिरन्तरं कृष्णलेश्यामार्गणावदुत्कृष्टस्थितिकनीललेश्यादिनारकजीवापेक्षया संसाधनीयमिति । कृष्णाद्यशुभलेश्यामार्गणात्रयेऽपि देवानामपर्याप्तावस्थायामेवाशुभलेश्यामभ्युपगच्छतः परस्य मतेन त्वातपादीनां तिसृणां प्रस्तुतान्तरं प्रतिषिद्धमेव द्रष्टव्यम् , जघन्यान्तरप्रस्तावे "णत्थि तीसु वि तिआयवाईण विति परे"(४६४) इत्यनेन प्रतिषिद्धत्वादिति ।

तेजःपद्मलेश्ययोस्तु "सुद्दलेसासु ण भवे सुर' (गाथा–४६६) इत्यादिना देवद्विक-वैक्रियद्विका-ऽऽहा-रकद्विकलक्षणानां षण्णां प्रस्तुतान्तरस्य प्रतिषिद्धत्वात् कस्या अप्यवक्ष्यमाणत्वाच्च प्रकृतिषट्कायुर्वर्ज-बन्धप्रायोग्यसर्वप्रकृतीनां तद्देशोनोत्कृष्टकायस्थितिर्विज्ञेयम् , साधनीयं चोत्कृष्टस्थितिकतेजोलेश्याक-देवापेक्षया तादृक्पद्मलेश्याकदेवापेक्षया चेति । शुक्ललेश्याया तु पूर्वं देवगत्योघेन सह 'सुक्काअवि' (गाथा–४६८) इत्यादिनाऽभिहितमिति । तदनु भव्यमार्गणास्थानम् , तत्र जिननाम्न उत्कृष्ट-स्थितिबन्धान्तरस्य प्रतिषिद्धत्वात् , शेषायुर्वर्जानां तु तस्य 'सव्वेसिं पयडीण ओघव्व अचक्खुभवि-एसु ॥४७३॥' इत्यनेनातिदिष्टत्वाच्च गतं सर्वासामपि तत् । अभव्यमार्गणास्थाने तु मत्यज्ञानादि-(गाथा–४७१) मार्गणाभिः समं कथितं सर्वासामायुर्वर्जानां तदसंख्येयाः पुद्गलपरावर्ता इति । तदनु सम्यक्त्व-तत्प्रतिपक्षमार्गणास्थानेषु प्रस्तुतान्तरं प्ररूपणीयं भवेत् । तत्र 'सम्मुवसमवेअगमीसो-हीसु सिं ण अहिमुहो जेसिं ॥४६२॥' इत्यनेन पूर्वं सम्यक्त्वौघ क्षायोपशमिकसम्यक्त्व सम्यग्मिथ्या-त्वमार्गणास्थानेषु मतिज्ञानादिमार्गणावद्यासां प्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनो मिथ्यात्वाद्यभि-मुखास्तासामुत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरस्य प्रतिषिद्धत्वात् कासामप्यवक्ष्यमाणत्वाच्च सातवेदनीय-हास्य-रतिमोहनीया-ऽऽहारकद्विक-स्थिर-शुभ-यशःकीर्तिनामलक्षणप्रकृत्यष्टकस्यैव तद्देशोनोत्कृष्टकायस्थिति-स्तत्तत्सम्यक्त्वौघादिमार्गणाया विज्ञेयम् । औपशमिकसम्यक्त्वेऽप्येवमेव, केवलं तत्र जिननाम्नो-ऽपि प्रस्तुतान्तरं देशोनकायस्थितिर्वक्तव्यमिति । क्षायिकसम्यक्त्वे तु कस्या अप्यनिषिद्धत्वाद-

वक्ष्यमाणत्वाच्चाऽऽयुर्वर्जानां सर्वासां बन्धप्रायोग्याणां प्रस्तुतान्तरं देशोनकायस्थितिः प्राप्तम् । सासादने 'सासणऽणाहारेसुं ण अंतरं सव्वपयडीणं' ॥४५८॥ इत्यनेन सर्वासां प्रस्तुतान्तरं प्रतिषिद्धम् । मिथ्यात्वमार्गणायां तु 'सव्वेसिं पयडीण' इत्यादिना (गाथा-४७१) मत्यज्ञानादिमार्गणाभिः सममभिहितं सर्वासामायुर्वर्जानां तदसंख्येयाः पुद्गलपरावर्ता इति । तदनु संज्ञिमार्गणास्थानम् , तत्र जिननामोत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरस्य 'तित्थस्स अतरं णो' इत्यादि-(४६१)गाथायां प्रतिषिद्धत्वात् कस्या अप्यनुक्तत्वादवक्ष्यमाणत्वाच्चाऽऽयुर्जिननामवर्जानां सर्वासां प्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरं संज्ञिमार्गणोत्कृष्टकायस्थितिर्देशोना विज्ञेयम् । असंज्ञिमार्गणायां तु आयुर्वर्जानां सर्वासां बन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां तदसंज्ञिमार्गणोत्कृष्टकायस्थितिर्देशोना विज्ञेयम् , कुतः ? कस्या अपि प्रस्तुतान्तरस्याऽप्रतिषिद्धत्वादनुक्तत्वादवक्ष्यमाणत्वाच्च । आहारकमार्गणास्थाने तु संज्ञिमार्गणावज्जिननामाऽऽयुर्वर्जसर्वासां तद्देशोनकायस्थितिः । अनाहारकमार्गणायां 'सासणऽणाहारेसुं ण अतरं सव्वपयडीण' (गाथा-४५९) इत्यनेन प्रतिषिद्धं सर्वासां तदिति ॥४६५-४७५॥

तदेवं प्रतिपादितं सर्वमार्गणास्थानेष्वायुर्वर्जबन्धप्रायोग्यसर्वोत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितेरेकजीवाऽऽश्रयं बन्धान्तरमुत्कृष्टतोऽपि । इदानीमनुत्कृष्टस्थितेस्तन्मार्गणास्थानेषु प्रतिपिपादयिषुरादौ तावज्जघन्यत आह—

भिन्नमुहुत्तं हस्सं सत्तमणिरयम्मि णरदुगुच्चाणं ।
अगुरुठिईए समयो सेसाणं आउवज्जाणं ॥४७६॥
तिमणुस-णपुंसगेसुं लहु आहारदुग-तित्थणामाणं ।
भिन्नमुहुत्तं हवए समयो सेसाण बोद्धव्वं ॥४७७॥

(प्रे०) "भिन्नमुहुत्त" मित्यादि, सप्तमभूमिनिरयभेदमार्गणास्थाने मनुष्यद्विकं मनुष्यगतिमनुष्यानुपूर्वीप्रकृतिद्वितयात्मकमुच्चैर्गोत्रं चेत्येतासां तिसृणां प्रकृतीनाम् "अगुरुठिईए" त्ति 'अगुर्व्याः'-अनुत्कृष्टायाः स्थितेः 'हस्व' जघन्यम् 'अन्तमुहूर्तम्' अन्तर्मुहूर्तमात्रम् , बन्धान्तरमिति गम्यते, तस्यैव प्रस्तूयमानत्वात् । कथम् ? मिथ्यात्वाभिमुखानां प्रस्तुतप्रकृतित्रयोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वेन मिथ्यात्वजघन्यकालाधीनस्य प्रस्तुतप्रकृतित्रयजघन्यान्तरस्यैव तथात्वात् । इदमुक्तं भवति-प्रस्तुतमार्गणायां सम्यग्दृश एव प्रस्तुतप्रकृतित्रयस्वामिनः, तदीयोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनोऽपि तेषु ये मिथ्यात्वाभिमुखावस्थाया चरमस्थितिबन्ध कुर्वन्तस्त एव, तथा च यः कश्चिदनाभोगतः सम्यक्त्वाद् भ्रष्ट्वा मिथ्यात्वं गच्छति ततः प्रभृति तस्य प्रस्तुतान्तरं प्रवर्तते, तच्च जघन्यतस्तावत्प्रवर्तते यावदसौ जीवः सर्वह्रस्वकालं मिथ्यात्वेऽवस्थाय पुनः सम्यक्त्वं न प्राप्नोति । एतद्धि अन्तर्मुहूर्तमात्रमेवेति । "समयो सेसाण" मित्यादि, उक्तप्रकृतित्रि-

तय परित्यज्य शेषाणामायुर्वर्जबन्धप्रायोग्यमतिज्ञानावरणादिपञ्चनवतिप्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितिबन्ध-जघन्यान्तरं '**समयो**' त्ति समयमात्रं भवति, अभिमुखावस्थाया अन्यत्रवर्तिनां तदीयोत्कृष्टस्थिति-बन्धस्वामित्वात् । **अयम्भावः**–यस्या उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनो मिथ्यात्वाद्यभिमुखावस्थाया अन्यत्रवर्तिनः स्वस्थानसंक्लिष्टाः सन्ति तदीयोत्कृष्टस्थितेर्जघन्यबन्धकालः समयमात्रः सम्पद्यते, एतच्च कालद्वारे दर्शितमेव । तेन च समयमात्रेणोत्कृष्टस्थितिबन्धकालेनाऽन्तरितयोरनुत्कृष्टस्थिति-बन्धयोः प्रस्तुतान्तरं समयमात्रमवाप्यते; प्रस्तुतेऽपि तथात्वाच्छेषायुर्वर्जप्रकृतीनां तत्समयमात्रं प्रद-र्शितमिति । एवमेवोत्तरत्राऽपि तत्समयमात्रमूह्यम् ।

"**तिमणुस**" इत्यादि, अपर्याप्तभेदवर्जेषु त्रिष्वोघ-पर्याप्त-मानुषीभेदभिन्नेषु मनुष्यगति-मार्गणास्थानेषु नपुंसकवेदमार्गणास्थाने चाऽऽहारकद्विकम्-आहारकशरीर-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्गप्रकृति-द्वयलक्षणं तीर्थंकरनाम चेत्येवं तिसृणामनुत्कृष्टस्थितेः 'लघु' जघन्यं बन्धान्तरं भिन्नमुहूर्तं भवति, तासामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्योघवत् प्रमत्तादिगुणस्थानाभिमुखस्वामिकत्वात् । तच्च मार्गणाचतुष्केऽ-प्याहारकद्विकस्य प्रमत्तगुणस्थानजघन्यकालापेक्षया बोध्यम्, भावनीयं पुनः सप्तमनरके भावितमनु-ष्यद्विकाद्यन्तरवत् । जिननाम्नस्तु नपुंसकवेदे नरकाभिमुखावस्थोत्तर यो मिथ्यात्वजघन्यकालस्तद-पेक्षया । शेषमार्गणात्रिके तु उपशमश्रेणिभाविजिननामाऽबन्धकालापेक्षया प्रागिव स्वयमभ्यूह्यमिति । "**समयो सेसाण बोद्धव्वं**" ति "आउवज्जाण"मिति पूर्वगाथातोऽनुवर्तते, तत उक्ताऽऽहारक-द्विक-जिननामप्रकृतित्रय विहाय शेषबन्धप्रायोग्याऽऽयुर्वर्जप्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यं बन्धान्तरं समयो बोद्धव्यम् । तच्चानन्तरोक्तनीत्या तत्प्रतिपक्षभूतोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनां मिथ्यात्वाद्यभि-मुखत्वाभावेन समयमात्रोत्कृष्टस्थितिबन्धकालादिहेतोरभ्यूह्यमिति ॥४७६-४७७॥

निरयगत्योघादिगतिमार्गणाशेषभेदमध्यात्तु नैकस्मिन्नपि कस्या अप्यायुर्वर्जप्रकृतेरुत्कृष्टस्थिति-बन्धस्वामिनो मिथ्यात्वाद्यभिमुखाः, ततश्च तासु सर्वासु बन्धप्रायोग्याणां सर्वासामायुर्वर्जप्रकृतीनामनु-त्कृष्टस्थितेर्जघन्यं बन्धान्तरं समयमात्रमेवाऽवाप्यते, तस्य च तथाविधमार्गणास्थानेषु लाघवार्थमुत्त-रत्र 'समयो सेसासु सव्वेसि' (गाथा–४८४) इत्यनेन वक्ष्यमाणत्वात् ता मार्गणा विहाय क्रमप्राप्ते-न्द्रियमार्गणास्थानेषु प्रस्तुतान्तरं बिभणिषुस्तुल्यवक्तव्योपेता अन्याऽन्यमार्गणाः संगृह्याह—

ओघव्वऽत्थि सयलसप्पाउग्गाण दुपणिंदियतसेसुं ।
पुम-णय-णियर-भवेसुं खइए सण्णिम्मि आहारे ॥४७८॥

(प्रे०) "**ओघव्वे**" त्यादि, अपर्याप्तभेदवर्जितयोर्द्वयोः पञ्चेन्द्रियभेदयोर्द्वयोश्च त्रसकायभेद-योस्तथा पुरुषवेदे "**णयणियर**" त्ति चक्षुर-चक्षुर्दर्शनमार्गणास्थानयोः, भव्यमार्गणास्थाने, क्षायि-कसम्यक्त्वे, सञ्ज्ञिमार्गणास्थाने, आहारकमार्गणास्थाने चेत्येवं सर्वसङ्ख्ययैकादशमार्गणास्थानेषु

"सयलसप्पाउग्गाण" त्ति पूर्ववत् 'आउवज्जाणे' त्यस्योत्तरत्राप्यनुवृत्तेरायुर्वर्जानां सकलानां तत्तत्पञ्चेन्द्रियौघादिमार्गणास्थानेषु बन्धप्रायोग्याणां प्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यं बन्धान्तरमोघवत् 'आहारदुगस्स तहा'(४५४)इत्यादिगाथयोक्तमानं विज्ञेयम् । **तद्यथा**-आहारकद्विकस्याऽन्तर्मुहूर्तम्, तच्छेषाऽऽयुर्वर्जबन्धप्रायोग्याणां तु समयमात्रमिति । भावनाऽपीहौघवदेव कार्या । यद्यपि क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनां न लभ्यते औघिकः संक्लेशस्तथाऽप्योघवत्तत्रापि स्वस्थानसंक्लेशेनोत्कृष्टस्थितिबन्धभावान्नास्ति कश्चिद्विशेष इति ॥४७८॥

उक्तशेषेन्द्रिय-कायमार्गणास्थानेषु सर्वासां समयमात्रप्रस्तुतान्तरस्य वक्ष्यमाणत्वात्तानि विहाय मनोयोगादिमार्गणास्थानेषु विभणिषुरन्याऽन्यमार्गणास्थानानि सगृह्याह—

> काय-चउकसायेसुं आहारदुगस्स णो जिणस्स वि णो ।
> पणमणवय-उरलेसुं समयो सेसाण विण्णेयं ॥४७९॥
> समयो अत्थि जहण्णं तिमिस्सजोगेसु सव्वपयडीणं ।
> उअ णत्थि उरलमीसे धुवु-रल-जिण-चउसुराईणं ॥४८०॥
> वेउव्वमीसजोगे धुवबंधीण जिण-छउरलाईणं ।
> आहारमीसजोगे बारससायाइवज्जाणं ॥४८१॥
> कम्माणाहारेसुं उरालवज्जाण अधुवबंधीणं ।
> जाण ति समया कालो लहुं खणो सिं ण इयरेसिं ॥४८२॥

(प्रे०) **"काय"**इत्यादि, काययोगसामान्ये क्रोधादिकषायमार्गणाचतुष्टये चाऽऽहारकद्विकस्य **'णो'** त्ति प्रस्तुतत्वादनुत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरं न भवति । कथं न भवति ? इति चेद्, तदीयोत्कृष्टस्थितिबन्धस्य प्रकृतिबन्धेन साकमेव समाप्तेः प्रकृतिबन्धेन सममेव प्रारब्धस्य तदीयानुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य यावत्तदुत्कृष्टस्थितिबन्धं यावत्तदबन्धं वा तावन्नैरन्तर्येणैव प्रवर्तनात्, प्रस्तुतमार्गणावर्तिनामाहारकद्विकस्वामिनां निरन्तरे मार्गणाकाले सकृदेव प्रस्तुतप्रकृतिबन्धप्रवर्तनाच्च । सकृदेव प्रस्तुतप्रकृतिबन्धस्य प्रवृत्तिस्तु तदीयबन्धकानां काययोगमार्गणायामन्यमेवाऽवस्थानात्, कषायमार्गणानां तूत्कृष्टकायस्थितेरपि ह्रस्वत्वादिति । **"जिणस्सवि णो"** त्ति अपिशब्दस्य समुच्चायकतयाऽनन्तरोक्तस्याऽऽहारकद्विकस्य जिननाम्नश्च प्रस्तुतान्तरं न भवतीत्यर्थः । कुत्रेत्याह-**"पणमणे"**त्यादि, ओघोत्तरभेदभिन्नेषु पञ्चसु मनोयोगमार्गणास्थानेषु पञ्चसु वचोयोगमार्गणास्थानेषु औदारिककाययोगमार्गणास्थाने च । कथम् ? अनन्तरोक्तनीत्यैव । **ननु** मा भवत्वेवंरीत्याऽऽहारकद्विकस्य तत्, जिननाम्नस्तु भविष्यति, श्रेणौ तदबन्धादूर्ध्वं काल कृत्वा देवगतावुत्पत्तिमात्रेण तद्बन्धप्रवृत्तेः सम्भ-

वाद् ? इति चेद् , न, तत्रोत्पत्तिमात्रेण वैक्रियमिश्रकाययोगस्य कार्मणकाययोगस्य वा प्रवृत्तेस्तत्स्वामिनः प्रस्तुतमनोयोगादिमार्गणातो बहिर्भवनात् । कालकरणाभावे तूक्तनीतिरेव प्रसज्यत इति । '**समयो सेसाण**' इत्यादि, काययोगौघे मनोयोगाद्येकादशमार्गणास्थानेषु चोक्ताऽऽहारकद्विकादिप्रकृतिवर्जानां शेषाणामनायुःप्रकृतीनां प्रस्तुतान्तरं समयमात्रमेव । तच्च प्रागिव तदीयोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनां मिथ्यात्वाद्यभिमुखावस्थाया अन्यत्रवर्तित्वादिना साधनेन प्रसाध्यं स्वयमेवेति ।

अथान्यत्राऽऽह–"**समयो अत्थि**" इत्यादि, त्रिष्वौदारिकमिश्र-वैक्रियमिश्रा-ऽऽहारकमिश्रकाययोगलक्षणेषु मिश्रयोगमार्गणास्थानेषु '**सव्वपयडीण**' ति आयुर्वर्जबन्धप्रायोग्यसर्वप्रकृतीनां प्रस्तुतमनुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यं बन्धान्तरं समयो भवति । "**उअ णत्थि**" त्ति 'उत'–अथवा स्वामित्वविषयकमतविशेषेण नास्ति प्रस्तुतान्तरम् । कुत्र कासां तन्न भवति ? इत्याह–"**उरलमीसे**" इत्यादि, औदारिकमिश्रयोगे सप्तचत्वारिंशतो ध्रुवबन्धिनीनामौदारिकशरीरजिननाम्नोः सुरादीनां देवद्विकवैक्रियद्विकलक्षणानां चतसृणाञ्चेत्येवं सर्वसंख्यया त्रिपञ्चाशत्प्रकृतीनां तथा वैक्रियमिश्रयोगे तु सप्तचत्वारिंशतो ध्रुवबन्धिनीनां "**जिण छउरलाईण**" ति जिननाम्नः 'उरल परघूसासा बायरतिगे'त्येतावता (४५०)संग्रहगाथांशसंगृहीता याः सप्तौदारिकशरीरनामादिप्रकृतयस्तासां सप्तानां जिननामादीनाम् । आहारकमिश्रकाययोगे तु "**बारससाया-इवज्जाणं**" ति 'साय-रइथिरदुग' इत्यादि–(४५०) गाथार्धेन संगृहीता या वेदनीयद्विक-हास्यरति-शोका ऽरति-स्थिरा ऽस्थिर-शुभा-ऽशुभ-यशःकीर्त्य ऽयशःकीर्तिलक्षणा द्वादश प्रकृतयस्तद्वर्जानां सर्वासां बन्धप्रायोग्यमतिज्ञानावरणादीनामित्यर्थः ।

इदमत्र हृदयम्–मिश्रयोगमार्गणात्रये प्राक् स्वामित्वद्वारे आयुर्वर्जसर्वबन्धप्रायोग्यप्रकृतीना जघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वविषये मतद्वयी प्रदर्शिता । तत्र यन्मते मिश्रयोगचरमसमये इव तद्द्विचरमादिसमयेष्वप्युत्कृष्टस्थितिबन्धो जघन्यस्थितिबन्धो वाऽविरुद्धस्तन्मते मार्गणाद्विचरमाद्यन्यतमसमये समयमेकमुत्कृष्टस्थितिबन्धकरणे सर्वासां बन्धप्रायोग्योत्तरप्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य जघन्यान्तरं समयमात्र लभ्यते । यद्वा '**उरलमीसे धुवुरलजिणचउसुराईण**' मित्यादिना(गाथा–४८०)ऽभिहिता ध्रुवबन्ध्यादीः कतिपयाः प्रकृतीर्विहाय शेषाणा प्रकृतिबन्धान्तरमेव जघन्यतः समयमात्रमिति तदपेक्षयापि प्रस्तुतजघन्यान्तरं समयमात्रं समुपलभ्यते, ध्रुवबन्ध्यादीना तु यथोक्तरीत्योत्कृष्टस्थितिबन्धद्वयान्तरालापेक्षयैव । यन्मते पुनर्मार्गणाचरमसमये एवोत्कृष्टस्थितिबन्धस्य जघन्यस्थितिबन्धस्य वा सम्भवः, नान्यदा द्विचरमादिसमयेषु, तन्मते निरन्तरप्रवर्तमानासु प्रस्तुतमार्गणासूत्कृष्टस्थितिबन्धद्वयस्यैवाऽसम्भवात् न लभ्यते यथोक्तध्रुवबन्ध्यादिप्रकृतीनां प्रस्तुतान्तरम् । ध्रुवबन्ध्यादिवर्जानां तु तत्तत्प्रकृतिबन्धान्तरापेक्षया समुत्पद्यमानं सत्तल्लभ्यतेऽपीत्यतस्तन्मते 'उअ णत्थि उरलमीसे" इत्यादिसार्धगाथया ध्रुवबन्ध्यादीनां तत्प्रतिषिद्धम् , शेषाणां त्वप्रतिषिद्धत्वा-

देव तत्समयमात्रं ख्यापितं चेति ।

अथान्यत्राह–"**कम्माऽणाहारेसु**" ति कार्मणा-ऽनाहारकमार्गणयोः "**उरालवज्जाण अधुवबंधीणं**"ति औदारिकशरीरनामकर्म विहाय शेषबन्धप्रायोग्याध्रुवबन्धिप्रकृतिमध्यात् "**लहु खणो सिं**"ति तासां 'लघु'–जघन्यमनुत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरं 'क्षणः' समयो भवति । कासां तासामित्याह–"**जाण तिसमया कालो**"त्ति यासां देवद्विकवैक्रियद्विकजिननामवर्जानां प्रस्तुतमार्गणायां बन्धप्रायोग्याणां षष्टेः सातवेदनीयाद्यध्रुवबन्धिनीनां 'कालः' अनुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टकालः 'तिसमया' त्ति अनन्तरमेकजीवाश्रये **कालद्वारे**–'कम्माऽणाहारेसुं सुराइपचणह होइ दो समया । सेसाणं पयडीण सट्ठीए होइ समयतिग'॥३९२॥ इति गाथायाम् , मतान्तरेण तु 'थावरपाउग्गाण'(गाथा–३९३) इत्यादिना यासां साता-ऽसातवेदनीय-हास्य-रति-शोका ऽरति-नपुंसकवेदमोहनीय--तिर्यग्द्विकै-केन्द्रिय-हुंडसंस्थानौ-दारिकशरीर पराघातो-च्छ्वासा-ऽऽतपो- द्योत- दुःस्वरवर्जस्थावरनवक- बादरत्रिक-स्थिर-शुभ-यशःकीर्तिनाम-नीचैर्गोत्रलक्षणानां त्रयः समया भणितस्तासामेव, न शेषाणाम् ; शेषाणां प्रकृतिबन्धान्तरस्याऽभावात् , प्रस्तुतान्तरस्य प्रकृतिबन्धान्तराविनाभावित्वाच्च । अत एव प्रतिषेधयन्नाह–"**ण इयरेसि**"मिति गतार्थम् ।

इदमत्र हृदयम्–अत्र मार्गणाद्वये सर्वासामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनः संज्ञिपञ्चेन्द्रियजीवा एव, ते च प्रस्तुतमार्गणाद्वये उत्कर्षतोऽपि समयद्वयमेवाऽवस्थानं कुर्वन्ति; इत्थ न लभ्यते प्रस्तुतान्तरं तदपेक्षया, अन्तरस्य जघन्यतोऽपि समयत्रयाधीनत्वात् । येषां स्थावरेभ्यः स्थावरतयोत्पद्यमानानां प्रस्तुतमार्गणाद्वये समयत्रयमवस्थानं सम्भवति तेषा तु नोत्कृष्टस्थितिबन्धः, इत्थं चाऽध्रुवबन्धिनीनां समयं बद्ध्वा सम्भवद्विच्छेदानामेकसमयबन्धकालमपेक्ष्य तत्प्रतिपक्षप्रकृतीनां प्रकृतिबन्धान्तरं जघन्यत उत्कृष्टतो वा समयमात्रं सम्पद्यते, तदेवानुत्कृष्टस्थितिबन्धस्याऽप्यन्तरमिति ॥४७९-४८२॥

अथ वेदमार्गणास्थानेषु यत्रैकस्या अपि प्रकृतेः प्रस्तुतान्तरमन्तर्मुहूर्तं सम्भवति तत्र तत्प्राह–

थीअ जिणस्स ण हवए आहारदुगस्स लहु मुहुत्तंतो ।
समयोऽण्णाण अवेए सव्वाण भवे मुहुत्तंतो ॥४८३॥

(प्रे०) "**थीअ**" त्ति स्त्रीवेदमार्गणाया जिननाम्नः "**ण हवए**" त्ति अनुत्कृष्टस्थितेः प्रस्तुतान्तरं न भवेत् । कथम् ? मिथ्यात्वाभिमुखनरकाभिमुखानां तदीयोत्कृष्टस्थितेर्बन्धकत्वेनोत्कृष्टस्थितिबन्धे समाप्ते एव मिथ्यात्वमवाप्य नारकतयोत्पत्त्या, श्रेणावबन्धावस्थाया ऊर्ध्वं कालकरणे देवतयोत्पत्त्या, कालाकरणे त्ववेदिभवनात् प्रस्तुतमार्गणाया विच्छेदेन चेवं त्रिधाऽपि मार्गणानिरन्तरकाले द्विरनुत्कृष्टस्थितिबन्धाऽसम्भवादिति । द्विरनुत्कृष्टस्थितिबन्धाभावे तु न भवेदन्तरमिति तु सुगममिति । "**आहारदुगस्स लहु मुहुत्तंतो**" त्ति आहारकद्विकस्यानुत्कृष्टस्थितेः 'लघु' जघन्य बन्धान्तरं 'मुहूर्तान्तः'-अन्तर्मुहूर्तं स्याद् , तच्च प्रकृतिबन्धान्तरवत्प्रमत्तगुणस्थानं गत्वाऽविलम्बेन पुनरप्रमत्तत्व-

मधिगच्छन्तं जीवमपेक्ष्य बोध्यम् , न पुनरोघवदुपशान्ताद्धाक्षयेण प्रतिपतन्तं जीवमपेक्ष्य, अनिवृत्त्या- दाववेदिभवनेन तत्स्वामिनः प्रस्तुतमार्गणात बहिर्भवनादेवेति । "**समयोऽण्णाण**" त्ति जिननामा-ऽऽहारकद्विकप्रकृतित्रयं विवर्ज्य शेषाणामायुर्वर्जानां प्रकृतीनां तु प्रस्तुतान्तरं 'समयः' समयमात्रं भवति, तच्च तदीयोत्कृष्टस्थितिबन्धजघन्यकालस्य समयमात्रत्वेन तदन्तरितानुत्कृष्ट- स्थितिबन्धद्वयान्तरापेक्षया ज्ञेयम् । "अवेए"त्ति अपगतवेदमार्गणास्थाने "**सव्वाण**" त्ति बन्ध- प्रायोग्याणां सर्वासां प्रकृतीना प्रस्तुतान्तरं मुहूर्तान्तो भवति । सुगमम् ॥४८३॥

अथ पुरुषवेदमार्गणास्थाने 'ओघव्व अत्थि समओ' (४७८) इत्यादिगाथायां पञ्चेन्द्रियौघादि- मार्गणाभिः समं सर्वासामोघवत्तथा नपुंसकवेदमार्गणास्थाने 'तिमणुस-णपु सगेसु '(४७७)इत्यादिगाथायां मनुष्यगत्योघादिमार्गणाभिः समं प्रस्तुतान्तरस्याऽभिहितत्वात् कषायमार्गणास्थानेषु 'कायचउक- साचेसु ' इत्यादिगाथायां काययोगमार्गणया समं प्रस्तुतान्तरस्य प्रतिपादितत्वाच्च क्रमप्राप्तज्ञानमार्ग- णास्थानेषु दिदर्शयिषुः प्रागिव तुल्यवक्तव्योपेता अवधिदर्शनादिमार्गणाः संगृह्याह—

पंचणराईण वरिसपुहुत्तमोही-तिणाण-सम्मेसु ।
मज्झकसाय-सुरविउवआहारदुगाण उण मुहुत्तंतो ॥४८४॥(गीतिः)
सेसाण अत्थि समयो मणपज्जव-संजमेसु समयोऽत्थि ।
बारससायाईणं सेसाण भवे मुहुत्तंतो ॥४८५॥

(प्रे०) "**पंचणराईणे**"त्यादि, अवधिदर्शनम् , मति-श्रुता-ऽवधिज्ञानानि, सम्यक्त्वौघ इत्येतेषु पञ्चमार्गणास्थानेषु 'णरदुग-वइरु-रलुवगाणि ॥४४१॥ उरल'मित्यनेन संग्रहगाथांशेन पूर्वं संगृहीताना मनुष्यगति-मनुष्यानुपूर्वी-वज्रर्षभनाराचसंहननौ दारिकशरीरौ-दारिकाङ्गोपाङ्गलक्षणानां पञ्चानां नरादिप्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य जघन्यमन्तरं "**वरिसपुहुत्त**" त्ति वर्षपृथक्त्वं भवति, सम्यग्दृष्टिदेवनैरयिकाणां जघन्यतो वर्षपृथक्त्वस्थितिकमनुष्यतयोत्पत्तेः प्रस्तुतमार्गणास्वेतासा पञ्चानां प्रकृतिबन्धजघन्यान्तरस्य वर्षपृथक्त्वादिति ।

"**मज्झकसाय**" इत्यादि, मध्यमानामप्रत्याख्यानावरण प्रत्याख्यानावरणक्रोधादिलक्षणा- नामष्टाना कषायप्रकृतीनां तथा द्विकशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धात्सुरद्विकस्य देवगति-देवानुपूर्वी- लक्षणस्य वैक्रियद्विकस्य वैक्रियशरीर-तदङ्गोपाङ्गरूपस्या-ऽऽहारकद्विकस्याऽऽहारकशरीर तदङ्गोपाङ्ग- लक्षणस्येत्येवं सर्वसंख्यया चतुर्दशप्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितिबन्धजघन्याऽन्तरं पुनः "**मुहुत्तंतो**" त्ति अन्तर्मुहूर्तं भवति, तत्र कषायप्रकृतीनां तु देशविरत्यादिगुणस्थानकान्तरप्राप्त्या विच्छिन्नबन्धानामन्त- र्मुहूर्तादर्वाक् पुनः पूर्वगुणस्थानकाऽप्राप्तेः प्रकृतिबन्धजघन्यान्तरस्यान्तर्मुहूर्तत्वात् प्रस्तुतान्तरं तथा विज्ञेयम् । **अयम्भावः**–अप्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्य चतुर्थगुणस्थानं यावत् प्रत्याख्यानावरणचतु-

ष्कस्य तु देशविरतिगुणस्थानकं यावच्च बन्धोऽविरततया प्रवर्तते, तदुपरितनगुणस्थानेषु नैव प्रवर्तते च; अन्यच्च यथा सम्यक्त्वाद्यभिमुखा जीवा अभिमुखावस्थायां पञ्चत्वं न यान्ति तथा तं सम्यक्त्वादिकमवाप्याऽन्तर्मुहूर्तं विश्रम्यैव कालं कुर्वन्ति, न त्वर्वाक् । एवं च तेषामप्रत्याख्यानावरणादिप्रकृतीनामबन्धो जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तं प्रवर्तते, अबन्धप्रारम्भादन्तर्मुहूर्ते गते एव मृत्योः सम्भवात्, मृत्योरभावे त्वन्तर्मुहूर्तप्रमाणे देशविरत्यादिगुणस्थानजघन्यकालेऽतिक्रान्ते एव चतुर्थगुणस्थाने पुनः प्रत्यावर्तनं सम्भवति; एवं चाऽप्रत्याख्यानावरणादीनां जघन्योऽप्यबन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणः प्राप्यते, स एव तासामनुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य जघन्यान्तरम् । मतान्तरे तु समय एव, संयमप्राप्त्यनन्तरसमये भवक्षयस्याप्यभ्युपगमादिति । देवद्विकादिषट्प्रकृतीनामपि तत्तासां प्रकृतिबन्धजघन्यान्तरापेक्षयैव विज्ञेयम् । तदीयप्रकृतिबन्धजघन्यान्तरं तूपशमश्रेणिमारुह्य उपशान्तमोहगुणस्थानकादद्धाक्षयेण क्रमशः प्रतिपततो जीवस्य तासां यावत्कालमबन्धस्तावदन्तर्मुहूर्तमेव प्राप्यते, न तूपशमश्रेणौ भवक्षयापेक्षया उत्कृष्टस्थितिबन्धजघन्याद्धापेक्षया वा; भवक्षयापेक्षया तस्य दीर्घस्यैव सम्भवाद्, उत्कृष्टस्थितिबन्धाद्धापेक्षया त्वनुत्पत्तेश्चेति ।

उक्तशेषाऽऽयुर्वर्जप्रकृतीनामाह–"**सेसाणे**"त्यादि, शेषाणामायुर्वर्जबन्धप्रायोग्यप्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितिबन्धजघन्यान्तरं तु समयमात्रमित्यर्थः । एतच्च समयमात्रप्रकृतिबन्धान्तरापेक्षया ज्ञेयम्, न तु प्रतिपक्षस्थितेर्बन्धकालापेक्षया, प्रतिपक्षभूतोत्कृष्टस्थितेर्जघन्यबन्धकालस्याप्यन्तर्मुहूर्तत्वादिति । शेषमतिज्ञानावरणादीनां समयमात्रं तु तत्तत्प्रकृत्यबन्धद्वितीयसमये तत्स्वामिनः कालकरणेन देवगतावुत्पत्तेः पुनस्तद्बन्धप्रवर्तनात्तथा कासाञ्चित्सातादीनां तु परावर्तमानबन्धत्वादपीति।

"**मणपज्जव**" इत्यादि, मनःपर्यवज्ञानमार्गणास्थाने संयमौघमार्गणास्थाने च 'साय-रइ थिरदुग-जसा असाय-अरइदुग-अथिरदुग अजसा ॥४५०॥' इत्येतावता सग्रहगाथांशेन संगृहीतानां सातवेदनीयादीनां द्वादशप्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितिबन्धजघन्यान्तरं समयोऽस्ति, प्रस्तुतमार्गणासु स्वप्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धप्रायोग्यतया परावृत्य बध्यमानानामासां प्रकृतिबन्धान्तरस्य समयमात्रत्वादिति । "**सेसाण भवे मुहुत्तंतो**" त्ति सुगमम् । उपपत्तिस्तु प्रकृतिबन्धान्तरानुसारेण कार्या । प्रकृतिबन्धान्तरं तु आसां मतिज्ञानावरणादिशेषद्विपञ्चाशत्प्रकृतीनामपरावृत्य बन्धप्रायोग्यतया तत्तद्गुणस्थानादौ अबन्धं प्राप्तानां श्रेणितः प्रतिपाते तत्स्वामिनः पुनस्तत्तद्गुणस्थानादिप्राप्त्या प्रवृत्तबन्धानां योऽबन्धकालस्तदपेक्षया विज्ञेयमिति ॥४८४-४८५॥ अथ ज्ञानप्रतिपक्षभूतेष्वज्ञानमार्गणास्थानेषु सर्वासां प्रस्तुतान्तरस्य समयमात्रत्वेनोत्तरत्र 'समओ सेसासु सव्वेसिं' (गाथा-४९४) मित्यनेन वक्ष्यमाणत्वात् तानि विहाय क्रमप्राप्तसंयममार्गणास्थानेषु प्रस्तुतान्तरं दिदर्शयिषुः प्राग्वदाह—

मणणाणव्व समइए छेए परिहार-देस-मीसेसुं ।
आहारगदुग-बारससायाईणं ण सेसाणं ॥४८६॥

णो सुहुमसंपराये सप्पाउग्गाण सव्वपयडीणं ।
अजये भिन्नमुहुत्तं जिणस्स समयोऽत्थि सेसाणं ॥४८७॥

(प्रे०) "मणणाण" इत्यादि, सामायिकसंयम छेदोपस्थापनसंयम-परिहारविशुद्धिकसंयम-देशसंयमेषु तथा "मीस" त्ति सम्यग्मिथ्यात्वमार्गणास्थाने प्रत्येकं मनःपर्यवज्ञानमार्गणावदाहारकद्विकस्यानुत्कृष्टस्थितिबन्धजघन्यान्तरमन्तर्मुहूर्तं तथा 'सायरइथिरदुग-जसा असाय-अरइदुग-अथिरदुग-अजसा' इत्येतावता(४५०)संग्रहगाथाशेन संगृहीतानां सातवेदनीयादीनां द्वादशप्रकृतीनां समयो भवति । इह देशसंयम-सम्यग्मिथ्यात्वमार्गणयोराहारकद्विकस्य बन्धाभावेन तत्र तद्वर्जा द्वादशप्रकृतय एव विज्ञेयाः । "ण सेसाणं"ति ताश्चानन्तरोक्ताः प्रकृतीर्विहाय शेषाणां बन्धप्रायोग्यायुर्वर्जप्रकृतीनां पुनः प्रस्तुतान्तरं न भवति । तत्राहारकद्विकादीनां प्रस्तुतान्तरं मनःपर्यवज्ञानमार्गणावदभ्यूह्यम् । शेषप्रकृतीनां तु तासामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य मिथ्यात्वाद्यभिमुखस्वामिकतया उत्कृष्टस्थितिबन्धविच्छेदेन सममेव प्रस्तुततत्तन्मार्गणायाः विच्छेदात्, तत्तत्प्रकृतीनामबन्धे प्रवर्तमाने सति कालकरणे, कालकरणाभावे वा सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानादिप्राप्तावपि प्रस्तुततत्तन्मार्गणाया विच्छेदभावेन प्रकृतिबन्धान्तरस्याऽप्यभावाच्च । विस्तरेण तु स्वयमेव भावनीयमिति ।

"णो सुहुमे"त्यादि, सूक्ष्मसपरायसंयममार्गणास्थाने सर्वासां बन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां "णो"त्ति प्रस्तुतान्तर न भवति, प्रकृतिबन्धान्तरस्याऽभावादुत्कृष्टस्थितिबन्धस्याऽपि मार्गणाविच्छेदादर्वाग् मार्गणाचरमस्थितिबन्धे एव सम्भवाच्चेति । "अजये" त्ति असंयममार्गणास्थाने जिननाम्नः प्रस्तुतान्तरं 'भिन्नमुहूर्तम्' अन्तर्मुहूर्तम्, तच्च मिथ्यात्वजघन्यकालापेक्षया ज्ञेयम् । शेषाऽऽयुर्वर्जबन्धप्रायोग्यप्रकृतीना तु प्रस्तुतान्तर समयोऽस्ति, कासांचित्परावर्तमानबन्धाना सातवेदनीयादीनां प्रकृतिबन्धान्तरस्य समयमात्रत्वात्; मतिज्ञानावरणादीना तु प्रकृतिबन्धस्य समयमात्रत्वाऽभावेऽपि तासामुत्कृष्टस्थितिबन्धाद्धायाः समयमात्रत्वाच्चेति ॥४८६-४८७॥

अथ शेषे संयमौघमार्गणास्थाने मनःपर्यवज्ञानमार्गणया सम प्रस्तुतान्तरस्य भणितत्वात्, तदनु क्रमप्राप्तदर्शनमार्गणात्रयेऽपि "आघव्वऽत्थि" इत्यादि(४७८)गाथायाम् "पचणराईण वरिसपुहुत्त मोही" इत्यादि-(४८४) गाथायां च पञ्चेन्द्रियौघादितत्तन्मार्गणाभिः साकं प्रतिपादितत्वाच्च प्रस्तुतान्तरस्य लेश्यामार्गणास्थानेषु तत्प्रतिपादयन्नाह—

किण्हाअ अंतरं णो जिणस्स समयो हवेज्ज सेसाणं ।
तेउपउमलेसासु आहारदुगस्स णेव भवे ॥४८८॥
देव-विउव्वदुगाणं कमा भवे दससहस्सवासाणि ।
अयराऽत्थि साहिया दो समयो सेसाण विण्णेयं ॥४८९॥

सुक्काए लेसाए सुरविउवाऽऽहारजुगलपयडीणं।
भिन्नमुहुत्तं समयो अवसेसाणं छणवतीए ॥४९०॥

(प्रे०) "**किण्हाअ**" इत्यादि, कृष्णलेश्यामार्गणास्थाने जिननाम्नोऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरं न भवति, नरकाभिमुखमिथ्यात्वाभिमुखमनुष्याणां तदीयोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वात्, मनुष्याणां लेश्यायाः परावर्तमानत्वाच्चेति। "**समयो हवेज्ज सेसाणं**" ति शेषाणां कृष्णलेश्यायां बन्धप्रायोग्याऽऽयुर्वर्जप्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य जघन्यमन्तरं तु समयो भवेत्, कासांचित्प्रकृतिबन्धजघन्यान्तरस्य यद्वा सर्वासां प्रतिपक्षस्थितेर्जघन्यबन्धकालस्य समयमात्रत्वेन तदन्तरितयोरनुत्कृष्टस्थितिबन्धयोरन्तरस्य समयमात्रत्वादिति। नील-कपोतलेश्यामार्गणयोस्तु 'समयो सेसासु सव्वेसिं' (गाथा-४९४) इत्यनेन सर्वासामायुर्वर्जप्रकृतीनां प्रस्तुतान्तरस्य समयमात्रत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात् तन्मार्गणाद्वयं विहाय शुभलेश्यामार्गणासु प्रस्तुतान्तरमाह-"**तेउ-पउमे**"त्यादि, तेजोलेश्यामार्गणास्थाने पद्मलेश्यामार्गणास्थाने च आहारकशरीर-तदङ्गोपाङ्गनामलक्षणस्याऽऽहारकद्विकस्य "**णेव भवे**" त्ति प्रस्तुतानुत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरं नैव भवेत्, अनुत्कृष्टस्थितिबन्धं समाप्य पुनरपि तत्प्रारम्भ यावदन्तर्मुहूर्तकालमपि तत्स्वामिनः प्रस्तुततत्तन्मार्गणायामनवस्थानात्। विशेषतस्तु काययोगौघादिमार्गणासु प्राग्भावितप्रस्तुतप्रकृतिद्वयानुत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरप्रतिषेधवद्भावनीयम्, मनुष्याणां काययोगादिवल्लेश्यानामपि परावर्तमानत्वादिति।

देवद्विक-वैक्रियद्विकलक्षणानां चतसृणां प्रकृतीनां क्रमाद् दशसहस्रवर्षाणि, साधिकौ द्वौ सागरोपमौ च भवति। तेजोलेश्यायां दशसहस्रवर्षाणि, पद्मलेश्यामार्गणाया तु साधिकसागरोपमद्वयमिति भावः। एतच्च "दस वाससहस्साइ तेऊए ठिई जहन्निया होइ। उक्कोसा दो उदही पलियस्स असंखभाग च॥ जा तेऊए ठिई खलु उक्कोसा चेव समयमब्भहिया। पम्हाइ जहन्नेण' मितित्युत्तराध्ययनसूत्रवचनात्तेजोलेश्यादिदेवाना जघन्यस्थितेस्तावत्प्रमाणत्वेन तावत्कालं देवद्विकादिप्रकृतीनामबन्धात्तदपेक्षया विज्ञेयम्। "**समयो**" इत्यादि, मार्गणाद्वयेऽप्युक्ताऽऽहारकद्विकादिप्रकृतीर्विहाय शेषाणामायुर्वर्जबन्धप्रायोग्यप्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितिबन्धजघन्याऽन्तर समयमात्रं विज्ञेयम्, तच्च प्राग्वत्प्रकृतिबन्धजघन्यान्तरादिनोह्यमिति।

अथ शुक्ललेश्यामार्गणास्थाने प्राह-'**सुक्काए**'' इत्यादि, शुक्ललेश्यायां "**सुर**" इत्यादि, युगलशब्दस्य प्रत्येकं योगादेवद्विक वैक्रियद्विका-ऽऽहारकद्विकलक्षणानां षण्णां प्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितिबन्धजघन्यान्तरं भिन्नमुहूर्तं भवति। कुतः? तत्र तासा प्रकृतिबन्धान्तरस्याऽन्तर्मुहूर्तत्वात्। प्रकृतिबन्धान्तरं तु अष्टमादिगुणस्थानेषु केवलशुक्ललेश्याया एव प्रवर्तनेनोपशान्ताद्धाक्षयात् क्रमेण प्रपततो 'जीवस्य प्रस्तुतप्रकृतीनामबन्धकालापेक्षया ज्ञातव्यम्। न च तासामबन्धद्वितीयसमये भवक्षयेण

प्रस्तुतमार्गणायामेवोत्पत्तेस्तत् समयमात्रं सम्पद्येतेति वाच्यम्, तया नीत्या देवतयोत्पत्तावपि देवभवे आसां बन्धाभावेन जघन्यान्तरस्यैवानुत्पत्तेरित्यादि विभावनीयं स्वधियेति । "समयो" इत्यादि, उक्तप्रकृतिषट्कं परिहृत्यावशेषाणामायुर्वर्जानां मतिज्ञानावरणादिपण्णवतिप्रकृतीनां प्रस्तुतान्तरं तु समयो भवति । कथमासां समयः, पूर्वोक्तानां तु न ? इति चेद्, अबन्धद्वितीयसमये कालकरणे देवगताववाद्यसमयादेवासां पुनर्बन्धप्रवर्तनात्तदधीनं प्रस्तुतान्तरमपि समयमात्रं सम्पद्यते; न पुनः पूर्वोक्तानाम्, आदेवभवं तासामबन्धाद्, किन्तूक्तनीत्याऽन्तर्मुहूर्तमेव तत्प्राप्यत इति ॥४८८-४९०॥

अथ लेश्योत्तरं भव्ये 'ओघव्व' (गा०-४७८) इत्यादिना पञ्चाक्षौघादिना समसुक्तत्वादभव्ये तु 'समयो सेसासु' इत्यादिना वक्ष्यमाणत्वाच्च सम्यक्त्वतत्प्रतिपक्षमार्गणास्थानेषु वाच्यं प्रस्तुतान्तरम्, तत्र सम्यक्त्वौघे 'पचणराईण वरिसपुहुत्तमोहीतिणाण-सम्मेसु ।'(गा० ४८४) इत्यादिना मतिज्ञानादिमार्गणाभिः सह, क्षायिकसम्यक्त्वे पञ्चेन्द्रियौघमार्गणया समं तथा सम्यग्मिथ्यात्वे सामायिकादिसंयममार्गणाभिः साकं तस्य प्रतिपादितत्वात्, मिथ्यात्वे तु 'समयो सेसासु सव्वेसिं' (४९४) इत्यनेन वक्ष्यमाणत्वाच्च तच्छेषेष्वौपशमिकसम्यक्त्वादिमार्गणास्थानेषु ततश्च शेषमार्गणासु प्रस्तुतान्तरं प्राह—

णरुरलदुग-वइराणं णत्थि उवसमम्मि अंतरं चेव ।
ओहिव्व जाणियव्वं सप्पाउग्गाण सेसाणं ॥४९१॥
बारससायाईणं खणो भवे वेअगे मुहुत्तंतो ।
मज्झकसायाण तहा आहारदुगस्स विण्णेयं ॥४९२॥
णरुरलदुग-वइराणं वासपुहुत्तं भवे अहियपल्लं ।
देवविउव्वदुगाणं सेसाणं अंतरं णत्थि ॥४९३॥
धुवबंधीण पणिंदिय-परघा-ऊसास-तसचउक्काणं ।
सासाणे णोऽण्णेसिं समयो सेसासु सव्वेसिं ॥४९४॥

(प्रे०) "णरुरलदुग" इत्यादि, द्विकशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धान्मनुष्यगतिमनुष्यानुपूर्वीप्रकृतिद्वयलक्षणस्य नरद्विकस्यौदारिकशरीर-तदङ्गोपाङ्गलक्षणप्रकृतिद्वयरूपस्यौदारिकद्विकस्य वज्रर्षभनाराचसंहननस्य चेत्येतासां पञ्चानां "णत्थि उवसमम्मि अंतरं चेव" त्ति औपशमिकसम्यक्त्वमार्गणास्थाने प्रस्तुतत्वादनुत्कृष्टस्थितिबन्धस्याऽन्तरमेव न भवति, किं पुनस्तज्जघन्यान्तरमित्येवकारार्थः । कथं न भवति ? इति चेद्, उत्कृष्टस्थितिबन्धादबन्धादुभयथाऽप्यसम्भवात् । अबन्धादसम्भवस्तु मनुष्यतिरश्चामतत्स्वामित्वात् । उत्कृष्टस्थितिबन्धादसम्भवस्तु मिथ्यात्वाभिमुखदेवनैरयिकाणां तासामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वेन उत्कृष्टस्थितिबन्धे समाप्तेऽनुपदमेव मार्गणाया अपि

विच्छेदात् । प्रकृतिबन्धान्तरापेक्षया तु तत्सम्भवचिन्ता एव न विद्यते, अन्तराभावादिति । शेषाणां प्राह–"**ओहिव्व**" इत्यादि, उक्तशेषबन्धप्रायोग्यमतिज्ञानावरणादिद्विसप्ततिप्रकृतीनां प्रस्तुतान्तरं तु "**ओहिव्व**" त्ति अवधिज्ञानाऽवधिदर्शनाऽन्यतरमार्गणावज्ज्ञातव्यमित्यर्थः । **तद्यथा**–अप्रत्याख्यानावरणप्रत्याख्यानावरणक्रोधाद्यष्टकषायप्रकृतयस्तथा देवद्विक–वैक्रियद्विका–ऽऽहारकद्विकानीत्येवं चतुर्दशप्रकृतीनामन्तर्मुहूर्तम् । शेषमतिज्ञानावरणाद्यष्टपञ्चाशत्प्रकृतीनां तु समय एव । एतच्चान्तरमवधिज्ञानमार्गणावदेवोह्यं सुधियेति ।

क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणास्थाने प्राह–"**बारससायाईण**"मित्यादि, वेदकसम्यक्त्वे 'साय-रइथिरदुग-जसा' इत्यादिना (४५०) संग्रहगाथांशेन संगृहीतानां साता-ऽसातवेदनीय-हास्य-रति-शोका-ऽरति-स्थिरा-ऽस्थिर शुभा-ऽशुभ-यशःकीर्त्य-ऽयशःकीर्तिनामलक्षणानां सातवेदनीयादि-द्वादशप्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितिबन्धजघन्याऽन्तरं "**खणो भवे**" त्ति 'क्षणः'-समयो भवेत् ,परावृत्य बध्यमानानां तासां प्रकृतिबन्धान्तरस्य समयमात्रत्वादिति । "**मुहुत्तंतो**" इत्यादि, मध्यमानामप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरणक्रोधादिलक्षणानां 'कषायाणाम्'-अष्टानां कषायप्रकृतीनां तथाऽऽहारकद्विकस्येत्येवं सर्वसंख्यया दशप्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितिबन्धजघन्यान्तरं 'मुहुर्तान्तः' अन्तर्मुहूर्तं विज्ञेयम् । एतच्च मतिज्ञानादिमार्गणावदूह्यमिति । "**णरदुगे**"त्यादि, मनुष्यद्विकं मनुष्यगति-मनुष्यानुपूर्वीलक्षणम् , औदारिकद्विकम् औदारिकशरीर-तदङ्गोपाङ्गप्रकृतिद्वयात्मकं वज्रर्षभनाराचसंहननं चेत्येवं पञ्चानामनुत्कृष्टस्थितिबन्धजघन्यान्तरं "**वासपुहुत्तं भवे**" त्ति वर्षपृथक्त्वं भवेत् । इदमपि मतिज्ञानादिमार्गणावज्ज्ञेयम् । "**अहियपल्लं देवविउव्वदुगाणं**" ति देवद्विक-वैक्रियद्विकलक्षणचतुःप्रकृतीनां प्रस्तुतान्तरं पुनरभ्यधिकं पल्योपमं भवेत् , न पुनर्मतिज्ञानादिमार्गणावदन्तर्मुहूर्तम् । कथम् ? अत्रौपशमिकादिमम्यग्दृष्टीनामप्रवेशेन श्रेणिसम्बन्ध्यबन्धकालप्रयुक्तान्तरस्याऽलाभात् सम्यग्दृष्टिमनुष्याणां जघन्यतोऽभ्यधिकपल्योपमस्थितिकदेवतयोत्पादेन प्रकृतिबन्धान्तरस्य जघन्यत. साधिकपल्योपमप्रमाणत्वात् , उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिना मिथ्यात्वाभिमुखतया तदपेक्षया प्रकारान्तरेण त्वन्तरस्यैवाऽसम्भवाच्चेति । "**सेसाणं अंतरं णत्थि**" त्ति प्रस्तुतमार्गणास्थाने उक्तसातवेदनीयाद्येकत्रिंशत्प्रकृतीः परित्यज्य शेषाणामायुर्वर्जबन्धप्रायोग्याणां मतिज्ञानावरणादिषट्चत्वारिंशत्प्रकृतीनां प्रस्तुतान्तर न भवति, मार्गणाप्रविष्टसर्वजीवानां बन्धप्रायोग्यतया मार्गणाप्रारम्भसमयप्रवृत्तबन्धानामेतासां शेषप्रकृतीना मार्गणाप्रान्तं यावदविच्छिन्नतया बन्धभावेन प्रकृतिबन्धान्तरस्याऽभावात् , उत्कृष्टस्थितिबन्धस्याऽपि मिथ्यात्वाभिमुखस्वामिकतया तदपेक्षयाप्यन्तरस्यानुत्पत्तेश्चेति ।

अथ सासादनमार्गणास्थाने आह–"**धुवबधोणे**"त्यादि, बन्धप्रायोग्याणा मिथ्यात्ववर्जषट्चत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिनीनां तथा पञ्चेन्द्रियजाति पराघातो-च्छ्वास त्रसचतुष्कलक्षणाना सप्तप्रकृतीनामित्येव सर्वसंख्यया त्रिपञ्चाशत्प्रकृतीना '**सासाणे णो**" त्ति सासादनमार्गणायां न

भवति, अनुत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरमिति गम्यते । तच्च कासाश्चिन्मतिज्ञानावरणादीनां ध्रुवबन्धित्वेन, कासाश्चित् पञ्चेन्द्रियजात्यादीनां स्वप्रतिपक्षप्रायोग्यप्रकृतीनां बन्धप्रायोग्याभावतो ध्रुवबन्धिकल्पत्वेन, पराघातादेस्तु बन्धतस्तत्सहचारित्वेन च प्रकृतिबन्धान्तरस्याऽभावात्तासां सर्वासामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य मिथ्यात्वाभिमुखस्वामिकत्वात् ; शेषाणां त्वध्रुवबन्धित्वात् , तत्राऽपि कासाश्चिदुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य स्वस्थानसंक्लेशप्रायोग्यत्वाच्च त्रिपञ्चाशद्वर्जशेषप्रकृतिमध्यात्कासाश्चिद् प्रकृतिबन्धजघन्यकाल-प्रयुक्तं सत्तथा कासाश्चित्तु तदीयोत्कृष्टस्थितिबन्धजघन्यकालप्रयुक्तं सत् प्रस्तुतान्तरं जघन्यतः समय-मात्रं सम्पद्यते । एतदेव दर्शयन्नाह–"**ऽण्णेसिं समयो**" इति, गतार्थमिति ।

अथोक्तशेषनिरयगत्योघादिदशोत्तरशतमार्गणास्वायुर्वर्जसर्वासां बन्धप्रायोग्याणां प्रस्तुतान्तरं समयमात्रमिति दर्शयन्नाह–"**सेसासु सव्वेसिं**" ति 'समयो' इत्यत्राऽपि सम्बध्यते तत उक्तशेष-मार्गणासु 'सव्वेसिं' ति प्रस्तुतत्वादायुर्वर्जसर्वासां बन्धप्रायोग्यप्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितिबन्ध-जघन्यान्तरं समयो भवति । **शेषमार्गणा नामतस्त्विमाः**–निरयगत्योघः, सप्तमभूमिवर्जाः प्रथमादिपृथिवीनिरयभेदलक्षणाः षड् नरकगत्युत्तरभेदाः, पञ्चाऽपि तिर्यग्गतिमार्गणास्थानानि, अप-र्याप्तमनुष्यः, त्रिंशदपि देवगतिमार्गणास्थानानि, सर्वैकेन्द्रिय सर्वविकलेन्द्रियमार्गणास्थानान्यपर्याप्त-पञ्चेन्द्रियश्च, एवं सर्वपृथिवीकाया-ऽप्काय-तेजःकाय-वायुकाय-वनस्पतिकायमार्गणास्थानान्यपर्याप्त-त्रसकायश्च, वैक्रिया-ऽऽहारककाययोगौ, अज्ञानत्रयम् , नीलकापोतलेश्ये, अभव्यः, मिथ्यात्वम् ; असंज्ञी चेति । अत्र प्रत्येकं सर्वासां प्रस्तुतान्तरं समयमात्रं प्रागिव तदीयप्रकृतिबन्धजघन्यान्तरापेक्षया, तदभावे तूत्कृष्टस्थितिबन्धजघन्यकालेन समयमात्रादिनेति यथासम्भवं भावनीयमिति ॥४९२-४९४॥

तदेवं प्रतिपादितमादेशतः सर्वमार्गणास्थानेष्वप्यायुर्वर्जसर्वबन्धप्रायोग्योत्तरप्रकृतीनामनुत्कृष्ट-स्थितिबन्धस्यैकजीवाश्रयमन्तरं जघन्यतः । एतर्हि तदेवोत्कृष्टतो विभणिषुर्लाघवार्थं पूर्ववद् बहु-मार्गणाविषयकतुल्यवक्तव्यतामेकयाऽऽर्यया प्राह—

> **कम्मा-ऽणाहारेसु अणिसिद्धाणंतरं गुरु समयो ।**
> **सेसासु मुहुत्तंतो अवक्खमाणाऽऽउवज्जाणं ॥४९५॥**

(प्रे०) "**कम्माणाहारेसु**"मित्यादि, अनन्तरमनुत्कृष्टस्थितिबन्धजघन्यान्तरप्रतिपादनाव-सरे 'काय-चउक्कसायेसु आहारदुगस्स णो जिणस्स वि णो' (गाथा ४७९) इत्यादिना तत्तत्काययोगादिमार्ग-णासु यासामाहारकद्विकादिप्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरं निषिद्धं ताः निषिद्धान्तराः प्रकृतयस्ता एवोपचारतोऽत्र निषिद्धाः प्रकृतयः न निषिद्धा इति अनिषिद्धाः या आहारकद्विकादिभिन्नप्रकृतय-स्तासामित्यर्थः । पुनः कथम्भूतानामित्याह–"**अवक्खमाणा ऽऽउवज्जाणं**" ति यासामनुत्कृष्ट-स्थितिबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं वक्ष्यते ता अनन्तरोक्तन्यायेन वक्ष्यमाणाः, न वक्ष्यमाणाः अवक्ष्यमाणाः,

वक्ष्यमाणेतरा इत्यर्थः। आयुर्भिर्बन्धप्रायोग्यैर्वर्जा रहिता इति आयुर्वर्जाः; अवक्ष्यमाणाश्च ता आयुर्वर्जाश्चेति अवक्ष्यमाणायुर्वर्जाः प्रकृतयस्तासामवक्ष्यमाणायुर्वर्जानां प्रकृतीनामित्यर्थः। इहाऽऽयुःप्रकृतीनां वर्जनं तासां प्रस्तुतान्तरस्य शेषप्रकृतिप्रस्तुतान्तरापेक्षया विलक्षणत्वेन पश्चादेव वक्ष्यमाणत्वादिति। तासामनिषिद्धानामवक्ष्यमाणाऽऽयुर्वर्जबन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां किम्? इत्याह–"**कम्माणाहारेसु**" इति, अस्य चान्वयः "**गुरु समयो**" इत्यनेन, ततः कार्मणकाययोगमार्गणायामनाहारकमार्गणायां च 'गुरु'-उत्कृष्टमेकजीवाश्रयमनुत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरं 'समयः' समयमात्रं भवति। इदं हि सर्वासां बन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां न जघन्यं न वोत्कृष्टम्, किन्तु अजघन्यानुत्कृष्टमेव, केवलं पूर्वम् 'कम्माणाहारेसु उरालचउज्जाण अधुवबधीण। जाण तिसमया कालो लहू खणो सिं ण इयरेसि ॥४८२॥' इत्यनया गाथया जघन्यपदेऽभिहितत्वात्, अनुक्ते चेह 'अवक्खमाणाण मुहुत्तंतो' इति वचनेन तस्यान्तर्मुहूर्तत्वप्रसंगादुत्कृष्टपदेऽपि समयमात्रमभिहितम्। तच्च सर्वथा जघन्यान्तरवद्विभावनीयमिति।

"**सेसासु मुहुत्तंतो**" त्ति शेषनिरयगत्योघादिमार्गणासु पुनस्तासां प्रतिषिद्ध-वक्ष्यमाणेतरासामायुर्वर्जप्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरं 'मुहूर्तान्तः' भवति। कथं नाधिकः? इति चेद्, प्रस्तुतशेषमार्गणाऽऽद्यान्त्यसमयमध्यवर्तिनोऽपि उत्कृष्टस्थितिबन्धकालस्य प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धकालस्य प्रस्तुतप्रकृत्यबन्धकालस्य वोत्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तत्वेनाधिककालस्याऽसम्भवादिति ॥४९५॥

तदेवं सर्वमार्गणास्थानेषु आयुर्वर्जनिषिद्ध-वक्ष्यमाणेतरप्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टं बन्धान्तरं प्रदर्श्य सम्प्रति 'अवक्खमाणाऽऽउवज्जाण' (गाथा-४८२)इत्यत्र या अवक्ष्यमाणेतरप्रकृतयस्तासां तत्प्रदर्शयन् निरयगत्योघादिमार्गणाक्रमेणाह—

मिच्छाइअट्ठवीसाअ सव्वणिरयेसु णरदुगुच्चाणं।
णिरयचरमणिरयेसु य देसूणा सगुरुकायठिई ॥४९६॥
तिरिये मिच्छाईणं णवण्ह पल्लाऽत्थि तिण्णि देसूणा।
ओघव्व जाणियव्वं णवण्ह णिरयाइगाणं तु ॥४९७॥
देसूणपुव्वकोडी हवए णपुमाइअट्ठवीसाए।
दुइअकसायाण तहा उरालदुग-वइररिसहाणं ॥४९८॥
तिपणिंदियतिरियेसु मिच्छाईणं णवण्ह पयडीणं।
तिण्णि पलिओवमाइं देसूणाइं मुणेयव्वं ॥४९९॥
देसूणपुव्वकोडी णेयं णपुमाइअट्ठवीसाए।
दुइअकसायाण तहा णिरयणरुरलदुग-वइराणं ॥५००॥

तिणरेसु बोद्धव्वं नवमिच्छाईण ऊणपल्लतिगं ।
पुव्वा कोडिपुहुत्तं आहारदुगस्स णायव्वं ॥५०१॥
देसूणपुव्वकोडी णेयं णपुमाइअट्ठवीसाए ।
मज्झकसायाण तहा णिरयणरुरलदुग-वइराणं ॥५०२॥
देवे मिच्छाईओ पणवीसाए य तिण्ह तिण्ह कमा ।
उवरिमगेविज्ज-ऽट्ठम-दुइअसुरूणगुरुकायठिई ॥५०३॥
मिच्छाईओ कमसो पणवीसाए य तिण्ह तिण्ह कमा ।
उवरिमगेविज्ज-ऽट्ठम-दुइअसुरंतेसु हीणसगुरुठिई ॥५०४॥(गीतिः)

(प्रे०) "**मिच्छाइअट्ठवीसाअ**"इत्यादि, सर्वेष्वोघोत्तरभेदभिन्नेष्वष्टसंख्याकेषु निरयगतिमार्गणास्थानेषु मिथ्यात्वादीनां प्रस्तुतद्वारारम्भे 'मिच्छ थीणद्धितिग-मणचउग-थी णपुमा । मघयणाऽऽगिइपणग दुहगतिग कुखगई णीअ ॥४४८॥ तिरियदुगुज्जो'इत्येतावत्संग्रहगाथांशसंगृहीतानामष्टाविंशतेः प्रकृतीनां तथा "**णरदुगुच्चाणं णिरयचरमणिरयेसु य**" त्ति चकारस्य 'णरदुगुच्चाण' मित्यस्योत्तरं योजनाद् निरयगत्योघचरमपृथिवीनिरयभेदमार्गणास्थानयोर्नरद्विकस्य मनुष्यगतिमनुष्यानुपूर्वीलक्षणस्य तथोच्चैर्गोत्रस्याऽपीत्येवं सर्वसंख्ययैकत्रिंशत्प्रकृतीनामित्यर्थः । तासां किमित्याह—"**देसूणा सगुरुकायठिई**"त्ति अन्तर्मुहूर्तादिलक्षणेनैकदेशेनोना स्वीया स्वीया तत्तन्निरयगत्योघादिमार्गणायाः पूर्वं **मूलप्रकृतिस्थितिबन्धद्वितीयाधिकारकालद्वारे** 'कायठिई उक्कोसा णिरय-सुराणं विभंगणाणस्स' इत्यादिगाथाप्रकरेण प्रतिपादिता 'गुरुः' उत्कृष्टा त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमादिमाना कायस्थितिः । तादृशदेशोनोत्कृष्टकायस्थितिप्रमाणं प्रस्तुतोत्कृष्टान्तरमित्यर्थः । एवमुत्तरत्राऽपि द्रष्टव्यम् । एवं हि मिथ्यात्वादिप्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरेऽभिहिते निरयगत्योघादिमार्गणास्थानेषु शेषाणामायुर्वर्जमतिज्ञानावरणादीनां प्रस्तुतान्तरमन्तर्मुहूर्तं प्राप्तम्, तास्वेकस्या अपि प्रकृतेरनुत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरस्याऽप्रतिषिद्धत्वात्, अप्रतिषिद्धाऽवक्ष्यमाणायुर्वर्जप्रकृतीनां प्रस्तुतान्तरस्यानुपदमेव 'कम्माणाहारेसु' मित्यादि(४९५)गाथायां 'सेसासु मुहुत्तंतो' इत्यनेनाऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणस्य प्रतिपादितत्वाच्च । तत्र मिथ्यात्वादीनां देशोनकायस्थित्यन्तरं सातवेदनीयादिपरावर्तमानबन्धानामन्तर्मुहूर्तमन्तरं च तासां प्रकृतिबन्धोत्कृष्टान्तरस्य तथात्वात्तथा विज्ञातव्यम्; कषायोदयवतां जीवानां प्रकृतिबन्धे प्रारब्धे प्रायेणानुत्कृष्टस्थितिबन्धस्यैव प्रवर्तनात् । अत्र प्रायोग्रहणं स्वस्थानोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिकानां परावर्तमानप्रकृतीनां कदाचिद् बन्धप्रारम्भे उत्कृष्टस्थितिबन्धस्याऽपि सम्भवमपेक्ष्य । एवमपि यथोक्तान्तरोपपत्तौ न काचिद् बाधा, तादृशानामुत्कृष्ट-

स्थितिबन्धस्याऽप्यनुत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरप्रयोजकत्वात् । मतिज्ञानावरणादिशेषध्रुवबन्धिनीनामन्तर्मुहूर्तमन्तरं तु तदीयोत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टकालप्रयुक्तं सत्तथा विज्ञातव्यमिति ।

भावनीयं पुनः प्रकृतिबन्धान्तरादिना । तद्यथा–निरयगत्योघभेदे सप्तमभूमिनैरयिकतया प्रत्यग्रोत्पन्नो यः कश्चिज्जीवः सोऽपर्याप्ताद्यवस्थायामन्तर्मुहूर्तं यावत्तु नियमेन मिथ्यात्वादिप्रकृतीस्तदीयामनुत्कृष्टस्थितिं च निर्वर्तयति,पश्चात्तु सम्यक्त्वावाप्तौ तासां बन्धविच्छेदः, ततः प्रभृति तासां मिथ्यात्वादीनां प्रकृतिबन्धान्तरं स्थितिबन्धान्तरं च युगपत्प्रवर्तेते, ते चोत्कर्षतस्तावत्प्रवर्तेते यावदसौ जीवस्तद्भवचरमान्तर्मुहूर्ते मिथ्यात्वमवाप्य मिथ्यात्वादीनां बन्धं पुनर्न प्रारभते; इत्थं मिथ्यात्वादीनामष्टाविंशतेः प्रस्तुतान्तरं तासां प्रकृतिबन्धान्तरेण तुल्यमेवावाप्यते । मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोरपि प्रस्तुतान्तरं निरयगत्योघे प्रकृतिबन्धान्तरेण तुल्यमेवाऽवाप्यते, न तु किञ्चिन्न्यूनाधिकम् ; केवलमनन्तरोक्ताऽन्तरापेक्षयाऽन्तर्मुहूर्तेन न्यूनमेव, सम्यक्त्वे सति बध्यमानानामासां तिसृणां प्रकृतिबन्धान्तरस्योत्पत्त्यनन्तरं प्रागिवाऽदूरेण सम्यक्त्वमवाप्य पुनर्मिथ्यात्वप्राप्त्या समं तत्स्वामिनः प्रवर्तनात् , एवं भवप्रान्तेऽपि मिथ्यात्वाऽवाप्तेः प्राक्सम्यक्त्वप्राप्त्या समं समाप्तेश्च । एवमेव सप्तमभूमिनिरयभेदेऽपि ज्ञेयम् । शेषेषु प्रथमभूम्यादिनिरयभेदमार्गणास्थानेषु मिथ्यात्वादीनां प्रस्तुतान्तरं निरयगत्योघवत्तासां प्रकृतिबन्धोत्कृष्टान्तरेण तुल्यं भवप्रथम-चरमान्तर्मुहूर्तद्वयरहितशेषकायस्थितिप्रमाणमेव प्राप्यते, भवप्रारम्भप्रान्तयोर्मिथ्यात्वासत्त्वे मिथ्यात्वादिप्रकृतीनां तदीयानुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य चासम्भवेनान्तरस्यैवानुत्पत्तेः; मिथ्यात्वस्य सत्त्वे तेन सह तस्मिन् भवे जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तमवस्थानाद् भवप्रथम-चरमान्तर्मुहूर्तवर्जनं विज्ञेयम् । अत्र शेषेषु षट्सु नरकभूमिमार्गणास्थानेषु निरयगत्योघादिवन्मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोरन्तरस्य देशोनोत्कृष्टकायस्थितिप्रमाणत्वाप्रदर्शनं तु तत्र प्रथमभूम्यादिनैरयिकजीवानां मिथ्यात्वगुणस्थानेऽपि मनुष्यद्विकादिप्रकृतीनां बन्धस्याऽविरुद्धतया तिर्यग्गत्यादिना समं परावृत्य परावृत्य बध्यमानानां तासां प्रकृतिबन्धान्तरस्योत्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तत्वप्राप्तेः । एवमेव निरयगत्योघादिप्रस्तुतसर्वमार्गणास्थानेषु परावृत्य बध्यमानानां प्रस्तुतान्तरं प्रकृतिबन्धान्तरेण तुल्यमन्तर्मुहूर्तमात्रं ज्ञेयम् । यद्यपि एतासु मार्गणासु मतिज्ञानावरणादीना प्रकृतिबन्धान्तरमेव न भवति, तथाऽपि तासामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य मार्गणान्तरानभिमुखानां स्वस्थानसंक्लेशवर्तिजीवानां सद्भावेनोत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टकालेन तुल्यमन्तर्मुहूर्तमेव प्रस्तुतान्तरं सम्पद्यते, उत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरितानुत्कृष्टस्थितिबन्धद्वयापेक्षया तल्लाभात् । इत्थमेवोत्तरत्राऽपि यासां प्रकृतिबन्धान्तरं सम्भवति तासा तत् प्रकृतिबन्धोत्कृष्टान्तरापेक्षया, प्रकृतिबन्धान्तराऽसम्भवे तूक्तनीत्या प्रतिपक्षस्थित्युत्कृष्टबन्धकालापेक्षया तत्साधनीयमिति ।

अथ क्रमप्राप्ततिर्यग्गतिमार्गणास्थानेष्वाह–''तिरिये''त्यादि, तिर्यग्गत्योघमार्गणास्थाने 'मिच्छ थीणद्धितिग-मणचउग-थी'इत्येतावता (४४८)सग्रहगाथांशेन संगृहीतानां मिथ्यात्व स्त्यान-

द्वित्रिका-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्क-स्त्रीवेदलक्षणानां नवानां प्रकृतीनाम् "**पल्लाऽत्थि तिण्णि देसूणा**"त्ति अनुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरं देशोनानि त्रीणि पल्योपमानि भवति । एतच्च उत्कृष्ट-स्थितिकयुग्मितिर्यग्जीवस्योत्कृष्टतो देशोनत्रिपल्योपमानि यावत्सम्यक्त्वसद्भावे आसां मिथ्यात्वादी-नामबन्धेन तदीयप्रकृतिबन्धान्तरस्य तथात्वात् तथा ज्ञेयम् । अत्र देशोनता तु त्रिपल्योपमस्थिति-कयुग्म्यायुरनुभवतो जीवस्य यावताऽविलम्बेन सम्यक्त्वप्राप्तेः सम्भवस्तावता युग्मिभवप्रारम्भकालेन तद्भवचरमान्तर्मुहूर्तेन चाऽवसातव्येति ।

"**ओघव्वे**"त्यादि, 'णिरय-सुर-विउव्वदुग उच्चणरदुग' (गाथा-४४९)इत्येतावता संगृहीतानां निरयद्विक-सुरद्विक-वैक्रियद्विक-मनुष्यद्विको-च्चैर्गोत्रलक्षणानां नवानां प्रकृतीनां 'तु'पुनः '**ओघव्व**' त्ति प्रस्तुतमनुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरमोघवत् । **तद्यथा**-मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोरसंख्येयाः लोकाः, शेषाणा षण्णां त्वसंख्येयाः पुद्गलपरावर्ताः । उपपत्तिरप्यत्र वायुकायै-केन्द्रियादितया यथोक्तमानकालं निर्गमयतः प्रस्तुतमार्गणावर्तिजीवस्य नाथास्वाभाव्येन तावत्कालं तत्तत्प्रकृत्यादीनामबन्धादित्या-द्योघवदेव द्रष्टव्येति । "**देसूणे**"त्यादि, 'णपुमा । संघयणागिइपणग दुहगतिग कुखगई णीअ ॥४४८। तिरियदुग-उज्जोआ-ऽऽयव-थावर एगिंदिसुहुमविगलतिग"मित्येतावता संग्रहगाथादेशेन संगृहीतानां नपुंसकवेदादीनामष्टाविंशतेः प्रकृतीनां "**दुइअ**" इत्यादि, द्वितीयानामप्रत्याख्यानावरणक्रोधादीनां चतुर्णां कषायाणामौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचसंहननयोरित्येव सर्वसंख्यया पञ्चत्रिंशत्प्रकृतीनां प्रस्तु-तान्तरं देशोनपूर्वकोटिप्रमाणं भवति । इदमप्यासामुत्कृष्टप्रकृतिबन्धान्तरस्य देशोनपूर्वकोटिप्रमाणत्वा-त्तथा ज्ञेयम् । **ननु** कथं मिथ्यात्वादिप्रकृतीनामिव देशोनत्रिपल्योपमान्यनुक्त्वा देशोनपूर्वकोटि-प्रमाणमेवासां प्रस्तुतोत्कृष्टान्तरमभिहितम् ? **इति चेद्, भण्यते**, उत्कृष्टसम्यक्त्वकालस्य देशोन-त्रिपल्योपमप्रमाणस्य त्रिपल्योपमस्थितिकतद्भवप्रान्ते मिथ्यात्वगमनसम्भवस्य च सत्त्वेऽपि युग्मिनो देवगतिप्रायोग्यप्रकृतीनामेव बन्धसद्भावेनासां नपुंसकवेदादिप्रकृतीना बन्धाभावात् मिथ्यात्वमोह-नीयादिप्रकृतिवत्तासा प्रकृतिबन्धान्तरं देशोनत्रिल्योपमानि न सम्भवति,अतो देशोनत्रिपल्योपमा-न्यनुक्त्वा पूर्वकोटिस्थितिकभवप्रान्ते मिथ्यात्वसत्त्वे आसां नपुंसकवेदादिप्रकृतीनां बन्धसम्भवात् तादृशभवसम्भव्युत्कृष्टसम्यक्त्वादिकालापेक्षया देशोनपूर्वकोटिरेवाभिहितमिति । तत्र चतुर्णाम-प्रत्याख्यानावरणकषायाणां देशसंयमकालापेक्षया, शेषाणा तु सम्यक्त्वकालापेक्षयेति विवेक इति ।

उक्तशेषाणामायुर्वर्जमतिज्ञानावरणादिषष्टिप्रकृतीनां तु तदीयानुत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरस्या-ऽप्रतिषिद्धत्वादवक्ष्यमाणत्वाच्च 'सेसासु मुहुत्ततो अवक्खमाणाण' इत्यादि(गाथा-४९५)वचनात्प्रस्तु-तान्तरमन्तर्मुहूर्तमभिहितमेव ज्ञेयम् । तत्र **शेषप्रकृतयस्तु नामत इमाः**-ज्ञानावरणपञ्चक-दर्श-नावरणचतुष्क-निद्राद्विक-साता--ऽसातवेदनीय-प्रत्याख्यानावरणचतुष्क-संज्वलनचतुष्क--हास्य-रति-

शोका-ऽरति-भय-जुगुप्सा पुंवेद-पञ्चेन्द्रियजाति तैजस-कार्मणशरीर-समचतुरस्रसंस्थान-वर्णादिचतुष्क-प्रशस्तविहायोगति-पराघातो-च्छ्‌वासा ऽगुरुलघु-निर्माणो-पघात-त्रसदशका-ऽस्थिरा-ऽशुभा-ऽयशःकीर्ति-नामा-ऽन्तरायपञ्चकानीति । प्रस्तुतान्तरमन्तर्मुहूर्तं तु प्राग्वद् ध्रुवबन्धिनीनां स्वीयोत्कृष्टस्थिति-बन्धस्यान्तर्मुहूर्तप्रमाणोत्कृष्टकालमपेक्ष्य, शेषाणां तु स्वीयप्रकृतिबन्धोत्कृष्टान्तरापेक्षयैवेति ।

"**तिपणिंदियतिरियेसु**" मित्यादि, अपर्याप्तभेदवर्जेष्वोघ-पर्याप्त तिरश्चीभेदभिन्नेषु त्रिषु पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणास्थानेषु "**मिच्छाईण**"मित्यादि, मिथ्यात्वादीनां नवप्रकृतीनामनुत्कृष्ट-स्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरं देशोनानि त्रीणि पल्योपमानि ज्ञातव्यम् । नपुंसकवेदाद्यष्टाविंशतिप्रकृतीनां तथा द्वितीयानामप्रत्याख्यानावरणक्रोधादीनां चतुर्णां कषायाणां निरयद्विक-नरद्विकौ-दारिकद्विक-वज्र-र्षभनाराचसंहनननाम्नामित्येवमेकोनचत्वारिंशत्प्रकृतीनां तु देशोनपूर्वकोटिः । उक्तशेषाणामायुर्वर्ज-मतिज्ञानावरणादिपञ्चषष्टिप्रकृतीनां त्वनन्तरोक्तनीत्या प्रस्तुतान्तरमन्तर्मुहूर्तमेव । अत्र शेषप्रकृतयस्त्व-नन्तरं तिर्यग्गत्योघे शेषप्रकृतितयाऽभिहिताः षष्टिर्देवद्विक-वैक्रियद्विको-च्चैर्गोत्रैर्युक्ताः सत्यः पञ्च-षष्टिर्विज्ञेयाः । उपपत्तिस्तु सामान्यतो मिथ्यात्वादिसर्वप्रकृतीनामनन्तरोक्तनीत्यैव, केवलं तत्र तिर्यग्गत्योघे स्वभावतो नरकद्विक-देवद्विक वैक्रियद्विकान्यबध्नतामेकेन्द्रियाणां तथा स्वभावतो मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रेऽबध्नतां तेजस्काय-वायुकायानामोघवत् प्रवेशेन प्रस्तुतान्तरमप्योघवत्कथितम्, प्रस्तुतान्यतममार्गणायां तु तेषामेकेन्द्रियादीनामप्रवेशेन तासां नरकद्विकादीनां प्रस्तुतान्तरमपि ओघवन्न सम्पद्यते, किन्तु नरकद्विकमनुष्यद्विकयोस्तिर्यग्द्विकवत् तथा शेषदेवद्विकादीनां पञ्चानां तु पञ्चेन्द्रियजातिनामप्रस्तुतान्तरवदुपलभ्यते, तच्च तद्वदेव भावनीयमिति ।

अथ तिर्यक्पञ्चेन्द्रियौघादिमार्गणावदपर्याप्तवर्जमनुष्यौघादिमार्गणात्रयेऽपि स्वभावतो निरय-गत्यादिप्रकृत्यबन्धकानां तेषामेकेन्द्रियादीनामप्रवेशेन प्रत्याख्यानावरणचतुष्का ऽऽहारकद्विक-जिन-नामवर्जसर्वप्रकृतीनां प्रस्तुतान्तरमविशेषेण तिर्यक्पञ्चेन्द्रियौघादिमार्गणावदेव लभ्यते । प्रत्याख्या-नावरणचतुष्कस्य प्रस्तुतान्तर त्वप्रत्याख्यानावरणचतुष्कवद् देशोनपूर्वकोटिरेव प्राप्यते, पूर्वकोटि-स्थितिकभवे देशविरतेरुत्कृष्टकालवत् संयमोत्कृष्टकालस्य देशोनपूर्वकोटिमात्रत्वसम्भवात्, तस्यैव प्रत्याख्यानावरणानां प्रकृतिबन्धान्तरद्वारेण प्रस्तुतस्थितिबन्धान्तरप्रयोजकत्वात् । आहारकद्विकस्य तु तत्पूर्वकोटिपृथक्त्वं प्राप्यते, तत्तन्मनुष्यगत्योघादिमार्गणायाश्चरमे युग्मिभवेऽप्रमत्तादिगुणप्रत्यय-स्या-ऽऽहारकद्विकबन्धस्याऽसम्भवेन तं चरमभवं विहाय शेषपूर्वकोटिस्थितिकभवौघे दीर्घान्तरेण प्रथमचरमभवयोराहारकद्विकं बध्नतो जीवस्याऽऽहारकद्विकोत्कृष्टबन्धान्तराधीनं प्रस्तुतान्तरमपि देशोनपूर्वकोटिपृथक्त्वमेव सम्भवति, "पंचिंदितिरिनरेसु सत्तट्ठभवा उ उक्कोसा" इति वचनेन मनुष्य-तया नैरन्तर्येण सप्ताष्टभवानामेव सम्भवाद् । एवं जिननाम्नस्तूपशान्तमोहगुणे तदीयाबन्धको भूत्वोपशान्ताद्धाक्षयेणोपशमश्रेणेः प्रतिपातात्पुनर्जिननाम बध्नतो जीवस्य प्रकृतिबन्धान्तरस्योत्कृष्टतो-

ऽन्तर्मुहूर्तत्वसम्भवात्प्रस्तुतानुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरमप्यन्तर्मुहूर्तमेवोपलभ्यत इत्यतस्तत्तत्प्रकृतीना तथैव दर्शयन्नाह–"तिणरेसुं बोद्धव्व"मित्यादि गाथाद्वयम् । गतार्थम् , केवलं तिणरेसुमित्यनेन मनुष्यौघ तत्पर्याप्त मानुषीलक्षणानि त्रीणि मार्गणास्थानान्यवगन्तव्यानीति ।

अथ देवगतिमार्गणास्थानेषु प्रथम देवगत्योघे आह–"देवे" इत्यादि, तत्र "मिच्छाइओ" त्ति 'मिच्छं थीणद्धितिग'(गाथा–४४८) इत्यादिना संगृहीताभ्यो मिथ्यात्वादिभ्यः प्रकृतिभ्यः "पणवीसाए य तिण्ह तिण्ह कमा" त्ति क्रमात् पञ्चविंशतेः प्रकृतीनां, तिसृणां प्रकृतीनां, तिसृणां प्रकृतीना च । तासां किमित्याह–"उवरिमगेविज्जे"त्यादि, क्रमादित्यत्राऽपि संबध्यते, ततः क्रमादुपरितनग्रैवेयकसुरस्याऽष्टमकल्पसुरस्य द्वितीयकल्पसुरस्य च "ऊणगुरुकायठिई" त्ति यथासम्भवमन्तर्मुहूर्तादिनोना न्यूना 'गुरुः' उत्कृष्टा कायस्थितिः, अनुत्कृष्टस्थितिबन्धस्योत्कृष्टान्तरं भवतीति गम्यते ।

अयम्भावः–देवगत्योघे मिथ्यात्वादिप्रकृतीनां बन्धकेभ्यो ये सर्वदीर्घस्थितिका देवाः प्राप्यन्ते तैर्भवप्रथम-चरमान्तर्मुहूर्तयोः कृतस्य तासां प्रकृतिबन्धद्वयस्यान्तरमपेक्ष्य प्रस्तुतान्तरं प्राप्यते । "मिच्छ थीणद्धितिग"मित्यादिना संगृहीतप्रकृतिभ्यः क्रमात्पञ्चविंशतिप्रकृतयस्तु मिथ्यात्वम् , स्त्यानर्द्धित्रिकम् , अनन्तानुबन्धिचतुष्कम् , स्त्रीवेद-नपुंसकवेदौ, प्रथमवर्जसंहननपञ्चकम् , प्रथमवर्जसंस्थानपञ्चकम् , दुर्भगत्रिकम् , अप्रशस्तविहायोगतिः, नीचैर्गोत्रमिति । अनुत्तरदेवानां नियमतः सम्यग्दृष्टित्वेन यावज्जीवमेतद्बन्धाभावेन सर्वदीर्घस्थितिकतद्बन्धकतया उत्कृष्टस्थितिकनवमग्रैवेयकदेवा लभ्यन्ते, तेषु च कश्चिद्देवो यदोत्पत्त्यनन्तरमन्तर्मुहूर्ते गतेऽविलम्बेन सम्यक्त्वमवाप्नोति ततः प्रभृति तस्य मिथ्यात्वादिप्रकृतीनां बन्धविच्छेदात्तद्बन्धान्तरं प्रवर्तते, तच्चोत्कृष्टतस्तावत्प्रवर्तते यावत्तद्भवचरमान्तर्मुहूर्तेऽतिदूरेण तत्स्वामी पुनर्मिथ्यात्वमवाप्य मिथ्यात्वादिप्रकृतीनां बन्ध प्रारभते । तच्चान्तरं देशोनग्रैवेयकसुरोत्कृष्टकायस्थितिप्रमाणमेव, देवानां भवस्थितिकायस्थित्योरविशेषात् । यदेवात्र प्रकृतिबन्धान्तरं तदेवाऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरमित्यतो देवगत्योघे मिथ्यात्वादीना प्रस्तुतान्तरं देशोनोपरितनग्रैवेयकोत्कृष्टस्थितिप्रमाणमभिहितम् । एवमेव उक्तपञ्चविंशतिप्रकृत्युत्तरं क्रमात् तिर्यग्द्विकोद्योतनामलक्षणास्तिस्रः प्रकृतयः प्राप्यन्ते, 'तिरियदुगुज्जोअ' (गाथा–४४९) इति वचनात् । तासां च बन्धकेषूत्कृष्टस्थितिका देवा उत्कृष्टस्थितिकसहस्रारकल्पोद्भवाः, अत उक्तनीत्या तिर्यग्द्विकोद्योतनाम्नोः प्रस्तुतान्तरं देशोनाष्टादशसागरोपमाणि ज्ञेयम् । एवमेव तदुत्तरवर्तिनां तिसृणामातप-स्थावरै-केन्द्रियलक्षणप्रकृतीनां प्रस्तुतान्तरमन्तर्मुहूर्तोनपल्योपमाऽसंख्यभागाभ्यधिकसागरोपमद्वयं भवति, द्वितीयकल्पसुराणामुत्कृष्टभवस्थितेः पल्योपमाऽसंख्यभागाभ्यधिकसागरोपमद्वयप्रमाणत्वात् , तत आद्यान्त्यान्तर्मुहूर्तयोर्वर्जनीयत्वाच्च ।

एता मिथ्यात्वाद्येकत्रिंशत्प्रकृतीः परित्यज्य देवगत्योघे बन्धप्रायोग्याऽऽयुर्वर्जशेषमतिज्ञानावर-

णाद्येकसप्ततिप्रकृतीनां प्रस्तुतानुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरं तु 'अवक्खमाणाण' (ग था-४६५) इत्यादि-वचनादन्तर्मुहूर्तमेव । तत्र शेषमतिज्ञानावरणादयस्तु मिथ्यात्व-स्त्यानर्द्धित्रिका-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्क-वर्जा एकोनचत्वारिंशद् ध्रुवबन्धिन्यः, वेदनीयद्विक-हास्य-रति-शोका-ऽरति-पुंवेद मनुस्यद्विक-पञ्चेन्द्रियजात्यौ-दारिकद्विक-प्रथमसंहननसंस्थान-प्रशस्तविहायोगति-पराघातो-च्छ्वास-जिननाम-त्रसदशका-ऽस्थिरा-ऽशुभा-ऽयशःकीर्त्यु च्चैर्गोत्रलक्षणा द्वात्रिंशदध्रुवबन्धिन्यश्चेति । एतासां प्रस्तु-तान्तरमन्तर्मुहूर्तं तु प्रागिव ध्रुवबन्धिनीनां तथाऽध्रुवबन्धिनीष्वपि कासाञ्चित्स्वप्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धप्रायोग्यत्वाभावेन निरन्तरबध्यमानतया ध्रुवबन्धिकल्पानामुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टकालात् ,शेषा-ध्रुवबन्धिनीनां तु अन्तर्मुहूर्तप्रमाणस्वीयप्रकृतिबन्धोत्कृष्टान्तराच्चोपपादनीयमिति ।

अथ देवगत्युत्तरभेदेष्वाह-"**मिच्छाइओ**" इत्यादि, अनन्तरोक्तरीत्या मिथ्यात्वादिभ्यः प्रकृतिभ्यः क्रमशः पञ्चविंशतेस्तिसृणां तिसृणां च "**कमा**" त्ति क्रमात् "**उवरिमगेविज्ज-ऽट्टम-दुइअसुरंतेसु**" त्ति सुरान्तशब्दस्योपरितनग्रैवेयकादिभिः प्रत्येकं योजनादुपरितनग्रैवेयका-दितत्तदन्तेषु देवमार्गणास्थानेषु प्रस्तुतान्तरं "**हीणसगुरुठिई**" त्ति तत्तन्मार्गणाया देशोना उत्कृष्टा भवस्थितिः कायस्थितिर्वा ज्ञेयमित्यर्थः । **अयमर्थः**-उपरितनग्रैवेयकान्तेषु चतुर्विंशतिदेवगतिमार्गणा-स्थानेषु प्रत्येकं मिथ्यात्वादिपञ्चविंशतिप्रकृतीनां प्रस्तुतान्तरं तत्तद्भवनपत्यादिमार्गणासत्कोत्कृष्टका-यस्थितिर्देशोना, क्रमप्राप्ताष्टमसहस्रारकल्पान्तैकादशदेवगतिमार्गणास्थानेषु क्रमप्राप्ततिर्यग्द्विकोद्योत-नामलक्षणानां तिसृणां प्रकृतीनाम् , तथैव द्वितीयेशानकल्पान्तपञ्चदेवगतिमार्गणास्थानेष्वेकेन्द्रिय-स्थावराऽऽतपलक्षणानां तिसृणां प्रकृतीनां तत्तन्मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिरन्तर्मुहूर्तेन न्यूना सती प्रस्तुता-न्तरं भवति ।

अयम्भावः-एता मिथ्यात्वादय एकत्रिंशत्प्रकृतयः सम्यग्दृष्टिगुणस्थाने देवैर्न निर्वर्त्यन्ते; इत्थं च तासामेवोक्तनीत्या प्रकृतिबन्धान्तरं सम्भवति । यदेवात्र प्रकृतिबन्धान्तरं तदेवानुत्कृष्टस्थितिबन्धान्त-रम् । तत्र सनत्कुमारादिदेवानामातपस्थावरैकेन्द्रियलक्षणानां तिसृणां बन्धप्रायोग्यत्वाभावेनेशाना-न्तानामेव तासां मिथ्यात्वाद्येकत्रिंशन्प्रकृतीनां प्रस्तुतान्तरं देशोनस्वीयकायस्थितिः प्राप्यत इति कृत्वेशानान्तेषु मिथ्यात्वादीनामिव तिर्यग्द्विको द्योतयोस्तथा-तपै-केन्द्रिय स्थावरनाम्नां तथैव दर्शि-तम् । तदुपरितनेषु सहस्रारान्तमार्गणास्थानेष्वातपादीनां तिसृणां वर्जनम् , आनतकल्पादिषु तिर्य-ग्द्विकोद्योतयोश्च वर्जनं तत्र तत्र तासां प्रकृतीनामेव बन्धप्रायोग्यत्वाभावात् । मिथ्यात्वादिपञ्चविंशति-प्रकृतीनां तूपरितनग्रैवेयकं यावद् बन्धभावात् तावदन्तेषु देवभेदेषु मिथ्यात्वादीनां पञ्चविंशतेः देशोनोत्कृष्टकायस्थितिरित्यभिहितमिति । भवनपत्यादिषूक्तशेषाऽऽयुर्वर्जबन्धप्रायोग्याणां प्रस्तुतान्तरं तु देवगत्योघवदन्तर्मुहूर्तमेव विज्ञेयमिति ।

अथाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्-अपर्याप्तमनुष्यमार्गणयोः पञ्चस्वनुत्तरसुरभेदेषु चैकस्या अपि

प्रकृतेरनुत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरं न प्रतिषिद्धं न चोक्तम्, इत्थं तेषु सप्तमार्गणास्थानेषु बन्धप्रायोग्याणां सर्वासामायुर्वर्जप्रकृतीनां तत् 'सेसासु मुहुत्तं तो' (गाथा-४९५) इत्यादिवचनादन्तर्मुहूर्तमेवाऽभिहितं विज्ञेयम्। तच्च प्राग्वदूह्यमिति ॥४९६-५०४॥

तदेवं प्रतिपादितं गतिमार्गणास्थानेष्वायुर्वर्जसर्वबन्धप्रायोग्यप्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरम्। एतर्हि तदेवैकेन्द्रियादिजातिमार्गणास्थानेषु प्रतिपिपादयिषुस्तुल्यवक्तव्योपेतान्यान्यमार्गणाः सगृह्य प्राह—

विण्णेयमसंखेज्जा लोगा मणुसदुग-उच्चगोआणं।
एगिंदिये तह सुहुमएगिंदिय-कायजोगेसु ॥५०५॥
कम्मट्ठिई उ तेसिं बायरएगिंदिये मुणेयव्वं।
संखसहस्ससमा तह बायरएगिंदियसमत्ते ॥५०६॥
तइअकसायाईणं पणचत्ताअ तह तिवइराईणं।
दुपणिंदितसेसु णयण-सण्णीसुं होइ ओघव्व ॥५०७॥
पणसीइसागरसयं णिरयदुगस्सऽत्थि सगसुराईणं।
साहियतेत्तीसुदही आहारदुगस्स ऊणजेट्ठठिई ॥५०८॥ (गीतिः)

(प्रे०) "विण्णेय"मित्यादि, एकेन्द्रियौघमार्गणास्थाने तथा सूक्ष्मैकेन्द्रियौघ-काययोगसामान्यमार्गणास्थानयोरित्येव त्रिषु प्रत्येकं मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रलक्षणानां तिसृणां प्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरम् "असंखेज्जा लोगा" त्ति लोकप्रमाणेष्वसंख्येयेषु आकाशखण्डेषु प्रतिसमयमेकैकाऽऽकाशप्रदेशाऽपहारे यावता कालेन तत्सर्वं निर्लेपं जायेत तावादसंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणीप्रमाणं विज्ञेयम्, सूक्ष्म बादर-पर्याप्ता ऽपर्याप्ततेजस्कायवायुकायावस्थायामेतासां तिसृणां बन्धप्रायोग्यत्वाभावेनात्र प्रस्तुतप्रकृतिबन्धान्तरस्योत्कृष्टतस्तथात्वात्, प्रत्येकं मार्गणासु तासां सूक्ष्मतेजस्कायादीना तथा तदन्येषां जीवाना प्रविष्टत्वाच्च। "कम्मट्ठिई उ"इत्यादि, तत्र तुकारोऽनुक्तविकल्पान्तरसमुच्चये, पर्याप्ताऽपर्याप्तविशेषणविरहिते बादरैकेन्द्रियौघमार्गणास्थाने "तेसिं" ति तासां मनुजद्विकोच्चैर्गोत्रप्रकृतीना प्रस्तुतान्तर 'कर्मस्थितिः'-सप्ततिकोटिकोटिसागरोपमाणि देशोना, अङ्गुलासंख्यभागप्रमाणा मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिर्वा स्यादित्यर्थः। तथा "संखसहस्ससमा" इत्यादि, "तेसिं" मित्यत्राप्यनुवर्तते ततः पर्याप्तबादरैकेन्द्रियमार्गणास्थाने मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोः प्रस्तुतान्तरं संख्येयवर्षसहस्रप्रमाणं भवति। मार्गणापञ्चकेऽपि प्रकृतित्रय विहाय शेषाणामायुर्वर्जबन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां प्रस्तुतान्तर तु पूर्वोक्तवचनादन्तर्मुहूर्तमेव; केवल काययोगे आहारकद्विकमपि वर्जनीयम्, 'काय-चउकसाचेसु आहारदुगस्स णो' (गाथा-४७९) इत्यनेन तत्र तदीयानुत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरस्य प्रतिषिद्धत्वादिति।

"तइअकसायाईण"मित्यादि, अपर्याप्तभेदवर्जयोरोघ-पर्याप्तभेदभिन्नयोर्द्वयोः पञ्चेन्द्रिय-मार्गणास्थानयोस्तथैव द्वयोस्त्रसकायमार्गणास्थानयोः "णयण"त्ति चक्षुर्दर्शनसंज्ञिमार्गणास्थानयोश्च 'तइअकसाया ॥४४७॥ दुइअकसाया मिच्छ थीणद्धितिगमणचउगथीणपुमा। संघयणा-ऽऽगिइपणग दुहग-तिग कुखगई णीअ ॥४४८॥ तिरियदुगुज्जो-आयव-थावर-एगिंदिसुहुमविगलतिग।' इत्यनेन संगृहीतानां तृतीयप्रत्याख्यानावरणकषायादीनां पञ्चचत्वारिंशतस्तथा तिसृणां 'वज्रादीनां' वज्रर्षभनाराचसंहन-नौदारिकशरीर तदङ्गोपाङ्गलक्षणप्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरम् "ओघव्व" त्ति ओघवत् 'बत्तीससागरसय'(गाथा-४५५)इत्यादिनोक्तमानं भवेत्। तद्यथा–अप्रत्याख्यानावरणप्रत्याख्यानावर-णकषायाष्टकस्य देशोनपूर्वकोटीः, मिथ्यात्व-स्त्यानर्द्धित्रिका-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्क-स्त्रीनपुंसकवेद-प्रथ-मवर्जसंहननपञ्चक-प्रथमवर्जसंस्थानपञ्चक-दुर्भगत्रिका-ऽप्रशस्तविहायोगति- नीचैर्गोत्रलक्षणानां पञ्च-विंशतेः प्रकृतीनां द्वात्रिंशदभ्यधिकं सागरोपमशतम्, तिर्यग्द्विकोद्योतनाम्नोस्त्रिषष्ट्यभ्यधिकसागरो-पमशतम्, जातिचतुष्क-स्थावरचतुष्का-ऽऽतपनाम्नां पञ्चाशीत्यभ्यधिकसागरोपमशतम्, शेषाणां तिसृणां वज्रर्षभनाराचसंहननादिप्रकृतीनां तु साधिकपल्योपमत्रयमिति। एतच्चान्तरमोघवदेव यथा-सम्भवं किञ्चिद्धीनमधिकं वा स्वयं भावनीयम्, पञ्चेन्द्रियत्वावस्थायामपि एतासामबन्धकालस्य तथा प्राप्तेरप्रत्याख्यानावरणादीनां प्रकृतिबन्धान्तरस्याप्युत्कृष्टतो देशोनपूर्वकोट्यादिप्रमाणत्वादिति।

"पणसीई"त्यादि, नरकद्विकस्यानुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरं पञ्चाशीत्यभ्यधिकं साग-रोपमशतं भवति, यद्यपीदं पञ्चमकर्मग्रन्थादौ दर्शितस्याऽस्य प्रकृतिद्वयस्याऽबन्धकालानुसारेण त्रिष-ष्ट्यभ्यधिकसागरोपमशतमानं स्यात् तथाऽपि तथाऽनभिधाय तत्र पञ्चमकर्मग्रन्थादावेव दर्शितजाति-चतुष्काद्यबन्धकालानुसारेण पञ्चाशीत्यधिकसागरोपमशतमानमुक्तम्। न च यद्येवं तर्हि नरकद्विका-ऽबन्धकालः पञ्चाशीत्यभ्यधिकसागरोपमशतमेव वक्तव्यः, जातिचतुष्काद्यबन्धकाले नरकद्विकस्याप्य-बन्धादिति वाच्यम्, भवदुक्तयुक्त्यैवं गम्यमानत्वेऽपि तथाविधाक्षरालाभेन समाधातुमस्माभिरश-क्यत्वात्, वस्तुगतेर्बहुश्रुतवेद्यत्वात्केवलिगम्यत्वाद्वेति। एवं सप्तानां 'सुरादीनाम्' 'सुरविउव्वदुग उच्च-णरदुग'(गाथा-४४६)इत्येतावता संगृहीतानां देवद्विकादिप्रकृतीनां "साहियतेत्तीसुदही" त्ति अन्त-र्मुहूर्तेनाभ्यधिकास्त्रयस्त्रिंशदुदधयः-सागरोपमाणि। आहारकद्विकस्य तु पञ्चेन्द्रियौघादितत्तन्मार्गणाया ज्येष्ठा कायस्थितिरष्टवर्षादिना न्यूना सती प्रस्तुतान्तरमवसातव्यम्। तत्र निरयद्विकस्यैकेन्द्रिय-जात्यादिप्रकृतीनामिव प्रस्तुतान्तरं योज्यम्, नव्यशतके नरकद्विकस्यान्तरं सातिरेकपल्योपमचतुष्ट-येनाभ्यधिकं त्रिषष्ट्यधिकसागरोपमशतमुक्तमिति। तथा च तद्ग्रन्थः–"तिरिनरयतिजोआण नरभवजु-यसचउपल्ल तेसट्ठं' (गाथा–५६) इति। देवद्विकादीनां सप्तानां तु सप्तमनरकोत्कृष्टकायस्थितिप्राधान्या-त्प्रकृतिबन्धान्तरवदुपपादनीयम्। एवमाहारकद्विकस्याऽपि प्रकृतिबन्धान्तरवत् पञ्चेन्द्रियादिमार्ग-णोत्कृष्टकायस्थितिपूरकभवमध्यात् प्रथमभववर्ती साधिकाष्टमवर्षं प्राप्तो यः कश्चित्संयममवाप्याऽऽ-

हारकद्विकं बद्ध्वा संयमात्परिभ्रष्टः सन् पुनः कायस्थितिपूरकचरमभवे द्विचरमेऽन्तर्मुहूर्ते संयममुपलभ्यैवाऽऽहारकद्विकं निर्वर्तयति, न तु तन्मध्ये; तदनु तु क्षपकश्रेणिमारुह्य मुक्तिमधिगच्छति, मिथ्यात्वमधिगत्य मार्गणान्तरं वा गच्छति, तदपेक्षयावाप्यत इति ।

उक्तशेषाणां पञ्चज्ञानावरण--चतुर्दर्शनावरण निद्राद्विक -संज्वलनचतुष्क- भय -जुगुप्सामोहनीय-वर्णचतुष्क तैजस-कार्मणशरीरा-ऽगुरुलघु-निर्माणो -पघातनामा-ऽन्तरायपञ्चकलक्षणानामेकत्रिंशद्ध्रुवबन्धिनीनां तथा साता-ऽसातवेदनीय-हास्य-रति शोका-ऽरति-पुंवेदमोहनीय-पञ्चेन्द्रियजाति-समचतुरस्रसंस्थान-प्रशस्तविहायोगति -पराघातो--च्छ्वास- तीर्थकरनाम -त्रसदशका--ऽस्थिरा--ऽशुभा-ऽयशःकीर्तिनामलक्षणानां षड्विंशतेरध्रुवबन्धिनीनां तु 'सेसासु मुहुत्तंतो' (गाथा–४६५) इत्यादि-पूर्वोक्तवचनादन्तर्मुहूर्तमेवाऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरम् । तच्चौघवत्भाव्यमिति ।

तदेवमभिहितमेकेन्द्रियौघ-सूक्ष्मैकेन्द्रियौघ-बादरैकेन्द्रियौघ-पर्याप्तबादरैकेन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियलक्षणेषु षट्स्विन्द्रियमार्गणासत्कमार्गणास्थानेषु प्रस्तुतायुर्वर्जबन्धप्रायोग्योत्तरप्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरम् । इन्द्रियमार्गणासत्केषु शेषेषु पर्याप्ता ऽपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियादित्रयोदशमार्गणास्थानेषु तु न तत्प्रतिषिद्धं न वा वक्ष्यत इति कृत्वा 'सेसासु'(गा०–४६५)इत्यादिवचनादन्तर्मुहूर्तं विज्ञेयम् । अथ तदनन्तरं कायमार्गणास्थानेषु तदभिधातव्यम् , तत्र 'दुपणिदितसेसु' इत्यादिना त्रसौघ पर्याप्तत्रसकायलक्षणमार्गणाद्वये पञ्चेन्द्रियौघादिना समं कथितत्वात् प्रस्तुतान्तरस्य तद्वर्जेषु शेषेषु पृथिवीकायौघादिषु चत्वारिंशति मार्गणास्थानेषु प्रस्तुतान्तरस्याऽप्रतिषिद्धत्वादवक्ष्यमाणत्वाच्च तेषु प्रत्येकमायुर्वर्जबन्धप्रायोग्यसर्वप्रकृतीनां तदन्तर्मुहूर्तमेवाऽवसातव्यम् । एवमेव योगमार्गणास्थानेष्वपि, नवरं काययोगौघमार्गणास्थानेऽनन्तरमेवैकेन्द्रियौघमार्गणास्थानादिना साकमभिहितत्वात्तद्विहाय मनोयोगौघादिसप्तदशमार्गणास्थानेष्वेव तद्वाच्यम् , तत्राऽपि जिणस्पत्ति णो । पणमणवयउरलेसु'(गाथा–४७९)इत्यनेन पञ्चमनोयोग पञ्चवचोयोगौ-दारिककाययोगमार्गणास्थानेष्वाहारकद्विक-जिननाम्नोरतस्य प्रतिषिद्धत्वात्तत्प्रकृतित्रय विहाय शेषबन्धप्रायोग्याऽऽयुर्वर्जानामेव । एवमौदारिकमिश्रादि मिश्रकाययोगत्रयेऽपि एकेन मतेन सर्वासामायुर्वर्जबन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां तथाऽन्येन मतेन तु "उभ णत्थि उरलमीसे धुवुरल जिण-चउसुराईण ॥४८०॥ वेउव्वमीसजोगे धुवबंधीण जिण_छउरलाईणं । आहारमीसजोगे बारससायाइवज्जाण ॥४८१॥' इत्यनेन प्रतिषिद्धशेषाऽऽयुर्वर्जप्रकृतीनां तदन्तर्मुहूर्तं विज्ञेयम् , न पुनः सर्वासां बन्धप्रायोग्यप्रकृतीनाम् । कार्मणकाययोगमार्गणास्थानेषु तु प्रतिषिद्धशेषप्रकृतीनामपि प्रस्तुतान्तरं नाऽन्तर्मुहूर्तम् , किन्तु समयमात्रमेव, तच्च 'कम्माणाहारेसु' अणिसिद्धाणतरं गुरु समयो' (गाथा–४६५) इत्यनेनाभिहितमेव । इत्थं वैक्रिया-ऽऽहारकयोगलक्षण-मार्गणाद्वये एवाऽऽयुर्वर्जबन्धप्रायोग्याणां प्रस्तुतान्तरमन्तर्मुहूर्तं प्राप्तम् । शेषासु काययोगौघादि-मार्गणासु तु कासाञ्चिन्मतिज्ञानावरणादीनामेव । एतद्धि तत्तत्प्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरं

प्राग्वत् यथासम्भवं भावनीयं स्वधिया सुगमत्वादिति ॥५०५-५०८॥

अथ योगमार्गणास्थानानन्तरं वेदमार्गणास्थानेषु प्रस्तुतान्तरमभिधेयमित्यत आह—

थीअ पणपण्णपलिआ णेयं मिच्छाइएगतीसाए ।
देसूणाऽब्भहिया उण बारसखुहुमाइगाण भवे ॥५०९॥
मज्झऽट्ठकसायाणं ओघव्व हवेज्ज ऊणपल्लतिगं ।
पंचण्ह णराईणं आहारदुगस्स जेट्ठकायठिई ॥५१०॥ (गीतिः)
पुरिसे तेत्तीसाए तइअकसायाइगाण ओघव्व ।
अयरा तेवट्ठिमयं चउद्दसण्ह तिरियाईणं ॥५११॥
अब्भहियं पल्लतिगं पंचणराईण चउखुराईणं ।
साहियतेत्तीसुदही आहारदुगस्स जेट्ठकायठिई ॥५१२॥ (गीतिः)
णपुमे तेत्तीसुदही हवेज्ज मिच्छाइअट्ठवीसाए ।
देसूणाऽब्भहिया उण होइ णवण्हाययवाईणं ॥५१३॥
देसूणपुव्वकोडी मज्झऽट्ठकसाय-तिवइराईणं ।
ओघव्वा-ऽऽहारजुगल-णवणिरयाईण बोद्धव्वं ॥५१४॥

(प्रे०) "थीअ" इत्यादि, स्त्रीवेदमार्गणास्थाने 'मिच्छ थीणद्धितिग-मणचउग-थी णपुमा सघयणा गिइपणग दुहगतिग कुखगई णीअ ॥४४८॥ तिरियदुगुज्जोआ-ऽऽयव-थावर एगिंदि' इत्येतावत्संग्रहगाथांशसंगृहीतानां मिथ्यात्वाद्येकत्रिंशत्प्रकृतीनाम् "पणपण्णपलिआ णेयं" ति अस्य चान्वयः "देसूणा" इति परेण, ततोऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरं देशोनानि पञ्चपञ्चाशत्पल्योपमानि ज्ञेयम् । एतच्च तदीयप्रकृतिबन्धान्तरवदपरिगृहीतदेव्युत्कृष्टभवस्थित्यपेक्षया साध्यम् । तत्र देशोनता तु देवीभवाद्यान्त्यान्तर्मुहूर्तयोर्मिथ्यात्वादिसप्तप्रकृतीनां तद्भवाद्यान्तर्मुहूर्तचरमसमययोश्च शेषाणां बन्धस्यावश्यकत्वेन तावत्कालस्य प्रस्तुतान्तरबहिस्त्वात् । न च गत्यन्तरे गत्वा मिथ्यात्वादिप्रकृतीर्बध्नन्त्यास्तदुक्ताधिकं लभ्येतेति वाच्यम् । देवीभवचरमान्तर्मुहूर्ते मिथ्यात्वं सासादनं वाऽगत्वा गत्यन्तरं गच्छन्त्यास्तत्र पुंवेदितयोत्पत्तेः प्रस्तुतमार्गणातो बहिर्भावेन सर्वथाऽन्तरस्यैवानुत्पत्तेः दूरंगता दीर्घान्तरवार्ता, इत्यत उत्कृष्टस्थितिकदेवीभवाद्यान्त्यान्तर्मुहूर्तादौ मिथ्यात्वे सासादने वा तिष्ठन्तं प्रस्तुतमार्गणागतं जीवमपेक्ष्य तत्स्यात्, तच्च मूलोक्तमानमेव, न पुनस्तदधिकमिति ।

"**अब्भहिआ उण**" त्ति 'पणपण्णपलिआ' इत्यत्राऽपि सम्बध्यते, ततः 'सुहुमविगलतिगं। णिरयसुरविउव्वदुग' (गाथा–४४९) इत्येतावता संगृहीतानां सूक्ष्मनामादीनां द्वादशप्रकृतीनां प्रस्तुतान्तरं पुनरभ्यधिकानि पञ्चपञ्चाशत्पल्योपमानि भवेत्। कथं पूर्वोक्तानां देशोनानि पञ्चपञ्चाशत्पल्योपमान्यासां सूक्ष्मत्रिकादीनां द्वादशानां पुनस्तान्यभ्यधिकानि ? इति चेद्, आसां सूक्ष्मत्रिकादीनां देवीभवे नियमतो बन्धाभावेन, तत्प्राग्भवचरमान्तर्मुहूर्तेऽपि नियमतो देवप्रायोग्य बध्नन्त्याः सूक्ष्मत्रिक-विकलत्रिक-नरकद्विकानां बन्धाभावेन तदुत्तरभवेऽपि परावर्तमानबन्धानां तासामुत्पत्त्यनन्तरं बादरादीः प्रकृतीर्बद्ध्वा पश्चात्सूक्ष्मादीर्बध्नन्त्यास्तिरश्चीप्रमुखभवप्रथमान्तर्मुहूर्तेऽप्यबन्धस्य सम्भवेन च प्रकृतिबन्धोत्कृष्टान्तरस्याऽन्तर्मुहूर्ताभ्यधिकपञ्चपञ्चाशत्पल्योपमप्रमाणत्वादिति। देवद्विक-वैक्रियद्विकयोस्तूत्तरभवसत्केनाऽन्तर्मुहूर्तेनाऽप्यभ्यधिकता द्रष्टव्या, देवीभवानन्तरं पर्याप्तावस्थां यावत् कियत्कालं तद्बन्धसंभवादिति। "**मज्झऽट्ठ**"इत्यादि, मध्यमानां प्रत्याख्यानावरणाऽप्रत्याख्यानावरणक्रोधादीनामष्टप्रकृतीनाम् "**ओघव्व हवेज्ज**" त्ति ओघवद्देशोनपूर्वकोटिप्रमाणं भवेत्। सुगमम्।

"**ऊणे**"त्यादि, पञ्चानां नरादीनाम् 'णरदुग-वइरुरलुवगाणि ॥४४९॥ उरल' मित्येतावत्संग्रहगाथांशसंगृहीतप्रकृतीनां प्रस्तुतान्तरं देशोनपल्योपमत्रिकं भवेत्। एतच्च त्रिपल्योपमस्थितिकयुग्मिस्त्रिय उत्कृष्टसम्यक्त्वकालापेक्षया ज्ञेयम्। भावना तु तिर्यग्गत्योघादिमार्गणासु मिथ्यात्वादिप्रकृतीनां दर्शितप्रस्तुतान्तरवत्कर्तव्या, केवलं युग्मिभवादनु समिथ्यात्वं देवीतयोत्पन्नस्य जीवस्य तत्र भवप्रथमसमये मनुष्यद्विकादीना बन्धो वाच्यः, न पुनर्युग्मिभवचरमान्तर्मुहूर्ते, तदानीं भवप्रत्ययत एव मनुष्यद्विकादीनां बन्धाभावादिति। "**आहारे**"त्यादि, आहारकशरीर-तदङ्गोपाङ्गलक्षणप्रकृतिद्वयस्य प्रस्तुतान्तरं "**कायठिई**"त्ति स्त्रीवेदमार्गणाया उत्कृष्टकायस्थितिर्भवति, सा चानुक्ताऽपि प्रकृतिद्वयस्य प्रस्तुतमार्गणाभावि प्रस्तुतप्रकृतिबन्धोत्कृष्टान्तरमिव देशोनैव द्रष्टव्या, उत्कृष्टकायस्थितेराद्यन्तयोस्तद्बन्धाऽप्रवर्तने तदीयान्तरस्यैवाऽनुत्पत्तेः, तद्बन्धप्रवर्तने तु स्फुटा देशोनता, तद्बन्धकालस्य कायस्थितितो वर्जनीयत्वादिति।

अथ प्रस्तुतमार्गणायामुक्तशेषाऽऽयुर्वर्जप्रकृतीनां प्रस्तुतान्तरं तु पूर्वोक्तवचनादन्तर्मुहूर्तमेव विहाय जिननाम्नः, तदीयानुत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरस्य 'थीअ जिणस्स ण हवए' (गाथा–४८३)इत्यनेन सर्वथा प्रतिषिद्धत्वात्। इत्थं च शेषाणां पञ्चज्ञानावरण-चतुर्दर्शनावरण निद्राद्विक-संज्वलनचतुष्क-भय-जुगुप्सा-वर्णचतुष्क-तैजस कार्मणदेहा-ऽगुरुलघु-निर्माणो-पघातनामा-ऽन्तरायपञ्चकलक्षणानामेकत्रिंशतो ध्रुवबन्धिनीनां साता-ऽसातवेदनीय-हास्य-रति-शोका-ऽरति-पुरुषवेद-पञ्चेन्द्रियजाति-प्रथमसंस्थान-प्रशस्तविहायोगति-पराघातो-च्छ्वास -त्रसदशका -ऽस्थिरा-शुभा--ऽयशःकीर्त्यु-च्चैर्गोत्रलक्षणानां षड्विंशतेरध्रुवबन्धिनीनामनुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तम्। तच्च प्रागिव तदीयप्रकृति-

बन्धान्तरोत्कृष्टस्थितिबन्धकालाद्यपेक्षया यथासम्भवं भावनीयमिति ।

अथ पुरुषवेदमार्गणास्थाने आह–"पुरिसे तेत्तीसाए" इत्यादि, पुरुषवेदे 'तइअकसाया ॥४४७॥ दुइअकसाया मिच्छं थीणद्धितिगमणचउग-थी-णपुमा । सवयणाऽऽगिइपणग दुहगतिगं कुखगई णीअ ॥४४८॥' इत्यनेन संगृहीतानां तृतीयप्रत्याख्यानावारणकषायादीनां त्रयस्त्रिंशत्प्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरम् "ओघव्व" त्ति ओघवद् 'बत्तीससागरसयं जेट्ठ मिच्छाइपचवीसाए । मज्झट्ठकसायाण कोडी पुव्वाण देसूणा ॥४५५॥' इत्यनेनोक्तमानमवसेयम् । अत्र भावनाऽप्योघवत्कर्तव्येति । "अयरा" इत्यादि, 'तिरियदुगुज्जोआयवे' त्यादि(४४९)गाथया संगृहीतानां तिर्यग्द्विक नरकद्विक-जातिचतुष्क-स्थावरचतुष्का-ऽऽतपो-द्योतनामलक्षणानां तिर्यग्द्विकादीनां चतुर्दशानां प्रकृतीनां प्रस्तुतान्तरं त्रिषष्टयभ्यधिकशतम् 'अयराः'-सागरोपमाणि भवेत् । भावना तु नरकद्विकं विहाय शेषाणामोघवत्कार्या, केवलं नारकाणां नपुंसकवेदित्वेन प्रस्तुतमार्गणायामप्रवेशात् तिर्यग्द्विकोद्योत-वर्जानां प्रस्तुतान्तरभावनायां नरकभवसम्बन्धीनि द्वाविंशतिसागरोपमाणीह न लभ्यन्ते इति तावान् कालो वर्जनीयः, तथा च मूलोक्तं त्रिषष्टयभ्यधिकसागरोपमशतं स्यात्, एवमेव नरकद्विकस्य प्रस्तुतान्तरमपि विभावनीयमिति ।

"अब्भहिय"मित्यादि, मनुष्यद्विकौ-दारिकद्विक-वज्रर्षभनाराचसंहननलक्षणानां पूर्वं "नरदुग" (गाथा–४४९)इत्यादिना सग्रहगाथांशेन सगृहीतानां पञ्चानां नरगत्यादिप्रकृतीनां प्रस्तुतान्तरं पुनर-भ्यधिकं पल्योपमत्रिकं भवेत् । तत्राऽभ्यधिकताऽन्तमुहूर्तोनपूर्वकोटितृतीयभागेन ज्ञेया । एतावद-न्तरं तु पूर्वकोटितृतीयभागप्रमाणेऽवशिष्टे वेद्यमानायुषि त्रिपल्योपमस्थितिकमायुर्बद्ध्वा यः कश्चित् पुंवेदिमनुष्योऽविलम्बेन क्षायोपशमिकसम्यक्त्वपूर्वकं क्षायिकसम्यक्त्वं समासाद्य क्रमेण पुंवेदियुग्मि-तयोत्पद्यते तस्य युग्मिभवसम्बधिनस्तत्पूर्वभवसम्बन्धिनश्च समस्तसम्यक्त्वादिकालस्याधीनं यन्मनु-ष्यद्विकस्य प्रकृतिबन्धान्तरं तदाश्रित्य प्रागिवोह्यम्, तावत्काल देवप्रायोग्यप्रकृतीर्बध्नतस्तादृशजीव-स्य मनुष्यद्विकस्याऽबन्धादिति । "चउसुराईणं", इत्यादि, देवद्विक-वैक्रियद्विकलक्षणानां चत-सृणां सुरादिप्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरं पुनः साधिकास्त्रयस्त्रिंशदुदधयः सागरोपमाणि भवेत् । एतदप्यनन्तरोक्तनीत्या विभावनीयम्, केवलमनुत्तरदेवभवप्राधान्यात् । साधिकता तूपशम-श्रेणौ देवद्विकादीनामबन्धोत्तरं पुंवेदोदयस्य विच्छेदादर्वाक् कालं कुर्वन्तं जीवमपेक्ष्याऽन्तमुहूर्त-प्रमाणाऽबन्धकालस्य प्रस्तुतान्तरेऽधिकतया लाभादिति ।.आहारकद्विकस्य प्रस्तुतान्तरम् "जेट्ठकाय-ठिई" त्ति पुंवेदमार्गणाया उत्कृष्टकायस्थितिः । अत्राऽपि स्त्रीवेदमार्गणावद्देशोनता स्वयमेव द्रष्ट-व्येति । आयुर्वर्जोक्तशेषमतिज्ञानावरणादिप्रकृतीनां तु सर्वासामपि पूर्वोक्तवचनात्प्रस्तुतान्तरमन्त-र्मुहूर्तमेव । तच्च प्राग्वदेव साध्यम् । अत्र शेषमतिज्ञानावरणादिप्रकृतयस्त्वनन्तरं स्त्रीवेदमार्गणा-स्थाने शेषप्रकृतितयाऽभिहिता मतिज्ञानावरणाद्य एकत्रिंशद् ध्रुवबन्धिन्यः, षड्विंशतिरध्रुवबन्धि-

न्यश्च जिननाम्ना सहिताः सत्योऽष्टपञ्चाशद्विज्ञेया इति ।

"णपुमे" इत्यादि, नपुंसकवेदमार्गणास्थाने 'मिच्छ थिणद्धिनिग' मित्यादिना संगृहीतानां मिथ्यात्वाद्यष्टाविंशतिप्रकृतीनां "तेत्तीसुदही"त्ति अस्य चान्वये गाथोत्तरार्धे 'देसूणा' इत्यनेन, ततोऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरं देशोनास्त्रयस्त्रिंशदुदधयः सागरोपमाणि भवति । देशोनता चात्राऽन्तर्मुहूर्तद्वयेन, सा च सम्यग्दृष्टिनैरयिकत्वोत्कृष्टकालाधीनस्याऽऽसां प्रकृतीनामबन्धकालस्येह तथात्वात्तथा ज्ञेया । "अब्भहिया" त्ति त एव त्रयस्त्रिंशदुदधयोऽभ्यधिकाः सन्तः पुनः "होइ णवण्हायवाईणं" ति नवानामातपादीनाम् 'आयव-थावर-एगिदि-सुहुमविगलतिग' मित्येतावता संगृहीतप्रकृतीनां भवति । इदमपि पूर्ववत्साध्यम्, केवलमुत्कृष्टस्थितिकनिरयभवप्राधान्यात् । अभ्यधिकताऽन्तर्मुहूर्तद्वयेन, सा तु पूर्वोत्तरभवसत्कान्त्याऽऽद्यान्तर्मुहूर्तापेक्षया ज्ञेया, तदानीं परावृत्य परावृत्य बध्यमानानामासामातपादिप्रकृतीनामबन्धस्य सम्भवादिति । "देसूण" इत्यादि, देशोना पूर्वकोटी मध्यमानामष्टानां प्रत्याख्यानावरणा प्रत्याख्यानावरणक्रोधादिकषायप्रकृतीनां तथा 'वइरुरलुवगाणि ॥४४९॥ उरल' मित्येतावता संगृहीतानां तिसृणां वज्रर्षभनाराचसंहननादि-प्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरं ज्ञेयम् । एतत्तु निरन्तरसंयमावस्थाया उत्कृष्टत एतावत्प्र-माणत्वेनासामुत्कृष्टप्रकृतिबन्धान्तरस्य देशोनपूर्वकोटिप्रमाणत्वात्प्रागिव बोध्यम् । अत्र देशोनता प्रत्याख्यानावरणकषायान्तरप्रस्तावे वर्षाष्टकेन, न पुनरन्तर्मुहूर्तेन, अष्टमवर्षाऽप्राप्तानां संयमपरिणा-मस्य प्रतिषेधात् । शेषसप्तप्रकृतिप्रस्तुतान्तरे तु सा यथासंभवं द्रष्टव्या । "ओघव्वे"त्यादि, आहारक-युगलम् आहारकशरीर तदङ्गोपाङ्गप्रकृतिद्वयलक्षणं तथा 'णिरयसुरविउवदुग उच्च-णरदुग' इत्येतावता संगृहीता नव निरयगत्यादिप्रकृतय इत्येतासामेकादशप्रकृतीनां प्रस्तुतान्तरमोघवद् देशोनार्धपुद्गल-परावर्तादिकं बोध्यम् । तद्यथा—आहारकद्विकस्य देशोनाऽर्धपुद्गलपरावर्तः । निरयद्विक-देवद्विक-वैक्रियद्विकानीत्येतासां षण्णामसंख्येयाः पुद्गलपरावर्ताः । नरद्विको-च्चैर्गोत्रयोरसंख्येया लोका इति । अस्य साधनाऽप्योघवदेव कर्तव्येति । उक्तशेषाऽऽयुर्वर्जानां सप्तपञ्चाशत्प्रकृतीनां प्रस्तुतान्तरस्य तु अनिषिद्धत्वादवक्ष्यमाणत्वाच्च तत् 'सेसासु मुहुत्तंतो अवक्खमाणाऽऽउवज्जाण' मित्यादिवचना-दन्तर्मुहूर्तमेव ज्ञेयम् । तच्च प्रागिव तदीयप्रकृतिबन्धोत्कृष्टान्तरादिना साधनीयम् । **उक्तशेषाऽऽयु-र्वर्जप्रकृतयस्त्विमाः**-पञ्चज्ञानावरण-चतुर्दर्शनावरण-निद्राद्विक-वेदनीयद्विक-संज्वलनचतुष्क-हास्य-षट्क-पुंवेदमोहनीय पञ्चेन्द्रियजाति तैजस-कार्मणशरीर-प्रथमसंस्थान वर्णचतुष्क प्रशस्तविहायोगत्या-ऽऽ-तपोद्योतवर्जप्रत्येकप्रकृतिषट्क त्रसदशका-ऽस्थिरा-ऽशुभा-ऽयशःकीर्तिनामा ऽन्तरायपञ्चकानीति ।

अपगतवेदमार्गणास्थाने तु नैकस्या अपि प्रकृतेः प्रस्तुतान्तरं प्रतिषिद्धं, न वैकस्या अपि वक्ष्यमाणमिति कृत्वा पूर्वोक्तवचनाद् बन्धप्रायोग्याणामेकविंशतेरपि प्रकृतीनां तदन्तर्मुहूर्तमेव । तच्च सुगमम्, एकजीवाश्रयमार्गणोत्कृष्टकायस्थितेरन्तर्मुहूर्तत्वेन तासामेकविंशतेः प्रत्येकं प्रकृतिबन्धा-

ऽन्तरस्योत्कृष्टतोऽन्तमुहूर्तत्वादिति ।

अथ वेदमार्गणास्थानानन्तरं कषायमार्गणास्थानेषु प्रस्तुतान्तरमभिधातव्यम् , तत्र च 'चउ कसायेसु' आहारदुगस्स णो' (गाथा-४७६) इत्यनेनाऽऽहारकद्विकस्याऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरस्य प्रतिषिद्धत्वाद् एकस्या अप्यवक्ष्यमाणत्वाच्च मार्गणाचतुष्केऽप्याहारकद्विकं विहाय बन्धप्रायोग्याणामायुर्वर्जानां चतुर्दशोत्तरशतप्रकृतीनामन्तमुहूर्तं ज्ञेयमिति ॥५०९-५१४॥

साम्प्रतं क्रमप्राप्तज्ञानमार्गणास्थानेषु तत्प्रतिपक्षभूताऽज्ञानमार्गणास्थानेषु चाऽभिधित्सुस्तत्तुल्यवक्तव्योपेताऽन्याऽन्यमार्गणाः संगृह्याऽऽह—

मज्झऽट्ठकसायाणं ओघव्व तिणाण-ओहि-सम्मेसुं ।
पंचण्ह णराईणं कोडी पुव्वाण णायव्वं ॥५१५॥
देवविउव्वाऽऽहारगदुगाण तेत्तीससागराऽब्भहिआ ।
उअ जेट्ठा कायठिई देसूणाऽऽहारजुगलस्स ॥५१६॥
देसूणं पल्लतिगं अण्णाणदुगे अभवियमिच्छेसुं ।
सोलसणपुमाईणं तहा उरालदुग-वइराणं ॥५१७॥
तिरियाइतिगस्स अहियइगतीसुदही णवायवाईणं ।
साहियतेत्तीसुदही णवणिरयाईण ओघव्व ॥५१८॥

(प्रे०) "मज्झट्ठे"त्यादि, मति-श्रुताऽवधिज्ञानलक्षणेषु त्रिषु ज्ञानमार्गणास्थानेषु तथाऽवधिदर्शने सम्यक्त्वौघमार्गणास्थाने च मध्यमानां प्रत्याख्यानावरणा-ऽप्रत्याख्यानावरणक्रोधादिलक्षणानामष्टाना कषायप्रकृतीना प्रस्तुतमनुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरमोघवद् देशोनपूर्वकोटिर्ज्ञातव्यम् । सुगमम् , संयमावस्थाधीनतदीयप्रकृतिबन्धोत्कृष्टान्तरस्य तथात्वात् । देशोनता त्वत्र प्रागिव । एवमुत्तरत्राऽपि देशोनता साधिकता वा स्वधिया यथासम्भवं द्रष्टव्येति । "पंचण्ह" इत्यादि, 'णरदुग'(गाथा-४४१)इत्यादिना संगृहीतानां मनुष्यद्विकौ-दारिकद्विक-वज्रर्षभनाराचसंहननलक्षणानां पञ्चानां प्रकृतीनां प्रस्तुतान्तरं "कोडी पुव्वाण" त्ति पूर्वकोटीवर्षप्रमाण ज्ञातव्यम् । सम्यग्दृष्टितिर्यग्मनुष्यैर्देवप्रायोग्यप्रकृतीनां निर्वर्तनेन सम्यग्दृष्टिदेवैर्मनुष्यप्रायोग्यप्रकृतीनामेव निर्वर्तनेन च देवभवद्वयान्तरितपूर्वकोटिस्थितिकसम्यग्दृष्टिमनुष्यभवापेक्षया प्रस्तुतसर्वमार्गणास्वासां पञ्चानामुत्कृष्टप्रकृतिबन्धान्तरस्य परिपूर्णपूर्वकोटिवर्षप्रमाणत्वात् । ननु त्रिपल्योपमस्थितिकतिर्यग्मनुष्यैरपि प्रस्तुतप्रकृतीनां बन्धो नैव क्रियते, तत्कथं तदपेक्षया प्रस्तुताऽन्तर पल्योपमत्रयं नाभिधीयते ? इति चेद् , उच्यते, तथाविधानां जीवानां प्रस्तुतमार्गणाप्रवेशावसरेऽपि प्रस्तुतप्रकृतीनामबन्धस्य

प्रवृत्तत्वेन नाभावबन्धकालोऽन्तरप्रयोजको भवति। अयम्भावः—अबन्धात्पूर्वोत्तरसमययोस्तासां विवक्षितप्रकृतीनां विवक्षितमतिज्ञानादिमार्गणायामेव बन्धसत्त्वेऽन्तरस्येष्टत्वेन भवदुक्तनीत्याऽबन्धादुत्तरं प्रस्तुतमार्गणायामेव प्रस्तुतप्रकृतीनां बन्धसम्भवेऽपि मार्गणाप्रारम्भे तद्बन्धासम्भवेन नोपपद्यते त्रिपल्योपमस्थितिकजीवापेक्षया प्रस्तुतान्तरमिति ।

"देव" इत्यादि, तत्र द्विकशब्दस्य प्रत्येकं संबन्धाद् देवद्विक-वैक्रियद्विका ऽऽहारकद्विकलक्षणानां षण्णां प्रकृतीनां प्रस्तुतान्तरमभ्यधिकास्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा भवति । तच्च अनुत्तरभवप्राधान्याज्ज्ञेयम्, तावत्कालमासां प्रकृतीनामबन्धात् । अभ्यधिकता त्वन्तर्मुहूर्तेन, सा तूपशमश्रेणावासां बन्धविच्छेदादूर्ध्वमुपशान्ताद्धाक्षयेण प्रतिपत्य पुनस्तद्बन्धप्रारम्भादर्वागेव भवक्षयात्प्रागिवोक्तेति । एवं हि आहारकद्विकवर्जाना चतसृणाम् । आहारकद्विकस्य त्वनुत्तरभवस्योत्तरभवे मनुष्यतयोत्पत्तिमात्रेण न देवद्विकादीनामिव बन्धः प्रवर्तते, किन्तु केषाञ्चिद् दूरेण संयमावाप्तौ प्रवर्तते, सोऽप्युत्कर्षतो भवचरमान्तर्मुहूर्ते, न पुनस्तदर्वागवश्यम्, तथा च तदीयानुत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरेऽभ्यधिकता देशोनपूर्वकोट्याऽपि, न पुनः केवलेन प्रागभवसत्कान्तर्मुहूर्तेनैव यद्यन्यतमादनुत्तरभवान्मनुष्यतयोत्पद्य तद्भवे नियमेन सयमप्राप्तिरभिमता, न चेत् संयमप्राप्तेर्नियमस्तदा तु पुनर्देवभवे पुनर्मनुष्यभवे इत्येवं मार्गणाकायस्थितिसमाप्तेरर्वागदूरेण संयमप्रत्ययादाहारकद्विकं बध्नन्तं जीवमधिकृत्याऽऽहारकद्विकस्य प्रस्तुतान्तरं मतिज्ञानावरणादिमार्गणानां स्वीया स्वीया देशोना उत्कृष्टकायस्थितिर्भवेदित्येतद्दर्शयन्नाह—"उअ जेट्ठा कायठिई" त्यादि, गतार्थम् ।

मार्गणापञ्चकेऽपि प्रोक्तप्रत्याख्यानावरणकषायाद्येकोनविंशतिप्रकृतीर्विहाय शेषाणां बन्धप्रायोग्याणामायुर्वर्जानां मतिज्ञानावरणाद्यष्टपञ्चाशत्प्रकृतीनां प्रस्तुतान्तरं तु पूर्वोक्तवचनादन्तर्मुहूर्तमेव । तत्र ध्रुवबन्धिनीनां तथा स्वप्रतिपक्षप्रकृतीना बन्धप्रायोग्यत्वाभावेनैकाकितया ध्रुवबन्धिकल्पानामध्रुवबन्धिनीनामबन्धकालाधीनप्रकृतिबन्धान्तरवत्, शेषाध्रुवबन्धिनीनां त्वध्रुवबन्धित्वेन स्वीयप्रतिपक्षप्रकृतिबन्धकालाधीनं तदन्तर्मुहूर्तान्तरमिति तथा प्रसाध्यमिति ।

"देसूण" मित्यादि, मत्यज्ञान-श्रुताज्ञानमार्गणाद्वयात्मकेऽज्ञानद्विके, अभव्यमार्गणास्थाने मिथ्यात्वमार्गणास्थाने च 'णपुमा। संघयणाऽऽगिइपणग' मित्यादि(४४८)संग्रहगाथांशेन संगृहीतानां नपुसकवेदादीना षोडशप्रकृतीनामौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचसंहनननाम्नोश्चानुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरं देशोन पल्योपमत्रिकम् । तच्च स्वभावतो देवगतिप्रायोग्य बध्नतां पर्याप्तयुग्मिनां प्रस्तुतप्रकृत्यबन्धकालेन प्रयुक्त सत्तथा वेदितव्यम् । देशोनता तु भवप्रथमान्तर्मुहूर्तापेक्षया विज्ञेयेति । "तिरियाई" त्यादि, 'तिरियदुगुज्जोअ' इत्यनेन संगृहीतस्य तिर्यग्गत्यादिप्रकृतित्रिकस्य प्रस्तुतान्तरमभ्यधिका एकत्रिंशद् 'उदधयः' सागरोपमाणि भवति । एतत्तु नवमग्रैवेयकदेवभवप्राधान्यमस्य प्रकृतिबन्धोत्कृष्टान्तरमपेक्ष्यैतावज्ज्ञेयमिति । 'आयव-थावर-दुगिंदिय-सुहुमविगलतिग' मित्येतावता संगृहीता आत-

पादिनवप्रकृतयस्तु नैरयिकैराजीवनं न निर्वर्त्यन्ते, तिर्यग्गतिप्रायोग्यतिर्यग्गत्यादीनां तद्-बन्धप्रायोग्यत्वेऽप्येकेन्द्रिय-विकलेन्द्रियप्रायोग्यप्रकृतीनां बन्धाप्रायोग्यत्वात्, इत्थं चोत्कृष्टस्थिति-कनैरयिकभवप्रधानस्याऽऽसां प्रकृतिबन्धोत्कृष्टान्तरस्य साधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणत्वेन तद-धीनं प्रस्तुतान्तरमपि तावत्प्राप्यत इत्यतस्तथैव दर्शयन्नाह–"णवायवाईणं" मित्यादि, गतार्थम्। "णवे"त्यादि, 'णिरयसु' विउव्वदुग उच्च णरे' त्येतावता संगृहीतानां नवाना निरयगत्यादिप्रकृतीनां प्रस्तुतान्तरमोघवज्ज्ञेयम्। तद्यथा–वैक्रियषट्कस्याऽसंख्येयाः पुद्गलपरावर्ताः, मनुष्यद्विको-च्चैर्गोत्र-योस्त्वसंख्येया लोकाः। एतच्चौघवदेव साध्यम्। मत्यज्ञानादिमार्गणाचतुष्के उक्तनपुंसकवेदादि-चत्वारिंशत्प्रकृतीरपहाय शेषाणामायुर्वर्जबन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां प्रस्तुतान्तरं तु प्रागिवान्तर्मुहूर्तमिति। तत्र शेषप्रकृतयो नामत इमाः–सप्तचत्वारिंशतो ध्रुवबन्धिन्यस्तथा साता ऽसातवेदनीय हास्य-रति-शोका ऽरति-स्त्री पुंवेदमोहनीय पञ्चेन्द्रियजाति-समचतुरस्रसंस्थान-प्रशस्तविहायोगति पराघातो च्छ्-वास त्रसचतुष्क स्थिरा-ऽस्थिर शुभा-ऽशुभ-यशःकीर्त्य--ऽयशःकीर्ति -सुभग -सुस्वरा ऽऽदेयनामानीति त्रिसप्ततिरिति।

अथ मनःपर्यवज्ञानमार्गणास्थानविभङ्गज्ञानमार्गणास्थानयोर्नाभिहित न वा निषिद्धं न वा वक्ष्यते कस्या अपि प्रकृतेः प्रस्तुतान्तरमित्यतः पूर्वोक्तवचनात्तत्र बन्धप्रायोग्याणा सर्वासामायुर्वर्ज-प्रकृतीनां तदन्तर्मुहूर्तमेव, तच्च मनःपर्यवज्ञाने श्रेण्यारोहाऽवरोहाद्यधीनस्वस्वप्रकृतिबन्धान्तरानुसा-रेण साध्यम्। विभङ्गज्ञानमार्गणास्थाने तु ध्रुवबन्धिनीनां स्वोत्कृष्टास्थितिबन्धान्तरितानुत्कृष्टस्थिति-बन्धद्वयापेक्षया, अध्रुवबन्धिनीना स्वीयप्रकृतिबन्धान्तरापेक्षया चेति ॥५१५–५१८॥

अधुना सयममार्गणास्थानेषु प्रस्तुतान्तरमभिधातव्यम्। तत्र संयमौघे नैकस्या अपि प्रति-षिद्धं न वा वक्ष्यत इति कृत्वाऽऽयुर्वर्जानां सर्वासां बन्धप्रायोग्याणां तदन्तर्मुहूर्तमेव, तच्च मनः-पर्यवज्ञानमार्गणावज्ज्ञेयम्। सामायिक छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिकसंयम-देशसंयमलक्षणेषु चतुर्षु मार्गणास्थानेषु साता-ऽसातवेदनीय हास्य रति-शोका-ऽरत्या-ऽऽहारकद्विक-स्थिरा ऽस्थिर-शुभा ऽशुभ-यशःकीर्त्य-ऽयशःकीर्तिलक्षणाश्चतुर्दश प्रकृतीर्विहाय शेषाणामायुर्वर्जानामनुत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरस्य 'मणणाणव्व समइए छेए परिहार-देस-मीसेसु। आहारगदुग-बारससायाईण ण सेसाण ॥४८६॥' इति गाथायां पूर्वं प्रतिषिद्धत्वात्सातवेदनीयादीना चतुर्दशानामेव भवति, तच्च 'मुहुत्ततो अवक्ख-माणाउवज्जाण' मिति पूर्वोक्तवचनादन्तर्मुहूर्तं ज्ञेयम्, तासां चतुर्दशप्रकृतीनां तस्यात्र प्रस्तावेऽप्य भण्यमानत्वात्। इह देशसंयममार्गणायां त्वाहारकद्विकस्य मूलत एव बन्धाभावेन तद्वर्जानां द्वाद-शानामेव ज्ञेयमिति। सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणास्थाने तु 'णो सुहुमसपराये सव्वाउग्गाण सव्वपय-डीण' इत्यनेन सर्वासां बन्धप्रायोग्यप्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरं प्रागेव प्रतिषिद्धमिति नास्त्युत्कृष्टभेदभिन्नस्य प्रस्तुतान्तरस्याऽपि चिन्ता। इत्येवं सयममार्गणास्थानेषु संयमौघादिषु

प्रस्तुतान्तरवक्तव्यताया गतार्थत्वात्संयमप्रतिपक्षभूतेऽसंयममार्गणास्थाने प्रस्तुतान्तरमाह–

अजए तेत्तीसुदही णेयं मिच्छाइअट्ठवीसाए ।
देसूणाऽब्भहिया उण होइ णवण्हायवाईणं ॥५१९॥
होइ असंखपरट्टा विउव्वछक्कस्स णरदुगुच्चाणं ।
लोगाऽसंखाऽब्भहियं पल्लतिगं तिवइराईणं ॥५२०॥

(प्रे०) "अजए" इत्यादि, असंयममार्गणास्थाने "मिच्छ थीणद्धितिगमणचउगे"त्यादिना संगृहीतानां मिथ्यात्वाद्यष्टाविंशतिप्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरं "तेत्तीसुदही णेयं" ति अस्य चान्वयः 'देसूणा' इत्यनेन ततो देशोनास्त्रयस्त्रिंशदुदधयः सागरोपमाणि ज्ञेयम् । तच्चोत्कृष्टस्थितिकनारकभवापेक्षया, न पुनरुत्कृष्टस्थितिकदेवभवापेक्षया, अनुत्तरदेवानां नियमेन सम्यग्दृष्टितया प्रस्तुतमिथ्यात्वादिप्रकृतीनामाजन्माऽबन्धात् । देशोनता त्वन्तर्मुहूर्तद्वयेन, त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिकनिरयभवे प्रथम-चरमान्तर्मुहूर्तयोरासां नियमतो बन्धसत्त्वेन तदीयप्रकृतिबन्धोत्कृष्टान्तरस्यान्तर्मुहूर्तद्वयोनत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणत्वादेवेति ।

"ऽब्भहिया "इत्यादि, 'तेत्तीसुदही' त्येतदत्राऽपि सम्बध्यते, तत आतप-स्थावरचतुष्क-जाति॰चतुष्कलक्षणानां नवानामातपादिप्रकृतीनां प्रस्तुतान्तरं पुनरभ्यधिकास्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा भवति । इदमप्युत्कृष्टस्थितिकनारकभवापेक्षयैव, केवलमासां तद्भवात्पूर्वोत्तरभवयोश्चरमाद्यान्तर्मुहूर्तयोरपि नियमतोऽबन्धेनासां प्रकृतिबन्धान्तरस्याऽन्तर्मुहूर्तद्वयाभ्यधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणत्वात्प्रस्तुतान्तरमपि तथा ज्ञेयम्, न पुनः पूर्ववदूनमिति । "होइ असंखपरट्टा" इत्यादि, देवद्विक नरकद्विक-वैक्रियद्विकलक्षणस्य वैक्रियषट्कस्य प्रस्तुतान्तरमसंख्येयाः पुद्गलपरावर्ता भवति, नरद्विकोच्चैर्गोत्रयोस्तु तत् "लोगाऽसंखा" त्ति लोकप्रमाणेष्वसंख्येयेषु क्षेत्रखण्डेषु प्रतिसमयमेकैकाकाशप्रदेशापहारे यावत्य उत्सर्पिण्यवसर्पिण्योऽतियन्ति तावदसंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणीप्रमाणं भवति । वज्रर्षभनाराचसंहननौ-दारिकद्विकलक्षणानां तिसृणां प्रकृतीनां पुनस्तत् "अब्भहियं पल्लतिगं" ति अभ्यधिकपल्योपमत्रिकप्रमाणं भवति । एतच्च वैक्रियषट्कादिद्वादशप्रकृतीनामसंख्येयपुद्गलपरावर्तादिप्रमाणमनुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरं सर्वथौघवद्विभावनीयमिति । उक्तशेषाणामायुर्वर्जानां तु आगवान्तर्मुहूर्तमेव । ताश्चोक्तशेषप्रकृतय इमाः-मिथ्यात्व-स्त्यानर्द्धित्रिका-नन्तानुबन्धिचतुष्कवर्जा एकोनचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिन्यः, साता-ऽसातवेदनीय-हास्य-रति-शोका-ऽरति पुंवेदमोहनीय-पञ्चेन्द्रियजाति-समचतुरस्रसंस्थान-प्रशस्तविहायोगति-पराघातो-च्छ्वास-जिन-त्रसदशका ऽस्थिरा-ऽशुभा-ऽयशःकीर्तिनामानीति पञ्चषष्टिरिति ॥५१९-५२०॥

अथ क्रमप्राप्तदर्शनमार्गणास्थानेष्वनुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरं प्रतिपिपादयिषुश्चक्षुर्दर्शने

'तइअकसायाईण पणचत्ताअ' (५०७) इत्यादिगाथाद्वये पञ्चेन्द्रियौघादिमार्गणाभिः समं, तथाऽवधिदर्शनमार्गणास्थाने 'मज्झट्ठकसायाण ओघव्व तिणाणोहि' (५१५) इत्यादिगाथाद्वये मतिज्ञानादिमार्गणाभिः समं प्रतिपादितत्वाच्छेषेऽचक्षुर्दर्शनमार्गणास्थाने तत्साम्याद्भव्यमार्गणास्थाने चाह—

आहारदुगस्स तहा तइअकसायाइसत्तवण्णाए ।
पयडीणं विण्णेयं ओघव्व अचक्खु-भवियेसुं ॥५२१॥

(प्रे०) "आहारे"त्यादि, आहारकशरीर-तदङ्गोपाङ्गप्रकृतिद्वयलक्षणस्याऽऽहारकद्विकस्य तथा 'तइअकसाया ॥४४७॥ दुइअकसाया मिच्छ' मित्यादिसंग्रहगाथासंगृहीतानां तृतीयकषायादीनामौदारिकशरीरनामकर्मान्तानां सप्तपञ्चाशत्प्रकृतीनामित्येवं समुदितानामेकोनषष्टेः प्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरम् "ओघव्व" त्ति सर्वथैवौघवद्भवति । तद्यथा—स्त्यानद्धित्रिका ऽनन्तानुबन्धिचतुष्क-मिथ्यात्व-स्त्री-नपुंसकवेद-प्रथमवर्जसंहननपञ्चक-प्रथमवर्जसंस्थानपञ्चका-ऽप्रशस्तविहायोगति-दुर्भगत्रिक नीचैर्गोत्राणीत्येतासां पञ्चविंशतेः प्रकृतीनां द्वात्रिंशदभ्यधिकं साधिकसागरोपमशतम्, मध्यमकषायाऽष्टकस्य देशोना एका पूर्वकोटी । तिर्यग्द्विकोद्योतनाम्नोस्त्रिषष्ट्यभ्यधिकं साधिकसपल्यचतुष्टयसागरोपमशतम् । मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोरसंख्येया लोकाः । औदारिकद्विक-प्रथमसहननयोः साधिकं पल्योपमत्रयम् । सूक्ष्मत्रिक-विकलत्रिका ऽऽतप-स्थावरै-केन्द्रियनाम्नां पञ्चाशीत्यभ्यधिकं साधिकसपल्यचतुष्टयसागरोपमशतम् । औदारिकद्विक-वज्रर्षभनाराचसंहननयोः साधिकपल्योपमत्रयम् । वैक्रियषट्कस्याऽसंख्येयाः पुद्गलपरावर्ताः । आहारकद्विकस्य देशोनापार्धपुद्गलपरावर्तः । शेषाणां मतिज्ञानावरणादिप्रकृतीनामायुर्वर्जानां सर्वसंख्यया सप्तपञ्चाशतः प्रकृतीनामन्तर्मुहूर्तमात्रमिति । उपपत्तिरपीहौघवदेव द्रष्टव्येति ॥५२१॥

अथ क्रमप्राप्तलेश्यामार्गणास्थानेषु प्रस्तुतं प्रतिपिपादयिषुरार्यापट्कमाह—

किण्हाअ अट्ठवीसामिच्छाईण तह णरदुगुच्चाणं ।
ऊणा गुरुकायठिई विउव्वदुगस्स जलहिदुवीसा ॥५२२॥
किण्हाए णीलाए हवेज्ज सुरदुग-तिआयवाईणं ।
पल्ला-ऽसंखियभागो भणन्ति अण्णे मुहुत्तंतो ॥५२३॥
णीलाए काऊअ य हवेज्ज देसूणजेट्ठकायठिई ।
वेउव्वदुगस्स तहा मिच्छाइगअट्ठवीसाए ॥५२४॥
किण्हव्व उ काऊए एगिंदिय-थावरा-ऽऽयवाण भवे ।
खइअणिरय-जेट्ठट्ठिइमाणं णेयं सुरदुगस्स ॥५२५॥

तेउपउमासु कमसो मिच्छाईण ऽत्थि एगतीसाए ।
अडवीसाए तह सुरविउव्वदुगाणूणजेट्ठठिई ॥५२६॥
सुक्काअ ऊणअयरिगतीसा मिच्छाइपंचवीसाए ।
देवविउव्वदुगाणं देसूणा जेट्ठकायठिई ॥५२७॥

(प्रे०) "किण्हाअ" इत्यादि, कृष्णलेश्यामार्गणायां 'मिच्छ थीणद्धितिग' इत्यादिसंग्रहगाथां-शसंगृहीतानां मिथ्यात्व-स्त्यानर्द्धित्रिका ऽनन्तानुबन्धिचतुष्क-स्त्रीवेद-नपुंसकवेद-प्रथमवर्जसंहनन-पञ्चक-प्रथमवर्जसंस्थानपञ्चक-दुर्भगत्रिक- कुखगति- नीचैर्गोत्र-तिर्यग्द्विको-द्योतलक्षणानामष्टाविंशति-प्रकृतीनां मनुष्यद्विको-च्चैर्गोत्रयोश्चेत्येवं सर्वसंख्यया तु त्रिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं प्रस्तुतमनुत्कृष्ट-स्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरं "ऊणा गुरुकायठिई" त्ति उत्कृष्टकायस्थितिः स्वीयाद्यान्त्यान्तर्मुहूर्तद्वयेन न्यूना सती भवतीत्यर्थः । भावना त्विह नरकौघवत्कार्या ।

"विउव्वदुगस्स" इत्यादि, वैक्रियद्विकस्य तु तत् द्वाविंशतिः सागरोपमाणि भवति । कथं न देशोनकायस्थितिः ? इति चेद्, सप्तमभूमीनैरयिकाणां मिथ्यात्वसहितानामेव भवान्तरगतेस्तत्राप-र्याप्तावस्थायां मिथ्यात्वसत्त्वे वैक्रियद्विकस्य बन्धाभावात् । अयम्भावः–प्रस्तुतान्तरं देशोनकाय-स्थितिस्तदा स्याद् यद्यदः सप्तमभूमीनैरयिकभवस्थितिप्राधान्येन लभ्येत, न च तथा लभ्यते, सप्तम-भूमीनरकभवात्पूर्वभवे भवचरमान्तर्मुहूर्ते कृष्णलेश्याया वैक्रियद्विकस्य बन्धसम्भवेऽपि तदनु याव-दुत्कृष्टकायस्थितिस्तावत्तद्बन्धाभावात् । तत्र नैरयिकभवे भवप्रत्ययात्तद्बन्धाभावः, तदुत्तरभवे त्व-पर्याप्तावस्थायां मिथ्यात्वसद्भावात्, इत्यतः षष्ठभूमीनरकभवस्थितिप्रधानं तद् दर्शितम्, षष्ठ-भूमीनरकतः सम्यक्त्वसहितानामपि गत्यन्तरगतेस्तत्र गत्यन्तरेऽपर्याप्तावस्थायामपि सम्यक्त्वप्रभा-वाद्वैक्रियद्विकबन्धसम्भवेन बन्धद्वयनिबन्धनस्यान्तरस्योत्पत्तेरिति ।

अथ प्रस्तुतकृष्णलेश्यामार्गणायामेव देवद्विकादिकतिपयप्रकृतीनां प्रस्तुतान्तरं समनन्तरम-भिधित्सुस्तत्साम्यान्नीललेश्यायामपि सममेवाह–"किण्हाए" इत्यादि, कृष्णलेश्यायां नीललेश्यायां च देवद्विकस्य तथाऽऽतप-स्थावरै-केन्द्रियलक्षणानां तिसृणां प्रकृतीनामित्येवं सर्वसंख्यया पञ्चानां प्रस्तुतान्तरं पल्योपमस्याऽसंख्यभागो भवेत् । कथमिति चेद्, कृष्ण-नीललेश्याकतिर्यग्मनुष्याणा-मुत्कृष्टतः पल्योपमासंख्यभागस्थितिकेषु देवेषूत्पत्तेस्तासां प्रकृतिबन्धान्तरस्य तावत्त्वात् ।

ननु यथोक्ततिर्यग्मनुष्या उत्कृष्टतो यावत्स्थितिकदेवेषूत्पद्यन्ते ततोऽपि दीर्घस्थितिकेषु नारकेषूत्पद्यन्ते, भवति च देवेष्विव नारकेष्वाऽऽतपादीनां तिसृणां प्रकृतीनामबन्धस्तथाच प्रस्तु-तान्तरं नारकजीवापेक्षयैवोपदर्श्यम् ? इति चेद्, सत्यम्, परम् नारकाणां ततश्च्युत्वा तिर्यक्तया मनुष्यतया वोत्पन्नानां यावत्कृष्णादिप्रस्तुतलेश्या तावत्तासां बन्धाभावेन दीर्घस्याबन्धकालस्योपप-

त्रापि अन्तरन्तु नोपपद्यते, अन्तरस्योपपत्तौ तदीयप्रान्तद्वये विवक्षितप्रकृतीनां बन्धस्यावश्यकत्वात्, तस्य च देवानामेव सम्भवात्, नारकाणान्त्वसम्भवात्। तथाहि–यः कश्चिद् बद्धदेवायुर्मिथ्यादृष्टिस्तिर्यङ् मनुष्यो वा तद्भवप्रान्ते कृष्णादिप्रस्तुतान्यतरलेश्यापरिणतः सन् क्रमेण कालं कृत्वा पल्योपमाऽसंख्यभागस्थितिकदेवतयोत्पद्यते, तत्र च तस्य भवत्यासां तिसृणां बन्धः, ततश्चासौ सम्यक्त्वमवाप्य यावद् देवभवचरमान्तर्मुहूर्तं तावदासामबन्धं प्रवर्तयति, भवचरमान्तर्मुहूर्ते च मिथ्यात्वमवाप्य पुनस्तासामातपादिप्रकृतीनां बन्धं प्रवर्तयति, भवनपत्यादिदेवानां मिथ्यात्वे सति एकेन्द्रियप्रायोग्यप्रकृतीनामपि बन्धसम्भवात्। न चैवं नारकाणां सम्भवति, तथा च प्रस्तुतान्तरं देवभवापेक्षयैवोपपद्येतेति। अत्रैव मतान्तरमाह–"भणन्ति" इत्यादि, अन्ये-महाबन्धकारास्तु एतासां पञ्चानां प्रस्तुतान्तरमन्तर्मुहूर्तप्रमाणं भवतीति वदन्ति, तन्मते देवानामशुभलेश्याया आन्तर्मुहूर्तिकत्वात्, एतदपि कुतः ? तन्मते देवानामपर्याप्तावस्थायामेवाशुभलेश्याया अभिमतत्वादिति।

"णीलाए काऊअ य" इत्यादि, नीललेश्यायां कापोतलेश्यायां च प्रत्येकमनन्तरोक्तानां मिथ्यात्वमोहनीयादीनामष्टाविंशतेः प्रकृतीनां वैक्रियद्विकस्य चानुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरं "हवेज्ज देसूणजेट्ठकायठिई" त्ति तत्तन्मार्गणायाः स्वीया स्वीया कायस्थितिर्देशोना भवेद्। इदमप्युपयुक्तनीत्यासां प्रकृतिबन्धान्तरस्य तथात्वात्तथा विज्ञेयम्। देशोनता त्विहोत्कृष्टकायस्थितिसंपादकप्रधानीभूतनरकभवात्पूर्वोत्तरभवसम्बन्ध्यन्तर्मुहूर्तद्वयेन तस्य नरकभवस्याद्यान्त्यान्तर्मुहूर्तद्वयेन च। कस्मात् ? तत्र मिथ्यात्वोदयस्याऽऽवश्यकत्वात्। वैक्रियद्विके तु नरकभवाद्यान्त्यान्तर्मुहूर्ते नैव वर्ज्ये, सम्यक्त्वसत्त्वे तदसत्त्वे वा तदानीं भवप्रत्ययेनैव तद्बन्धस्य निरुद्धत्वादिति।

"किण्हव्व" इत्यादि, कापोतलेश्यायामेकेन्द्रिय-स्थावरा-ऽऽतपनाम्नां प्रस्तुतानुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरं तु "किण्हव्व" 'किण्हाए णीलाए' इत्यादि(५२३)गाथादर्शितमानं भवेत्। सुगमम्। उपपत्तिरपीह कृष्णलेश्यावदेव कार्या, कापोतलेश्याकदेवानामप्येकेन्द्रियादिप्रकृतित्रयस्य बन्धप्रायोग्यत्वात्। देवद्विकस्य तर्हि कियत्स्यादित्याह–"खइअ" इत्यादि, क्षायिकसम्यग्दृष्टेः नारकजीवस्य प्रस्तुतमार्गणागतस्य यावती 'ज्येष्ठा'–उत्कृष्टा भवस्थितिः स्यात् तावत् देवद्विकस्य प्रस्तुतान्तरं ज्ञेयम्। क्षायिकसम्यग्दृशां नरकाभिमुखानामपि देवद्विकस्याऽवश्यं बन्धभावात्क्षायिकसम्यग्दृष्टेर्ग्रहणम्; अन्येषां नरकाभिमुखाना मिथ्यादृष्टित्वे तेषां नरकद्विकस्यैव बन्धभावेन देवद्विकस्याऽबन्धान्नोत्पद्येत तदपेक्षया प्रस्तुतान्तरमिति भावः। उत्कृष्टस्थितिकस्य ग्रहणमुत्कृष्टान्तरोपपत्तये, शेषं तु कृष्णादिलेश्यामार्गणावदभ्यूह्यम्, केवल मध्यवर्ती भवो नारकस्य ग्राह्य इति। इहाऽन्तरमान स्फुटमनुक्त्वा 'खइअणिरयजेट्ठट्ठिइमाण' इति मुकुलिताभिधान नाऽन्तरमानस्याऽज्ञायमानत्वादपि तु मतद्वयप्रदर्शनार्थम्, तथाच एकेन मतेन देशोनसागरोपममन्येन च मतेन सातिरेकसागरोपमत्रयं तज्ज्ञेयमिति।

"तेउपउमासु" इत्यादि, तेजोलेश्या-पद्मलेश्यामार्गणयोः **"कमसो मिच्छाईणऽत्थि एगतीसाए अडवीसाए"** त्ति 'क्रमशः' प्राग्दर्शितप्रकृतिसंग्रहगाथोपन्यस्तक्रमात् मिथ्यात्वादीनां 'मिच्छ थीणद्धितिग-मणचउग-थी णपुमा। संघयणागिइपणग दुहगतिग कुखगई णीअ ॥४४८॥ तिरियदुगु-ज्जो-आयव थावर-एगिंदि' इत्येतावता संगृहीतानामेकत्रिंशतः प्रकृतीना तेजोलेश्यायाम्। पद्मलेश्यायां त्वेकेन्द्रिय-स्थावरा-ऽऽतपनाम्नां बन्धाभावात्तद्वर्जानां मिथ्यात्वाद्यष्टाविंशतेः प्रकृतीनामित्यर्थः। **"तह सुरविउवदुगाण"** त्ति तथा मार्गणाद्वयेऽपि देवद्विकवैक्रियद्विकलक्षणप्रकृतिचतुष्टयस्य प्रस्तुतमनुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरं **"ऊण जेट्ठठिई"** त्ति अनन्तरोक्तनीत्या नानाऽन्तर्मुहूर्तनिष्पन्नैकान्तर्मुहूर्तेनोना तेजोलेश्यादितत्तन्मार्गणाया उत्कृष्टा कायस्थितिर्भवति। मिथ्यात्वादिप्रकृतिषु पूर्वोत्तरभवद्वयसम्बन्ध्यन्तर्मुहूर्तद्वयमिव देवभवसम्बन्धिप्रथमान्त्यान्तर्मुहूर्तद्वयमपि वर्जनीयमुत्कृष्टकायस्थितितः। देवद्विकादिप्रकृतिचतुष्टये तु पूर्वोत्तरभवसम्बन्धि एव, न पुनर्देवभवसम्बन्ध्यपि, भवप्रत्ययेन तदानीं तस्य बन्धाऽप्रवर्तनादिति।

"सुक्काअ" त्ति शुक्ललेश्यामार्गणायां मिथ्यात्वादीनां 'मिच्छ' इत्यादिना सगृहीतानां पञ्चविंशतेः प्रकृतीना **"ऊणअयरिगतीसा"** त्ति देशोनैकत्रिंशत्सागरोपमाणि प्रस्तुतान्तरं भवति। अत्रैव मार्गणायां देवद्विक वैक्रियद्विकयोस्तु **"देसूणा जेट्ठकायठिई"** त्ति शुक्ललेश्यामार्गणाया ज्येष्ठा कायस्थितिः प्रागिव त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणोत्कृष्टस्थितिकदेवभवपूर्वोत्तरभवयोः सम्बन्ध्यन्तर्मुहूर्तद्वयेनोना भवति; एवमपि तत् साधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणमेव स्यात्, श्रेणिसम्बन्धितदीयान्तर्मुहूर्तमात्राऽबन्धकालस्य तत्र प्रविष्टत्वेन तदीयप्रकृतिबन्धान्तरस्य तथात्वादिति।

एवमेव मिथ्यात्वादिप्रकृतीनामपि प्रस्तुतान्तरं नवमग्रैवेयकोत्कृष्टभवस्थित्यपेक्षया प्रागिवान्तर्मुहूर्तचतुष्टयं विवर्ज्योपपादनीयम्। तस्यानुत्तरदेवोत्कृष्टभवस्थित्यपेक्षयाऽकथनं तु तत्रत्यदेवानां नियमतः सम्यग्दृष्टित्वेन मिथ्यात्वादिप्रकृतीनां सकृदपि बन्धाभावान्न भवेत्तदपेक्षया प्रस्तुतबन्धान्तरमिति।

इह लेश्यामार्गणाषट्केऽपि प्रोक्तशेषाऽऽयुर्वर्जप्रकृतीनां प्रस्तुतान्तरं प्रागिवान्तर्मुहूर्तमेव, केवलं कृष्णलेश्यायां जिननाम, तेजःपद्मलेश्ययोस्त्वाहारकद्विक वर्जनीयम्, 'किण्हाअ अंतर णो जिणस्स' इत्यादिना प्राक् प्रतिषिद्धत्वादिति ॥५२२-५२७॥

तदेवं भणितं षट्स्वपि लेश्यामार्गणास्थानेषु आयुर्वर्जबन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां प्रस्तुतमनुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरम्। भव्यमार्गणायां तत् 'अचक्खु-भवियेसु' इत्यनन्तर(५२१)गाथायां तथाऽभव्यमार्गणायां मत्यज्ञानादिमार्गणाभिः सम 'देसूण पल्लतिग अण्णाणदुगे' (गाथा-५१७) इत्यादिना प्रतिपादितं प्राक्। अथ सम्यक्त्वमार्गणास्थानेषु तदभिधातव्यम्, तत्र सम्यक्त्वौघमार्गणास्थाने 'मज्झिदुकसायाण ओघव्व तिणाण-ओहि-सम्मेसु' (गाथा-५१५) इत्यादिना मतिज्ञानादिमार्ग-

णाभिः साकं प्ररूपितं प्रागतस्तदुत्तरभेदमध्ये क्षायिक क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणास्थानयोः प्राह—

मज्झट्ठकसायाणं खइए ओघव्व होइ देसूणा ।
गुरुकायठिई णेयं सुरविउवाहारजुगलाणं ॥५२८॥
तेत्तीससागराइं सुरविउवदुगाण वेअगे णेयं ।
मज्झकसाय-णराइगपणगा-ऽऽहारगदुगाण ओहिव्व ॥५२९॥ (गीतिः)

(प्रे०) "मज्झट्ठे"त्यादि, क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणास्थाने मध्यमानां प्रत्याख्यानावरणा-ऽप्रत्याख्यानावरणभेदभिन्नानां क्रोधाद्यष्टकषायप्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरं "ओघव्व होइ" त्ति ओघवद्देशोना पूर्वकोटी भवति । कुतः ? प्रमत्ता-ऽप्रमत्तादिभावस्योत्कृष्टतः साधिका-ऽष्टवर्षन्यूनपूर्वकोटिवर्षाणि यावल्लाभसम्भवेन तदीयप्रकृतिबन्धोत्कृष्टान्तरस्य देशोनपूर्वकोटिप्रमाणत्वा-त्तदनुसारेण प्रस्तुतान्तरस्याऽपि लाभाच्चेति । "देसूणा गुरुकायठिई" इत्यादि, देवद्विक-वैक्रियद्विका ऽऽहारकद्विकलक्षणानां षण्णां प्रकृतीनां प्रस्तुतान्तरं पुनः क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणाया एकजीवाश्रया देशोना 'गुरुः' कायस्थितिर्ज्ञेयम् , तदपि न षण्णां प्रकृतीनां तुल्यम् , किन्तु देव-द्विकवैक्रियद्विकयोरन्तर्मुहूर्ताभ्यधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणम् , द्वयोस्तु अन्तर्मुहूर्तेनोनानि पूर्वकोटयभ्यधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि । कथम् ? तासां प्रकृतिबन्धोत्कृष्टान्तरस्य प्रस्तुतमार्ग-णायां तथात्वात् । तथाहि–यः कश्चिद् देवद्विकवैक्रियद्विकयोर्बन्धकः क्षायिकसम्यग्दृष्टिः उपशम-श्रेणिं समारोहति तस्य निवृत्तिकरणगुणस्थानषष्ठभागादासामबन्धः प्रवर्तते, तच्चोत्कृष्टतस्तावत् प्रवर्तते यावदसौ परिपूर्णामुपशमश्रेणिं समारुह्योपशमाद्धाक्षयतः क्रमेण प्रतिपतन्नष्टमगुणस्थाने प्रस्तुत-प्रकृतीनां बन्धप्रारम्भसमयस्य पूर्वसमये भवक्षयेण त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिकदेवतयोत्पद्योत्कृष्टायुः परिपालयति, तदनु तु मनुष्यतयोत्पन्नस्य तस्य मनुष्यभवप्रथमसमयप्रभृतेरेव क्षायिकसम्यक्त्वानु-भावाद्देवद्विकवैक्रियद्विकादीनां बन्धः प्रवर्तते; तदेवं तस्योपशमश्रेणिसत्केन कियत्कालेनाभ्यधिकानि देवभवोत्कृष्टस्थितित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि देवद्विकवैक्रियद्विकयोरुत्कृष्टं बन्धान्तरं जायते । आहा-रकद्विकस्य तु तद् देवद्विकादिवदष्टमगुणस्थानात्प्रारब्धं सदुत्कृष्टतो देवभवादूर्ध्वं मनुष्यभवचरमान्त-र्मुहूर्ते यदा तत्स्वामी संयममवाप्य सप्तमगुणस्थानं स्पृशति तदा निष्ठां याति, तथाच तत् पूर्वापेक्षया किञ्चिदूनपूर्वकोटीकालेनाधिकं भवतीति । अत्रैवोक्तशेषप्रकृतीनां तु तदनिषिद्धत्वादवक्ष्यमाणत्वाच्च पूर्वोक्तवचनानुसारेणाऽन्तर्मुहूर्तमवगन्तव्यमिति ।

"तेत्तीसे"त्यादि, "वेअगे" त्ति क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां देवद्विकवैक्रियद्विक-योरनुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरं त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि ज्ञेयम् , न पुनरनन्तरोक्तनीत्याऽन्त-र्मुहूर्तेनाभ्यधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, श्रेणिसमारोहे प्रस्तुतमार्गणाया विच्छेदभावेन प्रव-

र्तमाने एव तासां देवगत्यादीनां बन्धे भवक्षयेण तदुपपत्तेरावश्यकत्वादिति । "मज्झ" इत्यादि, प्रस्तुत एवा-ऽप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरणकषायाणां नरादिकानां मनुष्यद्विकौ-दारिकद्विक-वज्रर्षभनाराचसंहननलक्षणानां पञ्चानां तथाऽऽहारकद्विकस्येत्येवं सर्वसंख्यया पञ्चदशप्रकृतीनां प्रस्तुतान्तरं तु "ओहिव्व" त्ति अवधिज्ञानमार्गणावत् 'मज्झट्ठकसायाण ओघव्व तिणाणओहि-सम्मेसु । पचण्ह णराईण कोडी पुव्वाण णायव्व ॥५१५॥ देवविउव्वा-ऽऽहारगदुगाण तेत्तीससागराऽब्भ-हिया । अण जेट्ठा कायठिई देसूणाऽऽहारजुगलस्स ॥५१६॥' इत्यनेनाभिहितमानं विज्ञेयम् । उपपत्ति-रप्यस्यावधिमार्गणोक्तान्तरोपपत्तिवत्कार्याऽविशेषादिति । प्रस्तुतमार्गणायां मतिज्ञानावरणादीनां षट्चत्वारिंशत्प्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरं तु प्राक् 'सेसाण अतर णत्थि' (गाथा-४९३) इत्य-नेन प्रतिषिद्धमेव, तथाचाप्रतिषिद्धानुक्तशेषाणां साता-ऽसातवेदनीय-हास्य-रति-शोका-ऽरति-स्थिरा-ऽस्थिर-शुभा-ऽशुभ यशःकीर्त्य-ऽयशःकीर्तिलक्षणानां द्वादशप्रकृतीनां प्रस्तुतान्तरं 'अवक्खमाणाण' (गाथा-४९५) इत्यादिवचनादन्तर्मुहूर्तमात्रमवसातव्यमिति ।

सप्रतिपक्षसम्यक्त्वमार्गणाशेषभेदमध्ये औपशमिकसम्यक्त्वे 'णरुरलदुग-वइराण णत्थि उव-समम्मि अंतर चेव' (गाथा-४९१) इत्यनेन मनुष्यद्विकौ-दारिकद्विक-वज्रर्षभनाराचसंहननाम्नामनु-त्कृष्टस्थितिबन्धान्तरस्य प्रतिषिद्धत्वादेकस्या अप्यवक्ष्यमाणत्वाच्च मनुष्यद्विकादिप्रकृतिपञ्चकवर्जानां सर्वासां द्वासप्ततेरपि प्रकृतीना प्रस्तुतान्तरं पूर्ववदन्तर्मुहूर्तमवसातव्यम् । सम्यग्मिथ्यात्वेऽपि मीसेसु ' ' वारससायाईण ण सेसाण' (गाथा-४८६) इत्यनेनाऽनन्तरोक्ताः सातवेदनीयादिद्वादशप्रकृती-र्विहाय शेषाणां सर्वासां बन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां प्रस्तुतान्तरस्य प्रतिषिद्धत्वात्तासां सातवेदनीयादिद्वा-दशप्रकृतीनामेव प्रस्तुतान्तरमन्तर्मुहूर्तं ज्ञेयम्, एवमेव सासादनमार्गणास्थानेऽपि 'धुवबधीण पणिदिय-परघा-ऊसास-तसचउक्काणं । सासाणे णो' (गाथा-४९४) इत्यनेन ध्रुवबन्ध्यादित्रिपञ्चाशत्प्रकृतीनां निषिद्धत्वात् तद्वर्जानामनायुषां सातवेदनीयादिपञ्चचत्वारिंशतो बन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां प्रस्तुतान्तर-मन्तर्मुहूर्तं विज्ञातव्यम् । अन्तर्मुहूर्तप्रमाणप्रस्तुतान्तरस्योपपत्तिस्त्वत्रौपशमिकादिमार्गणात्रये सुगमा, प्रत्येकं मार्गणानामुत्कृष्टाया एकजीवाश्रयकायस्थितेरन्तर्मुहूर्तत्वादिति । मिथ्यात्वमार्गणास्थाने तु 'देसूण पल्लतिग अण्णाणदुगे अभवियमिच्छेसु ' (गाथा-५१७) इत्यादिना मत्यज्ञानादिमार्गणाभिः समं प्रतिपादितं प्रस्तुतान्तरमिति ॥५२८-५२९॥

अथ सञ्ज्ञिमार्गणास्थाने प्राग् 'दुपणिदितसेसु णयण-सण्णीसु होइ ओवव्व' (गाथा ५०७) इत्यादिना पर्याप्तपञ्चेन्द्रियादिमार्गणाभिः सममभिहितं प्रस्तुतान्तरमित्यवशिष्टऽसंज्ञिमार्गणास्थाने तत्प्रतिपादयति—

अमणे णिरयाईणं छण्हं हवए असंखपरियट्टा ।
लोगा असंखिया खलु होइ णरदुगु-च्चगोआणं ॥५३०॥

लेश्यासु, क्षायिकसम्यक्त्वे सासादने चेत्येवं संगृहीतासु द्विसप्ततिमार्गणासु प्रत्येकम् "**आऊणं णंतरं गुरुठिइए**" त्ति बन्धप्रायोग्यायुःप्रकृतीनां गुरुस्थितेः "णंतर" ति प्रस्तुतत्वादेकजीवाश्रितमन्तरं 'न' न भवतीत्यर्थः । कथं न भवति ? इति चेद् , उच्यते, कस्याप्यायुष उत्कृष्टस्थितिबन्ध एकस्मिन् भवे सकृदेव सम्भवति, न त्वनेकशः । कुतः ? तस्योत्कृष्टाबाधाया अधीनत्वात् , वेद्यमानायुरधीनायास्तस्या उत्कृष्टस्थितिके भवे समयमेकमेव लाभाच्च। प्रस्तुते हि नरकगत्यादिमध्ये नरकगत्योघादिषु कतिपयमार्गणासु सकृदुत्कृष्टस्थितिकायुर्बद्ध्वा तदुदयेन तत्स्वामी मार्गणान्तरं प्राप्नोति, तथाच न लभ्यते निरन्तरं प्रवर्तमानायामेव नरकगत्योघादितत्तन्मार्गणायां द्विरुत्कृष्टस्थितिबन्धः, तदभावे च तद्द्वित्वाधीन प्रस्तुतान्तरमपि । मनोयोगादिकतिपयमार्गणासु तु द्विरायुर्बन्धोऽपि न लभ्यते । कस्मात् ? ह्रस्वकायस्थितिकत्वात् , तथाच नास्ति तास्वपि प्रस्तुतान्तरम् । अर्थतस्त्वेतासु प्रत्येकमुत्कृष्टस्थितिबन्धं कृत्वा पुनरुत्कृष्टस्थितिबन्धं यावन्न तिष्ठति तत्स्वामी तस्यामेव मार्गणायाम् , तथाच न लभ्यते प्रस्तुतान्तरमिति । यद्यपीह काययोगसामान्यौदारिककाययोगमार्गणयोरुत्कृष्टकायस्थितिर्दीर्घा यथासंख्यमसंख्येयपुद्गलपरावर्तदेशोनद्वाविंशतिवर्षसहस्रमाना तथाऽपि साऽऽयुरुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वाम्यपेक्षया ह्रस्वा कथिता, तदपेक्षया तस्या अन्तर्मुहूर्तमात्रत्वादित्यदोषः । विशेषतस्तु मूलायुःप्रकृत्युत्कृष्टस्थितिबन्धप्रतिषेधवद्भिावनीयम् , नात्र पुनः प्रपञ्च्यते, तत्र सुप्रपञ्चितत्वादिति ॥५३२-५३३॥

तदेवं प्रतिषिद्धं यास्वेकस्या अपि बन्धप्रायोग्यायुःप्रकृतेरुत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरं न भवति तासु तत् । एतर्हि प्रोक्तशेषमार्गणासु गत्यादिक्रमेण तत्प्रदिदर्शयिषुरादौ तावज्जघन्यतः प्राह—

हस्सं तिरियाउस्स य तिरियचउक्के नराउगस्स तहा ।
मणुसतिगे समयूणा कोडी पुव्वाण णऽण्णाणं ॥५३४॥

(प्रे०) "**हस्स**"मित्यादि, 'ह्रस्वं' जघन्यं प्रस्तुतत्वादुत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरम् , "**तिरियाउस्स य तिरियचउक्के**" त्ति अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणास्थाने 'अपज्जत्ततिरि' इत्यादिनाऽनुपदं प्रस्तुतान्तरस्य वक्ष्यमाणत्वादपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणास्थानवर्जानां शेषाणां तिर्यगोघपञ्चेन्द्रियतिर्यगोघ-तत्पर्याप्त-तिरश्चीमार्गणाभेदभिन्नानां तिर्यग्गतिमार्गणाभेदानां यच्चतुष्कं तस्मिन् मध्यमपदलोपात् तिर्यक्चतुष्के तिर्यगायुषः । चः पादपूर्त्यै । "**णराउगस्स तहा मणुसतिगे**" त्ति तथा प्रागिवापर्याप्तमनुष्यमार्गणास्थानस्यापि तेनैव वक्ष्यमाणत्वात्तद्वर्जे मनुष्यौघ-तत्पर्याप्त-मानुषीमार्गणाभेदलक्षणे मनुष्यत्रिके नरायुष्कस्य "**समयूणा कोडी पुव्वाण**" त्ति समयेनैकेनोना पूर्वाणा 'पुव्वस्स उ परिमाण'मित्यादिनाऽन्यत्रोक्तमानानामेका कोटी, भवतीति शेषः ।

एतन्मार्गणास्थानसप्तके शेषाऽऽयुःप्रकृतीनां तर्हि कियद्भवतीत्याह—"**णऽण्णाणं**" ति प्रस्तुतत्वादन्येषां बन्धप्रायोग्याऽऽयुषां 'ण' त्ति उत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरं न भवति । तत्र समयोन-

पूर्वकोटयन्तरं तु निरन्तरं पूर्वकोटिस्थितिकभवद्वये उत्कृष्टाबाधायां तिर्यगायुषो बन्धकं तिर्यग्जीवमपेक्ष्य तिर्यग्भेदमार्गणाचतुष्टये तिर्यगायुषो मनुष्यमार्गणात्रये मनुष्यायुषो बन्धकं मनुष्यजीवमपेक्ष्य मनुष्यायुषश्च विभावनीयम् । **तथाहि**—तिर्यग्गतिमार्गणायां मार्गणान्तरादागतः कश्चित्पूर्वकोटिस्थितिको जीवः स्वीयवेद्यमानायुषो भागद्वयेऽतिक्रान्तेऽवाप्ते च शेषतृतीयभागाद्यसमये उत्कृष्टाबाधायां वर्तमानः सन् त्रिपल्योपमस्थितिकं तिर्यगायुर्बध्नाति, पश्चाच्च तद् बद्धायुःस्थित्यपवर्तनानुकूलाऽध्यवसायविशेषादपवर्त्य पूर्वकोटिस्थितिकं करोति, क्रमेण तावत्स्थितिकतिर्यक्तयोत्पद्यते, तत्र च प्रागिवोत्कृष्टाबाधायां वर्तमानः सन् त्रिपल्योपमस्थितिकं तिर्यगायुर्बध्नाति तदा तस्य यथोक्तं समयोनपूर्वकोटिप्रमाणं तिर्यगायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरं प्राप्यते, प्रथमपूर्वकोटिस्थितिकतिर्यग्भवसत्कसमयोनतृतीयभागस्य तथा तदुत्तरभवसत्कस्य परिपूर्णतृतीयभागद्वयस्योत्कृष्टस्थितिकतिर्यगायुर्बन्धद्वयमध्ये पतितत्वादिति । इत्थमेव शेषपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिमार्गणास्थानेषु त्रिषु मनुष्यगतिमार्गणास्थानेषु च विभावनीयम् ; केवलं मनुष्यगतिमार्गणास्थानेषु मनुष्यायुरादाय । एवमत्र वक्ष्यमाणसमयोनोत्कृष्टभवस्थितिमानान्तरोपपत्तिरपि स्वयमेव कार्या । विशेषतो जिज्ञासुना तु **मूलप्रकृतिस्थितिबन्धद्वितीयाधिकारैकजीवाश्रयान्तरद्वारप्रेमप्रभा** विलोकनीया । प्रस्तुतसप्तमार्गणास्थानेषु शेषायुरुत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरप्रतिषेधस्तु शेषायुर्बद्ध्वा तत्रोत्पत्तिमात्रेण प्रस्तुतमार्गणानां विच्छेदभावादिति पूर्वोक्तप्रस्तुतान्तरनिषेधवद्विभावनीयः सुधियेति ॥५३४॥

असमत्ततिरिनरसयलएगिंदियविगल-पंचकायेसुं ।
साउस्स गुरुभवठिई समयूणा ण इयराउस्स ॥५३५॥

(प्रे०) "**असमत्ते**" त्यादि, असमाप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणास्थाने, असमाप्तनरमार्गणास्थाने तथा सकलशब्दस्य पञ्चकायान्तेषु प्रत्येकं सम्बन्धात् सकलाः सप्तसंख्याका ये एकेन्द्रियमार्गणाभेदाः सकलाश्च नवसंख्याका ये विकलेन्द्रियमार्गणाभेदाः सकलाश्च ये एकोनचत्वारिंशत्संख्याकास्त्रसकायवर्जपृथिव्यादिपञ्चकायसम्बन्धिनो मूलोत्तरमार्गणाभेदास्तेषु सप्तपञ्चाशन्मार्गणाभेदेषु प्रत्येक "**साउस्स गुरुभवठिई समयूणा**" त्ति अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादितत्तन्मार्गणायां स्वस्यां स्वस्यां वेद्यमानायुषा समानस्य तिर्यगाद्यायुषः प्रस्तुतमुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य ह्रस्वमन्तरं तत्तन्मार्गणासम्भविनी '**गुरुः**' उत्कृष्टा भवस्थितिः समयोना भवति ।

ननु इह 'स्वायुषः' इत्यनेन स्वस्यां स्वस्यां बन्धप्रायोग्यायुःप्रकृतीर्विहाय स्वस्यां स्वस्यां वेद्यमानाऽऽयुःप्रकृतिः कथं गृह्यते ? इति चेद् , अनुपद वक्ष्यमाणस्य "**ण इयराउस्स**" इत्यस्य वैयर्थ्यापोहार्थम् , भवेद्धि तेन बन्धप्रायोग्यसर्वायुःप्रकृतिग्रहणे कस्याऽपि बन्धप्रायोग्यायुषोऽनवशिष्टतया 'ण इयराउस्स' इत्यस्य वैयर्थ्यमसंगतत्वं वा । तेन हि वेद्यमानायुषा नामतः समानस्य तिर्यगाद्यायुषो

(प्रे०) "अमणे" इत्यादि, 'अमनसि' असंज्ञिमार्गणास्थाने 'णिरय-सुर विउव्वदुग' मित्यनेन संग्रहगाथाखण्डकेन संगृहीतानां नरकद्विकादीनां षण्णां प्रकृतीनां प्रस्तुतान्तरं "हवए असंख परियट्टा" त्ति असंख्येयाः पुद्गलपरावर्ता भवति। इदमपि प्रस्तुतानां षण्णामुत्कृष्टस्य प्रकृतिबन्धान्तरस्य तथान्यात्तथा विज्ञातव्यम्। प्रकृतिबन्धान्तरं तु एकेन्द्रियविकलेन्द्रियाद्यवस्थायामासां प्रकृतीनां बन्धाभावात्प्रागिव साधनीयमिति। 'लोगा" इत्यादि, मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रलक्षणस्य प्रकृतित्रयस्य प्रस्तुतान्तरं पुनरसंख्येया लोका भवति, असंख्येयेषु लोकप्रमाणक्षेत्रखण्डेषु प्रतिसमयमेकैकाकाशप्रदेशापहारे यावान्कालो गच्छति तावदसंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणीप्रमाणं भवतीत्यर्थः। कुतः? तेजस्काय-वायुकायत्वे आसां तिसृणां भवप्रत्ययत एव बन्धाभावेन तदीयप्रकृतिबन्धान्तरस्याऽसंख्येयलोकप्रमाणत्वात्, प्रकृतिबन्धोत्कृष्टान्तराधीनं चान्तरमिदमिति। एतत्प्रकृतिनवकं बन्धप्रायोग्यमायुश्चतुष्टयं च विहाय शेषाणां बन्धप्रायोग्याणां मतिज्ञानावरणादिचतुरुत्तरशतप्रकृतीनां प्रस्तुतान्तरं तु पूर्ववदन्तर्मुहूर्तं बोद्धव्यमिति ॥५३०॥

अथ क्रमप्राप्ते आहारकमार्गणास्थाने प्रस्तुतमनुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरमाह—

आहारे पणचत्तातइअकसायाइतिवइराईण।
ओघव्वूणगुरुठिई आहारदुग-णिरयाइणवगाणं ॥५३१॥ (गीतिः)

(प्रे०) "आहारे" इत्यादि, आहारकमार्गणास्थाने "पणचत्तातइअकसायाइ-तिवइराईणं" ति 'तइअकसाया' इत्यादिना 'विगलतिग' मित्यन्तेन संग्रहगाथाऽवयवेन संगृहीतानां पञ्चचत्वारिंशत्प्रकृतीनां तथा 'वइरुरलदुवगाणि' इत्यादिना संगृहीतानां तिसृणां वज्रर्षभनाराचसंहननौदारिकद्विकप्रकृतीनां प्रस्तुतान्तरमोघवद्भवति। तद्यथा—मिथ्यात्व स्त्यानर्द्धित्रिका-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्क-स्त्रीवेद-नपुंसकवेद-प्रथमवर्जसंहननपञ्चक-प्रथमवर्जसंस्थानपञ्चका ऽप्रशस्तविहायोगति-दुर्भगत्रिक-नीचैर्गोत्राणीत्येतासां पञ्चविंशतेः प्रकृतीनां द्वात्रिंशदभ्यधिक सागरोपमशतम्। मध्यमकषायाऽष्टकस्यैका पूर्वकोटी देशोना। तिर्यग्द्विकोद्योतनाम्नोस्त्रिषष्ट्यभ्यधिकं सागरोपमशतम्। एकेन्द्रिय-स्थावरा ऽऽतपनाम्नां सूक्ष्मत्रिक-विकलत्रिकयोश्च पञ्चाशीत्यभ्यधिकं सागरोपमशतम्। औदारिकद्विकप्रथमसंहननयोः साधिकं पल्योपमत्रयमिति।

"ऊणगुरुठिई" 'ऊना' देशोना गुरुकायस्थितिः प्रस्तुतमार्गणायाः पुनः "आहारदुग-णिरयाइणवगाणं" ति आहारकद्विकस्य तथा 'णिरयसुरविउव्विदुग उच्च-णरदुग' इत्येतावता [४४९] संग्रहगाथाखण्डकेन संगृहीतस्य वैक्रियषट्कादिप्रकृतिनवकस्य प्रस्तुतमन्तरं भवति। कथं न ओघवत्? इति चेत्, प्रस्तुतमार्गणाया उत्कृष्टकायस्थितेरौघिकप्रस्तुतान्तरापेक्षया ह्रस्वत्वात्। ननु तथा सति भवतु तत्परिपूर्णोत्कृष्टकायस्थितिमानम्, कथं पुनस्ततोऽपि न्यूनमुच्यते? इति

चेद्, कायस्थित्याद्यन्तयोरनुत्कृष्टस्थितिबन्धस्यावश्यकत्वेनोत्कृष्टकायस्थितितोऽपि कियत्कालस्य वर्जनीयत्वात्। एतदुक्तं भवति-विवक्षितवस्त्वन्तरं हि तस्य विवक्षितवस्तुनो द्वित्वनिबन्धनम्, यथाऽङ्गुलीद्वयान्तरं तस्या अङ्गुल्या द्वित्वाधीनम्। तथा च प्रस्तुतविवक्षितप्रकृत्यनुत्कृष्टस्थिति-बन्धोत्कृष्टान्तरोत्पत्तौ तादृक् स्थितिबन्धद्वयमावश्यकम्, तदपि निरवच्छिन्ने मार्गणाकालमध्ये संभवदधिकृतमान्तरेणेति कृत्वोत्कृष्टकायस्थितेराद्यान्त्यसमययोस्तौ यदा गृह्येते तदा समयद्वयोनो-त्कृष्टकायस्थितिप्रमाणं प्रस्तुतान्तरं लभ्यते; न पुनः परिपूर्णोत्कृष्टकायस्थितिमानमिति, प्रस्तुते तु अन्तर्मुहूर्तद्वयेनोना कायस्थितिरवसातव्या; तत्राऽप्याहारकद्विकानुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरत्वेन तु वर्षपृथक्त्वेन सा ऊना द्रष्टव्येति। उक्तमिथ्यात्वादिप्रकृतीनां तु तदोघतोऽपि प्रस्तुतमार्गणोत्कृष्ट-कायस्थित्यपेक्षया न्यूनं सदोघवदेव दर्शितम्, तादृशि काले समतिक्रान्ते मिथ्यात्वादिप्रकृतीनामव-श्यं बन्धभावात्, प्रकृतिबन्धभावे बाहुल्येनानुत्कृष्टस्थितिबन्धस्यैव प्रवर्तनाच्चेति। प्रस्तुते उक्त-शेषाणां मतिज्ञानावरणादिसप्तपञ्चाशत्प्रकृतीनां प्रस्तुतान्तरं तु प्रागिवान्तर्मुहूर्तमेवेति।

अथाऽनाहारकमार्गणास्थाने प्रस्तुतान्तरस्य प्रतिपादनावसरः, नवरं लाघवार्थं प्रागेव 'कम्माणाहा-रेसु अणिसिद्धाणतरं गुरु समओ' (गाथा-४९५) इत्यनेन तत्र प्रतिपादितम्, इत्येवं समाप्तमायुर्वर्ज-प्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितिबन्धस्योत्कृष्टान्तरमपि सर्वासु मार्गणास्विति ॥५३१॥

साम्प्रतमवशिष्टमायुःप्रकृत्युत्कृष्टाऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नं प्रस्तुतमेक-जीवाश्रयमन्तरं प्ररूपितव्यमादेशतस्तत्रादौ तावदुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य तत्प्रतिपिपादयिपुर्यासु मार्ग-णास्वेकस्याऽपि बन्धप्रायोग्यायुस्तन्न भवति तासु तत्प्रतिषेधयन्नाह—

सव्वणिरय-सुर-पणमणवय-काया-ऽऽहारदुग-विउव्वेसुं ।
उरल-चउकसायेसुं तह मणपज्जव-विभंगेसुं ॥५३२॥
संजम-सामइएसुं छेए परिहार-देस-लेसासुं ।
खाइअ-सासाणेसुं आऊणं णंतरं गुरुठिईए ॥५३३॥ (गीतिः)

(प्रे०) "**सव्वणिरय**" इत्यादि, सर्वशब्दस्य निरय-सुरयोः प्रत्येकं योगात् सर्वेष्वोघोत्तर-भेदभिन्नेष्वष्टसंख्याकेषु निरयगतिमार्गणास्थानेषु, तथैव सर्वेष्वोघोत्तरभेदभिन्नेषु त्रिंशत्संख्याकेषु देवगतिमार्गणास्थानेषु तथा "**पणमणवय**"त्ति पञ्चेति शब्दस्य मनोवचसोः प्रत्येकं सम्बन्धा-दोघोत्तरभेदभिन्नेषु पञ्चसु मनोयोगभेदेषु पञ्चसु वचोयोगभेदेषु चेत्यर्थः, "**काये**" त्यादि, काययोगसामान्ये, आहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगद्वये, वैक्रियकाययोगे, औदारिककाययोगे, चतुर्षु क्रोधादिकषायमार्गणास्थानेषु तथा मनःपर्यवज्ञान-विभङ्गज्ञानयोः, संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थाप-नीय-परिहारविशुद्धिकसंयम-देशसंयमेषु, "**लेसासु**" ति अविशेषेणाभिहितत्वात्कृष्णादिषु षट्स्वपि

ग्रहणे तु न 'ण इयराउस्स' इत्यस्य वैयर्थ्यम्, तस्येतरस्य मनुष्याद्यायुरुत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरनिषेधपरकतयोपपत्तेरिति। वस्तुगतिरपि एषा एव, यदेतन्मार्गणामध्येऽपर्याप्तमनुष्यमार्गणायां मनुष्यायुषः प्रस्तुतान्तरं यथोक्तं समयोनोत्कृष्टभवस्थितिप्रमाणं प्राप्यते, शेषतिर्यगायुषस्तु न। तथाहि-प्रस्तुतोत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरं प्रागुक्तनीत्या भवद्वयमाध्यम्, उत्कृष्टस्थितिकाऽपर्याप्तमनुष्यभवे उत्कृष्टाबाधायामुत्कृष्टस्थितिकतिर्यगायुश्च बद्ध्वा तत्र नियमेनोत्पत्तव्यम्, तत्र चोत्पत्तौ प्रस्तुतमार्गणाया विच्छेद एव, इत्येवं न भवति अपर्याप्तमनुष्यमार्गणायां बन्धप्रायोग्यस्यापि तिर्यगायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरम्, मनुष्यायुषस्तु तद्भवति। शेषमार्गणास्वपि तिर्यगायुषस्तद्भवति, उत्कृष्टाबाधायामुत्कृष्टस्थितिकतिर्यगायुर्बद्ध्वा तत्रोत्पत्तेरपि प्रस्तुतमार्गणायामेवाऽवस्थानसम्भवात्। मनुष्यायुषस्तु तन्न भवति वेद्यमानायुषा विसदृशं मनुष्यायुर्बद्ध्वा तत्रोत्पत्तौ प्रस्तुतमार्गणाया अवश्यमनवस्थानात्। न चैकेन्द्रिया उत्कृष्टस्थितिकमायुस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियसत्कं बध्नन्ति, तदुदये तिर्यक्पञ्चेन्द्रियतयोत्पत्तौ तु तेषामपि प्रस्तुतमार्गणायामनवस्थितिरेवेति वाच्यम्। आयुर्हि बध्यमानं सत् नरक-देव-तिर्यग्-मनुष्याद्यन्यतमरूपमेव भवति, तत्र च यथा तिर्यगायुः पञ्चेन्द्रियजात्या समं बध्यमानं सत्पञ्चेन्द्रियतिर्यगायुरुच्यते तथा एकेन्द्रियजात्या समं विकलेन्द्रियजात्या समं वा बध्यमानं सत् एकेन्द्रियायुः विकलेन्द्रियायुर्वा व्यवह्रियते, तथैव तदेव पञ्चेन्द्रियजात्या सममुदयमवाप्तं पञ्चेन्द्रियतिर्यगायुः, एकेन्द्रियजात्यादिना सममुदयमवाप्तं तु एकेन्द्रियाद्यायुश्च व्यवह्रियते, न पुनरेकेन्द्रियादिभेदेनायुःप्रकृतयः, किन्तु तथाविधो व्यवहार एव। न च पञ्चेन्द्रियजात्या समं बध्यमानस्य तस्य पञ्चेन्द्रियजात्या सममेवोदयेनागन्तव्यमिति वाच्यम्, तथाऽङ्गीकारे सप्तमनरकरूपभावविशेषानुकूलप्रकृतिबन्धेन समं निर्वर्तितस्य तस्य तद्भावानुकूलप्रकृत्युदयेन समभुदयस्यावश्यकत्वे श्रीमद्भगवतीसूत्रवृत्तौ या कृष्णवासुदेवस्य नरकाद्यायुःस्थितेरपवर्तना प्रतिपादिता सा नोपपद्येत, इत्येवं पञ्चेन्द्रियजात्या समं बन्धनाद्धि तत्पञ्चेन्द्रियतिर्यक्सत्कम्, तच्च पश्चादपवर्तितं सदेकेन्द्रियजात्या सममप्युदयमवाप्नोति, तथा चोदयप्राप्ते न प्रस्तुतमार्गणा विच्छेद इत्यलं पल्लवितेन ॥५३५॥

ओघव्व जाणियव्वं दुपणिंदियतस-अणाण-अजएसुं
णयणियर-भवियरेसुं मिच्छे सण्णिम्मि आहारे ॥५३६॥
तिरियमणुसाउगाणं असमत्तेसुं पणिंदियतसेसुं ।
समयूणगुरुभवठिई उरालमीसे मुहुत्तंतो ॥५३७॥

(प्रे०) "ओघव्वे"त्यादि, 'असमत्तेसु पणिंदिय-तस' ५३७) इत्यादिनाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तत्रसमार्गणयोरुत्तरत्र प्रस्तुतान्तरस्य वक्ष्यमाणतया तद्वर्जयोर्द्वयोरोघ-पर्याप्तभेदभिन्नयोः पञ्चेन्द्रिय-

मार्गणास्थानयोर्द्वयोश्च त्रसमार्गणास्थानयोस्तथा "अणाण" त्ति विभङ्गज्ञानमार्गणास्थाने बन्धप्रायोग्यायुःप्रकृत्युत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरस्य पूर्वमेव प्रतिषिद्धत्वाद्विभङ्गज्ञानवर्जयोर्द्वयोरज्ञानमार्गणयोः, असंयममार्गणास्थाने 'णयण" त्ति चक्षुर्दर्शने, तदितरेऽचक्षुर्दर्शने, तथैव भव्यमार्गणास्थानेऽभव्यमार्गणास्थाने, मिथ्यात्वसंज्ञ्याहारकमार्गणास्थानेषु चेत्येवं समुदितेषु चतुर्दशमार्गणास्थानेषु प्रत्येकं "ओघव्व" त्ति 'समयूणपुव्वकोडी हस्सं तिरिय-मणुसाऊण ॥४५१॥ णिरया-ऽमराउगाण समयूणा दसम-हस्सवासऽहिया। पुव्वाण होइ कोडी' इत्यनेनोक्तमानमवसातव्यं बन्धप्रायोग्यायुषामुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यान्तरमिति। "तिरिये"त्यादि, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रिया ऽपर्याप्तत्रसमार्गणयोस्तिर्यगायुष्कमनुष्यायुष्कयोः "समयूणगुरुभवठिई" त्ति पूर्वोक्ताऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिमार्गणात्रयमयोनोत्कृष्टभवस्थितिः प्रस्तुतान्तरं भवति, सा तु भवस्थितिरन्तर्मुहूर्तमात्रेति। "उरलमीसे मुहुत्तंतो" त्ति औदारिकमिश्रकाययोगे तयोस्तिर्यग्मनुष्यायुष्कयोः प्रस्तुतान्तरमन्तर्मुहूर्तं भवति। सुगमम्, प्रस्तुतमार्गणायां लब्ध्यपर्याप्तानामेव प्रस्तुतायुर्द्वयोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वात्, तेषां चोत्कृष्टकायस्थितेरन्तर्मुहूर्तत्वादिति ॥५३६-५३७॥

ओघव्व तिवेएसुं होइ णवरि णारगाउस्स।
पुम-थीसु सुराउस्स य णपुंसगे अंतरं णत्थि ॥५३८॥ (उद्गीतिः)
मणुसा-ऽमराउगाणं तिणाण-ऽवहि-सम्म-वेअगेसु भवे।
साहियपल्लं अमणे चउण्ह आऊण तिरियव्व ॥५३९॥

(प्रे०) "ओघव्व तिवेएसुं" ति स्त्रीपुरुषनपुंसकभेदभिन्नेषु त्रिषु वेदमार्गणास्थानेषु बन्धप्रायोग्यायुषां प्रस्तुतान्तरमोघवद्भवति 'णवरि' त्ति केवलमयमपवादः, कोऽसावित्याह-"णारगाउस्स" इत्यादि, स्त्रीवेद-पुवेदमार्गणयोर्नारकायुषो नपुंसकवेदमार्गणायां देवायुषश्च "अंतरं णत्थि" त्ति तत्प्रस्तुतमन्तरं न भवति, तत्तदायुर्बद्ध्वा तत्र नारकादितयोत्पत्तिमात्रेण प्रस्तुतस्त्र्यादिमार्गणाया विच्छेदभावादिति। 'मणुसा-ऽमराउगाण' मित्यादि, मनःपर्यवज्ञानमार्गणायां प्राक् प्रस्तुतायुरुत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरस्य प्रतिषिद्धत्वात्तद्वर्जेषु मति-श्रुता-ऽवधिज्ञानलक्षणेषु त्रिषु ज्ञानमार्गणाभेदेषु, अवधिदर्शने, सम्यक्त्वौघे वेदकसम्यक्त्वे च बन्धप्रायोग्ययोर्द्वयोरपि मनुष्या-ऽमरायुषोः "साहियपल्लं" ति प्रस्तुतोत्कृष्टस्थितिबन्धजघन्यान्तरं साधिकं पल्योपमं भवेत्। तद्यथा-प्रस्तुतमसमार्गणायां प्रविष्टा जीवा हि सम्यग्दृष्टयः, तत्र ये मनुष्यास्तिर्यञ्चो वा ते जघन्यतः साधिकपल्योपमस्थितिकदेवतयैवोत्पद्यन्ते, न पुनस्ततो हीनस्थितिकदेवतया, तथाच यः कश्चित्पूर्वकोटिस्थितिको मनुष्यः पूर्वकोटितृतीयभागलक्षणायामुत्कृष्टाबाधायां त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिकं देवायुर्बद्ध्वा पश्चात्तद् संक्लिष्टाऽध्यवसायविशेषेणापवर्त्य ह्रस्वं यथोक्तं

साधिकपल्योपमस्थितिकं करोति क्रमेण तत्रोत्पद्यते च, क्रमेण ततश्च्युत्वा पूर्वकोटिस्थितिकमनुष्या-दितयोत्पद्य पूर्ववदुत्कृष्टाबाधायां त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिकं देवायुर्बध्नाति तस्य देवायुषः प्रस्तुता-न्तरं सम्पद्यते; इत्थमेव मनुष्यायुषः प्रस्तुतान्तरं भावनीयम्, केवलं प्रस्तुतमार्गणासु मनुष्यायुः पूर्वकोटीस्थितिकं बद्धं सत्पश्चादपवर्तितं वर्षपृथक्त्वस्थितिकमवशिष्टं द्रष्टव्यम्, बन्धश्च तदीयः षण्मा-सातिमकायामुत्कृष्टाबाधायां द्रष्टव्य इति ।

अथाऽसंज्ञिमार्गणायां प्रस्तुतमतिदेशेनाह–"**असणे चउण्ह आऊण तिरियव्व**" त्ति असंज्ञिमार्गणायां बन्धप्रायोग्याणां चतुर्णामप्यायुषामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य जघन्यमन्तरं "**तिरियव्व**" त्ति तिर्यग्गत्योघमार्गणावद्भवति, **तद्यथा**–तिर्यगायुषः समयोनाऽसंख्युत्कृष्टभवस्थितिः, शेपनरका-द्यायुष्कत्रयस्य तु प्रस्तुतान्तरं न भवति, इदमपि तिर्यग्गत्योघादिमार्गणावदेव साध्यम् । केवलं तिर्यग्गत्यादिमार्गणासम्भव्युत्कृष्टभवस्थितिप्रदर्शिका गाथा इमाः–

'तिरियस्स पणिंदितिरियणरतप्पज्जत्तजोणिणीण च । तिण्णि पलिओवमाइं उक्कोसा भवठिई णेया ॥
एगिंदियपुढवीणं होइ दुवीसा सहस्सवासाणि । एमेव होइ तेसिं बायर-बायरसमत्ताण ॥
दगवाऊण कमसो सहस्सवासाणि सत्त तिण्णि भवे । तिदिणाऽग्गिस्सेवं सिं बायर-बायरसमत्ताणं ॥
बेइंदियाइगाण कमसो बारह समा अउणवण्णा । दिवसा तह छम्मासा एव तेसिं समत्ताण ॥
वासाऽत्थि सहस्सा दस वण-पत्तेअवण-तस्समत्ताण । भिन्नमुहुत्त णेया सेसाण पचतीसाए' ॥इति ॥
॥५३८-५३९॥ तदेवं भणितमायुःप्रकृत्युत्कृष्टस्थितिबन्धैकजीवाश्रयान्तरं सर्वमार्गणासु जघन्यतः । सम्प्रति तदेवोत्कृष्टतश्चिकथयिपुरार्याद्वयमाह—

> **अणिसिद्धअंतराणं अचक्खुभवियेसु जेट्ठमोघव्व ।**
> **कोडिपुहुत्तं पुव्वा तिपणिंदितिरिक्ख-मणुएसु ॥५४०॥**
> **होइ असंखपरट्टा दुअणाणा-ऽजय-अभविय-मिच्छेसु ।**
> **सेसासु देसूणा सगसगकायट्ठिई जेट्ठा ॥५४१॥**

(प्रे०) "**अणिसिद्धे**"त्यादि, न निषिद्धम् अनिषिद्धम् प्रस्तुतत्वादुत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरं यासा-मायुःप्रकृतीनां ताः अनिषिद्धान्तरा आयुःप्रकृतयस्तासामनिषिद्धान्तराणामायुःप्रकृतीनामेतद् वक्ष्य-माणमुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरमवसातव्यमिति भावः । कासु मार्गणासु कियदित्याह–'**अचक्खु**' इत्यादि, अचक्षुर्दर्शनमार्गणाया भव्यमार्गणाया चौघवत् । **तद्यथा**–नरक तियग्-मनुष्यायुषां प्रत्येकमसंख्येयाः पुद्गलपरावर्ताः, देवायुषस्तु देशोनाऽपार्धपुद्गलपरावर्तः । इदं ह्युत्कृष्टस्थिति-बन्धोत्कृष्टान्तर सर्वथैवौघवद्विभावनीयम् । "**कोडिपुहुत्तं**" इत्यादि, तत्र 'पुव्वा' इत्यत्र पुंस्त्व-निर्देशः प्राकृतवशात्तथाच कोटिपृथक्त्वं पूर्वाणि प्रस्तुतान्तरमपर्याप्तभेदवर्जे पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेद-त्रये मनुष्यभेदत्रये चावसातव्यम् । तत्र पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदत्रये तिर्यगायुष एव, न शेपाणां

मनुष्याद्यायुषाम् , एवमेव मनुष्यभेदत्रयेऽपि मनुष्यायुष एव, न शेषायुषाम् , 'णऽण्णाण' (गाथा-४३४) मित्यनेन तत्र मार्गणाभेदषट्के वेद्यमानसजातीयायुर्विहाय शेषाणां बन्धप्रायोग्यायुषामुत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरस्य प्रतिषिद्धत्वात् । उपपत्तिस्त्वस्य पूर्वकोटिपृथक्त्वान्तरस्य मूलमष्टप्रकृत्युत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरवत्कर्तव्या:, प्रस्तुतमार्गणोत्कृष्टकायस्थितिपूरकेषु भवेषु चरमे युग्मिभवे मूलप्रकृतीनां मतिज्ञानावरणाद्युत्तरप्रकृतीनां चोत्कृष्टस्थितिबन्धवद्युग्मिनामनन्तरभवे नियमतो देवतयोत्पादेन तिर्यगायुषो मनुष्यायुषो वाऽबन्धात् , चरमं युग्मिभवं विहाय शेषभवेषु प्रथमभवे चरमभवे च तद्भावे तु प्रस्तुताऽऽयुषो: प्रकृतिबन्धोत्कृष्टान्तरवत्तदीयोत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरस्यापि पूर्वकोटिपृथक्त्वप्रमाणस्य लाभादिति ।

"होइ" इत्यादि, मत्यज्ञान-श्रुताऽज्ञानाऽसंयमा-ऽभव्य-मिथ्यात्वलक्षणासु पञ्चमार्गणासु प्रत्येकं "असंखा परट्टा"त्ति असंख्येया: पुद्गलपरावर्ता: प्रस्तुतोत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरं भवति. कासामायु:प्रकृतीनामिति चेद् , बन्धप्रायोग्यनरकादिचतुर्विधानामपि; प्रस्तुतमार्गणास्वेकस्या अप्युत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरस्याप्रतिषिद्धत्वादिति भाव: । उपपत्तिस्तु इहाप्योघवत् कार्या, केवलं देवायुषोऽपि प्रस्तुतान्तरमिह शेषाऽऽयुर्वदसंख्येया: पुद्गलपरावर्ता एव जायते, न पुनरोघवद् देशोनाऽपार्धपुद्गलपरावर्त:,यत ओघिकोत्कृष्टस्थितिकदेवायुर्बन्ध: सम्यग्दृष्टिस्वामिक: , सम्यग्दृशां चोत्कृष्टतोऽप्यपार्धपुद्गलपरावर्तप्रमाण एव शेषसंसार:; इह मार्गणापञ्चके तूत्कृष्टस्थितिकमपि देवायुर्मिथ्यादृष्टिस्वामिकम् ,तथाच तेषु ये दीर्घसंसारिणस्तेषां केषाञ्चिद्यथोक्ताऽसंख्येयपुद्गलपरावर्तप्रमाणमपि प्रस्तुतान्तरं जायत इति ।

अथोक्तशेषमार्गणासु यासु यस्यायुषोऽन्तरं प्रस्तुतं न निषिद्धं तासु तस्य तदाह– "सेसासु" मित्यादि, सुगमम् , केवलं "सगसग" त्ति तत्तन्मार्गणाया: स्वीया स्वीया । प्रत्येकं मार्गणानामुत्कृष्टकायस्थितिस्तु प्राग्मूलस्थितिबन्धविधानेऽभिहिता, इहापि 'जेट्ठा असखलोगा' इत्यादि(६५५)गाथावृत्तौ गाथात उद्धृताश्च । घटना त्विह प्रत्येकमुत्कृष्टकायस्थितेरोघिकोत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरतो ह्रस्वत्वात् कायस्थितिपूरकाद्यान्त्यभवयोरुत्कृष्टाबाधायामुत्कृष्टस्थितिकनरकाद्यायुर्बन्धप्रदर्शनेन कर्तव्या । तद्यथा– न भवति नरकगतिमार्गणाभेदाऽष्टके कस्याप्यायुष: प्रस्तुतान्तरम् । तिर्यग्गतिमार्गणाभेदपञ्चकात् 'तिपणिदितिरिक्ख' इत्यनेन पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणाभेदत्रये तदुक्तम् । तिर्यग्गत्योघमार्गणायामेकस्य तिर्यगायुषस्तद्भवति, न शेषाणाम् 'णऽण्णाण' मिति वचनात् । तत्र तिर्यगायुषस्तदुत्कृष्टतो देशोनतिर्यग्गतिमार्गणोत्कृष्टकायस्थितिप्रमाणम् , तिर्यग्गतिमार्गणोत्कृष्टकायस्थितिस्तु असंख्येया: पुद्गलपरावर्ता:, तत्र य: कश्चिन्मनुष्यादिमार्गणान्तरेषु दीर्घकालं निर्गमय्य पूर्वकोटिस्थितिकपञ्चेन्द्रियतिर्यक्तया प्रस्तुतमार्गणायां प्रविष्टो जीव उत्कृष्टाबाधायां वर्तमान: सन् त्रिपल्योपमस्थितिकं तिर्यगायुर्बध्नाति, पश्चाच्च तदपवर्त्य ह्रस्वं संख्येयवर्षस्थितिकं

करोति तत्र च क्रमेणोत्पद्यते, तदनु चैकेन्द्रियविकलेन्द्रियाऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियतया यावत्संज्ञि-पञ्चेन्द्रियतयोत्पद्योत्पद्य विपद्य विपद्य च तिर्यग्गत्योघमार्गणाया उत्कृष्टां कायस्थितिं निर्गमयति, तत्र चोत्कृष्टकायस्थितेर्द्विचरमे भवे पूर्वकोटिस्थितिकपञ्चेन्द्रियतिर्यक्तयोत्पद्योत्कृष्टाबाधायां त्रिपल्योपमस्थितिकं तिर्यगायुर्बद्ध्वा प्रागिव क्रमेण तत्रोत्पद्य भवस्थितिक्षयेण मार्गणान्तरं गच्छति, तस्य तिर्यग्गत्योघमार्गणायां तिर्यगायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धस्योत्कृष्टान्तरं लभ्यते। एवमेव शेष-मार्गणास्थानेष्वपि यथासम्भवं विभावनीयं स्वधिया सुधियेति ॥५४०-५४१॥

तदेवं प्रतिपादितं सर्वमार्गणास्थानेषु बन्धप्रायोग्यायुःप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धैकजीवा-श्रयान्तरमुत्कृष्टतोऽपि। एतर्हि तासामेवानुत्कृष्टस्थितिबन्धैकजीवाश्रयान्तरं प्रतिपिपादयिषुर्यासु मार्गणासु तन्न भवति तासु प्रतिषेधयन् शेषासु प्रथमतस्तावज्जघन्यतः प्रतिपादयंश्चाह—

अंतरमाऊण अगुरुठिईअ णो होइ पणमणवयेसुं।
विउवे आहारदुगे कसायचउगम्मि सासाणे ॥५४२॥
सेसासु मुहुत्तंतो लहुं णवरि णारगा-ऽमराऊणं।
कायु-रल-छलेसासुं णो विब्भंगे वि बिंति परे ॥५४३॥

(प्रे०) "अंतर" मित्यादि, प्रस्तुतमेकजीवाश्रयमन्तरम् "आऊण अगुरुठिईअ णो होइ" त्ति बन्धप्रायोग्यायुषाम् "अगुरोः" अनुत्कृष्टायाः स्थितेः 'णो' त्ति न भवति, कासु मार्गणास्वित्याह— "पणमण" इत्यादि, ओघोत्तरभेदभिन्नेषु पञ्चसु मनोयोगमार्गणास्थानेषु, तथैव पञ्चसु वचोयोग-मार्गणास्थानेषु, वैक्रियकाययोगे, आहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगयोर्द्विके, क्रोधादिकषायचतुष्के सासादने चेत्यर्थः। कुतः? प्रत्येकमार्गणोत्कृष्टकायस्थितेरायुःप्रकृतिबन्धजघन्यान्तरतोऽपि ह्रस्वत्वेनाऽऽयुःप्रकृतिबन्धान्तरस्याभावात्, विवक्षितप्रकृतिबन्धान्तराभावे तदीयानुत्कृष्टस्थितिबन्धा-ऽन्तरं न भवतीति तु सुगमम्। "सेसासु" इत्यादि, उक्तशेषासु यासु मार्गणासु आयुर्बन्धो जायते तासु नरकगत्योघादिपञ्चचत्वारिंशन्मार्गणासु "मुहुत्तंतो" त्ति बन्धप्रायोग्यायुषामनुत्कृष्टस्थिति-बन्धस्य "लहुं" ति जघन्यमेकजीवाश्रयमन्तरं 'मुहूर्तान्तः' मुहूर्ताभ्यन्तर्वर्ति, अन्तर्मुहूर्तमिति यावत्। किं शेषासु सर्वायुषां तदन्तर्मुहूर्तमुतास्ति कश्चिद्विशेषः? इत्याह—"णवरि" इत्यादि, 'नवरं' केवलं काययोगौघौ-दारिककाययोगयोः कृष्णादिषु च षट्सु लेश्यामार्गणासु नरकाऽमरा-युषोः प्रत्येकं तत् 'णो' त्ति न भवति। कुतः? उच्यते, नारकदेवायुषोर्बन्धकानां पञ्चेन्द्रियतिर्य-ग्मनुष्याणां प्रस्तुतैकैकमार्गणासूत्कृष्टतोऽप्यन्तर्मुहूर्तादधिकमनवस्थानाद्, यावच्चान्तर्मुहूर्तं ते तत्र तिष्ठन्ति तावति ह्रस्वेऽन्तर्मुहूर्ते आयुःप्रकृतिबन्धस्य द्विरसम्भवान्न भवति प्रस्तुतप्रकृत्यन्तरम्, तदभावे च तदीयानुत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरमपि न भवतीति।

ननु 'अन्तमुहुत्तठिईओ तिरियनराण हुंति लेसाओ । चरिमा नराण पुण नववासूणा पुव्वकोडी वि ।।' इति वचनात्केषाञ्चिच्चरमशरीरिमनुष्याणां सा लेश्या किञ्चिदूनपूर्वकोटिवर्षाणि यावद्भवत्यपि, तथाच भवेत् तादृशजीवविशेषमपेक्ष्य प्रस्तुतान्तरम् ? इति चेत् , न, तस्या नववर्षोन-पूर्वकोटिप्रमाणलेश्योत्कृष्टस्थितेः सयोगिकेवलिभगवतामेव भावात् शुक्ललेश्याकानामपि तेषां परममहोदयवतामायुःप्रकृतेर्बन्धाभावाच्चेति ।

"**विब्भंगे वि बिति परे**" त्ति तत्राऽपेः समुच्चायकतया 'परे'त्ति अन्ये पुनराचार्या न केवलं काययोगौघादिष्वष्टमार्गणासु नरकदेवायुषोरन्तरं भवति किन्तु विभङ्गज्ञानमार्गणायामपि नरक देवायुषोरनुत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरं न भवतीति वदन्ति । कथमिति चेत्, तन्मते पञ्चेन्द्रियतिर्य-ग्मनुष्याणां योगादिवल्लेश्यादिवद्वा विभङ्गज्ञानस्याप्यन्तमुहूर्तादधिकावस्थितेरस्वीकारादिति । इह काययोगौघादिमार्गणास्वपवादविषयभूतं नारकदेवायुरनुत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरप्रतिषेधं विधाय शेषमार्गणासु शेषायुःप्रकृतीनां प्रस्तुतान्तरं तत्तन्मार्गणासु तत्तदायुःप्रकृतिजघन्यान्तरवद् वेद्यमा-नायुस्त्रिभाग-त्रिभाग त्रिभागादिप्रकारेण प्राप्तायां चरमायां द्विचरमायां चाऽऽयुर्बन्धप्रायोग्याद्धायां द्विरायुर्बन्धं कुर्वतो जीवस्य तादृगायुर्बन्धद्वयस्य यदन्तरालं तावत्प्रमाणं बोद्धव्यम् , न पुनर्देशोनक्षुल्ल-कभवस्थितिमानम् , तदपेक्षयाऽस्यैव लघुत्वादित्यादि विशेषतो जिज्ञासुनाऽऽयुर्मूलप्रकृत्यौघिका-नुत्कृष्टस्थितिबन्धजघन्यान्तरवद्विचारणीयं स्वधियेति ।।५४२-५४३।।

तदेवं भणितं सर्वमार्गणास्वायुःप्रकृत्यनुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य जघन्यान्तरं यथासम्भवम् । एतर्हि तदेवोत्कृष्टतो विभणिषुर्निरयगत्योघादिमार्गणाक्रमेणाह–

सव्वणिरयदेवेसुं अपसत्थति-तेउ-पम्हलेसासुं ।
तिरिय-णराऊण भवे जेट्ठं देसूणछम्मासा ।।५४४।।
तिरिय-तिपणिंदितिरिनर-अमणेसुं पुव्वकोडितंसंतो ।
तिण्हाऊणऽब्भहिआ कोडी पुव्वाण साउस्स ।।५४५।।
होइ अपज्जत्तेसुं पणिंदियतिरिक्खमणुएसुं ।
सव्वेसुं एगिंदिय-विगलिंदिय-पंचकायेसुं ।।५४६।। (उपगीतिः)
साउस्स गुरुभवठिई देसूणतिभागसंजुआ णेयं ।
इयराउस्स तिभागो देसूणो गुरुभवठिईए ।।५४७।।

(प्रे०) "**सव्वणिरये**" त्यादि, सर्वेष्वोघोत्तरभेदभिन्नेष्वष्टसंख्याकेषु निरयगतिमार्गणास्था-नेषु, तथैव सर्वेषु त्रिंशत्संख्याकेषु देवगतिमार्गणास्थानेषु तथाऽप्रशस्तासु तिसृषु कृष्णादिलेश्यासु तेजो-

लेश्यायां पद्मलेश्यायां च तिर्यग्-नराऽऽयुषोः प्रत्येकम् **"जेट्ठं"** ति प्रस्तुतत्वादनुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य 'ज्येष्ठम्'-उत्कृष्टमेकजीवाश्रयमन्तरम् **"देसूणछम्मासा"** त्ति अन्तर्मुहूर्तलक्षणैकदेशेनोना षण्मासा भवति। कुतः ? नारकदेवानामुत्कृष्टाया अपवाधायाः षण्मासत्वादेकस्मिन् भवे षण्मासात्मिकायामुत्कृष्टाबाधायां प्रथमाकर्षेणाऽसंक्षेप्याद्धात्मिकायां जघन्याबाधायां द्वितीयाकर्षेणेत्येवं वारद्वयं तिर्यगायुषो मनुष्यायुषो वा बन्धं कुर्वतो जीवस्य प्रस्तुतान्तरस्य लाभात्। विशेषतस्तु प्रस्तुतमार्गणासु प्राग्दर्शिताऽऽयुर्मूलप्रकृत्यनुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरवद्विभावनीयम्।

"तिरिये" त्यादि, तिर्यग्गत्योघे. अपर्याप्तभेदवर्जेषु त्रिषु पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणास्थानेषु, तथैव 'ति' इति शब्दस्य 'नर' इत्यनेनापि सम्बन्धादपर्याप्तवर्जेषु त्रिषु मनुष्यगतिमार्गणास्थानेषु तथा **"अमणेसु"** ति असंज्ञिमार्गणास्थान इत्येवं सर्वसंख्यया सप्तमार्गणासु प्रत्येकं **"पुव्वकोडितंसंतो निणहाऊण"** त्ति 'अब्भहिया कोडा पुव्वाण साउस्स' इत्यनेन वेद्यमानायुषा समं नामतः समानस्य तिर्यगाद्येकैकायुषः प्रस्तुतानुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरस्यानुपदमेव वक्ष्यमाणतया तेन तिर्यगाद्येकैकायुषा रहितानां त्रयाणामायुषां प्रत्येक प्रस्तुतान्तरं 'पूर्वकोटित्र्यंशान्तः' पूर्वकोटितृतीयभागाभ्यन्तवर्ति भवति। तत्र चतुर्षु तिर्यग्गतिभेदेषु असञ्ज्ञिमार्गणास्थाने च तिर्यगायुर्वर्जानां त्रयाणामायुषां तथा मनुष्यगतिमार्गणाभेदत्रये मनुष्यायुर्वर्जानां त्रयाणामायुषां तज्ज्ञेयम्, 'साउस्से'त्यनेन मार्गणापञ्चके तिर्यगायुषस्तथा मार्गणात्रये तु मनुष्यायुषो ग्रहणात्।

ननु भवतु असंज्ञिभेदवर्जतिर्यग्गतिमार्गणाभेदचतुष्टये **"साउस्स"** इत्यनेन केवलस्य तिर्यगायुषो ग्रहणं तत्र केवलानां तिरश्चामेव प्रवेशात् तेषां तिर्यगायुष एव वेद्यमानत्वाच्च, न पुनरसञ्ज्ञिमार्गणाभेदेऽपि केवलस्य तिर्यगायुषो ग्रहण युज्यते तत्र तिरश्चामिव मनुष्याणामपि प्रवेशेन तिर्यगायुष इव मनुष्यायुषोऽपि वेद्यमानायुष्कतया लाभात् ? **इति चेद्, सत्यम्**, तथाऽपीह **शतककृद**भिप्रायवदसञ्ज्ञिमार्गणायां केवलास्तिर्यञ्च एव बोद्धव्याः, न पुनर्मनुष्या अपि; तथा च न कश्चिद्दोष इति। पूर्वकोटितृतीयभागाभ्यन्तवर्ति प्रस्तुतान्तरं तु अनन्तरोक्तनीत्या पूर्वकोटितृतीयभागलक्षणायामुत्कृष्टाबाधायां प्रथमाकर्षेणासंक्षेप्याद्धाचरमसमये जघन्याबाधायां द्वितीयाकर्षेणेत्येव वारद्वयं विवक्षितमनुष्याद्यायुर्बन्धमपेक्ष्य विज्ञातव्यम्। अभ्यन्तवर्ति इत्यनेनाऽऽयुर्बन्धाद्धाद्वयं जघन्याबाधा चेत्येतत्त्रयेण न्यूनः पूर्वकोटित्रिभागो ज्ञेयम्। कुतः ? उत्कृष्टाबाधाया प्रारब्धायुर्बन्धे समाप्तेऽन्तरस्य प्रारम्भात् जघन्याबाधाया अर्वागसंक्षेप्याद्धायां पुनरायुर्बन्धारम्भेऽन्तरसमाप्तेश्चेति।

"अब्भहिया" इत्यादि, स्वेन वेद्यमानायुषा समं नामतः समानस्योक्तशेषस्य तिर्यग्गत्योघादौ तिर्यगायुषो मनुष्यगतिमार्गणाभेदत्रये मनुष्यायुषः प्रस्तुतान्तरं पूर्वाणामेका कोटी **"अभ्यधिका"** इति व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिरिति न्यायेन पूर्वकोटीतृतीयभागाभ्यन्तवर्तिलक्षणेनानन्तरोक्तमानेनाभ्यधिका ज्ञेयम्। कुतः ? प्रस्तुतमनुष्याद्यायुरुदयेऽपि प्रस्तुतमार्गणानामविच्छेदेन

प्रवर्तमानतया प्रस्तुतान्तरस्य भवद्वयेन साध्यत्वात् । इह हि भवद्वयमध्ये प्रथमे पूर्वकोटिस्थितिक-भवे उत्कृष्टाबाधायामेकेनाऽऽकर्षेण तदनन्तरं च तादृग्भवेऽसंक्षेपाद्धायामेकेनाऽऽकर्षेणाऽऽयुर्बन्धो द्रष्टव्यः, उत्कृष्टान्तरस्य प्रस्तुतत्वादिति ।

"**एगिंदि अपज्जत्तेसु**" इत्यादि, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग् अपर्याप्तमनुष्यमार्गणास्थानयोः, सर्वेषु सप्तसंख्याकेष्वेकेन्द्रियभेदेषु, तथैव सर्वेषु नवसंख्याकेषु विकलेन्द्रियभेदेषु, सर्वेष्वेकोन-चत्वारिंशत्संख्याकेषु पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसकायलक्षणपञ्चकायसम्बन्धिभेदेष्वित्येवं सर्वसंख्यया सप्तपञ्चाशन्मार्गणास्थानेषु प्रत्येकं "**साउस्स**"त्ति, प्राग्वद् वेद्यमानायुषा सार्कं नामतः समानस्य तिर्यगाद्येकैकायुषः "**गुरुभवठिई देसूणतिभागसंजुआ णेयं**" त्ति अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगा-दितत्तन्मार्गणायां वेद्यमाना या उत्कृष्टा भवस्थितिः सा 'देसूणतिभागसंजुआ' त्ति व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेः स्वीयदेशोनतृतीयभागेन संयुता सती प्रस्तुतमनुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरं ज्ञेयम् । इदमप्यनन्तरोक्तनीत्या प्रथम उत्कृष्टस्थितिकभवे तदीयायुर्निष्टत्रिभागलक्षणायामुत्कृष्टा-बाधायामेकेनाकर्षेण तदनन्तरं च तादृग्भवे पुनरसंक्षेपाद्धायां जायमानाऽऽयुर्बन्धद्वयस्यान्तरापेक्षया प्रसाधनीयम् , तद्वदिहाऽपि स्वायुरुदये मार्गणाविच्छेदाभावादिति ।

अथैतास्वेवापर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिमार्गणासूक्तशेषबन्धप्रायोग्यायुषः प्रस्तुतान्तरमाह–"**इयराउस्स**" इत्यादि, तत्रेतरायुस्तेजस्कायवायुकायसर्वभेदपर्याप्तमनुष्यवर्जमार्गणासु मनुष्यायुः, अपर्याप्तमनुष्यमार्गणायां तु तिर्यगायुः, तस्य शेषायुषो देशोनोत्कृष्टभवस्थितित्रिभागः प्रस्तुतान्तरं तु प्राग्वदेवोत्कृष्टस्थितिकेऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिभवे उत्कृष्टाबाधायामाद्येनाऽऽयुर्बन्धाकर्षेण द्विती-येन च तेनाऽसंक्षेप्येष्याद्धायामित्येवमेकस्मिन् भवे द्विरायुर्बन्धापेक्षया संसाधनीयम् , अस्येतरायुष उदये मार्गणाविच्छेदभयेन भवद्वयतः साधयितुमशक्यत्वादिति । तेजस्काय-वायुकायसम्बन्धिसर्व-मार्गणास्थानेषु तु एकस्यैव तिर्यगायुषो बन्धभावात्तदीयप्रस्तुतान्तरस्योक्तत्वाच्च नास्ति 'इयराउस्स' इत्यनेन ग्राह्य किञ्चिदायुस्तदभावात्प्रस्तुतान्तरचिन्ताऽपीति ॥५४४-५४७॥

भणितं गतिमार्गणास्थानेषु तत्साम्यान्मार्गणान्तरेषु च बन्धप्रायोग्यायुषामनुत्कृष्टस्थिति-बन्धोत्कृष्टान्तरम् । अथोक्तशेषेन्द्रियकायमार्गणास्थानेषु तत् निजिगदिषुः प्रागिव तुल्यवक्तव्यो-पेता अन्यान्यमार्गणाः संगृह्याह–

मणुसाउगस्स णेयं दुपणिंदितसेसु चक्खु-सण्णीसु ।
गुरुकायठिई ऊणा सेसाणाऽयरसयपुहुत्तं ॥५४८॥
असमत्तपणिंदियतस-उरालमीसेसु खलु मुहुत्तंतो ।
दोण्हाऊणं...... ....॥

(प्रे०) "मणुसाउगस्स" त्यादि, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तत्रसभेदयोः 'असमत्तपणिंदियतस' इत्यनेन प्रस्तुतान्तरस्य वक्ष्यमाणतया तादृगपर्याप्तभेदद्वयवर्जेष्वोघ-पर्याप्तभेदभिन्नेषु चतुर्षु पञ्चेन्द्रियत्रसभेदेषु चक्षुर्दर्शनमार्गणायां संज्ञिमार्गणायां च मनुष्यायुषः प्रस्तुतान्तरं उत्कृष्टा कायस्थितिः "ऊणा" त्ति अन्तर्मुहूर्तलक्षणेनैकदेशेनोना ज्ञेयम् । तद्यथा-एकेन्द्रियादिमार्गणान्तरात्पञ्चेन्द्रियौघादिप्रस्तुतान्यतरमार्गणायां जघन्यस्थितिकतयोत्पद्य यः कश्चिज्जीवस्तद्भवतृतीयभागलक्षणायामुत्कृष्टाबाधायां वर्तमानः मन्नन्यतमस्थितिकं मनुष्यायुर्बध्नाति, तदनु तत्रोत्पद्य मनुष्येतरायुर्बध्नाति, पुनस्तत्रोत्पद्य तत्राऽपि मनुष्येतरायुरेव बध्नाति, पुनस्तत्रोत्पद्य मनुष्येतरायुरेव बध्नातीत्येवं मनुष्येतरायुर्बद्ध्वा बद्ध्वा तत्र तत्रोत्पद्योत्पद्य विपद्य विपद्य च किञ्चिदूनां पञ्चेन्द्रियादिमार्गणोत्कृष्टकायस्थितिं गमयति; पश्चाच्चोत्कृष्टकायस्थितेः प्रान्तभागेऽन्तर्मुहूर्तादिस्थितिकतिर्यक्तया वर्तमानः सन्नसंक्षेप्याद्धायां मनुष्यायुर्बध्नाति, तदनु च तत्रोत्पद्य क्रमेण मनुष्यभवस्य पञ्चेन्द्रियादिमार्गणोत्कृष्टकायस्थितेश्च सममेव समाप्तेर्मार्गणान्तरं गच्छति; तस्य प्रस्तुतमार्गणाभाविमनुष्यायुःप्रकृतिबन्धोत्कृष्टान्तरवत् पञ्चेन्द्रियादिप्रस्तुतमार्गणोत्कृष्टकायस्थितिसम्बन्धिनः प्रथमस्यान्तर्मुहूर्तस्थितिकभवस्य भागद्वयेनाऽऽयुर्बन्धाद्धाकालेन द्विचरमभवस्याऽसंक्षेप्याऽऽद्धालक्षणेन कालेन चेत्येवमन्तर्मुहूर्तचतुष्टयेन चरमभवेन च हीना पञ्चेन्द्रियादिप्रस्तुततत्तन्मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिः प्रस्तुतानुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरं लभ्यत इति ।

"सेसाणायरसयपुहत्तं" ति मनुष्यायुर्वर्जानां शेषाणां त्रयाणामायुषां तु प्रत्येकमनुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरम् 'अतरशतपृथक्त्वम्' सागरोपमशतपृथक्त्वं भवति, कथं न मनुष्यायुःप्रस्तुतान्तरवद्देशोनोत्कृष्टकायस्थितिरिति चेद्, अविच्छिन्नतया प्रवर्तमाने पञ्चेन्द्रियत्वादिभावे मानुषस्य दुर्लभत्वेन कदाचिदप्राप्तेः कदाचित्तु दूरेण प्राप्तेः, शेषदेवादिभावानां तु सुलभसुलभतरत्वेन सागरोपमशतपृथक्त्वकालेऽतिक्रान्तेऽवश्यमेव प्राप्तेश्च । अयम्भावः-पञ्चेन्द्रियेष्वपि नारकतिर्यग्देवानामेकैकविधजीवराश्यपेक्षया मनुष्यराशेः स्तोकत्वेन यथा दुर्लभं हि मानुष लोके न तथा देवत्वम् , तिर्यक्त्वादेस्तु का वार्ता; तत्तन्मनुष्यत्वादेः प्राप्तिर्हि मनुष्यादितत्तदायुर्बन्धाधीना, तत्र मनुष्यायुर्बन्धः परिपूर्णाया पञ्चेन्द्रियत्वादिमार्गणोत्कृष्टकायस्थितौ कस्यचिज्जीवस्य प्राप्यते, कस्यचित्तु न प्राप्यते; अतो भणितनीत्या यस्य दीर्घान्तरेण कायस्थितिप्रारम्भे प्रान्ते च प्राप्यते, न मध्ये, तदपेक्षया देशोनकायस्थितिस्तदभिहितम् । देवादिशेषायुर्बन्धस्तु पञ्चेन्द्रियादिमार्गणोत्कृष्टकायस्थितिं गमयतो जीवस्य सागरोपमशतपृथक्त्वकालेऽतिक्रान्ते नियमेन जायतेऽतः शेषाऽऽयुषां प्रस्तुतान्तरं सागरोपमशतपृथक्त्वमभिहितमिति । इदं हि देवाद्यायुषां प्रत्येकं न तुल्यं सम्भवति; सुलभ सुलभतर-सुलभतमदेवत्वादिभावानुसारेण सागरोपशतपृथक्त्वप्रमाणत्वेऽपि परस्परं हीनाधिक्यसम्भवादिति ।

"असमत्त" इत्यादि , अपर्याप्तपञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तत्रसौ-दारिकमिश्रकाययोगलक्षणासु

तिसृषु मार्गणासु खलु बन्धप्रायोग्ययोर्द्वयोरायुषोरनुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरम् "मुहुत्तंतो" त्ति अन्तर्मुहूर्तं भवति, न त्वधिकम्। कथम्? प्रस्तुतमार्गणाकायस्थितेरन्तर्मुहूर्ततोऽनधिकत्वादिति।

उक्तमिन्द्रियकायमार्गणाशेषभेदेषु तत्साम्याच्चक्षुर्दर्शन-संज्ञिमार्गणयोरौदारिकमिश्रकाययोगे च प्रस्तुतमायुरनुत्कृष्टस्थितिबन्धैकजीवाश्रयोत्कृष्टान्तरम्। सम्प्रति योगमार्गणाभेदेषु तद्वक्तव्यं, तत्र मनोवचनयोगभेदेषु वैक्रियकाययोगे आहारक तन्मिश्रयोगयोश्च प्राक्सर्वथा निषिद्धमिति शेषयोः काययोगौघौदारिककाययोगभेदयोस्तदाह—

·······उरले गुरुभूभवठिइतिभागंतो ॥५४९॥
काये ऊणगुरुठिई मणुमाउस्स तिरियाउगस्स भवे।
जेट्ठा पुहविभवठिई देसूणतिभागअब्भहिया ॥५५०॥

(प्रे०) "उरले" इत्यादि, 'दोण्हाऊणं' इत्यनुवर्तते, तथा चौदारिककाययोगमार्गणायां द्वयोस्तिर्यग्-मनुष्यायुषोः प्रत्येकं प्रस्तुतान्तरं 'भुवः' पृथिवीकायिकस्योत्कृष्टभवस्थितिस्स्वीयत्रिभागाभ्यन्तर्वर्तिनी भवति। तत्र पृथिवीकायिकग्रहणं निरन्तरौदारिककाययोगिनां मध्ये तस्यैवोत्कृष्टस्थितिकत्वात्। उत्कृष्टभवस्थितित्रिभागग्रहणं तूत्कृष्टाबाधायां जघन्याबाधायां चैकस्मिन् भवे आकर्षद्वयेन द्विरायुर्बन्धग्रहणार्थम्। तदभ्यन्तर्वर्तित्वं तु जघन्याबाधाया आयुर्बन्धाद्धाद्वयस्य च प्रस्तुतान्तरबहिस्त्वात्। विशेषतस्त्वायुर्मूलप्रकृत्यनुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरवद् विभावनीयमविशेषादिति।

"काये" इत्यादि, काययोगौघमार्गणायां मनुष्यायुषोऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धस्योत्कृष्टमेकजीवाश्रयमन्तरम् "ऊणगुरुठिई" त्ति प्रागिव नानाऽन्तर्मुहूर्तनिष्पन्नैकान्तर्मुहूर्तेनोना कायस्थितिर्ज्ञेयम्। काययोगोत्कृष्टकायस्थितिस्त्वसंख्येयपुद्गलपरावर्तमाना प्रागभिहितेति। "तिरियाउगस्स" त्ति प्रस्तुतमार्गणायामेव तिर्यगायुष्कस्य "भवे" त्ति प्रस्तुतान्तरं भवेत्, कियदित्याह–"जेट्ठा" इत्यादि, पृथिवीकायस्य या द्वाविंशतिवर्षसहस्राण्युत्कृष्टा भवस्थितिः सा "देसूणतिभागअब्भहिया" त्ति स्वकीयेन देशोनतृतीयभागलक्षणेनैकदेशेनाऽभ्यधिका। तत्र पृथ्वीकायोत्कृष्टभवस्थितेर्ग्रहणमुक्तनीत्या, तृतीयभागेनाभ्यधिकता तूत्कृष्टस्थितिकभवद्वयेन प्रस्तुतान्तरस्य साध्यत्वात्, तत्राऽपि देशोनता पुनस्ततोऽप्यायुर्बन्धाद्धाया असंक्षेप्याद्धायाश्च वर्ज्यत्वात्। विशेषतस्तु आयुष्कमूलप्रकृतिस्थितिबन्धैकजीवाश्रयोत्कृष्टान्तरवद्विभाव्यमिति ॥५४९-५५०॥

उक्तं योगमार्गणास्थानेषु बन्धप्रायोग्यायुष्काऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरम्। सम्प्रति क्रमप्राप्तवेदमार्गणास्थानेषु तदाह—

थी-पुरिसेसु तिभागो देसूणो होइ पुव्वकोडीए।
णिरयाउगस्स दोण्हं देसूणा सगुरुकायठिई ॥५५१॥

देवाउगस्स थीए कोडिपुहुत्तेण होइ पुव्वाणं ।
अहियाऽडवण्णपलिआ पुरिसे अहियुदहितेत्तीसा ॥५५२॥
णपुमे गुरुकायठिई ऊणा दोण्ह जलही सयपुहुत्तं ।
तिरियाउस्स सुराउस्स पुव्वकोडीअ तंसंतो ॥५५३॥

(प्रे०) **"थीपुरिसेसु"** इत्यादि, स्त्रीवेद-पुरुषवेदमार्गणाद्वये नरकायुष्कस्य प्रस्तुतान्तरं पूर्वकोटयास्त्रिभागो देशोनो भवति, पूर्वकोटिस्थितिकभवे उत्कृष्टाबाधायामसंक्षेप्याद्धायां चेत्येवमाकर्षद्वयेन द्विर्निरयायुर्बध्नतस्तल्लाभादिति ।**"दोण्हं"**ति नरकायुषः प्रस्तुतान्तरस्याऽनुपदमुक्तत्वाद् देवायुषस्तु तस्याऽनुपदं वक्ष्यमाणत्वाच्च तद्द्वयवर्जयोस्तिर्यग्मनुष्यायुषोः प्रत्येकं प्रस्तुतानुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरम् **"देसूणा सगगुरुकायठिई"** त्ति अन्तर्मुहूर्तादिलक्षणेनैकदेशेनोना स्त्रीवेदादिमार्गणायाः स्वका स्वका गुर्वी कायस्थितिर्भवति, प्रस्तुतमार्गणोत्कृष्टकायस्थिति यावदनेकशः प्रस्तुतैकैकायुरबद्ध्वा देवायायुर्बद्ध्वा तत्रोत्पत्तेरपि प्रस्तुततत्तन्मार्गणायामवस्थानस्य सम्भवादिति ।

"देवाउगस्स" इत्यादि, **"थीए"** त्ति स्त्रीवेदमार्गणायां देवायुषः प्रस्तुतान्तरं पुनः पूर्वाणां 'पुव्वस्स उ परिमाण' मित्यादिनाऽन्यत्रोक्तमानानां कोटिपृथक्त्वेनाधिकानि **"अडवण्णपलिआ"** त्ति अष्टपञ्चाशत्पल्योपमानि भवति, स्त्रीवेदोत्कृष्टकायस्थितेः पल्योपमशतपृथक्त्वप्रमाणत्वेऽपि देवभवैः समं जायमानस्य तिर्यग्भवसंवेधस्य प्रस्तुतान्तरबाधकतया पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्पर्याप्तमनुष्यभवसंवेधाधीनस्य प्रस्तुतान्तरस्यैतावन्मात्रत्वसम्भवात् । **एतदुक्तं भवति**–स्त्रीवेदोत्कृष्टकायस्थितिर्हि पर्याप्ततिर्यग्मनुष्यभवानां देवभवैः समं जायमानभवसंवेधप्रधाना, न पुनर्नरकभवैः सममपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्-ऽपर्याप्तमनुष्यभवैर्विकलेन्द्रियैकेन्द्रियादिभवैः समं वा, तेषां नारकादीनां नपुंसकवेदित्वात् । देवभवैः समं जायमानभवसंवेधो हि प्रस्तुतान्तरस्योक्ताधिकप्रमाणत्वे बाधकः, कथम् ? देवतयोत्पत्तेर्देवायुर्बन्धाधीनत्वात् सकृद्देवायुर्बद्ध्वा पुनस्तद्बन्धे तु प्रस्तुतान्तरस्य विच्छेदाच्च। **तथाहि**–प्रस्तुतमार्गणाप्रविष्टो यः कश्चित्स्त्रीवेदी मानुष्यादिजीवः पूर्वकोटित्रिभागलक्षणायामुत्कृष्टाबाधायामपरिगृहीतदेवीतया परिभोग्यं पञ्चपञ्चाशत्पल्योपमप्रमाणोत्कृष्टस्थितिकदेवायुर्बध्नाति, तद्बन्धसमाप्तेश्च प्रस्तुतान्तरं प्रारभ्यते, तदनु चोक्तदेवायुरुदये क्रमेण तत्र देवीतयोत्पद्यासौ भवक्षयेण मानुष्यादितयोत्पद्यते, तदनु च 'सत्तट्ठभवा उ उक्कोसा' इति वचनात् कतिपयान् पूर्वकोटिस्थितिकान् मानुषी-तिरश्चीभवान् करोति न पुनर्मध्येऽसंख्येयवर्षस्थितिकान् , संख्येयवर्षस्थितिकान् देवभवान् वा, तथा करणे नियमतो देवायुर्बन्धभावेन प्रस्तुतदीर्घान्तरस्याऽप्राप्तेः । ततश्च त्रिपल्योपमस्थितिकस्त्रीवेदियुग्मी भूत्वाऽसंक्षेप्याद्धायां यदा देवायुर्बन्धं प्रारभते तदा पूर्वोक्तदेवीभवात्प्राग्भवे प्रारब्धं प्रस्तुतान्तरं निष्ठां याति; इत्येवं प्रस्तुतान्तरं मानुषी-तिरश्ची-

नानाभवसंबन्धिपूर्वकोटिपृथक्त्वकालेनाधिकानि उत्कृष्टस्थितिकदेवीभवयुग्मिभवसम्बन्ध्यष्टपञ्चा-शत्पल्योपमानि भवतीति ।

"**पुरिसे**" इत्यादि '**देवाउगस्से**'त्येतदिहापि संबध्यते, तथाच पुरुषवेदे उक्तशेषस्य देवायुष्कस्य प्रस्तुतान्तरं "**अहियुदहितेत्तीसा**"त्ति अभ्यधिकास्त्रयस्त्रिंशदुदधयः–सागरोपमाणि भवति, इद हि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिकदेवभवात्पूर्वोत्तरभवसम्बन्धिनः समधिकपूर्वकोटिकालस्य प्रस्तुतान्तरप्रविष्टतया तावता कालेनाऽभ्यधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि विज्ञातव्यमिति ।

"**णपुमे**" त्ति नपुंसकवेदे "**गुरुकायठिई ऊणा दोण्ह**" त्ति तिर्यग्देवायुषोर्वक्ष्यमाणत्वेन द्वयोर्नरकमनुष्यायुषोः प्रत्येकमनुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरं नपुंसकवेदमार्गणाया असंख्येयपुद्गलपरावर्तमाना उत्कृष्टाकायस्थितिर्देशोना भवति, सुगमम् , प्रागिव नपुंसकवेदोत्कृष्टकायस्थितिमध्यात् तिर्यग्भवादिसम्बन्धिनः स्थितिबन्धाद्धाऽबाधाद्धादिलक्षणकियत्कालस्य प्रस्तुतान्तरप्रवेशासम्भवेन यथासम्भवं वर्जनीयत्वादिति-।"**जलही सयपुहुत्तं तिरियाउगस्स**" त्ति प्रस्तुतमार्गणायामेव तिर्यगायुष्कस्यानुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरं सागरोपमाणां शतपृथक्त्वं भवति; प्रस्तुतमार्गणायामविच्छिन्नतया प्रवर्तमानायां सत्यां तिर्यग्भवान् विहाय शेषमनुष्यनारकभवानां संबंधस्योत्कर्षतः सागरोपमशतपृथक्त्वमात्रत्वादिति ।

"**सुराउस्स पुव्वकोडीअ तंसंतो**" त्ति उक्तशेषस्य सुरायुषस्तु प्रस्तुतान्तरं पूर्वकोट्याः 'पुव्वस्स उ परिमाण' मित्यने तत्र तत्राभिहितमानायाः 'त्र्यंशान्तः'- तृतीयांशस्याऽभ्यन्तर्वर्ति भवति, अन्तर्मुहूर्तोनपूर्वकोटित्रिभागप्रमाणं भवतीति भावः । कथम् ? पूर्वकोटिस्थितिके मनुष्यभवे तिर्यग्भवे चोत्कृष्टाबाधायामसंक्षेप्याद्धायां च द्विः सुरायुर्बध्नतस्तल्लाभादिति ॥५५१-५५३॥

अथ मतिज्ञानादिमार्गणास्वाह—

णाणतिगे ओहिम्मि य सम्मत्ते वेअगे य विण्णेयं ।
अब्भहिया तेत्तीसा जलहीणं णरसुराऊणं ॥५५४॥
मणणाण-संजमेसु समइअ-छेअ-परिहार-देसेसु ।
देवाउस्स तिभागो देसूणो पुव्वकोडीए ॥५५५॥
अण्णाणदुगे अजए अचक्खु-भविये-यरेसु मिच्छत्ते ।
ओघव्व जाणियव्वं णरग-तिरिय-नर-सुराऊणं ॥५५६॥
देसूणपुव्वकोडितिभागो आउचउगस्स विब्भंगे ।
अण्णे दोण्ह छमासा णिरय-सुराऊण णत्थित्ति ॥५५७॥

(प्रे०) "णाणतिगे" इत्यादि, मनःपर्यवज्ञानमार्गणायामनन्तरं वक्ष्यमाणत्वात् केवलज्ञानमार्गणायामायुर्बन्धस्यैवाभावाच्च तद्द्वयवर्जानां मतिज्ञानादीनां त्रयाणां 'ज्ञानानां'–ज्ञानमार्गणास्थानानां त्रिके, अवधिदर्शने, चः समुच्चये, सम्यक्त्वौघे, "वेअगे" त्ति क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणास्थाने, चः प्राग्वत्, इत्येवं समुच्चितेसु षण्मार्गणास्थानेषु विज्ञेयम्, कस्य कियदित्याह–"अब्भहिया" इत्यादि, नरसुरायुषोरेकैकस्याऽभ्यधिकास्त्रयस्त्रिंशत् "जलधयः" सागरोपमाणि, अनुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरमिति तु गम्यते । तत्राऽभ्यधिकता तु मनुष्यायुषि किञ्चिदूनषण्मासाभ्यधिकपूर्वकोटया, देवायुषि तु किञ्चिदूनपूर्वकोटीत्रिभागाभ्यधिकपूर्वकोटया । कथम् ? त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिकदेवभवान्तरितयोः पूर्वकोटिस्थितिकभवयोः क्रमेणोत्कृष्टाबाधायामसंक्षेप्याद्धायामेवैकैकेनाऽऽकर्षेण देवायुर्बध्नतो देवायुषः प्रस्तुतोत्कृष्टान्तरस्य लाभात्, पूर्वकोटिस्थितिकमनुष्यभवान्तरितयोरुत्कृष्टस्थितिकदेवभवयोर्यथासंख्यं षण्मासातिमिकायामुत्कृष्टाबाधायामसंक्षेप्याद्धालक्षणजघन्याबाधायामेकैकाकर्षेण मनुष्याऽऽयुर्बध्नतः प्रस्तुतमार्गणास्थजीवस्य मनुष्यायुषः प्रस्तुतोत्कृष्टान्तरस्य लाभाच्चेति ।

"मणणाण" इत्यादि, मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ सामायिकसंयम-छेदोपस्थापनसंयम-परिहारविशुद्धिकसंयम-देशसंयमलक्षणेषु षट्सु मार्गणास्थानेषु तत्र बन्धप्रायोग्यस्य देवायुषोऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं पूर्वकोटेस्तृतीयभागो "देसूणो" त्तिऽन्तर्मुहूर्तलक्षणनैकदेशेनोनो भवति, इदं हि सर्वथा प्रस्तुतमार्गणादर्शिताऽऽयुर्मूलप्रकृत्यनुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरवल्लभ्यत इति ।

"अण्णाणदुगे" इत्यादि, मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसयमा-ऽचक्षुर्दर्शन-भव्या-ऽभव्य-मिथ्यात्वरूपसप्तमार्गणासु प्रत्येकमनुत्कृष्टस्थितिबन्धस्योत्कृष्टमेकजीवाश्रितमन्तरमोघवदसङ्ख्येयाः पुद्गलपरावर्ता नरक-नर-देवायूरूपाणां तिसृणामायुःप्रकृतीनां तथा सागरोपमशतपृथक्त्व तिर्यगायुषो भवति ।

"देसूणपुव्वे"त्यादि, विभङ्गज्ञानमार्गणायां पुनश्चतसृणामप्यायुःप्रकृतीनां प्रत्येक प्रस्तुतान्तरं देशोनपूर्वकोटित्रिभागमानं भवति, मनुष्यतिरश्चामपर्याप्तावस्थायां विभङ्गज्ञानस्याऽनभिमतत्वेन मनुष्यभवे तिर्यग्भवे वोत्कृष्टायां पूर्वकोटित्रिभागलक्षणायामसंक्षेप्याद्धालक्षणायां जघन्यायामबाधाया चाऽऽकर्षद्वयेन द्विस्तत्तन्नरकाद्यायुर्बध्नतस्तल्लाभादिति ।

अत्रैव ये आचार्यास्तिर्यग्मनुष्याणामन्तर्मुहूर्तस्थितिकमेवोत्कृष्टतो विभङ्गज्ञानं मन्यन्ते तन्मते प्रस्तुतान्तरं दर्शयन्नाह–"अण्णे" इत्यादि, सुगमम् ; नवरं "दोण्ह" ति तिर्यग्मनुष्यायुषोः प्रत्येकम् । उपपत्तिरपि सुगमा, देव-नारकजीवापेक्षयैव प्रस्तुतान्तरोत्पत्तेः, तेषा चोत्कृष्टाया अप्यबाधायाः षण्मासप्रमाणत्वेन तिर्यग्-मनुष्यायुषोरेव बन्धकत्वेन चोत्कृष्टाबाधायामसंक्षेप्याद्धाया चाऽऽकर्षद्वयेनाऽऽयुर्बध्नतो यथोक्तान्तरस्यैव लाभादिति । तन्मते शेषायुर्द्वयानुत्कृष्टस्थितिबन्धस्योत्कृष्टान्तरप्रतिषेधस्तु तस्य जघन्यान्तरप्रतिषेधभावनयैव गतार्थ इति ॥५५४-५५७॥

देसूणा छम्मासा भवे णराउस्स सुक्क-खइएसु ।
खइए कोडितिभागो पुव्वाणूणो सुराउस्स ॥५५८॥
आहारगम्मि णेयं णिरय-णर-सुराउगाण देसूणा ।
उक्कोसा कायठिई तिरियाउस्सऽत्थि ओघव्व ॥५५९॥

(प्रे०) "देसूणा" इत्यादि, शुक्ललेश्याक्षायिकसम्यक्त्वमार्गणयोरेकैकस्यां मनुष्यायुषोऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धस्योत्कृष्टमेकजीवाश्रितमन्तरं देशोनषण्मासा भवेत् ; शुक्ललेश्यायां देवानामेव तथा क्षायिकसम्यक्त्वे देवानां नारकाणां च मनुष्यायुःप्रकृतिबन्धस्वामित्वात् तेषां चोत्कृष्टाया अप्यबाधायाः षण्मासप्रमाणत्वेन प्रस्तुतान्तरस्याप्यनन्तरोक्तनीत्या देशोनषण्मासप्रमाणस्य लाभात् । "खइए" त्ति क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां देवायुषः प्रस्तुतान्तरं तु देशोनपूर्वकोटित्रिभागमानं भवति; तिर्यग्मनुष्याणामेव देवायुःप्रकृतिबन्धस्वामित्वात् तेषां च क्षायिकसम्यग्दृशामनन्तरभवे देवतयैवोत्पत्तेः पूर्वकोटिस्थितिकमनुष्यभवे प्राग्वदाकर्षद्वयेन द्विरायुर्बध्नतां यथोक्तान्तरलाभात् । इह तिर्यगापेक्षया देशोनषण्मासप्रमाणमेवान्तरमायाति, नाधिकमिति मनुष्यस्य ग्रहणं कृतमिति । शुक्ललेश्यायां त्वेतन्न भवत्येव, शुक्ललेश्याकमनुष्याणां सकृदायुर्बन्धे जातेऽन्तर्मुहूर्तमध्येऽवश्यं लेश्यायाः परावर्तनेन पुनस्तद्बन्धात्प्रागेव मार्गणाविच्छेदभावादिति ।

"आहारगम्मि" इत्यादि, आहारकमार्गणायां निरय-नर-सुरायुषामेकैकस्य प्रस्तुतान्तरं देशोना मार्गणैकजीवाश्रयोत्कृष्टकायस्थितिर्भवति, यत आहारकमार्गणाया एकजीवाश्रयोत्कृष्टकायस्थितिरङ्गुलाऽसंख्येयभागक्षेत्रगताकाशप्रदेशनिर्लेपनलक्षणाऽसंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणीमाना, प्रस्तुतप्रकृतित्रयानुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरन्त्वोघतोऽसंख्येयपुद्गलपरावर्तमानम् , तथाच यः कश्चिज् जीव आहारकमार्गणोत्कृष्टकायस्थित्याद्यन्तर्मुहूर्तमतिक्रम्य जघन्यस्थितिकपर्याप्ततिर्यग्भवस्य चरमत्रिभागाद्यसमयप्रभृतिकायामायुर्बन्धाद्धायां नरकायुर्देवायुर्वा बद्ध्वा पश्चात्तादृगायुरबन्धेनैवाऽसङ्क्षेप्याद्धया न्यूनामाहारकमार्गणोत्कृष्टकायस्थितिं निर्गमयति, तस्याश्चोत्कृष्टकायस्थितेश्चरमे भवे वर्तमानः सन् पुनर्नरकायुर्देवायुर्वा पूर्ववद् बध्नाति, न पुनस्तदर्वाक् , तथा च तेन नरकायुषो देवायुषो वा प्रस्तुतान्तरं यथोक्तं देशोनाऽऽहारकमार्गणोत्कृष्टकायस्थितिप्रमाणं लभ्यते, मनुष्यायुषः प्रस्तुतान्तरमप्यनया नीत्यैव प्राप्यते केवलं किञ्चिद् बृहत् । कथम् ? प्रथमायुर्बन्धस्य जघन्यस्थितिकाऽपर्याप्तभवचरमतृतीयभागप्रारम्भे लाभादिति ।

"तिरियाउस्स" त्ति आहारकमार्गणायामेव शेषस्य तिर्यगायुषोऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरमोघवत् सागरोपमशतपृथक्त्वं भवति, सुगमम् , तिर्यगायुष्कौघिकानुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरापेक्षया अस्या मार्गणाया उत्कृष्टकायस्थितेर्दीर्घत्वात् , अन्तराऽन्तरा तिर्यगायुरबन्धेन तस्या उत्कृष्टकायस्थितेः पूरयितुमशक्यत्वाच्चेति ।।५५८-५५९।।

गतं सर्वासामुत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टानुत्कृष्टभेदभिन्नस्थितेरेकजीवाश्रयं जघन्यमुत्कृष्टं च द्विविधमपि बन्धान्तरम्। अथ जघन्याऽजघन्यभेदभिन्नस्थितेस्तदभिधातव्यम्, तत्राऽऽदौ तावदोघतः प्रतिपादयन् गाथाचतुष्टयमाह—

णो अंतरं ठिईए अत्थि जहण्णाअ खवगपयडीणं।
णिरय-सुराऊण लहुं अब्भहिया दस सहस्ससमा ॥५६०॥
सेसाऊण खणूणो खुड्डभवोंतोमुहुत्तमण्णेसिं।
तिरियाउस्स गुरुमहियसमत्ततसजेट्ठकायठिई ॥५६१॥
णिरय-णर-सुराऊणं तह चउणीआइ-विउवछक्काणं।
होइ असंखपरट्टा सेसाण असंखिया लोगा ॥५६२॥
अजहण्णाअ ठिईएऽणुक्कोसठिइव्व अंतरं दुविहं।
सव्वेसिं पयडीणं वीसजुअसयस्स बोद्धव्वं ॥५६३॥

(प्रे०) "णो अंतरं" इत्यादि, 'एआओ खवगपयडीओ' इत्यादिना क्षपकप्रकृतितया संज्ञितानां ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणचतुष्क-सातवेदनीय-संज्वलनचतुष्क-पुंवेदा-ऽऽहारकद्विक-जिननाम-यशःकीर्त्यु-च्चैर्गोत्रा-ऽन्तरायपञ्चकलक्षणानां यासां जघन्यस्थितिबन्धस्वामी ओघतः क्षपको भवति तासां पञ्चविंशतेः प्रकृतीनां जघन्यस्थितेरेकजीवाश्रयं बन्धान्तरमेव न भवति। कुतः? तासां जघन्यस्थितेः क्षपकस्वामिकतया समस्तेऽपि भवचक्रे कस्याऽपि जीवस्य सकृदेव तज्जघन्यस्थितिबन्धसम्भवात्; अन्तरस्य तु विवक्षितस्थितिबन्धद्वयाधीनत्वाच्चेति। "णिरये"त्यादि, नरकसुरायुषोः प्रत्येकं "लहुं" ति प्रस्तुतं जघन्यस्थितिबन्धजघन्यान्तरमभ्यधिका दश सहस्रसमा जायते। समा इति वर्षाणि। तच्च जघन्यस्थितिकनारक-देवान्यतरभवप्राधान्याद्विज्ञेयम्, तथाचाभ्यधिकता नरकदेवान्यतरभवस्य पूर्वोत्तरभवसम्बन्धिनाऽन्तर्मुहूर्तद्वयेन स्यात्, पूर्वभवे जघन्याबाधायां जघन्यस्य दशसहस्रवर्षस्थितिकस्याऽयुषो बन्धानन्तरमुत्तरभवेऽपि तथाभावे जघन्यायुर्बन्धान्तरलाभात्। तदेवं जघन्यस्थितिकानां नारकाणां देवानां वा यावज्जघन्यस्थितिकं पारभविकमायुर्बन्धप्रायोग्यं तावदेकेन समयेन हीनं सत्प्रस्तुतेऽभ्यधिकतया ज्ञेयमिति।

'सेसाऊणे" त्यादि, बहुवचनं प्राकृतत्वात्तथाच शेषयोस्तिर्यग्मनुष्यायुषोः प्रत्येकं पुनः प्रस्तुतान्तरं समयोनः 'क्षुल्लकभवः'-षट्पञ्चाशदभ्यधिकशतद्वयाऽऽवलिकामानः स्यात्। इदमप्यनन्तरोक्तनीत्यैव विभावनीयम्, केवलमिह तिरश्चां तिर्यक्तया एवं मनुष्याणां मनुष्यतयाप्युत्पत्तेर्निरन्तरयोः पूर्वोत्तरयोर्जघन्यस्थितिकयोस्तिर्यग्भवयोर्मनुष्यभवयोर्वा जघन्याबाधायां जघन्यस्थितिकायु-

र्बन्धं प्रारभमाणं जीवमपेक्ष्योपपाद्यम् । विशेषतस्तु पूर्वं **मूलस्थितिबन्धद्वितीयाधिकारैक-जीवाश्रयान्तरद्वारप्रेमप्रभायाम**पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिमार्गणादर्शिताऽऽयुर्जघन्यस्थितिबन्ध-जघन्याऽन्तरभावनावद्विभावनीयमिति ।

अथोक्तशेषप्रकृतीनां प्रस्तुतमाह–"**अंतोमुहुत्तमण्णेसिं**" ति पञ्चविंशतीः क्षपकप्रकृती-रायुश्चतुष्टयं च विहाय शेषाणां निद्रापञ्चकादीनामेकनवतिप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्य जघन्यान्तर-मन्तमुहूर्तमात्रं ज्ञेयम् । कुतः ? क्षपकाणां तदीयजघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वाभावाज्जघन्यादिविव-क्षितैकस्थितिबन्धस्थानात्मकस्थितिबन्धप्रायोग्याणामध्यवसायानां पुनरन्तर्मुहूर्तादर्वागप्राप्तेश्च । **अय-म्भावः**–ओघतः क्षपकस्वामिकः कस्या अपि प्रकृतेर्जघन्यः स्थितिबन्धः समस्तेऽपि भवचक्रे केना-ऽपि एकजीवेन सकृदेव लभ्यते, तथा च तद्द्वित्वाधीनं तदीयान्तरमपि नाऽवाप्यते यथाऽनन्त-रोक्तक्षपकस्वामिकजघन्यस्थितिबन्धानां मतिज्ञानावरणादिप्रकृतीनाम् ; निद्रापञ्चकादिशेषप्रकृतय-स्तु न तादृश्यः, तथाच तासां प्रस्तुतान्तरं लभ्यते, किञ्च तासां जघन्यस्थितिबन्ध एकस्थितिबन्ध-स्थानात्मकः, स च स्वप्रायोग्यविवक्षिताऽसंख्यलोकाकाशप्रदेशप्रमिताध्यवसायाधीनः, ते चाऽध्यव-साया एकदाऽनुभूता निवृत्ताश्च सन्तो जघन्यतोऽन्तमुहूर्तादूर्ध्वमेव पुनः सम्पद्यन्ते, न त्वर्वाग्, तथा च तदधीनोऽसौ शेषप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धोऽप्येकदा निवृत्तः सन् पुनरन्तमुहूर्तादर्वाग् न भव-त्येव; इत्येवं तस्याऽक्षपकस्वामिकत्वहेतुकं लभ्यमानं प्रस्तुतान्तरमन्तमुहूर्तावधौ पर्यवस्यतीति । इत्थं मार्गणास्थानेषु वक्ष्यमाणाऽन्तमुहूर्तमात्रजघन्यस्थितिबन्धजघन्यान्तरस्योपपत्तिः कार्येति ।

उक्तं जघन्यस्थितिबन्धस्य जघन्यान्तरं सम्भवत्सर्वप्रकृतीनामोघतः, अथतदेवोत्कृष्टतः प्राह–'**तिरियाउस्स**" इत्यादि, तिर्यगायुषः 'गुरु' उत्कृष्टं प्रस्तुतं जघन्यस्थितिबन्धान्तरं साधिका पर्याप्तत्रसकायस्यैकजीवाश्रया 'ज्येष्ठा' उत्कृष्टा कायस्थितिर्भवति । कुतः ? यतस्तिर्यगा-युषो जघन्यस्थितिरपर्याप्ततिर्यक्त्वे वेद्या, तथा च साऽपर्याप्ततिर्यक्प्रायोग्याऽऽयुर्बध्नता जीवेनैव बध्यते, न पुनः पर्याप्तप्रायोग्याऽऽयुर्बध्नता; इत्थं च पर्याप्तत्रसकायोत्कृष्टकायस्थितिं निर्वहतो जीवस्य पर्याप्तप्रायोग्यायुर्बन्धस्यैवावश्यकत्वेन न भवति तस्य तिर्यगायुषो जघन्यस्थितेर्बन्धः, किञ्च पर्याप्तस्थावर-प्रायोग्यमायुर्बध्नतोऽपर्याप्तत्रसस्थावरप्रायोग्यमजघन्यस्थितिकमायुर्बध्नतश्चापि न भवति तादृग्जघन्य-स्थितेर्बन्धः; तथाच तादृक्त्रिविधभवानां परस्परसंवेधजन्ये कियत्कालेऽपि न लभ्यते तिर्यगायुषो जघन्यस्थितेर्बन्धः, अत एव मूले प्रस्तुतान्तरं पर्याप्तत्रसकायोत्कृष्टकायस्थितिमनुक्त्वा तत्समधिक-पर्याप्तोत्कृष्टकायस्थितिरभिहितम् । इत्येवं प्रस्तुतान्तरं यथोक्तत्रिविधभवपरस्परसंवेधजन्यकियत्का-लाभ्यधिकपर्याप्तत्रसोत्कृष्टकायस्थितिप्रमाणमवगन्तव्यम् । पर्याप्तत्रसकायोत्कृष्टकायस्थितिस्तु प्राग् **मूलस्थितिबन्धद्वितीयाधिकारैकजीवाश्रयकालद्वारे**–'पज्जत्तपणिंदि-तस-पुरिस-सण्णीणायरसय-पुहुत्तं' ॥२६४॥ इत्यादिनाऽभिहितमाना **जीवसमासा**भिप्रायेण सागरोपमसहस्रद्वयमाना वा

विज्ञेया । इह पर्याप्तस्थावरत्वं विहाय पर्याप्तत्रसत्वाधीनपर्याप्तत्रसकायस्थितेर्ग्रहणं सामान्येन पर्याप्तोत्कृष्टकायस्थितेरपि त्रसत्वापेक्षया लाभात् तत्राऽपि निरयदेवभवैः समं मनुष्यादिभवसंवेधप्राधान्येन दीर्घाया उत्पत्तेः । एतद्धि प्रागुक्तमूलस्थितिबन्धग्रन्थे भावितमेव, विशेषतो जिज्ञासुना मूलस्थितिबन्धद्वितीयाधिकारैकजीवाश्रयान्तरद्वारगतस्य 'कोडिपुहुत्त पुव्वा' इत्यादि(२४७-२४८)गाथाद्वयस्य प्रेमप्रभाऽवलोकनीयेति ।

"**णिरय-णरे**" त्यादि, नरकायुः, मनुष्यायुः, देवायुः, नीचैर्गोत्र-तिर्यग्द्विको-द्योतनामानि देवद्विकनरकद्विकवैक्रियद्विकलक्षणं वैक्रियषट्कं चेत्येवं सर्वसंख्यया त्रयोदशप्रकृतीनां प्रत्येकं "**होइ असंखपरट्टा**" त्ति जघन्यस्थितिबन्धस्यैकजीवाश्रयमुत्कृष्टमन्तरमसंख्येयाः पुद्गलपरावर्ता भवति । कुतः ? वनस्पतिकायाद्युत्कृष्टकायस्थितिं निर्वहतो जीवस्य तावत्कालं नरकाद्यायुःप्रकृतीनां तेजस्कायवायुकायस्वामिकस्य नीचैर्गोत्रादिजघन्यस्थितिबन्धस्याऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्वामिकस्य देवद्विकादिजघन्यस्थितिबन्धस्य चाऽभावात् । अत एवान्तरमिदमसंख्येयपुद्गलपरावर्तप्रमाणवनस्पतिकायोत्कृष्टकायस्थित्यपेक्षयाऽपि दीर्घमवसातव्यमिति ।

"**सेसाण**" इत्यादि, अनन्तरोक्तास्तिर्यगायुरादिचतुर्दशप्रकृतीः पञ्चविंशतिक्षपकप्रकृतीश्च विहाय शेषाणां निद्रापञ्चकादीनामेकाशीतिप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमसंख्येया लोका भवति, पर्याप्तबादरैकेन्द्रियाणां शेषप्रकृतिजघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वेनाऽसंख्यलोकप्रमाणायां सूक्ष्मैकेन्द्रियाद्यवस्थायां तद्बन्धाभावादिति ।

तदेवं प्रतिपादितं सर्वासामुत्तरप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्य जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नं द्विविधमप्यन्तरं यथासम्भवमोघतः । एतर्हि अजघन्यस्थितिबन्धस्य तदोघतः प्रतिपिपादयिषुरनुत्कृष्टस्थितिबन्धौघिकान्तरेण सर्वसाम्यादतिदिशन्नाह–"**अजहण्णाअ**"इत्यादि, सर्वासां विंशतियुतशतस्य प्रकृतीनामजघन्यायाः स्थितेर्द्विविधं जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नमन्तरं प्रस्तुतम् "**ऽणुक्कोसठिइव्व**" त्ति अत्रैवाऽन्तरद्वारे प्राग्–'आहारदुगस्स तह' इत्यादिगाथापञ्चकेनाऽभिहितमान विज्ञेयम् । **तद्यथा**–चतसृणामायुःप्रकृतीनामाहारकद्विकस्य चाजघन्यस्थितिबन्धस्य जघन्यमन्तरमन्तर्मुहूर्तम् । विहायैतत्प्रकृतिषट्कं शेषाणां मतिज्ञानावरणादिचतुर्दशोत्तरशतप्रकृतीनां तत्समयमात्रम् । उत्कृष्टं पुनर्मिथ्यात्व–स्त्यानर्द्धित्रिका-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्क-स्त्रीवेद-नपुंसकवेद-प्रथमवर्जसंहननपञ्चक-प्रथमवर्जसंस्थानपञ्चक-दुर्भगत्रिका-ऽप्रशस्तविहायोगति-नीचैर्गोत्रलक्षणानां पञ्चविंशतेः प्रकृतीनां साधिकद्वात्रिंशदभ्यधिकसागरोपमशतम् । प्रत्याख्यानावरणा-ऽप्रत्याख्यानावरणक्रोधादिभेदभिन्नकषायाष्टकस्य देशोनपूर्वकोटी । नरकत्रिक-देवत्रिक-वैक्रियद्विकमनुष्यायुर्लक्षणानां नवानां प्रकृतीनामसंख्येयाः पुद्गलपरावर्ताः । तिर्यगायुषः सागरोपमशतपृथक्त्वम् । तिर्यग्द्विकोद्योतयोः सातिरेकपल्योपमचतुष्टयेनाऽभ्यधिकं त्रिषष्टियुक्तसागरोपमशतम् । मनुष्यद्विको-च्चैर्गोत्रयोरसंख्येया

लोकाः । औदारिकद्विक-वज्रर्षभनाराचसंहननयोरन्तर्मुहूर्तोनपूर्वकोटित्रिभागेनाभ्यधिकं पल्योपमत्रिकम् । जातिचतुष्क-स्थावरचतुष्का-ऽऽतपनाम्नां सातिरेकपल्योपमचतुष्टयेनाभ्यधिकं पञ्चाशीतियुतसागरोपमशतम् । आहारकद्विकस्य तदजघन्यस्थितिबन्धस्यान्तरमुत्कृष्टतो देशोनापार्धपुद्गलपरावर्तः । शेषाणां पञ्चज्ञानावरण-चतुर्दर्शनावरण-निद्राद्विक-संज्वलचतुष्टय-भय-जुगुप्सामोहनीय-वर्णचतुष्क-तैजस-कार्मणशरीरा-ऽगुरुलघु-निर्माणो-पघातनामा ऽन्तरायपञ्चकलक्षणानामेकत्रिंशतो ध्रुवबन्धिनीनां साता-ऽसातवेदनीय-हास्य-रति-शोका-ऽरति-पुंवेदमोहनीय पञ्चेन्द्रियजाति-समचतुरस्रसस्थान-प्रशस्तविहायोगति-पराघातो--च्छ्वास-तीर्थकर-त्रसदशका--ऽस्थिरा-ऽशुभा -ऽयशःकीर्तिनामलक्षणानां षड्विंशतेरध्रुवबन्धिप्रकृतीनां च तदजघन्यस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तमात्रमिति । कुतोऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरवद् ? इति चेद् , अनुत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरस्याऽजघन्यस्थितिबन्धान्तरस्य चेत्येवं द्विविधस्याऽपि अन्तरस्यौघतः प्रकृतिबन्धान्तराधीनत्वादिति ॥५६०–५६३॥

तदेवं भणितं सर्वासामुत्तरप्रकृतीनामजघन्यस्थितिबन्धस्यापि एकजीवाश्रयं द्विविधाऽन्तरमोघतः । साम्प्रतमादेशतो भणनावसरः, तत्रादौ तावद् जघन्यस्थितिबन्धस्य जघन्याऽन्तरं बिभणिषुः प्रथमतो यासु मार्गणासु एकस्या अपि अनायुःप्रकृतेस्तन्न भवति तत्र तत्प्रतिषेधयन्नाह—

असमत्तणर-भवणदुग-पणमणवय-उरलमीस-कम्मेसु ।
विउवाऽऽहारदुगेसु गयवेए चउकसायेसु ॥५६४॥
सुहुमम्मि य किण्हाए णीलाए सासणे अणाहारे ।
णत्थि जहण्णठिईए सप्पाउग्गाउवज्जाणं ॥५६५॥

(प्रे०) "असमत्त" त्यादि, अपर्याप्तमनुष्य-भवनपति व्यन्तर-मूलोत्तरभेदभिन्नपञ्चमनोयोग-पञ्चवचोयोगौ-दारिकमिश्रकाययोग-कार्मणकाययोगेषु वैक्रिय-तन्मिश्रयोगयोः, आहारकतन्मिश्रयोगयोः, अपगतवेदे, क्रोधादिषु चतुर्षु कषायेषु, सूक्ष्मसंपरायसंयमे, कृष्णलेश्यायाम् , नीललेश्यायाम् , सास्वादने, अनाहारके चेत्येवं सर्वसंख्यया एकोनत्रिंशन्मार्गणासु स्वस्यां स्वस्यां बन्धप्रायोग्याऽऽयुर्वर्जप्रकृतीना जघन्यस्थितेः प्रस्तुतमेकजीवाश्रयं बन्धान्तर नास्ति । कुतः ? कुत्रचिदपर्याप्तमनुष्य-भवनपति-व्यन्तरमार्गणासु असंज्ञित्वपश्चात्कृतानां भवप्रथम-द्वितीयसमयवर्तिनामन्तरालगतौ वर्तमानानामेवाऽऽयुर्वर्जसर्वप्रकृतिजघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वेन, मनोयोगादिषु मार्गणाकायस्थितेर्ह्रस्वत्वेन च निरन्तरे मार्गणाकाले सकृदेव जघन्यस्थितिबन्धस्य लाभात् ; निरन्तरे मार्गणाकाले सकृदेव विवक्षितस्थितिबन्धभावे तु तस्यान्तरं न लभ्यत इत्यनेकश आवेदितम् । इदं हि शतकाभिप्रायवदपर्याप्तमनुष्यमार्गणायां केवलान् संज्ञिजीवानेवाधिकृत्योक्तम् , अभिप्रायश्चायं प्राग् मूलस्थितिबन्धद्वितीयाधिकारस्वामित्वद्वारवृत्तौ स्फुटीकृत एवेति ॥५६४-५६५॥

तदेवं यासु मार्गणासु एकस्या अपि आयुर्वर्जप्रकृतेर्जघन्यस्थितिबन्धस्यान्तरं न भवति तत्र तत्प्रतिषिध्य यासु सर्वासामायुर्वर्जप्रकृतीनां तज्जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमात्रं ता मार्गणा विहाय शेषमार्गणासु निरयगत्योघादिभेदक्रमेणाह—

तित्थस्स मुहुत्तंतो णिरय-पढमणिरय-देव-काऊसुं ।
लहुमंतरं ण होअइ सगाउग्गाण सेसाणं ॥५६६॥
तिमणुस-सण्णीसु लहुं णिरयदुगस्स हवए मुहुत्तंतो ।
सेसाणं पयडीणं णो हवए अंतरं चेव ॥५६७॥

(प्रे०) "**तित्थस्से**" त्यादि, निरयगत्योघ-प्रथमनरक-देवौघ कापोतलेश्यालक्षणासु चतसृषु मार्गणासु तीर्थंकरनामलक्षणाया एकस्याः प्रकृतेर्जघन्यस्थितिबन्धस्य 'लघु'--जघन्यमन्तरमन्तर्मुहूर्तं ज्ञेयम् । "**सेसाणं**" ति तीर्थंकरनाम विहाय शेषाऽऽयुर्वर्जप्रकृतीनां तन्न भवत्येव । तत्र प्रतिषेधे प्राग्वित्राऽसंज्ञित्वपश्चात्कृतस्वामिकत्वलक्षणो हेतुर्बोध्यः, अन्तर्मुहूर्ते त्वतथात्वे सति स्वस्थानविशुद्धस्वामिकत्वलक्षण इति । अतथात्वं त्वसंज्ञित्वपश्चात्कृतानां तीर्थंकरनाम्नो बन्धाभावादिति । "**तिमणुसे**" त्यादि, अपर्याप्तमनुष्यमार्गणायामनन्तरमायुर्वर्जसर्वबन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां प्रस्तुतान्तरप्रतिषेधात्तां विहाय शेषेषु मनुष्यौघ-पर्याप्तमनुष्य-मानुषीलक्षणेषु त्रिषु मनुष्यगतिमार्गणास्थानेषु सञ्ज्ञिमार्गणास्थाने च नरकद्विकस्य जघन्यमन्तरमन्तर्मुहूर्तं भवति; शेषप्रकृतीनां तु तन्न भवत्येव । तत्राऽन्तर्मुहूर्तं नरकद्विकस्याऽपर्याप्तावस्थायां बन्धाभावेनाऽसंज्ञित्वपश्चात्कृतानां भवप्रथमसमयद्वयवर्तिनां प्रस्तुतमार्गणागतजीवानां तज्जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वाभावादिलक्षणयाऽनन्तरोक्तनीत्या। प्रतिषेधस्तु पञ्चविंशतिक्षपकप्रकृतीनां देववैक्रियद्विकयोश्च जघन्यस्थितिबन्धस्य क्षपकस्वामिकत्वात्, शेषाणां तु तदीयजघन्यस्थितिबन्धस्याऽसंज्ञित्वपश्चात्कृतस्वामिकत्वाच्चेति ॥५६६-५६७॥

दुपणिंदितसेसु तहा तिवेअ—चउणाण-संजमेसु तहा ।
समइअ-छेअ-तिदरिसण-भवि-सम्मो-वसम-खइएसुं ॥५६८॥
आहारगे य जेसिं खवगो व उवसमगो व खलु सामी ।
सिं अंतरं ण हवए सेसाण भवे मुहुत्तंतो ॥५६९॥

(प्रे०) "**दुपणिंदि**" इत्यादि, 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्ति' रिति अपर्याप्तभेदवर्जितयोर्द्वयोरोघ-पर्याप्तभेदभिन्नयोः पञ्चेन्द्रियभेदयोस्तथैव द्वयोस्त्रसमार्गणास्थानयोस्तथा त्रिषु पुरुषादिवेदेषु, चतुर्षु केवलज्ञानवर्जेषु मत्यादिज्ञानेषु, सयमौघे, सामायिक-छेदोपस्थापनसंयमयोः, केवलदर्शनवर्जेषु त्रिषु चक्षुरादिदर्शनेषु, भव्ये, सम्यक्त्वौघे, औपशमिकसम्यक्त्व-क्षायिकसम्यक्त्वयो-

राहारके चेत्येवं सर्वसंख्यया द्वाविंशतिमार्गणासु "जेसिं" ति यासां प्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्य स्वामी खलु चारित्रमोहनीयस्य क्षपक उपशमको वा प्राक्स्वामित्वद्वारे भणितः "सिं" ति तासां प्रकृतीनां 'अन्तरं' जघन्यस्थितिबन्धस्य न भवेत्, शेषप्रकृतीनां तु तज्जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तं भवेत्। तद्यथा—द्वयोः पञ्चेन्द्रियमार्गणयोः पञ्चज्ञानावरण-चतुर्दर्शनावरण-सातवेदनीय संज्वलन-चतुष्क-पुरुषवेदा-ऽऽहारकद्विक-यशःकीर्ति-जिननामो-च्चैर्गोत्रा-ऽन्तरायपञ्चकलक्षणानां पञ्चविंशतेः क्षपकप्रकृतीनां न भवति; शेषाऽऽयुर्वर्जबन्धप्रायोग्यप्रकृतीनामन्तर्मुहूर्तम्। एवमेव द्वयोस्त्रसकायमार्गणयोस्त्रिषु वेदेषु चक्षु-रचक्षुर्दर्शनयोः भव्ये आहारके च विज्ञेयम्। शेषेषु ज्ञानचतुष्का-ऽवधिदर्शन सम्यक्त्वौघौ-पशमिकसम्यक्त्व-क्षायिकसम्यक्त्वेषु संयमौघ सामायिक छेदोपस्थापनसंयमेषु च यथोक्त-पञ्चविंशतेः क्षपकप्रकृतीनां तथा निद्राद्विक-हास्य-रति-भय-जुगुप्सा-देवद्विक वैक्रियद्विक-प्रथमसंस्थान-सुखगति पञ्चेन्द्रियजाति पराघातो-च्छ्वासा-ऽगुरुलघु-निर्माणो-पघात-वर्णचतुष्क तैजस-कार्मणशरीर-त्रसनवकलक्षणानां त्रयस्त्रिंशत्प्रकृतीनां न भवति, शेषबन्धप्रायोग्यायुर्वर्जानां त्वन्तर्मुहूर्तम्। तत्र पञ्चेन्द्रियौघादिमार्गणासु क्षपकप्रकृतीनां प्रस्तुतान्तरप्रतिषेधोऽन्यासां तु तदप्रतिषेधश्च सर्वौघवदेव विज्ञेयः, पञ्चेन्द्रियौघादिमार्गणास्वसंज्ञिप्रमुखजीवानामपि प्रवेशेन तेषामेव शेषप्रकृतिजघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वात्, क्षपकप्रकृतीनां तु क्षपकस्वामिकत्वादुपशमकस्वामिकत्वाद्वा। मतिज्ञानादिमार्गणासु तु न भवत्यसंज्ञिनां प्रवेशः, तथाच तत्र क्षपकप्रकृतिवत् निद्राद्विकादिप्रकृतीनामपि जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनः क्षपका एव, क्षपकस्वामिकजघन्यस्थितिबन्धस्तु एकजीवमपेक्ष्य समस्ते भवचक्रे सकृदेव भवति, तथाच न लभ्यते तदीयप्रस्तुतान्तरम्। पञ्चेन्द्रियौघादिषु द्वाविंशतावपि मार्गणासु शेषप्रकृतीनां प्रस्तुतमन्तर्मुहूर्तमात्रमन्तरं तु प्रागिव तद्बन्धप्रायोग्याध्यवसायानां तथा प्राप्तेः, निरन्तरे मार्गणाकालेऽसकृज्जघन्यस्थितिबन्धस्य लाभाच्चेति ॥५६८-५६९॥

काय-उरलेसु ण भवे वेउव्वियछक्क-खवगपयडीणं।
सेसाणं पयडीणं भिन्नमुहुत्तं मुणेयव्वं ॥५७०॥

(प्रे०) "काये" त्यादि, काययोगौघौदारिककाययोगयोर्वैक्रियषट्कं वैक्रियद्विक-देवद्विक-नरकद्विकाऽऽत्मकं यथोक्तपञ्चविंशतिक्षपकप्रकृतयश्चेत्येतासामेकत्रिंशतो जघन्यस्थितिबन्धस्यान्तरं न भवति, शेषाणां तु सर्वासामायुर्वर्जप्रकृतीनां तज्जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तं ज्ञातव्यम्। उपपत्तिस्तु प्रागिव कार्या, केवलमिह वैक्रियषट्कस्यापि प्रस्तुतान्तरप्रतिषेधस्तदीयजघन्यस्थितिबन्धस्वामिनोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य प्रत्यन्तर्मुहूर्तं योगपरावृत्तेः एकदा विरतस्य जघन्यस्थितिबन्धस्य पुनः प्रवृत्तेः प्रागेव तत्स्वामिनः प्रस्तुतमार्गणातो बहिर्भावादिति ॥५७०॥

जाण अहिमुहो तेसिं ण भवे विब्भंग-देस-मीसेसुं।
सेसाण मुहुत्तंतो अडसुहुमाईण केइ ण विभंगे ॥५७१॥ (गीतिः)

(प्रे०) "**जाणे**" त्यादि, विभङ्ग-देशसंयम-सम्यग्मिथ्यात्वलक्षणमार्गणात्रये "जाण"त्ति यासां मिथ्यात्वादिप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामी प्राक् स्वामित्वद्वारे 'सजमहुत्तो मणुसो विब्भगे' इत्यादिना संयमाद्यभिमुखः कथितस्तासां "**ण भवे**"त्ति प्रस्तुतं जघन्यस्थितिबन्धान्तरं न भवति, जघन्यस्थितिबन्धसमाप्त्या सममेव तत्स्वामिनः प्रस्तुतमार्गणाबहिर्भवनात् । "**सेसाण**" त्ति मार्गणात्रयेऽपि प्रतिषिद्धशेषाऽऽयुर्वर्जप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धजघन्यान्तरमन्तर्मुहूर्तं भवति, तथाच विभङ्गज्ञानेऽसातवेदनीया-ऽरति शोक-स्त्रीवेद-नपुंसकवेदा-ऽस्थिरा-ऽशुभा-ऽयशःकीर्ति-प्रथमवर्जसंहननपञ्चक प्रथमवर्जसंस्थानपञ्चकै-केन्द्रिय-स्थावरा-ऽऽतप-सूक्ष्मत्रिक विकलत्रिक-नरकद्विक दुर्भगत्रिका-ऽप्रशस्तविहायोगतिनामलक्षणानां त्रयस्त्रिंशत्प्रकृतीनाम् , देशसंयमेऽसातवेदनीया ऽरति शोका ऽस्थिरा ऽशुभा ऽयशःकीर्तिलक्षणानां षण्णां प्रकृतीनां तथा सम्यग्मिथ्यात्वेऽपि असातवेदनीयादीनां षण्णां प्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्य जघन्यमन्तरमन्तर्मुहूर्तमिति । अन्तरमिदं प्राग्वदेवाऽभ्यूह्यम् , मार्गणान्तराभिमुखावस्थाया अन्यत्र स्वस्थाने वर्तमानानामेव तज्जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वात् पुनस्तद्बन्धं यावत् तत्स्वामिनः प्रस्तुतमार्गणास्ववस्थानसम्भवाच्चेति ।

"**अडसुहुमाईण**" त्ति विभङ्गज्ञानमार्गणायां मिथ्यात्वादिप्रकृतीनामिव सूक्ष्मत्रिक-विकलत्रिक नरकद्विकलक्षणानामष्टानां सूक्ष्मादिप्रकृतीनामपि प्रस्तुतान्तरं केचिदाचार्याः प्रतिषेधन्ति, कुतः ? तन्मते मनुष्यतिर्यक्सम्बन्धिनो विभङ्गज्ञानस्याऽन्तर्मुहूर्तस्थितिकत्वात् , प्रस्तुतमार्गणायां तेषामेव सूक्ष्मादिप्रकृतिजघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वेन मनोयोगादिमार्गणावत्सूक्ष्मनामादिजघन्यस्थितिबन्धस्य सकृदेव लाभाच्चेति ॥५७१॥

परिहार-वेअगेसु सव्वाण भवे लहु मुहुत्तंतो ।
उअ जेसिं कयकरणो सामी सिं अंतरं णत्थि ॥५७२॥

(प्रे०) "**परिहारे**"त्यादि, परिहारविशुद्धिकसंयमे क्षायोपशमिकसम्यक्त्वे च बन्धप्रायोग्याणामायुर्वर्जानां सर्वासां प्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्य "लहु"ति प्रस्तुतं जघन्यमन्तरमन्तर्मुहूर्तं भवेत् , "उअ" त्ति 'उत'-अथवा यासां निद्राद्विकाद्यष्टपञ्चाशतः प्रकृतीनां '**कयकरणो**' त्ति कृतकरणत्वपुरस्कृत एव जघन्यस्थितिबन्धस्वामी मतविशेषेणाभिहितस्तासां तन्मते प्रस्तुतान्तरं नास्ति, शेषाणां परिहारविशुद्धिकसंयमेऽसातवेदनीया ऽरति-शोका ऽस्थिरा ऽशुभा-ऽयशःकीर्तिनाम्नां षण्णाम् , वेदकसम्यक्त्वे तु तासां मध्यमकषायाऽष्टक-मनुष्यद्विकौ दारिकद्विका-ऽऽद्यसंहनननाम्नां चेति नवदशानां पूर्ववदनेन मतेनाऽपि भवति ।

अयम्भावः-प्राक् परिहारविशुद्धिकसंयमादिमार्गणास्थाने निद्राद्विकादिप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामी मतद्वयेन विभिन्नस्वरूपो दर्शितः, तत्र येन मतेनानन्तरस्थितिबन्धे योऽसौ कृत-

करणो भविष्यत्येतादृश एव कथितस्तन्मते समस्तेऽपि भवचक्रे तादृशजघन्यस्थितिबन्धस्य सकृदेव भावान्न लभ्यते तदीयैकजीवाश्रयमन्तरम् , तदन्यमते तु कृतकरणो भवतु मा वा योऽसौ प्रस्तुत-प्रकृतीनां बन्धकेषु सुविशुद्धः स्वस्थानाऽप्रमत्तसंयतः स तासां जघन्यस्थितिबन्धस्वामी भणितस्तथा च तन्मते तादृशस्थितिबन्धस्य निरन्तरे मार्गणाकाले द्विरपि लाभसम्भवाल्लभ्यते तदीयप्रस्तु-तान्तरम् । तच्च मतद्वयं विशेषतः **स्वामित्वद्वारेणा**वधारणीयमिति ॥५७२॥

सुहलेसासु सामी जाण असीईअ णो भवे देवो ।
सिं अंतरं वि ण भवे सेसाण भवे मुहुत्तंतो ॥५७३॥

(प्रे०) "**सुहलेसासु**" इत्यादि, तेजः पद्म-शुक्लाभिधासु तिसृषु प्रशस्तलेश्यासु स्त्रीवेदा-दिप्रकृतिवर्जानां मतिज्ञानावरणादीनामशीतेः प्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामी देवो न भवति तासां जघन्यस्थितिबन्धस्यान्तरमपि न भवति । कथम् ? उच्यते, देवानामतत्स्वामित्वे मनुष्या एव तत्स्वामिनः, मनुष्याणां च प्रस्तुतत्रिविधलेश्याऽऽन्तर्मुहूर्तिकी, न च तावति ह्रस्वकाले तत्स्वामिनो द्विर्जघन्यस्थितिबन्धस्तदभावे प्रस्तुतान्तरं च । स्त्रीवेदादीनां तु तद् भवत्येव, देवानां तज्जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वात् , तेषां प्रस्तुतलेश्यात्रये दीर्घमवस्थानाच्च । अत एवाह—"**सेसाण**"इत्यादि, शेषाणां स्त्रीवेदादीनामेकत्र पद्मलेश्यायां पञ्चविंशतेरन्यत्र तेजोलेश्यायाम-ष्टाविंशतेः शुक्ललेश्यायां द्वाविंशतेश्च तज्जघन्यस्थितिबन्धस्य जघन्यमन्तरमन्तर्मुहूर्तं भवतीत्यर्थः । **स्त्रीवेदाद्यास्त्विमाः**—स्त्रीवेद-नपुंसकवेद-संहननषट्क-प्रथमवर्जसंस्थानपञ्चक-मनुष्यद्विक-तिर्य-ग्द्विकौदारिकद्विक-दुर्भगत्रिक-कुखगति-नीचैर्गोत्रो-द्योतनामलक्षणाः पञ्चविंशतिः पद्मलेश्यायाम् । एता एवाऽऽतप-स्थावरै-केन्द्रियप्रकृतित्रयेण सहिता अष्टाविंशतिस्तेजोलेश्यायाम् । शुक्ललेश्यायामपि पद्मलेश्यावदेव केवलमत्र तिर्यग्द्विकोद्योतनाम्नोर्मूलत एव बन्धाभावेन तास्तिस्रः प्रकृतीर्विहायेति ॥५७३॥

अथैकयाऽऽर्यया प्रस्तुतजघन्यस्थितिबन्धजघन्यान्तरं समापयन्नाह—

अजए जिणस्स ण भवे सेसाण भवे लहुं मुहुत्तंतो ।
सेसासु मुहुत्तंतो सप्पाउग्गाण सव्वेसिं ॥५७४॥

(प्रे०) "अजए" इत्यादि, असंयममार्गणास्थाने जिननाम्नो जघन्यस्थितिबन्धस्यैक-जीवाश्रयं प्रस्तुतमन्तरं न भवति; जिननाम्नो जघन्यस्थितिबन्धस्य संयमाभिमुखस्वामिकत्वेन तदीयजघन्यस्थितिबन्धसमाप्त्या सममसंयममार्गणाया अपि विच्छेदभावात् । शेषप्रकृतिजघन्य-स्थितिबन्धस्य त्वतथात्वात्तद्भवतीति प्राह—"**सेसाण**" इत्यादि, सुगमम् ।

"सेसासु" त्ति 'असमत्तणर' (गाथा-५६४) इत्यादिना यासु अपर्याप्तमनुष्याद्येकोनत्रिंशन्मार्गणासु सर्वासामायुर्वर्जबन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां प्रस्तुतान्तरं प्रतिषिद्धं तास्तथा 'तित्थस्स मुहुत्तो णिरये' इत्यादिना यासु निरयगत्योघाद्येकचत्वारिंशन्मार्गणासु यथासम्भवं तद्दर्शितं प्रतिषिद्धं वैताः सर्वसंख्यया सप्ततिमार्गणा विमुच्य शेषासु द्वितीयपृथिवीनरकभेदादिषु शतमार्गणासु स्वस्यां स्वस्यां बन्धप्रायोग्याणां सर्वासामायुर्वर्जप्रकृतीनां प्रस्तुतं जघन्यस्थितिबन्धस्य जघन्यमन्तरमन्तर्मुहूर्तं भवति । तच्च प्रत्येकं मार्गणान्तराभिमुखानां क्षपकादीनां वा जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वाभावाद् पुनर्जघन्यस्थितिबन्धं यावत्तत्स्वामिनां तस्यामेव विवक्षितमार्गणायामवस्थानसम्भवाच्चेत्यादि प्राग्वदेवाभ्यूह्यम् । केवलं ताः **शेषमार्गणा नामत इमाः**–द्वितीयपृथिव्यादिभेदभिन्नषड्नरकभेदाः, सर्वे तिर्यग्गतिभेदाः; ज्योतिष्कादिसर्वार्थसिद्धविमानान्तमष्टविंशतिदेवभेदाः, सर्वैकेन्द्रिय-सर्वविकलेन्द्रिया-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियभेदाः, सर्वपृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिकाया-ऽपर्याप्तत्रसकायभेदाः, मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाने, अभव्यः, मिथ्यात्वम्, असंज्ञी चेति ॥५७४॥

तदेवं दर्शितं सर्वमार्गणास्थानेष्वायुर्वर्जप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्याऽन्तरं यथासम्भवं जघन्यतः । एतर्हि तदेवोत्कृष्टतः प्रचिकटयिषुः 'ऊणा गुरुकायठिई सेसासु च अणिसिद्धाण' (गाथा ५८४) इत्यनेन यासु द्वितीयपृथिवीनरकभेदादिमार्गणासु सर्वासामनिषिद्धजघन्यस्थितिबन्धान्तराणां प्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरं देशोनकायस्थितिरिति वक्ष्यमाणं ताः मार्गणा विहाय शेषासु यत्र तदनिषिद्धं तत्र तदाह—

तित्थस्सऽहियतिजलही गुरुं णिरय-तइअणिरय-काऊसु ।
सेसाण तइअणिरये देसूणा जेट्ठकायठिई ॥५७५॥

(प्रे०) "तित्थस्से" त्यादि, नरकगत्योघे तृतीयनरके कापोतलेश्यायां च तीर्थकरनाम्नः **"गुरु"** ति जघन्यस्थितिबन्धस्य 'गुरु' उत्कृष्टमन्तरं साधिकसागरोपमत्रयं भवति, उत्कृष्टतस्तावत्स्थितिकनारकतयैव जिननाम्नो बन्धवतामुत्पादसम्भवात्, तत्रापर्याप्तावस्थादिसत्केऽन्तर्मुहूर्तेऽतिगते प्रथमतो भवप्रान्ते द्वितीयवारं चेत्येव द्विर्जघन्यस्थितिबन्धं कुर्वता यथोक्तान्तरं संपद्यत इति । **"सेसाण"** त्ति उक्तमार्गणात्रयमध्ये तृतीयनरकमार्गणायां जिननाम विहाय शेषाणामायुर्वर्जप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरं तस्यास्तृतीयनरकमार्गणायाः सप्तसागरोपममाना उत्कृष्टकायस्थितिर्देशोना भवति । देशोनता चेहानन्तरोक्तनीत्या मार्गणाप्रारम्भप्रान्तसम्बन्धिना कालेन ज्ञेया यावत्यनतिगते तत्तत्प्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धो न स्याद्यावति चावशेषे तथेति । ननु नरकौघ-कापोतलेश्ययोः शेषप्रकृतीनां तत्कियत्स्याद् ? इति चेद्, न भवत्येव, तत्र जिननामवर्जानां जघन्यस्थितिबन्धान्तरस्य 'ण होअइ सेसाण' (गाथा-५६६) इत्यनेन प्रागेव प्रतिषिद्धत्वादिति ॥५७५॥

तिरि-णपु-दुअणाणा-ऽजय-अचक्खु-भवि-यियर-मिच्छ-अमणेसुं ।
होइ असंखपरट्टा चउणीआइ-विउवछगाणं ॥५७६॥
लोगाऽसंखाऽण्णेसिं सव्वाण खलु तिपणिंदितिरियेसुं ।
पुव्वा कोडिपुहुत्तं णिरयदुगस्स य तिमणुएसुं ॥५७७॥

(प्रे०) "तिरि" इत्यादि, तिर्यग्गत्योघ-नपुंसकवेद-मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाना ऽसंयमा-ऽचक्षुर्दर्शन-भव्य-भव्येतराऽभव्य मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञिलक्षणासु दशमार्गणासु "चउणीआइ" त्ति नीचैर्गोत्र-तिर्यग्द्विको-द्योतनाम्नां तथा वैक्रियपट्कस्य जघन्यस्थितिबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमसंख्येयाः पुद्गलपरावर्ता भवति, तच्चौघवत्साध्यम् , ओघे प्रस्तुतमार्गणादशके च प्रस्तुतप्रकृतिदशकजघन्यस्थितिबन्धस्वामिनामविशेषात् प्राधान्येन एतावदन्तरप्रयोजकानां पर्याप्ताऽपर्याप्तसूक्ष्मबादरसर्वविधवनस्पतिकायिकजीवानां प्रवेशाच्चेति। "लोगाऽसंखा" त्ति एतासु प्रत्येकं "अण्णेसिं" ति उक्तप्रतिषिद्धोभयविधप्रकृतिभ्योऽन्यासामायुर्वर्जबन्धप्रायोग्याणां प्रस्तुतान्तरमसंख्येया लोका भवति । इहोक्तान्तराः प्रकृतय एतासु प्रत्येकमनन्तरोक्ता नीचैर्गोत्राद्या दश, प्रतिषिद्धान्तरा तु नपुंसकवेदा ऽचक्षुर्दर्शन-भव्येषु पञ्चविंशतिः क्षपकप्रकृतिसंज्ञा मतिज्ञानावरणादयः, असंयमे तु केवलं जिननाम । एता विहाय शेषाणामसंख्यलोकान्तरमप्योघवदेव विभावनीयमिति ।

"सव्वाणे"त्यादि, ओघ-पर्याप्त-तिरश्चीभेदभिन्नेषु त्रिषु पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणास्थानेषु बन्धप्रायोग्यायुर्वर्जसर्वप्रकृतीनां तथा ओघ पर्याप्त-मानुषीभेदभिन्नेषु त्रिषु मनुष्यगतिमार्गणास्थानेषु नरकद्विकस्य नरकगति-नरकानुपूर्वीलक्षणस्य जघन्यस्थितिबन्धस्योत्कृष्टान्तरं पूर्वकोटिपृथक्त्वं भवति, प्रत्येकं मार्गणानामुत्कृष्टकायस्थितेः पूर्वकोटिपृथक्त्वाभ्यधिकत्रिपल्योपमप्रमाणत्वेऽपि त्रिपल्योपमकालस्य युग्मिभवेन पूरणात् युग्मिनामेतत्प्रकृतिजघन्यस्थितिबन्धाभावाच्च नानापूर्वकोटिस्थितिकभवापेक्षया लभ्यमानं सद्यथोक्तमेवाऽवाप्यते प्रस्तुतान्तरम्, 'सत्तट्ठभवा उ उक्कोसा' इति वचनेन प्रस्तुतमार्गणासु निरन्तरं सप्ताऽष्टभवान् यावदेव जीवस्यैकस्याऽवस्थानसम्भवादिति भावः। विस्तरतस्तु प्रागिव स्वयमेव भावनीयम् । इह मनुष्यगतिमार्गणाभेदत्रये नरकद्विकस्यैव कथितत्वात्तच्छेषाणां तत्कियद्भवतीति नाऽऽशङ्क्यम्, नरकद्विकवर्जानां जघन्यस्थितिबन्धान्तरस्य प्राक् 'तिमणुससण्णीसु लहुं णिरयदुगस्स हवए मुहुत्ततो। सेसाण पयडीण णो हवए अंतरं चेव' ॥५६७॥ इति गाथायां प्रतिषिद्धत्वादिति ॥ ५७६-५७७ ॥

एगिंदिय-कायेसुं णीआईणं चउण्ह परिअट्टा ।
होइ असंखाऽण्णेसिं जाणऽत्थि असंखलोगा सिं ॥५७८॥
तिरिणरगोअदुगु-ज्जोआणं एगिंदियम्मि सुहुमम्मि ।

णेयं असंखलोगाऽण्णेसिं अंगुलअसंखंसो ॥५७९॥

(प्रे०) "एगिंदिये"त्यादि, एकेन्द्रियौघमार्गणास्थाने काययोगौघे च नीचैर्गोत्र-तिर्यग्द्विको-द्योतनाम्नां चतसृणां प्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं "परिअट्टा होइ असंखा" त्ति असंख्यपुद्गलपरावर्ता भवति, तच्चौघवदेव साध्यमिहापि तेजस्कायवायुकायिकानां पर्याप्ता-ऽपर्याप्त सूक्ष्म बादरसर्वविधवनस्पतिकायिकानां च प्रवेशादिति। "अण्णेसिं" ति नीचैर्गोत्रादियथोक्त-प्रकृतिचतुष्टयं विहायाऽन्यासां यासां "अत्थि" त्ति जघन्यस्थितिबन्धस्यान्तरमस्ति, प्राग् न निषिद्धमिति भावः । 'सिं' ति तासामुक्तप्रतिषिद्धान्तरशेषाणामायुर्वर्जानामसंख्येया लोका जघन्य-स्थितिबन्धस्योत्कृष्टान्तरं भवति । तत्र प्रतिषिद्धान्तरा प्रकृतिरेकेन्द्रियौघमार्गणायां नैकाऽपीति तत्र यथोक्तप्रकृतिचतुष्टयं विहाय शेषाऽऽयुर्वर्जसर्वबन्धप्रायोग्यप्रकृतीनामसंख्यलोका ज्ञेयम् । काययोगौघे तु 'काय-उरलेसु ण भवे वेउव्वियछक्कखवगपयडीण' इत्यनेन वैक्रियषट्कस्य मतिज्ञाना-वरणादीनां पञ्चविंशतेः क्षपकप्रकृतीनां च जघन्यस्थितिबन्धान्तरस्य प्रतिषिद्धत्वाच्चतस्रः षट् पञ्चविंश-तिश्चेति पञ्चत्रिंशत्प्रकृतीर्विवर्ज्याऽऽयुर्वर्जानामेकाशीतिप्रकृतीनां तत्तथा ज्ञेयमिति ।

"तिरिणरे" त्यादि, सूक्ष्मैकेन्द्रियौघमार्गणास्थाने तिर्यग्द्विक-नरद्विक गोत्रद्विको-द्योतलक्षण-प्रकृतिसप्तकस्य प्रस्तुतान्तरमसंख्येया लोका भवति । शेषसर्वायुर्वर्जप्रकृतीनां तु तदङ्गुलस्याऽ-संख्यभागो भवति। प्रतिसमयमेकैकाकाशप्रदेशापहारेऽङ्गुलाऽसंख्यभागमात्रक्षेत्रं यावता कालेन निर्लेपं स्यात् तावदसंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणीप्रमाणं भवतीत्यर्थः । तत्राऽसंख्या लोकाः सूक्ष्मपृथिव्यादि-कायस्थित्यधीनाः, अयम्भावः-सूक्ष्मपृथिव्यादीनां तेजस्कायवायुकायवर्जानां तिर्यग्द्विकादिजघन्य-स्थितिबन्धस्वामित्वाभावात् सूक्ष्मपृथिव्यादिवर्जानां तेजस्कायवायुकायिकानां मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्र-बन्धस्वामित्वाभावेन तदीयजघन्यस्थितिबन्धाभावाच्च तत्तत्कायोत्कृष्टकायस्थित्यसंख्यलोकान् यावन्न भवति तासां जघन्यस्थितिबन्ध इति । अङ्गुलाऽसंख्यभागस्तु पर्याप्तसूक्ष्मतेजस्कायवायुकायानामिव पर्याप्तसूक्ष्मपृथिव्यादिकायिकानामपि तासां शेषप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वान्मूलस्थिति-बन्धविधानप्रेमप्रभोक्तनीत्या विज्ञेयमिति ॥५७८-५७९॥

पणकाय-णिगोएसुं असंखलोगाऽत्थि सव्वपयडीणं ।
अंगुलअसंखभागो हवेज्ज पणसुहुमकायेसुं ॥५८०॥

(प्रे०) "पणकाये"त्यादि, पृथिवीकायौघा-ऽप्कायौघ-तेजस्कायौघ वायुकायौघ-वनस्पतिकायौ-घलक्षणासु पञ्चसु कायौघमार्गणासु तथा "णिगोए" त्ति साधारणवनस्पतिकायौघे इत्येवं षट्सु कस्या अपि प्रकृतेर्जघन्यस्थितिबन्धान्तरस्याऽप्रतिषेधाद् बन्धप्रायोग्याणामायुर्वर्जसर्वप्रकृतीनां जघन्य-स्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरमसंख्येया लोका भवति, तच्च प्रत्येकं मार्गणायां पर्याप्तबादरजीवानां जघन्य-

स्थितिबन्धस्वामित्वेन सूक्ष्मावस्थायां जघन्यस्थितिबन्धाभावात् , सूक्ष्माणामुत्कृष्टकायस्थितेरसंख्य-लोकप्रमाणत्वाच्चेति । "अंगुले" त्यादि, सुगमम् , सूक्ष्मपर्याप्ताऽपर्याप्तजीवमध्ये सूक्ष्मपर्याप्तानां स्वामित्वे तावदन्तरस्य लाभादिति भावः ॥५८०॥

चउणीआईणुरले सहस्सवासाऽत्थि तिण्णि देसूणा ।
सेसाणं पयडीणं देसूणा जेट्ठकायठिई ॥५८१॥

(प्रे०) "चउ" इत्यादि, औदारिककाययोगमार्गणायां नीचैर्गोत्र-तिर्यग्द्विको-द्योतनाम्नां जघन्यस्थितिबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोनवर्षसहस्रत्रयं भवति । नीचैर्गोत्रादिजघन्यस्थितिबन्धस्वामिनः पर्याप्तबादरवायुकायिकस्योत्कृष्टभवस्थितेः 'तिण्णि वाउस्स' इत्यादिवचनेन वर्षसहस्रत्रयप्रमाणत्वेन तत्राप्यपर्याप्तावस्थायामौदारिकमिश्रयोगस्य प्रवर्तनेन च नीचैर्गोत्रादिजघन्यस्थितिबन्धस्वाम्यपेक्षयौ-दारिककाययोगस्योकृष्टतस्तावत्काललाभात् , तत्र च प्रागिव यथासम्भवमाद्यान्त्ययोर्द्विजघन्य-स्थितिबन्धकरणे यथोक्तान्तरं लभ्यत इति । "सेसाणं" इत्यादि, सुगमम् , नवरं "जेट्ठकाय-ठिई" त्ति औदारिककाययोगमार्गणाया उत्कृष्टकायस्थितिः, सा चान्तर्मुहूर्तोनद्वाविंशतिवर्षसहस्र-माना, अन्तरोपपत्तिस्तूत्कृष्टस्थितिकखरबादरपृथिवीकायजीवमादाय कार्या, तस्यैवौदारिककाययोग-मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिप्रयोजकत्वादिति ॥५८१॥

दुअयरहिया विभंगे तिआयवाईण पुव्वकोडंतो ।
अडसुहुमाईण भवे सेसाणूणगुरुकायठिई ॥५८२॥

(प्रे०) "दुअयर" इत्यादि, विभङ्गज्ञाने तिसृणामातप-स्थावरै-केन्द्रियनाम्नां प्रस्तुतं जघन्यस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरं साधिकौ द्वौ सागरोपमौ भवति । कुतः ? ईशानदेवभवस्थितिप्राधा-न्येन तल्लाभात् , ईशानदेवानामुत्कृष्टभवस्थितेः साधिकसागरोपमद्वयप्रमाणत्वाच्चेति । भावना तु प्रागिवेशानभवाद्यान्तर्मुहूर्तचरमसमयवर्जनेन कार्येति । "पुव्वकोडंतो" इत्यादि, सूक्ष्मत्रिकविक-लत्रिक-नरकद्विकलक्षणानामष्टानां सूक्ष्मादिप्रकृतीना जघन्यस्थितिबन्धस्यान्तरं प्रस्तुत पूर्वकोटेरन्तः-अभ्यन्तरवर्ति भवति, देशोनपूर्वकोटी भवतीति भावः । कथम् ? अयुग्मितिर्यग्भवापेक्षया तादृग्मनुष्य-भवापेक्षया वा तल्लाभात् तादृग्भवस्योत्कृष्टतः पूर्वकोटीस्थितिकत्वाच्च । देशोनता तु अपर्याप्ताव-स्थादिसत्केनाऽन्तर्मुहूर्तादिकालेन, तिर्यग्मनुष्याणा तत्र विभङ्गज्ञानस्यानभिमतत्वात् , न च तथापि विभङ्गेन सह देवतयोत्पत्तौ तत्र यावज्जीवं विभङ्गस्य सम्भवेन तन्मूलोक्तादीर्घं स्यादिति वाच्यम् । एवं विभङ्गस्य देवगतावनुवृत्तेरपि देवानां प्रस्तुतप्रकृतिबन्धस्वामित्वाभावेनान्तरप्रयोजक-द्वितीयजघन्यस्थितिबन्धस्याभावेनाऽन्तरमेव नोत्पद्येत । तदनन्तरभवे यद्यपि प्रस्तुतप्रकृतीनां जघन्य-स्थितिबन्धः सम्भवति तथाऽपि तत्रोत्पत्तिमात्रेण प्रस्तुतमार्गणाया विच्छेदान्नासौ जघन्यस्थितिबन्धः पूर्व-

निर्वर्तितजघन्यस्थितिबन्धान्निरन्तरप्रवृत्तविभङ्गमार्गणायाम्, तथा चैकस्मिन्नेव भवेऽपर्याप्तावस्थादि-सम्बन्धिकियत्कालेऽतिक्रान्ते प्रथमतो भवचरमान्तर्मुहूर्ते च पुनरित्येवं प्राग्दर्शितनीत्या द्विर्जघन्य-स्थितिबन्धं कुर्वतः प्रस्तुतप्रकृतीनां यथोक्तमेवान्तरं सम्पद्यत इति ।

"सेसाण" इत्यादि, अनन्तरोक्तैकादशप्रकृतीस्तथा 'जाण अहिमुहो तेसिं ण भवे विब्भंग' (५७१) इत्यनेन पूर्वप्रतिषिद्धान्तराः सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिनीः सातवेदनीयहास्यरतिपुरुषवेदमोहनीयतिर्य-ग्मनुष्यदेवद्विकपञ्चेन्द्रियौदारिकद्विकवैक्रियद्विकप्रथमसंहननसंस्थानसुखगतिपराघातोच्छ्वासोद्योत--त्रसदशकगोत्रद्विकलक्षणत्रयस्त्रिंशदध्रुवबन्धिनीश्च विहाय शेषाणामसातवेदनीयाऽरति-शोकाऽस्थि-रा-ऽशुभा-ऽयशःकीर्ति स्त्रीवेद-नपुंसकवेद-प्रथमवर्जसंहननपञ्चक-प्रथमवर्जसंस्थानपञ्चक -दुर्भगत्रिक-कुखगतिलक्षणानां द्वाविंशतेः प्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरं देशोनविभङ्गज्ञानोत्कृष्टकायस्थिति-र्भवति । तत्र देशोनता प्राग्वद् , विभङ्गज्ञानोत्कृष्टकायस्थितिस्तु देशोनपूर्वकोट्यभ्यधिकत्रयस्त्रिं-शत्सागरोपमाणीति । अत्रैव प्राग्दर्शितमतान्तरेण तु पुव्वकोडितो अडसुहुमाईण इत्यनेनाभिहितं प्रस्तु-तान्तरं न द्रष्टव्यम्, ध्रुवबन्ध्यादिवत् सर्वथा प्रतिषेध्यमिति भावः, तन्मते मनुष्यतिर्यक्सम्बन्धिनो विभङ्गज्ञानस्याऽऽन्तर्मुहूर्तिकत्वेन तासां जघन्यस्थितिबन्धान्तरस्यालाभेन प्राग् 'अडसुहुमाईण केइ ण विभंगे' इत्यनेन प्रतिषिद्धत्वादिति ॥५८२॥

सत्तरथीआईणं सुक्काए ऊणएगतीसुदही ।
देसूणा तेत्तीसा अयरा पंचमणुसाईणं ॥५८३॥

(प्रे०) "सत्तरे"त्यादि, शुक्ललेश्यामार्गणायां 'थी णपुमा संघयणाऽऽगिइपणगं दुहगतिगं कुखगई णीअं ॥४४८॥' इत्यनेन सग्रहगाथांशेन संगृहीतानां स्त्रीवेदादीनां सप्तदशप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोना एकत्रिंशदुदधयः–सागरोपमा भवति । अनुत्तरवासिनां तद्ब-न्धाभावेनोत्कृष्टस्थितिकग्रैवेयकदेवापेक्षया तल्लाभात् , ग्रैवेयकोत्कृष्टस्थितेरेकत्रिंशत्सागरोपमप्रमाण-त्वात्ततः प्रागिव कियत्कालस्य वर्ज्यत्वाच्चेति । 'देसूणा' इत्यादि, अत्रैव 'णरदुगवइरुरलुवगाणि ॥४४९॥ 'उरल' इत्यनेन संगृहीतानां पञ्चानां मनुष्यद्विकादिप्रकृतीनां प्रस्तुतान्तरं देशोनास्त्रयस्त्रिं-शदतराः-सागरोपमा भवति, अनुत्तरदेवानां तासां बन्धात् तदीयजघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वाच्च । भावना तु प्रागिवान्तर्मुहूर्तादिकालवर्जनेन कार्येति । उक्तशेषाणां मतिज्ञानावरणाद्यशीतिप्रकृतीनां न भवत्येव, तच्च प्राक् 'सुहलेसासु सामी जाण असीईअ णो भवे देवो । सिं अतर वि ण हवइ' (गाथा-५७२) इत्यनेन प्रतिषिद्धमेवेति ॥५८३॥

अथोक्तशेषासु यासु आयुर्वर्जाना सर्वासां बन्धप्रायोग्याणां कासाञ्चिद्वा प्रस्तुतान्तरं भवति तास्वेकयाऽऽर्ययाऽऽह—

साहियतेत्तीसुदही णेयं तित्थस्स वेअगेऽण्णेसिं ।
ऊणा गुरुकायठिई सेसासु च अणिसिद्धाणं ॥५८४॥

(प्रे०) "साहिये"त्यादि, "वेअगे" त्ति क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणास्थाने तीर्थकरनाम्नो जघन्यस्थितिबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं साधिकत्रयस्त्रिंशदुदधयो ज्ञेयम् । साधिकता चेह त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिकाऽनुत्तरभवपूर्वोत्तरवर्तिनोः पूर्वकोटीस्थितिकयोर्मनुष्यभवयोः सम्बन्धिना कियत्कालेन । इद हि स्वस्थानविशुद्धाप्रमत्तानामपि जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वमभ्युपगच्छतां मते । कृतकरणत्वपुरस्कृतानामेव तदभ्युपगच्छतां मते तु न भवत्येवेति ।

"अण्णेसिं" ति तीर्थंकरनाम विहाय शेषसर्वाऽऽयुर्वर्जबन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां तु वेदकसम्यक्त्वमार्गणादेशोनोत्कृष्टकायस्थितिर्ज्ञेयम् । इह तु देशोनता मार्गणाप्रारम्भप्रान्तवर्तिनाऽन्तर्मुहूर्तकालेन विज्ञेयेति ।

"सेसासु च" त्ति तत्र चकारः समुच्चये, तथाच न केवलं वेदकसम्यक्त्वे किन्तूक्तनरकगत्योघादिषट्त्रिंशन्मार्गणा विहाय शेषासु सर्वासु मार्गणासु जघन्यस्थितिबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं तत्तन्मार्गणायाः स्वीया स्वीया प्राग् **मूलस्थितिबन्धविधानद्वितीयाधिकारैकजीवाश्रयकालद्वारा**ऽभिहितमाना एकजीवाश्रयोत्कृष्टा कायस्थितिर्देशोना ज्ञेयम् । कासां प्रकृतीनामित्याह–"अणिसिद्धाणं" ति प्राग् जघन्यस्थितिबन्धजघन्यान्तरप्रतिपादनावसरे यासां प्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धान्तरं न निषिद्धं ता एवोपचारादनिषिद्धास्तासामित्यर्थः । **तद्यथा**–प्रथमनरके जिननाम्नः, द्वितीयनरके चतुर्थादिषु नरकेषु च सर्वासामायुर्वर्जबन्धप्रायोग्याणाम् । एवमेवाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदेऽपि । देवौघे जिननाम्नः, ज्योतिष्कादिसर्वार्थसिद्धविमानान्तेषु प्रागिव सर्वासाम् । एकेन्द्रियौघ-सूक्ष्मैकेन्द्रियौघवर्जेषु पञ्चस्वेकेन्द्रियभेदेषु नवसु विकलेन्द्रियभेदेषु अपर्याप्तपञ्चेन्द्रिये च सर्वासाम् । पञ्चेन्द्रियौघ-तत्पर्याप्तभेदयोस्तु मतिज्ञानावरणादिपञ्चविंशतिक्षपकप्रकृतिवर्जाना शेषाणामेव नवतिप्रकृतीनाम्, उक्तपृथिवीकायौघादिपञ्चौघभेद-पञ्चसूक्ष्मपृथिवीकायाद्योघभेद-साधारणवनस्पतिकायौघभेदा इत्येकादशभेदान् विहाय शेषेषु पृथिवीकायादिपञ्चकायसत्केषु अष्टाविंशतिमार्गणास्थानेषु सर्वासाम् । एवमपर्याप्तत्रसकायेऽपि । त्रसौघपर्याप्तत्रसकाययोस्तु पञ्चेन्द्रियौघादिवत्क्षपकप्रकृतिवर्जानामेकनवतेः प्रकृतीनाम् । स्त्रीवेदपुरुषवेदयोरपि क्षपकप्रकृतीर्विहाय शेषसर्वाऽऽयुर्वर्जबन्धप्रायोग्याणाम् । ज्ञानत्रये त्वसातवेदनीय-प्रत्याख्यानावरणा-ऽप्रत्याख्यानावरणक्रोधाद्यष्टका ऽरति-शोकमोहनीय-मनुष्यद्विकौ-दारिकद्विक प्रथमसंहनना-ऽस्थिरा-ऽशुभा-ऽयशःकीर्तिनामानीत्येवमेकोनविंशतेः प्रकृतीनामेव, न शेषाणां क्षपकप्रकृतीनां निद्राद्विकादीना त्रयस्त्रिंशतो वा । मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सामायिकसयम छेदोपस्थापनसंयमेष्वसातवेदनीया-ऽरति-शोकमोहनीया-ऽस्थिरा-ऽशुभा ऽयशःकीर्तिनामलक्षणानां षण्णां प्रकृतीनामेव । एवमेव देशसंयमेऽपि । परिहारविशुद्धिके सर्वासाम् ; न वा कृतकरणत्वपुरस्कृताना जघन्यस्थिति-

बन्धस्वामित्वमते । चक्षुर्दर्शने क्षपकप्रकृतिवर्जानां सर्वासाम् । अवधिदर्शने तु मतिज्ञानादिवदेकोन-त्रिंशतेरसातवेदनीयादीनाम् । तेजोलेश्यायां स्त्रीवेद-नपुंसकवेद संहननषट्क प्रथमवर्जसंस्थानपञ्चक-मनुष्यद्विक-तिर्यग्द्विकौ-दारिकद्विक-दुर्भगत्रिक-कुखगति नीचैर्गोत्रो-द्योता-ऽऽतप-स्थावरै-केन्द्रियनाम-लक्षणानामष्टाविंशतेः । पद्मलेश्यायामप्येतासामेव केवलमातपादित्रयवर्जानां पञ्चविंशतेः प्रकृती-नाम् । सम्यक्त्वौघ क्षायिकसम्यक्त्वौ-पशमिकसम्यक्त्वेषु मतिज्ञानादिमार्गणावदेकोनत्रिंशतः । सम्य-ग्मिथ्यात्वे तु मनःपर्यवज्ञानादिमार्गणावदसातवेदनीयादीनां षण्णामेव । संज्ञिमार्गणायां नरकद्विकस्यैव । आहारकमार्गणायां तु क्षपकप्रकृतिवर्जानां सर्वासां बन्धप्रायोग्यायुर्वर्जप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धो-त्कृष्टान्तरं मार्गणादेशोनोत्कृष्टकायस्थितिर्विज्ञेयम्, न शेषाणामिति । शेषास्वपर्याप्तमनुष्य-भवनपति-व्यन्तरदेव-सर्वमनोभेद-सर्ववचोभेदौ-दारिकमिश्र वैक्रिय वैक्रियमिश्रा-ऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्र-कार्मण-काययोगा-ऽपगतवेद कषायचतुष्क-सूक्ष्मसंपरायसंयम-कृष्ण-नीललेश्या-सास्वादना-ऽनाहारकमार्गणासु तु नैकस्यापि, तासु सर्वासां जघन्यस्थितिबन्धान्तरस्य प्राग् 'असमत्तणरे' त्यादिना गाथाद्वयेन प्रति-षिद्धत्वादिति ॥५८४॥

तदेवं प्रतिपादितमादेशतो मार्गणास्थानेषु बन्धप्रायोग्यायुर्वर्जप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्ध-स्यैकजीवाश्रयं प्रस्तुतमन्तरं यथासम्भवमुत्कृष्टतोऽपि । अधुनाऽजघन्यस्थितिबन्धस्य तत्प्रतिपिपा-दयिषुः 'सेसासु लहु समयो' (गाथा–६१४)इत्यादिना यासु तिर्यग्गत्योघादिमार्गणासु सर्वासामायुर्वर्ज-बन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां तत् जघन्यतः समयमात्रं तासूत्तरत्र वक्ष्यमाणत्वात्ता मार्गणा विहाय शेषमार्ग-णासु नरकगत्योघादिक्रमेणादौ जघन्यतः प्राह—

णिरय-पढमणिरयेसुं अजहण्णाए ठिईअ अट्ठण्हं ।
मिच्छाईण जहण्णं भिन्नमुहुत्तं मुणेयव्वं ॥५८५॥
सेसधुवबंधिणीणं णवुरलुवंगाण णेव भवे ।
समयो अत्थि जहण्णं सेसाणं आउवज्जाणं ॥५८६॥ (उद्गीतिः)
दुइआइणिरयपणगे गेविज्जंतेसु जोइसाईसुं ।
अडमिच्छाईण मुहुत्तंतो समयोऽत्थि सेसाणं ॥५८७॥
सत्तमणिरये हवए अडमिच्छाइ-तिरिजुगल-णीआणं ।
अंतमुहुत्तं समयो सप्पाउग्गाण सेसाणं ॥५८८॥

(प्रे०) "णिरये"त्यादि, नरकगत्योघे प्रथमनरके च 'मिच्छ थीणद्धितिगमणचउग' इत्येता-वता संगृहीतानामष्टानां मिथ्यात्वादिप्रकृतीनाम् "अजहण्णाए" त्ति अजघन्यायाः स्थितेः

स्याभावाज्जघन्यस्थितिबन्धस्यासंज्ञित्वपश्चात्कृतानां भवप्रथमसमयद्वये एव सम्भवाच्च, विशेषतस्तु नरकौघादिवद्भिावनीयम्। "समयो"इत्यादि, सुगममिति ।।५८९-५९०।।

देवगतिमार्गणास्थानमध्याज्ज्योतिष्कादिषु द्वितीयादिनरकभेदैः समयुक्तत्वात् पञ्चस्वनुत्तरदेवमार्गणासु सर्वासां समयमात्रत्वेन 'सेसासु लहुं समयो' इत्यादिना वक्ष्यमाणत्वाच्च तच्छेषेष्वाह—

सुर-भवण-वंतरेसुं अडमिच्छाईण खलु मुहुत्तंतो ।
णत्थि इयरधुवबंधि-छउरलाईण समयोऽण्णेसिं ।।५९१।।

(प्रे०) "सुर-भवणे"त्यादि, देवगत्योघे भवनपति व्यन्तरदेवमार्गणयोश्च 'मिच्छं थिणद्धितिग-मणचउग' इत्यनेन प्राक् संगृहीतानामष्टानां मिथ्यात्वादिप्रकृतीनां खलु प्रस्तुतमजघन्यस्थितिबन्धजघन्यान्तरं 'मुहूर्तान्तः'–अन्तर्मुहूर्तं भवति । सम्यक्त्वजघन्यकालाधीनतदीयप्रकृतिबन्धजघन्यान्तरस्यैव तथात्वात् । न च तज्जघन्यस्थितिबन्धाक्षिप्तं तथा स्यादिति वाच्यम्, प्रागिव भवप्रथमसमयद्वयवर्तिनामेवैतासां जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वादिति । "णत्थि" इत्यादि, अनन्तरोक्तमिथ्यात्वादिप्रकृतिभ्य इतरासां मतिज्ञानावरणाद्येकोनचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिनीनाम् 'उरलं परघू-सासा बायरतिगे'त्येतावता प्राक्संगृहीतानां षण्णामौदारिकशरीर पराघातो-च्छ्वास-बादर-पर्याप्त-प्रत्येकनामप्रकृतीनां तु प्रस्तुतान्तरं न भवति; तदीयप्रकृतिबन्धान्तरस्याऽभावाज्जघन्यस्थितिबन्धस्य प्रागिव भवप्रथमसमयद्वय एव भावाच्चेति । "समयो" इत्यादि, तत्र जिननाम्नो जघन्यस्थितिबन्धादेव, शेषाणां तु प्रकृतिबन्धजघन्यान्तरादेव च न पुनर्जघन्यस्थितिबन्धाद्, शेषप्रकृतिजघन्यस्थितिबन्धस्य मार्गणाऽऽद्यसमययोरेव सम्भवादिति ।।५९१।।

अथ क्रमप्राप्तेन्द्रियकायमार्गणास्थानेष्वभिधातव्यं प्रस्तुतान्तरम्, परं तत्र पञ्चेन्द्रियौघ-तत्पर्याप्त-त्रसौघ-तत्पर्याप्तभेदान् विहाय शेषेषु 'सेसासु लहु समयो' इत्यादिना वक्ष्यमाणत्वात् पञ्चेन्द्रियौघादौ त्रिभणिपुस्तत्साम्याच्चक्षुरादिमार्गणास्वपि सममाह—

सव्वेसि पि जहण्णं ओघव्व खलु दुपणिंदियतसेसुं ।
चक्खु-अचक्खूसु तहा भविया-ऽऽहारेसु विण्णेयं ।।५९२।।

(प्रे०) "सव्वेसि पि" इत्यादि, अपर्याप्तभेदवर्जितयोरनन्तरोक्तयोर्द्वयोः पञ्चेन्द्रियमार्गणयोर्द्वयोश्च त्रसमार्गणयोश्चक्षुरचक्षुर्दर्शन-भव्या-ऽऽहारकमार्गणासु च प्रत्येकं "सव्वेसिं पि" त्ति आयुर्वर्जाना सर्वासामपि प्रकृतीनामित्यर्थः, न एकामपि प्रकृतिं विहायेत्युक्तसमुच्चयार्थोऽपिशब्दः । अजघन्यस्थितिबन्धस्य जघन्यमन्तरं सर्वथौघवद्भवति । तद्यथा–आहारकद्विकस्यान्तर्मुहूर्तम्, आहारकद्विकवर्जाना शेषाऽनायुःप्रकृतीनां समयमात्रमिति ।।५९२।।

अथ योगमार्गणास्थानेषु प्रस्तुतं विभणिषुः प्राग्वदाह—

धुवबंधि-जिणा-ऽऽहारगदुगाण ण पणमण-तिवयणेसु भवे ।
समयोऽण्णेसिं काये आहारदुगस्स ण समयोऽण्णेसिं ॥५१३॥(गीतिः)
संजलणा-ऽऽवरणणवग-तित्था-ऽऽहारदुग-पंचविग्घाणं ।
ण दुवयुरलेसु समयो सेसाणेमेव कोहम्मि ॥५१४॥
णवरं जिगस्स समयो तिमिस्सजोगेसु अत्थि सव्वेसिं ।
उअ णत्थि उरलमीसे धुवु-रल जिण-चउसुराईणं ॥५१५॥
वेउव्वमीसजोगे णो धुवबंधि-जिण-छउरलाईणं ।
णा-ऽऽहारमीसजोगे बारससायाइवज्जाणं ॥५१६॥
वेउव्वे णेव भवे मिच्छाईए पयडीण अट्ठण्हं ।
समयो अत्थि जहण्णं सप्पाउग्गाण सेसाणं ॥५१७॥
कम्मा-ऽऽणाहारेसुं उरालवज्जाण अधुवबंधीणं ।
जाण तिसमया कालो सिं समयो णत्थि इयराणं ॥५१८॥

(प्रे०) "धुवबंधि" इत्यादि, मूलोत्तरभेदभिन्नेषु पञ्चसु मनोयोगेषु तथा "तिवयणेसु" त्ति व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तर्वचनयोगौघ-व्यवहारवचने विहाय शेषेषु सत्याऽसत्य मिश्रवचन-योगेषु सप्तचत्वारिंशतो ध्रुवबन्धिनीनां जिननाम्न आहारकद्विकस्य चाऽजघन्यस्थितिबन्धस्यान्तर-मेव न भवेत् । कथम् ? मार्गणाद्वये ध्रुवबन्ध्यादीनां जघन्यस्थितिबन्धस्य यथासम्भवं सम्यक्त्वाद्य-भिमुखस्वामिकत्वेन निरन्तरप्रवर्तमाने प्रस्तुतान्यतममार्गणास्थाने जघन्यस्थितिबन्धस्य लाभेऽपि जघन्यस्थितिबन्धादुत्तरं तदलाभाच्च लभ्यते जघन्यस्थितिबन्धप्रयुक्तं प्रस्तुतान्तरम् । न चात्रासां ध्रुवबन्ध्यादीनां प्रकृतिबन्धान्तरमपि भवति येन तत्प्रयुक्तमिदं जायेत । उक्तशेषायुर्वर्जानां तु समयः; यतस्तासां जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनः पर्याप्ताः संज्ञिजीवास्तदीयप्रकृतिबन्धान्तरं वा भवति समयमात्रम्, तथाच लभ्यते प्रस्तुतान्तरमपि समयमात्रमिति ।

"काये" इत्यादि, काययोगौघमार्गणायामाहारकद्विकस्याऽजघन्यस्थितिबन्धान्तरं न भवति । अयमपि प्रतिषेधोऽनन्तरोक्तनीत्या साधनीयः, क्षपकाणां तज्जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वात्प्रकृतिबन्धा-न्तरस्याभावाच्चेति । "समयोऽण्णेसिं" ति आहारकद्विकं विहाय बन्धप्रायोग्याऽऽयुर्वर्जप्रकृतीनां प्रस्तुतजघन्यान्तरं समयमात्रं भवति । तत्र क्षपकस्वामिकजघन्यस्थितिबन्धानां मतिज्ञानावरणा-

"**अहण्णं**" ति प्रस्तुतमेकजीवाश्रयमन्तरं जघन्यं '**भिन्नमुहूर्तम्**' अन्तर्मुहूर्तं ज्ञातव्यम् । सम्यक्त्वावस्थायामेतद्बन्धाभावेन सम्यक्त्वजघन्यकालाधीनस्यैतासां जघन्यस्य प्रकृतिबन्धान्तरस्य तथात्वात् । न च जघन्यस्थितिबन्धजघन्यकालापेक्षया लभ्यमानं सत्तन्मूलोक्तादपि ह्रस्वं स्यादिति वाच्यम् , प्रस्तुतमार्गणाद्वये भवप्रथमसमयद्वयवर्तिनामेवैतज्जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वेन तत्प्रयुक्ता-ऽजघन्यस्थितिबन्धान्तरस्यैवानुत्पत्तेः, यत्राऽजघन्यस्थितिबन्धद्वयमध्यवर्ति जघन्यस्थितिबन्धस्तत्रैव तेन तदुत्पत्तेरिति भावः ।

"**सेसे**"त्यादि, अनन्तरोक्तमिथ्यात्वाद्यष्टध्रुवबन्धिनीर्विहाय शेषाणां मतिज्ञानावरणादी-नामेकोनचत्वारिंशतो ध्रुवबन्धिनीनां 'उरलुवगाणि ॥४८६॥ उरल परघू-सासा बायरतिग-तसपणिंदि' इत्येतावता प्राक्संगृहीतानां नवानामौदारिकाऽङ्गोपाङ्गादिप्रकृतीनां च प्रस्तुतान्तरमेव न भवति, प्रस्तुतमार्गणागतजीवानां मिथ्यात्वगुणस्थानकवच्छेषगुणस्थानेषु एतासां नैरन्तर्येण बन्धभावेन प्रकृतिबन्धान्तरस्याऽभावात् जघन्यस्थितिबन्धस्यानन्तरोक्तनीत्या भवप्रथमसमये भावेनाऽजघन्य-स्थितिबन्धद्वयमध्यगतत्वाभावाच्च । **अयम्भावः**-विवक्षितप्रकृतेरजघन्यस्थितिबन्धान्तरं तस्य प्रकृतिबन्धान्तरस्य सत्त्वे तेन, प्रकृतिबन्धान्तराभावे वा कुत्रचित्कस्याश्चिदजघन्यस्थितिबन्धद्वयमध्य-वर्तिना जघन्यस्थितिबन्धेन क्रियते, नान्यथा । प्रकृतिबन्धान्तरं त्वध्रुवबन्धिनीनामध्रुवबन्धित्वेन तथा ध्रुवबन्धिनीनामुपरितनगुणस्थानादौ स्वबन्धाभावेन जायते यदि अबन्धादूर्ध्वं पुनर्गुणस्थान-ह्रान्यादेस्तद्बन्धं यावत्तत्स्वामिनः प्रस्तुतमार्गणायामवस्थानं सम्भवेत् । जघन्यस्थितिबन्धस्या-ऽजघन्यस्थितिबन्धद्वयमध्यवर्तित्वमपि क्षपकास्वामिकत्वाद् मार्गणाद्यान्त्यसमयाभ्यामन्यत्र जायमान-त्वादेर्वा लभ्यते । न च भवतीहैकोऽपि प्रकारस्तथा च न लभ्यते प्रस्तुतान्तरमपीति । एवमन्य-त्राप्यजघन्यस्थितिबन्धान्तरप्रतिषेधः परिभावनीय इति ।

"**समयो**" इत्यादि, उक्तशेषाऽऽयुर्वर्जप्रकृतीनां मार्गणाद्वयेऽपि प्रस्तुताऽजघन्यस्थितिबन्ध-जघन्यान्तरं समयो भवति, प्रकृतिबन्धजघन्यान्तराधीनत्वात् , तस्य च समयमात्रत्वात् , केवलं जिननाम्नस्तत् जघन्यस्थितिबन्धजघन्याद्धाप्रयुक्तं विज्ञेयम् । शेषप्रकृतयस्तु मार्गणाद्वयेऽपि सातवेद-नीयाद्यास्त्रिचत्वारिंशद्वाऽऽयुर्वर्जाध्रुवबन्धिन्य इति ।

क्रमप्राप्तद्वितीयादिनरकभेदेषु विभणिषुस्तैस्तुल्यवक्तव्यत्वाज्ज्योतिष्कादिदेवभेदेष्वपि सममे-वाह-"**दुइआइ**" इत्यादि, द्वितीयादिषु षष्ठान्तेषु पञ्चसु नरकेषु ज्योतिष्कादिषु नवमग्रैवेयका-न्तेषु द्वाविंशतौ देवभेदेषु चानन्तरोक्तानां मिथ्यात्व-स्त्यानर्द्धित्रिकाऽनन्तानुबन्धिचतुष्टयलक्षणाना-मष्टानां प्रकृतीनामजघन्यस्थितिबन्धस्य जघन्यमन्तरमन्तर्मुहूर्तं भवति । एता अष्टप्रकृतीर्वि-हाय शेषाऽऽयुर्वर्जबन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां तु तत्समयमात्रं भवति । तत्राऽन्तर्मुहूर्तमनन्तरोक्तनीत्या तासामष्टानां सम्यक्त्वजघन्यकालप्रमाणप्रकृतिबन्धान्तरात् । न चेह भवप्रथमसमयद्वयादन्यत्र तासां

जघन्यस्थितिबन्धभावेन यथोक्ताद्ह्रस्वमाशङ्क्यम्, सम्यक्त्वाभिमुखानां तज्जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वेन प्रत्युत दीर्घस्यैव भावादिति । समयमात्रं तु मतिज्ञानावरणादिध्रुवबन्धिनीनां नरकभेदसनत्कुमारादिषु कासुचित्पञ्चेन्द्रियजात्यादीनां च समयमात्रजघन्यस्थितिबन्धकालाद्, अन्यासां प्रकृतिबन्धजघन्यान्तराद्पीति ।

"सत्तमे"त्यादि, सप्तमनरके यथोक्तमिथ्यात्वाद्यष्टप्रकृतीनां तिर्यग्गतितिर्यगानुपूर्वीलक्षणस्य तिर्यग्द्विकस्य नीचैर्गोत्रस्य च प्रस्तुतान्तरमन्तर्मुहूर्तं भवति । तत्र मिथ्यात्वाद्यष्टप्रकृतीनां सर्वथा प्राग्वत्प्रकृतिबन्धान्तराक्षिप्तम् । शेषतिर्यग्गत्यादीनामपि तथैव, सप्तमनरके तासामपि मिथ्यात्वादौ स्वप्रतिपक्षभूतमनुष्यद्विकादीनां बन्धाभावेन ध्रुवबन्धिकल्पत्वादिति । "समयो" इत्यादि, अनन्तरोक्तमिथ्यात्वादिप्रकृत्येकादशकं विहाय शेषाणां सप्ताशीतेर्मतिज्ञानावरणादीनामायुर्वर्जबन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां प्रस्तुतान्तरं समयमात्रं भवति, तदप्यनन्तरोक्तसमयमात्रान्तरवत् सातवेदनीयादीनां प्रकृतिबन्धान्तरादिना तथा ध्रुवबन्ध्यादीनां जघन्यस्थितिबन्धकालेन साध्यमिति ॥५८५-५८८॥

तदेवं भणितं नरकगतिमार्गणास्थानेषु तत्साम्याज्ज्योतिष्कादिषु च प्रस्तुतान्तरम् । तदनु पञ्चसु तिर्यग्गतिमार्गणास्थानेषु वक्तव्यम्, नवरं तत्र सर्वासां प्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्यैकेन्द्रियाऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्वामिकत्वेन समयमात्रजघन्यस्थितिबन्धकालप्रयुक्तप्रस्तुतान्तरस्य समयमात्रतया 'सेसासु लहु समयो' इत्यनेनोत्तरत्र वक्ष्यमाणत्वात्तद्भेदपञ्चकं विहाय मनुष्यगतिमार्गणास्थानेष्वाह—

> तिणरेसुं बोद्धव्वं आहारदुग-धुवबंधि-तित्थाणं ।
> भिन्नमुहुत्तं समयो हवेज्ज सेसाण पयडीणं ॥५८९॥
> धुवबंधि-उरालाणं असमत्तणरम्मि अंतरं णत्थि ।
> समयो अत्थि जहण्णं सप्पाउग्गाण सेसाणं ॥५९०॥

(प्रे०) "तिणरेसु" मित्यादि, अपर्याप्तनरमार्गणायामनन्तरं वक्ष्यमाणत्वात्तद्वर्जेषु त्रिष्वोघपर्याप्तमानुषीभेदभिन्नेषु नरगतिमार्गणास्थानेषु आहारकद्विकस्य सप्तचत्वारिंशतो मतिज्ञानावरणादिध्रुवबन्धिनीनां तीर्थकरनाम्नश्चाऽजघन्यस्थितिबन्धस्य जघन्यमन्तरं 'भिन्नमुहूर्तं' अन्तर्मुहूर्तं भवेत् । कथम् ? प्रकृतिबन्धजघन्यान्तराधीनत्वात्तस्य, प्रकृतिबन्धान्तरं तूपरितनगुणस्थानादावबन्धप्राप्तानामेतासां पुनरन्तर्मुहूर्तादर्वाग् बन्धाभावेन जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तमेवेति । "समयो" इत्यादि, मार्गणात्रयेऽप्युक्तशेषाणामायुर्वर्जानां षट्षष्टेरध्रुवबन्धिप्रकृतीनां प्रस्तुताजघन्यस्थितिबन्धजघन्यान्तरं समयमात्रं भवति । सुगमम्, एतासामध्रुवबन्धित्वेन प्रकृतिबन्धजघन्यान्तरस्यापि समयमात्रत्वादिति ।

"धुवबंधि" इत्यादि, अपर्याप्तमनुष्यमार्गणायां सप्तचत्वारिंशतो ध्रुवबन्धिनीनामौदारिकशरीरनामकर्मणश्चाऽजघन्यस्थितिबन्धस्य प्रस्तुतमेकजीवाश्रितमन्तरं न भवति, प्रकृतिबन्धान्तर-

स्याभावाज्जघन्यस्थितिबन्धस्यासंक्षित्वपश्चात्कृतानां भवप्रथमसमयद्वये एव सम्भवाच्च, विशेषतस्तु नरकौघादिवद्भिावनीयम् । "समयो"इत्यादि, सुगममिति ।।५८९-५९०।।

देवगतिमार्गणास्थानमध्याज्ज्योतिष्कादिषु द्वितीयादिनरकभेदैः सममुक्तत्वात् पञ्चस्वनुत्तरदेवमार्गणासु सर्वासां समयमात्रत्वेन 'सेसासु लहु समयो' इत्यादिना वक्ष्यमाणत्वाच्च तच्छेषेष्वाह—

सुर-भवण-वंतरेसुं अडमिच्छाईण खलु मुहुत्तंतो ।
णत्थि इयरधुववंधि-छउरलाईण समयोऽण्णेसिं ।।५९१।।

(प्रे०) "**सुर-भवणे**"त्यादि, देवगत्योघे भवनपति-व्यन्तरदेवमार्गणयोश्च 'मिच्छ थिणद्धितिग-मणचउग' इत्यनेन प्राक् संगृहीतानामष्टानां मिथ्यात्वादिप्रकृतीना खलु प्रस्तुतमजघन्यस्थितिबन्धजघन्यान्तरं '**मुहूर्तान्तः**'—अन्तर्मुहूर्तं भवति । सम्यक्त्वजघन्यकालाधीनतदीयप्रकृतिबन्धजघन्यान्तरस्यैव तथात्वात् । न च तज्जघन्यस्थितिबन्धाक्षिप्तं तथा स्यादिति वाच्यम्, प्रागिव भवप्रथमसमयद्वयवर्तिनामेवैतासां जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वादिति । 'णत्थि" इत्यादि, अनन्तरोक्तमिथ्यात्वादिप्रकृतिभ्य इतरासां मतिज्ञानावरणाद्येकोनचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिनीनाम् 'उरलं परघू-सासा बायरतिगे'त्येतावता प्राक्संगृहीतानां षण्णामौदारिकशरीर पराघातो-च्छ्वास-बादर-पर्याप्त-प्रत्येकनामप्रकृतीनां तु प्रस्तुतान्तरं न भवति; तदीयप्रकृतिबन्धान्तरस्याऽभावाज्जघन्यस्थितिबन्धस्य प्रागिव भवप्रथमसमयद्वय एव भावाच्चेति । "समयो" इत्यादि, तत्र जिननाम्नो जघन्यस्थितिबन्धादेव, शेषाणां तु प्रकृतिबन्धजघन्यान्तरादेव च न पुनर्जघन्यस्थितिबन्धाद्, शेषप्रकृतिजघन्यस्थितिबन्धस्य मार्गणाऽऽद्यसमययोरेव सम्भवादिति ।।५९१।।

अथ क्रमप्राप्तेन्द्रियकायमार्गणास्थानेष्वभिधातव्यं प्रस्तुतान्तरम्, परं तत्र पञ्चेन्द्रियौघ-तत्पर्याप्त-त्रसौघ-तत्पर्याप्तभेदान् विहाय शेषेषु 'सेसासु लहु समयो' इत्यादिना वक्ष्यमाणत्वात् पञ्चेन्द्रियौघादौ विभणिषुस्तत्साम्याच्चक्षुरादिमार्गणास्वपि सममाह—

सव्वेसिं पि जहण्णं ओघव्व खलु दुपणिंदियतसेसुं ।
चक्खु-अचक्खूसु तहा भविया-ऽऽहारेसु विण्णेयं ।।५९२।।

(प्रे०) "**सव्वेसिं पि**" इत्यादि, अपर्याप्तभेदवर्जितयोरनन्तरोक्तयोर्द्वयोः पञ्चेन्द्रियमार्गणयोर्द्वयोश्च त्रसमार्गणयोश्चक्षुरचक्षुर्दर्शन-भव्या-ऽऽहारकमार्गणासु च प्रत्येकं "**सव्वेसिं पि**" त्ति आयुर्वर्जाना सर्वासामपि प्रकृतीनामित्यर्थः, न एकामपि प्रकृतिं विहायेत्युक्तसमुच्चयार्थोऽपि-शब्दः । अजघन्यस्थितिबन्धस्य जघन्यमन्तरं सर्वथौघवद्भवति । **तद्यथा**—आहारकद्विकस्यान्तर्मुहूर्तम्, आहारकद्विकवर्जानां शेषाऽनायुःप्रकृतीनां समयमात्रमिति ।।५९२।।

अथ योगमार्गणास्थानेषु प्रस्तुतं विभणिषुः प्राग्वदाह—

धुवबंधि-जिणा-ऽऽहारगदुगाण ण पणमण-तिवयणेसु भवे ।
समयोऽण्णेसिं काये आहारदुगस्स ण समयोऽण्णेसिं ॥५९३॥(गीतिः)
संजलणा-ऽऽवरणणवग-तित्था-ऽऽहारदुग-पंचविग्घाणं ।
ण दुवयुरलेसु समयो सेसाणेमेव कोहम्मि ॥५९४॥
णवरं जिणस्स समयो तिमिस्सजोगेसु अत्थि सव्वेसिं ।
उअ णत्थि उरलमीसे धुवु-रल जिण-चउसुराईणं ॥५९५॥
वेउव्वमीसजोगे णो धुवबंधि-जिण-छउरलाईणं ।
णा-ऽऽहारमीसजोगे बारससायाइवज्जाणं ॥५९६॥
वेउव्वे णेव भवे मिच्छाईए पयडीण अट्ठण्हं ।
समयो अत्थि जहण्णं सप्पाउग्गाण सेसाणं ॥५९७॥
कम्मा-ऽऽणाहारेसुं उरालवज्जाण अधुवबंधीणं ।
जाण तिसमया कालो सिं समयो णत्थि इयराणं ॥५९८॥

(प्रे०) "धुवबंधि" इत्यादि, मूलोत्तरभेदभिन्नेषु पञ्चसु मनोयोगेषु तथा "तिवयणेसु" त्ति व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तर्वचनयोगौघ-व्यवहारवचने विहाय शेषेषु सत्याऽसत्य मिश्रवचन-योगेषु सप्तचत्वारिंशतो ध्रुवबन्धिनीनां जिननाम्न आहारकद्विकस्य चाऽजघन्यस्थितिबन्धस्यान्तर-मेव न भवेत् । कथम् ? मार्गणाद्वये ध्रुवबन्ध्यादीनां जघन्यस्थितिबन्धस्य यथासम्भवं सम्यक्त्वाद्य-भिमुखस्वामिकत्वेन निरन्तरप्रवर्तमाने प्रस्तुतान्यतममार्गणास्थाने जघन्यस्थितिबन्धस्य लाभेऽपि जघन्यस्थितिबन्धादुत्तरं तदलाभान्न लभ्यते जघन्यस्थितिबन्धप्रयुक्तं प्रस्तुतान्तरम् । न चात्रासां ध्रुवबन्ध्यादीनां प्रकृतिबन्धान्तरमपि भवति येन तत्प्रयुक्तमिदं जायेत । उक्तशेषायुर्वर्जानां तु समयः; यतस्तासां जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनः पर्याप्ताः संज्ञिजीवास्तदीयप्रकृतिबन्धान्तरं वा भवति समयमात्रम्, तथाच लभ्यते प्रस्तुतान्तरमपि समयमात्रमिति ।

"काये" इत्यादि, काययोगौघमार्गणायामाहारकद्विकस्याऽजघन्यस्थितिबन्धान्तरं न भवति। अयमपि प्रतिषेधोऽनन्तरोक्तनीत्या साधनीयः, क्षपकाणां तज्जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वात्प्रकृतिबन्धा-न्तरस्याभावाच्चेति । "समयोऽण्णेसिं" ति आहारकद्विकं विहाय बन्धप्रायोग्याऽऽयुर्वर्जप्रकृतीनां प्रस्तुतजघन्यान्तरं समयमात्रं भवति । तत्र क्षपकस्वामिकजघन्यस्थितिबन्धानां मतिज्ञानावरणा-

दिध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतिबन्धान्तरात्, शेषाणां तु जघन्यस्थितिबन्धस्य एकेन्द्रियादिस्वामिकत्वेन जघस्थितिबन्धादध्रुवबन्धिनीनां तूभयथा च प्रस्तुतान्तरं प्रसाधयितुं युज्यत इति तथा प्रसाध्यमिति।

"**संजलण**" इत्यादि, उक्तशेषयोर्वचनयोगौघव्यवहारवचनयोगयोरौदारिककाययोगे च संज्वलनक्रोधादिचतुष्टयम्, ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्टयलक्षणाऽऽवरणनवकम्, तीर्थकरनाम, आहारकद्विकम्, अन्तरायपञ्चकञ्चेत्येव सर्वसंख्यया एकविंशतेः प्रकृतीनां प्रस्तुतान्तरम् 'ण' त्ति न भवति। तदीयप्रकृतिबन्धान्तरस्याभावात् क्षपकाणां तज्जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वाच्चेति। "**समयो सेसाण**" त्ति सुगमम्, द्वीन्द्रियादीनां तज्जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वात्प्रकृतिबन्धान्तराद्वा यथासम्भवं साधनीयमिति। अथाऽनन्तरोक्तमार्गणत्रयवक्तव्यतया बहुसाम्यात् व्युत्क्रमेण मध्ये क्रोधमार्गणायां सापवादमतिदिशति—"**एमेवे**"त्यादिना, क्रोधमार्गणायां प्रस्तुतान्तरम् "एमेव" यथा वचनौघमार्गणादावनन्तरमभिहितं तथा भवति, "**णवरं**" ति केवलं "**जिणस्स समयो**" त्ति जिननाम्नोऽजघन्यस्थितिबन्धजघन्यान्तरं समयो भवति न तु सर्वथा न भवति। कथं समयः? समयमेकं जिननाम्नोऽबन्धादनु कालकरणेन देवगतावुत्पत्तावपि तत्र प्रस्तुतमार्गणानुवर्तनेन जिननाम्नो बन्धस्य पुनः प्रवर्तनेन च जिननाम्नः प्रकृतिबन्धान्तरस्य जघन्यतः समयमात्रत्वात्। न त्वेवं शेषाणां संज्वलनक्रोधादीनामपि तद्भविष्यतीति वाच्यम्, क्रोधमार्गणायां तदबन्धालाभेनाऽबन्धप्रयुक्तस्याऽन्तरस्याप्यभावादिति।

"**तिमिस्से**" त्यादि, औदारिकादिभेदभिन्नेषु त्रिषु मिश्रयोगेषु "**अत्थि सव्वेसिं**" ति सर्वासामायुर्वर्जबन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धान्तरं भवति। कियद्? इति चेद्। समयमात्रम्; तच्चानन्तरं "**जिणस्स समयो**" इत्यत्राभिहितस्य "समयो" इति पदस्य देहलीदीपकन्यायेनेहापि सम्बन्धाद्विज्ञेयम्। एतद्धि स्वामित्वद्वारोक्तमतद्वयमध्ये यन्मते मिश्रयोगमार्गणायाश्चरमसमयादन्यत्राऽपि मतिज्ञानावरणादिप्रकृतीनामुत्कृष्टो वा जघन्यो वा स्थितिबन्धः सम्मतस्तन्मते विज्ञेयम्, मार्गणाद्विचरमसमयादौ समयमेकं जघन्यस्थितिबन्धभावे सर्वासां तस्य लाभात्। मिश्रयोगचरमसमये एवोत्कृष्टस्य जघन्यस्य वा स्थितिबन्धस्य भावे तु ध्रुवबन्धिनीनां तत्कल्पानां च प्रस्तुतान्तरं न लभ्यत इति मतान्तरेण तत्प्रतिषेधयन्नाह—"**उअ णत्थि**" इत्यादि, 'उत'-अथवा मतान्तरेणौदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां सप्तचत्वारिंशतो ध्रुवबन्धिनीनामौदारिकदेहस्य जिननाम्नश्चतसृणां देवद्विकवैक्रियद्विकलक्षणसुरादिप्रकृतीनामिति सर्वसंख्यया त्रिपञ्चाशतोऽजघन्यस्थितिबन्धस्यान्तरं न भवति। कुतः? एतासामेकजीवमाश्रित्य प्रकृतिबन्धान्तरस्याऽभावात् जघन्यस्थितिबन्धस्य मार्गणाचरमसमय एव भावाच्च। तत्र प्रकृतिबन्धान्तराभावस्तु ध्रुवबन्धिनीनां ध्रुवबन्धित्वादेव; औदारिकशरीरनामादीनामपर्याप्तावस्थागततदीयैकस्वामिनमपेक्ष्य स्वप्रतिपक्षप्रकृतेर्बन्धाभावेन ध्रुवबन्धिकल्पत्वादिति। "**वेउव्वे**"त्यादि, वैक्रियमिश्रयोगे पुनर्मतान्तरेण

यथोक्तसर्वध्रुवबन्धिनीनां जिननाम्नः षण्णां 'उरल परघू-सासा बायरतिगे' त्येतावता संगृहीतानामौदारिकशरीरनामादीनां च न भवति । कथम् ? इति चेद्, अनन्तरोक्तनीत्या, देवानां नारकदेवतयाऽनुत्पादेनौदारिकदेहनाम्नः सूक्ष्मतयाऽनुत्पादेन बादरप्रत्येकनाम्नोरपर्याप्ततयाऽनुत्पादेन पर्याप्तक-पराघातो-च्छ्-वासनाम्नां चाविरततया बन्धभावेन प्रकृतिबन्धान्तराभावादित्यर्थः । "णाहारे" त्यादि, "ण" त्ति न भवति, कुत्र कासाम् ? आहारकमिश्रकाययोगे 'साय-रइ' इत्यादिना संगृहीताः साता-ऽसातवेदनीय-हास्य-रत्य-ऽरति शोकमोहनीय-स्थिरा ऽस्थिर-शुभा-ऽशुभ यशःकीर्त्य-ऽयशःकीर्ति-नामलक्षणा द्वादश प्रकृतीर्विहाय शेषाणाम् । कथं न ? प्राग्वदेव, ध्रुवबन्धिनीनां ध्रुवबन्धित्वेन तथा शेषाणां स्वप्रतिपक्षप्रकृतेर्बन्धाभावेन ध्रुवबन्धिकल्पतया प्रकृतिबन्धान्तराभावादित्यर्थः । तदेवं '**णत्थि उरलमीसे**' इत्यादिना ध्रुवबन्ध्यादीनामजघन्यस्थितिबन्धान्तरे प्रतिषिद्धे मार्गणात्रयेऽपि मतान्तरेण प्रतिषिद्धशेषाणामेव प्रस्तुतान्तरं जघन्यतः समयमात्रमवगन्तव्यं प्रकृतिबन्धान्तरेण साध्यं चेति ।

"वेउव्वे" इत्यादि, वैक्रियकाययोगमार्गणायां यथोक्तानां 'मिच्छ थीणद्धितिगमणचउगे' त्यनेन संगृहीतानामष्टानां मिथ्यात्वादिप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धान्तरं न भवति, देवनैरयिकाणां प्रत्येकं योगानामान्तर्मुहूर्तिकतया विरताजघन्यस्थितिबन्धस्य पुनः प्रवृत्तिं यावत्तत्स्वामिनः प्रस्तुत-मार्गणायामनवस्थानादिति । "**समयो**" इत्यादि प्राग्वदिति । "**कम्माणाहारेसु**" ति कार्मण-काययोगे तत्सहचारिण्यनाहारके च या औदारिकशरीरनामवर्जा बन्धप्रायोग्या अध्रुवबन्धिन्यः तास्वपि यासामजघन्यस्थितिबन्धस्योत्कृष्टकालस्त्रिसमयास्तासां प्रस्तुतजघन्यान्तरं समयमात्रं भवति, न शेषाणाम् । इत्येवं 'जाण ति समया कालो' इत्यनेन प्रागदर्शिता मतद्वयी संगृहीता बोद्धव्येति । उपपत्तिस्तु सुगमा, मार्गणोत्कृष्टकायस्थितेस्त्रिसमयमात्रत्वेन त्रिसमयबन्धकालानां प्रकृतीनां मध्य-समये जघन्यस्थितिबन्धभावे समयमात्रप्रस्तुताऽन्तरलाभादिति ।।५९३-५९८।।

अथ योगमार्गणाशेषभेदे आहारकयोगे सर्वासां समयमात्रजघन्यस्थितिबन्धजघन्यकालाधीन-प्रस्तुतान्तरस्य समयमात्रत्वेन 'सेसासु' इत्यादिना वक्ष्यमाणत्वात् क्रमप्राप्तवेदमार्गणासु प्रस्तुतमाह—

संजलणा ऽऽवरणणवग-जिण-विग्घाणं ण थीअ ओघव्व ।
सेसाणेवं णपुमे णवरि जिणस्स उ मुहुत्तंतो ।।५९९।।
संजलणा-ऽऽवरणणवग-विग्घाण पुमम्मि णत्थि ओघव्व ।
सेसाणं गयवेए सव्वाण भवे मुहुत्तंतो ।।६००।।

(प्रे०) "**संजलण**" इत्यादि, संज्वलनक्रोधादयश्चतस्रः, पञ्चज्ञानावरण-चतुर्दर्शनावरणलक्ष-णाऽऽवरणनवकम्, जिननाम, अन्तरायपञ्चकं चेत्येवमेकोनविंशतेः प्रकृतीनामजघन्यस्थितिबन्धस्या-ऽन्तरं स्त्रीवेदमार्गणायां न भवति । "**ओघव्व सेसाणं**" ति उक्तशेषाऽऽयुर्वर्जबन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां

त्वजघन्यस्थितिबन्धस्य प्रस्तुतं जघन्यमन्तरमोघवद्भवति । तद्यथा–आहारकद्विकस्याऽन्तर्मुहूर्तम्, शेषनिद्रापञ्चकादिपञ्चनवतिप्रकृतीनां समयमात्रमिति । तत्र प्रतिषेधस्तासां प्रकृतिबन्धान्तराभावात् जघन्यस्थितिबन्धस्य क्षपकस्वामिकत्वाच्च । प्रकृतिबन्धान्तराभावस्तु तासां संज्वलनक्रोधादीनामष्टादशानामबन्धात्प्रागेव स्त्रीवेदमार्गणाया विच्छेदात् । जिननाम्नस्तु बन्धविच्छेदलाभेऽपि पुनस्तद्बन्धात्प्रागेव मार्गणाया विच्छेदात् । अन्तर्मुहूर्तमोघवत् । समयस्तु तासां निद्रापञ्चकादीनां जघन्यस्थितिबन्धस्याऽसंज्ञिस्वामिकत्वादध्रुवबन्धिनीनां तु परावर्तमानत्वाच्चेति । अथ नपुंसकवेदमार्गणायां सापवादमतिदिशति–"एवं णपुंसे" इत्यादि, नपुंसकवेदमार्गणायां सर्वासामायुर्वर्जप्रकृतीनामजघन्यस्थितिबन्धस्य जघन्यमन्तरं 'एवं' स्त्रीवेदमार्गणावद् , केवलं तत्र जिननाम्नस्तन्निषिद्धम् , अत्र मार्गणायां तु तदन्तर्मुहूर्तं वाच्यम् । कथम्? नरकाभिमुखानां मिथ्यात्वोदये तद्बन्धाभावेन नारकतयोत्पत्तौ तद्बन्धस्य पुनर्निरन्तरप्रवृत्तप्रस्तुतमार्गणायां लाभेन च तदीयप्रकृतिबन्धजघन्यान्तरस्यान्तर्मुहूर्तत्वात् प्रस्तुतान्तरस्य तदधीनत्वाच्चेति । "संजलण" इत्यादि, संज्वलनक्रोधादीनामनन्तरोक्तानां केवलं जिननामवर्जानामष्टादशप्रकृतीना प्रस्तुतान्तरं पुरुषवेदमार्गणायां न भवति । शेषाणां पुनस्तदोघवद्भवति । उपपत्तिस्त्विह स्त्रीवेदमार्गणावदेव, केवलं जिननाम्न इहौघवत्समयमात्रप्रस्तुतान्तर तद्बन्धविच्छेदोत्तरं भवक्षयेण देवगतावुत्पत्त्या तत्रापि पुवेदमार्गणाया अनुवर्तनेन प्रकृतिबन्धान्तराक्षिप्तं बोद्धव्यमिति । "गयवेए" इत्यादि, अक्षरार्थः सुगमः, उपपत्तिस्तूपशमश्रेणिसम्भव्यन्तर्मुहूर्तमात्रप्रकृतिबन्धान्तरानुसारेण कार्येति ।।५९९-६००।।

अथ क्रमप्राप्तकषायमार्गणास्थानेषु प्रस्तुतान्तरमभिधातव्यम् , तत्र 'एमेव कोहम्मि' इत्यादिना प्राक् क्रोधमार्गणायां सापवादं वचनयोगसामान्यादिवत्कथितत्वाच्छेषमार्गणास्थानेषु दर्शयन्नाह—

कोहव्व माण-माया-लोहेसु णवरि कमेग-दु-चउण्हं ।
संजलणाण जहण्णं विण्णेयं अंतरं समयो ।।६०१।।

(प्रे०) "कोहव्व" इत्यादि, मान-माया लोभमार्गणासु प्रस्तुतान्तरं क्रोधमार्गणावद्भवति, "णवरि' त्ति 'नवरं'–केवलं क्रमाद् एकस्य सज्वलनक्रोधस्य द्वयोः संज्वलनक्रोधमानयोः, चतुर्णा संज्वलनक्रोधादीनामजघन्यस्थितिबन्धजघन्यान्तरं समयो विज्ञेयम् । तथाच मानमार्गणायां क्रोधवर्जसंज्वलनत्रया-ऽऽवरणनवका-ऽन्तरायपञ्चका-ऽऽहारकद्विकलक्षणानामेकोनविंशतेः प्रकृतीना प्रस्तुतान्तरं न भवति, शेषाणामायुर्वर्जानां सप्तनवतेस्तु तज्जघन्यं समयमात्रम् । एवमेव मायामार्गणायाम् , केवलं संज्वलनक्रोधवत् सज्वलनमानस्यापि वर्जनीयत्वादष्टादशस्य प्रतिषेधः, अष्टनवतेः समयश्च । लोभमार्गणायामप्येवमेव, केवलं तत्र संज्वलनक्रोध मानवत्संज्वलनमायालोभयोरपि वर्जनीयत्वात् षोडशप्रकृतानां प्रतिषेधः, शतप्रकृतीनां समयश्चेति । इहोपपत्तिरपि क्रोधमार्गणावदेव, केवलमिह एक-

द्विचतुर्णां संज्वलनक्रोधादीनां समयमात्रान्तरकथनं तत्तन्मानादिमार्गणासु क्रोधादीनामेकादिसंज्वलनानामबन्धस्य लाभेन तदीयप्रकृतिबन्धान्तरस्य जघन्यतः समयमात्रत्वादिति ॥६०१॥

अथ क्रमप्राप्तज्ञान-तत्प्रतिपक्षमार्गणास्थानेषु प्रस्तुतमजघन्यस्थितिबन्धजघन्यान्तरं विभणिषुस्तत्तुल्यवक्तव्योपेतान्यान्यमार्गणाः संगृह्याह—

सुरविउवाऽऽहारगदुग-ऽडकसायाणं तिणाण-ओहीसुं ।
सम्मु-वसम-खइएसुं भिन्नमुहुत्तं खणोऽण्णेसिं ॥६०२॥
बारससायाईणं समयो मणणाण-संजमेसु लहुं ।
णेयं अंतमुहुत्तं सप्पाउग्गाण सेसाणं ॥६०३॥
धुवबंधीण विभंगे णत्थि जहण्णमियराण होइ खणो ।

(प्रे०) "सुरे" त्यादि, मनःपर्यवज्ञानमार्गणायामनन्तरं वक्ष्यमाणत्वात् केवलज्ञाने कषायप्रत्ययस्थितिबन्धस्यैवाभावाच्च तद्वर्जेषु मतिज्ञान-श्रुतज्ञानाऽवधिज्ञानमार्गणास्थानेषु, अवधिदर्शने, सम्यक्त्वौघे, औपशमिकसम्यक्त्वे, क्षायिकसम्यक्त्वे चेत्येवं सर्वसंख्यया सप्तमार्गणासु सुरद्विकस्य देवगतिदेवानुपूर्वीनामलक्षणस्य वैक्रियद्विकस्य वैक्रियशरीरतदङ्गोपाङ्गनामलक्षणस्या-ऽऽहारकद्विकस्याऽऽहारकशरीरतदङ्गोपाङ्गनामलक्षणस्य 'अडकसायाण' ति व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेर्मध्यमानामप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरणक्रोधादिलक्षणानामष्टानां कषायाणामित्येवं सर्वसंख्यया चतुर्दशप्रकृतीनामजघन्यस्थितिबन्धस्य जघन्यमन्तरमन्तर्मुहूर्तं भवति । मार्गणासप्तकेऽपि शेषाऽऽयुर्वर्जबन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां तु तत्समयमात्रं भवति । तत्राऽन्तर्मुहूर्तं तासां जघन्यस्थितिबन्धस्य देशविरत्याद्यभिमुखस्वामिकतया प्रकृतिबन्धान्तरापेक्षया लाभात् , प्रकृतिबन्धान्तरस्य तूपरितनादिगुणस्थानजघन्यकालाधीनत्वेन जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तत्वाच्च । समयस्तु सातवेदनीयादीनामध्रुवबन्धितया तथा मतिज्ञानावरणादीनां स्वाऽबन्धद्वितीयसमये कालकरणादुत्तरं देवगतौ पुनस्तद्बन्धस्य लाभेन प्रकृतिबन्धजघन्यान्तरस्य समयमात्रत्वादित्येवं यथासम्भवं साधनीयमिति ।

"बारसे"त्यादि, मनःपर्यवज्ञान-संयमौघमार्गणयोः 'साय रइथिरदुग' इत्यादिना संगृहीतानां स्वप्रतिपक्षसहितानां सातवेदनीय-हास्य-रतिमोहनीय-स्थिर-शुभ-यशःकीर्तिनाम्नां द्वादशप्रकृतीनामजघन्यस्थितिबन्धस्य जघन्यमन्तरं समयो भवति । सप्रतिपक्षबन्धप्रायोग्यतया तासां प्रकृतिबन्धजघन्यान्तरस्य समयमात्रत्वात् । "णेयं अंतमुहुत्तं" ति शेषाणां बन्धप्रायोग्याऽऽयुर्वर्जप्रकृतीनां तु तत्प्रस्तुतान्तरमन्तर्मुहूर्तं ज्ञेयम् , अबन्धाद्धाधीनतदीयप्रकृतिबन्धजघन्यान्तरस्याप्यन्तर्मुहूर्तत्वात् जघन्यस्थितिबन्धस्य क्षपकस्वामिकतया प्रस्तुतान्तरस्य प्रकृतिबन्धान्तराधीनत्वाच्चेति । "धुवबंधीण" इत्यादि, विभङ्गज्ञानमार्गणायां सप्तचत्वारिंशतो मतिज्ञानावरणादिध्रुवबन्धिनीनामजघन्य-

स्थितिबन्धस्यान्तरमेव न भवति । संयमाभिमुखानां तदीयजघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वेन जघन्य-स्थितिबन्धसमाप्त्या सममेव प्रस्तुतमार्गणाया विच्छेदात्, प्रकृतिबन्धान्तराभावाच्चेति । "इयराण होइ खणो" त्ति ध्रुवबन्धिनीरायुश्चतुष्टयं च विहाय शेषाणां बन्धप्रायोग्याणां सातवेदनीयादीनां षट्पष्टेरध्रुवबन्धिनीनां प्रस्तुतान्तरम् "खणो" त्ति समयो भवति । एतच्छेषसर्वप्रकृतीनामध्रुवबन्धित्वेन प्रकृतिबन्धजघन्यान्तरस्य समयमात्रत्वादिति ॥६०२-६०३॥

ज्ञानप्रतिपक्षभूतयोः शेषयोर्मत्यज्ञान-श्रुताज्ञानमार्गणयोस्तिर्यग्गत्योघादिमार्गणावत्सर्वासामायुर्वर्जबन्धप्रायोग्यप्रकृतीनामजघन्यस्थितिबन्धजघन्यान्तरस्य समयमात्रत्वेन 'सेमासु लहु समयो सप्पाउग्गाण सव्वाण' इत्यनेन वक्ष्यमाणत्वात्क्रमप्राप्तसंयम-तत्प्रतिपक्षमार्गणासु प्रस्तुतमभिधातव्यम्, तत्र संयमोघे 'बारससायाईणं' इत्यादिना मनःपर्यवज्ञानेन सममभिहितत्वात्तच्छेषेष्वाह—

अजए भिन्नमुहुत्तं जिणस्स समयोऽत्थि सेसाणं ॥६०४॥
बारससायाईणं सामाइअ-छेअ-देस-मीसेसु ।
समयो भिन्नमुहुत्तं आहारदुगस्स णऽण्णेसिं ॥६०५॥
बारससायाईणं परिहारम्मि समयो भवे, समयो ।
अंतमुहुत्तं व भवेऽण्णेसिं, सुहुमे ण सव्वेसिं ॥६०६॥

(प्रे०) "अजए" इत्यादि, असंयममार्गणायां जिननाम्नोऽजघन्यस्थितिबन्धस्य जघन्यमन्तरं 'भिन्नमुहूर्तम्' अन्तर्मुहूर्तं भवेत् । संयमलक्षणमार्गणान्तराभिमुखानां तज्जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वात् प्रकृत्यबन्धकालस्य नपुंसकवेदमार्गणावज्जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तत्वाच्चेति । "समयो" इत्यादि, शेषबन्धप्रायोग्यायुर्वर्जप्रकृतीनां तु तज्जघन्यमन्तरं समयो भवति । एकेन्द्रियाऽसञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां तज्जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वेन समयमात्रजघन्यस्थितिबन्धकालाक्षिप्तत्वादिति । "बारसे"त्यादि, सामायिकसंयम-छेदोपस्थापनसंयम देशसंयम सम्यग्मिथ्यात्वमार्गणासु प्रत्येकं 'साय-रइ थिरदुगे'त्यादीना संगृहीतानां सात-रति हास्य-स्थिर-शुभ यशःकीर्ति-तत्प्रतिपक्षभूतानां सातवेदनीयादिद्वादशप्रकृतीनां प्रस्तुतजघन्यान्तरं समयो भवति, प्रकृतिबन्धान्तरस्य तथात्वात् । आहारकद्विकस्य तु तदन्तर्मुहूर्तं भवति, स्वीयप्रकृतिबन्धजघन्यान्तराधीनत्वात्तस्य । सातवेदनीयादिद्वादशप्रकृतीराहारकद्विकं च विहाय शेषायुर्वर्जबन्धप्रायोग्यप्रकृतीनामजघन्यस्थितिबन्धस्याऽन्तरमेव न भवति । शेषाणां जघन्यस्थितिबन्धस्य मार्गणान्तराभिमुखक्षपकान्यतरस्वामिकत्वात्प्रकृतिबन्धान्तरस्याभावाच्चेति । "बारसे"त्यादि, परिहारविशुद्धिकसंयमेऽनन्तराभिहितनाम्नां द्वादशानां सप्रतिपक्षसातवेदनीयादिप्रकृतीनामजघन्यस्थितिबन्धजघन्याऽन्तरं समयो भवेद् । कथम् ? अनन्तरोक्तनीत्या । "समयो अंतमुहुत्तं व" त्ति सातवेदनीयादिभ्योऽन्यासामायुर्वर्जानां तु तत्समयोऽन्तर्मुहूर्तं वा

भवेत् । स्वामित्वद्वारदर्शिते कृतकरणत्वपुरस्कृतानां जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वमतेऽन्तर्मुहूर्तं भवेत्, तन्मते तासां जघन्यस्थितिबन्धजघन्यकालस्याप्यन्तर्मुहूर्तत्वात् प्रकृतिबन्धान्तराभावेन प्रस्तुतान्तरस्य जघन्यस्थितिबन्धाद्धाऽऽक्षिप्तत्वाच्च । तदन्यमते तु समय, तदन्यमते स्वस्थानविशुद्धानां शेषप्रकृतिजघन्यस्थितिबन्धस्वामितया तासां जघन्यस्थितिबन्धजघन्यकालस्य समयत्वादित्यर्थः । "सुहुमे" त्यादि, सूक्ष्मसम्परायसंयमे एकस्या अपि बन्धप्रायोग्यप्रकृतेरजघन्यस्थितिबन्धान्तरं न भवति, जघन्यस्थितिबन्धस्य क्षपकस्वामिकत्वात् प्रकृतिबन्धान्तराभावाच्चेति ॥६०४-६०६॥

अथ दर्शनमार्गणाभेदमध्येऽवधिदर्शने 'सुरविउव्वाहारगदुगे'त्यादिना मतिज्ञानादिमार्गणाभिः समम्, चक्षुरचक्षुर्दर्शनमार्गणयोः 'तव्वेस पि जहण्ण ओघव्वे' त्यादिना पञ्चेन्द्रियौघादिमार्गणाभिः साकमभिहितत्वात्प्रस्तुतान्तरस्य क्रमप्राप्तलेश्यामार्गणास्थानेषु तच्चिकथयिपुराह—

तेऊअ एगतीसा धुवबंधि-यणपरघाइ-तित्थाणं ।
सुरविउवाहारदुगाणं समयो उअ मुहुत्तंतो ॥६०७॥
भिन्नमुहुत्तं हवए अडमिच्छाईण अंतरं णत्थि ।
मज्झऽट्ठकसायाणं समयो सेसाण बोद्धव्वं ॥६०८॥
पउमाअ मुहुत्तंतो समयो व भवे पणिंदियतसाणं ।
तेउव्व जाणियव्वं सप्पाउग्गाण सेसाणं ॥६०९॥
अडमिच्छाइ-सुरविउवआहारदुगाण होइ सुक्काए ।
भिन्नमुहुत्तं ण भवे मज्झकसायाण य समयोऽण्णेसिं ॥६१०॥(गीतिः)

(प्रे०) "तेऊअ" इत्यादि, तेजोलेश्यामार्गणायां मिथ्यात्व-स्त्यानर्द्धित्रिका-ऽनन्तानुबन्ध्य-ऽप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरणक्रोधमानमायालोभलक्षणप्रकृतिषोडशकं विहाय शेषाणां मतिज्ञानावरणादीनामेकत्रिंशतो ध्रुवबन्धिनीनां 'परघूसासा बायरतिगे'त्येतावता सगृहीतानां पञ्चानां पराघातनामादीनां तीर्थकरनाम्नो देवद्विक-वैक्रियद्विका-ऽऽहारकद्विकानां चेत्येवं सर्वसंख्यया त्रिचत्वारिंशतः प्रकृतीनामजघन्यस्थितिबन्धस्य जघन्यमन्तरम् "समयो उअ मुहुत्तंतो" त्ति कृतकरणत्वपुरस्कृतानामेवैतासां जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वमतेऽन्तर्मुहूर्तम्, तदन्यमते तु समयः । कथम् ? कृतकरणत्वपुरस्कृतानामेव तज्जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वमभ्युपगच्छतां मते जघन्यस्थितिबन्धकालस्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तत्वात्, प्रस्तुतान्तरस्य तदाक्षिप्तत्वाच्च; तदन्यमते स्वस्थानसर्वविशुद्धाऽप्रमत्तसयताना तज्जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वेन जघन्यस्थितिबन्धकालस्य जघन्यतः समयमात्रत्वात् प्रस्तुतान्तरस्य तदधीनत्वाच्चेति । न च कृतकरणावस्थाप्राग्वर्तिनां कथं तेजोलेश्यामार्गणायां प्रवेशः, तेषां तेजोलेश्यासम्भवे वा कथं तस्यास्तेजोलेश्याया जघन्यस्थितिबन्धादूर्ध्वमजघन्यस्थितिबन्धप्रा-

रम्भं यावत् प्रवृत्तिरिति आशङ्कयम्, तस्य प्राग् **मूलस्थितिबन्धद्वितीयाधिकारस्वामित्व-द्वारे** 'अपमत्तो अहवा' इत्यस्या (१२८)गाथाया वृत्तौ साक्षेपं परिहृतत्वादिति । "**भिन्नमुहुत्तं**" इत्यादि, प्रस्तुतमार्गणाया मिथ्यात्व-स्त्यानर्द्धित्रिका-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्कलक्षणानामष्टानां मिथ्यात्वादिप्रकृतीनां प्रस्तुतान्तरमन्तर्मुहूर्तं भवति, तासां प्रकृतिबन्धजघन्यान्तरस्य तथात्वात्, प्रस्तुतान्तरस्य तदधीनत्वाच्च । भावना तु प्रस्तुतमार्गणाप्रविष्टदेवजीवापेक्षया कार्या, न पुनस्तिर्यग्मनुष्यापेक्षया, तेषां परावर्तमानलेश्याकत्वेन मिथ्यात्वादेरबन्धादनु पुनस्तद्बन्धं यावत् प्रस्तुतमार्गणायामेवाऽनवस्थितेरिति । "**अंतरं णत्थि**" इत्यादि, मध्यमानामप्रत्याख्यानावरण प्रत्याख्यानावरणलक्षणानामष्टानां क्रोधादिकषायप्रकृतीनामजघन्यस्थितिबन्धस्यान्तरमेव न भवति; नारक-तिर्यग् देवानां तदीयाऽबन्धस्य जघन्यस्थितिबन्धस्य वाऽजायमानत्वात्, मनुष्याणां तयोर्जायमानत्वेऽपि अबन्धस्य गुणान्तरगमनाधीनत्वेन जघन्यस्थितिबन्धस्य गुणस्थानान्तराभिमुखस्वामिकत्वेन च पुनः प्रकृतिबन्धं यावदजघन्यस्थितिबन्धं यावद्वा लेश्याकालस्याऽपूरणात्, तत्स्वामिनः प्रस्तुतलेश्यातो बहिर्भवनादिति भावः । "**समयो**" इत्यादि, उक्तशेषाणामेकोनपञ्चाशतः सातवेदनीयाद्यायुर्वर्जाध्रुवबन्धिनीनां प्रस्तुतान्तरं समयमात्रं भवति, परावर्तमानबन्धत्वेन तासां सातवेदनीयादीनां प्रकृतिबन्धजघन्यान्तरस्य समयमात्रत्वादिति ।

"**पउमाअ**" इत्यादि, पद्मलेश्यामार्गणायां पञ्चेन्द्रियत्रसनाम्नोरजघन्यस्थितिबन्धस्य जघन्यमन्तरं "**मुहुत्तंतो समयो व.**" त्ति अनन्तरं तेजोलेश्यायां दर्शितनीत्या यथासम्भवमेकेन मतेनाऽन्तर्मुहूर्तम्, अन्येन मतेन समयश्च ज्ञातव्यम् । "**तेउव्व**" त्ति उक्तप्रकृतिद्वयं विहाय शेषाऽऽयुर्वर्जबन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां प्रस्तुतान्तरं पुनः "**तेउव्व**" त्ति 'तेऊअ एगतीसा' इत्यादि-गाथाद्वयेनाऽनुपदमेव तेजोलेश्यायां दर्शितप्रस्तुतान्तरवद्भवति । उपपत्तिरपीह तेजोलेश्यामार्गणावदेव द्रष्टव्या, केवलमिह पद्मलेश्यायामेकेन्द्रियप्रायोग्यप्रकृतीनामपि बन्धाभावेन पञ्चेन्द्रियत्रसनाम्नोः ध्रुवबन्धकल्पत्वमिति तत्रापि पराघातादिवन्मतद्वयी प्रदर्शितेति ।

"**अडमिच्छाइ**" इत्यादि, शुक्ललेश्यामार्गणाया मिथ्यात्व स्त्यानर्द्धित्रिका ऽनन्तानुबन्धि-चतुष्टयानां देवद्विकवैक्रियद्विकाऽऽहारकद्विकानां च प्रस्तुतान्तरमन्तर्मुहूर्तं भवेत् । तत्राऽष्टानां पूर्ववत्, देवद्विकादीनां तूपशमश्रेणि समारुह्य क्रमेण प्रपततः पुनस्तद्बन्धं प्रारभमाणस्य जीवस्यैतासामबन्धकालमपेक्ष्य, न पुनर्जघन्यस्थितिबन्धात्, तस्य क्षपकस्वामिकत्वात्, न वा देवजीवमपेक्ष्य, तदप्रायोग्यत्वादासामिति । "**ण भवे**" इत्यादि, मध्यमानामप्रत्याख्यानावरणप्रत्याख्यानावरण-कषायाणां पुनः प्रस्तुतान्तरमेव न भवति । प्रतिषेधोऽयं पद्मलेश्यावद्बोध्य इति । "**समयो**" इत्यादि, उक्तद्वाविंशतिप्रकृतीर्विहाय शेषाऽऽयुर्वर्जबन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां प्रस्तुतान्तरं समयमात्रं भवति । तत्र ज्ञानावरणादिध्रुवबन्धिनीनां समयमेकमबन्धादनु देवतयोत्पत्त्या प्रकृतिबन्धान्तरस्य समयमात्र-

त्वात्, सातवेदनीयाद्यध्रुवबन्धिनीनां त्वध्रुवबन्धित्वेन तथात्वादिति ॥६०७–६१०॥

अथाऽशुभलेश्यात्रये जिननाम्नो जघन्यस्थितिबन्धस्य स्वस्थानविशुद्धस्वामिकत्वेन शेषसर्वासामायुर्वर्जानां जघन्यस्थितिबन्धस्य यथासम्भवमेकेन्द्रिया-ऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्वामिकत्वेन च समयमात्रतदीयजघन्यबन्धकालप्रयुक्तस्य प्रस्तुतान्तरस्य समयमात्रतया 'सेसासु लहु समओ' इत्यादिना वक्ष्यमाणत्वात् तथा भव्यमार्गणायाम् 'सव्वेसि पि जहण्ण ओघव्व' इत्यादिना पञ्चेन्द्रियौघादिमार्गणाभिः सममुक्तत्वादभव्यमार्गणायामशुभलेश्यात्रयवदेव 'सेसासु' इत्यादिना वक्ष्यमाणत्वाच्च क्रमप्राप्तसम्यक्त्व-तत्प्रतिपक्षमार्गणास्वभिधित्सुः सम्यक्त्वौघ-क्षायिकौ-पशमिकसम्यक्त्वेषु प्राग् मतिज्ञानादिना सहाभिहितत्वेन क्षायोपशमिकसम्यक्त्वे प्राह—

बारसकसायाईणं तह मज्झकसाय-पणणराईणं ।
ओहिव्व वेअगे खलु परिहारव्व अवसेसाणं ॥६११॥

(प्रे०) "**बारसे**"त्यादि, '**वेअगे**" त्ति क्षायोपशमिकसम्यक्त्वे 'सायरइथिरदुगे' त्यादिना संगृहीतानां सात-हास्य रति स्थिर-शुभ यशःकीर्ति-तत्प्रतिपक्षभूतानां सातवेदनीयादिद्वादशप्रकृतीनां तथा मध्यमानामप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरणक्रोधाद्यष्टकषायप्रकृतीनां पञ्चानां मनुष्यद्विकौ-दारिकद्विक-वज्रर्षभनाराचसंहनननामलक्षणानां पूर्वं 'नरदुगे'त्यादिना संग्रहगाथांशेन संगृहीतानां मनुष्यगत्यादिप्रकृतीनामित्येवं सर्वसंख्यया पञ्चविंशतेः प्रस्तुतान्तरम् "**ओहिव्व**" त्ति अवधिज्ञानमार्गणावद्भवति । **तद्यथा**—मध्यमकषायाणामन्तर्मुहूर्तम्, शेषसातवेदनीयादिसप्तदशप्रकृतीनां समयः । तच्च तद्वदेवोपपाद्यमिति । उक्तपञ्चविंशतिप्रकृतीर्विहाय शेषाऽऽयुर्वर्जबन्धप्रायोग्याणां पुनः प्रस्तुतान्तरं "**परिहारव्व**" त्ति परिहारविशुद्धिकसयममार्गणावत्, अर्थात् कृतकरणत्वपुरस्कृतानामप्रमत्तसंयतानां जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वमतेऽन्तर्मुहूर्तम्, तदन्यमते तु समयमात्रम् । इदमपि परिहारविशुद्धिकमार्गणावदेवावसातव्यम् । सर्वथा परिहारविशुद्धिकवदनतिदेशस्तु परिहारविशुद्धिकसंयमे मध्यकमषायाणामौदारिकद्विकादीनां पञ्चानाञ्च बन्धाभावात्, सर्वथाऽवधिवदनतिदेशस्तु तत्र क्षपकाणां मतिज्ञानावरणादिजघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वेन प्रकृतिबन्धान्तरप्रयुक्तसमयमात्रान्तरस्य लाभेन च यथोक्तमतद्वयस्याऽप्रसरादिति ॥६११॥

अथ संज्ञिमार्गणायां प्रस्तुतमाह—

सण्णिम्मि मुहुत्तंतो हवेज्ज बारसकसाय-मिच्छाणं ।
थीणद्धितिगा-ऽऽहारगदुगाण समयोऽत्थि सेसाणं ॥६१२॥

(प्रे०) "**सण्णिम्मि**" इत्यादि, संज्ञिमार्गणायां संज्वलनचतुष्टयवर्जानामनन्तानुबन्ध्यादीनां द्वादशकषायाणां मिथ्यात्वस्य स्त्यानर्द्धित्रिकस्याऽऽहारकद्विकस्य चेत्येवमष्टादशप्रकृतीनामजघन्य-

स्थितिबन्धस्य जघन्यमन्तरम् "**मुहुत्तो हवेज्ज**"त्ति अन्तर्मुहूर्तं भवेत् । कुतः ? आहारकद्विकजघन्यस्थितिबन्धस्य क्षपकस्वामिकत्वेन शेषाणां तस्याऽसंज्ञित्वपश्चात्कृतस्वामिकत्वेन च जघन्यस्थितिबन्धकालापेक्षयाऽसम्भवात्, प्रकृतिबन्धान्तरस्य तूपरितनगुणस्थानकालाधीनत्वात् तेषां चोपरितनगुणस्थानानां जघन्यकालस्याऽन्तर्मुहूर्तत्वाच्चेति । "**समयो**" इत्यादि, उक्तशेषाणामायुर्वर्जबन्धप्रायोग्याऽष्टनवतिप्रकृतीनां प्रस्तुतान्तरं तु समयमात्रं भवति, तत्र जिननाम्नो मतिज्ञानावरणादीनां ध्रुवबन्धिनीनां चोपशमश्रेणिप्रयुक्तसमयमात्रप्रकृत्यबन्धजघन्यकालस्य तथा शेषाऽध्रुवबन्धिनीनां त्वध्रुवबन्धित्वेन प्रकृत्यबन्धजघन्यकालस्य समयमात्रत्वादिति ॥६१२॥

अथ सम्यग्मिथ्यात्वे प्राग् (गाथा-६०६) सामायिकसंयममार्गणादिना समं कथितं प्रस्तुतान्तरम्, एवं संज्ञिमार्गणायामनन्तरगाथायां तथाहारकमार्गणायां प्रागेव कथितं (गाथा-५९२) पञ्चेन्द्रियौघादिमार्गणाभिः समम्, एवमनाहारकमार्गणायामपि 'कम्माणाहारेसु' इत्यादिना कार्मणकाययोगेन सममभिहितम्, तथाचावशिष्टे सासादने मिथ्यात्वेऽसंज्ञिनीति मार्गणात्रये प्राग् यत्रानुक्तं तत्र तिर्यग्गत्योघादिमार्गणासु च सर्वासामायुर्वर्जबन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां तज्जघन्यमन्तरं समयमात्रमिति दर्शयन्नाहाऽऽर्यार्धम्—

सेसासु लहु समयो सप्पाउग्गाण सव्वपयडीणं ।

(प्रे०) "**सेसासु**" इत्यादि, सुगमम्, केवलं "**सव्वपयडीण**"मिति आयुर्वर्जसर्वप्रकृतीनाम्, न पुनरायुःप्रकृतीनाम्, तदीयाऽजघन्यस्थितिबन्धद्विविधान्तरस्य 'तिरियमणुसे' त्यादिना वक्ष्यमाणत्वात् । शेषमार्गणाः पुनरिमाः सप्तसप्ततिः— [५]सर्वतिर्यग्गतिभेदाः, [५]पञ्चानुत्तरदेवभेदाः, [११]सर्वे एकेन्द्रियविकलेन्द्रियभेदाः, [१]अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियः, [३६]सर्वे पृथिव्यादिपञ्चकायभेदाः, [१]अपर्याप्तत्रसकायः, [१]आहारककाययोगः, [२]मत्यज्ञान श्रुताज्ञाने, [३]अप्रशस्तलेश्यात्रयम्, [१]अभव्यः, [२]सासादनमिथ्यात्वे, [१]असंज्ञि चेति । एतासु सर्वासामायुर्वर्जबन्धप्रायोग्यप्रकृतीनामजघन्यस्थितिबन्धस्य जघन्यान्तरं समयमात्रं तु कुत्रचित्तिर्यग्गत्योघादौ एकेन्द्रियाणामसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां वा जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वेन समयमात्रजघन्यस्थितिबन्धजघन्यकालप्रयुक्तम्, एवमनुत्तरभेदादावपि एकेन्द्रियादीनामप्रवेशेन तेषां जघन्यस्थितिबन्धस्वामितयाऽलाभेऽपि गुणस्थानान्तरानभिमुखानामक्षपकाणां स्वस्थानविशुद्धानां जघन्यस्थितिबन्धस्वामितया लाभेन समयमात्रजघन्यस्थितिबन्धकालप्रयुक्तमित्यादि यथासम्भवं प्राक् तत्र तत्र दर्शितमेवेति ॥

तदेवं प्रतिपादितं सर्वासु मार्गणासु सर्वासामायुर्वर्जबन्धप्रायोग्यप्रकृतीनामजघन्यस्थितिबन्धस्यान्तरं यथासम्भवं जघन्यतः, साम्प्रतं तदेवोत्कृष्टतः प्रतिपिपादयिषुर्लाघवार्थी सापवादमतिदिशति सार्धयाऽऽर्यया—

सव्वासु गुरु णेयं अणिसिद्धाण अगुरुठिइव्व ॥६१३॥

णवरि अणुक्कोसाए ठिईअ जाण जहि अंतरं णत्थि ।
ण य इह पडिसिद्धं सिं अंतमुहुत्तं मुणेयव्वं ॥६१४॥

(प्रे०) "**सव्वासु**" इत्यादि, यासु नरकगत्योघादिष्वनाहारकपर्यन्तासु मतिज्ञानावरणादिकर्मणां कषायप्रत्ययः स्थितिबन्धो जायते तासु सर्वासु "**गुरुं णेयं**" ति प्रस्तुतं बन्धप्रायोग्यायुर्वर्जोत्तरप्रकृतीनामजघन्यस्थितिबन्धस्याऽन्तरं 'गुरु' उत्कृष्टम् , अस्य चान्वयः "**अगुरुठिइव्व**" इति परेण, तथाचानुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य प्रागदर्शिततत्तन्मार्गणाभाव्युत्कृष्टान्तरवद्भवति । किं सर्वासामित्याह–"**अणिसिद्धाण**" त्ति अनन्तरं तासामजघन्यस्थितिबन्धजघन्यान्तरप्रस्तावे यत्र यासां तन्निषिद्धम् ताः निषिद्धाः न निषिद्धाः अनिषिद्धास्तासाम् , अप्रतिषिद्धाजघन्यस्थितिबन्धजघन्यान्तराणां प्रकृतीनां न पुनः प्रतिषिद्धाजघन्यस्थितिबन्धजघन्यान्तराणां प्रकृतीनाम् , जघन्यान्तराभावे उत्कृष्टान्तरस्याप्यभावादिति भावः । इत्येवमतिदिष्टे या काचिदतिप्रसक्तिस्तामुद्धरन्नाह–"**णवरि**" इत्यादि 'नवरम्' परमयमत्राऽपवादः । कोऽसावित्याह–"**अणुक्कोसाए**" इत्यादि, यत्र मार्गणासु यासां प्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितिबन्धस्यान्तरं प्राक् "**नास्ति**"–प्रतिषिद्धं, न च "**इह**" त्ति अनन्तरगतेऽजघन्यस्थितिबन्धजघन्यान्तरप्रतिपादनप्रस्तावे प्रतिषिद्धं "**सिं**" ति तासां प्रकृतीनामजघन्यस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तं ज्ञेयमित्यर्थः ।

तद्यथा–नरकगत्योघे मिथ्यात्व-स्त्यानर्द्धित्रिका-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्क-स्त्री-नपुंसकवेद-मनुष्यद्विक-तिर्यग्द्विक-प्रथमवर्जसंहननसंस्थानपञ्चक-दुर्भगत्रिका-ऽप्रशस्तविहायोगत्यु-द्योत-गोत्रद्विकानामजघन्यस्थितिबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं मार्गणादेशोनोत्कृष्टकायस्थितिः, शेषाणां मतिज्ञानावरणाद्येकोनचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिनीनां तथा पञ्चेन्द्रियौदारिकद्विक-त्रसचतुष्क-पराघातो-च्छ्वासनाम्नां तन्नास्ति, शेषाणां सातवेदनीयादीनां बन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां तु तदन्तर्मुहूर्तम् । एवमेव सप्तमनरकेऽपि । शेषद्वितीयादिषष्ठान्तनरकभेदेष्वप्येवमेव, केवलं मनुष्यद्विको-च्चैर्गोत्रयोरन्तर्मुहूर्तमिति । तिर्यग्गत्योघे मिथ्यात्व स्त्यानर्द्धित्रिका-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्क-स्त्रीवेदलक्षणनवप्रकृतीनां देशोनपल्योपमत्रयम् , नरकदेव वैक्रियद्विकलक्षणानां षण्णामसंख्येयाः पुद्गलपरावर्ताः, मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोरसंख्येया लोकाः, अप्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्य नपुंसकवेद प्रथमवर्जसंहननपञ्चक-प्रथमवर्जसंस्थानपञ्चक-दुर्भगत्रिका-ऽप्रशस्तविहायोगति नीचैर्गोत्र--तिर्यग्द्विको द्योता-ऽऽतप-स्थावरचतुष्क जातिचतुष्क–लक्षणानामष्टाविंशतेरौदारिकद्विकवज्रऋषभनाराचसंहननयोश्चेत्येवं सर्वसंख्यया पञ्चत्रिंशत्प्रकृतीनां देशोनपूर्वकोटी, शेषाणां मतिज्ञानावरणादीनां षष्टेः प्रकृतीनां त्वन्तर्मुहूर्तम् । एवमेव पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघ-तत्पर्याप्ततिरश्चीलक्षणमार्गणात्रयेऽपि, केवलमुच्चैर्गोत्रस्य देवद्विकवैक्रियद्विकयोश्चान्तर्मुहूर्तं तथा मनुष्यद्विकस्य नरकद्विकस्य च देशोनपूर्वकोटी, न तु तद्वदसंख्येया लोकाः पुद्गलपरावर्ता वा । अपर्याप्तपञ्चे-

न्द्रियतिर्यग्मार्गणायां तु सर्वासामायुर्वर्जबन्धप्रायोग्याणामजघन्यस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तमात्रमिति । मनुष्यौघ-तत्पर्याप्त-मानुषीलक्षणमार्गणात्रये सर्वासां पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघवदेव, केवलमिह तदधिकबन्धप्रायोग्यस्याऽऽहारकद्विकस्य पूर्वकोटीपृथक्त्वम् , जिननाम्नस्त्वन्तर्मुहूर्तम् , प्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्य देशोनपूर्वकोटीति । अपर्याप्तमनुष्ये त्वपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणावत्सर्वासामायुर्वर्जबन्धप्रायोग्याणामन्तर्मुहूर्तमेवेति । देवगत्योघे मिथ्यात्व-स्त्यनर्द्धित्रिका-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्क-स्त्रीनपुंसकवेद-प्रथमवर्जसंहनन-प्रथमवर्जसंस्थान-दुर्भगत्रिक-कुखगति-नीचैर्गोत्रलक्षणानां पञ्चविंशतेर्देशोनैकत्रिंशत्सागरोपमाणि, तिर्यग्द्विको द्योतनाम्नोर्देशोनाऽष्टादशसागरोपमाणि, एकेन्द्रिय-स्थावराऽऽतपनाम्नां साधिकसागरोपमद्वयम् , सात-ऽसातवेदनीय-पुरुषवेद-हास्य रति शोका ऽरति-मनुष्यद्विक पञ्चेन्द्रियौदारिकाङ्गोपाङ्ग-प्रथमसंहनन-प्रथमसंस्थान प्रशस्तविहायोगति जिननाम त्रस स्थिरपट्का-ऽस्थिरा-ऽशुभा-ऽयशःकीर्त्युच्चैर्गोत्रलक्षणानां पड्त्रिंशतेः प्रकृतीनामन्तर्मुहूर्तम् , शेषमतिज्ञानावरणादीनामेकोनचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धनीनां पण्णामौदारिकशरीरनामादीनामध्रुवबन्धिनीनां च न भवत्येव । भवनपति व्यन्तरदेवभेदयोस्तु यथोक्तमिथ्यात्वादीना पञ्चविंशतेस्तथा तिर्यग्द्विकादीनामेकेन्द्रियादीनां तिसृणां तिसृणां च देशोना मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिः, शेषाणां तु देवगत्योघवदेव, केवल जिननामवर्जानाम् । ज्योतिष्कादिषु नवमग्रैवेयकान्तासु देवगतिमार्गणास्वप्येवमेव, केवलं यासां मतिज्ञानावरणादीनामौदारिकशरीरनामादीनां च प्रतिषिद्धं तदत्रान्तर्मुहूर्तं द्रष्टव्यम् , एवं जिननाम्नोऽपि द्रष्टव्यं विहाय ज्योतिष्कदेवभेदम् , तिसृणामेकेन्द्रियादीनां तिसृणां तिर्यग्द्विकादीनां च यथासंख्यं सनत्कुमारादिष्वानतादिषु च न द्रष्टव्यम् , तत्र तासां बन्धाभावादिति । अनुत्तरपञ्चके तु सर्वासामायुर्वर्जबन्धप्रयोग्याणां तदन्तर्मुहूर्तमात्रं भवतीति ।

एकेन्द्रियौघे मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोरसंख्येया लोकाः, शेषाणां त्वन्तर्मुहूर्तम् । एवमेव सूक्ष्मैकेन्द्रियौघमार्गणायामपि । बादरैकेन्द्रियौघमार्गणाया मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोः सप्ततिकोटीकोटीसागरोपमाणि अङ्गुलासंख्यभागो वा, शेषाणां त्वन्तर्मुहूर्तमेव । पर्याप्तबादरैकेन्द्रियमार्गणायां तु मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोः संख्येयानि वर्षसहस्राणि, शेषाणा तु प्राग्वदन्तर्मुहूर्तमेव । उक्तशेषैकेन्द्रियभेदेषु सर्वासु विकलेन्द्रियमार्गणासु च सर्वासामायुर्वर्जानामन्तर्मुहूर्तम् । पञ्चेन्द्रियौघे मिथ्यात्व-स्त्यानर्द्धित्रिका ऽनन्तानुबन्धिचतुष्क-स्त्रीवेद नपुंसकवेद-प्रथमवर्जसंहननसंस्थाना-ऽप्रशस्तविहायोगति-दुर्भगत्रिक-नीचैर्गोत्रलक्षणानां पञ्चविंशतेः प्रकृतीनां द्वात्रिंशदभ्यधिकसागरोपमशतम् , तिर्यग्द्विको-द्योतनाम्नोस्त्रिपष्टयभ्यधिकसागरोपमशतम् , देवद्विक-वैक्रियद्विक-मनुष्यद्विको-च्चैर्गोत्राणामन्तर्मुहूर्ताभ्यधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, नरकद्विक-जातिचतुष्क-स्थावरचतुष्का ऽऽतपनाम्नां पञ्चाशीत्यधिकसागरोपमशतम् , औदारिकद्विक-प्रथमसंहननयोः साधिकं पल्योपमत्रयम् , आहारकद्विकस्य देशोनकायस्थितिः, मध्यमकषायाष्टकस्य देशोनपूर्वकोटिः, उक्तशेषाणां पञ्चज्ञानावरण-चतु-

दर्शनावरण-निद्राद्विक-संज्वलनचतुष्टय-भय–जुगुप्सा-वर्णचतुष्क-तैजस कार्मणशरीरा-ऽगुरुलघु–निर्माणो-पघातनामा-ऽन्तरायपञ्चकलक्षणानामेकत्रिंशतो ध्रुवबन्धिनीनां तथा साता ऽसातवेदनीय-हास्य रति -शोका-ऽरति-पुं वेदमोहनीय पञ्चेन्द्रिय-जाति-समचतुरस्रसंस्थान प्रशस्तविहायोगति-पराघातो-च्छ्वास जिन त्रसदशका-ऽस्थिरा--ऽशुभा--ऽयशःकीर्तिनामलक्षणानां षड्विंशतेरध्रुवबन्धिनीनां त्वन्तर्मुहूर्तमेव । एवमेव पर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणायामपि । अपर्याप्तपञ्चेन्द्रिये तु बन्धप्रायोग्याणां सर्वासामन्तर्मुहूर्तमिति । एवमेव पृथिव्यादिपञ्चकायसत्केष्वेकोनचत्वारिंशन्मार्गणाभेदेष्वपर्याप्तत्रसकाये च सर्वासामन्तर्मुहूर्तम् । त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकायलक्षणमार्गणाद्वये तु सर्वथैव पञ्चेन्द्रियौघमार्गणावदिति ।

पञ्चसु मनोयोगमार्गणासु सत्या ऽसत्य-मिश्रभेदभिन्नासु तिसृषु वचनयोगमार्गणासु च सप्तचत्वारिंशतो ध्रुवबन्धिनीनामाहारकद्विकस्य जिननाम्नश्च न भवति, शेषाणां त्वन्तर्मुहूर्तम् । वचनयोगौघ व्यवहारवचनयोगमार्गणाद्वये पुनः पञ्चज्ञानावरण चतुर्दर्शनावरण-संज्वलनचतुष्का ऽऽहारकद्विक जिननामा-ऽन्तरायपञ्चकलक्षणानामेकविंशतेर्न भवति, शेषाणां सातवेदनीयादीनां पञ्चनवतेः प्रकृतीनामन्तर्मुहूर्तम् । काययोगौघे केवला ऽऽहारकद्विकस्य न भवति, मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोरसंख्येया लोकाः, शेषाणां मतिज्ञानावरणादीनामेकादशोत्तरशतप्रकृतीनामन्तर्मुहूर्तम् । औदारिककाययोगे तु सर्वथा वचनयोगौघमार्गणावत् । वैक्रियकाययोगे मिथ्यात्व-स्त्यानर्द्धित्रिका-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्कवर्जानां मतिज्ञानावरणादीनां चतुर्नवतेः प्रकृतीनामन्तर्मुहूर्तम्, मिथ्यात्वादीनामष्टानां तु न भवत्येव । आहारककाययोगे तु सर्वासामन्तर्मुहूर्तम् । शेषेषु त्रिषु मिश्रयोगेषु शरीरपर्याप्तिनिष्ठापनसमयादन्यत्रापि जघन्यस्थितिबन्धमिच्छतां मते सर्वासां बन्धप्रायोग्याणां प्रस्तुतान्तरमन्तर्मुहूर्तम्, शरीरपर्याप्तिनिष्ठापनसमये एव जघन्यस्थितिबन्धमभ्युपगच्छतां मते त्वौदारिकमिश्रयोगे ध्रुवबन्धिन्यौ-दारिकशरीर देवद्विक वैक्रियद्विक-जिननाम्नां न भवति, वैक्रियमिश्रयोगे ध्रुवबन्धि-जिननामौ-दारिकशरीर-पराघातो-च्छ्वास-बादरत्रिकलक्षणानां चतुःपञ्चाशत्प्रकृतीनां न भवति, आहारकमिश्रकाययोगे सातवेदनीय-हास्य-रति स्थिर-शुभ-यशःकीर्ति तत्प्रतिपक्षभूतद्वादशवर्जानां न भवति, मार्गणात्रयेऽपि शेषाणां तु प्रथममतवदन्तर्मुहूर्तमेव । कार्मणकाययोगे वैक्रियषट्का ऽऽहारकद्विक-जिना-ऽऽयुश्चतुष्टयवर्जाना षष्टेरध्रुवबन्धिप्रकृतीनामेकसमयः, बन्धप्रायोग्यशेषाऽऽयुर्वर्जानां देवद्विक-वैक्रियद्विक जिननाम्नां तु न भवत्येव यद्वा प्राक् कालद्वारे दर्शितमतान्तरेण साता ऽसातवेदनीय-हास्य-रति शोका ऽरति-नपुंसकवेदमोहनीय-तिर्यग्द्विकै-केन्द्रियजाति-हुंडकसंस्थानौ-दारिकशरीर-पराघातो-च्छ्वासा-ऽऽतपो-द्योत-दुःस्वरवर्जस्थावरनवक-बादरत्रिक-स्थिर–शुभ-यशःकीर्तिनाम-नीचैर्गोत्र–लक्षणानां द्वात्रिंशत्प्रकृतीनां समयः, शेषाणां तु नेति । स्त्रीवेदमार्गणायां मिथ्यात्व स्त्यानर्द्धित्रिका-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्क-नपुंसकवेद स्त्रीवेद प्रथमवर्जसंहननसंस्थान-दुर्भगत्रिका-ऽप्रशस्तविहायोगति-

तिर्यग्द्विको द्योता ऽऽतप-स्थावरै केन्द्रिय नीचैर्गोत्रलक्षणानामेकत्रिंशतः प्रकृतीनामन्तर्मुहूर्तोनपञ्चपञ्चाशत्पल्योपमानि, मध्यमकषायाष्टकस्य देशोनपूर्वकोटी, मनुष्यद्विकौ-दारिकद्विक-प्रथमसंहनननानां देशोनपल्योपमत्रयम्, आहारकद्विकस्य देशोना स्त्रीवेदमार्गणोत्कृष्टकायस्थितिः, वैक्रियषट्क-सूक्ष्मविकलत्रिकलक्षणानां द्वादशप्रकृतीनामन्तर्मुहूर्ताभ्यधिकपञ्चपञ्चाशत्पल्योपमानि, निद्राद्विक-भय-जुगुप्सा-वर्णचतुष्क-तैजस-कार्मणा-ऽगुरुलघु-निर्माणो पघात-साता-ऽसातवेदनीय-हास्य-रति-शोका-ऽरति- पुरुषवेद-पञ्चेन्द्रिय-प्रथमसंस्थान-सुखगति पराघातो-च्छ्वास-त्रसदशका ऽस्थिरा-ऽशुभा ऽयशःकीर्त्यु च्चैर्गोत्रलक्षणैकोनचत्वारिंशत्प्रकृतीनामन्तर्मुहूर्तम्, शेषाणां ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणचतुष्क-संज्वलनचतुष्क जिननामा-ऽन्तरायपञ्चकानां तु न भवत्येव। पुरुषवेदे मिथ्यात्व स्त्यानर्द्धित्रिका ऽनन्तानुबन्धिचतुष्क-स्त्री-नपुंसकवेद-प्रथमवर्जसंहननसंस्थान-दुर्भगत्रिक-कुखगति-नीचैर्गोत्रलक्षणानां पञ्चविंशतेर्द्वात्रिंशदभ्यधिकसागरोपमशतम्, मध्यमकषायाष्टकस्य देशोनपूर्वकोटी, तिर्यग्द्विक-नरकद्विक-जातिचतुष्क-स्थावरचतुष्का ऽऽतपो द्योतनामलक्षणानां चतुर्दशप्रकृतीनां त्रिषष्ट्यभ्यधिकं सागरोपमशतम्, मनुष्यद्विकौ-दारिकद्विक–प्रथमसंहनननाम्नां साधिकपल्योपमत्रयम्, देवद्विक-वैक्रियद्विकयोः साधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, आहारकद्विकस्य देशोना पुंवेदमार्गणोत्कृष्टकायस्थितिः, ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणचतुष्क-संज्वलनचतुष्का ऽन्तरायपञ्चकानां तु न भवत्येव, शेषप्रकृतीनां निद्राद्विकादीनां तु स्त्रीवेदमार्गणावदन्तर्मुहूर्तमेव, शेषा निद्रादयः प्रकृतयोऽपि स्त्रीवेदमार्गणायां दर्शिता निद्रादय एकोनचत्वारिंशत् केवलं जिननाम्ना सहिता इति चत्वारिंशत्। नपुंसकवेदमार्गणायामनन्तरोक्तमिथ्यात्वादीनां पञ्चविंशतेस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि देशोनानि। एवमेव तिर्यग्द्विकोद्योतनाम्नोरपि, जातिचतुष्क-स्थावरचतुष्का-ऽऽतपनाम्नां साधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, मध्यमकषायाष्टकौ-दारिकद्विक-प्रथमसंहनननानां देशोनपूर्वकोटी, आहारकद्विकस्य देशोनार्धपुद्गलपरावर्तः, वैक्रियषट्कस्याऽसंख्येयाः पुद्गलपरावर्ताः, मनुष्यद्विको च्चैर्गोत्रयोरसंख्येया लोकाः, निद्राद्विकवेदनीयद्विक हास्यषट्क-पुवेद पञ्चेन्द्रिय तैजस कार्मणशरीर-प्रथमसंस्थान-वर्णचतुष्क-सुखगत्या-ऽऽतपोद्योतवर्जप्रत्येकप्रकृतिषट्क–त्रसदशका-ऽस्थिरा ऽशुभा ऽयशःकीर्तिलक्षणानामेकोनचत्वारिंशतः प्रकृतीनामन्तर्मुहूर्तम्, ज्ञानावरणपञ्चक दर्शनावरणचतुष्क-सज्वलनचतुष्का ऽन्तरायपञ्चकलक्षणानां शेषाणामष्टादशप्रकृतीनां तु न भवत्येव। अपगतवेदमार्गणायां तु बन्धप्रायोग्याणामेकविंशतिसंख्याकानां सर्वासामप्यन्तर्मुहूर्तमिति।

क्रोधकषाये जिननाम्नोऽन्तर्मुहूर्तम्, शेषाणां तु सर्वथा वचनयोगौघमार्गणावत्, अर्थात् पञ्चज्ञानावरण-चतुर्दर्शनावरण-संज्वलनचतुष्का-ऽऽहारकद्विका ऽन्तरायपञ्चकलक्षणानां विंशतेः प्रकृतीनां न भवति, शेषाणां सातवेदनीयादीनां पञ्चनवतेरन्तर्मुहूर्तम्। एवमेव शेषकषायमार्गणात्रयेऽपि, केवलं मानमार्गणायां क्रोधसञ्ज्वलनस्य, मायामार्गणाया क्रोध-मानसंज्वलनयोः, लोभमार्ग-

णायां चतुर्णामपि संज्वलनानां प्रस्तुतान्तरं न प्रतिषेध्यम्, किन्तु सातवेदनीयादीनामिवान्तर्मुहूर्तं वक्तव्यमिति । मतिज्ञानमार्गणायां मध्यमकषायाणां देशोनपूर्वकोटी, मनुष्यद्विकौ-दारिकद्विकप्रथम-संहनननाम्नामनुत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरस्य तत्र पूर्वकोटिप्रमाणत्वेऽप्यत्र तु तत् साधिकपूर्वकोटिरेव । देवद्विक-वैक्रियद्विका-ऽऽहारकद्विकानां साधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, यद्वाऽऽहारकद्विकस्य देशोना प्रस्तुतमार्गणोत्कृष्टकायस्थितिः, उक्तशेषमतिज्ञानावरणादीनामायुर्वर्जानामन्तर्मुहूर्तमेव । एवमेव श्रुतज्ञाना-ऽवधिज्ञानमार्गणयोरपि । मनःपर्यवज्ञानमार्गणायां तु सर्वासां बन्धप्रायोग्याणा-मन्तर्मुहूर्तमेव । मत्यज्ञानमार्गणायां नपुंसकवेदौ-दारिकद्विक-संहननषट्क-प्रथमवर्जसंस्थानपञ्चक दुर्भगत्रिका-ऽप्रशस्तविहायोगति नीचैर्गोत्रलक्षणैकोनविंशतिप्रकृतीनां देशोनपल्योपमत्रयम्, तिर्य-ग्द्विको द्योतनाम्नोः साधिकान्येकत्रिंशत् सागरोपमाणि, जातिचतुष्क-स्थावरचतुष्का-ऽऽतपनाम्नां साधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, वैक्रियषट्कस्याऽसंख्येयाः पुद्गलपरावर्ताः, मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्र-योरसंख्येया लोकाः, शेषाणां ध्रुवबन्ध्यादीनां त्रिसप्ततिप्रकृतीनां त्वन्तर्मुहूर्तम् । एवमेव श्रुताऽज्ञान-मार्गणायामपि । विभङ्गज्ञाने तु सर्वासां बन्धप्रायोग्याणामन्तर्मुहूर्तमिति । संयमौघेऽपि सर्वासां बन्ध-प्रायोग्याणामन्तर्मुहूर्तम् । सामायिकसंयमे सातवेदनीय-हास्य-रति-स्थिर-शुभ-यशःकीर्ति-तत्प्रतिपक्ष-भूतानां द्वादशप्रकृतीनामाहारकद्विकस्य चान्तर्मुहूर्तम्, शेषाणां न भवत्येव । एवमेव छेदोपस्थाप-नीयसंयमेऽपि । परिहारविशुद्धिकसंयमे तु बन्धप्रायोग्याणां सर्वासामन्तर्मुहूर्तम् । सूक्ष्मसंपरायसंयमे नैकस्या अपि । देशसंयमे तु सातवेदनीयादीनां द्वादशानामन्तर्मुहूर्तम्, शेषाणां न भवति । असंयमे मिथ्यात्व-स्त्यानर्द्धित्रिका ऽनन्तानुबन्धिचतुष्क स्त्रीवेद-नपुंसकवेद तिर्यग्द्विक-प्रथमवर्जसंहनन-प्रथम-वर्जसंस्थाना ऽप्रशस्तविहायोगति-दुर्भगत्रिको द्योत-नीचैर्गोत्रलक्षणानामष्टाविंशतेः प्रकृतीनां देशोन-त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, जातिचतुष्क-स्थावरचतुष्का ऽऽतपनाम्नामभ्यधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोप-माणि, वैक्रियषट्कस्याऽसंख्येयाः पुद्गलपरावर्ताः, मनुष्यद्विको च्चैर्गोत्रयोरसंख्येया लोकाः, औदा-रिकद्विक प्रथमसंहननयोरभ्यधिकं पल्योपमत्रयम्, शेषाणां मतिज्ञानावरणादीनां पञ्चषष्टेः प्रकृतीनां त्वन्तर्मुहूर्तमिति । चक्षुर्दर्शने सर्वथा पञ्चेन्द्रियौघमार्गणावत् । अचक्षुर्दर्शने सर्वथौघवत्तद्यथा— स्त्यानर्द्धित्रिका ऽनन्तानुबन्धिचतुष्क-मिथ्यात्व-स्त्री--नपुंसकवेद-प्रथमवर्जसंहनन-प्रथमवर्जसंस्थाना-ऽप्रशस्तविहायोगति-दुर्भगत्रिक-नीचगोत्राणां पञ्चविंशतेः द्वात्रिंशदभ्यधिकसागरोपमशतं साधिकम्, मध्यमकषायाणां देशोनपूर्वकोटी, तिर्यग्द्विको-द्योतनाम्नोः साधिकपल्यचतुष्टयेनाधिकानि त्रिषष्ट्य धिकशतसागरोपमाणि, मनुष्यद्विको च्चैर्गोत्रयोरसंख्येया लोकाः, औदारिकद्विक-प्रथमसंहननयोः साधिकं पल्योपमत्रयम्, जातिचतुष्क-स्थावरचतुष्का-ऽऽतपनाम्नां साधिकपल्योपमचतुष्टयेनाऽभ्य-धिकं पञ्चाशीत्युत्तरसागरोपमशतम्, वैक्रियषट्कस्याऽसंख्येयाः पुद्गलपरावर्ताः, आहारकद्विकस्य देशोनाऽपार्धपुद्गलपरावर्तः, शेषाणां सप्तपञ्चाशतो मतिज्ञानावरणादीनां प्रकृतीनामन्तर्मुहूर्त-

मिति । अवधिदर्शने तु अवधिज्ञानमार्गणावन्मतिज्ञानमार्गणावद्वेति । कृष्णलेश्यामार्गणायामनन्तरमचक्षुर्दर्शनेऽभिहिताभिधानानां पञ्चविंशतेः स्त्यानर्द्धित्रिकादीनां तिर्यग्द्विक-मनुष्यद्विको-द्योतनाम्नामुच्चैर्गोत्रस्य चेत्येवमेकत्रिंशत्प्रकृतीनां देशोना मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिः, वैक्रियद्विकस्य द्वाविंशतिः सागरोपमाणि, देवद्विकस्यै-केन्द्रिय स्थावरा-ऽऽतपनाम्नां च पल्योपमाऽसंख्यभागः, शेषाणां मतिज्ञानावरणादेः पट्सप्ततिप्रकृतीनामन्तर्मुहूर्तम्, मतान्तरेण तु देवद्विकादीनां पञ्चानामप्यन्तमुहूर्तम्, न तु पल्योपमाऽसंख्यभागः । नीललेश्यायां कृष्णलेश्यावदेव, केवलं वैक्रियद्विकस्य स्त्यानर्द्धित्रिकादिवन्मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिर्देशोना तथा मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोः शेषमतिज्ञानावरणादिवदन्तमुहूर्तम् । एवमेव कापोतलेश्यायामपि, केवलं वैक्रियद्विकस्य न देशोनोत्कृष्टकायस्थितिः, तथैव देवद्विकस्य न पल्यासंख्यभागः किन्तु क्षायिकसम्यग्दृष्टिनारकस्य यावत्युत्कृष्टा भवस्थितिस्तावत् । तेजोलेश्यामार्गणायां स्त्यानर्द्धित्रिका ऽनन्तानुबन्धिचतुष्क-मिथ्यात्व स्त्रीवेद-पुंवेद-प्रथमवर्जसंहनन-संस्थान-तिर्यग्द्विक-देवद्विक-वैक्रियद्विक-दुर्भगत्रिका ऽप्रशस्तविहायोगत्ये-केन्द्रिय-स्थावरा-ऽऽतपो-द्योत-नीचैर्गोत्राणां पञ्चत्रिंशतः प्रकृतीनां देशोना मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिः, मध्यमकषायाणां न भवत्येव, शेषाणान्त्वन्तमुहूर्तम् । एवमेव पद्मलेश्यामार्गणायामपि, केवलमेकेन्द्रिय स्थावरा-ऽऽतपनामानि वर्जनीयानि, तत्र तासां बन्धाभावात् । शुक्ललेश्यामार्गणायां स्त्यानर्द्धित्रिक-मिथ्यात्वा-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्क स्त्री नपुंसकवेद -प्रथमवर्जसंहननसंस्थाना-ऽप्रशस्तविहायोगति-दुर्भगत्रिक-नीचैर्गोत्रलक्षणपञ्चविंशतिप्रकृतीना देशोनान्येकत्रिंशत् सागरोपमाणि, देवद्विक-वैक्रियद्विकयोर्देशानोत्कृष्टकायस्थितिः, मध्यमकषायाणां न भवत्येव, शेषाणां त्वन्तमुहूर्तमिति । भव्यमार्गणायां सर्वथाऽचक्षुर्दर्शनमार्गणावत् । अभव्यमार्गणायां मत्यज्ञानमार्गणावत् । सम्यक्त्वौघे मतिज्ञानमार्गणावत् । क्षायिकसम्यक्त्वे मध्यमकषायाणां देशोना पूर्वकोटी, देवद्विक-वैक्रियद्विका-ऽऽहारकद्विकानां देशोना प्रस्तुतमार्गणोत्कृष्टकायस्थितिः, शेषाणां बन्धप्रायोग्याणां त्वन्तमुहूर्तमिति । क्षायोपशमिकसम्यक्त्वे मध्यमकषायाणां देशोना पूर्वकोटी, देवद्विक-वैक्रियद्विकयोस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, कृतकरणत्वपुरस्कृतानामिवाऽतथाविधानां स्वस्थानविशुद्धसंयतानामपि जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वमभ्युपगच्छतां मते तु देवद्विक-वैक्रियद्विकलक्षणानामेतासां चतसृणां प्रकृतीनां तदन्तर्मुहूर्ताभ्यधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि । कथम् ? तन्मते जघन्यस्थितिबन्धे समाप्त एव भवक्षयेण देवतयोत्पत्तेः सम्भवेनाजघन्यस्थितिबन्धद्वयमध्ये प्रकृत्यबन्धकालादधिकतयान्तमुहूर्तस्य जघन्यस्थितिबन्धकालस्यापि लाभादिति । मनुष्यद्विकौ-दारिकद्विक-प्रथमसंहननानामन्तमुहूर्ताभ्यधिकपूर्वकोटी, आहारकद्विकस्याऽभ्यधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि मतान्तरेण देशोनोत्कृष्टकायस्थितिर्वा, उक्तशेषाणां मतिज्ञानावरणाद्यष्टपञ्चाशत्प्रकृतीनां त्वन्तमुहूर्तमेव । औपशमिकसम्यक्त्वे तु सर्वासां बन्धप्रायोग्याणामन्तमुहूर्तम् । सम्यग्मिथ्यात्वे सातवेदनीय-हास्य-रति-स्थिर-

शुभ यशःकीर्ति तत्प्रतिपक्षभूतानां द्वादशप्रकृतीनामन्तर्मुहूर्तम् ,शेषाणां तु न भवत्येव । सासादने षट्चत्वारिंशतो ध्रुवबन्धिनीनां पञ्चेन्द्रिय-पराघातो-च्छ्वास-त्रसचतुष्काणां च न भवत्येव, शेषाणां सातवेदनीयादिपञ्चचत्वारिंशत्प्रकृतीनां त्वन्तर्मुहूर्तम् । मिथ्यात्वमार्गणायां तु सर्वथा मत्यज्ञानमार्गणावदिति । संज्ञिमार्गणायामपि सर्वथा पञ्चेन्द्रियौघमार्गणावत् । असंज्ञिमार्गणायां पुनः वैक्रियषट्कस्याऽसंख्येयाः पुद्गलपरावर्ताः, मनुष्यद्विको-च्चैर्गोत्रयोरसंख्येया लोकाः, शेषाणां प्रस्तुतानामायुर्वर्जानां मतिज्ञानावरणादिचतुरुत्तरशतप्रकृतीनामन्तर्मुहूर्तमिति । आहारकमार्गणायां मिथ्यात्व-स्त्यानर्द्धित्रिका ऽनन्तानुबन्धिचतुष्क-स्त्रीवेद नपुंसकवेद--प्रथमवर्जसंहननसंस्थान- कुखगति-दुर्भगत्रिक-नीचैर्गोत्रलक्षणानां पञ्चविंशतेर्द्वात्रिंशदभ्यधिकं सागरोपमशतम् , मध्यमकषायाणां देशोना पूर्वकोटी, तिर्यग्द्विकोद्योतनाम्नोस्त्रिषष्टयभ्यधिकं सागरोपमशतम् , जातिचतुष्क-स्थावरचतुष्का ऽऽतपनाम्नां पञ्चाशीत्यधिकं सागरोपमशतम् , औदारिकद्विक-प्रथमसंहननयोः साधिकं पल्योपमत्रयम् , वैक्रियषट्क-मनुष्यद्विका-ऽऽहारकद्विको-च्चैर्गोत्राणां देशोना प्रस्तुतमार्गणोत्कृष्टकायस्थितिः, उक्तनवपञ्चाशत्प्रकृतीर्विहाय शेषाणामायुर्वर्जानां सप्तपञ्चाशतस्त्वन्तर्मुहूर्तम् । उक्तशेषायामनाहारकमार्गणायां तु सर्वथा कार्मणकाययोगवदिति ।।६१३–६१४।।

तदेवं प्रतिपादितमजघन्यस्थितिबन्धस्योत्कृष्टान्तरमपि सर्वमार्गणास्थानेष्वायुर्वर्जबन्धप्रायोग्यसर्वोत्तरप्रकृतीनाम् , अथावशिष्टायुःप्रकृतीनां जघन्या ऽजघन्यस्थित्योरन्तरं प्रतिपिपादयिषुरादौ तावज्जघन्यस्थितेरन्तरं जघन्यतः प्रतिपादयन्नाह—

तिरिय-मणुस एगिंदिय-विगलिंदिय पंचकायभेएसु ।
पज्जत्तजोणिमइदुगवज्जेसु तहा असण्णिम्मि ।।६१५।।
साउस्स जहण्णाए ठिईअ खुड्डगभवो समयहीणो ।
लहुमंतरमाऊणं सेसाणं अंतरं णत्थि ।।६१६।।

(प्रे०) "तिरिय" इत्यादि, इहाऽऽद्यगाथया यास्वपर्याप्तजीवानां प्रवेशस्तथाविधानां तिर्यग्गति-मनुष्यगत्ये केन्द्रियजाति-विकलेन्द्रियजाति-त्रसकायवर्जपृथिव्यादिपञ्चकायसम्बन्धिनां मूलोत्तरमार्गणानामसंज्ञिमार्गणायाश्च संग्रहः, उत्तरगाथया तु तासु स्वस्यां स्वस्या वेद्यमानायुषा समाननाम्नस्तिर्यगायुषो मनुष्यायुषो वा जघन्यस्थितेर्जघन्यमेकजीवाश्रयमन्तरं समयोनक्षुल्लकभवमानमिति कथनं शेषबन्धप्रायोग्यायुषां तु तत्प्रतिषेधनं च । तथा च तिर्यगोघः, तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय तदपर्याप्ताविति त्रयस्तिर्यग्गतिभेदाः, एकेन्द्रियौघ सूक्ष्मैकेन्द्रियौघ तदपर्याप्त--बादरैकेन्द्रियौघ -तदपर्याप्तलक्षणाः पञ्चैकेन्द्रियभेदाः, द्वीन्द्रियौघ-तदपर्याप्तलक्षणौ द्वौ द्वीन्द्रियभेदौ, तथैव द्वौ त्रीन्द्रियभेदौ, द्वौ चतुरिन्द्रियभेदौ, एकेन्द्रियवत्पञ्च पृथिवीकायभेदाः, एवं पञ्चाप्कायभेदाः, पञ्च तेजस्कायभेदाः, पञ्च-

वायुकायभेदाः,पञ्च साधारणवनस्पतिकायभेदाः, द्वीन्द्रियवद् द्वौ प्रत्येकवनस्पतिकायभेदौ, वनस्पतिकायौघः, असञ्ज्ञिमार्गणाश्चेत्येवं सर्वसंख्यया त्रिचत्वारिंशन्मार्गणासु तिर्यगायुषस्तथा मनुष्यौघ-तदपर्याप्तलक्षणमार्गणाद्वये मनुष्यायुषो जघन्यस्थितिबन्धस्य जघन्यमन्तरं षट्पञ्चाशदभ्यधिकद्विशतावलिकामानक्षुल्लकभवस्थितिः समयोना भवति, शेषवन्धप्रायोग्यायुषां तु तन्न भवतीत्यर्थः सम्पन्नः। तत्रायुर्द्वयस्य यथोक्तमन्तरं तु सर्वथौघिकतदन्तरवद्विभावनीयम्। शेषायुषां तत्प्रतिषेधस्तु जघन्याबाधायां जघन्यस्थितिनिषेकस्य बन्धप्रायोग्यशेषायुषोः बन्धस्य सम्भवेऽपि तदुदयेन विवक्षितप्रस्तुतमार्गणाया एव विच्छेदाद्भवद्वयाधीन न लभ्यते प्रस्तुतान्तरमिति कृत्वा। अत एव पर्याप्तयोनिमतीभेदानां वर्जनमप्यवसातव्यम्, जघन्यस्थितिनिषेकस्य तिरश्चो मनुष्यस्य वाऽऽयुषोऽपर्याप्तप्रायोग्यत्वादिति। इहाऽसञ्ज्ञिमार्गणायां प्रागुक्तनीत्या मनुष्याणामप्रवेशमधिकृत्य केवलस्य तिर्यगायुषः प्रस्तुतान्तरं व्याख्यातम्, मनुष्याणां तत्र प्रवेशमधिकृत्य तु तिर्यगायुर्वद् मनुष्यायुषोऽपि तद्यथोक्तं भवतीति व्याख्येयम्, "स्वायुषः" इति पदेन तन्मते मनुष्यायुषो ग्रहणस्य सम्भवादिति ॥६१६॥

अथ कतिपयमार्गणा संगृह्य तत्र प्रस्तुतान्तरं सर्वथौघवद्भवतीति दर्शयन्नाह–

ओघव्वाऊण भवे पणिंदिय-तस-दुअणाण-अजयेसुं ।
अणयण-भवि-इयरेसुं मिच्छे सण्णिम्मि आहारे ॥६१७॥

(प्रे०) "ओघव्वाऊण" इत्यादि, पञ्चेन्द्रियौघ त्रसौघ मत्यज्ञान--श्रुताज्ञाना-ऽसंयमा ऽचक्षुर्दर्शन भव्य तादतराभव्य मिथ्यात्व संज्ञया-ऽऽहारकलक्षणासु एकादशमार्गणासु प्रत्येकं बन्धप्रायोग्याणां चतसृणामप्यायुःप्रकृतीनां प्रस्तुतं जघन्यस्थितिबन्धस्य जघन्यमन्तरमोघवद्भवति। तद्यथा–तिर्यग्मनुष्यायुषोः प्रत्येकं समयोनक्षुल्लकभवः, नरक-देवायुषोः प्रत्येकं पुनरन्तर्मुहूर्तेनाभ्यधिकानि दशवर्षसहस्राणीति। इद हि सर्वथौघवदेव विभावनीयम्, अविशेषादिति ॥६१७॥

पज्जपणिंदितसेसुं तह चक्खुम्मि णिरया-ऽमराऊणं ।
ओघव्व जाणियव्वं सेसाऊणंतरं णत्थि ॥६१८॥

(प्रे०) "पज्जे"त्यादि, पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-पर्याप्तत्रसमार्गणयोश्चक्षुर्दर्शनमार्गणायां च नरकदेवायुषोः प्रत्येकं जघन्यस्थितिबन्धजघन्यान्तरम् 'ओघवत्'-अन्तर्मुहूर्ताभ्यधिकदशवर्षसहस्राणि ज्ञातव्यम्, शेषयोस्तिर्यग्मनुष्यायुषोस्तु प्रस्तुतान्तरमेव नास्ति। तत्रान्तरमोघवत्, अन्तरप्रतिषेधस्तु जघन्यस्थितिकं तिर्यगायुर्मनुष्यायुर्वा बद्ध्वा तदुदयेऽपर्याप्ततयोत्पत्त्या प्रस्तुतमार्गणाया एव विच्छेदादिति प्राग्दर्शितन्यायादेवेति ॥६१८॥

दोण्हाऊण अपज्जगपणिंदितस-काय-उरलमीसेसुं ।
समयूणखुड्डगभवो काये ण णिरय-सुराऊणं ॥६१९॥

(प्रे०) "दोण्ह" इत्यादि, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तत्रस काययोगौघौदारिकमिश्रकाययोगलक्षणासु चतसृषु मार्गणासु "दोण्ह" त्ति तिर्यग्मनुष्यायुषोः प्रत्येकं प्रस्तुत जघन्यस्थितिबन्धजघन्यान्तरं समयोनक्षुल्लकभवो भवति। "काये" त्ति काययोगौघे शेषयोर्बन्धप्रायोग्ययोर्निरय-सुरायुषोस्तु तन्न भवति। कथं प्रतिषेधः? नरक-देवायुर्बन्धकसम्बन्धिनो नारकदेवभवसंबन्धिनश्च योगानां प्रत्यन्तर्मुहूर्तमवश्यं परावर्तमानतया भवद्वयाधीनजघन्यस्थितिकायुर्बन्धद्वयं यावत्तत्स्वामिनः प्रस्तुतमार्गणायामेवानवस्थानादिति ॥६१९॥

थीपुरिसेसुं णेयं अहियाइं दससहस्सवासाइं।
देवाउस्सा-ऽऽऊणं सेसाणं अंतरं णत्थि ॥६२०॥

(प्रे०) "थी" इत्यादि, स्त्रीवेद-पुरुषवेदमार्गणयोः प्रत्येकं देवायुषः प्रस्तुतं जघन्यस्थितिबन्धस्य जघन्यमन्तरम् "अहियाइं" ति अन्तर्मुहूर्तेनाभ्यधिकानि दशसहस्रवर्षाणि ज्ञेयम्। तत्राऽन्तर्मुहूर्तं दशसहस्रवर्षस्थितिकदेवस्य तादृग्देव्या वा जघन्यतो यावत्स्थितिकं पारभविकमायुर्बन्धप्रायोग्यं तावत्स्थितितः समयहीनं ज्ञेयम्। विशेषतस्त्वोघवद्विभावनीयम्। शेषाणां तिसृणामायुःप्रकृतीनां प्रस्तुतान्तरमेव न भवति। कथम्? जघन्यस्थितिकतिर्यग्मनुष्यायुषोरपर्याप्तप्रायोग्यतया तत्रोत्पत्तेर्नारकतया चोत्पत्तेरवश्यं नपुंसकवेदोदयेन प्रस्तुतमार्गणाया विच्छेदादिति ॥६२०॥

अहियदससहस्ससमा णिरयाउस्स णपुमे दुआऊणं।
समयूणो खुड्डभवो देवाउस्संतरं णत्थि ॥६२१॥

(प्रे०) "अहिय" इत्यादि, नपुंसकवेदमार्गणायां निरयायुषः प्रस्तुतान्तरमभ्यधिका दशसहस्रं 'समाः'-वर्षाणि भवति। "दुआऊणं" ति तिर्यग्मनुष्यायुषोःप्रत्येकं पुनः समयोनः क्षुल्लकभवो भवति। देवायुषस्तु प्रस्तुतान्तरमेव न भवति। तत्र प्रतिषेधो जघन्यस्थितिकदेवायुर्बद्ध्वा तत्रोत्पत्त्या स्त्रीवेदस्य पुंवेदस्य वोदयभावे प्रस्तुतमार्गणाया एव विच्छेदात्, शेषं तु सर्वथौघवद्विभावनीयम्, अविशेषादिति ॥६२१॥

मणुसअमराउगाणं तिणाण-ऽवहि-सम्म-वेअगेसु भवे।
साहियपल्लं अण्णह आऊणं अंतरं णत्थि ॥६२२॥

(प्रे०) "मणुस" इत्यादि, मतिज्ञान-श्रुतज्ञाना-ऽवधिज्ञाना-ऽवधिदर्शन-सम्यक्त्वौघ-क्षायोपशमिकसम्यक्त्वलक्षणासु षट्सु मार्गणासु मनुष्यायुषोऽमरायुषश्च प्रस्तुतं जघन्यस्थितिबन्धजघन्यान्तरं साधिकं पल्योपमं भवेत्। तत्र साधिकता सम्यग्दृष्टिदेवानां जघन्यतो यावत्स्थितिकं मनुष्यायुर्बन्धप्रायोग्यं तावता समयोनवर्षपृथक्त्वकालेनेति।

"अण्णह" इत्यादि, 'तिरिय-मणुस' इत्यादिसाधिकसार्धाष्टमगाथाभिहिततिर्यग्गत्योघादिद्वि-सप्ततिमार्गणाभ्योऽन्यत्र, उक्तशेषमार्गणास्वित्यर्थः । तत्र किमित्याह- **आऊणं अंतरं णत्थि"** त्ति नरय-तिर्यग् मनुष्य-देवायुषामन्यतमस्यापि बन्धप्रायोग्यायुषः-'अंतर'' प्रस्तुतं जघन्यस्थितिबन्धस्य नास्ति । कुतः ? उच्यते, उत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरवदायुषो जघन्यस्थितिबन्धान्तरस्याऽपि नानाभवा-धीनतया सकृत्तद्बन्धादनु पुनस्तद्बन्धात्प्रागेव तत्स्वामिनो निरयगत्योघादितत्तच्छेषमार्गणातो वहिर्भावादिति । **शेषमार्गणाः पुनरिमाः**–[८]सर्वे नरकभेदाः, [१]पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्, [१]तिरश्ची, [१]पर्याप्तमनुष्यः, [१]मानुषी,-[३०]सर्वे देवभेदाः, [१२]पर्याप्तसूक्ष्मपर्याप्तबादरभेदभिन्नैकेन्द्रिय पृथिवीकाया-ऽप्काय तेजस्काय-वायुकाय-साधारणवनस्पतिकायभेदाः, [१]पर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायः, [३]पर्याप्त द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रियाः, [१०]सर्वे मनोयोगवचोयोगभेदाः, [१]औदारिक-[१]वैक्रिया-[१]ऽऽहारका ऽऽहारकमिश्रयोगाः, [४]कषायमार्गणाचतुष्टयम् , [१]मनःपर्यवज्ञानम् , [१]विभंगज्ञानम् , [५]संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिकसंयम-देशसंयमाः, [६]लेश्याषट्कम् , [१]क्षायिकसम्यक्त्वम् , [१]सासादनं चेति ॥६२२॥

तदेवं भणितमादेशतो यासु मार्गणासु यस्य यस्य बन्धप्रायोग्यायुष एकजीवाश्रयं जघन्य-स्थितिबन्धस्यान्तरं सम्भवति तत्र तस्य तस्य तज्जघन्यतः, अन्यत्रान्येषां तु तन्निषिद्धम् । अथ यत्र येषां तत्प्रतिषिद्धम् तत्र नास्त्युत्कृष्टतोऽपि तद्वक्तव्यम् , सर्वथाऽन्तराभावादित्यतो यत्र तिर्यग्ग-त्योघादिद्विसप्ततिमार्गणासु येषां तिर्यगाद्यायुषां जघन्यतस्तत्प्रतिपादितं तत्र तेषामुत्कृष्टतस्तत्प्रति-पिपादयिषुराहाऽऽर्याषट्कम्—

अण्णाणदुगे अजए अचक्खु भविये-यरेसु मिच्छत्ते ।
अंतरमोघव्व गुरुं चउआऊणं लहुठिईए ॥६२३॥
पल्लासंखंसो तिरि-एगिंदि-णिगोअ-पंचकायेसु ।
छसुहु-मियर-पत्तेअ-अमणेसु तिरियाउगस्स भवे ॥६२४॥
पंचिंदियतिरिये खलु तिरियाउस्संतरं मुणेयव्वं ।
पुव्वा कोडिपुहुत्तं मणुसाउस्स य मणुस्सम्मि ॥६२५॥
पल्लाऽसंखियभागो काये तिरियाउगस्स विण्णेयं ।
मणुसाउगस्स हवए देसूणा जेट्ठकायठिई ॥६२६॥
णिरय-मणुस्साऊणं हवेज्ज देसूणजेट्ठकायठिई ।
णपुमम्मि सयपुहुत्तं जलही होइ तिरियाउस्स ॥६२७॥

ओघव्वाहारे खलु णेयं तिरियाउगस्स सेसाणं ।
ऊणा गुरुकायठिई अणिसिद्धाऊण सेसासुं ॥६२८॥

(प्रे०) "अण्णाणदुगे" इत्यादि, मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंयमा-ऽचक्षुर्दर्शन भव्य-तदितरा-ऽभव्य मिथ्यात्वलक्षणासु सप्तमार्गणासु प्रत्येकं चतुर्णामायुषां प्रत्येकं **'लघुस्थितेः'** जघन्यस्थितेः **'गुरु'**-उत्कृष्टमन्तरम् **"ओघव्व'** ति ओघवत् 'तिरियाउस्स गुरुमहिअसमत्तसे'त्यादिनाऽभिहितमानं भवति । **तद्यथा**-तिर्यगायुषोऽभ्यधिका त्रसकायोत्कृष्टकायस्थितिः; शेषाऽऽयुस्त्रयस्याऽसंख्येयाः पुद्गलपरावर्ता इति । एतद्धि ओघवदेव विभावनीयम्, इहापि प्रत्येकं वनस्पतिकायादि-जीवराशेर्नारक-देवादेश्च प्रवेशादिति । "पञ्चा"इत्यादि, तिर्यग्गत्योघैकेन्द्रियौघ-साधारणवनस्पति-कायौघेषु तथा पृथिव्यादिषु त्रसवर्जासु पञ्चसु ओघमार्गणासु तथा षट्सु पर्याप्ता-ऽपर्याप्तविशेषण-विरहितासु सूक्ष्मैकेन्द्रिय-सूक्ष्मपृथिवीकायादिषु ओघमार्गणासु तथैव षट्सु पर्याप्ता-ऽपर्याप्तविशेषण-रहितासु बादरैकेन्द्रियाद्योघमार्गणासु प्रत्येकवनस्पतिकायौघेऽसंज्ञिमार्गणायां च तिर्यगायुषः प्रस्तुतं जघन्यस्थितिबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं पल्योपमाऽसंख्यभागमात्रं भवति । कुतः ? प्रत्येकं नारक-देव-मनुष्याणामप्रवेशात् पर्याप्ताऽपर्याप्तद्विविधस्थावरकायिकानां प्रवेशाच्चेति । "पणिंदिये"त्यादि, पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघे तिर्यगायुषः प्रस्तुतान्तरं पूर्वकोटीपृथक्त्वं भवति । कथं न देशोनकायस्थितिः ? त्रिपल्योपमस्थितिकयुग्मिभवे देवायुष एव बन्धात्, युग्मिभवाऽकरणे तु 'सत्तट्ठभवा उ उक्कोसा' इति वचनेन पूर्वकोटीपृथक्त्वं यावदेव प्रस्तुततत्तन्मार्गणायामवस्थानसम्भवेनोक्ताधिकान्तरस्यासम्भवा-दित्याद्युत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरवद्विभावनीयं यथासम्भवमिति । **"मणुस्साउस्स य"** इत्यादि, अनन्तरोक्तनीत्या मनुष्यौघे मनुष्यायुषोऽपि प्रस्तुतान्तरं पूर्वकोटीपृथक्त्वं भवति, न केवलं तिर्यग्गत्योघे तिर्यगायुष इति चकारार्थः । इदमप्यनन्तरोक्तनीत्यैव साध्यमिति । **"पञ्चाऽसंखिय"** इत्यादि, काययोगौघे तिर्यगायुषः प्रस्तुतं जघन्यस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरं पल्योपमस्याऽसंख्येयो भागो विज्ञेयम्, नाधिकम् । कथम् ? तिर्यग्गत्योघादिषु दर्शितनीत्या; यद्यपि तत्र नास्ति नारक-देव-मनुष्याणां प्रवेशः, इह त्वसौ भवति तथाऽपि तेषां प्रस्तुतमार्गणायां नैरन्तर्येणान्तर्मुहूर्तादधिक-मनवस्थानेन प्रवेशोऽप्यप्रवेशवदेव, प्रस्तुतान्तराऽप्रयोजकत्वादिति । प्रस्तुतकाययोगौघमार्गणाया-मेव मनुष्यायुषः प्रस्तुतान्तरं देशोना काययोगमार्गणोत्कृष्टकायस्थितिर्भवेत्, यतः काययो-गोत्कृष्टकायस्थितिः स्थावरोत्कृष्टकायस्थितिप्रधाना, स्थावरोत्कृष्टकायस्थितिश्च तिर्यगायुर्बन्धैरेव निर्वाह्यते, किञ्चाऽपर्याप्तनरत्वे नास्ति काययोगादितरो योगः, तथाच यः कश्चिन्निरन्तरकाय-योगी जीवो जघन्याबाधायां जघन्यस्थितिकं मनुष्यायुर्बद्ध्वा तत्रोत्पद्यायुःक्षये वनस्पत्यादिषु पर्याप्त-त्वेनाऽपर्याप्तत्वेन विकलेन्द्रियाऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियादिष्वपर्याप्तत्वेनैवोत्पद्योत्पद्य विपद्य विपद्य च देशोनां काययोगमार्गणोत्कृष्टकायस्थितिं विनिर्गमय्य तस्या उत्कृष्टकायस्थितेः प्रान्तभागे वर्तमानः सन्

कायस्थितिप्रारम्भात्सम्भवददतिदूरेण पुनर्जघन्याबाधायां जघन्यस्थितिकं मनुष्यायुर्बध्नाति तस्य प्रस्तुतान्तरं देशोनकाययोगमार्गणोत्कृष्टकायस्थितिप्रमाणं भवतीति । "णिरय" इत्यादि, नपुंसकवेदमार्गणायां नरकायुषो मनुष्यायुषश्च प्रत्येकं प्रस्तुताऽन्तरं देशोना नपुंसकवेदमार्गणोत्कृष्टकायस्थितिर्भवति, इदमप्यनन्तरोक्तनीत्या विभावनीयम् , नपुंसकवेदमार्गणोत्कृष्टकायस्थितेरपि स्थावरकायादिकायस्थितिप्रधानत्वात् तां निर्वहतः प्रस्तुताऽऽयुर्बन्धस्य तदीयजघन्यस्थितिबन्धस्य चानावश्यकत्वादिति ।

"सयपुहुत्त" मित्यादि, तिर्यगायुषः प्रस्तुतान्तरं शतपृथक्त्वं सागरोपमाणि भवति । कथं न ओघवदिति चेद् ? देवानामिहाप्रवेशेन देवभवैः सह तिर्यग्मनुष्यभवानां संवेधेनोत्पन्नस्यान्तरस्य प्रस्तुतमार्गणायामप्राप्तेः । एतद्धि सर्वथा **मूलप्रकृतिस्थितिबन्धदर्शितप्रस्तुतमार्गणाभाव्येक-** जीवाश्रयायुर्जघन्यस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरवद्विज्ञेयमिति । "ओघव्व" इत्यादि, आहारकमार्गणायां तु तिर्यगायुषः प्रस्तुतान्तरं सर्वथौघवद् 'तिरियाउस्स गुरुमहियसमरातसजेट्ठकायठिई' इत्यनेनोक्तमानमवसातव्यम् ,ओघवदत्र मार्गणायां नारकदेवादीनां सर्वविधजीवानां प्रवेशादिति । 'सेसाणं" इत्यादि, आहारकमार्गणायां तिर्यगायुर्वर्जशेषत्रिविधायुषां प्रत्येकं प्रस्तुतान्तरं तु आहारकमार्गणाया उत्कृष्टा कायस्थितिर्देशोना भवति, सुगमम् , ओघवदिहापि शेषत्रिविधायुषामौघिकप्रस्तुतान्तरप्रयोजकसामग्र्याः सद्भावेऽपि आहारकमार्गणोत्कृष्टकायस्थितेरौघिकप्रस्तुतान्तरापेक्षया ह्रस्वत्वात् , अत एवेह देशोनता सम्भवत्सर्वह्रस्वकालेन समयोनक्षुल्लकभवलक्षणेन मनुष्यायुःप्रस्तुतान्तरे तथा जघन्यस्थितिकं देवायुर्नरकायुर्वा निर्वर्तयितुं योग्यो यः सम्भवत्सर्वजघन्यस्थितिको भवस्तेन समयोनेन देवायुषो नरकायुषश्च प्रस्तुतान्तरे विज्ञेयेति । '**अणिसिद्धाऊण सेसासु**"ति 'ऊणा गुरुकायठिई' इति घण्टालालान्यायेनेहापि संबध्यते, तथा च अनन्तरं गाथाषट्केऽभिहिता मत्यज्ञानादिचतुस्त्रिंशन्मार्गणा विहाय शेषास्वष्टात्रिंशन्मार्गणासु यत्र यासामायुःप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्यान्तरं जघन्यतस्तत्प्रतिपादनावसरे न निषिद्धं तत्र तासामायुःप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं तत्तन्मार्गणायाः स्वीया स्वीया उत्कृष्टा कायस्थितिर्देशोनाऽवगन्तव्यम् ।

तद्यथा- अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यङ् , बादरापर्याप्त-सूक्ष्मापर्याप्तभेदभिन्नैकेन्द्रिय-पृथिवीकायाऽप्काय-तेजस्काय-वायुकाय साधारणवनस्पतिकायमार्गणाः, ओघाऽपर्याप्तभेदभिन्नद्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियभेदाः, प्रत्येकवनस्पतिकायमार्गणा चेत्येवं सर्वसङ्ख्यया विंशतिमार्गणासु तिर्यगायुषः, अपर्याप्तमनुष्यमार्गणायां मनुष्यायुषः, पञ्चेन्द्रियौघ-त्रसौघ-संज्ञिमार्गणात्रये तु चतुर्णामायुषाम् , पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-पर्याप्तत्रस-चक्षुर्मार्गणात्रये नरकदेवायुषोः, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियाऽपर्याप्तत्रसौदारिकमिश्रयोगलक्षणमार्गणात्रये तिर्यग्मनुष्यायुषोः, स्त्रीवेदपुरुषवेदमार्गणाद्वये देवायुषः, मतिज्ञान-श्रुतज्ञाना-ऽवधिज्ञाना-ऽवधिदर्शन-सम्यक्त्वौघ-क्षायोपशमिकसम्यक्त्वलक्षणमार्गणाषट्के मनुष्य-देवा-

युषोर्जघन्यस्थितिबन्धस्योत्कृष्टमेकजीवाश्रयमन्तरं तत्तन्मार्गणायाः स्वीया स्वीयोत्कृष्टा कायस्थितिर्देशोना भवति । तत्र मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिस्तु **प्राग्मूलस्थितिबन्धद्वितीयाधिकारैकजीवाश्रयकालद्वारेऽभिहिता** इहाऽपि अनन्तरगतैकजीवाश्रयकालद्वारवृत्तौ उद्धृता द्रष्टव्या, उपपत्तिस्त्वनन्तरमाहारकमार्गणायां तिर्यगायुर्वर्जायुषां प्रस्तुतान्तरोपपत्तौ दर्शितनीत्या कार्येति ॥६२३-६२८॥

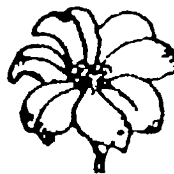
तदेवं भणितं मार्गणास्थानेष्वायुर्जघन्यस्थितेर्बन्धान्तरमुत्कृष्टतोऽपि । एतर्हि अवशिष्टमायुःप्रकृतीनामजघन्यस्थितेः प्रस्तुतान्तरमनुत्कृष्टस्थितेस्तेन तुल्यमिति कृत्वा लाघवार्थमतिदेशेनैवाह—

अजहण्णाअ ठिईएऽणुक्कोसठिइव्व अंतरं णेयं ।
सव्वासु मग्गणासु सप्पाउग्गाण आऊणं ॥६२९॥

(प्रे०) '**अजहण्णाअ**" इत्यादि, अक्षरार्थः सुगमः, भावार्थोऽपि तथा; यतो यथा तत्तत्प्रकृतिबन्धे प्रवर्तमाने प्रायेण कञ्चित्समयमेकं विहायानुत्कृष्टस्थितिबन्धस्यैव प्रवृत्तेरनुत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरं तत्तत्प्रकृतिबन्धान्तरमनुवर्तते तथा कञ्चित् समयमेकं विहायाऽजघन्यस्थितिबन्धस्यैव प्रवृत्तेरजघन्यस्थितिबन्धान्तरमपि प्रकृतिबन्धान्तरमनुवर्तते इत्येवं तत्तदायुःप्रकृतिबन्धान्तर-तदीयानुत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरा-ऽजघन्यस्थितिबन्धान्तराणामविशेष एव वर्तते । तत्र प्रकृतिबन्धान्तरं दूरेण **प्रकृतिबन्धविधाने**ऽभिहितमनुत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरं त्वनतिदूरेणाऽत्रैव द्वारे, तथाच सुखावबोधायाऽतिदिशोऽपि "अणुक्कोसठिइव्व" इत्येवं कृत इति ॥६२९॥

तदेवं भणितमवशिष्टमायुष्काऽजघन्यस्थितिबन्धान्तरमादेशतोऽपि, भणिते च तस्मिन् गतं **पञ्चममेकजीवाश्रयमन्तरद्वारमिति** ॥

॥ इति प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते बन्धविधाने उत्तरप्रकृतिस्थितिबन्धे द्वितीयाधिकारे पञ्चममेकजीवाश्रयमन्तरद्वारम् ॥



उत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षवृत्तौ उपयुक्ता नियमाः-

(संनिकर्षद्वारस्योत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षवृत्ते. पिपठिषूणामानुकूल्याय तत्र वृत्तौ बहुषु स्थानेषूपयुक्ताः 'मिच्छत्ते' त्यादि-(६३४ . ६३८) गाथा-पञ्चकवृत्तौ विवृत्य निष्टङ्किता उत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षोपपादका नियमास्तद्वृत्तित इह पृष्ठेऽक्षरश उद्धृत्य लिखिताः सन्ति)

"(१) प्रधानीकृतप्रकृत्या समं या बन्धतो विरोधवत्यः, बन्धे प्रधानीकृतविपक्षभूता इत्यर्थः, तासां तद्बन्धाविनाभाविबन्धानां च प्रकृतीनां बन्ध एव न भवति ।

(२) बन्धप्रायोग्याणां ध्रुवबन्धिनीनां नियमतो बन्धो जायते ।

(३) प्रधानतया विवक्षितप्रकृतिर्यदि वर्गोत्कृष्टस्थितिका तदा—

(i) अवर्गोत्कृष्टस्थितिकानां बन्ध एव न भवति,

(ii) वर्गोत्कृष्टस्थितिकासु या बन्धतः परस्परं प्रतिपक्षभूताः, यासां च प्रधानीकृतप्रकृत्युत्कृष्टस्थितेर्नानास्वामिनोऽपेक्ष्या-ऽन्यथा वा बन्ध-बन्धाभावोभयं लभ्यते तासां स्याद्बन्धो भवति,

(iii) तच्छेषाणां तु नियमतो बन्धो भवति ।

(४) प्रधानीकृतप्रकृतिर्यदि न वर्गोत्कृष्टस्थितिका किन्तु वर्गविभागेण वर्गद्वित्र्यादिभागलक्षणेन न्यूनवर्गोत्कृष्टस्थितिका तदा—

(i) यास्तेन रूपेण प्रधानीकृतप्रकृत्यपेक्षया न्यूनस्थितिकास्तासां बन्ध एव न भवति,

(ii) याः पुनस्तेनैव रूपेण प्रधानीकृतप्रकृत्या तुल्यस्थितिकास्तदधिकस्थितिकाश्च तासु याः बन्धतः परस्परं प्रतिपक्षभूतास्तासां स्याद्बन्धो भवति,

(iii) तदन्यासां तु नियमतो बन्धो भवति ।

(५) आतपो-द्योतनाम्नोस्तु सर्वत्र स्याद्बन्धो भवति । इति तत्तत्प्रकृतिबन्धबन्धाभावाद्युपपादकनियमाः ।

(६) प्रधानतया विवक्षिता प्रकृतिर्यदि वर्गोत्कृष्टस्थितिका तदाऽनन्तरोक्तनियमाद् बन्धप्राप्तानां प्रत्येकमुत्कृष्टो वा प्रागुक्तलक्षणोऽनुत्कृष्टो वा स्थितिबन्धो जायते ।

(७) प्रधानीकृतप्रकृतिर्यदि न वर्गोत्कृष्टस्थितिका किन्तु द्विभागाद्यूनवर्गोत्कृष्टस्थितिका तदा—

(i) वर्गोत्कृष्टस्थितिकानां प्रधानीकृतप्रकृतिवद् वर्गोत्कृष्टस्थित्यपेक्षया द्विभागादिना न्यूनोत्कृष्टः स्थितिबन्धो भवति,

(ii) प्रधानीकृतप्रकृतिवद् या द्विभागाद्यूनवर्गोत्कृष्टस्थितिकास्तासामुत्कृष्टोऽनुत्कृष्टो वा स्थितिबन्धः प्राग्वद्भवति,

(iii) शेषाणां बन्धप्राप्तप्रकृतीनां तु स्वस्वोत्कृष्टस्थितितः प्रधानीकृतप्रकृत्युत्कृष्टस्थितिः वर्गविभागरूपेण यावता त्रिभागादिना न्यूना तावता त्रिभागादिलक्षणेन संख्येयभागेन न्यून उत्कृष्टः स्थितिबन्धो भवति । इति ।।"

अथ षष्ठं संनिकर्षद्वारम्

ध्यात्वा जैनेश्वरीं वाचं, नत्वा च गुरुदैवतम् ।
धृत्वा हृदि परोत्साहं, संनिकर्षोऽथ तन्यते ॥

संनिकर्षो नाम सम्बन्धः, स चेह प्राग् मूलप्रकृतिस्थितिबन्धद्वितीयाधिकारसंनिकर्षद्वारवृत्ति-भणितनीत्या विवक्षितैकप्रकृतेर्जायमानेनोत्कृष्टादिविवक्षितस्थितिबन्धेन समं जायमानस्य तदन्यप्रकृतीनामुत्कृष्टादिस्थितिबन्धस्य । सोऽपि द्विधा स्वस्थानपरस्थानभेदात् ,तत्र स्वस्थानतो नाम ज्ञानावरणाद्येकैकमूलप्रकृतेरुत्तरभेदान् मतिज्ञानावरणादीन् पञ्चादिसङ्ख्याकानधिकृत्य, परस्थानतः पुनः बन्धप्रायोग्यान् सर्वानुत्तरप्रकृतिप्रभेदान् प्रतीत्येति । तत्रोत्कृष्टस्थितिबन्धमधिकृत्य बिभणिषुर्लाघवादादौ तावत् स्वस्थानत औघिकं प्राह—

एगस्स ठिइं जेट्ठं णाणावरणपणगाउ बंधंतो । गुरुमगुरुं वाऽण्णेसिं णियमेवं दुइअविग्घाणं ॥
जस्थ गुरू अगुरू वा दुहा ठिई बज्झए तहि गुरुओ । अगुरू समयेणूणा जा पल्लाऽसंखभागेणं ॥
तइअस्स बंधमाणो एगं बंधइ ण चेव पडिवक्खं । एवं गोआऊणं छण्हं एमेव सव्वासुं ॥
परमेगस्स अवेए तह सुहुमे पढम-दुइअ-चरमाण । जेट्ठठिइं बंधतो णियमा अण्णाए जेट्ठठिइं ॥
॥ गाथा ६३०-६३३॥

(प्रे०) "एगस्से"त्यादि, मतिज्ञानावरणादिभेदभिन्नज्ञानावरणप्रकृतिपञ्चकमध्याद् एकस्या मतिज्ञानावरणादेः ज्येष्ठां स्थितिं बध्नन् जीवः "गुरुमगुरुं वाऽण्णेसिं णियमा" त्ति अन्यासां विवक्षितप्रधानीकृतमतिज्ञानावरणाद्येकप्रकृतिवर्जानां चतसृणां श्रुतज्ञानावरणादीनां प्रकृतीनां नियमाद् बन्धकः, स्थितिं तु तासां 'गुरुम्'-उत्कृष्टाम् 'अगुरुम्'-अनुत्कृष्टां वा बध्नाति ।

तद्यथा–मतिज्ञानावरणस्योत्कृष्टां स्थितिं बध्नन् श्रुतज्ञानावरणादीनां चतसृणां प्रकृतीनां नियमाद्बन्धकः, स्थितेस्तु प्रत्येकमुत्कृष्टाया अनुत्कृष्टाया वा बन्धकः । श्रुतज्ञानावरणस्योत्कृष्टां स्थितिं बध्नन् तद्वर्जशेषमतिज्ञानावरणादिचतुष्प्रकृतीनां नियमतो बन्धकः, स्थितेस्तु प्रत्येकमुत्कृष्टाया अनुत्कृष्टाया वा बन्धकः । एवमेवाऽवधिज्ञानावरणादिमुखेनाऽपि संनिकर्षः स्वयमेव वाच्यः, सुगमत्वाद् ग्रन्थविस्तरभयाच्च नोच्यतेऽस्माभिरिति ।

अथाऽनन्तराभिहितवक्तव्यतया सर्वथा तुल्यवक्तव्यत्वादतिदेशमाह– "**एवं दुइअविग्घाणं**" ति 'एवं'-ज्ञानावरणोत्तरभेदोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षवत् द्वितीयस्य दर्शनावरणलक्षणकर्मणः "**विग्घ**" त्ति विघ्नस्या-ऽन्तरायकर्मणश्चोत्तरप्रकृतीनां यथासंख्यं चक्षुर्दर्शनावरणादीनां नवानां दानान्तरायादीनां पञ्चानां च स्वस्थानोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षो वाच्यः । **तद्यथा**–एकस्याश्चक्षुर्दर्शनावरणप्रकृतेरुत्कृष्टां स्थितिं बध्नन् तत्स्वामी शेषाणामचक्षुर्दर्शनावरणादीनामष्टानां प्रकृतीनां

नियमतो बन्धकः, स्थितेस्तु तासामष्टानां प्रत्येकमुत्कृष्टाया वाऽनुत्कृष्टाया वा बन्धक इत्यादि । दानान्तरायस्योत्कृष्टस्थितिं बध्नन् शेषाणां लाभान्तरायादीनां चतसृणां नियमतो बन्धकः, स्थितेस्तु तासां प्रत्येकमुत्कृष्टाया वाऽनुत्कृष्टाया वेत्यादि । अथाऽनन्तरं 'गुरुमगुरुं वाऽणणेमि' इत्यनेनैकस्या मतिज्ञानावरणादिप्रकृतेरुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकस्यान्यासां श्रुतज्ञानावरणादीनां स्थितिबन्धप्रमाणं विकल्पितम्, विकल्पयिष्यते चोत्तरत्र मिच्छत्त अण्णाण गुरुमुअ अगुरु' (गा-६३४) मित्यादिना, तत्रोत्कृष्टं तद्गम्यते, तस्यौघतो मार्गणास्थानेषु वा यथासम्भवं नियतैकस्थितिबन्धस्थानरूपतया प्रतिपादितत्वात्, न पुनरनुत्कृष्टम्, तस्योत्कृष्टवर्जशेषसर्वस्थितिबन्धस्थानविषयत्वेनाऽसंख्येयभेदभिन्नत्वात्, अतस्तत्स्फुटीकर्तुमाह–"जत्थे"त्यादि, 'यत्र' ओघे मार्गणास्थानेषु वा "गुरू अगुरू वा" त्ति उत्कृष्टाऽनुत्कृष्टा वा "दुहा" त्ति 'द्विधा'-विकल्पद्वयगता स्थितिः "बज्झइ" त्ति बध्यते तस्य विवक्षितैकप्रकृत्युत्कृष्टस्थितिं बध्नतो जीवस्य बन्धप्रायोग्यतया उक्ता वक्ष्यते चेति भावः । "तहिं" ति तत्र "गुरूओ" त्ति 'गुरुतः' गुरुस्थितितः, उत्कृष्टस्थित्यपेक्षया इति यावत् "अगुरू" इत्यादि, 'अगुरु' अनुत्कृष्टा स्थितिः समयादिना न्यूना यावत् पल्योपमाऽसंख्येयभागेन न्यूना ज्ञेया । समयोनोत्कृष्टा, द्विसमयोनोत्कृष्टा, त्रिसमयोनोत्कृष्टा, इत्येवं समयसमयहान्योत्कृष्टस्थितितो यावद्भिः पल्योपमासंख्यभागो हीयेत तावतां पल्योपमाऽसंख्यभागप्रमितनियतस्थितिबन्धविकल्पानामन्यतमविषया साऽनुत्कृष्टा स्थितिर्भवति न पुनस्ततोऽपि न्यूनेति भावः ।

"तइअस्स" इत्यादि, तृतीयस्य वेदनीयाख्यमूलकर्मण एकामेव सातवेदनीयलक्षणामसातवेदनीयलक्षणा वोत्तरप्रकृतिं बध्नाति, न पुनः सप्रतिपक्षाम्, परावर्तमानसप्रतिपक्षप्रकृतीनां युगपद्बन्धप्रतिषेधात् । ततः किम् ? ततो न भवति वेदनीयोत्तरप्रकृतिद्वयमधिकृत्य प्रस्तुतः स्वस्थानोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षः । अथाऽऽयुर्गोत्रोत्तरप्रकृतीनामपि वेदनीयोत्तरप्रकृतितुल्यत्वात् तत्राऽपि प्रस्तुतस्वस्थानोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षं प्रतिषेद्धुमाह–"एवं गोआऊण" ति सुगमम्, एकस्या नीचैर्गोत्रादेर्बन्धे प्रवर्तमाने तदन्यस्या उच्चैर्गोत्रादेर्बन्धस्याऽप्रवर्तनात् । एवमायुरुत्तरप्रकृतीनां मध्यादप्येकस्या एव बन्धप्रवर्तनादिति । तदेवं भणित ओघतो मोहनीय नामद्वयं विहाय शेषमूलप्रकृतिषट्कोत्तरभेदेषु स्वस्थानोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षः प्रतिषिद्धो वा यथासम्भवम् । अथाऽसौ नरकगत्योघादिमार्गणास्थानेष्वप्यविशेषेणौघवद्विहायाऽपगतवेद सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणाद्वयम्, अतः सापवादमतिदिदिक्षुराह–"छण्हं एमेव" इत्यादि, अनुपदं वक्ष्यमाणापवादपदं विहाय सर्वासु मार्गणासूक्तज्ञानावरण दर्शनावरण वेदनीया-ऽऽयु गोत्रा ऽन्तरायलक्षणानां षण्णां मूलप्रकृतीना स्वकीयस्वकीयोत्तरभेदलक्षणोत्तरप्रकृतीनां प्रस्तुतः स्वस्थानोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षः सर्वथौघद्भवतीत्यर्थः । अपवादपदमाह–"परमेगरस" इत्यादि, परमपगतवेद-सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणयोः "पढम-दुइअ-चरमाण" ति ज्ञानावरण-दर्शनावरणा-ऽन्तरायलक्षणानां मूल-

कर्मणामेकैकस्योत्तरप्रकृतिभेदमध्याद् एकस्या मतिज्ञानावरणादेश्चक्षुर्दर्शनावरणादेर्दानान्तरायादेर्वा ज्येष्ठां स्थितिं बध्नन् तत्स्वामी अन्यासां श्रुतज्ञानावरणादीनामचक्षुर्दर्शनावरणादीनां लाभान्तरायादीनां वा यथाक्रमं चतुस्त्रिचतुःप्रकृतीनां नियमाज्ज्येष्ठस्थितिं बध्नातीति गाथाचतुष्टयाक्षरार्थः ।

भावार्थः पुनरयम्—अष्टमूलप्रकृतीनामेकैकस्या उत्तरभेदमध्ये ज्ञानावरण-दर्शनावरणाऽन्तरायाणां प्रत्येकं सर्वा अप्युत्तरप्रकृतयो ध्रुवबन्धिन्यः । मोहनीयस्य तु काश्चिन्मिथ्यात्व-कषाय-षोडशक-भय जुगुप्सालक्षणा ध्रुवबन्धिन्यः, हास्य-रति शोका-ऽरति वेदत्रयलक्षणास्त्वध्रुवबन्धिन्यः । एवं नाम्नोऽपि वर्णचतुष्क-तैजस-कार्मणा ऽगुरुलघु निर्माणो-पघातनामलक्षणा नव ध्रुवबन्धिन्यः, शेषा नरकगत्याद्या अष्टपञ्चाशत्प्रकृतयस्त्वध्रुवबन्धिन्यः । शेषाणां वेदनीया ऽऽयुर्गोत्राणां तु सर्वा अप्यध्रुवबन्धिन्यः । तत्राऽपि वेदनीयादीनां त्रयाणां या अध्रुवबन्धिन्यस्ताः प्रत्येकं परस्परं प्रतिपक्षभूताः, तास्वेकस्या वेदनीयप्रकृतेर्बन्धे सति अन्या वेदनीयप्रकृतिर्न बध्यते, एकस्या आयुःप्रकृतेर्बन्धे सत्यन्या आयुःप्रकृतयो न बध्यन्ते, एवमेकस्या गोत्रप्रकृतेर्बन्धे सत्यन्या गोत्रप्रकृतिर्न बध्यते इत्यर्थः । न पुनरेवं मोहनीयाध्रुवबन्धिनीषु नामाध्रुवबन्धिनीषु वा, एकस्या नपुंसकवेदाद्यध्रुवबन्धिन्या बन्धभावेऽन्यस्याः शोकमोहनीयाद्यध्रुवबन्धिन्या बन्धभावात् , एकस्या नरकगत्याद्यध्रुवबन्धिन्या बन्धे प्रवर्तमानेऽन्यस्याः पञ्चेन्द्रियजात्याद्यध्रुवबन्धिन्या बन्धप्रवर्तनात् ; न केवलं तावत् तदानीमन्या मोहनीयध्रुवबन्धिन्यो नामध्रुवबन्धिन्योऽपि बध्यन्ते । तेन किम् ? तेनाऽल्पवक्तव्यत्वात् मोहनीयनामवर्जानां प्रस्तुतसंनिकर्षः ओघादेशत आदावेव भणितः । तत्र ज्ञानावरण-दर्शनावरणा-ऽन्तरायाणां प्रत्येकमुत्तरप्रकृतयो ध्रुवबन्धिन्यः कथिताः, तथा चैकस्या बन्धभावे नाऽन्यस्या बन्धो विरुद्धः, यद्यन्यस्या बन्धो न विच्छिन्नस्तदा तद्बन्धोऽवश्य भवति, तद्बन्धे विच्छिन्ने तु न; यथा द्वितीयगुणस्थानान्ते स्त्यानर्द्धित्रिकस्य अष्टमगुणस्थानप्रथमभागान्ते निद्राद्विकस्य च बन्धविच्छेदादनु चक्षुर्दर्शनावरणादीना बन्धभावेऽपि न तासां स्त्यानर्द्धित्रिकादिप्रकृतीनां बन्धः, अन्यथा मिथ्यात्वगुणस्थानादौ त्ववश्यं तद्बन्धश्च । किञ्चोत्कृष्टस्थितिबन्ध आसां मतिज्ञानावरणादीनां प्रत्येकमोघतो मार्गणास्थानेषु वा स्वप्रायोग्योत्कृष्टसंक्लेशेन तत ईषन्मध्यमसंक्लेशेन वा जायते, तथा चैकस्या उत्कृष्टस्थितिं बध्नतस्तदन्यासां बन्धप्रायोग्याणामवश्यं बन्धः प्रवर्तते, न पुनरोघादौ तत्र तत्र चक्षुर्दर्शनावरणादीनां सूक्ष्मसम्परायगुणस्थाने जायमानां जघन्यां स्थितिं बध्नतस्तत्रौघादौ बन्धप्रायोग्याणामपि स्त्यानर्द्धित्रिकादिप्रकृतीनामबन्ध इवाऽवन्धः प्रवर्तते, इत्यत एकस्या उत्कृष्टस्थितिं बध्नतस्तदन्यासां नियमतो बन्धो भणितः, यत्पुनस्तासां नियमतो बध्यमानानां स्थितिबन्ध उत्कृष्टोऽनुत्कृष्टो वा भवतीति विकल्पितम् , तत्राऽप्यनुत्कृष्टः स्वीयस्वीयोत्कृष्टस्थितिबन्धात्समयादिना यावत्पल्योपमासंख्येयभागेन न्यूनो दर्शितः स तु अध्यवसायानां वैचित्र्याज्ज्ञेयः ।

ननु यथा मतिज्ञानावरणस्योत्कृष्टस्थितिबन्धो विवक्षितैस्तीव्रतमाद्यध्यवसायैस्तथा श्रुतज्ञानावरणादीनामपि । एवं चक्षुर्दर्शनावरणादिष्वपि । यथा च मतिज्ञानावरणादीनामनुत्कृष्टस्थितिबन्ध उक्तान्यैस्तैस्तैरध्यवसायैस्तथाऽन्यासां श्रुतज्ञानावरणादीनामपि, तथा चैकस्या मतिज्ञानावरणादेरुत्कृष्टस्थितिबन्धे सति भवतु नामान्यासां श्रुतज्ञानावरणादीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धः, एकस्या अनुत्कृष्टस्थितिबन्धे सत्यन्यासामनुत्कृष्टस्थितिबन्धश्च, परमेकस्या उत्कृष्टस्थितिबन्धे सत्यन्यासामनुत्कृष्टस्थितिबन्धः कथं नूपपद्येत ? इति चेद् , मतिज्ञानावरणादीनां प्रत्येकं स्वीयस्वीयाऽध्यवसायानां पृथक्त्वेन विलक्षणत्वेन च तदुपपत्तेरविरोधात् । तथाहि-मतिज्ञानावरणस्योत्कृष्टस्थितिबन्धप्रायोग्याः श्रुतज्ञानावरणादीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धप्रायोग्याश्च येऽध्यवसायास्ते तुल्यसंख्याकाः सन्तोऽपि न एकरूपाः, अपितु विभिन्नास्तत्तत्प्रकृतेरात्मीया आत्मीया एव एवं समयोन द्विसमयोनोत्कृष्टादिस्थितिबन्धलक्षणानामनुत्कृष्टस्थितीनामपि प्रत्येकं बन्धप्रायोग्या अध्यवसायाः प्रकृतिभेदेन विभिन्ना एवेत्यत्र नास्ति कश्चिद्विरोधः । तत्र मतिज्ञानावरणोत्कृष्टस्थितिबन्धप्रायोग्या येऽसंख्यलोकप्रदेशपरिमिता अध्यवसायास्तेषु केषाञ्चित्तीव्रतमादीनामसंख्येयैकभागमात्राध्यवसायानां सद्भावे इतरासां श्रुतज्ञानावरणादिप्रकृतीनामपि तथाविधस्वीयस्वीयोत्कृष्टस्थितिबन्धप्रायोग्याध्यवसायाऽसंख्येयैकभागाध्यवसायानां तत्सहचारित्वेन सद्भावाद्भवत्येकस्या मतिज्ञानावरणप्रकृतेरुत्कृष्टस्थितिं बध्नतस्तदन्यासां श्रुतज्ञानावरणादीनामप्युत्कृष्टस्थितिबन्धः । मतिज्ञानावरणोत्कृष्टस्थितिबन्धप्रायोग्याध्यवसायेषु यथोक्तसाहचर्यापन्नानध्यवसायान् विहाय ततो ये मन्दमन्दतराद्या अध्यवसायास्तेषु कियतामध्यवसायानां श्रुतज्ञानावरणादीनां समयोनोत्कृष्टस्थितिबन्धप्रायोग्याध्यवसायाऽसंख्येयैकभागेन समं साहचर्यम् , कियतां तु ततो मन्दतराणां श्रुतज्ञानावरणादीनां द्विसमयोनोत्कृष्टस्थितिबन्धप्रायोग्याध्यवसायाऽसंख्येयैकभागेन तत् ; एवं तावद्वाच्यं यावत् मतिज्ञानावरणोत्कृष्टस्थितिबन्धप्रायोग्याऽध्यवसायमध्यात्कियतां शेषाणां श्रुतज्ञानावरणादीनां पल्योपमाऽसंख्येयभागन्यूनोत्कृष्टस्थितिबन्धप्रायोग्याध्यवसायाऽसंख्येयैकभागेन समं साहचर्यम् । यथा मतिज्ञानावरणस्योत्कृष्टस्थितिबन्धप्रायोग्याध्यवसायेभ्यस्तस्य तस्याऽसंख्येयैकैकभागमात्राध्यवसायसमूहस्य श्रुतज्ञानावरणादीनामुत्कृष्टादिपल्योपमासंख्येयभागन्यूनोत्कृष्टस्थितिबन्धप्रायोग्यैस्तैस्तैर्भिन्नभिन्नाध्यवसायैः साहचर्यं तथा श्रुतज्ञानावरणोत्कृष्टस्थितिबन्धप्रायोग्याध्यवसायेभ्यस्तस्य तस्यासंख्येयैकैकभागलक्षणस्याऽध्यवसायसमूहस्य स्वेतरासां मतिज्ञानावरणादिप्रकृतीनामुत्कृष्टादिपल्योपमासंख्येयभागन्यूनोत्कृष्टस्थितिपर्यन्तस्थितिबन्धप्रायोग्यैर्भिन्नभिन्नाध्यवसायैः साहचर्यम् । एवमवधिज्ञानावरणादीनादाय दर्शनावरणादितत्तन्मूलप्रकृत्युत्तरभेदानादाय च सहचरितभावो वाच्यः । एवमेव तत्तत्प्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धप्रायोग्याध्यवसायस्थाने तासामेव समयोनादितत्तदनुत्कृष्टस्थितिबन्धप्रायोग्याध्यवसायानुपादाय साहचर्यभावो वाच्यः ।

इत्थं हि साहचर्यभावाऽविरोधे मतिज्ञानावरणस्योत्कृष्टस्थितिबन्धप्रायोग्ययथोक्ततीव्रतमादीन् कतिपयानध्यवसायान् विहाय ये श्रुतज्ञानावरणादीनां समयोनोत्कृष्टस्थितिबन्धप्रायोग्याऽध्यवसाय-सहचारिणोऽध्यवसायास्तत्सद्भावे मतिज्ञानावरणस्योत्कृष्टः स्थितिर्बध्यते, श्रुतज्ञानावरणादेस्तु समयोनोत्कृष्टा बध्यते, एवं मतिज्ञानावरणस्योत्कृष्टस्थितिबन्धप्रायोग्याध्यवसायमध्यात्तेषां तेषां श्रुतज्ञानावरणादेर्द्वि-त्रि--चतुरादिसमयोनोत्कृष्टस्थितिबन्धप्रायोग्याध्यवसायसहचारिणामध्यवसायानां सद्भावे मतिज्ञानावरणस्योत्कृष्टस्थितिबन्धे जायमाने श्रुतज्ञानावरणादीनां द्वि त्रि-चतुःसमयादिना न्यूनस्य यावत् पल्योपमासंख्येयभागेन न्यूनस्योत्कृष्टस्थितिबन्धस्य, एवमेव श्रुतज्ञानावरणा-दीनां प्रत्येकप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धे प्रवर्तमाने तच्छेषाणां समयोनादि-पल्योपमाऽसंख्येय-भागन्यूनोत्कृष्टस्थितिबन्धपर्यन्तस्यानुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य सम्भवदुपपत्तिकत्वेनाऽविरोध इति ।

वेदनीयाऽऽयुर्गोत्राणां स्वस्थानोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षप्रतिषेधस्तु सुगमः, तदुत्तरप्रकृति-मध्यादेकैकस्या एव बन्धभावेन स्वस्थानप्रकृतिसंनिकर्षस्यैवाभावात्, प्रकृतिसंनिकर्षाभावे तूत्कृष्टा-द्यन्यतरविधोऽपि स्थितिबन्धसंनिकर्षो न भवत्येव, प्रकृतिबन्धाविनाभावित्वात्स्थितिबन्धस्येति । यस्तु मार्गणास्थानेष्वतिदिश्याऽपगतवेद-सूक्ष्मसम्परायसंयमयोरपवादो भणितः स तु तत्र मार्गणाद्वये मतिज्ञानावरणाद्युत्कृष्टस्थितिबन्धस्यानिवृत्तिकरणगुणस्थानादौ भावात्, तत्र च जीवानां तत्तत्समयेषु नियताध्यवसायानामेव भावेन नियतैकरूपस्य स्थितिबन्धस्यैव जायमानत्वादुत्कृष्टस्थितिबन्ध एव भवति न पुनरनुत्कृष्ट इति ॥६३०-६३३॥

अथ मोहनीयोत्तरप्रकृतिस्वस्थानोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षं प्रदिदर्शयिषुः प्राहाऽऽर्यापञ्चकम्—

मिच्छत्त-णपुंस-सोलसकसाय-भय-कुच्छ-सोग-अरईओ । एगस्स जेट्ठबंधी णियमाऽण्णाण गुरुमुव अगुरुं ॥
थीगुरुबंधी बंधइ णियमा चउभागहीणगं अगुरुं । भय-कुच्छ-सोगा-ऽरइ-मिच्छग-सोलसकसायाणं ॥
पुरिसस्स जेट्ठबंधी रइ-हस्साणं गुरुं व अगुरुं वा । बंधेइ सिआ अगुरुम-रइ-सोगाणं दुभागूणं ॥
सोलसकसाय-मिच्छग-भय-कुच्छाण णियमा दुभागूणं । एगस्स जेट्ठबंधी रइ-हस्साउ णियमाऽण्णस्स ॥
जेट्ठमजेट्ठं व सिआ पुमस्स थीए सिआ तिभागूणं । णपुमस्स सिआ बंधइ दुभागहीणं धुवाण णियमाओ ॥
॥ गाथा ६३४-६३८ ॥ (चरमा गीतिः)

(प्रे०) 'मिच्छत्त' इत्यादि, इह तावन्मोहनीयोत्तरप्रकृतीनां ध्रुवाध्रुवद्विविधरूपतया तासां प्रस्तुतसंनिकर्षोपयोगि किञ्चित्स्मार्यते, तद्यथा—मोहनीयप्रकृतीनां वर्गत्रयी प्राग्दर्शनमोहनीय-कषायमोहनीय-नोकषायमोहनीयभेदेन भणिता, तत्र या ध्रुवबन्धिन्यस्ता वर्गोत्कृष्टस्थितिका एव सन्ति, अध्रुवबन्धिनीषु तु नपुंसकवेद-शोका-ऽरतिप्रकृतयो वर्गोत्कृष्टस्थितिकाः सन्ति, अन्यास्तु हास्य-रति पुंवेदलक्षणा द्विभागोनवर्गोत्कृष्टस्थितिकाः सन्ति, स्त्रीवेदस्तु चतुर्भागोनवर्गोत्कृष्टस्थितिको-ऽस्तीति सम्यगवधारणीयम् । एवमेव वक्ष्यमाणनामप्रकृतीनामप्युत्कृष्टा स्थितिर्वर्गोत्कृष्टा द्विभागा-द्यूनवर्गोत्कृष्टा वेति सम्यक्स्मरणीयम् । किमर्थम् ? आधिक्योत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षे तथा यत्र

मार्गणास्वौघिकोत्कृष्टस्थितिबन्धेन तुल्य उत्कृष्टस्थितिबन्धस्तत्र वक्ष्यमाणोपपादनप्रकारैरुत्कृष्ट-स्थितिबन्धसंनिकर्षोपपत्तौ तस्योपयोगित्वात् ।

उत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षचिन्तायामेतद्विचारणीयं भवति यत्–ओघतो मार्गणा-स्थानेषु वा प्रधानीकृतविवक्षितैकप्रकृतेरुत्कृष्टां स्थितिं बध्नतो जीवस्य बन्धप्रायोग्याया अपि प्रधानीकृतेतरप्रकृतेः–[१]नियमतो बन्धः, [२]नियमतोऽबन्धः, [३]स्याद्बन्धो वा । यदि नियमबन्धः स्याद्बन्धो वा तदा [४]उत्कृष्टस्थितेरेव, [५]अनुत्कृष्टस्थितेरेव, [६]उत्कृष्टानुत्कृष्टद्विविधस्थित्योर्वेति विकल्पत्रय सम्भवः । अनुत्कृष्टस्थितेरेव चेद् [७]द्विभागोनोत्कृष्टस्थितेर्वा [८]त्रिभाग चतुर्भागाद्यू-नोत्कृष्टस्थितिलक्षण-संख्येयभागोनोत्कृष्टस्थिते रसंख्येयभागोनोत्कृष्टस्थितेर्वेति ।

तत्र प्रधानीकृतप्रकृतिः ध्रुवबन्धिनी वा स्यादध्रुवबन्धिनी वा स्यात् , अध्रुवबन्धिनी चेद् वर्गोत्कृष्टा स्यादन्यथा वा स्यात् । तत्र मोहनीयप्रकृतिषु प्रधानीकृतप्रकृतिर्यदि ध्रुव-बन्धिनी तदा तां बध्नतो जीवस्य शेषमोहनीयध्रुवबन्धिनीनामवश्यं बन्धो भवति, अध्रुवबन्धि-नीषु तु या या वर्गोत्कृष्टस्थितिका तस्यास्तस्या अपि नियमतो बन्धो भवति, शेषाणामध्रुव-बन्धिनीनां तु न भवत्येवामौ । कथं न भवति ? इति चेत् , एकस्याः प्रकृतेर्वर्गोत्कृष्टस्थिति-बन्धभावे तदन्यस्याः प्रकृतेर्वर्गोत्कृष्टस्थितिबन्धप्रायोग्याणां समयादिना यावत्पल्योपमासंख्येयभागेन न्यूनवर्गोत्कृष्टस्थितिबन्धप्रायोग्याणां वाऽध्यवसायानामेव सम्भवात् , न च शेषहास्याद्यध्रुवबन्धि-नीनामुत्कृष्टा अपि स्थितिर्वर्गोत्कृष्टा, समयादिना यावत्पल्योपमासंख्येयभागेन न्यूनवर्गोत्कृष्टा वा, तथाच न भवति तद्बन्धः । न च मा भवतु स्थितिबन्धः, प्रकृतिबन्धस्तु भविष्यतीति वाच्यम् , उपशान्तमोहादिगुणस्थानानि विहायान्यत्र प्रकृतिबन्धभावे स्थितिबन्धस्यानिवार्यत्वात् । वस्तुतस्तु द्विभागाद्यूनवर्गोत्कृष्टस्थितितोऽधिकस्थितिबन्धस्य प्रायोग्येष्वध्यवसायेषु सत्सु पुंवेदादिशेषप्रकृतीनां बन्धाभावादेव चासामुत्कृष्टोऽपि स्थितिबन्धो न वर्गोत्कृष्टः किन्तु द्विभागाद्यूनवर्गोत्कृष्ट एवेति न भवति एकस्या वर्गोत्कृष्टस्थितिं बध्नतो जीवस्य शेषपुंवेद-स्त्रीवेद-हास्य-रतिप्रकृतीनां बन्धः । इद-मेव सर्वत्राविरोधिनीनामपि प्रकृतीनां नियतबन्धादौ बीजभूतम् । इत्थं हि मोहनीयस्य प्रधानतया विवक्षिताया ध्रुवबन्धिन्या उत्कृष्टस्थितिं बध्नतः शेषमोहनीयप्रकृतिषु वर्गोत्कृष्टस्थितिकानामवश्यं बन्धो भवति, अन्यासां त्ववश्यं बन्धाभावो भवतीति स्थितम् । एवमेवाध्रुवबन्धिनीष्वपि या वर्गोत्कृष्ट-स्थितिका तस्याः प्रधानत्वे, अर्थात्तदीयोत्कृष्टस्थितिं बध्नतः शेषवर्गोत्कृष्टस्थितिकानामवश्यं बन्धो-ऽन्यासां त्ववश्यं बन्धाभावश्चाऽभ्यूह्यः; केवलं तत्र यः प्रधानीकृतप्रकृतेः प्रतिपक्षभूतप्रकृतीनां प्रति-पक्षभूतप्रकृतिबन्धाऽविनाभाविबन्धाना प्रकृतीना च बन्धाभावः सः प्रकृतिबन्धसंनिकर्षादेव मुख्य-वृत्त्या विज्ञेयः, विवक्षितप्रधानीकृतप्रकृतेरुत्कृष्टस्थितिबन्धो भवतु अनुत्कृष्टस्थितिबन्धो वा भवतु तं कुर्वतो बन्धतस्तद्विरोधिनीना प्रकृतीनां विरोध्यविनाभाविबन्धानां प्रकृतीनां चावश्यं बन्धाऽभावात् ,

यथाऽन्यतमवेदस्योत्कृष्टस्थितिमनुत्कृष्टस्थितिं वा बध्नतः शेषवेदप्रकृत्योरवश्यमबन्धः, हास्य-प्रकृतेरुत्कृष्टामनुत्कृष्टां वा स्थितिं बध्नतः शोका-ऽरतिप्रकृत्योरवश्यमबन्धश्चेति ।

अथ प्रधानतया विवक्षितप्रकृतिर्न वर्गोत्कृष्टस्थितिका किन्तु द्विभागाद्यूनवर्गोत्कृष्टस्थितिका तदा तस्याः प्रधानीकृतप्रकृतेः प्रतिपक्षभूतानां प्रतिपक्षभूताविनाभाविबन्धानां च प्रकृतीनामनन्त-रोक्तनीत्याऽबन्ध एव भवति, शेषप्रकृतिषु तु याः प्रधानीकृतप्रकृतिवद् द्विभागाद्यूनवर्गोत्कृष्टस्थिति-कास्ततोऽधिकस्थितिका वा तासां बन्धः सम्भवति, ततो न्यूनस्थितिकानां तु न सम्भवत्येव; यथा स्त्रीवेदोत्कृष्टस्थितिं बध्नतो हास्य रतिप्रकृत्योरबन्ध एव । यासां बन्धः सम्भवति तासु या याः पर-स्परं प्रतिपक्षिण्यस्तासां तु न नियमतो बन्धो नियमतोऽबन्धो वा, किन्तु स्याद्बन्ध एव; यथा पुंवेदोत्कृष्टस्थितिं बध्नतो हास्य रति शोका ऽरतीनां स्याद्बन्धः । परस्परप्रतिपक्षभूतप्रकृतिवर्जानां तु नियमतो बन्धः, तत्र ध्रुवबन्धिनीनाममूषां ध्रुवबन्धित्वात्, शेषाणां तु प्रतिपक्षप्रकृतिरहितत्वाच्च; यथा स्त्रीवेदोत्कृष्टस्थितिं बध्नतः मिथ्यात्वादीनां ध्रुवबन्धित्वात्तथा शोका-ऽरत्योस्तु प्रतिपक्षप्रकृति-रहितत्वान्नियमतो बन्ध इति ।

तदेवं प्रधानतया विवक्षितमोहनीयोत्तरप्रकृतेरुत्कृष्टस्थितिं बध्नतस्तदितरासां बन्धप्रायोग्याणामपि मोहनीयप्रकृतीनां नियमतो बन्धः, नियमतो बन्धाभावः, स्याद्बन्धो वा भवेदिति विकल्पत्रयोप-पादनप्रकाराः प्रपञ्चिताः, एते एवोपपादनप्रकारा नामोत्तरप्रकृत्युत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षोपपत्तावपि उपयुज्यन्ते, केवलं तत्र वर्गोत्कृष्टस्थितिं बध्नतो यस्तदन्यवर्गोत्कृष्टस्थितिकानां प्रकृतीनां नियमतो बन्धो भणितः स इह नामप्रकृतिप्रधानसंनिकर्षे न सर्वासां नियमतः, किन्तु सर्वत्र तथासामान्या-दातपोद्योतनाम्नोः स्याद्बन्धस्तथा तस्यास्तस्या विवक्षितप्रकृतेरुत्कृष्टां स्थितिं बध्नद्भिर्देव-मनुष्यादिविविधस्वामिभिः याः परस्परं परिहारेण बध्यन्ते, यथा वर्णचतुष्कौघोत्कृष्टस्थितिं बध्नता ईशानान्तदेवेन नरकगति-पञ्चेन्द्रियजाति वैक्रियद्विकादिपरिहारेण तिर्यग्गत्याद्याः,तथाविधेन मनुष्येण तिरश्चा वा तिर्यग्गत्येकेन्द्रियजातिस्थावरनामादिपरिहारेण नरकगत्यादयः, अर्थाद् देवादिविविध-स्वामिनोऽपेक्ष्य यासां कासाञ्चिद् बन्धवद्बन्धाभावोऽपि लभ्यते तासां स्याद्बन्धो भवति । एवं मनुष्य-द्विकादिबन्धस्याऽपि तत्तद्गत्यादिप्रायोग्याऽप्रायोग्यतया तथा निष्प्रतिपक्षभूतानामपि औदारिकाङ्गो-पाङ्गनामादीनां स्याद्बन्ध एव लभ्यते ।

अथ विवक्षितप्रकृत्युत्कृष्टस्थितिं बध्नतोऽनन्तरोक्तनीत्या यासां नियमबन्धः स्याद्बन्धो वा प्राप्तस्तासां स्थितिबन्ध उत्कृष्टादिर्यावान्भवेत् तत्रामी **उपपादनमार्गाः**–प्रधानतया विवक्षित-प्रकृतिर्यदि वर्गोत्कृष्टा तदा प्रागुक्तमतिज्ञानावरणाद्युत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षनीत्या तदन्यासां सर्वासां बध्यमानानामुत्कृष्टोऽनुत्कृष्टो वेत्येवं द्विविधः स्थितिबन्धो भवति, अत्राप्यनुत्कृष्टो मति-ज्ञानावरणादिवदेव समयादिना यावत्पल्योपमासंख्येयभागेन न्यूनो वा भवति । विवक्षितप्रकृतिर्यदि

न वर्गोत्कृष्टा, किन्तु द्विभागाद्यूनवर्गोत्कृष्टा तदा ध्रुवबन्धिनीनां वर्गोत्कृष्टाऽध्रुवबन्धिनीनां चाऽनुत्कृष्टो वर्गोत्कृष्टस्थितितः प्रधानीकृतप्रकृतिवद् द्विभागादिना न्यूनो भवति, न पुनरुत्कृष्टः, कथम् ? स्थितिबन्धाऽध्यवसायानां तथा व्यवस्थितेः ।

अयम्भावः–यथा एकस्या मतिज्ञानावरणादिप्रकृतेर्वर्गोत्कृष्टस्थितिबन्धप्रायोग्येष्वध्यवसायेषु सत्सु प्रागुक्तनीत्या अन्यस्या अपि बध्यमानाया वर्गोत्कृष्टस्थितेर्बन्धप्रायोग्याणां ततः समयादिना न्यूनायास्तत्समासन्नायाः स्थितेर्वा बन्धप्रायोग्याणामध्यवसायानां सम्भवाद्यथोत्कृष्टः समयादिना यावत्पल्योपमासंख्येयभागेन न्यूनोत्कृष्टो वा स्थितिबन्धो भवति, तथा एकस्याः पुंवेदादेर्द्विभागोनवर्गोत्कृष्टलक्षणाया उत्कृष्टस्थितेर्बन्धप्रायोग्याध्यवसायानां सद्भावेऽन्यस्या मिथ्यात्वादेः शोकादेर्वा द्विभागोनवर्गोत्कृष्टस्थितेर्बन्धप्रायोग्याणां तत्समासन्नस्थितेर्बन्धप्रायोग्याणां वाऽध्यवसायानामेव सम्भवात् पुंवेदादिद्विभागोनवर्गोत्कृष्टस्थितिकप्रकृतिवत् मिथ्यात्वादेरपि वर्गोत्कृष्टस्थितितो द्विभागोनस्थितेस्तत्समासन्नस्थितेर्वा बन्धो भवेदिति न्याय्यमेव; केवलं तत्र पुंवेदादेरसौ उत्कृष्टो भण्येत, मिथ्यात्वादीनां त्वनुत्कृष्टो द्विभागाद्यूनोत्कृष्टो वा भण्येत, मिथ्यात्वादीनामुत्कृष्टस्थितेर्वर्गोत्कृष्टत्वादित्यतस्तथैव विज्ञेयः । एवमेव हास्याद्युत्कृष्टस्थितिं बध्नतः स्त्रीवेदादेस्त्रिभागाद्यूनोत्कृष्टस्थितिबन्धः स्त्रीवेदाद्युत्कृष्टस्थितिं बध्नतो मिथ्यात्वादेश्चतुर्भागाद्यूनोत्कृष्टस्थितिबन्ध इत्याद्यभ्यूह्यमिति । अत एव याः प्रधानीकृतप्रकृत्युत्कृष्टस्थितिवद् द्विभागाद्यूनवर्गोत्कृष्टस्थितिकास्तासामुत्कृष्टो वा यावत्ततः पल्योपमासंख्येयभागेन न्यूनो वा स्थितिबन्धो भवति, शेषाणां स्थितिबन्धस्तु स्वीयस्वीयोत्कृष्टस्थितितः प्रधानीकृतप्रकृत्युत्कृष्टस्थितिबन्धः यावता त्रिभागादिना न्यूनो वर्तते तावत्त्रिभागाद्यूनोत्कृष्टलक्षणः संख्येयभागन्यूनोत्कृष्टरूपोऽनुत्कृष्टो भवति; यथा हास्यरत्युत्कृष्टस्थितिं बध्नतः स्त्रीवेदस्य त्रिभागोनोत्कृष्टः स्थितिबन्धः । तदेवं विवक्षितप्रकृत्युत्कृष्टस्थितिं बध्नता नियतबध्यमानाना स्याद्बध्यमानाना वा प्रकृतीना स्थितिबन्ध उत्कृष्टाऽनुत्कृष्टद्विविधः स्यादनुत्कृष्ट एव वा स्यात् , अनुत्कृष्टश्चेद् द्विभागाद्यूनोत्कृष्टादिः कियान् भवेदित्यत्रोपपादनप्रकारा भणिताः । एते हि ओघतो मार्गणास्थानेषु वा यत्रोत्कृष्टस्थितिबन्धमानमाधिकं भवति, अर्थाच्छुक्ललेश्याऽऽनतादिदेवमार्गणावर्जासु यासु पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियमिथ्यादृशां प्रवेशस्तासु सर्वासु मोहनीयप्रकृतीना नामप्रकृतीना च स्वस्थानोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षोपपत्तौ योजनीयाः । न केवलं स्वस्थानोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षोपपत्तौ परस्थानोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षोपपत्तावप्येते एव योजनीया यथासम्भवम् , यः पुन कुत्रचित्कश्चिद् विशेषः स्यात्तु तत्रैव स्फुटीकरिष्यत इति ।

एतेनोपपत्तिप्रकारप्रपञ्चनेनेदमपि सम्पन्नं यत्–यस्य कस्याप्येकजीवस्य यथोत्तरसंक्लेशवृद्धौ क्रमशो यस्या यस्याः प्रकृतेर्बन्धविच्छेदो जायते, अर्थात् विवक्षितसंक्लेशादपि यदा संक्लेशस्य तीव्रता भवति तदा या याः प्रकृतयः नैव बध्यन्ते, यथा दशकोटीकोटीसागरोपमतो-

ऽधिकस्थितिबन्धप्रायोग्यसंक्लेशे प्रवर्तमाने न भवति पुंवेदहास्यरतीनां बन्धः, पञ्चदशकोटीकोटीसागरोपमतोऽधिकस्थितिबन्धप्रायोग्यसंक्लेशे जाते न भवति स्त्रीवेदस्यापि बन्धः, तासु यथोत्तरसंक्लेशवृद्धौ क्रमविच्छिद्यमानासु या याः पूर्वं विच्छिद्यन्ते तदीयोत्कृष्टस्थितिं बध्नतस्तत उत्तरत्र विच्छिद्यमानानां कामाश्चिन्न भवति बन्धः। कथम्? पूर्वविच्छिद्यमानविवक्षितप्रकृतिविरोधित्वादिना। यास्तु सर्वथोत्तरत्र विच्छिद्यन्ते तदीयोत्कृष्टस्थितिं बध्नतस्तु तत्पूर्वपूर्वविच्छिद्यमानानां बन्ध एव न प्रवर्तते। यास्त्वनन्तरोक्तनीत्या सर्वपूर्वसर्वोत्तरविच्छिद्यमानप्रकृतीनां मध्ये विच्छेदमाप्नुवन्ति, तासु प्रधानतया विवक्षितप्रकृतेः पूर्वं विच्छिद्यमानानामवश्यं बन्धो न भवति, उत्तरविच्छिद्यमानास्वपि विवक्षितप्रकृतिविरोधिन्यादीनां न भवति कासाञ्चिद् बन्धः, कासाञ्चित्तु स्याद्भवति, कासाञ्चित्तु नियमतो भवति, अनेनैव बीजपदेनैकेन्द्रियादिमार्गणास्थानेषु अपर्याप्तमार्गणास्थानेषु सम्यक्त्वसंयमादिशेषमार्गणास्थानेषु च वक्ष्यमाणोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्ष उपपाद्यते, तदुपपत्तिप्रकारास्तु यथा स्थानं भणिष्यन्त इति।

अथ मन्दधियां सुखावधारणायाग्रेतनवृत्तिग्रन्थानुलोम्याय चाऽनन्तरसंदर्शितोपपत्तिप्रपञ्चनिर्गलिताः कतिपया नियमाः संक्षेपतो विभागेनोट्टङ्क्यन्ते, तद्यथा—

(१) प्रधानीकृतप्रकृत्या समं या बन्धतो विरोधवत्यः, बन्धे प्रधानीकृतविपक्षभूता इत्यर्थः, तासां तद्बन्धाविनाभाविबन्धानां च प्रकृतीनां बन्ध एव न भवति।

(२) बन्धप्रायोग्याणां ध्रुवबन्धिनीनां नियमतो बन्धो जायते।

(३) प्रधानतया विवक्षितप्रकृतिर्यदि वर्गोत्कृष्टस्थितिका तदा—

(i) अवर्गोत्कृष्टस्थितिकानां बन्ध एव न भवति,

(ii) वर्गोत्कृष्टस्थितिकासु या बन्धतः परस्परं प्रतिपक्षभूताः, यासां च प्रधानीकृतप्रकृत्युत्कृष्टस्थितेर्नानास्वामिनोऽपेक्ष्या-ऽन्यथा वा बन्ध-बन्धाभावोभयं लभ्यते तासां स्याद्बन्धो भवति,

(iii) तच्छेषाणां तु नियमतो बन्धो भवति।

(४) प्रधानीकृतप्रकृतिर्यदि न वर्गोत्कृष्टस्थितिका किन्तु वर्गविभागेण वर्गद्वित्र्यादिभागलक्षणेन न्यूनवर्गोत्कृष्टस्थितिका तदा—

(i) यास्तेन रूपेण प्रधानीकृतप्रकृत्यपेक्षया न्यूनस्थितिकास्तासां बन्ध एव न भवति,

(ii) याः पुनस्तेनैव रूपेण प्रधानीकृतप्रकृत्या तुल्यस्थितिकास्तदधिकस्थितिकाश्च तासु याः बन्धतः परस्परं प्रतिपक्षभूतास्तासां स्याद्बन्धो भवति,

(iii) तदन्यासां तु नियमतो बन्धो भवति।

(५) आतपो-द्योतनाम्नोस्तु सर्वत्र स्याद्‌बन्धो भवति । इति तत्तत्प्रकृतिबन्धबन्धाभावा-द्युपपादकनियमाः ।

(६) प्रधानतया विवक्षिता प्रकृतिर्यदि वर्गोत्कृष्टस्थितिका तदाऽनन्तरोक्तनियमाद् बन्ध-प्राप्तानां प्रत्येकमुत्कृष्टो वा प्रागुक्तलक्षणोऽनुत्कृष्टो वा स्थितिबन्धो जायते ।

(७) प्रधानीकृतप्रकृतिर्यदि न वर्गोत्कृष्टस्थितिका किन्तु द्विभागाद्यूनवर्गोत्कृष्टस्थितिका तदा—

(i) वर्गोत्कृष्टस्थितिकानां प्रधानीकृतप्रकृतिवद् वर्गोत्कृष्टस्थित्यपेक्षया द्विभागादिना न्यूनोत्कृष्टः स्थितिबन्धो भवति,

(ii) प्रधानीकृतप्रकृतिवद् या द्विभागाद्यूनवर्गोत्कृष्टस्थितिकास्तासामुत्कृष्टोऽनुत्कृष्टो वा स्थितिबन्धः प्राग्वद्भवति,

(iii) शेषाणां बन्धप्राप्तप्रकृतीनां तु स्वस्वोत्कृष्टस्थितितः प्रधानीकृतप्रकृत्युत्कृष्टस्थितिः वर्गविभागरूपेण यावता त्रिभागादिना न्यूना तावता त्रिभागादिलक्षणेन संख्येयभागेन न्यून उत्कृष्टः स्थितिबन्धो भवति । इति ॥

तदेवं सामान्यत ओघिकोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षोपपादनप्रकारास्तथा लाघवार्थं सुबोधार्थं च तन्निर्गलिताः कतिपया नियमा भणिताः । एतर्हि मोहनीयोत्तरप्रकृत्योघिकोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनि-कर्षे ते यथायथमुपयोज्य मोहनीयप्रस्तुतसंनिकर्ष उपपाद्यते, तत्र—"मिच्छत्ते"त्यादि, मिथ्यात्व-कषायषोडशक-भय-जुगुप्सा शोका-ऽरति-नपुंसकवेदलक्षणानां द्वाविंशतेः प्रकृतीनामन्यतमस्या एक-स्याः मिथ्यात्वादेः प्रकृतेः "जेट्ठबंधी" त्ति उत्कृष्टस्थितेर्बन्धकः "णियमाऽण्णाण" त्ति अन्यासां कषायादीनामेकविंशतेर्नियमाद् बन्धको भवति । तत्र नियमो ध्रुवबन्धिनीनां ध्रुवबन्धि-त्वात्, शोका-ऽरति-नपुंसकवेदाना वर्गोत्कृष्टस्थितिकाऽध्रुवबन्धिनीनां तु विवक्षितमिथ्यात्वादि-प्रकृत्युत्कृष्टस्थितेर्बन्धकेषु अन्याऽन्यस्वामिनोऽपेक्ष्यापि तद्‌बन्धाभावस्यालाभेन तृतीयनियमतृतीयां-शप्रसरादिति । "गुरुमुअ अगुरुं" ति स्थितिं तु तासां प्रधानीकृतेतरासां कषायाद्येकविंशतेरुत्कृष्टाम-नुत्कृष्टां वा प्राग्वत्समयादिना न्यूनां बध्नाति, प्रधानीकृतमिथ्यात्वादिप्रकृतेर्वर्गोत्कृष्टस्थितिकत्वेन षष्ठनियमस्पर्शनादिति । उक्तशेषमोहनीयप्रकृतीनां तु बन्ध एव न भवतीति त्वनुक्तमपि गम्यते । कथं न भवति ? अवर्गोत्कृष्टस्थितिकत्वेन तृतीयनियमप्रथमांशप्रसरादिति ।

"थो" इत्यादि, स्त्रीवेदस्योत्कृष्टस्थितेर्बन्धको मिथ्यात्व-कषायषोडशक-भय-जुगुप्सा शोका-ऽरतिलक्षणा एकविंशति नियमाद् बध्नाति; स्थितिं तु तासां "चउभागहीणगं अगुरुं" ति स्त्री-योत्कृष्टस्थितिबन्धमानादेकेन चतुर्भागेन हीनामनुत्कृष्टामेवासां बध्नाति । तत्र नियमो मिथ्यात्वा-

दिध्रुवबन्धिनीनां ध्रुवबन्धित्वेन प्राग्वद् द्वितीयनियमप्रसरात्, शोका ऽरत्योस्तु प्रधानीकृतस्त्रीवेदो-त्कृष्टस्थितितोऽधिकस्थितिकत्वे सति प्रतिपक्षप्रकृतिरहिततया चतुर्थनियमतृतीयपादस्पर्शनादिति। चतुर्भागहीनता तु मिथ्यात्वादीनामेकविंशतेरपि वर्गोत्कृष्टस्थितिकत्वेन स्त्रीवेदोत्कृष्टस्थितेस्तु वर्गो-त्कृष्टस्थितितश्चतुर्भागन्यूनत्वेन च सप्तमनियमप्रथमांशप्रसरादिति। उक्तशेषाणामबन्धस्त्वनन्तरोक्त-नीत्यैव योजनीय इति।

अथ पुरुषवेदप्राधान्येनाह–"**पुरिसस्से**"त्यादि, पुरुषवेदस्योत्कृष्टस्थितेर्बन्धको हास्य-रत्योः स्याद्बन्धको भवति। स्थितिं तु तयोरुत्कृष्टामनुत्कृष्टां वा प्रागिव समयादिना हीनां बध्नाति। तत्र स्याद्बन्धकत्वं पुरुषवेदोत्कृष्टस्थित्यपेक्षया तुल्याधिकस्थितिकप्रकृतिष्वेतत्प्रतिपक्षप्रकृतीनां सद्भावेन चतुर्थनियमद्वितीयांशप्रसरात्। उत्कृष्टादिद्विविधस्थितिबन्धस्तु अनयोः पुरुषवेदोत्कृष्टस्थित्या तुल्य-स्थितिकत्वेन सप्तमनियमद्वितीयांशविषयादिति। "अगुरु"-मिति "सिआ" इति पदं देहली-दीपकन्यायेनेहापि सम्बध्यते, तथाचासौ अरतिशोकयोरपि स्याद्बन्धको भवति, तत्त्वं तु हास्यरतिवदेव चतुर्थनियमद्वितीयांशप्रसराज्ज्ञेयम्। स्थितिं तु तयोः स्वीयस्वीयोत्कृष्टस्थितितो द्विभागोनां बध्नाति, पुरुषवेदस्योत्कृष्टस्थितेर्द्विभागोनवर्गोत्कृष्टत्वेनाऽनयोस्तु वर्गोत्कृष्टत्वेन च सप्तमनियम-प्रथमपादसंस्पर्शादिति। "**सोलसे**"त्यादि, असौ प्रस्तुतः पुरुषवेदोत्कृष्टस्थितेर्बन्धको मिथ्यात्व-कषायषोडशक भय-जुगुप्साप्रकृतीनां नियमाद्बन्धको भवति, ध्रुवबन्धित्वात्तासाम्। स्थितिं तु तासां द्विभागोनोत्कृष्टां बध्नाति शोकाऽरतिवदिति।

अथ हास्यरतिप्रकृती प्रधानीकृत्याऽऽह–"**एगस्स**" इत्यादि, रति-हास्ययोरन्यतरस्या उत्कृष्ट-स्थितेर्बन्धकस्तदन्यस्या हास्यमोहनीयस्य रतिमोहनीयस्य वा नियमतो बन्धको भवति, तयोः पर-स्परं तुल्योत्कृष्टस्थितिकत्वेन चतुर्थनियमतृतीयांशप्रसराद्, यद्वाऽन्योन्याऽविनाभाविबन्धत्वादिति। स्थितिं तु तस्याः प्रधानीकृतेतरस्याः "**जेट्ठमजेट्ठ**" ति उत्कृष्टामनुत्कृष्टां वा बध्नाति, प्रधानी-कृतैकप्रकृतिवत्तदन्यस्या अपि द्विभागोनवर्गोत्कृष्टस्थितिकत्वेन सप्तमनियमद्वितीयांशविषयादिति। "**सिआ पुमस्स**" त्ति 'जेट्ठमजेट्ठं व' इत्यनुवर्तते, तथाच पुंवेदस्य स स्याद्बन्धको भवति, स्थितिं तु तस्याऽनन्तरोक्तनीत्योत्कृष्टामनुत्कृष्टां वा बध्नाति, स्याद्बन्धकत्वं तु प्रस्तुतप्रकृतितुल्य-तदधिकस्थितिकानां प्रकृतीनां मध्ये पुंवेदप्रतिपक्षप्रकृत्योः सत्त्वेन चतुर्थनियमद्वितीयांशप्रसरा-दिति। "**थोए सिआ**" इत्यादि, स्त्रीवेदस्याप्यसावनन्तरोक्तनीत्या स्याद्बन्धको भवति। स्थितिं तु तस्य त्रिभागोनोत्कृष्टां बध्नाति। कथम्? प्रधानीकृतप्रकृत्युत्कृष्टस्थितेः स्त्रीवेदोत्कृष्टस्थित्यपेक्षया त्रिभागन्यूनत्वेन सप्तमनियमतृतीयांशविषयादिति। "**णपुमस्से**" त्यादि, नपुंसकवेदस्याऽपि स्त्रीपुंवेदवत् तत एव हेतोः स्याद्बन्धको भवति, केवलं स्थितिं तस्य द्विभागोनोत्कृष्टां बध्नाति, तत्त्वं च नपुंसकवेदस्य वर्गोत्कृष्टस्थितिकत्वेन सप्तमनियमप्रथमपादप्रसराज्ज्ञेयम्। "**धुवाणे**" त्यादि,

'दुभागहीणं' इतीहापि सम्बध्यते, तथा चासौ मिथ्यात्वादीनामेकोनविंशतेर्मोहनीयध्रुवबन्धिनीनां नियमतो द्विभागोनोत्कृष्टस्थितेश्च बन्धको भवति । तत्त्वं तु नपुंसकवेदवदेव, केवलं नियमो ध्रुवबन्धित्वादासामिति । शोकारत्योस्त्वसावबन्धक एव भवति, विरुद्धत्वेन विरुद्धाविनाभाविबन्धत्वेन च तयोः प्रथमनियमविषयत्वादिति ।।६३४-६३८।।

तदेवं प्रतिपादित ओघतः सर्वमोहनीयोत्तरप्रकृतिप्रधानः स्वस्थानोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षः । एतर्हि भणितशेषनामोत्तरप्रकृत्यधिकृत्य तमोघत एव विभणिषुरुपक्रमते—

एगस्स जेट्ठबंधी णिरय-विउव्वियदुगाउ णियमाओ । सेसणिरयजोग्गाणं सगवीसाअ गुरुमुअ अगुरुं ।।६३९।।

(प्रे०) "एगस्स" इत्यादि, नरकद्विक-वैक्रियद्विकलक्षणप्रकृतिचतुष्टयमध्यादेकस्या नरकगत्यादेरुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकः शेषाणां नरकप्रायोग्याणां नाम्नः सप्तविंशतेः प्रकृतीनां नियमतो बन्धको भवति, स्थितिं तु तासामुत्कृष्टामनुत्कृष्टां वा प्राग्वदुत्कृष्टस्थितितः समयादिना यावत्पल्योपमासंख्येयभागेन हीनां बध्नाति । तत्र नियमो कासाञ्चिद् वर्णचतुष्कादीनां ध्रुवबन्धित्वात्, अन्यासां नरकानुपूर्व्यादीनां तु तृतीयनियमतृतीयदलप्रसरात् ।

तथाहि—नरकगतिप्रायोग्याः नामप्रकृतय इमा अष्टाविंशतिः—वर्णचतुष्क-तैजसशरीर-कार्मणशरीरा ऽगुरुलघु-निर्माणो-पघातनामानीति नव ध्रुवबन्धिन्यः, नरकद्विक पञ्चेन्द्रियजाति वैक्रियद्विक-हुंडसंस्थान-कुखगति-पराघातो-च्छ्वास त्रसचतुष्का-ऽस्थिरषट्कलक्षणा एकोनविंशतिरध्रुवबन्धिन्यश्च । तत्र वर्णचतुष्कादीनां नवानां ध्रुवबन्धिनीनां तु ध्रुवबन्धित्वादेव नियमतो बन्ध इति सुगमम् । अध्रुवबन्धिनीमध्ये नरकगति तिर्यग्गति पञ्चेन्द्रियजात्ये-केन्द्रियजाति--वैक्रियद्विकौ-दारिकद्विक-सेवार्तसंहनन-हुण्डसंस्थान-नरकानुपूर्वी-तिर्यगानुपूर्व्य-ऽप्रशस्तविहायोगति -पराघातो--च्छ्वासा--ऽऽतपो-द्योत-स्थावर-त्रसचतुष्का-ऽस्थिरषट्कलक्षणा अष्टाविंशतिः प्रकृतयो वर्गोत्कृष्टस्थितिकाः, न शेषा मनुष्यगत्यादयः, तथाच तासां मनुष्यगत्यादीनां बन्ध एव न भवति, प्रधानीकृतनरकगत्यादिप्रकृतेर्वर्गोत्कृष्टस्थितिकत्वेन तृतीयनियमप्रथमांशानुसारेण वर्गोत्कृष्टस्थितिकेतरप्रकृतीनां बन्धाऽप्रवर्तनात्, वर्गोत्कृष्टस्थितिकास्वपि प्रथमनियमानुसारेण नरकगतिं बध्नतस्तत्प्रतिपक्षभूततिर्यग्गतेर्बन्धो न स्यादेव, तद्बन्धाऽभावे च न भवति तिर्यगानुपूर्व्ये-केन्द्रिय-स्थावरा-ऽऽतपो-द्योतनाम्नामपि बन्धः, मनुष्यगतेर्बन्धस्याप्यनन्तरोक्तनीत्या प्रतिषिद्धत्वान्न भवति वर्गोत्कृष्टस्थितिकयोरप्यौदारिकद्विक--सेवार्तसंहननयोर्बन्धः, तिर्यग्मनुष्यगत्यन्यतरबन्धाऽविनाभाविबन्धत्वात्तयोर्बन्धस्य । तथाचाऽवशिष्टाः पञ्चेन्द्रियजाति वैक्रियद्विक-हुण्डसंस्थान नरकानुपूर्वी-कुखगति पराघातो-च्छ्वास-त्रसचतुष्का-ऽस्थिरषट्कलक्षणा अष्टादश प्रकृतयः, न च तास्वेकस्या अपि प्रस्तुतप्रधानीकृतनरकगत्युत्कृष्टस्थितेर्बन्धस्वामिषु सर्वसंक्लिष्टतिर्यग्मनुष्येष्वन्यान्यजीवानपेक्ष्याऽन्यथा वा बन्धबन्धाभावौ येन तृतीयनिय-

मद्वितीयांशानुसारेण तस्याः स्याद्बन्धो भवेत्, तदेवं तृतीयनियमतृतीयदलानुसारेण पञ्चेन्द्रियजात्यादीनामष्टादशानामप्यध्रुवबन्धिनीनां ध्रुवबन्धिनीवन्नियमतो बन्धो लभ्यते। एवमेव नरकगतिस्थाने नरकानुपूर्वीमादाय नरकगतिप्रायोग्यपञ्चेन्द्रियाद्यध्रुवबन्धिनीनां बन्धनियमो द्रष्टव्यः। वैक्रियशरीरस्योत्कृष्टस्थिति बध्नतस्तु देवगत्यादीनां वर्गोत्कृष्टत्वाभावादेव तथौदारिकशरीरस्य विरोधित्वात्, शेषाणां मनुष्यतिर्यग्गत्येकेन्द्रियजात्यादीनां तु औदारिकशरीरादिबन्धाविनाभाविबन्धत्वेन च बन्धप्रतिषेधादिनाऽनन्तरोक्तनीत्यैव बन्धनियमो विभाव्यः। तद्यथा-वैक्रियशरीरस्योत्कृष्टां स्थितिं बध्नतो न भवति मनुष्यगत्यादीनां बन्धः, तासां वर्गोत्कृष्टस्थितिकत्वाभावेन तृतीयनियमाद्यांशप्रसराद्। न भवत्यौदारिकशरीरस्याऽपि बन्धस्तद्बन्धस्य प्रधानीकृतशरीरनामप्रकृतिबन्धेन विरोधित्वात्। न भवति तिर्यग्द्विके-केन्द्रियजाति स्थावरा-ऽऽतपो-द्योतौ-दारिकाङ्गोपाङ्ग सेवार्तसंहनननाम्नामपि बन्धः, तद्बन्धस्यौदारिकशरीरबन्धाविनाभावित्वात्। तथाचावशिष्टाः पञ्चेन्द्रियजात्यादयोऽष्टादशैव प्रकृतयस्तासां तृतीयनियमद्वितीयांशाऽविषयत्वेन भवति तत्तृतीयांशानुसारेण नियमतो बन्ध इति। इत्थमेव वैक्रियशरीरस्थाने वैक्रियाङ्गोपाङ्गप्रकृतिमादायोपपाद्यं सर्वम्। एवमेवान्यत्राप्यभ्यूह्यं पूर्वोक्तनीयमानुसारेण स्वधियेति ॥६३९॥

अथ तिर्यग्द्विकौदारिकशरीरनामप्राधान्येनाह प्रस्तुतम्—

एगस्स जेट्ठबंधी तिरिदुग-उरलाउ दोण्ह अण्णेसिं। धुव-बायरतिग-परघा-ऊसास-पणअथिराइ-हुंडाणं
णियमा गुरुमुअ अगुरुं सिआ खलु दुजाइउरलुवगाण। कुखगइ-छिवट्ठ-दुस्सर-तस-थावर-आयवदुगाणं
॥ गाथा ६४०-६४१॥ (आर्या गीति)

(प्रे०) "एगस्स" इत्यादि, तिर्यग्द्विकौ-दारिकशरीरनामलक्षणप्रकृतित्रयमध्यादेकस्यास्तिर्यग्गत्यादेरुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकः शेषयोस्तिर्यगानुपूर्व्यादिलक्षणयोर्द्वयोः प्रकृत्योस्तथा नामध्रुवबन्धिनवक-बादरत्रिक पराघातो-च्छ्वासनाम्नां तथा "पणअथिराइ" त्ति दुःस्वरनाम्नोऽनन्तरं वक्ष्यमाणतया पञ्चानामस्थिरादीनाम् अस्थिरा-ऽशुभ दुर्भगा ऽनादेया ऽयशःकीर्तिनामलक्षणानाम्, एवमेवोत्तरत्रापि पञ्चास्थिरादीत्यनेन दुःस्वरनामवर्जा अस्थिरादयः पञ्च प्रकृतयो बोध्याः, हुण्डसंस्थाननाम्नश्चेत्येवं सर्वसंख्यया द्वाविंशतेः प्रकृतीनां नियमाद्बन्धको भवति, स्थितिं तु तासामुत्कृष्टां प्राग्वत् समयादिहीनोत्कृष्टां वेत्येवमुत्कृष्टाद्यन्यतरविकल्पगतां बध्नाति। तत्र नियमाद् बन्धो ध्रुवबन्धिनीनां ध्रुवबन्धित्वात्प्रागिव, एवमन्यत्राऽपि ध्रुवबन्धिनीनां नियमबन्धे विज्ञेयम्। शेषत्रयोदशप्रकृतीनां नियमबन्धस्तु प्रागिव तृतीयनियमतृतीयांशप्रसरात्। **तथाहि**—विवक्षिततिर्यग्गत्यादिप्रकृतेर्वर्गोत्कृष्टस्थितिकत्वेन तृतीयनियमप्रथमांशानुसारेणाऽवर्गोत्कृष्टानां मनुष्यगत्यादीनां बन्ध एव न भवति, नरकगत्यादिवर्गोत्कृष्टप्रकृतिमध्याद् विवक्षितप्रकृतिविरोधित्वान्नरकगत्यादीनामबन्धः, तद्बन्धाभावे तद्बन्धाविनाभाविबन्धस्य नरकानुपूर्वीनाम्नो बन्धाभावः, अनन्तरोक्तनीत्याऽवर्गोत्कृष्टस्थितिकानां मनुष्यदेवगत्यादीनां नरकगत्यादेश्च बन्धाभावे न भवति तद्बन्धा-

विनाभाविबन्धस्य वैक्रियद्विकस्याऽपि बन्धस्तथाचावशिष्टास्तिर्यगानुपूर्व्यौ-दारिकदेहै-केन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियजात्यौ-दारिकाङ्गोपाङ्ग-सेवार्त--हुण्ड--कुखगति-पराघातो-च्छ्वासा--ऽऽतपो-द्योत-स्थावर-त्रसचतुष्का-ऽस्थिरषट्कलक्षणास्त्रयोविंशतिः प्रकृतयस्तासु एकेन्द्रियजातिपञ्चेन्द्रियजात्योस्तिर्यग्गत्यादिप्रधानीकृतप्रकृत्युत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनो ये ईशानान्तदेवनारकादयस्तन्मध्यादन्यान्यबन्धकानपेक्ष्य बन्धबन्धाभावोभयलाभात्स्याद्बन्धः, एवमेवैतेष्वीशानान्तदेवमपेक्ष्यौदारिकाङ्गोपाङ्ग-कुखगति सेवार्त-दुःस्वर त्रसनाम्नाम बन्धलाभान्नारकसानत्कुमारादिदेवजीवमपेक्ष्य तद्बन्धलाभाच्च स्याद्बन्धः, स्थावरनाम्नस्तु व्यत्ययेन बन्धबन्धाभावलाभात्स्याद्बन्धः, आतपोद्योतयोस्तु पूर्वोक्तपञ्चमनियमेन स्याद्बन्ध एव, इत्येवं तृतीयनियमद्वितीयांशानुसारेणैकेन्द्रियजात्यादीनामष्टानां स्याद्बन्धे प्राप्ते पञ्चमनियमादातपोद्योतयोस्तल्लाभे चावशिष्टानां यथोक्तानां त्रयोविंशतिप्रकृतीनां तृतीयनियमचरमांशात्प्राप्तो नियमबन्ध इति । "सिआ" इत्यादि, 'गुरुमुअ अगुरुं'-इतीहाऽपि सम्बध्यते, तथा चैकेन्द्रियजात्यादीनामुद्योतनामान्तानामनन्तरोक्तानां दशप्रकृतीनामनन्तरोक्तनीत्यैव स्याद्बन्धको भवत्यसौ । स्थितिं तु तासामनन्तरोक्तध्रुवबन्ध्यादिवदुत्कृष्टादिद्विविधां बध्नातीति ॥६४०-६४१॥

उज्जोअस्सेवं परमायवबंधो ण णरदुगेगस्स । गुरुबंधी णियमा गुरुमगुरुं वाऽण्णस्स बंधेइ ॥
धुव-पत्तेअ-पणिंदिय-उराल-तसदुग-पणाऽथिराईणं । णियमा चउभागूण ठिइ अजेट्ठं कुणेइ सिआ ॥
हुंडग-छिवट्ठ-पज्जग-परघा-ऊसास-कुखगइ-सराणं । संखसूण-मपढमग-संघयणाऽऽगिइदुगाण सिआ ॥
॥ गाथा ६४२-६४४ ॥

(प्रे०) "उज्जोअ" इत्यादि, उद्योतनाम्न उत्कृष्टस्थितिं बध्नतः "एवं" ति यथाऽनुपदं तिर्यग्गत्याद्युत्कृष्टस्थितिं बध्नतस्तिर्यगानुपूर्व्यादीनां नियमबन्ध स्याद्बन्धादिकं भणितं तथा वाच्यम्, "पर"-केवलमातपनाम्नस्तस्य स्याद्बन्धो भणितः सोऽस्योद्योतनामोत्कृष्टस्थितिं बध्नतः प्रतिषेध्यः, उद्योतस्य प्रधानीकृतत्वेन तद्बन्धस्यावश्यकत्वात्, तद्बन्धसत्त्वे आतपस्याऽबन्धात् । एतदपि कुतः ? आतपोद्योतयोर्युगपद्बन्धाभावादिति ।

"णरदुगेगस्स" त्ति मनुष्यगति-मनुष्यानुपूर्वीप्रकृतिद्वयलक्षणान्नरद्विकादेकस्या मनुष्यगतेर्मनुष्यानुपूर्व्या वा उत्कृष्टां स्थितिं बध्नन् तदन्यस्या मनुष्यानुपूर्व्यादेर्नियमाद्बन्धको भवति स्थितिं तु तस्या उत्कृष्टामनुत्कृष्टां वा बध्नाति, तत्र नियमबन्धस्तयोरन्योन्याविनाभाविबन्धत्वात्, उत्कृष्टादिद्विविधस्थितिबन्धोऽपि द्वयोस्तुल्योत्कृष्टस्थितिकत्वेन सप्तमनियमद्वितीयांशप्रसरादिति "धुवे" त्यादि, नामध्रुवबन्धिनवक-पञ्चेन्द्रियौ-दारिकशरीर-तदङ्गोपाङ्ग-प्रत्येक-त्रस-बादरनामानि प्राग्वदस्थिरा-ऽशुभ-दुर्भगा-ऽनादेया-ऽयशःकीर्तिनामलक्षणमस्थिरपञ्चकञ्चेत्येवं त्रिंशतेः प्रकृतीनां नियमाद्बन्धको भवति, स्थितिं तु तासां स्वीयोत्कृष्टस्थितेश्चतुर्भागोनामनुत्कृष्टां बध्नाति । तत्र नियमाद्बन्धकत्वं ध्रुवबन्धिनानां ध्रुवबन्धित्वादध्रुवबन्धिनीनां तु चतुर्थनियमतृतीयांशविषयात् ।

तथाहि—प्रथमनियमान्न भवति नरकतिर्यग्देवद्विकानां तदविनाभाविबन्धानां जातिचतुष्क-स्थावरचतुष्क-वैक्रियद्विका-ऽऽहारकद्विक- ऽऽतपो द्योतनाम्नां बन्धः, चतुर्थनियमप्रथमांशानुसारेण न भवति मनुष्यद्विकोत्कृष्टस्थितितो न्यूनोत्कृष्टस्थितिकानां प्रथमसंहननत्रय-प्रथमसंस्थानत्रय-सुखगति-जिन-स्थिरषट्कानां बन्धः, तथाचाऽवशिष्टाः पञ्चेन्द्रियजात्यौ-दारिकद्विका-ऽर्धनाराच-कीलिका-सेवार्त-संहनन-कुब्ज-वामन-हुण्डसंस्थान-कुखगति पराघातो-च्छ्वास-त्रसचतुष्का-ऽपर्याप्तका ऽस्थिरषट्कलक्ष-णास्त्रयोविंशतिः प्रकृतयस्तासु संहननत्रय-संस्थानत्रय-पर्याप्तका-ऽपर्याप्तकनाम्नां परस्परप्रतिपक्षभूत-तया स्याद्बन्धः, कुखगति पराघातो-च्छ्वास-दुःस्वरनाम्नां त्वपर्याप्तनाम बध्नतो मनुजस्य तिरश्चो वा बन्धाभावात् पर्याप्तनाम बध्नतो देवादेस्त्ववश्यं बन्धाच्च चतुर्थनियमद्वितीयांशानुसारेण स्याद्बन्धः; तथाचावशिष्टाः प्रत्येकाद्याः "पत्तेअपणिंदिये"त्यादिना संगृहीता एकादश, तासां च चतुर्थ-नियमतृतीयांशानुसारेण नियमतो बन्धकत्वं प्राप्तमिति। स्थितेश्चतुर्भागोनत्वं पुनस्तासां प्रत्येक-नामादीनामेकादशानामुत्कृष्टस्थित्यपेक्षया प्रस्तुतप्रधानीकृतमनुष्यद्विकोत्कृष्टस्थितेश्चतुर्भागोनत्वेन सप्तमनियमप्रथमपादस्पर्शनादिति। "सिआ" इत्यादि, 'चउभागूणं' इति देहलीदीपकन्याये-येनेहापि सम्बध्यते, तथा च "हुंडगे" त्यादिना संगृहीतानां चरमसंहननसंस्थान-पर्याप्तक पराघा-तो-च्छ्वास-कुखगति-कुस्वरनाम्नां सप्तानामसौ स्याद्बन्धकश्चतुर्भागोनोत्कृष्टस्थितेश्च भवति, तत्र स्याद्बन्धकताऽनन्तरमुपपादिता प्रसङ्गात्, चतुर्भागोनत्वमपि तासां ध्रुवबन्ध्यादीनामिव सप्तम-नियमप्रथमांशप्रसरादेव ज्ञेयमिति। "संखंसूण" मित्यादि, अपर्याप्तकस्य "संघयणागिइदुगाण" त्ति व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेर्द्विचरमत्रिचरमयोः संहननयोः संस्थानयोश्चेत्येवं पञ्चानां प्रकृतीनामप्यनन्तरोक्तनीत्या स्याद्बन्धको भवति, केवलं तासां स्थितिं स्वोत्कृष्टस्थितितः संख्येयभागोनां बध्नाति, तच्च तु सप्तमनियमतृतीयांशादेव। तथाहि—अपर्याप्तकनाम्नो द्विचरमसंहनन-संस्थाननाम्नोश्चोत्कृष्टस्थितिरष्टादशकोटीकोटीसागरोपमाणि, प्रधानीकृतस्य मनुष्यद्विकस्योत्कृष्टा स्थितिस्तु पञ्चदशसागरोपमकोटीकोट्यः, सा चापर्याप्तनामाद्युत्कृष्टस्थित्यपेक्षया एकेन षष्ठांशेन न्यूना, तथाच तां बध्नन् जीवोऽपर्याप्तनामादीनां स्वीयस्वीयोत्कृष्टस्थितिषष्ठांशेनोनामनुत्कृष्टां स्थितिं बध्नाति, सा च संख्येयांशोनेत्यपि वक्तुं युज्यत इति। एवमेव शेषसंहननद्वयोत्कृष्ट-स्थित्यपेक्षया मनुष्यद्विकोत्कृष्टस्थितेरेकेन षोडशांशेनोनत्वात्संख्येयांशोनत्वमभ्यूह्यमिति।

एवमेवान्यत्राऽपि संख्येयांशोनत्वे विभावनीयम्, केवलं सर्वत्र प्राग्दर्शितनीत्या वर्गोत्कृष्ट-स्थितेस्तुल्यभागान् प्रकल्प्य यथासम्भवं न्यूनताऽभ्यूह्या, न पुनः स्थितिबन्धप्रमाणापेक्षया, अन्यथा यत्र प्रधानीकृतप्रकृतेस्तदन्यप्रकृतीनां चासमानवर्गोत्कृष्टस्थितिकत्वं तत्र शोकादेरुत्कृष्टस्थितिं बध्नतः क्रोधादीनां द्विभागोनोत्कृष्टस्थितिबन्धस्यापत्तिः स्यात्। कुतः? क्रोधाद्युत्कृष्टस्थितितः शोकादेरुत्कृष्टस्थितेर्द्विभागोनत्वात्; एवं परस्थानसंनिकर्षेऽपि दोषजाल आपद्येत। वर्गोत्कृष्ट-

स्थितेस्तुल्यभागप्रकल्पने तु वर्गोत्कृष्टस्थितेर्यावन्तोंशाः शोकादेरुत्कृष्टस्थितिबन्धमानं तावन्त एव क्रोधादेरपि, तथाच पष्ठनियमानुसारेण शोकाद्युत्कृष्टस्थितिं बध्नतः क्रोधादीनामुत्कृष्टोऽनुत्कृष्टो वा स्थितिबन्धो लभ्येत स चाऽदोषायैव । एवमन्यत्राऽपि । इह पुनः स्थितिबन्धप्रमाणमपेक्ष्य पष्ठांशोनत्वादिलक्षणसंख्येययांशोनत्व व्युत्पादितं तत्तु प्रधानीकृत-तदन्यद्विविधप्रकृतीनां तुल्यवर्गोत्कृष्टस्थितिकत्वात् , तुल्यवर्गोत्कृष्टस्थितिकत्वस्थले तु स्थितिबन्धप्रमाणापेक्षयामपि वर्गोत्कृष्टस्थितितुल्यभागप्रकल्पनानतिक्रमादित्यवधेयं सर्वत्रेति ॥६४२-६४४॥

एगस्स जेट्ठवधी देवदुगाउ णियमाउ अण्णस्स । सुखगइ-आगिइ-सुहगतिगाण य गुरुं अहव अगुरुं ॥
थिर-सुह-जसाण दुविह ठिइ सिआ अथिर-असुह-अजसाण । बेभागूण णियमा ऽऽहारदुगजिणूणदेवजोग्गाण॥
॥ गाथा ६४५-६४६ ॥

(प्रे०) "एगस्से"त्यादि, तत्र 'देवदुगाउ' त्ति देवगतिदेवानुपूर्व्योरेकस्या उत्कृष्टस्थितेर्बन्धकोऽन्यस्या देवगतेर्देवानुपूर्व्या वा तथा सुखगति समचतुरस्रसंस्थान-सुभग-सुस्वरा-ऽऽदेयनाम्नां नियमतो बन्धको भवति, स्थितिं पुनस्तासामुत्कृष्टामनुत्कृष्टां वा बध्नाति । तत्र नियमो देवद्विकस्य सुगमः, देवगतिदेवानुपूर्व्योः परस्परमविनाभाविबन्धत्वात् , शेषाणां तु प्राग्वत्तृतीयनियमतृतीयांशप्रसराद् ; यद्वा देवगतिप्रायोग्या बध्नत एव देवद्विकलक्षणयोः प्रधानीकृतप्रकृत्योर्बन्धः, तथाच तस्य देवगतिदेवानुपूर्व्योरुत्कृष्टस्थितिं बध्नतः देवगतिप्रायोग्यप्रकृतीनामेव बन्धः सम्भवति, नेतरासाम् । देवगतिप्रायोग्याः प्रकृतयस्तु यथोक्ता देवद्विकसुखगत्याद्याः पञ्च, स्थिर-शुभ यशःकीर्तिनामानि, अस्थिरा ऽशुभा ऽयशःकीर्तिनामानि, नामध्रुवबन्धिनवक-पञ्चेन्द्रियजाति-वैक्रियद्विका-ऽऽहारकद्विकजिननाम पराघातो-च्छ्वास-त्रसचतुष्कानीत्येवं चतुस्त्रिंशत् । तत्र देवगतिदेवानुपूर्व्योरन्यतरस्याः प्रधानत्वे तदन्यस्याः बन्धोऽनन्तरोक्तनीत्या नियमतो भवति, शेषप्रकृतिमध्ये स्थिरादित्रयमस्थिरादित्रय च बन्धतः परस्परं प्रतिपक्षभूत इति युगपन्न बध्येते, किन्तु यदा स्थिरादेर्बन्धस्तदाऽस्थिरादेरबन्धः, यदा वाऽस्थिरादेर्बन्धस्तदा स्थिरादेरबन्ध इत्येव षण्णामपि स्याद्बन्धः प्रकृतिबन्धसन्निकर्षादेव लभ्यते । देवद्विकोत्कृष्टस्थितिं बध्नतो मिथ्यादृग्तया न भवत्याहारकद्विक जिननामबन्धः । शेषाणा सुखगत्यादीनां ध्रुवबन्ध्यादीनां च प्रतिपक्षप्रकृतिरहितत्वादनेन नियमतो बन्ध इत्येवं सुखगत्यादीनां ध्रुवबन्ध्यादीनामष्टादशानां च नियमतो बन्धः प्राप्तः । तत्र ध्रुवबन्ध्यादीनां वर्गोत्कृष्टस्थितिकत्वेन प्रधानीकृतदेवगत्यादेस्तु द्विभागोनवर्गोत्कृष्टस्थितिकत्वेन च सप्तमनियमप्रथमांशानुसारेण द्विभागोनोत्कृष्टस्थितिबन्धो भवतीति ता उत्तरत्र 'बेभागूणं' इत्यनेन वक्ष्यन्ते, उक्तान्यस्या देवानुपूर्व्यादेः सुखगत्यादीना पञ्चानाञ्चोत्कृष्टस्थितिस्तु प्रधानीकृतप्रकृतिवद् द्विभागोनवर्गोत्कृष्टा, तथाच सप्तमनियमद्वितीयांशानुसारेण तासामुत्कृष्टादिद्विविधस्थितिबन्धो जायतेऽस्य देवगत्यादिविवक्षितप्रकृत्युत्कृष्टस्थितिं बध्नत इति तथैव दर्शितः । सुखगत्यादिवदेव स्थिरादीना तिसृणामपि उत्कृष्टादिद्विविधां तथाऽस्थिरादीना ध्रुवबन्ध्यादिवद् द्विभागोनोत्कृष्टां

स्थितिं बध्नात्यसौ । कुतः ? स्थिरादीनां द्विभागोनवर्गोत्कृष्टस्थितिकत्वेन अस्थिरादीनां तु वर्गोत्कृष्टस्थितिकत्वेन च क्रमशः सप्तमनियमद्वितीय-प्रथमपादयोः प्रसरात् , इत्यतस्तथैव दर्शयन्नाह— "**थिरे**" त्यादि, गतार्थम् ।

पदयोजना त्वेवम्—'**गुरुं अहव अगुरुं**' इत्येतत् पूर्वोक्तन्यायात् '**थिर**' इत्यादिनाऽप्यन्वेति, तद्वदेव '**सिआ**' इति पदं '**वेभागूणं**' इति पदं चोभयत्र संबन्धनीयम् , शेषं तु सुगमम् । न च देवगतिं देवानुपूर्वीं वा बध्नतस्तस्य भवतु विकल्पेन स्थिरादित्रयस्याऽस्थिरादित्रयस्य च बन्धः, परमुत्कृष्टां स्थितिं देवगत्यादेर्बध्नतस्तु न तथा विशुद्धिर्यथा देवगत्यादेर्मध्यमां जघन्यां वा स्थितिं बध्नतः, तथाचोत्कृष्टस्थितिं बध्नन् संक्लिष्टोऽसावस्थिरादित्रयं बध्नीयात् , न पुनः स्थिरादित्रयमिति कथं न देवगत्याद्युत्कृष्टस्थितिं बध्नतस्तस्य स्थिरादित्रयस्याऽबन्धः ? इत्याशङ्क्यम् , चतुर्थनियमतस्तस्य स्याद्बन्धत्वव्यवस्थानादिति ॥६४५-६४६॥

एगस्स जेट्ठबंधी एगिंदिय-थावराउ णियमाओ । बंधइ अण्णस्स तहा तिरिदुग-धुव-उरल-हुंडाणं ॥
परघा-ऊसासाणं तह बायरतिग-पणाऽथिराईणं । गुरुमुअ अगुरुं आयवदुगस्स य सिआ-ऽऽयवस्सेवं ॥
॥ गाथा ६४७-६४८॥

(प्रे०) "**एगस्से**"त्यादि, एकेन्द्रिय-स्थावरनाम्नोरेकस्या उत्कृष्टस्थितेर्बन्धकस्तदन्यस्यास्तथा तिर्यग्द्विक-नामध्रुवबन्धिनवकौ-दारिकशरीर-हुंडसंस्थाननाम्नां पराघातो-च्छ्वासनाम्नोर्बादरत्रिका-ऽस्थिरपञ्चकानां चेत्येवं सर्वसंख्यया चतुर्विंशतेर्नियमतो बन्धको भवति । स्थितिं तु तासां चतुर्विंशतेरुत्कृष्टामनुत्कृष्टां वा बध्नाति। तत्र नियमाद्बन्धकत्वं ध्रुवबन्धिनीनां ध्रुवबन्धित्वात् । शेषाणां तृतीयनियमतृतीयांशप्रसरात् । तथाहि—प्रधानतया विवक्षिता प्रकृतिरेकेन्द्रियजातिनाम स्थावरनाम वा, तथाच प्रथमनियमानुसारेण न भवति तद्बन्धविरोधिनीनां विकलेन्द्रिय पञ्चेन्द्रिय-त्रसनाम्नां तद्बन्धविरोधिबन्धाविनाभाविबन्धानां नरकगत्यादीनां च बन्धः । यद्वा विवक्षितप्रकृतिर्वर्गोत्कृष्टस्थितिका, तथाच तृतीयनियमप्रथमांशानुसारेण न भवति सर्वासामवर्गोत्कृष्टस्थितिकानां मनुष्यगत्यादि-विकलेन्द्रियजात्यादीनां बन्धः, तथाचावशिष्टा नरकगत्याद्या वर्गोत्कृष्टस्थितिका अष्टात्रिंशतिरध्रुवबन्धिन्यः, तन्मध्यादपि पञ्चेन्द्रियजाति-त्रसनाम्नोः प्रधानीकृतप्रकृतिबन्धेन विरोधात् तथा नरकद्विक-नरानुपूर्व्यादीनां तु याः प्रतिषिद्धबन्धा पञ्चेन्द्रियजाति मनुष्यगत्याद्यास्तदविनाभाविबन्धत्वान्न भवति बन्धः । तथाचाऽवशिष्टाः "**तिरिदुगे**" त्यादिनाऽभिहितास्त्रयोविंशतिरातपोद्योतनाम्नी च, तत्राऽऽतपोद्योतनाम्नोः पञ्चमनियमात् स्याद्बन्धः प्राप्यत इति तच्छेषाणां नियमाद्बन्धकत्वं प्राप्तम् । उत्कृष्टादिद्विविधस्थितिबन्धकत्व तु प्राग्वत् षष्ठनियमादिति । "**आयवदुगस्स य सिआ**" इति '**गुरुमुअ अगुरुं**' इत्यनुवर्तते, शेषं तु सुगममिति ।

अथान्यमतिदेशेनाह—"**ऽऽयवस्सेवं**" ति आतपनाम्न उत्कृष्टां स्थितिं बध्नतः शेषप्रकृतीनां नियतबन्ध स्याद्बन्धादिकं सर्वमनन्तरोक्तनीत्या द्रष्टव्यम् , केवलमुद्योतनाम्नो बन्धो प्रतिषेध्यः,

आतपस्य प्रधानीकृतत्वेनाऽवश्यं तद्बन्धात् ; आतपोद्योतयोर्युगपद्बन्धप्रतिषेधाच्चेति ॥६४८॥

बेइंदियगुरुबंधी गरुमगुरुं वा सिआ अपज्जस्स । कुखगइसर-उज्जोअग-परघा-ऊसास-पज्जाणं ॥
संखंसूणं णियमा बधइ बेइंदियारिहऽण्णेसिं । थिर-सुह-जसवज्जाण तिंदिय-चउइंदियाणेवं ॥
॥ गाथा ६४९-६५० ॥

(प्रे०) "बेइंदिय" इत्यादि, द्वीन्द्रियनाम्न उत्कृष्टस्थितेर्बन्धकोऽपर्याप्तक कुखगति-कुस्वरो-द्योत-पराघातो-च्छ्वास-पर्याप्तकनाम्नां स्याद्बन्धको भवति, स्थितिं तु अपर्याप्तकनाम्न उत्कृष्टा-मनुत्कृष्टां वा बध्नाति, षण्णां शेषप्रकृतीनां तु "संखंसूणं" ति स्वीयस्वीयोत्कृष्टस्थितेः संख्येय-भागोनां बध्नाति । तत्र स्याद्बन्धकत्वमपर्याप्त-पर्याप्तनाम्नोर्युगपद्बन्धाभावात् , उद्योतस्य प्रागिव, शेषाणां चतसृणां तु पर्याप्तद्वीन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतोऽवश्यं बन्धादपर्याप्तद्वीन्द्रियप्रायोग्यं बध्नत-स्त्ववश्यमबन्धाच्च । अपर्याप्तनाम्न उत्कृष्टादिद्विविधस्थितिबन्धकत्वं तु तदीयोत्कृष्टस्थितेः प्रधानीकृतद्वीन्द्रियनामोत्कृष्टस्थित्या तुल्यत्वेन सप्तमनियमद्वितीयांशप्रसराच्छेषाणां संख्यांशोनत्वं तु तत्प्रथमांशप्रसराच्चेति । "णियमा" इत्यादि, स्थिर-शुभ-यशःकीर्तिनामवर्जानामुक्तशेषाणां द्वीन्द्रि-यप्रायोग्याणां ध्रुवबन्धिनवक-तिर्यग्द्विकौ-दारिकद्विक-सेवार्तसंहनन-हुण्डसंस्थान-त्रसद्विक-प्रत्येका ऽस्थि-रपञ्चकलक्षणानां त्रयोविंशतेः प्रकृतीनां नियमतः संख्येयभागोनोत्कृष्टस्थितेश्च बन्धको भवति । तत्र संख्यांशोनत्वमनन्तरोक्तनीत्या; नियमस्तु द्वीन्द्रियपर्याप्ता-ऽपर्याप्तोभयप्रायोग्य बध्नत आसां बन्ध-स्यावश्यकत्वात् ; यद्वा प्रागिव ध्रुवबन्धिनीनां ध्रुवबन्धित्वात्तच्छेषाणां चतुर्थनियमतृतीयांशप्रसराच्च ज्ञेयः । द्वीन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतः सम्भवद्बन्धानामपि स्थिरादीनां तिसृणां वर्जनं तु तासामुत्कृष्ट-स्थितेः प्रधानीकृतद्वीन्द्रियनामोत्कृष्टस्थितितो न्यूनत्वेन चतुर्थनियमप्रथमांशाद्विज्ञेयमिति ।

अथाऽन्यत्रातिदिशति-"तिंदिय चउइंदियाणेवं" इति, सुगमम् , द्वीन्द्रियप्रायोग्याणां त्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियप्रायोग्याणां च प्रकृतीना स्थितिबन्धप्रमाणस्वामित्वाविशेषादिति ॥६४९-६५०॥

पंचिदियगुरुबंधी णियमाउ गुरुमगुरु व हुंडस्स । धुव-परघा-ऊसासग-कुखगइ-तसचउग-अथिरछण्णं ॥
णिरयतिरिविउवुरलदुग-छिवट्ठ-उज्जोअणामपयडीण । जेट्ठमजेट्ठं व सिआ कुखगइ-दुस्सर-तसाणेवं ॥
॥ गाथा ६५१-६५२ ॥ (आर्या गीति)

(प्रे०) "पंचिंदिये"त्यादि, पञ्चेन्द्रियजातिनाम्न उत्कृष्टस्थितेर्बन्धको हुण्डसंस्थान-ध्रुव-बन्धिनवक-पराघातो-च्छ्वास-कुखगति-त्रसचतुष्का-ऽस्थिरषट्कलक्षणानां त्रयोविंशतेर्नियमत उत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्टस्थित्योश्च बन्धको भवति । तत्र नियमो ध्रुवबन्धिनीनां ध्रुवबन्धित्वादन्यासां तु प्रागिव तृतीयनियमतृतीयांशप्रसरात् । तथाहि-प्रधानीकृतप्रकृतिवर्गोत्कृष्टस्थितिका इति न भवति तृतीय-नियमप्रथमदलादवर्गोत्कृष्टस्थितिकानां बन्धः; एवं वर्गोत्कृष्टस्थितिकास्वपि एकेन्द्रिय स्थावरा ऽऽ-तपनाम्नां न भवति बन्धः । कुतः ? एकेन्द्रियबन्धस्य पञ्चेन्द्रियबन्धविरोधित्वात् , द्वयोस्त्वेकेन्द्रि-याविनाभाविबन्धत्वाच्च । तथाचाऽवशिष्टाश्चतुर्विंशतिर्नरकद्विकाद्या वर्गोत्कृष्टाः प्रकृतयः, तासु नरक-

द्विक-तिर्यग्द्विक वैक्रियद्विकौ-दारिकद्विक-सेवार्तसंहननो-द्योतनाम्नामनन्तरवक्ष्यमाणानां तृतीयनियमद्वितीयांशात् स्याद्बन्धे प्राप्तेऽवशिष्टा एताः पराघाताद्याः, तासां च तृतीयनियमतृतीयांशविषयतया सिद्धो नियमबन्ध इति । "णिरये"त्यादि, अनन्तरोक्ताभिधानां नरकद्विकादीनां दशानां स्याद्बन्धको भवति, स्थितिं तु तासां ध्रुवबन्ध्यादिवदुत्कृष्टादिद्विविधाऽन्यतरां बध्नाति । गतार्थम् ।

अथाऽन्यत्राऽतिदिशति-"**कुखगइ-दुस्सर-तसाणेवं**"ति पञ्चेन्द्रियप्रधानानन्तरोक्तप्रस्तुतसंनिकर्षवदेव कुखगति-दुःस्वर-त्रसनाम्नामेकैकप्रधानोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षो वाच्यः । पञ्चेन्द्रियजातेः स्थाने कुखगत्यादिकामेकैकां कुखगत्यादिस्थाने पञ्चेन्द्रियजातिं चादाय नियतस्याद्बन्धकत्वादिकं वक्तव्यमिति भावः । उपपत्तिरपीहाविशेषेणाऽनन्तरदर्शितपञ्चेन्द्रियनामप्रधानसंनिकर्षोपपत्तिवदेव कार्येति ॥६५१ ६५२॥

जेट्ठठिइं बंधंतो आहारदुगाउ एगस्स । णियमा अण्णस्स ठिइं जेट्ठमजेट्ठं व बंधेइ ॥ (उपगीतिः)
तित्थस्स सिआ बंधइ संखियगुणहीणगं ठिइ णियमा । सुरजोग्गाणऽण्णेसिं अथिरअसुहअजसवज्जाणं ॥
॥ गाथा ६५३-६५४ ॥

(प्रे०) "**जेट्ठठिइं**" इत्यादि, आहारकशरीरा-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्गनाममध्यादेकस्य ज्येष्ठस्थितेर्बन्धकस्तदन्यस्याऽऽहारकशरीरनाम्न आहारकाङ्गोपाङ्गनाम्नो वा नियमाद्बन्धको भवति, स्थितिं तु तस्य ज्येष्ठामज्येष्ठां वा बध्नाति । तत्र नियमाद्बन्धकत्वं तयोरन्योन्याविनाभाविबन्धत्वात् , उत्कृष्टादिस्थितिबन्धकत्वमपि तयोरुत्कृष्टस्थितेस्तुल्यत्वेन तुल्यस्थितिकध्रुवबन्ध्यादिवदेव; अत एवेहाप्यनुत्कृष्टस्थितितया समयोनोत्कृष्टस्थितिप्रभृतेः पल्योपमासंख्येयभागन्यूनोत्कृष्टस्थित्यन्ताः स्थितिविकल्पा अवसातव्या इति । "**तित्थस्से**"त्यादि, स एव तीर्थकरनाम्नः स्याद्बन्धको भवति, भावितीर्थकृज्जीवानामेव तीर्थकृन्नामकर्मबन्धसम्भवात् , आहारकद्विकस्य तु तदन्येषामप्रमत्तसंयतानामपि बन्धसम्भवाच्च । स्थितिं तु तस्याऽनुत्कृष्टामुत्कृष्टात्संख्येयगुणोनामेव बध्नाति, नरकाभिमुखाऽविरतसम्यग्दृष्टिस्वामिकत्वेनोत्कृष्टस्थितेरनुत्कृष्टायास्त्वस्या अप्रमत्तस्वामिकत्वेन च सुतरां संख्येयगुणोनत्वसम्भवादिति । "**णियमा**"इत्यादि, '**बंधइ संखियगुणहीणगं ठिइं**' इतीहापि सम्बध्यते, तथाचोक्तजिननामादिकां विहायान्यासां "**सुरजोगाण**" त्ति देवगतिप्रायोग्याणाम् , देवगतिनाम बध्नतो यासां नामप्रकृतीनां बन्धः सम्भवति तासामित्यर्थः । किं तासां सर्वासाम् ? इत्याह-"**अथिरे**"त्यादि, अस्थिरा-ऽशुभा-ऽयशःकीर्तिनामवर्जानां नामध्रुवबन्धिनवक पञ्चेन्द्रियजाति-देवद्विक-वैक्रियद्विक-समचतुरस्रसंस्थान सुखगति-पराघातो-च्छ्वास-त्रसदशकलक्षणानामष्टाविंशतेः प्रकृतीनां नियमाद्बन्धको भवति । स्थितिं तु तासां संख्येयगुणहीनां बध्नाति, स्वीयस्वीयोत्कृष्टस्थितिबन्धमानादिति गम्यते । एवमन्यत्राऽपि गम्यमिति । तत्र नियमाद्बन्धकत्वं प्रागिव ध्रुवबन्धित्वात् प्रतिपक्षप्रकृतिरहितत्वेन तृतीयनियमतृतीयांशप्रसराच्च । स्थितेः संख्येयगुणहीनत्वं तु सुगमम् । अस्थिरादीनां वर्जनमपि सुगमम् , अप्रमत्तानां तद्बन्धाभावादिति ॥६५३ ६५४॥

धुव-बायरतिग-परघा-ऊसास-पणअथिराइ-हुंडाओ । एगस्स जेट्ठबंधी णियमाऽण्णाण गुरुमगुरुं वा ॥
णिरयतिरियजाइउरलविउव्वदुग-छिवट्ठ-आयवदुगाणं । तह कुखगइ-सर-थावर-तसाण उ गुरुमगुरुं व सिआ
॥ गाथा ६५५-६५६ ॥

(प्रे०) "धुवे" त्यादि, नामध्रुवबन्धिनवक-बादरत्रिक-पराघातो च्छ्वासा ऽस्थिरपञ्चक हुंड-संस्थानलक्षणविंशतिप्रकृतिमध्यादेकस्या उत्कृष्टस्थितेर्बन्धकः शेषैकोनविंशतिप्रकृतीनां नियमाद्-बन्धको भवति, स्थितिं तु तासामुत्कृष्टामनुत्कृष्टां वा बध्नाति । स एव नरकद्विकम् , तिर्यग्द्विकम् , "जाइ" त्ति 'दुग' इति शब्दस्येहापि सम्बन्धाद् व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेश्चैकेन्द्रिय-पञ्चेन्द्रिय-जातिद्वयम् , औदारिकद्विकं वैक्रियद्विकं सेवार्तसंहननम् , आतपोद्योतनाम्नी तथा कुखगति-कुस्वर-स्थावर त्रसनामानीत्येवं सप्तदशप्रकृतीनां स्याद्बन्धको भवति, स्थितिं तु तासां पूर्वोक्ताना-मिवोत्कृष्टादिद्विविधान्यतरां बध्नाति, शेषाणां त्वबन्धक एव भवति । तत्र शेषाणामबन्धकत्वमन-न्तरोक्तसप्तत्रिंशत्प्रकृतीर्विहाय शेषाणामवर्गोत्कृष्टस्थितिकत्वेन तृतीयनियमप्रथमदलप्रसरात् । नरक-द्विकादीनां सप्तदशानां स्याद्बन्धकत्वं तु तन्मध्यादातपद्विकवर्जानां प्रधानीकृतप्रकृतिनानास्वामि नोऽपेक्ष्य बन्धबन्धाभावोभयलाभेन तृतीयनियमद्वितीयांशस्पर्शात् ; आतपद्विकस्य तु पञ्चमनिय-माच्च । तथाहि—ध्रुवबन्ध्यादीनां विंशतेरुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकाश्चतुर्गतिका जीवाः, ते च प्रत्येकमुत्कृ-ष्टस्थितिबन्धप्रायोग्यं संक्लेशमापन्नाः सन्तः नरकगत्यादिप्रायोग्यप्रकृतीर्बध्नन्तः पर्याप्तबादरप्रत्येक-प्रायोग्याः प्रकृतीर्बध्नन्ति, तीव्रसंक्लिष्टानां नारकाणां तथाविधानां सानत्कुमारादिदेवानां च पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्यप्रकृतीनाम् , तिर्यग्मनुष्याणां तु तथाविधानां नरकप्रायोग्यप्रकृतीनाम् तथेशानान्तदेवानां तु पर्याप्तबादरपृथिव्यप्प्रत्येकवनस्पतिप्रायोग्याणां प्रकृतीनामेव बन्धभावात् । एत-दपि कुतः ? नारकादितत्तज्जीवानां पारभविकोत्पत्तिप्रायोग्यस्थानमध्ये तेषां पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्य-क्त्वादिभावानामेव निकृष्टतमत्वात् , उत्कृष्टतमसंक्लेशे स्वप्रायोग्याऽपकृष्टतमस्थानप्रायोग्यप्रकृतीनां बन्धस्य न्याय्यत्वाच्च । एतद्धि पूर्वं मूलस्थितिबन्धद्वितीयाधिकारैकजीवाश्रयकालद्वारे 'एगिंदि-णिगोएसु 'इत्यादि(१४७)गाथावृत्तौ प्रपञ्चितमेव । यद्यपि पर्याप्तबादरप्रत्येकप्रायोग्यं बध्नद्भिः सर्वै-रप्येता नव ध्रुवबन्धिन्यो बादरत्रिकं पराघातो-च्छ्वासनाम्नी च ध्रुवं बध्यन्ते, अस्थिरपञ्चकं हुंडसंस्थानं तु न ध्रुवम् , तथाऽपि तृतीयनियमप्रथमदलानुसारेण प्रधानीकृतवर्गोत्कृष्टस्थितिकप्रकृत्युत्कृष्टस्थितिं बध्नतोऽवर्गोत्कृष्टस्थितिकानामेतदस्थिरादिप्रकृतिप्रतिपक्षाणां स्थिरनामादीनां बन्धाभावेन अन्या-न्यस्वामिनोऽपेक्ष्याऽपि अस्थिरादीनां बन्धाभावस्याऽलाभात् तासां नियमतो बन्धो भवति । नरक-द्विकादीनां सप्तदशानां तु लभ्यते प्रधानीकृतप्रकृत्युत्कृष्टस्थितिं बध्नत्सु जीवेष्वन्यान्यजीवानपेक्ष्य बन्धो बन्धाभावश्च । तथाहि—नरकप्रायोग्यं बध्नतां तिर्यग्मनुष्याणां तिर्यग्द्विकौ-दारिकद्विकै-केन्द्रिय-जाति सेवार्तसंहनना-ऽऽतपो द्योत-स्थावरनाम्नामबन्धः, नरकद्विक-वैक्रियद्विक-पञ्चेन्द्रियजाति कुख-गति-कुस्वर त्रसनाम्नां बन्धः । एकेन्द्रियप्रायोग्य बध्नतां देवाना तु वैपरीत्येन तिर्यग्द्विकादीनां

बन्धः, नरकद्विकादीनां त्वबन्धश्चेत्येवं तृतीयनियमद्वितीयांशानुसारेणैतासां स्याद्बन्धो भवतीति । उत्कृष्टादिद्विविधस्थितिबन्धकत्वं तु सुगमम्, प्रत्येकं प्रकृतीनां वर्गोत्कृष्टस्थितिकत्वेन षष्ठनियमप्रसरादिति ॥६५५-६५६॥

ओरालुवंगगुरुठिइबंधी तिरिदुग-पणिंदि-उरलाणं । धुव-हुंड-छिवट्ठग-परघा--ऊसास-तसचउगाणं ॥
अथिरछग-कुखगईणं णियमाउ गुरुमगुरुं व बंधेइ । उज्जोअस्स सिआ खलु छेवट्ठस्सेवमेव भवे ॥
॥ गाथा ६५७-६५८ ॥

(प्रे०) "ओरालुवंग" इत्यादि, औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्न उत्कृष्टस्थितेर्बन्धकस्तिर्यग्द्विक-पञ्चेन्द्रियजात्यौ-दारिकशरीरनाम्नां नामध्रुवबन्धिनवकस्य हुंडसंस्थान सेवार्तसंहनन-पराघातो-च्छ्वास-त्रसचतुष्का-ऽस्थिरषट्क-कुखगतिनाम्नामित्येवमष्टाविंशतेर्नियमाद्बन्धको भवति, उद्योतनाम्नस्तु स्याद्बन्धको भवति, स्थितिं त्वेकोनत्रिंशतोऽपि प्रागिवोत्कृष्टामनुत्कृष्टां वा बध्नाति, शेषाणां नरकद्विकवैक्रियद्विकादीनां तु बन्धक एव न भवति। तत्र नरकद्विकादीनामबन्धकत्वं सुगमम्, कासाञ्चिद्वैक्रियद्विकादीनां बन्धतः प्रधानीकृतप्रकृतिप्रतिपक्षभूतत्वेन प्रतिपक्षभूतबन्धाविनाभाविबन्धत्वेन च प्रथमनियमात्, मनुष्यद्विकादीनां त्ववर्गोत्कृष्टस्थितिकत्वेन तृतीयनियमप्रथमांशप्रसरतश्च। स्याद्बन्धकत्वमप्युद्योतनाम्नः पञ्चमनियमविषयात् सुज्ञातम्। नियमाद्बन्धकत्वमपि ध्रुवबन्धिनीनां ध्रुवबन्धित्वात्, शेषाणां पञ्चेन्द्रियजात्यादीनामौदारिकाङ्गोपाङ्गोत्कृष्टस्थितिं बध्नतः पर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यप्रकृतीनामेव बन्धभावेनेत्येवं प्रागिवाभ्यूह्यमिति ।

अथान्यत्राऽतिदिशति–"छेवट्ठस्से" त्यादि, सुगमम्, औदारिकाङ्गोपाङ्ग सेवार्तसंहनननाम्नोरुत्कृष्टस्थितिबन्धप्रमाणस्य तत्स्वामिनां चाऽविशेषादिति ॥६५७-६५८॥

वइरस्स जेट्ठबंधी बंधेइ सिआ ठिइं दुभागूणं । हुंडु-ज्जोअ-तिरियदुग- कुखगइ-अथिरछगणामाणं ॥
बंधइ व तिभागूणं मणुयदुगस्स णियमा दुभागूणं । धुव-उरलदुग-पणिंदिय-परघा-ऊसास-तसचउक्काणं ॥
पढमागिइ-सुखगइ-थिरछक्काण गुरुमगुरुं व कुणइ सिआ । मज्झिमसंठाणाण सिआ ठिइं संखभागूणं ॥
॥ गाथा ६५९-६६१ ॥ (मध्यमा गीति)

(प्रे०) "वइरस्से"त्यादि, वज्रऋषभनाराचसंहनननाम्न उत्कृष्टस्थितेर्बन्धको हुंडसंस्थानोद्योत-तिर्यग्द्विक-कुखगत्य-ऽस्थिरषट्कलक्षणानामेकादशप्रकृतीनां स्याद्बन्धको भवति, स्थितिं पुनस्तासां द्विभागोनोत्कृष्टां बध्नाति । मनुष्यद्विकस्याप्यसौ स्याद्बन्धको भवति, स्थितिं तु तासां त्रिभागोनोत्कृष्टां बध्नाति । नामध्रुवबन्धिनवकौ दारिकद्विक पञ्चेन्द्रियजाति पराघातो-च्छ्वास-त्रसचतुष्कलक्षणानामष्टादशानां तु नियमाद्बन्धको भवति, स्थितिं तु तासां हुंडनामादिवद् द्विभागोनोत्कृष्टां बध्नाति । प्रथमसंस्थान सुखगति-स्थिरषट्कलक्षणानामष्टानां स्याद्बन्धको भवति, स्थितिं तु तासामुत्कृष्टामनुत्कृष्टां वा बध्नाति । मध्यमानां न्यग्रोध-सादि कुब्ज वामनसंस्थाननाम्नां स्याद्बन्धको भवति, स्थितिं तु तासां संख्येयभागोनां बध्नाति । अन्यासां नरकद्विकादीनां त्वबन्धक

एव भवतीत्यक्षरार्थः। **भावार्थस्त्वयम्**-वज्रर्षभनाराचसंहननं हि पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्यं पर्याप्तमनुष्यप्रायोग्यं वा बध्नता बध्यते, नान्येन, तथाच तद् बध्नता नरकद्विकं देवद्विकं वैक्रियद्विकं जातिचतुष्कं स्थावरचतुष्कमातपनाम चेत्येताः केवलनरक-देवै-केन्द्रिय-विकलेन्द्रियप्रायोग्याः प्रकृतयो न बध्यन्त एव, एवं वज्रर्षभनाराचप्रतिपक्षतया शेषद्वितीयादिसंहननपञ्चकमपि न बध्यते, तथाचावशिष्टाः शेषास्तिर्यग्द्विकाद्याः सप्तचत्वारिंशत्प्रकृतयः, प्रधानीकृतवज्रर्षभनाराचसंहननोत्कृष्टस्थितिं बध्नन् जीवो हि मिथ्यादृष्टिः, तथाच न बध्यते तेन जिननामा-ऽऽहारकद्विके इत्यवशिष्टा यथोक्ता हुण्डनामाद्याश्चतुश्चत्वारिंशत् , तासु चतुश्चत्वारिंशत्प्रकृतिषु प्रधानीकृतप्रकृतिं विहाय शेषत्रिचत्वारिंशत्प्रकृतिमध्याद् ध्रुवबन्धिन्यो ध्रुवबन्धित्वेन द्वितीयनियमात् तथा औदारिकद्विकपञ्चेन्द्रियजाति पराघातो च्छ्वास-त्रसचतुष्काणां स्वप्रतिपक्षप्रकृत्यादिरहितत्वेन तृतीयनियम-तृतीयांशात् नियमतो बन्धो भवति, शेषाद्युद्योतनाम्नः पञ्चमनियमात् तथा हुंडसंस्थानादीनां चतुर्विंशतेस्तु तृतीयनियमद्वितीयांशात् स्याद्बन्धो भवति। त्रिचत्वारिंशत्प्रकृतिषु "हुंडे"त्यादिना संगृहीता एकादश, "धुवे" त्यादिना संगृहीता अष्टादश च वर्गोत्कृष्टस्थितिकास्तथात्र सप्तमनियमप्रथमांशानुसारेण तासां द्विभागोनोत्कृष्टस्थितिबन्धो जायते, "पढमागिई" त्यादिना संगृहीता अष्ट तु प्रधानीकृतवज्रर्षभनाराचसंहननवद् द्विभागोनवर्गोत्कृष्टस्थितिकास्तथाच तासां सप्तमनियमद्वितीयांशानुसारेणोत्कृष्टोऽनुत्कृष्टो वा स्थितिबन्धो लभ्यते, शेषावशिष्टमनुष्यद्विकमध्यमसंस्थाननाम्नोस्तु सप्तमनियमचरमांशानुसारेण यथोक्तस्त्रिभागाद्यूनोत्कृष्टो लभ्यते, तत्र संख्येयभागन्यून इत्यनेन द्वितीयसंस्थानादिस्वीयस्वीयोत्कृष्टस्थितितः प्रधानीकृतप्रकृतेरुत्कृष्टस्थितिबन्धोयावता एकपष्ठांशादिना न्यूनस्तावता न्यूनो द्रष्टव्यः प्रागुक्तनीत्येति ॥६५९ ६६१॥

संखेज्जभागहीण संघयणस्स दुइअस्स गुरुबंधो। बंधइ तिरिनरदुग-चउआगिइ-उज्जोअगाण सिआ ॥
पंचिंदिय-धुवु-रलदुग-परघा-ऊसास-तसचउक्काणं । अथिरछग-कुखगईणं णियमा सखेज्जभागूणं ॥
जेट्ठमजेट्ठं व सिआ बंधइ दुइआगिईअ एमेव । तिण्ह तइआईणं संघयणाण मुणेयव्वो ॥
णवरि कमा गुरुमगुरुं वा तइआईण णेव दुइआई। तुरियजुगलबंधी तिरिदुगस्स णियमा णरदुगं णो ॥
॥ गाथा ६६२-६६५ ॥

(प्रे०) "संखेज्जे"त्यादि, द्वितीयस्य ऋषभनाराचनाम्नः संहननस्योत्कृष्टस्थितेर्बन्धकस्तिर्यग्द्विकम् , मनुष्यद्विकम् , "चउआगिइ" त्ति व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेस्तृतीयादीनां सादिकुब्ज-वामन-हुंडनामलक्षणानां चतसृणां संस्थाननामप्रकृतीनां तथोद्योतनाम्न इत्येवं नवानां स्याद्बन्धको भवति, स्थितिं तु तासां संख्येयभागहीनां बध्नाति। "पचिंदिये" त्यादि, पञ्चेन्द्रियध्रुवबन्धिनवकौ-दारिकद्विक पराघातो-च्छ्वास-त्रसचतुष्का-ऽस्थिरषट्क-कुखगतिलक्षणानां पञ्चविंशतेरपि संख्येयभागहीनोत्कृष्टामेव स्थितिं बध्नाति, केवल "णियमा" त्ति नियमाद्बन्धको भवति। द्वितीयसंस्थाननाम्नस्त्वसौ स्याद्बन्धको भवति, स्थितिं पुनस्तस्योत्कृष्टामनुत्कृष्टां वा बध्नातीत्यक्ष-

रार्थः । भावार्थस्तु प्रथमसंहननप्रधानविवक्षायामनन्तरदर्शितस्तथैव द्रष्टव्यः, केवलं तत्र प्रधानत्वेन विवक्षितं प्रथमसंहननं द्विभागोनवर्गोत्कृष्टस्थितिकमासीद् इह तु द्विपञ्चमांशोनवर्गोत्कृष्टस्थितिकं द्वितीयसंहननं प्रधानतया विवक्षितम् , तथाच न बध्यन्ते तदुत्कृष्टस्थितिं बध्नता द्विभागोनवर्गोत्कृष्टाः प्रथमसंस्थान-सुखगति स्थिरषट्कलक्षणा अष्टौ प्रकृतयो यथोक्तचतुश्चत्वारिंशत्प्रकृतिभ्यः, द्वितीयसंहननं च प्रधानीकृतमिति तद्वर्जने सत्यवशिष्टा अनन्तरोक्तास्तिर्यग्द्विकाद्याः पञ्चत्रिंशत् । तत्र तिर्यग्द्विकादीनां नवानां द्वितीयसस्थानस्य च तत्रोक्तनीत्यैव स्याद्बन्धः, अस्थिरषट्क-कुखगतिलक्षणानां सप्तानां तु तत्र स्याद्बन्धो भणितः, इह तु अनन्तरोक्तनीत्या तत्प्रतिपक्षभूतानां सुखगति स्थिरादीनां बन्धाभावेन चतुर्थनियमतृतीयांशानुसारेण नियमतो बन्धः, पञ्चेन्द्रियजात्यादीनां शेषाणामष्टादशानां तद्वदेव नियमतः । स्थितिबन्धविशेषस्तु सर्वासामेव । कुतः ? तत्रत्यप्रधानीकृतप्रकृत्यपेक्षयाऽत्रत्यप्रधानीकृतप्रकृत्युत्कृष्टस्थितेर्विलक्षणत्वात् । तथात्र या प्रधानीकृतद्वितीयसंहननप्रकृत्या तुल्यस्थितिका द्वितीयसंस्थानप्रकृतिस्तस्याः सप्तमनियमद्वितीयांशानुसारेण उत्कृष्टोऽनुत्कृष्टो वा भणितः, शेषाणां तु प्रत्येकं सप्तमनियमतृतीयांशानुसारेण संख्येयभागहीनोत्कृष्टायाः स्थितेर्बन्धो दर्शितः, स च प्रागिव त्रिभागाद्यूनोत्कृष्टलक्षणो यथासम्भवं स्वयमेव द्रष्टव्यस्तद्यथा–पञ्चमसंस्थानस्य त्रिभागोनोत्कृष्ट इत्यादि ।

अथान्यत्र सापवादमतिदिशति-"एमेव" इत्यादि, **अयम्भावः**–तृतीयादीनां नाराचा-ऽर्धनाराच-कीलिकानामलक्षणानां त्रयाणां संहनननाम्नामेकैकप्रधान उत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षो द्वितीयसंहननप्रधानसंनिकर्षवदेव केवलमधिकाधिकतरादिस्थितिकसंहननस्य प्रधानत्वे तेन तुल्यस्थितिकसंस्थानस्य सप्तमनियमद्वितीयांशानुसारेणोत्कृष्टादिद्विविधस्थितिबन्धभावेन ततः स्तोकस्थितिकानां प्रकृतीनां बन्धाभावेन च तृतीयसंहननस्य प्रधानत्वे तृतीयसंस्थानस्योत्कृष्टोऽनुत्कृष्टो वा स्थितिबन्धो वक्तव्यः, द्वितीयसहननस्य तु बन्ध एव प्रतिषेध्यः, चतुर्थसंहननस्य प्रधानत्वे चतुर्थसस्थानस्योत्कृष्टादिस्थितिबन्धो वाच्यस्तृतीयसंहननस्याऽपि बन्धः प्रतिषेध्यश्च, पञ्चमसंहननस्य प्रधानत्वे तु पञ्चमसंस्थानस्योत्कृष्टादिस्थितिबन्धो भणनीयश्चतुर्थसंहननस्याऽपि बन्धः प्रतिषेध्यश्च; न केवलं तावदपि तु चतुर्थस्य पञ्चमस्य वा संहननस्योत्कृष्टस्थितिं बध्नतस्ततो न्यूनस्थितिकस्य मनुष्यद्विकस्याऽपि बन्धः प्रतिषेध्यः, तद्बन्धप्रतिषेधात् चतुर्थनियमतृतीयांशविषयतां प्राप्तस्य तिर्यग्द्विकस्य नियमतो बन्धो द्रष्टव्यश्च । शेषं तु सर्वथा द्वितीयसंहननप्रधानसंनिकर्षवत् । तत्राऽपि संख्येयभागहीनत्वेन रूपेण तुल्येऽपि स्थितिविशेषे त्रिभागाद्यूनत्वादिलक्षणो विशेषः सर्वत्र प्रागिव भेदेनैव बोध्यः, विवक्षितप्रकृत्युत्कृष्टस्थितीनां तारतम्ये तस्य भेदेनैव लाभादिति ।।६६२-६६५।।

पढमागिइगुरुबंधी तिरिय-उरल-विउवदुग-छिवट्ठाणं । उज्जोअ-कुखगइ-अथिरछक्काण सिआ दुभागूणं ।।
बधेइ धुवपणिंदिय-परघा-ऊसास-तसचउक्काण । णियमा दुभाग हीण तिभाग हीण सिआ णरदुगस्स ।।

सुरदुग-सुखगइ-थिरछक्का-वइराण गुरुमगुरुं व कुणइ सिआ । मज्झिमसंघयणाणं सिआ ठिइं संखभागूणं ॥
॥ गाथा ६६६-६६८ ॥ (मध्यमा गीति)

(प्रे०) "पढमागिई" त्यादि, समचतुरस्रसंस्थाननाम्न उत्कृष्टस्थितेर्बन्धकस्तिर्यग्द्विकौदारिकद्विक-वैक्रियद्विक सेवार्तसंहननो द्योत-कुखगतिनाम्नामस्थिरषट्कस्य चेत्येवं पञ्चदशानां स्याद्बन्धको भवति, स्थितिं तु तासां द्विभागोनोत्कृष्टां बध्नाति । तत्र स्याद्बन्ध उद्योतनाम्नः पञ्चमनियमात् , शेषाणां तु चतुर्थनियमद्वितीयदलात् । द्विभागोनत्वं तु सप्तमनियमप्रथमदलादिति । "धुवे"त्यादि, ध्रुवबन्धिनवक पञ्चेन्द्रियजाति पराघातो-च्छ्वास-त्रसचतुष्काणामसौ नियमाद्बन्धको भवति, स्थितिं तु प्रागिव द्विभागोनोत्कृष्टां बध्नाति । तत्र नियमो ध्रुवबन्धित्वाच्चतुर्थनियमतृतीयांशप्रसराच्च प्रागिव यथासम्भवं ज्ञेयः । "तिभागे" त्यादि, सुगमम् , स्याद्बन्धकता तिर्यग्द्विकादिवत् , स्थितेस्त्रिभागहीनत्वं पुनर्मनुष्यद्विकोत्कृष्टस्थित्यपेक्षया प्रधानीकृतप्रकृत्युत्कृष्टस्थितेस्त्रिभागहीनवर्गोत्कृष्टत्वेन सप्तमनियमचरमांशप्रसरादिति । "सुरदुगे"त्यादि, अक्षरार्थः सुगमः । तत्र देवद्विकादीना दशानां स्याद्बन्धस्तिर्यग्द्विकादिवदेव, उत्कृष्टादिद्विविकल्पः स्थितिबन्धस्तु देवद्विकादीनामुत्कृष्टस्थितेः प्रधानीकृतप्रकृत्युत्कृष्टस्थित्या तुल्यत्वेन सप्तमनियमद्वितीयांशप्रसरादिति । "मज्झिमे" त्यादि, मध्यमानामृषभनाराचादीनां कीलिकान्तानां चतुर्णां संहनननाम्नां स्यात् संख्येयभागोनोत्कृष्टस्थितेर्बन्धको भवत्यसौ समचतुरस्रसंस्थानोत्कृष्टस्थितेर्बन्धकः । तत्र स्याद्बन्धकता तिर्यग्द्विकादिवदेव, संख्येयभागहीनत्वं तु प्रथमसंहननस्य प्रधानत्वे मध्यमसंस्थानानां यथा 'मज्झिमसंठाणाणं सिआ ठिइ संखभागूण' इत्यस्य वृत्तौ दर्शितं तथेति ॥६६६-६६८॥

अथ सुखगतिसुभगत्रिक-मध्यमसंस्थानलक्षणाष्टप्रकृतिप्रधानं प्रस्तुतसंनिकर्षमतिदेशेन प्राह—

एमेव सण्णियासो सुहखगइ-सुहगतिगाण विण्णेयो । मज्झिमसंठाणाणं समठिइसंघयणणामव्व ॥६६९॥

(प्रे०) "एमेवे"त्यादि, प्रशस्तविहायोगति-सुभग सुस्वरा-ऽऽदेयनाम्नामेकैकप्रधानः प्रस्तुतोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षः "एमेव"त्ति 'एवमेव'=यथा 'पढमागिइगुरुबंधो' इत्यादिनाऽऽर्यात्रयेण समचतुरस्रसंस्थानप्रधानोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षो दर्शितस्तथा विज्ञेयः, तथाच प्रथमसंस्थानस्थाने सुखगत्याद्येकैकां प्रकृतीमादाय सुखगत्यादिस्थाने प्रथमसंस्थानमादाय च सर्वं वाच्यम् । तद्यथा—सुखगतिनाम्न उत्कृष्टस्थितेर्बन्धकस्तिर्यग्गत्यादीनां पञ्चदशानां स्याद्बन्धको द्विभागोनोत्कृष्टस्थितेर्बन्धकश्च भवति, ध्रुवबन्ध्यादीनां षोडशानां नियमाद् द्विभागोनोत्कृष्टस्थितेश्च बन्धको भवति, मनुष्यद्विकस्य स्याद्बन्धकस्त्रिभागोनोत्कृष्टस्थितेश्च बन्धको भवति, देवद्विक-प्रथमसंहनन-प्रथमसंस्थान स्थिरषट्कानां स्याद्बन्धकस्तासामुत्कृष्टाया अनुत्कृष्टाया वा स्थितेर्बन्धकश्च भवति, मध्यमसंहननानां तु स्याद् संख्येयभागोनोत्कृष्टस्थितेश्च बन्धको भवति, शेषाणा नरकगत्यादीनां तु बन्धक एव न भवतीति । एवमेव सुभगादिप्रकृतिं प्रधानतया विवक्ष्याऽभिधातव्यः सनिकर्ष इति ।

"मज्झिमे"त्यादि, मध्यमानां न्यग्रोध-सादि-कुब्ज-वामननामलक्षणानां संस्थानप्रकृतीनामेकैकप्रधानः संनिकर्षस्तत्तुल्यस्थितिकसंहननप्रधानप्राग्दर्शितसंनिकर्षवद् वाच्यः, केवलं तुल्यस्थितिकसंहनननामस्थाने तुल्यस्थितिकसंस्थाननाम तथा तुल्यस्थितिकसंस्थाननामस्थाने तुल्यस्थितिकसंहनननामाऽऽदाय सर्वमनन्तरोक्तप्रकारेण द्रष्टव्यम् । उपपत्तिरपीह सर्वत्र तस्य तस्य प्रथमसंस्थाननामप्रधानसंनिकर्षे दर्शिता तथैव कार्येति ।।६६९।।

अथ जिननामप्राधान्येन प्रस्तुतसंनिकर्षमाह—

तित्थस्स जेट्ठबंधी आहारदुगतिथिराइवज्जाणं । णियमा संखगुणूणं सुरजोग्गाण अडवीसाए ।।६७०।।

(प्रे०) "तित्थस्स" इत्यादि, तीर्थकरनाम्न उत्कृष्टस्थितेर्बन्धक आहारद्विक-स्थिर-शुभ-यशःकीर्तिवर्जानां "सुरजोग्गाण" त्ति देवगतिं बध्नतो बन्धप्रायोग्यतया 'सुरयोग्यानाम्'—देवगतिप्रायोग्याणामष्टाविंशतेर्नामध्रुवबन्ध्यादीनां नियमाद्बन्धको भवति, स्थितिं तु तासां स्वीयस्वीयोत्कृष्टस्थितितः संख्येयगुणोनां बध्नातीत्यक्षरार्थः । **भावार्थस्त्वयम्**--तीर्थकरनाम्न उत्कृष्टस्थितिबन्धो नरकाभिमुख मिथ्यात्वाभिमुखसम्यग्दृष्टिमनुष्याणामेव भवति, सम्यग्दृष्टिमनुष्या हि देवप्रायोग्याः प्रकृतीर्बध्नन्ति, ताश्च पूर्वोक्ता ध्रुवबन्धि-देवद्विकाद्याश्चतुस्त्रिंशत् ; तासु आहारकद्विकस्याऽप्रमत्तावस्थायामेव बन्धसम्भवाच्च भवति मिथ्यात्वाभिमुखानां तद्बन्धः, मिथ्यात्वाभिमुखानां संक्लिश्यमानतया बन्धप्रायोग्यपरावर्तमानप्रकृतिषु या अप्रशस्तास्तासामस्थिरादीनामेव बन्धभावाच्च भवति तत्प्रतिपक्षभूतानां स्थिर-शुभः-यशःकीर्तिनाम्नामपि बन्धः, शेषनामप्रकृतिषु जिननामप्रकृतिः प्रधानीकृतेति तस्या अपि वर्जनादवशिष्टा नामध्रुवबन्धिनवक-देवद्विक-वैक्रियद्विक-पञ्चेन्द्रियजाति-समचतुरस्रसंस्थान—सुखगति —पराघातो-च्छ्वास-—त्रसचतुष्का--ऽस्थिरषट्कलक्षणा अष्टाविंशतिः, एतासां नियमतो बन्धो भवति। संख्येयगुणहीनोत्कृष्टस्थितेर्बन्धस्तु सुगमः, एतासां मध्ये कासाश्चित् प्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितेर्वर्गोत्कृष्टत्वात् कासाश्चित्प्रकृतीनां तु द्विगुणहीनवर्गोत्कृष्टत्वाद् अविरतसम्यग्दृशामुत्कृष्टतोऽपि अन्तःकोटीकोटीसागरोपमप्रमाणाया एव स्थितेर्बन्धभावाच्चेति ।।६७०।।

बंधंतो जेट्ठठिइं थिरस्स णियमा धुवाण पज्जस्स । परघा-ऊसासाण दुभागहीण कुणेइ सिआ ।।
तिरि-जाइ-विउव्व-रलदुग-छेवट्ठ-कुखगइ-आयवदुगाणं । थावर-असुहपणग-तस-बायर-पत्तेअणामाणं ।।
सुरदुग-वइराण तहा सुहागिइ-सुखगइ-पणसुहाईण । जेट्ठमजेट्ठं व सिआ तिभागहीण णरदुगस्स ।।
मज्झिमसघयणाऽऽगिइ-तिविगल-साहारणाण सुहुमस्स । सखेज्जभागहीणं बधेइ सिआ सुहस्सेवं ।।
एमेव सण्णियासो जसस्स अवि णवरि सुहुम-साहारा । णो चिअ बधइ णियमा वायरपत्तेअणामाणं ।।
।। गाथा ६७१–६७५ ।।

(प्रे०) "बंधंतो" इत्यादि, स्थिरनाम्न उत्कृष्टां स्थितिं बध्नन् जीवो नामध्रुवबन्धिनवक-पर्याप्तक-पराघातो-च्छ्वासनामलक्षणानां द्वादशप्रकृतीना नियमाद्बन्धको भवति, स्थितिं तु तासां द्विभागोनोत्कृष्टां बध्नाति । तत्र नियमो ध्रुवबन्धिनीनां सुगमः, पर्याप्तनाम्नस्तु-प्रधानीकृतप्रकृति-

विरोधिनाऽस्थिरनाम्नाऽविनाभाविबन्धतयाऽपर्याप्तनाम्नः प्रथमनियमतो बन्धाभावेन चतुर्थनियम-तृतीयांशप्रसरात् ; तत एव पराघातोच्छ्वासनाम्नोरपीति । स्थितेर्द्विभागोनत्वं तु सप्तमनियमप्रथमांशप्रसरादिति । "तिरिजाइ" इत्यादि, तिर्यग्द्विकम् , "जाइ" त्ति 'दुग' शब्दस्येहापि सम्बन्धाद् व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेश्च प्रागिवैकेन्द्रिय पञ्चेन्द्रियजातिनामद्वयम् , वैक्रियद्विकमौदारिकद्विक सेवार्त-कुखगत्या--ऽऽतपो-द्योत--स्थावरा- ऽशुभादिपञ्चक-त्रस-बादर -प्रत्येकनामानीत्येतासामेकत्रिंशतः प्रकृतीनां स्याद् द्विभागोनोत्कृष्टस्थितेश्च बन्धको भवति । तत्र द्विभागोनत्वं ध्रुवबन्ध्यादिवदासामपि वर्गोत्कृष्टस्थितिकत्वात् , स्याद्बन्धकत्वं तु तिर्यग्गत्याद्येकैकप्रकृतिप्रतिपक्षप्रकृतीनामपि बन्धसम्भवेन चतुर्थनियमद्वितीयांशप्रसरादिति । "सुरदुगे" त्यादि, देवद्विकवज्रर्षभनाराचसंहनन-समचतुरस्रसंस्थान-सुखगति-शुभनामादिपञ्चकलक्षणानां दशप्रकृतीनां स्याद्बन्धको भवति, स्थितिं तु तासामुत्कृष्टामनुत्कृष्टां वा बध्नाति । तत्र स्याद्बन्धकत्वं त्वनन्तरोक्तनीत्या चतुर्थनियमद्वितीयांशप्रसरादेव, उत्कृष्टादिस्थितिबन्धकत्वं तु देवद्विकादीनां प्रधानीकृतप्रकृतिवद्द्विभागोनवर्गोत्कृष्टस्थितिकत्वेन सप्तमनियमद्वितीयांशप्रसरादिति । "तिभागे"त्यादि, "सिआ" इत्यनुवर्तते, तथाच मनुष्यद्विकस्यानन्तरोक्तनीत्यैव स्याद्बन्धको भवति, स्थितिं पुनस्तस्य स्वीयोत्कृष्टस्थितेस्त्रिभागेन हीनां बध्नाति । कथम् ? मनुष्यद्विकोत्कृष्टस्थित्यपेक्षया विवक्षितप्रकृत्युत्कृष्टस्थितेस्त्रिभागोनत्वेन सप्तमनियमचरमांशप्रसरादिति । "मज्झिमे"त्यादि, मध्यमसंहननचतुष्टय मध्यमसंस्थानचतुष्टय विकलत्रिक साधारण-सूक्ष्मनामलक्षणाना त्रयोदशप्रकृतीनामनन्तरोक्तनीत्यैव स्याद्बन्धको भवति, स्थिति तु तासां सप्तमनियमचरमांशानुसारेणैव संख्येयभागोनोत्कृष्टां बध्नाति । तथाहि-ऋषभनाराचसंहनन-न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थानोत्कृष्टस्थितित एकषष्ठांशन्यून स्थितिकं प्रधानीकृतप्रकृत्युत्कृष्टस्थितिबन्धमानमिति तयोः संहननसंस्थानयोः स्थितिबन्धः स्वीयोत्कृष्टस्थितिबन्धमानादेकषष्ठांशेन न्यूनो भवति, स च सामान्यतः संख्येयभागोनोत्कृष्टो भण्यते; यद्वा तत्र प्रागुक्तनीत्या पल्योपमासंख्येयभागप्रमाणाना स्थितिविकल्पनामपि बन्धप्रायोग्यतया संख्येयभागोनोत्कृष्ट इत्येवमेव वक्तुं युक्तमित्येवं शेषसंहननादिप्रकृतीरादाय स्वयमेव वक्तव्यमिहोत्तरत्र चेति ।

अथ शुभनामप्राधान्येन प्रस्तुतसंनिकर्षमतिदेशेनाह-"सुहस्सेवं" इति सुगमम् । कुतोऽविशेषेणाऽतिदेशः ? इति चेद् , स्थिरनाम शुभनाम्नोरुभयोरपि उत्कृष्टस्थितिबन्धस्य द्विभागोनवर्गोत्कृष्टत्वेन तुल्यत्वात् तदीयप्रकृतिबन्धस्थितिबन्धस्वामिनामप्यविशेषाच्चेति । अथ यशःकीर्तिनामप्रधानसंनिकर्षमपि सापवादमतिदिशति-"एमेवे" त्यादि, यशःकीर्तिनामप्रधानप्रस्तुतस्वस्थानोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षोऽपि "एमेव" त्ति 'एवमेव' स्थिरनामप्रधानसंनिकर्षवदेव भवति, 'नवरि'-केवलं सूक्ष्मनाम-साधारणनाम्नोर्बन्ध इह प्रतिषेध्यः, बादरनामप्रत्येकनाम्नोस्तु नियमतो द्रष्टव्यः, न पुनः स्याद् । कथम् ? सूक्ष्मसाधारणनाम्नोर्बन्धाभावे बादरनाम प्रत्येकनाम्नोः

चतुर्थनियमचरमांशसंस्पर्शात् । सूक्ष्म-साधारणनाम्नोः प्रतिषेधस्तु ते बध्नतः स्थिर-शुभनाम्नोर्बन्धभावेऽपि ताथास्वाभाव्येन यशःकीर्तिनाम्नोर्बन्धाभावात् । इत्येवं मार्गणास्थानेष्वपि सूक्ष्मादिप्रायोग्यं बध्नतः यशःकीर्तिनामबन्धप्रतिषेधेऽपर्याप्तनाम बध्नतः पराघातो च्छ्वास-स्थिर-शुभ-यशःकीर्तिनाम्नां बन्धप्रतिषेधे च विभावनीयम् । तदेवं यशःकीर्तिनामबन्धस्य सूक्ष्मसाधारणबन्धविरोधितयाऽनयोर्वा यशःकीर्तिबन्धविरोधितयाऽभिधाने, एवमपर्याप्तनाम्नः पराघातादिनाम्नां च बन्धतः परस्परं विरोतयाऽभिधाने तेन रूपेण तासां परस्परं बन्धाभावप्रदर्शने चाऽदोष एव मन्तव्य इति

सुहुमस्स जेट्ठबधी परघा-ऊसास-पज्जगदुगाणं । संखंसूणं तु सिआ गुरुमगुरुं वा अपज्जगदुगाणं ॥
णियमा बधेइ ठिइं बीसाए सेससुहुमजोग्गाणं । संखेज्जभागहीण एव साहारणस्स भवे ॥
॥ गाथा ६७६-६७७ ॥

(प्रे०) "सुहुमस्स" इत्यादि, सूक्ष्मनाम्न उत्कृष्टस्थितेर्बन्धकः पराघातो-च्छ्वास-पर्याप्तक-प्रत्येकनाम्नां स्याद्बन्धको भवति, स्थितिं तु तासां सङ्ख्येयभागोनोत्कृष्टां बध्नाति । तत्र स्याद्-बन्धकत्वं चतुर्थनियमद्वितीयांशप्रसराद् , संख्येयभागोनत्वं च सप्तमनियमतृतीयांशप्रसरादिति । "गुरुमगुरुं वा" इत्यादि, 'सिआ' इत्यनुवर्तते, तथा चाऽपर्याप्तक-साधारणनाम्नोरसौ स्याद्बन्धको भवति, स्थितिं तु तासामुत्कृष्टामनुत्कृष्टां वा बध्नाति । तत्र स्याद्बन्धकत्वं प्रागिव, उत्कृष्टादि-द्विविधस्थितिबन्धकत्वं तु सप्तमनियमद्वितीयांशप्रसरादिति । "णियमा" इत्यादि, शेषाणां सूक्ष्म-प्रायोग्याणां नामध्रुवबन्धिनवक-तिर्यग्द्विकै-केन्द्रियजात्यौ-दारिकशरीर-हुण्डसंस्थान-स्थावरा-ऽस्थिर-त्रिका ऽनादेया-ऽयशःकीर्तिनामलक्षणानां विंशतेः प्रकृतीनां तु नियमाद् बन्धको भवति, स्थितिं तु तासां संख्येयभागोनोत्कृष्टां बध्नाति । तत्र नियमो ध्रुवबन्धिनीनां ध्रुवबन्धित्वात् , शेषतिर्य-ग्द्विकादीनां तु स्वस्वप्रतिपक्षप्रकृतीनामबन्धेन चतुर्थनियमचरमांशात् ; सङ्ख्येयभागोनत्वं पुनः सप्तमनियमचरमांशात् । तथाहि-प्रधानतया विवक्षितसूक्ष्मनामप्रकृतेरुत्कृष्टस्थितिः एकदशांशोन-वर्गोत्कृष्टा, शेषप्रकृतयस्तु सर्वा अपि वर्गोत्कृष्टस्थितिकाः; तथाच विवक्षितप्रकृतिवत् तासामेकदशांशोनवर्गोत्कृष्टस्थितिर्बध्यते, सा च भवति स्वोत्कृष्टस्थितिबन्धात् संख्यांशोनेति ।

अथ साधारणनामप्रधानप्रस्तुतसंनिकर्षमतिदिशति-"एव"मित्यादि, साधारणनामप्रधानः प्रस्तुतसंनिकर्षः 'एवं' इति सूक्ष्मनामस्वस्थानोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षवदेव भवति । कुतः ? उच्यते, सूक्ष्मसाधारणनाम्नोरुत्कृष्टस्थितेः तदीयस्वामिना चाऽविशेषादिति ॥　　॥

तसु-रलुवंग-दुजाइग-थावर-पत्तेअ-बायराण सिआ । संखसूण बंधइ अपज्जणामगुरुठिइबंधी ॥
सखसूणं तिरिदुग-धुवुरल-हुंडग-पणाथिराईण । णियमा विगलतिग-सुहुम-साहाराण सिआ दुविहं ॥
॥ गाथा ६७८-६७९ ॥

(प्रे०) "तसुरल" इत्यादि, अपर्याप्तनाम्न उत्कृष्टस्थितेर्बन्धकस्त्रसौ दारिकाङ्गोपाङ्गै-केन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियजाति-स्थावर-प्रत्येक-बादरनाम्नां स्याद्बन्धको भवति, स्थितिं तु तासां संख्येयभागो-

नोत्कृष्टां बध्नाति । तत्र स्याद्बन्धकत्वं चतुर्थनियमद्वितीयांशात् , संख्येयभागोनत्वं त्वनन्तरोक्त-नीत्या सप्तमनियमचरमांशादिति । "सखंसूणं" ति तिर्यग्द्विक-नामध्रुवबन्धिनवकौ-दारिकशरीर-हुण्डसंस्थाना-ऽस्थिरपञ्चकलक्षणानां सप्तदशप्रकृतीनामसौ नियमाद्बन्धको भवति, स्थितिं तु तासा-मनन्तरोक्तनीत्या संख्येयभागोनोत्कृष्टां बध्नाति; नियमबन्धस्तु चतुर्थनियमचरमांशात् । "विगले" त्यादि, विकलत्रिक-सूक्ष्म साधारणनाम्ना त्वसौ स्याद्बन्धको भवति, स्थितिं तु तासां 'द्विविधां' उत्कृष्टामनुत्कृष्टां वा बध्नाति । तत्र स्याद्बन्धकत्वं प्रागिव चतुर्थनियमद्वितीयांश-प्रसरात् , द्विविधस्थितिबन्धकत्वं तु सप्तमनियमद्वितीयांशविषयादिति ॥६७८-६७९॥

तदेवं प्रतिपादितः शेषस्य नाम्नोऽपि सर्वोत्तरप्रकृतीनां प्रस्तुतः स्वस्थानोत्कृष्टस्थितिबन्ध-संनिकर्ष ओघतः, तथा च समाप्ता ओघतः स्वस्थानोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षप्ररूपणा । अथ सेव विभागतो नरकगत्योघादिमार्गणास्थानेषु कर्तव्या तत्र ज्ञानावरण दर्शनावरणा-ऽन्तरायोत्तरप्रकृतीनां तस्या ओघेन तुल्यप्रायतया प्रागेव 'छण्ह एमेव सव्वासु' (गाथा-६३२) इत्यादिना सापवादमतिदि-ष्टत्वात् , तेनैव वेदनीयाऽऽयुर्गोत्रोत्तरप्रकृतीनां तस्या असम्भवेनौघवत्प्रतिषिद्धत्वाच्चावशिष्टयोर्मोह-नीयनाम्नोरुत्तरप्रकृतीनां तां चिकीर्षुरादौ तावन्मोहनीयोत्तरप्रकृतीरधिकृत्य प्राह—

असमत्तपणिंदितिरिय-मणुय-पणिंदि-तस-उरलमीसेसु । असणे सव्वेगिंदिय-विगलिंदिय-पंचकायेसु ॥
थीअ गुरु बंधतो सोलकसाय भय-कुच्छ-मिच्छाण । णियमा सखंसूणं जुगलाण सिआ पुमस्सेवं ॥
जेट्ठठिइ बधंतो हस्सरईओ इगस्स इयरस्स । णियमा बंधेइ ठिइ उक्कोस उअ अणुक्कोसं ॥
णियमा बवइ सोलसकसाय-भय-कुच्छ-णपुम-मिच्छाण । सखेज्जभागहीण ओघव्व हवेज्ज सेसाण ॥
णवर ठिइ असखियभागूण संखभागहीणथले । बंधइ खलु सव्वेसु एगिंदिय-पचकायेसु ॥
॥ गाथा ६८०-६८४ ॥

(प्रे०) "असमत्ते"त्यादि, इह तावद् ज्ञानावरणाद्युत्तरप्रकृतिवत् मोहनीयसर्वोत्तरप्रकृ-तयः स्वभावतो देवप्रायोग्यमेव बध्नतो युगलधर्मिणो विहाय मिथ्यात्वगुणस्थानवर्तिनां प्रत्येकं जीवानां बन्धप्रायोग्या एव, भवन्तु नाम तेऽन्यतमस्यां नरकगत्योघादिमार्गणायां प्रविष्टास्तदा-ऽपि, न पुनर्नामोत्तरप्रकृतिवत् कुत्रचित्काश्चिदबन्धप्रायोग्या अपि, यथा न भवति नरकगत्योघे मिथ्यात्वगुणस्थानवर्तिनामपि जीवानां नरकगत्याद्या बन्धप्रायोग्याः । तथाच यत्र नरकगत्योघादि-मार्गणायां मिथ्यात्वगुणस्थानभाजो जीवाः प्रविष्टास्तत्र मोहनीयतत्तदुत्तरप्रकृतिप्रधानप्रस्तुतसंनिकर्षे तदन्यासां नियमबन्धो वा स्याद्बन्धो वाऽबन्धो वा सवथौघवत् संपद्यते । न केवलं तावदपितु यासु मार्गणासु मोहनीयोत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धमानमप्यौघिकं तासु प्रधानीकृतेतरप्रकृतीनामुत्कृष्टो-ऽनुत्कृष्टो द्विभागाद्यूनोत्कृष्टो वेत्येवं स्थितिबन्धोऽपि सर्वथौघवदेव सम्पद्यते । तथाविधाश्च मार्गणाः सर्वनरकभेद-देवगत्योघ-भवनपत्यादिसहस्रारान्तदेवगत्युत्तरभेदा ऽपर्याप्तवर्जतिर्यग्गतिभेदचतुष्टया-ऽपर्याप्तवर्जमनुष्यगतिभेदत्रय-पञ्चेन्द्रियौघ- तत्पर्याप्त -त्रसकायौघ तत्पर्याप्त-सर्वमनोभेद-सर्ववचोभेद-

काययोगौघौ-दारिककाययोग वैक्रियकाययोग वेदत्रय-कषायचतुष्टया-ऽज्ञानत्रया-ऽसंयम-चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शन-शुक्लवर्जलेश्यापञ्चक--भव्या-ऽभव्य-मिथ्यात्व--संज्ञया-ऽऽहारकलक्षणाः सप्तषष्टिः; तासु चोत्तरत्र 'ओघव्वऽण्णासु 'सव्वेसिं' (गाथा-६९६) इत्यनेनातिदेशेन प्रस्तुतसंनिकर्षस्य वक्ष्यमाणत्वात्तद्वर्जासु प्रस्तुतसंनिकर्षो भणनीयः। तत्र प्रथमतयाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणा प्राप्यते, अपर्याप्तमनुष्या-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तत्रस-सर्वैकेन्द्रिय-सर्वविकलेन्द्रिय-सर्वपृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिकायमार्गणास्थानेषु, औदारिककाययोगे,असंज्ञिमार्गणायां चाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणातुल्या प्रस्तुतवक्तव्यता, अतः "असमत्त" इत्यादिनाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगाद्या एकषष्टिमार्गणाः संगृहीता आद्ययाऽऽर्यया। द्वितीयाद्यार्याचतुष्टयेन तु तत्र प्रस्तुतसंनिकर्षः प्रतिपादितः। तत्राऽपि स्त्री-पुंवेद-हास्य-रति-प्रकृतिचतुष्टयं विहाय शेषाणां मिथ्यात्वमोहनीयादीनां तु सर्वथैवौघवदतिदिष्ट इत्यतोऽसौ 'मिच्छत्त-णपुस-सोलसकसाय-भय-कुच्छ-सोग-अरईओ। एगस्स जेट्ठबंधी णियमाऽण्णाण गुरुमुअ अगुरु ॥६३४॥' इत्यनया गाथया प्रोक्तस्वरूपोऽवसातव्यः।

ननु स्त्रीवेदादीनां कथमसौ नातिदिष्टः? इति चेद्, प्रस्तुतसर्वमार्गणागतजीवानामोघवत्स्वप्रायोग्योत्कृष्टसंक्लेशसद्भावे मिथ्यात्वमोहनीयादीनां स्त्रीवेदादिप्रकृतिचतुष्टयवर्जानामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य जायमानत्वेऽपि स्त्रीवेदादीनां यथौघे प्रथमतस्तावदनतितीव्रेण तुल्येन संक्लेशेन पुंवेद-हास्यरतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धो जायते, ततस्तीव्रेण संक्लेशेन स्त्रीवेदस्योत्कृष्टस्थितिबन्धश्च जायते, तथात्र न जायते, किन्त्वत्र मन्दसंक्लेशात्तीव्र-तीव्रतरादिक्रमेण स्वप्रायोग्योत्कृष्टसंक्लेशाभिमुखगमने प्रथमतस्तावदनतितीव्रसंक्लेशेन पुंवेदस्योत्कृष्टस्थितिबन्धो जायते, ततस्तीव्रेण संक्लेशेन स्त्रीवेदस्योत्कृष्टस्थितिबन्धो जायते, ततोऽपि तीव्रतरेण संक्लेशेन तु हास्य-रत्योरुत्कृष्टस्थितिबन्धः प्रवर्तते। न च ओघोक्तनीत्या हास्यरत्योरुत्कृष्टस्थितिबन्धप्रायोग्यसंक्लेशादधिकतरेण संक्लेशेनैव स्त्रीवेदोत्कृष्टस्थितिबन्धेन भवितव्यमिति वाच्यम्, तस्योत्कृष्टसंक्लेशाभिमुखचारिसंक्लेशस्थानेषु पूर्वोत्तरभावितत्तत्प्रकृतिबन्धाबन्धाधीनत्वात्। अयम्भावः-मन्दसंक्लेशप्रभृतेस्तीव्र-तीव्रतरादिक्रमेण स्वस्वप्रायोग्योत्कृष्टसंक्लेशपर्यन्ता ये स्थितिबन्धाध्यवसायास्तानधिकृत्य मन्दसंक्लेशादुत्कृष्टसंक्लेशाभिमुखचरणे या या प्रकृतिर्यतो यतोऽध्यवसायादुत्तरवर्त्यध्यवसायेषु नैव बध्यते तेन तेनाऽध्यवसायेन तत ईषन्मन्दसंक्लिष्टाध्यवसायैश्च तस्यास्तस्याः प्रकृतेरुत्कृष्टस्थितिबन्धो भवति, यथौघतो दशसागरोपमकोटीकोटीस्थितितोऽधिकस्थितिबन्धप्रायोग्याऽध्यवसायेषु सत्सु पुंवेदहास्यरतीनां बन्धाऽभावेन दशसागरोपमकोटीकोटीस्थितिबन्धप्रायोग्याध्यवसायैस्तासां पुंवेदादीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धो जायते, तेनैव न्यायेन पञ्चदशसागरोपमकोटीकोटीस्थितिबन्धप्रायोग्याध्यवसायैः स्त्रीवेदस्योत्कृष्टस्थितिबन्धः, विंशतिकोटीकोटीसागरोपमस्थितिबन्धप्रायोग्यतीव्रतमसंक्लिष्टेन तत ईषन्मन्दैश्चाध्यवसायैर्मिथ्यात्वादीनाम्। तथाचोत्कृष्टसंक्लेशाभिमुखगमने ओघे प्रथमतस्तावत्पुंवेदहास्य-

रतीनामबन्धः प्राप्यते; अबन्धश्च इहापेक्षाकृतो बन्धविच्छेद एव बोध्यः, उत्तरवर्तिसंक्लेशस्थानेषु तेषां पुंवेदादीनां सर्वथैव बन्धाभावात् । पुंवेदादिबन्धविच्छेदादनु स्त्रीवेदस्य बन्धविच्छेदो लभ्यते, मिथ्यात्वादीनां तूत्कृष्टसंक्लेशेऽपि बन्धभावात्तेषां तु बन्धविच्छेद एव न भवति । एवमेव सर्वत्र मार्गणास्थानेषु तत्तत्प्रकृतीनां बन्धविच्छेदक्रमोऽन्वेषणीयः; तेनैव नियतस्याद्बन्धादिकस्योत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्ट-संख्येयभागोनोत्कृष्टस्थितिबन्धादेश्चोत्पत्तेः । प्रस्तुतमार्गणासु तत्क्रमः 'प्रथमतः पुंवेदस्य बन्धविच्छेदः, तदनु स्त्रीवेदस्य, तदनु हास्यरत्योर्युगपत्, शेषास्तूत्कृष्टसंक्लेशेऽपि बध्यन्ते इत्येवं लक्षणः । **ननु कथं ज्ञायतेऽत्रैवमेव एष बन्धविच्छेदक्रमः ? इति चेत्, श्रूयताम्**–या या पुंवेदादिप्रकृतिर्यत्र पर्याप्तमनुष्यगत्यादौ देवगत्यादौ वा वेदयितुं योग्या सा सा तस्य पर्याप्तमनुष्यत्वादेर्देवत्वादेर्वा प्रायोग्यं बध्नता बध्यते विहाय नरकगतिप्रायोग्यं बध्नता तत्राऽनुभवयोग्ये अपि हास्य-रती । न केवलं मोहनीयोत्तरप्रकृतीनामेवं बन्धः प्रवर्तते, किन्तर्हि ? शेषोत्तरप्रकृतीनामपि एवमेव बन्धः प्रवर्तते, केवलं नरकप्रायोग्य बध्नता तत्राऽनुभवयोग्या अपि सातवेदनीय-स्थिर-शुभनाम-प्रकृतयो न बध्यन्ते; एवं साधारणप्रायोग्य बध्नता तत्राऽनुभवयोग्यमप्युद्योतनाम न बध्यते ।

इह 'बध्यते' 'बध्यन्ते' वेत्यनेन तास्तास्तत्र तत्र वेदयितुं योग्याः प्रकृतयो बन्धप्रायोग्या इत्येतावानेवाऽर्थो बोध्यः । कथम् ? मनुष्यगत्यादिप्रायोग्यं बध्नतामपि कासाञ्चित्सातादीनामध्रुवबन्धित्वेन कदाचिद्बन्धभावात्कदाचित्त्वबन्धाच्चेति । एतासु विवक्षिततत्तद्गत्यादिप्रायोग्यप्रकृतिष्वपि या या परावृत्त्य परावृत्त्य बन्धप्रायोग्या, यथा--पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्यं बध्नतो वेदत्रयी हास्यादियुगलद्वयं च, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगे-केन्द्रिय विकलेन्द्रियादिप्रायोग्यं बध्नतस्तु हास्यादियुगलद्वयम् । तासु त्वोघोक्तनीत्या पुंवेदादिक्रमेण बन्धविच्छेदः । युगलद्वयमध्येऽपि प्रथमतो हास्यादियुगलस्यैव बन्धविच्छेदः । एवमेव वेदनीयादिप्रकृतिमध्येऽपि ज्ञेयम्, तद्यथा–वेदनीयद्वयस्य बन्धप्रायोग्यत्वे प्रथमतः सातवेदनीयं तदन्वसातवेदनीयम् । नामप्रकृतिष्वपि प्रथमतस्तावद्देवगतेर्बन्धविच्छेदः, तदनु क्रमेण मनुष्यगत्यादीनाम् । मनुष्यगतिप्रायोग्यं वा बध्नतोऽपि बन्धप्रायोग्यनानासंहननसंस्थानादीना मध्ये प्रथमतो वज्रर्षभनाराचसंहनन-समचतुरस्रसंस्थानादीनां बन्धविच्छेदः, तदनु क्रमेण द्वितीयसंहननादीनामित्यादि ।

विहायाऽसंज्ञिमार्गणां प्रस्तुतमार्गणासु मनुष्यगतितिर्यग्गतिद्वययोग्याः प्रकृतयो बन्धप्रायोग्याः, तासु चोत्कृष्टसंक्लेशाभिमुखचरणे प्रथमतस्तावत् पुंवेदस्यैव बन्धविच्छेदः, तदनु स्त्रीवेदस्य, तदनु हास्यरत्योः, न पुनः पुंवेदेन समं तयोः, यतो यथोक्तगतिद्वयमध्ये प्रथमतस्तावन्मनुष्यगतेर्बन्धविच्छेदः स्यात्, तदनु तिर्यग्गतेः । तिर्यग्गतिभेदेष्वपि पञ्चेन्द्रियजात्यादीनां यथोत्तर बन्धविच्छेदो भवेदिति सुगमम् । तत्र हि मनुष्यप्रायोग्यं बध्नतः पञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्यं वा बध्नतो हि पुंवेद-स्त्रीवेदयोर्बन्धः सम्भवति, न तु शेषचतुरिन्द्रियादिप्रायोग्य बध्नतः । कथम् ? शेषाणां

तयोरनुदयात् । हास्य-रत्योस्तु चतुरिन्द्रियादिप्रायोग्यं बध्नतोऽपि सम्भवति बन्धः । इत्थं हि प्रथमतः पुंवेद-स्त्रीवेदयोर्बन्धविच्छेदः, उत्तरत्र चतुरिन्द्रियादिप्रायोग्यं बध्नतस्तद्बन्धस्य सर्वथाऽप्रवर्तनात् । हास्य-रत्योस्तु तदनु बन्धविच्छेदः, एकेन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतोऽपि तद्बन्धस्यावश्यकत्वात्, केवलमेकेन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतः शोका-ऽरत्योरपि बन्धप्रायोग्यतया ओघोक्तक्रमेण प्रथमतो हास्य-रत्योर्बन्धविच्छेदः, न तूत्कृष्टसंक्लेशेऽपि तद्बन्धः । एवमेव पञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्यं बध्नतोऽपि पुंवेदस्त्रीवेदयोः परावृत्य बन्धप्रायोग्यतयौघोक्तक्रमेण प्रथमतः पुंवेदस्य बन्धविच्छेदः, तदनु स्त्रीवेदस्य बन्धविच्छेद इति । असंज्ञिमार्गणायां तु यद्यपि मनुष्यतिर्यग्गतिद्वयवद् देवनरकगतिप्रायोग्या अपि प्रकृतयो बन्धप्रायोग्यास्तथाऽपि मोहनीयप्रकृतिबन्धविच्छेदक्रमे न कश्चिद्विशेषः, नामप्रकृतिबन्धविच्छेदक्रमे एव तत्सम्भवात् । अयम्भावः—असंज्ञिमार्गणायां यथोक्तनीत्या स्त्रीवेदविच्छेदादनु चतुरिन्द्रियादिक्रमेणैकेन्द्रियप्रायोग्य बध्नतामपि हास्यादियुगलबन्धस्याऽऽवश्यकत्वात्पूर्वोक्तक्रमेणैव हास्यादियुगलस्य बन्धविच्छेदो लभ्यते, नपुंसकवेदस्य तु नरकप्रायोग्यत्वेन तद्विच्छेदस्तु न लभ्यतेऽपर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रियादिमार्गणावदित्यविशेषो मोहनीयप्रकृतिविच्छेदक्रमे । नामप्रकृतिमध्ये तु अपर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रियादिमार्गणासु चतुरिन्द्रियजात्यादिबन्धविच्छेदात्पूर्वमेव पञ्चेन्द्रियजातेर्विच्छेदो लभ्यते । न चैवमसंज्ञिमार्गणायाम्, तत्रैकेन्द्रियोत्कृष्टस्थितिबन्धप्रायोग्यादधिकसंक्लेशे नरकगतेर्बन्धस्याप्यावश्यकत्वेन पञ्चेन्द्रियजातेर्बन्धस्याऽऽवश्यकत्वादित्यलं विस्तरेण यथास्थानं वक्ष्यमाणत्वादिति । इत्येवं स्थिते प्रस्तुतमार्गणासु पुंवेदः, स्त्रीवेदः, हास्यादियुगलमित्येतत्क्रमेण बन्धविच्छेदः सिद्धः । तदेवमोघापेक्षया प्रस्तुतमार्गणासु पुंवेदादिप्रकृतीनां बन्धविच्छेदक्रमस्य विलक्षणत्वान्नातिदिष्टस्तत्प्रधानसंनिकर्ष ओघवत्; मिथ्यात्वादिप्रधानस्त्वतिदिष्ट इति ।

अथ बन्धविच्छेदक्रमे सिद्धे नियतबन्धस्याद्बन्धादिलक्षणसंनिकर्षस्तु पूर्वोक्तनियमानुसारेणोत्तरविच्छिद्यमानबन्धायाः प्राधान्येन विवक्षायां पूर्वविच्छिद्यमानबन्धानां सर्वथाऽबन्धः, शेषमध्ये यथासम्भवं तत्तन्नियमस्य द्वितीयांशानुसारेण कासाञ्चित्स्याद्बन्धस्तृतीयांशानुसारेण कासाञ्चिन्नियमबन्धश्चेत्यादिक्रमभ्यूह्यम्; केवलं यासु न भवत्योघोत्कृष्टस्थितिबन्धस्तासु प्रस्तुतमार्गणासु अन्यासु च तथाविधासु तृतीयनियमविषयभूतवर्गोत्कृष्टस्थितिकप्रकृतिस्थाने यथोक्तविच्छेदक्रमगतासु प्रकृतिषु यासां बन्धविच्छेद एव न लभ्यते ताः ग्राह्याः, उत्कृष्टसंक्लेशेऽपि या बध्यन्ते ता ग्राह्याः, न शेषा इति भावः; यथा प्रस्तुते मिथ्यात्वाद्या एव । चतुर्थनियमविषयभूताऽवर्गोत्कृष्टस्थितिकप्रकृतिस्थाने तु शेषा ग्राह्याः; यथा प्रस्तुते स्त्री पुंवेद हास्यरतिचतुष्टयम् । तथा चेमाः स्त्रीवेदाद्याश्चतुर्थनियमविषयभूता इति स्त्रीवेदप्रधानविवक्षायां पुंवेदप्रधानविवक्षायां वा हास्यरतियुगल-शोकाऽरतियुगलयोश्चतुर्थनियमद्वितीयांशानुसारेण स्याद्बन्धः, शेषाणां मिथ्यात्वादीनां तु नियमतः । हास्यस्य रतेर्वा प्रधानविवक्षायां स्त्रीपुंवेदयोश्चतुर्थनियमप्रथमांशानुसारेण बन्ध एव

न भवति, शेषाणां तु नियमतो बन्धः प्राप्यते ।

अथ स्थितिबन्धोऽपि तासां स्याद्बन्धानां नियतबन्धानां वा षष्ठसप्तमनियमानुसारेणैवाऽम्यूह्यः, केवलं तत्र यास्तुल्यस्थितिका भणिताः ता वर्गविभागरूपेण तथा भणिता इति कृत्वा समस्थानविच्छिद्यमाना एवाऽर्थतः प्राप्यन्ते; तथाच तत्स्थाने सममेव विच्छिद्यमानाः प्रकृतयो बोध्याः, एवं हि सप्तमनियमचरमांशेन यः संख्येयभागोनः स्थितिबन्धो भणितः स यथासम्भवं स्वीयस्वीयबन्धप्रायोग्यस्थितिबन्धस्थानसंख्येयभागेन न्यून इत्येकेन्द्रिय-पृथिवीकायादिपञ्चकायमार्गणाभेदेष्वसौ तत्तत्प्रकृतेः स्वीयस्वीयोत्कृष्टस्थितिबन्धापेक्षयाऽसंख्येयैकभागन्यून एव भवति, तथाच प्रस्तुते सप्तस्वेकेन्द्रियमार्गणास्थानेष्वेकोनचत्वारिंशति पृथिव्यादिपञ्चकायमार्गणास्थानेषु च स्त्रीवेदादिशेषप्रकृतिप्रधानविवक्षायां यासां स्याद्बन्धो नियतबन्धो वा भणितस्तासां सर्वासामसंख्येयभागोनोत्कृष्टस्थितिबन्धो बोद्धव्यः, केवलं हास्य-रत्योः समस्थानव्यवच्छिद्यमानतया हास्यविवक्षायां रतेस्तथा रतेः प्रधानतायां हास्यस्य सप्तमनियमद्वितीयांशानुसारेणोत्कृष्टोऽनुत्कृष्टो वा स्थितिबन्धो भवेत् । शेषाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिमार्गणासु तु बन्धप्रायोग्यस्थितिबन्धस्थानसंख्येयभागहानौ स्वीयस्वीयोत्कृष्टस्थितिबन्धतः संख्येयभागस्य हीनभावेनैकेन्द्रियादिमार्गणास्थानेष्वनुपदं यत्राऽसंख्येयभागहीनत्वमुत्कृष्टस्थित्यपेक्षया भणितं तत्र संख्येयभागहीनत्वमेव लभ्यते । इत्येवं भणितो गाथापञ्चकार्थस्तत्तन्मार्गणासु बन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां बन्धविच्छेदक्रमाऽन्वेषणप्रकारश्च । अक्षरगमनिकास्तु सुगमाः, केवलं द्वितीयगाथास्थं 'सव्वंसूण' मिति पदं देहलीदीपकन्यायेनोभयत्र योजनीयमिति ॥

अथानन्तरविवृतार्थदृढावधारणार्थमपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिप्रस्तुतमार्गणास्वेव सर्वासां बन्धप्रायोग्यप्रकृतीनामनन्तरोक्तनीत्या उत्कृष्टसंक्लेशाभिमुखचरणे लभ्यमानो बन्धविच्छेदक्रम उत्पाद्यते, तद्यथा—असंज्ञिमार्गणामपहाय एतासु प्रत्येकं तिर्यग्मनुष्यगतिद्वयप्रायोग्यप्रकृतीनामेव बन्धो भवतीत्युक्तमेव । तथाच षष्टिमार्गणास्वपि प्रत्येकं वैक्रियाऽष्टका-ऽऽहारकाद्विक-जिननामवर्जा नवोत्तरशतं प्रकृतयो बन्धप्रायोग्याः, विहाय तेजस्कायवायुकायमार्गणाभेदेषु मनुष्यत्रिकोच्चगोत्रे । तत्र या याः प्रकृतयस्तत्र तिर्यक्त्वादिभावे पञ्चेन्द्रियत्वादिभावे सूक्ष्मत्वादिभावे पर्याप्तत्वादिभावे चानुभवयोग्यास्ता एव तिर्यग्गत्यादेः पञ्चेन्द्रियजात्यादेर्वा प्रायोग्यप्रकृतीर्बध्नतां बन्धप्रायोग्या विहायाऽपर्याप्तप्रायोग्य बध्नतोऽपर्याप्तत्वेऽनुभवयोग्ये अपि स्थिरशुभनाम्नी साधारणत्वेऽनुभवयोग्यमपि उद्योतनाम चेत्याद्यप्युक्तमेव । तत्र यस्तावद्विच्छेदक्रमोऽन्वेषणीयः स शुभायुःप्रकृतिवर्जानामन्वेषणीयः, न पुनस्तिर्यगाद्यायुःप्रकृतीनामपि । कुतः ? तासामुत्कृष्टस्थितेर्विशुद्धिप्रत्ययत्वेन तत्तत्तिर्यग्गत्यादेः प्रायोग्यास्वन्यतमस्याः प्रकृतेर्बन्धविच्छेदात्प्रागेव तासामुत्कृष्टस्थितिबन्धप्रायोग्याध्यवसायानां प्राप्तेः । अयम्भावः—मन्दसंक्लेशादुत्कृष्टसंक्लेशाभिमुख्येन गमने न तावत्प्रथमतो यथोक्तायुःप्रकृतिप्रायोग्याध्यवसायाः प्राप्यन्ते । कुतः ? अतिसंक्लिष्टवदतिविशुद्धस्या-

ऽपि तद्बन्धप्रतिषेधात् । तथा च मनुष्यगत्यादितत्तत्प्रकृतिजघन्यस्थितिबन्धप्रायोग्यादधिक-संक्लेशे एव मनुष्याद्यायुःप्रकृतिबन्धप्रायोग्या अध्यवसाया लभ्यन्ते । तत्र ये प्रथमतः प्राप्यन्ते ततः प्रभृतिष्वसंख्येयलोकाकाशप्रमितेष्वध्यवसायेषु सन्नुत्कृष्टस्थितिर्बध्यते तस्य मनुष्याद्यायुषः, शेषैस्ततः संक्लिष्टसंक्लिष्टतरैस्त्वनुत्कृष्टा एव । यत्र च मनुष्याद्यायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धप्रायोग्या अध्यवसाया लभ्यन्ते तत्र मनुष्यगत्यादिप्रायोग्याणामायुर्वर्जप्रकृतीनां त्वनुत्कृष्टस्थितिबन्धप्रायोग्या अध्यवसाया एव भवन्ति, तदीयोत्कृष्टस्थितिबन्धप्रायोग्याणां तेषामुत्तरत्रेतोऽपि संक्लिष्टतराद्यवस्थायां तत्तत्प्रकृतिविच्छेदस्थानाऽव्यवहितपूर्ववर्तित्वात् । किञ्चाभिवक्ष्यमाणः प्रकृतिबन्धविच्छेदक्रम उत्कृष्ट-स्थितिबन्धसंनिकर्षोपपत्तये एव, यद्यपि तत्तत्प्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्तासां बन्धविच्छेदतः प्राग-व्यवहितैरध्यवसायैर्जायते तथापि शुभायुषामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्तूक्तनीत्या पूर्वमेवोपलभ्यते इति तानि यथोक्तक्रमगतस्वीयस्वीयोत्कृष्टस्थितिबन्धाध्यवसायादधिकसंक्लेशे बन्धप्रायोग्याण्यपि चिन्त्यमान-विच्छेदक्रमे प्रागेव गृहीतव्यानि । तदेवं प्रस्तुते प्रथमत आयुर्द्वयम्, तत्र शुभतरत्वात् मनुष्यायुः प्रथमम्, तदनु तिर्यगायुः । आयुर्वर्जशेषप्रकृतिमध्ये पर्याप्तप्रायोग्यं बध्नतो यावानुत्कृष्टसंक्लेश-स्ततोऽप्यधिकोऽपर्याप्तप्रायोग्योत्कृष्टस्थितिं बध्नतः सः । ननु पर्याप्तप्रायोग्यं बध्नतो यावान् उत्कृष्टः संक्लेशस्ततोऽप्यधिक एवोत्कृष्टतोऽपर्याप्तप्रायोग्यं बध्नत इति कुतो गम्यते ? इति चेत्, प्रस्तुते-ऽपर्याप्तप्रायोग्यायुरुत्कृष्टस्थितितः पर्याप्तप्रायोग्यायुष्कजघन्यस्थितेरपि संख्येयगुणत्वात्, आयुषो ह्रस्वस्थितेरप्रशस्तत्वेन संक्लेशाधिक्यहेतुकत्वादपर्याप्तप्रायोग्यं बध्नत एवाऽपर्याप्तप्रायोग्यायुषः पर्याप्त-प्रायोग्यं बध्नत एव पर्याप्तप्रायोग्यायुषो बन्धभावाच्चेति । तथाचाऽपर्याप्तप्रायोग्यप्रकृतीर्विहाय शेष-प्रकृतीनां बन्धविच्छेदः पूर्वमेव स्यात्, तादृश्यश्च प्रकृतयः पुंवेद-स्त्रीवेद संहननपञ्चक-हुण्डवर्ज-संस्थानपञ्चक-खगतिद्विक-पराघातो-च्छ्वासा-ऽऽतपो द्योत-पर्याप्तक-स्थिरषट्क- दुःस्वरो -च्चैर्गोत्र-लक्षणाः सप्तविंशतिः । तासु प्रथमतस्तावत्केवलमनुष्यगतिप्रायोग्यमुच्चैर्गोत्रं विच्छेदं याति, तदनु च शेषास्तिर्यग्गतिप्रायोग्या विच्छेदं यान्ति । कुतः ? उच्यते, मनुष्यत्वतिर्यक्त्वयोः प्रशस्तेतररूपत्वात्, स्याद्धि प्रशस्तप्रकृतेर्बन्धप्रायोग्यसंक्लेशादधिकतरसंक्लेशेऽपि तदितरस्या बन्धः, अन्यथा प्रशस्ते-तरत्वायोगादिति । अत एव तिर्यक्प्रायोग्यप्रकृतिमध्येऽपि प्रथमतस्तावत्केवलं पञ्चेन्द्रिय-तिर्यक्प्रायोग्याणाम्, तदनु केवलचतुरिन्द्रियादिप्रायोग्याणां यावत् सर्वोत्तरमेकेन्द्रियप्रायोग्याणां बन्धविच्छेदो लभ्येत । एकेन्द्रियप्रायोग्याणामपि सर्वासां न युगपत्, अपि तु तत्रापि प्रथमतः केवलबादरप्रत्येकप्रायोग्याणाम्, तदनु केवलबादरसाधारणप्रायोग्याणाम्, तदनु केवलसूक्ष्मप्रत्येक-प्रायोग्याणाम्, तदनु सूक्ष्मसाधारणप्रायोग्याणा प्रकृतीनां विच्छेदस्स्यात् । कुतः ? उक्तन्यायादेव, पूर्वपूर्वभेदानामुत्तरोतरभेदापेक्षया प्रशस्तरूपत्वादिति भावः । तदेवं प्रशस्तेतरभावानां मन्देतर-संक्लेशहेतुकत्वव्याप्तेरुच्चैर्गोत्रबन्धविच्छेदादनन्तरं शेषषड्विंशतिप्रकृतिमध्यात् प्रथमतः केवल-

पञ्चेन्द्रियप्रायोग्याणां प्रकृतीनामेव बन्धविच्छेदो जायते; तादृश्यश्च प्रकृतयः पुंवेद स्त्रीवेद सेवार्त-वर्जसंहननपञ्चक-यथोक्तसंस्थानपञ्चक-सुखगति सुभग सुस्वरा ऽऽदेयनामलक्षणाः षोडश, न पुनः शेषाः सेवार्तसंहनननामाद्याः, तासां चतुरिन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतामपि बन्धसम्भवात् ।

ननु एतासां षोडशानां किं युगपद्बन्धविच्छेदो जायते ? इति चेद् , न, गति-जात्या-दिना तुल्यस्थानप्रायोग्याणामौघिकोत्कृष्टस्थितिबन्धतारतम्यक्रमेण बन्धविच्छेदभावात् । तथा च प्रथमतस्तावदोघतो यासामुत्कृष्टा स्थितिः स्तोकाः, तासां पुंवेदादिप्रकृतीनाम् , तदनु यथो-त्तरमधिकाधिकतरस्थितिकानां द्वितीयसंहननादीनां बन्धविच्छेदो लभ्यते । तद्यथा–पुंवेद-प्रथम-संहनन-प्रथमसंस्थान-सुखगति--सुभग-सुस्वरा--ऽऽदेयनाम्नामौघिकोत्कृष्टस्थितिबन्धो द्विभागोन-वर्गोत्कृष्टः, तथाच उच्चगोंत्रादनु ताः पुंवेदाद्याः सप्त प्रकृतयो युगपद्विच्छेदं यान्ति। तदनु द्वितीय-संहननसंस्थाने युगपद् विच्छेदं यातः, ततस्तृतीयसंहननसंस्थाने युगपद् विच्छेदं यातः, तदनु स्त्रीवेदो विच्छेदं याति, तत्पश्चाच्चतुर्थे संहननसंस्थाने विच्छिन्तः, तदनु ते पञ्चमे विच्छिन्तः ।

अधुनाऽवशिष्टा यथोक्तकेवलपर्याप्तप्रायोग्यसप्तविंशतिप्रकृतिमध्यात् कुखगति-पराघातो च्छ्-वासा ऽऽतपो-द्योत-पर्याप्त-स्थिर-शुभ यशःकीर्ति-दुःस्वरनामलक्षणा दश, तासु च कुखगतिदुःस्वरनाम-लक्षणे द्वे न केवलपर्याप्तचतुरिन्द्रियप्रायोग्ये केवलपर्याप्तत्रीन्द्रियप्रायोग्ये वा किन्तु पर्याप्तद्वीन्द्रिय-प्रायोग्ये अपि । एवमपि न ते एकेन्द्रियप्रायोग्ये, तथाचोच्चैर्गोत्रादिपञ्चमसंहननसंस्थानान्तयथोक्तसप्त-दशप्रकृतिबन्धविच्छेदादनु कुखगति-दुःस्वरनाम्नोरोघतस्तुल्यस्थितिकत्वेन युगपद् बन्धविच्छेदो जायते । तदनु शेषपर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्याष्टप्रकृतीनां मध्यात्प्रथमतः केवलपर्याप्तबादरप्रत्येकप्रायोग्याणां यशःकीर्त्या-ऽऽतपो-द्योतनाम्नां ततश्च शेषाणां स्थिर शुभ-पराघातो च्छ्वास-पर्याप्तकनाम्ना बन्धो युगपद्विच्छेदं गच्छति ।

तदेवमुच्चैर्गोत्रादिक्रमेण केवलपर्याप्तप्रायोग्याणां सप्तविंशतेर्बन्धविच्छेदे सिद्धेऽवशिष्टानाम-पर्याप्तप्रायोग्याणां बन्धविच्छेदक्रमोऽन्वेषणीयः । तत्राप्यनन्तरोक्त एव प्रकारः, तथा च प्रथमतः केवलमनुष्यगतिप्रायोग्या विच्छिद्यन्ते, तदनु तिर्यग्गतिप्रायोग्याः, तत्राऽपि पञ्चेन्द्रिय-चतुरिन्द्रि-यजात्यादिक्रमेण तास्ताः प्रकृतयो विच्छेदं यान्ति । तद्यथा–प्रथमतो मनुष्यगति मनुष्यानुपूर्वी-द्वयं युगपद्विच्छिद्यते, न पुनः शेषाः पञ्चेन्द्रियजात्यादयोऽष्टसप्ततिः, तासां पञ्चेन्द्रियजात्या-दीनां मनुष्यगतिप्रायोग्यत्वेऽपि केवलमनुष्यगतिप्रायोग्यत्वाभावात् । मनुष्यद्विकविच्छेदादनु पञ्चे-न्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-त्रीन्द्रियजातिनाम्नां क्रमेण विच्छेदो लभ्येतेति सुगमम् । तदनु एकेन्द्रियाऽप्रा-योग्याणां द्वीन्द्रियजात्यौ-दारिकाङ्गोपाङ्ग-सेवार्तसंहनन-त्रसनाम्नां युगपद्व्यवच्छेदो भवति, एकेन्द्रिय-प्रायोग्यं बध्नतां तद्बन्धाभावाद् द्वीन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतामेतासामवश्य बन्धभावाच्च । तदनु क्रमेण बादरनाम्नस्तदनु प्रत्येकनाम्नश्च बन्धविच्छेदो लभ्यते, न तु व्यत्ययेन, प्रत्येकनाम्नः सूक्ष्मै-

केन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतामपि बन्धसम्भवात्, बादरनाम्नस्तु तेषां तदसम्भवात्। एवं प्रत्येकनामपर्यन्तानां व्यवच्छेदक्रमे साधितेऽवशिष्टाः सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिन्यः, साता-ऽसातवेदनीये, हास्यरतियुगलम्, शोका-ऽरतियुगलम्, नपुंसकवेदः, तिर्यग्द्विकम्, एकेन्द्रियजातिः, औदारिकदेहः, हुंडसंस्थानम्, दुःस्वरवर्जस्थावरनवकम्, नीचैर्गोत्रमित्येवमेकोनसप्ततिः। तत्र च साता-ऽसातवेदनीयहास्यादियुगलद्वयलक्षणाः प्रकृतयः सप्रतिपक्षा इति तासु सातवेदनीयहास्यरतीनां पूर्वमेव व्यवच्छेदो जायते, न शेषाणाम्, शेषाणां ध्रुवबन्ध्यादिवत्प्रस्तुतमार्गणाभाग्युत्कृष्टसंक्लेशवतामवश्यं बन्धभावादित्येवमवशिष्टा मतिज्ञानावरणादयः षट्षष्टिः प्रकृतयो यावदुत्कृष्टसंक्लेशस्तावद् बन्धप्रायोग्यतया स्थिता इति।

अयमेव प्राप्तः बन्धविच्छेदक्रमः संक्षेपत उट्टङ्क्यते—

(१) प्रथमतो मनुष्यायुः, (२) तदनु तिर्यगायुः, (३) तदनूच्चैर्गोत्रम्, (४) तदनु पुंवेदप्रथमसंहनन-प्रथमसंस्थान-सुखगति सुभग सुस्वरा-ऽऽदेयनामानि युगपत्, (५) तदनु द्वितीयसंहनन-संस्थाने युगपत्, (६) तदनु तृतीयसंहननसंस्थाने युगपत्, (७) तदनु स्त्रीवेदः, (८) तदनु चतुर्थसंहनन-संस्थाने युगपत्, (९) तदनु पञ्चमसंहनन-संस्थाने युगपत्, (१०) ततः कुखगति-दुःस्वरनाम्नी युगपत्, (११) तदनु यशःकीर्तिनामा ऽतपोद्योतनाम्नी च युगपत् (१२) तदनु स्थिरशुभनाम्नी पराघातो च्छ्वास-पर्याप्तनामानि च युगपत्, (१३) तदनु मनुष्यगति-मनुष्यानुपूर्वीनाम्नी युगपत्, (१४) तदनु पञ्चेन्द्रियजातिनाम, (१५) तदनु चतुरिन्द्रियजातिनाम, (१६) तदनु त्रीन्द्रियजातिनाम, (१७) ततो द्वीन्द्रियजात्यौ दारिकाङ्गोपाङ्ग-सेवार्तसंहनन-त्रसनामानि युगपत्, (१८) तदनु बादरनाम, (१९) तदनु प्रत्येकनाम, (२०) तदनु सातवेदनीय-हास्य रतिमोहनीयलक्षणास्तिस्रो युगपद्विच्छेदं यान्ति, (२१) शेषाः सप्तचत्वारिंशद् ध्रुवबन्ध्य ऽसातवेदनीय-शोका-ऽरतिनपुंसकवेदमोहनीय-तिर्यग्द्विकै-केन्द्रियजात्यौ-दारिकशरीर-हुंडसस्थान दुःस्वरवर्जस्थावरनवक-नीचैर्गोत्रलक्षणाः षट्षष्टिस्तूत्कृष्टसंक्लेशेऽपि बन्धप्रायोग्या इति न विच्छिद्यन्त इति।

तदेवं सर्वापर्याप्तै-केन्द्रिय-विकलेन्द्रियादिमार्गणासु मिथ्यात्वमोहनीयादिप्रकृतिप्रधानं स्वस्थानोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षम् 'ओघव्व हवेज्ज सेसाण' इत्यादिनाऽतिदिष्यापि स्त्रीवेदादिप्रधानस्य तस्याऽनतिदेशनात् तदनतिदेशोपपत्तिप्रपञ्चद्वारेण दर्शितो मन्द संक्लेशादुत्कृष्टसंक्लेशाभिमुखचारिषु यथाक्रमं प्रवर्धमानेषु संक्लेशस्थानेषु लभ्यमानस्तत्र तत्र संनिकर्षोपपत्त्युपयोगी प्रकृतिबन्धविच्छेदक्रमसाधनप्रकारः साधितश्च प्रपञ्चितार्थदाढर्य व्याजेनोत्तरत्र सर्वाऽपर्याप्तमार्गणादावुपयोगी तत्र बन्धप्रायोग्यसर्वप्रकृतीनां बन्धविच्छेदक्रमः। तथा च गतमपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगाद्येकषष्टिमार्गणासु मोहनीयोत्तरप्रकृतिप्रधानः प्रस्तुतस्वस्थानोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षः ॥६८० ६८४॥

अथ क्रमप्राप्ताऽऽनतादित्रयोदशमार्गणासु तं विभणिषुस्तत्तुल्यवक्तव्योपेता वैक्रियमिश्रकार्मण-काययोग-शुक्ललेश्या-ऽनाहारकमार्गणाः सममेव संगृह्याह—

पुरिसस्स जेट्ठबंधी गेविज्जंतेसु आणताईसु । विक्कियमीसे कम्मे सुक्काए तह अणाहारे ॥
णियमा धुवबंधीणं इगूणवीसाअ सखभागूण । सोगा-ऽरईण उ सिआ रइ-हस्साण गुरुमगुरुं वा ॥
थीअ गुरु बंधतो णियमा बंधेइ सखभागूण । सोगा-ऽरईण सोलसकसाय-भय-कुच्छ-मिच्छाणं ॥
एगस्स जेट्ठबंधी रइ-हस्साउ इयरस्स णियमाओ । जेट्ठमजेट्ठ व ठिइं बंधेइ सिआ उ पुरिसस्स ॥
णियमा धुवबंधीण इगूणवीसाअ सखभागूणं । इत्थी-णपुमाण सिआ ओघव्व हवेज्ज सेसाण ॥
॥गाथा ६८५-६८९॥

(प्रे०) "पुरिसस्से" त्यादि, गाथापञ्चकाक्षरार्थः सुगमः । संनिकर्षोऽपि सर्वथौघवदेव, केवलं यत्रौघतो पुंवेदाद्युत्कृष्टस्थितिं बध्नतो ध्रुवबन्ध्यादीनां द्विभागाद्यूनोत्कृष्टस्थितिबन्धो भणितस्तत्राऽसाविह सख्येयभागोनोत्कृष्टः कथितः, स चेहोत्कृष्टतोऽप्यन्तःकोटीकोटीसागरोपमस्थितिबन्धस्यैव भावेनाधिकोत्कृष्टस्थितिबन्धाभावादनन्तरोक्ताऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिमार्गणावद् विज्ञेयः । नियत स्याद्बन्धादिकं च शेषं सर्वमोघवदेव बोद्धव्यम् , ओघिकक्रमेणेह प्रथमतः पुंवेद-हास्यरतीनां युगपद् , ततश्च स्त्रीवेदस्य बन्धविच्छेदभावात् तदुत्तरं चरमस्थाने शेषप्रकृतीनां वर्तनाच्चेति । न च भवतु नामैवमानतकल्पादिमार्गणासु, तत्र मनुष्यगतिप्रायोग्यप्रकृतीनामेव बन्धप्रायोग्यत्वात् , वैक्रियमिश्र-कार्मणा-ऽनाहारकमार्गणासु तु तन्न सम्भवति, तत्र पर्याप्तबादरैकेन्द्रियादिप्रायोग्यप्रकृतीनामपि बन्धप्रायोग्यतयाऽनन्तरोक्ताऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिमार्गणावत् स्त्रीवेदादूर्ध्वं हास्य-रत्योर्बन्धविच्छेदसम्भवेनाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिमार्गणावत्प्रस्तुतसंनिकर्षस्य युज्यमानत्वादिति वाच्यम् , वैक्रियमिश्रादिमार्गणाचतुष्टये नारकाणां तथा सनत्कुमारादि-सहस्रारान्तदेवानां स्त्रीवेदाद्युत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वेन तेषामेकेन्द्रियप्रायोग्यप्रकृतीनामबन्धेन चौघवदेव नियतस्याद्बन्धादेः सुवचत्वादिति ॥६८५-६८९॥

अथ क्रमप्राप्तानुत्तरदेवभेदेषु प्रस्तुतस्वस्थानोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षे द्विभणिषुस्तत्तुल्यवक्तव्योपेताऽऽहारक-तन्मिश्रकाययोग-क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणास्वपि युगपदाह—

गुरुबंधी पणऽणुत्तर-आहारदुग-खइएसु एगस्स । हस्स-रईओ णियमा इयरस्स गुरुं अहव अगुरु ॥
पडिवक्खा णियरेसिं णियमा सखसहीणमियराओ । एगस्स जेट्ठबंधी णियमाऽण्णाण गुरुमगुरुं वा ॥
॥ गाथा ६९०-६९१॥

(प्रे०) "गुरुबंधी" इत्यादि, अक्षरार्थः सुगमः, केवलं "पडिवक्खा" इत्यनेन शोका-ऽरतियुगलं बोद्धव्यम् । कथम्? हास्य-रत्योः प्रधानीकृतत्वात् । भावार्थः पुनरयम्—प्रत्येकमार्गणासु मिथ्यात्वाभिमुखत्वाद्यवस्थादितोऽन्यत्र वर्तमानानां स्वस्थानसंक्लिष्टानामेव बन्धप्रायोग्यसर्वमोहनीयप्रकृत्युत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वात् , तत्राऽपि परावृत्त्य बन्धप्रायोग्ययुगलद्वयमध्ये स्वप्रायोग्योत्कृष्टसंक्लेशे शोका-ऽरतियुगलस्य बध्यमानत्वेन हास्य-रत्योस्ततो हीनसंक्लेशेनैव बन्धभावाच्च भवति

शेषाणां स्वप्रायोग्योत्कृष्टसंक्लिष्टस्वामिकोत्कृष्टस्थितिबन्धानां संख्येयभागोनोत्कृष्टस्थितिबन्धः स्वीयस्वीयोत्कृष्टस्थितिबन्धादिति । शेषं तु सुगमं स्त्रीवेद-नपुंसकवेदयोरिहाऽबन्धप्रायोग्यतया पुंवेदस्यैव नपुंसकवेदस्थानीयत्वेनौघवदभ्यूह्यं च स्वप्रायोग्यप्रकृतीनामिति ॥६९० ६९१॥

अथाऽपगतवेदमार्गणायां यत्र मोहनीयप्रकृतिमध्यात् केवलं संज्वलनचतुष्कं बन्धप्रायोग्यम-निवृत्तिकरणगुणस्थाश्च तदुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनस्तत्र प्रस्तुतसंनिकर्षमाह—

सजलणस्स अवेए अण्णयरस्स खलु जेट्ठठिइबधी । तिण्ह सजलणाणं णियमा बंधेइ जेट्ठठिइं ॥ ६९२॥

(प्रे०) "**संजलणस्से**" त्यादि, सुगमम् ; केवलं '**तिण्ह**'मिति बन्धप्रायोग्यसंज्वलन-चतुष्टयमध्यात् प्रधानीकृतशेषाणां त्रयाणां संज्वलनमोहनीयानामित्यर्थः । "**जेट्ठठिइं**" इति तु अनि-वृत्तिकरणादावध्यवसायानामनिवृत्तेः प्रत्येकस्थितिबन्धाद्धायां बध्यमानप्रकृतीनां स्वीयस्वीयैकैक-स्थितिबन्धस्थानप्रायोग्याध्यवसायानामवस्थितत्वात् न भवत्युत्कृष्टस्थितिबन्धवत्समयादिनोनोत्कृष्ट-स्थितिबन्धोऽपीति ॥६९२॥

अथ क्रमप्राप्तमतिज्ञानादिमार्गणादौ प्रस्तुतं प्रतिपिपादयिषुस्तद्वद्यत्राऽन्यत्राऽपि मिथ्यात्वाद्य-भिमुखावस्थागतानां बन्धप्रायोग्यध्रुवबन्ध्याद्युत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वं ताः संयमौघ-सामायिक-संयम-छेदोपस्थापनसंयम-परिहारविशुद्धिकसंयम-देशसंयमा-ऽवधिदर्शन--सम्यक्त्वौघ-क्षायोपशमि-कसम्यक्त्वौ-पशमिकसम्यक्त्व सम्यग्मिथ्यात्वमार्गणा अपि सममेव संगृह्याह—

चउणाण-सजमेसु समइअ-छेअ-परिहार-देसेसु । ओहिम्मि य सम्मत्ते वेअगु-वसमेसु तह मीसे ॥
एगस्स जेट्ठबधी हस्स-रईउ इयरस्स णियमाओ । जेट्ठमजेट्ठ व ठिइ बधइ सोग-अरई णेव ॥
णियमा सेसाण ठिइ सखगुणूण कुणेइ सेसाओ । एगस्स जेट्ठबधी णियमाऽण्णाण गुरुमगुरु वा ॥
॥ गाथा ६९३-६९५ ॥

(प्रे०) "**चउणाणे**"त्यादि, तत्राद्यया ऽऽर्यया मतिज्ञानादयश्चतुर्दर्शमार्गणाः संगृहीताः, शेष-योस्तु तत्र प्रस्तुतसंनिकर्षः प्रतिपादितः । अक्षरार्थस्तु सुगमः, भावार्थस्तु प्रथमगाथायाः पातनिकया गतार्थः केवलं सासादनमार्गणायां मिथ्यात्वाभिमुखानामनन्तानुबन्ध्याद्युत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वे-ऽपि सासादनमार्गणाया इहाऽग्रहणं तदन्यस्य स्वस्थानस्वामित्वमतस्येहाधिकृतत्वेनाऽनन्तरं तत्र प्रस्तुतसंनिकर्षस्य 'सासाणे थीसोलसे'त्यादिना वक्ष्यमाणत्वात् । द्वितीयगाथाभावार्थस्तु सुगमः, तृतीयगाथाया अपि तथा, केवलं संख्येयगुणोनत्वं प्रधानतया विवक्षिताया हास्यमोहनीयस्य रति-मोहनीयस्य वा प्रकृतेर्मिथ्यात्वाद्यभिमुखावस्थाया अन्यत्रैव बन्धभावेन तासामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्या-ऽपि मिथ्यात्वाद्यभिमुखावस्थाया अन्यत्र तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टजीवानां भावेन तं कुर्वतो मिथ्यात्वाद्य-भिमुखावस्थास्वामिकोत्कृष्टस्थितिबन्धानां तदानीं बध्यमानानां ध्रुवबन्धिपुंवेदप्रकृतीनां संख्येयगु-णोनोत्कृष्टस्थितिबन्धभावाद् । **अयम्भावः**-मिथ्यात्वाद्यभिमुखावस्थायां तदादितो यथोत्तर-

मनन्तगुणक्रमेण संक्लेशः प्रवर्धते, तेन यस्या यस्याः प्रकृतेर्मिथ्यात्वाद्यभिमुखावस्थायाश्चरम-स्थितिबन्धे यावती स्थितिर्बध्यते ततः संख्येयगुणहीना स्थितिस्तस्याः प्रकृतेर्मिथ्यात्वाद्यभि-मुखावस्थायाः प्राग्भाविस्थितिबन्धेषु जायते; प्रस्तुतमतिज्ञानादिमार्गणास्वप्रत्याख्यानावरणकषा-यादीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धो मिथ्यात्वाद्यभिमुखावस्थायां जायते, हास्य-रत्योस्त्वमौ मिथ्यात्वाद्य-भिमुखावस्थायाः प्राक् स्वस्थानसंक्लिष्टत्वावस्थाया जायते, तदानीं जायमानोऽप्रत्याख्यानावरणा-दीनां स्थितिबन्धो मिथ्यात्वाभिमुखाद्यावस्थायाश्चरमस्थितिबन्धे जायमानात् स्थितिबन्धात्सुतरां संख्येयगुणहीनो भवतीति । इत्थमेवाऽन्यत्राऽपि संख्येयगुणहीनत्वं विभावनीयमिति ॥६९३-६९५॥

अथ सासादनमार्गणायां ततश्च शेषमार्गणायां प्रस्तुतमाहाऽऽर्याचतुष्टयेन—

सासाणे थी सोलसकसाय-भय-कुच्छ-सोग-अरईओ । एगस्स जेट्ठबंधी णियमाऽण्णाण गुरुमगुरु वा ॥
पुरिसस्स जेट्ठबंधी सोलकसायाण भय-जुगुच्छाण । णियमा संखऽणूण ठिइ सिआ अरइ-सोगाण ॥
गुरुमगुरु व सिआ रइ हस्साण ताउ एगगुरुबंधो । णियमा अण्णस्स ठिइ गुरुमगुरुं वा पुमस्स सिआ ॥
णियमाओ भय-कुच्छा सोलकसायाण संखभागूण । थीअ सिआ विण्णेयो ओघव्वऽण्णासु सव्वेसिं ॥
॥ गाथा ६९६-६९९ ॥

(प्रे०) "सासाणे" इत्यादि, अक्षरार्थस्तु सुगमः, केवलं 'संखऽणूणं ठिइ' इति 'ठिइं गुरुमगुरुं वा' इति 'संखभागूणं' इत्येतेषां पदानां योजनायां देहलीदीपकन्यायो ऽनुसर्तव्यः, तृतीयगाथास्थेन 'ताउ' इति पदेन प्रत्यासत्त्या रतिहास्याभ्यामित्यर्थो बोध्यश्च । भावार्थोऽपि ओघवदेव योज्यः, केवलं 'थीसोलकसाये' त्यत्र नपुंसकवेदं विहाय स्त्री-वेदस्य ग्रहणं सासादनमार्गणायां नपुंसकवेदस्य बन्धाभावेन स्त्रीवेदस्यैव तत्स्थानीयत्वात् । एवं 'संखऽणूण ठिइ' इत्यादिना पुंवेदादि बध्नतो ध्रुवबन्ध्यादीनामोघवद् द्विभागाद्यूनोत्कृष्टस्थिति-बन्धमनुक्त्वा संख्येयभागोनोत्कृष्टस्थितिबन्धस्य कथनं त्वपर्याप्तादिमार्गणावदिहाधिकोत्कृष्टस्थिति-बन्धाभावात्कस्या अपि प्रकृतेः । तत्रैव मतिज्ञानादिमार्गणावत्संख्येयगुणोनत्वाकथनं तु स्वस्थान-संक्लिष्टानामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वमधिकृत्य भणितत्वात् ; एतद्धि अनन्तरं स्पष्टीकृतमेवेति । चतुर्थगाथाप्रान्तवर्तिनः "ओघव्वऽण्णासु सव्वेसिं" इत्यस्यार्थस्तु 'असमत्तपणिदितिरिय'(६८०) इत्यादिगाथावृत्तौ प्रागेव प्रदर्शितः । मार्गणा अपि 'अण्णासु' इत्यनेन संगृहीताः सप्तषष्टिर्नाम-तस्तत्रैव प्रदर्शिताः । इत्थं हि 'असमत्तपणिंदितिरिये' त्यादिभिर्विंशतिगाथाभिरेकोनसप्तत्युत्तरशत-मार्गणासु प्रत्येकं बन्धप्रायोग्याणां मोहनीयोत्तरप्रकृतीनां स्वस्थानोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षः प्रति-पादितः, अवशिष्टायां सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायां तु मोहनीयस्य सर्वथैव बन्धाभावेन नास्ति तत्र मोहनीयस्वस्थानसंनिकर्षविचारावकाशः । तदेवं समाप्त आदेशतोऽपि मोहनीयप्रकृतिविषयकः प्रस्तुतस्वस्थानोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्ष इति ॥६९६-६९९॥

अथावशिष्टस्य नामकर्मण उत्तरप्रकृतिभेदानधिकृत्य प्रस्तुतः स्वस्थानोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनि-कर्ष आदेशतो भणितव्यः, तत्र सर्वप्रथमायां नरकगत्योघमार्गणायां बिभणिषुस्तद्द्वयासु पर्याप्त-

पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्यप्रायोग्याणां प्रकृतीनामेव बन्ध औधिकोत्कृष्टसंक्लेशभाजां जीवानां प्रवेशश्च ताः प्रथमादिनिरयभेदषट्क-सनत्कुमारादिसहस्रारान्तदेवभेदषट्कलक्षणा द्वादश मार्गणा अपि सममेव संगृह्याह-ऽऽर्यादशकेन—

[1]णिरय-पढमाइछणिरय तइआइगअट्ठमतदेवेसुं । तिरिउरलदुग-पणिंदिय-छिवट्ठ-हुंड-धुवणामाओ ।।
[2]परघा-ऊसासाओ कुखगइ-तसचउग-अथिरछक्काओ । एगस्स जेट्ठबंधी णियमाऽण्णाण गुरुमगुरुं वा ।।
[3]उज्जोअस्स सिआ से एवं एगस्स णरदुगाउ गुरुं । बंधतो णियमा गुरुमगुरुं वा ऽण्णस्स बंधेइ ।।
[4]सखंसूणं पञ्चम-चउत्थसंघयण-आगिईण ठिइं । बंधेइ सिआ हुंडग-छेवट्ठाण चउभागूण ।।
[5]धुव उरलदुग-पणिंदिय-परघा-ऊसास-तसचउक्काण । अथिरछग-कुखगईणं णियमा चउभागहीणठिइं ।।
[6]पंचिंदियुरलदुग-धुव-परघा-ऊसास-तसचउक्काण । वइरगुरुट्ठिइबंधी णियमा बंधइ दुभागूण ।।
[7]तिरियदुग-हुंडगाण कुखगइ-उज्जोअ-अथिरछक्काण । बंधइ दुभागहीणं सिआ तिभागूणगं णरदुगस्स ।।
[8]मज्झिमसंठाणाण सखसूणं सिआ ठिइं दुविह । पढमागिइ-सुखगइ-थिरछक्काणेव सिमट्ठण्ह ।।
[9]ओघव्व मज्झिमागिइ-संघयणाण जिणजेट्ठठिइबंधी । णरउरलदुग-पणिंदिय-धुव-वइर-सुहागिईण तहा ।।
[10]परघा-ऊसासाण सुखगइ-सुहगतिग-तसचउक्काणं । अथिर-असुह-अजसाण णियमा सखेज्जगुणहीणं ।।
(सप्तमा गीतिः) ।। गाथा ७००-७०९।।

(प्रे०) "णिरये"त्यादि, तत्राऽऽद्यगाथार्धेन निरयगत्योघाद्यास्त्रयोदशमार्गणाः संगृहीताः, शेषसार्धगाथानवकेन तु तत्र प्रस्तुतसंनिकर्षो भणितः, स च पूर्वोक्तनियमसप्तकानुसारेणाऽभ्यूह्यः, इहापि सर्वत्रौघोत्कृष्टसंक्लिष्टजीवानां प्रवेशात् । मार्गणान्तरेष्वौधिकसंक्लेशवतां प्रवेशेऽप्येतावतां त्रयोदशभेदाना पृथगुपादानं तु पार्तानिकया गतार्थम् । तथा चेह प्रत्येकं पञ्चाशत्प्रकृतयो नाम्नो बन्धप्रायोग्याः, विहाय चतुर्थादिनिरयभेदत्रये जिननाम । तासु च नामध्रुवबन्धिनवकं तिर्यग्द्विकं पञ्चेन्द्रियजातिः, औदारिकद्विकम् , चरमसंहनन-संस्थाने, कुखगतिः, पराघातो च्छ्वासो, त्रसचतुष्कम् , अस्थिरषट्कम् , उद्योतनामेति त्रिंशद्वर्गोत्कृष्टस्थितिकाः । पञ्चमसंहनन-संस्थाने त्रिंशाशद्वयेनान्यूनवर्गोत्कृष्टस्थितिके। चतुर्थसंहननसंस्थाने चतुर्भिस्त्रिंशतितमभागैर्न्यूनवर्गोत्कृष्टस्थितिके, मनुष्यद्विकं पञ्चभिस्त्रिंशतितमभागैरूनवर्गोत्कृष्टस्थितिकम् , चतुर्भागोनवर्गोत्कृष्टस्थितिकमिति यावत् , तृतीयसंहनन-संस्थाने षड्भिस्त्रिंशभागैर्न्यूनवर्गोत्कृष्टस्थितिके, द्वितीयसंहनन-संस्थाने त्वष्टभिस्त्रिंशभागैरूनवर्गोत्कृष्टस्थितिके, शेषाः जिननामवर्जाः प्रथमसंहननसंस्थान-सुखगति-स्थिरषट्कलक्षणा नव प्रकृतयस्तु दशसागरोपमकोटीकोटीस्थितिका इति दशभिस्त्रिंशभागैर्न्यूनवर्गोत्कृष्टस्थितिकाः, द्विभागोनवर्गोत्कृष्टस्थितिका इति यावत् । जिननाम तु संख्येयबहुभागन्यूनवर्गोत्कृष्टस्थितिकमिति । तत्राधिकाधिकतरस्थितिकप्रकृत्युत्कृष्टस्थितिं बध्नतो न भवति ततो न्यूनन्यूनतरादिस्थितिकानां बन्ध-इत्यादिप्रागुक्तनियमगर्भाणुसारेण ध्रुवबन्ध्यादित्रिंशत्प्रकृत्युत्कृष्टस्थितिं बध्नतः शेषाणां विंशतेर्बन्ध एव न दर्शितः, तत्त्रिंशदन्यतमोत्कृष्टस्थितिं बध्नतः शेषैकोनत्रिंशत्प्रकृतीनां तुल्यस्थितिकतया उत्कृष्टादिद्विविधस्थितिबन्धः, उद्योतस्य यथोक्तपञ्चमनियमविषयत्वात्तद्वर्जानां नियमतो बन्ध

उद्योतस्य तु स्याद्बन्धश्च प्रदर्शितः। 'तिरिउरले' त्यादिना 'उज्जोअस्स सिआ से एवं' मिति 'से' त्ति तस्योद्योतस्योत्कृष्टस्थितिं बध्नत तिर्यग्गत्याद्येकोनत्रिंशत्प्रकृतीनां नियमतो बन्धः, स्थितिं तु तासां पूर्ववदुत्कृष्टामनुत्कृष्टां वा बध्नातीत्यर्थः। एवमेव शेषगाथाऽक्षरार्थभावार्थौ योज्यौ विस्तरेण; केवलम्–"एगस्स णरदुगाउ गुरू" इत्यादिना "चउभागहीणठिइ" मित्यन्तेन साधिक-सार्धगाथाद्वयेन मनुष्यद्विकमधिकृत्य संनिकर्षः, तत्र 'सिआ' इति पदं देहलीदीपकन्यायेनोभयत्र योज्यम्। पंचिदियुरल" इत्यादिना "थिरछक्क" इत्यन्तेन साधिकसार्धगाथाद्वयेन प्रथमसंहनन-मधिकृत्य संनिकर्षः तत्राऽपि यथासम्भवं यथोक्तन्याय उपदेयः। तदनु "एवं सिमट्ठण्ह"-मित्यनेन प्रथमसंस्थान सुखगति–स्थिरषट्कलक्षणप्रकृत्यष्टकमधिकृत्यातिदेशेन प्रथमसंहननवद् संनिकर्षकथनम्। तदनु "ओघव्व मज्झिमागिइसंघयणाण" इत्यनेन मध्यमसंहनन संस्था-नलक्षणाष्टप्रकृतिरधिकृत्यातिदेशनौघवत्संनिकर्षप्रदर्शितः, स च—

संखेज्जभागहीणं संघयणस्स दुइअस्स गुरुबंधी। बंधइ तिरिणरदुग-चउआगिइ-उज्जोअगाण सिया।
पंचिंदिय-धुवु रलदुग-परघा-ऊसास-तसचउक्काणं। अथिरछग कुखगईण णियमा संखेज्जभागूणं॥
जेट्ठमजेट्ठं व सिआ बंधइ दुइआगिईअ एमेव। तिण्ह तइआईण संघयणाण मुणेयव्वो॥
णवरि कमा गुरुमगुरुं वा तइआईण णेय दुइआई। तुरियजुगलबंधी तिरिदुगस्स णियमा णरदुग णो॥'
गाथा ६६२-६६५ " " ... . मज्झिमसट्ठाणाण समठिइसंघयणाणमञ्च ॥६६१॥

इति गाथाचतुष्टयेण प्रागुक्तस्वरूपो ज्ञेयः। तदनु "जिणजेट्ठठिइबंधी" इत्यादि दशम-गाथान्तेन जिननामाधिकृत्य संनिकर्षो भणितः, स च चतुर्थादित्रिनरकमार्गणासु न भणितव्यः, तत्र तस्य मूलतो बन्धाभावात्, यच्च संख्येयगुणोनत्वं स्थितेस्तदोघोक्तनीत्यैव ज्ञेयम्, यत्पुनर्देव-द्विकादिस्थाने मनुष्यद्विकादेर्ग्रहणं तदपि नारकादीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वादिति। इत्थमेवो त्तरत्रापि प्रायेण संक्षेपतो दर्शयिष्यते, सुप्रपञ्चितत्वात्पूर्वम्, विस्तरतस्तु स्वयमेवाऽभ्यूह्यः प्राग्दर्शि-तनीत्येति ॥७००-७०९॥

अथ क्रमप्राप्तसप्तमनरकमार्गणाभेदे प्रस्तुतसंनिकर्षमाह—

एगस्स तमतमाए गुरुबंधी णरदुगाउ यरस्स। गुरुमगुरुं वा णियमा बंधइ संखेज्जगुणहीणं॥
धुव-उरलदुग-पणिंदिय-वइर-सुहागिइसुखगइ-अजसाणं। परघा-ऊसास-सुहगतिग-तसचउगा-ऽथिरदुगाणं॥
णिरयव्व मुणेयव्वो सेसाणं णवरि तिरिणरदुगाण। जत्थऽत्थि सिआ तहिं णरदुग ण णियमा तिरिदुगस्स ॥७१०-७१२॥

(प्रे०) "एगस्से" त्यादि, आद्यगाथार्थः सुगमः केवलं 'संखेज्जगुणहीणं' इत्येतदुत्तर-गाथायां सम्बध्यते तत्र सप्तमभूमिनारकाणां मिश्रादिगुणस्थानगतानामेव मनुष्यकद्विकस्य बन्धः, न पुनर्मिथ्यात्वादिगुणस्थानवर्तिनाम्, ध्रुवबन्ध्यादीनां शेषाणां तु मिथ्यात्वगुणस्थानगतानामपि सः, तथा चोघतो जिननामाद्युत्कृष्टस्थितिं बध्नतः शेषप्रकृतीनां स्थितिबन्धसंनिकर्षवदिहापि संख्येय-गुणहीनता लभ्यते, ध्रुवबन्ध्यादीनां प्रथमगुणस्थानभाव्युत्कृष्टस्थितिबन्धापेक्षया मिश्रादिगुणस्थान-

भाविस्थितिबन्धस्य संख्येयगुणहीनत्वादिति गाथाद्वयार्थः । तृतीयगाथार्थोऽपि सुगमः, केवलमपवादकथनमिहानन्तरोक्तनीत्या मिथ्यात्वसास्वादनगुणस्थानयोस्तिर्यग्द्विकस्याऽवश्यं बन्धभावेन मनुष्यगत्यादीनां नियमतो बन्धाभावेन च शेषप्रकृत्युत्कृष्टस्थितिं बध्नतः मिथ्यादृक्तया मनुष्यद्विकस्य नियमतो बन्धाभावात् तिर्यग्द्विकस्य नियमतो बन्धसद्भावाच्चेति ।।७१०-७१२।।

अथ तिर्यग्गत्योघ-पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक् तिरश्चीलक्षणमार्गणाचतुष्टये प्रस्तुतसनिकर्षमार्याश्चत्रिंशत्केन विभणिषुर्नारकप्रायोग्यप्रकृतीरधिकृत्य प्राह—

अडवीसाओ णारगजोग्गाउ तिरितिपणिंदितिरियेसु । एगस्स जेट्ठबंधी णियमाऽण्णाण गुरुमगुरु वा ।।
।।७१३।।

(प्रे०) "अडवीसाओ" इत्यादि, तत्र 'तिरितिपणिंदितिरियेसु" इत्यनेन तिर्यग्गत्योघ-पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्-तिरश्चीलक्षणमार्गणाचतुष्टयसंग्रहः, "अडवीसाओ" इत्यादिना तत्र प्रस्तुतसंनिकर्षप्रतिपादनम् । शेषयोजना तु प्राग्वद् । तद्यथा- प्रस्तुतमार्गणासु प्रत्येकं नाम्नश्चतुःषष्टिः प्रकृतयो बन्धप्रायोग्याः; तन्मध्याद् या नरकद्विक-पञ्चेन्द्रियजातिवैक्रियद्विक हुडसंस्थान कुखगति-पराघातो च्छ्वास-त्रसचतुष्का-स्थिरषट्क ध्रुवबन्धिनवकलक्षणा अष्टाविंशतिः प्रकृतयस्तासामन्यतमस्या उत्कृष्टस्थितिं बध्नतस्तदानीं बध्यप्रायोग्याणां शेषसप्तविंशतेः प्रकृतीनां नियमतो बन्धः, न पुनः स्याद्बन्धः, स्थितेस्तु तासां सप्तविंशतेरुत्कृष्टाया अनुत्कृष्टाया वोत्कृष्टापेक्षया समयादिना यावत्पल्योपमासंख्येयभागेन न्यूनाया बन्ध इत्यादिलक्षणः सनिकर्षः "अडवीसाओ" इत्यादिगाथया दर्शितः, स च प्राग्दर्शितनियमप्रपञ्चानुसारेणाऽभ्यूह्यः । तद्यथा-प्रस्तुतमार्गणासु एतदष्टाविंशत्यन्यतमस्या उत्कृष्टस्थितिं बध्नतस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियतया नरकप्रायोग्यप्रकृतीनामेव बन्धभावेन न बध्यन्ते तेनप्रस्तुतमार्गणासु बन्धप्रायोग्या अपीतरास्तिर्यग्गत्यादयः प्रकृतयः, एतदष्टाविंशतिमध्याद् ध्रुवबन्धिनिनां ध्रुवबन्धित्वात्तथा शेषाणां तु स्वप्रतिपक्षप्रकृतिविरहितत्वेनाऽपरावृत्य बध्यमानत्वात्तृतीयनियमतृतीयांशानुसारेण नियतबन्धो भवति, एतासां शेषाणां द्विविधस्थितिबन्धोऽप्येवमेव पष्ठनियमादिति । एवमेवोत्तरत्राप्यभ्यूह्यः ।।७१३।।

तदेवमेकयाऽऽर्यया नरकगत्याद्यष्टाविंशतिप्रकृतिप्रधानो भणितः उत्कृष्टस्थितिबन्धसनिकर्षस्तिर्यग्गत्योघादिमार्गणाचतुष्टये । अथ तत्रैव तिर्यग्गति तिर्यगानुपूर्व्यौ-दारिकशरीरनामलक्षणत्रिप्रकृतीनामेकैकां प्रधानीकृत्य तमाहा ऽऽर्यात्रयेण—

एगस्स जेट्ठबंधी तिरिदुग-उरलाउ बंधए णियमा । अण्णेसिं दोण्ह ठिइं उक्कोस उअ अणुक्कोसं ।।
जेट्ठमजेट्ठं व सिआ चउजाइ-छिवट्ठ-उरलुवगाण । पंचमसंघयणा-ऽऽगिइ-थावरचउगा ऽऽयवदुगाणं ।।
धुव-पणअथिराईणं णियमा संखसहीणग तु सिआ । परघा-ऊसास-कुसरखगइ-तसचउग पणिंदि-हुण्डाणं ।।
।।७१४-७१६।।

(प्रे०) "एगस्से" त्यादि, सुगमाः, केवलं तृतीयगाथास्थं 'संखंसहीणग'मिति पदं देहलीदीपकन्यायेनोभयत्र संबध्यत इति ।।७१४-७१६।।

अथ मनुष्यगति मनुष्यानुपूर्वीप्रकृत्योरेकैका प्रधानीकृत्याह गाथात्रयेण प्रस्तुतसंनिकर्षम्—

एगस्स णरदुगा गुरुवधी इयरस्स जेट्ठमियरं वा । णियमा बंधेइ ठिइ संखंसूणमुरलदुगस्स ॥
णियमा कुणइ पणिंदिय-धुव तस-पत्तेअ-बाय राण तहा । पणअथिराईण ठिइ चउभागूण सिआ छण्ह ॥
पज्जत्त-हुंड-कुखगइ-परघा-ऊसास-दुस्सराण सिआ । संखियभागूण ति-दुसघय णागिइ अपज्जाणं ॥
॥गाथा-७१७-७१९॥

(प्रे०) "एगस्स" इत्यादि, कण्ठ्याः, परं "पणअथिराईण" त्ति दुःस्वरवर्जास्थिरपट्क-लक्षणानां पञ्चानामस्थि रादीनां प्रकृतीनाम्, तथा 'णियमा' इति 'चउभागूण' मिति च पूर्वोक्त-न्यायादुभयत्र सम्बध्यते, 'सिआ छण्हं' इत्यस्यानन्तरगाथायां 'पज्जत्तहुंडे'त्यादिना सम्बन्धः, 'ति दुसंघयणागिइ' इत्यत्र यथासंख्यं सम्बन्धस्तथाचाऽर्धनाराच–कीलिका-सेवार्तलक्षणसंहनन-त्रयस्य कुब्ज वामनलक्षणसंस्थानद्वयस्याभिधानम् , न पुनः शेषसंहननसंस्थानानाम् । कुतः ? वज्रर्षभनाराचादीनां प्रथम-द्वितीय-तृतीयसंहननानां समचतुरस्रादीनां प्रथम-द्वितीय तृतीय-संस्थानानां च प्रस्तुतप्रधानीकृतमनुष्यगति-मनुष्यानुपूर्व्यन्यतरोत्कृष्टस्थितिं बध्नतो बन्धाभावात् । बन्धाभावस्तु तासां षण्णां प्रकृतीनां प्रधानीकृतमनुष्यगत्याद्यन्यतरप्रकृत्युत्कृष्टस्थित्यपेक्षया न्यूनो त्कृष्टस्थितिकत्वात् । विशेषतस्तु प्रागुक्तनियमप्रपञ्चानुसारेणाभ्यूह्यम् । न च भवत्वेवं परं हुण्डनाम्न उत्कृष्टस्थितेरतथात्वेन तद्ग्रहणं तु युज्यत एवेति वाच्यम् , तस्य उत्कृष्टस्थितेर्विंशतिसागरोपम-कोटीकोटीतया 'चउभागूणं सिआ छण्हं' इत्यादौ, 'हुंड' इत्यनेन गृहीतत्वान्नात्र ग्रहणम् , इह संख्येयभागोनस्थितिबन्धप्रस्तावत्वेन ततो न्यूनोत्कृष्टस्थितिकानां प्रकृतीनां ग्रहणस्य युक्तत्वा-दित्यलं विस्तरेणेति ॥७१७-७१९॥

अथ प्रस्तुतमार्गणास्वेव देवगत्यादिप्रकृतिप्रधानप्रस्तुतसंनिकर्षस्यौघेन तुल्यप्रायत्वात्सापवाद-मतिदिशति—

णेयो सुरदुग-मज्झिमसंघयणागिइचउक्कणामाणं । ओघव्व णवरि बधइ पचमसघयणगुरुवधी ॥७२०॥
तिरियदु-गोरालियदुग-उज्जोआण खलु जेट्ठमियर वा । छेवट्ठस्स वि बधइ पचमसठाणगुरुवधी ॥७२१॥

(प्रे०) "सुरदुगे"त्यादि, देवगति देवानुपूर्वी -मध्यमसंहननचतुष्टय-मध्यमसंस्थानचतुष्टय-लक्षणदशप्रकृतीनां मध्यादेकैकां प्रकृतिं प्रधानतया विवक्ष्य तत्तत्प्रकृतीनामौघिकसंनिकर्षवत्प्रस्तुतमार्ग णास्वपि संनकर्षो वाच्यो, विहाय "णवरि" इत्यादिनाऽभिहितापवादपदम् । तद्यथा–' एगस्स जेट्ठ-वधी देवदुगाउ' इत्यादि(६४५-६४६) गाथाद्वयाभिहितवद् देवद्विकप्रधानो यः 'सखेज्जभागहीण सघ-यणस्स दुइअस्स' इत्यादि(६६२-६६५)गाथास्वभिहितवन्मध्यमसंहनन-सस्थानप्रधानश्च प्रस्तुतसंनि-कर्षो वाच्यः, केवलं तत्र कीलिकासंहननस्योत्कृष्टां स्थितिं बध्नतस्तिर्यग्द्विकौदारिकद्विको-द्योत-नाम्नां संख्येयभागोनोत्कृष्टस्थितिबन्धो भणितः, कुब्जसंस्थानोत्कृष्टस्थितिं बध्नतोऽपि तासां तिर्यग्द्विकादीनां पञ्चाना सेवार्तसहननस्य चासौ तथा भणितः स इह तथा न वाच्यः किन्तूत्कृष्टा-

नुत्कृष्टलक्षणद्विविकल्पगतो वाच्यः। कथम् ? ओघतः सेवार्तसंहननो-द्योतनाम्नोरुत्कृष्टस्थितिबन्धमानस्य विंशतिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणत्वेऽपि प्रस्तुते तस्याऽष्टादशसागरोपमकोटीकोटीत्वात् तिर्यग्द्विकाद्युत्कृष्टस्थितेरपि तथात्वाच्च। विशेषतस्तु प्रागिव स्वयमेव भावनीयइति ॥७२०-७२१॥

अथैकेन्द्रिय-स्थावरनाम्नी अधिकृत्याह प्रस्तुतमार्याद्वयेन—

एगस्स जेट्ठबंधी एगिंदिय-थावराउ इयरस्स। तिरिदुगु-रलाण णियमा दुविह व सुहुमतिगा-ऽऽयवदुगाणं बघइ सिआ ठिइं खलु परघा-ऊसास-बायरतिगाण। संखसूणं णियमा धुव-हुंड-पणाथिराईणं ॥७२२-७२३॥ (आद्या गीति)

(प्रे०) "एगस्से" त्यादि, स्पष्टं, केवलम् "दुविहं" इत्येतत्प्रागिवोभयत्र सम्बध्यते, पञ्चास्थिरादयोऽपि प्रागिव दुःस्वरवर्जास्थिरषट्कात्मिका एव इति ॥७२२-७२३॥

अथ द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियनामान्यधिकृत्य प्राहाऽऽर्यात्रयेण—

बेइंदियगुरुबघी बंधइ तिरि-उरलदुग-छिवट्ठाणं। णियमा गुरुमगुरु वा उज्जोअ-अपज्जगाण सिआ॥
सखसूणं णियमा बघेइ खलु धुववंधिणीण तहा। हुंड-तस-बायराणं पत्तोअ-पणाथिराईणं॥
बंधेइ सिआ कुखगइ-परघा-ऊसास-पज्ज-कुसराणं। सखेज्जभागहीणं तिंदियचउइंदियाणेवं॥
॥गाथा-७२४-७२६॥

(प्रे०) "बेइंदिये"त्यादि, सरलाः, केवलं पूर्वं द्वीन्द्रियजातिनामप्रधानं प्रस्तुतसंनिकर्षमभिधाय 'तिंदियचउइंदियाणेवं' इत्यनेन त्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियजातिप्रधानोऽसावतिदेशेनैव कथितः, द्वि त्रि- चतुरिन्द्रियजातीना स्थितिबन्धस्वामित्वयोगविशेषेण तत्तत्प्रधानसंनिकर्षाणामप्यविशेषात्। "गुरुमगुरुं" इत्येतत्प्रथमगाथास्थं पदं देहलीदीपकन्यायेन सम्बन्धनीयं चेति ॥७२४-७२६॥

अथौदारिकाङ्गोपाङ्गसेवार्तसंहनननामप्राधान्येन प्रस्तुतसंनिकर्षमाह—

हुंड पणिंदिय कुखगइ-परघा ऊसास पज्ज-कुसराणं। सखंसूणं बघइ सिआ उरलुवगगुरुबघी॥
तिरियदुगु रलाण गुरुमगुरु व णियमाउ सखभागूणं। बघइ धुव तस-बायर पत्तेअ पणाथिराईणं॥
गुरुमगुरुं वा दुविह बघइ खलु विगलतिग छिवट्ठाणं। पचमसघयणागिइ-उज्जोअ-अपज्जगाण सिआ॥
होइ छिवट्ठस्सेव णवर बघइ ण चेव पडिवक्ख। गुरुमगुरुं वा बघइ णियमोरलुवगणामस्स॥
॥गाथा ७२७-७३०॥

(प्रे०) "हुंड" इत्यादि, इहापि प्रथमतस्तावदौदारिकाङ्गोपाङ्गनामप्राधान्येन संनिकर्षमभिधाय "होइ छिवट्ठस्सेवं"इत्यादिना चरमगाथया चरमसंहनननामप्रधानः सनिकर्षोऽतिदेशेनैव भणितस्तत्रैतावान् विशेषः—औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्न उत्कृष्टस्थितेः प्रस्तुतमार्गणास्वष्टादशसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणत्वेन तां वघ्नतः प्रथमादिसंहननचतुष्टयबन्धाऽसम्भवेऽपि सम्भवति कीलिका सेवार्तसंहननयोर्बन्धः, सेवार्तसंहननस्योत्कृष्टस्थितिं बध्नतस्तु प्रतिपक्षप्रकृतितया न भवति कीलिकासंहननस्य बन्धः, किञ्चौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नः ध्रुव एव बन्धो भवति; न पुनरौदारिकाङ्गोपाङ्गोत्कृष्टस्थितिं बध्नतो यथा सेवार्तसंहननस्य स्याद्बन्धः, इत्यतः 'णवरं बंधइ ण

चेव" इत्यादिनाऽपवादद्वयी भणिता । शेषं तु सुगमम् , केवलम्–द्वितीयगाथास्थं "णियमा" इति पदं देहलीदीपकन्यायेनोभयत्र सम्बन्धनीयम् , चतुर्थगाथास्थेन 'पडिवक्ख' मित्यनेन कीलिकासंहननं च बोध्यमिति ॥७२७-७३०॥

अथ वज्रऋषभनाराचसंहनननामाधिकृत्याह प्रस्तुतम्–

वइरगुरुट्ठिइबधी तिभागहीण तु णरदुगस्स सिआ । तिरियदुग-मज्झिमागिइचउ-गुज्जोआण सखभागूण ॥
बधइ सखसूण उरलदुगस्स णियमा दुभागूण । धुवणामपणिंदिय-परघा ऊसास तसचउगाण ॥
हु ड-असुहखगइ-अथिरछक्काण सिआ ठिइ दुभागूण । पढमागिइ-सुखगइ थिरछगाण जेट्ठमियर व सिआ ॥
॥गाथा–७३१-७३३॥(आद्या गीति)

(प्रे०) "वइरगुरुट्ठिइबंधो"इत्यादि, प्रथमगाथास्थं "सिआ" इति पदं द्वितीयगाथास्थं "णियमा" इति पदं च यथोक्तन्यायेनोभयत्र सम्बन्धनीयम् , शेषं सुगममिति ॥७३१-७३३॥

अथ प्रथमसंस्थानमधिकृत्य प्रस्तुतमभिधित्सुस्तं साक्षात् तथा तत्साम्यात् प्रशस्तविहायोगतिनाम्नः सुभगसुस्वरा-ऽऽदेयनाम्नामतिदेशेन प्राह—

पढमागिइगुरुबधी तिभागहीणं तु णरदुगस्स सिआ । तिरियउरलदुग-पणसंघयणु-ज्जोआण संखभागूणं ॥
विउवदुग कुखगइ अथिरछक्काण सिआ ठिइ दुभागूण । णियमा पणिंदि धुव-परघा-ऊसास-तसचउगाण ॥
सुरदुग वइर पसत्थखगइ थिरछक्काण जेट्ठमियर वा । बधेइ सिआ एव भवे सुखगइ सुहगतिगाणं ॥
॥गाथा–७३४-७३६॥ (आद्या गीतिः)

(प्रे०) "पढमागिइ" इत्यादि, तत्रादौ 'पढम' इत्यादिना समचतुरस्रसंस्थानप्रधानं संनिकर्षमभिधाय "एव भवे सुखगइ सुहगतिगाण' इत्यनेन प्रशस्तखगति-सुभग सुस्वरा-ऽऽदेयनाम्नामेकैकप्रधानोऽसावतिदेशेन भणितः, तत्र यो विशेषस्तस्य सुज्ञेयत्वान्नोक्तः पृथक् , स च स्वयमेवाऽवगन्तव्यस्तद्यथा–मध्यमसंस्थानचतुष्टयस्य मध्यमसंहननचतुष्टयवत्स्यात्संख्येयभागोनोत्कृष्टस्थितेर्बन्धको भवत्यसौ सुखगत्याद्यन्यतमोत्कृष्टस्थितिं बध्नन् जीवः, चरमसंस्थानस्य त्वसौ स्याद् द्विभागोनोत्कृष्टस्थितेर्बन्धकः, न पुनश्चरमसंहननवत् संख्येयभागोनोत्कृष्टस्थितेः, प्रथमसंस्थानस्य स्यादुत्कृष्टानुत्कृष्टान्यतमस्थितेर्बन्धकश्च भवति । कथमिति चेद् ? द्वितीयादि-पञ्चसंस्थानानां प्रथमसंस्थानप्रतिपक्षतया प्रथमसंस्थानोत्कृष्टस्थितिं बध्नतस्तद्बन्धाभावेऽपि तेषां सुखगत्याद्यविरोधितया सुखगत्यादेः प्रधानत्वे न तद्बन्धाभाव एव, किन्त्वनेकतया स्याद्बन्धः । ननु एवमपि प्रथमसंस्थानोत्कृष्टस्थितिं बध्नत यथा चरमसंहननप्रकृतेस्स्यात्संख्येयभागोनोत्कृष्ट-स्थितिबन्धस्तथा चरमसंस्थानस्याऽपि भवतु,कथं पुनर्द्विभागोनोत्कृष्टो भण्यते ? इति चेद् ,उच्यते, प्रस्तुतमार्गणासु नरकप्रायोग्य बध्नत उत्कृष्टसंक्लेशवतश्चरमसंहननस्य बन्धाभावेऽपि चरमसंस्थानस्य तु बन्धो भवत्येव, तथाच प्रस्तुतमार्गणासु चरमसंहननस्योत्कृष्टस्थितेरष्टादशसागरोपमकोटीकोटी-प्रमाणत्वेऽपि चरमसंस्थानस्योत्कृष्टस्थितिबन्धमान विंशतिः सागरोपमकोटीकोटय एव, तथात्वे च सुखगत्यादेरुत्कृष्टस्थितिं बध्नतः शेषबध्यमाननामप्रकृतिवत् चरमसंहननसंस्थानयोरुत्कृष्टस्थितिबन्धो

दशसागरोपमकोटीकोटीमानः प्रागिव तत्समासन्नवर्ती वा जायते, स च चरमसंहननस्य स्वोत्कृष्ट-स्थित्यपेक्षया संख्येयभागहीनोऽपि चरमसंस्थानस्य तु स्वोत्कृष्टस्थित्यपेक्षया द्विगुणहीनः=अर्ध एव भवति, इत्यतस्तथा भणित इत्यलं विस्तरेण । एवमेवोत्तरत्राऽपि यः कश्चिदनुक्तो विशेषस्सोऽमुना प्रकारेण पूर्वोक्तनियमप्रपञ्चमनुसृत्य स्वयमेवाभ्यूह्यः सुधियेति ।।७३४ ७३६।।

अथाऽऽतपनाम समाश्रित्य प्राह–

एगिंदियव्व आयवणामस्स णवरि ण चेव सुहुमतिग। बधइ णियमा परघा ऊसासग-बायरतिगाणं।।७३७।।

(प्रे०) "एगिंदियव्व" इत्यादि, 'एगस्स जेट्ठबधी एगिदिय-थावराउ इयरस्स । तिरिदुगु-रलाण णियमा दुविहं व सुहुमतिगा-ऽऽयवदुगाण ।।७२२।। बंधइ सिआ ठिइ खलु परघा-ऊसास बायर-तिगाण। सखसूण णियमा धुव-हुडपणाथिराईण ।।७२३।।' इति गाथाद्वयेनोक्तैकेन्द्रियजातिनाम-प्रधानसंनिकर्षवत् स्थावरनामप्रधानसंनिकर्षवद्वाऽऽतपनामप्रधानसंनिकर्षो भणितव्यः । किं सर्वथा ? न, इत्यतोऽपवादपदे आह– "णवरि" इत्यादि, 'नवर' केवलं 'ण चेवे' त्यादि, अयम्भावः–'दुविहं व सुहुमतिगा-ऽऽयवदुगण' इत्यनेन तत्राऽऽतपनामवत् सूक्ष्मत्रिकस्याऽपि स्याद्द्विविधस्थितेर्बन्धो भणितः स इह प्रतिषेध्यः । कथम् ? आतपनाम्नः पर्याप्तप्रत्येकबादरैकेन्द्रियप्रायोग्यत्वेन तद्बध्नतः सूक्ष्मत्रिकस्य बन्धाभावात् । किमेतावानेव विशेषः ? इत्याह–'बंधइ' इत्यादि, सुगमम् । कथं नियमः ? इति चेद्, अनन्तरोक्तहेतोरेव । सूक्ष्मत्रिकस्य बन्धाभावेन प्रतिपक्षप्रकृतिरहितत्वेन तिसृणां बादरनामादीनां तत्सहभाविबन्धत्वात् पराघातो-च्छ्वास नाम्नोःध्रुवो बन्ध इति भावः । आतपनाम्नः प्रधानीकृतत्वेनाऽप्रतिषिद्धोऽपि उद्योतनामबन्धस्तु सुगमत्वादर्थत एव प्रतिषिद्धो बोद्धव्यः, एकदा तयोरेकस्यैव बन्धस्य प्रवृत्तेः प्रागनेकशः प्रतिपादितत्वादिति भावः । इत्थमेवानन्तरमुद्योतनाम-प्रधानसंनिकर्षे आतपनामबन्धप्रतिषेधोऽनुक्तोऽपि भावनीय इति ।।७३७।।

अथोद्योतनामाधिकृत्य प्राह प्रस्तुतसंनिकर्षोऽनन्तरोक्तनीत्याऽतिदेशादिना–

उज्जोअस्स भवे तिरिगइव्व णवर ण चेव सुहुमतिग। बधइ णियमा परघा ऊसासग-बायरतिगाणं ।।
।। गाथा ७३८ ।।

(प्रे०) "उज्जोअस्से"त्यादि, अयमप्यखिलसंनिकर्षोऽनन्तरोक्तगाथार्थवद्विभावनीयः, केवलमातपनाम्नो विकलेन्द्रियादिव्यवच्छेदेनैकेन्द्रियप्रायोग्यत्वाद् उद्योतनाम्नस्त्वेकेन्द्रियविकले-न्द्रियादिसर्वविधतिर्यक्प्रयोग्यत्वादिह 'तिरिगइव्व' इति भणितः तथा चासौ "जेट्ठबधीएगस्स तिरिदुगउरलाउ बधए णियमा। अण्णेसि दोण्ह ठिइ उक्कोस उअ अणुक्कास ।। ।।" इत्यादिगाथात्रया-नुसारेण द्रष्टव्यः ।

ननूद्योतनाम न सर्वविधतिर्यक्प्रायोग्यमपि त्वपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियाद्यप्रायोग्यमेव ? इति चेत्, सत्यम्, अत एव "णवर"मित्यादिनाऽपवादपदे अभिहिते इति ।।७३८।।

अथ स्थिरनामाधिकृत्याहार्याचतुष्टयम्—

बधंतो जेट्ठठिइं थिरस्स णियमा दुभागहीणठिइं । धुवणामाण णवरि हु परघा ऊसास-पज्जाणं ॥
तिरि-उरला ऽऽयव-थावरदुग-साहार-पणसघयणगाणं : चउजाइआगिईणं सिआ कुणइ सखभागूणं ॥
सुरदुग-वइराण तहा सुहागिइ सुखगइ पणसुहाईणं । जेट्ठमजेट्ठं च सिआ तिभागहीणं णरदुगस्स ॥
विउवदुग-पणिंदिय-तस-हुंडग-कुखगइ पणासुहाईणं । बायरपत्तेआणं बंधेइ सिआ दुभागूणं ॥
॥ गाथा ७३९-७४२॥

(प्रे०) "बंधंतो" इत्यादि, सुगमाः, केवलम् 'तिरिउरलाऽऽयवथावरदुग' इत्यत्र दुगशब्दः 'तिरि' इत्यादिना प्रत्येकमन्वेति, एवमेव 'चउजाइआगिईण' इत्यत्र चतुःशब्दो जात्यादिना प्रत्येकं सम्बध्यत इति ॥७३९-७४२॥

अथानन्तरोक्तेन तुल्यवक्तव्यत्वादितः शुभनाम-यशःकीर्तिनामप्रधानौ संनिकर्षावाह—

एव सुहस्स णेयो एमेव जसस्स णवरि बंधेइ । णेव सुहुम साहारा तप्पडिवक्खाण णियमाओ ॥७४३॥

(प्रे०) "एव" मित्यादि, सुगमा, केवलमपवादकथनं यशःकीर्तिनामबन्धेन समं सूक्ष्म-साधारणनाम्नोः प्रकृतिबन्धस्य विरोधादिति अत एव तत्प्रतिपक्षबादरप्रत्येकयोर्नियमेनेति ॥७४३॥

अथ सूक्ष्मनामसाधारणनाम्नी अधिकृत्य प्राह प्रस्तुतम्—

पत्तेअ पज्ज-परघा ऊसासाण व सुहुमगुरुबंधी । सखंसूणं णियमा धुव-हुंड-पणाथिराईणं ॥
णियमा तिरिदुगि-गिंदिय-थावरु-रालाण जेट्ठमियर वा । साहार-अपज्जाणं सिआऽत्थि साहारणस्सेव ॥
॥७४४-७४५॥

(प्रे०) "पत्तेअ" इत्यादि, "साहारणस्सेवं" इत्यनेन द्वितीयगाथाचरमांशेन साधारणनामप्रधानोऽतिदेशेन, शेषपदैस्तु सूक्ष्मनामप्रधानः प्रस्तुतसंनिकर्षप्रतिपादनम् 'सखंसूणं' तथा 'जेट्ठमियरं' इत्येतत्पदद्वयस्योभयत्रसंबंधविषये पूर्वोक्तन्यायोऽनुसर्तव्यः । भावार्थस्तु प्रागिवाभ्यूह्यो यथोक्तनियमप्रपञ्चानुसारेणेति ॥७४४ ७४५॥

अथात्रशिष्टा ऽपर्याप्तनामप्रधानं प्रस्तुतनामप्रकृत्युत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षमार्याद्वयेनाभिदधन् तिर्यग्गत्योघादिमार्गणाचतुष्टयविषयां नामप्रकृतिस्वस्थानसंनिकर्षवक्तव्यतां समापयति—

तिरिदुग-रलाण णियमा गुरुमगुरु वा अपज्जगुरुबंधी । चउजाइ-उवग सुहुम थावरसाहारणाण सिआ ॥
पंचिंदिय-तस-बायर-पत्तेआणं सिआ कुणेइ ठिइं । सखसूण णियमा धुवं हुंड-पणथिराईणं ॥
॥गाथा ७४६-७४७ ॥

(प्रे०) 'तिरिदुगे'त्यादि, इमे अपि गतार्थे एव, केवलमिहाऽपि 'गुरुमगुरुं वा' इति तथा "संखंसूणं" त्येतत्पदद्वयसम्बन्धविषये यथोक्तघण्टालालादिन्यायोऽनुसर्तव्य इति । इत्थमेवोत्तरत्राऽपि यथासम्भवमेतन्न्याय उपादेय इति ॥७४६-७४७॥

तदेवं भणितो गाथापञ्चस्त्रिंशत्केन तिर्यग्गत्योघ-पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्तिरश्चीलक्षणमार्गणाभेदचतुष्टये बन्धप्रायोग्यसर्वनामप्रकृतीनां प्रस्तुतः स्वस्थानोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षः । अथैतर्हि क्रमप्राप्त-अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणायां तमभिधित्सुरपर्याप्तमनुष्य सर्वविक-

लेन्द्रियभेदाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियाऽपर्याप्तत्रसलक्षणमार्गणास्वपि तत्तुल्यवक्तव्यत्वाद् युगपदेवाह पञ्चविंशतिगाथासमूहेन—

एगस्स जेट्ठबंधी असमत्तपणिंदितिरियमणुएसु । सव्वविगलिंदियेसुं असमत्तपणिंदियतसेसु ॥७४८॥
तिरियदुगे गिदि-उरल धुव हुंडाउ णवथावराईओ। णियमाऽण्णदुवीसाए जेट्ठमजेट्ठ व बधेइ ॥७४९॥

(प्रे०) "एगस्स" इत्यादि, इह गाथाद्वये प्रस्तुतमार्गणासु प्रस्तुतसंनिकर्षोपयोगी मन्दसंक्लेशाद्यथोत्तरसंक्लेशवृद्धिस्थानक्रमेणोत्कृष्टसंक्लेशाभिमुखचरणे लभ्यमानः पूर्वं मोहनीयोत्तरप्रकृतिस्वस्थानोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षप्रस्तावे 'असमत्तपणिदितिरिये' त्यादि(६८०-६८४)गाथावृत्तौ प्रसंगात् दर्शितः प्रकृतिविच्छेदक्रमः स्मार्यते, तद्यथा–

प्रथमतो (१) मनुष्यायुः, तदनु (२) तिर्यगायुः, तदनु (३) उच्चैर्गोत्रम् तदनु (४) पुंवेद-प्रथमसंहनन-प्रथमसंस्थान-सुखगति सुभग-सुस्वरा ऽऽदेयनामानि युगपत्, तदनु(५) द्वितीयसंहनन-संस्थाने युगपत्, तदनु (६) तृतीयसहनन-संस्थाने युगपत्, तत्पश्चात् (७) स्त्रीवेदः, तत्पश्चात् (८) चतुर्थसंहनन-संस्थाने युगपत्, ततः (९) पञ्चमसंहनन-संस्थाने, युगपत् (१०) तत. कुर् गतिदुःस्वरनाम्नी युगपत्, तदनु (११) यशःकीर्तिनामा-ऽऽतपो-द्योतनाम्नी च युगपत्, तदनु स्थिर-शुभनाम्नी पराघातो च्छ्वास-पर्याप्तनामानि च युगपत्, ततो (१३) मनुष्यगतिमनुष्यानुपूर्वीनाम्नी युगपत्, तत्पश्चात् (१४) पञ्चेन्द्रियजातिनाम, तदनु (१५) चतुरिन्द्रियजातिनाम, तदनु (१६) त्रीन्द्रियजातिनाम, ततो (१७) द्वीन्द्रियजात्यौदारिकाङ्गोपाङ्ग-सेवार्तसंहनन त्रसनामानि युगपत्,तत्पश्चात् (१८) बादरनाम, तदनु(१९)प्रत्येकनाम, तदनु (२०) सातवेदनीय-हास्यरतिमोहनीयलक्षणास्तिस्रो युगपद्विच्छेद यान्ति (२१) शेषाः सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्ध्य-ऽसातवेदनीय शोका-ऽरति-नपुंसकवेदमोहनीय तिर्यग्द्विके -केन्द्रियजात्यौ-दारिकदेह-हुण्डसंस्थान-दुःस्वरवर्जस्थावरनवक-नीचैर्गोत्रलक्षणाः षट्षष्टिरत्युत्कृष्टसंक्लेशेऽपि बन्धप्रायोग्या इत्यविच्छेदन तिष्ठन्तीति ।

न चासौ कथं सिद्धः ? इति वाच्यम्, तत्रैव तस्य साधितत्वात् । एतदपि तत्र भावितमेव यत्– एतत्क्रमगतासु पूर्वपूर्वे विच्छिद्यमानप्रकृतेरुत्कृष्टस्थितिबन्धसत्त्वे उत्तरोत्तरविच्छिद्यमानप्रकृतीनां बन्धः सम्भवति, उत्तरोत्तरविच्छिद्यमानप्रकृतेरुत्कृष्टस्थितिबन्धसत्त्वे तु पूर्वपूर्वविच्छिद्यमानप्रकृतीनां बन्ध एव न भवतीति, एवं युगपद्विच्छिद्यमानानामेकस्या उत्कृष्टस्थिति बन्धतस्तदन्यासामुत्कृष्टादिद्विविधस्थितिबन्धो जायते, तत उत्तरविच्छिद्यमानानां तु स्वोत्कृष्टस्थितिबन्धात् संख्येयभागहीनः, एकेन्द्रियमार्गणास्थानेष्वसंख्येयभागहीनो वा जायते इत्यतस्तत्रत्या वृत्तिरवश्यं स्मर्तव्येह प्रक्रमे, ततश्च दर्शितप्रकृतिविच्छेदक्रमानुसारेण साधनीयः प्रस्तुतः संनिकर्षस्तद्यथा–

एतासु "असमत्ते" त्यादिना प्रथमगाथान्तेन भणितासु त्रयोदशसंख्याकासु प्रस्तुतमार्गणासु प्रत्येक नाम्नोऽनन्तरक्रमोक्ता अष्टपञ्चाशत्प्रकृतयो बन्धप्रायोग्याः, तासु याः सर्वसंक्लेशे

बध्यन्ते, अर्थात् यासां बन्धविच्छेदक्रमप्रान्तस्थाने बन्धविच्छेदः प्रतिपिद्धस्ता नाम्नो ध्रुवबन्धिनवकाद्याः "तिरियदुगे"त्यादिनाऽभिहितास्त्रयोविंशतिः प्रकृतयः, इत्यतस्ततः पूर्वं विच्छिद्यमानाः शेषाः प्रकृतय एतदन्यतमप्रकृत्युत्कृष्टस्थितिं बध्नता नैव बध्यन्ते । कुतः ? यथोक्तक्रमे पूर्वविच्छिद्यमानत्वादेव । एताः प्रान्ते उत्कृष्टसंक्लेशे सत्यपि युगपद्बध्यन्त इति तासु एकस्या अन्यतमस्या उत्कृष्टस्थितिं बध्नतः शेषद्वाविंशतिप्रकृतीनामुत्कृष्टोऽनुत्कृष्टो वोत्कृष्टापेक्षया पल्योपमासंख्येयभागेन न्यूनः स्थितिबन्धो जायते ज्ञानावरणपञ्चकादियुगपद्बन्धप्रायोग्यान्यतमोत्कृष्टस्थितिं बध्नतः शेषज्ञानावरणप्रकृत्युत्कृष्टानुत्कृष्टद्विविधस्थितिबन्धवत् , स च तथैव भावनीयः, युगपद्बन्धप्रायोग्यास्वेतादृशनियमात् , नियमस्य च तस्य पूर्वं साधितत्वात् । नियमबन्धस्तु कासाञ्चिद्ध्रुवबन्धित्वात् कासाञ्चित्प्रतिपक्षप्रकृतिविरहितत्वेन ध्रुवबन्धिकल्पत्वाच्चावसेयः प्रागिव । एवमेवोत्तरत्रापि अनन्तरोक्तक्रमगतासु युगपद्विच्छिद्यमानासु उत्कृष्टादिद्विविधस्थितिबन्धलक्षणः संनिकर्षविशेषः नियमस्याद्बन्धादिविशेषश्च संसाधनीय इति ।।७४८-४९।। तदेवमुक्तोऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादित्रयोदशमार्गणासु नामध्रुवबन्धिनवक तिर्यग्द्विकै-केन्द्रियजात्यौ-दारिकदेह-हुंडसंस्थान-दुःस्वरवर्जस्थावरनवकलक्षणत्रयो विंशतिप्रकृतिप्रधानः प्रस्तुतसंनिकर्षः, साम्प्रतं मनुष्यगति-मनुष्यानुपूर्वीप्रधानं तमाह गाथाद्वयेन-

एगस्सुक्कोसठिइ बधंतो णरदुगाउ इयरस्स । गुरुमगुरु वा णियमा बंधइ संखेज्जभागूणं ।।
पंचिंदियु-रल-ग-णवधुवबंधि-छिवट्ठ-हुंडग-तसाणं । बायर-पत्तेआणं अपज्ज-पंचअयिराईणं ।।
।। गाथा ७५०-७५१ ।।

(प्रे०) "एगस्सुक्कोसठिइ" मित्यादि, अक्षरार्थः सुगमः, भावार्थोऽप्यनन्तरोक्तनीत्या यथोक्तप्रकृतिबन्धविच्छेदक्रमाद्यवलम्ब्याऽभ्यूह्यः, तद्यथा-यथोक्तक्रमे त्रयोदशे स्थाने मनुष्यगति-मनुष्यानुपूर्वीनाम्नोर्युगपद्बन्धविच्छेदो भणितः, तथाच तयोरेकस्या उत्कृष्टस्थितिं बध्नतस्तदन्यस्या नियमत उत्कृष्टादिद्विविधस्थितिबन्धो जायतेऽनन्तरोक्तध्रुवबन्ध्यादिप्रकृतिप्रधानसनिकर्षवत् । यथोक्तक्रमगतद्वादशस्थानान्तर्बन्धप्रायोग्या अपि सेवार्तवर्जसंहननपञ्चक-हुंडवर्जसंस्थानपञ्चक-खगतिद्विक-पराघातो-च्छ्वास-पर्याप्तक-स्थिरषट्क-दुःस्वरनामलक्षणा द्वाविंशतिः प्रकृतयो नैव बध्यन्ते तेन मनुष्यगत्यादेरुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकेन । कथम् ? अपर्याप्तमनुष्यप्रायोग्यं बध्नतः प्रधानीकृतप्रकृत्युत्कृष्टस्थितेर्बन्धकत्वात् , एतद्द्वाविंशतिप्रकृतीनां तु अपर्याप्ताऽप्रायोग्यत्वाच्च । शेषपञ्चेन्द्रियजात्यादिद्वात्रिंशद्बन्धप्रायोग्यप्रकृतिमध्यादपि तिर्यग्द्विक--जातिचतुष्क-स्थावर सूक्ष्म-साधारणनामलक्षणा नव प्रकृतयोऽपि पूर्वोक्तन्यायेन प्रस्तुतमनुष्यगत्यादिप्रकृतिविरोधित्वान्नैव बध्यन्ते, तथा चाऽवशिष्टाः "पंचिंदिये" त्यादिना भणितास्त्रयोविंशतिः पञ्चेन्द्रियजात्यदयः, तासां च प्रस्तुतमनुष्यगत्यादेर्बन्धप्रायोग्योत्कृष्टसंक्लेशसद्भावेऽपि बन्धसम्भवेन मनुष्यगतेर्मनुष्यानुपूर्व्या वा उत्कृष्टस्थितिं बध्नता संख्येयभागोनोत्कृष्टस्थितिबन्धो विरच्यते, तत्र संख्येयभागोनत्वं पूर्वसाधनिकया गतार्थमेव । नियमबन्धस्तु आसां सुगमः, एतास्वाऽऽतपोद्योतनाम्नोरप्र-

विष्टत्वात् प्रविष्टानां पञ्चेन्द्रियजातिनामादीनां तु परस्परमप्रतिपक्षभूतत्वादित्यादिपूर्वोक्तनियम-प्रपञ्चात्साधनीय इति ॥७५० ७५१॥

अथ प्रस्तुतमार्गणास्वेव द्वीन्द्रियजात्यौ दारिकाङ्गोपाङ्ग-त्रस सेवार्तसंहनननाम्नामेकैकं प्रधानीकृत्याह प्रस्तुतं स्वस्थानत उत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षमार्याद्वयेन—

एगस्स जेट्ठबंधी बिंदियु-रलुवंग-तस-छिवट्ठाओ । णियमाऽण्णेसिं तिण्हं जेट्ठमजेट्ठं व बंधेइ ॥
तिरिदुगु-रल-धुव-हुंडग-अपज्ज-पत्तेअ-बायराण तहा । पणअथिराईण ठिइं णियमा संखेज्जभागूणं ॥
॥ गाथा ७५२-७५३ ॥

(प्रे०) "एगस्स" इत्यादि, अक्षरार्थः सुगमः, भावार्थोऽपि तथा, यतो न भवत्येतासु द्वीन्द्रियजात्यादिषु गाथाद्वयोक्तपञ्चविंशतिप्रकृतिषु आतपोद्योतलक्षणा परस्परं प्रतिपक्षभूता वा प्रकृतयस्तथा च सिद्धः सर्वासां नियमबन्धः । द्वीन्द्रियजात्यादीनां द्विविधस्थितिबन्धोऽपि प्राग्वत्तासां यथोक्तक्रमगते सप्तदशे स्थाने युगपद्विच्छेदभावात् । संख्येयभागोनोत्कृष्टस्थितिबन्धस्तु तिर्यग्गत्यादीनां तासां यथोक्तक्रमे सप्तदशस्थानादुत्तरवर्त्तिस्थानगतत्वादेव । एवमेव मनुष्यगत्यादीनामबन्धोऽपि तादृशक्रमे कासांचित्प्रथमसंहननादीनां सप्तदशस्थानात्पूर्ववर्तित्वात् कासाञ्चिदेकेन्द्रियजात्यादीनां सप्तदशस्थानादुत्तरवर्तिस्थानगत्वेऽपि तासां बन्धतः प्रधानीकृतद्वीन्द्रियजात्यादिप्रकृतिप्रतिपक्षभूतत्वादेरिति । इत्थमेव साधनीय उत्तरत्रापि स्वयमेवाऽविशेषेणेति ॥७५२-७५३॥

अथ त्रीन्द्रियजातिनामप्रधानं प्रस्तुतसंनिकर्षं प्राह—

तेइंदियगुरुबंधी तिरियो-रालदुग-धुव-छिवट्ठाण । तह हुंडग-तसबायर-पत्तेअ-अपज्जणामाणं ॥
पणअथिराईण ठिइं णियमा बंधेइ संखभागूणं । ··· ······· ॥गाथा ७५४-··· ॥

(प्रे०) "तेइंदियगुरुबंधी" इत्यादि, कण्ठ्या ॥७५४॥ अथ चतुरिन्द्रियजातिनामाद्यधिकृत्यातिदेशेनैवाह—

··· ··· · । एमेव उ च उइंदिय-पणिंदियाणं मुणेयव्वो ॥गाथा-७५५॥

(प्रे०) "एमेव" इत्यादि, गतार्थं गाथार्धम्, केवलं त्रीन्द्रियस्थाने चतुरिन्द्रियव्यपदेशेन पञ्चेन्द्रियव्यपदेशेन च वाच्यः सनिकर्ष इति ॥७५५॥

अथ प्रस्तुत एव प्रथमसंहनननामाधिकृत्याह प्रस्तुतम्—

पंचिंदियु-रलदुग-धुव-परघा-ऊसास-तसचउक्काण । वइरगुरुट्ठिइबंधी णियमा संखेज्जभागूणं ॥
तिरिणरदुग-उज्जोअ कुखगइ-थिर-सुह-जस-अथिरछक्काण । पणसठाणाण सिआ बंधइ संखेज्जभागूणं ॥
बंधइ सुहागिइखगइ-सुहगतिगाण सिआ ठिइ जेट्ठ । अहव अजेट्ठ ·· ······॥ गाथा ७५६ ७५७ ॥

(प्रे०) "पंचिंदिये" त्यादि, गतार्था, केवल तिर्यग्द्विकादीनां स्याद्बन्धो वज्रर्षभनाराचसंहननोत्कृष्टस्थितिं बध्नतस्तिर्यग्द्विकादिप्रतिपक्षभूतानां मनुष्यद्विकादीनां 'तिरिणरदुग' इत्यादौ प्रविष्टत्वेनान्तराऽन्तरा बध्यमानत्वादिति ॥७५६-७५७॥ अथ लाघवार्थं मध्ये प्रथमसंस्थान-प्रशस्तविहायोगति-सुभग सुस्वरा-ऽऽदेयनामादिप्रधानं प्रस्तुतसंनिकर्षमतिदेशेनैव प्राह—

········ ········ एवं तेसिं पचण्ह विण्णेयो ॥ गाथा ७५८ ॥

(प्रे०) "एव"मित्यादि, तत्र "एव"मिति अनन्तरोक्तवज्रर्षभनाराचप्रधानसंनिकर्षवद्विज्ञेयः प्रस्तुतसंनिकर्षः; कासामित्याह–"तेसिं पंचण्ह" त्ति 'सुहागिइखगइ-सुहगतिगाण'मित्यनेनाव्यवहितोक्तानां प्रथमसस्थानादीनां पञ्चानामित्यर्थः, तथाच वज्रर्षभनाराचसंहननस्थाने तत्तच्छुभाकृत्यादिप्रकृतिं शुभाकृत्यादितत्तत्प्रकृतिस्थाने वज्रऋषभनाराचसंहनननाम चादाय संनिकर्षो वाच्यः, तत्राऽपि व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेः शुभाकृतिप्रधानसंनिकर्षे शेषसंस्थानपञ्चकस्य स्यात्संख्येयभागोनस्थितिबन्धलक्षणः यः "पणसठाणाण सिआ बधइ संखेज्जभागूणं" इत्यनेनाभिहितः संनिकर्षः सः प्रतिषेध्यः, प्रधानीकृतशुभाकृतिबन्धविरोधित्वात्तस्य संस्थानपञ्चकबन्धस्य, संहननपञ्चकस्य त्वसौ वाच्यः, यथा–'पणसंहणणाण सिआ बंधइ संखेज्जभागूण'इति, बन्धतस्तस्य संहननपञ्चकस्य शुभाकृत्यविरोधित्वात् ,यथोक्तविच्छेदक्रमे शुभाकृत्युत्तरं विच्छेदभावाच्च । सुभगसुखगत्यादिप्रधान संनिकर्षे तु संस्थानपञ्चकस्य स्यात्संख्येयभागोनस्थितिबन्धलक्षणः सनिकर्षो न प्रतिषेध्यः, प्रत्युत संस्थानपञ्चकवत् संहननपञ्चकस्याऽपि स्यात्संख्येयभागोनस्थितिबन्धलक्षणोऽसौ वाच्य एव, सुखगत्याद्युत्कृष्टस्थितिं बध्नतः संस्थानपट्कबन्धाविरोधवत् संहननपट्कबन्धस्याऽप्यविरोधादिति । शेषं प्रधानीकृतसुखगत्याद्येकैकप्रतिपक्षभूतकुखगत्यादिबन्धप्रतिषेधादिकं तु प्रागिवाऽभ्यूह्यमिति ॥७५८॥

अथ द्वितीयसंहननप्रधानप्रस्तुतसंनिकर्षंप्रतिपादयन् द्वितीयसंस्थानप्रधानं तमतिदिशंश्चाह—

संखेज्जभागहीणं संघयणस्स दुइअस्स गुरुबंधो । तिरिणरदुग-चउआगिइ-उज्जोअ-थिराइतिजुगलाणसिआ ॥
पचिंदिय-रलदुग-धुव परघा ऊसास तसचउक्काणं । दुहगतिग-कुखगईणं णियमा संखेज्जभागूणं ॥
जेट्ठमजेट्ठं च सिआ बंधइ दुइआगिईअ एवं से । ····· ···॥ गाथा ७५९-७६० ॥ (आद्या गोति.)

(प्रे०) "संखेज्ज भागे' त्यादि, अक्षरार्थः सुगमः, केवलम् तृतीयगाथास्थं यद् 'दुइआगिईअ' इति तदन्तेन द्वितीयसंहननप्रधानसंनिकर्षभणनम् , तदुत्तरं "एवं से" इत्यनेन संनिकृष्टप्रत्यासत्त्या-द्वितीयाऽऽकृतिर्गम्यते, तथा च तन द्वितीयाकृतिप्रधानसंनिकर्षस्याऽतिदेशेन कथनम् । इहाऽपि व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिरिति न्यायतो द्वितीयाकृतिप्रधानसंनिकर्षे द्वितीयसंहननव्यत्ययवत् 'चउआगिइ' इत्यनेन चतस्रः संहननप्रकृतयो वाच्याः, तथाच द्वितीयाकृतिप्रधानसंनिकर्षे यथा द्वितीयसंहननस्य स्यादुत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धः सम्पद्यते तथा तिर्यग्द्विक-मनुष्यद्विकतृतीयादिसंहननचतुष्टयोद्योत-स्थिरा-ऽस्थिर-शुभा-ऽशुभ-यशःकीर्त्य-ऽयशःकीर्तिनामलक्षणानां पञ्चदशप्रकृतीनां स्यात्संख्येयभागोनोत्कृष्टस्थितिबन्धः सम्पद्यते । एवमुत्तरत्राऽप्यतिदेशेन संनिकर्षभणने संहनन-संस्थानादिव्यत्ययेन अर्थात्तत्तत्संहननस्थाने तत्तत्संस्थानानां तत्तत्संस्थानस्थाने तत्तत्संहनननानां च ग्रहणं कार्यम् । कुतः ? संहननप्रधानसंनिकर्षे तस्य विवक्षितसंहननस्य बन्धस्या-ऽऽवश्यकत्वेन शेषसर्वविधसंहनननानां

प्रतिपक्षभूततया बन्धप्रतिषेधात् , संस्थानानां च यथासम्भवं नानाविधानामपि बन्धसम्भवेनानेकेषामपि बन्धाऽप्रतिषेधात् । एवमेव संस्थानप्रधानसंनिकर्षे तस्य प्रधानीकृतविवक्षितसंस्थानबन्धस्याऽऽवश्यकत्वेन शेषसर्वविधसंस्थानानां प्रतिपक्षभूततया बन्धप्रतिषेधात् संहननानां तु यथासम्भवं नानाविधनामपि बन्धसम्भवेनानेकेषामपि बन्धाऽविरोधादिति । उपपत्तिस्तु प्रस्तुतप्रधानीकृतप्रथमसंहननाद्येकैकप्रकृतेर्यथोक्तविच्छेदक्रमगतपञ्चमस्थानवर्तित्वादिना कर्तव्याऽनन्तरदर्शितनीत्या; तथाच द्वितीयादिसंहननप्रधानसंनिकर्षे प्रथमादिसंस्थानाऽग्रहो बोद्धव्यः ।।७५९-७६०।। अथ तृतीय-चतुर्थ-पञ्चम-संहननसंस्थाननामप्रधानसंनिकर्षं सापवादमतिदिदिक्षुराहाऽऽर्यया सार्धया—

..........................। एव हवेज्ज तिण्ह संघयणाण तइआईणं ।।
णवरि कमा गुरुमगुरु वा तइआईण आगिईणं तु। बधइ ण उ दुइआई तइआइतिआगिईणेव ।।७६१-७६२।।

(प्रे०) "एवं हवेज्जे"त्यादि, तत्र 'ण दुइआई' इत्यन्तेन तृतीयादिसंहननत्रयप्रधानसंनिकर्षः, "तइआइतिआगिईणेव"मित्यनेन तृतीयादिसंस्थानत्रयप्रधानसंनिकर्षातिदेशः । शेषं तु सुगमम् , केवल 'णवरि' इत्यादिनाऽपवादभणनं तृतीयादिना तुल्यसंहनन-संस्थानानां यथोक्तविच्छेदक्रमे पष्ठादितुल्यस्थानवर्तित्वेनैकस्य तृतीयादिसंहननादेरुत्कृष्टस्थिति बध्नतो जीवस्यान्यस्य तृतीयादिसंस्थानादेः पूर्वोक्तनीत्योत्कृष्टादिद्विविधस्थितिबन्धभावात् , द्वितीयादीनां यथोक्तक्रमे प्रधानीकृततृतीयादिसंहननादितो पूर्ववर्तिस्थानगतत्वेन बन्धाभावादिति ।।७६१-७६२।।

अथ चरमसंस्थानप्रधानसंनिकर्षस्य 'तिरियदुगे'त्यादिना तिर्यग्गत्यादिप्रधानसंनिकर्षेण सह, चरमसंहननप्रधानस्य तु तस्य 'बिंदियुरले' इत्यादिना द्वीन्द्रियजात्यादिप्रधानसंनिकर्षेण समम् , तथा तत्तदानुपूर्वीप्रधानसंनिकर्षाणां 'तिरियदुगे' इत्यादिना तत्तद्गत्यादिप्रधानसंनिकर्षेण साकं प्राग्भणितत्वात् क्रमप्राप्ते खगतिप्रधानसंनिकर्षे 'सुहागिइखगइ' इत्यादिना प्रशस्तविहायोगतिप्रधानसंनिकर्षस्याऽपि प्रथमसंस्थानप्रधानसंनिकर्षेण समं भणितत्वेन कुखगति प्रधानं तं बिभणिषुर्दुःस्वरनामप्रधानमपि तं सममेवाह—

एगस्स बंधमाणो जेट्ठं कुखगइसराउ इयरस्स। णियमा गुरुमगुरुं वा उज्जोअ-थिराइतिजुगलाण सिआ
संखेज्जभागहीणं चउवीसाए अपज्जवज्जाणं । सेसाणं बेइंदियजोग्गाणं बधए णियमा ।।
।।७६३-७६४।। (आद्या गीतिः)

(प्रे०) "एगस्स" इत्यादि, सुगमे, केवलं "संखेज्जभागहीणं" इति पदं पूर्वत्रेवोत्तरत्राऽपि सम्बध्यते तथा द्वीन्द्रियप्रायोग्याः प्रकृतयः-तिर्यग्द्विक द्वीन्द्रियजात्यौ-दारिकद्विक-सेवार्त हुंड-कुखगति-पराघातो-च्छ्वासो द्योत-त्रसचतुष्क-स्थिर-शुभ-यशःकीर्त्य-ऽपर्याप्तकऽस्थिरषट्क-ध्रुवबन्धि-नवकलक्षणाश्चतुस्त्रिंशत् , ताभ्यः कुखगतिदुःस्वरोद्योत-स्थिरादित्रियुगलानामपर्याप्तनाम्नश्च वर्जनादवशिष्टाचतुर्विंशतिरित्युक्तम् "चउवीसाए" इति ।।७६३ ७६४।। अथानन्तरोक्तनीत्यैव-

क्रमप्राप्तपराघातो-च्छ्वास-पर्याप्तनामप्रधानंप्रस्तुतसंनिकर्षमाविष्कुर्वन् तत्तुल्यप्रायवक्तव्यत्वात् स्थिर शुभनामप्रधान' तं सापवादमतिदिशंश्चाह ऽऽर्याचतुष्टयम्—

एगस्स जेट्ठबधी परघा-ऊसास-पज्जणामाओ । णियमाऽण्णेसिं दोण्हं जेट्ठमजेट्ठं व बधेइ ॥
णियमा तिरिदुगि गिंदिय-धुव-रल ऽणादेय-दुहग-अजसाणं । थावर-साहार-सुहुम-हु डाण सखभागूणं ॥
संखेज्जभागहीणं बधेइ ठिइमथिरा-ऽसुहाण सिआ । गुरुमगुरुं व सिआ थिर-सुहाण एवं थिरसुहाणं ॥
णवर ण चेव बधइ पडिवक्ख-अपज्जणामाणि । णियमाहिन्तो बधइ परघा-ऊसास पज्जत्ता ॥
॥७६५ ७६८॥ (चरमा गीति.)

(प्रे०) "एगस्स" इत्यादि, तृतीयगाथास्थं "थिर-सुहाण" इत्येतदन्तेन पराघातोच्छ्वास-पर्याप्तनामप्रधानसंनिकर्षः । तदनु "एवं थिरसुहाण" मित्यादिना स्थिर शुभनामप्रधानोऽसौ सापवादातिदेशेन । तत्राऽपवादः सर्वत्र विवक्षितप्रधानीकृतप्रकृतिबन्धस्याऽऽवश्यकत्वेन तत्प्रतिपक्ष-प्रकृतिबन्धाभावात् पर्याप्तनामप्रायोग्यं बध्नत एव स्थिरशुभनाम्नोर्बन्धभावाच्च । एतदुक्तं भवति—'एवं थिरसुहाण' मित्यतिदिष्टे सति पराघातादिस्थाने स्थिरादिप्रकृतिर्वक्तव्या स्थिरादिस्थाने पराघातादिप्रकृतिश्च, तथाच स्थिरस्योत्कृष्टां स्थितिं बध्नतः 'सखेज्जभागहीणं बंधेइ ठिइम-थिरा-ऽसुहाण सिआ' इति वचनात् अस्थिरनाम्नोऽपि स्यात्संख्येयभागोनोत्कृष्टस्थितिबन्ध आपद्येत; एवं शुभनामोत्कृष्टस्थितिबन्धकस्याऽशुभनाम्नः स्यात्संख्येयभागोनोत्कृष्टस्थितिबन्धा-पत्तिर्वाच्या, किञ्च स्थिरादिस्थाने पर्याप्तनामग्रहणवत् स्थिरादिप्रतिपक्षप्रकृतिस्थाने पर्याप्तनामप्रति-पक्षभूतस्याऽपर्याप्तनाम्नोऽपि ग्रहणमापद्येत, एतच्चानिष्टम्, पर्याप्तनाम बध्नतः स्थिरादीनां सप्रति-पक्षाणां बन्धप्रायोग्यत्वेऽपि स्थिरादिनाम बध्नतः पर्याप्तनाम्न एव बन्धविधानात् तत्प्रतिपक्षभूत-स्याऽपर्याप्तनाम्नो बन्धस्य तु प्रतिषेधात्, अतो भणितम् 'ण चेव बंधइ पडिवक्खअपज्ज-णामाणि' इति तत्र 'पडिवक्ख' इत्यनेन प्रधानीकृतस्थिरादिप्रकृतिप्रतिपक्षभूताया अस्थिरादि-प्रकृतेर्बन्धप्रतिषेधः, 'अपज्जणामाणि' इत्यनेन तु यथा पराघातादिप्रकृतिप्रधानसंनिकर्षेऽपर्याप्त-नाम्नो बन्धप्रतिषेधस्तथा स्थिरादिनामप्रधानसंनिकर्षेऽप्यसौ । अतः एव प्राप्तं यत्—स्थिरादि-नामोत्कृष्टस्थितिं बध्नतोऽपर्याप्तनाम्नो बन्धाभावेन स्वप्रतिपक्षप्रकृतिविरहितत्वात् पर्याप्तनाम्नो ध्रुवो बन्धः, पर्याप्तनामसहभाविबन्धत्वात् पराघातोच्छ्वासनाम्नोरपि ध्रुवो बन्धश्च, इत्यत उक्तम्—"णियमाहिन्तो" इत्यादि, शेषं तु प्रागवदिति ॥७६५-७६८॥

अथ प्रस्तुतमार्गणास्वेवाऽऽतपो-द्योत यशःकीर्तिनामप्राधान्येन प्रस्तुतसंनिकर्षमाह—

णियमा तिरिदुगि गिंदिय-दुहगाऽणादेय-बायरतिगाणं । धुव-रल हु डाणा ऽऽयवगुरुबधी सखभागूणं ॥
सखसूण बंधइ थिर-सुह-अथिर-असुहा ऽजसाण सिआ । गुरुमगुरु व जसस्स उ जस-उज्जोआण एमेव ॥
॥गाथा–७६९ ७७०॥

(प्रे०) "णियमा" इत्यादि, तत्र "जसस्स उ" इत्येतदन्तेनाऽऽतपनामप्रधानः साक्षात् "जस-उज्जोआण एमेवे"त्यनेन यशःकीर्तिनामो-द्योतनामप्रधानस्तु अतिदेशेन भणितः संनि-

-कर्षः, शेषं तु प्रागिव विभावनीयं स्वधिया गतार्थप्रायत्वादिति ॥७६९-७७०॥

अथ बादर-प्रत्येकनामप्रकृतिद्वयप्रधानं संनिकर्षमार्याद्वयेन प्रकटयन्नपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिप्रस्तुतमार्गणासु प्रस्तुतंनामोत्तरप्रकृत्युत्कृष्टस्थितिबन्धविषयं स्वस्थानसंनिकर्षं समापयति–

बायरगुरुठिइबंधी णियमा बंधेइ सखसागूण । तिरियदुगे-गिंदियु-रल-हु डग-धुवबंधिणवगाण ॥
थावर-साहाराणं अपज्ज-अथिर असुहा-ऽजसाण तहा । दुहगा-ऽणादेयाणं एवं पत्तेअणामस्स ॥
॥गाथा–७७१-७७२॥

(प्रे०) "**बायरगुरु**" इत्यादि, "**एवं पत्तेअणामस्स**" इत्यनेन प्रत्येकनामप्रधानसंनिकर्षोऽतिदेशेन, शेषं तु प्राग्वदिति ॥७७१-७७२॥

तदेव भणितोऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग-ऽपर्याप्तमनुष्यादित्रयोदशमार्गणासु बन्धप्रायोग्यसर्वनामप्रकृतीनां स्वस्थानोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षः गाथापञ्चत्रिंशत्या । अथ तुल्यप्रायवक्तव्यत्वात्क्रममुल्लङ्घ्य स्थावरकायमार्गणास्थानेष्वतिदेशेनाह–

सव्वाण सव्विगिंदिय पणकायेसु अपज्जमणुयव्व । णवरि असंखंसूणं बंधइ सखसहीणथले ॥
सव्वागणि-वाऊसु तिरियदुगस्स णियमा णरदुर्गणो । पढमतिसघयणा-ऽऽगिइ सुखगइ-सुहगतिगगुरुबंधो
॥गाथा–७७३ ७७४॥

(प्रे०) "**सव्वाणे**" त्यादि, ओघ-सूक्ष्मौघ-तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्त बादरौघ-तत्पर्याप्ता ऽपर्याप्तलक्षणा याः सप्तैकेन्द्रियमार्गणास्तथा "**पणकाय**" त्ति पृथिव्यादिवनस्पतिकायान्ता ये पञ्च कायाः-कायमार्गणाः; ताश्च मूलोत्तरभेदात् पृथिव्यादि-वायुकायान्तानां साधारणवनस्पतिकायस्य च प्रत्येकमेकेन्द्रियवत् सप्त सप्त, प्रत्येकवनस्पतिकायसम्बन्धिन्य ओघ-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्नास्तिस्रो वनस्पतिकायौघश्चेति एकोनचत्वारिंशदित्येवं सर्वसंख्यया षट्चत्वारिंशन्मार्गणासु प्रत्येकं प्रस्तुतो नामोत्तरप्रकृतीनां स्वस्थानोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षः "**अपज्जमणुयव्व**" त्ति अनुपदमभिहिताऽपर्याप्तमनुष्यमार्गणावद्विज्ञेयः । इह यद्यपि अपर्याप्तमनुष्या-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणासम्बन्धिन्या नामोत्तरप्रकृतिस्वस्थानोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षवक्तव्यतायास्सर्वथा तुल्यतयाऽपर्याप्तमनुष्यादिमार्गणाद्वयमध्येऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणायाः मार्गणाक्रमे पूर्ववर्तित्वेन च 'अपज्जपणिंदितिरियव्व' इत्येवं वक्तव्यम् तथापि छन्दानुलोम्याद् '**अपज्जमणुयव्व**' इत्येवमभिहितं बोद्धव्यम् , न पुनरतिदेशानुलोम्याद् , उभयथाऽप्यतिदेशेऽपवादस्य '**णवरि**' इत्यादिना वक्ष्यमाणस्यानिवार्यत्वादिति ।

अथाऽपर्याप्तमनुष्यादिमार्गणावत् प्रस्तुतमार्गणासु बन्धप्रायोग्यस्थितिबन्धस्थानसंख्येयभागहानावपि स्वोत्कृष्टस्थितिबन्धमानात्तु असंख्येयभागमात्रा एव स्थितिर्हीयेत इत्यत अपवदति-'**णवरि**' इत्यादि, सुगमम् , मोहनीयोत्तरप्रकृतिस्वस्थानोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षप्रस्तावगतात् '**असमत्तपणिंदितिरिये**'इत्यादि (६८०)–गाथाविवरणाद्गतार्थञ्चेति ।

अथैकेन्द्रियौघादिशेषमार्गणास्वपर्याप्तमनुष्यादिमार्गणावद् बन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां तुल्यत्वेऽपि तेजस्कायवायुकायसम्बन्धिषु सर्वसङ्ख्यया चतुर्दशमार्गणासु ताथास्वाभाव्येनाऽनन्तरभवे मनुष्यतयाऽनुत्पत्तेर्मनुष्यद्विकस्य बन्धाभावान्न तत्तुल्यत्वम् , किन्तु मनुष्यद्विकलक्षणप्रकृतिद्वयेन न्यूनत्वमतोऽन्यमपवादमाह–'सव्वाणं' इत्यादि, अक्षरार्थः सुगमः, भावार्थोऽपि तथा, यतोऽष्टमगुणस्थानं यावदन्यतमगतिजात्यादिप्रकृतिबन्धेन भवितव्यम् , तथा च तेजस्कायादिमार्गणास्थानेषु प्रथमसंहननादिदशभ्यः तत्तत्प्रकृत्युत्कृष्टस्थिति बध्नतो मनुष्यद्विकस्य बन्धाभावेन तिर्यग्द्विकस्याऽवश्यं बन्धभावोऽतः "तिरियदुगस्स णियमा" इति नियमो भणितः, स चाऽपर्याप्तमार्गणादौ प्रथमसहननादितत्तत्प्रकृतिप्रधानसंनिकर्षे यत्र मनुष्यतिर्यग्द्विकयोः स्याद्बन्धो भणितस्तत्र मनुष्यद्विकप्रतिषेधेन तिर्यग्द्विकस्य नियतो बन्धो द्रष्टव्यः ।

इदन्त्ववधेयम्–यस्तु मनुष्यद्विकप्रधानसंनिकर्षः 'एगस्सुक्कोसठिइ बंधंतो णरदुगाउ इययरस्स' इत्यादिना गाथा (५५० ५५१) द्वयेन भणितः स तु सर्वथा प्रतिषेध्य इति ॥७७३ ७७४॥

तदेवं मापवादमतिदिष्ट एकेन्द्रिय-पृथिवीकायादिपञ्चकायमूलोत्तरभवमार्गणासु प्रस्तुतसंनिकर्षः । साम्प्रत म एवापर्याप्तवर्जत्रिमनुष्यगतिमार्गणासु औदारिककाययोगमार्गणायां चातिदेशेनैवाह–

तित्था ऽऽहारदुगाण तिमणुस्सोरालियेसु विण्णेयो । ओघव्व सण्णियासो तिरियव्व हवेज्ज सेसाण ॥
॥गाथा–७७५॥

(प्रे०) "तित्थाऽऽहारदुगाणं" इत्यादि, अक्षरार्थः सुगमः, भावार्थोऽपि तथा । ननु सर्वासामोघवदिति कथं नोक्तम् ? इति चेद् , नारक देवानामिहाप्रवेशात् , औघिकतिर्यग्गत्येकेन्द्रियजात्यादिप्रकृतिप्रधानसंनिकर्षस्य तदपेक्षया लभ्यमानत्वेनेहाऽयुज्यमानत्वाच्च । सर्वासां तिर्यग्गतिमार्गणावदेवाकथनं तु तीर्थकरनामा ऽऽहारकद्विकयोरितरदरवामिकत्वाभावेन तत्प्रकृतित्रयप्रधानसंनिकर्षस्याऽन्यथाभणनस्याऽऽवश्यकत्वादिति ॥७७५॥

अथ देवगत्योघमार्गणायां गाथाषट्केन प्रस्तुतसंनिकर्षमाह–

[1]तिरिदुग-रल-धुव-हुडग-परघा-ऊसास-बायरतिगाओ । तह पणअथिराईओ देवे एगस्स गुरुबंधी ॥
[2]णियमाऽण्णेसि दुविह दुजाइ-छेवट्ठ-रालुवगाण । तह कुखगइ-आयवदुग-तस-थावर-दुस्सराण सिआ ॥
[3]एगिंदियगुरुबंधी तिरिदुग-उरल-धुव-हुडाण । थावर पणअथिराइग-परघा-ऊसास-बायरतिगाण ॥
[4]णियमा गुरुमगुरुं वा बधेइ ठिइ सिआ-ऽऽयवदुगस्स । एमेव थावरा-ऽऽयवणामाणऽण्णाण णिरयव्व ॥
[5]णवर थिर-सुह-जसगुरुबंधी बधइ दुभागहीणठिइं । जाइदुगु-रलोवगग आयव-तस-थावराण सिआ ॥
[6]एगिंदिय पंचिंदिय छिवट्ठ-रलुवग कुखगइ-सराण । तस थावराण गुरुमुअ अगुरु उज्जोअगुरुबंधी ॥
॥ गाथा ७७६-७८१ ॥ (तृतीयोद्गीति)

(प्रे०) "तिरिदुगे"त्यादि, अक्षरार्थस्तु सुगमः, केवलं द्वितीयगाथास्थं यद् "दुविह" मिति पदं ये च चतुर्थगाथास्थे 'गुरुमगुरु' इति पदे तदन्वयविषये घण्टालालान्यायोऽनुमर्तव्यः । उपपत्तिस्तु पूर्वं "मिच्छत्तणपुम" (६३४-६३८) इत्यादिगाथावृत्तौ साधितनियमप्रपञ्चानुसारेण

कार्या । तद्यथा-'तिरियदुगे'त्यादि प्रथमगाथोक्तानां तिर्यग्द्विकादीनां मध्यादन्यतमस्या उत्कृष्टस्थितिबन्धकेषु अन्द्यान्यबन्धकानपेक्ष्यापि न लभ्यते तिर्यग्गत्यादिप्रकृतीनां बन्धवद्-बन्धाभावः, तथा च ध्रुवबन्धिनीनां द्वितीयनियमानुसारेण शेषाणां तिर्यग्द्विकादीनां तृतीयनियम-तृतीयांशानुसारेण च नियमबन्धः, तासामुत्कृष्टानुत्कृष्टलक्षणद्विविधस्थितिबन्धस्तु प्रत्येकमुत्कृष्टस्थितेः वर्गोत्कृष्टप्रमाणगतत्वेन षष्ठनियमानुसारेण विज्ञेयः । एवमेव "दुजाइ" इत्यादिना भणितानां दशानां प्रकृतीनां तिर्यग्द्विकाद्युत्कृष्टस्थितिबन्धकमध्यादन्यान्यबन्धकापेक्षया बन्धबन्धाभावौ । तत्रैकेन्द्रि-यजाति स्थावरनाम्नोरीशानान्तदेवापेक्षया बन्धः सनत्कुमारादिदेवापेक्षया बन्धाभावः, शेषाणां पञ्चे-न्द्रियजात्यादीनामातपद्विकवर्जानां तु वैपरीत्येन सनत्कुमारादिसहस्रारान्तदेवापेक्षया बन्ध ईशाना-न्तदेवापेक्षयाऽबन्धश्च, आतपस्य तु एकेन्द्रियनामादिवत्स्वत एव वा सर्वत्र पञ्चमनियमानुसारेण, स्याद्बन्धः, यद्वाऽऽतपोद्योतनाम्नोरेकेन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतः परावर्तमानत्वात्स्याद्बन्ध इति । तासां जातिद्विकादीनां द्विविधस्थितेर्बन्धस्त्वनन्तरोक्तनीत्यैवेति । इत्थमेव "एगिंदियगुरुबंधी" इत्यादिना भणित एकेन्द्रियजातिनामप्रधानसंनिकर्षः स्वयमेवाऽभ्यूह्यः, एवमेव "एमेव थावरा-ऽऽयवणामाण" इत्यादिनाऽतिदिष्टौ आतप-स्थावरनामप्रधानौ संनिकर्षावपि योजनीयौ, केवल-मातपादिनामस्थाने एकेन्द्रियनामयोजनायामेकेन्द्रियनाम्न स्याद्बन्धो न वक्तव्योऽपि तु ध्रुव एव बन्धो द्रष्टव्यः । एवमप्यपवादाऽकथनं तु तस्य सुगमत्वेन व्याख्यानत एव गम्यत्वात् । "अण्णाण णिरयव्व" इत्यत्रोक्तान्याः प्रस्तुतमार्गणायां बन्धप्रायोग्या नामप्रकृतय इमाः सप्त-विंशतिः-मनुष्यद्विक-पञ्चेन्द्रियजात्यौ- दारिकाङ्गोपाङ्ग--संहननपट्क-हुंडवर्जसंस्थानपञ्चक-प्रशस्ता-ऽप्रशस्तविहायोगति-जिननामो-द्योत-त्रस-स्थिरपट्क-दुःस्वरनामानीति ।

अत्रैवाऽपवदति-"णवरं थिरसुहे" त्यादि, नरकगत्योघे स्थिरनामाद्युत्कृष्टस्थितिं बध्नतः केवलपर्याप्तपञ्चेन्द्रियप्रायोग्यप्रकृतीनामेव बन्धभावेन पञ्चेन्द्रियजात्यादीनां नियतबन्ध-भावेऽपि प्रस्तुते तां बध्नत एकेन्द्रियप्रायोग्याणामपि बन्धप्रायोग्यतया पञ्चेन्द्रियैकेन्द्रियजा-त्यादीनां प्रतिपक्षसहिततया तथौदारिकाङ्गोपाङ्ग-सेवार्तसंहननादीनां तु पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतो बन्धभावेऽपि एकेन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतो बन्धाभावेन स्याद्बन्धभावात् । "दुभागहीणठिइं" तथा "गुरुसुअ अगुरू" इत्येतत्तु प्राग्वदेव, स्थिरादीनां प्रधानीकृतप्रकृतीनां द्विभागोनवर्गोत्कृष्टस्थिति-कत्वात्, उद्योतनाम्नस्तु वर्गोत्कृष्टत्वाच्चेत्यादिप्राग्वद् विभावनीयं स्वयमेवेति । ननु उद्योतनामो-त्कृष्टस्थितिं बध्नतः "एगिंदिय-पचिंदिय" इत्यादौ सेवार्त-कुखगति-कुस्वरनाम्नामपि स्याद्-बन्धो भणितः, स्थिरादिप्रकृतित्रयप्रधानसंनिकर्षे तु ताः कथं न संगृहीताः, किं स्थिराद्युत्कृष्ट-स्थितिं बध्नतस्तासां सेवार्तनामादीनां बन्ध एव न भवति उत नियतबन्धो भवति ? इति चेद्, नाऽबन्धो न वा नियतबन्धस्तासां सेवार्तनामादीनाम्, किन्तूद्योतप्रधानसंनिकर्षवत् स्याद्बन्ध एव

जायते, केवलं नासौ अपवादविषयः, नरकगत्योघेऽपि स्थिराद्युत्कृष्टस्थितिं बध्नतस्तासां स्याद् द्विगुणोनोत्कृष्टस्थितिबन्धस्यैव भणितत्वात्, उद्योतप्रधानसंनिकर्षे तु तत्र सेवार्तनामादीनां तासां तिसृणां नियतबन्धो भणितः, इह त्वसावुक्तनीत्या स्याद्भवतीतिकृत्वोद्योतप्रधानसंनिकर्षे सेवार्तादीनां सङ्ग्रहेऽपि स्थिरादिप्रधानसंनिकर्षे तदसंग्रह इति ।

ननु अपवादपदे विहाय शेषार्थः कुतो नरकगत्योघमार्गणावद् ? **इति चेद्, उच्यते**—पञ्चेन्द्रियजात्यादीना वर्गोत्कृष्टस्थितिकानामेकेन्द्रिया-ऽप्रायोग्यतया सर्वसंक्लिष्टेशानान्तदेवानां बन्धाभावात्, सनत्कुमारादिसहस्रारान्तानां तद्बन्धभावे तु नारकाणामिव तेषां सनत्कुमारादीनामपि पारभविकसर्वनिकृष्टोत्पत्तिप्रायोग्यस्थानस्य पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्लक्षणतया तुल्य एव संनिकर्षो भवेत् । अवर्गोत्कृष्टानां मनुष्यद्विकादीनां तु सुगमः अत एव नरकगत्योघादिमार्गणाभिः साकम् "तइयाइग-अट्ठमतदेवेसु"(गाथा-७००) इत्यनेन सनत्कुमारादिदेवमार्गणाभेदानां संग्रहः कृतः प्रागिति । एवमेवोत्तरत्राऽपि पूर्वोक्तनियमप्रपञ्चाद्यनुसारेण भावना कर्तव्या ।।७७६-७८१।।

अथ भवनपत्यादिष्वीशानान्तासु पञ्चसु देवमार्गणासु गाथात्रयोदशकेन प्रस्तुतसंनिकर्षं निर्जिगदिषुराह प्रथमतस्तावत्तिर्यग्द्विकादिसप्तविंशतिप्रकृतिप्रधान्येन—

ईसाणंतेसु तिरियदु-गिगिंदिय-धुव-उराल हु डाओ । थावर-पणअथिराइग परघा ऊसास-बायरतिगाओ ।।
एगस्स जेट्ठबंधी अण्णेसिं बंधए ठिइ णियमा । गुरुमगुरु व सिआ-ऽऽयवदुगस्स आयवदुगस्सेव ।।
।। गाथा ७८२-७८३ ।। (आर्या गीति.)

(प्रे०) **ईसाणंतेसु**" इत्यादि, सुगमे, केवलं "**तिरियदुग**"इत्यादिना तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्व्ये-केन्द्रिय-ध्रुवबन्धिनवकौ-दारिकदेह-हुण्डसंस्थान-स्थावरा-ऽस्थिरा-ऽशुभ-दुर्भगा-ऽनादेया ऽयशः-कीर्ति-पराघातो-च्छ्वास-बादर पर्याप्त-प्रत्येकनामप्रकृतीनामेकैकप्रधानः संनिकर्षः साक्षादुक्तः "**आयवदुगस्सेवं**" इति द्वितीयगाथान्तेनाऽऽतपोद्योतनामलक्षणप्रकृतिद्वयप्रधानस्त्वतिदेशेन भणितश्च । इहाऽपि प्राग्दर्शितनीत्या व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेरातपप्रधानसंनिकर्षे उद्योतस्य बन्धः प्रतिषेध्यः, उद्योतप्रधानसंनिकर्षे त्वातपस्य स प्रतिषेध्यः, तयोः परस्परपरिहारेण बन्धप्रायोग्यत्वात् । एवमेव तद्द्वयप्रधानसंनिकर्षयोस्तिर्यग्द्विकादीनां नियमतो बन्धो द्रष्टव्यः, न पुनस्तिर्यग्द्विकादिप्रधानसंनिकर्षे यथाऽऽतपद्विकस्य स्याद्बन्धस्तथा ।।७८२ ७८३।।

अथ मनुष्यद्विकप्राधान्येनाह प्रस्तुतसंनिकर्षम्—

एगस्सुक्कोसठिइ बंधतो णरदुगाउ इयरस्स । णियमा बंधेइ ठिइ उक्कोसं उअ अणुक्कोसं ।।
णियमा पंचिंदिय-तस कुखगइ दुस्सर-उरालुवंगाण । सखंसूण कुणइ तिसघयण-दुआगिईण सिआ ।।
धुव-रल-पणअथिराइग-परघा-ऊसास बायरतिगाणं । णियमा चउभागूणं ठिइं कुणइ हु डगस्स सिआ ।।
।। गाथा ७८४-७८६ ।।

(प्रे०) "एगस्से"त्यादि, गतार्थाः, केवलम् 'सखंसूणं' 'चउभागूणं' चेत्येतत्पदद्वयाऽन्वयविषये देहलीदीपकन्यायोऽनुसर्तव्य इति ॥७८४-७८६॥

अथ पञ्चेन्द्रियजाति-त्रस-कुखगति दुःस्वरौ-दारिकाङ्गोपाङ्ग-कीलिका-सेवार्तसंहनन-वामनसंस्थानलक्षणा-ऽष्टनामप्रकृतीनामेकैकां प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसंनिकर्षमाह—

एगस्स पणिदिय तस कुखगइ-दुरसर-उरालुवगाओ । गुरठिइबंधी बधइ णियमाऽण्णाण गुरुमगुरुं वा ॥
णियमा तिरिदुग-रल-धुव-परघा ऊसास बायरतिगाण । तह पणअथिराईण बधइ सखेज्जभागूण ॥
हुंडु-ज्जोआण सिआ संखसूणं गुरुं व अगुरुं वा । पचमसघयणा-ऽऽगिइ-छेवट्ठाणं सिआ सिमेमेव ॥
॥ गाथा ७८७-७८९ ॥ (चरमा गीतिः)

(प्रे०) "एगस्से"त्यादि, गाथात्रयी सुगमा, केवलं तृतीयगाथास्थं 'सिमेमेव' इत्यनेन कीलिका सेवार्तसंहनन-वामनसंस्थाननामलक्षणप्रकृतित्रयप्रधानसंनिकर्षोऽतिदेशेन भणितः, शेषपदैस्तु पञ्चेन्द्रियजात्यादिप्रधानसंनिकर्षः साक्षात् पठितश्चेति ॥७८७-७८९॥

अथाऽऽर्याचतुष्टयेन प्रस्तुतभवनपत्यादिदेवमार्गणाबन्धप्रायोग्योक्तशेषप्रकृतीनां प्रस्तुतोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षमाह—

वइरस्स जेट्ठबधी आगिइचउग-कुखगइ-सराण सिआ । संखंसूण णियमा पणिदि-तस उरलुवंगाणं ॥
तिरिदुग-हुडु-ज्जोअग-पणअथिराईण वा दुभागूणं । बंधइ णियमा धुवु-रल-परघा-ऊसास-बायरतिगाण ॥
मणुयदुगस्स तिभागूणं व सुहागिइखगइ-थिरछगाणं । दुविहं सि थिर-सुह-जसवज्जाणेमेव पचण्हं ॥
णवर छवट्ठ स उ बधइ सखेज्जभागहीणठिइ । विण्णेय सेसाण पयडीण दसण्ह देवव्व ॥
णवर सखसूण पाणादय-छेवट्ठ-उरलुवंगाणं । कुखगइ-तस-कुसराणं थिरसुहजसजेट्ठठिइबधी ॥
॥ ७९०-७९४ ॥ (द्वितीया गीतिः)

(प्रे०) "वइरस्से"त्यादि, तत्र 'वइरस्स' इत्यादिना 'सुआगिइखगइ-थिरछगाणं' इत्यन्तेन वज्रर्षभनाराचसंहननप्रधानः संनिकर्षः, "सिं थिर-सुह जसवज्जाण" इत्यादिनाऽतिदेशेन प्रशस्तविहायोगति समचतुरस्रसंस्थान-स्थिरषट्कलक्षणाष्टप्रकृतिमध्यात् स्थिर-शुभ यशःकीर्तिवर्जपञ्चप्रकृतिप्रधानः संनिकर्षः प्रतिपादितः, तत्राऽपवादपदं तु सुगमं द्वितीयतृतीयचतुर्थसंहनननसंस्थान-जिन स्थिर-शुभ यशःकीर्तिनामरूपाणामुक्तेतरासां प्रस्तुतमार्गणासु बन्धप्रायोग्याणां नामप्रकृतीनां त्वसौ 'सेसाण' "देवव्व णवरं सखंसूणं" इत्यादिना सापवादं देवगत्योघमार्गणावद्भणितः, स चानन्तरमेव देवगत्योघमार्गणाया भावितनीत्या विभावनीयः, केवलं यः स्थिरादिप्रकृतिप्रधानसंनिकर्षे "संखंसूणं पणिंदिये" त्यादिनाऽपवादो भणितः स तु तत्र पञ्चेन्द्रियजात्याद्युत्कृष्टस्थितेर्वर्गोत्कृष्टत्वेऽपीहाऽष्टादशसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणत्वादित्यादि प्रागिवाऽभ्यूह्य इति ॥७९०-७९४॥

तदेवं प्रतिपादितो भवनपत्यादीशानान्तपञ्चदेवमार्गणासु बन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां प्रस्तुतः स्वस्थानोत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षः त्रयोदशगाथाभिः । सनत्कुमारादि-सहस्रारकल्पान्तमार्गणासु तु प्राक् "णरय-पढमाइछणिरय-तइआइगमअतदवसु"(गाथा ७००)इत्यादिना नरकगत्योघादिमार्गणाभिः

समं प्रतिपादित इति क्रमप्राप्ताऽनतादि-नवमग्रैवेयकान्तत्रयोदशदेवमार्गणासु तं प्रतिपिपादयिषुराहा-ऽऽर्यासप्तकम्—

¹एगस्स जेट्ठबंधी गेविज्जंतेसु आणताईसु । णरदुग पणिंदिय-उरलदुग-धुव छेवट्ठ-हुंडाओ ॥
²परघा ऊसासाओ कुखगइ-तसचउग-अथिरछक्काओ । अण्णाण ठिइ णियमा जेट्ठमजेट्ठं व बंधेइ ॥
³णियमा सखंसूणं णरुरलदुग-धुवपणिंदियाण तहा । परघा ऊसासग-तसचउगाणं वइरगुरुबंधी ॥
⁴संखसूणं कुखगइ-पणागिइ-अथिरछगाण कुणइ सिआ । गुरुमगुरु व सुहागिइ-खगइथिरछगाण एवं सिं ॥
⁵रिसहस्स जेट्ठबंधी णरुरलदुग-धुव-पणिंदियाण तहा । परघा-ऊसासाण कुखगइतसचउग-अथिरछक्काणं
⁶णियमा संखंसूणं बंधेइ चउण्ह आगिईण सिआ । दुइआगिईअ दुविहं एवं दुइआगिईअ भवे ॥
⁷एव सघयणागिइतइआइतिगस्स णवरि दुविहठिइं । तइआईणं कमसो दुइआई णो जिणस्स णिरयव्व
॥७९५-८०१॥ (पञ्चमी सप्तमी च गीतिः)

(प्रे०) "एगस्स" त्यादि, तत्राऽऽद्यगाथाद्वयेन मनुष्यद्विकाद्येकोनत्रिंशत्प्रकृतिप्रधान-संनिकर्षः, "णियमा" इत्यादि तृतीयगाथाप्रारम्भाद् चतुर्थगाथास्थेन "थिर-छगाण" इत्यन्तेन वज्रऋषभनाराचसहननप्रधानः संनिकर्षः, चतुर्थगाथाऽन्तस्स्थेन "एवं सिं" इत्यनेन समचतुरस्रसंस्थान-प्रशस्तविहायोगति-स्थिरषट्कलक्षणाष्टप्रकृतिप्रधानः संनिकर्षः, पञ्चमगाथाप्रारम्भात् षष्ठगाथास्थेन "दुविहं" इत्यन्तेन ऋषभनाराचसंहननप्रधानः संनिकर्षः, षष्ठगाथास्थेन "एवं दुइआगिईअ भवे" इत्यनेन तु न्यग्रोधसंस्थानप्रधानसंनिकर्षः, चरमगाथया तु क्रमेण तृतीयादीनि त्रीणि संहननानि त्रीणि संस्थानानि जिननाम च प्रधानीकृत्य संनिकर्षः । अक्षरयोजना तु सुगमाः, केवलं चतुर्थगाथायां "पणागिइ" इत्यनेनाद्यवर्जसंस्थानपञ्चकं बोद्धव्यम् , "सिआ" इति पदान्वये देहलीदीपकन्यायोऽनुसरणीयः; "सुहागिइखगइ" इत्यत्र शुभपदमाऽऽकृति-खगत्योः प्रत्येकं सम्बन्धनीयं च । पञ्चमगाथायामपि "णरुरलदुग" इत्यत्र दुगशब्द उभयत्र संबन्धनीयः, षष्ठगाथास्थस्य 'संखंसूण' मिति पदस्यान्वये यथोक्तदेहलीदीपकन्याय उपादेयश्च । चरमगाथास्थेन 'णवरि' इत्यादिना भणितोऽपवादस्तु प्रागिव भावनीयः, तुल्यस्थितिकानां समस्थानविच्छिद्यमानतया द्विविधस्थितिबन्धस्य न्यूनस्थितिकानामबन्धस्य च प्राक्प्रपञ्चितत्वादिति । एवमेवेहोत्तरत्र च नियमस्याद्बन्धादिकं सर्वं पूर्वोक्तप्रपञ्चानुसारेण विभावनीयं यथासम्भवमिति ॥७९५-८०१॥

अथोक्तशेषदेवगतिमार्गणास्थानेषु प्रस्तुतसंनिकर्षं प्रतिपिपादयिषुस्तत्साम्यादाहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगमार्गणे अपि सममेव संगृह्याऽऽहाऽऽर्यात्रयम्—

पणऽणुत्तर-आहारगदुगेसु तित्थतिथिराइवज्जाओ । एगस्स जेट्ठबंधी णियमाऽण्णाण गुरुमगुरु वा ॥
स जिणस्सेवं से थिरगुरुबंधी संखभागहीणठिइं । तित्थ असुह अजसाण सिआ सुहजसाण दुविहठिइं ॥
बंधेइ णेव अथिर सप्पाउग्गाण सेसपयडीणं । सखेज्जभागहीणं णियमा एवं सुह जसाणं ॥
॥८०२-८०४॥

(प्रे०) "**पणऽणुत्तरे**" त्यादि, इह मार्गणामप्रकेऽपि सम्यग्दृष्टय एव जीवाः प्रविष्टाः, "**तित्थ-निथिराइवज्जाओ**" इत्यनेनाऽभिहितानां बन्धप्रायोग्याणां पञ्चानुत्तरे मनुष्यगत्यादीनामाहारक-द्विके देवगत्यादीनामुत्कृष्टः स्थितिबन्धस्तेषां स्वप्रायोग्योत्कृष्टसंक्लेशे सति जायते, तदानीं बन्ध-प्रायोग्यपरावर्तमानास्थिरा-ऽस्थिर शुभा ऽशुभ-यशःकीर्त्य-ऽयशःकीर्तिनाम्नां मध्येऽशुभा एव बध्यन्ते, न स्थिराद्याः शुभाः; तीर्थकरनाम तु सर्वत्राऽध्रुवमेव बध्यते इत्यतस्ता जिननाम-स्थिर शुभ यशःकीर्ति-नामलक्षणाः प्रकृतीर्विहाय शेषाणां मनुष्यगत्यादीनां स्वप्रतिपक्षप्रकृतिविरहितत्वादिहेतोर्नियतो बन्धः कथितः, तीर्थकरनाम्नो जीवभेदेनाऽनियतबन्धत्वेऽपि यस्य कस्यचित्तद्बन्धो जायते तस्योत्कृष्ट-सक्लेशेऽप्यसौ भवितुमर्हति, तथाऽनियतोऽपि तद्बन्ध उत्कृष्टादिद्विविधस्थितेः, अत उक्तम् "**व जिणस्स**" इति। तत्र '**गुरुमगुरुं वा**'' इत्यस्य पूर्वगाथातोऽनुवृत्तिस्तु द्रष्टव्या इति। शेषमनुष्य-गत्यादीनामुत्कृष्टसक्लेशेऽपि बन्धप्रायोग्यतया तद्वद्द्विविध एवेति तु सुगमः। "**एव से**' इत्यनेन जिननामप्रधानसंनिकर्षस्तु अतिदेशेन भणितः स चानन्तरोक्तनीत्याऽभ्यूह्यः, केवलं जिनस्य प्रधानीकृतत्वेनाऽवर्जनीयत्वात् "**व जिणस्स**'' इत्येतावान् देशो न वक्तव्य इति।

एवमेव शेषस्थिरनामादिप्रकृतीनामेकैकप्रधानसंनिकर्षोऽप्यभ्यूह्यः, केवलं तासामुत्कृष्टो-ऽपि स्थितिबन्धो न मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टसक्लेशे, अपि तु तत्प्रायोग्योत्कृष्टसंक्लेशे, तथा च तदानीं न मनुष्यगत्यादीनामनन्तरोक्तनीत्या उत्कृष्टस्थितेर्बन्धः किन्तु संख्येयभागोनोत्कृष्टस्थि-तेरेव; उत्कृष्टस्थितिबन्धस्य तु तासामुत्कृष्टसंक्लेशे भावात्। स्थिरादिप्रधानीकृतप्रतिपक्षभूताया अस्थि-रादेस्तु बन्धः प्रतिषेध्य इति सुगमम् , अत एव "**बंधइ णेव अथिर**" मित्यत्राऽस्थिरनाम्नो ग्रहणं प्रधानीकृतास्थिरनामप्रतिपक्षतया ज्ञेयम्। तथाच "**एवं सुहजसाण**"इति शुभनामादिप्रधानसंनि-कर्षेऽस्थिरनामबन्धो न प्रतिषेध्यः किन्तु स्वप्रतिपक्षभूतस्याऽशुभनामादेरेवाऽसौ प्रतिषेध्य इति। एवं प्रधानीकृतस्थिरादिवदुत्कृष्टसंक्लेशेऽबध्यमानानां तुल्यस्थितिकानां शुभादीनां द्विविधः स्थितिबन्धः, अशुभादीनां तु मनुष्यगत्यादिप्रकृतिवत्संख्येयभागोनोत्कृष्टस्थितेः, केवलं मनुष्यगत्यादिवन्न ध्रुव-बन्धः, किन्तु स्याद्बन्धः, स्वप्रतिपक्षप्रकृतेरपि तदानीं बन्धप्रायोग्यत्वादिति ॥८०२-८०४॥

तदेवं भणितः पञ्चानुत्तरलक्षणशेषदेवगतिमार्गणास्वपि प्रस्तुत उत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षः। एतर्हि स एव क्रमप्राप्तयोः पञ्चेन्द्रियौघ-तत्पर्याप्तमार्गणयोर्भणितव्यः, तत्र चौघवत् चातुर्गतिकपर्याप्त-संज्ञिपञ्चेन्द्रियजीवाना प्रवेशः, तथाच सन्निकर्षोऽपि बन्धप्रायोग्यसर्वनामप्रकृतिप्रधानः सर्वथौघ-वदेव प्राप्यत इति तथैवातिदिदिक्षुस्त्रसकायौघादिमार्गणासु यत्राऽसौ सर्वथौघवत् ता अपि मार्गणाः सममेव संगृह्याह—

ओघव्व सण्णियासो सप्पाउग्गाण होइ णामाण। दुपणिदितसेसु तहा पणमणवय-कायजोगेसुं ॥
पुरिस-चउकसायेसुं तिअणाणा ऽजय-अचक्खु-चक्खूसु। भविया-ऽभवियेसु तहा मिच्छे सण्णिम्मि आहारे ॥
॥ गाथा८०५-८०६ ॥

(प्रे०) "ओघव्व" इत्यादि, गाथाद्वयी कण्ठ्या, सर्वासां प्रकृतीनामोघवत्सनिकर्षभणने युक्तिस्तु पातनिकयैव गतार्था, केवलं पुंवेदमार्गणायां नारकाणामप्रवेशेऽपि सनत्कुमारादिदेवानां प्रवेशेनौघोक्तसंनिकर्षतोऽविशेषो विभावनीय इति ॥८०५ ८०६॥

अथौदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां प्रस्तुतसंनिकर्षमाह—

सुर-विउवदुगाउ उरलमीसे एगस्स जेट्ठठिइबंधी । णियमाऽण्णेसिं तिण्हं गुरुमगुरुं वा जिणस्स सिआ ॥
णियमा संखगुणूणं थिरसुहजसवज्जदेवजोग्गाणं । सेसाण जिणस्सेव अपज्जमणुयव्व सेसाणं ॥
॥ गाथा ८०७-८०८ ॥

(प्रे०) "सुरे" त्यादि, सुगमे, केवलं "सुरविउवदुगाउ" इत्यत्र दुगशब्दः प्रत्येकं सम्बध्यते, तथा च प्रकृतिचतुष्टयम्, अत एवोत्तरत्र 'अण्णेसिं तिण्हं' इति भणितम् । "णियमा संखगुणूणं" इत्यत्र संख्येयगुणोनोत्कृष्टस्थितेः कथनं प्रधानीकृतानां देवद्विकवैक्रियद्विकप्रकृतीनां प्रस्तुतमार्गणायां केवलसम्यग्दृष्टिस्वामिकत्वेन तासामुत्कृष्टस्थितेरपि केवलसम्यग्दृष्टिस्वामिकत्वात् शेषाणां तु मिथ्यादृष्टिस्वामिकत्वात् मिथ्यादृष्टिस्वामिकोत्कृष्टस्थितिबन्धापेक्षया सम्यग्दृष्टिस्वामिकोत्कृष्टस्थितिबन्धस्य संख्येयगुणोनत्वाच्च । स्थिरादिप्रकृतित्रयस्य वर्जनं तु देवगत्याद्युत्कृष्टस्थितिं बध्नतां स्थिरादिषड्गवर्तमानप्रकृतिमध्यादप्रशस्तानामेव बन्धभावेन तत्प्रतिपक्षभूतप्रशस्तप्रकृतिबन्धस्य निरुद्धत्वादिति। "जिणस्सेवं" इत्यनेन जिननामप्रधानसंनिकर्षः। "अपज्जमणुयव्व सेसाण" मित्येन तु देवद्विक वैक्रियद्विक जिननामवर्जशेषप्रस्तुतमार्गणाबन्धप्रायोग्यमनुष्यगत्यादिषष्टिप्रकृतिप्रधानसंनिकर्षोऽपर्याप्तमनुष्यमार्गणावज्ज्ञेयः, अपर्याप्तमनुष्यमार्गणायां त्वसौ "एगस्स जेट्ठबंधी असमत्तपणिंदितिरियमणुएसु । सव्वविगलिंदियेसु असमत्तपणिंदियतसेसु ॥७४८॥" इत्यादिगाथाकदम्बकेन भणितः । तथाऽतिदेशः पुनः शेषप्रकृतीनामपर्याप्तमार्गणावत्प्रस्तुतमार्गणायामपि तिर्यग्मनुष्यस्वामिकत्वात् तिर्यग्मनुष्यप्रायोग्यत्वाच्च, न केवलं तावत्, किन्तर्हि ? पारभविकोत्पत्तिप्रायोग्यनिकृष्टस्थानस्याऽपर्याप्तसूक्ष्मनिगोदरूपत्वादपि । ननु भवत्वेव तिर्यग्मनुष्येभ्यस्तिर्यग्मनुष्यतयोत्पद्य प्रस्तुतमार्गणासु वर्तमानानाम्, देवनारकेभ्यः प्रस्तुतमार्गणास्वागतानां किं स्यात् ? इति चेत्, तेषामप्यन्तर्मुहूर्तादूर्ध्वमपर्याप्तसूक्ष्मनिगोदप्रायोग्यबन्धसम्भवादिति सर्वं सुस्थम् ॥८०७-८०८॥

अथ वैक्रिय-तन्मिश्रकाययोगमार्गणयोः प्रस्तुतमाह—

देवव्व विउव्वदुगे णवरं दुविहा ठिई विउवमीसे । जाण ण जिणं विणुत्ता सिं बधइ संखभागूण ॥
॥ गाथा ८०९ ॥

(प्रे०) "देवव्वे" इत्यादि, "विउव्वदुगे" त्ति वैक्रिय-वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणयोः "देवव्व" त्ति बन्धप्रायोग्यमनुष्यगत्यादिसर्वनामप्रकृतीनां संनिकर्षः 'तिरिदुगु-रल-धुव-हुंडग-परघा-ऊसास-बायरतिगाओ । तह पणअथिराईओ देवे एगस्स गुरुबंधी ॥७७६॥" इत्यादिगाथापञ्चकाभिहितदेवगत्योघमार्गणावद्वक्तव्यः । ।।। ।दपदान्याह—"णवर" मित्यादिना, "णवर"-परं